

पं० श्रीनाथ शर्मा आचार्य वाङ्मय

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

Vangmaya No 51

www.vwgp.org



भूमिका

महापुरुषों का जीवन प्रसंग जनसामान्य के लिए अनुकरणीय माना गया है। उनमें भी जो जन्मजात कठिनाइयों से, अभाव और असहायता की परिस्थितियों से संघर्ष करके ऊँचा उठते हैं, वे और भी आदरणीय होते हैं और उन्हीं को हम अपना मार्गदर्शक चुन सकते हैं। कारण यही है कि साधन, सुविधा और सहायकों के पूरी तरह होने पर तो सभी आगे बढ़ सकते हैं और ऊँची पदवी प्राप्त कर सकते हैं, पर जो लोग विपन्न और विपरीत परिस्थितियों के होते हुए भी अपने परिश्रम, लगन, त्याग और तपस्या के आधार पर आगे बढ़ते हैं, वे ही सामान्य लोगों के लिए मार्गदर्शन करा सकते हैं। वे देखने अथवा सुनने में सामान्य ही जान पड़ते हैं, पर उनमें कोई ऐसा सत्य तथ्य निहित रहता है कि बहुत समय व्यतीत हो जाने पर भी हम उनको याद करते और उनसे उत्तम प्रेरणा ग्रहण करते रहते हैं।

सामान्यतया देखा यह जाता है कि जो लोग साधन सम्पन्न हैं, सामर्थ्यवान हैं, विद्या और बुद्धि की दृष्टि से प्रसिद्ध हैं और धर्म, नीति, दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों के भी ज्ञाता हैं, वे भी व्यवहार में प्रायः अनुचित मार्ग का अवलम्बन करते हैं। व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए देश, समाज व संस्कृति को तरफ से आँखें फेर लेते हैं और जब कोई उनके गलत कार्यों पर आक्षेप करता है तो यही बहाना पेश करते हैं कि आजकाल की दुनिया में चालाकी, तिकड़म और असत्य के बिना काम ही नहीं चल सकता। कितने ही व्यक्ति इस संसार को एक प्रपंच कहते हैं, माया का खेल बताते हैं और इन्हीं बातों की ओट में प्रायः अपनी बहुत-सी त्रुटियों, अनैतिक कार्यों को क्षम्य समझ लेते हैं। वे कहते हैं कि इस संघर्षमय और आपाधापी से भरे संसार में रहकर मनुष्य सदैव सत्य, न्याय, समानता आदि का व्यवहार नहीं कर सकता।

पर महापुरुषों का, देशभक्तों का, शहीदों का मार्ग इससे भिन्न होता है। वे अपने सामने एक ऊँचा आदर्श रखते हैं और उसके लिए आवश्यकता होने पर न केवल स्वार्थ का बलिदान करने, वरन् अपने जीवन का उत्सर्ग करने को भी तैयार रहते हैं। उनकी कथनी और करनी एक होती है। यही कारण है कि वे जो कहते हैं वही कर भी दिखाते हैं। वे अपनी सफलता द्वारा यह सिद्ध कर देते हैं कि निर्धनता, शारीरिक त्रुटियाँ या साधी-सहायकों का अभाव ऐसी बातें नहीं हैं जिनके कारण हम प्रगति पथ पर अग्रसर होने से निराश हो जायें वरन् कठिनाइयों की ऐसी अग्निपरीक्षा मनुष्य में वह शौर्य-साहस, संकल्पशक्ति, दृढ़ निश्चय और कर्मण्यता का गुण उत्पन्न कर देती है, जिनसे वह निर्धारित लक्ष्य की ओर प्रगति मार्ग में बहुत तेजी से बढ़ता है और शक्ति, बुद्धि एवं साधन सम्पन्न लोगों से आगे निकल जाता है।

परमपूज्य गुरुदेव की लेखनी के वाङ्मय के इस खण्ड में भारतवर्ष ही नहीं, वरन् संसार भर के शौर्य, साहस एवं बुद्धि, कर्म की धनी प्रतिभाओं, महामनीषियों, महामानवों, उत्कट देशभक्तों एवं सफल जननायकों के प्रेरणाप्रद चरित्रों, जीवन प्रसंगों का संकलन किया गया है। प्रस्तुत खण्ड में जिन महापुरुषों के जीवन प्रसंग दिये गये हैं उनमें यही विशेषता है कि उन्होंने जन-जीवन में अपने देश को खपा देने एवं परतंत्रता की बेड़ी को उखाड़ फेंकने को ही सबसे बड़ी आत्मसाधना और परमात्मा की प्राप्ति समझा और तदनुसार आजीवन ऐसे कार्यों में लगे रहे जिनसे दूसरे लोगों का कल्याण हो, उनके दुःख और अभावों में कमी हो सके। साधारण स्थिति से जीवन आरंभ करते हुए इन महामानवों ने संसार में ऐसे महान कार्य कर दिखाये, जिनसे करोड़ों लोगों का कल्याण हुआ और

जिसके लिए आज भी उनका नाम न केवल बड़े आदर और श्रद्धा के साथ लिया जाता है, वरन् वे हम सबके लिए प्रेरणा स्रोत बने हुए हैं।

वाङ्मय के इस खण्ड में उन महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंगों को लिया गया है जिन्होंने अपना सारा जीवन देश, समाज और संस्कृति की रक्षा में खपा दिया। तप, त्याग, बलिदान और लोकमंगल ही जिनका जीवनोद्देश्य रहा, ऐसे महामानवों के जीवन चरित्र आज भी उतने ही प्रासंगिक एवं प्रेरणादायी हैं जितने कि तब थे। प्राचीनकाल में भास्त के ऋषि-मुनि अरण्यों में निवास करते हुए भी देश-हित को सर्वोपरि मानते थे। उनके लिए आध्यात्मिकता का प्रथम पाठ देशभक्ति ही था और उसी के लिए वे समर्पण भाव धारण कर कर्मरत रहते थे। आज भी वह परम्परा जीवित है। स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, महात्मा गाँधी, सुभाषचन्द्र बोस आदि महानता की जिस ऊँचाई तक पहुँच सके, उसकी मूल प्रेरणा और शक्ति उनकी स्वदेश भक्ति में ही निहित रही है। परम पूज्य गुरुदेव ने भी अपनी जीवन साधना का शुभारम्भ देशभक्ति से करते हुए अपने जीवन की अंतिम श्वास तक स्वदेश चिंतन की आहुति देते हुए अपने जीवन यज्ञ को पूर्णाहुति प्रदान की।

प्रस्तुत खण्ड के पाँच अध्यायों में देश-विदेश के जिन कर्मवीरों, देशभक्तों एवं लोकनायकों के जीवन चरित्रों को लिया गया है उनमें छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रताप, भामाशाह, सरदार पटेल, लाला लाजपत राय, राष्ट्रपति कैनेडी, मेजर शैतान सिंह, वन्देमातरम् के दृष्ट-बंकिमचन्द्र, चन्द्रगुप्त, विद्यारण्य, बहादुरशाह 'जफर', सिकन्दर, नैपोलियन जैसे शौर्य और साहस के सुदृढ़ स्तंभ सम्मिलित हैं। महाराणा राजसिंह से लेकर आइजन हावर तक एक ओर जहाँ बुद्धि, कर्म व साहस की धनी प्रतिभाएँ हैं, वहीं दूसरी ओर भारत के अमर शहीदों व स्वतंत्र भारत के आधार स्तंभों के प्रेरणादायी जीवन प्रसंग हैं। महात्मा गाँधी, गोखले, लिंकन आदि से लेकर हेमर शोल्ड तक एवं मार्शल जुकोव से लेकर जार्ज वाशिंगटन, चर्चिल तथा जार्ज पाम्पीद तक विश्व प्रसिद्ध सफल जननायकों के महत्वपूर्ण जीवन प्रसंगों को वर्णित किया गया है। इन देशभक्तों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का प्रेरणादायी परिचय पाठकों को अपने जीवनोद्देश्य को पहचानने में निश्चित ही सहायता प्रदान करेगा।

-ब्रह्मवर्चस्

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

आखण्ड
ब्रह्मवर्चस

प्रकाशक :

अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा



प्रकाशक

अखण्ड ज्योति संस्थान

मथुरा-२८१ ००३



© सर्वाधिकार सुरक्षित



द्वितीय संस्करण १९९८



मूल्य ₹२५)



मुद्रक

जनजागरण प्रेस, मथुरा

समर्पणम्

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

मातृवत् स्नालयित्री च पितृवत् मार्गदर्शिका ।
नमोऽस्तु गुरुसत्तायै भन्दा-प्रज्ञा युता च या ॥

भगवत्याः जगन्मातुः, श्रीरामस्य जगद्गुरोः ।
पादुकायुगले वन्दे, भन्दाप्रज्ञास्वरूपयोः ॥

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै गायत्रीरूपिणे सदा ।
यस्य चागमृतं हन्ति विषं संसारसंज्ञकम् ॥

असम्भवं सम्भवकर्तुमुद्यतं प्रचण्डशब्दावृत्तिरोधसक्षमम् ।
युगस्य निर्माणकृते समुद्यतं परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।

विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवन्दनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी माँ शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साध देने आती रही हैं। उनसे भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं हैं किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुञ्ज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतोर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सुजन सेनानीगणों के वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात् कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट् परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देखा सकता है जो वे अपने वचन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्थाही में डुबोकर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता, मन को व विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों-करोड़ों के मनों के अंतःस्थल को छूकर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्लमार्क्स के साम्यवाद की क्रान्ति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अमन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट् गायत्री परिवार एकाकी अपने बलभूते खड़े करते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाये, कैसे बन्दबन्द किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर, १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो वे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आप-पास के, दूर-दराज के राजघरानों के राजपुत्रोहित, उद्भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव भाग्य की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे, छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनसे संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी भ्रान्तता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला

को जिसे कुछ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवा कर उनसे घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना घत नहीं छोड़ा। उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें देरों आशीर्वाद दिये। एक अच्छी कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनमें चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किंतु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभासम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। डाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मवलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनतार स्थাপित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की चेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजास्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनमें प्रज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में सम्पन्न क्रिया-फलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषिसत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनमें संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष्य के चौबीस महापुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रान्ति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक-दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्वपूर्ण मोड़ था, जिसमें भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि- "प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरुसत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गई- संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जो की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।"

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने ताड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख-सुनकर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद

पैदल लम्बा रास्ता पार कर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साधियों को शिक्षण देकर व स्वयं अँग्रेजों सीखकर लौटे। आसनसोल जेल में वे श्री जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवाई, महामना मदनमोहन मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से, मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान, बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जनआक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रांतिकारी स्थिति की तरह उनमें भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारों को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। ज़रारा आन्दोलन के दौरान उनमें झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा झीनने का प्रयास करते रहे। उनमें गुँह से झण्डा फकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्तजी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनमें पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्यमंत्री श्रीगोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधीजी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुंज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनमें प्रधानमंत्री राहत फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिधर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक, आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेदियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनमें पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया, जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्रीकृष्णदत्तपालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बानू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रहकर उनमें अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारीयों कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनमें परिजनों के नाम पत्नी के साथ अपने हाथ से बने कागज से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यवसाय घर-घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदयस्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ। स्थान बदला, आगरा से भथुरा आग गये, दो-तीन घर बदलकर बीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों

का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंतःस्मल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके भर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाष भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुःखी था- पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक कान्ति में ऋषियुगल के असौम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

‘अखण्ड ज्योति’ पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित ‘गायत्री चर्चा’ स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सौरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि-विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डों यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परमवंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे ठदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तोषों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५७ में सहस्रकुण्डों यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनसे गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख ज्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देशभर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, वहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनसे महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगशास्त्र, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूलधाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञानसम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व ‘युग निर्माण सत्संकल्प’ के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तप-पूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनसे अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों के द्वारा विचार कान्ति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डों यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों को विशेष कार्य-भार सौंप परमवंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया-पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन, संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनसे शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के

अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसूत क्षमता के जागरण तक, साधना से सिद्धि एवं दर्शन विज्ञान के तर्क, तथ्य, प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा बड़ी बूटी, यज्ञ विज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना, मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञानसम्पन्न विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का, एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्ता निर्माण हेतु युगशिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठों विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे - सुसंस्कारिता व आस्तिकता संवर्धन एवं जन जाग्रति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञासंस्थान, शक्तिपीठ, प्रज्ञामण्डल, स्वध्याय-मण्डल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया-कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तपसाधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया-कलाप परमवंदनीय माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाज को, विराट से विराटतप होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून, १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी के दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट-आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सूवास को देवसंस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट ब्रह्मांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नवनिर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरुसत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युग संधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नवनिर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रान्ति ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४ महालय आरंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद, दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद भिन्न की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छन्नीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सजको देखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु सम्पन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९४ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी गई। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो एक सौ अठारह खण्डों में फैला है, विभोचन भी यहीं सम्पन्न हुआ। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जाएँगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़-चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे युग बदलेगा' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अध्याय-१		देशसेवा में सर्वस्व अर्पण करने वाले	
शौर्य और साहस के सुदृढ़ स्तम्भ	१.१	चिदम्बरम पिल्ले	१.५२
मूर्तिमान शौर्य शिवाजी	१.१	जो अनाथ बालक से राष्ट्र निर्माता बना-	
आदर्शों के हिमालय-महाराणा प्रताप	१.५	चन्द्रगुप्त मौर्य	१.५४
धामाशाह का अनोखा त्याग	१.८	'विक्रमादित्य' चन्द्रगुप्त	१.५७
मध्य युग का महान क्रान्तिकारी-हरसिंह	१.९	राष्ट्रीयता का उपासक-सम्राट समुद्रगुप्त	१.५९
पराधीनता से संघर्ष करने वाले-गैरीवाल्डी	१.११	संस्कृति की रक्षार्थ बलिदान-स्कन्दगुप्त	१.६१
घोरघर-राणा सौंगा	१.१३	राष्ट्र रक्षार्थ सम्राट यशोधरा का	
लौह पुरुष-सरदार बल्लभ भाई पटेल	१.१३	प्रबल पुरुषार्थ	१.६३
अत्याचार के विरुद्ध अनवरत संघर्षशील-		शौर्य साहस का धनी-पुण्यभिश्र शृंग	१.६४
जनरल हम्बर्टो डेलगाडो	१.१६	निष्काम लोकसेवी-महाराजा हर्षवर्धन	१.६६
जीवित शहीद गैरिसन	१.१७	दक्षिण भारत के चाणक्य-विद्यारण्य	१.६८
जीवन ज्योति पंजाब केसरी-लाला लाजपत राय	१.१८	जिन्होंने राष्ट्र रक्षा के लिये तलवार धामी-	
आजोवन अन्याय से जूझने वाले क्रान्तिकारी-		'विक्रमादित्य' हेमू	१.७१
बापट	१.२०	मुगल राज्य के हिन्दू प्रशासक-टोडरमल	१.७२
महान सत्पात्रही, जनसेवी-		मेवाड़ के भीष्म-राजकुमार चूड़ामणि	१.७४
सैमुअल हवान्स स्टोक्स	१.२२	स्वतन्त्रता, स्वाभिमान और संस्कृति	
जिन्होंने मृत्यु और अस्तित्व में से मृत्यु को चुन-		के संरक्षक-महाराजा कृत्तिसाल	१.७६
यागहुस	१.२३	महत्वाकांक्षी वीर-महादाजी सिंधिया	१.७८
अमेरिका के महान नीग्रो-श्री रिचर्ड ऐलेन	१.२६	साहस व धैर्य के धनी-बहादुर शाह 'अफर'	१.८०
जो हथियारों के लिए बलिदान हो गये-		अपनी मुक्ति छोड़ने वाले-सन्त गीरीनाथ	१.८२
प्रेसीडेन्ट कैनेडी	१.२८	जिनका बल-विक्रम निरर्थक हो रहा-	
आदर्शों के लिये खतरों से टकराने वाले-		राजा जसवंतसिंह	१.८३
डा. हाल्डेन	१.२९	नौकर से बादशाह बने-शेरशाह	१.८५
जो फाँसी के तख्ते तक हँसता रहा-		पोड़ियों के सहायक-वीर हम्मीरदेव	१.८७
दामसमोर	१.३१	संकल्पों का धनी-अलक्षेन्द्र सिकन्दर	१.८९
अमेरिका के महान नीग्रो-फ्रेडरिक डग्लस	१.३२	शोषण से संघर्ष को दायित्व भानने वाले-	
जो सिकन्दर के आगे झुका नहीं-		अर्नेस्ट होवेरा	१.९४
देशभक्त पुरु	१.३४	प्रेम, कर्तव्य विमुखता नहीं सिखाता-	
'सोचो नहीं, मोर्चा लो' के आदर्श-बैजहाफ	१.३६	संयोजिता	१.९६
अनीति से आजन्म लड़ने वाले-दीक्षित जी	१.३८	नैपोलियन की निराशा	१.९६
राष्ट्र निर्माता-बैजामिन फ्रैंकलिन	१.३९	अध्याय-२	
अदम्य साहस के प्रतीक-मेजर शैतानसिंह	१.४१	बुद्धि, कर्म व साहस की धनी प्रतिभार्थे	२.१
क्रान्ति के सन्देशवाहक-नाजिम हिकमत	१.४२	बुद्धि, बल व साहस के धनी-	
अमर हुतात्मा-श्री गणेश शंकर विद्याधी	१.४३	महाराणा राजसिंह	२.१
'चन्देमातरम्' मन्त्र के दृष्टा बंकिमचन्द्र	१.४८	लुटेरे गबनवी का मानमर्दन करने वाले	
गोवा के प्रखर देशभक्त-डा. मास्कार हंस	१.५०	राजा संग्राम राज	२.२

	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
स्वातन्त्र्य सेनानी-नाना साहब पेशवा	२.५	श्रम, सम्पदा व सद्भाव का धनी-	
१८५७ की क्रान्ति के सर्वोच्च सेनापति-		हेनरी फोर्ड	२.४७
ताँत्या टोपे	२.७	महाराष्ट्र मण्डल के खण्डक-	
निष्ठा और संकल्प के धनी-टोपू सुल्तान	२.९	नाना फडनवीस	२.४९
आदर्शों के लिए अड़े रहने वाले-हुँडेब	२.१०	महाराष्ट्र के पुनर्प्रतिष्ठापक-पेशवा बाजीराव	२.५१
कर्मयोगी हविसन	२.१२	जिनका शरीर नहीं चरित्र सुन्दर था	
एक अपराजेय देशभक्त-		महाराज रणजीत सिंह	२.५३
खान अब्दुल गफ्फार खान	२.१२	संस्कृति की अवन पर शहीद-	
बंगला देश के निर्माता-सेख मुजीबुर्रहमान	२.१५	हरीसिंह नलवा	२.५६
जिनकी रग-रग में क्रान्ति भरी थी-		साहसो मुंघे	२.५९
डॉ. राम मनोहर लोहिया	२.१६	न्यायशील नीरोरखी	२.६०
स्वदेश और समाज के उद्धारकर्ता-		'स्वतन्त्रता या मृत्यु' के मन्त्र द्रष्टा-	
डा. सन्यातसेन	२.१८	पैट्रिक हेनरी	२.६१
राष्ट्र के लिये सर्वतोभावेन समर्पित-पोद्दाराम	२.२०	कर्तव्यरत-वीर दुर्गादास	२.६३
संग्राम के अमर अहिंसक सैनिक-		संघर्ष, पुरुषार्थ और श्रम के प्रतीक-	
फुलेना प्रसाद	२.२२	देवजी भीमजी	२.६३
सच्चे देशभक्त-श्री बदरुद्दीन तैयब जी	२.२४	जिन्होंने सोचे हुए कुमार्तू को जगाया-	
निर्भीक जनसेवक-श्री हीराबाल शास्त्री	२.२५	कदीदत्त वैष्णव	२.६५
क्रान्तिकारी जीवन के मार्गदर्शक-सोहनसिंह	२.२५	राष्ट्रीय स्वाभिमान के रक्षक-	
आशावादी-हंजन	२.२८	बालाजी विश्वनाथ	२.६७
देशभक्तों के निर्माता-बारीन्द्र कुमार घोष	२.२९	सम्प्रदायवाद से आजीवन लड़ने वाले-	
महान बलिदानी-भाई मदिदास	२.३१	मजहूरल हक	२.६९
प्रसिद्ध क्रान्तिकारी-कन्हाई लाल दत्त	२.३२	विद्वान देशभक्त-श्री श्यामकृष्ण वर्मा	२.७१
एक सच्चे भारतीय-		जो अनीति से जूझ पड़ा-	
श्री कान्त अनन्त राव आप्टे	२.३४	अमर सिंह महती परिवार	२.७३
सफलता संकल्पवानों को मिलती है-मिराला	२.३६	शोषण के विरुद्ध बगावत करने वाले-	
बड़-जगत में आदर्शवादित का खोजी-		भीलवी अहमदुल्ला	२.७५
जानसन	२.३६	मनस्वी आह्वान हाथर	२.७६
ध्याय के लिए संघर्ष	२.३८		
पचास का काम अकेले करने वाले-		अध्याय-३	
विनोद कानूनगो	२.३९	स्वतन्त्र भारत के आधार स्तम्भ	३.१
दो हजार कुशितर्या लड़ने वाला-किंग कांग	२.४०	स्वतन्त्र भारत के कीर्ति स्तम्भ	३.१
असमय बुझी दोषग्रस्त प्रतिभा-पैरासेलसस	२.४१	जिनकी अध्यात्म साधना सार्वक रही-	
मातृभूमि का बलिदानी-		सुभाष बोस	३.२
सोहन लाल पाठक	२.४३	क्रान्तिचर्पी-स्ताला हरदयाल	३.५
सतहत्तर साल के नौजवान-दाताराम	२.४३	स्वतन्त्रता संग्राम के क्रान्तिकारी-	
फिर न मिलेगा अबसर ऐसा	२.४५	शाम्भुनाथ आजाद	३.७
टैंक युद्ध के अनुभवी विजेता-जनरल चौधरी	२.४५	काकरी काण्ड के शहीद-	
		चन्द्रशेखर आजाद	३.९

विषय	पृष्ठ
महत्त्व व्यक्ति को नहीं आदर्शों को देना	
श्रेयस्कर है सरदार भगतसिंह	३.१३
सर्वस्व समर्पित करने वाले आहुत आत्मा	
महावीर सिंह	३.१५
अमर शहीद रामप्रसाद बिस्मिल	३.१८
स्वतन्त्रता संग्राम का बोज खोने वाला	
खुदीराम बोस	३.२०
शहादत की अद्वितीय मिशाल-बन्दा वीराजी	३.२२
एक और चाल्मीक-ठाकुर रोशन सिंह	३.२४
महान् क्रान्तिकारी देशभक्त-	
विनायक सावरकर	३.२६
वीर बालक-हकीकत राय	३.३०
स्वातन्त्र्य युद्ध का प्रथम सैनिक-	
मंगल पाण्डे	३.३१
जौरापुर का राजा बालक	३.३२
भारतीय सशस्त्र क्रान्ति के प्रथम नायक-	
वासुदेव बलवंत फडके	३.३४
महान् जनसेवक-लाला लाजपत राय	३.३६
स्वतन्त्रता संग्राम का नन्हा सैनिक-	
योगेन्द्रनाथ	३.३७
अभ्याचार से लड़ने वाले-चाफेकर बन्धु	३.३८
मातृभूमि पर सर्वस्व निछावर करने वाले-	
रोशनलाल मेहरा	३.४०
अकेले एक मिशन-पं. काशीराम जोशी	३.४२
अमर शहीद-पिंगले	३.४४
अमर शहीद-डा. मथुरासिंह	३.४५
अमर शहीद-शिवराम राजगुरु	३.४६
देशप्रेम और धर्मनिष्ठा के अनूठे प्रतीक-	
अशफाक उल्ला	३.४८
अनूठे देशप्रेमी क्रान्तिकारी-बन्ता सिंह	३.५०
भारत माता के वीर पुजारी-	
ज्योतिन्द्र नाथ मुखर्जी	३.५१
राजनैतिक और सामाजिक क्रान्ति के	
सूत्रसंचालक मास्टर अमीरचन्द्र	३.५६
एक और भगतसिंह-हेमूकलानी	३.५८
विप्लवी वीर-भाई बालमुकुन्द	३.६०
जो राष्ट्रहित में बलिदान हो गये-	
सुफी अम्बा प्रसाद	३.६२

विषय	पृष्ठ
उद्देश्य के लिए ससार भर की छाक छानने	
वाले क्रान्तिकारी सरदार अजीत सिंह	३.६४
निष्ठावान क्रान्तिकारी बटुकेश्वर दत्त	३.६६
जाति अभिमानी सुरेन्द्र नाथ बनर्जी	३.६७
राष्ट्रसेवी-आचार्य गिडधानी जी	३.६९
देशमन्थु चित्तरंजनदास	३.७१
राष्ट्रभक्त बाबू शिवप्रसाद गुप्त	३.७४
आजन्म देशसेवी विजय सिंह 'पथिक'	३.७६
पेशावर विद्रोह प्रणेता-चन्द्रसिंह गढ़वाली	३.७८
स्वातन्त्र्य यज्ञ के अमर होता-पं. रामनाथ	३.७९
स्वतन्त्रता के अमर पुजारी-	
श्री रासबिहारी बोस	३.८२
अमर बलिदानी-भगवती चरण चौहरा	३.८४
राष्ट्र की स्वतन्त्रता को समर्पित-	
बारहट परिवार	३.८६
क्रान्तिवीर रामचरण लाल	३.८८
अभ्याचार के विरुद्ध सतत संघर्षशील-	
मुकुंददीनलाल	३.९०
बहते रहे उत्सर्ग के निहार ऐसे ही-	
बरोहर नाथ	३.९२
आजादी के दीवाने-हेमचन्द्र दास	३.९४
यशस्वी क्रान्तिकारी-बाबू कुँआरसिंह	३.९५
आतङ्कवादी से निपटने वाला-	
सरदार कृष्ण सिंह	३.९८
विस्मृत क्रान्तिवीर-पं. गैदालाल दीक्षित	३.९९
भारतीय शौर्य परम्परा के प्रतीक-	
कल्लन चन्द्रनारायण सिंह	३.१०१
एक संघर्षशील व्यक्तित्व-	
त्रिलोक्यनाथ चक्रवर्ती	३.१०२
असहयोग के आद्य प्रवर्तक-बाबा रामसिंह	३.१०४
वीर सेनानी-सुखवीर सिंह और मथुरा दास	३.१०६
अध्याय-४	
उत्कट देशभक्ति के प्रतीक महामानव	४.१
गुण-दृष्टा - राजर्षि गोखले	४.१
जिन्होंने भारतीय संस्कृति को नूतन गति दी-	
गुरु गोलवलकर	४.३
छोटी-छोटी बातों से महात्मा बने गाँधीजी	४.६

विषय	पृष्ठ
कठिनाइयों से जूझने वाले- अब्राहम लिंकन	४.१५
सदग्रहस्थ राजनीतिज्ञ -	
प. जवाहर लाल नेहरू	४.२१
प्रामाणिकता हो तो गंगाधर शास्त्री जैसी	४.२४
उत्कट देशभक्ति के प्रतीक- राव तुलाराम	४.२६
जिन्होंने जनता को नया स्वर दिया-	
ठाकुर दयानन्द	४.२७
दासबाबू की दानशीलता	४.२९
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन	४.३०
राष्ट्रीय संवादृती महान वैज्ञानिक-	
प्रफुल्ल चन्द्र राय	४.३२
जिनका धर्म ही अन्याय से लड़ना है-	
रानाडे	४.३५
सेवा एवं मानवता की मूर्ति-	
महामना मालवीय जी	४.३८
सरलता की प्रतिमूर्ति-डॉ. राजेन्द्र प्रसाद	४.४२
भारतीय परम्परा के आधुनिक ऋषि-	
डॉ. राधाकृष्णन्	४.४५
जिन्होंने हर क्षेत्र में अनूठा कार्य किया-	
राजाजी	४.४९
जिन्होंने राजनीति को राष्ट्रसेवा का	
माध्यम बनाया- रफी अहमद किदवाई	४.५२
मानव रत्न-लाल, बहादुर शास्त्री	४.५५
भारतीय जीवन दर्शन के साधक-	
डॉ. सम्पूर्णानन्द	४.६१
कर्मयोग के उपदेश-लोकमान्य तिलक	४.६४
देश को महाशक्ति बनाने वाले-	
माओ-त्से-तुंग	४.६८
आत्मबल सम्पन्न पुरुषार्थियों के	
प्रेरणाप्रद प्रसंग	४.७०
महान योद्धा-नेल्सन	४.७२
जिन्होंने निःशस्त्र उपनिवेशवाद से	
संघर्ष किया- डॉ. जगन	४.७४
किसान पुत्र से राष्ट्रपिता पद तक-	
ज्यांग काई शेक	४.७६
पुरुषार्थी गारफील्ड	४.७८
जिन्हें देशभक्ति के पुरुस्कार में	
भिला मृत्युदण्ड-कैप्टन तनामा	४.७९

विषय	पृष्ठ
ब्रिटेन के प्रधानमंत्री एडवर्ड होथ	४.८१
गिनि बिसाऊ का स्वातंत्र्य सृष्टा	
एमिलकार किन्नाल	४.८२
एडमण्ड जी रास का अनूठा साहस	४.८४
महान जननेता अल्बर्ट लुधिली	४.८६
जो विश्व शांति के लिये जिये, विश्व शांति	
के लिए मरे हाग हेमर शोल्ड	४.८८
अध्याय-५	
विश्व प्रसिद्ध सफल जन नायकों के	
जीवन प्रसंग	५.१
होरो ऑफ द सोवियत यूनियन-	
मार्शल जुकोव	५.१
जनता के स्वामी, जापान के उधायक-	
मुत्सु हीटो	५.३
राष्ट्र धर्म का प्रचारक-मेजिनो	५.५
कनाडा का जनक-मेकडोनाल्ड	५.७
निष्काम कर्मयोगी-विरास	५.९
मॉरीशस के मसीहा-	
डॉ. शिवसागर रामगुलाम	५.११
प्रजातन्त्र के जनता सिसरो	५.१३
सहकारी समाज व्यवस्था के जनक-	
रॉबर्ट आवेन	५.१४
हंसमुख रूजवेल्ट	५.१७
जो सच्चे अर्थों में राष्ट्रपति बने	
रेस्टेपो लिरास	५.१८
जिनको साधना सहायता से सफल हुई-	
डॉ. लिबिंगस्टन	५.२०
बूट फॉलिज करने वाला एक दिन	
उपराष्ट्रपति बना-लिण्डन बी. जानसन	५.२२
जिसकी चेरी बनी प्रतिभाई-	
लियोनार्दो दा विंची	५.२३
सच्चे नेतृत्व के प्रतीक-लियोनिद ब्रेझनेव	५.२५
युद्धोत्तर फ्रांस के राष्ट्र निर्माता-लुई अर्मांद	५.२८
जिन्होंने सामन्तशाही के विरुद्ध	
आवाज उठायी- लू-सुन	५.३०
व्यवस्थित जीवन की कुंजी-समय की पाबन्दी-	
जार्ज यासिंगटन	५.३२

विषय	पृष्ठ
शान्ति और स्वतंत्रता का अमर उपासक- विलियम पेन	५.३३
आत्मविश्वास के धनी विंस्टन चर्चिल	५.३५
विश्व शान्ति के लिए समर्पित जीवन- विली ब्राण्ट	५.३७
औचित्य और न्याय के प्रबल समर्थक- विलियम चेडर वर्न	५.३९
विल्सन की विपत्ति पाठशाला	५.४१
सफल जननायक-ड्विटलाम	५.४१
पुर्तगाल के चाणक्य-सालाजार	५.४३
कैलिफोर्निया के गाँधी-सेसार कार्वेज	५.४४
लौह पुरुष-स्टालिन	५.४६
गरीबों के साथ गरीब बनकर रहो	५.४८
अमेरिका के ३१वें राष्ट्रपति-	
महान हर्बर्ट हुवर	५.४९
सधिनय-असहयोग आन्दोलन के प्रवर्तक- हेनरी थोरो	५.५०
कर्मयोगी सन्त-सम्राट हिरोहितो	५.५१
अफसोस कि मेरे पास एक ही जीवन है- हैलन कैथन	५.५३
नाजी दुरभिसन्धि से जूझने वाला-होरात्य	५.५४
विपत्तनाम के राष्ट्रपति- हो ची मिन्ह	५.५६

विषय	पृष्ठ
सैद्धान्तिक क्रांति के स्रष्टा-टॉमस जैफर्सन	५.५९
मृत्यु को निमंत्रण देने वाले टेरेन्स मैकस्विनी	५.६०
जनहित के लिए संघर्षरत सेनानी- डेविड मोर्स	५.६२
प्रारम्भ बड़ा या पुरुषार्थ? सदेह उत्तर- डॉ. तहाहुसेन	५.६४
जर्मनी में पुनर्प्राप्त प्रतिष्ठा करने वाले- वान बेडन	५.६४
विश्व शान्ति और विश्व बंधुत्व के स्वप्न दृष्ट- निकोल्स ई रोरेख	५.६६
चैकोस्लोवाकिया के गाँधी-मैसरिक	५.६८
हज्जों की प्राण रक्षा करने वाले- डॉ. आटमर कोह्लर	५.७०
कॉग्रिस के जन्यदाता-सर एलेन ह्यूम	५.७२
मानवीय समता का प्रतिष्ठापक- कार्ल मार्क्स	५.७४
जाम्बिया के गाँधी-राष्ट्रपति कैनेथ कोण्डा	५.७७
कर्मयोगी ऐसे ही होते हैं-डॉ. चार्ल्स	५.७९
धर्म एक और सनातन है	५.८१
जिन्होंने फ्रांस को नयी सामर्थ्य दी- जार्ज फाम्मीद	५.८१

शौर्य और साहस के सुदृढ़ स्तम्भ

मूर्तिमान शौर्य-शिवाजी

औरंगजेब के शासन का मध्याह्न सूर्य उषा रहा था। अधिकांश हिन्दू नरेश आत्मसमर्पण कर चुके थे। शहंशाह की भूकृति का एक घक्र संकेत किसी का भी भाग्य निर्णायक बन जाता था। चारों ओर भय, आशंका, कठोरता तथा लूट-पाट का आतंक छाया हुआ था।

पर ऐसे समय में भी देशभक्ति भरी नहीं थी। कुछ नर केसरी उस अपने-अपनी श्वासों से जीवन दे रहे थे। धार्मिक तथा राष्ट्रीय भावनाओं का जैसा सुन्दर समन्वय इस काल में हुआ शायद ही किसी काल में हुआ हो।

शाहजहाँ के समय में ही एक दुर्दमनीय शक्ति बनपना प्रारम्भ हो गई थी। वे थे शाहजी भीमले नामक एक मराठा सरदार। वे पहले अहमदनगर की रियासतों में और फिर बीजापुर में तख्त पर कार्य करते रहे।

मरकेसरी और शिवाजी को जन्म देने का श्रेय इन्हीं को है। शेरों के शेर ही हुआ करते हैं। पर यहाँ तो पुत्र का साहस-बल तथा पुत्रवत्त्व पिता से भी दो कदम आगे था। शिवाजी का जन्म १० अप्रैल, १६२७ को तिवनेरी के पर्वतीय दुर्ग में हुआ था।

अपनी मातृभूमि को पराधीनता के पाश से निकालने के लिए शिवाजी ने अपने जीवन का कण-कण, धन-क्षण विसर्जित कर दिया था, जन्म के कुछ काल पश्चात् ही पिता का संरक्षण विधाता ने उठा लिया, पर इनकी माता जीजाबाई भी भारतीय वीररंगना थीं। उन्होंने पिता का अभाव खलने नहीं दिया और उन्होंने वे समस्त कार्य शिवाजी को स्वयं अपनी देख-रेख में सिखाये जो पिता का कर्तव्य हुआ करता है। राष्ट्रीयता की भावना को तो उन्होंने माता के दूध में ही दान किया था।

१६-१७ वर्ष के किशोर के मन में यही दृढ़ मंचा रहता था कि किस प्रकार इन नर हतारों से अपनी भारत माँ को स्वतंत्र कर लूँ? पास में कोई बड़ी सेना न थी—बड़े साधन न थे। हाँ, हिम्मत अवश्य ही बहुत थी।

इनके ध्येय को गढ़ने का श्रेय इनकी माता को तो है ही पर इन्हें नर-पुंगव बनाने में जो योगदान इनके गुरु-समर्थ गुरु रामदास का है वह भी अतुलनीय तथा असीम है।

शिवाजी उनके सर्वाधिक प्रिय शिष्य थे। राष्ट्रीयता की उत्कट भावना सागर की उत्ताल तरंगों की भाँति हृदय में हिलोरेँ लिया करती थीं।

इन्होंने सोचा कि बड़ी सेना इकट्ठी करने तथा बड़े पैमाने पर साधन एकत्रित करने को तो पर्याप्त समय चाहिए, क्यों न जो कुछ अपने पास है उसी को अज्रति में भुँकर माँ के चरणों में समर्पित कर दिया जाय और इन्होंने छोटे-

छोटे कई संगठित दलों का निर्माण किया। स्वामी रामदास के आदेशानुकूल— शिवाजी के नेतृत्व में मर मिटने के लिए तैयार कई जवान आगे आये और शिवाजी ने इन छोटे-छोटे दलों को लेकर ही अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया।

उन्होंने सह्याद्री पर्वत पुरों —मालवा आदिवासियों की सहायता से एक-एक करके बीजापुर सल्तनत और मुगलों के अधीन किले जीनने आरंभ किए और अपने राज्य का विस्तार किया। उन्हें अपने सजातीय बंधुओं से आरंभ में सहयोग नहीं मिला। स्वाभिमान और सरल स्वभाव मालवा वीरों ने शिवाजी के ध्येय की पूर्ति के लिए जो बलिदान किए वे इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ बन चुके हैं। बानीराव देशपांडे का बलिदान हमारे इतिहास की गौरवपूर्ण छाती है।

१९ वर्ष का युवक, जहाँ भी औरंगजेब के अत्याचारों की प्रवृत्ति देखता वहाँ अपने इस छापामार दल के साथ टूट पड़ता। सर्वप्रथम पूना के समीप इन्होंने एक छोटा किला अपने बलबूते पर अपने अधिकार में किया। इससे सभी का साहस बढ़ा। नेतृत्व करने की कुशलता शिवाजी को दैविक देन के ही रूप में प्राप्त हुई थी उसे निखारा स्वामी रामदास ने और उसका सुलकर उपयोग किया। शिवाजी ने अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए— अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये—अपने धर्म की रक्षा के लिए।

धर्म का वास्तविक उद्देश्य क्या है यह हमें इसी काल में क्रियान्वित होत दृष्टिगोचर होता है। गौव-गौव मन्दिर स्थापित किये गये। नित्य ही सब वहाँ भगवद्-भजन के बहाने एकत्रित होते। नव-युवकों में स्वामी रामदास राष्ट्रीय भावना जाग्रत करते। बड़े-बड़े अखादों का भी निर्माण किया गया वहाँ युवकों को अपने शरीरों को बनाने तथा सस्त्र-विद्या में कुशलता प्राप्त करने का प्रशिक्षण दिया जाता था।

शिवाजी सभी से सम्पर्क स्थापित करते। स्वयं सबको निज के भाई जैसा ही स्नेह प्रदान करते तथा भरने-भारने में झुट आगे रहते। स्थान-स्थान पर इन्होंने इसी प्रकार कई छोटे-छोटे किले जीते। बावपि इनके सहयोगियों की संख्या औरंगजेब की सेना की तुलना में बहुत ही अल्प थी। परन्तु रणनीतियों का साहस, उत्सर्ग की भावना तथा कार्यकुशलता इतनी अधिक थी कि इनका एक-एक सिपाही मुगल सेना के बीस-बीस सैनिकों के लिये पर्याप्त सिद्ध होता था।

शिवाजी की सफलता का रहस्य उनका संगठन राष्ट्रीय निष्ठा तथा कुशल नेतृत्व तो था ही पर एक वस्तु और थी वह थी यदि काल भी सामने आ जाये तो उससे

१.२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

भी जूझ जाने का संकल्प पूर्ण साहस । इसी साहस के बल पर वे अपनी छोटी-छोटी दुकदियों को लेकर किलों पर हमला करते और विजयी होते।

शिवाजी के इस अदम्य उत्साह तथा पराक्रम से औरंगजेब अभिभूत हो उठा था । उसने इन्हें थोखे से आगे बुलवाया पर वहाँ उसे ही मुँह की खानी पड़ी । राजनीति में साम, दाम, दण्ड और भेद चारों ही नीतियाँ काम में लाई जाती हैं । जब जैसी आवश्यकता हो ।

दक्षिण के मुगल अधिकारी तो इनके आतंक से इतने भयभीत हुए कि लगान का चौथा भाग इन्हें देने लगे, जो 'चौध' के नाम से आगे भी मराठे सरदार तथा राजे सदा वसूल करते रहे ।

अब तक शिवाजी कई किले आधीन कर चुके थे । अधिकतर दक्षिणी प्रदेश इनके अधिकार में था । सन् १६७४ में शिवाजी का रायगढ़ में धूमधाम के साथ राज्याभिषेक किया गया और अब वे एक अच्छी खासी व्यवस्थित शक्ति के स्वामी थे ।

सन् तुकाराम तथा रामदास के भजन लोकमानस में वह उमस उत्पन्न करते थे जिससे राष्ट्रीयता के प्रति लोगों के हृदय से स्नेह निझर फूट पड़ते थे । शिवाजी यद्यपि स्वयं राजा बन गये थे तथापि सभ्यता राज्य संचालन में स्वामी रामदास के आदेशानुसार ही करते थे ।

शिवाजी ने जीवन भर न स्वयं चैन की साँस ली न औरंगजेब को ही चैन से सोने दिया । वे आजीवन अपनी मातृभूमि के लिये युद्ध करते रहे । दक्षिण इराक में सत्त तथा बाएँ हाथ में शस्त्र की जो उक्ति है उसे हम शिवाजी के जीवन काल में चरितार्थ हुआ देखते हैं ।

शिवाजी जितने कुशल प्रसासक थे, उतने ही चतुर राजनीतिज्ञ भी थे । राजनीति के मुर उन्होंने दादाजी कौणदेव जैसे अनुभवी व्यक्ति से सीखे थे । दुष्टों के दलन के लिए छल-बल का सहारा लिया जाय तो इसे अनीति नहीं कहा जा सकता । अतः उन्होंने अपने अभीष्ट उद्देश की पूर्ति के लिए साम, दाम, दंड और भेद की नीति का सहारा लिया । इसका अर्थ यह कदापि नहीं लिया जा सकता कि वे चारित्रिक दृष्टि से दुर्बल थे । उस काल के अन्य राजाओं से दीखते हुए भी वे उन सबसे निराले थे ।

उन्होंने बीजापुर और दिल्ली की शत्रुता का भरपूर लाभ उठाया । पहले बीजापुर साम्राज्य की शक्ति क्षीण करने के लिए उन्होंने मुगल सम्राट औरंगजेब का साथ दिया और जब बीजापुर साम्राज्य दुर्बल पड़ गया तो उससे काफी प्रदेश छीन लिया । उन्होंने दगाबाज के साथ दण्ड भी किया तो विश्वासी के विश्वास की पूरी रक्षा भी की ।

शिवाजी के सैनिक मुगलों व बीजापुर सल्तनत की सेनाओं की रसद व गोला-बारूद तथा मालगुजारी में वसूल किया गया धन भी मौका देखकर लूट लिया करते थे, पर उनकी यह नीति दुष्टों के साथ ही थी । एक बार जब उनका एक सेनापति एक किले की विजय के बाद

किलेदार की रूपमती पुत्र वधू को भी पकड़ लाया तो शिवाजी को अपने सरदार की इस नासमझी पर बड़ा शोक हुआ । उन्होंने अपने सरदार से कहा "यदि हम भी ऐसा करने लगे तो हममें और लुटेरों में क्या अन्तर रह जाएगा?" भविष्य में कभी ऐसी भूल न करने का निर्देश देते हुए उन्होंने उस रूपवती रानी से अपने सरदार की नासमझी के लिए क्षमा माँगी तथा उसे ससम्मान अपने पति के पास भिजवा दिया ।

शिवाजी का यह नैतिक आदर्श और राष्ट्र प्रेम की उत्कट भावना जहाँ उनके साधियों में उनके लिए हँसते-हँसते प्राण न्योछावर करने की प्रेरणा भर देती थी वहीं शत्रु पक्ष के लोगों के दिलों में भी उनके प्रति प्रेम पैदा कर देती थी । जयपुर के राजा जयसिंह उनके इन्हीं गुणों पर रीझे थे । आगे चलकर जब औरंगजेब ने इन्हें आगे के किले में बंदी बनाकर रखा, तो जयसिंह के पुत्र रामसिंह से उन्हें भरपूर सहायता मिली ।

शिवाजी कटि से काँटा निकालना बखूबी जानते थे । दुष्ट व्यक्ति से सदृश्यवहार की आशा करना व्यर्थ होता है उसको तो वैसे ही आचरण से जीता जा सकता है जैसा कि उसके साथ उचित है । अफजल खान शिवाजी के प्राण हरने का बड़बंजर रखकर बीजापुर मुल्तान की हैसियत से उनसे मिलने आया था । वे उससे मिलने में थोखे की पूरी संभावना सम्झे हुए थे अतः पूरी तैयारी करके उससे मिलने गए और वह अपने बड़बंजर को सफल कर पाता उसके पहले ही शिवाजी ने उसके काम तमाम कर दिया ।

जयपुर के राजा जयसिंह की राय से शिवाजी औरंगजेब के दरबार में उपस्थित हुए ताकि औरंगजेब जोधपुर नरेश जसवंत सिंह तथा जयपुर नरेश जयसिंह की तरह उन्हें भी अपने दरबार में उच्च स्थान देकर अपना मांडलिक बना ले । इसके पीछे उनकी यह नीति थी कि यदि औरंगजेब ऐसा कर लेता है तो उन्हें आगे के लिए मुगल सेनाओं से लोहा नहीं लेना पड़ेगा तथा वे जयसिंह तथा जसवंत सिंह जैसे हिन्दू राजाओं को भी अपनी ओर पिलाकर मुगल सल्तनत का सदा के लिये अन्त कर देंगे । किन्तु औरंगजेब भी एक ही काँड़वा था वह शिवाजी को यह मौका नहीं देना चाहता था कि वे कोई खुराफात कर सकें । उसने वहाँ शिवाजी को वह सम्मान नहीं दिया जिसकी वे सोच रहे थे । वे मात्र पंचहजारी मनसबदार बनाए गए । वे अपने इस अपमान को सहन न कर सके । वे औरंगजेब के काँड़वापन को पूरी तरह समझ गए थे अतः अब उसके सामने झुकना भी नहीं चाहते थे । वे किसी भी शर्त पर उसे अपना सम्राट स्वीकारने को तैयार नहीं हुए ।

आगरा के दीवाने-खास और दीवाने आम में शिवाजी ने औरंगजेब की जो उपेक्षा की उसने उनके स्वाभिमान को उस बुलंदी पर ले जा चढ़ाया जो चढ़े

गर्व की बात है। औरंगजेब ने इन्हें आगरा के किले में बंदी बनाकर रख दिया। बंदीगृह से निकल भागने में उन्हें कई महीने लग गए पर औरंगजेब इस सिंह को अपने पिंजरे में बंद करके रख न सका। वे चतुराई से उसमें से निकल गए।

जितने समय तक वे महाराष्ट्र से बाहर रहे उनके बोड़े से सरदारों ने महाराष्ट्र में किसी प्रकार की असुराजकता या उपद्रव नहीं होने दिया। बाहर से होने वाले आक्रमणों को भी उन्होंने इसी प्रकार रोके रखा। उनका कोई सरदार सपने में भी उनसे विद्रोह करने की सोच तक नहीं सकता। इसके मूल में शिवाजी की निष्पृहता और धर्म राज्य स्थापित करने की उत्कृष्ट कामना ही थी। उन्होंने कभी अपने को राजा नहीं माना। वे सदा महाराष्ट्र के एक सामान्य सेवक की तरह ही रहे। ऐसे व्यक्ति से भक्त कौन विद्रोह कर सकता था?

औरंगजेब को भी राजा जसवंत सिंह को भेजकर उनसे संधि करनी पड़ी और उन्हें एक स्वतन्त्र राजा स्वीकार करना पड़ा। यह सब उसने इसलिए किया था कि उसे दूसरे क्षेत्रों में उठ रहे विद्रोहों को दबाना था। थोड़े ही समय बाद फिर उसे महाराष्ट्र से लड़ना पड़ा। शिवाजी ने इसके लिए तैयारियाँ कर ही रखी थीं। जीवन भर औरंगजेब महाराष्ट्र को दबाने की पुरजोर कोशिश करता रहा पर वह सफल नहीं हो सका।

शिवाजी को ऐसे-ऐसे वीर साथी मिले जो देश के लिए प्राणों पर खेलने में हिचकिचाते नहीं थे। कबीराय देशपांडे और तानाजी मालसरे जैसे सहस्रों वीर उनकी सेना में थे। महाराष्ट्र की पृथ्वी तो समर्थ गुरु रामदास ने जनमानस में तैयार कर ही रखी थी उसे क्रियतमक रूप शिवाजी ने दे डाला।

मुद्ध कौशल और नीति कुशलता में ही नहीं राज्य प्रबंध के मामले में भी वे तत्कालीन राजाओं से भिन्ने थे। उन्होंने शासक में सुशासन दिया था जनता को। उन्होंने राज्य प्रबंधकों के लिए अष्ट प्रधान मंडल की जिस परम्परा का प्रचलन किया जो आगे के लिए भी महाराष्ट्र मंडल की रीढ़ बना रहा।

वे पहले राजा थे जिन्होंने जागीरदारी व जमींदारी की प्रथा बंद करके भू-राजस्व वसूल करने के लिए सरकारी कर्मचारी नियुक्त किए। उनकी शासन व्यवस्था भौतिक थी पारम्परिक नहीं। इसमें प्रजा की उन्नति व सुख-सुविधा की भरपूर व्यवस्था थी।

शिवाजी ने राज्य की अधिकतम शक्ति अष्ट प्रधान मंडल के अधीन रखी व स्वयं नाममात्र के राजा रहे। उन्होंने जिस सुराज्य के लिए लड़ाइयाँ लड़ी थीं, वह सुराज्य उन्होंने अपने सुप्रबंध द्वारा साकार वस्तुतः भी सही। लगातार छत्तीस वर्ष तक उन्होंने वन पर्वत एक करके अनेकानेक मुद्ध करके सशक्त महाराष्ट्र की स्थापना का स्वप्न साकार किया जो उस समय की आवश्यकता थी।

उसके बीच लोगों के दिलों में विद्यमान थे पर उन्हें अंकुरित करके पल्लवित-पुष्पित पादप का रूप देने का श्रेय उन्हें मिला। महाराष्ट्र ही नहीं वे तो सारे भारत को मुस्लिम शासन से मुक्त देखना चाहते थे। बुंदेलखंड केसरी महाराज छत्रसाल को प्रारंभिक अवस्था में सहायता व मार्गदर्शन शिवाजी से ही मिला था। इस परंपरा को शिवाजी के उत्तराधिकारियों ने भी निभाया।

सन् १६८० में शिवाजी का देहावसान हो गया। उन्होंने अपने समय के एक युगपुरुष की भूमिका निभायी। उनका यह जीवन आदर्शों का एक चिरंतन प्रेरणा स्रोत है। उनके जीवन के कुछ प्रेरक प्रसंग इस प्रकार हैं -

गढ़ आया पर, सिंह चला गया

शिवाजी को सूचना मिली कि कोहलगढ़ में औरंगजेब द्वारा नियुक्त अधिकारी एक हिन्दू कन्या के साथ बलात् निकाह पढ़वाने वाला है। उन्होंने इस अनैतिки को रोकने के लिए कोहलगढ़ विजय के लिये तुरन्त कूच करने की आज्ञा अपने प्रिय योद्धा तानाजी के पास भेज दी।

उन्हीं दिनों ताना जी के पुत्र का विवाह होने वाला था, किन्तु उन्होंने कर्तव्य की गरिमा समझी तथा तुरन्त प्रस्थान किया। समय पर पहुँच कर कन्या का उद्धार किया तथा गढ़ जीव लिया, किन्तु उस अभियान में स्वयं भी बलिदान हो गये।

शिवाजी को गढ़-विजय तथा तानाजी के बलिदान का समाचार मिला तो उनके मुख से निकला- गढ़ आया पर, सिंह चला गया, दुर्ग का नम सिंहगढ़ ही रख दिया गया।

ईश्वर की कृपा

अनावृष्टि से संकटग्रस्त जनता की सहायता के लिए छत्रपति शिवाजी एक बाँध बनकर रहे थे। मजूरी करके सहस्रों व्यक्ति उदर-पोषण का आधार प्राप्त कर रहे थे।

शिवाजी ने एक दिन उन्हें देखा तो गर्व से फूले न समझे कि वे ही उतने लोगों को आजीविका दे रहे हैं। यदि वे वह प्रयास न करते तो इतने लोगों को भूखा मरना पड़ता।

समर्थ गुरु रामदास उधर से निकले, शिवाजी ने उनका सम्मान, सत्कार किया और उदार-अनुदान की गाथा कह सुनई।

समर्थ उस दिन तो चुप हो गये, पर जब दूसरे दिन चलने लगे तो शान्त भाव से एक पत्थर की ओर संकेत करके शिवाजी से कहा इस पत्थर को तुड़वा दो।

पत्थर छोड़ा गया तो उसके नीचे एक गड्ढा निकला, उसमें पानी भरा था और एक मेंढकी कसोरकर रही थी।

समर्थ ने शिवाजी से पूछा- इस मेंढकी के लिए सम्भवतः तुमने ही पत्थर के भीतर वह जीवन रक्षा की व्यवस्था की होगी? शिवाजी लज्जा से पानी-पानी हो गये

गुरुदक्षिणा

“शिवाजी ! तू बल की उफ़सना कर, बुद्धि को पूज, सकल्पवान बन और चरित्र की दृढ़ता को अपने जीवन में उतार, यही तेरी ईश्वर-भक्ति है। भारतवर्ष में बड़ रहे पाप, हिंसा, अनैतिकता और अनाचार के यवनी-कुचक्र से लोहा लेने और भगवान की सृष्टि को सुन्दर बनाने के लिये इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।” समर्थ गुरु रामदास ने समझाया।

“आज्ञा शिरोधार्य देव ! किन्तु यह तो गुरु-दीक्षा हुई अब, गुरु-दक्षिणा का आदेश दीजिये।” शिवाजी ने दृढ़ किन्तु विनोत भाव से प्रार्थना की।

गुरु की आँखें चमक उठीं। शिवाजी के रोंच पर हाथ फेरते हुए बोले- “गुरु-दक्षिणा में मुझे एक लक्ष शिवाजी चाहिए, बोल देगा ?”

“दूँगा गुरुदेव ! एक वर्ष एक दिन में ही यह गुरु-दक्षिणा चुका दूँगा।” इतना कहकर शिवाजी ने गुरुदेव की चरण धूलि ली और महाराष्ट्र के निर्माण में जुट गये।

पहले छोटे लक्ष्य पूर्ण करो

शिवाजी उन दिनों मुग़लों के विरुद्ध छापामार युद्ध लड़ रहे थे। रात को धके मँदि वे एक वनवासो बुढ़िया को झोपड़ी में जा पहुँचे और कुछ खाने-पीने की व्यवस्था करने लगे।

बुढ़िया के घर में कोदों धी सो उसने प्रेमपूर्वक भात पकाया और पत्तल पर उसके सामने परोस दिया।

शिवाजी बहुत भूखे थे। सो सपाटे से भात खाने की आतुरता में अँगुलियाँ जला बैठे और उन्हें मुँह से फूँककर जलन शान्त करने लगे।

बुढ़िया ने आँखें फाड़कर उसे देखा और बोली- सिपाही तेरी शक्ल शिवाजी जैसी लगती है और साथ ही यह भी लगता है कि तू उसी जैसा मूर्ख भी है।

शिवाजी स्तब्ध रह गये। उन्होंने बुढ़िया से पूछा- भला शिवाजी की मूर्खता तो भलाओ और साथ ही येरी भी।

बुढ़िया ने कहा- तू ने किनारे किनारे से उण्ही कोदों खाने की अपेक्षा बीच के गरम भात में हाथ धारा और अँगुलियाँ जलालीं। यही बेअकली शिवाजी करता है, वह दूर किनारों पर बसे छोटे किलों को आसानी से जीतते हुए शक्ति बढ़ाने की अपेक्षा बड़े किलों पर घावा बोलता है और मार खाता है।

शिवाजी को अपनी रणनीति की विफलता का कारण विदित हो गया। उन्होंने बुढ़िया की सीख मानी और पहले छोटे लक्ष्य बनाये और उन्हें पूरा करने की रीति-नीति अपनाई। छोटी सफलताएँ पाने से उनकी शक्ति बढ़ी और अन्ततः बड़ी विजय पाने में समर्थ हुए।

जाति द्रोह का प्रतिफल

घोर शिवाजी और औरंगजेब के मध्य बीजापुर के लक्षक मसऊद खाँ के विरुद्ध सम्मिलित युद्ध अभियान की सन्धि हो गई। सन्धि की शर्तों के अनुसार शिवाजी को अपने पुत्र सम्भाजी को मुगल दरबार में रहने रखना पड़ा। मराठे औरंगजेब की कूटनीति जानते थे। अतएव वे मुगल-मराठा सन्धि के पक्ष में नहीं थे। सम्भाजी को मुगल दरबार में बन्धक रखना तो और भी अपमानपूर्ण लग्न किन्तु शिवाजी को मराठों की चौराह पर विश्वास था इसलिये सन्धि-शर्तों के पालन में कोई दिक्कत न आई। मुगल सल्तनत में प्रवेश के साथ ही सम्भाजी की पहली दृष्टि पड़ी सुरा और सुन्दरियों पर। कर्म के दूरवर्ती परिणामों पर विवेकजन्य विचार न करने वालों, इन्द्रियों के आकर्षणों पर अंकुश न रख सकने वालों के समान ही सम्भाजी का भी इस तरह पतन प्रारम्भ हुआ और उसका अन्त अपने पिता के प्रति विद्रोह के रूप में आ प्रस्तुत हुआ।

सम्भाजी को पालूप था कि वुरचरित्रता भारतीयों में सबसे बड़ा अपराध होती है। लालच और मार्गदर्शक के लिए तो वह अक्षम्य भी होती है। एक बार स्थिति बिगड़ जाने पर सत्ता का उत्तराधिकार प्राप्त करना भी अनिश्चित था अतएव सम्भाजी पूरी तरह पाय-पंक में डूबे, वासना के कुचक्र में ही नहीं फँसे बरन् उन्होंने राष्ट्रघात भी किया। औरंगजेब को पिता की सेवा, दुर्ग, कोष के ठिकानों का सारा अता-पत्ता दे दिया। भारतीय इतिहासज्ञों का कथन है कि यह सब औरंगजेब के संकेतों पर हुआ किन्तु दोष सम्भाजी को ही दिया जाना चाहिए जो बुद्धिमान होकर भी विवेक स्थिर न रख सके यह जानते हुए भी वासना और राष्ट्रघात दोनों ही पतन के घर हैं अपने आपको वे निर्वन्धित न कर सके।

औरंगजेब ने निश्चय किया कि अब बीजापुर विजय का श्रेय अकेले ही लुटना चाहिए, सो उसने सम्भाजी को लालच देकर लड़ने के लिए राजी कर लिया। शिवाजी के साथ हुई शर्त उसने तुकरा दी और अपने क्रूर सेनापति दिलेर खाँ के साथ सम्भाजी को बीजापुर युद्ध में भेज दिया। शिवाजी भर्माहत हो उठे। बदला लेने के लिए उन्होंने बीजापुर नरेश का साथ दिया और अपने पुत्र घ दिलेर खाँ के विरुद्ध मसऊद खाँ के साथ लड़ाई में भाग लेकर मुगल सेना को परास्त कर दिया।

वे सम्भाजी को पकड़ना चाहते थे पर वह दिलेर खाँ के साथ पहले ही लड़ाई का मैदान छोड़कर भाग खड़ा हुआ। भारतीय लड़ाइयों में यवन शासकों की अधिकांश पराजय का कारण उनकी चरित्रहीनता ही रही है, जिसके कारण साहस और बल की दृष्टि से वे सदैव खोखले हो रहे और इस तरह प्रायः प्रत्येक युद्ध हारते रहे।

हार का बदला क्रूरता । यह उनका दूसरा सिद्धान्त था । दिलेर खाँ ने कभी सम्भाजी का बड़ा मित्र बनता था । सम्भाजी की सहायक मराठी सेना को नष्ट हुआ देख कर छल कर बैठा । मार्ग में तिफोट पड़ता था । वह स्थान मराठी सल्तनत का भाग था और सम्भाजी यहाँ के बच्चे-बच्चे से परिचित थे । इन सबके बावजूद दिलेर खाँ ने नृशंसता की और मुगल सैनिकों ने तिफोट को खूब जी भर कर लूटा ।

सन्ध्या हुई । सम्भा विचारमग्न लेटे हुए थे तभी पास के कोने से कराहने की आवाज आई । स्वयं उठकर देखने की हिम्मत नहीं थी तभी क्रूर हँसी के साथ दिलेर खाँ प्रविष्ट हुआ और सम्भाजी को उस खेमे में पकड़ ले गया जहाँ सैकड़ों भारतीय सलनाओं को बन्दी बनाकर उनके साथ अमानुषिक अत्याचार किया जा रहा था । सम्भाजी अपनी ही बहिनों पर अत्याचार देखकर सिहर उठे, हृदय जोत्कार उठा पर एक राहपातो तर्ज से सिर झुका लेने के अतिरिक्त कर भी क्या सकता था ?

प्रायश्चित्त उनकी धर्मपत्नी देसुबाई ने सुझाया । उसी रात सम्भाजी मुगलों के चंगुल से भाग निकले । पिता ने इन्हें क्षमा भी कर दिया पर जो भूल हो चुकी थी, जिसके कारण उन्होंने अपनी आँखों, अपनी संस्कृति को अपमानित होते देखा था उसके पश्चात्ताप की आग में वे मृत्युपर्यन्त झुलसते रहे ।

आदर्शों के हिमालय—

महाराणा प्रताप

महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी— ये दो नाम ऐसे हैं जिन्हें सुनकर आज भी हमारे रक्त में एक सन-सनाहट-सी ठपकने लगती है । यदि हमारा रक्त पानी नहीं बन गया है तो निश्चय ही ये नाम उसमें ग्वार उपजाने बिना नहीं रहते । इन महापुरुषों के व्यक्तित्व और कर्तव्य को काल की परिधि में नहीं बाधा जा सकता, ये चिरतन हैं । अमर हैं । आज भी और हर काल भी ये नाम उठने ही प्रभावशाली और प्रेरक हैं और रहेंगे ।

व्यक्ति की अपनी नैतिकता अपना आदर्श और अपना स्वाभिमान तथा राष्ट्रीय-गौरव वह अलंकरण है जिनके आगे राज्य वैभव और विलास के समस्त साधन धुँध हैं । वह जीवन भी क्या जीवन है जिसका कोई मानवोचित आदर्श नहीं । वह व्यक्ति क्या व्यक्ति है जो अनीति अनाचार और दुष्टता से समझौता कर ले । ऐसे व्यक्ति की साँस भले ही चल रही हो पर वह निष्प्राण है, निर्जीव, चेतनाहीन । महाराणा प्रताप का जीवन इसी आदर्श का प्रतीक है ।

महाराणा प्रताप का जन्म सन् १५४० में मेवाड़ के महाराणा राजवंश में हुआ । यह वही राजवंश था जिसने

महाराणा सांगा और महाराणा कुम्भा जैसे आदर्श प्रजा सेवी शासक व मातृभूमि के रक्षकों को जन्म दिया था । महाराणा सांगा के पौत्र होने का जहाँ प्रताप को गर्व था वहीं महाराणा उदयसिंह के पुत्र होने का दुःख भी । उदय सिंह अपने पिता और मेवाड़ की शौर्य परम्परा को निभाने में असमर्थ ही रहे थे । उनके पिता ने ठेठ आगरा के पास खानवा के मैदान में जाकर भारत पर आक्रमण करने वाले बाबर से लोहा लिया था पर उदयसिंह उसके पौत्र अकबर से चित्तौड़ की रक्षा नहीं कर सके । वे वहाँ से भाग खड़े हुए ।

प्रताप की माता यद्यपि राजकुमारी नहीं थीं । वे उदयपुर के निकटवर्ती ग्राम देवारी के देगड़ा बंश की कन्या थीं । उनके पिता कृषि कर्म करते थे । वे पढ़ी-लिखी भी नहीं थीं । पर संतान का निर्माण कैसे किया जाता है इस कला में वे अति प्रवीण थीं । शरीर से पूरी तरह स्वस्थ और मन से पूरी तरह निर्मल माता ने जहाँ राणा प्रताप को भीम का-सा शारीरिक बल दिया वहाँ हिमालय की-सी आदर्शनिहा और मनोबल भी दिया था । शिवाजी को छत्रपति बनाने का श्रेय जो उनकी माता जोजाबाई को है, वही महाराणा प्रताप को स्वाधीनता के अमर रक्षक और महान तपस्वी बनाने का श्रेय उनकी माता को ही है ।

उदयसिंह ने चित्तौड़ छोड़कर अरावली पर्वतों में सुरक्षित स्थल पर उदयपुर नगर का निर्माण किया था । उन्हीं पर्वतों में आछेट करते समय उन्होंने एक दिन एक स्वस्थ सकल कुषक कन्या को अरावली की खड़ी चढ़ाई में सिर पर भारी बोझ और हाथों में चार छह गाय के बछड़ों को पकड़े, जो अपनी बाल मुलभ मस्ती में पीछे की ओर लटक रहे थे, बड़ी सहजता से चढ़ते देखा तो उनके मन में विचार उठा कि इस कन्या के कोई पुत्र हो तो कैसा बलिष्ठ होगा । उनका वह विचार ही इस कुषक कन्या को मेवाड़ की महारानी बनाने का कारण बना ।

राणा प्रताप का जिरह-वख्तार लोहे का दोष व भाले आदि का वजन ही इतना था कि अकेला आदमी उसे उठाने नहीं सकता फिर उनका शरीर कैसा होगा ? इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है । उनकी माता यद्यपि शत्रु कन्या नहीं थी पर जिस कुल की वह बधू बनी थी उसकी मान मर्यादा और गौरव का उन्हें पूरा ध्यान था । उन्होंने राणा प्रताप को तन और मन दोनों से इतना सकल बना दिया कि वे मुगल सम्राट से बराबर की टक्कर ले सकें । एक ओर उन्हें बীর और त्यागी महापुरुषों की कहानियाँ सुना सुना कर उनमें उच्च भावनाएँ भरी दूसरी ओर शत्रु संचालन सिखाने और उनके शारीरिक बल सम्बर्द्धन की ओर भी उनकी माता ने पूरा ध्यान दिया ।

महाराणा उदयसिंह का ध्यान अपनी स्वतंत्रता की रक्षा से अधिक हासविलास में लगता था । उनका

१.६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

अधिकांश समय इन्हीं में बीतता था । राजा प्रताप की सौतेली माता ने जो एक राज कन्या थी, उनसे अपने पुत्र जयमल को महाराणा बनाने का वचन ले लिया था । प्रताप की जननी ने अपने पुत्र के व्यक्तित्व व चरित्र निर्माण पर अधिक ध्यान दिया था, न कि उसे महाराणा बनाने पर । इस कारण आरम्भ से ही उनका लक्ष्य मातृभूमि की सेवा करना था न कि राजा बनकर सुख भोगने का । राजा कोई भी रहे वे तो मेवाड़ को स्वाधीन देखना चाहते थे- चित्तौड़ को मुगलों के अधिकार से मुक्त करना चाहते थे ।

मेवाड़ के वीर सरदार उदयसिंह की कावयत्न पर शुब्ध थे । उनकी मज्जर प्रताप पर लगी थी । अपने राज के समस्त गुण वे पौर में देख रहे थे जिनके नेतृत्व में वे देश की रक्षा के लिये बाहर से लड़ते थे । मेवाड़ी वीरों की अपनी राष्ट्रीय परम्परा रही थी । वे सारे भारत को अपना देश मानते थे तभी तो मुहम्मद गौरी के आक्रमणों के समय हर बार वे रावल सपरबिक्रम के साथ पानीपत के मैदान में लड़ने गये ।

उदयसिंह की मृत्यु पर उनकी इच्छा के अनुसार जयमल को सिंहासन पर नहीं बैठने दिया, सरदारों ने प्रताप को ही महाराणा बनाया । प्रताप के लिये महाराणा बनने का अर्थ ही दूसरा था । वे सिंहासन पर गोछे बैठे पहले उन्होंने प्रतिज्ञा की- "मैं जब तक चित्तौड़ पर केसरिया ध्वज नहीं लहराऊँगा तब तक धाती में नहीं पतल पर भोजन करूँगा, भूमि पर जयन करूँगा, झोंपड़ी में रहूँगा और नगड़ा नहीं बजाऊँगा ।"

हर कर्म का एक उद्देश्य होता है । वह उद्देश्य ही मनुष्य को धुन और महान बना देता है । जहाँ व्यक्तिगत स्वार्थ व सुख के लिये कुछ किया जाता है वहाँ श्रद्धा और जहाँ किसी आदर्श के लिये कार्य किया जाता है वहाँ महानता की बात होती है । प्रताप ने महाराणा का पद अधिकार भोगने के लिये नहीं- कर्तव्य निभाने के लिये- व्यक्तिगत सुख भोग के लिये नहीं- राष्ट्रीय गौरव के लिये स्वीकारा । वे उनकी महानता का परिचायक हैं । महानता का पद यही है । पद तो प्रस्तुत रहा है, अभाव तो पथिकों का ही है ।

प्रताप ने राज्य सिंहासन पर बैठते ही मेवाड़ की बिखरी शक्ति को पुनर्गठित करना आरम्भ कर दिया । महाराणा उदयसिंह के काल में यह लगभग उपेक्षित ही रही थी । मेवाड़ के स्वाधीनता प्रिय सरदारों के हृदय में एक नया जोश उत्पन्न हो गया अपने इस नायक को देख कर । किन्तु प्रताप कुछ इससे भी दूर की बात सोच रहे थे । अब तक राज्य की रक्षा का काम छोड़े से सामन्तों और उनके सहायकों का कार्य रहा था । राजा-सामन्त और प्रजा ये उस समय की राजनैतिक समान व्यवस्था के तीन आधार थे । इनमें एक आधार जो प्रजा अर्थात् नागरिकों

का वह वह प्रायः राज्य की गतिविधियों में कोई भाग नहीं लेता था । वे तो राजा यदि अच्छा हुआ तो उसके राज्य में थोड़ी सी राहत पा लेते थे और बुरा हुआ तो उसके राज्य के अन्याय को सह लेते थे । राज्य व्यवस्था और राज्य की सुरक्षा के सम्बन्ध में यह वर्ग न तो अपना कोई कर्तव्य समझता था न अधिकार । वह तो बेचारी प्रजा थी जिस पर राजा और उसके मुट्ठी भर सामन्त शासन करते थे ।

प्रताप को यह व्यवस्था कुछ उचित और मुक्तिसंगत न पान पड़ी । उन्होंने राजा, सामन्त और प्रजा के बीच की दीवारों को तोड़ने का प्रयास किया । उदयपुर और उसके आस-पास के क्षेत्र में जो कि अरावली पर्वत क्षेत्रों के कारण निरा कीहड़ था, कृषि योग्य भूमि बहुत कम थी । सब ओर जंगल ही जंगल था । इस जंगल में भील और मीना नाम के आदिवासी लोग रहते थे, जो सभ्यता में पिछड़े होकर भी अपनी नैसर्गिक ईमानदारी, विश्वास और जयनिहा के लिये प्रसिद्ध थे । महाराणा प्रताप ने इन लोगों को अपना सहयोगी बनाया । वे उनमें एक राजा की तरह नहीं उनके देशवासी भाई की तरह रहे, उनका हृदय जीता और उनमें यह भावना जगायी कि यह धरती उनकी है, उसकी रक्षा का दायित्व उनका भी है तथा राज्य की गतिविधियों में उनका भी हक है ।

महाराणा प्रताप एक ओर अपने सरदारों-सामन्तों को अपनी मातृभूमि के छोटे हुए भाग की पुनः प्राप्ति के लिये संगठित व शक्तिशाली बना रहे थे वहीं दूसरी ओर आदिवासियों में राष्ट्रीय भावना जगा रहे थे तभी दुर्योग से जयपुर के राजा मानसिंह का, जो अकबर की अधीनता स्वीकार कर चुका था, साथ ही अपनी बहिन का विवाह भी उससे कर चुका था, दक्षिण विजय करता हुआ इधर होकर निकला । उदयसागर के तट पर महाराणा अपने आदिवासी सहायकों के साथ शिबिर डाले हुये थे थोड़े ही दिनों में महाराणा ने इन प्रकृति पुत्रों का हृदय जीत लिया था । महाराणा उनके साथ बिना किसी दुःख के रहते थे । मानसिंह का महाराणा ने अच्छा स्वागत सत्कार किया । उसके स्वागत में अच्छा खासा भोजन दिया, पर जहाँ साथ बैठकर भोजन करने की बात थी, राजा टाल गये । स्वतंत्रता प्रेमी भील आदिवासियों के साथ एक ही पंगत में बैठकर भोजन करने वाले राजा को अपने स्वार्थ और सुख के लिये अपने जातीय और राष्ट्रीय स्वाभिमान को भुलाकर विधर्मी, विदेशी अकबर की अधीनता स्वीकार करने व अपनी बहिन ब्याह देने वाले आदर्शच्युत मानसिंह के साथ बैठकर भोजन करना गैवारा न हुआ उन्होंने कहला भेजा उनके सिर में दर्द है ।

मानसिंह दर्द को समझ गया । अगले ही वर्ष वह इस दर्द की दवा करने शाहजहाँद सलीम के साथ एक विशाल सेना लेकर आ उपस्थित हुआ । महाराणा की तैयारी अभी अधूरी ही थी मुगल सेना की तुलना में उनके पास बहुत कम सेना थी । हल्दी घाटी के मैदान में दोनों का जपकर

मुकाबला हुआ। महाराणा प्रताप और उनके देशभक्त साथियों की वीरता देखते ही बनती थी। राणा पूरे जोश में थे और उनके सैनिक भी। लगता था कि वे मुगल सेना को गाजर मूली की तरह काटकर रख देंगे। सस्तीम मरते-मरते बचा। पानसिंह भय के मारे सामने नहीं आया संख्या में कम होने के कारण राणा के साथी कटकर मरने लगे। इस युद्ध में उन्हें भयंकर हानि उठानी पड़ी।

अपने थोड़े से साथियों के साथ उन्हें वन-वन भटकना पड़ा। ऐसे समय में पर्वत पुत्र आदिवासियों ने अपने देश के वीर नायक की भरपूर सहायता की। वे हल्दी घाटी के युद्ध में भी लड़े थे उनके साथ। मुगल सेना पीछे पड़ी थी। खाने के लिए घास की रोटियाँ, मिलती कभी वे भी नहीं मिलती। राजकुमार के हाथ से वन विलास घास की रोटी छीन कर भाग छड़ा होता है। महाराणा रोटी के अभाव में बिलखते राजकुमार को देखते हैं तो आँखें भर आती हैं। सोचते हैं वे भी झुक-जायें अनीति के आने हार मान लें? नहीं, फिर आदर्शों के लिये कौन कठिनाइयों-कष्टों को सहन करेगा।

महाराणा का यह स्वातंत्र्य प्रेम का उच्चादर्श भारतीय इतिहास की अममोल घाती बनकर रह गया है। आज भी उनकी जयंतियाँ मनाई जाती हैं उनकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की जाती हैं क्योंकि उन्होंने एक महानतम भावना को उच्चतम विकास दिया था। कवि बाँकीदास ने उनके लिये लिखा है—

“अकबर घोर अधार उपाणा हिन्दु अधर।

जागे जग दातार पोहरे राणाप्रताप स्त्री।”

अकबर कपी घोर अधिकार भरी रात्रि में सब भारतीय सो गये हैं किन्तु इस संसार के रचने वाले ईश्वर के महानतम अंश को स्वयं में जगमगे हुए राणा प्रताप प्रहरी बने जागकर राष्ट्र और संस्कृति की रक्षा कर रहे हैं। आज जब सारा संसार अनैतिकता के अधिकार में डूबा हुआ है, तब इस अनैतिकता को मिटाने की शक्ति भर प्रयास करने वाले थोड़े से नैतिक लोगों के लिये उनका यह साहस क्या छोटा-मोटा सम्पत्ति है?

सत्य है महाराणा प्रताप के एक-एक करके सभी किले मुगलों के अधिकार में चले गये थे। उन्हें वहाँ तक बीहड़ वनों में अपने परिवार व अपने भुट्टी भर साथियों के साथ घोर अभाव व कष्टों भरा जीवन व्यतीत करना पड़ा। जिन राजकुमारों के पाँव मखमल की सेजों से भीचे नहीं पहते थे वे घास की रोटी के लिये तरसे। किन्तु इस वप ने राणा की नैतिक विजय का लोहा उन हिन्दू राजाओं को ही नहीं मनवा दिया जिन्होंने स्वार्थ और सुख के लिये अपनी स्वतंत्रता व अपने राष्ट्रीय गौरव को बेच दिया था, वरन् स्वयं अकबर ने भी माना। कोई व्यक्ति बिना राज्य और बिना किसी सम्पत्ति के भी महान हो सकता है। यह उसने भी जाना।

अकबर का दरबारी रत्न अब्दुरहीम खानखाना राणा की महानता पर मुग्ध था। बीकानेर महाराज का भाई

पृथ्वीराज राठौर उसके भूँह के सामने महाराणा के अपराजेय व्यक्तित्व और स्वातंत्र्य प्रेम के गीत गाता था। मानसिंह और अन्य राजा भी मन ही मन अपनी क्षुद्रता को समझ रहे थे। इन सबके सामने उसे हल्दीघाटी के युद्ध में हुई अपनी विजय फीकी लगती थी।

उनकी जो प्रतिज्ञा थी कि उनका मस्तक केवल ईश्वर के सामने झुक सकता है, इस प्रतिज्ञा में उनका आहम् नहीं वरन् इनकी ईश्वर-निष्ठा, संस्कृति-निष्ठा व राष्ट्र-निष्ठा ही बोल रही थी। वे मातृभूमि छोड़ने और सिंध के रेगिस्तान में जाकर मयी शक्ति संगठित करने के लिये तैयार थे, पर वे अपने देश की स्वतंत्रता को व्यक्तित्व सुखों के लिये बेचने को तैयार नहीं हुए। कहना न होगा कि स्वतंत्र भारत उस समय राजा के हृदय में अवस्थित था। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय सपस्त फ्रांस पर जर्मनी की सेना का अधिकार था पर जर्मन दगल के साथ फ्रांस का अस्तित्व व व्यक्तित्व इंग्लैण्ड में सुरक्षित था ठीक उसी प्रकार राणा प्रताप सारे देश की स्वतंत्रता के प्रतीक बन चुके थे जबकि वे खाली हाथ थे, राज्य छिन चुका था।

राणा का तब पूरा हुआ। “भामाशाह के रूप में ईश्वर ने उनकी मनोकामना पूरी कर दी। भामाशाह ने अपने कोष की कुंजी इनके चरणों में रख दी जिससे २५ हजार व्यक्ति बारह वर्ष तक गुजर कर सकते थे। इस धन से उन्होंने पुनः शक्ति संगठित की और एक-एक करके बत्तीस किले मुगलों से छीन लिये।” केवल चित्तौड़ और माण्डलगढ़ के दो दुर्ग जीतने शेष रहे थे कि यह अमरविभूति इस संसार को छोड़ गयी। महाराणा प्रताप का यह स्वातंत्र्य प्रेम, आदर्शमय जीवन यदि हमारे रक्त में उबाल न लाए और हम इस अनैतिकता की सर्वभक्षी विभीषिका से स्वयं मुक्ति पाने और समाज को मुक्ति दिलाने के लिए व्यक्तिगत सुखों का मोह न त्याग सके तो इससे बड़ी सजा की कत और क्या होगी?

विपत्तियाँ भी जिन्हें आदर्शों से डिगा नहीं सकीं

स्वतन्त्रता संग्राम में जूझते हुए राणा प्रताप वन-पर्वतों में अपने छोटे परिवार सहित धारे-धारे फिर रहे थे एक दिन ऐसा अक्सर आया कि खाने के लिये कुछ भी नहीं था। अन्धज को पीसकर उनकी धर्मपत्नी ने जो रोटी बनायी थी उसे भी वन-विलास उठा ले गया। छोटी बच्ची भूख से व्याकुल होकर रोने लगी।

राणा प्रताप का साहस टूटने लगा। वे इस प्रकार बच्चों को तड़पकर भूख से मरते देखकर विचलित होने लगे। एक बार मन में आया शत्रु से सन्धि कर ली जाय और आशम को जिन्दगी बितायी जाय। उनकी मुख-मुद्रा गम्भीर विचारधारा में डूबी हुई दिखाई दे रही थी।

१८ बहादुरों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग २

राजी को अपने परिवार की चिन्ता सम्झने में देर न लगे वे स्नेहपूर्वक बोली- "बच्चा ! किस चिन्ता में पड़ गये ? बच्ची तुम्हें मर छोड़े ही जायेगी । मर खो जाये तो राह पर कहीं बड़ा-बड़ा का बलिदान हो रहा है, एक भालिका और सही । हम अपने परिवार की अनीति के विरुद्ध संघर्ष के लिए एक अद्वैत झण्डे के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं । हमें देखकर ही समाज में कहीं से क्रांति आने लगने का सम्भाव्य उभरेगा । इस सम्भाव्य में बच्ची को छोड़कर मैं नहीं हूँ ।"

महाराजा को जबकि संकल्प पक्का आ गया । राह निर्माण की अपनी झण्डा की आदमी निहाल बनाने लखकर अपनी यंत्रिणा की ओर बढ़ गये ।

आदर्श के लिए लड़ने वाले योद्धा

शक्ति सिंह ने सामने खड़ी पेन्ना के राजकुंआ राजपूतों की छोटी-सी सेना को एक नज़र से देखा । पुनः भारतीय और भारतीय की इस संयुक्त-बलिनी को देखा । वह मन ही मन ईसा- ने खुले पर सैनिक स्वर्ण ही मनु के पास बनने को आ रहे हैं । विभिन्न प्रकार के इन्विजिअरों से सुसज्जित इस विजय सेना के समक्ष वे कहीं एक टिक सकेंगे । जब राजपूतों का वह गर्व भिड़ी में मिलकर ही रहेगा तब धीरे धीरे-कुछ में कम रही प्रतिशोध की भाँति का समय होगा ।

रामधेरी बच्ची । दोनों ओर के सैनिक एक दूसरे पर झपट पड़े । सलवारें और दिखाने लगे । राजपूत जिन्दों से मरण कीक्षा का जीना नहीं मराने के सैनिकों को ऐसे काटने लगे जैसे छोड़े से किस्मत विजय सेना की काटने के लिए जुट गये हैं और देखते ही देखते मैदान खाली हो जायगा । राजपूतों की सलवारें जिधर भी चलती उधर मुँह ही मुँह कितना अभी मैदान काफ़ी हो गया । मुगल सैनिकों के बीच उलझने लगे ।

एक ओर सच्चे देशभक्त वे जो अपनी मातृभूमि की रक्षा हेतु प्राणोत्सर्ग करने को प्रस्तुत थे । दूसरी ओर वेला भोगी कर्मचारी मनु ।

राजा प्रताप को योद्धा कज्जलीन सलवार के निकट आ पहुँचा ? चेतक ने कूदकर अपने अगले दोनों पैर हाथी के कानों पर रख दिये । राजा प्रताप ने उसे सलवार कर मार मारा । सलवार अपने प्राणरक्षा के लिए दौड़े में छिप गया । उसी समय किसी मुगल सैनिक ने चेतक का पिस्तल बीच काट दिया ।

इसी समय सड़हरी के सरदार मना जाल ने देखा कि राजपूतों का प्राण संकट में है । वे न रहे तो हिन्दुओं का सूर्य अस्त हो जायगा । वे तो बुद्ध हो चला, मर भी मर तो कोई हानि न होगी । शीघ्र ही यह निर्णय ले वह राजा के प्रताप के पास आया और उनके साथ चिड़ मारण कर लड़ने लगा । मुगल सेना उसको राजा समझ कर उस पर दृढ़ पड़ी । बावला चेतक अपने स्वामी को न छोड़े हुए भी

उन्हें समय कम की ओर लेकर भगा चला । सरदार मना जाल ने अपने प्राणों की स्मृति देकर महाराजा की आज याद की ।

शक्ति सिंह ने राजा को मैदान छोड़कर भागे देख लिया । दो मुगल सैनिकों को भी वह ज्ञात हो गया । उन्होंने राजा का पीछा किया । शक्ति सिंह भी उनके पीछे ही चला कि वे बचकर न निकल जायें ।

रामधूमि में शक्ति सिंह के पीछे की टाँपें लगे बौद्धों के रूप कुचलते जा रहे थे । पन्द्रह बीस मुगल सैनिकों के घेर के निकट झुकता दुक्का राजपूत खेत रहा था । शक्ति सिंह के मन में विचार उठा- "पेन्ना के भिड़ी व रक्त से सींचे पीछे, बड़ होकर अन्न धरती को रोद में बड़ा के लिए लगे गये हैं । कितने भाग्यशाली हैं वे ? मातृभूमि की रक्षा के लिये ईसाई ईसाई बलि हो गये । तभी उसके भीतर से किसी ने पूछा- "और पुनः प्रताप के छोटे भाई होकर?" उसके अन्तर में झोक देना प्रेम जाग उठा । वह स्वयं को धिक्कारने लगा । कितना अभय है मैं ? "प्रतिशोध लेने चला कि अपने ही भाई से, प्रकारान्तर में मातृभूमि से ।" आज कितनी ही क्षणियों की माँग के सिद्ध हुए गये, रक्त की नदियाँ बह गईं और मैं अपनी मातृभूमि के किसी काप में आ सका । कैसे इस पाप का प्रायश्चित्त करूँ ?

उसने देखा दोनों मुगल सैनिक राजा का पीछा कर रहे हैं । राजा के प्राण संकट में हैं । उसने अपना छोटा पीछा और उसके छोटी पट्टी का जहाँ दोनों सैनिक राजा को लपककर का पिस्तल बनाकर चाहते थे । उसी समय शक्ति सिंह आ पहुँचा । उसने अपनी सलवार के धार से दोनों मुगल सैनिकों को बराबर कर दिया ।

चेतक मुँहिल होकर फिर पड़ा कि प्रताप के समक्ष शक्ति सिंह अराधक के समक्ष खड़ा का राजा ने कहा- "मेरे प्राण शेष हैं वह भी ले ले । इतने राजपूतों के लून से भी ऐसा प्रतिशोध पूरा नहीं हुआ ?

किन्तु शक्ति सिंह की अँखों से प्रायश्चित्त के आँसू बह रहे थे । वह राजा प्रताप के चरणों पर गिर पड़ा ।

भामाशाह का अनोखा त्याग

स्वतन्त्रता के अमर पुजारी महाराजा प्रताप मेवाड़ एक का अन्तिम प्रवास करते हुये भी विरासत हो चले थे सारा राज्यभक्त सन्तान हो गया । अकबर की विरासत सेना का मुकामला मुड़ी पर राजपूत ही कर रहे थे । अपने जीवन, पराक्रम और वीरता से उन्होंने दुश्मनों के दौट लट्टे कर दिये थे । परन्तु बेचारे करती क्या ? इषा अल्पसंख्यक राजपूत, उधर टिड्डी दल को तरह मुगलों की अपरमिद सेना । जब एक सेना सम्पन्न हो जाती, दूसरी पुनः लड़ने के लिये भेज दी जाती । जब एक जगह पर रस्द धरने समाप्त हो जाता, दूसरे जगह से सौंप हो सहायतार्थ पहुँचा दिया जाता । अकबर की विरासत सेना और अतुल बाधनों का

मुकाबला महाराणा अपने थोड़े सैनिकों और अल्प साधनों से अब तक करते आ रहे थे।

अन्त में समय ऐसा आ गया जब सारा धन और सारी सेना समाप्त हो गई। अब न पास में पैसा रहा और न अन्य साधन जो जिससे पुनः सेना तैयार करते। मातृभूमि की रक्षा के लिये एक भी उपाय सोचे बिना नहीं चूके, परन्तु क्या करते अब एक भी वस्तु नहीं चल रहा था। उधर शत्रु सेना बढ़ती ही चली आ रही थी। अराकलों की पहाड़ियों में भी छिपकर जीवन बिताने की कोई सुरत न दीख रही थी। शत्रुदल वहाँ भी अपनी टोह सम्राट के बैठा हुआ था।

अपने जीवन की ऐसी विषम घड़ियों में एक दिन महाराणा व्यथित-हृदय एकान्त में विचार करने लगे—
“अब मातृभूमि की रक्षा न हो सकेगी। यों की रक्षा न कर सकने वाले मुझ अभिने को इस समय देश का त्याग कर कम से कम अपनी रक्षा तो कर ही लेनी चाहिए जिससे भविष्य में कभी दिन लौट है और पुनः मैं को शत्रु के हाथों से स्वतन्त्र कर सकूँ।”

दूसरे दिन प्रातः अपने परिवार और बचे सूखे साधनों सहित वे सिन्ध प्रदेश की तरफ चल दिये। अभी थोड़ी ही दूर गये होंगे कि पीछे से किसी ने अर्ध भरी आवाज लगाई—
“महाराणा ठहरो हम अभी जीवित हैं। राणा ने पीछे मुड़ कर देखा तो उनके राज्य के पुराने मन्त्री भामाशाह दौड़ते-हॉफते हुए उनकी तरफ चले आ रहे हैं। उन्होंने अभी-अभी राणा के देश त्याग का समाचार खाया था।

समीप पहुँचकर जबबदायी आँखों से भाषा बोले—
“राजन् आप निराश हो जायेंगे तो आशा फिर किस के सहारे जीवित रहेगी?” मुख भस्तीन किये हुए राणा प्रताप बोले, “मन्त्रिवर! देश रक्षा के मेरे सारे साधन समाप्त हो चले। किसी साधन की खोज में ही नहीं चल पड़ा है। यदि सुयोग हुआ तो फिर लौट सकूँगा जहाँ सदा के लिये मातृभूमि से माता तोड़ के जा रहा हूँ।”

स्वतन्त्रता के पुकारी और मेवाड़ के सिंह की काँठें बड़े भामाशाह के कलेजे में तीर जैसी जा चुकीं वे हाथ जोड़कर बोले—
“अपने घोड़े की बाग मेवाड़ की तरफ छोड़िये और नये सिरे से लड़ाई की तैयारी कीजिये। इसमें जो कुछ भी खर्च पड़ेगा मैं दूँगा। मेरे पास आपके पूर्वजों की दी हुई पर्याप्त धन राशि पड़ी हुई है। जिस दिन मेवाड़ शत्रु के हाथों चला जावेगा, उस दिन वह अतुल सम्पत्ति भी तो उसी की हो जावेगी। फिर इससे अधिक सुयोग और क्या हो सकता है जब मातृभूमि से उपजाित कमाई का एक-एक पैसा उसकी रक्षा में लग्न दिया जाय।

भामाशाह के इस अपूर्व त्याग और देशभक्ति की बातें सुनकर महाराणा प्रताप का दिल भर अग्या। वे व्यापस लौटे और उस सम्पत्ति से एक विशाल सेना तैयार करके शत्रु से युद्ध हेतु आ डरे और संपन्नता प्राप्त की। कहते हैं कि भामाशाह ने इतनी सम्पत्ति अर्पित की जिससे महाराणा की पच्चीस हजार सेना का बारह वर्ष तक का खर्च बसा

था। भामाशाह चले गये और राणा भी अब नहीं हैं पर उनकी कृतियाँ अब भी हैं और सदा तक रहेंगी। देश को जब भी आवश्यकता पड़ेगी, उनकी प्रेरणाएँ अनेक राणा तैयार करेंगी और उसी प्रकार अनेक भामाशाह भी पैदा होते रहेंगे जो अपनी चिर संचित पूँजी को मातृभूमि के रक्षणार्थ अर्पित करते रहेंगे।

मध्य-युग का महान क्रान्तिकारी—

हरसिंह

कुमार्यु और गढ़वाल के प्रत्येक गाँव में उस क्रान्तिकारी के स्मारक बने हुए हैं जिन्हें ‘धान’ कहा जाता है। किसी बड़े पेड़ के नीचे लोहे के त्रिशूल और चिमटे गढ़े होना और पेड़ की टहनियों पर लाल और सफेद रंग के चौर बंधे होना ‘धान’ की निशानी है। आज भी कोई बूढ़ा, निर्बल, निर्धन, विधवा या असहाय व्यक्ति किसी सामर्थ्यवान, सत्तावान व्यक्ति द्वारा सत्ताया जाने पर यहाँ आकर चावल-अक्षत चढ़ाता है और अपनी सहायता करने की प्रार्थना करता है। लोगों का विश्वास है कि उस महान क्रान्तिकारी जिसने आजीवन आत्मनार और शोषण से पीड़ित मनुष्यों की रक्षा की, उसकी आत्मा उनकी पुकार को सुनती है और उनकी सहायता करती है। पहाड़ी जनता का आज भी ऐसा विश्वास है। अपने सुकृत्यों के द्वारा मृत्यु के पाँच सौ वर्ष बाद भी इतना सम्मान, इतनी श्रद्धा और इतना विश्वास पाने वाला यह क्रान्तिकारी था हरसिंह, जो सम्भवतः हमारे देश का पहला क्रान्तिकारी था।

कुमार्यु और गढ़वाल में आज भी उसके गीत गाये जाते हैं। इन गीतों को ‘जागर’ कहा जाता है। जागर का अर्थ है जगाने वाले। सबसे बड़ा जागर हरसिंह का ही है बुन्देलखण्ड में ‘आल्हा’ जितना जनप्रिय है उतना ही गढ़वाल और कुमार्यु में जागर। यद्यपि मुस्लिम इतिहासकार इस सन्दर्भ में प्रभव मौन रहे हैं। वे अपने सम्राटों के विरुद्ध क्रान्ति करने वालों के विषय में विस्तार से क्यों कहेंगे। उनमें तो संश्लिष्ट विवरण भर मिलता है। किन्तु पर्वतीय जनता ने इस क्रान्तिवीर को अपने लोक गीतों के माध्यम से अभर कर दिया है। हरसिंह का जागर सामूहिक रूप से ग्यारह रात और ग्यारह दिन तक गाय जाता है।

हरसिंह तत्कालीन राजाओं की परम्परा से सर्वथा अलग-थलग जन प्रतिनिधि क्रान्तिकारी के रूप में उभरे न तो वे राजवंश कुलोत्पन्न थे और न ही उन्होंने अन्य राजाओं की तरह अपना पारम्परिक राज्य ही स्थापित करने का प्रयत्न किया। वस्तु उन्होंने जनता को संगठित करके युगल शासन और कब्युरी हिन्दू राजाओं के शोषण से पर्वतीय जनता को मुक्ति दिलाने के लिये अपना जीवन होम दिया था। वे इतिहासकारों की दृष्टि में कटेहर के राजा थे किन्तु सही बात तो यह थी कि वे जनक्रान्ति के नेता थे।

१.१० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

हरसिंह का बचपन बहुत असहाय अवस्था में बीता। उनका काल सन् १३९० से १४७५ था। उनके जन्म के साथ अत्यन्त करुण और वीथल कहानी जुड़ी हुई है। उनकी माता अपने परिवार के सहित उत्तराखण्ड के अवसर पर हरिद्वार में कुम्भ का मेला देखने गयी थी। वह अविवाहिता ही थी। इस मेले के अवसर पर अचानक तुर्कों ने हरिद्वार पर आक्रमण कर दिया। भयंकर लूट पाट, हत्या और कुकर्म किये तुर्कों ने। कालिनारा (हरसिंह की माता) अपने शील की रक्षा हेतु गंगा में कूद पड़ी पर एक तुर्क ने उसे बचाकर उसके साथ जघन्य कर्म किया और जंगल में असहाय छोड़ चलता बना।

कालिनारा ने इस पाप से मुक्ति पाने के लिये कई बार आत्मघात करने का प्रयास किया पर योगी गोरखनाथ द्वारा बचा ली गयी। हरसिंह और सैम नामक दो जुड़वाँ पुत्रों को जन्म देने के बाद वह सदा के लिये गंगा की गोद में समा गयी। योगी गोरखनाथ ने दोनों बच्चों को पाला।

कुछ वर्षों तक तो ये बालक योगी गोरखनाथ के आश्रम में रहते रहे। गोरखनाथ के साधना हेतु स्थान परिवर्तन के कारण वे अनाथ हो गये। भटकते-भटकते वे हंसुलागढ़ पहुँचे वहाँ कुछ दिन एक सहृदय गोपालक की गोद में बराते हुए दिन काटते रहे। अवैध सम्मान होने के कारण उन्हें समाज से अपमान और तिरस्कार हो मिला। लोग उनसे अंत्यज की तरह व्यवहार करते।

एक दिन तुर्क सैनिक कुछ गौओं के साथ सैम को भी पकड़कर ले गये। हरसिंह अपने भाई के इस प्रकार पकड़े जाने पर बहुत दुःखी हुए और इस अत्याचार का बदला लेने की सोचने लगे।

गुरु गोरखनाथ के साथ कुछ वर्षों तक रहने के कारण हरसिंह के बाल मन पर कुछ ऐसे संस्कार पड़ गये थे कि वे समय पाकर असर दिखाने लगे। अन्याय का प्रतिकार करने के लिये शक्तिशाली बनना आवश्यक था। अतः वे शक्ति-सम्पन्न होने लगे। उन्होंने साधु का वेश धारण किया और संयम-नियम से रहते हुए जनशक्ति संग्रह के लिये अलग जगाने लगे। कुमायूँ यात्रा करते हुए उन्हें चम्पावत ग्राम में गोरिया नामक सहायक मिला। उसके पास धन भी था और स्वल्प जन-शक्ति भी थी। इन दोनों ने मिलकर सैम को कारागार से मुक्त कराया।

अन्याय, अत्याचार का प्रतिकार करने के उद्देश्य से उन्होंने अपनी शक्ति बढ़ायी और वे कटेहर के प्रशासक बने। यों उनका जीवन संन्यासी का-सा ही रहा, व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं से शून्य। उन्हें कटेहर का प्रशासक या राजा कहने की अपेक्षा उस क्षेत्र की जनता को संगठित करके तत्कालीन शासकों के अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध खड़ा करके उस क्रान्ति का नेतृत्व करने वाला नायक कहना ही उपयुक्त होगा।

जनता कर इसलिये देती है कि राजा उसकी सुरक्षा करे— उसे सुशासन दे, जबकि उस समय के तुर्क राजा गयासुद्दीन बलबन, मुहम्मद बिन तुगलक आदि केवल

अपनी सेना बढ़ाने, अपने ऐशो-आराम के साधन जुटाने और प्रजा पर अत्याचार करने के अतिरिक्त और कुछ करते ही नहीं थे। फिर उन्हें कर देने का क्या औचित्य? यह बात हरसिंह ने उन्हें बताया। किन्तु वे अपने को कमजोर और सामर्थ्यहीन समझते थे। इस पर हरसिंह उन्हें समझाते—“कर वसूलने के लिए पाँच दस सिपाही आते हैं और गाँव के दो-सौ आदिमियों से कर वसूल कर ले जाते हैं कर नहीं देने पर मारते, पीटते और अपमानित करते हैं, ऐसा क्यों होता है। क्योंकि हम कभी एक होकर नहीं सोच सकते। हम यदि संगठित होकर विरोध करें तो पाँच-छे क्या पाँच सौ से भी भारी पड़ें। किन्तु हम संगठित होना नहीं जानते, संगठन की शक्ति से परिचित नहीं होते।”

उनकी इन बातों का लोगों पर जादू का-सा असर होता। लोग जागने लगे। धीरे-धीरे उनके पास हजारों स्वयं सेवक सैनिक तैयार हो गए जो वक्त आने पर अपना काम छोड़ कर सैनिक बन जवा कर लेते थे। हरसिंह ने कटेहर (वर्तमान रुहेलखण्ड) को दिल्ली साम्राज्य की पराधीनता से मुक्त कर लिया।

यह उस काल की अपूर्व घटना थी। मध्ययुग में दिल्ली साम्राज्य का विरोध करने के लिये जनता में राजनैतिक चेतना बगाने का यह अपूर्व काम हरसिंह ने किया था। उनके द्वारा चलाया गया ‘कर न दो’ आन्दोलन वस्तुतः बहुत बड़ी क्रान्ति थी। जिस प्रकार अंग्रेज इतिहासकारों ने भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की सच्ची तस्वीर अपने इतिहास में नहीं खींची वैसे ही मुस्लिम इतिहासकारों ने भी किया है।

‘तारीख-ए-मुबारक शाही’ पुस्तक के अनुसार सन् १४१८ में दिल्ली के शासक खिज़्र खाँ सैयद ने कटेहर के इस जन-विद्रोह जिसका नेतृत्व हरसिंह कर रहे थे, को कुचलने के लिए सेनापति तागुल मुल्क के नेतृत्व में विशाल शाही सेना भेजी थी। इस विशाल सेना का मुकामला जनता के जवान करने में समर्थ नहीं थे अतः हरसिंह पीछे हट गये। इस युद्ध में उनकी पराजय हुई। किन्तु यह पराजय क्षणिक थी। शाही सेना के लौटते ही १४२० में उन्होंने पुनः कटेहर को स्वतन्त्र कर लिया। तीन वर्ष तक उस प्रदेश से कर के नाम पर एक पैसा भी शाही खजाने में जमा नहीं हुआ था।

१४२४ में खिज़्र खाँ का ध्यान पुनः कटेहर की ओर गया। उसने अपने पुत्र सेख मुबारक शाह सैयद को एक बहुत बड़ी सेना देकर हरसिंह को परास्त करने के लिए भेजा। मुबारक शाह की इस विशाल सेना को परास्त करने के लिए हरसिंह ने कत्थूरी नरेश पृथ्वीपाल से सहायता चाही। पृथ्वीपाल ने उसे सहायता दी जिससे वह शाही सेना के दाँत खट्टे करके पीछे हटाने में सफल हुए। ‘रहब’ नदी के तट पर जहाँ पृथ्वीपाल और हरसिंह की सम्मिलित सेना ने तुर्क सेना को हराया था वहाँ नैनीताल के रानीबाग नामक स्थान पर आज भी प्रतिवर्ष उन्हीं दिनों

विजयोत्सव मनाया जाता है। इतिहासकार इस पर मौन रहे हों पर वहाँ के लोकगीतों ने आज भी उस विजय की याद को ताजा बना रखा है।

कटेहर के एक सामान्य से विद्रोही होने पर भी हरसिंह अनूठे और प्रेरणादायक व्यक्तित्व के धनी थे। आज भी कुमायूँ का लोकमानस भूला नहीं है। पृथ्वीपाल के दरबारी कवि धरमदास ने हिमालय की उपत्यिकाओं में निवास करने वाले पर्वत-पुत्रों में आत्मसम्मान, स्वतन्त्रता, धातुभाव और संगठन-शक्ति का प्रचार करने के लिये हरसिंह के जीवन पर काव्य-ग्रन्थ रचकर उसे अमरत्व प्रदान कर दिया है। जिसे मुसलमान साहित्यकारों के द्वारा लिखे गये घटपातपूर्ण इतिहास की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक और विश्वस्त कहा जा सकता है। लोक-साहित्य की तो यह निधि है ही।

एक अनाथ और असहाय बालक की दयनीय स्थिति से ऊपर उठकर उस प्रदेश की जनता का नेतृत्व करने-अपने स्वाभिमान की रक्षा ही नहीं जातीय स्वाभिमान और मानवीय मूल अधिकार-स्वतन्त्रता के लिए प्रबल जन आन्दोलन खड़ा करने वाला यह प्रखर व्यक्तित्व मनुष्य की आत्म-शक्ति और संकल्प-शक्ति का अनूठा उदाहरण है। अन्यायपूर्ण मुस्लिम शासन से कटेहर की जनता को मुक्ति दिलाने वाला यह व्यक्ति कभी जन-जन द्वारा उपेक्षित किया गया, दुकराया गया था पर उसने समाज से पूजा नहीं की। उसने समाज के उपकारों की ओर ही ध्यान दिया। यदि योगी गोरखनाथ उनका पालन-पोषण नहीं करते, समाज में जहाँ दस ने उनकी उपेक्षा की, दो ने प्यार भी दिया था। उस प्यार का प्रतिदान चुकाने के लिये उसने जीवन समर्पित किया तो वही उपेक्षित 'हरु' हरसिंह बन गया और सदियों तक पूजा गया। यह कीर्ति, यह अमरत्व उसका अपना उपार्जित किया हुआ था।

हरसिंह ने मुस्लिम शासन से कुमायूँ की जनता को मुक्त कराने का उद्योग ही नहीं किया परन्तु समाज के पीड़ित और शोषित वर्ग का प्रतिनिधि बनकर उसने निस्संतान विधवाओं को भूमि का अधिकार दिलाने के लिए संघर्ष भी किया। हिन्दू-राजाओं द्वारा प्रजा पर लगाये गये अतिरिक्त कर भार के विरुद्ध आन्दोलन किया। केदारनाथ मन्दिर के लिए जनता पर लगाया गया 'देवकर' उसी के प्रयासों से बन्द हुआ।

उनके इन क्रान्तिकारी जन-आन्दोलनों के कारण कुछ सम्पन्न ब्राह्मण और क्षत्रीय उसके विरोधी हो गए। वीर सिंह मनारी नामक एक क्षत्री ने उसके सेनापति घोरिवा का वध कर दिया। उसका भाई सैम फलसे ही युद्ध में काम आया था। इस प्रकार अपने दो निकट सहयोगियों की मृत्यु हो जाने पर भी उन्होंने अपने इस आन्दोलन को स्थगित नहीं किया। उनके इन प्रयासों से कुमायूँ में निरंकुश शासक अन्याय और अत्याचार के पक्ष से विरत हो सुशासन की रीति-नीति अपनाने को विवश हुए।

हरसिंह, सैम और घोरिवा तीनों आजन्म अविवाहित रहे। पर्वतीय जनता में संगठन और आत्मसम्मान की भावना जगाने और निरंकुश शासन पर अंकुश लगाने का जो महत्वपूर्ण काम उन्होंने अपने हाथ में लिया था उसमें घर-परिवार की जिम्मेदारियाँ उठाने के लिए स्थान नहीं था। अतः एक ही ध्येय को समर्पित होकर उन्होंने अपने काम में सफलता हासिल की। उन्हें कुमायूँ की जनता आज भी 'निरभारी निरकारी दयाल ठाकुर' के नाम से श्रद्धा सहित याद करती है। निर्बलों के सहायक और अत्याचार के प्रबल विरोधी के रूप में उनका व्यक्तित्व सामान्य मानव से ऊपर उठकर देव स्तर तक पहुँच चुका है। उनका यह जीवन आज भी उतना ही प्रेरक और स्मरणीय है।

पराधीनता से संघर्ष करने वाले - गैरीवाल्डी

पराधीनता मनुष्य के लिये बहुत बड़ा अभिशाप है वह चाहे व्यक्तिगत हो अथवा राष्ट्रीय, उससे मनुष्य के चरित्र का पतन हो जाता है, गुणों का हास होने लगता है और तरह-तरह के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिये कवियों ने पराधीनता को एक ऐसी 'पिशचिनी' की उपमा दी है जो मनुष्य के ज्ञान, मान, प्राण सब का अपहरण कर लेती है।

दूसरे को पराधीन बनाना संसार में सबसे बड़ा अन्याय और दुष्कर्म है। भगवान् ने संसार में अनेक प्रकार के छोटे-बड़े, निर्बल-सबल, मूर्ख-चतुर, प्राणी बनाये हैं। ईश्वरीय नियम तो यह है कि जो अपने से छोटा, कमजोर न्यस्तमूल हो उसको आगे बढ़ने में, उन्नति करने में सहायता दी जाय, प्रगति-क्षेत्र में उसका मार्गदर्शन किया जाय पर इसके विपरीत जो कमजोर को अपना भक्ष्य समझे है, स्वतन्त्रता से उसके स्वत्व का अपहरण करने को ही अपनी विरोधता समझते हैं, उन्हें कम से कम 'मानव' पद का अधिकारी तो नहीं कह सकते। इनकी गणना तो उन क्रूर हिंसक पशुओं में ही की जा सकती है, जिनका स्वभाव ही खूंखार बनाया गया है और जो सब के लिये भय के कारण होते हैं।

इटली के गैरीवाल्डी (जन्म १८०७) संसार के उन महापुरुषों में से थे जिनको इस प्रकार की पराधीनता घोर अन्याय जान पड़ती थी और जिन्होंने अपने ही देश में नहीं वरन् जहाँ भी सामने अवसर आया अथवा कर्तव्य की पुकार सुनाई दी, वहाँ उसके विरुद्ध प्राणपण से संघर्ष किया। वरुधि वे इटली के निवासी थे और वहीं के लिये वे स्वाधीनता-संग्राम में सैनिक बने थे, पर उन्होंने दक्षिण अमेरिका के भी कई छोटे राष्ट्रों के स्वाधीनता-संग्राम में प्रमुख भाग लेकर उनको पराधीनता के बन्धनों से छुड़ाया।

गैरीवाल्डी के पिता एक निर्धन मल्लाह थे, इससे छोटी आयु से ही उन्हें समुद्र में नाव चलाने का काम करना

१.१२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

पड़ा और कुछ ही समय में वे कुशल नाविक बन गये। इस कला ने उनका आजीवन साथ दिया और उन्होंने विभिन्न देशों के स्वाधीनता-संग्रामों में समुद्री सेना संगठन तैयार करके पर्याप्त सहायता पहुँचाई। १७ वर्ष की आयु में वे उत्रति करते-करते एक जहाज के कप्तान बन गये इस कार्य में इन्होंने अनेक देशों की यात्रा की और संसार की स्थिति का बहुत कुछ अनुभव प्राप्त किया। उनका वह देखकर बड़ा दुःख होता था कि उनका देश, जो एक प्राचीन सभ्यता का जन्मदाता है और सैकड़ों वर्षों तक समस्त योरोप पर शासन करके अनेक पिछड़ी जातियों को सभ्यता का पाठ पढ़ा चुका है, आज बड़ी गई-गुजरी दशा में धरभुखापेस्तो बना हुआ है। इन दिनों फ्रान्स, जर्मनी, आस्ट्रेलिया आदि इटली पर तरह-तरह के अन्याय करते रहते थे और मनमाने ढंग से उसका बँटवारा कर देते थे, मानो वह उनकी जायदाद हो।

गैरीवाल्डी पर भी इस दयनीय परिस्थिति का प्रभाव पड़ा और वह इस सम्बन्ध में कुछ कार्य करने का विचार करने लगे। उसी समय उन्हें पता लगा कि जिनोआ नगर में मेजिनी नामक देशभक्त ने तरुण इटली नाम की एक गुप्त संस्था स्थापित की है, जिसका लक्ष्य इटली को स्वाधीन करके प्रजातन्त्र शासन की स्थापना है। गैरीवाल्डी तुरन्त जिनोआ पहुँचकर इस संस्था में शामिल हो गये और देश के शत्रुओं को भगाने की योजनाएँ रचने लगे। निश्चय हुआ कि गैरीवाल्डी अपने साथियों को लेकर जिनोआ के तोपखाने पर अधिकार कर लेंगे और मेजिनी 'पीडमोंट' को कब्जे में करके वहाँ प्रजातन्त्र की घोषणा करेंगे। योजना बहुत कुछ कार्यान्वित हो चुकी थी कि एक साधी के विश्वासघात के कारण उसका रहस्य सरकारी कर्मचारियों को मालूम पड़ गया। बहुत से लोग पकड़े गये और उन्हें प्राणदण्ड की सजा दी गई। पर गैरीवाल्डी एक किसान का भेष बनाकर पहाड़ी मार्ग से नाइस नगर पहुँच गये और वहाँ से एक जहाज पर सवार होकर दक्षिण अमरीका चले गये।

दक्षिण अमरीका में वे ६ वर्ष तक रहे और इस बीच में 'रिओडिजेनरो' तथा 'अरुवे'— के देशों के विद्रोह में साथ देकर विदेशियों के अन्यायी शासन को हटाने का श्रेय प्राप्त किया। यहीं पर एनित्ता नामक महिला से उनका विवाह हो गया, जिसने आजीवन उनके उद्देश्य की पूर्ति में सक्रिय भाग लिया और अनेक युद्धों में वह उनके साथ बन्दूक लेकर लड़ती भी रही। अन्त में इटली की राजधानी रोम के संग्राम में उसने इतना अधिक परिश्रम किया कि वह अशक्त होकर स्वर्ग सिंघार गई। १४ वर्ष तक विदेशों में समय निकालने के पश्चात् इटली से नवीन क्रान्ति की तैयारी का समाचार आया। वे तुरन्त अपने ५६ वीर साथियों को लेकर एक जहाज से इटली पहुँच गये। पहले तो इटली के शासक के दम्भपन के कारण काम

रुका रहा पर क्रान्तिकारियों के उत्साह के फलस्वरूप २८ अप्रैल, १८४९ को रोम में स्वाधीन प्रजातंत्र की घोषणा कर दी गई। रोम का पोप इसके विरुद्ध था और फ्रांस के शासक ने उसकी सहायता के लिए एक सेना दल भेज दिया। क्रान्तिकारियों को जो भी हथियार मिला उसी से उसने दुश्मन का सामना किया और तीन मास तक रोम की गली-गली में गुप्त और प्रकट रूप से युद्ध करते रहे। अन्त में फ्रांस और आस्ट्रिया की हथियारबन्द शक्तिशाली सेनाओं ने विद्रोह को कुचल दिया, पर गैरीवाल्डी ने तब हार नहीं मानी और घोड़े पर सवार होकर जोर से कहा— "वेनिस (नगर) और गैरीवाल्डी कभी हार नहीं मानते। जिसमें हिम्मत हो मेरे पीछे आये इटली अभी जीवित है।" वे २०० साथियों को लेकर पहाड़ी दरों के बड़े भवंकर रास्ते से समुद्र के किनारे पहुँच गये जहाँ उनको वेनिस ले जाने को १३ नावें तैयार थीं। पर शत्रु के सैनिक भी अन्य मार्ग से वहाँ पहुँच गये और नौ नावों को पकड़ लिया। गैरीवाल्डी फिर भी लड़ते-भिड़ते निकल गये और कुछ समय पश्चात् फिर अमरीका पहुँच गये।

अमरीका में उनको अपना समय बड़ी कठिनाइयों में बिताना पड़ा। न्यूयार्क के पास 'स्टेटन' नामक टापू में झोंपड़ी बनाकर रहते थे और मोमबतियों बनाकर अपना निर्वाह करते थे। डेढ़ वर्ष बाद उनको फिर एक जहाज के कप्तान की नौकरी मिल गई और वे पैरू तथा चीन के बीच आवागमन करने लगे। उन दिनों में इस मार्ग से गुलामों का व्यापार आमतौर से हुआ करता था, पर गैरीवाल्डी ने, जो स्वाधीनता के उपासक थे, आज्ञा दे रखी थी कि उनका जहाज दास-व्यापार के लिये काम में न लया जाय।

अन्त में समय फिर बदला और योरोप की राजनीतिक स्थिति के बदल जाने से इटली की स्वाधीनता का अवसर निकट आ गया। इटली के नए शासकों को गैरीवाल्डी की याद आई और उसे बुलाकर सेना का सर्वोच्च अधिकारी बना दिया। उसको पुरानी लाल कमीज और लम्बे अंगरखे को देखकर सेना और जनता में जोश ठमड़ पड़ा और उसने कितनी ही लड़ाइयों में ऐसी चीरता दिखायी कि आस्ट्रिया की सेना ने फिर इटली की ओर मुँह करने का साहस न किया और गैरीवाल्डी का जो स्वप्न था वह पूरा हो गया।

गैरीवाल्डी का अन्तिम जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत हुआ। अपने देशोद्धार के कार्यों के लिये वे देश विदेशों में प्रसिद्ध हो गये और जहाँ-कहाँ वे गये उनका उत्साहपूर्वक स्वागत किया गया। सन् १८७४ में वे इटली की लोकसभा के सदस्य चुने गये। उनके सम्मान में सारा नगर सजाया गया और वहाँ की पार्लियामेन्ट के सब

सदस्यों ने उठकर उनका सम्मान किया। अपने स्वप्न को साकार होते देखकर हर्ष के आवेग से उनकी आवाज धरधराने लगी। इस प्रकार सार्वजनिक प्रेम और सम्मान को प्राप्त करते हुए सन् १८८२ ई० में उनका देहावसान हो गया।

वीरवर- राणा साँगा

राणा संग्रामसिंह भारतीय इतिहास के एक प्रकाशमान नक्षत्र हैं। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन देश व धर्म की रक्षा में लगा दिया था।

राणा संग्राम सिंह, जिसे 'राणा साँगा' भी कहा जाता है, मेवाड़ के शासक थे। मेवाड़ एक छोटा-सा राज्य था। उसके साधन भी सीमित थे। सब भी राणा साँगा के शौर्य, साहस और धर्मनिष्ठा के कारण वह अजेय बना रहा। जब तक राणा साँगा जीवित रहे, देश-धर्म की रक्षा के लिये निरन्तर संघर्ष करते रहे। राज-भोग क्या होता है, आराम का जीवन कैसा होता है? राणा साँगा ने इसका अनुभव करने की कभी कामना न की थी। उनके जीवन का केवल एक ही लक्ष्य था और वह था देश-धर्म की रक्षा के लिये संघर्ष करते रहना।

उन दिनों भारत पर मुसलमानों का राज्य था और वे हिन्दू धर्म को मिटाकर भारत को इस्लामी देश बना देना चाहते थे। राणा-साँगा को यह दुरिधि-सन्धि जरा भी सहन न हुई। पहले तो उन्होंने देश के सारे हिन्दू-राजाओं को समझा-बुझा कर एक झण्डे के नीचे लाने का प्रयत्न किया किन्तु जब देखा कि वे सब अपना जातीय गौरव छोड़ चुके हैं तो धर्म की रक्षा के लिये खुद अपने बलबूते पर खड़े हो गये।

कायर और विलासी राजाओं ने राणा साँगा को बहुत बार समझाया कि वे अपनी हानि-लाभ देखें, देश-धर्म के चक्कर में न पड़ें और उन्हीं की तरह ही निश्चिन्त और निर्विघ्न जीवनयापन करें। आजकल मुसलमानों का सितारा बुलन्द है और हिन्दू-धर्म के नक्षत्र कमजोर पड़ गये हैं, इसलिये उसका पक्ष करने से कोई लाभ न होगा, बल्कि मुसलमान बादशाहों से शत्रुता हो जायेगी और उनकी शक्ति का शिकार बनना पड़ेगा किन्तु धर्मवीर राणा साँगा पर कायर और स्वाभिमानरहित राजाओं के उपदेश का कोई प्रभाव न पड़ा। वे अपने स्वाधीनता और धर्म-रक्षा के व्रत पर ठटे रहे।

राणा साँगा को अपने व्रत-पालन में लगभग अस्सी-नब्बे लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं, जिसमें उन्हें अपार क्षति उठानी पड़ी। एक बार नहीं अनेक बार प्राणों का संकट उठाना पड़ा। आपत्ति के समय इस आशा पर उन्होंने हिन्दू राजाओं से धर्म-युद्ध में सहयोग करने के लिये कहा, लेकिन सदा ही उनसे कोरा उत्तर ही मिला। तथापि राणा साँगा निराश न हुए और न उन्होंने अपना साहस ही खोया। धर्म का आश्रय लेकर धर्मयुद्ध में लगे रहे।

न केवल राणा साँगा को ही बल्कि उनके पूरे परिवार को भी अपार कष्ट उठाने पड़े। शत्रुओं से अपनी रक्षा के लिये महीनों तक लुक छिप कर इधर-उधर मारे मारे फिरना पड़ा। किन्तु कर्तव्य-परम्यण राणा साँगा ने परिवार के मोह में आकर अपने व्रत से मुख न मोड़ा। उन्होंने उस सारी शारीरिक और मानसिक वेदना को कर्तव्य-पालन का प्रसाद ही माना और उत्साहपूर्वक अपने कर्तव्य-पथ पर बढ़ते रहे।

जिस समय मध्य-एशिया से मुगल-नायक बाबर ने भारत पर आक्रमण किया, उस समय किसी भी हिन्दू अथवा मुसलमान राजा का साहस उसका सामना करने का न पड़ा। सारे देश में निराशा का वातावरण छा गया था। खमर प्रदेश पर प्रदेश विजय करता हुआ आगे बढ़ रहा था। देशभक्त साँगा को बाबर का बढ़ना सहन न हुआ। उन्होंने अपने जो थोड़े-बहुत साधन थे, इकट्ठे किये और सहस्रपूर्वक बाबर के टिहूड़ी दल से जुझ पड़े। इस युद्ध में राणा साँगा ने जिस शौर्य एवं साहस का परिचय दिया, वह इतिहास का एक अमर चटन बन गई।

इस युद्ध में साँगा का एक हाथ, एक पैर और एक आँख जाती रही, साथ ही उनके शरीर में अस्सी घाव आये, जब भी वे रणभूमि में चोड़े पर उठे हुए, युद्ध करते ही रहे और जब तक करते रहे, जब तक बाबर सन्धि करने पर विवश न हो गया। धन्य वे राणा साँगा।

लौहपुरुष-

सरदार वल्लभ भाई पटेल

सरदार वल्लभ भाई पटेलकी शिक्षा का श्रीगणेश मन्द गति के साथ ही हुआ। जिस समय इनके पिता प्रातःकाल खेत पर हल लेकर जाते, सरदार भी उनके साथ जाते और पिता से पहाड़ा सीखा करते थे।

सरदार वल्लभ भाई पटेल के पिता श्री झबेर भाई एक साधारण किसान थे किन्तु सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य-संग्राम में महारानी लक्ष्मीबाई की सेना में रहने से देशप्रेम की भावनायें इनके हृदय में गहराई तक बसी हुई थीं। पिता की इन भावनाओं का प्रभाव पुत्र पर पड़ा और वे बाल्यकाल से ही स्वाधीनता प्रिय देशभक्त बन गये।

परिश्रमपूर्ण क्षतावरण के बीच प्रारम्भिक शिक्षा स्वयं देकर श्री झबेर भाई ने अपने पुत्र को पेटल्पाद की पाठशाला में भरती कराया। परिश्रम तथा कर्मठता तो मानों सरदार वल्लभ भाई पटेल को घुट्टी में ही पिला दी गई थी। अतएव उसके व्रत पर उन्होंने पाठशाला की परीक्षाओं तच्च श्रेणी में उत्तीर्ण कर नडियाद के हाईस्कूल में दाखिल हुये।

साहस, निर्भीकता तथा उत्साह आपके पैतृक गुण थे जिससे नये नये शहर में आकर भी उनमें कोई हीन भावना, संकोच अथवा दबूपन नहीं आया। वे निर्भीकता

१.१४ महापुरुषों के अधिस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

से स्कूल में रहते, लगन से अध्ययन करते और भविष्य में जीवन की सार्थकता के लिए विचार करते । किन्तु अन्यायपूर्ण व्यवहार किये जाने से अनेक अभ्यापकों की इन से अनबन हो गई, जिससे वह कलित्व छोड़कर पुनः नडियाद वापस आ गये और वहीं से इन्ट्रेन्स की परीक्षा पास की

इन्ट्रेन्स की शिक्षा तक जिन बल्लभ भाई ने पिता को व्यय का कह दिया था वह अब आगे उनको कह न देना चाहते थे । उनका कहना था कि जो किशोर अपने पैरों पर खड़ा होने लायक हो जावे उसे किसी पर भारस्वरूप होकर रहने का कोई अधिकार नहीं है । बढ़ने का रास्ता मिल जाने पर हर मवयुवक को अपने पैरों बढ़ना चाहिए, किसी का सहारा लेकर नहीं ।

विद्यार्थ्य उन्होंने इन्ट्रेन्स पास करने के बाद आगे न पढ़कर मुख्तारों की परीक्षा पास की और गोधरा में बकालत करने लगे । जिसके इरादे में काम करने का ठाना है, शरीर में परिश्रम की स्फूर्ति है, मस्तिष्क में स्वावलम्बन का स्वाभिमान है वह पुरुषार्थ के बल पर पानी पर रात बना लेता है, बालू में तेल खोज लेता है ।

बकालत का आर्थिक मार्ग पाकर सरदार बल्लभ भाई पटेल ने परिवार से उस निर्धनता नाम की पिशाचिनी को सदा के लिये खदेड़ देने का संकल्प करके मुकदमों के कार्यों में अपने को बुका दिया, जिससे आने पड़ने से रोक दिया था । वे पैरवी के लिये मस्तिष्क के अन्तिम छोर तक सोचते और तथ्य को तेजस्विता के साथ प्रतिपादित करते जिससे उनकी बकालत में सफलताओं की झोड़-सी लग गई । जो परिश्रमी हैं, जिसने लगन के साथ मस्तिष्क में योग्यता के स्वस्थ एवं उर्बर बीज बोये हैं जो अपने विषय का सच्चा जानकार और कार्य को ईमानदारी-तत्त्वीयता से करने में विश्वास करता है सफलता उसके पास न आकर क्या संदिग्ध योग्यता, अर्पण-अभ्यास वाले और अभूत आलसी के पास जायेगी ?

जहाँ परिश्रम-बोर असोय्य बकौल, मजिस्ट्रेटों और जजों की चाटुकारिता कर अपने मुकदमों जोतने और अधिकारियों को अन्याय का प्रत्रय देते वहाँ सरदार बल्लभ भाई पटेल अपने शक्तिशाली तर्कों तथा परिपूर्ण विधि के बल पर अपना विषय प्रतिपादित करते । एक तो सत्य यों ही तेजवान होता है किन्तु जब वह किसी खरित्रवान की घाणी से निस्तुत होता है तो वह अपना असाधारण प्रभाव छोड़ता है । सरदार पटेल के तर्कों का भी व्यापकशेष पर विशेष प्रभाव पड़ता था ।

बकालत के साथ साथ बल्लभ भाई पटेल अबसर आने पर जनसेवा का पुण्य लाभ कमाने से भी नहीं चूकते थे । जिन दिनों उन्हें मुकदमों से फुर्सत न मिलती थी उन्होंने दिनों गोधरा में महामारी का प्रकोप हो गया और प्लेग पीड़ितों की सेवा करते करते स्वयं प्रभावित हो गये । फिर भी जब तक रोग शय्या पर पड़कर विषय न हो गये अपना सेवा कार्य नहीं छोड़ा । अपने आत्मविश्वास,

आत्मबल तथा आत्मसंयम के साथ उपचारपूर्ण उपायों से स्वयं तो शीघ्र ही ठीक हो गये, किन्तु प्रभावित पत्नी की आग्रेशन के लिए बम्बई भेजना पड़ा । कार्य और कर्तव्य की बहुतायत से स्वयं साथ न जा सके ।

पत्नी को भेजने के बाद उन्हें अपने कर्तव्य के अतिरिक्त कुछ बाट हो नहीं रहा । मुकदमों की पैरवी में बहस के दौरान उन्हें पत्नी की मृत्यु का तार मिला तो उन्होंने उसे पढ़कर येस पर रख दिया और फिर यथावत स्थिति में बहस करने लगे । सफलता और समृद्धि की देविर्गा ऐसे ही समयों, संतुलित, शान्त एवं आत्मवान, कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों को वरण करने के लिए गली-गली घूमा करती हैं ।

आवश्यक जन उपार्जित करने के बाद प्रगति-प्रिय सरदार पटेल जी ने विलम्ब जाकर बैरिस्ट्री पास करने के लिये पासपोर्ट बनवाया किन्तु अपने बड़े भाई विठ्ठलभाई की इच्छा देख अपना ज्ञान स्यंगित करके पासपोर्ट उनके नाम करा दिया और उनके वापस आने पर स्वयं गये ।

विदेश में देश की प्रतिभा की भाव जमाने के लिये सरदार बल्लभ भाई पटेल ने अपनी परिश्रमशीलता को कई गुना बढ़ा दिया । वे अपने निवास-ग्याम से ११ मील दूर उत्तर टेम्पुल के सम्पन्न पुस्तकालय को सन्दन की धिकट सदी में प्रातःकाल उठकर जाते, दोपहर का भोजन वहीं करते और सत्र-सत्र घंटे निरन्तर अध्ययन करने के बाद पैदल लौटकर आते । इस तप-पूर्ण परिश्रम का फल यह हुआ कि बैरिस्ट्री की परीक्षा में वे सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए, जिससे शुल्क मुक्ति के साथ ५० पौंड की छात्रवृत्ति से पुरस्कृत किये गये ।

कियायत से वापस आने के बाद सरदार बल्लभ भाई अहमदाबाद में पुनः बकालत करने लगे, जिससे वे कुछ ही समय में इतने धनवान हो गये कि राजाओं जैसे ठाट-बाट से रहने लगे । परिवार से बरीबी को मार भगाने का उनका संकल्प पूरा हो गया । सम्पन्नता, सम्मान और शान-शौकत होने पर भी उनकी आत्मा में एक अनजान असंतोष करबट लिखा करता था । जिसे वे यदा-कदा अनुभव तो करते थे किन्तु समझ न पाते थे ।

कुछ समय बाद गांधीजी के सम्पर्क में आने पर उन्हें अपने अनजान असंतोष का स्पष्ट रूप दिखाई पड़ा, जिसको दूर करने और सम्पूर्ण भानसिक शान्ति तथा आत्मसंतोष के लिये सरलता और सादगी से सुशोभित जीवन अपना लिया । जीवन के सच्चे और अकृत्रिम मार्ग पर उन्हें भत्ता चला कि ऐश्वर्य के विभ्रम में वे जिस प्रदर्शनपूर्ण जीवन क्रम को अपनाते चले जा रहे थे, उसमें आगे चलकर प्रग्रद-जन्य पतन के कितने गहरे गतों की सम्भावना थी, किन्तु शीघ्र ही सुरक्षित दिशा में आ जाने पर उन्हें ऐस संतोष हुआ मानो संयोगवश किसी पर्यकर खतरे में पड़ते पड़ते बच गये हों । प्राप्त संतोष की इस पुलकपूर्ण अनुभूति ने उनके सादगीपूर्ण सहज जीवन क्रम को मुहरबंद कर दिया ।

गांधी जी के सम्पर्क में आकर जहाँ सरदार ने सादगी का सौंदर्य देखा वहाँ जन सेवा का महत्व भी समझा। उनके हृदय में पीड़ित मानवता के प्रति हार्दिक करुणा उमड़ पड़ी, वे अपने व्यवसाय से समय निकालकर सेवा कार्य करने लगे। जन-सेवा में उनका पहला काम था गुजरात से बेगार प्रथा उठवा देना। बेगार प्रथा जमींदारी शासन का भयंकर अभिशाप थी। जमींदार लोग अपनी जमींदारी में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर अपना स्वत्व समझते थे। अपने किसी भी छोटे-बड़े काम के लिये गरीब आदिमियों को बुला लेते और दिन-दिन भर काम लेकर उन्हें यों ही भूखा-प्यासा मजदूरी को बिना दिये भगा देते थे। इस प्रकार यह बेगार प्रथा सारे देश में फैली हुई थी। इस घोर पराधीनतापूर्ण बेगार प्रथा से कराहती मानवता को मुक्त कराने के लिये सरदार वल्लभ भाई पटेल व्याकुल हो उठे और गोधरा के प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन के सभापति की हैसियत से उन्होंने उसके विरुद्ध कार्यवाहियाँ करनी शुरू कर दीं। इस विषय में सरदार वल्लभ भाई पटेल को संकल्प शक्ति से भयभीत होकर सरकार ने गुजरात में बेगार प्रथा को अवैध घोषित कर दिया।

इसी बीच गुजरात के खेड़ा क्षेत्र में अकाल पड़ गया और जनता भूख की प्यासा में आहुति बनने लगी। चारों ओर हाहाकार मचने लगा। उस पर सरकार लगान वसूली की सख्ती कर रही थी। जनता पर यह अन्धव्यय देखकर सरदार पटेल की मनुष्यता आहत हो गई और उन्होंने खेड़ा की जनता को संगठित करके लगान वसूली के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिया। जिसका फल यह हुआ कि सरदार पटेल के सुयोग्य नेतृत्व में जनता को विजय हुई और किसानों से लगान वसूली माफ हो गई। इसके अतिरिक्त उन्होंने गाँव-गाँव घूमकर नंगों, भूखों के लिये अन्न-वस्त्र की व्यवस्था की, इस प्रकार अकाल पीड़ित जनता की सहायता के लिये याचना की झोली फैलाने संकोच न हुआ। यही नहीं उन्होंने अपनी सम्पत्ति का एक बड़ा भाग अकाल पीड़ितों की सेवा में खर्च किया।

गाँधीजी द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रथम स्वरूप छेड़े गये असहयोग तथा बहिष्कार आन्दोलन के समय देश-सेवा की भावना तथा समय की पुकार पर अपनी हजारों रुपयों माहवार की वकालत छोड़ दी, यद्यपि उस समय अपने पुत्र और पुत्री को पढ़ाने के लिये विलायत भेजने वाले थे। उन्होंने भारत भ्रमता के हजारों लाखों पुत्र-पुत्रियों को भगल कामन्द में अपनी सन्तान के व्यक्तिगत उत्कर्ष की सम्भावना को न्योछावर कर दिया।

बहिष्कार आन्दोलन से प्रेरित स्कूल-कालिब छोड़ देने वाले विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रश्न उपस्थित होने पर सरदार वल्लभ भाई पटेल ने राष्ट्रीय स्कूलों की स्थापना की योजना चलाई, जिसके लिये आवश्यक धनराशि इकट्ठी करने के लिये संपूर्ण देश से लेकर वर्मा तक दौरा किया और जब तक १० लाख रुपये इकट्ठे नहीं कर लिये चैन

की सांस नहीं ली। अनेक राष्ट्रीय स्कूलों की स्थापना के साथ उन्होंने गुजरात विद्यापीठ की भी स्थापना की जिससे विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रश्न बहुत दूर तक हल हो गया।

गुजरात के बोरसद तालुका में डाकुओं का आतंक फैल गया। सरकार उनको पकड़ने में असफल हो रही थी। उस इलाके में सरकार ने गाँव की रक्षा के लिये जो पुलिस तैनात की थी उसका खर्च वह ग्रामवासियों से लेती थी। एक ओर डाकु भन लूट रहे थे, दूसरे सुरक्षा के कहाने सरकार ने लूटना प्रारम्भ कर दिया। इस दोहरी मार से प्रसन्न होकर जनता ने सरदार वल्लभभाई पटेल की मदद की। जनता पर भयानक संकट का समाचार पाते ही बिना किसी भय अथवा विलम्ब के बोरसद जा पहुँचे। अपने विश्वस्त एवं वीर नेता को अपने बीच पाकर जनता का साहस बढ़ गया। सरदार ने २०० स्वयं सेवकों का एक दल बनाया और ग्राम-रक्षा में नियुक्त करके ग्रामवासियों में आत्मरक्षा की भावना जगाई। जिससे शीघ्र ही इलाके से डाकुओं का आतंक समाप्त हो गया।

नागपुर झुन्डा सत्याग्रह में विजयी होकर सरदार वल्लभभाई पटेल ने अहमदाबाद म्युनिसिपल बोर्ड का सभापति पद संभाला और नगर के कार्याकल्प में लग गये। उन्होंने मोहल्ले-मोहल्ले, गली-गली घूमकर जनता को सफाई का महत्व बताया तथा स्वयं ने भी नगर की सफाई के कार्यक्रमों में भाग लिया, जिससे नगर की सारी गन्दगी दूर हो गई और जनता में सफाई की एक स्थायी चेतना जाग्रत हुई। इस काल में उन्होंने बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया और नगरपालिका की पाठशालायें खुलवायीं तथा बच्चों के स्वास्थ्य की देख-रेख का प्रबन्ध किया।

सरदार वल्लभ भाई पटेल के अहमदाबाद नगरपालिका के सभापतित्वकाल में गुजरात में भयंकर बाढ़ आ गई। गाँव के गाँव बह गये, लोगों के घर तबाह हो गये। जगह-जगह जनता असाध्य परिस्थितियों में फँसकर भूखों मरने लगी। ज्यों ही सरदार पटेल को इसकी खबर लगी वे २००० स्वयंसेवक लेकर बाढ़ पीड़ित क्षेत्र में जा पहुँचे और लोगों को अपनी सेवा तथा सहायता से मानवता देने लगे। सरदार अपने स्वयंसेवकों के साथ पानी के बीच फँसे मनुष्यों तथा पशुओं को बचाने के लिये बिना किसी साधन के स्वयं तैर कर जाते और उनको निकाल कर बहर लाते। इस प्रकार वे अपने महान जन-सेवा की भावना के बल पर हजारों जीवों के प्राण बचाने में सफल हुए।

अभी बाढ़ के प्रकोप से गुजरात की जनता की रक्षा करने को व्यस्तता कम न होने पाई थी कि तब तक अकाल तथा भुखमरी से मरती हुई जनता ने अपने सहायक तथा निष्काय सेवक सरदार वल्लभ भाई पटेल को पुकारा। बिना एक क्षण का विलम्ब किये सरदार पटेल अकाल पीड़ितों की सहायता करने चल पड़े। बाढ़ के समय सरदार की सच्ची सेवा देखकर सरकार ने अपना

विरोधी होने पर भी ढेढ़ करोड़ रुपये की धनराशि अकाल पीड़ितों की सहायता के लिये सरदार पटेल के ही हाथ में दी, जिसका समुचित उपयोग कर सरदार ने शीघ्र ही अकाल पर नियन्त्रण कर लिया। इसके अतिरिक्त जो उन्होंने ३ लाख रुपया स्वयं चन्दा किया था उसका भी एक-एक पैसा खर्च कर गंगे-भूखी तथा बेघरवार व्यक्तियों के लिये अन्न, धान तथा भक्षार्थ का प्रबन्ध किया। अनवरत प्रयत्नों के धनी सरदार पटेल जिस काम में भी लग जाते थे पूरा किये बिना चैन न लेते।

समाज सेवा के साथ-साथ सरदार पटेल राजनीति के माने हुए नेता थे। वे खड़ा सत्याग्रह, असहयोग आन्दोलन, नागपुर झण्डा सत्याग्रह, बारदोली सत्याग्रह आदि आन्दोलनों के प्रमुख नेता, संचालक तथा प्रबन्धक रहे। अपनी देश-सेवा के सिलसिले में वे अनेकों बार जेल गये और अगणित बान्नाएँ सहनीं पर कठिनाइयों उन्हें कभी विचलित न कर सकीं।

सरदार पटेल की परदुःखकातरता

घटना सन् १९३५ की है सरदार बाल्लभ भाई पटेल एक लम्बी सजा काटकर कारावास से लौटे ही थे। उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया था और नाक में बेहद पोंदा हो रही थी। चिकित्सकों ने तुरन्त आपरेसन का परापरों दिया और उसकी तैयारी होने लगी।

तभी उन्हें बोरसद में फैली महामारी की सूचना मिली और यह भी पता चला कि सरकार कोई ध्यान नहीं दे रही है और लोग बुरी तरह मौत के मुँह में आ रहे हैं। बस फिर क्या था सरदार अपनी पीड़ा भूल गये और बोरसद की ओर दौड़ पड़े। शल्य-क्रिया के भारे उपकर्म जहाँ के तहाँ रह गए। साथियों, शुभचिन्तकों और ब्रह्मालुओं ने उन्हें बैसी दशा में महामारी-क्षेत्र में न जाने के लिए सलाह दी, किन्तु परदुःख-कातर सरदार भला कब रुकने वाले थे।

धीर, वीर और नेमी

घटना सन् १९४६ की है। बम्बई बन्दरगाह के नौसैनिकों ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। अंग्रेज अधिकारियों ने उन्हें गोली से भून देने की धमकी दी थी साथ ही भारतीय नौ-सैनिकों ने जवाब में उनको खाक कर देने की चुनौती दे रखी थी।

बड़ी भयानक स्थिति थी। उस समय बम्बई का नेतृत्व सरदार पटेल के हाथ में था। लोग उनकी तरफ बड़ी घबड़ाई नजरों से देख रहे थे। किन्तु सरदार पर परिस्थिति का रंच मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा न तो वे अधीर थे और न विचलित।

बम्बई के गवर्नर ने उन्हें बुलाया और काफी तुरसों दिखाई। इस पर सरदार ने शेर की तरह दहाड़ कर गवर्नर

से कह दिया कि वह अपनी सरकार से पूछ ले कि अंग्रेज भारत से मित्रों के रूप में विदा होंगे या लाशों के रूप में।

अंग्रेज गवर्नर सरदार का रौद्र रूप देखकर काँप उठा और फिर उसने कुछ ऐसा किया कि बम्बई घटना में अंग्रेज सरकार को समझौता करते ही बना।

अत्याचार के विरुद्ध अनवरत संघर्षशील—

जनरल हम्बर्टो डेलगाडो

“एक वीर योद्धा की भाँति राजनैतिक पैशाचिकता से सड़कर राष्ट्रवासियों के लिये अपने सुख वैभव व प्रतिष्ठा को दाँव पर लगा देता है और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करते-करते अपने प्राण भी न्योछावर कर देता है।” इतनी-सी कहानी है हमारे चरित्रनायक की। उसे पुर्तगाल की लोकतन्त्रप्रिय जनता-स्वतन्त्रता का देवदूत हम्बर्टो डेलगाडो के नाम से पुकारती है।

अभी कुछ वर्ष ही बीते हैं उस वीर की नृसंह हत्या अत्याचारी सालाजार की शासन-सत्ता ने की थी। न उस पर मुकदमा चलाया गया और न ही गोली या फाँसी दी गई। नंगे शरीर पर बेतों की इतनी बीछार की गई कि उसकी असह्य पीड़ा से बहादुर जनरल का देहान्त हो गया।

दुनिया में ऐसे पराक्रमी और पुरुषार्थी पुरुष कम ही होते हैं, जो दूसरों के हित के लिए जाँबाजी कर दिखाते हैं। डेलगाडो उन्हीं अविस्मरणीय महापुरुषों की श्रेणी में आते हैं।

वह पुर्तगाल की सेना के एक छोटे से अफसर थे। अधिक परिश्रम, कर्तव्यपरायणता, दृढ़ता, सत्यता और लगन से काम करते-करते डेलगाडो एक दिन सालाजार के विश्वासपात्र बनरल बने पर जिस दिन उन्हें वह महत्वपूर्ण पद प्रदान किया गया उस दिन उन्हें भालूम हुआ कि उनकी सम्पूर्ण सेवा निरकुशता के पथ में गई। उन्होंने जो कुछ त्याग और तप किया उससे देशवासियों की कुसेवा ही हुई।

डेलगाडो ने जो प्रतिष्ठा अर्जित की थी, चाहते तो उससे अपने जीवन के भोग-विलास बढ़ा लेते और ऐश्वर्य का जीवन बिताते, पर जब उन्हें सच्चाई भालूम हुई तो उन्होंने अपना मुँह, अपनी आवाज, अपना कदम अत्याचार के विरोध में मोड़ दिया।

सालाजार की पुलिस का नाम गाड़ों रिपब्लिकाना है उसके अत्यन्तारों के उदाहरण दिये जाते हैं। शासक सालाजार की निरंकुशता के विरुद्ध कोई भी आवाज उठाये वह उससे बच नहीं सकता। उसे लिखन या ओपेनों की जेल भेज दिया जाता है। उसका दण्ड पूर्व निश्चित होता है दण्ड भी ऐसा कि उसे झुट झुट कर मरना पड़े। आवाज निकाले तो बेतों से मुँह तोड़ दिया

जीवित शहीद गैरिसन

१ जनवरी, १८६३ को अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने दास प्रथा समाप्त करने की घोषणा की और चालीस लाख गुलामों को आजादी से साँस लेने का अवसर मिला। जब वह घोषणा-उत्सव वाशिंग्टन नगर में मनाया जा रहा था तो विलियम गैरिसन भी उसमें पधारे। गैरिसन को अपनी जीवन साधना की सफलता पर सन्तोष था। जनता ने जब उस महामानव को देखा तो वह हर्ष से डमक हो गई। उसे कंधे पर उठा लिया गया और सबने उस मुक्तिदाता का हार्दिक अभिनन्दन किया।

जो कानून पार्लियामेन्ट ने बनाया था उसकी घोषणा लिंकन के द्वारा सम्पन्न हुई थी, पर जिस अमानवीय दास-प्रथा के कारण चालीस लाख मनुष्य पशुओं से भी गणा नीचा जीवन बिताते के लिए मजबूर थे, उसे समाप्त कराने में अनेक व्यक्तियों को प्रारम्भ से प्रयास करना पड़ा, बड़े से बड़े जोखिम उठाने पड़े और तिल-तिल करके सारी जिन्दगी इसी संघर्ष में जला देनी पड़ी। ऐसे ही जीवित बलिदानियों में एक गैरिसन भी थे।

विलियम गैरिसन का बाप मल्लाह था। वह समुद्र यात्रा पर गया तो एक तूफान के भेरे में पड़कर अपनी नाव समेत उसी में विलीन हो गया। उसकी माँ दाई का काम करती थी। बाप घर गए, धी की रात-बिरात दूसरों के घर काम करने जाना पड़ता था। बेचारा नन्हा-सा अकेला बालक घर में रहता। उसका जीवन बीहड़ के झाड़-झंझड़ पीधे की तरह था, जिसकी देखभाल केवल ईश्वर करता है। विलियम दस साल का भी न हुआ था कि उसे पेट की आग बुझाने के लिये अपने पैरों पर छड़ा होना पड़ा। पहले एक मोथी की दुकान पर जाने लगा, पीछे एक बड़ई के वहाँ बनह हुई। बोझ बढ़ा हुआ तो एक छापेखाने में अक्षर जोड़ने का काम सीखा। अब तक वह सिर्फ इतना पढ़ पाया था कि अक्षर पढ़ले। प्रेस में काम करते हुए उसने अपना अभ्यास बढ़ाया। जो किताबें छपने आतीं उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ता। जो छपाने आते उनसे कुछ पूछ-छाछ करता, उनसे परिचय बढ़ाकर उनके घर जाता और पुस्तकें माँगकर पढ़ने हेतु लाता। यह क्रम उसका तेजी से चलता रहा। सोलह वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते उसने इतना ज्ञान बढ़ा लिया कि अक्षरों में छपने लायक लेख लिख सके।

उसकी हैसियत कम्पोजीटर की थी, उसमें १६ वर्ष का था, इससे उसे डर लग कि कोई सम्पादक उसके व्यक्तित्व का पता चलने पर उसके लेख न छापेगा। इसलिये उसने 'बड़ा बह्यचारी' कल्पित नाम से लेख लिखने प्रारंभ किए। वे सम्पन्नपूर्वक पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगे। उन दिनों अमेरिका में गुलामों के खरीदने बेचने का व्यापार खूब फल-फूल रहा था। उन्हें जीवित रहने पर को रोटी दो जाती थी और इतना काम कराया

जब इस बात का असली पता डेलगाडो को चला तो उसका राष्ट्रप्रेमी वक्ष आत्माभिमान से फुल उठा। उसने कहा- मैंने जिस मातृभूमि का अन्न खाया है, दूध पिया है, जिस देवी की गोद में पल कर बढ़ा, बड़ा हुआ और आमोद-प्रमोद किया उसे नृशंक्ता से, राजनैतिक विषमता से छुटकारा दिलाना भी मेरा परम कर्तव्य है मैं भुक्ति का उद्घोष करता हूँ और अपने देशवासियों को अत्याचार से बचाने के लिये सतत संघर्ष की प्रतिज्ञा लेता हूँ।

उस दिन से डेलगाडो ने अपने सुख पूर्ण जीवन को तिलांजलि दे दी। अपने एक परमप्रिय मित्र को सम्बोधित करके उसने कहा- अभी तक मैंने एक इर को जीवन जिया है, सुख के साधनों की खोज की है और अब जब मुझे कुछ महत्वपूर्ण काम करने हैं तो आवश्यक है कि संघर्षों के लिये तैयार होऊँ।

यह कहकर करोड़ों मूक-मानवों के हित के लिये डेलगाडो ने अपना जनरल फद त्याग दिया और सालाजार के विरुद्ध जनमत मजबूत करने लगे। इसके लिये उन्होंने अपना सारा धन, मकान, सामान बेच दिया। इससे भी वह काम न हो सकता था। इसलिये जन को और कपी को पूरा करने के लिये वे दर-दर भटकने लगे।

सालाजार को इन सब बातों का पता चल गया तो उसके अत्याचार और भी बढ़ गये। भुक्ति-मोक्ष को सहायता पहुँचाने वाले लोगों का दमन और भी कठोरता से किया जाने लगा। डेलगाडो के पीछे मौत निजी छाया-सी घूमने लगी।

अब उन्हें पुर्तगाल छोड़ना पड़ा। बच्चों से बिछड़ने का कितना भावनात्मक दुःख रहा होगा पर उन्होंने उसकी भी परवाह न की। उन्होंने ब्रिटेन, फ्रांस व इटली जाने की योजना बनाई पर उन्हें अनुमति ही नहीं मिली। अनेक वर्षों तक केवल निराशा ही निराशा रही। वे अल्जीरिया गये पर वहाँ से शीघ्र ही भागना पड़ा। इस बीच बीमार पड़ गये, अतः इलाज के लिये चेकोस्लोवाकिया गये। वहाँ भी बैचैन से रहे पर इन सब आपत्तियों के बावजूद भी उन्होंने साहस न हारा और क्रांति की ज्योति बजाकर जलाये रखी।

इस बीच डेलगाडो की लोकप्रियता बहुत अधिक बढ़ गई। देशवासी इस प्रतीक्षा में थे कि डेलगाडो अब अपने देश लौटें और भुक्ति आन्दोलन में उनका नेतृत्व करें पर ईश्वर को कुछ और ही मंजूर था। अल्जीरिया में सालाजार के सिपाही उन्हें पकड़ने में सफल हो गये। छलपूर्वक अपहरण कर लिया गया।

इसके बाद यह सत रखी गई कि वे आत्मसमर्पण करें। अपना अपराध स्वीकार करें और उसके लिये सजा कायम करें पर डेलगाडो ने कहा- मैं अपने देशवासियों प्रजा के साथ विश्वासघात नहीं करूँगा, इसके बदले में उन्हें जैतों की कर्कश मार दी गई उनके प्राण लेकर ही छोड़े।

डेलगाडो का संकल्प या अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष अनवरत संघर्ष। उसने इस व्रत को प्राणाहुति देकर भी पूरा किया। यह बलिदान बेकार नहीं गया।

जाल था कि जवानी में ही वे मर खप जाते थे। जरा-जरा-सी बात पर उनको निर्दयता के साथ पीटा जाता था, जिसमें कई बार तो वे मर तक जाते थे। इस अन्धकार के कई दृश्य गैरिसन ने अपनी आँखों देखे थे। उसे इस प्रथा के विरुद्ध इतनी तीव्र प्रवृत्ति हुई कि उसने और कुछ करने की अपेक्षा अपना जीवन इसी के विरुद्ध संघर्ष करने में लगा देने की ठानी।

इक्कीस वर्ष की आयु में उसने अपना स्वतन्त्र अखबार निकाला— 'फ्री प्रेस' आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह न चल सका। फिर उसी का जैसा फकाड़ एक और साथी मिल गया— बेजायिन तुम्बो। दोनों मिलकर 'विश्व उद्धार का देवता' नामक एक और अखबार निकालने लगे। अखबार क्या था— 'दिलखते की आह' थी दास प्रथा के प्रति इतने कठोर सन्देश इस्तेमाल किये जाते थे कि एक बार तहलका मच गया और इससे जिनके स्वार्थों की हानि तथा बदनामी होती थी वे उनकी जान के ग्राहक बन गये। एक ने मानहानि का मुकदमा चला दिया। फलस्वरूप गैरिसन को जेल की सजा भुगतनी पड़ी। छूटने के बाद वे गाँव-गाँव अपना सन्देश सुनने के लिए घूमने लगे। उन्होंने डेरों भाषण दिये। पर कहीं उनका स्वागत न हुआ। आखिर जोस्टन में छोटा-सा मकान उन्हें अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाने के लिए लिया। सन् १८३१ में उन्होंने 'मुक्तिदाता' नामक एक और अखबार निकाला। दक्षिण अमेरिका के लोग तो खुलेआम दास व्यापार करते ही थे, पर उत्तरी अमेरिका के लोग भी चुपके-चुपके उस प्रथा को जारी रखना चाहते थे। क्योंकि उन लोगों के कारखाने भी गुलामों के सस्ते श्रम से ही फल-फूल रहे थे। मिदान वहीं भी गैरिसन शत्रु ही बन गया।

आखिर उसे खतरनाक स्थितियों की श्रेणी में रख दिया गया और कई राष्ट्रों के लोग उसे पकड़ने और मार डालने तक पर तैयार हो गये। दक्षिणी कैरोलिना की ओर से घोषणा हुई कि जो 'मुक्तिदाता' के प्रचारकों को पकड़वा देगा उसे छह हजार रुपया इनाम दिया जाएगा। उत्तरी कैरोलिना ने भी उसके नाम वारंट निकाला। जार्जिया राज्य ने उसे पकड़ लाने के लिए बीस हजार रुपया इनाम की घोषणा की। जोस्टन में एक बार उसे घेर लिया गया। शत्रुओं ने कमर में रस्सा बाँधकर उसे घर से बाहर निकाला और सड़क पर बसीटने लगे। लगता था कि अब कुछ ही क्षण में उनके टुकड़े टुकड़े किये जाने वाले हैं। यह खबर जब वहाँ के शासनाध्यक्ष को लगी तो वे स्वयं दौड़े आये और धीड़ से उसे सुझाया तथा उसकी जीवन रक्षा की दृष्टि से हवालात में बन्द कराया, तब कहीं उसकी जान बची।

यह तो उसकी जीवन-घटनाओं में से कुछ थोड़ी-सी बातें हैं। वस्तुतः चौबीसों घण्टे वह इस एक ही कार्य में लगा रहता था कि दासता का अन्त कैसे कराया जाय? उसका दिमाग इसी विचार में डूबा रहता, इसी की योजनाएँ बनाया करता और शरीर उन योजनाओं को पूर्ण

करने में लगा रहता। गैरिसन को जीवित शहीद कहा जा सकता है। फाँसी या गोली से थोड़ी देर कष्ट सहकर प्राण विसर्जन कर देना सुगम है, पर तिल तिल करके सारे जीवन को किसी आदर्श के लिए उत्सर्ग करना और उसके लिए निरन्तर अभाग्य, कष्टों और आपत्तियों को सहन करते रहना कठिन है। इस कठिन कार्य को उस महापुरुष ने हँसते-हँसते सम्पन्न कर दिया।

कई लोग यह कहते रहते हैं कि क्या करें हमारी परिस्थिति अनुकूल नहीं, हमारा कोई सहायक नहीं, हम अल्पशक्तिविशाल हैं, अकेला चना भाड़ को नहीं फोड़ सकता, आदि-आदि। वे यह नहीं जानते कि व्यक्ति के भीतर छिपी हुई चेतना इतनी सरास है कि यदि व्यक्ति उसका ठीक प्रकार उपयोग करे, अपना मूल्य और महत्व समझे तो वह प्रत्येक दिशा में आगे बढ़ सकता है। उस दिशा में भी जिसमें कि घग-घग पर शत्रुता, विरोध, कष्ट, अभाव और यहाँ तक प्राणों से हाथ धोने का भी संकट मौजूद है।

जीवित शहीद गैरिसन आत्मविश्वास की सज्जो मूर्ति थे। उन्होंने यह भिन्न कर दिया कि दुमरों से सहायता की अपेक्षा न करके भी अपनी अयोग्यताओं को समझते हुए भी, व्यक्ति अपनी शक्ति को पहचान ले तो किसी व्यक्ति से, किसी समस्या से ही नहीं, एक सरास समाज से भी टक्कर ले सकता है। इस सिद्धान्त को उन्होंने व्याख्यानों और लेखों से नहीं अपने जीवन को एक प्रत्यक्ष उदाहरण बनाकर स्पष्ट कर दिखाया।

जीवन ज्योति पंजाब केसरी—

लाला लाजपत राय

"मेरे शरीर पर लाठी का एक-एक प्रहार ब्रिटिश शासन के कफन की एक-एक कील सिद्ध होगा"— ये सन्देश पंजाब केसरी लाला लाजपत राय के, जो उन्होंने साइमन कमीशन के विरोध में अपने पर हुए लाठी चार्ज के समय अन्तिम बार कहे थे। वास्तव में हुआ भी वैसा ही लासली के बलिदान से पंजाब ही क्या सारे भारत में क्रान्ति की ज्वाला इस प्रचण्ड रूप से धधकी कि आखिर ब्रिटिश हुकूमत उसमें जलकर खाक ही हो गई।

जन-मन की यह श्रद्धा पाने के अधिकारी लालाजी का निर्माण धर्म की आधार भूमि पर हुआ था। उनके घर का वातावरण धार्मिक तो था ही, उन्हें स्वयं भी उसका अध्ववन करने की बड़ी जिज्ञासा थी। अपनी पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त वे रामायण, महाभारत अथवा गीता आदि कोई न कोई पुस्तक अवश्य पढ़ते और उसका तत्त्व समझने का प्रयत्न करते रहते थे। जिससे धीरे धीरे उन्होंने धर्म के सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

एक ओर वे साइमन कमीशन की बहिष्कार सभा में बोल रहे थे और दूसरी ओर उन पर साठियों से प्रहार करती हुई पुलिस, कप्तान सेन्डर्स की आज्ञा का पालन कर

रही थी। किन्तु धर्म के तत्व को ठीक-ठीक हृदयंगम किये हुए लालाजी प्रहार सहन करते हुए एक भाव से जोलते रहे और जब तक उनका भक्षण समाप्त नहीं हो गया वे विचलित न हुए और अन्त में उपर्युक्त अन्तिम शब्द कहते हुये गिरकर मूर्च्छित हो गये। जब तक वे अपने कर्तव्य को पूरा न कर सके, लाठी का प्रहार उनके शरीर पर निष्फल ही होता रहा। ऐसा ज्ञात हो रहा था जैसे धर्म और धर्म कवच बनकर उनकी रक्षा कर रहे थे।

समय की पुकार पर जो अपने को न्योछावर कर देते हैं वही वास्तविक महापुरुष होते हैं। साधारण व्यक्ति किसी का दुःख दर्द देखकर या तो अनुभूत ही नहीं करते अथवा उस अनुभूति को भाई गई कर देते हैं। किन्तु महान व्यक्तित्व जिस पीड़ा को एक बार अनुभव कर लेते हैं उसे दूर करने में अपने सर्वस्व की बाजी लगा देते हैं।

लालाजी के बलिदान से भारत में जो क्रान्ति का एक महीन भूचाल आया था और समस्त जनमानस प्रचण्ड रूप से आन्दोलित हो उठा था, उसके पीछे उनकी निष्काम लोकसेवायें काम कर रही थीं। लगभग डेढ़ हजार रुपये मासिक की बकालत और चार-पसोसिएशन का सम्मानित अध्यक्ष पद छोड़ते उन्हें देर न लगे, जब राजस्वाम, बिहार और उत्तर भारत में पड़े अकाल से पीड़ित मानवता को चोत्कारों ने मनुष्यता को अपमान दी।

लालाजी ने दीन दुःखियों की क्या सेवा की इसका लेखा-जोखा कोई लेना चाहे तो पंजाब के तारकालिक अनायालयों और आश्रय-भवनों की गणना कर ले जो उनके लिये बनवाये थे और यदि उस समय का कोई बड़ा-बूढ़ा मिला जाये तो उससे पूछकर अनुमान लगा लें कि वे कितने भुधार्त बन्धुओं को ईसाई मिशनरियों के जाल से निकाल कर पंजाब लाये थे और उनके सहस्रता कोष के लिए फैली हुई उनकी होली कितनी बार भरी और खाली हुई थी।

मानवता के लिये उनकी सेवा का यह पहला अवसर न था। ठंडीसा और मध्य-प्रदेश के दुर्भिक्ष ने उनकी परीक्षा ली, महाराष्ट्र की महामारी और कांगड़ा के भूकम्प ने उनकी दयालुता और दायवीरता को परखा। किन्तु दुर्दैव का कोई भी कोप उनकी अखण्ड-सेवा भावना को छेद न सका। अकाल पीड़ितों की भोजन व्यवस्था और भूकम्प के भागलों की दवा-दारु से लेकर महामारी के मारे हुए लोगों की सेवा सुश्रूषा करने में उन्होंने दिन रात एक कर दिया। जब तक उस भयंकर अस्त-व्यस्त स्थिति पर उन्होंने काबू नहीं पा लिया बैठकर चैन की सांस नहीं ली। इस कार्य में उन्होंने कितने दिन लगाये और कितनी रातें बिना सोये बिताई इसकी संख्या तो वही दुःखी आत्मायें ही बतला सकती हैं जिनको उन्होंने सुख दिया।

उनके हृदय में मानव का क्या मूल्य था और मानवता के लिए कितना दर्द था। एक उनके उन महान कर्मों से सहज ही आँका जा सकता है जो उन्होंने बदमास्त हरिजनों और समाज के उपेक्षित व्यक्तियों के लिये किये थे।

जिस हरिजनोद्धार आन्दोलन को गाँधीजी ने आगे बढ़ाया उसके जन्यदाता लाला लाजपतराय ही थे। उन्होंने हरिजनों के ज्ञानवर्द्धन के लिये ४० हजार रुपये का नकद दान करके अनेक शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना की। यद्यपि उनका धर्मभोक्त परिवार चली आ रही रूढ़ियों, परम्पराओं और कुरीतियों तक को यथावत मानने में ही विस्वास करता था तथापि उसे लालाजी की निस्पृह सुधार भावना से भरे इस क्रान्तिकारी कार्य को मान्यता देनी ही पड़ी। संसार में अभी तक ऐसे किसी बन्धन का आविष्कार नहीं हो सका है जो किसी सच्चे साहसी को कोई सत्कर्म करने से रोक सके।

जिस विद्या और ज्ञान ने उन्हें निष्काम सेवा का पुण्य प्रदान किया था। उसका प्रसाद जन-जन को बाँटने के लिए उन्होंने शिक्षा-संस्थाओं और विद्यालयों का जाल बिछा दिया। छोटी पाठशालाओं से लेकर रामकृष्ण हाई स्कूल और डी० ए० सी० कॉलेज जैसे बड़े-बड़े विद्या-मन्दिरों की स्थापना उन्हीं के परिश्रम और पुरुषार्थ का फल है। उन्होंने केवल स्थापना ही नहीं कराई अपितु अन्य सारे काम करते हुए २५ वर्ष तक अद्वैतनिक रूप से अध्यापन और प्रबन्ध भी किया।

इस प्रकार इतनी लोकसेवा की साधना करने के बाद लालाजी एक तपस्वी का वेब लेकर काँग्रेस के माध्यम से विदेशी शासन की जड़ उखाड़ने के लिये राजनीति में उतरे। एक प्रकार से काँग्रेस अभी तक चाद-बिचाद और प्रस्तावों तक ही सीमिति थी। लालाजी के प्रवेश से इसमें नवजीवन का संचार हुआ। काँग्रेसल सुधार प्रस्ताव पर उनके प्रथम प्रवचन ने ही लोगों को अवगत करा दिया कि भारत की मोह-निद्रा भंग हो गई है और अब वह पूरी तरह चैतन्य हो चुका है। लालाजी की ओजस्विता से प्रेरित होकर मेज कुर्सी तक सीमित काँग्रेस ने भी अपना परिकर कसा तथा एक ऐसी करकट ली कि अंग्रेज साम्राज्यवादिषों को अपसक्त होने लगे।

स्वामाधिक था कि अंग्रेजी शासन काँग्रेस में जागते हुए ज्वलंत राष्ट्रीकता का कारण खोजता। उसने खोजा और लाला लाजपतराय के रूप में उस शिक्षा को पहचान लिया, जिसकी आलोक-रश्मियाँ भारतीय स्वतन्त्रता का पथ प्रशस्त कर रही थीं। बिहार के अकाल पीड़ितों की सेवा के समय अपनी तापरता से जो लाला लाजपतराय सरकार के प्रशंसक पात्र बने थे वह अब उसकी आँख के कंठक बन गये। किन्तु वह कुछ कर सकने का अवसर न देखकर मनमसोस कर रह गई। रहकते हुये अंगार को सहस्र मुट्ठी में जकड़ लेने का उसे साहस न हुआ।

अस्तु, उसने इस घुल अंगार और उसकी कृष्ण से आग फकड़ते हुये बहुत-सी चिंगारियों पर पानी डालने के लिए इंग्लैण्ड की संसद के समक्ष भारतीय जनता का पक्ष प्रस्तुत करने के लिये काँग्रेस को आमन्त्रण दिया। निदान १९०६ में एक शिष्टमण्डल इंग्लैण्ड गया जिसमें लालाजी सम्मिलित थे। किन्तु अग्न जहाँ जायेगी गरमी पैदा करेगी।

१.२० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

लालाजी के तेजस्वी तर्कों और ओजस्वी भाषणों से इंग्लैण्ड के जनमत में हलचल पैदा हो गई। अस्तु, ब्रिटिश संसद ने कांग्रेस शिष्टमण्डल को कोरा वापस कर दिया।

इधर कांग्रेस के पुराने नेताओं ने लालाजी के नवीन क्रान्तिकारी कदमों के कारण अंग्रेजों से वाचना में कुछ सुविधायें पा सकने की आशा को धूमिल होते देखकर उनके विचारों का विरोध करना शुरू कर दिया। जिससे कांग्रेस के नरम और गरम दो दल हो गये। लालाजी जब चेन्नई से लौटकर आये तब उनका नाम कांग्रेस अध्यक्ष के लिए चुना गया किन्तु उन्होंने अस्वीकार कर संगठन रक्षा के लिए उत्तरदाता का परिचय दिया।

१९२० में विदेश से आते ही वे महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन में शामिल हो गये। पंजाब के विदेशी बहिष्कार नेता के रूप में अनेक प्रबल संघर्ष के फलस्वरूप पंजाब में अंग्रेजी राज्य के पैर हिलने लगे। सरकारी स्कूलों का बहिष्कार कर सारे नौजवान देश-सेवा में जुट गये। उनके समुचित विकास के लिये उन्होंने लाहौर में 'तिलक स्कूल ऑफ पॉलिटेक्स' को उनही दिनों स्थापना भी की। अपने इन्हीं क्रान्तिकारी कार्यों के फलस्वरूप वे फिर गिरफ्तार करके दो वर्ष के लिए कारागार भेज दिये गये।

अन्ततः आप स्वराज्य पार्टी में सम्मिलित हुये। नेशनल पार्टी की स्थापना करके हिन्दू महासभा की स्थापना कराई। यह सब कुछ होते हुए भी आपकी मौलिक क्रान्तिकारी भावना, ज्वलन्त देश-भक्ति और हिन्दू-धर्म भावना में किंचित अन्तर न आया। वे जिस दल अथवा सभा में गये उसे एक नवीन चेतना ही दी और आखिर, ब्रिटिश हुकूमत ने कोई बरा न देखकर उन्हें साइमन कमीशन की आड़ में राहौद करके अपने विनाश के बीज बो ही लिये।

आजीवन, देश-विदेश, सभा-सौसाइटी समाज-सरकार जहाँ भी रहे लाला लाजपतराय ने एकनिष्ठ स्वदेश और समाज की सेवा की तथा देश की बलि-बैदी पर उत्सर्ग होकर भारत के इतिहास में सदा को अमर हो गये।

आजीवन अन्याय से जूझने वाले क्रान्तिकारी—

बापट

सन् १९२०। महाराष्ट्र का प्रसिद्ध किसान आन्दोलन और जिसका नेतृत्व कर रहे थे णण्डुरंग महादेव बापट। अंग्रेज सरकार ने टाटा चल विद्युत शक्ति उत्पादन केन्द्र की स्थापना के लिए सैकड़ों किसानों की भूमि को अपने कब्जे में कर लिया था और कितने ही किसान केवल मात्र अपनी जीविका साधन-भूमि के छिन जाने पर तिलमिल उठे थे पर उनमें संगठित होकर भी अंग्रेज शासन से टकरा लेने की हिम्मत नहीं थी। आजीवन अन्यायों से जूझने

वाले क्रान्तिकारी बापट किसानों का दुःख-दर्द देखकर कैसे चुप रह सकते थे, उन्होंने महाराष्ट्र के समस्त किसानों को संगठित कर सत्याग्रह आन्दोलन का बिगुल बजा दिया।

बापट इस सत्याग्रह संग्राम के सफल नेतृत्व करने के कारण ही 'सेनापति' की उपाधि से विभूषित किये गये और उसके बाद महाराष्ट्र में होने वाले प्रायिक आन्दोलन का उन्होंने बड़ी कुशलता से नेतृत्व किया। विद्युत उत्पादन केन्द्र के कार्य को शीघ्र ही पूर्ण करने की दृष्टि से सैकड़ों मजदूर कार्य कर रहे थे। काम बड़े जोरों से चल रहा था। मजदूरों से थरी मोटर उत्त केन्द्र की ओर जा रही थी। सेनापति बापट ने मोटर चालक के पैरों पर गोली दागकर अभिकों को कार्य करने न जाने दिया। सेनापति बापट का यह कार्य अंग्रेज शासन के लिए एक चुनौती सिद्ध हुआ। वह अपने पार्श्विक बल के सम्मुख भला किसी की बात क्यों सुनने वाली थी। मोटर ड्राइवर की हत्या के प्रयास का आरोप लगाकर मुकदमा चलाया गया और अन्त में जब सब गवाहों के बयान पूरे हो गये तो न्यायाधीश ने बापट से भी अपनी सफाई देने को कहा। बापट थोड़ी देर को गम्भीर हो गये फिर बड़ी शक्ति से बोले— "मैं क्रान्तिकारी हूँ आतातापी नहीं। मुझे अपने निराने पर पूरा विश्वास है क्योंकि मैं अच्छे ढंग से पिस्तौल चला लेता हूँ मेरा उद्देश्य ड्राइवर को मारना बिल्कुल न था। वरन् जिस अन्याय की सहायता में वह जुटा था उससे अलग करना ही मेरा उद्देश्य था। मैं अपने कार्य को विशुद्ध सत्याग्रह मानता हूँ। यदि न्यायालय मुझे दोषी मानता है तो उसके द्वारा दिये गये दण्ड को भुगतने के लिए मैं सहर्ष तैयार हूँ।"

और सेनापति बापट को १२ वर्ष का कठोर कारावास का दण्ड सुना दिया, पर बापट तनिक भी विचलित न हुये। १९२० की वह घटना आज भी राष्ट्रप्रेमियों के सम्मुख है जब राष्ट्र के लिए सम्पूर्ण जीवन लगाने का व्रत बापट ने लिया था। फिर उस व्रत के सम्मुख आने वाली अनेक बाधों से वह विचलित हो भी कैसे सकते थे? पूना के डेक्कन कॉलेज के छात्रावास में अपने दो अन्य मित्रों की उपस्थिति में बापट ने नगी तलवार पर हाथ रखकर अपने व्याख्यान शिक्षक श्री द० व० भिडे के सम्मुख प्रतिज्ञा की— "मैं राष्ट्रहित में अपना सम्पूर्ण जीवन लगाऊँगा।" फिर उसी संकल्प को पूर्ति हेतु आजीवन प्रयत्न करते रहे।

क्रान्तिकारी बापट का जन्म १२ नवम्बर, १८८० ई० को महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले में स्थित पारनेर नामक नगर के एक निर्धन परिवार में हुआ था। निर्धनता उनकी पढ़ाई में बाधक न बन सकी क्योंकि वह मेधावी छात्र थे जिससे पढ़ाई का स्वरा खर्च उन्हें मिलने वाली छात्रवृत्तियों से पूर्ण होता गया। पूना से स्नातक उपाधि प्राप्त कर वे विद्युत इन्जीनियरिंग का अध्ययन करने इंग्लैण्ड चले गये वहाँ विद्युत तकनीक में विशेषज्ञ बनने के स्थान पर अग्नि

बम बनाने की कला में निपुण हो गए। वहीं उनकी भेंट वीर सावरकर से हुई। वीर सावरकर के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनसे उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और क्रान्तिकारी संगठन के सक्रिय सदस्य बन गये।

क्रान्तिकारी बापट में निर्भीकता और सहस्र, जन्मजात गुण थे। मृत्यु की तो वह तनिक भी चिन्ता न करते थे। एक दिन उन्होंने सावरकर से ब्रिटिश संसद को अपने बमों से तहस-नहस करने की आज्ञा माँगी। किन्तु बापट को ऐसा कार्य न करने की सलाह देते हुए भारत लौटने के लिए कहा। जहाँ पहुँचकर वह क्रान्तिकारियों को बम बनाने के प्रशिक्षण से अवगत करावे। भारत में तो उस समय कितने ही क्रान्तिकारी ब्रिटिश शासन को संपूर्ण उखाड़ने के लिए सीक ताने तैयार खड़े थे।

बापट ने सन् १९०६ में भारत लौटकर लोकमान्य तिलक से भेंट की और क्रान्ति से सम्बन्धित अनेक गतिविधियों पर विचार-विमर्श किया। सन् १९०८ में मानिक बम काण्ड के सिलसिले में ब्रिटिश राज्य शासन का घन-चक्र जोर-शोर से चल पड़ा और किसी जासूस ने बापट का भी नाम ले दिया। फिर क्या था इन्हें बन्दी बनाने के लिये पुलिस की टुकड़ियाँ जहाँ-तहाँ छानबीन कर पता लगाने लगीं और बापट का कहीं पता न चला। वह महाराष्ट्र में ही क्रान्ति की मशाल हाथ में लिये जगह-जगह घूमते रहे और नवयुवकों को बम बनाने की शिक्षा तथा अँग्रेजों को छकाने के क्रान्तिकारी षण्ण बताते रहे। उन्होंने ५ वर्ष भूमिगत रहकर पुलिस को ऐसा छकाया कि वह भी नाकों बने चला गई।

सन् १९१८ में बापट ने लोकमान्य तिलक द्वारा स्थापित 'मराठा' का सम्पादन किया। अपनी सम्पादन कला से मराठा के हजारों पाठकों को यह बता दिया कि राज ठपासक सरस्वती ठपासक बनकर अपनी लेखनी से हजारों व्यक्तियों के दिल और दिमाग को नई दिशा की ओर मोड़ सकता है।

कारावास की लम्बी अवधि से रिहा होकर बापट ने इण्डियन नेशनल काँग्रेस में सक्रिय रूप से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। सन् १९३१ में महाराष्ट्र प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। सन् १९३२ में जब हिन्दू महासभा के नेता वासुदेव बलवन्त गोगाटे ने अँग्रेज गवर्नर हडसन पर पूना में गोली चलाई तब कितने ही नेताओं ने गोगाटे के इस साहसपूर्ण कार्य की कटु शब्दों में आलोचना की पर उस समय अपनी आत्मा की पुकार पर सिंह गर्जना करने वाले और गोगाटे के कार्य को प्रोत्साहित करने वाले सेनापति बापट ही थे जिन्होंने कहा था- "रत्नास बहादुर ऐसा ही करना चाहिए था।"

अँग्रेज सरकार भला क्यों चुकने वाली थी वह सदा ऐसे अवसरों की तलाश ही करती रहती थी। उसने बापट को हिंसा भड़काने का दोषी बताकर बन्दी बना लिया और ५ वर्ष के कठोर कारावास की सजा सुन दी। सन् १९३७

में बम्बई में कूपर मन्त्रिमण्डल के गठित होने पर उन्हें रिहा किया गया, पर जेल जीवन की कठोर यातनाओं से घबड़ाकर वह हार मानने वाले न थे उन्होंने तो अब और अधिक सक्रियता के साथ कार्य करके लक्ष्य पूर्ति के हेतु बुद्धि का निश्चय कर लिया। उन्होंने १९३९ में हिन्दू महासभा और आर्य समाज के संयुक्त रूप से हैदराबाद में जन अधिकारों की सुरक्षा के लिए जो सत्याग्रह चलाया उसकी प्रथम पंक्ति में खड़े होकर नेतृत्व करते हुए अँग्रेज शासन को ललकारा। सन् १९४० में द्वितीय महायुद्ध विरोधी धावना के आरोप में उन्हें फिर बन्दी बना लिया गया और इस प्रकार जीवन के ८७ वर्षों में से उन्होंने २० मूल्यवान् वर्ष जेल में ही बित्त दिये।

१५ अगस्त, १९४७ को अपना देश स्वतन्त्र हो गया। स्वतन्त्रता संग्राम के स्वर्ण सैनिकों के स्वप्न साकार हुए। सेनापति बापट की भी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। वह भी भारत माता की जय-जयकार करने लगे। अनेक सैनिकों ने अपनी सेवा और त्याग के फलस्वरूप स्वतन्त्र देश की सरकार से आर्थिक सहायता की माँग की, पर बापट ने अपनी जवान्गी की पूँजी को होम देने के बाद भी बदले में कुछ न चाहा। वह तो इस बात पर प्रसन्न थे कि अपने प्रयत्नों का फल स्वतन्त्रता के रूप में अपने ही जीवन में देख सके जबकि कितने ही क्रान्तिकारी प्रभोत्सर्ग करने के बाद जीवन की एक राह बनाकर ही विदा हुये थे और उस मार्ग पर आने वाले सैनिकों को भी मौत का कन्दा चुमने का आह्वान किया था।

स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद वह चुप कैसे बैठ सकते थे? सन् १९५० में महाराष्ट्र समाजवादी दल ने अन्न आन्दोलन किया तब भी वह आगे रहे। सन् १९५५ में गोआ मुक्ति-संग्राम के समय यह कहकर आगे बढ़े कि पलंग पर लेटकर प्राण देने से तो कहीं अच्छा, रात्रि से लड़कर भर जाना।

८६ वर्ष की आयु में मई १९६६ में बम्बई में आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन पर महाराष्ट्र मैसूर सीमा विवाद के समाधान हेतु ५ दिन तक अनशन करके महाजन आयोग की नियुक्ति करवाई। क्रान्तिकारी बापट ने केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही कार्य करके जन-जन के मन में अपना स्थान नहीं बनाया बल्कि साहित्यिक तथा सामाजिक क्षेत्र में भी सदैव स्मरण किये जायेंगे।

हिन्दू समाज में फैले हुए छुआछूत के रोग पर जब उनकी दृष्टि गई तो वह अच्छी तरह समझ गये कि जब तक जाति पद्धति के भेदभाव से देश को मुक्त नहीं कराया जाय, तब तक यह प्रगति की दौड़ में तीव्रता से आगे नहीं बढ़ सकेगा। स्थानों की विचारधारायें संकीर्ण बनी रहेंगी फिर अपने सम्पन्न तथा राष्ट्रपति के लिए वे क्या सोच

१.२२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

सकेंगे ? अतः हरिजनों को सवणों के सम्मान स्थान दिलाने के लिए वह झाड़ू लेकर हरिजन बस्तियों में सफाई करने पहुँचे और स्वच्छता का पाठ पढ़ाया ।

धर्मप्राण राष्ट्र में जन्म लेने के कारण वरेण्य क्रान्तिकारी चापट की गीता और उपनिषदों में गहरी आस्था थी । गीता के अनुसार उन्होंने अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न किया था । वह कर्म में विश्वास करते थे केवल कर्म में, फल तो ईश्वर के आधीन है, कर्म करते जायेंगे, तो ईश्वर फल अपने आप देगा । योगी अरविन्द के 'डिवाइन लाइफ' का उन्होंने बराठी में अनुवाद किया था । 'चैतन्य गाथा' उनकी प्रेरणादायी अमरकृति है जो आज भी तरुणों का आदर्श व पथ-प्रदर्शक बनो हुई है ।

सच्चे रूप में भारतमाता को अपनी माँ मानने वाले और उसके रूप को सँवारने- बनाने का पूर्ण ध्यान रखने वाले चापट २७ नवम्बर, ६७ को अपने जीवन के ८७ संघर्षपूर्ण वर्ष पूर्ण करके इस संसार से सदा-सदा के लिये विदा हो गये । पुष्प अपनी सुगन्ध चापु को समर्पित कर टहनी से झड़कर नीचे गिर जाता है उसी प्रकार अपनी सारी शक्ति देश-सेवा में लगाकर अपना नरवर शरीर छोड़कर चले गये । पुर्ण-धुर्ण तक आने वाली पीढ़ियाँ उनके द्वारा प्रदत्त जीवन प्रकाश में अपनी मंजिल को ओर कदम बढ़ाती रहेंगी ।

महान सत्याग्रही, जनसेवी—

सैमुअल इवान्स स्टोक्स

एक बच्चे ने अपने पिता से एक बार कहा— "पिताजी ! बार-बार पैसे केक के लिए चाहिये ।" पिता ने सब तरफ देखा, बच्चे के लिये उसे बड़ी वेदना हुई पर पास में कुछ न निकला । उनके जीवन का यह संस्मरण पढ़ते हुए सम्भवतः लोग यह अनुमान करेंगे कि वह कोई अत्यन्त निर्धन व्यक्ति रहा होगा पर बात ऐसी नहीं । उसी दिन उसने पच्चीस हजार रुपये बंगाल के अकाल पीड़ितों के लिये भेजे थे । इसीलिए उसके पास कुछ न बचा था ।

एक अंग्रेज के हृदय में, वह भी उस समय जबकि भारतवर्ष उनके अधिकार में था, भारतीयों के प्रति निश्छल प्रेम अनोखी बात लगती है पर उन आत्माओं के लिए यह कोई अनोखी बात नहीं जो सत्य, ईमानदारी, न्याय और मानवोचित सज्जनता के लिये हर इन्सान को अपना हृदय, अपना भाई मानते हैं । अपनी कम और दूसरों की सेवा-सहानुभूति का अधिक ध्यान रखते हैं ।

ऐसा ही था वह अंग्रेज पादरी जो २२ वर्ष की चढ़ती आयु में सन् १९०४ में भारतवर्ष भेजा गया । उसका नाम था सैमुअल इवान्स स्टोक्स । वह आया था ईसाई धर्म के प्रचार के लिये, अपनी योग्यता और क्षमता का उपयोग

भारतीयों को ईसाई बनाने में करने के लिए पर यहाँ आकर भारतीय संस्कृति और निश्छलता ने उसके आंतरिक मानव को जगृत किया । वह महान पादरी सच्चे अर्थों में भारतीय संन्यासी बन गया । नाम से सत्यानन्द और गुणों से सच्चा जन-सेवक ।

जिस कमरे में बैठकर सैमुअल स्टोक्स समाज-सेवा की साधना किया करते थे इसमें बड़े बड़े अक्षरों से लिखा रखा था— "आलसी मत बनो, जब परमेश्वर की उपासना से समय मिले तो कुछ पढ़ा-लिखा करो अथवा दूसरों की सेवा का काय किया करो ।"

"तुम सेवा के लिए आये हो हुकूमत चलाने के लिए नहीं । जान लो, परिश्रम करने और कष्ट उठाने के लिए तुम इस धरती पर आये हो । आलसी होकर अपना समय व्यर्थ बर्तालाप में नष्ट न करो ।"

वह उपदेश औरों के लिए, प्रदर्शन के लिए अंकित नहीं किये थे वरन् उस प्रेरणा को प्रखर रखने के लिए ही यह शब्द लिखे थे, जिससे पीड़ित मानवता की सेवा के लिए कभी निराशा, अधैर्य तथा अ-लगन न उत्पन्न हो । इन आदर्शों को स्टोक्स ने अपनी क्रियाओं द्वारा जीवन भर जगृत रखा ।

इवान्स स्टोक्स की नियुक्ति शिमला जिले के कोटगढ़ स्थान में हुई थी । धानाधार से दो मील दूर एक सुन्दर पर्वतीय उपत्यका के बीच, सतलज के सुस्मय तट पर बसा कोटगढ़ कभी प्रेतगढ़ कहलाता था । निर्धनता तो वहाँ अट्टहास करती रहती थी, अंग्रेजों के कुत्सित तिरस्कार के भय ने भारतीयों को और भी दयनीय बना रखा था । कोटगढ़ की सुषमा के बीच न जाने परमात्मा का कौन-सा शाप था कि वहाँ के सैकड़ों लोग कुछ रोग से पीड़ित थे । इस कारण उन्हें और घृणा की दृष्टि से देखा जाता था । सैकड़ों निरीह जन पर्वत की ढोटी से आत्महत्या कर चुके थे । इन कारणों का सम्मिलन वस्तुतः इतना भयानक हो गया था कि यह स्थान एक प्रकार से भूतों का ही डेरा बन गया ।

इस दुःखद स्थिति ने सर्वप्रथम इवान्स स्टोक्स के हृदय में पीड़ा का रूप धारण किया । स्टोक्स दिन-रात सोचा करते थे कि इन अभागे मानवों के उद्धार का कोई रास्ता है क्या ? क्या वे भी सन्तोषप्रद जीवन जीने का कोई आधार पा सकते हैं । एक बार दया का गुबार कुछ इस तरह उठा कि इवान्स अपने आपको रोक न सके और वे कुछ पीड़ितों की सेवा में कूद पड़े ।

स्थिति का गम्भीर और पास से अध्ययन करने पर उन्होंने अनुभव किया कि बीमारी का मुख्य कारण स्थानीय लोगों की निर्धनता है । इसे उन्होंने सजातीयों की उपेक्षा का परिणाम समझा । काफी सोच-विचार के बाद एक युक्ति सूझी आपने यहाँ की मिट्टी की जाँच करवाई और इसके बाद अमेरिका से सेवा के अच्छे पौधे मँगवाये । सेवा की अच्छी फसल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेक

लोगों से पत्र व्यवहार किया। एक ही दिना में अन्धकार श्रम साधना का यह परिणाम हुआ कि कोटगढ़ में सेवों की अच्छी फसल तैयार होने लगी। कुछ ही समय में वही स्थान 'सेवों की घाटी' के नाम से न केवल भारत में बल्कि सुदूर विश्व में विख्यात हुआ। यहाँ से आज भी सारे देश को सेवा निर्यात होते हैं।

एक ओर निर्धनता के विरुद्ध मोर्चाबन्दी और दूसरी ओर कुछ पीड़ितों की लगनपूर्ण सेवा ने उन्हें इस क्षेत्र का परमप्रिय नेता बना दिया। किन्तु इतना सम्मान पकड़ भी उन्होंने अतिमानव बनने की चेष्टा नहीं की। छोटा बनकर सेवा की सिद्धि प्राप्त कर लेना इतनी बड़ी उपलब्धि है जिसके सामने संसार के सब सुख, ऐश्वर्य और वैभव फीके पड़ जाते हैं। सैमुअल इवान्स भला उससे क्यों घटकते? उन्हें जितना सम्मान मिला उन्ना ही उन्होंने अपने आपको छोटा, परमात्मा का सबसे छोटा अज्ञानी बालक माना और एक ही प्रार्थना परमपिता से की—“प्रभु। तेरी सृष्टि मंगलमय है, कुछ ऐसा कर कि जन-जन मंगलमय बने, किसी को दुःख न हो, किसी को पीड़ा न हो।” यह प्रार्थना भावना और व्यवहार दोनों में चरितार्थ हुई। कुछ पीड़ितों की सेवा में, अकाल और तत्कालीन कांगड़ा-भूकम्प पीड़ितों की सेवा में रात और दिन एक कर आपने सच्ची सेवापरायणता का उदाहरण प्रस्तुत किया।

अब तक स्टोक्स शरीर, मन और चेरा-भूषण से भारतीय हो चुके थे। अपना नाम भी बदल कर सत्यानन्द कर लिया। विवाह के बाद जो बच्चे हुए उनके नाम भी भारतीय नामों जैसे रखे। आठ वर्षीय पुत्र ताराचन्द की स्मृति में आपने कोटगढ़ में बच्चों का एक प्यारा स्कूल स्थापित किया। 'परम ज्योति मन्दिर' की प्रतिष्ठा भी अपने हाथ से की। मन्दिर के कलश पर सोना भी चढ़ाया। उनकी भावना व्यावहारिक अधिक थी। आदर्श सिद्धान्तों या परम्पराओं के प्रति कभी अन्ध-श्रद्धा व्यक्त नहीं की। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि कुल्लू और कांगड़ा में जब सूखा पड़ा तो यह सोना निकलवा कर बेच डाला और उसे गरीबों में बाँट डाला।

सत्यानन्द सत्याग्रह में हिमालय की तरह अडिग और चट्टान की तरह सुदृढ़ थे। प्रलोभन या धार्मिक कट्टरता की अपेक्षा मानवीय मूल्यों को ही ईश्वरीय आदेश मानकर केवल उन्हीं का पालन किया। इसके लिए उन्होंने अंग्रेज बिरादरी के विरोध की भी परवाह नहीं की। इनकी 'एवेकिंग इण्डिया' नामक पुस्तक की भूमिका में बापू ने उनकी न्यायप्रियता, बुद्धि और विचारशीलता का समर्थन करते हुए लिखा है—“विदेशी कपड़ों को क्यों जला देना चाहिए इस विषय में स्टोक्स ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं वे अकाद्य हैं।”

कोटगढ़ की दरिद्रता दूर करना उनका एक कर्तव्य था पर मनुष्य जीवन इतना विशाल है कि उसमें मनुष्य सैकड़ों कर्तव्यों का पालन और पूर्ति कर सकता है। स्वास्थ्य,

शिक्षा, समृद्धि, समाज सेवा के एक से एक बह कर कर्तव्यों और उद्देश्यों की पूर्ति और प्राप्ति के लिए सौ वर्ष का मनुष्य का जीवन कम नहीं। स्टोक्स यह बात कैसे भूल जाते। अब उन्होंने अपना ध्यान भारत की स्वाधीनता की ओर दौड़ाया और महात्मा गाँधी को अपना राजनैतिक गुरु मान कर स्वाधीनता संग्राम में कूद पड़े। भारतीय स्वतन्त्रता के समर्थन और अंग्रेजों की निन्दा करने में कसर नहीं छोड़ी।

वह अंग्रेज थे इसलिए अंग्रेजों का पक्ष लेना चाहिए वह स्वीकार करना स्टोक्स के लिए ही नहीं सारे विश्व के लिए अपराध है। न्याय-नीति और बुद्धि-संगत कार्य और पथ का अनुसरण करने में, चाहे वह अपने घर का हो या बाहर का समर्थन करने से नहीं हिचकिचाये, वैसे ही अनौचित्य करने वाला अपना पिता, भाई या गुरु क्यों न हो इसका विरोध करना चाहिए—यह कोई सत्यानन्द से सीखे।

अंग्रेज इस व्यवहार से क्षुब्ध हो गये फलस्वरूप स्टोक्स गिरफ्तार कर लिये गये, उन्हें अंग्रेजों ने डराया, धमकाया और प्रलोभन भी दिया पर उनकी नीति फूस का झोंपड़ा नहीं थी जो जरा-सी आँच से जल जाती।

अब तो देश स्वतन्त्र भी हो गया। सेवों की घाटी फल-फूल रही है पर सत्याग्रही सत्यानन्द नहीं रहा। वह परमात्मा की गोद में चला गया है। अपने पीछे उन्होंने कर्तव्य परायणता, सेवा, न्याय-निष्ठा का प्रकाश छोड़ा है। उसे हम इदमंगम कर सकें तो उसकी साधना और अपना जीवन दोनों सार्थक कर सकते हैं।

जिन्होंने मृत्यु और अरात्य में से मृत्यु को चुना—

यानहुस

प्रतीक्षा में बैठी हुई उसकी पत्नी ने दरवाजे पर धप-धपाहट सुने तो उसकी आँखों से तन्हा टूट पड़ी। बच्चे अभी ही खा पी कर सोये थे और वह भी खाना खा कर अपने पति का इन्तजार कर रही थी। बड़ा लड़का अभी भी दीपक के प्रकाश में पढ़ रहा था, दरवाजा खोला आसन्न के अनुरूप ही द्वार पर हुसोनेत्स खड़ा था— आज तक आपको कभी देरी नहीं हुई थी। क्या खेत पर कोई झगड़ा हो गया था। आपके कपड़े ऐसे अस्त-व्यस्त क्यों हैं?

“खेत पर से तो मैं शाप को ही वापस लौट आया।”

“तो फिर?”

“मालिक कल सुबह रोम जा रहे हैं। उनके जाने की तैयारी में ही व्यस्त रहना पड़ा।”

"रोय ! क्यों ?"

"धर्मगुरु पोप के पास । स्वर्ग की फीस जमा करवाने । काश ! हम लोगों के पास भी पैसा होता तो हम भी परलोक का कुछ इन्तजाम कर लेते । व्हे हुए हुसीनेत्स ने अपनी पत्नी को ओर विवश दृष्टि से देखा और पत्नी कुछ कहे इससे पूर्व ही उनका बेटा बोला उठा स्वर्ग की फीस धर्मगुरु पोप के पास जमा करवाने । कैसी विचित्र बात कह रहे हैं पिताजी आप । स्वर्ग की भी कोई फीस होती है क्या ? मैं तो अद्भुत बात सुन रहा हूँ ।

"हाँ बेटे । मृत्यु के बाद का जीवन सुख-सुविधा भी स्वर्गीय व्यवस्था का लाभ उठाने के लिए धर्मगुरु ने यह व्यवस्था दी है ।"

"क्या व्यवस्था दी है ?"

ये शूलक के रूप में जो रकम यहाँ दी जाती है उस रकम के अनुसार उसी श्रेणी में स्वर्ग के लिए पोप पाल प्रवेश पत्र दे देते हैं ।

"पर मरकर तो आदमी का शरीर यहाँ छूट जाता है । सुनते हैं स्वर्ग में इस संसार की कोई वस्तु प्रविष्ट नहीं हो सकती ।

प्रवेश पत्र मरने वाले के साथ ही दफना दिया जाता है । जिसे देवदूत ले जाते हैं और उस व्यक्ति को उसी श्रेणी के स्वर्ग में उठारते हैं जिसका निर्देश पोप पाल देते हैं । वोंग-अपने एक हाथ को जोर से झटकते हुए उस किशोर ने जोर से अट्टहास किया और मत्त-पिता को घिन्ता हुई कि जरूर मेरे बेटे का दिक्कत खराब हो गया है । कहीं धर्मगुरु पोप भी पाखण्ड कर सकते हैं । ईश्वर से तो उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है । वही नहीं वे शूलक के रूप में प्राप्त धनराशि सीधे परमात्मा तक पहुँचाते भी हैं फिर वोंग कैसे हुआ? जरूर मेरा बेटा बड़-पड़ कर अपना दिक्कत खराब कर चुका है ।

घटना चैकोस्लोवाकिया के दक्षिणी बोहेमिया प्रांत की है । उन दिनों सामंतशाही का युग था और समंत-शाही पर भी हावी थी पोपशाही । जनता में शिक्षा, विवेक, ज्ञान और विद्या का प्रचार तो था नहीं पर अज्ञान खूब थी उसमें धर्म के प्रति और इसी अज्ञान का लाभ उठा कर धर्म नेतृत्व क्या गरीब और क्या अमीर सभी वर्ग के लोगों का शोषण कर रहा था । पोप पृथ्वी का परमात्मा बन चुका था । पोप के प्रति अज्ञान ही प्रचलित सच्चा धर्म, पोप-पादरियों की वाणी ही धर्म का नियम और उनके निर्देशों का पालन ही सबसे बड़ी उपासना बनी हुई थी ।

धर्म के प्रति आस्थावान धर्मगुरु के संकेत पर अपनी जान भी कुर्बान कर देते थे । स्वर्ग मोक्ष का लाभ उठाने वाली जन शक्ति पर पोप का पूरा नियंत्रण था । इसलिए शासकवर्ग भी इन तत्वों से भय खाते थे । चोरतम क्लृप्तता का जीवन व्यतीत कर रहे इन धर्मगुरुओं ने जनसाधारण के अंतर्चक्षुओं पर पर्दा डाल रखा था और यही कारण था जिससे कि उन लोगों का जीवन सर्वसाधारण के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ था । जो लोग इस नियोजित

और स्थापित अन्धविश्वास की शक्ति की असह्यत जानते थे, उन्हें भी इस विषय में कुछ कहने का साहस नहीं होता था । क्योंकि इससे जनशक्ति और राज-शक्ति के मूत्रधार उस अकेले व्यक्ति को क्षणभर में कुचल कर मिट्टी में मिसा सकते थे । उनका तो बनना-बिगड़ना कुछ नहीं बल्कि उल्टे स्वयं अपने जीवन की भी हानि पहुँचाने और अपने बाद परिवार के बच्चों को भी दुर्दशाग्रस्त स्थिति भोगने के लिए छोड़ जाने का व्यवसाय खतरा कौन मोल लेता? इस समय लोग धर्म व्यवस्था के प्रति इतने निष्ठावान थे कि विचारशील व्यक्तियों को अपने अतिआत्मीय परिवारों से भी अपना दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए भयभीत होना पड़ता था । पता नहीं कौन तयाकथित ईश्वरीय न्याय के दण्ड से बचने के लिये इसकी शिकायत कर दे ।

परन्तु जब उक्त किशोर वोंग ने इस व्यवस्था को ढोंग कहा तो माता-पिता की ममता और ईश्वरीय न्याय के भिन्न विश्वास के बीच में मचल ही गयी । अपने पुत्र के कल्याण और सुरक्षा के लिए हुसोनेत्स ने समझाया "पान, यह बात तुमने हमारे सामने तो कह दी परन्तु किसी और के सामने कहने का साहस न करना । क्योंकि इससे तुम्हारा जीवन खतरे में पड़ जावेगा, बेटे ।"

पानहुस नामक विद्यार्थी ने कहा-नहीं पिताजी आप मेरी चिन्ता न करना । इस भिन्न विश्वास को तोड़ने के लिए मैं एक व्यक्ति भर भी जाऊँ तो इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए । मैं कहूँगा लोगों से । अवश्य कहूँगा कि यह पाखण्ड है, ढोंग है । क्योंकि इसी से धर्म की हानि रोकी जा सकेगी ।

"इससे फायदा कुछ नहीं होना है बेटा । हम इस गलतफहमी में आकर किसी सुदृढ़ किले से सिर टकरावें कि इस प्रकार हम इसकी दीवारें तोड़ देंगे और उसमें कैद व्यक्तियों को मुक्ति दिलवा सकेंगे तो यह भूल ही है ।"

"फायदा तो है पिताजी । फायदा क्यों नहीं । ये जो बड़े-बड़े धनपति और सेठ-सामंत हैं ना, ये ज़िंदगी भर पाप करते रहते हैं । आप किसान हैं न, धरती के बेटे । धरती माँ उन डाकुओं को तो निहाल करती है और आप को कंगाल ही रहने देती है क्यों ? नहीं, एक भाँ अपने बेटों से फर्क नहीं रख सकती । लेकिन ये अभिजात कुल के लोग आप का धाग छीन लेते हैं । यह उस माँ की दृष्टि में अपराध है और उसके दंड का भय ही उन्हें इस अपराध से रोक सकता है । लेकिन इन लोगों को पाप के दण्ड से बचने का आसान रास्ता मिल गया है और इसी कारण इनके हाँसले भी बढ़ते जाते हैं ।"

ठीक है लेकिन इसी दिशा में प्रयास और भी अन्य कई लोग कर चुके हैं परन्तु कुछ नहीं हुआ, उन्हें ज्ञान से हाथ धोना पड़ा । यह बात युवक के लिए सचमुच उपयोगी और चिंतनीय थी अतः वह सोचने लगा कि किस प्रकार इस तंत्र को सफलतापूर्वक तोड़ा जाय । भावी जीवन की गतिविधियों और कार्यक्रमों पर विचार करते हुए पानहुस अध्ययन करते रहे ।

आगे चलकर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस पाखण्ड को नष्ट करने के लिए इन्हें भी धर्मदर्शन का गहन अध्ययन करना चाहिए। विद्यालय में भी उन्होंने अपने पाठ्य विषयों के चयन में धर्मदर्शन को ही प्रमुखता दी और उन्होंने इस विषय में विशेष योग्यता प्राप्त की। पाठ्यक्रम के अतिरिक्त भी उन्होंने इस विषय में गहराई तक प्रवेश किया। विज्ञानपूर्ण अध्ययन के परिणाम स्वरूप वे इस विषय में इतने विद्वान् हो गये कि इकतीस वर्ष की आयु में ही उन्हें चार्ल्स विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग का अध्यक्ष बना दिया गया।

सुख-सुविधाओं भरे जीवन के लिए यह पर्याप्त था। इस प्रगति पर बधाई देते हुए उनके मित्रों ने हुस को बधाई दी परन्तु यानहुस ने इस उपलब्धि को अपने कर्तव्य प्रालन की दिशा में आगे बढ़ने के लिए एक सीढ़ी भर ही मना। उन्होंने कहा- मैंने यह सब सुख-सुविधाओं भरे जीवन के लिए स्वीकार नहीं किया है चरन् इसलिए कि मैं इस पद पर रहते हुए इन परिस्थितियों का और अच्छी तरह अध्ययन कर सकूँगा जिनसे कि मैं निष्कर्ष निकाल रहा हूँ और छात्रों में भी सच्चे-धर्म के प्रति चेतना उत्पन्न कर सकूँगा ताकि वे इस अंधविश्वास की जड़ें समूल नष्ट करने में समर्थ और सफल हो सकें। दर्शन विभाग के अध्यक्ष पद पर रहते हुए इसी लक्ष्य को सामने रख कर वे कार्य करते रहे इतने चुपचाप और मूक रह कर कि उनकी योग्यता, लगन और श्रम से प्रभावित होकर प्रबन्ध समिति ने उन्हें विश्वविद्यालय का कुलपति बना दिया।

इस पद की दायित्वपूर्ण जिम्मेदारियों को समझते हुए वे दृढ़त्व की ओर सीधे कदम बढ़ाने लगे। उन्होंने आरम्भ में प्रचलित पाखण्ड और अंधविश्वासों के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा चरन् सृजनात्मक रवैया अपनाया। उन्होंने पहले अपने विद्यार्थियों को बाद में शिक्षित और अशिक्षित सभी वर्ग के ब्रह्मालु लोगों को धर्म और अध्यात्म की सही सच्ची व्यावहारिक व्याख्यायें समझा दीं। जनसाधारण की भाषा में, आत्मीय शैली में धर्म तथा अध्यात्म की व्याख्या करने से वे शीघ्र ही लोकप्रिय होते गये।

लोकप्रियता के अति ऊँचे स्तर को उन्होंने छू लिया। प्राण का आर्कविशेष उनकी विद्वत्ता और लोकप्रियता से लाभ उठाने का लोभ संवरण न कर सका। आर्कविशेष की ओर से उन्हें बेधलेहम के विख्यात चर्च में धर्मोपदेशक का पद स्वीकार करने का आग्रह किया गया। लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग में इसे सहायक समझ कर उन्होंने यह आग्रह स्वीकार कर लिया।

अब वे काफी आत्मविश्वास और सुदृढ़ स्थिति बना चुके थे। यद्यपि आर्कविशेष उनके व्यक्तित्व और प्रभाव का उपयोग अपने शोषण-चक्र को और अधिक सरलता पूर्वक चलाने में करना चाहते थे लेकिन यानहुस का मन्तव्य तो कुछ और ही था। वे उस मंच से अंधविश्वास का अंधकार भगाना चाहते थे। इन्हीं विषयों पर उनका

चर्च के अधिकारियों से मतभेद हो गया। यहाँ तक कि वह विवाद तक बन गया।

लेकिन यानहुस वो अपने सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ निश्ठावान् थे। व्यापक जनशक्ति भी उन्होंने अपने पक्ष में मोड़ ली थी अतः उन्हें इस विवाद से कोई चिंता नहीं हुई। उससे वे सभी बन्धनों से मुक्त होकर अनश्वर में उतर आये और स्वतन्त्र रूप से अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे।

धर्म-विश्वासियों के स्वार्थ साधना अस्त्र को उन्होंने जनशक्ति के बल पर डलवा देने का संकल्प कर लिया था। इस केन्द्र बिन्दु पर अनवरत अपनी विचारधारा का उन्होंने इस तर्कपूर्ण ढंग से प्रचार किया कि अब तक जो लोग पोप, फ़ादरियों और विसर्गों के निर्दिष्ट मार्ग पर चलने के लिये जनसाधारण से कहते थे वे स्वयं फ़ादरियों और विसर्गों से सच्चे धर्म का अन्वयमान लेने और उपदेश देने के लिए कहने लगे।

प्रबल जनशक्ति को एक अकेले व्यक्ति के कारण अपने विरोध में जाते देख कर फ़ादरी लोग यानहुस के जानी दुरूपन हो गये और वे अपने पवित्र पिता-होली फ़ादर के नाम पर हुस का विरोध करने लगे। यान हुस ने इस प्रकार वंश का विरोध किया। धर्म गुरुओं ने सभी उपाय अपना लिए परन्तु कोई परिणाम नहीं निकला जनता में सच्ची धर्म-चेतना और जागरूकता फैलनी जा रही थी।

निदान राज्य-सत्ता को- जो उस समय विरापों फ़ादरी-पुरोहितों और धर्मलभ के कठमुल्लाओं के नियंत्रण में थी अंतिम-शस्त्र के रूप में उपयोग में लाया गया। सन् १४२४ में जर्मन के कंसटेंस नगर में एक अखिल विश्व ईसाई धर्म सम्मेलन का आयोजन किया गया। जिसमें लगभग एक हजार फ़ादरी विराप, आर्क विराप और पोप के गुर्गों के अतिरिक्त करीब बीस हजार अन्य प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में यानहुस को सम्मेलनवा पूर्वक अभ्यन्त्रित किया गया। स्वयं हुस को भी खतरे की आसंका थी परन्तु जब जर्मनी के सम्राट ने उनकी जीवन रक्षा का वचन दिया तो वे जाने को तैयार हुए।

पहले से ही नियोजित योजना के अनुसार यान को गिरफ्तार कर लिया गया और ठग पर दबाव डाला गया कि अब तक के अपराधों (पोप के विरोध) के लिए वे पोप से क्षमा माँगे और आगे से ऐसा न करने का वचन दें। दृढ़तापूर्वक उन्होंने यह बात मानने से इंकार कर दी। जिसके फलस्वरूप उन्हें शीतल कप ताज पहनाया गया और जीवित ही जलतो हुई आग में फेंक दिया गया।

यानहुस तनिक भी नहीं छटपटाये और चुपचाप उन्होंने अपने आप को जल जाने दिया लेकिन असत्य के आगे घुटने नहीं टेके। अपने कृतित्व के माध्यम से वे जन-मानस में सच्चे धर्म बीजों का आरोपण अंकुरण कर चुके थे जिनमें आगे चलकर सच्ची धर्मनिष्ठा के फूल लगे।

अमेरिका के महान नीग्रो—

श्री रिचर्ड ऐलेन

अमेरिका का अफ्रीकन मैथोडिस्ट ऐपिस्कोपल चर्च आज एक महान राष्ट्रीय संस्था माना जाता है। यह संस्था धर्म के आधार पर संसार में सेवा और भ्रातृत्व-भाव का प्रचार करती है। इसकी ओर से संसार के प्रत्येक भाग में शिक्षा-संस्थाओं और सेवा संघों की स्थापना की गई और की जा रही है। इसके मिशनरी संसार के हर कोने में जाकर धर्म और प्रेम-भाव का प्रसार करते हैं। इस संस्था को अमेरिका की एक विशाल राष्ट्रीय-शक्ति माना जाता है।

इस संस्था का महत्व इस बात से और है कि इसके संस्थापक एक नीग्रो थे। उनका नाम श्री रिचर्ड ऐलेन था। श्री रिचर्ड ऐलेन का जन्म १७६० के आस-पास फिलाडेल्फिया में हुआ था। वे एक गुलाम वंश में पैदा हुए थे। उनके माता-पिता दास थे और वे बाल्यकाल में ही डेलावेयर के एक किसान के हाथ बेच दिये गये थे।

उन दिनों अफ्रीका के हबियाँ की आत्मा का उद्धार करने के बहाने लोग उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित करने के लिये ले आते थे और दास बनकर उनसे पशुओं जैसा काम लेते थे? स्वार्थ के लिये दरअसल उनकी आत्मा का हनन कर डालते थे। यद्यपि उनको दीक्षित ईसाई धर्म में ही किया जाता था किन्तु श्वेत लोग उनके साथ धर्म-बन्धुत्व का व्यवहार न करते थे। इस प्रकार अमेरिका में बहुत से अश्वेत ईसाई दास ला-लाकर रखे गये थे। उन्हीं में से एक श्री रिचर्ड ऐलेन भी थे।

श्री रिचर्ड ऐलेन में प्रारम्भ से ही धर्म और ईश्वर के प्रति बड़ी आस्था थी। वे अपने अति व्यस्त जीवन में से किसी न किसी समय ऐसे क्षण निकाल ही लेते थे, जिनमें प्रभु की प्रार्थना कर लिया करते थे। अपने परिश्रम, काम और आज्ञाकारिता से प्रसन्न कर उन्होंने आगे चलकर मालिक से खेत पर ही एक छोटी-सी प्रार्थना सभा करने की अनुमति लेली थी। ईसाई होने के नाम पर उसे धर्म के नाम पर वह छोटी-सी छूट देनी ही पड़ी थी। श्री रिचर्ड ने उस अवसर का पूरा लाभ उठाया और वे अन्य खेतों पर काम करने वाले नीग्रो लोगों को भ्रम्यान्तर के समय जमा करके प्रार्थना और उपदेश करने लगे। प्रार्थना और उपदेश का विषय गुलामी से मुक्ति और आत्मा के जागरण के सिवाय और हो ही क्या सकता था? श्री रिचर्ड के सम्पर्क में आने वाले नीग्रो लोगों को अपना अस्तित्व बोध होने लगा और उनके बीच रिचर्ड का प्रभाव भी बढ़ने लगा।

किन्तु स्वार्थी श्वेत मालिक अपने मोल लिये अश्वेत दास की लोकप्रियता सहन भी कैसे कर सकता था और कैसे दूसरे श्वेत स्वामी की शिकायत करने और अपने

दासों को वर्जित करने से मान सकते थे? निदान श्री रिचर्ड की प्रार्थना सभा पर न केवल प्रतिबन्ध ही लगा दिया गया, बल्कि अश्वेत दासों पर सख्तों और काम की यात्रा भी बढ़ा दी गई। अहंकारी और स्वार्थी लोगों का यही तो दुर्भाग्य होता है कि वे अपने लोभ और अहं के लिये धर्म की ध्वजियाँ तक उड़ा सकते हैं।

लेकिन रिचर्ड को तो भर्षोपदेश और दासों के बीच जागरण की लगन लग चुकी थी। वे किसी धर्म से ईश्वरीय कार्य से विरक्त भी किस प्रकार हो जाते? उन्होंने उपाय निकाला। उन्हें पता था कि दास-प्रथा में एक ऐसी मद भी है कि जो दास अपनी कौशल और उस समय तक अपने आने वाले छाने-पहनने के खर्च का भुगतान मालिक को कर दे वह दासता से मुक्त हो सकता था। रिचर्ड ने इसी उपाय का अवलम्बन लिया। अमेरिकी क्रांति के समय जब काम की बहुतायत हो गई और सभी को उसमें हिस्सा बँटाने का अवसर मिला तो रिचर्ड ने मालिक का काम करने के बाद अपने विश्राम का सारा-सारा समय, यहाँ तक कि रात में सोने का समय तक अतिरिक्त मजदूरी में लगव दिया। उन्होंने उन गाड़ियों, डेलों और छकड़ों को खींचने का काम किया जिन्हें बोढ़े, गधे और खच्चर खींचा करते थे। पुरुषार्थी रिचर्ड ने आदमी बनने के लिए पशुओं के योग्य परिश्रम करने से घुँह न बाँड़ा। इस प्रकार धन जमा करके मालिक का सारा पैसा मजदूरी-ब्याज के चुकता करके अपने को मुक्त कर लिया। दूसरे प्रायः जिस बात को असम्भव समझते थे रिचर्ड ने उसे सम्भव कर एक उदाहरण उपस्थित कर दिया।

अब रिचर्ड ऐलेन डेलावेयर से फिलाडेल्फिया चले आये और एक स्वतन्त्र नागरिक की तरह रहने और काम करने लगे। यहाँ तो अमेरिका के किसी भी चर्च में अश्वेतों को जाकर प्रार्थना करने की अनुमति नहीं थी लेकिन एक सेन्ट जार्ज चर्च ऐश्वर्य था जहाँ अश्वेतों का प्रवेश वर्जित नहीं था। यहाँ नहीं इस उदारता का पुष्प किस भाग्यवान ने लिया था और किस मुहूर्त में मानवीय समता के भावी बीज बो गया, जिसकी फसल उस समय से लेकर अब तक फलती-फूलती चली आ रही है और उसकी उदारता निकट भविष्य में अश्वेत अमेरिकियों को दासता और श्वेत अमेरिकियों को उसके पाप से पूर्णतया मुक्त कर दे।

रिचर्ड ऐलेन इसी चर्च में जाने और प्रार्थना के साथ भर्षोपदेश करने लगे। सच्ची प्रार्थना और उसके साथ जुड़ी हुई मांगलिक मनोकामना में बड़ा प्रभाव और प्रताप होता है। रिचर्ड के व्यक्तित्व, सकल्य और भक्ति से खिंच कर फिलाडेल्फिया के सारे अश्वेत दास उस चर्च में जाने और जागरण पाने लगे। अश्वेतों की थोड़ी से श्वेतों की संख्या गणव्य कर दी। निदान श्वेत 'बगुला भक्त' प्रभु की प्रार्थना वो भूल गये और धर्म की उस अभिवृद्धि को रोकने की दुरभिसन्धि में लग गये। पहले तो उन्होंने चर्च में अश्वेतों का प्रवेश निषिद्ध करने की सोची, लेकिन प्रस्ताव लाने का साहस न पड़ा। उसके बाद उन्होंने असहयोग और

बहिष्कार की नीति अपनाई। जिसका परिणाम ठसठा निकला। संख्या के अनुपात से वे स्वयं ही बहिष्कृत हो गये और अन्त में जब कोई बस न चला तो अमरता पर उतर आये। एक दिन चर्च के अधिकारियों ने अपने श्वेत सदस्यों की सहायता से श्री रिचर्ड ऐलेन को प्रार्थना करते समय बीच में ही रोककर बलपूर्वक चर्च से बाहर निकाल दिया। ईर्ष्या और अहंकार के वशीभूत उन्होंने यह भी न सोचा कि उनके ऐसा करने से स्वर्ग में बैठी प्रभु ईसा की आत्मा को कितना गहरा आघात पहुँचा होगा। किन्तु धर्म-धम्भकों का तो काम ही उस परम-प्रभु को दुःखित और पीड़ित करना होता है, जिसके नाम पर वे खाते, कमाते और आदर पाते हैं, और महत्व की बात यह होती है कि उनका पाप, पारिताप की ओर ले जाने के लिये इस 'अवश्यभावी परिणाम' की ओर नहीं देखने देता—

“उधरे अन्य न होइ निबाहु।

कालमेमि जिमि राख्य राहु ॥”

इस घटना से अश्वेतपक्षों में रोषपूर्ण असन्तोष फैल गया और अशांति की सम्भावना खड़ी हो गई। किन्तु शक्तिप्रिय रिचर्ड ने परिस्थिति सँभाल ली। उन्होंने अपने अनुयायी अश्वेतों को समझाया— “ईसा-धर्म के सच्चे अनुयायी दुर्व्यवहार का बदला दुर्व्यवहार से नहीं, प्यार से देते हैं। हम इस अपकार का प्रतिकार करेंगे, लेकिन सुन्दर सुनन द्वारा। वे उसे व्यक्तिगत सम्पत्ति समझकर हमें भगवान के मन्दिर से निकालते हैं निकाल दें, इस कहीं भी आकाश के नीचे छोड़े होकर प्रार्थना कर लेंगे। धरती के पक्ष आकाश की छत वाला यह सारा संसार भगवान का मन्दिर ही तो है। हमें ईंट-पत्थरों से बनी एक ऐसी इमारत के लिए जगहना उचित नहीं जहाँ भगवान की जगह पर उसके ठेकेदारों का अधिकार है।”

दूरदर्शी रिचर्ड ऐलेन ने अश्वेतों के संगठन और अवसर को परख लिया और बड़े प्रयत्नों के साथ 'स्वातन्त्र्य अफ्रीकी समाज' नामक हितकारी संस्था स्थापित कर दी। आगे चलकर इसी संस्था के आधार पर उन्होंने अश्वेतों के लिए 'बैबेल मैथोडिस्ट ऐपिस्कोपल चर्च' भी स्थापित किया, लेकिन श्वेतों के प्रवेश पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया। यही बड़ चर्च है जो आज अमेरिका की शक्तियों में से एक महान शक्ति माना जाता है और जिसके इस समय दस लाख से ऊपर स्थायी सदस्य हैं।

उन्हीं दिनों फिलाडेल्फिया में पीतिया रोग का प्रकोप हुआ और इस महामारी से सैकड़ों लोगों की प्रतिदिन मृत्यु होने लगी। तथापि परिश्रम से प्राप्त सच्चे स्वास्थ्य के कारण अश्वेतों की मृत्यु संख्या कम रहती थी। महामारी से इतना भय फैल गया कि श्वेत नागरिक घर छोड़कर भागने लगे। रोगियों की सेवा करने, लाशों को दफनाने और उन्हें दवा देने वालों का अभाव हो गया। सारा नगर उजाड़ होने लगा। यह रोग प्लेग का ही एक प्रकार का और संक्रामक माना जाता था। अस्तु, छूत लगने के भय से परिवार के लोग अपने रोगियों को मरता छोड़ कर भाग

जाते थे। इस आपत्तिकाल में रिचर्ड ऐलेन ने अपने अश्वेत साधियों की सहमति से श्वेतों की महान सेवा की। उन्होंने रोगियों की परिचर्या, लाशों को दफनाने और परिवारों की व्यवस्था का प्रबन्ध किया। उनकी इन सेवाओं ने रिचर्ड ऐलेन की ख्याति दूर दूर तक फैला दी। इसी आपत्तिकाल में रोगियों की सेवा करने के लिए रिचर्ड ऐलेन ने नीग्रो पुरुषों को डॉक्टरी का और स्त्रियों को परिचारिका का प्रशिक्षण भी दिलाया जिससे इनका सामाजिक स्तर ऊँचा हो गया।

संसार भर ने नीग्रो लोगों की इस सेवा को मान्यता दी और उनके चेता की प्रशंसा की। तब भी ऐसे अनेक श्वेतों की कमी नहीं थी जिन्होंने कृतम्यतापूर्वक उनकी इस महानता में भी बुराई निकाली और धनोपार्जन का लालच लगाया— जिसका उतर देते हुए रिचर्ड ऐलेन ने लिखा— “उस आपत्तिकाल में प्राप्त होने वाला धन इतना कम था कि उससे मजदूरों की मजदूरी और मृतकों के लिये कफन भी पूरा न पड़ता था। हम लोगों ने तो धर्म का आधार और ईश्वर का विश्वास लेकर पीड़ितों की सेवा करने के लिये उस अग्नि-कुण्ड में अपने को डकेल दिया था। हमारी आत्मा के अनुसार ईश्वर ने हमें समस्त धर्मों से मुक्त करके हमें सकि प्रदान की और हमारे हृदयों को अधिकाधिक परोपकारी बनने और सेवा करने की प्रेरणा दी।”

श्री रिचर्ड ऐलेन का सम्मान इतना बढ़ गया कि वे फिल्लाडेल्फिया की सामाजिक सभाओं और चर्चों तक के प्रधान बनने लगे। अपनी इन स्थितियों द्वारा नीग्रो के बीच संगठन और जागरण की और आगे बढ़ाया जिससे श्वेत मालिकों को भय हो गया कि कहीं अश्वेत दास शक्ति न पा लें और तब अमेरिका में अपने अधिकारों की माँग करके बराबरी में न आने लगे। अस्तु, उन्होंने नीग्रो लोगों को अफ्रीका वापस भेजने की दुरभिसान्धि रखी और इसके लिये उनसे स्वीकृति हेतु जबरदस्ती हस्ताक्षर लेने लगे। श्री रिचर्ड ऐलेन ने बल-प्रयोग का डटकर विरोध किया और विरोधियों की एक न चलने दी। उन्होंने अश्वेतों की रक्षा के लिये बहुत से संघों और विशाल संघठनों का आयोजन किया और इस प्रकार नीग्रो लोगों का निष्कासन रोक दिया गया। श्री रिचर्ड ऐलेन लगभग इकहत्तर-बहत्तर वर्ष तक जीवित रहे और अपनी पूरी आयु तक इसी प्रकार नीग्रो जनों में जागरण और भुक्ति भावना का प्रचार करते रहे। १८३१ में जब उनकी मृत्यु हुई उस समय तक अमेरिकी अश्वेत दास बहुत कुछ जाग चुके थे। उनके बीच तब से अब तक जो स्वातन्त्र्य शिक्षा चलती आ रही है उसमें श्री रिचर्ड ऐलेन की सपस्या, उनके त्याग और उनकी प्रेरणा-ज्योति प्रदीप्त हो रही है। दास-मुक्ति के जिस आधार को उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य-क्षण त्याग कर बनाया था उस पर अब ध्वन बनना प्रारम्भ हो गया है जो शब्द कुछ दिनों में पूरा हो जायगा।

जो हथियारों के लिए बलिदान हो गये—

प्रेसीडेंट कैनेडी

मनुष्य का मूल्य उसकी मृत्यु के पश्चात् ही मालूम होता है जो जितना ही महान होता है उसे प्रायः उतना ही अधिक विरोध सहन करना पड़ता है। ये विरोधी किसी व्यक्ति के श्रेष्ठ कार्यों का भी उलट्टा अर्थ लगाते हैं और उसे हर तरह से बदनाम, अपदस्थ करने की चेष्टा करते हैं। चाहे कोई व्यक्ति कितना ही सच्चा, स्वागो, सेवाभावना वाला क्यों न हो, व्यक्ति भावना वाले विरोधियों को वह छली, कपटी, डम्भी ही दिखलाई पड़ता है और वे उसके कार्यों में हर तरह से अड़गल गड़बड़, असफल करने की कोशिश करते रहते हैं।

सच्चे परोपकारी सज्जन इस प्रकार की धिम्पन-बाधाओं की परवाह न कर के संसार की भलाई के कार्यों से कभी परवाह-पद नहीं होते। वे देखते हैं कि भगवान ने मनुष्य को कितने अपूर्व साधन और शक्तियाँ दी हैं, फिर भी वह अपनी संकीर्णता, ईर्ष्याभाव, द्वेष-बुद्धि से स्वयं ही दुःखी होता है और दूसरों को भी पीड़ित करता है। यदि मनुष्य इन दुष्प्रवृत्तियों को त्यागकर सबके साथ न्याय, समता और भातृभाव का व्यवहार करने लगे तो यह पृथ्वी ही स्वर्ग बन सकती है।

अमरीका के प्रेसीडेन्ट कैनेडी (१९१७-१९६३) इसी श्रेणी के महापुरुष थे। यद्यपि प्रेसीडेन्ट बनने से पहले उनका नाम संसार के अन्य देशों में तो क्या अमरीका में भी प्रसिद्ध न था। उनकी आयु भी अपेक्षाकृत कम थी और वे कोई बहुत बड़े विद्वान भी न थे पर उनमें वर्तमान समय की राजनैतिक स्वार्थपरता और धूर्तता का प्रयोग कर के संसार के अन्य देशों के सत्तापहरण करने की दुष्प्रवृत्ति के बजाय सहयोग तथा सहायता की नीति को काम में लाकर मानव जाति को प्रगति पथ पर अग्रसर करने की सद्भावना थी। खासकर पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में अणुशक्ति का जिस विकास हुआ है उसे देखकर वे मन में बार-बार यही सोचते थे कि जब मनुष्य ने सृष्टि निर्माण की कुंजी प्राप्त करली है और थोड़े-से प्रयत्न से वह इस पृथ्वी को वन्दनवन बना सकता है, तब इस प्रकार अप्स में मरने-कटने और नाश के पथ को अपनाने की क्या आवश्यकता है?

इन्हीं उद्यत आदर्शों को लेकर कैनेडी राजनैतिक क्षेत्र की ओर अग्रसर हुये। उन्होंने इंग्लैण्ड में रह कर सुप्रसिद्ध प्रोफेसर लास्की से राजनीतिशास्त्र का अध्ययन किया और सन् १९४६ के लगभग अमेरिका की शासन-सभा के सदस्य चुन लिये गये। पैंतीस वर्ष की आयु में अमरीका की 'सीनेट' के सदस्य बन गये थे। वे डेमोक्रेटिक पार्टी की तरफ से उम्मीदवार बनकर शासन सभा में गये थे, पर वहाँ उन्होंने किसी खास गुट में शामिल होने के बजाय

स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने का ही निश्चय किया। वे प्रत्येक समस्या का निर्णय उसके गुण-दोषों के आधार पर ही करते थे। इससे लोगों में उनके प्रति सम्मान की भावना बढ़ गई और सन् १९६० में वे अमरीका के प्रेसीडेन्ट चुन लिये गये। इस प्रकार वे अपने देश के सबसे छोटे राष्ट्रपति थे। अभी तक कोई राजनीतिज्ञ इतनी कम आयु में इस पद तक नहीं पहुँच सका था।

अमरीका जैसे संसार के अग्रगामी राष्ट्र के कर्णधार बनने पर कैनेडी ने वहाँ की राजनीति को एक नया मोड़ दिया। अभी तक वहाँ के शासक अपने भीतरी मामलों को ही सबसे अधिक महत्व देते थे, पर कैनेडी ने अपने देशवासियों से कहा कि अब युग बदल गया है और यदि वे केवल अपने घरेलू मामलों में ही डलते रहेंगे, तो शीघ्र ही विश्व राजनीति में अमरीका अन्य देशों के मुकाबले में पिछड़ जायगा।

प्रेसीडेंट बनने के डेढ़ साल बाद ही उनको एक विश्वव्यापी महत्व की समस्या का सामना करना पड़ा। क्यूबा का द्वीप, जो अमरीका की मुख्य-भूमि से कुछ ही दूरी पर है, कम्युनिस्ट पक्ष में जा मिला और रूस ने वहाँ पर अणुबुद्ध की तैयारियाँ आरम्भ कर दीं। अपने घर में ही इस प्रकार विरोधी का प्रवेश होने से अमरीका वाले घुरन्ना ही क्यूबा पर आक्रमण करके इस छतरे को सदा के लिए अन्त करने की माँग करने लगे। पर प्रेसीडेन्ट कैनेडी जानते थे कि रूस के साथ अणुबुद्ध छेड़ने का क्या परिणाम होगा? जिस प्रकार रूस ने क्यूबा में घुसकर अमरीका के विरुद्ध मोर्चा बना लिया था, उसी प्रकार अमरीका भी पहले से टर्की को अपना साथी बना कर वहाँ अणु-अस्त्रों का एक बड़ा अड्डा बना चुका था।

इस संघर्ष में दो बार ऐसे भीके भी आये जबकि सैनिक अधिकारियों की तरफ से अमरीकन बायुवानों को एटम बम लेकर रूस के दरफ बढ़ने का आदेश दे दिया गया, पर कैनेडी ने सूचना मिलते ही इसे रोका। उन्होंने राष्ट्रव्यापी माँग को मानकर क्यूबा का बेरा ठाल दिया, पर कभी अपनी ओर से ऐसी कार्य नहीं होने दिया जिससे मुद्दा बढ़क डटे। उनके संयम और शान्ति स्थापित करने की नीति का ही यह नतीजा हुआ कि रूस वालों ने अपनी गलती भन ली और एक महीने के भीतर वे अपने समस्त अणु-अस्त्रों को लेकर क्यूबा से हट गये और वहाँ बम फेंकने के जो अड्डे बनाये गये थे उनको तोड़ दिया गया। इस अवसर पर कैनेडी स्वयं बोरोप गए और विजना नगर में रूसी अधिनायक खुरशेच से बातें करके रूस के साथ शत्रुता की नीति का एक प्रकार से अन्त ही कर दिया।

यद्यपि संसार के अधिकांश व्यक्ति अभी तक कैनेडी की इस महान सेवा का महत्व नहीं जान सके हैं, पर सब बात यह है कि उस समय अमरीका में कोई संकीर्ण विचारों का राष्ट्रपति प्रेसीडेन्ट होता तो असम्भव नहीं था कि रूस के साथ उसका मुद्दा छिड़ जाता। उस दशा में उन

दोनों देशों का ही सर्वनाश नहीं होता बल्कि यह मानव सभ्यता पर एक ऐसा आघात होता कि संसार की कात्त हो पलट जाती । वास्तव में वे दो दौन वर्ष संसार के भाग्य निर्णायक थे और उस अवसर पर कैनेडी तथा नेहरू जैसे महान् व्यक्तियों के आविर्भाव के कारण ही इस घोर संकट से मानव जाति को रक्षा हो सकी ।

कैनेडी का दूसरा स्मरणीय कार्य अपने देश के हब्बी (नीग्रो) जाति वालों को गौरे लोगों के समान अधिकार देने का कानून बनाना था । अब से दो सौ वर्ष पहले हब्बी लोगों को अफ्रीका से बबरदस्ती पकड़ कर ले आकर और उनको दास बनाकर अमरीका में बेच देना एक ऐसी घटना थी जो बहुत काल तक अनेक युरोपियनों के सिर पर क्लृप्तक का टीका लगाती रहेगी । निर्दोष और सीधे-सादे हब्बियों पर केवल अपने स्वार्थ साधन के कारण जो अमानुषिक अत्याचार किये गये थे विश्व-इतिहास के अमिट काले अध्याय बन चुके हैं ।

अमरीका के महामानव प्रेसीडेन्ट अब्राहम लिंकन ने आज से सौ वर्ष पहले गृहयुद्ध का सामना करके और हजारों व्यक्तियों का बलिदान देकर इस महापाप रूपी प्रथा का अन्त कराया । पर इसके पश्चात् भी स्वाधीन गोरों ने उनके साथ व्यापक व्यवहार करना स्वीकार न किया । वे उनको नीच, अज्ञान की तरह ही मानते रहे और राजनीति, समाज, शिक्षा आदि सभी विषयों में भेदभाव का व्यवहार करते रहे । अब से चालीस-पचास वर्ष पहले भी यदि कोई बहरी गोरों की समानता करता तो उसे गुप्त या बकट रूप से मौत के घाट उतार दिया जाता इतना ही नहीं यदि कोई गौरा व्यक्ति हब्बियों का पक्ष लेता, उसका समर्थन करता तो उसकी बड़ी दुर्दशा की जाती । इस तरह के कार्यों के लिए जहाँ के कई प्रदेशों में 'कु क्लक्स क्लैन' जैसी अत्याचारी गुप्त-संस्थायें बना ली गई थीं ।

प्रेसीडेन्ट कैनेडी की मानवता को, नीग्रो लोगों के प्रति किये जाने वाले इस अन्यायपूर्ण व्यवहार से बड़ा चक्का लगा । वे विचारने लगे कि जब हम संसार के विभिन्न राष्ट्रों की समानता का पद देकर, उनके साथ बराबरी का व्यवहार करके मानव-जाति की प्रगति-पथ पर अग्रसर करने के लिये प्रयत्नशील हैं, तब अपने देश में रंग के नाम पर लाखों नर-तन धारियों के साथ शत्रुओं का-सम कर्त्तव्य करना हमें कहीं तक शोभ दे सकता है ? यह तो केवल मानव-स्वाधीनता या समता के सिद्धान्त का उपहास करना ही होगा । यदि हम अपने साथ न्याय चाहते हैं तो हमें नीग्रो लोगों को भी उचित अधिकार देने होंगे ।

अपने करोड़ों देशवासियों के विरोध का सामना करते हुए भी कैनेडी ने इस पवित्र कर्त्तव्य को पूरा करने का संकल्प कर लिया । उन्होंने अमरीकन सासन सभा के सम्मले 'सिविल राइट्स बिल' (नागरिक अधिकारों का कानून) पेश किया और उसके पास कराने के लिये बहुत

अधिक प्रयत्न करने लगे । इससे दक्षिण की रियासतें, जिनमें नीग्रो-द्वेष की भावना विशेष रूप से पाई जाती है, उनके खिलाफ हो गई । यद्यपि कैनेडी स्वयं दक्षिण के रहने वाले थे और वहाँ वालों के वोटों से जीत कर प्रेसीडेन्ट बने थे, पर इस कारण वे एक अन्यायपूर्ण प्रथा का समर्थन करने को तैयार न हुए । वे इस सम्बन्ध में अपने विचारों का स्पष्टीकरण करने और वहाँ के विचारशील लोगों को अपने अनुकूल बनाने के उद्देश्य से दक्षिणी रियासतों का दौरा करने गये और उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता भी मिलने लगी ।

दक्षिणी रियासतों के कट्टरपन्थी, जो हब्बियों के मामले में सदा लड़ने और मरने को तैयार रहते थे और बहुयन्त्र रचने में भी निपुण थे, कैनेडी की बात के ग्राहक बन गये । यद्यपि वे भी इस बात को जानते थे, उनको धमकी के हजारों पत्र मिल चुके थे (सासन के प्रथम वर्ष में ही ऐसे पत्रों की संख्या ८६० थी) पर इस प्रकार वे अपने कर्त्तव्य से पीछे नहीं हट सकते थे । २२ नवम्बर, १९६४ को जब वे जलूस के रूप में इलास नगर की सड़क पर निकल रहे थे एक अशक्तवी ने गोली मारकर उनकी हत्या कर दी ।

इस प्रकार एक और महामानव का बलिदान मानवीय-स्वाधीनता व समता की चेदी पर हो गया । सौ वर्ष पूर्व प्रेसीडेन्ट लिंकन को भी हब्बियों का उद्धार करने के कारण गोली से मारा गया था । इनके हत्यारे तो अपने मन में न जाने अपनी योजना की सफलता पर कितना गुमान करते होंगे, पर दरअसल उन्होंने उन दोनों को अमर बना दिया । जबकि अन्य प्रेसीडेन्टों के नाम भी लोगों को मुश्किल से याद रहेंगे वे सैकड़ों, हजारों वर्षों तक पूजे जाते रहेंगे ।

आदर्श के लिये खतरों से टकराने वाले—

डा० हाल्डेन

मानव जाति के उत्थान एवं कल्याण के लिये अनेकों सेवा साध्य हैं । उन्हीं में वैज्ञानिक अन्वेषण भी है । डा० हाल्डेन ने अपनी रुचि एवं प्रतिभा के अनुरूप यही मार्ग चुना और वे एक तपस्वी कर्मवीर की तरह इसी मार्ग पर अजिजीवन चलते रहे ।

सेवा का पथ कहसाध्य है उस पर चलने वाले को अपनी पात्रता एवं पवित्रता की अग्नि परीक्षा में होकर गुजरना पड़ता है । सूरवीर और साहसी ही अपने लक्ष्य के अन्तिम छोर तक पहुँच सकने में समर्थ होते हैं, इस बात को हाल्डेन बिलो प्रकार जानते थे । फिर भी उन्होंने आसामत्सल्य विन्दनी जीने की अपेक्षा, यही मार्ग चुना और वे पग-पग पर जीवन-संकट उपस्थित करने वाले खतरों का सामना करते हुए आदर्श की ओर बढ़ते चलने में ही प्रसन्न अनुभव करते रहे ।

उन्होंने कई प्रकार के कार्यक्रम बदले, पर इस परिवर्तन में लक्ष्य अविचल ही बना रहा। मानव-कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग का आनन्द अनुभव करते रहना यही उनका लक्ष्य था, इसे वे जब तक जिसे हर मझी प्राप्त भी करते रहे।

मानव की क्षमताओं और उस पर वैज्ञानिक रसायनों, द्रवों और गैसों का ठीक-ठीक प्रभाव और परिणामों की खोज करने के लिए वे धन्नों पानी में समाधिस्थ रहते, गैसों के बस्त्र पहनते और अनेक वस्तुओं को खा लेते थे।

विगत विश्वयुद्ध के दौरान उन्हें अपनी जलसेना की कठिनाइयों के कारणों की खोज करने के लिए लगभग पन्द्रह घण्टे एक स्पात निर्मित कमरे में बन्द रहना पड़ा। उनको इस तपस्या में पनडुब्बियों की दुर्घटनाओं की दिशा में नौ-सेना को बड़ा लाभ हुआ। एक बार मानव-शरीर पर ठीक-ठीक उसका प्रभाव आपने के लिये वे प्रयोगार्थ एमोनियम क्लोराइड पी गये। उस अमर मानव ने जो तथ्य इस विषय में दिये वे आज तक सर्वमान्य एवं साहसिक माने जाते थे।

एक बार एक ऐसे खतरनाक जलीय अन्वेषण का काम उन्होंने अपने हाथों में लिया, जिसके प्रयोग में सी प्रयोगकर्ताओं का एक पूरा-पूरा मिशन ही अपने प्राण वत्सर्ग कर चुका था। उस जलीय अन्वेषण के लिये उन्हें जल के भीतर एक लम्बी समाधि लेनी पड़ी। अपने इस प्रयोग में जहाँ उन्होंने बहुत सी-बातों की खोज कर ली वहीं इस खोज का भी बहुत महत्व है कि यदि सामान्य वातावरण से छह गुने दबाव में प्राण वायु में श्वास खींची जाये तो उसमें एक प्रकार का स्वाद अनुभव होगा। वह स्वादहीन कहीं जाने वाली प्राणवायु (ऑक्सीजन गैस) के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी अन्वेषण था। यद्यपि इस प्रयोग में उनकी रीढ़ की हड्डी टूट गई थी। तथापि क्या वे किसी प्रयोग से विरत हो गये? उनके जीवन का एक-एक क्षण और शरीर का प्रत्येक अंश मानव-जीवन की सेवा के ही लिये था।

उन्होंने अणु बम के परवाह उसके अवलोकन शक्तों के प्रभाव की दिशा में 'गामा किरणों' से उदर में होने वाली उथल-पुथल की ओ खोज की है वह महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ आधुनिकतम भी है। उनके अन्वेषण से यह पता लगाना सरल हो गया कि अणु-बम विस्फोटों से आगामी पीढ़ियों के कितने भ्रूण शिशुओं की मृत्यु होगी और किस-किस प्रकार के कितने घातक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। कहना न होगा कि उनका यह अन्वेषण मानव जाति की एक महानतम सेवा है और अणु बमोद्धारों के लिए एक सामयिक चेतावनी।

अपने शरीर पर विभिन्न रसायनों और द्रवों का प्रयोग करते रहने से वे कैंसर से पीड़ित हो गये। परिचितों द्वारा

उस पर चिन्त व्यक्त किये जाने पर उन्होंने दार्शनिक व्यक्त की तरह हँसकर उत्तर दिया कि जब मरना निश्चित ही है तो यदि मैं कैंसर को परवाह कर भी लूँ तो अन्य प्रकार से भी नहीं मर सकता हूँ? मैं तो अपने पर हर प्रयोग से उत्पन्न होने वाले विकारों को अपनी सेवाओं का पुरस्कार मानता हूँ और वैज्ञानिक क्षेत्र में उनका लाभ उठाता हूँ। मेरे शरीर में उत्पन्न प्रत्येक विकार मुझसे कुछ लेता नहीं बल्कि कुछ देता ही है।

उनके दार्शनिक व्यक्तित्व ने 'सफल-मानव' और 'समृद्ध-मानव' की जो सहाय व्याख्याएँ दी हैं वे उनकी वैज्ञानिक देन से किसी प्रकार भी कम नहीं हैं। वे मानव को केवल एक मानव ही नहीं महामानव के रूप में मानते थे। वे मानव प्रवृत्तियों और प्रकृतियों के इतने बड़े ज्ञाता और व्याख्या थे कि उनकी इस विषय की विवेचना पढ़कर दंग रह जाना पड़ता है।

वे मुसीबतों और संघर्षों को जीवन की उत्पत्ति का मूल यन्त्र मानते थे, इसीलिये अपने सिद्धान्तों की रक्षा में समागत मुसीबतों और संघर्षों का सहर्ष स्वागत करते रहते थे। उन्होंने कभी भी किसी सुख-सुविधा के लिये अपने अन्वेषित सत्य का बलिदान करना स्वीकार न किया। यही कारण है कि जमाने ने उनका ठीक-ठीक मूल्यांकन करने में कृपणता की है।

वैज्ञानिक और दार्शनिक होने के साथ-साथ वे एक देशभक्त योद्धा भी थे। वे कोई सामयिक पुकार सुनकर भी केवल एक क्षेत्र में ही बैठे रहने में विश्वास न करते थे। उनका विश्वास था कि समय की चुनौती सुनकर, किन्हीं अपनी प्रिय सीमाओं में बैठा रहना एक कायरता है। आगे बढ़कर उसका सामना करना सबसे बड़ी मानवता और मानव-सेवा है।

अपनी इस धारणा के आधार पर वे प्रथम विश्वयुद्ध में प्रयोगशाला से निकल कर रक्षा क्षेत्र में आ गये। प्रयोग यन्त्र के स्थान पर हाथ में बन्दूक लेकर वैज्ञानिक से सिपाही बन गये। युद्ध के सम्बन्ध में वे एक बार फ्रांस और दूसरी बार ईराक में भागल हुये। एक मोर्चे से दूसरे पर आते-जाते हुये उन्होंने अनेक देश देखे, जहाँ वे न केवल युद्ध ही करते थे, अपितु जहाँ के मानवों तथा भौगोलिक स्थितियों के अध्ययन से अपने आपको भी लाभान्वित करते थे, जो आगे चलकर उनकी रचनाओं में बहुत काम आया। कदाचित् वे ही एक ऐसे दार्शनिक वैज्ञानिक थे जिन्होंने अपने ज्ञान के अतिरिक्त देश की सत्तस्य सेवा भी की।

युद्धान्तरण के सिलसिले में वे लगभग सवा साल तक भारत में भी रहे। भारत उन्हें अन्य देशों की अपेक्षा अधिक पसन्द आया और उन्होंने अपने जीवन का चौथा चरण वहीं रहकर बिताने का निश्चय किया।

युद्ध समाप्त होने पर वे देश वापस चले गये और ऑक्सफोर्ड में न्यू कॉलिज के शरीर विभाग में शिक्षक का काम करने लगे। कोई उपाधि या डिग्री न होने पर भी उन्हें प्राध्यापक का पद दिया गया। जिसको उन्होंने बड़ी दक्षता से सँभाला।

शिक्षण काल में भी उन्होंने अपने शरीर पर अनेक महत्वपूर्ण प्रयोग किये, जिसके कारण वे वैज्ञानिकों के बीच काफी लोकप्रिय हो गये। अनेक वैज्ञानिक उनसे अपने-अपने अन्वेषण क्षेत्र में सहायता, सहयोग एवं परामर्श लेने लगे। नोबल पुरस्कार-प्राप्त प्रोफेसर हॉकिन्स ने उनकी सहायता से 'साइटोक्रोम में ऑक्सीडेज' पदार्थ की खोज की और अपनी पुस्तक 'ऑक्सीड के कारण' में बंश परम्परा पर अनेक लेख लिखे।

हिटलर द्वारा विष्काशित यहूदी वैज्ञानिक डा० थोटी चेरन, डा० हाल्डेन के घर रहकर उनके परामर्श प्रसाद से तेनिसिलीन नामक एक आयुष्ययोगी औषधि का आविष्कार कर सके। इसी प्रकार न आने कितने वैज्ञानिकों ने उनके ज्ञान का लाभ उठाया।

डा० हाल्डेन स्वाधियान को जीवन में बहुत महत्व देते थे। उसके लिए वे बड़े से बड़ा त्याग और ऊँचे से ऊँचे अधिकारों की उपेक्षा कर देते थे। इसलिए जीवन भर उन्हें कठिनाइयों और आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। किन्तु इन्हीं से अपने ध्येय मार्ग से विचलित न हुए। डॉक्टर हाल्डेन एक पूर्ण मानव होने के अतिरिक्त और कुछ न थे। निरर्थक एवं कठिनात सामाजिक अधिका धार्मिक कोई भी बन्धन वे मानने को तैयार न थे। मनुष्य अधिकारों के प्रति अन्याय देख सकना उनकी रुचि के बाहर था। वही कारण था कि स्वेच नहर के मामले में वे अपने देश की नीति से अप्रसन्न होकर इंग्लैण्ड छोड़कर भारत के नागरिक बन गये और फिर आजीवन भारत में ही रहे।

वैज्ञानिक होने के साथ-साथ डा० हाल्डेन विद्या-व्यसनी भी थे। अपने प्रयोगों से समय निकाल कर वे विभिन्न विषयों एवं भाषाओं का अध्ययन किया करते थे। उन्होंने ग्रीक लैटिन भाषाओं में अधिकार प्राप्त किया रसायन, पदार्थ, जीव एवं प्राणी-विज्ञान का उन्हें असीमित ज्ञान था। ऑक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय से उन्होंने गणित में 'मैथेमेटिकल माडरेशन' विषयक परीक्षा उत्तीर्ण की। इतिहास, भूगोल एवं जनसांख्यिक उनके प्रिय विषयों में से थे। उन्होंने लैटिन और ग्रीक भाषाओं के पुरातन जीव-विज्ञान से आधुनिक जीव-विज्ञान को बहुत लाभ पहुँचाया।

डा० हाल्डेन न केवल भारतवासी ही बने, बल्कि उन्होंने भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं आचार विचार भी अपना लिये। वे भारतीय ढंग के कुरता, टोपी और चोटी पहनते और अधिक से अधिक भारतीय ढंग का ही जीवन करते थे। वे भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के जहाँ अन्धसु उपासक वे वहाँ सूक्ष्मदर्शी आलोचक भी थे।

यह महामानव आज संसार में नहीं है पर उनका त्याग, तप, सहस और उदार दृष्टिकोण उज्ज्वल नक्षत्र की तरह जनसंधारण को परमार्थ पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान करने के लिए अभी विद्यमान है।

जो फाँसी के तख्ते तक हँसता रहा—

टामसमोर

"अपराध किया है मैंने और सजा भी पाई मैंने पर बेकभूर दाढ़ी यों ही गयी या रही है। ये भाई जल्लाद। थोड़ा ठहरो, फाँसी को अभी छे २० मिनट बाकी है तब तक इस दाढ़ी को तो अलग कर देने दो।" इतना कहते-कहते-कहते उसे हँसी आ गई। जल्लाद भी अपनी मुस्कान न रोक सका पर साथ ही उसे कौतुहल भी कम न था इस व्यक्ति के अजीब व्यवहार पर, जिसके आगे मौत खड़ी थी। निश्चल कर्मचारी की तरह उसे तब भी जीवन के आनन्द और स्वास्थ्य से अनुराग बना रहा जब जिन्दगी और मौत के बीच कुल बीस मिनट का अन्तर था।

हँसते हुए जिस और फाँसी का फन्दा गले में डालने तक दिखाने करता रहा, वह था अँग्रेजी का प्रसिद्ध विद्वान टामसमोर। मनुष्य जीवन का सत्य- स्वास्थ्य है- आन्तरिक प्रसन्नता है- फूलों के सौंधे जैसी मुस्कान है, इस सत्य को सही अर्थों में सम्पन्नने वालों में टामसमोर थे।

इसमें सन्देह नहीं कि आनन्द जीवन का अन्तिम ध्येय है पर क्या वह धन से उपलब्ध हो सकता है, नहीं। कंचन और कापिनी में क्षणिक सुख है और विवाद अधिक, इनमें आज तक किसी को सुख नहीं मिला। लौकिक उपलब्धियों आनन्द की प्राप्ति में सहयोगी भले ही हों पर उनका उद्गम मनुष्य के अन्तःकरण में ही है। विनोद उसका स्वरूप है और स्वास्थ्य उसकी आत्मा। जो इसे पा गया सबमनुष्य उसने जिन्दगी का आनन्द पा लिया।

सर टामसमोर का सम्बन्ध सदैव ही मनुष्य जीवन की गहराइयों से रहा। वह एक सम्पन्न व्यक्ति थे। साधन और सम्पत्ति का उन्हें अभाव न था पर अपने आदर्शों को वे इन सबसे ठेका मकते थे। सांसारिक संघर्षों से एक धीरे थोड़ा की भाँति जूझते रहे फिर भी उनकी सरलता और प्रफुल्लित का निर्झर प्रवाह कभी अगतिशील न हुआ। उनका स्वास्थ्य क्षणिक न था, वरन् उसमें एक अभिनव पुरातन छिपा हुआ था, उनकी हँसी व्यंग्य का विद्रूप न थी वरन् वह आत्मा समीपियों आतावरण को स्वास्थ्य-विभोर रखते थे। प्रतिपक्षी भी उनका साहचर्य पाने के लिये सदैव तत्सुक बने रहते थे।

टामसमोर का जन्म लन्दन में सन् १८५० के लगभग हुआ था। हेनरी अष्टन ने इनकी विद्वता से प्रभावित होकर लार्ड चांसलर नियुक्त किया। इसके पूर्व जब मोर पार्लियामेन्ट के मैम्बर थे तो सतम हेनरी के साथ इनका

विवाद हो गया पर वे अपने आदर्श से एक पल भी विचलित न हुये । इसी बीच सम्राट ने, जिन्होंने टामसमोर को लार्ड चांसलर का गौरवपूर्ण पद-प्रदान किया था, अपनी धर्मपत्नी कैथरिन को तलाक दे दिया । अब तक लोग यह समझते थे कि मोर मस्त प्रकृति का व्यक्ति है, विद्वान भी है पर अब लोगों ने यह भी देखा कि उनके अन्तःकरण में मानवता के प्रति उत्कट उत्सर्ग का भाव भी भरा हुआ है । सदैव हँसता रहने वाला व्यक्ति जीवन की गहराइयों से मोर्चा लेने का साहस भी रखता है । उसने अपने पद से स्तोफा दे दिया और हेनरी के खिलाफ बग़ावत कर दी ।

एक दिन इनकी पत्नी और बच्चे पास आये और समझाने लगे कि आप अपने विचार बदल दीजिए, बादशाह का विरोध करने से हम चूट हो जायेंगे । बच्चों को सुरक्षा की आशंका ने एक बार मोर के हृदय को प्रवित किया पर दूसरे ही क्षण फिर वही सरस मुस्कान प्रस्फुटित हुई । मोर बोले- “बच्चे मुझे फाँसी की सजा हो जायगी तो दूसरे लोग यह तो जान लेंगे कि संसार में इन्सानियत की कीमत बढ़ी है । सैतानियत से भुग्न हो जायेंगी । मेरे जीवन का यही उद्देश्य है कि संसार के प्रत्येक व्यक्ति को मानवीय अधिकार मिलें, किसी आत्मा को कुचला न जाये । मैं हँसता हूँ कि सारे विश्व में ईंसी और आनन्द फूट पड़े । यदि तुम्हें मुझसे प्यार है तो जाओ और यह निश्चय कर लो कि मेरी मौत के बाद मानवता की रक्षा के लिए तुम भी वही रास्ता पकड़ लोगे जिस पर मैं चल रहा हूँ ।”

संसार में चाहे वह ईसाई धर्म रहा हो, बौद्ध या हिन्दू, जितने भी महापुरुष, सन्त और सुधारक हुए हैं इन सबको प्रतिक्रियावादी तत्वों का कड़ा मुकाबला करना पड़ा है और इसमें उनकी जानें भी चली गई हैं पर इससे जो प्रभाव उत्पन्न होता रहा है उसी से सनातन सत्य की रक्षा और विजय होती रही है । जिस युग में इस तरह की इलमपल नहीं रही उसी में बुराईयाँ बढ़ी हैं । इसलिए सनातन आदर्शों के लिए क्रान्ति का नियम भी सनातन ही है । टामसमोर ने उसी पथ का अनुसरण किया और परिणाम भी वैसे ही निकले । टामसमोर सदन की भीमार में कैद कर दिये गये । महापादरी फिशर जैसे महान व्यक्ति भी मोर के साथ इस धर्मयुद्ध में बन्दी बनाये गए और उन सबको मौत की सजा दे दी गई ।

जीवन भर कठिनाइयों से दिल्लगी करते रहने वाले व्यक्ति के लिए यह कसौटी का समय था । कहीं वह आदर्श छिन्न हो गया होता तो न उसे अन्त में देवत्व प्रदान किया जाता और न लोगों को मानवता के प्रति आत्मोत्सर्ग की भावना में विश्वास रह जाता । मोर एक वीर की तरह जीवन संग्राम में उतरा था । कामरों की तरह रुकता, डरता, झिझकता और सिसकता हुआ नहीं, उसने अपनी इस उन्मुक्तता को अन्त तक बहाल रखा ।

जल्द ने उठी हुई कुल्हाड़ी रोक दी मोर ने बड़े मजे से चढ़ी बनाई माने उसे किसी बारात में जाना हो । दर्शक इस अनोखे मानसिक सन्तुलन पर मुग्ध थे, उन्हें मोर के प्रति प्यार और मुलक उठती थी । विवश तो वे सिर्फ इसलिए थे कि राजाज के उत्सर्जन की उनमें शक्ति न थी पर टामसमोर उसके चेहरे में तब तक वही मुस्कान, वही विनोद स्थिर था जो सम्पूर्ण जीवन उसका सहयोगी रहा । उसने आपसीभर को बुलाकर कहा- “ऐ चाई थोड़ा हाथ लगा दे तो मैं तब्लो पर चढ़ जाऊँ येस शरीर तो फिर अपने आप नीचे आ जावेगा, पर हाँ थोड़ा सँभलकर जोर सग़ना, मोर का मोटा शरीर कहीं आप पर ही न गिर पड़े ।” “हँस पड़ा, जल्द भी हँसा और उसकी जब कुल्हाड़ी खूटी तब टामसमोर भी हँसी के ही बीच था । टामसमोर की मृत्यु हो गई पर वे दुनिया को बता गये कि मनुष्य को कठिनाइयों, आपदाओं और मृत्यु जैसी विभीषिकाओं में भी हँसते रहना चाहिए ।

अमेरिका के महान् नीग्रो-

फ़्रेडरिक डगलस

कहों, जलनयों और आपत्तियों को सह सकने और अपने पथ से विचलित न होने का साहस दिखला सकने वाले वीर के लिए संसार का कोई कार्य असम्भव नहीं होता, यदि उसके हृदय में अदम्य इच्छा-शक्ति हो । अमेरिका के फ़्रेडरिक डगलस नीग्रो दासों को मुक्त कराना और अमेरिका के एक स्वतन्त्र नागरिक की भाँति उभरति करना चाहता था ।

श्री डगलस की स्थिति और उद्देश्य में दो विपरीत छोरों का अन्तर था तथापि उन्होंने दोनों छोरों को मिलाकर अपने में उपरोक्त गुणों को प्रमाणित कर दिया । वे अमेरिका के शक्तिशाली राजनीतिक दल के नेता बने । उन्होंने संयुक्त राज्य-भारत का पद पाया । वे कोलम्बिया के खोर इन्विज़स के प्रमाणिक संकलन कर्ता बनाये गये और हेटी रिपब्लिक में संयुक्त-राज्य अमेरिका के राजदूत नियुक्त किये गए । इसके अतिरिक्त वे आजीवन नीग्रो जाति के नेता तो बने ही रहे ।

उस पद से उन्होंने दास प्रथा के उन्मूलन, दासों के नागरिक और स्त्री भूतधिकार के लिए जो सेवायें कीं उनका फल दासों ने मुक्ति और स्त्रियों ने समानाधिकार के रूप में भोगा । इतना सब कुछ हो सकना और कर सकना उस समय के अख्येस दास के लिए असम्भव के समान ही था पर श्री फ़्रेडरिक डगलस ने उसे सम्भव कर दिखलाया । इसके लिए उन्हें कितने कह, कितनी यातनायें और कितनी व्यथितियाँ सहन करनी पड़ीं इसकी एक रोमांचकारी गाथा है ।

फ़्रेडरिक डगलस का जन्म सन् १८१७ के आस-पास मेरीलैण्ड में हुआ था । यह जन्म जात दास थे । इनको

माता-पिता की छत्रछाया न मिल सकी थी। इनका पालन इनकी पुढ़ा दादी ने किया। किन्तु उससे भी छीनकर ये बचपन में ही एक श्वेत किसान स्त्री के हाथ बेच दिये। वह किसान स्त्री क्या थी, पूरी डामन थी। वह दास बालकों को ही अपने खेतों पर काम के लिए लगाती थी और प्रतिदिन नियम से अकारण में कारण निकालकर कोड़ों से मारती थी। उसको इस अत्याचार में बड़ा आनन्द आता था। उसकी इस क्रूरवृत्ति के शिकार बने बालकों में एक श्री फ्रैडरिक डगलस भी थे। उस समय इनका नाम बेली था। ये स्वभाव से कुछ चटक और देखने में सुन्दर थे, इसलिए वह स्त्री इन पर ही सबसे अधिक क्रुद्ध रहती थी। पेशाचिक वृत्ति और सौभाग्य में स्वभाविक तौर होता है।

दासक बेली को न केवल कोड़े ही लगते थे, बल्कि भुखा रहकर गन्दी जगहों पर सोना भी पड़ता था। सूर्योदय से पूर्व काम पर लग कर जब बेली सायंकाल छूटता था तो भूख भयानक रूप से उसे खाती होती थी। किन्तु घर आकर मालकिन की तरफ से उसे ताड़ना के सिवाय और कुछ न मिलता था। अपनी प्राण रक्षा के लिये वह उस जूठन से भूख मिटाया करता था, जो उसको मालकिन अथवा उसके पक्षीसौ बाहर फेंक दिया करते थे। इस क्रम में उसे बहुत बार जूठन के लिए भूखे कुत्तों से पट्ट करना पड़ता था। कभी-कभी जूठन के समय घर नहीं पहुँच पाता तो कुत्ते हाथ मार ले जाते थे तो वह पटे-पुराने चीथड़े लपेटे वहाँ-वहाँ भोजन को तत्पश्चात् में मारा-मारा फिरता था। इस स्थिति से निकल कर उस स्थिति में पहुँचने वाले बेली उर्फ फ्रैडरिक डगलस निश्चय ही आदर और नमन के पात्र हैं। वह उन्नति की बलबलते इच्छा और आशा एवं विश्वास के साथ सहनशील साहस का ही सम्बल था, जिसके बल पर डगलस ने उस गौरव को प्राप्त कर लिया और अपनी आस्था को उससे सामंजस्य नहीं करने दिया। पुरुषार्थ के ऐसे ही धनी इतिहास के पत्रों पर स्वर्ण अक्षरों में जगमगाया करते हैं।

वह क्रूर कुशक महिला बेली की वास्तविक मालकिन नहीं थी। बेली उसके पास किराये पर चलता और काम किया करता था। मालिक तो एक और व्यक्ति था। उसने उस के पास से बेली को इटाकर अपने एक सम्बन्धी के यहाँ सेवा करने को भेज दिया। नये घर को स्वामिनी जरा अच्छे स्वभाव की थी। बेली ने उसे अपनी सेवा से बहुत प्रसन्न कर लिया। फलस्वरूप उसने बेली को अंग्रेजी अक्षरों का ज्ञान करा दिया। किन्तु स्वामी संकीर्ण था। उसने बेली से वह सुविधा छीन ली। तब भी बेली अपनी एकान्त कोठरी में तख्तों, टोनों और जमीन पर लिखने और बाइबिल से पढ़ने का अभ्यास करता रहा और छोड़े दिनों में पढ़ने भी लगा।

बेली को पढ़ने की इतनी रुचि लगी कि उसने अतिरिक्त समय में लोगों के जूतों पर पॉलिश करके कुछ पैसे कमाये और उनसे 'कोलम्बियन ओरेटर' नाम की एक

पुस्तक खरीद लाया। यही एक पुस्तक उसकी अध्ययन सामग्री थी। उसमें स्वतन्त्रता पर बड़े लोगों के भाषण थे। बेली पर उनका बहुत प्रभाव पड़ा और उसने दासता से मुक्त होने का संकल्प कर लिया।

बेली जब दुबारा एक छोटे से नगर में सेवा करने भेजा गया तो उसने वहाँ की एक नीग्रो-बाल-पाठशाला में अवैतनिक अध्यापन का कार्य अपने ऊपर ले लिया और नीग्रो बालकों के मनोविकास में संलग्न हो गया। किन्तु वहाँ के संकीर्ण श्वेत नागरिकों ने उस स्कूल को ध्वंस कर दिया। बेली को न केवल पढ़ने-पढ़ाने के लिए मना ही किया अपितु मारा भी। बेली के उप-स्वामी को पता लगा तो उसने उसे खतरनाक नीग्रो समझ कर कोबे नामक एक ऐसे व्यक्ति के पास काप करने को भेज दिया, जो खतरनाक नीग्रो दासों को शारीरिक चरणावै देकर सीधे रास्ते पर लाने के लिए विख्यात था।

कोबे बेली को ऐसे नये-नये काम देता जो उसके बल में न होते और फिर गस्तली होने अथवा न कर सकने पर उसे कोड़े से बेतहाशा मारा करता था, जिससे नये अथवा बिगड़स बेल ठीक किए जाते थे। इस बातका का वर्णन करते हुए बेली बनाम फ्रैडरिक डगलस ने एक स्थान पर लिखा है—“उह महीनों तक निरन्तर डंडों, कोड़ों और इंटरों की मार मुझ पर इतनी पड़ती रही कि मेरी दुःखती हुई इट्टियाँ, चायल पीठ और सूजे हुए हाथ पैर मेरे कभी न बिछुड़ने वाले मित्र बन गये।”

काम करते-करते बेहोश हो जाने पर भी जब उससे उठा कर काम करने को कहा जाने लगा और न कर सकने पर हाथ-पैर और सिर, पीठ सोड़ी-फोड़ी जाने लगी, तब तो फ्रैडरिक का भूत मनुष्य जाग उठा और एक दिन उसने विद्रोह करके कोबे को ठठाकर पटक ही दिया। जिसका फल यह हुआ कि कोबे का अत्याचार बन्द हो गया।

एक वर्ष की अवधि पूरी होने पर फ्रैडरिक के स्वामी ने उसे कोबे के पास से हटाकर एक और के पास किराये पर भेजा। लेकिन इस बार वहाँ न जाकर वह न्यूयार्क भाग गया। वहाँ वह भूख-प्यास लुक-छिप कर काम खोजता रहा पर काम न मिला। अन्त में वह मेसाचुसेट्स जत्त आवा और न्यूट्रकेट में स्थापित एक दासता-विरोधी सभा में सम्मिलित हो गया। वस वहाँ से फ्रैडरिक डगलस के जीवन का दूसरा अध्याय शुरू हो गया।

फ्रैडरिक डगलस अपने विगत तथा वर्तमान जीवन में सारी बाधाएँ, क्लेशाएँ तथा कष्टों को सहते हुए भी अध्ययन क्रम को जारी रखते रहे, जिससे उनकी योग्यता दिन पर दिन बढ़ती गई और वे एक अच्छे भाषणकर्ता एवं लेखक बन गये। अपनी इस योग्यता का उपयोग उन्होंने निरन्तर नीग्रो समाज की सेवा में ही किया, जिससे वे उनके नेता बन गये। डगलस की स्वतन्त्रता सम्बन्धी सभाओं का न केवल विरोध ही किया जाता था बल्कि ईंटों और पत्थरों

से आक्रमण भी किया जाता था। किन्तु दृढ़व्रती डगलस यह सब सहते हुए भी अपना काम करते रहे।

अन्त में जब अब्राहम लिंकन के समय में उत्तर दक्षिण के प्रश्न पर अमेरिका में गृह युद्ध छिड़ गया तो फ्रैडरिक डगलस ने न्याय का पक्ष लेकर अब्राहम लिंकन की सराहनीय सहायता की। उन्होंने स्वयं तो भाग लेकर युद्ध में वीरता दिखाई ही, हजारों नीग्रो लोगों को सेना में भर्ती कराया और एक स्वातन्त्र्य सेना भी गठित की। बाद में जब अमेरिका एक संयुक्त-राज्य बन गया तब श्री फ्रैडरिक डगलस की सेवाओं का मूल्यांकन किया गया और वे अमेरिका के विभिन्न उच्च पदों पर रहने के साथ राजनेता भी बने। उनकी मृत्यु लगभग १८९५ में हुई।

जो सिकन्दर के आगे झुका नहीं—

देशभक्त पुरु

भारतीय इतिहास में महाराज पुरु का बहुत सम्मान पूर्ण स्थान है। महाराज पुरु के सम्मान का कारण उसकी कोई दिग्विजय नहीं है। इतिहास में केवल एक यही ऐसा और पुरुष है, जिसने पराजित होने पर भी विजय को पीछे हटने पर विवश कर दिया।

ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी में यूनान के सम्राट सिकन्दर ने सिंहासनारुढ़ होते ही विश्व-विजय करने का विचार बनाया। यद्यपि सिकन्दर के पास अपना देश था और उसके लिये आवश्यक न था कि वह किसी दूसरे देश पर आक्रमण करके उसे जीते, तथापि उसने अहंकार और लोभ के बशीभूत होकर विश्व-विजय को ठन ही ली।

यह दोष सिकन्दर का नहीं, बल्कि राजमद का था, जो सम्पूर्ण पृथ्वी को अधिकार में करने पर भी संतुष्ट नहीं होता और अकारण ही शान्ति-प्रिय स्त्रियों को सवान्न शुरू कर देता है। असन्तोष की परिणति अनीतिपूर्ण अत्याचार में होना स्वाभाविक है और अत्याचार का अर्थ है विनाश। विश्व-विजयी सिकन्दर इसी क्रम में बढ़कर एक दिन गड़ हुआ और निराश होकर इस संसार से किड़ा हुआ।

सिकन्दर ने अपने अभिमानपूर्ण अभियान के लिए यूनान से प्रस्थान किया। क्या उत्साह, नये सपने, महान-विजेता एक विशाल वाहिनी लेकर चला, तो देश के देश उसे आत्मसमर्पण करने लगे। बिना लड़े अपना थोड़ा लड़कर उसने यूनान से भारतीय सीमान्त तक के सारे देश आन की आन में जीत लिये।

न जाने पराजित देशों के निवासी किस मिट्टी के बने थे कि दुरमन से दो हाथ किये बिना ही अर्धीन बन गये। कर्तव्य तो उनका यह था कि जब उनके देश का एक एक बच्चा कट मर जाता, तब कहीं सिकन्दर की सेना उस शमशान से आगे बढ़ पाती, किन्तु क्या कहा जाय, उन विजितों की पानाक्षिक दुर्बलताओं को, जो वे भविष्य पर

विचार किये बिना विलास और आलस्य की भृत्यदायिनी गोद में पड़े पलते रहे।

बिना किसी प्रयास के अनायास ही देश पर देश जीत लेने से सिकन्दर के अहंकार का घट लबासब भर गया और उसे अपने विश्वविजेता होने का भ्रामक स्वप्न उज्ज्वल से उज्ज्वलतर दिखाई देने लगा। वह आँधी की तरह बढ़ता आया और भारतीय सरहद पर अपना पड़ाव डाल दिया।

अपने विजय अभियान के लिये यह महान यूनानी जितना लश्कर लेकर चला था, अब इस समय उसके पास उससे कहीं अधिक सेना हो गई थी। कारण स्पष्ट है कि जिन-जिन देशों को वह पराजित करता आया अथवा जिन-जिन देशों ने उसे आत्मसमर्पण किया उनकी सेनाओं तथा साधनों को भी सिकन्दर ने अपने लश्कर में शामिल कर लिया था। इस समय उसे अपनी शक्ति के अभिमान का भरपूर मग्न था।

भारतीय सीमांत के समीप आते-आते सिकन्दर को सिन्ध और झेलम के पानी से पैनी की गई तलवारों के जौहर का ज्ञान आने-जाने वालों से मिला था। किन्तु सिकन्दर ने इन सत्य समाचारों को लोकचर्चा से अधिक महत्व नहीं दिया। सिकन्दर बढ़ता रहा और भारतीय वीरता के समाचार भी। किन्तु जब उस देश-जयी को भारत की चोर गथायें दोस्त और दुरमन दोनों के मुँह से एक जैसी ही सुनने को मिलीं, तब उसके विजय-विश्वास में दरार पड़े बिना न रह सकी और उसे आक्रमण करने से पूर्व विचार करने पर मजबूर होना पड़ा।

सिकन्दर ने भारत की आंतरिक दशा का पता लगाने के लिए भेदिये भेजे, जिन्होंने आकर समाचार दिया कि इस में कोई संदेह नहीं कि वीरता भारतीयों की बपीती है, किन्तु उनकी सारी विशेषताओं को एक नागिन घेरे हुए है, जिसे 'फूट' कहते हैं। इसी फूट कपी नागिन के विष से भारतीयों की बुद्धि मूर्छित हो चुकी है, जिससे उनकी अनुशासनहीन शूरता और दम्भपूर्ण स्वाभिमान अभिशाप बन चुका है। यदि सिकन्दर भारत में प्रवेश चाहता है, तो उसे तलवार की अपेक्षा भारतीयों में फैली फूट की विष बेल से लाभ उठाना होगा।

सम्राट के पीछे हटते ही सिकन्दर की भेद-नीति आगे बढ़ी। उसने और भी गहराई से पता लगाया कि इस समय भारत किसी एक छत्र-सत्ता से अनुशासित नहीं है। अकेले पश्चिमोत्तर सीमान्त, सिन्ध और पंजाब में ही सैकड़ों छोटे-छोटे राज्य हैं, जो सदियों से आपस में लड़ते-लड़ते बर्बर हो चुके हैं। इन प्रदेशों के सारे राजे एक दूसरे के प्राणघात शत्रु बने हुए हैं और एक दूसरे को हर मूल्य पर नीचा दिखाने के लिए कोई भी उपाय एवं अवसर का उपयोग करने को उद्यत बैठे हैं। भारत के सिंहद्वार प्रहरी राजाओं के बीच शत्रुतापूर्ण अनैक्य के इन समाचारों ने सिकन्दर के साहस को फिर बढ़ावा दिया और उसने अपना काम शुरू कर दिया।

राजनीति के चतुर खिलाड़ी सिकन्दर ने शीघ्र ही उस तक्षक का पता लगा लिया, जो प्रोत्साहन पाकर भारत की स्वतन्त्रता पर फन मार सकता है और वह का तथा शिलाधीन दम्भी आम्भीक, जो अपने अकारण उपद्रव के कारण पुरुषपुर नरेश 'महाराज पौरुष' से बारम्बार हार कर विदेहविष से अन्धा बन चुका था।

आम्भीक पुरु से लड़ने फिर सेना तैयार करने में जुटा हुआ था, जिसके लिए वह ग्राहि-ग्राहि करती हुई प्रजा से बुरी तरह धन शोषण कर रहा था। सिकन्दर ने अवसर से लाभ उठाया और लगभग पचास लाख रुपये की भेंट के साथ सन्देश भेजा, यदि महाराज आम्भीक सिकन्दर की मित्रता स्वीकार करे तो वह उन्हें पुरु को जीतने में ही मदद नहीं देगा, बल्कि पूरे भारत में उसकी दुन्दुभी बरका देगा। सिकन्दर द्वारा भेजी हुई भेंट के साथ सम्मानपूर्ण सन्देश पाकर द्वेषान्ध आम्भीक के होश हर्ष से बेहोश हो गये और वह देश के साथ विश्वासघात करके सिकन्दर का स्वागत करने को तैयार हो गया। भारत के गौरवपूर्ण चन्द्र-बिम्ब में एक कलंक बिन्दु लग गया।

आम्भीक का निमंत्रण पाकर सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। किन्तु भारत का ध्वज केवल आम्भीक पर ही तो निर्भर न था। जहाँ आम्भीक जैसे देशद्रोही थे, वहाँ अनेक देशभक्त राजा भी थे। उन्होंने सिकन्दर का प्रतिरोध किया किन्तु अलग-अलग अकेले जिसके फलस्वरूप मिटते चले गये। जहाँ इन राजाओं में देश-भक्ति की भावनाएँ थीं, वहाँ एकता की बुद्धि का अभाव था। सिकन्दर के विरोधी होने पर भी वे अपने आपसी विरोध को न भुला सके। किसी एक राष्ट्र के कर्णधारों में परस्पर प्रेम रहने से ही कल्याण की सम्भावनाएँ सुरक्षित रहा करती हैं, फिर भी यदि उनमें किसी कारण से मनोमालिन्य रहेगा, तब भी किसी संक्रामक समय में उन्हें आपसी भेदभाव भिटाकर एक संगठित शक्ति से ही संकट का सामना करना आवश्यक होता है अन्यथा आका हुआ संकट अलग-अलग सबको नष्ट कर देता है। यही बात सिकन्दर के साथ लड़ाई में राजाओं के मध्य हुई।

इधर सिकन्दर विजयी हो रहा था और ठहर दुष्ट आम्भीक की दुरभिसन्धि से अनेक अन्य राजा देशद्रोही बनते जा रहे थे। काबुल का कोज्रबस, पुष्कलावती का संजय, शशिगुप्त तथा अश्वजित आदि अनेक अश्वमे राजा सिकन्दर की सहायता करते हुए उसकी विजयों में अपना भाग देखने लगे थे। जिसके फलस्वरूप पुरु को छोड़कर लगभग सारे राजा का तो हारकर गिट चुके थे अथवा देशद्रोह करके सिकन्दर के झण्डे के नीचे आ चुके थे।

अब भारत के प्रवेश द्वार पर, एकमात्र प्रहरी के रूप में केवल महाराज पुरु रह गये थे। अब प्रश्न यह उठता है कि महाराज पुरु बुद्धिमत्त देशभक्त होने पर भी अन्त तक वे सिकन्दरी युद्ध में तटस्थ रहकर लड़ाई क्यों देखते रहे। क्यों नहीं उन्होंने स्वयं ही नेतृत्व करके सारे राजाओं

को संगठित करके सिकन्दर का प्रतिरोध किया? महाराज पुरु ने प्रयत्न किया, किन्तु हीन राजमद के रोगी राजा पुरु की योजना में साधित न हुए। कुछ तो स्वार्थ के बशीभूत होकर सिकन्दर से मिल गये और कुछ ने पोरस का नेतृत्व स्वीकार करने की अपेक्षा सिकन्दर से मृथक ही लड़कर मर जाना अच्छा समझा, ताकि श्रेय पुरु को न मिलकर उन्हें ही मिले। मनुष्य की यह संकीर्ण स्वार्थपरता सामूहिक जीवन के लिए सदा ही विधातक रही है।

सिकन्दर कपिला से तक्षशिला तक के बीच की अनेक स्वतन्त्र शक्तियों की कँटीली झाड़ियों से लोह-तुलान होता हुआ तक्षशिला आ पहुँचा, जहाँ आम्भीक ने उसका बड़ा वितात स्वागत किया। अभी तक सिकन्दर कपिला के आस-पास ही रहा। अभिसार देश का राजा महाराज पुरु का मित्र बना रहा। पर क्यों ही सिकन्दर तक्षशिला पहुँचा, अभिसार नरेश को भीरुता का दौरा पड़ गया। कड़वा न होना, जब कोई पापी किसी मर्यादा की रेखा उल्लंघन कर उदाहरण बन जाता है, तब अनेकों को उसका उल्लंघन करने में अधिक संकोच नहीं रहता। तक्षशिला के राजा आम्भीक की देखा देखी अभिसार नरेश भी सिकन्दर से जा मिला जिससे पोरस को बिल्कुल अकेला रह जाना पड़ा।

अभिसार नरेश से पोरस के साहस-वीरता तथा गौरवपूर्ण देशभक्ति के विषय में जानकर सिकन्दर ने पुरु को इस आशय का सन्देश भेजा कि यदि वह सिकन्दर को किना विरोध के आगे बढ़ जाने दे तो वह उसे अपना मित्र मानकर सुरक्षित छोड़ देगा।

सिकन्दर का यह पेशी सन्देश स्वाभिमानी पुरु के लिए चुड़ की खुली चुनौती थी। उसने सिकन्दर की पंजाब में हेलम के किनारे ललकारा। बमासान युद्ध की सम्भावना से दोनों की सेनाएँ नदी के आर-पार डट गई। हेलम के पूर्वी किनारे पर महाराज पुरु की थोड़ी-सी सेना और उसके पश्चिमी तट पर देशद्रोही राजाओं की कुमुक के साथ सिकन्दर का टिढ़ी दल।

बरसात के दिन थे, हेलम बाढ़ पर थी, सिकन्दर का साहस नदी पार करने का न पड़ा। लगभग एक सप्ताह बाद एक दिन जबकि रात में धनपोर बर्बा हो रही थी और पुरु की सेना बराबर बढ़ी हुई थी हेलम से लगभग अठारह मील उत्तर में बढ़कर सिकन्दर की सेना ने नदी पार करके पुरु की सेना पर आक्रमण कर दिया। सिकन्दर के टिढ़ी दल ने मरुपि पुरु की थोड़ी-सी सेना पर थोड़े से आक्रमण किया था, तथापि पुरु के वीर सैनिकों की तलवारों ने उस अंधेरी में बिजली की तरह कौंध कर उसे पीछे हटा दिया।

इस आकस्मिक युद्ध में चार सौ सैनिकों के साथ पुरु का पुत्र मारा गया, किन्तु खेत पुरु के हाथ ही रहा। सिकन्दर ने पीछे हटकर फिर सेना बढ़ाई और इधर पुरु ने बेटे का शोक किये बिना ही खूद रचना कर दी। हाथियों

को आगे रखकर की गई व्यूह रचना के कारण महाराज पुरु की सीमित सेना भी सिकन्दर की सेना को अजेय एवं दुर्धर्ष दिखाई देने लगी। सिकन्दर के बार-बार प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देने से वह बड़ी और टक्कर होते ही भाग खड़ी हुई। यह क्षण निकट ही था कि महाराज पुरु की विजय हो कि तब तक एक भारी विस्फोट होने से पुरु की सेना के हाथी भड़क गये और वे अपने सैनिकों को ही कुचलते हुए पीछे की ओर भाग खड़े हुये। पुरु का अजेय व्यूह अपने ही साधनों से नष्ट हो गया। सारी सेना तितर बितर हो गई। अब क्या था? सिकन्दर ने अवसर से लाभ उठाया और संपूर्ण शक्ति के साथ पुरु की अस्त-ध्वस्त सेना पर धावा बोल दिया। शत्रु की ओर से असावधान, अपनी सेना की सहायता करते हुये पुरु शत्रुओं के तोरों से घायल होकर गिर पड़े।

अचेतनावस्था में गिरफ्तारी के बाद जब महाराज पुरु को होश आया, तब वे सिकन्दर के सामने थे। सिकन्दर ने हँसते हुए बड़े गर्व के साथ कहा— "योरस ! कतलाओ कि अब तुम्हारे साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय ?"

सिकन्दर को विश्वास था कि इस समय अमहाय होने से पुरु गिड़गिड़ाकर यही कहेगा कि अब तो मैं आपका बन्दी हूँ, चाहे जिस प्रकार का व्यवहार करिये और तब सिकन्दर उसे प्राणदान देकर आधार स्वरूप भारत-विजय करने में उसकी वीरता एवं रण-कुशलता का मनमाना उपयोग करेगा, किन्तु उसका उत्तर सुनकर वह विश्व-विजय का स्वप्नदर्शी ग्रीक आकाश से जमीन पर गिर पड़ा।

महाराज पुरु ने स्वाभिमानपूर्वक सिर ऊँचा करके उत्तर दिया— सिकन्दर, वह व्यवहार जो "एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है।"

सिकन्दर निर्भीक पुरु का यह वीरोचित उत्तर सुनकर इतना प्रसन्न एवं प्रभावित हुआ कि उठकर उसके गले से लग गया।

भारतीयों की वीरता और महाराज पुरु की विकट भार से सिकन्दर की सेना की हिम्मत हवा हो चुकी थी। सिकन्दर अच्छी तरह जानता था कि यदि अब वह आगे बढ़ने का आदेश देगा तो उसकी भयभीत सेना अवश्य विद्रोह कर देगी, इसलिए वह महाराज पुरु पर ऐहसान रखता हुआ चुपचाप भारतीय सीमाओं से बाहर चला गया।

अभागे आम्भीक जैसे अनेक देश-द्रोहियों के लाख कुत्सित प्रयत्नों के बावजूद भी एक अकेले देशभक्त पुरु ने भारतीय गौरव की लाज रखकर संसार को सिकन्दर से पद दलित होने से बचा लिया।

कहना न होगा कि जब तक पुरु जैसे वीर भारत भूमि पर पैदा होते रहेंगे इसकी गौरव-पताका युग-युग तक आकाश में फहराती रहेगी।

‘सोचो नहीं मोर्चा लो’ के आदर्श—

बैजहाफ

पूरा नाम जान एफ. बैजहाफ। अमेरिका के ३० वर्षीय एयर्ली के हाथ में अखबार का महत्व इसलिए था कि अमेरिकी राष्ट्रपति जान एफ. कैनेडी ने सर्जन जनरल को 'धूम्रपान का स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है?' इस विषय पर अपनी विस्तृत जीव रिपोर्ट देने को कहा था। वह रिपोर्ट उसमें प्रकाशित होने वाली थी। इस समाचार से अमेरिकी सिगरेट उद्योग पर प्रलय-सी गिरने वाली थी और अमेरिका चूँकि अत्यधिक सिगरेट पीने वाला देश है इसलिए यह प्रत्येक नागरिक से सम्बन्ध रखने वाली बात थी इसलिए इस अखबार की प्रतीक्षा ऐसे हो रही थी जैसे चुनाव के दिनों में अपनी पार्टी को जीत का समाचार सुनने को लोग अमुर होते हैं।

बैजहाफ ने पूरी रिपोर्ट पढ़ी तो सिर से पसीना छूट गया। स्वास्थ्य के लिए कितनी घातक सिगरेट और उसे लोग कितने प्रेम से गले लगाते हैं? वह मामूम बच्चे यदि हाथ पकड़कर पुँह में बोंड़ा धुआँ फूँक दिया जाये तो खाँसते-खाँसते आँखें लाल हो जायें, किस प्रकार बड़ों का अनुकरण करते हैं और छोटी अवस्था से ही बिच की पोटली शरीर से बाँध लेते हैं? यह बात बैजहाफ जितना अधिक सोचते उतना ही अधिक रिपोर्ट का अंश मस्तिष्क में क्रान्ति मचाने लगता—“१० सिगरेट से कम सिगरेट एक दिन में पीने वालों में मृत्यु दर न पीने वालों की अपेक्षा ४० प्रतिशत अधिक है। १० से १९ सिगरेट प्रतिदिन पीने वाले लोगों की मृत्यु दर ७० प्रतिशत और २० से ३९ सिगरेट पीने वालों लोगों की मृत्यु दर ९० प्रतिशत अधिक है। जो ४० से भी अधिक सिगरेट एक दिन में पीते हैं उसकी मृत्यु दर १२० प्रतिशत अधिक होती है।” यह प्रभावी अंश ही वह सब बता देने के लिए काफी था कि सिगरेट का धुँआ कितना विषैला होता है और उससे शरीर के जीवन-रत्न कितनी दुर्दशा के साथ मारे जाते हैं पर साधारण लोग जान कर भी, ऐसे उद्धरण पढ़कर भी अपनी आदत से लाचार कुछ कर नहीं पाते। अपना सत्यानाश तो वे करते ही हैं आने वाली संतानों के लिए विषैला वातावरण और दूषित आनुवंशिकता दे जाने का पाप भी करते हैं।

पढ़ना कोई हथियार नहीं है जो पाप दुष्प्रवृत्ति को जड़ को अपने आप काट दे, उसके लिए कुछ क्रान्ति और संघर्ष करना पड़ता है। पर उन लोगों को क्या कहें जो बढ़ती हुई दुरचरित्रता, दंग-फसाद, हत्या, लूट-पाट, दहेज की कुत्स और अन्धविश्वास की दुष्टता के समाचार तो पढ़ लेते हैं पर अर्द्ध-मृत जीव की तरह उनकी इतनी भी हिम्मत नहीं होती कि और अधिक नहीं तो अपने क्षेत्र में

ही उस दुष्प्रवृत्ति को मिटाने का प्रयत्न करें। संघर्ष और सत्याग्रह के इस अभाव के कारण ही आज संसार में बुराईयाँ पनप रही हैं। श्री बैजहाफ की याद आज इसलिए अधिक आ रही है और उसे आगे भी बहुत दिनों तक स्मरण रखकर लोग नैतिक क्रान्ति की प्रेरणा पावेंगे, क्योंकि उस अकेले व्यक्ति ने ही क्रान्ति का बिगुल बजाकर उतना कर दिखाया जितना कई साधन सम्पन्न व्यक्तियों के द्वारा भी हो सकना सम्भव न था।

बैजहाफ अभी युवक हैं खेलने-खाने की आयु में भला समाज सेवा की भी कोई बात सोचता है? लोग अपनी प्रतिष्ठा, अपना यश और अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति का सबसे अच्छा समय इसी अवस्था को मानते हैं। इसी अवस्था में लोग उद्योग करते हैं, व्यवसाय करते हैं, अच्छी आजीविका ढूँढते, गृहस्थी जमाते और बच्चे पैदा करते हैं। साधारण लोगों के सुख और सन्तोष की यह सकुचित स्थिति ही सामाजिक जीवन में कल्याणकारक प्रवृत्तियों को पनपने नहीं देती। बैजहाफ ने ऐसे ही समय पर नारा दिया और यह था कि बढ़ती हुई आयु और शक्ति का तकाजा यह नहीं कि हम अपने लिए कितना कर लेते हैं वरन् शान इसमें है कि हम सदाचार, सत्यवृत्ति और मानवता की रक्षा के लिए कितना त्याग और उत्सर्ग कर सकते हैं। उन्होंने यह सब सोचा ही नहीं किया भी जो आज के हर शिक्षित युवक के लिए आदर्श बन गया है और उन्हें यह सोचने की विवश करता है कि क्या हम जिन परिस्थितियों में रह रहे हैं उन्हें यों ही और विकृततर होने की स्वच्छन्दता प्रदान कर दो जगह अथवा सामाजिक जीवन में फैले हुये अनाचार, भ्रष्टाचार और दुष्प्रवृत्तियों को आगे बढ़कर साहसपूर्वक रोका और उनसे लड़ा जाये।

बैजहाफ ने मेसायूसेट्स इंस्टीट्यूट से टेक्नोलॉजी में डिग्री पाई थी। वे कोई अपढ़ नहीं थे। उन्होंने कोलम्बिया से वकालत पास की थी। अन्य युवकों की तरह उनकी भी महत्वाकांक्षाएँ थीं। सोशल हाइरेक्टर बनकर विश्व भ्रमण का सुनहरा स्वप्न उन्होंने भी देखा था पर जब घर में आग लगी तो विवेक यह कहता है कि सोना, हँसना, खेलना भूलकर सबसे पहले आग बुझाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए बुराईयों की आग उपेक्षा के ईंधन से भड़कती और उसकी लपटें सारे मानव समाज को झुलसाकर रख देती हैं।

उपरोक्त रिपोर्ट पढ़कर बैजहाफ ने अपनी महत्व-कांक्षाओं को कुछ दिन के लिये ताल पर ठठा कर रख देना ही उचित समझा। उन्होंने निर्णय किया सिगरेट विरोधी अभियान चलाये बिना उनकी हानियों से मानव-समाज को बचाया जाना सम्भव नहीं है। अमरीका जैसे षडयन्त्री देश में तो यह कार्य और भी कठिन था। वहाँ सिगरेट उद्योग बड़े बड़े पूँजीपतियों के हाथ में है। सिगरेट बनाने वाली कम्पनियाँ कोई २ अरब ५० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष केवल विज्ञापन और १ अरब ६० करोड़ रुपया र

ेडियो द्वारा विज्ञापन पर खर्च कर देती हैं इसी खर्च से उनकी आय का पत्र लगभग जा सकता है। उनकी आमदनी पर बका लगे और प्रतिवाद न हो ऐसा असम्भव है। श्री बैजहाफ ने इस बात को खूब अच्छी तरह सोच लिया था पर उसने किसी भी खतरे में आगे पाँव बढ़ाने की हिम्मत कर ही डाली। युवक ने आगे बढ़कर कहा—मनुष्यता के लिये स्वाभिमानपूर्वक मर जाना ऐसी १०० जिन्दगियों से अच्छा है जिसमें मनुष्य कीड़े-मकोड़ों की सी रोनी-रोटी वाला शिरनोदर परायण जीवन जीकर मर जाता है। वह अकेले ही 'सिगरेट छोड़ो' अभियान चलाने के लिये ठठ खड़े हुये।

स्नान-स्नान पर सभ्रओं और गोष्ठियों के द्वारा युवक लोगों को सिगरेट की बुराईयाँ बताना, उसे छोड़ने के लिए उत्साहित करना शुरू किया। उन्होंने वैज्ञानिकों और स्वास्थ्य विशेषज्ञों के सारे आँकड़े लोगों के सामने खोलने शुरू कर दिये। जब लोगों ने देखा कि सिगरेट के धुँये में निकोटीन जैसे विषैले पदार्थ हैं और उनसे स्वास्थ्य बुरी तरह चौपट होता है तो अनेक लोग सिगरेट पीना छोड़ने भी लगे।

बैजहाफ ने टेलीविजन अधिकारी को एक पत्र लिखकर आग्रह किया कि जितना समय सिगरेट कम्पनियों को विज्ञापन के लिए मिलता है उतना ही समय हमें भी मिलना चाहिए जिसमें हमें लोगों को भ्रमपान की बुराईयाँ समझाने का अवसर मिले। जो कुछ सोचा गया था हुआ उससे विचरीय। मनुष्य समाज की सेवा के रास्ते में यदि कोई सुनिश्चित उपहार है तो वह है परीक्षा उससे आज तक कोई बचा नहीं बाद में उसे सफलता मिली हो या असफलता पर संघर्षों में कड़ी परीक्षा का विधान अब तक कभी नहीं टला। बैजहाफ को टेलीविजन पर कुछ बोलने की स्वीकृति तो नहीं मिली हाँ जहाँ नौकरी करते थे वहाँ से उसे निष्कास अवश्य दिया गया क्योंकि वह जिस कम्पनी में काम करता था, उसके मालिक बड़ी-बड़ी सिगरेट कम्पनियों के स्वामी भी थे।

जो भी हो, होता रहे, बैजहाफ ने कहा—समाज सेवा के लिए त्याग और बलिदान का रास्ता अभाव और परिस्थितियों की कठिनाइयों में रुकेगा नहीं। फटे-चीथड़े और रूखी रोटी ही सही पर मेरा यह जीवन तो अब इस सामाजिक कोढ़ को छुड़ाने और भावी-व्रजा को बीमारी और रोगों से उबारने के प्रयत्न में ही बीतेगा।

इस बार उसने कई प्रभावशील व्यक्तियों को साथ लेकर एफ० सी० सी० को पत्र लिखा और अपने पक्ष में जोरदार दलीलें प्रस्तुत कीं। फलस्वरूप सिद्धान्त रूप से यह स्वीकृत कर लिया गया कि रेडियो कार्यक्रमों में उन्हें भी समय मिलेगा। वह पहली सफलता थी जिससे बैजहाफ का कर्मनिष्ठ हृदय उत्साह से भर गया।

पर प्रतिक्रियावादी बों ही पैदान छोड़ जाने वाले न थे । बुराइयों भीतर से कितनी ही कमजोर बर्षों न हों भीभत्स रूप बनाने का इन्द्रजाल बनाना उन्हें बहुत आता है इसीलिए प्रायः लोग बोहे में ही पकड़ा जाते हैं पर जो लोग राम लक्ष्मण को हरह निरहने पर तौर छोड़ना बन्द नहीं करते वह बल्दी ही पावकाल को काटकर मानपता को बससे मुक्त कर लेते हैं । २ जून, १९६० से उसने टेलिविजन से सिगरेट छोड़ो अभियान शुरू किया । प्रारम्भ में आंशिक सफलता दिखाई दी । बोहे लोगों ने सिगरेट छोड़ना शुरू कर दिया पर वही क्या कम था कि अन्ध प्रवाह रुका तो, रुका ही क्यों, कुछ कम भी हुआ ।

इससे सिगरेट कम्पनियों चिन्तित हो उठीं और उन्होंने एफ० सी० सी० को एक निर्णय पर पुनर्विचार के लिए लिखा । बेचारे बैजहाफ को कई बार मार डालने की भी धमकियाँ दी गयीं पर किन्हीं भी परिस्थितियों में उसने हिम्मत नहीं हारी । अमल कचहरी में पहुँचा । एक ओर अर्ध-विषम छोटा-सा बक्कील और दूसरी ओर ६ बड़ी सिगरेट कम्पनियों ६ बोइकास्टिंग स्टेशन और नेशनल एसोसिएशन ऑफ बाइकास्टिंग दुबैको इम्पीट्यूट जैसी शक्ति सम्पन्न प्रतिवादी । पर मस्य का बल, इसे इज्जर हाथियों के बराबर कहते हैं उसकी आवाज और ठठियों में वह प्राण और सत्य झलकता था, वह निस्वार्थता और समाज के प्रति दृढ़ फूटता था कि एफ० सी० सी० को भी अपने निर्णय को पुनः दृष्टि करनी पड़ी । बैजहाफ की इस शानदार विजय ने उन लोगों में भी हिम्मत भर दी जो भीतर से भूषण की बुराइयों से अनुभव करते पर नैतिक सहस्र के अभाव में समर्थन या सक्रिय सहयोग से कतराते रहते थे ।

अब उसने एक संस्था बनाकर काम शुरू कर दिया है । अब बहुत से प्रभावशाली लोग भी उसके सहयोगी हो गये हैं । न्यूयार्क में अपना बड़ा भारी कार्यालय खोलकर उसने विभिन्न 'सिगरेट छोड़ो अभियान' प्रारम्भ कर दिया है । उसी का परिणाम है कि युवकों में १० प्रतिशत और कम उम्र वाले बच्चों में २० प्रतिशत सिगरेट की खपत कम हो गई है । यह आंशिक सफलता भी कम भव्यपूर्ण नहीं पर अभी बैजहाफ उस दिन के लिये काम कर रहे हैं जब भरती में कोई भी प्राणी सिगरेट के धुँएँ से घुटेगा नहीं । उसके विपरीत प्रभाव से बचाने के लिए उनका अभियान अभी भी तेजी से चल रहा है ।

बैजहाफ जैसे युवक ही समाज को स्थायी नैतिकता प्रदान कर सकते हैं । वे जाने कब दिन कब मायेगा जब दूसरे देशों के पत्र लिखे युवक भी उठ खड़े होंगे और विश्व में फैली दुष्प्रवृत्तियों का अन्त करने के लिये जुट पड़ेंगे ।

अनीति से आजन्म लड़ने वाले-

दीक्षित जी

आगरा जिले के 'मई' गाँव में श्री गेंदलाल दीक्षित का जन्म हुआ । दो वर्ष की आयु में माता का स्वर्गवास

हो गया तो ताऊ ने उन्हें पाला-पोसा । फिर वे ननिहाल चले गये और किसी प्रकार हाईस्कूल पास कर मुफ्तीदे आम स्कूल अगला में अध्यापक हो गये ।

बों नौकरी के लिये गणित, भूगोल पढ़ाने का काम तो सभी अध्यापक करते हैं पर दीक्षित जी तो दूसरी ही मिट्टी के बने थे । उन्होंने देखा पढ़ जाने पर भी यदि कोई व्यक्ति रोटी ही कमजने तक सीमित रहा तो उसे 'पढ़ा गया' ही समझा जा सकता है । विद्या का वास्तविक उद्देश्य है यनुष्य का भावनाशील, उदात्त और व्यक्तित्वसम्पन्न होना । जिसमें पढ़-लिखकर भी वह गुण न आवे उसकी शिक्षा निरर्थक ही गई कह माना जाना चाहिए । छात्रों को पढ़ाते तो वे पर साथ ही उनमें उदात्त भावनार्थ भरने में भी कभी न रूखते थे । वे इन भावी नागरिकों को लौह पुरुष देखना चाहते थे इसलिए इनको आदर्शवादी बनने की प्रेरणा देते रहते थे ।

दीक्षित जी की यह बतविधियाँ स्कूल के अधिकारियों को पसन्द न आई । उन्हें नौकरी छोड़नी पड़ी । वे इटावा जिले के औरंगा कस्बे में गये और वहाँ डी० ए० बी० स्कूल की स्थापना की, जहाँ से वे भारत माता की केंद्रियाँ कटने वाले चोड़ा तैयार कर सके । जब पाठशाला ठीक प्रकार चलने लगी तो वे भारत की विभूतिला जनता को संगठित करने के लिए दौरा करने निकल पड़े ।

उत्तर प्रदेश का दौरा करके उन्होंने 'जगह-जगह' शिक्षाजी समिति की स्थापना की । इनमें नवयुवकों को व्याख्यान एवं सस्त्रकला सिखाई जाती थी और देश-भक्ति की भावनार्थ पूरी जाती थी । उनके दो साथी और भी हुए एक लक्ष्मणानन्द दूसरे रामप्रसाद 'विस्मिल' जो बाद में भारत में क्रांतिकारी नेतृत्व के लिए चिख्यात हुए । शिक्षाजी समितिपूर्ण उत्तर प्रदेश तक ही सीमित न रहकर पंजाब, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार, बंगाल आदि प्रांतों में भी फैल गई और उनके द्वारा स्वास्थ्य सम्बर्द्धन के अतिरिक्त भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की पृष्ठभूमि भी तैयार की जाने लगी ।

सरकार को उनके उद्देश्य का पता चल चुका था । अंग्रेज नहीं चाहते थे कि उनकी गुलामी का जुआ उतार फेंकने के लिए भारत में कोई प्रयत्न किसे जाय । वे वहाँ के नागरिकों को हर दृष्टि से दीन-हीन ही देखना चाहते थे ताकि उन्हें मनमानी रीति से अपने प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किया जा सके । जो लोग जनता में चेतना और संगठन के भाव फैलाते थे वे उनकी आँखों में छटकते थे । दीक्षित जी के दल के बारे में सरकार ने सोचा कि वह नवयुवकों का क्रांतिकारी दल उनके लिए कभी न कभी संकट ही उत्पन्न करेगा इसलिये उसे नष्ट-प्रष्ट हो कर देना चाहिए । बरन्त निकाले गये और लाहौर में एक ही दिन ६४ व्यक्ति पकड़ लिय गये और भी गिरफ्तारियाँ हुई पर दीक्षित जी बच निकले ।

अब वे पक्के क्रान्तिकारी बने और भारत में सशस्त्र क्रान्ति के लिए तैयारी करने में लग गये। उन दिनों गुजरात में हथियार रखने की छूट थी। वहाँ से अस्त्र लाकर अंग्रेजों द्वारा शासित क्षेत्रों में पहुँचाने का कार्य आरम्भ किया। बर्दिय किस्म के हथियार लेने वे जापान जाना चाहते थे पर सरकार की कड़ी निगरानी के कारण उन्हें बर्मा से ही वापस लौटना पड़ा।

दल के एक मुखबिर द्वारा भेद दे देने पर पुलिस के साथ उनके दल की मुठभेड़ हो गई, फलस्वरूप दीक्षित जी के तीन गोलीयाँ लगीं। सरकार द्वारा उन्हें पकड़कर रजालियर के किले में बन्दी बना लिया गया। अस्पताल में गोली निकाल लेने पर वे जब तो गये पर स्वास्थ्य बहुत गिर गया। पुलिस उन्हें मैनपुरी बड़यन्त्र केस के सिस्टमिले में एक जेल से दूसरी जेल में ले जा रही थी कि वे आँसू बचाकर भाग निकले और मुखबिर को भी साथ ले गये। सरकार ने उनको जीवित या मृत पकड़वाने के लिए तीन हजार रुपये इनाम रखा।

दीक्षित जी के हृदय में यह विचार सदा काम करता रहा कि बड़यन्त्र, सुक-छिप, शस्त्र प्रयोग, विद्रोह आदि अपराध समझे जाने वाले अनुचित काम उन्हें करने चाहिए या नहीं। निष्कर्ष के बाद वे इसी तरीजे पर पहुँचे कि अन्याय सहने में जितना पाप है, उतना उसके प्रतिरोध में हिंसा का अवलम्बन करने में नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता जैसे लोक-कल्याण का ऊँचा लक्ष्य लेकर निस्वार्थ भाव से यदि वे हिंसा अपनाते हैं तो वे कोई नैतिक अपराध नहीं करते, भले ही कानून का दृष्टिकोण उनके विचार से भिन्न ही क्यों न हो। किसी स्वतन्त्र देश के सैनिक यदि शत्रु का मुकाबला करने के लिये अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करते हैं या अपनी गतिविधियों को गुप्त रखते हैं तो उसमें पाप नहीं माना जाता। फिर अन्यायी सरकार के विरुद्ध उनका हथियार उठाना ही क्यों पाप होगा? संसार में राज्य-क्रान्तियाँ हुई थी शस्त्र बल पर ही—ऐसी दशा में उन्हें अपने क्रान्तिकारी कार्यक्रम में न अनीति दिखाई पड़ती थी और न परवाताप होता था। अहिंसा द्वारा प्रतिरोध को वे आदर्श तो मानते थे पर व्यावहारिक नहीं। इस दृष्टि से उनके दल ने हिंस्रत्मक मार्ग चुना था पर उनकी देशभक्ति अहिंसावादियों की अपेक्षा किसी प्रकार कम न थी।

स्वास्थ्य खोकर भी दीक्षित जी एक सच्चे स्वतन्त्रता सैनिक की तरह निरन्तर काम करते रहे। सुक-छिपकर काम करना और आर्थिक अभावों से पग-पग पर जूझना सचमुच बड़ा कठिन काम था। कठिनाइयाँ ही यीरता की कसौटी मानी जाती हैं। वे साहसपूर्वक हँसते हुए उनका सामना करने से कभी निराश या खिन्न न हुए पर शरीर तो आखिर शरीर ही है। सुधार का अवसर न मिले तो वह बिगड़ेगा ही। प्रकृति तो अच्छी है उसे देशभक्त या देशद्रोही की पहचान कहाँ? जो भी उसके नियमों में किसी भी

कारण से व्यतिक्रम करेगा वही आरोग्य खोने का दण्ड पावेगा। दीक्षित जी की विवशता ने उन्हें स्वास्थ्य सुधारने का अवसर न दिया और वे क्षय-ग्रस्त हो गये।

अन्त्यमृति की तरफ आश्रय पाने गये तो वहाँ पुलिस पहले ही मौजूद थी। घर वाले भी उन्हें उठराने को तैयार न हुए। हरिद्वार गये तो वहाँ की ठण्ड बर्दाश्त न हुई। दिल्ली लौटे और 'छोटे लाल' नाम लिखवाकर अस्पताल में भर्ती हो गये। पत्नी और भाई यह खबर पाकर उनका अन्तिम-दर्शन करने दिल्ली पहुँचे तो वे वहाँ पहुँचने से पूर्व २२ दिसम्बर, १९२० को महाप्रयाण कर चुके थे। उनकी जेब में उनके असली नाम धते की चिट निकली, पर पुलिस ने उस पर विश्वास न किया और मृत्यु के बीस वर्ष बाद तक उन्हें पकड़ने के लिए वारन्ट लिए फिरती रही।

अन्याय का प्रतिकार करने के लिए हिंसा का आश्रय लिया जाय या अहिंसा का, इसमें दो मत हो सकते हैं। भारतीय स्वतन्त्रता के इतिहास के ज्ञाता गाँधीजी के अहिंसात्मक आन्दोलन को उनकी सामयिक दूरदर्शिता पूर्ण नीति भी मानते हैं और कहते हैं कि यदि वे पूर्ण अहिंसक होते तो काश्मीर पर आक्रमणकारियों का सशस्त्र प्रतिरोध करने के लिए भारत सरकार को आशीर्वाद न देते। वैसे वे भी कान्यकुब्ज से हिंसा को और हिंसा से अहिंसा को ब्रेक मानते थे। इस दार्शनिक उल्लास में बिना पड़े भी दीक्षित जी को देशभक्ति की एक स्वर से सराहना करनी पड़ेगी। उन्होंने जिस त्याग, बलिदान का अपूर्व उपलब्ध किया, तिल-तिल कर अपने को मातृभूमि की सेवा में लगाया और जीवन के अन्तिम क्षण तक अपने महान लक्ष्य के लिए संघर्ष करते हुए एक सच्चे शहीद की तरह इस संसार से विदा हुये।

जो जीने को सच्चे जीते हैं और समय आने पर मरना भी सभी को पड़ता है पर जिनका जीवन अन्याय के प्रतिकार एवं न्याय की स्थापना में संघर्ष करने के लिये लग सका वस्तुतः उन्हीं की मृत्यु को सराहनीय कहा जा सकता है।

राष्ट्र निर्माता—

बैंजामिन फ्रेंकलिन

आज जिन्हें अमेरिका का राष्ट्र-निर्माता कहकर याद किया जाता है, उन बैंजामिन फ्रेंकलिन ने जीवन में जिन कठिनाइयों को पार किया, उनमें यदि कोई कच्ची लगन और कमजोर मनोभूमि वाला व्यक्ति होता तो राष्ट्रहित के बड़े-बड़े काम कर सकना तो दूर वह अपना साधारण जीवन भी सुरक्षित न रख पाता लेकिन बैंजामिन फ्रेंकलिन हर परिस्थिति में दृढ़ बन रहे। उन्होंने निराशा, निरुत्साह

१.४० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

अथवा उद्विग्नता को अपने पास न आने दिया और सहसपूर्वक हर कठिनाई का सामना करते हुये आगे बढ़ते रहे और अन्त में एक सफल व्यक्ति बनकर मानसम्मान के साथ इस संसार से गये ।

बैंजामिन फ्रैंकलिन सर्वथा आत्मनिर्भर व्यक्ति थे। उनके विकास में किसी दूसरे व्यक्ति का जरा भी आभार नहीं था । यहाँ तक कि माता-पिता भी उनके लिए कुछ न कर सके थे । वे बेघारे कुछ कर भी कहाँ से सकते थे । पिता योमबस्ती और साबुन बनाने का मामूली काम करते थे । उसमें इतनी आय न हो पाती थी, जिससे सत्रह बच्चों का भरण-पोषण ठीक से हो सकता । किसी को भरपेट रोटी भी न मिल पाती थी- शिक्षा और विकास साधनों की बात तो कल्पना से परे की वस्तु थी । पेट भरने के लिये बैंजामिन फ्रैंकलिन को दस वर्ष की आयु में ही अपने पर निर्भर होना पड़ा था ।

जिस समय रोटी की तलाश में वे घर से फिलाडेल्फिया की ओर चले तो शरीर पर पूरे कपड़े भी न थे और जो वे वे फटे और पुराने थे । पास में सिर्फ तीन आने पैसे थे । यह पैसे भी उन्हें घर से नहीं मिले थे । वह उस कमाई की बचत थी, जो उन्होंने बहुत दिन तक लुहारों, ठेकेरों, मोचियों, भट्टियारों और रंगरेजों की दुकानों पर परिश्रमपूर्वक की थी । वे जो कुछ कमाते थे परिवार पोषण के लिए पितृ को दे देते थे । किन्तु जब उन्हें घर पर रहकर उन्नति की सम्भावना न दीखी तो वे फिलाडेल्फिया की ओर चल दिये ।

निरन्तर पैदल यात्रा करके जब वे अपने गन्तव्य पर पहुँचे तो, भूख के मारे हम निकला जा रहा था । निदान उनको पास के पैसों से रोटी खरीद लेनी पड़ी, जिनको वे कई दिन तक बचावे रखा चाहते थे । कहीं आराम से बैठकर खाने की फुरसत तो थी ही नहीं, तुरन्त ही कहीं जाकर काम खोजना था । अस्तु, खरीदी हुई तीन रोटियों में से दो तो बगल में दबा लीं और एक को खाते हुए चलते रहे । बालक बैंजामिन की यह दशा देखकर राहगीर हँसते थे स्त्रो हँसते थे, एक सुन्दर-सी लड़की यह कहकर- कितना फूहड़ और गँवार लड़का है- इतनी हँसी कि खुद एक तमाशा बन गई । पर आत्म-विभोर बैंजामिन पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा । वह ज्यों का त्यों अपना काम करता चलता रहा । लेकिन बाद में जब बैंजामिन ने सफलताओं को जीत लिया, तब इसी लड़की ने उनसे विवाह का प्रस्ताव किया था और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया था ।

खोजते खोजते बैंजामिन को एक प्रेस में काम मिला । उन्होंने उसमें इस लगन और परिश्रम से काम किया कि न केवल उसमें उन्नति ही पाई बल्कि इस योग्य हो गये कि खुद प्रेस चला सके । इसी प्रेस में उन्होंने पढ़ना और लिखना भी सीखा था । कुछ समय तक काम करके और पैसा बचाकर उन्होंने एक अखबार निकाला ।

अखबार चला लेने के बाद पुस्तकें छापीं और एक शिक्षा संस्था स्थापित की । उसी शिक्षा संस्था में उन्होंने एक संगीत की कक्षा भी चलवायी और स्वयं भी संगीत सीखा, इस प्रकार वे परिश्रमपूर्वक अपना जीवन प्रगति-पथ पर चला ले चले ।

बैंजामिन फ्रैंकलिन को पढ़ने का बड़ा शौक था । लेकिन उन दिनों अमेरिका में पुस्तकालयों और वाचनालयों का रिवाज नहीं था । पुस्तकें भी कम छपती थीं और मँहंगी भी थीं । बैंजामिन को यह कमी खूब खटकी और उन्होंने इसका उपाय निकाला । वे खोज-खोजकर ऐसे लोगों से मिले जिनके पास पुस्तकें थीं । उन्हें पुस्तकालयों का महत्व समझाया और इस बात पर राजी कर लिया कि सब लोग एक स्थान पर अपनी पुस्तकें जमा कर लें और फिर वहाँ से पढ़ने के लिए ले जायें अथवा उसी स्थान पर बैठकर पढ़ें । लोगों ने वैसा ही किया और इस प्रकार पुस्तकालयों एवं वाचनालयों का रिवाज चल पड़ा । आगे चलकर इसी क्रम में उन्होंने बड़ी-बड़ी अध्ययन गोष्ठियाँ बनाई और विद्वानों और अध्ययनशील व्यक्तियों की एक संस्था स्थापित की, जिसका नाम 'जन्टो' रखा । उनके इन प्रयत्नों ने नागरिक विकास में बहुत योगदान दिया ।

सेवा और सत्कर्मों का परिणाम आत्म-शांति के साथ-साथ सामाजिक सम्मान भी होता है । बैंजामिन फ्रैंकलिन को सम्मान मिलने पर उन्होंने इसका उपयोग भी अन्य विकास कार्यों में भी किया । उन्होंने बहुत से लोगों को साथ लेकर एक 'चुनिचन फायर कम्पनी' और एक 'फायर इन्वोरेन्स कम्पनी' की स्थापना की, जिससे फिलाडेल्फिया के नागरिकों की महत्वपूर्ण सेवाएँ हुईं । इसके अतिरिक्त उन्होंने सरकार और नगरवासियों को एकमत करके नगर की सारी सड़कें और गलियाँ पक्की करा दीं । प्रकाश और छाँटों की व्यवस्था कराई । इस प्रकार उनके प्रयत्नों द्वारा फिलाडेल्फिया का यह पुराना नगर नया होकर चमक उठा ।

सरकार ने बैंजामिन फ्रैंकलिन की प्रतिभा पहचानी और उन्हें नगर का डाक विभाग सौंप दिया । उन्होंने अपनी प्रतिभा एवं योग्यता का उपयोग डाक व्यवस्था का विकास करने में किया, जिसके उपलक्ष्य में वे उस समय अमेरिकी उपनिवेश के पोस्ट-मास्टर जनरल बना दिये गये । इन सेवाओं के साथ-साथ उन्होंने शिक्षा की उन्नति के लिए काम किया, जिसके फलस्वरूप आगे चलकर वहाँ का हाईस्कूल एक विशाल विश्वविद्यालय बन गया, जो आज 'पेंसिलवेनिया यूनीवर्सिटी' के नाम से प्रसिद्ध है ।

उन्हीं दिनों जब बैंजामिन फ्रैंकलिन जन सेवा द्वारा उन्नति के सोपानों पर चढ़ते जा रहे थे, इंग्लैण्ड और अमेरिकी जनता में मतभेद हो गया और अमेरिका, ब्रिटिश साम्राज्य से निकल कर स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में विकास करने के लिए इच्छुक हो उठा । बैंजामिन फ्रैंकलिन युद्ध

की सम्भावना से बेचैन हो उठे । उन्होंने सारे काम छोड़ दिये और शांति समझौते के लिए अमेरिकी जनता की ओर से उसके प्रतिनिधि बनकर इंग्लैण्ड चले गये । वहाँ वे कई वर्षों तक ब्रिटिश शासकों को शांति स्थापना के लिए, अमेरिका को सुविधाये देने के लिये प्रेरित करते रहे । किन्तु शासकों की हठधर्मी ने कोई काम बनने न दिया और आखिर में युद्ध की ज्वाला भड़क ही उठी ।

श्री बेंजामिन फ्रैंकलिन ने अपना कर्तव्य समझा और देश के स्वाधीनता संग्राम में प्राणपण से जुट गये । उन्होंने अमेरिकी राष्ट्र को संगठित किया । अमेरिकी कांग्रेस में पड़ती फूट को रोका और स्वाधीनता के ज़ब्त दास प्रथा के अन्त कर देने के लिए जोर डाला । यद्यपि अब तक बेंजामिन फ्रैंकलिन बहुत बूढ़े हो गये थे तथापि उनकी उपयोगिता एवं कार्यक्षमता कम न हुई थी । उन्हें अमेरिका की जल एवं धूल सेना का अध्यक्ष बनाया गया । इस पर उन्होंने जिस योग्यता से काम किया उसके लिए वे आज भी संसार के श्रेष्ठ सेना-संचालकों में माने जाते हैं । किन्तु जब उनके शरीर ने पूरी तरह जकड़ दे दिया तो वे सारा कार्यों से अवकाश लेकर अपनी पुत्री के पास चले आये और उसी के पास १७ अप्रैल, १७९० को यश, सम्मान और पुण्य-परमार्थ के साथ अमेरिका के राष्ट्र-निर्माता का नाम पाकर शांतिपूर्वक स्वर्ग सिंघार गये ।

श्री बेंजामिन फ्रैंकलिन का जीवन पुरुषार्थ, सगन और अध्यवसाय की गाथा है, जिसके बल पर वे सुधारों, उठेरों, भट्टियारों, मोर्चियों और रंगरेजों को सेवा करने से उठकर एक महान् राष्ट्र-निर्माता बन सके ।

अदम्य साहस के प्रतीक—

मेजर शैतानसिंह

२० अक्टूबर, १९६२ में भारत-चीन सीमा संघर्ष शुरू हुआ था । १८ नवम्बर को चीनियों ने अपने सुसज्जित हथियारों के साथ चुशुल क्षेत्र में भीषण आक्रमण किया । मेजर शैतानसिंह कुमारू रेजिमेण्ट की एक फौजी टुकड़ी के साथ रैगला जैकी पर दुश्मनों का मुकाबला करने के लिए नियुक्त हुए । इस यकायक आक्रमण के कारण इस छोटी टुकड़ी का सम्बन्ध भी रेजिमेण्ट से भंग हो गया । १७००० फीट की इस ऊँची-नीची और बर्फोली पहाड़ी पर न तो आवागमन का ही उपयुक्त साधन था और न आत्मरक्षा के लिए कोई समुचित सुव्यवस्था ही हो पाई थी । रसद भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान न थी । बस पता था कि भाईचारे का सम्बन्ध रखने वाला चीन इस तरह बर्बरता और असुरता का व्यवहार हमारे साथ करेगा ?

आक्रमणकारी ने तोपों, टैंकों, मोर्टारों और अपने विभिन्न हथियारों द्वारा १८ अक्टूबर के प्रातः से ही गोलाबारी आरम्भ कर दी । अपनी छोटी-सी टुकड़ी लेकर शैतानसिंह मातृभूमि की रक्षार्थ शत्रु के सामने जा डटे । दो-दो प्लाटूनों का संचालन वे स्वयं कर रहे थे । उधर

शत्रु के भीषण आक्रमण और इधर प्रकृति की विपरीतता । भीषण सर्दी, बर्फ की वर्षा, जहाँ रक्त भी जम रहा था । सबका एक साथ सामना करना हँसी खेल की बात न थी फिर भी जहाँ हिम्मत हो, साहस हो और अदम्य उत्साह हो वहाँ साधन के अभाव में भी बहुत कुछ किया जा सकता है — यह मेजर शैतानसिंह के इस कारनामे में सहज ही देखा जा सकता है । साधन स्वल्प थे तो भी साथी सैनिकों में वे प्राण फूँक रहे थे । इनकी इस तरह की निर्भीकता सेना में बल का संचार कर रही थी । यही तो कारण था कि इतने अल्प सैनिक उस भारी भरकम चीनी सेना के छके झुड़ा रहे थे और शत्रु दल आगे बढ़ने में असमर्थ हो रहे थे ।

काफ़ी समय तक जमकर मोर्चा चलता रहा परन्तु अन्त में भारतीय सैनिक लाचार हो उठे । इधर मात्र बन्दूकें और उधर से तोपों की बौछारें, आखिर कितनी देर तक मुट्ठी भर सैनिक अपने प्राणों पर खेलते ? शैतानसिंह का सारा शरीर गोसियों की बौछारों से छिदकर जर्जर हो गया । सीने, बाँहों और सिर में केतरह घाव हो गये । हथियार चलाना भी अब कठिन था । ऐसी स्थिति देखकर सैनिकों ने अपने सरदार को भाग निकलने और अपने प्राण बचा लेने की सलाह दी । बड़ी ही विषम परिस्थिति सामने आ पड़ी ।

मेजर शैतानसिंह ने दो क्षण रुककर थोड़ा विचार किया यद्यपि वे पूरे स्वतन्त्र थे जब चाहे वहाँ से भाग निकलते । परन्तु उन्होंने सोचा, यह पार्थिव शरीर आज नहीं तो कल समाप्त होने ही वाला है अन्यत्र घुट-घुट कर मर जाने का अपेक्षा मातृभूमि की रक्षार्थ अपने प्राण दे देना कहीं श्रेयस्कर है । जिस भूमि का अन्न-जल ग्रहण करके वह शरीर पालित-पोषित हुआ, उसी हेतु अर्पण कर देने का इससे बढ़कर सुअवसर और कब आ सकता है ? मातृभूमि के बलिदानों राज और अन्य बलिदानियों की याद आते ही इस यजपूत में बिजली की लहर-सी दौड़ गई । सोचा पर वह अन्त तक काल-कराल की तरह खड़ा रहा और शत्रुओं को नाकों घने घनघात रहा । उसकी इस भयंकरता को देखकर चीनियों की हिम्मत आगे बढ़ने की नहीं हो रही थी । इधर के सैनिक भी पूरी हिम्मत बौधकर अन्त तक डटे रहे । परन्तु मशीनगनों का मुकाबला मात्र बन्दूकों से कब तक किया जा सकता है ? अन्त में वह वीर सैनिकी जुरी तरह आहत होकर रणक्षेत्र में गिर पड़ा । सेना के नौजवान उसे लेकर अन्यत्र भाग जाना चाहते थे परन्तु प्राण रहते वहाँ से हटने से इन्कार कर दिया । वह वीर सरकत हुआ एक चट्टान तक जा पहुँचा और मातृभूमि को प्रणाम करते हुए अन्तिम साँस ले ली ।

कुछ देर बाद चीनी सैनिक वहाँ पहुँचे परन्तु बहुत खोजने के पश्चात् भी वे शैतानसिंह को वहाँ पा न सके । प्रकृति ने शैतान सिंह के पवित्र शरीर को चीनियों के हाथ न लगने दिया और उस वीर के शव को बर्फ ने चार पास

तक अपने अंचल में ज़िंदा रहा। लेकिन फरवरी, १९६३ में भारतीय सेना ने अपने इस बहादुर सेनानी, भारत माँ के सच्चे सपूत के शव को बर्फ से खोज निकाला।

१७ फरवरी, १९६३ को एक विशेष विमान द्वारा 'पार्थिव शरीर' जोधपुर लाया गया। समाचार पाते ही जनता की भीड़ हवाई अड्डे पर एकत्र होने लगी। दूर-दूर तक लोगों की अपार भीड़ इस सेनानायक के अन्तिम दर्शनार्थ टूट पड़ी। मातृभूमि के प्रति इस प्रकार अपने को उत्सर्ग कर देने वाले पर, सबसे एक अमूल्य अर्पण भरी दिखाई दे रही थी। उनका शरीर तो वरिष्ठ आज निष्कल था फिर भी सम्मान बतना पा रहा था। जिन्दा जीवित रहने पर भी जनता के सम्मुख आज परमवीर सैतानसिंह नहीं था, था तो उसका केवल पार्थिव शरीर, पर जोधपुर की जनता आज उसे मृत नहीं मान रही थी। वही तो कारण था जब प्रतिक्षण आकाश में यही ध्वनि प्रतिध्वनित हो रही थी, "सैतानसिंह जिन्दाबाद! सैतानसिंह जिन्दाबाद।।

मेजर सैतानसिंह का जन्म १९२४ में जोधपुर जिले के वाणासर गाँव में ले० कर्नल हेमसिंह भट्टी के यहाँ हुआ था। हेमसिंह १९१६ में फ्रांस में प्रथम विश्व युद्ध के समय आहत हुए थे। सैतानसिंह ने हाईस्कूल परीक्षा जोधपुर के बीपसनी हाईस्कूल से और बी० ए० परीक्षा बराबत कालेज से पास की थी। आगे अधिक शिक्षा की व्यवस्था न बन पड़ने के कारण जोधपुर राज्य की अम्बारोही सेना में भर्ती हो गये। रिवासली सेना के भारतीय सेना में विलय होने के पश्चात् वे कोटा की डम्फेड इन्फैन्ट्री में लेफ्टिनेन्ट रहे। इसके पश्चात् उनकी नियुक्ति कुमायूँ रेजिमेन्ट में हो गई। जिसमें उन्होंने जीवनपर्यन्त सेवा की। मेजर सैतानसिंह उन पहले अधिकारियों में से थे, जो सैनिक गुप्तचर अधिकारी के रूप में गोवा भेजे गए थे।

राष्ट्र की जनता ने उस महान वीर के साहस, शौर्य और अदम्य उत्साह की भूरि-भूरि प्रशंसा की। मरणोपरान्त भारत सरकार ने उन्हें परमवीर चक्र की उपाधि से विभूषित किया। मेजर सैतानसिंह आज हमारे बीच नहीं रहे, परन्तु राष्ट्र के प्रति उनकी कर्तव्यपरायणता, त्याग और आत्मोत्सर्ग की भावना युग-युग तक नवयुवकों और भारतीय सैनिकों को प्रेरणा प्रदान करती रहेगी। भारत को आज ऐसे ही सपूतों एवं वीर जवानों की आवश्यकता है।

क्रान्ति के सन्देशवाहक—

नाजिम हिकमत

तुर्की के अमर कवि नाजिम हिकमत का बचपन बड़े सुख और आराम से बीता था क्योंकि उनका जन्म ही धनी परिवार में हुआ था। बड़े होने पर जब उन्होंने अपने देशवासियों को अभ्यग्रस्त देखा, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि उन्हें अपने तथा देश की सामान्य जनता के

जीवन स्तर में जमीन-असमान का अन्तर लग रहा था। अब तो उन्हें अपने जीवन पर स्तानि होने लगी। वह सोचने लगे कि देश का नागरिक होने के नाते मुझे भी उतनी सुविधाएँ प्राप्त करने का अधिकार है जितनी कि एक सामान्य नागरिक को।

अब उन्होंने स्वेच्छा से निर्धनता का जीवन स्वीकार कर लिया और देश की निर्धन जनता का ही एक अंग बन गये। १९२०-२२ में तुर्की की दशभक्त जनता ने अत्याचारी शासकों तथा उनके विदेशी साम्राज्यवादी साधियों के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की। स्वतन्त्रता संग्राम में सैकड़ों राष्ट्रप्रेमी सम्मिलित होकर अपने जीवन का मोड़ त्याग मृत्यु को अग्रिमंन करने के लिए बड़े जा रहे थे। ऐसे समय में नाजिम हिकमत पीछे कैसे रह सकते थे? वह सारा घरबार छोड़ देश को स्वतन्त्र कराने वाले क्रांतिकारियों की टोली में सम्मिलित हो गये।

कुछ दिनों बाद नाजिम हिकमत रुस चले गये। वहाँ रुसी साहित्य का अध्ययन किया तो उनके साहित्यिक जीवन में नया मोड़ आया और उन्होंने नई तुर्की कविता को जन्म दिया। तुर्की की पुरानी, दरबारी और निजी कविताओं को छोड़कर ऐसी कविता लिखी जिसने जनमानस में क्रान्ति की आग फैक दी। पुराने छन्दों का बन्धन तोड़कर कविता के लिये ऐसे छन्दों को माध्यम बनाया जिनके द्वारा विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त किया जा सके। जन-जन के दुःख-सुख को अपना दुःख-सुख मानने के कारण ही कवि भूतल का सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहलाता है। कविता को जनता की निकटतम तक लाने के लिए यह आवश्यक होता है कि वह ऐसी भाषा में लिखी गई हो जिसे देश का हर व्यक्ति समझता हो और बोझता हो। नाजिम हिकमत ने वही किया।

नाजिम को अपनी मातृभूमि से दूर रहना असह्य था, क्योंकि जिस समय तुर्की के नागरिक देश को स्वतन्त्र कराने के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार थे उस समय नाजिम अपने को रुसी साहित्यकारों के बीच घेरे भी कैसे रह सकते थे? वह स्वदेश लौटे तो जनता ने पलक पलक विस्मय उसका स्वागत किया। काव्य के द्वारा देश में क्रान्तिकारी भावना जाग उठी। सरकार को आँखों में तो वह क्रांति की तरह खटकने लगे थे। वह नाजिम की लोकप्रियता सहन न कर सकी और स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने के कारण तीन वर्ष की सजा सुना दी गई।

कैद से छूटने के बाद नाजिम चुप नहीं बैठे। शासन के जुल्म और दमन-चक्र के विरोध में उनकी आवाज और तेज हो गई। उनकी कविताओं ने देशवासियों के दिल में स्थान पा लिया था। देश के किसान, मजदूर और कर्मचारीयों तक ही उनकी कविताएँ सीमित न रहों बरन् जब पुलिस और सेना के त्तेनों ने भी उन कविताओं को पढ़ना शुरू किया तो सरकार चौंकी। अब सरकार के सामने केवल वही एक तरीका रह गया था कि वह

नाजिम की चाणी और लेखनी पर पाबन्दी लगा दे। इसके लिए अच्छे बुरे अनेक उपाय सुझाये गये। अन्त में सरकार द्वारा यह अभियोग लगाया गया कि उनकी कवितायें सिपाहियों और सैनिकों के पास पाई गई हैं, जिनमें समाजवाद के प्रचार की भावना भी हुई है। एक विशेष न्यायालय में मुकदमा चला और अठ्ठाईस वर्ष के कारावास की सजा सुना दी गई। जहाँ क्रूर ज़ासन न्यायतंत्रों पर जोर देकर अपने पक्ष में निर्णय की पहल करता हो वहाँ इस तरह का निर्णय सुनकर जनता को अक्षुब्ध नहीं हुआ। क्योंकि यह गनीमत रही कि उन्हें मृत्यु के घाट नहीं उतारा।

अभियोग भी उन कविताओं के आधार पर लगाया गया था जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पहले ही छप चुकी थीं। न्यायालय द्वारा जो १८ वर्ष का दण्ड दिया गया वह वहाँ के कानून के अनुसार अवैधानिक था, क्योंकि इतनी सजा तुर्की में गैर कानूनी थी। अतः उस निर्णय को कानून का आवरण पहनाने के लिये एक नया कानून बनाया। जनता इसके खिलाफ आवाज उठाती रही पर हिंसा पर उतारू सरकार ने किसी को न सुनी।

नाजिम को अन्य कैदियों से अलग रखा गया क्योंकि सरकार को यह डर था कि यह कैदी अन्य कैदियों को भी क्रांति के लिये न भड़का दे? उन्हें एकान्त में रखा गया। पत्र व्यवहार तथा मिलने-जुलने पर पाबन्दी लगी दी गई। इस बात की बराबर कोशिश की गई कि नाजिम का सम्बन्ध देशवासियों से बिल्कुल टूट जाये। इतना ही नहीं घरनू नामा प्रकार की कठोर बातकार्यें दी गईं। पर नाजिम ने हिम्मत न हारी। आशा की किरणें उसे अन्धेरी कोठरी में भी प्रकाश पहुँचाती रहीं। उन्होंने अपने आत्म-विवेकास को घटने न दिया। अब दुश्मनों से लड़ने के लिए कविता ही एक मात्र रास्ता था जिसका प्रयोग वह चुक-छिपकर करते रहते थे। कवितायें लिख-लिख कर जेल से बाहर भेजी जाती रहीं। वे कविताएँ समाचार-पत्र और पत्रिकाओं में दूसरे नामों से छपती रहीं। उन्हें अपना नाम प्यारा न था वह तो काम में आस्था रखने वाले पुरुषार्थ के धनी थे, जिसे लोकेक्षण झूठक न गई थी, पर देश के सारे पाठक-पाठिकाएँ कविता में दूसरे का नम्र होने पर भी यह समझते थे कि कवितायें उनके प्रिय कवि नाजिम की हैं।

कालकोठरी में बैठकर क्रांति और वसिदान का सन्देश देने वाले नाजिम को अब बारह वर्ष जीत गये थे। एक-एक दिन उन्होंने एक एक युग के समान निकाला था पर न निराश न हुये और न घबराये। स्वास्थ्य गिरने लगा, शरीर क्षीण हो गया। न भोजन ऐसा था जिससे शरीर चस सके और न सदी से बचने के लिए कपड़े। दिल की भयंकर बीमारी ने उस साहस की परीक्षा लेनी चाही। टाँगों में इतना दर्द बढ़ा कि उन पर कलत्र फिरना कठिन हो गया। फिर भी वह मंगलमय भविष्य की कामना करके जीते ही रहे।

एकान्त कारावास की इतनी अवधि, जिसमें सिवाय कृतनाओं के और कुछ मिला नहीं, ऐसी परिस्थितियों में और कोई होता तो आत्महत्या के लिए उतारू हो जाता या किसी पागलखाने की शरण लेने के लिए विवश किया जाता। पर वह तो देशवासियों के उन सुनहरे स्वप्नों के साथ अपने को जोड़े हुए थे कि एक दिन त्याग और वसिदान के परिणामस्वरूप देश को स्वतन्त्रता मिलेगी। वह स्वयं तो जीवित रहा ही साथ ही अन्य कैदियों तथा ऐसे देशपकों, जिन पर दमन चक्र चल रहा था, स्वाभिमान से जीवित रहने का अपनी कविताओं में अभूतपूर्व प्रेरकदायक सन्देश दिया।

अब नाजिम का स्वास्थ्य और खराब हो गया। बचने की आशा न रही। जेल अधिकारियों की उपेक्षा बढ़ती गई तो उन्होंने भूख हड़ताल कर दी। यह समाचार संसार में बिजली की तरह फैला। स्थान-स्थान पर सहानुभूति में सभाएँ की गईं और नाजिम को रिहाई की आवाज उठाई गई। करोड़ों व्यक्तियों की बुलन्द आवाज का अनुकूल प्रभाव पड़ा और तुर्की सरकार ने नाजिम को छोड़ दिया। फिर सरकार को उनसे अत्यधिक भय था अतः पूर्ण स्वतन्त्रता न दी गई। उसकी चाणी पूरे देश की चाणी थी जिसे सरकार सदैव के लिए बन्द कर देना चाहती थी।

अखिर ११ वर्षों के नाजिम ३ जून, १९६३ को सुहरम के दिन अपने देश से दूर मास्को में इस संसार से बिदा हो गये। वह दिन मुस्लिम जगत के लिये ही नहीं घरनू समस्त विश्व के लिये शोक का दिन था क्योंकि इस दिन विश्व के महान कवि ने सबको जगाकर चिरनिद्रा प्राप्त की थी।

अमर हुतात्मा—

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी

देश की स्वाधीनता में बाधक बने साम्प्रदायिक विष को पीकर वसिदान हो जाने वाले गणेशशंकर विद्यार्थी का जन्म आश्विन शुक्ला १५ सम्बत् १९४७ (सन् १८९०) को प्रयाग के अतरसुइया थोहल्ले में हुआ। उनका परिवार मध्यवर्गीय परिवारों में भी एक साधारण परिवार था। उनके पिता भुन्नी जयनारायण ग्वालियर रियासत में भुंगावसी कस्बे के एक मिडिल स्कूल में सहायक अध्यापक थे।

विद्यार्थी जी के पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, किन्तु वे बड़े ही पितृव्यपी, सदाचारी और सादे स्वभाव के थे। सन्तोष की उन्होंने जीवन की सुख-शान्ति का मूल-मन्त्र बनाया हुआ था। अपने इन्हीं गुणों के कारण वे अपनी सन्तानों पर इतने पवित्र संस्कार डाल सके कि आगे चलकर उनके आदर्श पुत्र गणेशशंकर केवल कुटुम्ब का ही नहीं, प्रत्युत देश का मस्तक ऊँचा करके गांधीजी जैसे महान मनस्वी की प्रशंसा एवं प्रेम के पात्र बनकर दिखाता सके।

मुंशी जयनारायण अपनी कठिन आर्थिक परिस्थितियों के कारण अपने होनहार पुत्र गणेशशंकर को कुछ अधिक शिक्षा न दिला सके। वे उसे केवल अँग्रेजी भिड़िल तक की शिक्षा दिलाने के बाद यह आशा करने लगे कि गणेशशंकर नौकरी करके परिवार का बोझ चँटावे। गणेशशंकर ने पिता की विवशता अनुभव की और कानपुर में अपने बड़े भाई के पास नौकरी करने के लिए चले गये।

चलते समय उनके पिता ने कहा कि "गणेश। यह मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ कि पढ़ने-लिखने में तुम्हारी रुचि है और तुम आगे पढ़ने की इच्छा रखते हो, किन्तु परिवार की स्थिति से तुम अनभिज्ञ नहीं हो। मैं हर प्रकार से विवश होकर ही तुम्हें नौकरी करने की अनुमति दे रहा हूँ। यदि तुम में शिक्षा की सच्ची लगन होगी तो तुम नौकरी करते हुए भी आगे बढ़ सकने के लिए मार्ग निकाल लोगे। मनुष्य यदि अपने उद्देश्य का धनो है तो वह पर्वतों के बीच भी अपना रास्ता बना लेता है।

पिता के प्रेरणापूर्ण शब्दों ने गणेशशंकर पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला और वे मन ही मन यह संकल्प लेकर कानपुर के लिये बिदा हो गये कि हजार बाधाओं के रहते हुए भी मैं जीवन की उन्नति और जन सेवा का मार्ग निकाल लूँगा।

गणेशशंकर कानपुर में जब अपने बड़े भाई के पास पहुँचे और अपना मन्तव्य बतलाया तो उनके दूरदर्शी भाई ने उन्हें आगे पढ़ने के लिए प्रेरित किया। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि उनका उद्योगी एवं परिश्रमी भाई अधिक से अधिक शिक्षा पाये और जीवन में विकास करे। निदान उन्होंने अपने सीमित साधनों में से भी खर्च निकालकर गणेशशंकर को इन्द्रेन्स के पाठ्यक्रम की पुस्तकें खरीद दीं और कुछ खर्च देकर पिता के पास पुनः इस प्रार्थना के साथ भेज दिया कि वे उन्हें स्कूल में भरती कराकर आगे पढ़ने का अवसर दे दें। पिता की इच्छा में फूल खिल उठे और उन्होंने पुत्र को खुशी-खुशी इन्द्रेन्स में भरती कराकर भगवान को धन्यवाद दिया।

गणेशशंकर ने खूब मन लगाकर पढ़ा और बहुत ही अच्छे नंबरों के साथ इन्द्रेन्स की परीक्षा द्वितीय श्रेणी में पास की। आगे पढ़ने के लिए उन्होंने इलाहाबाद में कायस्थ कालिज में प्रवेश लिया, किन्तु किसी प्रकार भी आगे का खर्च न चल सकने के कारण सात-आठ माह बाद उन्हें कालिज छोड़ देना पड़ा।

किन्तु इससे उन्होंने अपने उत्साह को मन्द नहीं होने दिया और कानपुर में करेन्सी कार्यालय में नौकरी कर ली। किन्तु स्वतन्त्र विचार के उद्योगी युवक गणेशशंकर विद्यार्थी को सरकारी गुलामी पसन्द न आई और उन्होंने करेन्सी की नौकरी छोड़कर कानपुर के पृथ्वीनाथ इर्ह स्कूल में अध्यापन का कार्य कर लिया।

अपने अध्यापन काल में विद्यार्थी जी न केवल छात्रों को पढ़ाते ही थे, बल्कि उनके हृदय में देशभक्ति का संचार करते और पत्र-पत्रिकाओं में लेख भी लिखा करते थे। इसी समय दिल्ली दरबार के अवसर पर महाराजा बड़ौदा ने अपने स्वाभिमान की रक्षा में कोई ऐसा आचरण व्यक्त कर दिया जो दरबार की प्रतिष्ठा के अनुरूप न था। देश के सरकारी पिटु अखबारों ने महाराज बड़ौदा की बड़ी आलोचना की। गणेशशंकर से यह अन्याय सहन न हुआ और उन्होंने स्वाभिमान की रक्षा करने वाले महाराज बड़ौदा के आचरण को उचित ठहराते हुए बड़े ही तेजस्वी शब्दों में 'कर्मयोगी' आदि पत्रों में लेख लिखे।

गणेशजी का यह स्वतन्त्र साहस उनकी जिन्दगी में एक महत्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुआ। जनता ने उनकी प्रतिभा पहचानी और उन्होंने जनता की आवश्यकता समझी। स्कूल के अधिकारियों ने गणेशशंकर के तेजपूर्ण विचारों को अहितकर बताया तो उन्होंने स्कूल की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया।

उसी समय 'सरस्वती' के सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को एक योग्य सहायक की आवश्यकता थी। वे गणेशजी के विचारों की तेजस्विता और लेखनी की विशेषता से परिचित हो चुके थे। उन्होंने उनको अनुरोधपूर्वक 'सरस्वती' में बुला लिया और ३० रु० मासिक पारिश्रमिक का प्रस्ताव करते हुए कहा— "विद्यार्थी जी! 'सरस्वती' के पास साहित्य-सेवा के अवसर के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं है।" गणेशशंकर ने विनम्रतापूर्वक निवेदन करते हुए केवल २५ रुपये पारिश्रमिक ही उनके लिये पर्याप्त होगा। उन्होंने अपना जीवन ऐसे के लिए नहीं, किसी भी माध्यम से देश-सेवा के लिये समर्पित कर देने का निश्चय कर लिया है और 'सरस्वती' ने उन्हें इसका अवसर देकर कृतार्थ कर दिया है।

प्रस्तावित वेतन से ५ रुपये कम लेकर श्रीगणेशशंकर ने सरस्वती में इतनी केंची लगन और गहरे परिश्रम से सेवा की कि आचार्य द्विवेदी ने एक स्थान पर व्यक्त किया— "विद्यार्थी जी जब तक घरे साथ रहे, उन्होंने बड़ी मुस्तैदी और परिश्रम से सारा काम किया। वे रोज दो मोल पैदल चलकर प्रातःकाल जुहो जाते थे और सायंकाल को वापस आते थे। उनकी शालीनता, सुजनता और परिश्रमशीलता ने मुझे मुग्ध कर लिया। विद्यार्थी जी में ज्ञानार्जन की इतनी लगन थी कि वे बहुधा रास्ते में चलते हुए भी कोई न कोई अखबार अथवा पुस्तक का अध्ययन किया करते थे।

'सरस्वती' की निष्काम सेवा ने उन्हें भारत के पत्रकार जगत में विख्यात कर दिया। जिसके फल-स्वरूप उन्हें इलाहाबाद के 'अभ्युदय' साप्ताहिक ने द्विवेदी जी से माँग लिया। द्विवेदी जी ने उन्हें राजनीतिक विचारधारा विकसित करने का परामर्श देकर आशीर्वादपूर्वक 'अभ्युदय' का सम्पादन भार सँभाल लेने के लिए अनुमति दे दी।

देश की चिरवांछित स्वाधीनता के लिए सेवा करने के इच्छुक गणेशजी को अब उपयुक्त क्षेत्र मिला गया था और उन्होंने निर्द्वन्द्व होकर कलम उठाई और अपने तेजस्वी विचारों से राजनीतिक वातावरण में एक इलचल भर दी। किन्तु कुछ समय बाद बीमार हो जाने के कारण उन्हें 'अभ्युदय' से हटना पड़ा।

स्वस्थ हो जाने के बाद वे फिर मैदान में आये। किन्तु अभ्युदय के माध्यम से नहीं, बल्कि 'प्रताप' नामक एक नये साप्ताहिक की योजना सेकर। अपनी बीमारी के समय उन्होंने 'अभ्युदय' के सम्पादक का पद जिन मित्र को समर्पित कर दिया था, उनसे वापस लेना उचित न समझा। साथ ही देश में अच्छी पत्र-पत्रिकाओं की कमी की पूर्ति में योगदान करने के इरादे से उन्हें अपने नये पत्र की प्रकाशन करने की योजना उचित ही लगी।

'प्रताप' की योजना का प्रस्ताव करते समय उन्होंने अपने सहयोगी मित्र पं० शिवनारायण मिश्र के निराशापूर्ण प्रश्न का जो उत्तर दिया, वह वास्तव में कुछ करने की आकांक्षा रखने वालों के लिए एक प्रेरणामय शिक्षा से कम नहीं है। उन्होंने कहा—“रूपये-पैसे व प्रेस आदि अन्य साधनों की कमी को हम लोग अपने अनवरत परिश्रम एवं लगनशीलता से पूरी कर लेंगे। हम निःस्वार्थ भाव से जनता की सेवा का व्रत लेकर कार्य करेंगे और जनता हमारा सहयोग करेंगी। मिश्रजी आप निराश न हों, आत्मविश्वास के साथ पुनर्वास का सहारा लेकर मैदान में आइए तो। हम लोग लेखन से लेकर चपरासी तक का सब काम जब स्वयं करेंगे तो कोई कारण नहीं कि हमारी जनोपयोगी योजना सफल न हो।”

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने ऐसा ही किया और साधनों के अभाव में भी प्रताप चल निकला। उन्होंने अपने पत्र की नीति किसान-मजदूर तथा देशी राज्यों की पीड़ित एवं शोषित जनता का हित समर्थन बनाई। उन्होंने रायबरेली के किसानों, कानपुर के मिल मजदूरों का समर्थन करते हुए चम्पारन में गोरों के अत्याचार की कड़ी आलोचना शुरू करके जन-स्वाधीनता का संघर्ष छेड़ दिया। इस राष्ट्रीय सेवा के पुरस्कार स्वरूप उन्हें पीब और जेल यात्रा करनी और यातना सहनी पड़ी।

श्री गणेशशंकर की इन जीवन सेवाओं ने उन्हें गाँधीजी के निकटस्थ कर उनका कृपा-पात्र बना दिया और तब तो उन्होंने होम रूल आन्दोलन, कानपुर के सुती मिल मजदूरों की हड़ताल, रायबरेली कृषक-संघर्ष, स्वदेशी बहिष्कार आन्दोलन और गमक-सत्याग्रहों में सक्रिय भाग लेकर वह महत्वपूर्ण कार्य कर दिखाया, जिसके लिये वे प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन के अध्यक्ष बनाये गये और जनता द्वारा १९२५ में कानपुर के एक धन कुबेर के मुकाबले चुनाव में जितकर प्रांतीय कौंसिल में भेजे गये। किन्तु उन्हें थारा सभा का निष्क्रिय जीवन पसन्द न आया। वे तो मैदान में सिपाही बनकर देश की

स्वाधीनता के लिये सक्रिय सेवा करना चाहते थे। निदान उन्होंने १९२९ में थारा सभा का त्याग कर दिया।

महात्मा गाँधी ने जब सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन चलाया तो विद्यार्थी जी इस आन्दोलन के कर्मचारों की अग्रिम पंक्ति में आ खड़े हुए। कानपुर में रेल अधिकारियों की मनमानी का उन्होंने सक्रिय विरोध किया। एक बार तो रेलवे के जनरल मैनेजर ने उनसे लिखित क्षमा याचना तक की।

'प्रताप' कार्यालय उस समय क्रान्तिकारियों का गढ़ बन गया था। यहाँ क्रान्तिकारियों की रूपरेखा तैयार होती आन्दोलनकारी वहाँ प्रव्रज सेते। यतीन्द्र नाथ दास, सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद जैसे स्वतंत्रता सेनानी उनसे परामर्श और सहयोग सेते थे। भगतसिंह उनकी ही प्रेरणा और सहयोग से जापान में रास बिहारी बोस से मिलने गये थे। पंजाब से कानपुर आकर बलवन्त सिंह के नाम से उन्होंने विद्यार्थी जी को सलाह पर ही क्रान्तिकारी गतिविधियों का संभासन किया था।

वे नहीं रहे। उनका असावधिक निधन हो गया। मौत किसे छोड़ती है परन्तु किसी-किसी को मौत भी उस व्यक्ति को अमर बना जाती है। मृत्यु से शत्रुता रखकर भयभीत होने वाले व्यक्तियों को वह पूरी तरह नष्ट कर देती है परन्तु जो उसे साथी-सहचर मानकर उसका स्वागत करते हैं उन्हें वह अमर बना देती है। विद्यार्थीजी ने हीनकर मृत्यु को गले लगाया और वे इतिहास में अमर हो गये। मृत्यु तो सुनिश्चित है जो पैदा होता है वह घटता अवश्य है। किन्तु जो इस जीवन को इस ढंग से जीते हैं कि मरने के बाद भी उनके कार्य उन्हें चिरस्मरणीय बना जाते हैं विद्यार्थी जी ऐसे ही व्यक्ति थे।

अत्याचार-पीड़ितों की सहायता में सर्वस्य समर्पण करने वाले योद्धा

उन दिनों देशी राज्यों की दशा बड़ी शोचनीय थी। यहाँ अयोग्य राज्यों का निरंकुश शासन चल रहा था। ये छोटे-बड़े भूखण्डों के एकमात्र कर्ता-धर्ता अपनी रियासत के निवासियों के साथ कैसा व्यवहार करते हैं, कोई इस पर ध्यान देने वाला न था। इन राजाओं ने ब्रिटिश गवर्नमेंट की आधीनता स्वीकार करती थी और हर तरह से उसकी सुलाभद किया करते थे। इसके बदले में उसने इनको 'बाह्य आक्रमणों' से बचाने की गारंटी दे रखी थी। नतीजा यह हुआ कि वे निर्भय होकर प्रजा का शोषण करने और उस जन को दुर्व्यसनों तथा शौकों की पूर्ति में उड़ाने लगे। जब 'स्वामी' की यह दशा थी तो 'सेवक' लोग क्यों पीछे रहते। रियासती अधिकारी और छोटे बड़े राज्य कर्मचारों दोनों हाथों से गरीब प्रजा को लूटते मारते थे और किसी का साहस 'ठफ' करने तक का न होता था।

१.४६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

ऐसे समय में श्री गणेशशंकर जी विद्यार्थी (सन् १८९०-१९३१) ने कानपुर से 'प्रताप' (साप्ताहिक) को प्रकाशित करना आरम्भ किया। उसका उद्देश्य था दौन-दुःखी, अत्याचार पीड़ितों की आवाज को बलवत् करना और उनके कष्टों को मिटाने के लिये आन्दोलन करना। विद्यार्थी जी स्वयं गरीबी में पले थे, आरम्भ से ही उनको जीवन निर्वाह के साधनों के लिए संघर्ष करना पड़ा था, इसलिये स्वभावतः ही उनमें दौन-दुःखी के प्रति हार्दिक सहानुभूति का भाव उत्पन्न हो गया था। उनका जन्म एक पालन भी एक ऐसे देशी राज्य ग्वालियर में हुआ था, जहाँ उनके पिता मुन्शी बलरामजी एक स्कूल में अध्यापक की नौकरी करते थे। इसलिये विद्यार्थी जी रियासतों की कुव्ववस्था और गद्दिरशाही से अच्छी तरह परिचित थे और उन्होंने आरम्भ से ही 'प्रताप' में रियासती प्रथा पर होने वाले अन्यायों का विरोध करना आरम्भ कर दिया था।

गद्दिर ग्वालियर के शासक महाराज बाधराम सिंधिया अन्य अनेक देशी नरेशों की अपेक्षा समान स्वभाव के और शासन-संचालन पर ध्यान देने वाले थे, तो भी समय-समय पर राज्य-कर्मचारियों द्वारा प्रथा का शोषण और उत्पीड़न तो होना ही था। 'प्रताप' में अन्य रियासतों की तरह ग्वालियर के विरुद्ध भी शिकायतों के दो-चार 'पत्र' छपे थे। बात महाराज तक पहुँची और वह भी मालूम हुआ कि विद्यार्थी जी इसी रियासत के निवासी हैं। महाराज ने बात बढ़ाने के बजाय पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर ही अपना मतलब मिट्ट कर लेना उचित समझा और विद्यार्थी जी को जस्त-बीत के लिये ग्वालियर आमन्त्रित किया। खादी के मामूली धोती-कुरता पहने विद्यार्थी जी राजमहल में पहुँचे तो महाराज स्वयं उठकर खड़े हुए और कहने लगे-

"तशरीफ रखिये। मैं इस राज्य में अपना स्वाग आपके लिये खासी करने को तैयार हूँ। आप अपने ठसूखों के मुताबिक राज्य कीजिये।" विद्यार्थी जी के बैठ जाने पर उन्होंने फिर कहा-"मुझे इस बात का अभिमान था कि हमारी रियासत के एक होन्हार व्यक्ति ने बाहर जाकर खूब नाम कमाया पर आपके 'पेपर' (अखबार) ने हमारे ही ऊपर सितम कर डाला।"

विद्यार्थी जी पर न तो महाराज के ज्वंग का कोई असर पड़ा और न वे उनकी सुराह्य से पिघले। कहने लगे-"हम तो गरीबों के सेवक हैं। उनको कष्ट पाले देखते हैं तो उसे शासकों के सम्मुख प्रकट करके दूर कराने की चेष्टा करते हैं। अगर उन शिकायतों में कोई झूठी बात हो तो हम अखबार में अपनी गलती मान लेंगे।" चलते समय महाराज के भन्नी एक अच्छी रकम भेंट करने लगे कि "बह आपका मार्ग खूब है।" विद्यार्थी जी ने उत्तर दिया-"हम बड़े क्लेश में सफर करने वाले हैं और 'प्रताप' इतना खर्च कर सकने में असमर्थ नहीं है।" उनका स्वाभिमान और निष्पक्ष देखकर सभी दंग रह गये। अपनी

'कृपा' की इस प्रकार उम्मेद होते देख महाराज को रोष भी हुआ और उन्होंने 'प्रताप' को ग्वालियर राज्य में न मँगाने की आज्ञा दे दी।

अवध के किसान तालुकेदारों के अत्याचारों से कराह रहे थे। वे 'लुटेरे' तरह-तरह की 'सगानों' और 'करो' के नाम पर गरीबों की बसोने की कमाई का इस प्रकार अपहरण करते थे कि दिन-रात घेहनत करने पर भी उनको दो बत्त भरपेट रोटी नहीं मिल पाती थी। जब कानपुर के निकटवर्ती रायबरेली जिले के किसान बहुत पीड़ित हुये और उन्होंने तालुकेदार वीरपाल सिंह के विरुद्ध सिर उठाया तो उसने गोलू बलवाकर किसानों को ही हताहत कर दिया। विद्यार्थी जी के पास खबर पहुँची तो उन्होंने एक प्रतिनिधि भेजकर जाँच कराई और वीरपालसिंह की गैरजुबानी का पूरा कच्चा चिट्ठा 'प्रताप' में प्रकाशित कर दिया।

'तालुकेदार साहब' ऐसी बातों को कब सहन कर सकते थे। उन्होंने विद्यार्थी जी को नोटिस दे दिया कि "या तो माँकी माँगो, नहीं तो अदालत में मानहानि का दावा दायर कर दिया जायगा।" उत्तर दिया गया-"आप खुशी से अदालत की सरप लें। हम यहाँ आपकी करतूतों का भण्डाखण्ड करेंगे। माँकी माँगने वाले कोई और होते हैं।" छह महीने तक मुकदमा चला, तीस हजार रुपये उसमें खर्च करना पड़ा, तीन मास की सजा भी भोगी, पर किसानों की दुःख गन्ध और तालुकेदारों के अन्याय संसार के सम्मुख प्रकट हो गये और उसी समय से जो किसान-आन्दोलन शुरू हुआ तो उसने बर्मीदारी प्रथा को बदमूल से उखाड़ कर ही दम लिया।

ऐसे थे श्री गणेशशंकर जी विद्यार्थी, जनता के सेवक और दौन-दुःखियों के बन्धु। भजदूतों पर कारखाने वालों की ग्वादती देखी तो उनसे भिड़ गये, चम्पारन में नील के खेती करने वाले ग़ोरों को किसानों पर जुल्म करते देखा तो उनके विरुद्ध आन्दोलन छेड़ा, फिजी आदि टापुओं में भारतीय कुलियों को परतों के समान छोड़े खाकर काम करते सुन तो उनकी हिमायत करने को खड़े हो गये। मतलब यह कि चाहे अपना निर्वाह कठिनाई से होता हो, इधर-उधर दौड़ते फिरना पड़े, माँके दिन मुकदमों में फैसला जेल के लोहे के सीखियों में बन्द होना पड़े, पर किसी बगड़ अन्याय होते देखकर विद्यार्थी जी चुप नहीं रह सकते थे। शक्ति और धन के मद में अंधे व्यक्ति निर्दोष लोगों को केवल उनकी निर्बलता के कारण सताते रहे, यह उनसे सहन नहीं होता था।

जब वे अपने देशवासियों के अन्यायों का इस प्रकार डटकर विरोध करते थे, तो विदेशियों के जुल्म और शोषण को देखकर किस तरह चुप रह सकते थे? 'प्रताप' ने अपने प्रथम अंक से ही अंग्रेजी अधिकारियों की पक्षपातपूर्ण नीति और देश की पराधीनता के बन्धनों में कसने की जालों के विरुद्ध लिखन और जनता को अपने स्वार्थों की रक्षा के लिये संगठित होकर खड़े होने की

प्रेरणा देना आरम्भ किया। नतीजा यह हुआ कि 'प्रताप' सरकार की आँखों में छटकने लगा और तरह-तरह से उसे दबाने की चेष्टा की जाने लगी। 'राज-द्रोही' लेखों के कारण उससे कई बार जमानतें माँगी गईं और जमा की गई। रायबरेली वाले मुकदमे के अक्सर पर तो उसके सम्पादक तथा प्रकाशक से ३० हजार की जमानतें और मुचलके पाँगे। अनेक सरकारी कर्मचारियों से उन पर दावा कराये गये, पाँच बार जेल की सजा दी गई, कितने ही देशी शत्रुओं में 'प्रताप' का प्रवेश बन्द कर दिया गया। पर इनमें से किसी प्रहार से विद्यार्थी जी विचलित नहीं हुए और जिस 'सेवा-धर्म' को उन्होंने अपनाया था, जीवन के अंतिम क्षणों तक उसका पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करते रहे।

उनका अन्त तो ऐसा शानदार हुआ कि उसके उनके जीवन भर के कार्यों को और भी चमका दिया। वे हरदोई जेल से छूटकर घर आये ही थे और कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने को कराँची जाने ही वाले थे कि २४ मार्च, १९३१ को कानपुर में दंगा आरम्भ हो गया। हिन्दू मुसलमान पागल होकर एक दूसरे की हत्या करने और घरों में आग लगाने लगे। मुसलमानों के मुहल्लों में रहने वाले हिन्दुओं और हिन्दू मुहल्लों में मुसलमानों की स्थिति अत्यन्त संकटापन्न हो उठी। प्रतिक्षण उनको अपने मारे और लूटे जाने की आशंका होने लगी।

पह दूरप देखकर विद्यार्थीजी का हृदय तिलमिल उठा। आजन्म अन्यायों का विरोध करने वाला अपने ही नागरवासियों द्वारा ऐसा अन्याय होते कैसे देख सकता था? बस वे कमर कसकर और अपने लिये खतरे की परवाह न करके दंगे के क्षेत्र में पहुँचकर विपत्तिग्रस्त व्यक्तियों की रक्षा का उपाय करने लगे। हिन्दू मुहल्लों में फँसे हुए अल्पसंख्यक मुसलमानों को बड़ी से बड़ा सुरक्षित स्थानों में पहुँचाया। दूसरे दिन २५ मार्च को भी वही क्रम रहा। दोपहर के तीन बजे तक बिना खाये-पिये हिन्दू मुहल्लों से डेढ़ दो सौ मुसलमानों को हटाकर अन्यत्र भिजवाया।

उसी समय किसी ने आकर कहा कि मुसलमानी मुहल्लों में बहुत संख्या में हिन्दू फँसे हुए हैं और उन पर मुसलमानों का आक्रमण हो रहा है। विद्यार्थी जी तीन स्वयंसेवकों के साथ, जिनमें से एक मुसलमान था, मुसलमानी मुहल्ले में पहुँच गये। वहाँ से भी चौध-सात व्यक्तियों को बाहर भिजवाया। पर जब वे एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ मुसलमानों की भीड़ जमा थी, तो वह उन्हीं को मारने के लिये दूट पड़ी। स्वयंसेवकों ने बहुत कहा कि इन्होंने तो आज ही दो सौ मुसलमानों को बचाया है, पर वे धर्मान्ध इन बातों को कब सुनने और समझने लगे। कुछ लोग विद्यार्थी जी को बचाने के लिये उन्हें अन्य स्थान की तरफ खींचने लगे तो उन्होंने कहा—“भाई आप मुझे घसीटते क्यों हैं? मैं मृत्यु के भय से पागल वाला नहीं।

एक दिन मरना ही है, तो फिर ऐसी महत्वपूर्ण मृत्यु से डरना ही क्या? यदि मेरे रक्त से आपकी ध्वास बुझ सकती है, तो मैं सहर्ष बलिदान होने को तैयार हूँ। आप अपनी इच्छा पूरी करें, मैं अपने कर्तव्यपालन के लिए प्रस्तुत हूँ।”

इतना कहकर उन्होंने अपना सिर हटका दिया और आत्मतापी की कुल्हाड़ी उनकी गर्दन के पार हो गई। श्री गणेशशंकर का यह आदर्श बलिदान सदा सर्वदा के लिए अमर हो गया।

इस तरह यद्यपि ठग समय पाशविकता द्वारा मानवता का अन्त कर दिया गया, हिंसा ने अहिंसा को, स्वार्थ ने परमार्थ को पटदलित कर दिया पर प्रकृति में ऐसी अस्वाभाविक प्रक्रिया अधिक समय तक नहीं टिक सकती। शीघ्र ही इस 'महा बलिदान' की प्रतिक्रिया हुई और राष्ट्रपिता गाँधी ने खोपरा को—‘हमें तो अब गणेशशंकर विद्यार्थी बनना चाहिए। वह मरा नहीं अमर हो गया। मैं भी उसी की तरह आत्मतापियों के फरसों और भालों से मरने का आकांक्षी हूँ।” नेहरूजी ने कहा गणेशजी जैसी शान से जिये वैसे ही मरे।” इससे अधिक कोई और क्या माँग सकता है।” क्या हम भी उनके उदाहरण से— अपने धर्म, अपने मिशन और अपने कर्तव्य के लिए सब कुछ अर्पण करने की प्रेरणा ग्रहण करेंगे?”

भारतीय संस्कृति के प्रतीक

एक बड़े विद्यालय में, जिसमें अधिकांश छात्र अपटूडेट फैशन वाले दिखाई पड़ते थे, एक नये विद्यार्थी ने प्रवेश लिया। प्रवेश के समय उसकी पोशाक— धोती, कुर्ता, टोपी, जेकेट और पैरों में असाधारण चप्पल।

विद्यालय के कमरों के लिये वह सर्वथा नया दृश्य था। कुछ इस विधिवत पर हैंसे, कुछ ने ध्यान किया— तुम कैसे विद्यार्थी हो जो तुम्हें अपटूडेट रहना भी नहीं आता, कम से कम अपना पहनावा तो ऐसा बनाओ जिससे लोग इतना तो जान सकें तुम एक बड़े विद्यालय के विद्यार्थी हो।

छात्र हँसा, हँसकर उत्तर दिया— “अगर पोशाक पहनने से ही व्यक्तित्व ऊपर उठ जाता तो पैद और कोट पहनने वाला हर अंग्रेज महान पंडित होता, मुझे तो उनमें ऐसी कोई विशेषता दिखाई नहीं देती। रही शान घटने की बात तो अगर सात समुद्र पार से आने वाले और भारतवर्ष जैसे गर्म देश में ठण्डे भुत्क के अंग्रेज केवल इसलिए अपनी पोशाक नहीं बदल सकते कि वह उनकी संस्कृति का अंग है तो मैं ही अपनी संस्कृति को क्यों हेय होने दूँ? मुझे अपने मान, ब्रह्मसंस्कार और प्रतिष्ठा से ज्यादा धर्म प्यारा है, संस्कृति प्रिय है, जिसे जो कहना हो कहे मैं अपनी संस्कृति का परित्याग नहीं कर सकता? भारतीय पोशाक छोड़ देना मेरे लिये मरणतुल्य है।”

भाव संवेदना सूखने व पाये

एक बड़े क्रान्तिकारी को अपनी मातृभूमि के प्रति कर्तव्यपरायणता निभाने के अपराध में— अपनी मातृभूमि को विदेशियों के चंगुल से छुड़ाने के अपराध में फौसी की सजा सुनाई गई।

पोंछे बच रहों दो आत्माएँ। एक तो उनकी विधवा पत्नी तथा दूसरी उनकी युवा कन्या। कन्या के विवाह का प्रश्न दुःखों की असौम्य विस्तृत भूमि को चिदाता-सा घटान जैसा समझ खड़ा था, कई अक्रोध थे। पैसे की कमी, संरक्षक का अभाव तथा विपन्नता। विधवा की यह दशा देखकर एक शिक्षित नवयुवक ने स्वयं आगे बढ़कर विवाह मंजूर कर लिया। युवक राजी भी हुआ तो पुलिस अधिकारी ने धमकी दी। "क्रान्तिकारी की कन्या से विवाह करोगे, तो परिणाम अच्छा न होगा।"

यह चेचारा डर गया। बेशक्ती की बात एक सम्पादक तक पहुँची। ठमका संवेदनशील हृदय द्रवित हो उठा। वे सीधे उक्त गाँव गये और उस पुलिस अधिकारी से मिले। कहा "आपको एक असहाय तथा दुःखी परिवार को और अधिक दुःखी तथा विन्ताकुल बनाने में आखिर क्या मिलेगा? सोचिये— यदि उस क्रान्तिकारी के स्थान पर आप होते—तो क्या आपको यह स्थिति उत्पन्न करना अच्छा लगता? यदि आप किसी के आँसू पोंछ नहीं सकते, तो फिर किसी को हलाने का भी आपको क्या अधिकार है?"

पुलिस अधिकारी पानी-पानी हो गया। उसने अपने कृत्य पर क्षमा माँगी बाद में उसने स्वयं कन्या का विवाह उसी युवक से करवाया और सारा व्यव भार भी स्वयं ही उठाया।

यों संवेदना उड़ेलने वाले तथा विवाह में कन्या के पिता का उत्तरदायित्व उठाने वाले सम्पादक थे, श्री गणेश शंकर विद्यार्थी।

स्वाभिमान की किसी बात की चिन्ता नहीं

गणेशशंकर विद्यार्थी अपनी शिक्षा सम्पाद कर एक विद्यालय में अध्यापन कार्य करने लगे। उन दिनों अँग्रेजों का राज्य था। तब राष्ट्रीय समाचार पत्र के ग्राहक बनना और उसे पढ़ना तक अपराध समझा जाता था।

पं० सुन्दरलाल ने 'कर्मयोगी' साप्ताहिक पत्र प्रारम्भ किया था। उस समय इस राष्ट्रीय पत्र की देश में सर्वत्र धूम थी। गणेशजी को यह पत्र बहुत पसन्द था। अपने विद्यालय के रिक्त समयांश में वह 'कर्मयोगी' पढ़ रहे थे। प्रधानाध्यापक की दृष्टि कहीं उस समाचार-पत्र पर पड़ गई उन्होंने गणेशजी को कार्यालय में बुलाकर डाँटा। भला स्वाभिमान की गणेशजी प्रधानाध्यापक की इस अनुचित बात को कैसे सहन कर सकते थे। उन्होंने तुरन्त विद्यालय

की सेवा से त्याग-पत्र दे दिया। उन्होंने इस बात की भी चिन्ता न की कि इस समय उनकी आर्थिक स्थिति बड़ी दयनीय है और पूरे परिवार का उत्तरदायित्व अकेले उन्हीं के कंधों पर है।

'वन्देमातरम्' मन्त्र के द्रष्टा—

बंकिमचन्द्र

श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय बंगाल के बहरामपुर जिले में डिप्टी मजिस्ट्रेट थे। सरकारी भौकरी होते हुए भी उनमें राष्ट्रीयता की भावना जितनी अधिक देखने में आती थी उसका उदाहरण अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलता है।

बहरामपुर में अँग्रेजी फौज की एक छोटी-सी छावनी थी। उसके सामने एक बड़ा मैदान था जिसके बीच में होकर एक पगडण्डी कचहरी तक जाती थी। एक दिन बंकिम बाबू शाम के समय उसी रास्ते से घर लौट रहे थे कि एक अँग्रेज ने उनकी पालकी के पहारों को रोका। जब बंकिम बाबू ने उसे डाँटा तो वह उनको पकड़कर मैदान के बाहर निकाल आया। इस अपमान से वे इतने क्रोधित हुए कि वहाँ एकत्रित तमाम अँग्रेजों को चेतावनी देते हुए घर चले गये और दूसरे ही दिन उस अँग्रेज पर जिसका नाम कर्नल डाफिन था और जो उस छावनी का अफसर था, जज की अदालत में दावा कर दिया।

जब मुकदमे का सम्मन मिला तो कर्नल साहब के होश ठिकाने आये। पहले तो उसने अन्य अँग्रेज अधिकारियों का दबाव डलवाकर मामले को रफा-दफा करने की कोशिश की और फिर जज साहब से सिफारिश कराई, पर जब इसमें सफलता नहीं मिली, तो मुकदमे की पैरवी के लिए वकील दौड़ने लगा। पर बहरामपुर का कोई वकील उसकी को तरफ से मुकदमा लड़ने को तैयार न हुआ और सबने यही उत्तर दिया कि— हमने बंकिम बाबू के बकालतनामे पर दस्तखत कर दिये हैं। अन्त में कर्नल को अपनी शान छोड़कर 'काले आदमी' से क्षमा माँगी पड़ी, तब कहीं जाकर मामला समाप्त हो सका।

जातीय गौरव की रक्षा का इस प्रकार ध्यान रखने वाले बंकिमचन्द्र (सन् १८३७ से १८९४) का जन्म कलकत्ता के पास 'कंठलपाड़ा' ग्राम में हुआ था। उनके पिता श्री वादवचन्द्र भी डिप्टी कलेक्टर थे और अपने समय के एक बड़े योग्य और तेजस्वी अधिकारी माने जाते थे। वे मिदनापुर जिले में काम करते थे, इसलिए बंकिम बाबू की प्रारम्भिक शिक्षा वहीं पर हुई। उस समय तक मैट्रिक, इण्टर, बी०ए० आदि परीक्षाएँ प्रचलित नहीं हुई थीं, केवल जूनियर, सीनियर के नाम से परीक्षा ली जाती थी। सन् १८५८ में जब बंकिम बाबू कालिज की

पढ़ाई समाप्त कर चुके तो उसी वर्ष कलकत्ता विश्व-विद्यालय का कार्यारम्भ हुआ और घोषणा की गई कि ५ अप्रैल को बी० ए० की परीक्षा ली जायेगी। उस समय केवल दो तीन महीने का समय शेष था, इसलिए केवल १३ विद्यार्थी परीक्षा में बैठने को तैयार हुए। इनमें से केवल दो पास हुए जिनमें बंकिम बाबू का स्थान प्रथम था।

इस प्रकार बंगाल के प्रथम बी० ए० होने के कारण इनकी चारों ओर बड़ी प्रशंसा होने लगी और बंगाल के गवर्नर हार्लड साहब ने स्वयं उनको बुलाकर बम्बई की तथा डिप्टी मजिस्ट्रेट के पद पर काम करने को कहा, जो उस समय भारतवासियों के लिये बड़ी चीज मानी जाती थी। बंकिम बाबू ने हार्डसाहब को धन्यवाद देकर कहा—“इस सम्बन्ध में मैं अपने पिता से पूछकर जैसा वे कहेंगे वैसा करूँगा।”

हार्डसाहब ने आश्चर्य के साथ कहा—“क्या डिप्टी मजिस्ट्रेट से बढ़कर आप किसी अन्य पद की आशा रखते हैं?”

बंकिम—“आपका कथन ठीक है, पर मैं पिताजी की आज्ञा लिये बिना कोई काम नहीं करता, इसलिए तुरन्त स्वीकृति देने में असमर्थ हूँ।”

पिताजी इस समाचार से बड़े प्रसन्न हुए और बंकिम बीस वर्ष की आयु में ही डिप्टी मजिस्ट्रेट बन गये। पर इतने बड़े अधिकारी होकर भी उन्होंने भारतीय संस्कृति की मर्यादा का पालन करते हुए पिता की आज्ञा को इतना महत्व दिया, इससे हार्डसाहब भी बड़े प्रभावित हुए।

साहित्य सेवा का द्रव

वह समय भारतवर्ष में एक नवयुग के प्रभात का था। सन् १८५७ का गदर समाप्त हो चुका था और महारानी विक्टोरिया ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अधिकार समाप्त करके शासन सूत्र अपने हाथ में ले लिया था। वे इस देश को आधुनिक प्रगति के मार्ग पर चलाना चाहती थीं। इसलिये यहाँ शीघ्रतापूर्वक शिक्षा का प्रचार किया जाने लगा, प्रेस खोले जाने लगे, समाचार-पत्रों का प्रकाशन होने लगा। इस प्रकार चारों ओर एक नवीन सार्वजनिक आश्रय का दृश्य दिखाई पड़ने लगा और कितने ही प्रबुद्ध व्यक्ति समाज हितकारी प्रवृत्तियों में भाग लेने को अग्रसर होने लगे।

आवश्यकता तो यह थी कि बंकिम बाबू जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी समस्त शक्ति देश की प्रगति के कार्यों में ही लगाते पर उस समय व तो इतने साधन थे और न कोई स्पष्ट कार्यक्रम ही था। इसलिए उन्होंने सरकारी नौकरी से जो समय बचता था, उसमें जनता के लिए प्रेरणादायक साहित्य की रचना करने का निश्चय किया। उस समय बंगला भाषा की दशा कैसी थी, इसका वर्णन करते हुए महाकवि रबीन्द्रनाथ ने एक लेख में कहा था—

“जब बंग-भाषा को कोई बड़ा के साथ नहीं देखता था। संस्कृत के पण्डित उसे ‘ग्राम्य भाषा’ कहते थे और अंग्रेजी के विद्वान उसे ‘मुखौ की भाषा’ बतलाते थे। बंगला में ग्रन्थ रचना करके यत्न प्राप्त करने की सम्भावना पर कोई स्वप्न में भी विश्वास नहीं करता था। असम्मानित बंगला भाषा उस समय अत्यन्तहीन और गलिन वेश में कात्त्यमन करती थी।”

मातृभाषा की यह हीनावस्था बंकिम बाबू को बहुत खटकने लगी और उन्होंने यह भी समझ लिया कि जब तक हमारे साहित्य का विकास न होगा तब तक देश में नव-जीवन का संस्कार भी नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने साहित्य-सेवा का द्रव लिया और कुछ ही समय में ऐसी रचनाएँ प्रस्तुत करके जनता के सम्मुख रखीं, जिससे उसके दृष्टिकोण में बड़ा परिवर्तन हो गया। जो लोग उस समय तक मृगश्रु अथवा अश्लीलतापूर्ण हास्य की दस-पाँच पुस्तकों को ही ‘साहित्य’ समझ करते थे, वे बंकिम बाबू की ‘दुर्गेसनन्दिनी’, ‘कपल कुण्डला’, ‘आनन्दमठ’, ‘देवी चौधरानी’, ‘सीताराम’, ‘कृष्ण चरित्र’ आदि अभिनव और एक से एक बढ़कर प्रेरणादायक रचनाओं को पढ़कर एक नई दिशा में सोचने-विचारने लगे।

बंकिम बाबू ने उपन्यासों की रचना पर ही विशेष ध्यान दिया। इसका कारण यह था कि उस आरम्भिक युग के पाठकों से यह आशा करना कि वे अधिक गम्भीर विषयों की पुस्तकों को रुचिपूर्वक पढ़ सकेंगे ठीक न था। नये और पढ़ने-लिखने में अनध्यस्त पाठक कथा-साहित्य को ही पढ़ सकते हैं, इसलिए तात्कालीन विद्वान उनकी रुचि का मार्जन करने के लिए इसी माध्यम का सहारा लेते थे। यद्यपि अधिकांश व्यक्ति उपन्यासों को मनोरंजन के लिये ही पढ़ते हैं, पर बंकिम बाबू ने अपने सभी उपन्यासों में पाठकों के समक्ष एक विशेष आदर्श रखा जिससे सम्भव-सुधार या देशोत्थान का कोई उद्देश्य पूरा हो सके।

इतना ही नहीं उन्होंने अपने कई उपन्यासों द्वारा राष्ट्र-निर्माण और देश की स्वाधीनता का भी मार्गदर्शन किया। इस दृष्टि से उनका ‘आनन्दमठ’ भारतीय-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर चुका है। इसमें एक ऐसे देशभक्त संन्यासी-दल की कथा है जिसने देश को विदेशियों की दासता से मुक्त कराने के लिये गुप्त रूप से सैनिक तैयारी की थी और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हँसते-हँसते अपने प्राणों का बलिदान किया था। यद्यपि आरम्भ में लोगों ने इसके महत्व को पूरी तरह अनुभव नहीं किया पर जब सन् १९०५ में अंग्रेजी शासन से देश को स्वतन्त्र करने के लिए एक तीव्र आन्दोलन आरम्भ हुआ, तब बहुसंख्यक नवयुवकों ने इसी उपन्यास से प्रेरणा लेकर गुप्त समितियाँ स्थापित कीं और सशस्त्र क्रान्ति का उद्योग करके देशोद्धार के कर्म में प्राणों की आहुति दे दी। अंग्रेज अधिकारी इस सम्भावना को पहले ही समझ गये थे, इसलिए उन्होंने उसी

समय बंकिम बाबू से जवान तलब किया और उनकी नौकरी जाते-जाते बची थी।

इस 'आनन्दमठ' में ही प्रथम बार 'वन्दे-मातरम्' मंत्र का उल्लेख किया गया है। एक समय जब 'वन्दे मातरम्' के जयघोष से भारत की राजशासी ब्रिटिश सरकार धर-धर काँपने लगी थी और इसका उच्चारण करने पर सैकड़ों देशभक्तों को जेल और कैदों की सजा सहन करनी पड़ी थी। आज भी हमारे देश के बासक से लेकर बूढ़ा तक 'वन्देमातरम्' को सुनकर भारत भूमि के प्रति जिस अनिर्वचनीय भाव का अनुभव करते हैं, उससे इसकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है और हम ब्रह्मा पूर्वक इस मन्त्र के 'श्रवण' बंकिम बाबू को प्रणाम करते हैं।

उनके उपन्यासों में पुरुषों को ही देशभक्ति और वीरता की प्रेरणा नहीं दी गई है, बरन् ऐसी स्त्रियों का भी चरित्र-चित्रण किया गया है जिन्होंने देश के शत्रुओं का मुकाबला करके तसवार चलाई। यद्यपि बंगाली स्त्रियों को देखते हुये यह एक असम्भव कल्पना थी, तो भी इस प्रेरणा से देश में ऐसी कई युक्तियाँ आगे आयीं, जिन्होंने क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित होकर महत्वपूर्ण कार्य किया और आवश्यकता होने पर पिस्तौल लेकर देश के शत्रुओं को मारने के लिये आगे बढ़ी।

इस प्रकार बंकिम बाबू ने साहित्य-सृजन द्वारा देश में एक ज्योति जगाई, जिसके प्रकाश से अन्त भी हमारे हृदय आलोकित हो रहे हैं। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि साहित्य की शक्ति अल्प नहीं है, बरन् यदि उसका विचार-पूर्वक उपयोग किया जाय तो वह राष्ट्र, समाज और व्यक्ति के उत्थान का एक महान साधन बन सकता है।

गोवा के प्रखर देशभक्त-

डा० माशकार हंस

जब-जब स्वाधीनता का पावन पर्व आता है मन में एक कसक-सी ठठती है। हम पछास करोड़ भारतवासी एक होकर आजादी की खुशियाँ मना रहे हैं और हम में से एक, हमारा ही सहोदर पुर्तगाली कारावास में पड़ा गत पन्द्रह वर्षों से बातना सह रहा है-चौबीस साल की सम्झी यातना, सत्तर वर्ष की इस वृद्धावस्था में और एक हम हैं, जिन्हें उनका कभी स्मरण तक नहीं होता। क्या अपराध किया था उन्होंने? आजादी के लिए आवाज उठायी थी न? पर गोवा आजाद हुए भी आज कितने वर्ष बीत गए। वे व्यवहार कुशल नहीं 'पागल' थे। पागल न होते तो क्या आज इस स्थिति तक पहुँचते। क्या कभी भी उनमें।

पुर्तगाल गये थे-बैरिस्टर बनने, मजिस्ट्रेट बनने। लेकिन अन्त में क्या बने? डा० माशकार जिस दिन पुर्तगाल के कोईना विश्वविद्यालय में दाखिल हुए, वह उनके जीवन का एक ऐतिहासिक दिन था। प्राध्यापकों के रूप में जिन अर्धवेला का उनसे परिचय हुआ, वे थे डा० सालाजार।

इन्हीं डॉ० सालाजार के सधर्पित्व होनहार, कुशाग्र बुद्धि विद्यार्थी डा० माशकार के नाम से सम्बोधित हुए। माशकार खोम्य थे। वे प्रखर प्रतिभा सम्पन्न थे- अपने महपाटी और पुर्तगाल के वर्तमान प्रधानमंत्री मारसेल कायतान से ही नहीं, बल्कि सब से अधिक।

मारसेल कायतान ने अपने गुरु डा० सालाजार का साथ न छोड़ा और आज बने हैं सालाजार के उत्तराधिकारी पुर्तगाल के प्रधानमंत्री। यदि डा० माशकार भी सालाजार की नीतियों के समर्थक बने रहते तो आज क्या बने होते?

किन्तु वे कुछ न बने होते क्योंकि वे 'पागल' थे न। ज्यों ही सालाजार ने पुर्तगाल की बागडोर सँभाली। डा० माशकार ने एक दूसरा ही सपना देखना शुरू कर दिया। वे गोवावासियों में, विशेषतः ईसाई जगत में एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण की कल्पना साकार करने लगे। उन्हें यह देखकर अत्यन्तक पीड़ा हुई कि गोवावासी अपने को भारतीय कम और पुर्तगाली अधिक मानते हैं। अपनी मातृभूमि के लिए इनमें स्वाभिमान क्यों नहीं।

उन्होंने लिखना शुरू किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दो उपन्यासों 'भौका इन्की' और 'बरे-बाहिरे' का पुर्तगाली रूपान्तर किया? गाँधीजी की आत्मकथा का भी। रामायण पर भी उन्होंने पुर्तगाली में एक स्वतन्त्र पुस्तक लिख डाली।

परिवर्तन एवं प्रभाव की इसी विकट स्थिति से वे वर्षों तक संघर्ष करते रहे। उनके हृदय में एक अद्भुत आस्था थी और वे ज्यरा होकर अनुकूल समय की बाट जोह रहे थे।

तभी उन्होंने सुना कि डा० लोहिया नामक एक क्रान्तिकारी गेख-मुक्ति के लिए आन्दोलन कर रहे हैं। बस, इतना ही था कि उन्होंने पुर्तगाल से गोवा की राह पकड़ी। इस पर पत्र कहने लगे- "यह क्या कर रहे हो? यहाँ क्या कमी है तुम्हें? इतने बड़े लेखक हो, पत्रकार हो, यहीं बैठे-बैठे कुछ क्यों नहीं करते?" पत्नी रो पड़ी- "मेरे लिए क्या सोचा? आप तो आराम से जेल में जाकर बैठ जायेंगे, परन्तु मैं अकेली कहाँ रहूँगी? क्या खाऊँगी?" एक सहृदय ने समझाया- "तुम वस्तुस्थिति सपझते क्यों नहीं? गाँधीजी का सत्याग्रह सफल रहा इसलिए कि अंग्रेज विवेकशील थे। पुर्तगाल के खिलाफ तुम्हारी गाँधी-नीति तुम्हारा अस्तित्व ही मिटाकर रख दे, तो कोई अश्चर्य नहीं। ... पर माशकार के सामने अस्तित्व का क्या कभी प्रश्न रहा?"

गेख आकर देखते हैं- वीरान पड़ा है गोवा। कुछ देशभक्त कारावास में यातना सह रहे हैं, कुछ जम्बई और पूना की ओर संगठन कार्य में संलग्न हैं। न किसी को बोलने की अनुमति, न लिखने की। सर्वत्र पुलिस का एकछत्र साम्राज्य है।

डा. मास्कार ने पुर्तगाली साम्राज्यवाद के विरुद्ध लेख लिखे। किन्तु पुर्तगाली भाषा के इस नर-केसरी लेखक के प्रखर लेखों को प्रकाशित करने का साहस किस में था? जब कुछ न बन सका तो उन्होंने सिर पर चढ़ा ली बगावत की निशानी— सफेद गाँधी टोपी। तब भी सरकार ने उन्हें बन्दी न बनाया।

यों तो गोआ सरकार उन्हें आसानी से गिरफ्तार कर सकती थी, किन्तु सरकारी अधिकारियों ने सुना था कि वे किसी समय पुर्तगाल के प्रधानमंत्री डॉ० साल्तावार के प्रिय विद्यार्थी रह चुके हैं। इसलिए उन्होंने एक नई नीति अपनाई। मास्कार को गिरफ्तार करने की अपेक्षा जिनके यहाँ वे जाते या जिनसे वे मिलते—जुलते पुलिस उन्हें परेशान करने लगे। पित्र और रिश्तेदार कहने लगे—
“भाई, गुनाह तो तुम करते हो और सजा हमें मिल रही है।” मास्कार असमंजस में पड़ गये। आखिर किस प्रकार जरासंध के डर से नहीं, किन्तु जरासंध के आक्रमण से मथुरा के लोगों को बचाने के लिए श्रीकृष्ण ने ‘रथ’ छोड़ दिया था, वसी प्रकार उसी दृष्टि से मास्कार गोवा छोड़कर बम्बई चले आये। साल्तावार को जब इस बात का पता लगा कि अब वे बम्बई रहकर राष्ट्रकदी गोवा वार्तिस्यों का नेतृत्व करने वाले हैं, तब वे तुच्छता से बोल उठे कि ‘वह तो पागल है।’ बम्बई में उन्हें गोवावासियों की चार-छह पार्टियों दिखायी दीं, कोई काँग्रसी, कोई सम्प्रजवादी, कोई कॉकणीवादी तो कोई महाराष्ट्रवादी। गोवा की आजादी का कोई बिड़ कहीं नहीं। क्या किया जाय? एक दिन बम्बई में वे राष्ट्रवादियों की एक परिषद् में गये और कहने लगे—

“तुम सब लोग पागल हो। पहले मेहक से जाकर कहो कि फौज दें और गोवा आजाद करावें। अन्य किसी मार्ग से गोआ स्वतन्त्र नहीं हो सकता और जब तक गोवा आजाद नहीं होता। तुम्हारी देशभक्ति की सब चर्चार्थें व्यर्थ हैं।”

लोगों ने उनकी बात को पागलपन की बड़क समझकर हँसी में उड़ा दिया पर कुछ दिन बाद सबपुत्र वे जवाहरलालजी से मिले। जब जवाहरलालजी ने उन्हें यह समझाने की कोशिश की कि किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय दबाव से पुर्तगालियों को विवश हो गोआ छोड़ना पड़ेगा। तब डा० मास्कार बोल उठे—

“क्या आप मुझसे ज्यादा पुर्तगाल को जानते हैं? मैं बरसों वहाँ रह चुका हूँ और साल्तावार को भी अच्छी तरह से जानता हूँ, क्योंकि वे मेरे गुरु रह चुके हैं। मैं उनका विद्यार्थी रहा हूँ। आपको गोआ की आजादी के लिए किसी न किसी दिन फौज भेजनी ही पड़ेगी। दूसरा कोई रास्ता नहीं है।” जवाहरलाल जी ने बाद में किसी से कहा था—“कैसा पागल आदमी है यह।”

जब किसी प्रतिभाशाली लेखक के सामने कोई समस्या खड़ी होती है तो उसकी कलम चलने लगती है और समस्या की परिमार्गति लेख में ही हो जाती है। मास्कार साहब ने बम्बई से पुर्तगाली भाषा में ‘रेस्पुगे गोवा’ नामक एक साप्ताहिक शुरू किया और उसमें वे अपना हृदय डेँढते लगे। किन्तु पुर्तगाली साप्ताहिक पढ़ने वाला बम्बई में तो कोई था नहीं। उनका पाठक वर्ग या तो गोवा में था या पुर्तगाल में। यह साप्ताहिक उनके पास पहुँचे कैसे? डाक से भेजने पर डाकखाने में ही गोवा की पुलिस सारी प्रतियाँ जब्त करने लगी, किन्तु अखबार घर पहुँचने का कोई प्रभावशाली तन्त्र किसी के पास न था। इसलिए साल-डेढ़ साल तक पत्र चला कर मास्कार को आखिर बन्द करना पड़ा।

उन्ही दिनों भारत सरकार की ‘आकाशवाणी’ ने दिल्ली से पुर्तगाली भाषा में कार्यक्रम प्रसारित करने की एक योजना बना ली और सरकार ने डा० मास्कार से सहमता माँगी। मास्कार को अब एक प्रभावशाली साधन मिल गया। वे ‘आकाशवाणी’ के पुर्तगाली-विभाग में सम्मिलित हो गये और बड़ी तत्परता से नित्य प्रसारण-कार्य करने लगे। मुना है, उनके प्रसारण गुप्त रूप से सही, किन्तु बड़े चाव से सुने जाते थे किसी ने एक दिन जाकर ‘आकाशवाणी’ के अधिकारियों से शिकायत की कि वे जो प्रसारण करते हैं, उसमें भारत-सरकार की आलोचना भी करते हैं। ‘आकाशवाणी’ के अधिकारियों के पास मास्कार को छोड़कर पुर्तगाली भाषा जानने वाला कोई दूसरा सुयोग्य व्यक्ति नहीं था जो वे वे मास्कार के मतहत काम करते थे। दुर्भाग्यवश उन्हीं में से एक को मास्कार पर निगरानी रखने का कार्य सौंपा गया। बस ‘आकाशवाणी’ का पुर्तगाली विभाग उसके बाद चुगलियों का भयंकर अछाड़ा बन गया। अन्त में मास्कार ने ठक्कर खागपत्र दे दिया। वे सोचकर कि ‘अब जो होने वाला हो, होने दें’ वे गोवा लौटे और गोवा सरकार ने तनिक भी विस्मय नहीं किया। उन्हें पकड़ कर सीधे इक्की अठारह से पुर्तगाल की राजधानी लिस्बन पहुँचा दिया।

बरसों पहले वे पुर्तगाल गये थे न्यायालय में मजिस्ट्रेट बनकर न्यायदान को पवित्र करने के विचार से। अब की बार वे पहुँचे, पुर्तगाल की अदालत में एक अपराधी के भाते उपस्थित होने। किसी समय के उनके प्राध्यापक डा० साल्तावार ने उन्हें भारी दण्ड का आदेश दिया और न्यायालय ने डा० मास्कार को २४ साल के कठोर कारावास की सजा सुना दी। गोवा अब आजाद हो चुका था, फिर भी यह कट्टर एवं प्रखर देशभक्त पुर्तगाल की जेल में बंद था।

डा० मास्कार को इतनी लम्बी अवधि तक पुर्तगाल की जेल में बन्दी बनाये रखने के पश्चात् उन्हें यह आशा ही नहीं थी कि वे कभी रिहा हो सकेंगे। पर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इनका मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंप दिया था फलतः न्यायालय के निर्णय स्वरूप श्री मास्कारकी शीघ्र रिहाई संभव हो सकी।

देशसेवा में सर्वस्व अर्पण करने वाले—

चिदम्बरम पिल्ले

भारतीय स्वाधीनता संग्राम का श्री गणेश १८५७ में ही हो गया था, जब लाखों की संख्या में सैनिकों और जनता के व्यक्तियों ने विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के लिये एक सम्मिलित प्रयास किया था। यद्यपि परिस्थितियों के अनुकूल न होने से यह असफल हो गया, तो भी उसमें भाग लेने वाले बलिदानों की ओर के प्रभाव से देशभक्तों की एक मुखता का निर्माण हो गया जो किसी न किसी रूप में प्रयत्न करते हुए उस स्वातन्त्र्य-ज्योति को प्रज्वलित रखे रही।

५० वर्ष बाद फिर देश में नव-जागरण की चेला आई। बांग-बांग के फलस्वरूप समस्त देश में उत्साह और आन्दोलन का ज्वालामुखी फूट पड़ा उसकी विंगद्विर्वा बड़े नगरों से लेकर छोटे से कस्बों तक को आसोकित करने लगीं। बड़े-बड़े विद्वानों, श्रीमानों, पदवीधारियों ने सुख-साधनों को त्यागकर सब तरह के कष्टों और आपत्तियों को अंगीकार किया और मातृभूमि को विदेशियों की दासता से मुक्त कराने के लिए संघर्ष आरम्भ कर दिया। अंग्रेज शासकों ने दमन का दौर्दारा चलाया, हजारों लोगों को जेल, जर्माना, जक्री, देश भिक्षा, फाँसी आदि की सजाएँ दी गयीं।

इस अवसर पर दक्षिणी भारत में श्री चिदम्बरम पिल्ले ने इस आन्दोलन की झगड़ोर संभाली और कुछ ही महीनों में समस्त प्रदेश में एक अलग भड़का दी। वे अपने प्रदेश के बहुत प्रसिद्ध वकील थे। हजारों रूपय प्रतिभास की आयदनी की और घर घर मुख तथा वैभव की सब सुविधाएँ मौजूद थीं पर कर्तव्य का आह्वान होने पर उन्होंने इस सबको एक ओर रख दिया और बिना किसी प्रकार के खतरे की परवाह किये मैदान में कूद पड़े।

सन् १९०७ की सूरत कांग्रेस में राजनैतिक नेतृत्वों में मतभेद हो गया। चिदम्बरम गर्भ विचारों के व्यक्ति थे, इसलिए उन्होंने जोरशोर से लोकमान्य तिलक के गर्भदल का समर्थन किया और मद्रास लौटकर तेजी से आन्दोलन करने लगे। उन्होंने लाखों ब्रोचरों को प्रेरणा देकर स्वदेशी आन्दोलन को सूब बढ़ाया और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार कराया। वे कहते थे कि अगर हम एक होकर अपना उद्धार करने को खड़े हो जायें तो ५० हजार अंग्रेजों को एक दिन में भारत से भगा सकते हैं।

सन् १९०० में बकायत की परीक्षा पास करने वाले इस युवक ने तूतक्कुडि (तूतीकोरन) में ककास्त आरम्भ कर दी। थोड़े ही दिनों में यह युवा वकील 'गरीब वकील' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इसका कारण यह था कि वह गरीबों के मुकद्दमे बिना फीस लिए लड़ा करता था। यहाँ तक कि कभी-कभी तो वह अपने गरीब

युवकियों की आर्थिक सहायता भी कर दिया करता था। वह युवक और कोई नहीं स्वतन्त्रता व स्वदेशी आन्दोलन के प्रखरत सेनानी व० ठ० चिदम्बरम पिल्ले थे जिन्हें तमिलनाडु के 'तिलक' नाम से भी जाना जाता है।

अपनी युववास्था में ही उन्होंने अंग्रेजी अधतन्त्र की शक्तिसे उठाने के जोरदार कार्य करने आरम्भ कर दिये थे जिससे अंग्रेज चौखला उठे थे। स्वदेशी अभियान के अन्तर्गत उन्होंने जो 'स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कम्पनी' आरम्भ की थी उसने अंग्रेजी जल मातायात को बड़ा धक्का पहुँचाया था। वे लोग उन्हें किसी तरह पकड़कर जेल में ठूसना चाहते थे। उन्हें इसके लिए उपयुक्त अवसर भी मिल गया।

१२ मार्च, १९०८ के दिन तिकमेलवेली जिलाधीश के न्यायालय में उन पर जनता को विद्रोह के लिए भड़काने के आरोप में मुकद्दमा चलाया गया। जब न्यायाधीश ने उनसे और उनके पिता सुब्रह्मण्यम शिवा से 'बन्देमातरम्' का नया सगन्त छोड़ देने का बचन लेना चाहा तो वे दोनों न्यायालय में ही जोर-जोर से 'बन्देमातरम्' का जयघोष करने लगे। इस पर वह चौखला उठा और अदालत की मानदानी व जनता को विद्रोह के लिए प्रेरित करने के कठित अपराध में वे जेल में ठूस दिये गये। अब तक तो वे खुले थे पर अब उन्हें जेल में रखते हुए मुकद्दमे की सुनवाई की जा रही थी।

जब तमिलनाडु के इन नरकेहरियों की इस अनुचित गिरफ्तारी का समाचार प्रदेश में फैला तो स्थान-स्थान पर इसकी तीव्र विरोधी प्रतिक्रिया हुई। विरोध, प्रदर्शन, हड़ताल, बाजार बन्द आदि अपने जीवन पर डंभर पड़े।

उसका दमन करने के लिए सरकारी अमले ने भी गोसियों और साठियों का सहारा लिया। यहाँ तक कि स्वयं जिलाधीश बिन्नु ने अपनी पिस्तौल से तीन युवकों को मौत के घाट उतार दिया। जनता का विरोध और पुलिस का दमन दोनों ही एक दूसरे से बढ़-बढ़ कर रहे। सरकार ने सभी गरम दल के लोगों को जेलों में ठूस दिया।

चार महीने तक उन पर राजद्रोह का मुकद्दमा चलता रहा। एडोल्फनस सेसन जब बिन्नु ने ७ जुलाई, १९०८ को पिल्ले को बीस वर्ष के काले पानी के कारावास का दण्ड सुनाया। उसको हाईकोर्ट में अपील हुई। हाईकोर्ट ने यह सजा दस वर्ष की कर दी। फिर उनके मित्रों ने प्रिन्सी-कौंसिल में अपील की वहाँ यह सजा छह वर्ष के सश्रम कारावास में बदल दी गयी।

अंग्रेज सरकार श्री पिल्ले के पीछे इस प्रकार हाथ धोकर क्यों पड़ी इसके कारण को समझने के लिए उनके सशक्त स्वदेशी आन्दोलन को समझने की आवश्यकता होती है। पिल्ले की विरफताएँ व सजा के मूल में उनके उत्तेजक भाषण नहीं बरन् उनका यह स्वदेशी अभियान ही था, जिसके अन्तर्गत उन्होंने अंग्रेजी व्यापार तन्त्र की प्रतिद्वन्द्विता में स्वदेशी व्यापार तन्त्र खड़ा करके उसे छिन्न भिन्न कर देने का समर्थ और सफल प्रयास किया था।

तमिलनाडु की वीर प्रसूत क्षेत्र पण्डितनाडु के तिकनेलवेली जिले के ओट्टुपिटारम ग्राम के उगलनाथ पिल्ले नामक कृषक के घर ५ सितम्बर, १८७२ के दिन माता परमायी की कोख से उत्पन्न होने वाला यह नर रत्न जितना स्वदेश से प्रेम करता था उतना ही विदेशियों से घृणा । क्योंकि उन्हें समय और सम्पन्न के साथ यह ज्ञात हो चुका था "पराधीन सपनें सुख नहीं" जब पूरा ही देश विदेशियों के आधीन हो तो फिर प्रगति कैसे हो ।

राजनीति में विशेष रुचि होने के कारण पहले तो वे वकील बने और देशवासियों के दुःख-दर्द में सहाम्यक होते-होते स्वदेशी आन्दोलन के अभियन्ता तक पहुँचे । उनकी बाणी में आग बरसती थी कि नेताओं के हृदय में उनके भाषण सुनकर पराधीनता की चेदियाँ तोड़ फैलाने का प्यार उफान आता था । उसके लिये उन्होंने गाँव-गाँव में 'स्वदेशी प्रचार सभा' की शाखाएँ खुलवायीं । बुनकरों व कारीगरों के हित के लिए उन्होंने नेशनल गोडाउन व 'महास एगो इण्डस्ट्रीयल सोसायटी लि०' जैसी संस्थाओं की स्थापना करायी जिससे कि हमारा स्वदेशी व्यापार बढ़े ।

स्वदेशी व्यापार की वृद्धि-समृद्धि के सूत्र के साथ ही अँग्रेजों के व्यापार के उखड़ने और साथ ही साथ उनके शासन के उखड़ने की पूरी सम्भावनाएँ जुड़ी हुई थी । युवकों में राष्ट्रीय भावनाएँ उभराने के लिए उन्होंने तमिलनाडु भर में 'देशाभिमान संगम' नामक संस्थाएँ स्थापित की ।

जिस प्रकार लोकमान्य तिलक ने भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए 'पैसा फण्ड' आरम्भ किया था जो एक तरह का सार्वजनिक बैंक था । उन्होंने स्वदेशी सहकारी भण्डार की स्थापना भी बम्बई में सन् १९०६ में की थी । वैसा ही एक कार्य ज० उ० चिदम्बरम पिल्ले ने भी हाथ में लिया जो इतिहास में अपने डंग का अनूठा समानान्तर आर्थिक तन्त्र था । १९०६ में उन्होंने अधिक धन करके 'स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कम्पनी' आरम्भ की । पचास-पचास रुपयों के ४० हजार शेयर रखकर उन्होंने भारतीयों की एक समर्थ व्यापारिक यातायात संस्था गठित की

बम्बई की एक जहाज कम्पनी का एक जहाज किराये पर लेकर पहले पहल तृतीकोरन व लंका के बीच व्यापारिक सेवा आरम्भ की । अँग्रेजी जहाज कम्पनियों भारतीय व्यापारियों के भाल को लाने ले जाने में चढ़कर देरी करती थीं व उनके व्यापार को हतोत्साहित करती थीं । इस कम्पनी की स्थापना होने पर भारतीय व्यापारियों की समस्या हल हो गयी । उनका काम ऐसा चला कि पहले दो महीनों में ही कम्पनी को बीस हजार का लाभ हुआ ।

'ब्रिटिश स्टीम नेवीगेशन' इसकी प्रारम्भिक प्रति-स्पर्धा से ही विचलित हो उठा । उन्होंने बम्बई की उस जहाज कम्पनी पर दबाव डालकर किराये के जहाज को रुकवा

दिया । किन्तु पिल्ले हार मानने वाले नहीं थे । वे यह प्रण करके निकले कि बम्बई से दो जहाज खरीद कर ही लौटूँगा । ब्रिटिश स्टीम नेवीगेशन के साथ सिर पटकने पर भी पिल्ले दो जहाज खरीदने में सफल हुए । उसके लिए उन्हें बहुत से शेयर बेचने पड़े ।

'स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कम्पनी' की कुछ ऐसी धूम मची कि अँग्रेजी जहाज कम्पनी ने उसे उखाड़ने के लिए एही चोटी का जोर लगा दिया । किराया कम करते करते और सुविधाएँ बढ़ाते बढ़ाते वे यहाँ तक नीचे उतर आये कि उन्होंने बिना भाड़े के घाल और बिना किराया लिए यात्रियों को लाना से जना प्रारम्भ कर दिया । फिर भी स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कम्पनी की जड़ें गहराती ही गयीं । क्योंकि इसके पीछे स्वदेश प्रेम की भावना जुड़ी हुई थी ।

राजनीति के क्षेत्र में प्रबल जन आन्दोलन, युवकों में राष्ट्रीय चेतना उगाने के संभवद प्रयास, किसानों और मजदूरों की मुक्ति लोड़ने के जोरदार प्रयास, बुद्धिजीवियों और धनिकों को अपने कार्य-कलापों द्वारा आन्दोलन के तले लाने का प्रयास और दूसरी तरफ आर्थिक क्षेत्र में ब्रिटिश व्यापार तन्त्र की चट्टों में तेल डालने जैसा स्वदेशी अभियान । इसकी धुरी थे चिदम्बरम पिल्ले ।

मद्रास में तिलक और तमिलनाडु में पिल्ले तो बंगाल में पाल और पंजाब में सत्ता साजपत राव जैसे महारथियों द्वारा लड़े जाने वाले इस महाभारत में अँग्रेजों को अपनी सत्ता ही डोँक-डोल डोती दिखाई पड़ने लगी तो उन्होंने महापद गिरफ्तारीएँ करना आरम्भ कर दिया । जब पिल्ले पर लगाये गये राजद्रोह के फैसले की अपीलें चल रही थीं तभी लोकमान्य को छह वर्ष की सजा हुई । श्री पिल्ले को भी छह वर्ष का सश्रम कठोर कारावास दिया गया । इस प्रकार गरम दस्त द्वारा ठठये गये तुफान को अँग्रेजों ने बेन केन प्रकारेण म्वाय और नीति को तिलांजलि देकर कुचलने का प्रयास किया ।

छह वर्ष का कठोर कारावास भोगकर उनका शरीर धले ही शीथकाय हो गया था किन्तु अंगारे में दबी अग्नि की तरह उनकी स्वतन्त्र प्रेम की ज्योति रंजमात्र भी मन्द नहीं पड़ी थी । उन्हें कोयम्बरूर व कण्णनूर के कारागृहों में रखा गया । वहाँ उन्हें कोल्हू खींचना पड़ा था, पत्थर तोड़ने पड़ते थे व बोझा डोना पड़ता था । ऊपर से खाना रुखा-सूखा व अस्थायी पेट ही दिया जाता था । इसके उनका स्वास्थ्य बहुत बिग गया था । १९१२ में वे जेल से छूटे ।

जेल से छूटकर जब वे पुनः कार्य क्षेत्र में आये तो वहाँ सब कुछ उलट चुका था । उनके घर की, परिवार की स्थिति दयनीय हो चली थी । उनके द्वारा स्थापित स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन को पहले तो बन्द कर दिया गया और बाद में उसे बेच भी दिया था । उनकी वकालत की सनद भी सरकार ने बन्द कर ली थी । देशभक्तों को तो यह सब वन्धनाएँ व दुःखद परिस्थितियाँ भोगनी ही पड़ती हैं । यह सोचकर श्री पिल्ले खिन्न नहीं हुए उन्होंने नये सिरे से आन्दोलन आरम्भ करने की प्रवृत्ति ली ।

कालत न सही दुकानकारी ही सही । पर खर्च चलाने के लिए उन्होंने पसारी की दुकान खोल ली और स्वदेशी आन्दोलन को पुनः गतिमान बनाने का प्रयास किया । उन्होंने इन दिनों कई मजदूर संगठन बनाये ।

१९१४ में लोकमान्य तिलक भी अपना चर्जर शरीर और युवा मन लेकर भाण्डला बेल से रिहा होकर आये तो श्री पिल्लै उनसे मिलने गये और गरम हल का बर्बरक पुनः बढ़ाने के लिए विचार-विमर्श किया । १ अगस्त, १९२० को तिलक का देहावसान हो जाने से पिल्लै को बड़ा धक्का पहुँचा । क्योंकि वे कलकत्ता कांग्रेस में पुनः अपनी नीतियों को मनवाने के विषय में योजना बना चुके थे । किन्तु अकेले बढ़ जाने के कारण अपनी नीतियों को जोरदार ढंग से रखने के बाद भी वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सके । मद्रास लौटकर वे पुनः उसी ज्योति को प्रखर बनाने में जुट पड़े जो लोकमान्य तिलक ने जलाई थी । अब उन्हें कालत की सख्त भी चापस मिल गयी थी । अतः वे पुनः गरीबों को न्याय दिलाने के लिए निःशुल्क पैरवी करते हुए अपने राष्ट्रीय अभियान को चलाते रहे ।

पिल्लै राजनीतिज्ञ न अर्थविज्ञानी ही नहीं कमल के उद्भट विद्वान् भी थे । अपने इतने व्यस्त जीवन में भी समय निकाल कर उन्होंने अपनी पद्यात्मक आत्मकथा व कई नीति-ग्रन्थ लिखे जिनका तमिल साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है । जेल में उन्होंने अपने साक्षियों को तमिल भाषा व साहित्य पढ़ाया भी था । राजगोपालाचारी व सेलम विजय राघवाचारी उन्हीं में से दो हैं ।

१८ नवम्बर, १९३६ को उनका देहावसान हो गया । उनके सम्मान व स्मृति में १९४९ में तत्कालीन गवर्नर जनरल राजा जी ने तृतीकोटन व श्रीलंका के बीच चलने वाले एक जहाज का नाम 'चिदम्बरम' रखा व उन्हीं के नाम पर वहाँ एक हार्बर भी बनाया । तमिल अभिनेता शिवाजी गणेशन ने उनके जीवन पर फिल्म भी बनायी । उसका नाट्य रूपान्तर सारे तमिलनाडु में खेला गया । भारतीय डाकतार विभाग ने ५ सितम्बर, १९७२ को उनकी स्मृति में विशेष डाक टिकट भी जारी किया । उनके इस जीवन से हम यदि वैसा ही महान स्वप्न तैयार करें व उन्हें साकार करने के लिए तिल-तिल जलने की प्रेरणा न ले सकें तो यह हमारा दुर्भाग्य ही होगा ।

जो अनाथ बालक से राष्ट्र निर्माता बना—

चन्द्रगुप्त मौर्य

इस से साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व की बात है । मगध की राजधानी पाटलिपुत्र का अहोर जब अपने नाड़े में ग़वर्षों को चरापानी देने के लिए पुस्त तो एक शिशु का

रुदन स्वर सुनाई दिया । वह उसी आवाज की ओर दौड़ा गया । देखा— एक नवजात शिशु पड़ा हुआ बिलख रहा था । शब्द अपने उस दुर्भाग्य पर— जिसके कारण उसे जन्म के तुरन्त बाद ही अपनी माँ से बिछुड़ना पड़ा था ।

अहोर ने आस-पास देखा शब्द उसकी माँ यहीं कहीं हो, वो देखा पीछे के दरवाजे में खड़ी एक स्त्री तुरन्त मुड़ी और बड़ी तेजी से चली गयी । अहोर ने फिर भी उस स्त्री का मुँह देखा लिया और पहचान गया कि वह मगध के एक सरदार की धर्मपत्नी है । जिसका पति युद्ध में मारा गया था । कुछ ही दिन पूर्व की तो बात थी । तब वह स्त्री अपना वैधव्य काटने के लिए अपने भाई के पास आयी थी ।

भाई ने अपनी एकमात्र बहिन को संरक्षण और सम्पन्न दिया । उसका प्रसव काल निकट ही था तब भाई को चिन्ता होने लगी । बेचारा अपना पेट ही तो बड़ी मुश्किल से भर पाया था फिर बहिन के बच्चे का भार कैसे उठाता । परन्तु उसने अपनी चिन्ता को व्यक्त नहीं किया ।

बहिन भी समझदार थी इसलिए उसने अपने बच्चे को किसी अच्छे घर के आस-पास छोड़ जाने का निश्चय कर लिया ताकि उसका भली-भाँति पालन-पोषण हो सके । यही सोचकर वह प्रसव के बाद अपनी ममता का बन्धन तोड़कर नवजात पुत्र को उक्त अहोर के बाड़े में छोड़ने के लिए आयी थी । वह जानती थी कि वह अहोर दयालु है । इसलिए बच्चा अच्छी तरह यहीं पल सकेगा और आँखों के सामने भी रहेगा ।

यही बालक आगे चलकर चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम से भारत के सम्राट पद पर बैठा और अपना ही नहीं देश का भव्यता भी बदलकर रख दिया । चन्द्रगुप्त के पिता मौर्य वंशीय क्षत्रिय थे । जब वह गर्भ में था तभी वे एक लड़ाई में मारे गये । बचपन से ही बालक चन्द्रगुप्त को विपत्तियाँ और कठिनाइयाँ देखने पड़ीं ।

जिस अहोर के पास माँ ने अपने बेटे को छोड़ा था वह भी बड़ा स्तब्ध निकला । चन्द्रगुप्त जब बड़ा हो गया तो गाँव में एक दिन कोई शिकारी आया । चन्द्रगुप्त अपने घर के सामने ही खेल रहा था । दूध पिलता था खूब पीने के लिए और दिन भर खेलना-कूदना । बेफिक्री और अच्छे भोजन ने चन्द्रगुप्त को परिपुष्ट शरीर प्रदान किया । शिकारी निःसन्तान था इसलिए उसने निश्चय किया कि किसी न किसी प्रकार इस बच्चे को अपना बेटा बनना चाहिए ।

शिकारी ने आस-पास के पड़ोसियों से चन्द्रगुप्त के बारे में पूछ-ताछ की तो पता चला कि यह बालक उस अहोर का अपना बेटा नहीं है और प्रयत्न किया जाय तो असंभव नहीं कि वह उसे देने के लिए राजी हो जाये । शिकारी ने समझ-बूझ से अहोर के सामने इच्छा व्यक्त की अहोर ने कह दिया कि— चन्द्रगुप्त पर किया गया अभी तक

का खर्च कोई चुका दे तो वह उसे चुकाने वाले को सौंप देगा।

शिकारी ने अहीर को काफी धन देकर चन्द्रगुप्त को अपने साथ ले जाने के लिए तैयार कर लिया। जब चन्द्रगुप्त की माँ को यह सब पता चला तो वह बड़ी दुःखी हुई। अब तक तो वह अपने बेटे को देखकर ही सन्तोष कर लिया करती थी। परन्तु वह अब उसकी आँखों से भी ओझल हो रहा था। किसी तरह उस बेचारी ने अपना मन मार लिया और चन्द्रगुप्त शिकारी के साथ चल गया। शिकारी भी अच्छा धनवान था। काफी सम्पत्ति और पशुधन था उसके पास। शिकारी ने उसे पिता का प्यार दिया। जिसके परिणामस्वरूप वह स्वयं को और भी सुखी तथा निश्चित अनुभव करने लगा।

शिकारी के साथ रहकर चन्द्रगुप्त कई गुण और तत्त्व विद्या सीख गया। कुछ बड़ा होने पर वह भी अपने नये पिता के मवेशी चराने लगा। साथ में दूसरे ग्वाल-बाल भी होते। जोर तो इधर-उधर चरते रहते और चन्द्रगुप्त अपने साथियों के साथ तरह-तरह के खेल खेला करता। कभी राजा-प्रजा का, कभी चोर-सिपाही का। अच्छे डीलढील और बय में भी बड़ा होने के कारण इन खेलों में मुख्य पात्र तथा निर्णायक चन्द्रगुप्त को ही बनना जाता था। एक दिन की बात है कि ग्वाल-बाल साथियों के साथ वह राजा-प्रजा का खेल खेल रहा था। फस से ही गाँव की ओर एक सड़क जाती थी। उस सड़क पर से निकल एक क्षीणकाय दुर्बल ब्राह्मण।

बालकों को राजा-प्रजा का खेल खेलते देख कौतुहलवश वह वहीं रुक गया। मनोरंजन की दृष्टि से वह राजा बने चन्द्रगुप्त के पास पहुँचा और नाटकीय निवेदन किया— “महाराज मैं गरीब और अन्नव ब्राह्मण हूँ।”

“हाँ-हाँ बोलो क्या चाहिए”— राजा बने चन्द्रगुप्त ने कहा।

“कुछ गायें मिल जाएँ तो बड़ी मेहरबानी हो”— उस ब्राह्मण ने कहा।

“ले जाओ”— पास पर रही गायों की ओर इशारा करते हुये चन्द्रगुप्त ने कहा— “जितनी चाहिए ले जाओ।”

“इनका मालिक मुझे थकड़ कर भरेगा”— ब्राह्मण ने और भी रस लेते हुए कहा।

“किसकी हिम्मत है जो सम्राट् चन्द्रगुप्त की आज्ञाओं का उल्लंघन करे”— चन्द्रगुप्त ने इस प्रकार उत्तर दिया जैसे सचमुच ही वह राजा हो और वह ब्राह्मण जो और कोई नहीं भारतीय नीति शास्त्र के पण्डित चाणक्य थे, इस उत्तर से बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने बालक चन्द्रगुप्त को एक उदीयमान प्रतिभा के रूप में देखा और लगा कि उनकी खोज पूरी हो गयी है।

उस समय चाणक्य किसी ऐसे युवक की तलाश में थे जिसे आगे कर वे भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित

कर सकें। उस समय भारतवर्ष अनेकों छोटे-बड़े राज्यों में बिखरा हुआ था। जिनके अधिपति राजा-महाराजा वीर तो थे परन्तु संकीर्ण स्वार्थों और संकुचित हितों के लिए ही परस्पर लड़ते मारते रहते थे।

फूट और तज्ज्वित वैमनस्यता के कारण उन्हें अपने राष्ट्रीय हितों का भी ध्यान नहीं रहता था। उस समय भारत में चारों ओर धन सम्पदा बिखरी बड़ी थी। आपसी फूट और बिखराव से साथ उठकर विदेशी लुटेरे तथा सम्राट यहाँ आ आकर अपना भंडार भर लेते थे। विदेशी आक्रमणकारी धन और जन ही यहाँ यहाँ की संस्कृति को भी लूटने और तहस-नहस करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते थे। यही कारण था कि चाणक्य को तक्षशिला का विशाखीठ छोड़कर गाँव-गाँव भटकने के लिए विवश होना पड़ा।

पण्डितों और ब्राह्मणों का एक महत्त कर्तव्य यह भी है कि वे संस्कृति और धर्म की रक्षा के लिए अपने पद, गौरव और ऐश्वर्य को धूलकर प्राणपण से प्रयत्न करें चाणक्य इसी कर्तव्य-बोध से तक्षशिला का प्रतिष्ठित आचार्य पद छोड़कर पहले मगध सम्राट के पास पहुँचे थे मगध उस समय भारत का सबसे बड़ा राज्य था। इस राज्य का राजा था नन्द। चाणक्य ने नन्द को सलाह दी कि वह बिखरे राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधकर संगठित करे। परन्तु नन्द को तो अपने विलास भोगों से ही फुरसत कहाँ थी। इसलिए उसने चाणक्य को अपमानित कर अपने यहाँ से भगा दिया।

अब चाणक्य ने समझ लिया कि प्रस्तुत लक्ष्य किसी राजा या सम्राट से पूरा नहीं होगा। उसके लिए तो एक नवी ही शक्ति का उदय होना चाहिए जो देश-प्रेम, वीरता, संध-निष्ठा और एकता के आधार पर उदित हो। चाणक्य स्वयं तो संन्यासी और धर्माचार्य थे। स्वयं राजनीति में प्रत्यक्ष भाग लेना उन्हें मर्यादाओं के विरुद्ध लगा इसलिए अपने किसी निष्ठावान शिष्य को यह उत्तरदायित्व सौंपकर इस अभियान का सूत्र संचालन ही उपयुक्त लगा और वे इसलिए योग्य शिष्य की तलाश में इधर-उधर भटक रहे थे।

चन्द्रगुप्त में यह प्रतिभा देखकर उन्होंने शिकारी से सम्पर्क साधने और उसे अपने साथ ले जाने के लिए तैयार कर लिया। चाणक्य अपने नये शिष्य को लेकर तक्षशिला पहुँचे और वहाँ सस्त्र तथा शास्त्र दोनों सिखाने लगे। शसक स्तर के व्यक्ति को बुद्धि और शक्ति दोनों ही विभूतियों से सम्पन्न होना चाहिए। चाणक्य ने अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर यह विचार व्यक्त किया है। शसक ही क्या सामान्य व्यक्ति के लिए भी बुद्धि-बल और शरीर-बल दोनों का महत्त्व अनुपेक्षणीय है। चन्द्रगुप्त ने सात आठ वर्ष तक अपने योग्य और विद्वान गुरु के पास ही रहकर दोनों विशेषतायें अर्जित कीं।

तक्षशिला में व्यतीत किया समय चन्द्रगुप्त के भावी जीवन का आधार यजबूत करने और बनाने का कारण

१.५६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग २

बना। चाणक्य ने अपने शिष्य को स्वस्व और शास्त्र में पारंगत बनाने के साथ-साथ उसके चरित्र गठन की ओर भी ध्यान दिया। चरित्र ही तो समस्त सफलताओं और सदृश्यों का प्राप्त करने का मुख्य आधार है। इसके अभाव में बड़े-बड़े शक्तिशाली साम्राज्य और सम्राटों का नाश तथा पतन हुआ है। आदि कात्त से अब तक इस बात के कई उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं।

व्यक्तिगत जीवन में भी चरित्र को उतना ही अनिवार्य तथा उपयोगी माना गया है। साधारण से साधारण व्यक्ति के लिए भी वह उतना ही उपयोगी है जितना कि उच्च प्रतिष्ठित और शासन तथा अधिकारियों के लिए क्योंकि धिरस्थायी शान्ति और अपने उत्तरदायित्व को समझने तथा उसे पूरा करने की क्षमता चरित्र-साधना से ही तो उद्भूत होती है।

तभी ई० पू० ३२६-२७ में भारत पर यूनायन के सम्राट सिकन्दर ने आक्रमण किया। यहाँ के राज्यों की आपसी फूट का लाभ उसे मिला और समूचा पश्चिमी भारत गुलाबी की जंजीरों में जकड़ दिया गया। उस समय चाणक्य चन्द्रगुप्त को अपना स्वप्न साकार करने के सिन्धे तैयार कर रहे थे। दूरदर्शन चाणक्य यह जानते थे कि आखिर भारत को वर्तमान परिस्थितियों और यहाँ के राजाओं की आपसी फूट के कारण एक न एक दिन अपनी स्वतन्त्रता खोनी ही पड़ेगी।

यह अनुमान सही निकला परन्तु चाणक्य इससे सन्तुष्ट हुए क्योंकि पूर्व की स्थिति में छोटे-छोटे राज्यों से लड़कर अपनी समर्थ और शक्ति को व्यर्थ ही खर्च करना पड़ता। अब सिकन्दर के आक्रमण से कई राज्यों का एकीकरण हो गया तो उन पर विजय करने तथा अपना स्वप्न साकार करने में बड़ी आसानी रहेगी। अब चाणक्य और चन्द्रगुप्त आगे की योजनाएँ बनाने लगे। चाणक्य ने अपनी कुशाग्र बुद्धि से विदेशियों को भारत से बाहर खदेड़ने की योजना बना ली। जिसके अनुसार एक बड़ी सेना का गठन किया जाना था। इधर सिकन्दर को विजय ने सामान्य जनता का मनोबल तोड़कर रख दिया। सेना गठन के लिए इस मनोबल को पुनः अग्रत करना आवश्यक था। गुरु और शिष्य मिलकर पंजाब भर में घूमे और वहाँ के लोगों को स्वतन्त्रता तथा एक राष्ट्र की स्थापना के लिए प्रेरित करने लगे। कई लोगों ने उनका साथ दिया। युवा और उत्साही व्यक्ति चन्द्रगुप्त और चाणक्य की योजना के अनुसार सेना बनाने के लिए आगे आये।

सैन्य-संगठन का कार्य आरम्भ होने भर की देर थी। चाणक्य और चन्द्रगुप्त एक सन्त ब्राह्मण और दूसरा गरीब अनाथ—दोनों की आवाज ने अपना कमाल दिखाया। लोग उनके आह्वान पर अपने घरों से खाना लाकर, भूखे रहकर राष्ट्र की स्थापना के लिए आगे आये और अन्त तक उनके साथ रहे।

इन युवकों को युद्ध विद्या का प्रशिक्षण दिया गया और एक अच्छी सेना तैयार हो गयी जिसका सेनापति बना

चन्द्रगुप्त। पंजाब की भूमि तो वैसे भी रणबौंकुरे जवानों से भरी पड़ी थी। कर्णों थी तो योग्य नेतृत्व की। चन्द्रगुप्त के रूप में अपना अनुभवा-नेता पाकर पंजाब के वीर जवानों ने यूनानियों को ललकारा और झेलम तथा व्यास नदी के आसपास से विजय अभियान शुरू किया जो यूनानियों से घिरी हुई थी।

मरने पारने के लिए कटिबद्ध पंजाबी सैनिक और राष्ट्र-निर्माण के लिए आहुत जीवन चन्द्रगुप्त और चाणक्य—इन सबकी सम्मिलित शक्ति से तीन वर्ष के भीतर-भीतर भारत-भूमि यूनानियों से रहित हो गयी। विदेशी शासन का नामोनिशान मिट गया। विदेशियों को भारत-भूमि से भगकर चन्द्रगुप्त का ध्यान अपने देश की अन्दरूनी स्थिति पर दिलाया गया। अभी तो आधे से अधिक काम बाकी पड़ा था। बुद्धि-कौशल और निष्ठावान सहयोगियों के बल पर चन्द्रगुप्त को विश्वास था कि यह काम पूरा होकर रहेगा। जिस विश्वास के बल पर चार वर्ष पूर्व गुरु शिष्य दोनों छाती हाथ घर से निकले थे। वह बुद्धि कौशल ही था जो उन परिस्थितियों में भी इतना बड़ा सैन्य संगठन तैयार हो गया और मंजिल की आधी दूरी तै

■■■■■

पश्चिमी भारत को सुरक्षित और कण्टकहीन कर चन्द्रगुप्त मगध की ओर मुड़ा। उस समय मगध के पास काफी बड़ी सेना थी। लगभग २ लाख २५ हजार सैनिक मगध के राज्य को रक्षा का भार सम्हाले हुए थे। परन्तु चाणक्य जानते थे कि मगध का राजा नन्द वहाँ की जनता में बहुत अलोकप्रिय है। उसकी शासन व्यवस्था, चरित्र-हीनता और वमण्ड से उसके स्वर्ग के परिजन, राजमहल के निवासी तक बड़े प्रसन्न थे। इसलिए थोड़ी सूझबूझ से काम लिया जाये तो मगध को आसानी से जीता जा सकता है।

चाणक्य ने सैन्य-बल की अपेक्षा बुद्धि-बल से काम लिया और नन्द के कई अधिकारियों को अपने पक्ष में कर लिया। अन्दर से इतना सशक्त विरोध नहीं होगा यह जानकर चन्द्रगुप्त अपनी सेनाएँ लेकर मगध पर टूट पड़ा। मगध नन्द के कई अधिकारियों ने चन्द्रगुप्त की मदद की फिर भी मगध को जीतने में दो वर्ष का समय लगा। ३२१ ई० पू० चन्द्रगुप्त ने अपनी सेनाओं सहित मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में प्रवेश किया। नन्द का शासन समाप्त हो गया था। राज्य सिंहासन पर चन्द्रगुप्त का तिलक किया गया। इतनी बड़ी सफलता प्राप्त कर लेने के बाद भी चन्द्रगुप्त में वमण्ड बिल्कुल ही नहीं आया। कहते हैं उसने अपने पालक बचपन के अहीर पिता को हुँववाया और उसे पर्याप्त धन दौलत दी ताकि वह सुख चैन से जीवन बिता सके। कई अवसरों पर चाणक्य ने भी उसे फटकारा परन्तु चन्द्रगुप्त तो अभी सम्राट कम और शिष्य अधिक था। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य बन जाने के बाद उन्होंने अपने अभियान का अगला चरण पूरा करने के लिए कदम उठाया।

पंजाब, मगध और व्यास नदी के तटवर्ती प्रदेश तो अधिकार में आ ही गये थे अब मध्य भारत, दक्षिणी प्रदेश और पूर्वी भारत को एक सूत्र में आबद्ध किया और वृहत्तर भारत की नींव रखी। उस समय रचे गये ऐतिहासिक ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त मौर्य का उल्लेख सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के सम्राट के रूप में किया गया है। हिमालय से सागर तक और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक एक राष्ट्र और भारत और उसका निर्माता था— एक अनाथ, पातु-पितृ हीन बालक।

सम्राट चन्द्रगुप्त ने इतने बड़े साम्राज्य का अधिपति होते हुए भी कभी इस विचार को प्रश्रय नहीं दिया कि मैं अतुल्य धन संपन्न और राज्य संधी का स्वामी हूँ। वह सदैव यही मानता रहा कि मैं प्रजा का सेवक मात्र हूँ। अपने मार्गदर्शक महर्षि चाणक्य का विनम्र अनुयायी भी हूँ। जो इतने बड़े राष्ट्र के गठन में प्रधान भूमिका निभाने तथा अतुल्य वैभव का उपभोग करने में समर्थ होते हुए भी शहर से बाहर एक साधारण-सी कुदिया में रहते हैं। सर्वोच्च शासन पद पर रहते हुए भी इतना निर्लिप्त और अनासक्त जीवन जीकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारतीय इतिहास में एक स्वर्ण अध्याय अपनी कर्म सेखनी से लिख डाला।

यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार चन्द्रगुप्त के शासन काल में लोग भी तत्ने ही मदाचारी और एक दूसरे का ध्यान रखने वाले हो गये थे। फिर भी शासन की ओर से किसी प्रकार की लापरवाही नहीं बरती जाती थी। चाणक्य द्वारा लिखित अर्थशास्त्र—जो राज्य व्यवस्था का प्रमुख मार्गदर्शक ग्रन्थ माना जाता है—के अनुसार तथा चाणक्य के परामर्श से सारा राजकाज चلتता था। सैन्य-संगठन तथा सुरक्षा व्यवस्था इतनी सुदृढ़ बनायी गयी थी कि बाहर का कोई भी शत्रु राष्ट्र की सैन्य को चेष्ट नहीं सकता था। इतिहास में चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में ही सेल्यूकस सिकन्दर के आक्रमण का उल्लेख भी आता है परन्तु उसे पराजित होकर ही जाना पड़ा। लगभग २४ वर्षों तक राज्य कर २९७ ई० पू० चन्द्रगुप्त का देहान्त हो गया।

‘विक्रमादित्य’—चन्द्रगुप्त

“अनेकों बार मैं ऐसे प्रदेशों से गुजरा हूँ, जहाँ मुझे अपने लूटे जाने का भय उपजे बिना नहीं रहा क्योंकि प्रत्येक बार मेरे पास सम्राट और अतिथि सत्कार प्रिय नागरिकों द्वारा भेंट किये गये बहुमूल्य वस्त्राभूषण और उनसे भी अधिक मूल्यवान अपने साथ ले जाने के लिये एकत्रित की हुई पुस्तकें थीं। अकेले सुसज्ज जंगलों और घोरान सहकों से गुजरते हुए प्रायः मेरे मन में ऐसी आशंका उत्पन्न हो जाती थी कि कोई मुझ लूट लेगा पर किसी ने मुझे परेशान नहीं किया। जो भी कोई पिला उसने सहायता ही की। विनम्र शब्दों में अपना प्रतिष्ठा स्वीकार करने का ही आग्रह किया। कितने अच्छे हैं यहाँ के लोग—सभ्य, सुसंस्कृत, शिष्ट और उदार, सभी तो समृद्धि इनके चरण चूमती हैं।

राज्य में चोरी, डकैती और राहजनी जैसे अपराध तो होते ही नहीं हैं। कैदियों को भी शारीरिक यन्त्रणाएँ नहीं दी जाती हैं। मृत्यु दण्ड का तो विधान ही नहीं है यहाँ पर। भयंकर से भयंकर अपराध का दण्ड भी अंग भंग तक ही सीमित है। अपराधियों के लिये कठोर दण्ड विधान न होते हुए भी अपराधों का नहीं के बराबर होना मेरे लिये एक सुखद आश्चर्य था। इसमें राजा और प्रजा दोनों की महानता की झलक मिलती है। राजा अपने को प्रजा का सेवक भर समझता है।

उपरोक्त कथन है चीनी यात्री फाह्यान का जो गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में भारत आया था। तीन वर्ष तक वह मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में रहा था। उस समय चन्द्रगुप्त आर्यावर्त का एक छत्र शासक था। उसकी महानता, कुशल शासन प्रबन्ध और भारतीय जनता की इस उच्च सामाजिक और मानवीय चेतना का वह वृत्तान्त उसने चीन में अपने मित्र को सुनाया था जिसने उसके इस वृत्तान्त को लिपिबद्ध कर लिया था। जो आज उस समय की हपारो सभ्यता, संस्कृति, धर्म और सामाजिकता की उज्ज्वलता का ग्रामाणिक सस्तावेज बना हुआ है। उसने सम्राट चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व और उसकी शासन व्यवस्था के बारे में अपने मित्र को बताया—“सम्राट चन्द्रगुप्त की शासन व्यवस्था बहुत उदार और उत्तम थी। लोगों पर अधिक कर भार नहीं था। प्रजा समृद्ध थी प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार व्यवसाय चुनने के लिये स्वतन्त्र था। नैतिकता और सामाजिकता के अलिखित नियमों में मनुष्य इस प्रकार बंधा हुआ था कि लगता था यह सब उनका स्वभाव ही बन गया है। कोई थोरी नहीं करता था इसलिए घरों में ताले लगाने का रिवाज भी नहीं था।

मगध के विगत साम्राज्य में स्थान-स्थान पर यात्रियों के विश्राम करने और आश्रय के लिए धर्मशालाएँ खोजी हुई थीं। जनता शिक्षित, चिकित्सक और समाज कल्याण के कार्य स्वयं सम्पादित करती है। यहाँ की सामाजिक व्यवस्था ही कुछ इस प्रकार की थी कि इन सबके लिये शासन को न तो जनता से कर ही लेना पड़ता था न उसकी व्यवस्था ही करनी पड़ती थी। सम्पन्न नागरिक इन सबकी व्यवस्था स्वयं करते थे।

सम्पन्न होते हुए भी लोग धन को नहीं खरिद के भवत्व देते थे। सत्य और नैतिकता पालने वाला व्यक्ति ही संपन्न में सम्पन्नित माना जाता था। व्यक्ति की महानता का आधार उसका चरित्र था धन नहीं। मगध में कहीं मुझे मॉस, मंदिर को दुकान दिखायी नहीं दी इससे पता लगता है, लोग इनका सेवन नहीं करते थे। यहाँ तक कि प्याज और लहसुन का प्रयोग भी कोई नहीं करता था। शासन व्यवस्था बहुत उत्तम और नागरिक बड़े चरित्रवान थे।”

फाह्यान द्वारा वर्णित इन तथ्यों को सुनकर आज हम आश्चर्य होता है किन्तु यह वर्णन असत्य नहीं है। गुप्त

इसी व्यापार के कारण भारत सोने की चिड़िया बन गया था। निर्यात में सबसे अधिक भारत के कुटीर व्यवसाय का बना हुआ माल होता था। जिसके विनिमय में सोन मिलता था।

चन्द्रगुप्त वैष्णव था। किन्तु वह अन्य मर्तों का भी उतना ही आदर करता था जितना अपने मत का। उसका प्रधान सेनापति बौद्ध था। वह सभी धर्मावलम्बियों को समान मानता था। उदार और दानी होने के कारण प्रजा उसके प्रति प्रेम ही नहीं श्रद्धा भी रखती थी। उसके राज्य में प्रजा बड़ी सुखी थी। कहते हैं वह रात्रि में वेध बदलकर जनपथ पर इसलिये घूमा करता था कि वह अपनी प्रजा के सुख-दुःख और राज कर्मचारियों की कर्तव्य विमुखता का पता लगा सके। इसी कारण उसे कर्तव्य परायणता 'परदुःखतकातर राजा' भी कहा जाता है। उसकी प्रजावत्सलता और परदुःखतकातरता की कितनी ही कहानियाँ आज भी भारतीय लोक-साहित्य और किंवदन्तियों के रूप में जीवित हैं— सोलह सौ वर्ष बाद भी। सम्राट विक्रमादित्य कहन करते थे मेरे पूर्वजों ने अपने पराक्रम और परिश्रम से जिस मातृ-भूमि का भूंगा किया, वह मातृभूमि आज मेरे पौरुष को अपेक्षा करती है तो क्या मुझे उसके लिए क्षण भर की भी देरी करनी चाहिए? मेरे पूर्वजों ने जिस भारत-भूमि को अपनी बलि की छद्म से सदा वीर-प्रसूता बनाये रखा, वह मातृभूमि आज मेरे रक्त का अभिसिंचन चाहती है तो क्या मुझे उसके लिए क्षण भर की देरी करनी चाहिए?

मेरे बाद मेरी आने वाली पीढ़ियाँ मेरी मातृभूमि का जिस रूप में दर्शन करना चाहती हैं, जिस क्रद्धा से उसे पूजना चाहती हैं, जिस पौरुष से उसके रक्षार्थ बलिदान होना चाहती हैं, यदि मैं अपनी मातृभूमि का वैसा पूज्य वेश अपनी सर्वोपरि पूजा, सर्वस्व अर्पण और सर्वोच्च बलिदान से न बनाऊँ तो क्या मैं अकेला ही इतना बड़ा कलंक न बन जाऊँगा कि सारा मानव सभ्यता ही सदा के लिए उससे कलंकित और लज्जित न हो जाय?

प्रतिभा का सम्बन्ध शरीर से नहीं आत्मा से है

उद्यान में भ्रमण करते-करते सहसा राजा विक्रमादित्य महाकवि कालिदास से बोले— "आप किन्तने प्रतिभाशाली हैं, मेधावी हैं, पर भगवान ने आपका शरीर भी आपकी बुद्धि के अनुसार सुन्दर क्यों नहीं बनाया?" कुशल कालिदास राजा की कृप की गर्वोक्ति समझ गये। उस समय तो वे कुछ भी न बोले। राजमहल में आकर उन्होंने दो पात्र मैगाये— एक मिट्टी का और एक सोने का। दोनों में जल भर दिया गया। कुछ देर बाद कालिदास ने विक्रमादित्य से पूछा "राजन् किस पात्र का जल अधिक शीतल है?"

"मिट्टी के पात्र का।" विक्रमादित्य ने उत्तर दिया। तब मुसकराते हुए कालिदास बोले "जिस प्रकार शीतलता पात्र के बाहरी आधार पर निर्भर नहीं है, उसी प्रकार प्रतिभा भी शरीर की आकृति पर निर्भर नहीं है। विद्वता और महानता का सम्बन्ध शरीर से नहीं आत्मा से है।"

निर्भयता के सामने ब्रह्मराक्षस भी भाग

खड़ा हुआ

विक्रमादित्य ने चौघेफन में संन्यास ले लिया और वे अवभूत जीवन व्यतीत करने लगे। उनके स्थान पर जो भी राजा बैठता, उसे भयंकर ब्रह्मराक्षस रात्रि के समय मार डालता। इस प्रकार कितने ही राजाओं की मृत्यु हो गयी। भेद कुछ खुलता न था। सो कहीं से विक्रमादित्य के खोज निकालने और उनसे धार्मिक निकलवाने का मिश्रण किया गया। खोजने पर वे एक स्थान पर मिल भी गये। सारी स्थिति समझायी गयी और उन्हें गुल्मी सुलझा देने के लिए सहमत कर लिया गया।

विक्रमादित्य ने अपनी दिव्यदृष्टि से ब्रह्मराक्षस की करतूत समझ लीं। उम्ने सपनकक्ष से बाहर इतने पकवान-मिष्ठान्न रखवा दिये कि उन्हें खाकर उसका पेट भर गया। फिर भी राजा को मारने के लिए सपनकक्ष में आ पहुँचा।

विक्रमादित्य बड़े बुद्धिमान थे। उन्होंने ब्रह्मराक्षस को सम्पन्नपूर्वक बिठाया और वार्त्तालाप में लगाया। उससे उसकी शक्तियाँ और सिद्धियाँ पूछीं। राजा ने उसकी भूख बुझाने का अधिक उपयुक्त प्रबन्ध करा देने का भी आश्वासन दिया। साथ ही मित्रता की शर्त रूप में यह वर माँगा कि उनकी आयु बता दे। ब्रह्मराक्षस ने १०० वर्ष बताया। राजा ने कहा— इनमें से आप दस घंटा या घंटा सकते हैं क्या? उसने पना कर दिया और कहा यह कार्य विधात का है।

विक्रमादित्य तलवार निकालकर खड़े हो गये और कहा जब आशु निर्धारित है, तो तुम मुझे कैसे मार सकते हो? निर्भय राजा के सामने राक्षस सहम गया और वहाँ से उलटे पैरों भाग खड़ा हुआ। इसके बाद राजप्रह में प्रवेश करने का साहस उसने कभी भी नहीं किया।

राष्ट्रीयता का उपासक—

सम्राट समुद्रगुप्त

गुप्तवंश एवं गुप्त-सम्राज्य का सूत्रपात सम्राट चन्द्रगुप्त प्रथम ने किया है तथापि उस वंश का सबसे यशस्वी सम्राट समुद्रगुप्त को ही माना जाता है। इसके पास एक नहीं, अनेक गुण थे। एक तो समुद्रगुप्त बहुत वीर था दूसरे महान कलाविद और इन गुणों से भी ऊपर राष्ट्रीयता का गुण सर्वोपरि था।

भारतीय सम्राटों में से जिन महान वैदिक परम्पराओं का लोग तो गम्य था, समुद्रगुप्त ने उनकी पुनर्स्थापना की। उनमें से एक अश्वमेधयज्ञ भी था। सम्राट समुद्रगुप्त ने जिस अश्वमेधयज्ञ का आयोजन किया था, उसमें उसका दृष्टिकोण मात्र भी यज्ञ, विजय अथवा स्वर्ग न था। समुद्रगुप्त का उद्देश्य उसके राज्य के अतिरिक्त भारत में फैले हुए अनेक छोटे-मोटे राज्यों को एक सूत्र में बाँधकर एक छत्र कर देना था, जिससे भारत एक अजेय शक्ति बन जाये और आगे-दिन खड़े आक्रांताओं का भय सदा के लिए दूर हो जाये।

समुद्रगुप्त अच्छी तरह जानता था कि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त देश कभी भी एक शक्तिशाली राष्ट्र नहीं बन पाता है और इसीलिए देश सदैव विदेशी आक्रांताओं का शिकार बना रहता है। जिस देश की सम्पूर्ण भूमि एक ही छत्र एक ही सम्राट अथवा एक ही शासन-विधान के अन्तर्गत रहती है, वह न केवल आक्रांताओं से सुरक्षित रहती है, अपितु हर प्रकार से फलभी-पूरणी भी है। उसमें कृषि, उद्योग तथा कला-कौशल का विकास भी होता है। उसको आर्थिक उन्नति और सामाजिक सुविधा न केवल दृढ़ ही होती है, बल्कि बढ़ती भी है।

सम्राट समुद्रगुप्त देशभक्त सम्राट थे। वह केवल वैभवपूर्ण राज्य सिंहासन पर बैठकर ही संतुष्ट नहीं थे, वह उन लोभसुप्त एवं विलासी शासकों में से नहीं थे, जो अपने एशो-आराम की तुलना में राष्ट्र-रक्षा, जन-सेवा और सामाजिक विकास को गौण समझते हैं। मदिरा पीने और रंग भवन में पड़े रहने वाले राजाओं की गणना में समुद्रगुप्त का नाम नहीं लिखा जा सकता है। वह एक कर्मठ, कर्तव्यनिष्ठ तथा घोर सम्राट थे।

राजसं समय पिता चन्द्रगुप्त की मृत्यु के बाद सन ३३५ के लगभग समुद्रगुप्त ने राज्य-भार संभाला, भारत में अन्य अनेक राजा भी थे। जिनका काम था, प्रजा का शोषण करना और भोग-विलास में डूबा रहना। यद्यपि अधिकतर राजाओं की यह नीति रहती थी कि वे किसी अन्य राजा की कर्मविधि में न कोई हस्तक्षेप करते थे और न कोई अभिरुचि रखते थे। किसी राजा की प्रजा सुखी है अथवा दुःखी, इसकी उन्हें कोई चिन्ता न होती थी और न वे इस बात से कोई सरोकार रखते थे। किन्तु सम्राट समुद्रगुप्त का मानव हृदय यह न देख पाता था। वह सारे संसार के मानवों के प्रति करुणा का भाव रखता था। वह रघु और राम जैसे आदर्श राजाओं की नीति परम्परा का समर्थक और यथासम्भव उनके धरम चिह्नों का अनुगमन करने का प्रयास किया करता था।

भारत भूमि के एकीकरण के मन्तव्य से समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय यात्रा प्रारम्भ की। सबसे पहले उसने दक्षिणापथ की ओर प्रस्थान किया और महानदी की तलहटी में बसे दक्षिण-कौशल महाकान्तार, पिष्टपुर, कोहर कांची, अवमुक्त, देव राष्ट्र तथा कुस्थलपुर के राजा महेंद्र व्याघ्रराज, महेंद्र, स्वर्णमदन्त, विष्णुगोप, कोलराज,

कुबेर तथा धनंजय को राष्ट्रीय-संघ में सम्मिलित किया। उत्तरापथ की ओर उसने गणपति नाग, रुद्रदेव, नागदत्त, अच्युत-नन्दन, चन्द्रवर्धन, नागसेन, बलवर्धन आदि आर्यवर्त के समस्त छोटे बड़े राजाओं को एक सूत्र में बाँधा। इसी प्रकार उसने मध्य-भारत के जंगली शासकों तथा पूर्व-पश्चिम के समस्त, कामरूप, कर्तुपुर, नेपाल, मालव, अर्जुनायन, प्रोधेव, भाद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानिक, काक और खरपरिक आदि राज्यों को एकीभूत किया।

इस दिग्विजय में समुद्रगुप्त ने केवल उन राजाओं का राज्य गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया, जिन्होंने बहुत कुछ समझने पर भी समुद्रगुप्त के राष्ट्रीय उद्देश्य के प्रति विरोध प्रदर्शित किया था। अन्यथा उसने अधिकतर राजाओं को रणभूमि तथा व्याव-व्यवस्था के आधार पर ही एकत्र किया था। अपने विजयविधान में सम्राट समुद्रगुप्त ने न तो किसी राजा का अपमान किया और न उसकी प्रजा को संश्लेष। क्योंकि वह जानता था कि शक्ति बल पर किया हुआ संगठन शक्ति एवं अस्मिर होता है। शक्ति तथा दण्ड के भय से लोग संगठन में शामिल हो तो जाते हैं किन्तु सच्ची सहानुभूति न होने से उनका हृदय विद्रोह से भरा ही रहता है और समय पाकर फिर वह विघटन के रूप में प्रस्फुटित होकर शुभ कार्य में भी अमंगल उत्पन्न कर देता है।

किसी संगठन, विचार अथवा उद्देश्य की स्थापना के लिये शक्ति का सहारा लेना स्वयं उद्देश्य की जड़ में विष बोना है। प्रेम, सौहार्द, सौजन्य तथा सहानुभूति के आधार पर बनाया हुआ संगठन युग-युग तक न केवल अमर ही रहता है बल्कि वह दिनों-दिन बढ़े ही उपयोगी तथा मंगलमय फल उत्पन्न करता है।

साधारणतः मनुष्य अपने संस्कारों के प्रति बड़ा दुराग्रही होता है। बुरे से बुरे अनुपयोगी तथा अहितकर संस्कारों के स्थान पर वह शुभ एवं सम्य-सम्मत संस्कारों को आसानी से सहन नहीं कर पाता। प्राचीनता के प्रति अनुरोध तथा अर्वाचीन के प्रति विरोध उसका सहज स्वभाव बन जाता है। समाज में इस प्रकार के प्राचीन संस्कार रखने वाले लोगों की कमी नहीं होती और वे उनके प्रति किसी सुधार का सन्देश सुनते ही अनायास ही संगठित होकर नवीनता के विरुद्ध खड़े हो जाते हैं। ऐसे अवसर पर यदि किसी शक्ति का सहारा लेकर उन्हें नवीन संस्कारों में दीक्षित करने का प्रयत्न किया जाता है तो एक संघर्ष या निरर्थक टकराव की स्थिति पैदा हो जाती है जिससे समाज अथवा राष्ट्र शक्तिशाली होने के स्थान पर निर्बल ही अधिक बन जाता है।

अतएव समझदार समाज सुधारक, बुद्धिमान राष्ट्रनायक विचार बल से ही किसी परिवर्तन को लाने का प्रयत्न किया करते हैं। हठ से हठ का जन्म होता है। यदि कोई अपने शुभ विचारों को भी हठात किसी अविचारी के मत्थे मड़ना चाहता है तो उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप

यह अपने अविचार के प्रति ही दुराग्रही हो जाता है। किसी बाह्य शक्ति का सहारा लेने की अपेक्षा अपने उन विचारों की ही तेजस्वी बनाना ठीक होता है जिनकी कोई हितकर समझकर समाज अथवा व्यक्ति में सम्पादन करना चाहता है। जिसका आचरण शुद्ध है, चरित्र उज्ज्वल और मन्तव्य निःस्वार्थ है उसके विचार तेजस्वी होंगे ही, जिन्हें क्या साधारण और क्या असाधारण कोई भी व्यक्ति स्वीकार करने के लिये सदैव उत्तर रहेगा।

यद्यपि राष्ट्र को एक करने के लिये परम्परा के अनुसार समुद्रगुप्त ने सेना के साथ ही प्रस्थान किया था, किन्तु उसकी शायद ही कहीं उसका प्रयोग करना पड़ा हो। नहीं तो अधिकतर राजा लोग उसके महान राष्ट्रीय उद्देश्य से प्रभावित होकर ही एकछत्र हो गये थे। कहना न होगा कि जहाँ समुद्रगुप्त ने इस राष्ट्रीय एकता के लिये अथक प्रयत्न एवं परिश्रम किया वहाँ उन राजाओं की भी कम श्रेय नहीं दिया जा सकता, जिन्होंने निरर्थक राजदर्य का त्याग कर संयुक्त होने के लिये बुद्धिमानों का परिचय दिया। जिस देश के अपौर-गरीब, छोटे-बड़े तथा उच्च निम्न सब वर्गों के निवासी एक ही उद्देश्य के लिये बिना किसी अन्यथा भाव के प्रसन्नपूर्वक एक ध्वज के नीचे आ जाते हैं, वह राष्ट्र संसार में अपना समतक ऊँचा करके खड़ा रहता है। इसके विपरीत राष्ट्रों के पतन होने में कोई विलम्ब नहीं लगता।

सम्राट समुद्रगुप्त ने अपने प्रयास चल पर सैकड़ों भागों में विभक्त भारत-भूमि को एक करके वैदिक रीति से अश्वमेधयज्ञ का आयोजन किया जो कि बिना किसी विघ्न के सम्पूर्ण हुआ और वह भारत के चक्रवर्ती सम्राट के पद पर प्रतिष्ठित हुआ। उस समय भारतीय साम्राज्य का विस्तार ब्रह्मपुत्र से चम्बल और हिमालय से नर्मदा तक था।

भारत की इस राष्ट्रीय एकता का फल यह हुआ कि लंका के राजा मेघवर्धन, उत्तर-पश्चिम के दूरवर्ती मक राजाओं, गांधार के शाहिकुशन तथा काबुल के आन्सस नदी तक राज्य करने वाला साहंशु आदि शासकों ने स्वयं ही अधीनता अथवा मित्रता स्वीकार करली।

इस प्रकार सीमाओं सहित भारत की अन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ बनाकर समुद्रगुप्त ने जनारंजन की ओर ध्यान दिया। यह समुद्रगुप्त के संयमपूर्ण चरित्र का ही फल था कि इतने विशाल साम्राज्य का एकछत्र स्वामी होने पर भी उसका ध्यान भोग-विलास की ओर जाने के बजाय प्रजा की ओर गया। सत्ता का नशा संसार की सौ मदिराओं से भी अधिक होता है। उसकी बेहोशी सँभलने में एकमात्र आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही समर्थ हो सकता है। अन्यथा भौतिक भोग का दृष्टिकोण रखने वाले असंख्यो सत्ताधारी संसार में पानी के बुलबुलों की तरह उठते और फटते रहे हैं और इसी प्रकार बनते और फटते रहेंगे।

चरित्र एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अभाव में ही कोई भी सत्ताधारी फिर चाहे वह राजनीतिक क्षेत्र का हो अथवा धार्मिक क्षेत्र का मदांध होकर पशु की कोटि से भी उतरकर पिशाचता की कोटि में उतर जाते हैं।

सम्राट समुद्रगुप्त ने अश्वमेध के समन्वय के बाद जहाँ बाह्यणों को स्वयं मुद्रार्थे दक्षिण में दी वहाँ प्रजा को भी पुरस्कारों से वंचित न रखा। उसने यज्ञ की सफलता की प्रसन्नता एवं स्मृति में अनेकों शासन सुधार किये, असंख्यो वृक्ष लगवाये, कुएँ खुदवाये और शिक्षण संस्थायें स्थापित कीं।

एकता एवं संगठन के फलस्वरूप भारत में धन-धान्य की वृद्धि हुई प्रजा फलमें और फूलने लगी। बुद्धिमान समुद्रगुप्त को इससे प्रसन्न के साथ-साथ चिन्ता भी हुई। उसकी चिन्ता का, एक विशेष कारण यह था कि धन-धान्य की बहुतायत के कारण प्रजा आलसी तथा विस्तारप्रिय हो सकती है। जिससे राष्ट्र में पुनः विघटन तथा निर्वस्तता आ सकती है। राष्ट्र को आलस्य तथा उसके परिणामस्वरूप उद्धता की सम्भावना के अभिशाप से बचाने के लिये सम्राट ने स्वयं अपने जीवन में संगीत कला, कौशल तथा काव्य-साहित्य की अवतरण की। क्योंकि वह जानता था कि यदि वह स्वयं इन कलाओं तथा विशेषताओं को अपने जीवन में उतारेगा तो स्वभावतः प्रजा उसका अनुकरण करेगी ही। इसके विपरीत यदि वह विस्तार की ओर अभिमुख होता है तो प्रजा बिना किसी अवरोध के आलसी तथा विलासी बन जायेगी।

प्रजा के कल्याणार्थ सम्राट समुद्रगुप्त ने संगीत, काव्य तथा विप्रकला का स्वयं अभ्यास ही नहीं किया प्रत्युत उसमें निष्णान्त बना, जिसका फल यह हुआ कि उस समय के भारत में सबसे अधिक कवि, कलाकार तथा चित्रकार एवं मूर्तिकार हुये हैं। अपने सुगीन भारत की विजयों तथा विशेषताओं की इन कलाओं के स्मृति रूप में समुद्रगुप्त ने समय-समय पर जो त्रिकोण चलाये उनमें किसी पर स्वयं की सीमा लिये अंकित कराया, किसी पर विजय श्री के रूप में साम्राज्ञी, अश्व तथा कृपाण की अंकित कराया है।

इस केवल एक संयमी सम्राट के हो जाने से भारत का यह काल इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से प्रसिद्ध है। तब भला जिस दिन भारत का जन-जन संयमी तथा चरित्रवान बन सकेगा उस दिन वह भारत, यह विशाल भाषा उन्नति के किस उच्च शिखर पर नहीं पहुँच जायेगा ?

संस्कृति की रक्षार्थ बलिदान—

स्कन्दगुप्त

पाटलिपुत्र के नागरिक सुख की नींद सो रहे थे किन्तु सम्राट स्कन्दगुप्त की आँखों में आज नींद नहीं थी। उनके

स्कन्दगुप्त अपने वीर सैनिकों के साथ कुम्भा तट पर अभाव भरा जीवन जी रहे थे। फिर भी उन लोगों का मनोबल बहुत ऊँचा था। क्योंकि वे आदर्शों के लिये लड़ रहे थे। उसी समय पाटलिपुत्र में महारानी अनन्त देवी अपने पुत्र पुरुगुप्त को सम्राट बनाने का पड़्यन्त्र रच रही थी।

स्कन्दगुप्त इससे अनभिज्ञ नहीं थे। जिसकी उन्हें पहले से आशंका थी वही हो रहा था। वे मनुष्यों के दुर्बल पक्ष को देखने के आदी नहीं थे। उन्होंने तो उनके उज्ज्वल पक्ष को देखा था। यही भावना व्यक्ति को कर्तव्य पथ से विचलित नहीं होने देती है। यदि दूसरों के दोष ही देखते रहें तो स्वयं की प्रतिभा, उत्साह, निष्ठा तथा लगन ठण्डी पड़ने लगती है। जो करना चाहते हैं वह कर नहीं पाते।

उन्होंने मगध की राजधानी में क्या हो रहा है? उन्हें सहायता क्यों नहीं मिल रही है? उनका भविष्य क्या होगा? कल वे सम्राट के आज उनकी स्थिति क्या है? इन सब बातों से चिन्त को हटा लिया। अपने उद्देश्य के प्रति एकनिष्ठ रहकर वे जुझते रहे। आक्रान्तों की संख्या घटने लगी। युद्ध में हानि दोनों पक्ष उठाते हैं।

स्कन्दगुप्त स्वयं भी बुरी तरह आहत हो गये। सैनिकों ने उन्हें शिविर में चलने का आग्रह किया पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया। ज्ञातकाल से युद्ध आरम्भ हुआ। भगवान भास्कर भी स्कन्द का तीर्थ देखकर प्रसन्न हो उठे। दिन उलने लगा। हूणों के घेरे ठसड़ गये, वे भाग खड़े हुए।

सम्राट को लगभग ५.५ प्राणव्यय था। युद्ध से शिविर में लौटते तक बहुत-सा रक्त बहा चुका था। स्वयं के प्राणों की परवाह न करके उन्होंने मातृभूमि की आज्ञा बचा ली।

युद्ध का स्वरूप भले ही दूसरा हो। संस्कृति की रक्षा के लिये उत्सर्ग करने का ऐसा ही समय फिर आ पहुँचा है, स्कन्दगुप्त का यह बलिदान जाग्रत अस्त्रियों के रक्त में उबाल लाये बिना न रहेगा। वे युग धर्म पालन को ठठ खड़े होंगे।

राष्ट्र रक्षार्थ सम्राट-यशोधर्म का प्रबल पुरुषार्थ

भारत के विगत पन्द्रह सौ वर्षों के इतिहास का एक मुख्य अंश विदेशियों के आक्रमण और भारतीयों द्वारा उनके समर्थ प्रतिरोध का इतिहास रहा है। वृत्तान्तों के परचात् और अँग्रेजों से पूर्व जितनी भी वृत्तियाँ भारत पर चढ़ कर आयीं वे असभ्य, असंस्कृत और बर्बर थीं। वे स्वार्थपरता और हृदयहीनता में तो यूनानी व अँग्रेज भी कम नहीं थे पर उन्हें असभ्य नहीं कहा जा सकता। गुप्त काल के अन्तिम यशस्वी सम्राट स्कन्दगुप्त के समय में जिस बर्बर जाति ने भारत पर आक्रमण किया वह जाति बर्बरता में सर्वाधिक कुख्यात है। इस जाति का नाम था हूण

मध्य एशिया से आने वाली यह बर्बर जाति एशिया के अनेकानेक देशों को टिड्डी दल की तरह चाटती हुई भारतवर्ष तक आ पहुँची थी। यह शकों व कुषाणों से भी अधिक भयंकर थी। लाखों की संख्या में दल के दल हूण एशिया को रौंदते हुये चले आ रहे थे। एशिया ही नहीं इन्होंने यूरोप को भी रौंदा था। मध्य एशिया से इन लोगों ने दो दिशाओं में गमन किया था। एक भारत की ओर तथा दूसरे यूरोप की ओर।

भारत में इस जाति को अपने पाँव जमाने में सफलता नहीं मिल सकी। उन्हें उलटे पाँव भागना पड़ा अथवा बर्बरता त्याग कर सांस्कृतिक जीवन अपनाना पड़ा। सारे एशिया को रौंदने वाली इस बर्बर जाति को भारत से भगाने का श्रेय विन दो पराक्रमी सम्राटों को है वे हैं सम्राट स्कन्दगुप्त और यशोधर्म।

सम्राट स्कन्दगुप्त ने इस जाति की पहली बाढ़ को कुम्भा नदी के तीर पर ही रोक दिया। वर्षों तक वे वहाँ अपनी सेना के साथ चढ़ान की तरह अड़े रहे। हूणों को पराजित होकर भागना पड़ा।

कुछ समय बाद छिछिल के नेतृत्व में ये लोग फिर आये। अबकी बार भी सम्राट स्कन्दगुप्त ने उन्हें कुम्भा के तट पर ही रोक दिया। एक दो महीने नहीं पूरे सोलह वर्ष तक सम्राट स्कन्दगुप्त अपनी सेना के साथ वहाँ डटे रहे। उनके जीते जी एक भी हूण भारत भूमि पर पाँव नहीं रख सका। सोलह वर्ष तक सम्राट एक साधान्व सिपाही की तरह भरती पर सोते रहे, उनकी का साधारण भोजन करते रहे। ऐसे उदाहरण विश्व के इतिहास में अन्यत्र नहीं मिल सकेगा।

हूण टिड्डी दल की तरह दल बाँधकर लाखों की संख्या में आते थे, लूट-पाट, हत्या, मद्य-मौस भक्षण उनका स्वभाव था। परुषत ही था उनका यह जीवन। ह्यारे देस का नाम सर्वप्रथम आर्षावर्त था। आर्ष का अर्थ होता है श्रेष्ठ और सुसंस्कृत मनुष्य। हूण पूर्णरूपेण अमाय्य थे। आर्ष देस पर चढ़कर आने वाले इन अमाय्यों को सम्राट स्कन्दगुप्त के मारते ही भारत में घुस पड़ने का मार्ग मिला गया क्योंकि पीछे से मगध का साम्राज्य उन जैसे सुयोग्य सशस्त्र के हाथ में नहीं रहा।

वे लूटमार, अत्याचार और अन्याय करते हुए आगे बढ़ते गये। तत्कालीन विश्वविद्यालय के विरगल पुस्तकालय को उन्होंने जलाकर खाक कर डाला। वे जंगली क्या समझते थे कि विद्या क्या है? ज्ञान क्या होता है? उनकी इस बर्बरता को रोकने की सामर्थ्य तत्कालीन मगध सम्राट में नहीं थी। भारतीय वीर रक्त का घूँट पीकर रह गये, पर क्या करते कोई नेता उठकर खड़ा नहीं हो रहा था। पर अभी एक वीर उठकर खड़ा हुआ। बसुधरा धला कभी वीरों से खाली नहीं है। इस वीर का नाम था यशोधर्म, यश नाम तथा गुण की उक्ति को सार्थक करने वाला।

मालवा प्रदेश के एक छोटे से प्रदेश के अधिपति यशोधर्म से यह देखा न गया कि उस देश में जहाँ कोई किसी की वस्तु चोरी करना तो दूर छूना तक पाप मानता

है, जहाँ घरों में ताले नहीं लगाये जाते, अपराध अभिमान को होते हैं, बर्बर और असभ्य हूण मनमाना अत्याचार करते रहें, हमारे देव मन्दिरों और जन्ता को तुटते रहें, मातृ शक्ति को अपमानित करते रहें तो यह जीवन फिर किस दिन काम आयेगा ?

यशोधर्मा ने छोटे छोटे राजाओं से जो मगध सम्राट को कमजोर देख स्वतन्त्र हो गये थे, अनुरोध किया कि वे हूणों को भारत भूमि से बाहर खदेड़ने में उसकी सहायता करें। नेता के ठठ खड़े होते ही सहायक तो अपने आप जुटने लगे। देखते ही देखते एक विशाल सेना खड़ी हो गयी। यशोधर्मा छोटे से प्रदेश का अधिपति होते हुए भी धायनाओं और विचारों से महान था। उसकी अपनी कोई व्यक्तिगत महत्याकांक्षा इस संगठन के पीछे नहीं थी फिर ऐसे व्यक्ति को सहायक क्यों न मिलते।

भारतीय राजाओं की इस संगठितवाहिनी का नेतृत्व यशोधर्मा को सौंपा गया। इस वीर ने हूण नेता मिहिरकुल को पराजित कर उसे इस स्वर्णभूमि से बाहर करने की प्रार्थना की। सिंघों की इस संगठित सेना ने हूणों को जा भेरा।

दशपुर (धर्ममान मन्दसौर) नामक स्थान पर घमासान युद्ध हुआ। भारतीय वीर जो अब तक असंगठित होने के कारण हूणों की शरास विनाश लोला दे रहे थे। अब उसका गिन गिन कर बदला चुकाने लगे थे। इन काल ने वीरवेश धारी भारतीयों की अभिभावक की चमक के आगे हूणों के भाले पीके पड़ गये। देखते ही देखते उनका नेता मिहिरकुल बन्दी बना लिया गया। उसकी बन्दर सेना भाग खड़ी हुई। वह यशोधर्मा के पाँवों में गिरकर प्राणों की भीख माँगने लगा। मगध के बौद्ध सम्राट को दया आ गयी। उसने यशोधर्मा से उसे प्राण दान देने का अनुरोध किया। मिहिरकुल को प्राण दान मिला पर बिना शर्त के नहीं। वह शर्त थी भारतीय प्रदेश खाली करके जाने की।

मिहिरकुल को तब तक बन्दी रखा गया जब तक हूण लोग भारत की सीमा से बाहर नहीं निकल जाते। मिहिरकुल ने अपने सरदारों को हूणों को भारतवर्ष से बाहर निकल जाने के लिये प्रेरित करने भेजा। हूण पहले ही दशपुर के समरांगण में भारतीय वीरों और उनके नेता यशोधर्मा का महाकाल रूप देख चुके थे। अब उनका यहाँ टिक पाना सम्भव नहीं था। अतः उन्होंने अपनी रह लेना ही उचित समझा।

हूणों को पराजित करने के कारण यशोधर्मा की यश पताका सारे देश में फहराने लगी। उज्जैन में उनका भव्य स्वागत किया गया। भारतीय राजाओं ने उन्हें अपना सम्राट मानकर उन्हें सम्राट विक्रमादित्य के सिंहासन पर आसीन किया। वे उनके माण्डलिक बने। सम्राट पद पाने के बाद भी वे उसके मोह से रहित ही रहे। एक बार फिर उन्होंने अपनी सेना सजाई और हूणों को छानकर भारत से बाहर निकाला। मिहिरकुल को उन्होंने ठेठ सिन्धु के तट पर

जाकर छोड़ा।

पराजित हूण नेता की गर्दन भीषी झुक गयी। इस बर्बर जाति को इस देश में अपनी बर्बरता दिखाने का अवसर नहीं मिला। वे यहाँ से ठसठे पाँव ऐसे भागे कि फिर इधर मुड़कर देखने का प्रयास नहीं किया। वीरवर सम्राट यशोधर्मा का यह यशस्वी कार्य उन्हें प्रातः स्मरणीय बना गया। अपने पुरुषार्थ, पराक्रम और शक्ति का व्यक्तित्व परिधि से बाहर निकल कर सर्वहित के लिए समर्पण करना - व्यक्ति को इतिहास पुरुष बनाने में समर्थ होता है। देश प्रेम, स्वतन्त्रता की रक्षा, संस्कृति और धर्म के धरण को रोकने के लिए जिन-जिन महापुरुषों ने भी अतिदान किये हैं वे भले ही स्थूल जीवन का अभ्यन्त अधिक समय तक न ले सके हों पर काल पर विजय प्राप्त कर महामानव बनने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त होता रहा है।

शौर्य साहस का धनी-

पुष्यमित्र शुंग

ब्राह्मण पुष्यमित्र ने सुना- दिग्विजय यवन अपनी विशाल कहिनी रोकर पाटलिपुत्र की ओर चल पड़ा है। उसे यहाँ पहुँचने में एक सप्ताह से अधिक न लगेगा। दिग्विजय सिकन्दर के अधूरे सपने को पूरा करने आ रहा है और इधर पाटलिपुत्र की अशिक्षित छोड़कर भीम सम्राट बृहद्रथ अपनी जान बचाकर भागने की चिन्ता में हैं।

पुष्यमित्र में आगे सुनने की हिम्मत न थी इतना ही उसके सोचे धार्मिक धर्म को बगाने के लिये पर्याप्त था। उसने ब्राह्मण होते हुए भी आपत्कालीन धर्म के रूप में क्षत्रिय धर्म स्वीकार करने का निश्चय किया। उसे यह स्वीकार न था कि यवन उसके देव मन्दिरों को भूट करें तथा मातृभूमि को अपने घोड़ों की टापों तले रौंदे और वह घर में बैठा हुआ अग्निहोत्र ही करता रहे।

उसने भूतपूर्व महामात्य शंकु से विचार-विमर्श किया। महापात्य ने स्वीकार किया "अब भीम साम्राज्य पतनोन्मुख हो चला है। सम्राट अशोक के बाद उनके पुत्रों ने विशाल साम्राज्य के चार भाग करके घाँट लिये हैं। इस समय विरोध किया था तभी मुझे महामात्य पद से हटना पड़ा था। अब न तो उतनी सेना ही राज्य के पास है और न योग्य सेनापति ही है।"

पुष्यमित्र ने कहा-"यह आप जो कह रहे हैं ठीक है पर क्या हम अपनी आँखों के सामने इसे पटदलित होते देख सके हैं। अभी तो समय है, कुछ कर भी सकते हैं। इसीलिये मैंने आपत्कालीन धर्म के रूप में खड़ा पकड़ ली है। हमें मिलकर कुछ उपाय करना चाहिए।"

शंकु सहमत हो गया। बृहद्रथ महामात्य तथा पुष्यमित्र ने अपनी योजना बना ली। जहाँ अकर्मण्यता होगी वहीं पतन अपने पाँव फैलाता है पर जहाँ कर्म करने को कोई संकल्प लेकर प्रस्तुत होता है, तो सहायक मिल ही जाते हैं।

अकर्मण्य सम्राट बृहद्रथ से सेना भां प्रसन्न नहीं थी । महाभात्य शकु का कई गुल्म नायकों पर अब भी प्रभाव था उनकी एक गोष्ठी आयोजित की गई ।

पुष्यमित्र ने उन्हें उद्बोधन दिया- "मैत्रेय महिनी के वीरो! तुम्हें स्मरण होगा इसी पाटलिपुत्र के सम्राट ने सेल्युकस का भानमर्दन करके उससे अपमानजनक संधि कराई थी । इन्होंने वीरों ने सारे भारत को सम्राट अशोक के नेतृत्व में एक सूत्र में पिरोया था ।

तुम्हें पता होगा दिमित्र पाटलिपुत्र विजय करने आ रहा है और हमारे सम्राट को अपने विलास-कला से बाहर निकलने का समय ही नहीं ।

बोलो । क्या तुम अपने जीते जी इस भूमि को पद दलित होने दोगे ।

"कदापि नहीं । कदापि नहीं ॥"

"मुझे तुमसे यही आशा थी ।"

इसी प्रकार का उद्बोधन नागरिकों को भी दिया गया ।

"पाटलिपुत्र के नागरिकों । आपको ज्ञात होना कि दिमित्र यवन पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने आ रहा है । क्या आप इसके गौरव की रक्षा को तन, मन व धन देकर बचाने का प्रयास नहीं करेंगे ?" करेंगे । अवश्य करेंगे । एक समवेत स्वर गूँजा । "कल सब सम्राट के सम्मुख उपस्थित होंगे वहाँ निर्णय होगा ।" पुष्यमित्र ने कहा ।

दूसरे दिन । सम्राट के दर्शन के लिये प्रजा एकत्रित हो चुकी थी पर उन्हें यवन दानियों से पाँच दबाने से फुर्सत नहीं थी । पुष्यमित्र ने परिचारिका को कहा-"सम्राट से निवेदन करो प्रजा आपके दर्शन करना चाहती है ।

बड़ी दूर में सम्राट पधारे । "सम्राट बृहद्रथ की जय" प्रजा ने जयकार की ।

"आप लोगों को कोई कष्ट है ? हम सम्राट हैं, कहो ?"

"सम्राट, मैं पुष्यमित्र शुक पाटलिपुत्र की प्रजा के सेवक के रूप में ग्रीभान् से निवेदन करना चाहता हूँ कि पाटलिपुत्र के नागरिक अपने आप को असुरक्षित अनुभव कर रहे हैं । ग्रीभान् नगर छोड़कर आ रहे हैं । सारे नगर में भय की लहर छाई है ।"

"इस का कारण ?" सम्राट ने पूछा ।

"यवन दिमित्र का आक्रमण ।"

"तो इसमें भय करने की क्या बात है । हम अहिंसा के पूजारी हैं व्यर्थ का रक्तपात हमें पसन्द नहीं । हम राज्य उन्हें दे देंगे ।" सम्राट बोले ।

"प्रजा पृच्छती है कि क्या आज तक यही हमारी परम्परा रही है ? यवन नगर को किन्ना लूटे छोड़ देंगे ? हमारे देव मन्दिरों को नहीं तोड़ेंगे ?" पुष्यमित्र ने कहा ।

"तो मैं क्या करूँ ? प्रजा क्या चाहती है ?

"प्रजा मुक्त चाहती है सम्राट!"

"हमारी सेना पूरी यहाँ है नहीं, आने में काफी समय लगेगा, तब तक पाटलिपुत्र की रक्षा असम्भव है ।" सम्राट बोले ।

"प्रजा मान सहित मरना पसन्द करती है सम्राट । प्रजा ही सेना की तरह लड़ेगी । मैं इसका सेनापतित्व करूँगा । यही प्रजा पाटलिपुत्र का गौरव असुण्ण रखेगी ।" पुष्यमित्र ने कहा ।

सम्राट का पतनोन्मुख जीवन उन्हें खोखला बना चुका था वे पुष्यमित्र के व्यक्तित्व के आगे ठहर न सके । "मैं तुम्हें सेनापति के समस्त अधिकार सौंपता हूँ ।" सम्राट ने कहा ।

"सेनापति पुष्यमित्र की जय" के जयघोष से पाटलिपुत्र में नवजीवन आ गया ।

पुष्यमित्र ने बाहर गई सेना को बुलाने विश्वस्त सैनिक भेज दिये । सम्राट तथा उनके महाभात्य महलों में ही नजरबन्द कर दिये गये । सैनिकों को इकट्ठा करके नगर के प्राचीरों पर पहरा आरम्भ करवा दिया ।

धनिकों ने धन दिया, युवक सैनिक प्रशिक्षण पाने लगे महिलाओं ने रस्स व गर्म पानी तथा पाचरों की व्यवस्था जुटानी आरम्भ कर दी । कल का अरक्षित पाटलिपुत्र अब गौरव से सिर उठाकर खड़ा हो गया ।

यवन सेना ने आकर दुर्ग घेर लिया । दुर्ग के चारों ओर खाई में पानी भरा था । जो भी तीर कर प्राचीर पर चढ़ने का प्रयास करता, उस पर बह बार पड़ती कि भागता ही नजर आता । यवनों के तीर प्राचीर तक पहुँच नहीं पाते थे । प्राचीर पर से बरसाते तीर गजब का रहे थे ।

यवनों की आधी सेना समाप्त हो गई । दिमित्र के सपने चूर-चूर होने लगे । उसने रात्रि में दूर एक गाँवों का बँड़ा बाँध दिव में उसे बंगा के पानी में खाई तक ले आया । एक सैनिक को इसकी भनक पड़ गई । उसने पुष्यमित्र को इसकी सूचना दी । यदि वह इसमें सफल हो जाता तो फिर उनका प्राचीर पर चढ़ना सरल था ।

उसने अपने पुत्र अग्निमित्र के साथ पन्द्रह गिने हुए सैनिक गुप्त रास्ते से खाई में प्रविष्ट करा दिये वे अन्दर ही अन्दर बड़े ठक जा पहुँचे और सब गार्ड बहा आए । इस जोखिम भरे काम को इन वीरों ने इस कुशलता से किया कि यवन जान भी न सके ।

दूसरे दिन मगध की बाहर गई सेना वापस आ चुकी थी । यवन दो पारों के बीच फँस गए । जब उनके योद्धा कट-कट कर गिरने लगे तो सेना में खलबली मच गई । दिमित्र सिर पर पाँच रखकर भागता नजर आया ।

पुष्यमित्र के परिश्रम और साहस से पाटलिपुत्र का सम्मान असुण्य रह गया । नागरिकों ने पुष्यमित्र को ही वहाँ का सम्राट चुन लिया । उसने अपने दायित्व को बड़ी कुशलता से निभवाया ।

पुष्पमित्र गुंग की भूमिका प्रस्तुत करने के लिये आज भी समय जाग्रत आत्माओं को युग धर्म चलन के लिए पुकार रहा है ।

निष्काम लोकसेवी—

महाराजा हर्षवर्धन

“अब भी आप राज्यारोहण के लिये तैयार नहीं हैं ।” बाल्य बंधु माधव गुप्त ने स्थानेश्वर नरेश प्रथमहरवर्धन के द्वितीयपुत्र शिलादित्य से पूछा ।

“माधव, अब तुम्हें कितनी बार कहूँ कि मुझे राजा बनने में कोई अनुरक्ति नहीं है । मैं तो धर्म-प्रचार करके अपना यह जीवन सफल सार्थक करना चाहता हूँ । कितना अच्छा होता कि मैं किसी साधारण व्यक्ति के घर जन्म लेता तो आज की-सी विषम स्थिति तो सामने नहीं आती ।”

राजकुमार आप यह समझते हैं कि बौद्ध भिक्षु बन कर ही आप लोकसेवा कर सकेंगे, अपना जीवन सफल, सार्थक कर सकेंगे । राजा बनकर नहीं । मेरी दृष्टि में तो आपका यह सोचना ठीक नहीं । मनुष्य यदि अपना दृष्टिकोण सही रखे तो वह किसी भी काम को करता हुआ लोकसेवा कर सकता है । आप राज्याधिकार को अपनी महत्वाकांक्षा, वृत्ति, सुखोपभोग, ऐश्वर्य लाभ के लिये नहीं अपने दायित्व के रूप में निष्काम भाव से भी तो ग्रहण कर सकते हैं । फिर आप जो कार्य बौद्ध भिक्षु बनकर कर सकते हैं उससे कहीं अधिक स्थानेश्वर सम्राट बन कर भी कर सकते हैं । ऋषि-मनीषियों का कथन है कि संसार से भागने की आवश्यकता नहीं है, अपनी दृष्टि को अर्धसायी बनाने की है ।

अपने बाल्य बंधु का कथन उन्हें तथ्यपूर्ण लगा । वे उस पर गहराई से विचार करने लगे । माधव गुप्त ने देखा उसकी बातों का असर होने लगा है । अतः उसने अपनी बात आगे बढ़ायी — “आज आपका व्यक्तित्व जवान है । आप शरीर से पुष्ट, बलवान, बौद्धिक दृष्टि से परिपक्व और ज्ञानवान हैं । आपको इस स्थिति तक पहुँचाने में आपके स्वर्गीय पिताजी—परम भट्टारक महाराजा राज प्रभाकर वर्धन, आपके अग्रज महाराज राज्यवर्धन, भगिनी राज्यश्री आदि का स्नेह, सहयोग रहा है । स्वर्गीय महाराज की पराकीर्ति को अक्षुण्ण रखना, अपने अग्रज की भृत्य की प्रतिकार लेना, भगिनी की असहाय्यता में सहायता करना भी तो आपका दायित्व है और फिर स्थानेश्वर के राज्यसिंहासन पर बैठकर प्रजा को सुरक्षण देना, राष्ट्र की समृद्धि का उद्योग करना भी तो पुण्यकार्य ही है । उसे भी आप निष्काम भाव से करते रह सकते हैं ।”

शिलादित्य पर माधव गुप्त की बातों का प्रभाव पड़े बिना न रह सका । ठीक ही तो कह रहा है वह । व्यक्ति का दृष्टिकोण सेवापरक हो भोगपरक नहीं तो फिर वैभव

उसे बाँध कैसे पाएगा । वह तो उनसे निर्लिप्त रह कर अपने अभीष्ट को पूरा करता रहेगा । मैं भी स्थानेश्वर का राज्यसिंहासन प्रजा के सेवक के रूप में ही ग्रहण करूँ तो अपने जोवनोद्देश्य से भटक नहीं सकता ।

शिलादित्य हर्षवर्धन के नाम से स्थानेश्वर के राज्य सिंहासन पर बैठा । उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन की धोखे से हत्या कर देने वाले मालवाधिपति देवगुप्त और गौडधिपति शशांक नरेन्द्र गुप्त को पराजित किया । भगिनी राज्यश्री को कान्यकुब्ज के राजा गृहवर्मा को ब्याही गयी थी, मालवाधिपति देवगुप्त के आक्रमण और गृहवर्मा की हत्या के उपरान्त विंध्याचल की ओर चली गयी थी । उसके राज्य की रक्षा और उसकी खोज के प्रयत्नों में विरत हर्ष के ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन भी धोखे से मारे जा चुके थे । कर्जव का राज्य तो हर्ष ने आक्रमणकारियों से छीन लिया था पर राज्यश्री का कोई पता नहीं चल रहा था ।

राज्यश्री की खोज के लिये हर्ष एक विशाल सेना लेकर विंध्याचल की उपत्यकाओं में भटकते फिरे । बड़ी खोज के बाद उन्हें राज्यश्री मिली । वह अपनी दुःखद स्थिति से डारकर चित्तारोहण करने ली जा रही थी कि हर्ष वहाँ जा पहुँचे और उन्होंने अपनी बहिन को बचा लिया । पति और भ्राता की हत्या और राज्य छिन जाने की वेदना ने उसे क्षिप्तोद्भूत कर रख दिया था । वह विक्षिप्त-सी हो गयी थी । अपने जीवन से निराश राज्यश्री को जीवन की वास्तविकता और महान उद्देश्य से परिचित कराने के लिये हर्ष को बहुत प्रयास करने पड़े । अपने इन प्रयासों में वे सफल भी हुए ।

प्रायः देखा जाता है कि सफलता के परचाह व्यक्ति अपने आदर्शों से गिर जाता है । किन्तु निरन्तर आत्म-निरीक्षण करते रहने के कारण वे अपने आदर्शों से गिरे नहीं घबरे । उन्होंने महाराज जनक की तरह अपने आपको राज्य और वैभव से निर्लिप्त ही रखा ।

सामयिक परिस्थितियों से निपटने के बाद उन्होंने एक ऊर्ध्वनिक्षारी निर्णय लिया— कान्यकुब्ज के राजसिंहासन पर अपने बहिन राज्यश्री को बिठाने का । राज्यश्री इसके लिए बड़ी कठिनाई से तैयार हुई । राज्यश्री को कान्यकुब्ज की साम्राज्ञी बनाकर वे स्वयं उसके माण्डलिक बने । उनके द्वारा पराजित देवगुप्त व शशांक नरेन्द्रगुप्त आदि राजाओं को भी उन्होंने कान्यकुब्ज साम्राज्य के माण्डलिक बनने पर विवश किया । ऐसा अब तक के इतिहास में नहीं हुआ था । नारी द्वारा इतने बड़े साम्राज्य का सूत्र संभालन करना और कितने ही पुरुष राजाओं द्वारा उसका माण्डलिक बनना, नारी और पुरुष की समानता सिद्ध करने का यह हर्ष का साहसिक कदम या साध ही उनकी निस्वार्थता का परिचायक भी था ।

गुप्त साम्राज्य के पतन के परचाह हर्षवर्धन ने एक बार फिर हरे आर्चवर्त को एक सुदृढ़ साम्राज्य के रूप में गठित करने का भलीभाँति प्रयास किया । उनका यह प्रयोग भी एक नवीनता लिये हुये था । उन्होंने सभी राजाओं से

अनुरोध किया कि वे आपस में सड़ना-झगड़ना छोड़कर परस्पर मित्र बन जायें । राज्यों के बीच परिवार भाव का विकास करके एक झण्डे तल आ जायें । राज्यश्री को उन्होंने अपनी बहिन के नाते नहीं मनु-शक्ति के नाते उस संघ राज्य की अधिपती बनाने की बात की । वे स्वयं भी उसके माण्डलिक बने तथा अपनी तरह दूसरे राज्यों को भी कान्यकुब्ज साम्राज्य के माण्डलिक बन जाने का अनुरोध किया । उनकी इस तथ्यपूर्ण बात को जिन राजाओं ने समझा वे बन गये । किन्तु जो दुराग्रही थे उन्हें युद्ध द्वारा यह बात मनवाना पड़ी । इस प्रकार उन्होंने मूलतः आर्यावर्त को पुनः एक सुदृढ़ साम्राज्य के रूप में गठित किया । राज्य को एक सूत्र में पिरोकर एक सुसम्बद्ध माला का रूप दिया । उनका यह उद्योग इसीलिये था कि समस्त भारत विदेशी आक्रमणकारियों की भ्रष्ट कामनाओं को धस्तीभूत कर सके । गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद उनके इस उद्योग ने पुनः भारत को रक्षिताली बनाया था । उनकी विशेषता यह थी कि उन्होंने यह सब सहयोग व सद्भावना के आधार पर ही करना चाहा था ।

आपद्धर्ष की तरह राज्याधिकार लेने और राज्य का सूत्र संचालन करते हुये भी इर्ष तृष्णी-विरागे ही बने रहे जैसे कि उन्होंने अपने आप को बचपे रखना चाहा था । कहीं राज्य में मोह न उत्पन्न हो जाय इसलिये वे कान्यकुब्ज के सिंहासन पर आसक्त नहीं हुए । उन्होंने विवाह भी नहीं किया । आजन्म अविवाहित रहते हुए वे निष्काम भाव से राष्ट्रसेवा करते रहे । विवाह कर लेने और संतान हो जाने पर उनके उत्तराधिकारी अयोग्य होते हुए भी राज्य पर अपना अधिकार जत सकते थे अतः उन्होंने विवाह किया ही नहीं । वे राजाओं के सामने एक आदर्श उपस्थित करना चाहते थे कि राजा बनने का उद्देश्य राज्य भोगन नहीं एक सेवक की भाँति उसका प्रबन्ध करना होना चाहिए ।

अविवाहित होते हुए भी अपना स्नेह सुटाने के लिये उन्होंने एक अनाथ बालिका को अपनी पालित पुत्री बना लिया था । इस प्रकार मानव मन की सहज स्वाभाविक भुख सन्तान पाने, उसका पोषण-निर्माण करने की कामना को उन्होंने एक परमार्थिक दृष्टि दी थी । अविवाहित रहते हुए भी सन्तान का सुख प्राप्त न सकता है, यह उनके इस आवरण द्वारा स्पष्ट हो जाता है ।

इर्षवर्धन को तत्कालीन राजा लोग समझ नहीं पाये थे । यह भी हो सकता है कि सम्झकर भी अपने स्वार्थों से ऊपर नहीं उठ पाये थे । इसी कारण उन्हें समूचे आर्यावर्त को एक सुदृढ़ साम्राज्य के रूप में गठित करने में ही अपने जीवन के अधिकाधिक वर्ष लगा देने पड़े थे, जब अधिकांश राज्य स्वेच्छा से संगठित होने को तैयार नहीं हुए तो उन्हें सैन्यबल व युद्ध में पराजित करके एक साम्राज्य के माण्डलिक बनने को विवश करना पड़ा था । वे लोग स्वेच्छा से उनकी सुन्दर और हितकारी योजना को स्वीकार कर लेते तो उस समय उस शक्ति को किसी और ही दिशा में लगाते जो युद्धों में खर्च हुई ।

अधिकांश समय सुदृढ़ साम्राज्य के गठन में लगाते हुये भी उन्होंने बहुत से ऐसे काम किये जो राजाओं के लिये आदर्श कहे जा सकते हैं ।

धन और बरती तो ईश्वर की है । उस पर सभी मनुष्यों का समान अधिकार है । राज्य सामान्य मनुष्य से अधिक सुख, सम्पदा व ऐश्वर्य क्यों धोमें ? राज्य के कोष में क्यों जनता के श्रम हिन्दुओं द्वारा उपार्जित पूँजी जमा पड़ी रहे । अतः वे हर पाँचवें वर्ष प्रयाग में एक विशाल सम्मेलन करते थे । इस सम्मेलन का स्वरूप धर्म सम्मेलन का था । इस अवसर पर वे सभी प्रचलित धर्मों को सम भाव से सम्मानित किया करते थे । जो वे स्वयं बौद्ध धर्म के मानने वाले थे किन्तु अपने धर्म के प्रचार के प्रति ही वे आग्रही नहीं थे । बौद्ध, वैदिक, जैन तथा अन्य सभी धर्मों के देवताओं की प्रतिमाओं की इस अवसर पर पूजा किया करते थे । पाँच वर्ष तक राज्य कोष में जो सम्पदा एकत्रित होती थी उसका जनहित में विनिर्योग करते थे । गरीबों, असहायों और कष्टपीडितों को सहायता देने के साथ-साथ लोकसेवी-संस्थाओं और शिक्षण-संस्थाओं को मुक्त हस्त दान दिया करते थे ।

यह अवसर एक प्रकार से सर्वस्वदान का अवसर होता था । वे अपने सम्बन्धुजन तक दान में दे दिया करते थे और फिर अपनी बहिन राज्यश्री से माँगकर वस्त्र पहन करते थे । राज्यश्री के साम्राज्य के प्रबंध संचालन में भी वे उनकी सहायता किया करते थे । धार्मिक-सहिष्णुता और सर्वधर्म समन्वय का जो प्रकाश इर्षवर्धन ने किया था उससे प्रजा पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा था ।

उनके समय में चीन से जेनसांग नामक एक यात्री भारत आया था । वह उनके इस शासन प्रबन्ध को देखकर बहुत प्रभावित हुआ था । उसने अपने यात्रा संस्मरणों में तत्कालीन जन जीवन की सुख, समृद्धि तथा सुन्दर राज्य प्रबंध का वर्णन किया है । उसने लिखा है कि उस समय के सभी लोग सुखी, समृद्ध और संतुष्ट थे । पारस्परिक स्नेह, सद्भाव और सहयोग की क्वालि आवश्यक मानता था । कर बहुत कम थे । अपराध नहीं के बराबर होते थे । दण्ड व्यवस्था कठोर थी । राज्य अपने को प्रजा का स्वामी नहीं सेवक मानता था ।

इर्ष कुशल प्रतापक, मोक्ष व जनसेवी राजा ही नहीं श्रेष्ठ लेखक भी थे । उसने आगमन्द, रत्नावली, प्रियदर्शिका आदि ग्रन्थों की रचना की थी । बाणभट्ट नामक महकवि उसी के दरबार का रत्न था । 'इर्षचरित' व 'कादम्बरी' उसकी प्रमुख रचनाएँ हैं । धर्म प्रचार व शिक्षा प्रसार के लिये भी उन्होंने बहुत बात ही नहीं किया वे धर्म की मूल भावना तक पहुँचे थे । सब धर्मों के मूलसत्य एक हैं उनके बाह्य स्वरूप में भले ही थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है । अतः प्रत्येक धर्मावलम्बी को इतर धर्मों के साथ सहिष्णुता बरतनी चाहिए । इस भावना को व्यवहार में लाने के लिये ही वे हर पाँचवें वर्ष धर्म सम्मेलन का आयोजन करते थे ।

१.६८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

हर्षवर्धन का काल ५९० ई० से ६४८ ई० तक का काल था । राजा प्रजा का सेवक होता है । उसकी अपनी सारी भूमताएँ, योग्यता, विधुतियाँ अपने लिये न होकर जनता के लिये होती हैं । उन्होंने यह आदर्श अपने जीवन में उतारकर बताए थे । राजा का पद वंश क्रमानुसार नहीं योग्यता और सेवा भावना के आधार पर मिल इसके लिये उन्होंने विवाह तक नहीं किया । यदि उनके इन आदर्शों को तत्कालीन राज्यों ने अपने जीवन में उतारा होता तो आज हमारा इतिहास कुछ और ही होता । उनके ये आदर्श आज के राजनेताओं के लिये भी कम अनुकरणीय नहीं हैं ।

वस्तुतः कोई भी पद अथवा अधिकार अपने लिए सुख-सुविधाएँ बढ़ाने के लिए नहीं मिलता । उनके मिलने का तो एक ही कारण है कि हम उसके माध्यम से और अच्छी तरह जनसेवा कर सकें । सम्राट हर्षवर्धन ने अपने जीवन और चरित्र के माध्यम से यह आदर्श हमारे सामने रखा कि जिसको जानकर हम भी अपने जीवन में उतार सकें ।

धर्म समन्वित शिक्षा ही सार्थक

हर्षवर्धन कई दिन से बहुत चिन्तित थे—“प्रजा की उन्नति किस तरह हो ?” सच्चा उत्तराधिकारी यही तो है जो अपने आश्रित के कल्याण की बात सोचे और उसे हर तरह से पूरा करने का प्रयत्न भी करे ।

इस सम्बन्ध में उन्होंने मन्त्रियों से मन्त्रणा की सबने कहा— “महाराज शिक्षा का व्यापक प्रसार हुए बिना प्रजा की उन्नति सम्भव नहीं है इसलिये देश भर में स्थान-स्थान पर विद्यालयों की स्थापना की जावे । ग्रँदों के लिये रात्रि पाठशालाएँ चलाई जावें । इसके लिये शिक्षकों की कमी को अन्य राज्यों से उधार लेकर भी पूरा किया जा सकता है पर साक्षरता देश की उन्नति के लिये अत्यावश्यक है ।”

बात ठीक है “शिक्षा के बिना बौद्धिक विकास नहीं हो पाता । विचार की दिशाएँ व लोगों के मनोवृत्ति शिक्षा से ही विकसित होते हैं ।” यह विचार मस्तिष्क में अच्छी तरह बैठ गया तब हर्षवर्धन ने सारे राज्य में विद्यार्थियों का जाल बिछा दिया ।

शिक्षा प्रत्येक बच्चे के लिए अनिवार्य कर दी गई । प्राथमिक स्तर के विद्यालयों से लेकर बड़े-बड़े विश्व-विद्यालयों की स्थापना की गई । प्रजा ने कंधे से कंधा मिलाकर सहयोग दिया । जिसके पास धन था धन दिया, जमीन वालों ने जमीन दी और शिश्तियों ने अपनी योग्यताएँ प्रजा को साक्षर बनाने में समर्पित कर दीं । देखते-देखते सारे राज्य से अविद्या का अन्त हो गया एक थी निरक्षर न रहा ।

शिक्षा बढ़ने के साथ ही उन्नति की आकांक्षाएँ जाग पड़ीं । जगह-जगह नये-नये उद्योग स्थापित हुए । दूसरे राज्यों से व्यापार बढ़ा । कृषि में अनेक तरह के

अनुसंधान हुए । शिक्षा के प्रसार में राज्य ने जो तपस्या की वह आर्थिक उन्नति के रूप में तुरन्त देखने में आई ।

किन्तु यह स्थिति थोड़े दिन ही चल पाई थी कि सारे राज्य में धन, पद, प्रशिक्षा की होड़ लग गई । लोगों में इनके लिये द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ । ईर्ष्या, द्वेष, मनोमालिन्ध, छल, कपट के दाँवपेच खेले जाने लगे । सर्वत्र भ्रष्टाचार और अनाचार फैल गया । हर्षवर्धन बड़े चिन्तित हुये । शिक्षा जैसी महत्वपूर्ण साधना के फल भी कुत्सित हो सकते हैं ? राज्यों में किसी ने इसकी कल्पना भी न की थी । अब इसका क्या उपाय किया जाये कि राज्य में यह रही सामाजिक अशान्ति दूर हो— यह चिन्ता सारे प्रमुख नागरिकों, सम्प्रदायों में व्याप्त हो गई । राजा हर्षवर्धन को स्वयं नहीं सुझ रहा था कि क्या किया जावे ?

एक दिन वे इसी चिन्ता में डूबे हुये अन्यमनस्क से बैठे थे तभी उधर से महारानी राज्यश्री ने प्रवेश किया । दोनों ने बड़ी देर तक मन्त्रणा की । कोई उपाय समझ में न आया तब राज्यश्री ने कहा—“महाराज आज्ञा हो तो विद्यार्थियों का भ्रमण कर आया जावे, सम्भव है कोई नुस्ति समझ में आ जाय ।”

हर्ष और राज्यश्री प्रातःकाल राज्य-भ्रमण पर निकले । वे एक महाविद्यालय पहुँचे । विद्यालयों का भवन न्यास देखते ही बनता था । उसे चारों ओर से वृक्ष-वाटिका से घेर दिया गया था जिससे उसकी शोभा और भी द्विगुणित हो रही थी । महाराज ने देखा— इतिहास पूगोल, गणित, वैद्यक, कला, संगीत सब कुछ सिखाने का प्रबन्ध है । सारा प्रबन्ध देखकर वे गद-गद हो उठे ।

मानव जीवन की गरिमा, उद्देश्य और आचार को सिखाने का प्रबन्ध न हो तो वह शिक्षा फलवती नहीं हो सकती । धर्मिक वर्णदाओं का ज्ञान न होने के कारण ही आज लोग स्वार्थ में डूबे हैं, इसी कारण प्रजा अशान्त है ।

हर्ष की समझ में बात आ गई । भूल ठीक करती गई, प्रत्येक विद्यार्थी में धर्म-शिक्षण अनिवार्य कर दिया गया और तब प्रजा की उन्नति की स्थिति उस आभूषण सज्जित राजकुमारी की-सी हो गई जो शरीर से भी बहुत सौन्दर्यवती होती है ।

दक्षिण भारत के चाणक्य-

विद्यारण्य

सन् ७१२ ई० में अरबों ने भारत पर पहला आक्रमण किया । इस आक्रमण का नेतृत्व किया था मुहम्मद बिन कासिम ने और पहला आक्रमण का निशाना बनाया था सिन्ध को । मुहम्मद कासिम ने सिन्ध के शासक दाहिर को परास्त करने में सफलता प्राप्त की और वहाँ अपने सभाध्य का झण्डा फहराया । सिन्ध से देवल और मुलतान तक भी अरब सभ्राण्य का विस्तार हुआ और यह सारा विस्तार तीन चार वर्षों के प्रयत्नों का ही परिणाम था ।

इससे आगे का अभियान जुनैद और तामिन नामक प्रतिनिधियों को सौंपकर कासिम वापस लौट गया। तब तक भारतीय जनता और राजाओं में भी स्थिति के प्रति जागरूकता और सतर्कता आ गयी थी परिणामस्वरूप एकता, शौर्य और साहस में अद्वितीय स्थान रखने वाली भारतीय जनता के सम्युक्त जुनैद और तामिन तथा उनकी सेनाओं की एक न चल सकी। यद्यपि वे अपने अभियान को सफल बनाने के लिए एड़ी चोटी का बोर लगाते रहे परन्तु सफलता नहीं मिली।

अरब आक्रमण से भारतवर्ष लगभग तीन शताब्दियों तक एक प्रकार से सुरक्षित हो गया। परन्तु इन तीन शताब्दियों के दौरान ही कुछ ऐसा राजनीतिक घटनाक्रम चला कि हमारे देश की राष्ट्रीय एकता खतरे में पड़ गयी। भारतीय राजा आपस में लड़ने लगे। इसी शताब्दी में पुनः एक बार चोरदार अरब आक्रमण हुआ और पंचाल हाथ से निकल गया। भारतीय सिक्खों को फिर भी इस घटना से कोई सबक नहीं मिला। वे आपस के झगड़ों में ही अपनी शक्ति नष्ट करते रहे। गुजरात के चातुर्व्य और कन्नौज के चौहान, महोबा के चन्देल और कन्नौज के गहरवाल जिनके सम्मिलित प्रयासों ने आक्रांकों के रोंत छुट्टे किये वे आपस में ही लड़ने-भिड़ने और मरने-मारने लगे।

इस स्थिति का लाभ उठा कर महमूद गजनवी ने छब्बीस वर्षों के भीतर भारत पर सत्रह बार हमले किये। भारतीय सेनाओं ने आनन्दपाल के नेतृत्व में महमूद का मुकाबला झेलम के किनारे किया परन्तु बिकारी हुई शक्तियों का अस्थायी गठबन्धन गजनवी का मुकामला नहीं कर सका और विजय महमूद को ही मिली। महमूद गजनवी ने इस आक्रमण में बिजली होकर बघुरा, बुन्दवान, कजीज, कालिंजर के मन्दिरों को लूटा। गुजरात के प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर को लूटने और सोमनाथ की मूर्ति का ध्वंस कर 'बुत शिकन' होने का धर्मांध श्रेय भी गजनवी ने ही प्राप्त किया। फिर भी मूलतः यह लूटेरा था। उसकी इति साम्राज्य स्थापित करने की अपेक्षा हीरे जवाहरातों से अपना कोष भरने में अधिक थी। अपने इस उद्देश्य में एक दृष्टि से समझा होकर वह वापस चला गया।

साम्राज्य स्थापना की इच्छा से मोहम्मद गौरी ने ११९१ में भारत पर पहला आक्रमण किया। इस आक्रमण का सामना किया दिल्ली के प्रसिद्ध शूरवीर सम्राट पृथ्वीराज चौहान ने परन्तु अपने स्वार्थों के लिए राष्ट्रीय हितों का खून करने वालों की भी कमी नहीं थी। व्यक्तिगत शत्रुता के कारण, राजा गौरी का स्वागत किया कलौज के जयचन्द ने। जिसका नाम ही देशद्रोही प्रवृत्तियों का प्रतीक बन गया है और दिल्ली पर एक लम्बे संघर्ष के बाद मोहम्मद गौरी ने विजय प्राप्त की और भारत की दासता का अन्धधुन आरम्भ हुआ कतिपय देशद्रोही तत्वों के कारण।

इस लम्बी भूमिका के प्रस्तुतीकरण का उद्देश्य राष्ट्रीय विपत्तियों के मूल में एकता का अभाव कहना ही है।

मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद धीरे-धीरे अन्य राज्यों में भी उनका प्रभाव डबल होता गया। कोई विजेता राष्ट्र विजय के बाद विजित राष्ट्र की सांस्कृतिक आधार शिलाओं पर चोट करता है ताकि भविष्य में उसके प्राणों में राष्ट्रियता का बीज अंकुरित न होने पाये। भारतीय धर्म और भारतीय संस्कृति पर जब बर्बर आक्रमणों की शुरुआत हुई और उनकी ध्वजता बढ़ती गयी तो ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता प्रबल हुई जो अपनी मेधा, प्रतिभा के बल पर बिखरे बन्धु-व्यक्तियों को एक सूत्र में बाँध कर सके और उस समय यह आवश्यकता पूरी की चौदहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत के दो भाइयों ने। उन्होंने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की और इस राज्य की सीमा का विस्तार भी किया। यद्यपि इस प्रयास का फल उनके संस्थापकों इरिहर और बुक्कादास को दिया जाता है परन्तु बहुत कम लोग जानते हैं कि इस प्रयास के मूल में चणक्य की तरह का एक अद्भुत व्यक्ति काम कर रहा था जिसका नाम था - विद्यारण्य।

विद्यारण्य बचपन का नाम था। उनके पिता विजयनगर राज्य के संस्थापक इरिहर-बुक्कादास के कुलगुरु बने। इसी कारण उन्हें इरिहर बंस के निकट सम्पर्क में रहने का अवसर प्राप्त हुआ। विद्यारण्य ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा अपने पिता तथा राजवंश के कुलगुरु आचार्य माधव के सन्निध्य में सम्पन्न की और आगे चलकर अपने समय के विख्यात विद्वानों विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ और श्रीकण्ठ के सन्निध्य में चली। विद्या तीर्थ अंगेरी मठ के संकराचार्य थे, भारतीतीर्थ भी वेदान्त के ही उपदेष्टा थे और श्रीकण्ठ से उन्होंने साहित्य तथा संस्कृति का ज्ञान अर्जित किया।

कहा का चुक्य है कि उस समय न केवल भारतीय राजनीति पर ही विदेशी शक्तियाँ हावी थी बल्कि धर्म और संस्कृति को भी पूरी तरह नष्ट करने का कुचक्र जोरों से चल रहा था। बालक माधव ने अपने बाल्यकाल से ही देश और समाज की इस तपनशील अवस्था को देखा था तथा जागरूक अन्तःकरण में आक्रोश भी उत्पन्न होता अनुभव किया था। विद्यारण्य के एक जीवनीकार ने उस समय की स्थिति का उल्लेख करते हुए लिखा है-“उस समय लोग चिदम्बरम के पवित्र तीर्थ को छोड़कर भाग गये थे। मन्दिरों के गर्भगृह और मण्डलों में घास बन आयी थी। अश्वशर्षों से यज्ञ-भूष की सुगन्धि के स्थान पर पकते मौस की गन्ध आने लगी थी। साम्रपणी नदी का जल चन्दन से मिश्रित होने के स्थान पर गौरव से मिश्रित होने लगा था। देवाल्यों और मन्दिरों पर कर लग गये थे। अनेक मन्दिर देखभाल न होने के कारण का हो स्वर्ण गिर गये थे अथवा गिरा दिये गये थे। हिन्दू राज्य छल-बल से सम्पन्न होते च रहे थे।”

जिन विपत्तियों को माधव के शिक्षण और मार्गदर्शन का दमित्व प्राप्त था, वे थी किसी प्रकार इस दुःस्थिति को उल्टा देने के लिए स्तम्भित थीं, य प्रयत्नशील थी थी। माधव ज्यों-ज्यों बढ़े होते गये वे अपने व्यक्तित्व निर्माताओं

१.७० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

के प्रयासों के अनुरूप चलने लगे । और अब गुरुगृह से लौटने लगे तो भारतीय परम्परा के अनुसार उन्होंने गुरुओं से पूछा- ब्राह्मण परम्परा के अनुसार मैं आपको दक्षिण में क्या अर्पित करूँ ?”

‘अपना जीवन’ जहाँ अक्षरों का उत्तर मिला और उन्होंने जीवन अर्पित कर दिया । जिसको दक्षिण स्वरूप ग्रहण कर प्रसाद स्वरूप इस जगत के साथ लौटा दिया कि-“राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से खण्ड-खण्ड होते जा रहे भारत का पुनर्जागरण कर भारतीय धर्म और संस्कृति को पुनर्जीवन देना ।”

माधवाचार्य (बाद में विद्यारण्य) अपनी कुल परम्परा से हरिहर और बुक्काचार्य के वंश के कुलगुरु बने । इन सामन्त पुरों से उनका निकट सम्बन्ध था । अतः उनकी प्रेरणा और संरक्षण में संगमराज्य के पुत्र हरिहर प्रथम ने सन् १३३६ ई० में विजयनगर राज्य की नींव डाली । दक्षिणभारत की दिल्ली का कमजोर मुगल शासन अपनी नियन्त्रण व्यवस्था में रख पाने में असमर्थ हो रहा था । इसी कमजोरी का लाभ उठाकर चौदहवीं शताब्दी में अपने डंग का यह पहला प्रयास हुआ । विजयनगर के नाम से तुंगभद्रा नदी के तट पर एक सुन्दर नगर बसाया गया, जिसकी रमणीयता का वर्णन करते हुए उस समय भारत आये एक फारस के यात्री ने लिखा है-“संपूर्ण विश्व में विजयनगर जैसा साम्राज्य न देखा है और न सुना है उसके चारों ओर सात दीवारें हैं । बाहर की दीवार के चारों ओर लगभग ५० गज की चौड़ाई और लगभग साढ़े तीन फुट की ऊँचाई के पत्थर लगे हैं जिससे नगर की सुरक्षा होती है और ग्रहरियों की निगाह बचाकर कोई भी नगर में प्रवेश नहीं कर सकता । नगर के भीतर विभिन्न वस्तुओं के बाजार अलग-अलग स्थित हैं । हरे-जवाहरात आदि बहुमूल्य चीजें खुले बाजार में स्वतन्त्रतापूर्वक निकती हैं देश में अच्छी खेती होती है और जमीन उपजाऊ है ।” एक दूसरे इटालियन यात्री ने विजयनगर साम्राज्य को सर्वाधिक शक्तिशाली और सम्पन्न राज्य कहा है ।

इन सफलताओं को प्राप्त करने में सम्भा समय लग्न । विजयनगर राज्य की स्थापना के बाद उसकी स्थिति को सुदृढ़ बनाना तथा उद्देश्य का अगला चरण पूरा करना था जिसे दृढ़तापूर्वक अभल में लाना था । विद्यारण्य के छोटे भाई सायण विद्वान होने के साथ साथ एक योग्य सेनापति भी थे । सायण के नायकत्व में विजयनगर साम्राज्य की सेनाओं ने आसपास फैले मुगल साम्राज्य पर आक्रमण आरम्भ किया । उस समय दिल्ली में मुहम्मद बिन तुगलक का शासन था जो पूर्वनिष्ठ काफी अशक्त और शीघ्र हो गया था । विजयनगर की सेनाओं ने अपने राज्य के समीपवर्ती कई क्षेत्रों की विदेशी दासता के जंगुल से मुक्त किया । इस अभियान के संचालक और मार्गदर्शक

विद्यारण्य ही थे, जिनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि जिस प्रकार चाणक्य ने बिना तलवार उठाये नन्द साम्राज्य का अन्त किया और भारत का राष्ट्रीय स्वरूप प्रतिष्ठित किया उसी प्रकार दक्षिण भारत में विद्यारण्य ने भी बिना शस्त्र ग्रहण किये भारतीय संस्कृति की विजय पताका के पुनर्जीवन का कार्य सम्पन्न किया ।

विजयनगर ने दक्षिण भारत के समुद्री तट पर अधिकांश जगह में स्वदेशी शासन की स्थापना कर ली थी । कोंकण तट गालावर का समुद्री तट और कावेरी नदी सहित होयसल राज्य भी विजयनगर साम्राज्य के अंग बन गये । कहा जाता है कि इस विजय अभियान के लिये ग्यारह लाख देशभक्त युवकों को सेना में भर्ती किया गया था । साम्राज्य का विस्तार इतना अधिक हो गया था कि उसकी सीमा के भीतर ३०० बन्दरगाह आते थे ।

हरिहर बुक्काचार्य के शासन काल में वहाँ हिन्दू संस्कृति का पुनरुत्थान भी हुआ । प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया गया और जिनमें पूजा आरती का क्रम बन्द हो गया, वहाँ का आलावरण पुनः चन्दा मढ़ियालों से निवारित होने लग्न । जो मन्दिर और देवालय विदेशी आक्रमणकारियों ने तुड़वा दिये थे उन्हें फिर से बनवा कर तैयार किया गया । गुरुकुल परम्परा तथा आश्रम व्यवस्था पुनः प्रचलित हुई । इन सब प्रवृत्तियों के पीछे विद्यारण्य का दिता-निर्देशन तथा शासकों की निष्ठा भावना थी । वहाँ की स्थिति का उल्लेख इतिहासकारों ने कुछ इस प्रकार किया है- विजयनगर राज्य की स्थापना विदेशी शासकों के अत्याचार और अत्याचार तथा सांस्कृतिक ध्वंसशीलता के विरुद्ध एक समर्थ प्रतिरोधक शक्ति के रूप में हुआ था । प्रजा और राजा दोनों ही धर्मरत थे । अधिकांश लोग वैष्णव मत को मानने वाले थे फिर भी राज्य व्यवस्था किसी की धर्मनिष्ठा में कोई हस्तक्षेप नहीं करती थी वहाँ तक कि विधर्मियों के प्रति भी उदार-नीति बरती जाती थी । राज्य की ओर से सभी धर्मावलम्बियों के लिए समान व्यवहार किया जाता था ।

भारतीय संस्कृति के नवोन्मेष अभियान के दो चरण थे । पहला-राजनीति में स्वदेशभक्ति की प्रतिष्ठा और दूसरा धर्मतन्त्र को स्वस्थ तथा परिष्कृत रूप देना । माधवाचार्य के रूप में अब तक प्रथम चरण के लिए कार्यरत रहते हुए आरम्भ की गयी परम्पराओं को भली-भाँति प्रचलित और सुदृढ़ देख आश्चर्य होकर माधवाचार्य दूसरे चरण के लिए संन्यासी हो गये । भारतीय धर्मदर्शन को नयी सामयिक दृष्टि परिप्रेक्ष्य देने के लिए संन्यास जीवन में माधवाचार्य ‘विद्यारण्य’ के नाम से दीक्षित हुए ।

उनका संन्यास किसी जंगल में बैठकर मौन एकान्त साधना या आत्मकल्याण और व्यक्तिगत मोक्ष की प्राप्ति के लिए नहीं था बरन् वे तो इस देश में जनकल्याण और शिक्षण का प्रयोजन पूरा करना चाहते थे । एक कुटिया में रहते हुए उन्होंने अपने तपोनिष्ठ जीवन द्वारा सर्वसाधारण

को धर्म और अध्यात्म के व्यावहारिक स्वरूप को समझना आरम्भ किया। उनकी प्रतिष्ठा, पाण्डित्य और विद्वता ने उनके उद्देश्य को व्यापक बना दिया। लोग उनके पास व्यक्तिगत समस्याओं से लेकर सार्वजनिक गुत्थियों का हल पृष्ठने तक आया करते और वे यथाशक्त्य उनकी आस्था-अपेक्षाओं को पूरा करते।

संलाप चर्चा द्वारा नणी के माध्यम से लोकशिक्षण करने के साथ उन्होंने महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन भी किया। इनकी लिखी हुई पराशर माधवीय में हिन्दू धर्म के आचार-पक्ष और विचार-पक्ष का बड़ा सुन्दर विवेचन है। दक्षिण भारत के विद्वान इस ग्रन्थ को अब भी 'मनुस्मृति' के समतुल्य महत्व देते हैं। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त उन्होंने जीवन्मुक्ति, विवेक पंचदशी और वैश्वनीय न्यायमाला नामक ग्रन्थ भी लिखे जिन्हें भी धर्मशास्त्रों के समान लोकप्रियता प्राप्त है।

विजयनगर साम्राज्य सम्पूर्ण रूप से भारतीय धर्म और संस्कृति की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए उद्दिष्ट हुआ था। कला, संगीत, स्थापत्य आदि को प्रोत्साहित किया गया। इस राज्य के आरम्भ काल में चेदों पर भाष्य भी लिखे गये और दर्शन ग्रन्थ भी प्रणीत हुए। इन कार्यों में विद्यारण्य ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। माधवाचार्य ने सन् १३७७ में विद्यारण्य के नाम से संन्यास ग्रहण किया था और फिर वे आजीवन इसी प्रकार लोकसेवा साधन में लगे रहे।

यद्यपि उन्होंने धर्मतन्त्र के अध्ययन से ही लोकसेवा का मार्ग अपना लिया था फिर भी राज्यकार्यों में आवश्यक परामर्श व मार्गदर्शन देते रहते थे। हरिहर कुम्काराय तथा अन्य बाद के शासक उनकी महिम्नयुक्त व्यक्तिगत से स्तुति उठाने के लिए प्रायः उनकी कुटिया पर आया करते थे और उनसे राजनीतिक समस्याओं पर समाधान चर्चा किया करते थे। विद्यारण्य उन्हें समुचित मार्ग निर्देशन देते और राज्य-संभालन की गुत्थियाँ सुलझाने में सहायता करते। उनके रहते विजयनगर साम्राज्य के सभी राजसकों ने विद्यारण्य को राजगुरु रूप में प्रतिष्ठित रखा। हरिहर प्रथम ने उन्हें अपने से भी ऊँचा आसन और सम्मान दिया था तथा वैदिक मार्ग प्रतिष्ठाता के सम्मानित सम्बोधन से सम्बोधित किया।

वर्तमान सामाजिक परिवर्तन में विद्यारण्य का एक प्रमुख योगदान यह रहा कि उन्होंने संन्यास का सम्मन्वय सूत्र सीधे समाज से भी जोड़ा। प्रायः क्षत्र-संन्यासी उस समय भी समाज से निरपेक्ष और विमुख रहकर लोगों को कोरी भक्ति और पूजा-पाठ का उपदेश दिया करते थे। विद्यारण्य ने अपने समय के कई विख्यात और लोकप्रिय साधु-महन्तों को लोकसेवा के रचनात्मक कार्यों में लगाया। उनके समय के प्रख्यात वैष्णव भक्ति के प्रचारक वेदान्त देविक को समग्र भारतीय धर्म और अध्यात्म के पुनरुत्थान में नियोजित करने की घटना तो ऐतिहासिक है।

विद्यारण्य ने अपने समय में बाणी और लेखनी द्वारा ही नहीं व्यक्तित्व और कृतित्व द्वारा भी लोकनेतृत्व का जो आदर्श उपस्थित किया है, वह भारत के प्रथम राष्ट्र निर्माता चाणक्य का स्मरण दिला देता है। विजयनगर साम्राज्य की इतिहास में बिठनी प्रशंसा होती है उसके पीछे आधार रूप में विद्यारण्य का ही व्यक्तित्व विद्यमान है।

जिन्होंने राष्ट्ररक्षा के लिये तलवार धामी—

‘विक्रमादित्य’ हेमू

भारत धन, धान्य और स्वर्ण से भरा पूरा देश है। इस राज्य से परिचित हो वहाँ को सुख समृद्धि पर डाका डालने के लिये क्रमशः यूनान, शक, हूण, कुषाण, पर्सियन, मुसलमान और अंग्रेज आये। सदियों तक भारत माँ के लड़कते सपूत अपने देश की, अपने धर्म की, अपनी संस्कृति और जातीय स्वाभिमान की रक्षा के लिए इन स्वर्ण कर्मों से लोहा लेते रहे।

धन और धरती तो शूरों की होती है। नर-रत्न गर्भा पाँ भारत की कोख से ऐसे कितने ही सपूत उभरे थे जिन्होंने इसकी विदेशियों से रक्षा करने के लिये महान उद्योग और प्रयत्न पुरुषार्थ किया। विक्रमादित्य हेमू इन्हीं नर-पुंगवों में से एक थे जिन्होंने समय की मुकार पर अपने धर्म को, कर्तव्य को निभया।

अपने को अमीर तैमूर का वंशज कहने वाला राज्यसिन्धु, धनसिन्धु बाबर भी भारत के वैभव की कहानियाँ सुनकर भारत आया। तैमूर स्वयं एक लुटेरा था उसका वंशज क्या उससे कम होता? दिल्ली पर उन दिनों इस्लामी लोदी नामक बादशाह राज्य करता था। वह बाबर के सामने टिक नहीं सका। पानीपत के मैदान में उसे करारी हार मिली। मेवाड़ पर उन दिनों प्रतापी हिन्दू राजा महाराणा संग्राम राज्य करते थे। उन्होंने ठेठ फतहपुर सीकरी के पास खानवा के मैदान में जाकर बाबर को रोका। महाराणा संग्राम के आह्वान पर कितने ही राजपूत राजा एकत्रित होकर राष्ट्ररक्षा के लिये खानवा के मैदान में जा डटे। बाबर के पास नयी किस्म के अस्त्र-शस्त्र व बन्दूकें जो दूर से मार सकती थीं, होते हुए भी उसकी सेना राजपूतों के आगे टिक न सकी और भाग खड़ी हुई। आगती सेना का पीछा करना भारतीय वीरों ने उचित नहीं समझा, वे विजयोत्सव धमाने लगे। किन्तु बाबर अपने सपनों को यों चूर-चूर नहीं देखना चाहता था। वह लुटेरे साधियों को पुनः संगठित कर असावधान राजपूतों पर चढ़ बैठा। वे बड़ी वीरता से लड़े पर व्यूह रचना टूट जाने से उनकी पराजय हुई पर बाबर भी उससे आगे बढ़ने की हिम्मत न कर सका।

महाराणा संग्राम युद्ध में चुरी तरह घायल हुए। वे स्वस्थ होकर इस पराजय के कलंक को धोने की तैयारी में लगे पर वे इस युद्ध के कुछ समय बाद ही दिवंगत हो

गये। उनका पुत्र उदयसिंह उनकी तरह पराक्रमी नहीं निकला कि उस पराजय का बदला चुकाता।

ऐसे विकट समय में जब चारों ओर अंधकार छाया हुआ था कोई क्षत्रिय राजा ऐसा नजर नहीं आता था जो कि बाबर अथवा उसके वंश को पुनः पराजित करके उस अपमान का बदला चुकाता व पुनः हिन्दू राज्य की स्थापना करके सुरासन स्थापित करता। समय के इस धर्म की चुनौती को जिस व्यक्ति ने स्वीकारा वह था हेमू हेमचन्द्र, जिसकी सात पुरत तो क्या पूरे वंश में किसी ने सलवार को हाथ नहीं लगवाया था। जबकि पुत्र हेमू के पुरखे वैश्य थे। व्यापार करना और धन की वृद्धि करना, हिसाब किताब रखना यही थे उनके कर्म। बुढ़ क्या होता है, विजय कैसे मिलती है और पराजय क्या होती है उन्हें पता ही न था पर हेमू भला युव कैसे बैठता।

उसके पुरखों ने काफी धन सम्पदा एकत्रित कर रखी थी। वे दिल्ली सम्राट के मुख्य कोषाधिकारी हुआ करते थे। हेमू भी दिल्ली दरबार में प्रधानमंत्री रह चुके थे। उन्होंने मुगलों को भारत से मर भगाने का निश्चय कर लिया। अनेकों छोटे-छोटे हिन्दू राजाओं से उनका परिचय था। संगठन की शक्ति से तो वे परिचित थे ही। अपनी सारी सम्पदा को उन्होंने देश की स्वाधीनता के लिये अर्पित करके अपनी एक सेना तैयार कर ली। छोटे-छोटे राजाओं को मिला अपने भगवा झण्डे तले आकर विदेशी-तत्ता को उछाड़ पेंकने की तैयारी कर ली।

विदेशी आक्रमणकारी बाबर अधिक समय तक जीवित नहीं रहा। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्रों में राज्य-प्राप्ति के लिए संघर्ष चला। चलता क्यों नहीं स्थायी और लुटेरों के धंशों से और आश ही क्या की जा सकती थी। भाइयों की हत्या करके और पिता को बंदी गृह में डालकर राज्य करने की परम्पराई इसी वंश में चलती रही थी। बाबर का पुत्र हुमायूँ उनकी तरह वीर नहीं था उसके भाई कामरान ने उससे विद्रोह किया। गृह-कलह के कारण उसे ईरान भाग जाना पड़ा।

इस स्थिति को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये उपयुक्त जान हेमू ने अपनी शक्ति और संगठन की गतिविधियाँ और भी तेज कर दीं। देखते ही देखते उसके पास एक विशाल सेना संगठित हो गयी। हेमू ने अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को पूरी करने के लिये वैश्य धर्म से क्षत्रिय धर्म अंगीकार कर सेन्य संगठित की नहीं की थी बल्कि मुगलों को भारत से बाहर निकालने के ध्येय की पूर्ति के लिये भरसक प्रयत्न किया था। अतः उन्हें सहयोगियों की कमी नहीं रही।

अवसर हाथ लगते ही उन्होंने दिल्ली पर धावा बोल दिया। उनकी विजय हुई। दिल्ली का सिंहासन पुनः भारतीय राजा के हाथ में आ गया। उस पर भगवा रंग की धर्म-ध्वजा फहराने लगी। यह वह समय था जब शेरशाह सूरी का पतन हो चुका था। हुमायूँ की मृत्यु हो चुकी थी। उसका पुत्र अकबर, बैरमखान के संरक्षण में बड़ा हो रहा था।

दिल्ली को हस्तगत कर लेने पर हिन्दू राजाओं ने अपने इस वीरनायक को ही सम्राट मान लिया। वे उसके भाण्डारिक बने। हेमू को विक्रमादित्य की उपाधि से विभूषित किया गया। दिल्ली से आगए तक का प्रदेश अब उनके अधिकार में आ चुका था। वहाँ से मुगल सेना भाग खड़ी हुई थी।

हेमू ने सिंहासन पर बैठकर राज्य को सुव्यवस्थित किया। बड़े कर्षों को ही सही पर इस सुरासन में राजा ने अनुभव किया कि विदेशी शासकों से यह स्वदेशी शासन हजार गुना अच्छा था। हमारे देश का इतिहास व्यक्तिगत महत्ता की दृष्टि से तो बहुत कैसा ठहरता है पर वहाँ राष्ट्रीयता की ध्वजा और जनसामान्य की बात है इस दृष्टि से भारतवासी कामचोर ही रहे हैं। राज्य सौगा के बाद जिस प्रकार हेमू ने राज्यों को संगठित कर एक स्वदेशी शक्ति गठित की यह उनकी मृत्यु के बाद स्थिर न रह सकी।

'विक्रमादित्य' हेमू ने अपने छोटे से जीवन काल में पन्द्रह ■ अधिक लड़ाईयाँ लड़ीं। उन्होंने निर्णायक युद्ध पानीपत के मैदान में अकबर से लड़ा। अकबर बड़ी विकट स्थितियों में फलकर बड़ा हुआ था। उसे पड़ने का अवसर भी नहीं मिला था। इसका कारण हेमू द्वारा मुगलों का दिल्ली से अधिपत्य समाप्त कर देना था। सच पूछा जाय तो वे विदेशी बर्बर राज्यालिप्तु अपनी वीरता के बल पर भारतीयों से नहीं जीते थे बल्कि इनकी बर्बरता व थोड़े बाजी से ही उन्होंने वीर भारतीयों पर अल्पकाल के लिये अधिपत्य भर जमाने में सफलता प्राप्त की थी। पानीपत के युद्ध में विक्रमादित्य हेमू काय आवे। सेनापति के मरते ही सेना में भगदड़ मच गयी इस कारण अकबर जीत गया। और वह दिल्ली का बदशाह बना।

अकबर ने अपने साम्राज्य को धर्म-नीति से बढ़ाया वीरता से नहीं। राजपूत राजाओं की फूट और अहमकता पर ही उसका मुगल साम्राज्य विस्तारित हुआ। यद्यपि हेमू को अपने ध्येय में अल्पकाल तक ही सफलता मिली थी पर इतने समय तक ही सही वे सूर्य की तरह विदेशी शासन के निर्मिर् को चीरते रहे। इस साहस, पराक्रम व पुरुषार्थ के लिये वे व्याज भी स्मरणीय, अनुकरणीय बने हुए हैं।

मुगलराज्य के हिन्दू प्रशासक -

टोडरमल

१५८९ में सम्राट अकबर जब कश्मीर गया तो सवाल उठा कि राजकाज किसकी देखरेख में सौंपा जाय यों उसके पास एक से एक योग्य और दक्ष अधिकारी थे। नवरत्नों के नाम से अपने पास अकबर ने प्रतिभाशाली विद्वान और योग्य व्यक्तियों को एकत्रित कर रखा था। परन्तु अकबर को सबसे अधिक विश्वसनीय लगे दीवान

ए अशरफ टोडरमल । उसने सारा सामान प्रबन्ध टोडरमल को देखरेख में छोड़ दिया ।

दूसरे विद्वानों को टोडरमल की इस प्रतिष्ठा से जलन हुई। कोई भी व्यक्ति साधारण स्थिति से परिश्रम और पुरुषार्थ के बल पर ऊँचा उठता है, तो अच्छे लोग ईर्ष्या करने लगते हैं। टोडरमल प्रारम्भ से ही इन परिस्थितियों का सामना करते आये थे इसलिए उन्हें चिन्ता नहीं हुई। वे सौतेले गये उत्तरदायित्व को निर्विचलपूर्वक पूरा करते रहे।

टोडरमल का जन्म उत्तर प्रदेश के लखनपुर गाँव में हुआ । इनका परिवार सम्पन्न स्थिति का नहीं कहा जा सकता । फिर भी टोडरमल अपने आस-पास घटने वाली घटनाओं का सूक्ष्म-दृष्टि से निरीक्षण करना सीख गये । इसी प्रकार उनकी बुद्धि का विकास हुआ ।

उस समय राज्य के अधिकारीगण किसानों से कर वसूल करने के लिये ज़्यादातियाँ किया करते थे । टोडरमल ने यह सब देखा और चिन्तन किया । उन्होंने पहली बार बौद्धिक प्रतिभा का परिचय दिया । अधिकारियों को उनसे ऐसे सुझाव और परामर्श मिले कि राज्यकोष में भी अधिक धन इकट्ठा हुआ और कुछ भी ज़्यादातियों से बच गये । अन्य वर्षों की अपेक्षा इस वर्ष ज़्यादा धन इकट्ठा हुआ । इसके समाचार अकबर तक पहुँचे और वह बड़ा प्रभावित हुआ। कुछ टोडरमल को अकबर ने अपने राज्य-शासन में अच्छा पद और सम्मान दिया । बौद्धिक क्षमता के बल पर सामान्य स्थिति में भी अच्छा सम्मान, प्रतिष्ठा, उन्नति और अधिकार प्राप्त किया जा सकता है ।

सन् १५७३ में अकबर ने टोडरमल को भूमि प्रबन्ध के लिये गुजरात भेजा । वहाँ उन्होंने सारी जमीन की मात्र जोख करवाची और जमीन की किस्म, क्षेत्रफल तथा पैदावार के हिसाब से मासगुजारी की दर निश्चित की । इस नयी व्यवस्था से शासन और किसान दोनों को ही लाभ पहुँचा। हमेशा मासगुजारी की बसूली के अनुसार वर पैदा होने वाली अशान्ति दो वर्षों में ही समाप्त हो गयी । टोडरमल की इस सूझबूझ से प्रभावित होकर अकबर ने पूरे साम्राज्य की भूमि का प्रबन्ध टोडरमल को सौंप दिया ।

छोटी सफलतायें प्राप्त कर लेने के बाद और बड़े उत्तरदायित्व विभाने की पास्ता मिल जाती है और उसे भी अच्छी प्रकार निभाकर बुद्धिमान व्यक्ति अपनी योग्यता का विकास करते रहते हैं । टोडरमल ने सारे राज्य का भूमि प्रबन्ध नये सिरे से करने के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य को १८२ परगनों में बाँटा । प्रत्येक परगने के लिए एक अफसर नियुक्त किया गया जिसे करोड़ी कहा जाता था ।

परगने के लगान की रकम बाँच में आने के कारण करोड़ी सालाना होते गये । वे किसानों से मनमन्य कर वसूल करने लगे । इन मनमन्यियों को शिकस्त टोडरमल और अकबर तक पहुँची । अकबर ने उन्हें दीवाने-अशरफ मासगुजारी का सर्वोच्च अधिकारी नियुक्त किया । दीवाने अशरफ के इस पद पर रहकर उन्होंने विभाग में आवश्यक सुधार किये ।

सालाना करोड़ियों को कठोर दण्ड दिया गया । कई को आजन्म कारावास मिला। टोडरमल ने जमीन को नपाई के लिए रस्सियों का प्रयोग किया था । वे रस्सियों पानी में धिगाने से सिकुड़ जातीं और करोड़ों इसी प्रकार की चालाकियाँ करते थे । टोडरमल ने रस्सी के स्थान पर लोहे के कड़ों से जरीबें तैयार करवायीं । थोड़े बहुत परिवर्तन से इसी प्रकार की जरीबें अब भी प्रयोग में लायी जाती हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि बेईमानी, अनैतिकता और हथामखोरी को रोकने के लिए पतितों को आतंकित करने के लिए सम्भवतः लोगों को निर्मूल करने का ही व्यावहारिक तरीका अपनाया ।

सुप्रबन्ध क्षमता और कार्यदक्ष होने के कारण सदा अकबर का अन्य चापमूस दरबारियों के जलते रहने के बाद भी टोडरमल अपना विश्वास बड़ाता गया । टोडरमल ने भी सुरामद और अनावश्यक चादुकारिता का ओझा और अवोर्णों द्वारा अपनाया जाने वाला तरीका छोड़कर विद्युत् कार्यक्षमता, लगन और परिश्रम का धर्म चुना । यहाँ तक कि जब अकबर के चत्तबे धर्म दीप इलाही को कई दरबारी स्वीकार कर चुके थे । टोडरमल से इस विषय में राय जानने पर उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया । धर्म के सम्बन्ध में टोडरमल कट्टर हिन्दू थे । वे घर पर परम्परागत पोस्तक धोती-कुर्ता ही धारण करते थे । दोनों समय संध्य उपसना और पूजा पाठ नियमित रूप से किया करते । जब तक नित्यकर्मों से निवृत्त नहीं हो जाते उन्हें चैन नहीं मिलता ।

बादशाह को भी धार्मिक संकीर्णता का त्याग कराने में उनका बड़ा हाथ था । उन्होंने चल रहे बहिष्कार को इस आधार पर हटाने की सलाह दी कि मात्र हिन्दू होने के कारण वर्ग विशेष से किसी प्रकार का कर वसूल करना अवैधानीक है । उनके इस सार्थक प्रतिपादन को समझकर ही अकबर ने बहिष्कार हटाया था । यही नहीं हिन्दुओं को शासन में उचित स्थान दे कर उन्हें अपना बनाने का प्रयास भी किया ।

सत्कालीन शासन की उदार धर्म नीति के मूल कारण टोडरमल से इसीलिये लोग जलन करते थे । वे धर्म उदार नेता कर्मानुकारी थे । साम्प्रदायिक घसपात को अनुचित ठहराते हुए अपने विभाग और प्रशासन में भी योग्यता और प्रतिभा को संयुक्त करने की परम्परा चलायी । फल स्वरूप शासन व्यवस्था में भी इसके सत्परिणाम सामने आये।

टोडरमल केवल प्रबन्ध और व्यवस्था में ही नहीं अन्य क्षेत्रों में भी कुशल थे । अर्धव्यवस्था के सम्बन्ध में सफल और दक्ष होने के साथ-साथ वे वीर सेनापति भी थे । अकबर ने कई बार उन्हें बुद्ध के मोर्चों पर लड़ने के लिए भेजा था । उन्होंने इस समय जो वीरता और शौर्य प्रदर्शित किया वह उनकी बहुमुखी प्रतिभा का ही प्रतीक है । राजधानी से दूर होने के कारण बंगाल में प्रायः विद्रोह हुआ करते थे । जिसे दबाने के लिए टोडरमल को ही भेजा । चार वर्ष तक कठोर परिश्रम कर उन्होंने बंगाल

में स्थायी शांति कायम की । गुजरात के सुततान बफर को भी उन्होंने ही पराजित किया ।

सैन्य-व्यवस्था में मनसबदारी की प्रथा विकृतियों को समाप्त करने का श्रेय भी टोडरमल को ही था । उस समय सम्राट वेतनभोगी मनसबदार नियुक्त किया करता था । ये मनसबदार कालान्तर में भ्रष्टाचारी बन गये । टोडरमल ने सम्राट को भ्रष्टाचार जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिए बहुमूल्य परामर्श दिये । जिनके परिणामस्वरूप स्वस्थ परम्परायें बन सकीं ।

जन हितकारी, स्वच्छ और न्यायपूर्ण शासन व्यवस्था ही टोडरमल का लक्ष्य था जिसे उन्होंने जीते जी प्राप्त कर लिया । अनुशासन और व्यवस्था अच्छे राज्य के दो आवश्यक तत्व हैं । जिनकी प्रतिष्ठापना के लिए टोडरमल ने स्वयं के जीवन की आहुति दे दी और इसी के लिए मृत्यु का वरण भी किया । उनकी हत्या सन् १५८९ में एक व्यक्ति ने कर दी थी । जिसे उन्होंने किसी अपराध के कारण दण्डित किया था ।

कर्तव्यपालन उनकी दृष्टि में सबसे बड़ा धर्म था । चूड़ावस्था के कारण कार्य करने में असमर्थ हो जाने के कारण उन्होंने राज काम से अवकाश ग्रहण कर हरिद्वार जाना चाहा । अकबर ने तीर्थयात्रा का प्रबन्ध कर दिया और वे चल दिये । मार्ग में ही उन्हें सम्बन्ध मिला कि ऐसे काम के लिए जिसे कोई और नहीं कर सकता है उनकी आवश्यकता है । टोडरमल अपनी यात्रा को बीच में ही छोड़कर वापस आ गये और सम्बन्धित कार्य देखने लगे । इसके कुछ समय बाद ही एक सजातीय व्यक्ति ने उन्हें मार डाला । जिन्होंने अपने विचारों से सम्राट को भी प्रभावित कर लिया वे अकबर के सबसे बड़े और योग्य व्यवस्थापक के रूप में अविस्मरणीय रहेंगे ।

मेवाड़ के भीष्म—

राजकुमार चूड़ामणि

जोधपुर नरेश राव रणमल का राजपुरोहित टीका नारियल लेकर मेवाड़ के राज दरबार में उपस्थित हुआ । मेवाड़ की पशुकीर्ति ठन दिनों अपने यौवन पर थी । महाराणा कुम्भा के गुजरात विजय की बात अभी पुरानी नहीं पड़ी थी । उस विजय की स्मृति में बनाये गये विजय-स्तम्भ की नूतनता पर आतप, शीत और वर्षा का प्रभाव भी परिलक्षित नहीं हो पाता था । व्योमवर्णी प्रस्तरों की कान्ति अभी धूमिल नहीं पड़ी थी ।

मेवाड़ के राज्य सिंहासन पर वीरवर कला प्रेमी महाराणा कुम्भा के पुत्र महाराणा लम्हा आसीन थे । महाराणा कोई पचास बसन्त देखा चुके थे । उनके ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार चूड़ामणि भी पच्चीस के आस पास पहुँच चुके थे । उनके शौर्य और सच्चरित्रता की कहानियाँ राजघरानों में विकसते पाटल की सुरभि सी फैल रही थी । उसी को

सुनकर जोधपुर नरेश ने अपनी कन्या विन्दुमती का हाथ उनके लिये प्रेषित किया था । इसी प्रयोजन से जोधपुर राज्य के राजपुरोहित मेवाड़ के यज्ञ वैधव के अनुरूप ही भेंट के साथ यह रिश्ता लेकर पहुँचे थे ।

दरबार लगा हुआ था । सोलह बत्तीसी उमराव अपने-अपने स्थानों पर बैठे थे । महाराणा के सिंहासन से थोड़ा हटकर कुछ नीचाई पर युवराज राजकुमार चूड़ामणि का आसन था । वे उस पर आसीन थे । उगते सूरज का-सा उनका प्रखर व्यक्तित्व सभा को और भी गरिमा प्रदान कर रहा था । महाराणा साखा यों पचास के हो चले थे । पर दीखते पैंतीस के आस-पास ही थे । मुखमण्डल पर सैरा ही कसाव था जैसा प्रायः युवकों के चेहरे पर होता है । उनकी भरी हुई दाढ़ी और मस्तक पर चढ़ी रेखाएँ भले ही उनकी आयु का प्रदर्शन कर रही हों पर स्वास्थ्य की दृष्टि से वे युवा सदृश ही थे ।

राव रणमल के राज पुरोहित ने अभिवादन, अभ्यर्चना के परचासु अपने आगमन का प्रयोजन बताया तो महाराणा साखा के मुख मण्डल पर मुस्कान खिल आयी । वे हँसते हुए बोले—“हम जानते हैं पुरोहित जो राव रणमल अपनी कन्या का रिश्ता युवक राजकुमार चूड़ामणि के लिये नहीं तो क्या हम जैसे बुढ़ों के लिये धेजेंगे ।” उन्होंने यह बात कही तो हँसी में भी पर, जब वे यह बात कह रहे थे राजकुमार चूड़ामणि की दृष्टि उनके मुखमण्डल पर ही जमी हुई थी । अपने बुढ़ होने के अहसास के प्रकटीकरण के समय मन्त्र की स्वभावगत दुर्बलता उनकी आँखों में रक्षित डोरों के रूप में उभर आयी थी । यदि वे ही युवा होते तो उनका भी विवाह उस नवयौवना से हो जाता । पिता की वह दुर्बलता राजकुमार से छिपी न रही । अतः इसके पहले कि महाराणा इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते राजकुमार बोल उठे—

“अनन्दात्त ! जब आपने रणमल जी की सुपुत्री के सम्बन्ध में ऐसी बात कही तो वे मेरे लिए माता के तुल्य हो गयी हैं । अब मैं उन्हें पत्नी के रूप में कैसे स्वीकार कर सकता हूँ । आप अपने लिये ही इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लें ।” राजकुमार का यह कथन सुनकर सभा में सन्नत आ गया । इस अप्रत्याशित घटना पर सभी हतप्रभ रह गये । महाराणा धर्म संकट में पड़ गये । राव रणमल के प्रतिनिधि किंकर्तव्यविमूढ़ कभी राजकुमार की ओर लकते और कभी महाराणा की ओर ।

“हमने तो यह बात हँसी में कही थी राजकुमार ! तुम्हें इसे इतनी गहराई से नहीं लेना चाहिए ।”

“कण्ठ करें अनन्दात्त ! आपने किसी भी रूप में कहा हो अब वे मेरी मत्त बन चुकी ।”

राव रणमल का प्रतिनिधि भी राजनीति कुशल और व्यवहार कुशल व्यक्ति था । वह अपने महाराज से पूरी बात करके ही आया था । वे अपनी पुत्री को मेवाड़ की

महारानी बनाना चाहते थे। पुरोहित को दूर की सूझी ज्यों राजकुमारी को मेवाड़ की महारानी ही नहीं राजमाता भी बना दिया जाय। उसने महाराजा से निवेदन किया-

“महाराज ! हमारे महाराज ने युवराज और राजकुमारी जी के सम्बन्ध का प्रस्ताव इसलिये भेजा है कि वे मेवाड़ के भावी महाराजा हैं। क्षमा करें महाराज यदि युवराज के कथनानुसार आप राजकुमारी जी से विवाह कर भी लें तो आपके बाद में राज्य स्वामी तो युवराज ही होंगे, हमारा राजकुमारी जी की कोख से उत्पन्न राजकुमार नहीं।”

राजपुरोहित की यह अर्बभरी बात सुनकर राजकुमार चूड़ामणि बोले-“आप निश्चिन्त रहें पुरोहित जी आपकी राजकुमारी जी की कोख से जो बालक उत्पन्न होगा वही मेवाड़ का महाराजा बनेगा। मैं ईश्वर को सक्षी रखकर प्रतीक्षा करता हूँ कि मेवाड़ के राज्य सिंहासन का न तो मैं कभी दावेदार बनूँगा और न मेरी सन्तान ही। मैं अपना युवराज पद छोड़ता हूँ।

तबके की भाँति इतने विशाल और समृद्ध राज्य का उत्तराधिकार छोड़ने वाले राजकुमार चूड़ामणि की ओर सभी सभासदों की दृष्टियाँ उठ गयीं। राजकुमार के चेहरे पर मुस्कान खेल रही थी, त्याग का अपूर्व सुख उस पर आभा बनकर विराज गया था। महाराजा ने अपने पुत्र की ओर देखा और बोले-“युवराज, तुम एक बार फिर सोच लो।” हमें पता होता कि हँसी-हँसी में कही गयी बात की ऐसी प्रतिक्रिया होगी तो हम वीर कभी नहीं कहते। आये हुये टीके को फेरने में हमारी ठेठी ही नहीं होगी जोधपुर महाराज भी अपना अपमान समझेंगे। ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते राज्य के उत्तराधिकारी तुम्हीं हो। तुम्हारी योग्यता और वीरता पर हमें भरोसा भी है। मेवाड़ का हित इसी में है कि तुम्हीं हमारे पश्चात् महाराजा बने। ऐसी स्थिति में हम धर्म संकट में पड़ गये हैं।

“आप चिन्ता न कीजिये महाराज! जब तक चूड़ामणि जीवित है मेवाड़ के गौरव बन्द को कोई राह प्रस नहीं सकता। शासन के प्रबन्ध में सिर कटाने की बात हो तो मैं आधी रात को तैयार हूँ पर सिंहासन पर बैठने की बात अब नहीं बनेगी।”

राजकुमार की इस भीष्मप्रतिज्ञा पर सभी विस्मित भक्ति थे। इस त्याग के कारण उन्होंने वह श्रेय सम्मान पा लिया था जो मेवाड़ के राज्य सिंहासन से भी उच्च था, ऐसी कीर्ति पायी थी जिसकी प्रभा कभी घुमिल होने वाली नहीं थी।

जोधपुर नरेश का अपमान न हो इसलिये महाराजा लाखा ने जोधपुर की राजकुमारी विन्दुमती से विवाह कर लिया। वे मेवाड़ की महारानी बनीं। विवाह के कुछ ही वर्ष पश्चात् उनके मोकल नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। मोकल आठ वर्ष का भी नहीं हो पाया था कि महाराजा लाखा का देहावसान हो गया।

अल्पवयस्क मोकल को महाराजा पद पर अभिषिक्त किया गया। राजकाज माता विन्दुमती देखती थीं। राजकुमार चूड़ामणि उनकी सहायता करते थे। एक प्रकार से राज्य का सारा प्रबन्ध वे ही किया करते थे। काम तो वे करते थे महाराजा पद पर मोकल आसीन थे। राजमाता विन्दुमती को उन पर पूरा विश्वास था। राजकुमार के त्याग ने उनके हृदय में बहुत ऊँचा स्थान बना लिया था। वे उन्हें बहुत मानती थीं।

किन्तु जोधपुर नरेश राज रणमल के मन प्रसिद्धि में कुछ और ही खिचड़ी पक रही थी। वे मेवाड़ को अपने पैरों के नीचे करने की घृणित कामना को सफल करने में लगे हुए थे। उन्होंने अपने कुचक्र चलाने आरम्भ कर दिये। राजमाता विन्दुमती के मन में उन्होंने राजकुमार चूड़ामणि के प्रति अविश्वास उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया। पहिले तो उन्होंने उनकी बातों पर विश्वास नहीं किया पर अपने पिता द्वारा बार-बार उसी बात को दोहराने पर वह भी उन पर शंका करने लगी। यद्यपि उनकी शंका निराधार थी। राज रणमल राजकुमार चूड़ामणि को मेवाड़ से बाहर निकलवाकर अपने मार्ग का कौटा दूर करना चाहते थे।

राजमाता विन्दुमती ने भी अपने पिता की बातों पर विश्वास करके राजकुमार चूड़ामणि से परामर्श लेना बन्द कर दिया। राज्य के जिम्मेदार पदों पर उन्होंने अपने पिता की राय के अनुसार उनके अपने आदमी नियुक्त करने आरम्भ कर दिये। राजकुमार चूड़ामणि ने उन्हें सचेत किया कि ऐसा करने से हमारे भेद बाहर चले जायेंगे। इस पर राजमाता ने उन्हें कटुवचन कहे-“राजकुमार, आप मोकल के स्थान पर अपने आपको महाराजा बनाना चाहते हो इसीलिये ऐसी बातें कह रहे हो। हम स्वयं जैसे होते हैं इन्हें दूसरे भी वैसे ही दिखाई देते हैं। मैं आपका यहाँ मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़गढ़ में रहना आवश्यक नहीं समझती। आप यहाँ से चले जाइये।

राजकुमार चूड़ामणि, राजमाता के ये वचन सुनकर बहुत दुःखी हुए। उन्होंने अपने अपमान को पी लिया और बोले-“यदि आपको घेरे में छोड़ लगता है तो मैं यहाँ नहीं रहूँगा। मैं सलुम्बर के बौहड़ प्रदेश में चला जाऊँ हूँ पर आप इतना बाद रखें महाराजा मोकल पर कोई संकट आवे तो मुझे सूचित किये बिना न रहें।”

राजकुमार चूड़ामणि अपने छोड़े से परिवार और साथियों सहित सलुम्बर के पर्वतीय प्रदेशों में चले गये। उनके चले जाने पर राज रणमल को खुलकर खेलने का अवसर मिल गया। राजमाता उन्हें अपना और महाराजा मोकल का शुष्कचित्तक ही समझती रहीं पर जब उनके पिता का वास्तविक स्वरूप उजागर हुआ तो वे काँप उठीं। अब उनके हाथ में कुछ नहीं रहा था। राज रणमल के विश्वासपात्र सामन्त दायित्वपूर्ण पद सम्हाले बैठे थे वास्तविक सत्ता उन्हीं के हाथों में थी। अल्पवयस्क

महाराण मोकल के प्राणों पर कभी भी संकट आ सकता था । अब उन्हें अपनी भूल हाथ हुई । राजकुमार चूड़ामणि के उच्चादर्श समन्वित तत्त्वचरित्र पर विश्वास न कर उन्होंने अपने पितृ पर, रक्त के रिश्तों पर विश्वास किया, जो झूठा निकला ।

इस संकट की घड़ी में उन्होंने एक दूत के हाथ राजकुमार चूड़ामणि के पास संदेश भेजकर महाराणा मोकल की रक्षा करने की प्रार्थना की । राजकुमार चूड़ामणि को इसी बात की आशंका थी । उन्होंने उस स्थिति से निपटने की तैयारी भी कर रखी थी । सलुम्बर रहकर उन्होंने अपना सैन्य बल भी बढ़ा लिया था । राजमाता का संदेश पाते ही वे सदल बल चितौड़ के लिए कूच कर पड़े । गुप्त मार्ग से दुर्ग में प्रविष्ट होकर उन्होंने महाराण मोकल की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध किया । फिर सोलह-बत्तीसी सरदारों से पन्त्रण की । सबने मिलकर राव रणमल के साधनों का सफाया कर दिया ।

मानापमान की परवाह न करते हुए उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा- अपने कर्तव्य का पालन किया । जब तक मोकल वयस्क नहीं हुए उन्होंने उनका संरक्षण किया । तदनन्तर वे पुनः सलुम्बर चले गये । व्यक्ति का चरित्र और उसकी उच्च भावनाएँ ही उसे महान और वरस्यी बनाती हैं, पद सम्मान नहीं । राजकुमार चूड़ामणि के व्यक्तित्व और कर्तृत्व में यह तथ्य प्रखर रूप में उद्भासित हुआ है । उनके त्याग ने उन्हें ही नहीं उनके वंशजों को भी अखण्ड गौरव प्रदान किया । उनके वंशज जो 'चूड़ामणि' कहलाते थे, की सहमति के बिना कोई मेवाड़ के सिंहासन पर आसीन नहीं हो सकता था । इस मर्यादा का प्रचलन राजमाता विन्दुमती ने ही किया था, राजकुमार चूड़ामणि की कीर्ति को स्थायी बनाने के लिये । उस परम्परा का पालन अन्त तक होता रहा । राजकुमार चूड़ामणि अपने इस त्याग के कारण सदा सर्वदा के लिये आदर्श बन चुके हैं । आज भी कोई बरा पाना चाहे तो उसका मार्ग वही है जो उन्होंने चुना था ।

स्वतन्त्रता, स्वाभिमान और संस्कृति के संरक्षक -

महाराजा छत्रसाल

उस दिन विंध्यवासिनी देवी के मन्दिर पर भारी भीड़ लगी हुई थी । देवी पूजा के उत्सव का आयोजन चल रहा था और दूर-दूर से आये श्रद्धालु अपनी आराध्या जगज्जननी देवी के मन्दिर में श्रद्धा के फूल चढ़ा रहे थे । मार्ग में चल रहे कुछ घुड़सवार एक बगीचे के पास रुके और उन्होंने बगीचे में फूल चुन रहे एक किशोर को फूहड़ता के साथ पुकारा । युवक ने फिर भी नम्रता और शिष्टता से उत्तर देते हुए पूछा- "क्या बात है?"

"तुम लोग जिस देवी की पूजा करते हो उस देवी का मन्दिर कहाँ है?"- घुड़सवार ने पूछा ।

किशोर युवक ने कहा- "क्या आप भी माँ की पूजा करने आये हो । जरा ठहरिये, मैं फूल चुन लूँ फिर हम साथ साथ ही चलेंगे ।"

"हमारे पास समय नहीं है ।" सरदार से लगने वाले घुड़सवार ने अहंकारपूर्वक कहा- "और हमें पूजा- पूजा से कोई भी मतलब नहीं है । हम तो सल्तनत के आदमी हैं और हमें वह मन्दिर तोड़ना है ।"

तब तक नवयुवक के साथी भी एकत्र हो गये थे । युवक ने अपने फूलों की टोकरी अपने साथी को धमा दी और घुड़सवार के नजदीक जाकर बोला- जरा हमीज से बात करो सरदार । देवी माँ के लिए ऐसी बात मुँह से निकाली तो बबान खींच लूँगा ।

युवक की धमकें तन गयी थीं और होठ फड़फड़ाने लगे थे । घुड़सवार को इस किशोर से ऐसे उत्तर की आशा नहीं थी । वह बोढ़े से वह कहता हुआ नीचे उतरा- "तु तो क्या तेरी देवी माँ भी धैर्य बाल बाला नहीं कर सकती । ठहर अभी तुझे मजा चखाता हूँ ।" यह कहता हुआ सरदार बोढ़े से नीचे उतरा और उसके पास आने लगा । एक लड़के का ऐसा साहस उस गर्वोन्मत्त घुड़सवार को सहन नहीं हो रहा था और वह इस तरह उत्तर देने वाले लड़के का सिर ही उतार लेने की सोच रहा था । घुड़सवार उतरकर युवक के पास आ ही रहा था कि युवक ने आनन-फानन में अपने कमर में खोसी हुई तलवार निकाली और सरदार जिसका नाम रसदुल्ला खान की छाती में घोंप दी । रसदुल्ला खान वहीं डेर हो गया । अपने सरदार की यह दृश्य देखकर साथ आये अन्य घुड़सवार भी उस युवक पर दूट पड़े । युवक भी कोई कमजोर नहीं था । उसने तथा उसके साथियों ने मिलकर ऐसे वीरतापूर्ण हाथ दिखाये कि दुरमन को छटी का दूध चढ़ आ गया । इस छोटे से युद्ध की खबर मन्दिर में पूजा कर रहे राजपूत वीरों और चम्पतराय तक भी पहुँची, जो उस युवक के पितृ थे । वे लोग जब तक तैयार होकर आते तब तक तो छत्रसाल अपने शत्रुओं पर काबू पा चुके थे ।

किशोरत्व में ही अपनी संस्कृति के प्रति इतना अधिकार रखने और आक्रमणकारियों का वीरतापूर्वक मुकाबला करने वाले इस युवक का नाम था छत्रसाल जिसके सम्बन्ध में शिवाजी के राजकवि भूषण ने कहा था- "शिवा को सराहीं के सराहीं छत्रसाल को ।" इतिहासकारों द्वारा बुन्देलखण्ड के शिवाजी कहे जाते थे वीर छत्रसाल । उनके पितृ चम्पतराय बुन्देलखण्ड के राजा थे । चम्पतराय का अधिकांश जीवन शाहजहाँ और औरंगजेब से स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते हुए बीता । तब बुन्देलखण्ड पर मुगलों का आधिपत्य हो गया था और शत्रु सेना चम्पतराय को पकड़ने के लिए उनके पीछे पीछे दौड़ रही थी । चम्पतराय अपनी और बुन्देलखण्ड के

भावो नरकेसरी की जीवन रक्षा के लिए महारानी लाड़ कुँवरि के साथ विंध्याचल की ओर पहाड़ी में जा चुके थे। अज्ञातवास के दौरान ४ मई, १६४९ को छत्रसाल का जन्म हुआ।

चम्पतराय सोचते थे कि अपना जीवन तो बहाँ-कहाँ सुकते-छिपते और शत्रु ठिकानों पर खड़ा बोलते ही बीतेगा। ऐसी परिस्थिति में अबोध शिशु को सुरक्षापूर्वक पालना पोसना कठिन था। इसलिए उन्होंने छत्रसाल को उसकी पनिहाल भेज दिया। लड़क कुँवरि के पिता अपनी बेटी की इस निशानी को राह की धरोहर मानकर चलने-पोसने लगे। रात्र के घर पर रहते हुए ही छत्रसाल ने तलवार चलाना, तीर-कमान से निशाना साधना और घुड़सवारी करना भीख लिया। इसके साथ ही उन्होंने संस्कृत की शिक्षा भी ग्रहण की।

जब छत्रसाल १४ वर्ष के थे तभी उक्त घटना घटी। इस घटना के साथ ही उन्होंने अनुभव किया कि औरंगजेब के अधीन रहते हुए अपने धर्म और अपनी संस्कृति को स्वाभिमानपूर्वक अपनाना सम्भव नहीं है। उनके नाना के पास अक्सर दूसरे सम्बन्धी भी आया करते थे, जो अन्य छोटी-छोटी रियासतों के स्वामी थे। उनकी बात-चीत से ही छत्रसाल को मालूम हुआ कि इन रियासतों को कर देना पड़ता है। इतना ही नहीं अपने धर्म का फलन करने के लिए भी हिन्दुओं को ज़बिया चुकाना पड़ता है। दो बार मर्तबा उन्होंने बातचीत के दौरान अपने सम्बन्धियों को सलाह दी थी कि इस तरह अपमानपूर्वक जीने से तो बेहतर है कि संघर्ष करते हुए मृत्यु का करण कर लिया जाय। सम्बन्धियों ने इसे बचकाना कहा और वह व्यंग्य भी कसा कि-“तुम्हारे पिता ने ऐसा किया है तो उनको क्या परिणाम भुगतने पड़े हैं।”

सम्बन्धियों के सोचने-विचारने का यह ढंग देखकर छत्रसाल ने अपने उद्देश्य के लिए एक योजना बनायी। इसी बीच चम्पतराय और लाड़ कुँवरि शत्रु के हाथों पड़ जाने पर अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए आत्महत्या कर चुके थे। इस घटना ने छत्रसाल के खून में खौलाव ला दिया था पर उन्होंने धैर्य और मूझ-बूझ से काम लेना ही उचित समझा। वे महाराज जयसिंह के पास गये। जयसिंह उस समय औरंगजेब के अधीनस्थ, उसकी आज्ञानुसार चलते वाले राजा थे। जयसिंह के पास जाकर छत्रसाल ने अपना परिचय दिया और कहा कि वे सेना में भर्ती होना चाहते हैं। जयसिंह के कानों में तब विंध्यावासनी देवी के मन्दिर पर भटी भटना का विवरण पहुँच चुका था और यह इस युवक के शौर्य तथा साहस से बड़े प्रभावित भी हुए थे। उन्होंने छत्रसाल को अपनी सेना में भर्ती कर लिया।

छत्रसाल जयसिंह की सेना के साथ युद्ध पर जाते और अपनी वीरता का बड़ा-बड़ा प्रदर्शन करते। इस प्रकार काम करने का उद्देश्य यह था कि वे युद्ध विद्या का व्यावहारिक शिक्षण प्राप्त करें और मुगलों की युद्ध नीति को भी अच्छी तरह समझ सकें। उन्होंने कई युद्धों में भाग

लिया और जब देखा कि आवश्यक शिक्षण प्राप्त कर लिया है तो जा पहुँचे शिवाजी के पास। शिवाजी ने अपनी नीतिमत्ता, सूझबूझ और कौशल के बल पर एक संगठित भारतीय साम्राज्य की स्थापना कर ली थी। उनके राज्य की सीमाओं पर कड़ा पहरा रहता था और कोई अजनबी इस पहरे से बचकर राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता था। अतः छत्रसाल ने कनकमर्ग से छुटकर जाने का निश्चय किया। बरसात का मौसम था। रास्ते में भीमा नदी पड़ती थी और भीमा नदी में भयंकर बाढ़ आयी हुई थी। वे इस बाढ़ की पराह किये बिना ही नदी में उतर पड़े और चलायंकर प्रवाह से संघर्ष करते हुए उस पार पहुँचे।

शिवाजी के पास पहुँचकर छत्रसाल ने अपना परिचय दिया और अब तक की कहानी सुनायी तो वे बड़े प्रभावित हुए। उनके साथ कुछ और साथी भी थे। बड़े सम्मान के साथ शिवाजी ने छत्रसाल को अपने बहाँ ठहराना और उनकी योजना ध्यानपूर्वक सुनी। छत्रसाल को उन्होंने अपने हाथ से तिलक लगाया और एक तलवार कमर में बाँधी। इस प्रकार शिवाजी ने छत्रसाल को संघर्ष की दीक्षा दी एवं हर पड़ी सहाय्य करने का आश्वासन दिया। छत्रसाल वहाँ से बुन्देलखण्ड चले आये और वहाँ के आदिवासियों, मजदूर पेशाओं और निम्न श्रेणी के लोगों को संगठित करने का काम आरम्भ किया। इस काम के लिए पैसों की आवश्यकता थी और पैसा छत्रसाल के पास था नहीं। वे तो कुछ गहने जो मोर पहाड़ी में उस मकान में उनकी माँ की निशानी के रूप में गढ़े हुए थे जहाँ उनका जन्म हुआ था। छत्रसाल ने उन गहनों को बेचकर पैसा जुटाया और स्वतन्त्रता प्रेमी नवयुवकों को संगठित करने लगे।

इन सेनानियों को तस्व चलाने और घुड़सवारी करने का अभ्यास छत्रसाल स्वयं करते थे। २२ साल की आयु में छत्रसाल ने क्रांति का बिगुल बजाया और मुगल सत्तानियों तथा किलों पर आक्रमण करने लगे। पद्धति बही थी जो शिवाजी ने अपनायी थी। शत्रु जब असावधान रहता तो रात के समय उसके डेरे पर जाकर धमाका बोल देते। सबसे पहले सन् १६७२ में उन्होंने गढ़कोटा के किले पर अधिकार किया और उसके बाद बिजय का लोख सा लन गया। पन्ना को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया और इसके बाद उनके आक्रमण दर आक्रमण का क्रम चलता रहा। कहते हैं छत्रसाल ने अपने जीवनकाल में ५२ लड़ाइयाँ लड़ीं और बुन्देलखण्ड राज्य की सीमाओं को जमुना, चम्बल और नर्मदा तक फैलाया। भारतप्रता की वे पुत्रियाँ वैसे उनके राज्य की सीमा निर्धारित करती थीं।

सन् १६८४ में स्वामी प्राणनाथ से छत्रसाल की भेंट हुई। समर्थ रामदास की भाँति ही स्वामी प्राणनाथ भी किसी ऐसे शिष्य की खोज में घूम रहे थे जो उनके भारतीय साम्राज्य का स्वप्न साकार कर सके। छत्रसाल के संघर्षों की कहानियाँ उनके कानों तक पहुँचती रहती थी और उनकी असीद्धि दक्षकति तथा धर्मनिष्ठा से प्रभावित होकर

स्वयं प्राणनाथ पत्रा आये थे । छत्रसाल ने स्वामी प्राणनाथ का खूब आदर-सत्कार किया और उनके लिए अपना सिंहासन खाली कर दिया । कुछ देर तक स्वामी जी सिंहासन पर बिराजे और फिर उठते हुए बोले—“अब यह राज्य तुम्हारा अपना नहीं है । मेरी अमानत के रूप में इसकी सुरक्षा और सुव्यवस्था करो ।”

इससे पूर्व ही छत्रसाल स्वामी प्राणनाथ को अपना गुरु मान चुके थे । उन्होंने गुरु आज्ञा को शिरोधार्य किया और आजीवन उनके आदेश का निष्ठापूर्वक पालन करते रहने का संकल्प लिया । इसके चार वर्ष बाद ही स्वामी प्राणनाथ ने छत्रसाल को ‘महाराजा’ की उपाधि से विभूषित किया । अस्तुतः उन्होंने अपने इस नाम को पहले ही सार्थक कर लिया था । उनका राज प्रबन्ध इतना बढ़िया था कि बुन्देलखण्ड राज्य की वार्षिक आयदन्नी १ करोड़ ८ लाख होती थी । छत्रसाल द्वारा अपने पुत्र को लिखे गये एक पत्र से पता चलता है कि वे राजकोष में १४ करोड़ रुपये छोड़कर मरे थे । जबकि औरंगजेब ने जमता को दोनों हाथों से लूटा-खसौटा और फिर भी उसके मरते समय दिल्ली का खजाना लगभग खाली था । दिल्ली और पंजा के खजाने की यह स्थिति औरंगजेब की अविशेषपूर्ण राजनीति और छत्रसाल की दूरदर्शितापूर्ण प्रशासन दक्षता का प्रमाण है ।

छत्रसाल अन्तिम साँस तक भारतमाता का चप्पा-चप्पा स्वतन्त्र कराने के लिए संघर्ष करते रहे । उन्होंने अन्तिम पुत्र ८० वर्ष की आयु में किया जो मुहम्मद ख़ाँ बंगला के साथ हुआ । इस पुत्र में पेशवा बाजीराव ने भी छत्रसाल का साथ दिया और वे स्वयं सेना लेकर पहुँचे । आजीवन लड़ाई के मैदान में जूझते हुए छत्रसाल के सम्बन्ध में यह जानकर आश्चर्य डोना तो स्वाभाविक ही है कि वे अच्छे साहित्यकार भी थे । यों राजा महाराजा साहित्य में रुचि तो लेते रहे हैं पर आश्चर्य इस बात का होता है कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तलवारों की झंकार के नीचे रहने वाले छत्रसाल काव्य-रचना के लिए कब कुरसत निकल लेते थे । उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ ‘छत्रसाल ग्रन्थावली’ के नाम से प्रकाशित हुई । छत्र-विलास, नीति-मंजरी और राज-विनोद के अलावा भी उनके रहे कुछ काव्य ग्रन्थ और भी हैं ।

स्वयं कवि होने के साथ-साथ छत्रसाल गुण ग्राहक भी थे । महाकवि भूषण को तो उन्होंने इतना सम्मान दिया कि उनकी पालकी ही अपने कन्धे पर उठाली । सन् १७३१ में उनका निधन हुआ । उन्होंने अपने जीवन काल में दिल्ली के तख्त पर आठ बादशाह बैठे और उतरते देखे भर आने वाली पीढ़ी को स्वतन्त्रता का पठ पढ़ाते हुए उन्होंने मध्य देश को स्वतन्त्र कराने का सक्षम प्राप्त कर ही लिया ।

छत्रसाल की चरित्रनिष्ठा

छत्रसाल अपनी प्रजा की देखभाल बच्चों की तरह करते थे । वह समय-समय पर अपने राज्य का दौरा करते और जन-सम्पर्क द्वारा उनसे कठिनाइयाँ पूछते रहते थे एक बार उनके स्वस्थ और सुन्दर शरीर को देखकर एक युवती उनकी और आकर्षित हुई । काभातुरता के सम्मुख भय और लज्जा कैसी ?

वह युवती महाराज के पास आई और मौका देखकर बोली राजन् । आप जैसे दयालु राजा के राज्य में भी मैं दुःखी रहती हूँ ।

राजा बड़े दुःखी हुये । वह सोचने लगे कि मेरे निरन्तर प्रयत्नशील रहने पर भी राज्य के स्त्री पुरुष दुःखी रहें, अभाव प्रसन्न रहें फिर मेरे राज्य कराने से भी क्या लाभ है ?

वह बोले “देवी ! बताइये आपको क्या कह है मैं उसे दूर करने के लिये भरसक प्रयत्न करूँगा ।”

“राजन ! ऐसी मीठी-मीठी आश्वासन भरी बातें कह तो सब देते हैं पर करते-निरले ही हैं । आप वचन दें तब मेरा बतला भी सार्थक है ।”

उस महिला ने अपना पासा फेंका । महाराज ठहरे सरल हृदय वाले और प्रजावात्सल्य उन्होंने कहा “देवी ! आपके दुःख दूर करने के लिये मैं यथाशक्ति प्रयत्न करूँगा ।”

“बात बड़ी छोटी-सी है । मैं चाहती हूँ कि आप जैसी सन्तान मेरे भी हो ।”

उसकी बात सुनकर कुछ क्षण के लिए महाराज छत्रसाल स्तब्ध रह गये, पर उन्होंने बड़ी विवेकशीलता तथा संवय से कार्य किया । वे उस कामातुर नारी के चरणों में यस्तक नवाकर बोले—“माताजी ! सम्भव है आप जिस पुत्र को जन्म दें वह मेरी तरह न हो अतः आज से आप मुझे ही अपना पुत्र स्वीकार कर लीजिए ।”

राजा की कही यह बात सुनते ही उस महिला का स्वप्न टूट गया । उसे अपनी बूढ़ि का बोध हो गया । पर छत्रसाल अपने जीवन भर उसके प्रति श्रद्धा रखते रहे और राजमाता की तरह सम्मान प्रदान करते रहे ।

महत्वाकांक्षी वीर—

महादाजी सिंधिया

मराठों और अहमदशाह अब्दाली के बीच हुई भयंकर लड़ाई में मराठों को पराजय का मुख देखना पड़ा था । उससे उनकी बड़ी-बड़ी प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का पहुँचा । इस पराजय का समाचार जब पेशवा नानासाहब को मिला तो वे इतने दुःखी हुए कि इसी शोक और निराशा में धुलते हुए बड़े ही दिनों में उनका प्राणान्त हो गया ।

पन्दीपत की इस पराजय के कारण महाराष्ट्र मण्डल में व्यथित निराशा को मिटाने और खोयी हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने का श्रेय जिन बड़े से पुरुषार्थियों को दिया

जा सकता है उनमें शीर्षस्थ व्यक्ति दो हैं— निष्काम भाव से हिन्दू महाराष्ट्र को पुनर्प्रतिष्ठित करने वाले कुशल राजनीतिज्ञ नाना फड़नवीस और वीरवर महादाजी सिंधिया । महादाजी सिंधिया महाराष्ट्र मण्डल की सुदृढ़ बलिष्ठ भुजदण्डों के सदृश्य थे तो नाना फड़नवीस उसके तेज तर्रार मस्तिष्क बल ।

महादाजी सिंधिया मालवा के एक छोटे से क्षेत्र के अधिपति राणोजी सिंधिया के पुत्र थे । राणोजी सिंधिया के पुरखे मुगल सम्राट के दरबार में उच्च पद पर व्यस्त थे । किन्तु परिस्थितिवश उन्हें पेशवा के सामान्य भृत्य का कार्य करना पड़ा । इस तुच्छ से कार्य को भी राणोजी ने इस निष्ठा व दायित्व के साथ निभाया कि पेशवा ने प्रसन्न होकर उन्हें मालवा के उत्तरार्द्ध का प्रशासक नियुक्त कर दिया ।

महादाजी सिंधिया राणोजी को एक ऐसे उपपत्नी के पुत्र थे जिसका पूर्व चरित्र सम्मानास्पद नहीं रह सका था । इस कारण कुलीन मराठा वंशों के अधिकांश सामन्त अपने संकीर्ण दुराग्रहों के कारण उनका सम्मान नहीं करते थे । राणोजी के कोई अन्य पुत्र नहीं होने के कारण महादाजी को उनका उत्तराधिकार मिला था ।

महादाजी एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे । वह स्वयं पानीपत के युद्ध में सेनापति मधालिखराव भट्ट के सहायक बनकर गये थे । पानीपत में हुई पराजय के अनन्तर वह भी वहाँ से भाग आये थे । इस युद्ध में उन्होंने काफी अनुभव प्राप्त किया था ।

महादाजी सिंधिया और नाना फड़नवीस ने मिलकर महाराष्ट्र के गौरव को पुनः प्रतिष्ठापित करने का प्रबल प्रयास किया । महादाजी सिंधिया जैसा पराक्रमी, शूरवीर उस समय महाराष्ट्र मण्डल में दूसरा कोई नहीं था । अतः नाना फड़नवीस ने उन्हें अपना अन्य सहयोगी बना लिया ।

पिछले वर्षों में पुना और बहीरा के अतिरिक्त मध्य भारत में ग्वालियर और इन्दौर में दो मराठा राज्य उदित हुये थे । महादाजी सिंधिया को उन्हीं में से एक ग्वालियर का आधिपत्य उत्तराधिकार में मिला था । महादाजी के नेतृत्व में मराठा सेना ने कई बार अंग्रेजों को करारी हार दी नहीं दी, वरन् मुगल सम्राट के संरक्षक भी महादाजी सिंधिया ही बने । महाराष्ट्र मण्डल एक बार पुनः भारत की सबसे बड़ी शक्ति बन सका, इसमें महादाजी के इस पराक्रम का बहुत बड़ा हाथ था ।

सन् १७७९ में मराठों और अंग्रेजों के बीच जो युद्ध हुआ उसके सेनापति महादाजी ही थे । महादाजी सिंधिया और होल्कर को नाना फड़नवीस ने पुना दरबार की सेनाओं की कमान धमाकर लड़ने के लिये भेजा । अंग्रेजों को देशद्रोही रघोबा अपने साथ लेकर आ रहा था । वह पेशवा बनने के सपने देखता हुआ अंग्रेजों की कठपुतली बना उन्हें अपने ही घर पर चढ़ाकर ला रहा था ।

मराठे सरदारों ने खाण्डेल तक उनकी सेना को नहीं रोका । बम्बई से १८ मील दूर नसी गाँव में वे उनका

वीरोचित स्वागत करने को तैयार खड़े थे । इस सजी-सजाई सेना को देखकर अंग्रेज काँप उठे । लड़कर पराजित होने की अपेक्षा उन्होंने लौट पड़ना ही ठीक समझा । अतः वे लौट पड़े । लौटती हुई अंग्रेजी सेना पर मराठे वीर भूखे सिंह की भाँति दूट पड़े । उनकी रसद और गोला बारूद पर अधिकार कर लिया । चारों ओर से अंग्रेज सेना को घेर लिया और उन्हें आत्मसमर्पण के लिए विवश कर दिया । बन्धुर होकर उन्हें अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी ।

महादाजी वीर थे पर वह नाना फड़नवीस की तरह दूरदर्शी नहीं । न वे निष्काम भाव से राष्ट्रसेवा करने के जाती वे वरन् उनकी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ भी कम बड़ी-बड़ी नहीं थीं । यही कारण था कि वे वीर होते हुए भी अपनी इस चौरता से राष्ट्र का कोई विरोध हित अपनी स्वेच्छापूर्वक नहीं कर पाये । नाना फड़नवीस उसकी चौरता और युद्ध कौशल का सदुपयोग समय-समय पर राष्ट्र हित में करते रहे थे पर महादाजी के हृदय में उन उच्च भावों की अपेक्षा व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का अधिक स्थान था । फिर भी साधन रूप में और अपने पराक्रम से मुगल साम्राज्य को हिला देने व उसका संरक्षक बनने के रूप में उनकी वीरता का महत्त्व असंदिग्ध ही है ।

महादाजी को इस व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के मूल में एक कारण यह भी था कि उसे अन्य मराठे सरदार राणोजी की उपपत्नी के पुत्र होने के कारण असम्मानित दृष्टि से देखते थे और वह महाराष्ट्र मण्डल के हित से अपने व्यक्तिगत हित को ऊपर स्थान दिया करते थे । महादाजी की इस महत्वाकांक्षा को समाप्त किया जा सकता था यदि उनकी चौरता और पराक्रम के अनुरूप उन्हें मान दिया जाता । महाराष्ट्र मण्डल के सूत्र संचालक नाना फड़नवीस अवश्य उन्हें यह मान देते थे जिसके वे अधिकारी थे । नाना फड़नवीस ने उनकी भूलों को समय-समय पर सुधारा भी ।

बम्बई के युद्ध में हुई विजय के पश्चात् सन्धि की शर्तों के अनुसार दो अंग्रेजों को महाराष्ट्र मण्डल में बंधक रखा गया था । नाना फड़नवीस ने यह गौरव महादाजी को ही दिया कि वह उन दोनों का भिरोसण करें तथा उन्हें अपने अधिकार में रलें । राणोजी को अंग्रेजों ने सन्धि की शर्तों के अनुसार महाराष्ट्र मण्डल को सौंप दिया था । उसके निष्कर्ष का दक्षिण भी महादाजी को ही सौंपा गया ।

कर्नल गाईड ने महादाजी पर अपना जाल फैलाया । उन्हें प्रलोभन दिया कि वह उसे महाराष्ट्र मण्डल में सबसे प्रमुख बना देगा । महादाजी वीर थे पर कूटनीतिज्ञ नहीं थे खास ही महत्वाकांक्षी भी थे सो उसके झाँसे में आ गये । उन्होंने दोनों अंग्रेज प्रतिनिधियों व राघोबा को उनके हाथों में सौंप दिया । महादाजी सोचते थे कि ऐसा करने के कारण अंग्रेज उनसे अलग सन्धि करेंगे पर कर्नल गाईड ने ऐसा कुछ नहीं किया वरन् उसने सिंधिया के सैनिकों पर आप भी मारा ।

इस चुक से भी वे सबक नहीं ले सके । नाना फड़नवीस ने जब मुगल सम्राट, अकबर के नाना, हैदरअली, निजाम तथा अन्य छोटे छोटे राज्यों को संगठित कर अंग्रेजों को समूल नष्ट करने की तैयारियाँ आरम्भ कीं तो कर्नल पाईड ने पुनः सिंधिया को मध्यस्थ बनाया । सालवाई की सन्धि इसी मध्यस्थता का परिणाम थी । महादाजी यदि बीच में नहीं पड़ता तो बहुत सम्भव था उस समय साम्प्रदायिक मतभेद भुलाकर एक हुए भारतीय राजागण अंग्रेजों को सदा के लिये बाहर निकाल देते । हैदरअली तो पहले ही इसके लिये तैयार बैठा था पर सालवाई की सन्धि ने उस सम्भावना पर पानी फेर दिया । यही नाना फड़नवीस भी चुक गये थे । वे महाराष्ट्र मण्डल की ही बात न सोच कर सारे भारत की सोचते तो ऐसा न होता ।

उन धूलों के करते हुए भी इतना तो मानना पड़ेगा कि वह वीर और पराक्रमी थे । उन्होंने हिन्दुओं का डंका ठेठ दिल्ली के मुगल तख्त तक बजाया था । उनकी समझ में उस समय यह बात नहीं आयी थी कि उनका वास्तविक शत्रु कौन है ? वह अब भी मुगलों और अन्य मुस्लिम शासकों को ही भारतीयों का शत्रु समझता था । जबकि स्थिति परिवर्तित हो चुकी थी । अब अंग्रेज समस्त भारतवासियों को लोल जाने के लिये आ पहुँचे थे पर वह उन्हें समझ नहीं पाया था । यही कारण था कि वह उन्हें मुसलमानों की अपेक्षा अपना वित्र मानता था ।

दिल्ली के बादशाह शाहआलम को इलाहाबाद से दिल्ली पहुँचाकर तख्तारोशन करवाने के लिए महादाजी ने उससे दस लाख रुपये लिये । महादाजी ने उसे तख्त पर बिठाया । वह उस कठपुतली बादशाह के संरक्षक भी बने । इस प्रकार दिल्ली पर हिन्दु राज्य का वर्चस्व स्थापित हुआ । अपनी दृष्टि से महादाजी ने यह गौरवपूर्ण कार्य किया था । उनके इस कार्य का महत्व स्वीकारना ही पड़ेगा । पर यह बात अखरती है कि वे दूरदर्शी नहीं थे किन्तु उन्हें तो नाना फड़नवीस निभाते रहे थे ।

सालवाई की सन्धि में अंग्रेज मराठों की शक्ति का लोहा मान चुके थे । उन्हें अपनी भूमि और प्रतिष्ठा खोनी पड़ी थी पर वस्तुतः वह उनकी बाल भी । वे नाना फड़नवीस और महादाजी के रहते हुए महाराष्ट्र मण्डल पर हाथ नहीं डाल सकते थे । अतः इस सन्धि के माध्यम से उन्होंने अपना बचाव किया था । उस समय तो महादाजी को यह गौरवपूर्ण लगा था और इस सन्धि से प्रत्यक्षतः मराठों का प्रभुत्व बढ़ा ही था ।

इस सन्धि के उपरान्त १७८२ में वे दिल्ली पहुँचे । दिल्ली पर महादाजी का बड़ा प्रभाव था । सब पर उसकी धाक बैठी हुई थी । उसने अगला में रहकर मुगल सम्राट के शासन का प्रबन्ध किया । राज्य में कई हेर फेर किये । अयोग्य व्यक्तियों को कार्यमुक्त करके उनके स्थान पर योग्य व्यक्तियों को नियुक्त किया । वस्तुतः दिल्ली दरबार की सारी शक्ति उसके हाथों में केन्द्रित हो गयी थी । वह जन

तक आगरा रहा उसकी स्थिति सम्राट की ही थी । शाहआलम तो नाम का सम्राट था ।

अपने समय में महादाजी ने सारे भारत में एक बार पुनः महाराष्ट्र मण्डल का भगवा ध्वज जिसे धर्म राज्य प्रतीक रूप में समर्थ रामदास ने शिवाजी को सौंपा था, फहराया । अंग्रेज लोग उसके पराक्रम के आगे पानी भरते थे । पूना के पेशवा के प्रतिनिधि की हैसियत से उन्होंने यह दिखा दिया था कि दिल्ली के साम्राज्य का संरक्षण करने की और परोक्ष रूप में उस पर आक्रमण रहने की साधन्य किसी में है तो वह मराठों में ही है ।

हिन्दू जनता का स्वाधियान महादाजी के समय में एक बार पुनः हिलोरे लेने लगा था कि सारे देश में पुनः भारतीयों का शासन हो जाएग । १७७२ में उन्होंने इस आश को चरम शिखर पर पहुँचा दिया था । दुर्भाग्य से आगले ही वर्ष उनका देहावसान हो गया । समय के चालक्य नाना फड़नवीस का चन्द्रगुप्त महादाजी लक्ष्यपूर्ति से पूर्व ही चल बसा । उनका हाथ टूट गया । इस वीर की प्राणु से महाराष्ट्र मण्डल की जो शक्ति हुई उसे पूरा करने वाला फिर कोई मिला नहीं । अपनी वीरता और अदूरदर्शिता के कारण महादाजी का जीवन आज भी सीखा बना हुआ है । वीरता ही पर्याप्त नहीं होती उसके साथ निष्काम राह भावना व दूरदर्शिता भी आवश्यक है ।

साहस व धैर्य के धनी—

बहादुर शाह अफर

२० सितम्बर, १८५८ का सूरज अपनी प्रखर किरणों से ताल किले को दुलार रहा था । उसी समय किले के भीतरी कमरे में नजरबंद अन्तिम मुगल सम्राट किसी गम्भीर चिन्तन में विभक्त थे । पाँसा पलट चुका था । विप्लव असफल रहा था । अपने मन की साथ पूरी हो जाने का उस बृद्ध शहशाह को संतोष था । विजय ग्री भले ही न मिले हो अन्याय का प्रतिकार करने वह ठठ खड़ा हो हुआ था । उस संतोष की आभा उसके स्वेतकेशों व फहराती सम्मी दाढ़ी कुछ चेहरे पर चमक रही थी ।

अंग्रेज सेनापति हडसन ने कक्ष में प्रवेश किया । पहले पर खड़े संतरी ने एडियर्स मिलाकर उसे 'सेल्यूट' दिया । हडसन के साथ एक सैनिक भी था जिसके हाथ में बंदे से रेशमी रुबान से डकन हुआ थाल था । हडसन ने बादशाह का अभिवादन करते हुए कहा—“बादशाह सलामत ! कम्पनी ने आपसे दोस्ती का इजहार करते हुए आपकी छिदमत्त में यह अयाय तोहफा भेजा है । इसे कबूल फरमाएँ ।” उसके इस कथन के साथ ही सैनिक ने थाल बहादुरशाह 'अफर' के सामने कर दिया । काँपते हाथों से किन्तु दृढ़ हृदय से उन्होंने रेशमी कपड़ा हटाया तो अंग्रेजों की क्रूरता निराश्रुत हो गयी । उसमें बादशाह के लड़कों के कटे हुए सिर थे ।

हड़सन ने सोचा कि बूढ़ा अपने बेटों के कटे सिर देखकर विलाप करने लगेगा। किन्तु इस सम्भावना के विपरीत बूढ़ा पिता कुछ बच अपने पुत्रों के कटे सिरों की ओर देखकर अपनी नज़रें हड़सन के क्रूर चेहरे पर जमाते हुए निर्विकार भाव से कहते-“अल्लह इन्दो लिस्लाह!”

तैमूर की औलाद ऐसे ही मुखरू होकर अपने बाप के सामने आया करती है। गजब का धैर्य था इस व्यक्ति में।

‘जफर’ अपमान और परवशता के जीवन से मृत्यु को बेहतर समझते थे। यही कारण था कि अपने पुत्रों के इस असामयिक अन्त पर वे दुःखी नहीं हुए। वरन् प्रसन्न थे कि जो हसरत वे पूरी नहीं कर सके वह उनके पुत्रों को पूरी करने का अवसर मिला था। बहादुरशाह के मुगल सम्राट बनने के पहले ही मुगल सल्तनत दिल्ली के सत्ता किले की चहारदीवारी में आ सिमटी थी। वह नायमात्र के बादशाह थे। बादशाह क्या थे अंग्रेजों के कुपापात्र उनकी कठपुतली भर थे। वे जैसे चाहते उन्हें नचा सकते थे। उनके पूर्वजों ने विलास से समझौता करके अपने आच को परवश बना दिया था। यही उनके धाम्य की लकीर बन कर उन्हें भी भोगना पड़ा था। किन्तु वे कभी उस जिन्दगी को भली नहीं मान पाए थे।

सोने के पिंजरे में बन्द तोते की जो दशा होती है वही उनकी भी थी। वे अपनी इस दशा पर सदैव धुब्ध व असंतुष्ट थे किन्तु करते क्या उनके घर तो अंग्रेजों ने पहले ही उनके पूर्वजों के समय ही काट दिये थे। वे स्वयं को अंग्रेजी शासन के बंगुल से बचाना तथा भारत के तत्कालीन राजाओं में स्वतन्त्रता की सहर उत्पन्न करना चाहते थे किन्तु उसके लिये सभी रास्ते बन्द हो चुके थे यह उनकी बहुत बड़ी व्यथा थी। इस व्यथा को उनके पूर्वज हास-विलास, स्त्री व शराब की दुनिया में डलाने का भुलाते रहे पर वे भुला न सके। वे विद्रोह करना चाहते थे।

बहादुरशाह अच्छे शायर थे। ‘जफर’ उनका उपनाम था। उनकी शायरी में उनकी यह व्यथा सुलकर साधने आयी है “लगता नहीं है दिल मेरा उजड़े दयार में दो गज जमीन थी न मिली कुँए ए कर में।” जैसी कृतियों में उनकी यह व्यथा अपने पूरे यौवन के साथ उभरी है। मनुष्य की आत्मा हास-विलास, आराम व शौक-मौज में कभी तृप्त नहीं होती है। वह तो अन्तर्मुखित गौरव गरिमा युक्त जीवन जीने में ही तृप्ति पाती है। यही कारण था कि ‘जफर’ का दिल इस उजड़े दयार में नहीं लगता था। वे चाहते थे कि एक पुरुषार्थी व्यक्ति की तरह इस जंगल से मुक्त हो स्वतन्त्रता की ज्योति जलाते। किन्तु घुटकर रह जाते थे।

और फिर वह समय भी आया जबकि उनकी यह चिर संचित अभिलाषा पूर्ण हुई। जिस प्रकार के विद्रोही स्वर उनके हृदय में गूँज रहे थे। वैसे ही स्वर अन्य कई

सोनों के हृदयतंत्रियों की झंकार बने हुए थे। १८५० का विप्लव इसी का परिणाम था। भीतर ही भीतर यह आग बवन्दर का रूप धारण करती जा रही थी। स्वतन्त्रता प्रेमी भारतीय राजाओं, सैनिकों व प्रजाजनों ने विप्लव की पूरी की पूरी योजना बना रखी थी। उसको सुनियोजित ढंग से कार्यान्वित करने के लिए हजारों, लाखों व्यक्ति घर घर जाकर जन-जन के हृदय द्वारों पर दस्तक दे रहे थे।

इस जन क्रान्ति के सूत्रधार थे विद्रो के पेशवा नाना साहब। उनके सहयोगियों ने बहादुरशाह ‘जफर’ से इस जन क्रान्ति का नेतृत्व करने का अनुरोध किया। ‘जफर’ अब तक इप्तजार करते-करते थक चुके थे। उनके शरीर में वह लज्जि नहीं रही थी कि अपना जौहर दिखा सकें। किन्तु अंग्रेजों से दो-दो हाथ करने की ठमनें अभी बैसी ही जम्क थीं। उन्होंने उस पर, सहमती दे दी। यह सब गुप्त रूप से हुआ था। अंग्रेजों ने इसकी कानों-कान खबर नहीं थी।

वह सुनियोजित क्रान्ति यदि निश्चित तिथि ११ मई, १८५७ के दिन एक साथ सारे भारत में फूटती तो अंग्रेजी साम्राज्य का पतन ही न चलता। किन्तु उसके पहले ही मेरठ में सैनिक विद्रोह हो गया और लोगों के धैर्य का बाँध टूट गया और भिन्न-भिन्न तिथियों को भिन्न भिन्न स्थानों पर विद्रोह हुआ। फिर भी अंग्रेजों के होश-हवास गुम हो गये। पहले-पहल तो सब जगह क्रान्तिकारियों की विजय हुई।

१५ मई को सत्ता किले पर विप्लवी क्रान्तिकारियों का अधिकार हो गया। दिल्ली से अंग्रेजों का सत्तपा हो गया। बहादुरशाह ‘जफर’ को भारत का सम्राट बनाया गया। अंग्रेजों के होसले परस्त हो गये। कई अंग्रेज युद्ध में मारे गये व कई बन्दी बन्धे गये। बन्दियों के साथ बहादुरशाह ने अन्तर्मुखित व्यवहार किया। १५ मई से १४ सितम्बर तक दिल्ली पर क्रान्तिकारियों का आधिपत्य रहा। उसके पश्चात् अंग्रेज प्रबल होने लगे तथा २० सितम्बर को बहादुरशाह व उनकी बेगम व बच्चों को अंग्रेजों ने बन्दी बना लिया। इस प्रकार भारत में क्रान्ति का संछमाद्य फूँकने में उनका महत्वपूर्ण योगदान व नेतृत्व रहा।

८० वर्ष के शहंशाह बहादुरशाह पर लालकिले के दीवाने खास में, लेफ्टीनेन्ट जनरल डेलास के नेतृत्व में ५ सदस्यों की सैनिक अदालत में अभियोग चलाया गया जिसने उन्हें काले पानी की सज़ा सुनायी। २७ जनवरी, १८५९ को उन्हें रंगून के बन्दीगृह में भेज दिया गया। यहाँ के सापान्य नागरिक की तरह उन्हें बन्दी जीवन भोगना पड़ा। कारावास के इस जीवन से जफर व्यथित नहीं थे। वे उसे अपने पारों के प्राणशिवन के रूप में ही लेते। उनके पुत्रों का वध अंग्रेजों ने पहले ही कर दिया था। उनकी बेगम व पुत्रवधुओं के साथ भी अंग्रेजों ने मानवीय व्यवहार नहीं किया। उन्हें भी अपने संरक्षक के साथ दुःख व कष्ट

का जीवन व्यतीत करना पड़ा। किन्तु वह जीवन उस जीवन से श्रेष्ठ था यहाँ आत्मा-हनन की स्थिति नहीं थी। रंगून जेल में ७ नवम्बर, १८६२ को बहादुरशाह 'जफर' का निधन हो गया। एक सच्चे इंसान, भृदय कवि व क्रांति के सैनिक के रूप में उन्हें याद किया जाता रहेगा। उनका जीवन हमें आत्म-हनन करके सुख ऐश्वर्य भोगने की विद्वम्बना से बचने के लिए सचेत करता रहेगा।

अपनी मुक्ति छोड़ने वाले—

सन्त गौरीनाथ

“चारों तरफ गोलियों की आये दिन बौछार होती थी। मन्दिर गिराये जा रहे थे, भूमिखोद तोड़कर मार्ग पर फेंकी जा रही थीं, गांवों का निर्वपतापूर्वक कत्ल चिहाने और अपमानित करने के लिए किया जा रहा था। संगीनों की नोक पर ईसाई बनाया जा रहा था। बहुसंख्यक होते हुए भी गोवा का हिन्दू समाज अपने आपको हताश, असहाय अनुभव कर रहा था।

यह घटना है सोलहवीं शताब्दी की जब गोवा में पुर्तगालियों का शासन था। वे गोवा का आर्थिक शोषण तो कर ही रहे थे, पर उससे भी भयंकर बात यह थी वे गोवा से हिन्दू धर्म और संस्कृति को नष्ट कर वहाँ ईसाईयत का प्रचार करने के लिये बर्बर तपायों का आसम्बन से रहे थे। हिन्दुओं के सभी धार्मिक कृत्य लगभग निषिद्ध, प्रतिबन्धित किये जा रहे थे। अगर कोई हिन्दू धार्मिक कृत्य मजूर करता आता तो उसे तरह-तरह से सताया जाने लगता। अत्याचारों के कारण दुःख निश्चयी हुए तो वे बुरी तरह पिस जाते या फिर कमजोर मन वाले ईसाई बन कर उस ठप्पीड़न से छुटकारा पा जाते। जनता इन अत्याचारों से बुरी तरह आतंकित हो उठी थी।

पुर्तगालियों के अत्याचार दिनों-दिन बढ़ते जाते थे। ऐसे बातावरण को देखकर कन्नरा गाँव के एक सन्त बन्ना गौरीनाथ सिहर उठे। पूजा-पाठ को उन्होंने गौण कर दिया। वे इस आतंक से लोहा लेने के लिए आगे आये। वे भूलतः एक धार्मिक पुरुष थे। अपना अधिकतर समय ईश्वर आराधना में लगाकर मोक्ष प्राप्त करना चाहते थे। किन्तु जब उन्होंने पुर्तगालियों के बर्बर अत्याचारों और जनता की विवशता को देखा तो उनका हृदय रो पड़ा।

उनका हृदय अब जन-जन में, पीड़ित मानवता में ईश्वर दर्शन करने लग्य था। अस्तु, उनका प्रघन कार्य मानवोचित शौर्य साहस उत्पन्न करने के लिए जन सम्पर्क बनाना और जनसाधारण के क्रिया कलापों में निरत रहना बन गया। वे घर-घर जाते, जन-जन से मिश्रित और यही समझते कि यदि संगठित रूप से अत्याचार-अनाचार का प्रतिरोध किया जाये तो शक्तिशाली बर्बरता को भी परास्त किया जा सकता है। व्यक्तियों का संगठन करके वे जगह जगह क्रांति की आग लगाने लगे थे। जिससे जनता के अन्दर एक नवीन साहस पैदा होने लग्य।

उसी समय पुर्तगालियों के बर्बर अत्याचार की एक और घटना घटित हुई। मन्दिर के पुजारी को खम्भे से बाँधकर घर की स्त्रियों से अमानुषिक व्यवहार किया गया। इस घटना से जनता का खून खौल उठा। जबरन बनाये गये ईसाइयों ने गले से क्रान्त चिह्न निकाल फेंके और बाइबिल के स्थान पर पुनः गीता और रामायण की स्थापना की गई। पुर्तगालियों के प्रति जनता में भोर घुणा भर गई और उनसे बदला लेने के लिए आतुर हो उठे। छोड़े गये मन्दिरों का निर्माण कार्य उसी समय आरम्भ हो गया और सन्त गौरीनाथ ने एक जगत्वात खड़ी कर दी।

लोगों ने सरकार को तरह-तरह से हानि पहुँचाना आरम्भ कर दिया। जगह-जगह तोड़-फोड़ की घटनाएँ होने लगीं। पुर्तगालियों के पैरों से जमीन खिसकने लगी उन्हें लगा कि जगत्वात जनता उन्हें खदेड़कर ही दम लेगी।

पुर्तगाली यह जानने को बेचैन थे कि जो आतंकित जनता मुँह खोलने का साहस नहीं कर सकती थी, उसमें इस प्रकार विद्रोह के बीज डालने वाला कौन है? बहुत खोजबीन के बाद उन्हें पता चला कि इस आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले एक सन्त गौरीनाथ हैं। उन्होंने जन-जन से सम्पर्क बनाया है और उन्होंने विद्रोह की आग लगाई है। सन्त गौरीनाथ को पकड़वाने के लिए बड़े-बड़े इनाम रखे गये किन्तु गौरीनाथ कहीं पकड़ने में न आते थे। क्योंकि जनता उन्हें बेहद प्यार करती थी।

सन्त गौरीनाथ सुपे-सुपे ही आन्दोलन का नेतृत्व करते और बोजमानुसार वे पुर्तगालियों को काफी हानि पहुँचाते सरकार परेशान थी कि न तो कोई उनका बत्ता बताता था न पुर्तगाली सैनिक उन्हें ढूँढ पाते थे।

एक ऐसी दुर्भाग्य का दिन आया कि पुलिस द्वारा उन्हें पकड़ लिया गया और लाकर जेल के सीखचों में बन्द कर दिया गया। पहले तो उन्हें बहुत प्रलोभन दिये गये कि वे इस आन्दोलन के मार्ग से हट जायें और ईसाई धर्म स्वीकार कर लें तो भारी इनाम के साथ बाइबिल छोड़ दिया जायेगा। किन्तु जब वे तैयार न हुए तो कहा गया कि वे अपने साथियों के नाम ही बता दें, जिन्होंने इस आन्दोलन में उनका साथ दिया था। इस पर गौरीनाथ बोले, “मैं ही उन सबका प्रतिनिधि नेता हूँ। उन सबका दण्ड मैं अकेले ही सहने को तैयार हूँ।”

जब पुर्तगालियों ने देखा कि उनके किये गये सभी प्रयोग निष्फल हो रहे हैं तो बर्बरतापूर्वक उन्हें सताया गया उन्हें इंटों से पीटा गया जिससे उनके शरीर पर अनेकों घाव हो गये थे। अँधेरी, गीली, दुर्गन्ध वाली कोठरी में उन्हें कई दिनों तक भूख-प्यास रखा गया। इस पर भी उन्होंने पुर्तगालियों की शर्तों को स्वीकार नहीं किया।

एक दिन सन्त गौरीनाथ को जेल से बाहर निकाला गया। उन्हें गन्दे व फटे चिबड़े पहनाये गये, गले में फटे गन्दे जूतों की माला डालकर उन्हें क्रूर पुर्तगाली पीटते हुये गिरवाधर के सामने लाये और उनसे फिर ईसाई धर्म में सम्मिलित होने के लिए कहा गया। इस पर उन्होंने इतना

ही कहा: "न मुझे लोभ अपने पक्ष से विचलित कर सकता है और न ही अत्याचार डिग्न सकते हैं।"

"इतना सुनते ही पुर्तगालियों ने गिरजाघर के सामने बड़ा सा गड्ढा खोदकर उन्हें कमर तक गाढ़ दिया गया एक बार पुनः उनसे ईसाई धर्म स्वीकार करने को कहा गया। इस पर उन्होंने कहा—"धर्म के प्रति सच्ची निष्ठा की इस अग्नि परीक्षा में मुझे उत्तीर्ण होने दीजिये जो आप करना चाहें करें, मुझसे निष्ठा से विचलित करने की आशा मत कीजिये।"

सन्त गौरीनाथ के ऊपर खूँखार शिकारी कुत्ते छोड़े गये जो उनकी घोटियों नोचने लगे किन्तु उनके चेहरे पर अन्त तक शान्ति और सन्निहा की झलक दिखाई देती रही। गौरीनाथ की मृत्यु-दण्ड का समाचार जब गोवा की जनता ने सुना तो उसका खून खौलने लगा। आन्दोलन ने जोर एकड़ा और पुर्तगालियों को सब ओर अपना विनाश और काल ही खड़ा दिखाई देने लगा।

छापामार विद्रोहियों ने उनकी करोंहों को सम्पत्ति गड़ की और सैकड़ों को मौत के घाट उतारा। सन्त गौरीनाथ की जलाई हुई आग कभी धीमी, कभी तीव्र गति से जलती ही रही। समय तो लगा पर ज्वाला रहन्त तब हुई जब पुर्तगालियों का गोवा की भूमि पर से पूरी तरह से मुँह काला हो गया।

जिजया बल-विक्रम निरर्थक ही रहा—

राजा जसवन्तसिंह

सत्रहवीं शताब्दी के छठे दशक का उत्तरार्ध। दिल्ली के लालकिले में रोग शैया पर पड़े मुगल सम्राट शाहजहाँ पर काल मुस्कुरा रहा था। राज्य सत्ता के स्वार्थ पंक्त में लिप्त हो पारिवारिक सौमनस्य को ही लीस जाने वाली जिस परम्परा का श्री गणेश उसके पिता ने किया था, वह स्वयं भी उसे अस्वीकार नहीं कर सका था। अब वही नाटक उसके सामने दोहराया जाना वाला था, भाई के द्वारा भाई की हत्या का पशविक नाटक। शाहजहाँ का पेशाब रुक गया था। जाने कब मृत्यु आ जाय कुछ कहा नहीं जा सकता, पर मृत्यु यों आसानी से अपने वाली नहीं थी। कर्मों का फल उसे यहाँ भोगना था। शाहजहाँ का चहेता पुत्र दाराशिकोह नहीं चाहता था कि सम्राट के अस्वस्थ होने की सूचना उसके भाइयों तक पहुँचे नहीं तो वे उस पर चढ़ बैठेंगे। किन्तु किले का इर व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थ में लग्न था। किसी को किसी से कोई सरोकार ही नहीं था। शाहजहाँ की अस्वस्थता के समाचार इन्ध के थोड़ों पर बैठकर उड़ चला था।

ऐसे विषम समय में दारा को किसी व्यक्ति पर भरोसा था तो जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह और उनके बीस हजार राजपूत सिपाहियों पर। अतः उसने किले की रक्षा का भार जसवन्तसिंह को सौंप दिया। लाल किले पर

जसवन्तसिंह के सैनिकों का पहरा बिठा दिया गया सच ही कहा है किसी ने कि बेईमान आदमी भी ईमानदार साक्षी चाहता है। राजपूत अपनी आन-बान और वचन के पक्के होते हैं। राजा जसवन्तसिंह में भी ये गुण कूट-कूट कर भरे थे। सभी मुगल सामन्त उनके शौर्य और उनकी रणकुशलता का लोहा मानते थे। राजदरबार में उनका बड़ा मन था।

कुचकी रहजादे औरंगजेब को अपनी बहिन रोहान आरा के द्वारा अपने पिता शहशाह के अस्वस्थ होने की सूचना मिली तो उसने अपना कूटनीतिक चक्र चलाना आरम्भ कर दिया। मुगल राजवंश में पिता से विद्रोह करने की परम्परा तो शाहजहाँ की महत्वाकांक्षा और स्वार्थ ने अपने आप ही जाल दी थी। किन्तु सम्राट अकबर ने शाहजहाँदियों के लिये एक अलिखित परम्परा ग्रह चला दी थी कि वे विद्रोह नहीं कर सकतीं। इस परम्परा ने बेचारी शाहजहाँदियों की स्थिति आम आदमी की लड़की से भी कुछतर बना दी थी। यदि वे शादी करती तो उनके पति व पुत्र भी उत्तराधिकार के लिये झगड़ते इस अन्यायपूर्ण परम्परा ने रोहनआरा को विद्रोही बना दिया था।

औरंगजेब के ठकसाने पर उसके भाई दिल्ली पर चढ़ बैठे। रहजादा गुजा बंगाल से एक बड़ी सेना लेकर चला पड़ा। दारा ने जयपुर के राजा जयसिंह के नेतृत्व में एक बड़ी सेना उसे पराजित करने भेजी। उसके रवाना होने के थोड़े ही दिनों बाद उसे औरंगजेब और मुराद की सम्मिलित सेनाओं के आक्रमण की सूचना मिली। उसने राजा जसवन्तसिंह व कासिम खाँ की कमान में पालीस हजार सिपाहियों को उन्हें मजा चखाने के लिए भेजा धरमत नामक स्थान पर दोनों पक्षों में जयकर लड़ाई हुई कासिम खाँ दगा देकर औरंगजेब की ओर मिल गया। अकेले जसवन्तसिंह और उनके बीस हजार जीवाज सिपाहियों ने राजपूती आन-बान का परिधाय दिया। वे खूब जयकर लड़े। बड़-बड़ कर हाथ मारे। किन्तु कहीं सत्तर हजार और कहीं बीस हजार। राजा जसवन्तसिंह युद्ध में कुछ तरह फावला हो गये फिर भी वे मैदान छोड़ना नहीं चाहते थे। "राजपूत मर जाना बेहतर समझते हैं थोड़ा दिखाना वहीं" इस आश के अनुरूप ही वे निकट आये भीत को सतकारते रहे। अपने सेनापति के प्राण संकट में पड़े देखकर राजपूत सैनिकों ने उन्हें बलात् रणक्षेत्र से हटा लिया। विजयश्री औरंगजेब के हाथ रही। जसवन्तसिंह को जीवन भर अपने साथियों द्वारा रणक्षेत्र से निकाल लाने का पत्ताल बना रहा।

राज्य सिंहासन पाने के इस संघर्ष में गुजा, मुराद और दारा औरंगजेब की कूटनीति के शिकार हो मारे गये। अपने भाइयों को मार और पिता को कैद करके औरंगजेब दिल्ली के रुक सने सिंहासन पर बैठा। यही नहीं उसने अपने भाई दारा की बेगमों को भी अपने हरथ में रख लिया।

ऐसे अन्यायी औरंगजेब ने जब राजा जसवन्तसिंह से मित्रता का हाथ बढ़ाया तो उन्होंने सब कुछ भुलाकर उसे स्वीकार कर लिया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजपूत चरित्र धीरता, साहस, शौर्य और आन-बान में मुगलों से हजार गुना अच्छे थे। उनकी वीरता, कर्तव्य-परायणता और जाँबाजी के किस्मों से इतिहास के कुछ रंगे पड़ें हैं। किन्तु यही सब कुछ नहीं होता। उसके समुपयोग और एकता की भावना का उनमें सर्वथा अभाव था। वे सब गुण राजपूतों में व्यक्तिगत महत्ता के रूप में लिये थे। राजपूतों के 'शौर्य' और 'मर मिटना' वे सब बातें उनके अहंकार को बढ़ाने वाली और उन्हें सम्मान और मातृभूमि के प्रति दायित्वों से परामुख बनाने की कारण बनी थीं।

राजपूत राजाओं के इस मिथ्याभिमान व अविशेष का लाभ मुगलों ने उठाया था। उनके राज्य की भीड़ें इन्हीं राजपूत राजाओं के बल पर खड़ी रही थीं। मुसलमान इतिहासकारों ने सत्य को छिपाया है। राजपूत राजाओं से मुगलों ने दोस्ती की थी न कि उन्हें अपने अधीन रखा था। किन्तु यह मित्रता नीतिसंगत और व्यावहारिक नहीं थी। यह तो बेर और कदलों के सामोप्य जैसी मित्रता थी। उसके फलस्वरूप राजपूतों का गौरव तो कम हुआ ही पराधीनता का कलंक भी भारत भूमि को डोका पड़ा। विकट प्रदेश काबुल को जीतने वाले जसवन्तसिंह जैसे राजपूत राजाओं का यह शौर्य, साहस व पराक्रम उनकी के पराभव का कारण बना। उनके रहते हमारे देव मन्दिर अपमानित हुए, माँ-बहनों का अपमान हुआ। फिर उस शौर्य की क्या सार्थकता रही। राजा हम्मीर, महाराणा प्रताप महाराणा राजसिंह की तरह उन्होंने भी खोलुप और शिथिल चरित्र मुगल सम्राटों से मित्रता न की होती और संगठित होकर उन्हें पराजित किया होता तो दासता का कलंक उनके माथे पर नहीं लगता।

राजा जसवन्त सिंह जोधपुर के राजा थे। उन्हें अपनी वीरता पर आवश्यकता से अधिक गर्व हो गया था। वे शाहजहाँ व औरंगजेब के दरबार में रहते यह समझते थे दिल्ली का शाहशाह हमारे बलबूते पर शाहशाह है। हम चाहें तो उसे दिल्ली का शाहशाह बना सकते हैं और वे इसी गर्व में फूलते रहते। इस अभिमान से उनके सारे बल पराक्रम पर पानी फिर जाता।

जसवन्तसिंह ने यह सोचने का प्रयास नहीं किया कि यह क्रूर निर्दयी, अन्यायी औरंगजेब जब अपने पिता को कैद कर सकता है, भाइयों को कत्ल करवा सकता है तो समय आने पर उन्हें भी दग दे सकता है। उनके परिवार पर संकट ला सकता है, उनका राज्य हथिया सकता है। उन्होंने औरंगजेब के दरबार में रहना स्वीकार कर लिया।

जसवन्तसिंह की वीरता और पराक्रम से औरंगजेब ने जी भरकर लाभ उठाया। राजपूत राजा मुगल दरबार में रहने में अपना एक स्वार्थ यह भी देखते थे कि उनकी सेना का और उनका खर्च मुगल कोष से मिलता है। पर वे

यह भूल जाते थे कि उसके लिये उन्हें लड़ना भी पड़ता है। जसवन्तसिंह ने उसके लिए कठिन से कठिन संग्राम जीते। लेकिन शंकासु प्रवृत्ति का औरंगजेब उनसे भीतर ही भीतर घबराता रहता था। यदि जसवन्त सिंह बदल गया तो उसकी 'आलमगीरी' बरतें रह जायगी। फलतः उनकी यही वीरता उनके प्राणों की ग्राहक बन गयी। औरंगजेब ने उन्हें धोखे से मारवा दिया।

कुटिल की मित्रता और अपना अति अभिमान उनकी मृत्यु का कारण ही नहीं बना। बल्कि उनके परिवार और राज्य पर संकट आने का कारण भी।

जसवन्तसिंह ने अपने पुत्रों को भी अपने ही जैसे प्रखर घोड़ा, वीर, साहसी और आन-बान वाला बनाया था। कहा जाता है शाहजहाँ ने जंगल से एक शेर पकड़ कर मँगवाया। उसके पिंजड़े को दरबार में लाया गया तो शाहजहाँ बोला—“जंगल का यह राजा भारत सम्राट का लोहा मानता है।”

उसके इस कथन को सब दरबारियों पर तो आश्चर्यपूर्ण प्रतिक्रिया हुई पर जसवन्तसिंह के चेहरे पर व्यंग्य की रेखाएँ खिंच नहीं जो शाहजहाँ से छिपी न रही। उसने पूछा—“राजा जसवन्तसिंह! आपको हमारी बात पसन्द नहीं आवी।” इस पर वे बोले—“जहाँपनाह! ऐसे शेर तो मेरे घर में खेतन करते हैं।” इस पर शाहजहाँ ने अपने शेर से जसवन्तसिंह के शेर की लड़ाई कराने का प्रस्ताव रखा जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन मुकाबला रखा गया। वे अपने पुत्र पृथ्वीसिंह को अपने साथ पृथ्वीसिंह के लिये ले गये। शाहजहाँ ने जब उन्हें शेर के लिये पूछा उन्होंने पृथ्वीसिंह को प्रस्तुत किया। निहत्थे पृथ्वीसिंह ने उस बबर-शेर को पछाड़ दिया।

हो सकता है इस कहानी में अतिशयोक्ति हो किन्तु यह बात असम्भव नहीं है। क्षत्रियों के लिये ऐसे नर केहरियों को जन्म देना कठिन नहीं था। जसवन्तसिंह के पुत्र ऐसे ही पराक्रमी थे। औरंगजेब इस बात से भी परिचित था। दया तो उसमें थी नहीं, न्याय का भी लेश मात्र नहीं। उसने जसवन्त को ही नहीं उनके पुत्रों को भी धोखे से मरवा दिया। जोधपुर का राज्य भी उसने हथिया लिया। उनकी रानी और नवजात शिशु अजीतसिंह को दुर्गादास राठौर नामक स्वामिभक्त वीर बड़ी कठिनाइयों से औरंगजेब के पंजे से छुड़ाकर लाने में सफल हुआ नहीं तो उनका वंश ही मिट जाता।

राजा जसवन्तसिंह के पास जो बल विक्रम या वह सही दिशा में न होकर बलत दिशा में प्रयुक्त हुआ। वह स्वयं उनके लिये, उनके परिवार के लिये तथा हिन्दू जाति के लिये निरूपयोगी हो सिद्ध नहीं हुआ वरन् उसका लाभ उठाकर औरंगजेब ने अपना स्वार्थ सिद्ध किया। किसी को ईश्वर सम्पन्न, विभूति अथवा सामर्थ्य देता है तो निश्चित रूप से उसके साथ कोई न कोई सदप्रयोजन जुड़ा होता है। मनुष्य को समझना चाहिए कि वह विशेष अनुदान उसे

किसी समाजोपयोगी कार्य के लिए ही मिला है। अतः उस पर अपना अधिकार न मानकर सम्पूर्ण समाज का अधिकार मानना चाहिए। जहाँ वह व्यक्तिगत सम्पदा-सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है वहीं वह अहंकार का कारण बन जाता है। अहंकार आ जाने पर व्यक्ति को हर कोई झुठी प्रशंसा करके अपने पक्ष से विचलित कर देता है। वह समाजवादी से व्यक्तिवादी बन जाता है। यह व्यक्तिवाद उसकी सामर्थ्यों को निरर्थक बना देता है। जसवन्तसिंह ने भी यही भूल की थी।

राजा जसवन्तसिंह को उस काल के अधिकांश हिन्दू राजाओं का प्रतीक कहा जा सकता है। विनम्रता, सत्ता, सामर्थ्य, बल, पौरुष व सैन्य शक्ति या तो आपस में लड़ने झगड़ने और मिथ्या मानापमान में उलझकर परस्पर ईर्ष्या द्वेष उपजाने में ही लक्ष्य होती रही अथवा उसका लाभ दूसरे लोगों द्वारा उठाया जाता रहा। आज के समय में भी सच्चे और ईमानदार व्यक्तियों को यदि दीन-हीन देखा जाता है तो उसके पीछे एक कारण यह भी है कि उसका लाभ बुरे लोग उठा लेते हैं। अतः सच्चाई, ईमानदारी और नैतिकता को व्यक्तिगत क्षेत्र में ही उपयोगी व अपने अर्थ का कारण ही नहीं बनाना चाहिए। सच्चे लोगों को संगठित होना चाहिए। यह भी देखना चाहिए कि उसके लाभ गलत व्यक्ति तो नहीं उठा रहे हैं। नहीं तो यह अच्छाईयाँ भी राजा जसवन्त सिंह के पराक्रम की तरह निरर्थक चली जायेंगी।

जातीय नर्यादा की रक्षा

मिशालबाहिनी का सरित-प्रकाश नगर के मुख्य द्वार पर आकर रुक गया। द्वार बन्द थे। सेना के अग्र भाग में पैदल सैनिक गुल्म थे। उनके पीछे अश्वारोही तथा गज सेना थी।

एक प्रहर दिन बढ़ जाने पर भी नगर के द्वार बन्द देखकर सभी विस्मित थे। नगरवासियों द्वारा अपने महाराज के स्वागत का आयोजन तो दूर, द्वार तक बन्द थे। समय पर सूचना पहुँचा दी गई थी कि महाराज काबुल अभियान से लौट रहे हैं।

महाराज जसवन्तसिंह को सेना की गति रुकने का कारण समझ में नहीं आया। वे सेना के अन्तिम भाग में अपने सुसज्जित भगवान पर आसीन थे। उन्होंने अपने निकटस्थ अश्वारोही से गति रुक जाने का कारण पूछा। उसने कहा-“महाराज द्वार बन्द है।”

“जाओ द्वारपाल से कहो कि द्वार खोलें तथा नगरपाल से कहे स्वागत की तैयारी की जाय।”

थोड़े ही समय में अश्वारोही लौट आया। उसने महाराज को वस्तुस्थिति बताई-“महाराज! द्वारपाल ने द्वार खोलने से इन्कार कर दिया है तथा उसने श्रीमान की सेवा में निवेदन किया है कि यह महारानी जी की आज्ञा टालना घेरे बस में नहीं। आपसे महारानी जी का यही निवेदन है कि आप पुनः काबुल विजय हेतु प्रस्थान करें।

राजपूत या तो बुद्ध से विजय श्रोत्रण कर लौटता है या वहीं प्राणोत्सर्ग कर देता है। राजपूत नारी विजयी होकर लौटने की स्थिति में उसका अपूर्व स्वागत करती है तथा मृत्यु वरण करने पर हँसते हँसते उसके हाव के साथ चित्तरोदन करती है। इन दो स्थितियों के अतिरिक्त तीसरी दृष्ट में पराजित होकर लौटने पर उसका स्वागत इसी प्रकार होता है।

क्षत्रियों के इस कथन को सुनकर महाराज जसवन्त सिंह का सिर लम्ब से झुक गया। उन्होंने सैनिकों को पुनः काबुल की ओर प्रयाण करने का आदेश दिया। उन्होंने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया था तो वे जीतकर लौटेंगे या मृत्यु का वरण करने पर उनका पार्थिव शरीर ही जोधपुर नगर के द्वार पर पहुँचेगा।

प्रथम अभियान की कठिनाइयों को वे भूलें नहीं थे। दिल्ली से काबुल का रास्ता अतीव दुर्गम तथा धूल-धूलैया-सा था। सैनिक भी थक चुके थे। उन्होंने अपने सैनिकों को सम्बोधित करते हुए कहा-वीरो! मैं जानता हूँ कि तुम थक गये हो, मार्ग दुर्गम तथा बौद्ध है। किन्तु व्यक्ति अपने संकल्प पर दृढ़ रहता है तभी तक वह मनुष्य कहलाने, वीर कहलाने का अधिकारी होता है। हम कायर नहीं, वीर हैं। हम जीयेंगे, साथ जीयेंगे, मरेंगे, साथ ही मरेंगे। जीवित रहे तो विजय का सेहरा हमारे मस्तक पर बँधेगा ही, मर गये तो वीरगति या स्वर्ग को पायेंगे।”

अपने सेनानायक के इस प्रकार के उत्साह भरे वचन सुनकर सैनिकों में नवीन उत्साह तथा स्फूर्ति जाग गयी। यह उत्साह ही उनकी काबुल विजय का कारण बना।

महाराज जसवन्तसिंह अपनी पराजय का कलंक धोकर जब विजय श्री वरण कर लौटे तो जोधपुर नगर में दोषलक्ष मनाई गयी। उनका स्वागत करने के लिए स्वयं महारानी द्वार पर उपस्थित थी। उन्होंने उनकी आरती उतारी तथा चरणों में मस्तक झुका दिया। सत्य है व्यक्ति की पूजा नहीं होती उसके गौरव भण्डित व्यक्तित्व को ही पूजा जा सकता है।

राजा जसवन्तसिंह की यह जाति स्वाभिमान की दर्पमयी रानी उदयपुर के सिसौदिया घंश की क्षत्रिय कन्या थी। अपने पति को इस प्रकार पराजित लौटते देखकर उसने अविचलित भाव से उन्हें पुनः रथ भागा को विषा किया था। क्षत्रिणियाँ अपने पुत्रों को भी वैसी सीख दिया करती थीं। यही कारण था कि मुट्ठी भर मेवाड़ के राजपूत विशाल मुगल साम्राज्य को चुनौती देते रह सके थे।

नौकर से बादशाह बने-

शेरशाह

मुगलकालीन भारतीय इतिहास में शेरशाह सूरी का समय स्वर्णकाल के नाम से जाना जाता है। प्रशासन और न्याय की उत्कृष्ट व्यवस्था किसी भी शासक को इतिहास

पुरुष सिद्ध कर देती है। शेरशाह सूरी के शासनकाल से भी अधिक प्रेरणादायी है उनका जीवन। एक साधारण नौकर के पुत्र से दिल्ली सल्तनत के सिंहासन तक पहुँचने के लिए उन्होंने जो संघर्ष किया और कठिनाइयों झेलीं उन्हें देखकर कोई भी व्यक्ति आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकता।

उनके दादा इबाहीम खान अफगानिस्तान के एक सौदागर थे। लेकिन भारत में जब अफगानों का राज्य हुआ तो वे अपना देश छोड़कर वहीं चले आये। उनका व्यवसाय कोई खास नहीं चलता था। रोजगार की तलाश करने के लिए भारत आकर उन्होंने राजकीय परिवार में नौकरी पाने का प्रयत्न किया। राज परिवार की सेवा का तो उन्हें अवसर नहीं मिला परन्तु सेना में अवसर जगह मिल गयी। इबाहीम खान हिस्सा और नरनौल के जगहेरदारों की फौज में भर्ती हो गये। उनके मरने के बाद शेरशाह के पिता मियाँ हसन को जौनपुर के बादशाह ने दो गाँव की जागीर दे दी। तब तक शेरशाह सूरी का जन्म भी हो चुका था। उनके जन्म का नाम फरीद खान था।

फरीद खान अपने बाप का सबसे बड़ा बेटा था। जागीर मिलने पर बाप विस्तारिता और रागरंग में डूबा रहने लगा। यहाँ तक कि मियाँ हसन ने अपनी एक दासी से विवाह भी कर लिया। फरीद खान को सौतेली माँ के साथ रहना पड़ा। मियाँ हसन की नयी पत्नी के भी बच्चे हुए तो उसमें सीतिका डाह जग उठा और उसने अपने पति के काम भरना शुरू कर दिये। मियाँ हसन भी छपटने लगा। फरीद खान आरम्भ में तो सब कुछ सहते रहे। सोचा कभी तो पिता का व्यवहार सुधरेगा। परन्तु स्थिति दिनों-दिन बिगड़ने लगी। सीतेली माँ का दुर्व्यवहार, पितृ का भेदभाव और प्रताड़न तथा छोटे सौतेले भाइयों की मारपीट और गाली-गलौज अपनी सीमा से बाहर होते गये। फरीद खान ने तंग आकर घर छोड़ दिया और जौनपुर चला गया।

जौनपुर उन दिनों शिक्षा का अच्छा केन्द्र था। मजदूरी करते हुए उसने पढ़ना भी शुरू कर दिया। अपनी परिस्थितियों से न भबराकर और थोड़ी-सी सूझबूझ ने फरीद खान को कठोर परिश्रम के लिए प्रेरित किया। ग्रन्थि और विकास की भञ्जिल की ओर अग्रसर करने में कठिनाइयाँ तथा विपत्तियाँ बड़ी सहायक सिद्ध होती हैं। ऐसे अवसरों पर मजहाना या किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हो जाना चाहिए। फरीद खान ने उसी सूझ-बूझ से काम लिया और शिक्षा प्राप्त कर अपनी योग्यता तथा प्रतिभा को विकसित करने की ठानी। जौनपुर में उसने फारसी भाषा और अन्य विषयों का अध्ययन किया। गुलिस्ताँ, बोस्ता और सिकन्दरनामा जैसी पुस्तकें कण्ठस्थ कर लीं। फरीद खान की विशेषता और बुद्धि के समक्ष जब मियाँ हसन ने सुने तो उन्हें अपनी गलती का ज्ञान हुआ और बेटे

को वापस बुलाकर जागीर सम्हालने का उत्तरदायित्व सौंप दिया।

प्राप्त किये अनुभवों तथा तज्जनिष्ठ चतुराई और बुद्धिमत्ता के बल पर फरीद खान ने जागीर का इतना अच्छा प्रबंध किया कि सभी लोग उससे खुश रहने लगे। उसके सद्ब्यवहार ने कास्तकारों, जागीर में रहने वालों तथा सिपाहियों सभी का मन जीत लिया। फरीद खान के व्यवस्था कौशल की खूब निहार के बादशाह सुलतान मुहम्मद को लगी तो बादशाह बड़ा प्रभावित हुआ। सुलतान मोहम्मद खान ने उसे अपने पास बुलावा लिया। निस्संदेह फरीद खान अपनी तारीफ के अनुसार ही निकला। अपनी योग्यता, सूझबूझ और बुद्धिमत्ता के बल पर वह बादशाह का दाहिना हाथ बन गया। बादशाह उसे २४ घण्टे अपने साथ रखने लगा। कहा जाता है कि एक दिन जब सुलतान शिकार पर गया तो एक शेर ने बादशाह पर घाणघातक हमला किया। फरीद खान भी सुलतान के साथ ही था। तत्काल शेर पर कलवार का ऐसा वार किया कि एक ही वार में उसके दो टुकड़े हो गये। बादशाह ने स्वामिभक्ति और बहादुरी से प्रसन्न होकर फरीद खान को पुरस्कृत किया तथा शेरखान का नाम दिया।

शेरखान एक बार अपने मित्रों के साथ आगरा गया। उस समय बाबर हिन्दुस्तान का बादशाह था। आगरा की शासन व्यवस्था तथा मुगलों का रहन-सहन देखकर शेरखान ने अनुमान लगाया कि वे लोग ऐसी आराम में पड़कर निकम्मे हो चुके हैं। भोग विलास में डूबे व्यक्तियों की शक्ति तो कैसे ही कुण्ठित हो जाती है। फिर सामान्य-सी परिस्थितियों या संघर्ष भी आसानी से उनको बेधने में सफल हो जाती है। संसार की बड़ी से बड़ी शक्तिशाली शक्तियों के पतन का एकमात्र कारण यही रहा है कि वे लोग प्राप्त सफलताओं के पद में चूर होकर सुख-सुविधाओं तथा भोग-विलास के संसाधनों में इस कदर लिप्त हो जाते हैं कि उन्हें अपना सैनिक भी ध्यान नहीं रहता। शेरखान ने मुगलों की इस कमजोरी को जानकर उन्हें भारत से छेदे देने का निश्चय किया।

यदा-कदा वे अपने मित्रों से भी कहते रहते कि अब इन लोगों को भगाना आसान है। मित्रों में इस बात पर बड़ी हैसियत उठती। इस पर उन्होंने अपने मित्रों से इस प्रकार की चर्चा करना ही बन्द कर दिया। मित्रों का हँसना भी अकारण नहीं था। उन्हें विश्वास नहीं था कि बिहार के एक छोटे से सुलतान का दरबारी, जिसकी अपनी शक्ति कुछ भी नहीं है, गहरी नींव जमे मुगल साम्राज्य को उखाड़ने का दिक्कत स्वयं किस प्रकार पूरा कर सकेगा।

व्यक्ति की अन्तर्निहित योग्यता और संकल्प शक्ति किसी के चेहरे पर नहीं लिखी होती। अपनी बातों पर कोई विश्वास कर सकता है तो वह स्वयं ही। होना भी यही चाहिए। अपने महान् लक्ष्यों की चर्चा औरों से कर उपहासस्पद बनने की अपेक्षा स्वयं आत्मविश्वास को दृढ़

बनाते जाना चाहिए। यह विश्वास और संकल्प जितने ही मजबूत होते जायेंगे सफलता की गंजित उतनी ही समीप आती जायेगी।

एक दिन शेरशाह बाबर के दरबार में गये। बाबर से उन्होंने इतनी खुलकर बातचीत की कि उसे भी आश्चर्य होने लगा। बाबर ने जब अपनी बातों का बेधड़क उत्तर पाया तो उसे लगा कि आज किसी बराबर के व्यक्ति से पाला पड़ा है। शेरशाह के खुले व्यवहार ने बाबर के संदेहशील हृदय में शका के बीज बो दिये। उसे लगने लगा कि एक-एक दिन इस व्यक्ति से मुगल सल्तनत को खतरा हो सकता है। बाबर ने शायी खतरे को शुरू से ही निर्मूल करना उचित समझा और शेरशाह को पकड़कर मार देने का बड़ेयत्न रखा।

इस बड़ेयत्न का पता शेरशाह को लग गया और वे आगरा छोड़कर बिहार चले गये और वहाँ रहकर पठानों को संगठित करना शुरू कर दिया। तभी बाबर को मृत्यु हो गयी और उसका बेटा हुमायूँ गद्दी पर बैठा। शेरशाह थोड़े से ही सैनिक संगठित कर पाये थे कि एक ओर तो हुमायूँ की विशाल फौजें तथा बंगाल के बादशाह का लश्कर था दूसरी ओर शेरशाह के मुट्ठी भर जवान। परन्तु अपनी संगठन शक्ति और सूझबूझ का प्रयोग कर शेरशाह ने एक-एक राज्य जीतना आरम्भ कर दिया। चुनारगढ़ और रोहतासगढ़ को विजित करते हुए शेरशाह की सेनाएँ दिल्ली की ओर बढ़ने लगीं। वस्तुतः संख्या और साधन नहीं, मनोबल और साहस किसी की विजय का कारण बनते हैं। रणभूमि में भी और जीवन संग्राम में भी। दिल्ली पहुँचते-पहुँचते शेरशाह की हुमायूँ से दो बार टक्कर हुई और अन्तिम बार तो हुमायूँ को दिल्ली छोड़कर ईरान भागना पड़ा।

दिल्ली के सिंहासन पर शेरशाह सूरी के नाम से आरोहण किया। अपनी सफलता से गर्वित न होकर उन्होंने तत्काल राज्य व्यवस्था को सुधारने तथा जनता की सुख-शान्ति बढ़ाने के लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिये। अपने राज्य को सैतालीस सूबों में बाँटा और इन सूबों को परगनों में। उस समय मुगल शासन की नींव छोड़ने में शासकीय कर्मचारी भी बड़ी मुश्किलों से लगे हुए थे। शेरशाह सूरी ने तुरन्त ही इस ओर ध्यान दिया तथा ऐसी व्यवस्था बनायी जिसके अनुसार एक स्थान पर अधिकतम एक किसी कर्मचारी का टिकना मुश्किल हो गया। उनका स्थानान्तरण होने लगा। यह व्यवस्था उसी समय से चली है। ऐसा प्रबन्ध भी किया जिसमें ब्रह्मचार की तनिक भी गुंजाइश न रहे। इसके बाद भी जो कुछ हरकत करते तो उन्हें कड़ा से कड़ा दण्ड दिया जाता। इन सुधार कार्यों ने ऐतिहासिक रूप धारण कर लिया।

न्याय की सुरक्षा और जनता की सुख-सुविधा का ध्यान रखते शेरशाह का मुख्य उद्देश्य बन गया था। इसी उद्देश्य से उन्होंने सस्ता, शीघ्र और निष्पक्ष न्याय दिसवाने की व्यवस्था की। यहाँ तक कि स्वयं अपने बेटे को भी

नहीं बख्शा। फकीरों और भूखों से लेकर यात्रियों तक के लिए उन्होंने आवश्यक प्रबन्ध किया। पाँच वर्ष शासन करके ही उनका देहान्त हो गया। परन्तु पाँच वर्ष की अवधि में भी उन्होंने इतना काम कर दिखाया जितना कोई शासक अपने जीवन भर नहीं कर सका। अपनी शासन व्यवस्था और पुरुषार्थ के बल पर ही वे सच्चे अर्थों में बादशाह बने।

पीड़ितों के सहायक—

वीर हम्मीरदेव

अलाउद्दीन खिलजी का एक सरदार बड़ा स्वामिभक्त, सच्चा और बहादुर था। उसने अनेक युद्धों में इतनी वीरता दिखाई कि वह जनचर्चा का विषय बन गया। दुष्टप्रवृत्तियों के दास अलाउद्दीन को अपने उस सरदार की नामवरी पसन्द न आई। वह चाहता था कि जनता में यदि किसी की बहादुरी की चर्चा हो तो वह मेरी ही हो, मेरे सिवाय किसी दूसरे की चर्चा बिल्कुल न हो। स्वार्थ एवं अहंकार का दोष मनुष्य को इसी सीमा तक संकीर्ण बना देता है।

सरदार की चर्चा सुन-सुन कर अलाउद्दीन मन ही मन बल-धुक्कर रहने लगा। किन्तु करे तो करे भी क्या ?” साथ का प्रकटान आतंक से तो रोका नहीं जा सकता सरदार अपनी सेवा और कर्तव्य में कोई छोट नहीं करता था। दोष लगकर उसे अपदस्त्व करने का अवसर नहीं था। अस्तु, मन ही मन ईर्ष्या की भट्टी सुलगाना और स्वयं उसमें जलता रहा। एक बार दुष्ट अलाउद्दीन को झूठा बहाना मिल गया और उसने अपना फन सीधा कर दिया।

सरदार की वीरता की चर्चा इरम में बेगमों के बीच भी होती थी। एक दिन देर तक चर्चा होते रहने के कारण एक बेगम ने स्वयं में बहबहाते हुए उसका नाम ले लिया। उस हीनवृत्ति खिलजी को बहाना मिल गया और उसने बेगम के साथ सरदार के प्रेम का कलंक छड़ा कर दिया। ईर्ष्या और अहंकार ने उसके विवेक को इस सीमा तक दूषित कर दिया था कि वह यह न समझ सका कि बेगम का साथ सरदार को प्रेम का कलंक लगाने का अर्थ है अपनी ही पगड़ी उछालना। लेकिन अलाउद्दीन तो सरदार को अपदस्त्व ही नहीं, ईर्ष्यावश दण्डित करना चाहता था। उसे तो बहाना चाहिए था। पगड़ी उछालती है तो ठुल्ला करे। अस्तु, उसने उस गर्हित आधार पर सरदार को दुश्चरित्र और विश्वासघाती घोषित कर गिरफ्तारी का फरमान निकाल दिया।

सरदार बड़ा नेक आदमी था। वह बेगम पर लगे कलंक की अस्तव्यथा और अपनी नेक चालनी को प्रयाणित करने का अवसर चाहता था। लेकिन गिरफ्तारी के परिणाम से भी अन्तर्ध्वज न था। मृत्यु दण्ड की इस धूमिका को अच्छी तरह समझता था। उसके पास निकल भागने के सिवाय और कोई चारा न था। अस्तु, एक दिन वह रात में दिल्ली की सीमा से अकेला ही बाहर हो गया।

उसने भारत के लगभग सभी राजा नवाबों के पास जाकर शरण माँगी । किन्तु अलाउद्दीन की शक्ति और दुष्टता के आतंक से भयभीत कोई भी राजा नवाब उसे आश्रय देने को तैयार न हुआ ।

बल्लु का मारा सरदार एक स्थान पर बैठा न्याय-अन्याय और सत्य-असत्य की वास्तविकता पर विचार कर रहा था कि एक राहगीर ने उसकी व्याघ्र मालूम करके परामर्श दिया कि वह रणधम्मौर के राजा हम्मीर देव के पास चला जावे, वे उसे चकर शरण दे देंगे । सरदार अभी तक बड़े-बड़े राजा नवाबों के पास गया था । उसने छोटे-छोटे राजपूत राजाओं के विरुद्ध हृदय न देखे थे । मरना क्या न करता । सन्देश होते हुए भी सरदार रणधम्मौर गया । महाराज हम्मीरदेव ने उसकी व्याघ्र की कथा सुनी और पाया कि सरदार निर्दोष है । अलाउद्दीन उस पर अन्याय कर रहा है । उसने सरदार को शरण दे दी ।

अलाउद्दीन को पता चला और उसने सरदार को घामस करने के लिए रणधम्मौर सन्देश भेजा । महाराज हम्मीरदेव ने स्पष्ट कहला दिया कि सरदार निर्दोष है । मैंने उसे शरण दी है और शरणार्थी को उसके शत्रु के हथले करना मेरे धर्म के विरुद्ध है । परिणाम एक ही होना था । खिलजी ने छोटे से रणधम्मौर पर तीन लाख सेना के साथ आक्रमण किया । वीर हम्मीरदेव ने धर्म का ध्यान कर तलवार सँभाली और भयानक शौर्य के साथ अलाउद्दीन खिलजी को परास्त करके यह सिद्ध कर दिया कि विजय सत्य की ही होती है ।

माता के अनुरूप ही सुसंतति का निर्माण

चित्तौड़ के राजकुमार एक चीते का पीछा कर रहे थे । वह चीते छूटकर झाड़ियों में छिप गया था । राजकुमार घोड़े को झाड़ी के इर्द-गिर्द घुमा रहे थे, पर चीते को बाहर निकालने में सफल नहीं हो पा रहे थे । किस्मत की लड़की यह दृश्य देख रही थी । उसने राजकुमार से कहा-“घोड़ा दौड़ाने से हमारा खेल खराब होता है । आप पेड़ की छाया में बैठें । चीते को भयानक में लावे देखें हैं ।” वह एक मोटा ठण्डा लेकर झाड़ी में घुस गई और मल्ल युद्ध में चीते को पछाड़ दिया । उसे घसीटते हुए बाहर ले आई और राजकुमार के सामने डाल दिया । राजकुमार दंग रह गये । उन्होंने किसान से विनय करके उस लड़की से विवाह कर लिया । प्रख्यात योद्धा हम्मीर उसी लड़की की कोख से पैदा हुआ था । माताओं के अनुरूप ही संतान का निर्माण होता है ।

हम्मीर हठ, जिसने रुढ़ियों के बन्धन तोड़े

“यह केवल हठ की बात नहीं है काका सा ! आप यह क्यों नहीं सोचते कि हम भारतीयों के घरों में नारी की स्थिति पहले ही कैसी दयनीय है ? राजकुमारी वसुमती का वैधव्य मेरे लिए अमंगल हो सकता है तो यह सारे

भारतीयों के मस्तक पर भी कलंक क्यों न होना चाहिए ? विधवाओं की सबसे ज्यादा संख्या इसी देश में है और उसके उत्तरदायी सामाजिक कारण भी पुरुषों द्वारा ही तैयार किए गये हैं । क्या अपने किए का प्रापरिचित पुरुषों को नहीं करना चाहिए ?”

राजा हम्मीर इतना कहते कहते कुछ आघेहा में आ गए थे, पर अपने काका सा- अबय सिंह और अन्य सभ्यसभ्यें का वे पूर्ण सम्मान करते थे । इसलिए फिर अपनी बान्नी को संयम और विनीत बनाते हुए बोले- “काका सा । राजकुमारी के कोई सन्तान नहीं है, वे छोटी आयु में ही विधवा हो गई । राज परिवार संन्यासी का-सा जीवन नहीं जी सकता फिर क्या यह राजकुमारी की कोमल भावनाओं पर आघात न होगा कि उन्हें ईसते-खिलखिलते जीने की इस आयु में रीति-रिवाजों के बन्दीगृह में डाल दिया जाय ? सम्बन्ध मुझे करना है और मैं तैयार हूँ आप लोग किसी अमंगल की बात अपने मन से निकाल दें ।”

“किन्तु हम्मीर । तुम नहीं जानते चित्तौड़ नरेश भासदेव ने हमारे साथ छल किया है । उसने जान-बूझ कर विधवा कन्या का सम्बन्ध भेजा है । तुम्हारे जैसे वीर और प्रतिष्ठित राजकुमार के लिए विधवा से सम्बन्ध करना शोभा नहीं देता- हम्मीर । युद्ध ही करना है तो हम तैयार हैं, पर हम इस पक्ष में कभी नहीं कि तुम्हारा सम्बन्ध एक ऐसी कन्या से हो जो पहले कभी किसी का वरण कर अपवित्र हो चुकी हो ।” अजयसिंह ने दृढ़ शब्दों में कहा और सभ्यसभ्यों ने उनका अनुमोदन किया ।

पर हम्मीर उस धातु के बने नहीं थे जो किसी भी समय कैसे भी मोड़े और झुकाये जा सकते ? हम्मीर किसी सिद्धान्त को ढेर से स्वीकार करते थे । लेकिन एक बार उसमें सत्य और आदर्श की रक्षा देख लेते तो उसके लिए ऐसा हठ करते कि फिर सारा संसार एक तरफ हो जाता तो भी वचन से पीछे न हटते । ‘हम्मीर हठ’ उन दिनों जन साधारण के लिए दैनिक बोल बन गए थे ।

हम्मीरदेव ने कहा- “काका सा ! पुरुष जब बार-बार रनिर्वा लूकर राजमहलों में डाल देता है तब अपवित्र नहीं होता, फिर नारी एक ऐसी अवस्था में जबकि उसे सहारे की आवश्यकता होती है और दूसरा विवाह कर दिया जाता है तो वही अपवित्र क्यों हो जाएगी । मान्यताएँ मनुष्य ने बनाई हैं, पर उनमें केवल वही बातें मान्य हो सकती हैं जिनका कुछ विवेक अन्य औचित्य भी हो ? विधवा अपवित्र और अमंगल होती है- यह कोई तर्क नहीं, सच बात तो यह है, यदि वह निःसन्तान है तो सबसे पहले सहारे की अधिकारिणी भी वही है ।” हम्मीर के हठ के आगे किसी की एक न खली । वह लगन गण्डप पर जा पहुँचे और सम्बन्ध कर ही लिया । सैनिक जो मेवाड़ से युद्ध करने गए थे, वह बराती बनकर लौटे ।

वसुमती ने उस दिन पूर्ण शृंगार किया था, पर उसे ऐसा लग रहा था जैसे महाराणा हम्पीर उसके साथ कहीं छल तो नहीं कर रहे। समाज ने विधवा के जीवन में जो आत्महीनता लाद दी है, वसुमती उसी के कारण कुछ भयभीत-संकुचित-सी लग रही थी। लेकिन शीघ्र ही उसके भय का निवारण हो गया। महाराणा के प्रेमिल व्यवहार से उसे जल्दी ही मालूम हो गया कि हम्पीर ने यह कार्य सिर्फ हठ के कारण नहीं-मानवीय करुणा और रुढ़ियों को तोड़ फेंकने के शौर्य के रूप में किया है।

उसने हम्पीरदेव को शासन व्यवस्था में ऐसा सहयोग प्रदान किया कि एक दिन राजा हम्पीर बिना किसी हठ-रक्तपात के ही येनाह के शासक बन गए। पहले जो लोग कहा करते थे कि विधवा से विहार हम्पीर के अमंगल का सूचक है वही पीछे कहने लगे- विधवा कभी अमंगल नहीं होती। उसे मानवीय सम्मान मिले तो वह किसी भी योग्य जीवन साथी के कर्तव्यों का पालन कर सकती है।

संकल्पों का धनी-

अलक्षेन्द्र सिकन्दर

"मौन लीजिए जो कुछ आप मांगना चाहते हैं मुझसे।" राजा के भीतर से राजाधिपति होने का मिथ्या दंभ बोला। उसे सुनकर संत के चेहरे पर मुस्कान फैल गयी।

"वेना ही चाहते हो तो पाँच मुट्ठी धूप दे दो मुझे।" संत बोले। राजा उनकी इस माँग को सुनकर लजित हो उठा। संत दायोजिनस और सम्राट अलक्षेन्द्र सिकन्दर मनुष्य की उसी एक भूख को स्पष्ट करते हैं। मनुष्य चाहता है कि उसका अधिकार क्षेत्र विस्तृत हो। उसकी एकमात्र सीधी सच्ची राह वही है कि मनुष्य अपने आपे को उतना विस्तृत करदे जितनी वह भरती है। दूसरे रास्ते तो कई दीखते हैं पर वे मात्र मृग मरीचिका ही हैं। अलक्षेन्द्र ने भी ऐसे ही एक माया पूर्ण राह चुनी थी। जहाँ राह गसत होती है वहाँ जीवन के सत्यक होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता फिर भी अलक्षेन्द्र के संकल्प और व्यक्तिता से बहुत कुछ सीखा जा सकता है जो सही मार्ग पर चलने वाले के लिये भी उपयोगी सिद्ध होगा।

मकदूनिया के महत्वाकांक्षी राजा के पुत्र अलक्षेन्द्र ने भी अपने पिता के ही मार्ग का अनुसरण किया। क्योंकि उन दिनों पश्चिम में मनुष्य के लिए वही गौरव की बात मानी जाती थी कि वह अपनी प्रभुता को सिद्ध कर दिखाये। उसका पिता फिलिप चाहता था कि जिस फारस ने यूनान पर आक्रमण करके उसे अपमानित किया है उसका वह बदला फारस को हराकर ले। जिसका सिकन्दर के मन में भी वैसे ही संस्कार पड़ने और संकल्प जागने स्वाभाविक ही थे। वह सोच करता था कि जब पिताजी ही सारे देशों को जीत लेंगे तो वह किसे जीतेगा।

उसके मन में यह बात आ ही कैसे सकती थी कि प्रदेशों को जीत लेने से ही व्यक्ति महान नहीं बन जाता वह महान बनता है अपने सद्बिचारों से, सत्कर्मों से विश्व मानव की सेवा से।

भारत और पारश्वत्य देशों के निवासियों के सोचने के ढंग में वही अन्तर था। वे स्थूल को महत्व देते थे, शरीर को ही सत्य मानते थे, आत्मा उनके लिए कुछ नहीं थी। वही कारण है कि भारतवासियों ने अपनी संस्कृति, अपने आध्यात्मिक दर्शन के कारण विश्व में अपनी कीर्ति पक्का पकड़ायी। उन्होंने कभी तलवार लेकर किसी देश पर चढ़ाई नहीं की। किन्तु पश्चिमी देशों ने तलवार के बल पर राज्य विस्तार के लम्बे चौड़े सपने देखे।

अलक्षेन्द्र का सपना था विश्वविजय करने का। उस सपने को साकार करने के लिए उसने स्वयं को वैसा ही सुदृढ़ बनाना आरम्भ कर दिया। उसका सपना कितना बड़ा था। साधारण व्यक्ति या साधारण राजा ऐसा सपना नहीं देख सकता था। अलक्षेन्द्र को अपनी असाधारणता पर विश्वास था। मनुष्य कितने बड़े संकल्प कर सकता है उन संकल्पों को साकार भी कर सकता है अलक्षेन्द्र उसका अनुपम उदाहरण है। भूल उसकी यही थी कि उसने केवल अपने अहम् की वृत्ति के लिये यह सब किया यदि वह दूसरों के हित का ध्यान रखकर कोई 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' का सपना देखता तो उसकी दिशा भी सही मानी जाती। उसका परिणाम भी शुभ होता।

एक दिन उसके पिता को सभा में एक घोड़ा लाया गया। इस रत्नदार और शक्तिशाली घोड़े पर उसका कोई दरबारी काबू नहीं कर पाया। बालक अलक्षेन्द्र ने इस चुनौती को स्वीकार किया क्योंकि वह भी तो असामान्य स्वप्न देख रहा था, असम्भव को सम्भव बनाने के स्वप्न संजो रहा था। वह अपने स्थान से उठा घोड़े की लगाम पकड़ी उसका मुँह सूर्य की ओर किया और वह कुछ उछले उसके पहले ही उसकी पीठ पर जा सवार हुआ। बालक के इस दुस्साहस पर सभी चकित रह गये "घोड़ा उसे गिराकर छोड़ेगा" वह यही सोचकर उसकी रक्षा के लिए प्रयत्नरत हो गये। किन्तु आशंका के विपरीत अलक्षेन्द्र ने उसे काबू में कर लिया। उसे उसने इतना दौड़ाया कि वह जककर बेदम हो गया। तभी से फिलिप जान गया कि उसके बेटे बहुत बड़ा राजा बनेगा।

कहते हैं अपनी माता की उपेक्षा करने के कारण अलक्षेन्द्र ने अपने पिता की हत्या कर दी और अपनी सौतेली माँ और उसके पुत्रों को बलि बदा दिया। सत्ता के मद में घूर फिलिप के अपनी धनी ओलिम्पियास की उपेक्षा करना और अलक्षेन्द्र का उसे पीठ के चाट उतार देने जैसे अग्रिय प्रसंग प्रायः सम्भवता और वैभव के साथ साथ आत्मशक्ति का सम्यादन न करने के कारण मध्य युग में भी देखने को मिल जाते थे और आज भी कुछ दूसरे ढंग से हमारे सम्मान में ही देखने को मिल जाते हैं।

फिलिप के बाद अलक्षेन्द्र मकदूनिया का शासक बना। शासक बनते ही उसने विश्वविजय के सपनों को साकार करना आरम्भ किया। सर्वप्रथम उसने अपनी सैन्य शक्ति का विस्तार किया। सैनिकों को प्रशिक्षित करने और अनुशासित रखने के लिये उसने विशेष प्रयत्न किये।

सेना सुगठित हो जाने पर उसने एक-एक करके सारे यूनानी राज्यों को जीत लिया और इन इतरे हुए राज्यों के साथ उदारता का व्यवहार करके उन्हें अपना मित्र बना लिया, जो उसके अगले विश्व विजय अभियान में सहायी देने। उसकी यह उदारता उसके विरोधी पैदा नहीं होने देती थी।

अलक्षेन्द्र ने अपनी शरीर साधना बखूबी की थी। वह तलवार तथा अन्य सस्त्रास्त्र चलाने में प्रवीण था। यूनानी सेना में उसके एक सेनापति आनेकालीन को छोड़कर और कोई उसके मुकाबले का बौद्धा नहीं था। उसका शरीर पूरा ऊँचा बलिष्ठ और त्वायय था। उसका शरीर सौहृद देखते ही बनता था। उसके सारे शरीर पर मत्स्याकृत मौसपेशियाँ उभरी हुई थीं।

यूनान के परचाएँ उसने अपने आस-पास के दूसरे देशों पर विजय प्राप्त की। फिर वह फारस की ओर उन्मुख हुआ, जो उस समय का सबसे बड़ा राज्य था, जिसका राजा दारा अपने आप को सारे संसार का स्वामी समझता था। वह भी विश्वविजय के सपने देखा करता था। इसी के लिए उसने बहुत बड़ी सेना एकत्रित कर रखी थी। वह पहले यूनानियों को हरा भी चुका था। अलक्षेन्द्र की सेना में तीस हजार पैदल और चौबे हजार घुड़सवार थे। दारा की सेना उसकी सेना से तीन गुनी से भी अधिक थी। अगस्तस के मैदान में दोनों में टक्कर हुई। प्रशिक्षित और अनुशासित सेना के बल पर अलक्षेन्द्र ने अपने से तीन गुनी सेना रखने वाले दारा को पराजित कर दिया। वह मैदान छोड़कर भाग निकला। उसकी मी, पत्नी तथा बच्चे पकड़े गये। सिकन्दर उनके साथ बड़ी सम्पत्ति से वेत आया और उनकी सुरक्षा का प्रबंध किया। दारा की पत्नी अत्यंत रूपवती थी। अलक्षेन्द्र के स्थान पर और कोई होता तो उसको अपनी पत्नी बना लेता पर सिकन्दर ने ऐसा नहीं किया। क्योंकि वह जानता था कि चरित्र ही मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पदा है। वह तो राज्यों को जीतना भर चाहता था, पराजित राजाओं की रानियों को अपनी अंकशायिनी बनाना नहीं। अलक्षेन्द्र में यह चरित्रिक बल न होता तो वह अपने काम में सफल भी नहीं होता।

पराजितों के साथ भी सम्मानजनक व्यवहार करना उसकी नीति थी। दारा ने पराजित होकर भी आत्म-समर्पण नहीं किया था। वह अपने बचे हुए सैनिकों के साथ इधर-उधर भागता फिरा। एक दिन उसके ही एक सैनिकों ने उसे छुरों से घायल करके उसे मरा समझकर छोड़ दिया अलक्षेन्द्र को वह मृतप्राय दृशा में मिला। अपने मरणासन्न शत्रु को उसने अपना दुःखता उड़ाकर सम्मान प्रकट किया। दारा ने उसे अपनी पत्नी व बच्चों के प्रति

किये गये व्यवहार के लिए धन्यवाद दिया।

उसकी इस उदारता के कारण उसकी सेना के कुछ उच्चाधिकारी अप्रसन्न भी हो जाते थे। किन्तु वह उनकी अप्रसन्नता की चिंता किये बिना अपनी इस नीति पर दृढ़ रहा करता था। भारतीय राजा पुरु के साथ भी उसने ऐसी ही उदारता बरती थी। वह पुरु की वीरता से प्रभावित भी कम नहीं हुआ था।

अलक्षेन्द्र और उसकी सेना को तो पुरु की विशाल सेना और वीर सैनिकों के प्रबल आक्रमण को देखकर यह लगने लगा था कि इस बार पराजय के अतिरिक्त कुछ हाथ लगने वाला नहीं है। ऐसे कठिन समय में अलक्षेन्द्र ने धैर्यपूर्वक सोचा तो उसे एक मुक्ति समझ में आयी। उसने अपने सैनिकों को हाथियों की आँखों में काण भारने की आज्ञा दी। उसकी यह मुक्ति काय में आयी। पुरु के हाथी बिगड़ खड़े हुये और वह पकड़ा गया। उसे जब अलक्षेन्द्र के सामने लखा गया तो अलक्षेन्द्र ने उससे पूछा—“बोले हम तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करें।”

“जैसा एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है।” पुरु ने निर्भीकतपूर्वक उत्तर दिया। उसके इस वीरोचित उत्तर से वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसके जीते हुए प्रदेश को लौटा दिया। वस्तुतः यह बात यूनानी इतिहासकारों द्वारा लिखी गयी है। इस सम्बन्ध में इतिहासकार सच्चाई को खोजने का प्रयास कर रहे हैं। सत्य यह लगता है कि अलक्षेन्द्र पुरु से हार गया था।

प्रत्यक्ष युद्ध में भले ही अलक्षेन्द्र हारा न हो लेकिन यहाँ आकर उसका विश्व-विजय का स्वप्न चूर-चूर अवश्य हो गया। काहे पुरु हारा भी हो तो भी यह सच्ची विजय नहीं थी। उसके सैनिकों का साहस इस युद्ध में चुक गया था। उन्हें अब तक ऐसे घोरों से मुकाबला नहीं पड़ा था। जब उन्होंने मगध के राजा नन्द की विशाल मागधी सेना और उसके पराक्रम की बात सुनी तो वे आगे बढ़ने से इन्कार कर गये।

अलक्षेन्द्र ने बिपासा के तीर पर उन्हें आगे बढ़ने का आह्वान किया तो वे तैयार न हुए। अलक्षेन्द्र को इससे बड़ी निराशा हुई। वह तीन दिन तक अपने खेमों से बाहर नहीं निकला। अन्त में उसे अपनी बात वापस लेनी पड़ी और वे लौट चले। लौटते समय वह बहुत उदास था। उसके स्वप्न ही भूल में नहीं मिल गये थे चरन् वह अपनी भूल पर बकता भी कम नहीं रहा था। स्वयं को विश्व विजेता सिद्ध करने के लिए उसने हजारों आदमियों का रक्त बहाया था कितनी ही माँगों का सिन्दूर पोंछ दिया था, कितनी मत्तओं की गोद सूनी करदी थी और कितने ही बच्चों को अन्ध कर दिया था। हाथ रे दुर्बुद्धि यह कैसी विजय है। वह विजय का सेहस नहीं यह तो कलंक का टीका है। इन विचारों से वह बड़ा उस्त हो गया। उनसे मुक्त होने के लिए उसने शराब का सहारा लिया। भारत से लौटते समय वह बहुत पीने लगा था लौटते हुए रास्ते में ही उसे निधन निवा हुआ और मर गया।

अलक्षेन्द्र केवल ३३ वर्ष ही जी सका। उसने केवल १३ वर्ष ही राज्य किया। यदि स्वयं विश्व विजय करने का पागलपन यतिष्क में बिठाये स्वयं भी चैन से नहीं बैठना न अपने सैनिकों को बैठने देना और न दूसरे राजाओं को यदि इसी का नाम राज्य करना है तो वह राजा या अन्यथा मनुष्य जीवन की उन रसानुभूतियों और आत्मसंतोष से तो वह वंचित ही रहा जो सम्मान्य स्थिति का मनुष्य ही पा सता है। संत दायोजिनस ने उसे पहले ही यह बात स्पष्ट कर दी थी। किन्तु अलक्षेन्द्र के सिर पर तो दूसरा ही भूत सवार था। किसी वृद्ध कवि ने ठीक ही कहा है— "न हुई हद सिकन्दरी न कारु की चत्ती, मौत का आ गया पैगाम कि चलते चलते।" अलक्षेन्द्र का यह संकल्प और उसके लिए चुटाया गया स्वप्न, क्षम, समय और जीवन किसी काम नहीं आया। एक कहानी पर बनकर रह गया। केवल स्वार्थ और विद्व्याभिमान से प्रेरित होकर किया गया काम कितना ही बड़ा क्यों न हो न तो उस व्यक्ति को ही सुखी और सन्तुष्ट कर सकता है और न मानव समाज को ही कुछ दे सकता है। अलक्षेन्द्र का जीवन इस सत्य को सिद्ध करता है, दिखाता है बड़े आदमी बनने की अपेक्षा महान कार्य करने की कामना हजार गुनी श्रेष्ठ है।

पारम्परिक विश्वास-बन्धु सिकन्दर और फिलिप

घटना उस समय की है जब सिकन्दर फारस देश पर आक्रमण करने जा रहा था। यह अपनी विशाल सेना का नेतृत्व करता जा रहा था कि सहसा एक स्थान पर रुक गया और थोड़े से उतर पड़ा। उसे ऐसा लगा मानो उसे मूर्छा आने वाली है। वह थोड़े की रास घामे थोड़ी देर खड़ा रहा। सारी सेना रुक गई और सरदार लोग थोड़ों से उतर-उतर कर उसे घेर कर खड़े हो गये और हास पूछने लगे। सिकन्दर ने धैर्य तथा साहस से अपने आपको अचेत होने से रोक लिया और सरदारों से कहा—मेन का पड़ाव यहीं डाल दो, मेरी तबियत कुछ खराब हो रही है, आगे चल सकना कठिन है।

सेना का पड़ाव डाल दिया गया और जब तक रहने ठहरने की व्यवस्था हो सिकन्दर रोग से तड़पने लगा। उसके पैर तथा हृदय-स्थल में प्रचण्ड पीड़ा शुरू हो गई थी। किसी तरह शीघ्रता से उसका तम्बू लगा और वह एक पलंग पर लिटा दिया गया। सिकन्दर पलंग पर पीड़ा से तड़पने और छटपटाने लगा।

सिकन्दर के साथ यूनान के कई सुयोग्य हकीम आये हुये थे जिनके पास अच्छी-से-अच्छी दवायें थी। उन्होंने सिकन्दर की हालत देखी और शरीर व नाड़ी की परीक्षा की। सभी हताश हो गये। उन्हें विश्वास हो गया कि वह चन्द मिनटों का ही मेहमान है। अब वह किसी प्रकार बचाया नहीं जा सकता।

इधर यूनान के राजा विश्व-विजय के स्वप्नदर्शी सिकन्दर की हालत खराब होती जा रही थी और वह सहायता के लिए असहाय सा हकीमों और सरदारों की ओर देखता था। इधर सरदार सहायता से यह सोच कर मुँह छिपा रहे थे कि शायद इसकी मृत्यु के बाद यह अधिकार हमें मिल जाये और हकीम सोच रहे थे कि अब यह बचेगा तो है ही नहीं। यदि मेरी दवा लेने के बाद मर गया तो लोग यह संदेह करेंगे कि इसे मैंने जानबूझ कर मार डाला है, तब बेकार में अपनी जान आफत में फँसेगी, उन सब का स्वामी और सम्राट सिकन्दर मर रहा था और उसकी मृत्यु घड़ी देख कर सब अपने-अपने हित की सोच रहे थे। विश्व ही उनका सबका यह स्वार्थ और असहयोग धिक्कार के योग्य था। कुछ उसकी मृत्यु की खबर इसलिये देख रहे थे कि उसका अधिकार उन्हें मिल जायेगा, दूसरे उसे बचाने का जोखिम इसलिये नहीं ले रहे थे कि कहीं उन्हें उसकी मृत्यु का कलंक न लग जाये और उनको किसी संकट का सामना न करना पड़ जाये। वास्तव में अधिकार पद बड़ा विडम्बनापूर्ण होता है। जब तक वह सक्षम तथा समर्थ है, लोग उसकी झुठी चादुकारी किया करते हैं और जब वह असहाय और बिचरा होता है तो तुरन्त भीछें ही नहीं फेर लेते बल्कि न उठ सकने योग फतन के लिये दो धक्के और दे देते हैं। सिकन्दर भी इस समय इसी अवस्था में था।

जब तक शक्ति-यन्त्रों की भुजा में बल, चाणी में प्रभाव और विस्तार पर नियंत्रण रहता है सभी उसे नमन करते, उसके अत्याचार को वीरता, अनोखी को चातुर्य और शोचन को आवश्यकता मानते रहते हैं। किन्तु ज्यों ही उसकी ये विशेषतायें समय पाकर क्षीण हो जाती हैं त्यों ही लोगों के मन और दृष्टिकोण बदल जाते हैं। उसके गुण नीचे पड़ जाते हैं, उसके उपकार यदि कोई होते हैं तो दब जाते हैं और सारे दोष उभर आते हैं। लोग निर्णायक की तरह उसके जीवन तथा कृत्यों का लेखा-जोखा करने लगते हैं और उससे भी अधिक विपरीत हो जाते हैं, जितने कि अनुकूल थे।

सिकन्दर शक्तिमन्त था। उसका अपना देश था, अपना राज्य था, अपना पद और अपना सिंहासन था। किन्तु वह अपनी इन वसुधाओं और अपनी उस सीमा में संतुष्ट न रह सका। सारे विश्व को अपने पैरों तले लाने की महत्वाकांक्षा उस पर प्रेत की तरह सवार हो गई, जिसने उसे आततायी बना दिया और वह पागल समीर की तरह भित्र, अभित्र तथा तटस्थ सभी देशों की ओर उन्हें रक्त रंजित और कुचल हासने के लिये दौड़ने लगा। अनावश्यक रूप से उसने सारे ससार की शान्ति भग कर दी। सुख और चैन से रहती जनताओं में भय, रोष और शंका की वृत्तियाँ जग्न दीं। सारे देश उसके समाचार सुन-सुन कर अपने घर सुरक्षा और युद्ध की तैयारी करने लगे। सेनायें बढ़ाई जाने लगीं, घर-घर के लाड़ले नवयुवक

बलि-वेदी पर दीक्षित होने लगे । सैन्य भंडारों में संचय होने लगा, सामान्य जीवन महीन हो गया। कर और राजस्व बढ़ गया और चनता आर्थिक भार से कसमसा उठी । यह सब इसलिये कि सिकन्दर की शक्तिमत्ता अपनी परिधि में न रह सकी ।

अन्य देश ही नहीं, उसकी उस अनुचित महत्वाकांक्षा से उसके अपने देश का भी जीवन शान्त न रह सका था । उसे विश्व विजय योग्य लगकर चाहिये था । किसी घर में नवयुवक न छोड़े गये । उस विशालवाहिनी की रसद के लिये प्रजा को धन-धान्य से रिक्त कर दिया गया । कोई विशेष अधवा असंतोष छड़ा न हो इसलिये सिर पर आतंक की नंगी तलवार लटका दी गई । सेना बनाम देश के नागरिकों को उनके घर-बार से दूर सैकड़ों कोस विदेशी सौमाओं में डाल दिया गया । दिन-रात लड़ाई, रक्तपात, छल-कपट और अभियान प्रवाण । न कोई शान्ति और न कोई सङ्कष । लाखों कटोते, हजारों भूखों मरते और न जाने कितने रोवी हो जाते । किन्तु कोई सुनने वाला नहीं । लोग डस्त, क्लान्त तथा असंतुष्ट थे । किन्तु तब तक शक्तिमत्ता की भुजा में बल, वाणी में तेज और विस्तार पर नियंत्रण था । समय पूरा न हुआ था ।

किन्तु आज जबकि सिकन्दर रोग से विवश तथा असहाय हो गया कौन कह सकता है कि उसके अपनों के हृदयों में वे सब त्रास और कष्ट न कसक उठे हों जो उनमें बलात् इसलिये उठबाये कि सिकन्दर अपने विगीषु दम्भ को तुष्ट करना चाहता था, जिसका कोई लाभ, कोई श्रेय उनमें से किसी को न होगा था । बहुत सम्भव था कि हकीमों और सरदारों के असहयोग के पीछे यह भाव काम कर रहा हो कि वह एक मौत के आँचल बँधे और हम सब को सुख चैन की साँस लेना नसीब हो । क्या उनमें से बहुतों को यह बाद न आया होगा कि कब-कब सिकन्दर ने कहाँ, कारण और अकारण ही उन्हें दलित, तिरस्कृत अधवा ताड़ित किया है । क्या उस समुदाय में ऐसे लोग न होंगे जिन्हें यूनाय के उन लाखों घरों की याद आती हो जहाँ उस समय पुत्र और पति के वियोग में मातायें और पत्नियाँ आँसू बहा रही होंगी और उन पिताओं की जो पुत्र के हाथ में हल और पतवार सौंपकर निश्चिन्त हो चुके थे किन्तु उन्हें फिर वह भार इसलिये लेना पड़ा होगा कि उनके कर्णधारों को सिकन्दर ने विदेशों के मोर्चों पर कटवा डाला है । शक्तिमत्ता, सिकन्दर इस समय विवश और असहाय था, सबके मन और विचार कोण बदल चुके थे और पहले जहाँ लोगों को उसके गुण ही गुण दिखलाई देते थे, अब दोष ही दोष दृष्टिगोचर होने लगे ।

यदि सिकन्दर ने अपनी शक्ति अनहित और संसार में सुख शान्ति की वृद्धि में लगाई होती तो उसकी सहायता की जोखिम से लोग डरते नहीं बल्कि अपने प्राण देकर भी उसे बचाने का प्रयत्न करते । सब पद और उस पर भी अनीति तथा आतंक से दूषित राज पद ऐसा ही प्रतीत

पूर्ण होता है कि लोग न तो उस पर स्वयं विश्वास करते हैं और न यही विश्वास रखते हैं कि वह उन पर विश्वास कर रहा होगा सिकन्दर संसार से बा रहा था और उसके पार्श्ववर्ती उसकी सहायता से मुँह खुश रहे थे ।

फिर भी जहाँ प्रतिरोधी, स्वार्थी तथा अवसरवादियों की कमी नहीं हो तो वहाँ विशुद्ध मनुष्य भी होते हैं जो आपत्ति तथा पीड़ा में देखकर शत्रु का भी अपकार भूल जाते हैं और मनुष्यता के नाते उसकी सहायता में तत्पर हो जाते हैं । सिकन्दर के एक फिलिप नाम के सेवक से उसकी पीड़ा न देखी गई । वह बड़ा विश्वासी व्यक्ति था, और उसे यह भी विश्वास था कि सिकन्दर उस पर विश्वास रखता है । वह पीड़ा से तड़पते सिकन्दर के पास आया और बोला—“स्वामी आप धीरज रखिये मैं अभी आपके लिए दवा तैयार करके लाता हूँ, आप शीघ्र ही अच्छे हो जायेंगे ।” फिलिप दवा लाने चला गया ।

अनेक लोग फिलिप के पास पहुँचे और उसे समझाते हुये बोले—“फिलिप क्या मूर्खता करने जा रहे हो । सिकन्दर अब किसी प्रकार बच नहीं सकता । यदि वह तुम्हारी दवा पीने के बाद मर गया तो लोग यही समझेंगे कि तुमने उसे विष देकर मार डाला है । इसलिये तुम उसे दवा देने की गलती न करो, नहीं तो तुम्हारी जान सँकट में पड़ जायेगी ।”

फिलिप दवा बनाता हुआ साधारण वाणी में बोला—“मेरी आत्मा शुद्ध है, मैं उनके लिये अच्छी से अच्छी दवा तैयार कर रहा हूँ । मुझे पूरा विश्वास है कि वे मेरी दवा से शीघ्र ही अच्छे हो जायेंगे और यदि वे परमात्मा की इच्छी मेरी दवाई पीकर न भी रहे और मुझे उन्हें मार डालने की संकल्प पर द्रावदण्ड भी दे दिया गया तो भी मुझे कोई असन्तोष न होगा । मेरी आत्मा की पवित्रता मुझे स्वर्ग ले जायेगी और फिर बहुत से मनुष्य-मनुष्य की जान बचाने में, किसी का उपकार करने में स्पष्ट मौत आर्तिगम कर लेते हैं, तो क्या मैं इस विश्वास के साथ उनकी मदद नहीं कर सकता, कि वे अवश्य बच जायेंगे, अप्रत्याशित मृत्यु के भय से मैं मानवीय कर्तव्य से क्यों विमुख हो जाऊँ?”

फिलिप के पास अनेक अपरिचित ऐसे भी आये जिन्होंने उसके बुल्य, शोषण तथा अत्याचार का चित्र दिखाते हुए उसे मनुष्यों का शत्रु और उसका दासकर्ता सिद्ध करने का प्रयत्न किया । किन्तु फिलिप पर इसका भी कोई प्रभाव न पड़ा और वह वह कहकर दवा बनाता रहा कि सिकन्दर इस समय केवल एक पीड़ित तथा असहाय मनुष्य है, न वह राजा है, न जालिम और न मुझको गुलाम बनाने वाला अततायी ।

बिस समय फिलिप दवा बना रहा था उस समय सिकन्दर के पास एक अधिकारी का पत्र आया । सिकन्दर ने जैसे तैसे पत्र खोलकर पढ़ा उसमें लिखा था—आप फिलिप से सावधान रहें । फारस के राजा ने आपको विष पिला कर मार डालने का बहमन्त्र किया है । इस कार्य के

लिए उसने, अपार धनराशि और अपनी बेटी का विवाह कर देने का लालच देकर फिलिप को नियुक्त किया है।

सिकन्दर ने पत्र पढ़कर अपने तकिये के नीचे रख लिया। फिलिप दवा लेकर आया- सिकन्दर ने एक हाथ से प्याला लिया और दूसरे हाथ से वह पत्र निकाल कर फिलिप को दे दिया। तब फिलिप ने पत्र पढ़ना शुरू किया। फिलिप ने जब उस पत्र से आँखें उठाकर कातर दृष्टि से सिकन्दर की ओर देखा तब तक वह प्याला खाली कर चुका था। दवा ने तीव्र प्रभाव किया, सिकन्दर अचेत हो गया। सरदारों ने मृत्यु-दृष्टि से फिलिप की ओर देखा और फिलिप अपनी आत्मा की सच्चाई एकड़े साहसपूर्वक खड़ा रहा। कुछ देर बाद सिकन्दर सचेत हुआ और उठ कर बैठ गया, उसकी सारी पीड़ा जा चुकी थी, वह बिल्कुल ठीक हो गया था।

उसने उठकर फिलिप को गले लगाया और धन्यवाद दिया। किन्तु फिलिप आँसुओं से उसे तर करता हुआ बोला- स्वामी। ऐसा पत्र पाकर भी आपने मुझ पर विश्वास कैसे कर लिया। सिकन्दर मुस्कराता हुआ बोला- प्यारे फिलिप! मुझे आदमियों की बहुत कुछ पहचान है। मुझे पूरा विश्वास था कि तुम्हारा जैसा सज्जन व्यक्ति कभी विश्वासघात नहीं कर सकता और फिर यदि तुम जैसा करते भी तो भी मैंने संशयपूर्ण पिकड़ पकड़ मरने की अपेक्षा विश्वासपूर्ण मृत्यु मरना अच्छा समझा।

सिकन्दर ने फिलिप को बहुत-सा पुरस्कार देना चाहा किन्तु फिलिप ने उसे न लेते हुये कहा- ऐसे अवसर पर आपने मुझ पर विश्वास करने को महामत्त तथा आदर दिया है वह ही बहुत है मेरे स्वामी।

खाली हाथ जा रहा हूँ

विश्वविजय का स्वप्न देखने वाला अर्धशायी योद्धा सिकन्दर एक साधारण से जन्तु मच्छर का सामना नहीं कर सका। बेबीलोन में जाकर उसकी मृत्यु मलेरिया से हुई। मित्य शराब पीने और सगरंग में मस्त रहने के कारण उसका शरीर इतना निर्बल हो चुका था कि मच्छर के काटने और मलेरिया के कीटाणु शरीर में प्रविष्ट हो जाने के कारण उसका शरीर उन कीटाणुओं का भी प्रतिरोध नहीं कर सका।

मृत्यु के समय उसके जीवन की एक-एक स्मृतियाँ उभरकर आने लगीं। अभी तीन वर्ष पूर्व मिली मैतिक पराजय वह भूला भी नहीं था जो उसे भारत की बुद्ध यात्रा में मिली थी और वह भी गाँव की दो साधारण कन्याओं द्वारा पराजय का सारा दृश्य उसकी आँखों के सम्मुख घूम आया।

उस समय वह भारत के परम प्रतापी राजा पुरु को परास्त कर चुका था और आगे बढ़ने की योजना बना रहा था। अगले दिन कूच कर देना था। भारत के उत्तरी पश्चिमी सीमान्त के एक नगर के पास उसकी सेनाओं का डेरा था। सिकन्दर दिन भर की क्लान मिटाने के लिए

पास ही के एक गाँव में गया। साथ में कुछ थोड़े से अधिकारी भी थे। ऊँचे कन्धे, लम्बे कद और हट-पुट शरीर के इस युवक को देखकर गाँववासी ठिठक आये। वे कोई जल्सा मना रहे थे। जल्सा रोक दिया गया।

सिकन्दर ने अपने अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा कहलवाया-“जल्सा रोकने की कोई जरूरत नहीं है। आप लोग उसी प्रकार खुशियाँ मनाइये। हमारे सम्राट सिकन्दर महान भी आपको खुशियों में सम्मिलित होना चाहते हैं।”

और जल्सा फिर चलने लगा। मधुर वाद्य यन्त्र ढोल और नगाड़ों का शोर तथा उनकी घाप पर पड़ने वाले ग्रामीण युवक-युवतियों के पाँव- सब इतने मन मोहक लगे कि सिकन्दर अपनी सुध-बुध खो बैठा। बीच में प्यास लगी तो सिकन्दर के लिए पानी साया गया। उस समय तक रात भी गहराती जा रही थी और सिकन्दर के भोजन का समय भी हो चला था। सोचा गया यहीं भोजन भी कर लिया जाय। इसलिये सिकन्दर के लिए भोजन की माँग की गयी। खाना वहीं मँगवा लिया गया।

थोड़ी देर बाद दो ग्रामीण युवतियाँ एक धाली को कीमती चादर से ढक कर लाई और सिकन्दर के सामने खड़ी हुईं। भोजन की धाली चादर सहित सिकन्दर के सामने रख दी। चादर हटाकर ज्यों ही देखा तो सम्राट के क्रोध का पारवाह न रहा। जी चाहता था कि इस प्रकार मजाक करने वाली इन युवतियों का सिर धड़ से अलग कर दिया जाय। परन्तु भारतीयों के प्रत्येक विचित्र व्यवहार में एक गम्भीर अर्थ खोजने वाले युवा सम्राट ने युवतियों से जो पास ही खड़ी थी पूछा-“यह क्या हमने तो खाना मँगवाया था और आप ये क्या ले आयीं?”

एक युवती ने बड़ी निभीकता से उत्तर दिया- वही जो आप खाते हैं।

“हय वह खाते हैं?”

“हमने तो सुन रखा है मकदूनियों का सम्राट सिकन्दर महान सोने और चाँदी का भूखा है- उस धाली में सोने चाँदी के आभूषण थे- और यह भी कि वह अपनी इस भूख को मिटाने के लिए भारत आया हुआ है। सो आपकी सेवा में आपका भोजन।”

इस कटाक्ष से सिकन्दर विक्षिप्त हो उठा।

और आज जब अन्तिम चढ़ाई का उपस्थित हुई हैं तो वह धटका रह-रहकर बाद आ रही है। उसे याद आया कि वह अपने सैनिकों द्वारा जोर डालने पर ही भारत की जब यात्रा को बीच में रोककर वापस हो गया था। वह ही नहीं उसके सैनिक भी हिम्मत हार चुके थे। सिकन्दर ने वह आखिरी सौस जानकर अपने एक सेनापति को बुलाया और कहा- “देखो मित्र। जब मेरा अर्थी बनायी जाय तो मेरे दोनों हाथ अर्थी से बाहर निकाल देना ताकि दुनिया वाले यह जान सकें कि मैं कुछ नहीं ले जा रहा हूँ और उसके दोनों हाथ खाली थे।”-इतना कहकर उसने दम तोड़ दिया।

गुरु गरिमा

सिकन्दर और अरस्तू साथ-साथ जा रहे थे। रास्ते में नदी मिली। अरस्तू पहले पार जाना चाहते थे, पर सिकन्दर न माना और वहीं पहले उतरा, अरस्तू बाद में उतरे। पार जाने पर अरस्तू ने सिकन्दर से कहना न मानने का कारण पूछा। सिकन्दर ने जवाब दिया कि यदि सिकन्दर डूब जाता, तो अरस्तू ऐसे दस सिकन्दर बना सकते थे, पर अगर अरस्तू डूब जाते तो दस सिकन्दर मिलकर भी एक अरस्तू नहीं बना सकते थे।

शोषण से संघर्ष को दायित्व मानने वाले—

अर्नेस्ट गोवेरा

“जिन हालातों में मैंने पूरे महाद्वीप की राजा की उनमें मैं गरीबी, भूख और बीमारी के बहुत निकट सम्पर्क में आया और मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बीमार बच्चों को नीरोग नहीं किया जा सकता क्योंकि स्वस्थ रहने के लिए जो साधन आवश्यक हैं वे उन्हें प्राप्त होना तो दूर उनके दर्शन तक नहीं हो पाते। आधे पेट खाकर तन तोड़ मेहनत करने वाले लोग जो इन कामों से रोगी हैं केवल डाक्टरों के दम पर जिन्दा नहीं रह सकते। इस कारण मैंने यह निश्चय किया कि मुझे महाद्वीप पर से भूख और बीमारी को दूर करने के लिए डाक्टरी शोध के स्थान पर कुछ और करना चाहिए। कुछ इस प्रकार का जो कि ऐसी शोध से अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावकारी सिद्ध हो सके”- ये शब्द हैं क्यूबाई क्रान्ति के एक नायक गोवेरा के जो उस समय चिकित्सा व्यवसाय को घेरे के रूप में नहीं सेवा के रूप में ही अपनाये हुए थे। ये तो उन्हें क्यूबा की जनता ने अपनी श्रद्धा और प्रेम के कारण कहकर सम्बोधित किया था। अन्यथा उनका वास्तविक नाम था अर्नेस्ट गोवेरा डी० लासरगा।

अमेरिका के दक्षिण में कैरिबीयन सागर का छोटा-सा द्वीप है— क्यूबा। इसकी खोज अब से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व कोलम्बस ने की थी और काफी समय तक यह स्पेन के आधीन रहा। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में वहाँ आजादी आयी। परन्तु वहाँ की जनसंख्या की दशा में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। शोषक और शोषित जनों के बीच की खाई ज्यों की त्यों ही बनी रही— इतना ही नहीं वह और भी बढ़ती गयी। अर्नेस्ट ने एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों को तीसरी दुनिया का नाम दिया। जहाँ एक वर्ग के पास सब कुछ और दूसरे के पास कुछ नहीं। एक वर्ग के लोग गिरे थे और दूसरे के काले। एक मालिक या तो दूसरा गुलाम। दिन भर कड़ी मशक्कत करने के बावजूद शाम को चैन की नींद आ सके इतना भी भरपेट भोजन उन्हें नहीं मिल पाता था परिणामस्वरूप वे तरह-तरह के रोगों के शिकार बनते। गरीबों की सीमा रेखा से भी काफी नीचे स्तर का जीवन गुज़ारते थे।

और इस वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष का आह्वान किया अर्नेस्ट ने। न केवल आह्वान वरन् स्वयं भी सैनानी बनकर मैदान में उतरे और उस पूरी समाज व्यवस्था को बदल डाला जहाँ शोषण, अन्वय और अत्याचार को पोषण मिला था, वह फसल-फूलता था। उनका यह संघर्ष किसी देश, जाति या सीमा को परिधि तक ही नहीं बंधा रहा वरन् उन्होंने अपना यह लक्ष्य ही बना लिया कि जहाँ-जहाँ भी अन्वय और शोषण हो रहा है वहाँ-वहाँ संघर्ष उन्हें पुकारता है। वही कारण है कि क्यूबाई क्रान्ति के नायक होते हुए भी उन्हें समूची तीसरी दुनिया में अर्धविकसित देशों के सैनिक के रूप में बाँध दिया जाता है।

अर्नेस्ट गोवेरा का जन्म १४ जून, १९२८ को अर्जेण्टीना के रोसरिया नगर में हुआ था। उनके पिता न तो सम्पन्न स्थिति के कह जा सकते थे और न ही एकदम हीन-हीन। फिर भी जीविकोपार्जन के लिए उन्हें कठोर परिश्रम करना पड़ता था। इसलिए पुत्र जन्म पर उन्हें इस आशय से बड़ी खुरी हुई कि उनकी सहायता के लिए दो हाथ और आये। आज न सही भविष्य में कभी भी तो बेटा सहाय बनेगा। अभी वे दो वर्ष के ही थे कि उन्हें अस्थमा जैसी भयंकर बीमारी का दौरा पड़ा और जैसा कहते हैं कि दम दम के साथ ही जाता है यह रोग उनका अन्य तक साधी रहा। जोबन भर अस्थमा के मरीज रहते हुए अर्नेस्ट ने न केवल मुक्ति संघर्ष का नेतृत्व किया वरन् उसमें सैनिक बनकर स्वयं भी लड़ते रहे— यह कैसे सम्भव हो सका लोगों को जानकर आश्चर्य होता है।

बच सन्धि पार करने तक उनके जीवन में दो ऐसी घटनाएँ घटीं जिन्होंने अर्नेस्ट को डॉक्टर बनने के लिए प्रेरित किया। पहले उनकी दादी और फिर कुछ वर्षों बाद माँ का देहान्त एक ही रोग कैंसर से हुआ था और भी कई लोग इस बीमारी से मरते देखे थे पर दादी और माँ को इस रोग के कारण मरता देख उनके मन में यह लगन उत्पन्न हुई कि वे डॉक्टर बनेंगे। सन् १९४६ में उनका परिवार ‘आवस्त’ आकर रहने लगा और वे डाक्टरी पढ़ने लगे। उनकी संपन्न में तब तक यह बात आने लगी थी कि इस व्यापक रोग का कोई बड़ा कारण होना चाहिए और उस कारण को जानने के लिए उन्होंने दूर-दूर तक के गाँव छान मारे और वहाँ जाकर रहे, वहाँ के जन-जीवन का निकट रहकर अध्ययन किया। पूरे साल उनका यही क्रम रहता एक बार तो उन्होंने साइकिल पर सवार होकर पूरे अर्जेण्टीना को ही नाप डाला। फिर सोचा कि पूरे महाद्वीप का दौरा किया जाय अतः अपने एक साथी को लेकर निकल पड़े। मार्ग में खर्च के लिये तो कुछ रहता नहीं था। अतः तरह-तरह का काम कर, कभी होटलों में प्लेटें धोकर तो कभी कुलीगिरी कर अपना राह खर्च निकाला।

इसी यात्रा के दौरान उन्होंने एक कोढ़ियों की बस्ती में भी निवास किया और उनके दुःख-दर्द का अध्ययन

किया। इस यात्रा से ज्ञात अनुभवों ने उन्हें महान विचार मंथन में डाल दिया था। फिर भी वे कक्षा समाप्त कर जब लौटे तो डॉक्टरी पास करने के लिए दिन रात एक कर जुट गये। सन् १९५३ में उन्होंने डॉक्टरी की परीक्षा पास की और कुछ समय तक प्रैक्टिस भी जारी रखी। परन्तु यात्रा अनुभवों ने उन्हें उस निष्कर्ष बिन्दु पर पहुँचा दिया जिसका उल्लेख आरम्भ में कर चुके हैं। वे उन मूल कार्यों को दूर करने के लिए जो कृत संकल्प से परन्तु अभी तक मार्ग नहीं मिल रहा था।

मार्ग मिला उसी वर्ष डॉक्टरी छोड़ने के बाद बोलिविया में असफल क्रान्ति हुई। यद्यपि यह फिरोह असफल रहा परन्तु इसके कारण सरकार को अपने रवैये में काफी परिवर्तन करना पड़ा। क्रान्ति की असफलता के कारणों में तब तक पहुँचने के बाद अर्नेस्ट ने यह मत बनाया था कि देशवासियों के हृदय में गहराई तक क्रान्ति की विचारधारा जब तक न पहुँचायी जाय और जब तक उनका सहयोग न मिले तब तक क्रान्ति सफल नहीं हो सकती। बोलिविया में असफल क्रान्ति होने के बाद वे उस घेरा में भी गये और वहाँ की परिस्थितियों का अध्ययन किया। उन्होंने यह आवश्यक समझा कि क्रान्ति फिर से होनी चाहिए और पिछले धूलों को नहीं दोहराना जाना चाहिए।

और वे क्यूबा लौट आये। वहाँ उन्होंने क्रान्ति के लिये सर्वोत्तम मार्ग चुन गुरिल्ला युद्ध का और उन्होंने क्यूबा के वर्तमान प्रधानमंत्री फिदेल कास्ट्रो के साथ मिलकर एक गुरिल्ला दस्ता गठित किया। इस दस्ते में अभी सौ से भी कम सैनिक थे और उसमें भी प्रशिक्षण का अभाव था। फिर भी कास्ट्रो तथा अर्नेस्ट ने आशा व हिम्मत नहीं हारी और अपना पक्का धरा अल्जीरिया की पाली पर बोला लेकिन अनुभवहीनता और अपरिपक्वता के कारण यह हमला असफल रहा। वही नहीं विपक्षी सेनाओं के प्रत्याक्रमण में उनके तीन बौधार्थ से भी ज्यादा सैनिक मारे गये। किसी प्रकार वे तथा उनके कुछ अन्य बरिष्ठ साथी भाग निकले।

अर्नेस्ट बचपन से ही अस्थमा के रोगी थे। अतः उन्हें दवायें सदैव साथ रखना पड़तीं। महीनों तक अपने साथियों के साथ पुनः गुरिल्ला दस्ता गठित करने के लिए उन्हें स्थान-स्थान पर भटकना पड़ा। समय भर न खोज-पानी की व्यवस्था थी और न कहीं सोने बैठने का प्रयत्न। अपने दस्ते को पुनः संगठित करने के लिए उन्होंने किसानों की मदद प्राप्त करना आरम्भ किया। उन्हें मदद मिली थी, जिसके बल पर उन्होंने क्रान्ति की चरमवादी धुरी को मजबूत बनाया और गुरिल्ला दस्ता पुनः संगठित किया। युद्ध के दौरान इन लोगों ने अपरिपक्व अनुभवों के कारण कई गलतियाँ कीं जिनका परिणाम विफलता के रूप में भोगना भी पड़ा परन्तु उन्होंने अपनी प्रत्येक गलती से सबक सीखा और उसे न दोहराने का प्रयत्न किया।

साथ ही जनसाधारण को अपने साथ करने के लिए व्यावहारिक कदम भी उठाते रहे।

उन्होंने अपने प्रत्येक सैनिक को सचेत कर दिया कि किसान, मजदूर और स्वाधारण वर्ग के लोग ही नहीं शत्रु सेना के घायल सैनिकों और युद्धबन्दियों के साथ भी उन्हें मानवीय व्यवहार करना चाहिए। हमारी लड़ाई अन्याय से है अन्याय से नहीं। इस नीति का अच्छा परिणाम हुआ और धीरे धीरे युद्ध में विजय भी मिलती गयी यों कहा जाता है कि गुरिल्ला युद्ध में गुरिल्ले जीतते नहीं हैं शत्रु सेना मिरती है। इस अर्थ में प्रतिपक्ष कमजोर पड़ने लगा।

अन्ततः क्यूबा में पुरानी व्यवस्था का तख्ता उलट्टा और क्रान्तिकारी सरकार बनी। उन्हें औद्योगिक विभाग का अध्यक्ष बनाया गया फिर चार वर्ष बाद वे उद्योग मंत्री बने। इस पद पर रहते हुए उन्होंने क्यूबा के औद्योगिक विकास हेतु कई बड़े कदम उठाये। बाद में उन्हें राष्ट्रीय बैंक के संचालक पद पर भी नियुक्त किया गया जहाँ उन्होंने अपनी प्रतिभा का पूरा-पूरा लाभ जनता को दिया।

परन्तु १९६५ में अर्नेस्ट गोबेरा ने सदा के लिए क्यूबा को छोड़ दिया। कारण था उनकी अन्तरात्मा की यह ध्वनि जो हर स्थान पर संघर्ष के लिए चेरित करती थी जहाँ कि अन्त्य हो रहा है। [] लैटिन अमेरिका में क्रान्ति की आग फैलाने के लिए उन्होंने बुमकाङ्क गुरिल्ला योद्धा का जीवन स्वीकार किया। क्यूबा से विदा होते समय उन्होंने फिदेल कास्ट्रो-प्रधानमंत्री से कहा-अब देश के नेतृत्व की जिम्मेदारी तुम पर []। दूसरे देश जहाँ कि अन्त्या का कुचक्र चल रहा है मुझे संघर्ष के लिए-मदद के लिए पुकार रहे हैं। उस समय गोबेरा अपेक्षावस्था के करीब पहुँच चुके थे- पर इस अवस्था में भी उन्होंने अपने मुक्ति संघर्ष में सक्रिय योगदान को कितना महत्व दिया- अस्थमा के रोगी होते हुए भी यह उनकी ध्येय निहा का ही परिणामक है। वहाँ से अर्नेस्ट फिर बोलिविया चले गये और वहाँ लगभग एक साल तक काम करते रहने के बाद वे एक सैनिक टुकड़ी से मोर्चा लेते समय शकस्त हो गये और बन्दी बना लिये गये। उसी वर्ष उन्हें मृत्युदण्ड की सजा दे दी गयी और अर्नेस्ट गोबेरा सहादत को प्राप्त हुए।

जीवन भर क्रान्ति के लिए संघर्षरत रहते हुए वे आर्थिक दृष्टि से अफ़सन्न रहे। परन्तु अभावों से उन्हें असन्तोष नहीं था वरन् उन्हें धन से- निजी सम्पत्ति से एक प्रकार की भृणा-सी थी। क्रान्तिकारी सरकार के महत्वपूर्ण पदों पर रहने के बाद वे चाहते तो अपने अभावों को मिटा सकते थे परन्तु उन्होंने अपनी आवश्यकतायें इतने कम कर ली थी कि धन उनके लिए कोई महत्वपूर्ण चीज नहीं रह गया था। उन्होंने मरने के बाद अपने पत्नी बच्चों के लिए भी कुछ नहीं छोड़ा और इस स्थिति में बड़ा गौरव अनुभव किया। क्यूबा छोड़कर जाते समय उन्होंने फिदेल कास्ट्रो को जो विदाई पत्र

लिखा उसमें यह भी था कि - मैंने अपनी पत्नी और चार बच्चों के लिए एक पैसा भी नहीं छोड़ा और इस बात से मुझे बड़ी खुशी और गर्व का अनुभव हो रहा है ।

समाजवाद की स्थापना उन्होंने न केवल अपने देश में की बल्कि उसके आदर्शों को स्वयं भी आत्मसात कर लिया । सम्यक्ता पर सामाजिक अधिकार और इसका समान वितरण ही समाजवाद का आधारभूत सिद्धान्त है । अतः अर्नेस्ट गोवेरा ने इस आदर्श को अपने निजी जीवन में भी उतारा और धन के प्रति कभी आकर्षण अनुभव नहीं किया । अर्नेस्ट गोवेरा- जिन्हें लोग प्यार से चे गोवेरा कहते थे ने अपनी परम्परा के अनुयायियों के लिए संस्मरण और आवश्यक मार्ग निर्देशक साहित्य भी लिखा है । जिसका एक-एक शब्द अनुभूतियों के सागर से मोती की तरह निकला है । समाजवाद में ही सारी मनुष्य जाति का कल्याण देखने वाले चे गोवेरा तीसरी दुनिया के लिए प्रकाशस्तम्भ का काम करते रहेंगे ।

प्रेम, कर्तव्य विमुखता नहीं सिखाता-

संयोगिता

पृथ्वीराज चौहान को सुन्दरी संयोगिता क्या मिली, वह सबे कुछ भुलाकर उसी में लिप्त हो गये । न राज्य प्रबन्ध सुझता न राज्य की रक्षा करने की ही सुझ थी । उन्होंने अपने आपको अपनी दुनिया को संयोगिता के विलास-कथ तक ही समेट लिया ।

दीपक जलाया तो प्रकाश के लिये जाता है, किन्तु गृहस्वामी की असावधानी तथा अविवेक से वही घर को जलाकर राख भी कर सकता है । नारी का स्नेह पुरुष के जीवन में सरसता भरता देता है । इस प्रकार प्रकृति ने जीवन पथ की अगणित कठिनाइयों को पार करने के लिये पुरुष तथा स्त्री को सहयोगी बनाकर भेजा है ताकि यह यात्रा दुरूह न हो जाय । यदि साथी को पाकर भँकल ही भुला दी जाय, घबलना ही छोड़ दिया जाय तो इससे बड़ी विडम्बना और क्या होगी ?

पृथ्वीराज ऐसी ही मूल-भूलैक में कैसे थे । विलास का अखण्ड दौर चल रहा था । कब सूर्योदय होता है ? कब सूर्यास्त होता और पुनः रात्रि आ जाती इसका ध्यान ही नहीं था । देखते देखते आँखें बन्द जातीं पर नव परिणीता पत्नी के सौन्दर्य से आँख नहीं बटती । स्पर्श सुख की प्यास ज्यों ज्यों बुझाई जाती त्यों-त्यों अतृप्ति भी बढ़ती जाती । भरभूमि में पानी के लिए तरसते हरिण को दिखाई देने वाली मृगतृष्णा की तरह-अग्नि में भूत डुलकर बुझ पाने की मिथ्या धारणा की तरह वह कभी पूरी नहीं होती ।

मोहम्मद गौरी फिर भारत पर चढ़कर आ रहा था । कन्नौज के राजा जयचन्द ने उसे सहायता का वचन देकर

निमन्त्रित किया था, इसी कारण उसका यह साहस हो सका था । नहीं तो वह अपने ही बलबूते पर आक्रमण करने वाला न था । अनेक बार हारने तथा प्राणों के लाले पड़ जाने की बात वह भूल न था ।

पृथ्वीराज के परम मित्र, राज कवि चन्द तथा मन्त्री गुस्साय उन्हें आक्रमण की सूचना देने आये तो परिचारिका ने राजा की आज्ञा बतादी- "वे किसी से नहीं मिल सकते ।" अति आवश्यक कार्य बताकर राजा से पुछवाया पर उत्तर वही मिला । एक बार, दो बार नहीं पूरे तीन बार उन्हें निराश होना पड़ा ।

चौथी बार तो कवि चन्द अड़ गये । अभी नहीं तो फिर राजा से कभी मिलना न हो सकेगा । उन्होंने अपना सन्देश लिखकर भेजा-"कगार अप्पहं राज कर, मुँह चप्पह ईह बस। गौरी रत्नी तुअ धरनी तुअ गौरी रस रस (यह काम करने के लिये पूरा जीवन पड़ा है । गौरी तुम्हारी मातृभूमि को त्राक रहा है और तुम स्त्री के रस में डूब रहे हो ।)

कवि चन्द का सन्देश पढ़कर भी पृथ्वीराज को चेत नहीं आया । उसने सहलाया-"कह दो कवि चन्द ही लड़ ले।" इस कथन में पृथ्वीराज का अहंकार ही नहीं संयोगिता के प्रति गहन आसक्ति भी झोल रही थी । संयोगिता ने अपने पति की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा वह समझ न सकी कि वे अपने सच्चा राज कवि से मिलना क्यों नहीं चाहते । उसने पूछा-"क्या हुआ नाथ ?"

"कुछ नहीं गौरी ने हमारे देश पर आक्रमण किया है ।"

"तो फिर आप यहाँ क्या कर रहे हैं ?"

पृथ्वीराज उसे देखती ही रह गया । जो सच्चाई वह अपने जीवन के पैतृस वर्षों में नहीं जान पाया था उसे संयोगिता ने सहज रूप में बतल दी थी । भोग की कोई भीषण नहीं । वह तो सुरसा की तरह मुँह फैलाता ही रहता है । तेज अदिर की तरह चेतना पर छाकर विवेक को कुम्भित ही कर देता है । उन्हें परवाताप होने लगा । विदेशी आक्रमणकारी मेरी मातृभूमि पर जहा आ रहा है, हमें पद दलित करने आ रहा है । मैं भी कितना भूख हूँ कि नारी को इस रूप में देखता रहा जिसे वह कभी स्वीकार नहीं करती । संयोगिता के कथन ने एक क्षण में उसके उस कव को उजागर कर दिया ।

पृथ्वीराज के लिए एक क्षण भी उस विलास कक्ष में स्क्नन कठिन हो गया । वह कर्तव्य पथ पर चल पड़े ।

नैपोलियन की निराशा

नैपोलियन को बड़ी मानसिक वेदना का सामना करना पड़ रहा था । उसे न साथी मित्र की सराहना मिलती और न अपने से बड़ों का प्रेम । कहीं से प्रेरणा मिली कि वह कलम का उपयोग कर साहित्य की साधना करे ताकि अभीष्ट सम्पन्न मिले और प्रसिद्धि भी ।

१७ वर्ष की आयु में उसने कलम पकड़ी। तब वह एक सैनिक स्कूल में पढ़ रहा था। वहाँ उसे दुःख भरा जीवन व्यतीत करना पड़ रहा था। निदान अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरी करने के लिए पूर्ण साधना अध्ययन का आरम्भ किया। रूसी की दि सोशल कांफ्रेक्ट और ऐब्बे रेनाल की एक रचना जिसमें सामाजिक समस्याओं का अध्ययन था, पढ़ दासी। दूसरी अन्य पुस्तकें भी पढ़ीं और निश्चय किया कि मैं भी देश की समस्याओं पर समाधानपरक कोई ग्रन्थ लिखूँ। इसी विचार से उसने लिखना आरम्भ किया। लिख-काट, फिर लिख फिर काट इसी प्रकार काफी समय और श्रम समानकर उसने 'कार्सिका का इतिहास' नामक पुस्तक लिख डाली।

किसी अच्छे लेखक से संशोधन करवाने के लिए नैपोलियन ने यह पुस्तक ऐब्बे रेनाल को भेजी। बिना पढ़े ही उसने यह नोट लगाकर वापस भेज दी कि दुबारा गहरी खोज कर पुस्तक फिर से लिखो।

यह उत्तर पाकर नैपोलियन बड़ा हतुल्लाहा परन्तु फिर से वह दुबारा लिखने लगा। जब दुबारा मेहनत करने के बाद पुस्तक तैयार हुई तो नैपोलियन ने उसे फिर रेनाल के पास भेजा। रेनाल से पुनः वही निराशाजनक उत्तर मिला।

उसने इतिहास-लेखक का प्रवास ही छोड़ दिया और स्वतन्त्र लेखन करने लगा। सर्वप्रथम नैपोलियन ने प्रेम पर एक शोधपूर्ण निबन्ध लिखकर विद्वान लेखकों के पास भेजा तो वहाँ भी निराशा मिली।

अगली बार मानन्द विषय पर कलम चलाई पर इसके लिए नवयुवक लेखक को डाँट ही मिली।

उन्हीं दिनों एमेन्स की विद्वत परिषद् ने एक निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन किया। इस प्रतियोगिता में नई कलमों को भाग लेने के लिए प्रेरित किया गया था।

निबन्ध पर डेढ़ हजार लिब्रे का इनाम भी घोषित किया गया पर परीक्षकों ने इस टिप्पणी के साथ कि उसका निबन्ध इतना व्यवस्थित है और इतनी बुरी तरह से लिखा गया है कि इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया

आठ वर्षों तक लगातार कलम धिसने के बाद भी नैपोलियन को अपना स्वप्न पूरा होता दिखाई नहीं दिया तो दूसरे क्षेत्र में अपनी किस्मत आजमाने का फैसला किया।

नैपोलियन अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिये अन्य मार्ग तलाश रहा था। अन्ततः उसने रणक्षेत्र में अपनी प्रतिभा और सामर्थ्य को आजमाने का निश्चय किया और सेना में भर्ती होकर एक साधारण सैनिक के रूप में अपने महत्वाकांक्षी जीवन का आरम्भ किया। वहाँ वह अपनी क्षमताओं, मानसिक गुणों और प्रतिभा को निखारने में लगा। बढ़ते-बढ़ते वह अपने देश का नहीं अन्य देशों का सैन्य विभाग भी बन गया।

जब उसने कई प्रदेशों को जीत लिया तो एक अवसर पर कहने लगा कि बार-बार असफल होकर भी मैं ग्रन्थ-कार बनने का सपना देखता रहता तो सम्भवतः मैं कोई अदम-सा लेखक बन जाता पर शीघ्र ही, मुझे अपने स्वरूप और उसकी क्षमता का परिचय मिला तथा मैं अब महान विजयविजेता बन सका हूँ।

अपनी क्षमताओं को पहचानने और उनका विकास करने के लिए भी व्यक्ति को गहरी सूझ-बूझ की आवश्यकता है। किसी भी क्षेत्र में असफलता पर असफलता मिलने से निराश होकर बैठ जाने की अपेक्षा बेहतर है अन्य क्षेत्रों में प्रयोग किये जायें।

एक क्षेत्र में असफल होने पर दूसरे क्षेत्र में प्रवेश करके व्यक्ति अपनी महत्वाकांक्षाओं को निश्चित रूप से पूरा कर लेते हैं तथा उसकेखनीय सफलतायें अर्जित करते हैं।

बुद्धि, कर्म व साहस की धनी प्रतिभायें

बुद्धि, बल व साहस के धनी—

महाराणा राजसिंह

चारुमती ने पीपल की देहलीज पर पौंव रखा ही था, बचपन अभी छटा न था, रूपनगर की यह राजकुमारी एक ऐसा ही बचपन कर बैठी। दिल्ली से एक चित्र बेचने वाली स्त्री आई थी। राजकुमारी ने उससे चौर हिन्दू राजाओं के चित्रों के साथ औरंगजेब का चित्र भी खरीदा और उसी के सामने फाड़कर फेंक दिया। उसकी सहेलियों ने उसे पौवों तले रौंदा।

चित्र बेचने वाली ने ये दुकड़े ले ज़रकर औरंगजेब को दिखाए साथ ही चारुमती के रूप का भी वर्णन कर दिया। उस रूपरस-लुब्ध-भ्रमर के मुँह में पाने भर अक्ल। उसे क्या पता था कि इसी चारुमती के आगे उसकी शाहजादी और बेगम को बंदी बनकर आना पड़ेगा। उसने रूपनगर के राजा को इस आशय का संदेश भेज दिया कि राजकुमारी चारुमती का विवाह उसके साथ कर दें अन्यथा रूपनगर की ईंट से ईंट बजाकर रख दी जायगी।

चारुमती ने जब उसका यह संदेश सुना तो बड़ी चिंतित हुई। यह चिंत अधिक समय उसे चुलाती न रह सकी, उसने अपना निर्णय कर लिया कि राजपूत राजाओं में यदि कोई उसकी रक्षा करने में समर्थ हो तो वह उसे पति रूप में चरण कर लेगी अन्यथा विधवान करके प्राण त्याग देगी किन्तु अन्याय के सामने सिर नहीं झुकाएगी। सच है जिसे मृत्यु से भय नहीं उसे अन्यायी झुका नहीं सकता चाहे वह कितना ही सामर्थ्यवान क्यों न हो।

रूपनगर के राजा विक्रम बड़े सैन्य में पड़ गए। वे सम्राट से लड़ने में समर्थ नहीं थे तथा मरने से भय खाते थे। उन्होंने हिन्दू राजाओं के पास इस आशय से दूत भेजे कि वे राजकुमारी से विवाह कर लें। केवल मेवाड़ के राजा राजसिंह के पास संदेश नहीं भेजा क्योंकि उनसे पुराना शत्रुता थी। बाहरे संकुचित हिन्दू हृदय। जिसे विधर्मी के अन्याय के सामने धुटने टेक देने की सन्धाजनक स्थिति स्वीकार है पर अपने ही जाति तथा धर्म के किसी व्यक्ति के साथ समझौता करना स्वीकार नहीं।

राजा लोग सभी अपने सुदृ स्वार्थों के पक्षीभूत होकर अपने आपको सामर्थ्यहीन, हीन-वीर्य बना चुके थे। औरंगजेब से शत्रुता लेने का उनमें साहस नहीं था। वे इस विषय में अपनी अस्वीकृति देते गये। विक्रम सिंह ने आत्म-रक्षण बंदी का बलिदान स्वीकार कर लिया उसने औरंगजेब का आदेश स्वीकार कर लिया।

चारुमती ने फिर भी साहस नहीं छोड़ा। उसने विचार किया तो उसे एक राह सूझ गई। तत्कालीन हिन्दू राजाओं

में एक राजा उसे ऐसा दिखाने दिया जो उसकी रक्षा करके धर्म और स्त्री-गौरव की रक्षा कर सकते थे। वह थे मेवाड़ के राजा राजसिंह। उसने उन्हें एक पत्र लिखा जिसमें अपने ऊपर आने वाले संकट का वर्णन था और उनसे अपने उद्धार करने की प्रार्थना की गई थी। उसने अपने पिता की तरह संकीर्ण बुद्धि नहीं रखी। पत्र अपने विश्वस्त राज पुरोहित के हाथ उदयपुर भिजवा दिया।

राजा राजसिंह ने जब पत्र पढ़ा तो वे चारुमती की उस पर-पशु को बालना का शिकार होने से बचाने के लिये सहमत हो गये।

उन्होंने अपने सरदारों को बुलाया। उनसे मंत्रणा की। सभी सरदार सहमत थे कि राजकुमारी की रक्षा करना इमाता धर्म है। मेवाड़ भी यदि धर्मदा की रक्षा नहीं करेगा तो और कौन करेगा। महाराणा अपने इन सरदारों पर बड़े प्रसन्न हुए। उनका मस्तक गर्व से ऊँचा उठ गया, साहस द्विगुणित हो गया। न सही मेरे पास विशाल सेना, न सही मेरे पास गोला-बारूद, न सही मेरे पास तोपें और बंदूकें। मेरे सरदार जो मेवाड़ की आन व निर्बलों की रक्षा के लिए प्राण इधेली पर लेकर जूझते हैं वे इन जड़ वस्तुओं से कम नहीं हैं। सत्य का सहारा क्या मेरे लिए कम है। जब तक जी सकते हैं जान से जीयें, मनुष्य की गौरव गरिमा से जियें, अन्याय से संघर्ष करके जीयें और संघर्ष करते हुए वीर को मृत्यु भरे। अन्यायी कितना ही बड़ा और शक्तिवान क्यों न हो ईश्वर उसके साथ नहीं होता अतः उसे हारना ही पड़ता है।

अपनी सैन्य-शक्ति तथा सम्पदा का औरंगजेब को गर्व था। इसके चल पर उसने कई राजाओं से अपनी गलत इच्छायें भी पूरी करा ली थीं। वह समझता था कि सी गाँवों का एक छोटा-सा रूपनगर राज्य भला उसकी विशाल बाहिनी के आगे क्या टिकेगा। विक्रम सिंह ने जब अपनी बेटी उसे ब्याहना स्वीकार कर लिया तो वह फूला न समाया। उसे क्या पता था कि अन्याय तभी तक फूलता-फलता है जब तक उससे संघर्ष, विरोध करने कोई खड़ा नहीं होता? पर जब छोटा सा संगठन भी सम्पूर्ण मनोयोग व तन, मन और धन से इसके विरोध में खड़ा हो जाता है तो अन्याय चल नहीं सकता।

उसने अपनी विशाल सेना युवारक बेग के सेनापतित्व में रूपनगर भेज दी। राजा राजसिंह भी सतर्क थे। उन्होंने ऐसी योजना बनाई की साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। मेवाड़ को धन जन की हानि भी न हो और राजकुमारी की रक्षा भी हो जाय। वे राजस्थान के चप्पे-चप्पे से परिचित थे। दिल्ली से रूपनगर आने का एक ही मार्ग था। उस मार्ग पर एक सँकरे स्थान पर अपनी सेना की एक छोटी सी टुकड़ी चुन्दावत सरदार की कमान में

वहाँ औरंगजेब की सेना को रोकने के लिए भेज दी। स्वयं ५० सैनिक साथ ले वेष्ट बदलकर रूपनगर जा पहुँचे तथा युक्ति से चारुमती की झोली उदयपुर लेकर चले आये।

उदयपुर आकर राजसिंह ने चारुमती से कहा "आप जी चाहे जब तक हमारे संरक्षण में रहें, हमारे जीवित रहते औरंगजेब आपकी ओर आँख उठा कर भी नहीं देख सकता।" चारुमती मन में उन्हें अपना पति स्वीकार कर चुकी थी उसने उन्हें अपना मन्त्रध्वज बना दिया। इस पर राजा ने कहा "हमारे विवाह का आदर्श काम तृप्ति नहीं है। आप स्वच्छा से मेवाड़ की महारानी बनना चाहती हैं तो आपका स्वागत है। आप पर हमने किसी प्रकार का अहसान नहीं किया, यह तो हमारा धर्म था।"

राजकुमारी चारुमती के मन मंदिर में राजसिंह की मूर्ति देवता की भाँति स्थापित हो चुकी थी। ऐसे नर केसरी सा पति उसे अन्यत्र कहीं मिल सकता था? उसने मेवाड़ की महारानी बनना स्वीकार कर लिया।

औरंगजेब को जब अपनी सेना की असफलता का समाचार मिला तो वह आपे से बाहर हो गया। उसने मेवाड़ को संपूर्ण नष्ट कर देने की ठान ली। अपने सेना के चार भाग करके मेवाड़ को चारों ओर से घेरने के लिए वह स्वयं दिल्ली से चल पड़ा।

राजसिंह को इसकी आशंका पहले से ही थी। उसके स्वागत की तैयारी के पहले से किचे बैठे थे। प्रकृति ने उन्हें पहले ही बरदान दे रखा था। मेवाड़ राज्य के चारों ओर पर्वत श्रेणियों का परकोटा खिंचा था जिसमें अग्रे केवल चार मार्ग थे। वे चारों सँकरे दों थे। उन पर रण-बाँकुरे जवानों और मातृभूमि के लिए प्राण त्यागकर करने वाले तीर कमानधारी आदिवासी भीलों के द्वारा मोर्चाबंदी कर ली गई।

मुगल सेना को दर्रे में प्रवेश करने देकर दोनों तरफ से दर्रे के मुँह बड़े-बड़े पत्थरों से बन्द कर दिये और ऊपर से पत्थरों की वर्षा की गई तो आधी सेना तो खत्म हो गई शेष में से बहुत सारे भीलों के तीर व राक्षसों की तलवार से मौत के भाट उतर गये इस युद्ध में औरंगजेब भी बुरी तरह घायल हुआ। सारी मुगल सेना तितर-बितर होकर भाग खड़ी हुई।

किसी प्रकार गिरते-पड़ते औरंगजेब अपनी सीमा में आ सका। इतनी बुरी हार की कल्पना भी उसने नहीं की थी।

राजसिंह जानते थे कि औरंगजेब फिर आक्रमण करेगा जिससे इसकी तैयारी उन्होंने पहले ही करसी थी। उन्होंने अब की बार पहले वाली युद्ध-नीति नहीं अपनाई। उससे औरंगजेब परिचित हो चुका था।

दिल्ली जाकर औरंगजेब ने फिर सेना का संगठन किया और स्वयं अपने परिवार सहित और खजाने सहित उसके साथ चल पड़ा। विलासी और असंयम पुरुष चाहे कितनी ही सम्पदा और शक्ति का धनी हो पर संयम का बल उसके पास नहीं होता, जो व्यक्ति अपनी बेगम से कुछ

महीने भी दूर न रह सके, युद्ध क्षेत्र में भी जिसे विलास की तलब सग्री रहे भला वह राजसिंह जैसे संयमी व चरित्रवान पुरुष से क्या जीत सकता था।

ज्यों ही देवारी की सँकरी राह से वह विशाल वाहिनी गुजरी किसी ने प्रतिरोध नहीं किया। औरंगजेब हैरान हो गया। मेवाड़ सारा यौरान पड़ा था। न किसी खेत में फसल न गाँव में मनुष्य। उदयपुर सूना पड़ा था महल भी सूने पड़े थे। क्या हुआ? सब कहाँ गये? किससे लड़े। उसका क्रोध निर्जीव मन्दिरों व मूर्तियों पर उतरा।

वह वापस लौट पड़ा देवारी की सँकरी राह से सारी सेना बाहर निकल गई, पीछे रह गई रसद और बेगमों की पालकियाँ। वहीं छिपे हुये महाराज की सेना ने उन पर अधिकार कर लिया और उदयपुर लेकर चले गये। औरंगजेब चूहेदानी में फँस चुका था न खाने को रसद और न पीने को पानी ही उजाड़ घन में था। शेष सेना बाहर निकल चुकी थी और उसे घाटी में फँसाकर दोनों तरफ से बन्द कर दिया गया था।

सैनिक भूखों मरने लगे। पर्वत पर भील तीर कमान लिये छड़े थे। मेवाड़ के द्वार पर रणबाँकुरे राजपूत दीवार बन कर अड़े थे। औरंगजेब इतना निराश हो गया कि वह अपनाजनक संधि करने पर विवश हो गया। उसने कभी मेवाड़ पर आक्रमण न करने का वचन दिया।

बेगम व जेबुमिसा शाहजादी को उदयपुर में चन्दिनी के रूप में कई दिनों तक रहना पड़ा। संधि की यह भी शर्त थी कि औरंगजेब के दिल्ली पहुँचने पर ही उन्हें भेजा जाएगा। उनके साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं किया गया—सम्मान सहित रखा गया।

औरंगजेब ने तीसरी बार भी मेवाड़ पर आक्रमण किया पर इस बार भी उसे असफल होना पड़ा। वह शिवाजी व राजसिंह से इतना परेशान हो चुका था कि इसका जीना कठिन हो गया था। उसकी सारी जिन्दगी इसी में बीत गई। सत्य है जो व्यक्ति दूसरों को दुःख देना ही चाहता हो वह स्वयं सुखी कैसे हो सकता है?

महाराजा राजसिंह सदा-सर्वदा सत्य-पथ के पथिकों को, अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने वालों की प्रेरणा, प्रकाश देते रहेंगे। अन्याय का प्रतिकार करने के लिये थोड़े ही सही संवर्द्ध रूप से प्रतिकार होते रहेंगे तथा धर्म की पुनर्स्थापना ऐसे ही सहसी योद्धा अपने बुद्धि-बल से करते रहेंगे।

लुटेरे गजनवी का मानमर्दन करने वाले राजा संग्राम राज

विभूतियों के स्वामी की चित्त-वृत्तियाँ कुमारी पर चल पड़ीं तो सर्वनाश उपस्थित हो गया। वह स्वयं न जीवन भर चैन से सोया न करोड़ों को उसने चैन की नींद सोने दिया। उसने भीतिक सम्पदा से सुख पाना चाहा। ज्यों ज्यों धन मिलता गया त्यों-त्यों उसकी भूख बढ़ती गई। उसका

१.३ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

दीन ईमान केवल पैसा रह गया, पैसे के भूखे हजारों नर पशुओं की विशाल बाहिनी सजा कर वह एतिसागर में लूट मचाने लगा। जिधर उसका रुख फिर जाता उधर कितने ही गाँव शमशान बन जाते, जीवन-मृत्यु में और मुस्कान आँसु में बदल जाती।

गजनी का यह दुर्दान्त दैत्य-सुटेरा महमूद गजनवी सत्रह बार भारत में लूट-मार करने आया। कई बार वह अकूत धन सम्पदा लूटकर ले गया। उसकी इस सफ़लता का अर्थ यह नहीं था कि भारत में सभी मिट्टी के पुतले ही रहते थे। चौराहा तथा बुद्धि कौराहा में भारतीय नरेश उससे कम नहीं थे न कायर ही थे। ऐसे नर-रत्नों की कमी नहीं थी जिन्होंने उसके एक बार नहीं तीन बार दाँत खट्टे किये थे। उसे पराजय का मुँह ही नहीं देखना पड़ा वरन् जान बचाकर भागना पड़ा था। ऐसे ही पराक्रमी राजाओं में काश्मीर के राजा संग्राम राज का नाम अग्रणी है।

राजा क्षेमगुप्त की मृत्यु के पश्चात् काश्मीर राज्य के सिंहासन पर रानी दिवा बैठी। रानी चौराहा, शौर्य, प्रबन्ध कौराहा, धैर्य जैसे अनेक गुणों की स्वामिनी थी। उसने आजीवन काश्मीर के शासन को सुव्यवस्थित रूप से चलाया। मनुष्य में हजार गुणों के साथ एक अक्षुण्ण हो तो वह सब पर पानी फेर देता है। उसकी कीर्ति कलंक उस कालिमा से धूमिल हो जाती है। रानी दिवा का चरित्र शिथिल था। कामुकता के घुणित दोष के कारण वह निंदा की पात्र ही नहीं बनी वरन् वह ऐसे दुष्कर्म भी कर बैठी जो माँ होकर कोई नहीं कर सकती। वह पतन के मार्ग पर चलकर इतनी भीखे गिरी कि उसने अपने पुत्रों तथा भौत्रों का वध करवा दिया।

चार दिन की जवानी के बाद बुढ़ापा आया। मृग शृङ्गा की तरह मन की हविस तो व्योम की त्यों थी। भला आग में भी डालने से कभी वह बुझी है? संयमहीन जीवन कभी सुख का हेतु नहीं होता। उसने अपने पिछले जीवन का सिंहावलोकन किया तो उसके पापों के पहाड़ के भीचे अपनी आत्मा को सिसकाते पाया। अपनी भूलों पर वह फूट-फूट कर रोयी। अब क्या ही सकता था। उत्तराधिकारी के लिए उसे अपने भाई उदयराज के आगे झोली फैलानी पड़ी।

राजा उदयराज के कई पुत्र थे। उनमें से एक को उसे अपना उत्तराधिकारी चुनना था। सब राजकुमारों को उसने अपने यहाँ बुलाया तथा उनकी परीक्षा ली। एक सेवों से भरा टोकरा उसने उन राजकुमारों के नीचे रख दिया तथा कहा कि जो सबसे अधिक सेव लेकर उसके पास आवेगा उसी को वह अपना उत्तराधिकारी चुनेगी। सेव सब राजकुमार अधिक सेव लेने के लिये सड़ने लगे। संग्राम राज चुपचाप खड़ा रहा। वे लड़ने में व्यस्त थे कि मौका देखकर वह सबसे ज्यादा सेव उठाकर रानी के पास आ पहुँचा।

संग्राम राज गुलराज घोषित किया गया। युवराज बन जाना एक बात थी और उसकी पत्नी उत्पन्न करना दूसरी

बात। संग्राम राज ने एक योग्य राज्य की पत्रता विकसित करना आरम्भ कर दिया। वह युद्ध कला, शासन-प्रबन्ध, नीतिशास्त्र, धर्म शास्त्र आदि विद्याओं में पारंगत हो गया।

१००३ में रानी दिवा की मृत्यु हो गयी। संग्राम राज सिंहासनारूढ़ हुए। काश्मीर राज्य की स्थिति उस समय अत्यन्त ख़राब हो चुकी थी। प्रजा की भ्रष्टा रानी की चरित्रहीनता के नरमपि शिथिल हो चुकी थी। सेनापति तुंग योग्य, सहस्रवी तथा प्रबन्धक योद्धा था। परन्तु उसे स्वयं पर बड़ा गर्व था साथ ही वह भी रानी दिवा की तरह ही शिथिल चरित्र कामुक था। इसके विरुद्ध प्रजा में असंतोष उपड़ा रहा था।

इन्हीं दिनों गजनी के सुटेरे दैत्य महमूद गजनवी के आक्रमण होने आरम्भ हो गये थे। वह दो बार पंजाब को पदाक्रांत कर चुका था। राजा जयपाल अपनी हार से इतना दुखित हुआ कि उसने आत्म-हत्या कर ली। महमूद के आक्रमण का काश्मीर राज्य को भी भय था। सारा उत्तर भारत संगठन के अभाव में भयाक्रांत हो रहा था जिसकी सहर काश्मीर तक पहुँच चुकी थी।

इन विकट परिस्थितियों में राजा सिंहासन काँटों की सेज बना हुआ था। इस काँटों की सेज को संग्राम राज ने स्वीकार किया। उसने धीरे-धीरे काम लिया। राज्य में शांति बनाये रखने के लिये उसने प्रजा के प्रतिनिधियों को अपने पास बुलाकर उनसे संव्रण की। वे तुंग को सेनापति पद से हटाना चाहते थे। राजा संग्राम राज अपनी बुद्धि को बचन दे चुका था कि वह तुंग का कोई अनिष्ट नहीं होने देगा। पर प्रजा के सच्चे आग्रह को उसने स्वीकार कर के तुंग को सेनापति के पद से हटा दिया। उसने बचन नहीं बिलेक का ध्यान रखा तथा प्रजा को सुखसम दिला।

प्रजा पर उन दिनों ब्राह्मण वर्ग का प्रभुत्व था। ब्राह्मण के हाथों में होश आवश्यक भी है किन्तु जब जाति का आधार कर्म न रहकर जन्म मान लिया तब समाज में विमूर्खलता आने प्रारम्भ हो गया। वे तथाकथित ब्राह्मण संग्राम राज के लिये सिर दर्द बन गये। उन्होंने पदच्युत सेनापति तुंग के महल में एक ब्राह्मण का दाह-कर्म करने का प्रपंच रचा। राजा कलह इन सिरफिरी का नेता था। उसने यह निर्णय दिया। भूतक तुंग के अत्याचारों से भरा है अतः उसे उसके महल में ही जलाया जायेगा। जनता इन तथाकथित धर्म के ठेकेदारों से आतंकित थी। संग्राम राज ने देखा कि पानी अब सिर से ऊपर चढ़ आया है। प्रजा उसके पास में थी। उसने इन प्रपंच रचने वालों को पकड़ कर यह कुकृत्य बन्द कराया।

१००९ में महमूद फिर पंजाब पर चढ़ आया था। राजा जनकपाल ने उसका मुकाबला किया तथा उसे पीछे हटने को विवश कर दिया। जनकपाल की विजय निश्चित थी पर उसका हाथी बिगड़ गया जिसका परिणाम यह हुआ कि वह हार गया। महमूद ने जी भर कर लूट मचाई, गाँव जलाये, मंदिर तोड़े।

यह खबर जब काश्मीर पहुँची तो संग्राम राज बहुत दुःखी हुए । उन्होंने संकल्प लिया कि अब जब भी वह पंजाब पर आक्रमण करेगा काश्मीर उसकी जी-जान से सहायता करेगा । राज्य में आंतरिक विग्रह नहीं उठ सके होते तो वह भारत के सब राजाओं को एक सूत्र में पिरो कर अपने राष्ट्र के बर्ग तथा संस्कृति की रक्षा के लिये एक सुदृढ़ दीवार खड़ी करता । उन्होंने अन्य राजाओं के पास अपने दूत भी भेजे । उन दूतों ने उन्हें यही संदेश दिया कि व्यक्तिगत मिथ्याभिमान से ऊपर उठकर हम संगठित होकर ही इस प्रकार के आक्रमणकारियों को सबक सिखा सकते हैं ।

शासन सूत्र ग्रहण करते ही संग्राम राज ने अपनी सेना को सुव्यवस्थित किया, दुर्गों की भरमर करवाई तथा सेना वृद्धि की । नियमित अभ्यास प्रशिक्षण की व्यवस्था बनाई ।

उनका विश्वास था कि मनुष्य में सत्यार्ग पर चलने की स्वाभाविक इच्छा होती है । यदि इस प्रवृत्ति को निरन्तर पुष्ट किया जाता रहे तो मनुष्य कैलाशों के शिखर पर चढ़ता जाता है । इसमें हिलारि चलने पर बिना मौजे धर्तन की तरह वह पैदा भले ही हो काय पर उसकी वह वृत्ति मरती नहीं है । इस विश्वास के कारण ही वह सेनापति हुज्ज तथा महाराणी विद्या को अपने अनुकूल चला सका था । हुज्ज को अपदस्त्र करने पर भी उसके प्रति संग्राम राज के व्यवहार तथा अस्वीयता में कोई कमी नहीं आयी तथा हुज्ज उसका विरोधी नहीं बना ।

१०१४ में महमूद गजनवी फिर पंजाब पर चढ़ आया । उस समय अजलपाल का पुत्र त्रिलोचनपाल वहाँ का शासक था । संग्राम राज ने हुज्ज के नेतृत्व में एक विशाल सेना उसकी सहायता के लिये भिजवा दी । दोनों सम्मिलित सेनाएँ जब उस लुटेरे से भिड़ीं तो उसे छटी का दूध पाद आ गया । वह इन वीरों का मुकामला नहीं कर पाया । महमूद के पाँव ठंढा गये ।

लुटेरे की न कोई नीति होती है न कोई मर्यादा । वह कुछ समय के लिये पीछे हट गया, काश्मीर की सेना के लौटते ही असावधान त्रिलोचनपाल पर चढ़ बैठा । जिसका परिणाम यह हुआ कि त्रिलोचनपाल द्वारा और उसे काश्मीर में संग्राम राज के संरक्षण में आना पड़ा ।

गजनवी काश्मीर पर पहले ही दाँत पीस रहा था । वह चोट खाये सौँप की तरह भयानक हो उठा था । वह तोपी नदी को पार करके काश्मीर की ओर बढ़ा । उसे क्या पता था कि वहाँ संग्राम राज उसकी प्रतीक्षा में ही बैठा है । अब तक उसका शूरवीरों से तो फलता पड़ा था पर एक चरित्र-बल सम्पन्न विवेकवान शूरमा से भिड़ने का यह प्रथम अवसर था ।

एक समय इसी पक्ष से चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत आया था । ह्वेनसांग आत्मा की प्यास, ज्ञान की भूख से प्रेरित होकर आया था । भारतीय सभ्यता, संस्कृति तथा आत्म-विज्ञान को पाकर वह अन्य हो गया । अमीर

कहलाने वाला यह डाकू धन की प्यास लेकर आया और जीवन पर अतृप्ति की आग में झूलसता रहा । अन्त समय उसे अपनी भूल ज्ञात हुई तथा उसने उसे स्वीकार किया । अपने खाली हाथ उसने जनाजे के बाहर रखवाए ताकि ऐसी भूल फिर कोई न करे ।

संग्राम राज तथा त्रिलोचनपाल दोनों अपनी सेना सहित लोहर के दुर्ग में पहुँच गये तथा मोर्चेबन्दी कर ली । लोहर का अनेक दुर्ग सामरिक महत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण था । यही नाका था जहाँ से काश्मीर में प्रवेश होता था । इस दर्रे को पार करके पूँछ धाटी में प्रवेश किया जाता था ।

ज्यों ही गजनवी की विशाल लुटेरों की भीड़-बहुत बड़ी सेना किले के पास आयी । भारतीय वीरों के चाणों की भीषण वर्षा ने उसका रास्ता रोक दिया गया । दो महीने तक यह सेना आगे न बढ़ सकी । फिर ठंड का मौसम आ गया । काश्मीर की जाटियाँ वर्ष से जम गयीं और गजनवी चूहेदन्त्री में फँस गया ।

उसे भूखे-प्यासे आधी से अधिक सेना गँवाकर वापस लौटना पड़ा । लौटते हुये पर भारतीय सिंह झपट पड़े और उन्हें पीर पंखन तक छेदे आये, जहाँ पृत्यु उनके लिए अँखे बिछाए बैठी थी । बड़ी कठिनाई से गजनवी अपना सा पूँह लेकर खाली झोली अपनी राजधानी की लौट सका ।

गजनवी जाकर फिर उसने लुटेरों की एक सेना इकट्ठी की । सोने की पिड़िया आकर लुटेरे के लिए भूखे गने बर्बरों की कमी क्या थी फिर १०१९ में वह काश्मीर पर चढ़ आया । इस बार इसने पूरी तैयारी के साथ काश्मीर पर आक्रमण किया । उसकी राह वही पुरानी राह थी । कोपा पार करके फिर लोहर दुर्ग को जीतने के सपने सजाये वह आ पहुँचा । इस बार भी उसे हार खानी पड़ी तथा खाली हाथ अपनी सेना गँवाकर भाग खड़ा होना पड़ा । इस बार घेरा पूरे सप्ताह महीने तक चला । फिर ठंड और भूख ने गजनवी की तीन चौथाई सेना को लील लिया ।

बड़ी नहीं संग्राम राज अन्य अरबों के आक्रमणों के समय भी चट्टान बमकर भारत की सीमा पर अड़ा रहा । अपने देश, धर्म व संस्कृति की रक्षा के लिये उसने अपना पूरा जीवन अर्पित कर दिया । इस प्रकार के व्यापक प्रयत्न यदि अत्याचारी, लुटेरों तथा अन्यायियों के विरुद्ध होते रहें तो वे कभी सिर उठाने का साहस नहीं कर सकते । राजा संग्राम राज ने ठेठ सिन्धु में जाकर अरबों के विरुद्ध युद्ध किया तथा उन्हें वापस छेदेगा ।

इतिहास साक्षी है कि कुमार्ग पर चलने वाले महमूद की सफलता का कारण उसकी शक्ति नहीं थी उसकी सफलता के कारण वे भारतीय राजाओं की आपसी फूट तथा उनका अहंकार । संग्राम राज के आघात देने पर कोई साथी नहीं आये । इससे वह निराश नहीं हुआ । अकेले ही लड़ा । लड़ा ही नहीं उसे तीन बार पराजित करके छेदेगा । अदर्यों के पक्ष पर कर्तव्य तथा लोकमंगल व राष्ट्र की रक्षार्थ अकेले भी उनकी तरह लड़ा जा सकता है तथा विजय पायी जा सकती है ।

स्वातन्त्र्य सेनानी—

नाना साहब पेशवा

१८२९ पेंशन प्राप्त पेशवा बाजीराव ने अपनी बसीयत लिखी। इस बसीयत के अनुसार पेशवा की पेंशन तथा सम्पूर्ण सम्पत्ति का उत्तराधिकार उनके दसक पुत्र नाना साहब को मिलने वाला था। उस समय तो अंग्रेज अधिकारियों ने इस बसीयत का विरोध नहीं किया। १८५२ में पेशवा की मृत्यु हो गई तब अंग्रेजों ने इस बसीयत को अपनाव ठहराया।

नाना साहब परीध यात्रा-पिता की संतान थे। उन्हें अंग्रेजों की पेंशन का लोभ नहीं था किन्तु अंग्रेजों की यह अनीति उन्हें अच्छी नहीं लगी। स्वार्थ के लिये नहीं अन्याय के प्रतिकार को अनिवार्य समझकर वे अपना यह अधिकार पाने का प्रयास करने लगे। १८२७ में लाई हेस्टिंग्स तथा पेशवा बाजीराव को जो संधि हुई थी उसकी शर्त थी कि पेशवा के राज्य का प्रबन्ध अंग्रेज सम्हालेंगे तथा पेशवा तथा उसके उत्तराधिकारी को ८ लाख रुपये पेंशन के रूप में देते रहेंगे। इस शर्त के अनुसार नाना साहब को पेंशन पाने का पूरा अधिकार था।

अंग्रेज पदाधिकारियों से पेशवा नाना साहब ने अपने अधिकारों की माँग की। कम्पनी ने उनकी इस माँग को ठुकरा दिया। अंग्रेजों ने इसी प्रकार अधिकारों भारतीय राजाओं को थोखा देकर उनके पास से राज्यधिकार छीन कर उन्हें पंगु बना दिया था। इस प्रकार के विश्वासपाती को दण्ड देने के लिए नाना साहब कुत संकल्प हो गये। अंग्रेजों के पास हुकूमत थी, बड़ी सेना थी, उनके सहायक भी बहुत थे उनके सामने नाना साहब की कुछ भी स्थिति नहीं थी। वह कानपुर के पास बिठूर में रहते थे। उनके पास केवल पाँच हजार सैनिक थे। इतनी बड़ी शक्त से टकराना अपने विनाश को बुलाना था। नाना साहब को विनाश का भय नहीं था। अन्याय का प्रतिकार मानव भव का धर्म होता है, इस धर्म से विमुख होकर जीना-बचना जीना है वह तो मृत्यु से भी बदतर जीवन है।

नाना साहब ने अंग्रेजों से लड़ने की ठान ली। उन्हें आशा नहीं थी कि उन्हें बिना लड़े न्याय मिल जायेगा फिर भी वे समझौते का प्रयास करते रहे। अपने प्रतिनिधि अजीमुल्ला को उन्होंने इंग्लैण्ड भेजा। इंग्लैण्ड जाकर अजीमुल्ला ने सम्राट की अदालत में कम्पनी के इस अन्यायपूर्ण निर्णय के विरुद्ध अपील की। यह अपील खारिज हो गई तथा कम्पनी के अधिकारियों का निर्णय ही मान्य रहा। नाना साहब ने अंग्रेज पदाधिकारियों से भी व्यक्तिगत प्रयासों के माध्यम से अपना निर्णय बदलवाने का प्रयास किया पर अंग्रेज नहीं मने।

अजीमुल्ला इंग्लैण्ड से असफल होकर लौटा। नाना साहब ने उससे कहा कि “मुझे वही आशा थी कि यह

अपील मंजूर नहीं होगी।” अंग्रेज समझते हैं कि भारत के सभी राजा पंगु हो चुके हैं किन्तु अब वे ही देखेंगे कि अभी भी उनमें अन्याय का प्रतिकार करने की क्षमता है।

नाना साहब ने देशव्यापी क्रान्ति की योजना बनाई। अंग्रेजों का जो नग्न रूप नाना के सामने आया था उससे भारत के राजा तथा प्रजा दोनों कभी प्रसित हो चुके थे। नाना साहब जानते थे कि अब तक कोई व्यक्ति साहस करके आगे नहीं बढ़ा था इस कारण वे चुप बैठे हैं पर यदि उन्हें जागरूक एक सूत्र में पिरोया जाय तो वे इस विदेशी अग्रण को उखाड़ कर फेंक सकने में समर्थ होंगे। जब तक प्रत्येक राजा अपने स्वार्थ के लिए ही लड़ा था। व तो उसमें राष्ट्र के एकात्म की भावना थी, न अन्य नरेशों का सहयोग ही मिला था। अंग्रेजों को भी यह अपनी ही तरह एक नरेश भर मानते चले आ रहे थे। नाना अब उनको अंग्रेजों का वास्तविक रूप बताने वाले थे, जो महा भवानक था।

न्याय के पक्ष में लड़ने वाले असफलता के भय से अपने निर्णय को स्थगित नहीं करते। उनके सामने तो एक ही लक्ष्य होता है अन्याय का प्रतिकार। अन्याय सहना अन्याय करने से कई गुना बड़ा अपराध है। इसका यह अर्थ नहीं कि नाना साहब की योजना सुनियोजित न थी। नाना साहब ने अंग्रेजों के विनाश के लिए सुनियोजित क्रान्ति का ताना-बाना बना। उन्होंने अंग्रेजों के आत्याचारों तथा घृणित उद्देश्यों को बताते हुए भारतीय नरेशों को उनके विरुद्ध क्रान्ति करने के लिए संगठित होने के लिए आह्वान किया। जनता में प्रचार करने के लिए गुप्त वेशधारी प्रचारक भेजे। भारतीय सैनिकों में देशभक्ति जगाने के लिये संदेश वाहक भेजे।

अन्याय तब तक ही फलता-फूलता है जब तक उसका प्रतिकार करने के लिए कोई संगठन उठ खड़ा नहीं होता। अंग्रेज भारतीयों को मरा हुए समझे बैठे थे। उन्हें क्या पता था कि उन्हें जिस क्रान्ति का पता नहीं है, सुनियोजित ढङ्ग से कोई उसका सूत्र संचालन कर रहा है। देखते ही देखते नाना साहब को पत्रों के उत्तर प्राप्त होने लगे। नाना साहब को अब पता लगा कि व्यक्ति अपने विचारों से ही छोटा और बड़ा होता है। कल तक वे पेंशनन्यायता राजा भर थे पर आज वे भारत के स्वातन्त्र्य संग्राम के दृष्टा हैं कितने ही नरेश उनकी योजना के अनुसार काम करने को तत्पर हो उठे। अंग्रेजों ने यदि उसके पौरुष को चुनौती नहीं दी होती तो आज वे इस प्रकार स्त्रियों की ब्रह्मा के पात्र नहीं बन सकते थे।

नाना साहब इस क्रान्ति के सूत्रधार बने। इस काम में अजीमुल्ला खॉ उनका दाहिना हाथ बना। यह प्रथम प्रयास था जबकि हिन्दू मुसलमानों ने सम्प्रदाय भेद को भिटाकर भारत की मुक्ति के लिए संगठित रूप से प्रयास किया। अंग्रेज इतिहासकार सर जान के इस कथन से “क्रान्ति के लिये किये गये प्रयासों की व्यापकता का दर्शन होता है।” यहीनों से नहीं वर्षों से अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध

समस्त देश में क्रान्ति की आग लगाई जा रही थी। नाना साहब के दूत क्रान्ति की आग बढ़ाने वाले पत्रों को लेकर सारे देश में भूम रहे थे। बड़ी सावधानी तथा दूरन्देरी के साथ इन पत्रों में लोगों को समझाने की बातें लिखी होती थीं। देश के भिन्न-भिन्न धर्मालम्बियों और परस्पर विरोधी नरेशों तथा नवाबों को बड़ी समझदारी के साथ तहेरब की पूर्ति के लिए तैयार किया जाता था।

इस क्रान्ति के सूत्र संचालन के लिये नाना साहब ने दिन रात एक कर दिये। एक तरफ क्रान्ति के लिए जनता तथा राजाओं को ठकसाया जा रहा था दूसरी तरफ अंग्रेजों के साथ नाना का व्यवहार भी मैत्रीपूर्ण होता जा रहा था। जब कई राजा, नवाब इसके लिए सहमत हो गये तब वह अवीमुल्ला के साथ उनसे भारत चीत करने के लिए तीर्थ यात्रा के बहाने सारे देश में भ्रमण के लिए निकले। जहाँ भी वे गये इनका हार्दिक स्वागत हुआ। अंग्रेज कदाधिकारियों से मिलना नाना साहब नहीं भूले। जहाँ भी जाते वहाँ इनसे अवसर मिलते।

इस क्रान्ति के लिए कितना प्रचार किया गया था यह इस बात से ही स्पष्ट हो जाता है कि जनता में अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए इतना जोर उत्पन्न हो चुका था कि वह निश्चित समय के पूर्व ही भड़क उठी। क्रान्ति की तिथि ३१ मई तब थी पर यह ६ मई को ही आरम्भ हो गई थी। यह तिथि मुख्य-मुख्य लोगों को ही बताई गई थी। साधारण जनता को तो प्रतीक्षा करने को ही कहा गया था।

एक साथ एक ही दिन सारे भारत में क्रान्ति होने वाली थी। इसी तिथि पर यदि यह क्रान्ति होती तो अंग्रेजों को सम्भलाने का भीका नहीं मिलता। बैरकपुर के सैनिकों के विद्रोह ने समय से पूर्व ही इसे आरम्भ कर दिया। दूसरे क्रान्तिकारी भी चुप नहीं रह सके। भिन्न-भिन्न स्थानों पर अलग-अलग तिथियों की क्रान्ति हुई। असमय क्रान्ति के फूट पड़ने पर भी लोगों ने अंग्रेजों को दिन में ठोरे दिखा दिये। अंग्रेज परिवारों को जान बचाकर अपने देश भागना कठिन लग रहा था।

कानपुर में क्रान्ति की छाबरें आ पहुँची। अंग्रेज लोग भय से पीले पड़ गये। उन्होंने इस देश को जी धरके लूटा था, अत्याचार किये थे, भारतवासियों को अपमानित किया था। उनके कुकर्ष ही आज क्रान्ति बनकर उन्हें डसने आ रहे थे। क्रान्ति इस बहुर से नियोजित की गई थी कि इसकी सूचना नाना साहब के साधियों को पहले मिला जाय तो उसके दो तीन दिन बाद अंग्रेजों को पता लगता था।

नाना साहब अब ३१ मई की प्रतीक्षा नहीं कर सके। उन्होंने कानपुर पर आक्रमण कर दिया। विप्लवी सैनिक दुकड़ियाँ उनसे आ मिली थीं। उन्होंने देखते ही देखते खजाने तथा गोला-बारूद पर अधिकार कर लिया। अंग्रेज सेनापति डीलर को भागकर किसी में शरण लेनी पड़ी।

कुछ दिनों किले के सहारे रहा पर नाना के आगे वह ठहर न सका। उसे अस्त्र समर्पण कर देना पड़ा। कानपुर पूरी तरह नाना के अधिकार में आ गया था। दिल्ली तथा अन्य स्थानों पर पहले ही क्रान्तिकारियों का अधिकार हो चुका था।

नाना साहब के पिता धर्म-निष्ठ ब्राह्मण थे। कल्कत्ता से ही उन्होंने हिन्दू धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया था। गीता उनका प्रिय धर्म ग्रन्थ था। गीत पूजक नाना के मनपन में ही शिवाजी आदर्श रहे। यह युद्ध उनके दैनिक नित्यकर्म की तरह ही था। इस धार्मिक विश्वास से उन्हें जो बल मिला उसी का परिणाम था कि नाना साहब ने दुःख कष्टों का परवाह नहीं की तथा राष्ट्र में नवीन प्राण फूँके।

२० जून, १८५७ कानपुर के सत्ती चौक घाट पर ४० नावें गंगा तट से लगीं। उनमें अंग्रेज परिवारों को बिठाकर इलाहाबाद भेजा जाने वाला था सेनापति डीलर को नाना ने हाथी पर बैठकर विदा होने का आग्रह किया पर वह राजी न हुआ। सेनापति नाना साहब ने सच्चे मानव की भूमिका निभाई। तबु के साथ भी मानवीय व्यवहार किया। जनरल नील के अत्याचार की छाबरें कानपुर तक आ पहुँची थीं। भारतीय अंग्रेज परिवारों को इस प्रकार सुरक्षित जाते देखकर खुद हो उठे। नाना साहब को यह ज्ञात हुआ तो वे तत्काल वहाँ पहुँचे, उन्होंने स्त्रियों व बच्चों की रक्षा की तथा सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया।

नाना साहब ने तीन महीने तक कानपुर को अपने अधिकार में रखा। वे तीन महीने कानपुर की जनता के गौरव का समय था। न्याय तथा सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध नाना साहब ने किया।

अंग्रेजों की कूटनीति तथा उत्तम अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित सेना ने इस क्रान्ति को सफल नहीं होने दिया। चंद देश-द्रोहियों ने अपने घृणित स्वार्थ के वश होकर अंग्रेजों की सहायता की। समय से पहले क्रान्ति का फूट पड़ना भी एक प्रमुख तथ्य था नहीं तो सफलता मिलने में कोई अदेसा नहीं था, पर इस क्रान्ति का परिणाम दूरगामी हुआ। नाना साहब का यह प्रयास अंग्रेजों को भारत से भगाने का सुप्कारम्भ ही कहा जायेगा।

नाना साहब ने देखा कि अब भारत में रहकर क्रान्ति का संचालन कठिन है। क्रान्तिकारियों के गढ़ एक-एक करके टूटते चले गये तो वे नेपाल की तरफ चले गये। नेपाल नरेश ने इन्हें सहायता देने के बजाय अंग्रेजों को नेपाल प्रवेश की आज्ञा दे दी। साठ हजार स्त्री-पुरुष नाना साहब के साथ नेपाल के भयंकर जंगलों में गये। अंग्रेजी सेना के आक्रमण करने पर उनमें से अधिकांश वापस भारत लौट आये। आजादी के अप्रदूत नाना साहब की छाया भी अंग्रेज न पस सके। पराधीनता की अपेक्षा उन्होंने दुःख-कष्ट सहन स्वीकार किया तथा नेपाल के बीहड़-जंगलों में उन्होंने अपना शेष जीवन बिताया।

२.७ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग २

अंग्रेजी शासन के अन्धकार से लड़ने के लिये अकेले दीपों को प्राणवत् करने का जो साहस तथा त्रय नम्र ने किया वह एक जीवित जाग्रत महान आत्मा का ही काम था। समाज सुधार के क्षेत्र में आज ऐसी ही जाग्रत आत्माओं को उठ खड़े होने की आवश्यकता है।

१८५७ की क्रांति के सर्वोच्च सेनापति— ताँत्या टोपे

गौरवर्ण, छोटी पर मोटी और मजबूत गर्दन के ऊपर गोल-मटोल तेजस्वी मुकुट, भारी स्त्रि पर अर्ध गोल्फकार मखमली रत्नजड़ित लाल टोपी, ओजपूर्ण चमकीली आँखें, मझोले कद के सुढौल और गठे हुए शरीर में चमकते बैसी छाती, अंग-अंग में विद्युत सी चपलता और मस्तक पर गहन विचारों की रेखा, यह है हमारे १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम के सर्वोच्च सेनापति महामहली स्वर्गीय ताँत्या टोपे का चित्र।

ताँत्या टोपे का जन्म १८१४ के लगभग अहमदनगर के बेवला नामक गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता पांडुरंग बेवलकर पेशवा बाजीराव के धर्मगुरु थे। ताँत्या टोपे का जन्म का नाम रामचन्द्रराव था। इस जन्मजात क्रान्तिकारी रामचन्द्रराव ने पुरोहिताई में चाकक वृत्ति का वृषण देखकर उसे अचानक में अनिच्छा प्रकट की, उन्हें आरम्भ से ही शास्त्रों की अपेक्षा शस्त्रों से विशेष अनुराग था। बालक की रुचि के अनुकूल शस्त्रविद्या सिखाने का कार्य स्वयं बाजीराव पेशवा ने अपने हाथों में लिया। धीरे-धीरे बालक रामचन्द्रराव की शस्त्र चलाने की असाधारण प्रतिभा मुखरित हो उठी। चर्चा, तलवार, बिछवा आदि अस्त्र-शस्त्र चलाने में उन्होंने अद्भुत कौशल का परिचय दिया। कम की प्रत्यक्ष बड़ाने में तो वह अद्वितीय थे। एक बार हाथ से निकला तीर कभी व्यर्थ नहीं जाता था। बालक की इस असाधारण प्रतिभा पर मुग्ध होकर बाजीराव पेशवा ने भी राजसभा में युवक रामचन्द्र राव को एक रत्न जड़ित लाल मखमली टोपी से विभूषित किया और 'टोपे' कहकर पुकारा तभी से बालक रामचन्द्र का नाम ताँत्या टोपे पड़ गया। उस समय इस युवक का मुख बाल रवि की भाँति शोभायमान हो रहा था। पेशवा ने इस अवसर पर अश्रुपूर्वाक देते हुए कहा था कि बेटा देश की धरती को एक दिन तुम नापाक फिरंगियों से अवश्य मुक्त कराओगे। इस कार्य में मगध तुम्हारी सहायता करेंगे। बस, उसी दिन से रामचन्द्रराव ताँत्या टोपे के नाम से प्रसिद्ध हुए।

१८३७ में देश के अनेक भागों में ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन स्थापित हो चुका था, अंग्रेजों की स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता बढ़ती चली जा रही थी। कम्पनी के अंग्रेज शासकों ने बाजीराव पेशवा को पूना से निर्वासित कर दिया था, इन्हीं के साथ ताँत्या परिवार भी निर्वासित हुआ। इस प्रकार छोटी आयु से अपनी मातृभूमि

को छोड़कर ताँत्या टोपे कानपुर के पास बिदूर (बहावत) चले आये थे। यहाँ सर्वप्रथम झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई और नाना फडनवीस से उनका साक्षात्कार हुआ था। इस समय ताँत्या टोपे की अवस्था लगभग २४ वर्ष, नाना फडनवीस की १६ वर्ष और लक्ष्मीबाई की कुल दस वर्ष की थी। ताँत्या टोपे ने बिदूर के दुर्ग में रानी लक्ष्मीबाई और नाना साहब को सस्त्र विद्या की शिक्षा दी। शस्त्र विद्या के साथ-साथ ताँत्या टोपे ने इन दोनों के अन्दर राजनीति और क्रान्तिकारी भावनाओं का समावेश किया। मकली दुर्ग बनाना, कल्पित सेनाओं पर आक्रमण करना, किलों को तोड़ना, शिकार करना, छापामार जुड़ करना आदि में ताँत्या टोपे ने इन्हें प्रवीण कर दिया।

पेशवा बाजीराव ने ताँत्या टोपे को पहले से ही काँटों का ताल फड़नकर आने वाली भीषण क्रांति का कर्णधार निर्धारित कर दिया था, समय-गति तेजी से करवट बदल रही थी। अंग्रेजों के अत्याचारों एवं जबरन कृत्यों के विरुद्ध देश का जातबारण गर्म हो उठा था, देश के सभी छोटे-बड़े राज्यों का अंग्रेज क्रमशः अन्त और विनाश करते जा रहे थे। भारतीय राजा-नवाबों के सभी रीति-रिवाज और प्रथाओं का अन्त कर अंग्रेजी-सभ्यता प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। बदोन्मत्त फिरंगियों में चरित्रहीनता भी बहुत बढ़ गई थी।

अंग्रेजों के खिलाफ ताँत्या टोपे के सुनिश्चित षड्यन्त्र का श्रीगणेश १८५१ में हुआ जबकि पेशवा बाजीराव की मृत्यु के पश्चात् कम्पनी के शासन ने नाना साहब को उनका दत्तक-पुत्र मानने से इन्कार कर दिया था पेशवा बाजीराव ने नाना साहब को १८२७ में ही दत्तक पुत्र के रूप में गोद ले लिया था। वास्तव में वे ही उनके उत्तराधिकारी थे पर अंग्रेजों ने उनके इस अधिकार की अवहेलना की। इसी कारण ताँत्या टोपे का अन्तर्द्वन्द्व प्रथम बार क्रांति का मूर्तरूप लेकर प्रकट हुआ।

पूरे ६ वर्ष तक ताँत्या टोपे ने इस क्रांति आन्दोलन को सक्रिय रूप देने के लिये सारे देश का भ्रमण कर सभी राज्यों एवं गणपतन्त्र व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित किया और सन्नवधानी के साथ क्रांति की अग्नि को सुलगाया। महीनों के विचार-विमर्श के पश्चात् ३१ मई, १८५७ क्रांति दिवस निश्चित किया गया किन्तु दुर्भाग्यवश इस क्रांति के ज्वालामुखी का लावा २५ दिन पूर्व ही मेरठ में फूट निकला।

इस संग्राम में महावीर ताँत्या की चमकती हुई तलवार ने काल का रूप धारण कर अनेक देशी विदेशी शत्रुओं का संहार किया। अपनी अन्तिम श्वास तक ताँत्या टोपे ने कभी अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार नहीं की। जिस समय अंग्रेज सभी देशी राज्यों का अन्त कर भारत में एकछत्र राज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे। सेनापति ताँत्या टोपे पता ऐसे अपवित्र शासन को कैसे सहन कर सकते

थे । उन्होंने बिदूर के दुर्ग पर खड़े होकर बगवत का झण्डा बुलन्द किया ।

भेरठ में विप्लव का विस्फोट होते ही नाना फड़नवीस अपने भाई राव साहब और तौत्वा टोपे को पेशवा की गद्दी का उत्तराधिकारी बनाकर क्रान्ति का नेतृत्व करने भेरठ की ओर प्रस्थान कर गए । क्रान्ति की अग्नि देश में सर्वत्र बंधक रही थी । अक्षयकला भी एक रण-बाँकुरे सेनापति की जो क्रान्ति का सुचारु रूप से नेतृत्व कर सके । सप्ताहों महारानी लक्ष्मीबाई, नाना फड़नवीस और प्रमुख क्रान्तिकारियों ने इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार-विनिमय किया और अन्त में १८ जून, १८५७ को तौत्वा टोपे को इस महाक्रान्ति का सर्वोच्च सेनापति चुन लिया ।"

विप्लवी सेनाओं की जागड़ों अपने हाथ में लेते हुए देश की जनता के मध्य सेनापति तौत्वा टोपे ने एक संदेश प्रसारित किया । जिसमें कहा गया था कि— "भारत की स्वतन्त्रता को चिरस्थायी और अधुरण बनाये रखने के लिए देश के सभी लोग आपसी भेदभाव मुक्तकर अँग्रेजों को मार भगाने के लिए संगठित हो जायें । अँग्रेजों ने हमें परताने रखने के लिए देश में जो दमन अरम्भ किया है, हमें उसका खुले रूप में मुकाबला करना है । अँग्रेजों की ठगण्ड सैनिक शक्ति और नफ़क़ हकूमत को हिन्दुस्तान से समाप्त करने के लिये विप्लवी सेनाओं का पूरा-पूरा साथ देना आप लोगों का कर्तव्य है । 'जय भारत' आपका शुद्ध सैनिक तौत्वा टोपे ।"

सेनापति तौत्वा टोपे के इस आह्वान पर भारतीय स्वतन्त्रता की दम्बुक्त सेनामें उनके नेतृत्व में सिंह-भर्जना के साथ लोहा लेने को कटिबद्ध हो गई । भारतीय सेनामें अँग्रेजी पैरों का सफ़ाया करती निरन्तर आगे बढ़ रही थी । कितने ही अँग्रेज मारे गये । अनेक अपनी जान बचाकर भाग निकलने और बच-ताप जा छिपे । इस समय बहुत से देशद्रोही भी अँग्रेजों का साथ दे रहे थे । ऐसे सभी लोगों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर तौत्वा की विप्लवी सेनाओं ने भीत के घाट उतार दिया और बिन लोणों ने क्षमायाचना कर उनकी आधीनता स्वीकार करली, उनको सेनापति ने अभयदान दिया ।

तौत्वा टोपे में विलक्षण दैवी-शक्ति थी । विकट परिस्थिति में जब कभी मार्ग में थोड़े को छोड़ देना पड़ता था तब सेनापति तौत्वा टोपे हुल्लास से क्रान्ति का संचालन करने के लिये अपने पैरों में एक विशेष प्रकार के लोहे हुए लाम्बे बाँसों का प्रयोग किया करते थे । जिस समय वे इन बाँसों को पैरों में बाँधकर जानु बैग से फाँटते थे, उस समय अँग्रेज शत्रुओं की दह, सुसज्जित और लाम्बे सम्पन्न सेनामें उनके पैरों की ठड़ती हुई धूल को भी नहीं देख पाती थी ।

तौत्वा टोपे के अपूर्व बल और रण-बातुर्ब पर मुग्ध होकर लन्दन के 'हेली न्यूज' और लन्दन टाइम्स तक ने उनकी बड़ी प्रशंसा की । 'टाइम्स' ने लिखा— "तौत्वा बड़ा साहसी और है, वह धैर्यवान् विचारक और कुशल योद्धा है ।" नेलसन नामक एक अँग्रेज लेखक ने अपनी

भारत-विद्रोह का इतिहास नामक पुस्तक में लिखा है 'निःसंदेह संसार की किसी भी और सेना ने इतनी तीव्रगति और सहस के साथ कभी कुछ नहीं किया जितनी तेजी के साथ महानुर तौत्वा टोपे की सेना ने किया ।'

लन्दन के 'हेली न्यूज' के सम्पादकता को रिपोर्ट के अनुसार "हमारा विचित्र मित्र तौत्वा इतना चतुर और कठोर है कि मैं उसकी सराहना किये बिना नहीं रह सकता । उसने हमारे बहुत से नगर उन्मड़ दिये, लज्जाने लुट लिये, युद्ध के सस्त्रास्त्र खाली कर दिये । उसने सेनाएँ इकट्ठी कीं और कटका डल्लें । हमारी तोपें छीन लीं और हमारा ही सफ़ाया किया । अपनी गति में जो वह बिजली को भी चूँ कर रहा है । कई कई सप्ताह चालीस-पचास मील प्रति घण्टे की गति से यात्रा करता रहता है । हमारी सेनाओं के आगे रहता हुआ अचानक पीछे पहुँच जाता है, सर्वोत्तम मशीन भी इतनी तेजी से कर लेंगेगी बिलम्बी दृष्टिनी तेजी तौत्वा करता है । पर्वतों को चढ़ाई पर, कन्दराओं में, घाटियों में, पीछे-आगे, ऊपर-नीचे कहीं भी तौत्वा टोपे के जाने में कोई बाधा नहीं डाल सकता है । वह चक्करदार मार्गों से सुरत ही हमारी सेनाओं और सामान की गाड़ियों पर यात्रा की तरह आक्रमण करता है किन्तु हमारे हाथ नहीं आता ।"

तौत्वा टोपे ने दूर-दूर तक अँग्रेजों का सफ़ाया कर दिया था किन्तु कुछक पहुँचने पर अँग्रेजी सेनाएँ पुनः आगे बढ़ आती थीं और अपनी भयानक तोपों से नगर के नगर और ग्राम के ग्राम ध्वंस करती थीं ।

म्वालिबर के युद्ध में असफल होकर सेनापति तौत्वा नर्मदा नदी को पार कर महाराष्ट्र पहुँचे और वहाँ उन्होंने जनता को अँग्रेजों के विकट युद्ध के लिये संगठित किया झाँसी की रानी के बाद अँग्रेज यदि किसी से घबराते थे तो वह वे तौत्वा टोपे । इसलिए अँग्रेजों की सेनाएँ निरन्तर उनकी खोज में रहती थीं । कहा जाता है कि तौत्वा जब काल में चम्पल की तुलसी सहरो पर सर्प की भीति तैर जाते थे । सेनाएँ और सामग्री की कमी के दिनों में अँग्रेजी सेनाएँ इनको पकड़ने के लिये मार्ग रोककर दीवार बनकर खड़ी रहती थीं किन्तु विप्लवी देशभक्त सेनाएँ सदैव उनसे डटकर लोहा लेती रहीं और उनकी बाँकुरों को तोड़-फोड़ कर आगे बढ़ती रहीं । उन्होंने अपने अपूर्व युद्ध-कौशल से अँग्रेजों को परास्त कर कानपुर पर पेशवाई का झण्डा फहरा दिया पर अँग्रेजों ने पुनः कानपुर पर चढ़ाई की और महीनों तक दोनों ओर से सेनाएँ जूझती रहीं । घमासान युद्ध चलता रहा । निरन्तर ही विजय देशभक्त सेनाओं की होती किन्तु उत्कल ही अँग्रेजों की नई सेना के आ जाने के कारण तौत्वा टोपे फिर गये और उन्हें युद्ध स्थगित कर मैदान छोड़ देना पड़ा ।

फिर भी वे हतोत्साह नहीं हुए । कानपुर पर पुनः अधिकार करने के लिये विद्रोही तौत्वा की सेनाओं ने परखारी पर अधिकार कर लिया । कानपुर पर बाका बोलने की तैयारी भी कि रानी लक्ष्मीबाई ने दूसरे चोर्चे पर

२.१ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन घटना-२

सैनिक सहायता की माँग की, इसलिए वह स्वयं अवृत्त रह गया।

इस क्रान्ति को काफी समय हो गया था। धीरे-धीरे तौत्या टोपे के अनेक मित्र और सहयोगी विप्लव की आहुति में प्राणार्पण कर चुके थे। कुछ देशद्रोही बन गये थे, किन्तु तौत्या टोपे अन्तिम श्वास तक संघर्ष करते रहे।

एक बार किसी वन में छिपी तौत्या की सेनाएँ विजय कर रही थीं। अंग्रेजी सेनाओं ने उन्हें चारों ओर घेरकर आग लगा दी। वह सब जंगल जलकर राख हो गया और अंग्रेजों सेनाएँ ज्यों की त्यों खड़ी रहीं। अंग्रेज समझे कि वे सब लोग जलकर खाक हो गये किन्तु ज्यों ही उनकी सेनाएँ पीछे हटो त्यों ही महावीर तौत्या टोपे की जीवद सेना ने अचानक वेग से अंग्रेजी सेनाओं पर घातक आक्रमण कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप सारे अंग्रेज मारे गये।

तौत्या टोपे की मृत्यु के सम्बन्ध में इतिहासकारों के विभिन्न मत पाये जाते हैं। कोई कहता है कि तौत्या टोपे को गिरफ्तार करके उसी समय उनके हाथ-पैर बाँधकर मार डाला था। कई लोगों का कहना है कि उनको फँसी दी गई थी किन्तु इतिहास के गहन अध्ययन से पता चलता है कि मानवता, न्याय और नीति की दुहाई देने वाले कई क्रूर अंग्रेजों ने मिलकर उनकी बड़ी बेरहमी से हत्या की। इस पर भी जब उनकी वैशाखिक प्यास नहीं बुझी तब प्रतिशोध लेने के लिए उन्होंने मृत शरीर को १८ अप्रैल १८५९ को तोप के मुँह से बाँधकर उड़ा दिया।

निष्ठा और संकल्प के धनी—

टीपू सुल्तान

अंग्रेज माताएँ अपने शरारती बच्चों को टीपू आया कहकर घुप कराती थीं। टीपू सुल्तान का भय अंग्रेज बच्चों से लेकर सैनिक, सेनाधिकारियों तथा शासकों तक के हृदय में ऐसा समाया हुआ था कि वे उनका नाम सुन कर धबड़ा उठते थे। टीपू सुल्तान अपने समय के एक मात्र ऐसे देशभक्त योद्धा थे, जिन्होंने अंग्रेजों को देश से बाहर निकालने का संकल्प लिया और उसे पूरा करने के लिए जीवन भर प्राणपण से दौड़े रहे।

वे महाप्रतापी हैदर अली के पुत्र थे। हैदर अली ने बचपन से ही उन्हें ऐसी शिक्षा दी थी कि उनके हृदय में अपने देश, भूमि और शोषित जनता के प्रति निष्ठा और सहानुभूति का भाव जागे। उन्हें बचपन से ही लड़ाई लड़ना और शस्त्र चलाना सिखाया गया। भावना और निष्ठा से सम्पन्न टीपू ने अपने शिक्षण काल में ही ऐसा कौशल दिखाया कि उनके पिता को अपने पुत्र की योग्यता पर विश्वास जम गया।

वे जब १९-२० वर्ष के थे तो हैदर अली ने उन्हें मद्रास में हवा खोरी कर रहे अंग्रेजों और उनकी सेनाओं को खदेड़ने के लिए भेजा। हैदर अली ने टीपू को पाँच

हज़ार सेना दी और टीपू मद्रास इतनी तेजी से पहुँचा कि जब तक स्मिथ और उसके अधीनस्थ अधिकारियों को पता चला तब तक तो वह जा ही धमका। टीपू के पहुँचने का समाचार सुनकर सभी कर्मचारी हक्के बक्के रह गये और वे तुरन्त भाग खड़े हुए। मद्रास बन्दरगाह पर खड़े जहाज से निकल कर बड़ी मुस्किल से उन्होंने अपनी जान बचायी।

किन्तु लड़े ही मद्रास टीपू ने जीत लिया। अब उसने आस-पास के अंग्रेजी क्षेत्रों को जीतना आरम्भ किया। उन्होंने अपने आस-पास का सारा इलाका अंग्रेजों से छीन लिया। इस समय निजाम भी टीपू सुल्तान का साथ दे रहा था। जब बहुत बड़ा इलाका जीत लिया गया तो एक साथ लड़ने की शर्तों के अनुसार बराबर बाँट लिया गया। टीपू सुल्तान अपने वचन और सन्धियों के प्रति ईमानदार थे। कई अवसरों पर उन्हें ईमानदारी और मैत्री, विश्वास के कारण थोड़ा खाना पड़ा परन्तु उन्होंने इन मानवीय सिद्धान्तों को कभी तिलांजलि नहीं दी।

उत्त-उत्त राजनीति का प्रधान अंग है। अपने स्वार्थों और हितों को पूरा करने के लिए राजनेता मानवीय आदर्शों को साक में रखकर घुणित सीढ़े किया करते हैं। परन्तु इतिहास में उन्हें वह सफलता नहीं मिलती जो कि आदर्शों और सिद्धान्तों को प्राण से संयुक्त कर लेने वाले वीर पुरुषों को। निजाम हैदराबाद ने टीपू सुल्तान को ऐन उस वक़्त पर थोड़ा दिया जब अंग्रेजी सेनाओं के साथ वे बंगलौर में लोहा ले रहे थे। उस समय भले ही इन साधियों ने टीपू सुल्तान का साथ छोड़ दिया हो परन्तु बंगलौर की जनता ने उनका हार्दिक स्वागत किया। एक भयानक लड़ाई हुई और अंग्रेजों के पैर उखड़ गये। इस विजय की खुशी में टीपू सुल्तान ने मद्रास के किले के बाहर एक चित्र बनवाया, जिसमें हैदर अली टीपू के पिता-तख्त पर बैठे थे और अंग्रेज डेरों अशर्फीयों बिखेरते हुए उनके सामने सन्धि-पत्र लेकर खड़े थे।

वस्तुतः स्थिति भी ठीक थी। कर्नल स्मिथ ने टीपू सुल्तान और उनके पिता को कई बार प्रलोभन देकर अपनी ओर फेरेड लेने की साजिश की। परन्तु उन्होंने सदैव झूठे प्रलोभनों को ठुकरा दिया और प्रस्तुत किये गये आकर्षणों से अप्रभावित रहकर अपने अभियान को जारी रखा। उद्देश्य पूर्ति के मार्ग में चल रहे सभी व्यक्तियों को प्रायः अनेक आकर्षण अपनी ओर खींच कर उन्हें विमुख करने के लिए आया करते हैं, समझदार व्यक्ति इन आकर्षणों में कभी नहीं फँसते और लक्ष्य की ओर बढ़ते ही रहते हैं।

बंगलौर में अंग्रेजों की पराजय ने लार्ड कारेन हेस्टिंग्स को बड़ा चिन्तित कर दिया, उन्होंने इस जागती हुई शक्ति को दबाने के लिए अपने विश्वस्त सेनापति कर्नल आयर कूट को मद्रास का प्रशासक बनाकर भेजा। टीपू सुल्तान और हैदर अली का दमन करने के लिए कर्नल आयर कूट

ने मैसूर राज्य पर तीन आक्रमण किये और तीनों बार पराजित हुआ।

पिता का देहान्त होने के बाद १७८२ में टीपू सुल्तान मैसूर राज्य के राजा बने। उन्होंने अपने पिता हैदरअली के उद्देश्य और योजना को अच्छी प्रकार समझा था। उसे पूरा करने के लिए देशी राजाओं को संगठित कर विदेशी शासकों को परास्त करने के लिए सम्मिलित प्रयास करने की योजना बनायी परन्तु पिता के साथ हुए विश्वासघातों को देखकर वह विश्वास फलित होते न पाया।

फिर भी अंग्रेजों को बाहर तो निकालना ही था और यह काम उनको अपने अकेले के बल का नहीं लगा। उन्होंने फ्रांस से सहायता प्राप्त करने के लिए अपना एक दूत पेरिस भेजा और बातचीत शुरू की। इस बात से अंग्रेजों को और भी भय हुआ। टीपू सुल्तान की वीरता उनके रणकुशल सैनिक और फ्रांस के समर्थ साधन सम्पन्न शस्त्रास्त्र वे तीनों मिलकर अंग्रेजी साम्राज्य को सचमुच ही ध्वस्त कर सकते हैं। बहुत सी मिलेकतायें जब एक स्थान पर एकत्रित हो जाती हैं तो सचमुच ध्वंस की प्राप्ति सहज और सरल बन जाती है, परन्तु विरोधी शक्तियाँ भी अवरोध पैदा करने में कोई कसर नहीं छोड़ती।

उस समय कम्पनी का गवर्नर लार्ड कर्न बालिस था। १७९० में उसने विशाल सेनाएँ लेकर कर्नाटक पर हमला बोल दिया। वह स्वयं युद्ध संचालन कर रहा था। दो वर्ष तक घमासान युद्ध होता रहा। टीपू के सैनिक बड़ी वीरता पूर्वक लड़े परन्तु साधन और संख्यात्मक में कम होने के कारण उनके पैर शीघ्र ही उखलने लगे। टीपू सुल्तान को परास्त होकर संधि करनी पड़ी। इस संधि के अनुसार श्री रंगापट्टम में टीपू को अपना आधा राज्य और युद्ध का हर्जाना देना पड़ा। अंग्रेजों को बड़ा महल, सलेम, त्रिंकी गल और मलाबार के प्रदेश मिल गये।

हता हो जाने का टीपू सुल्तान को बड़ा क्षोभ तो हुआ परन्तु वे निराश नहीं हुए। वे फिर शक्ति संचय और सैन्य संगठन करने में लग गये। अंग्रेजों को उनका बढ़ता हुआ प्रताप फूटी आँखों नहीं भाया। रंगापट्टम की संधि के अनुसार टीपू सुल्तान को अंग्रेजों की ओर से किसी आक्रमण की आशंका नहीं करनी चाहिए थी। परन्तु कर्न बालिस के बाद १७९९ में लार्ड वेलेजली ने मैसूर पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इस आक्रमण में हैदराबाद के निजाम ने भी अंग्रेजी सेनाओं का ही सहाय दिया। वही निजाम जो पन्द्रह बीस वर्ष पूर्व टीपू सुल्तान का सहयोगी था। सत्ता और धन का आकर्षण ही ऐसा है। जिसमें अच्छे-अच्छे लोग फँस जाते हैं।

निजाम की तीस हजार सैन्य तथा अंग्रेजी सेना ने मिल कर उसी वर्ष युद्ध छेड़ दिया। टीपू सुल्तान को जल और शल दोनों तरफ से घेर लिया गया। साथ ही उनके महत्वपूर्ण सैनिक अधिकारियों को भी फोड़ने का प्रयत्न किया गया। टीपू को कदम-कदम पर अपने सेनानिधियों द्वारा घेरा,

विश्वासघात और बेईमानी का सामना करना पड़ा फिर भी उन्होंने संतुलन नहीं खोया वे बड़े साहस के साथ रणभूमि में शत्रु का मुकाबला करते रहे। मीर सादिक नामक एक अति विश्वासपात्र सैनिक भी उस अवसर पर अंग्रेजों से भिन्न गया और उसने किले की एक दीवार बुझा दी जिसमें से होकर अंग्रेज राजधानी के भीतर घुस आये। इस पर भी टीपू ने अंग्रेजों का सामना किया, उन्होंने अपने मुट्ठी पर साधियों को जो कि उनका साथ दे रहे थे-लेकर मुकाबला अंत तक जारी रखा। लडाई में उन्हें दो गोलीयों लागीं पर लगीं फिर भी बन्दूक दागती रहे। उनके साधियों ने युद्ध क्षेत्र से हट जाने के लिए कहा परन्तु टीपू सुल्तान ने 'साध्यों का देह पातयेत्' के सिद्धान्त को लेकर चलने वाले थे, छाती से फूटते खून के फुव्वारे सूट रहे थे फिर भी वे शत्रु का सामना करते रहे।

अंत में उनके सहयोगियों ने जबदस्ती पकड़ कर उन्हें पालकी में बिठाया और ले जाने लगे। तभी कुछ अंग्रेज पालकी के पास पहुँच गये। टीपू सुल्तान ने वहाँ भी अपनी छतवार से दो अंग्रेजों को पीत के घाट उतार दिया। फौरन एक गोली उनकी कमपटी को छेद गयी और टीपू सुल्तान जमीन पर गिर पड़े, तत्क्षण उनका देहान्त हो गया।

आदर्शों के लिए अड़े रहने वाले—

बुँडेज

झोड़ा जगत में नैतिक आदर्शों की स्थापना और सुरक्षा के लिए एक अखण्ड किन्तु कर्मठ व्यक्ति की तरह निरन्तर काम करने वाले श्री एचरी बुँडेज को सदा याद किया जात रहेंगे। ओलम्पिक खेलों का सीमा विस्तार ही नहीं उनका स्तर और गौरव बढ़ाने में भी मानो उन्होंने अपने व्यक्तित्व को बुला ही दिया हो।

ओलम्पिक संस्थान के प्रधान ८० वर्षीय लीह-पुरुष ने अपने कर्तव्य को विश्व का महत्वपूर्ण क्रिया-केन्द्र बनाने में अद्भुत सफलता पाई है। वह सब अनायास ही नहीं हो गया, न उत्तराधिकार में मिला है, न किसी के अनुग्रह ने उन्हें यह संस्थान दिलाया है वरन् अपनी क्षमता और प्रतिभा के कारण ही वे इस स्थान तक पहुँचे हैं।

उनका स्वावलम्बी जीवन १२ वर्ष की आयु से आरम्भ होता है जब उन्होंने भाँ-बाप से बिछुड़ कर एक मजदूर के रूप में अपने पैरों पर खड़े होने का प्रयास किया। वे पढ़े पर अपनी पढ़ाई और निर्वाह की व्यवस्था बने हुए समय में मजदूरी करके जुटाई। वे चाहते तो किन्हीं उदार व्यक्तियों एवं संस्थाओं की सहायता भी ले सकते थे पर उन्हें यह जरा भी पसन्द नहीं था। हाथ-पाँव रहते हुए क्यों किसी के आगे हाथ बसारे? यह मानवीय स्वभाव के विरुद्ध है। जब उन्हीं के कई साथी असहाय बनकर दूसरों की सहायता पर अपनी शिक्षा और गुजर चला रहे थे, तब उन्हें भी वैसी सुविधा मिल सकती थी पर उन्होंने

२.११ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

अनावश्यक अहसान और आप-भार अपने ऊपर लादने की अपेक्षा यही उचित समझा कि प्रगति भले ही कम हो, देर में हो पर स्वाधियान की हर क्रमशः पर रक्षा की जाय

खेल उन्हें आरम्भ से ही प्रिय थे । विद्यार्थी काल में वे धेम्पियन रहे । दर्शन, मनोविज्ञान, इन्वीनिवरिंग आदि विषयों की वे ऑनर्स परीक्षाएँ उत्तीर्ण करते रहे । साथ ही खेलों में पूरी दिलचस्पी से भाग लेते रहे । फलतः उनमें वे कुशल भी बन गए । १९१२ में इन्होंने प्रथम बार अमेरिका की ओर से स्टॉकहोम ओलम्पिक खेलों में भाग लिया । इसके बाद उनकी योग्यता और क्षमता को पहचान कर सम्मानित किया गया । वे क्रमशः इस विश्व संगठन के संचालक मण्डल का उत्तरदायित्व सम्भालते हुए प्रधान पद तक पहुँचे ।

हुँडेन का मत है कि खेलों को विरुद्ध खेल ही रहने दिया जाय । उनके द्वारा अनार्याष्ट्रीय सदभावनाओं की वृद्धि को जाय और शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य के विकास क्रम को प्रोत्साहित किया जाय । यह क्षेत्र इतने उद्देश्य तक ही सीमित रहे । इसमें उन दूषित तत्वों का प्रवेश न होने दिया जाय जो विपरीत प्रभाव डालते हैं । इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर इन्होंने इस क्षेत्र में पेशेवर खिलाड़ियों का प्रवेश ओलम्पिक प्रतियोगिताओं में निषिद्ध ठहराया । साथ ही विजेताओं को अतिरिक्त सम्मान देकर अन्य खिलाड़ियों में उसी प्रकार की सत्क उत्पन्न होने की सम्भावना को भी ध्यान में रखा । यदि विजेताओं को राजनैतिक या आर्थिक प्रोत्साहन उनके देशवासियों के लिए तो फिर अन्य विजेता या तो किसी हर उपलब्धि के लिये अपने देशवासियों से झगड़ेंगे या फिर रुष्ट एवं दुखी होंगे । यह अवांछनीय प्रतिस्पर्धा उत्पन्न न होने देने से ही क्रीड़ा क्षेत्र का स्तर बढ़ता है । यह उनकी मान्यता है । अनेक विरोध, प्रतिरोधों के रहते हुए वे इस आदर्श को कड़ाई के साथ निवाहते चले आ रहे हैं - और विश्व के सम्स्त देशों के - लगभग ढाई करोड़ खिलाड़ियों को अपने इस निर्देश से निर्देशित, नियन्त्रित करते हैं । क्रीड़ा क्षेत्र में चक्रवर्ती शासन का एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं श्री एथरी हुँडेन ।

उनके भूलमन्त्र का जब -जब जहाँ उत्सर्जन हुआ कड़ाई से काम लेने में उन्होंने कोई शिथिलता नहीं बरती । १९५४ में अर्जेण्टाइन सरकार ने अपने खिलाड़ियों में एक विशेष रियायत कर दी कि जो कार खरीदेंगे उन पर टैक्स माफ रहेगा । इस सुविधा का लाभ उठाकर वे सत्रहसैसों को बेचकर पैसा बनाने लगे ।

हुँडेन ने इसका विरोध किया । इस पर अर्जेण्टाइन के शासक उबल पड़े । उन्होंने कहा - "हम अपने देश में कुछ भी कर सकते हैं ।" उसके जवाब में हुँडेन ने भी कही लिखा "उसी तरह ओलम्पिक संगठन पर हमारा अधिकार है । यदि निर्धारित आदर्शों को उपेक्षा की शायेगी तो अर्जेण्टाइन के खिलाड़ियों को भविष्य में किसी प्रतियोगिता में भाग न लेने दिया जायेगा । वह कड़ाई काम

आई । अर्जेण्टाइन सरकार को अपना निश्चय बदलना पड़ा । खिलाड़ियों को दी जाने वाली अतिरिक्त सुविधा वापस लेनी पड़ी ।

खिलाड़ी केवल खिलाड़ी रहें व्यवसायी नहीं । यह सिद्धान्त उन्हें इसलिये निर्धारित करना पड़ा कि, कहीं रैस के मोड़ों की तरह बालदार आदमी उन्हें भी अपनी कठपुतली न बनालें और पुलिस, फौज में काम करने वाले विशिष्ट बलवानों को ही चैम्पीयन बनकर विश्वख्यति पर झूठे होने का शौक मिले । यदि ऐसा हुआ तो सर्वसम्मान में खेलों के प्रति रुचि उत्पन्न करने वाला संस्थान अपना उद्देश्य ही खो बैठेगा तब वह सुदृढ़ी धर लोगों को अधिक सम्मान प्रदान करने का माध्यम रह जायेगा और एक प्रकार से उदीयमान खिलाड़ियों का रास्ता बन्द हो जायेगा ।

इसी आधार पर उन्होंने अमेरिका के सबसे बड़े माइनर सेन्टी को जीवन भर के लिये 'एक्वेयर' की सूची से हटा दिया ।

एक और ऐसी ही घटना कनाडा में घटी । कु० अम्मा स्काट ने बर्फ पर फिसलने (स्केटिंग) की विश्व प्रतियोगिता जीती । ओटावा के नागरिकों ने उसका शानदार स्वागत करने और उसे एक बहुमूल्य कनबर्टीवल ब्यूक कार उपहार में देने का निश्चय किया । यह पता हुँडेन को लगा, उन्होंने तुरन्त सन्देश भेजा कि यदि स्काट ने यह उपहार स्वीकार किया तो उसे व्यवसायी घोषित किया जायेगा और अयोग्य ठहराया जायेगा - खिलाड़ियों की सूची में उसका नाम न रहेगा । इस धमकी का कारगर प्रभाव पड़ा और उसी सप्ताह में स्काट ने यह उपहार अस्वीकृत कर दिया । इससे कनाडा में बहुत रोष उभरा । उनके पुत्रों तक चलावे गए-पर हुँडेन इस से बस नहीं हुए । वे खिलाड़ियों में इस प्रकार की अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा उत्पन्न करने, उन्हें परस्पर ईर्ष्यालु बनाने और एक ही वर्ग में अभागे, सीमावशाली का विभेद उत्पन्न नहीं करना चाहते थे । अस्तु, इस प्रकार के कठोर कदम उठाने के अलावा उनके पास कोई दूसरा रास्ता भी नहीं था ।

ऐसी ही एक घटना का सामना उन्हें हिटलर से घोर विरोध लेकर उन दिनों करना पड़ा जब हिटलर का सिक्कारा आसमान को छू रहा था और उसके सामने मुँह खोलने की हिम्मत भी नहीं पड़ती थी ।

अनुपयुक्तता के विरुद्ध लड़ने में उन्हें अगणित संघर्ष करने पड़े । इतना ही नहीं उन्होंने इस महान संगठन को सुविस्तृत, सुगठित और सुव्यवस्थित बनाने में पूरा पूरा योगदान दिया । उन्होंने अपने हाथ में एक कार्य लिया और उसी में तन्मग हो गये । यदि आधे अधूरे मन से यह कार्य किया होता तो उतनी सफलता कदापि न मिलती और दूसरे अगणित संगठन प्रयासों की तरह यह भी लँगड़ा, लुल्ला-कुल्ला रहकर किसी प्रकार अपनी गाड़ी खींचने तक सीमित रहता ।

ब्रूडेज के पास उनकी अपनी थोड़ी सी आजीविका है। उनके पास एक बड़ा मकान है, उससे किराये की जो आमदनी होती है उसी से वे अपनी गुजर करते हैं। इतना ही नहीं ओलम्पिक संस्थान से वे किराया-भाड़ा और आफिस खर्च तक नहीं लेते। यों यह राशि ३०-४० हजार डालर तक जा पहुँचती है। वे चाहते तो येतन न सही, इतना खर्च तो संस्था खुशी-खुशी ही देती रहती। अपने पास की आजीविका को बेटे-पोतों के लिये संग्रह करते रहना और सेवा-भावियों का कार्यक्रम रहता है, पर यह ओछापन ब्रूडेज जैसे महामानव नहीं कर सकते। उन्होंने किया भी नहीं है, यही उनकी महानता के अनेक आधार हैं जिन्होंने केवल उन्हें ही नहीं परन्तु उनके द्वारा संचालित कार्य को भी उभरते के उच्च शिखर तक पहुँचाया है।

कर्मयोगी हचिसन

अमरीकी सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक टामस अल्वा एडिसन अपनी प्रयोगशाला में किसी प्रयोग में व्यस्त थे। दृष्टि ऊपर उठाई तो सामने एक नवयुवक को खड़ा देखा। एक ही साथ कई प्रश्नों को सुनकर भी वह चकराया नहीं। कहाँ अध्ययन कर रहे हो? किस विषय में अधिक रुचि है? पढ़-लिखकर क्या बनने का स्वप्न देख रहे हो?

बचपन से मेरी इच्छा इलेक्ट्रिकल इन्वेंशियर बनने की है, इसलिये स्कूल की पढ़ाई समाप्त कर इंजीनियरिंग कालेज में अध्ययन कर रहा हूँ। इंजीनियरिंग की परीक्षा पास कर यदि आपकी प्रयोगशाला में प्रधान इंजीनियर का पद प्राप्त हो जाये तो आप जैसे वैज्ञानिक से बहुत कुछ सीखने की मिल जायेगा और अनुसंधान कार्यों में आपकी सहायता भी कर सकूँगा।

उस अपरिचित जिज्ञासु की बात सुनकर एडिसन बड़े खुश हुए। एक क्षण को अपने विचारों में निमग्न होते हुए वे बोले "तुम्हारे विचारों का मैं स्वागत करता हूँ। तुम्हारी महत्वाकांक्षा भगवान पूरी करें पर मैं अपनी प्रयोगशाला में उसी व्यक्ति की नियुक्ति करना चाहता हूँ जो विज्ञान के क्षेत्र में एक आविष्कार करके दिखा सके।"

यह छात्र माइल्स था जो बड़े होने पर विज्ञान जगत में डा० माइल्स रीश हचिसन के नाम से विख्यात हुआ। उस दिन तो वह युवक माइल्स अपने घर लौट आया पर उसके सामने का मार्ग अब बिल्कुल साफ था। उसे अपने लक्ष्य के निर्धारण में अब किसी प्रकार की कोई कठिनाई होने वाली न थी।

उसने अपने विद्यार्थी जीवन में कतिपय ऐसे व्यक्तियों को देखा जिन्हें कान से कम सुनाई पड़ता था। सोचने लगा यदि ऐसे व्यक्तियों के प्रति कुछ सेवायें दी जा सकें तो उनके जीवन को और उपयोगी बनाया जा सकेगा। उस समय तो इंजीनियरिंग का विद्यार्थी था। अतः चिकित्सा क्षेत्र में शोध करने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि ज्ञान की यह दोनों शाखायें बिल्कुल अलग हैं।

इंजीनियरिंग की परीक्षा उत्तीर्ण की और कान की बनावट का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये अलबामा मेडिकल कालेज में प्रवेश लिया। विषय का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर उस उत्साही नवयुवक ने मेडिकल कालेज से विदा ली और बहरों के लिये यन्त्र बनाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। कई महीनों के अथक परिश्रम के बाद उन्हें सफलता मिली और विद्युत की सहायता से ऐसा यन्त्र तैयार कर लिया गया। इसका नाम 'अकाउस्टिफन' रखा गया।

उन दिनों ग्रेट ब्रिटेन की महारानी अलेक्जेंड्रा को अपने कानों से कुछ कम सुनाई देने लगा था। उन्हें जब यन्त्र बनने की खबर मिली तो उन्होंने भी डाक्टर हचिसन से यह यंत्र माँगाया। इतने से ही उन्हें सन्तोष न हुआ तो उन्होंने हचिसन को लन्दन बुलाकर सार्वजनिक अभिनन्दन किया।

अब डाक्टर हचिसन, एडिसन की प्रयोगशाला में पहुँचे। उन्होंने देखा जैसे उनको प्रतीक्षा की जा रही है। उन्हें वहाँ काम करने का अवसर मिलने लगा वह एडिसन की पूरी-पूरी सहायता करने लगे। दोनों वैज्ञानिक १८-१८ घण्टे कार्य में व्यस्त रहते थे। हचिसन का जीवन कर्पमय हो गया था। जब कभी अधिक काम होता वह प्रयोगशाला में ही विश्राम करते, वहीं खाते पीते। यद्यपि उनका घर प्रयोगशाला के बिल्कुल निकट था फिर भी वे कभी दो-चार मिनट से अधिक को न जाते थे जिससे कि चलते हुए कार्य में किसी प्रकार की बाधा न पड़े।

आश्चर्य की बात यह है कि उन्होंने अपने जीवन में केवल तीन दिन का अवकाश ही लिया शेष सारा समय विज्ञान के लिए समर्पित किया। भला ऐसे भ्रमविष्ट व्यक्ति किस कार्य में हाथ डालेंगे वह पूरा क्यों न होगा?

एक अपराजेय देशभक्त—

खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ

विवेकवान, वे ही व्यक्ति हैं जो समझ में आ जाने पर ठीक बात को एक बार में ग्रहण कर गाँठ बाँध लेते हैं और गलत बात को सदा-सर्वदा के लिये त्याग देते हैं। सरहदी गाँधी खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ इन्हीं विवेकवान व्यक्तियों में से थे।

गरम खून वाली उस पठान जाति में जन्म लेकर भी, जिसके शब्दकोष में अहिंसा का बोधक कोई शब्द कभी नहीं रहा और जो सदा से शक्ति और शस्त्र में ही विश्वास रखने वाली रही है, खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ ने जब से महत्वा गाँधी के सम्पर्क में आकर शान्ति और अहिंसा की महत्ता समझी उस दिन से सदा-सर्वदा के लिये एक शान्त सत्ता की तरह अहिंसावादी बन गये और उस व्रत भङ्ग की हजारों परिस्थितियाँ आने पर भी अपने सिद्धान्त पर अचल और अटिग बने रहे।

२.१३ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ का जन्म उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त के एक सम्पन्न पठान परिवार में जनवरी १८९० में हुआ। इनके पिता पेशावर के निकट उत्तमानख़ाँ गाँव के जागीरदार थे और क्षेत्र में उनका बहुत प्रभाव था। सीमा प्रान्त का यह पठान-परिवार प्रारम्भ में साम्राज्यवादियों का अनुयायी था किन्तु जब देश की स्वाधीनता का आन्दोलन छिड़ा और महात्मा गाँधी का नया राजनीतिक दर्शन प्रकाश में आया तो यह परिवार भी सत्य को स्वीकार किये बिना न रह सका। सम्पूर्ण परिवार ने अन्यायी साम्राज्यवादियों का साथ छोड़ दिया और स्वदेश-स्वाधीनता के झण्डे के नीचे आ गया और एक बार फिर जीवन भर स्वाधीनता संग्राम के सैनिक बनकर विदेशी ताकतों का उत्पीड़न सहन करते रहे। उन्होंने देशभक्ति की घेदी पर अपनी जागीर, स्वाधीनता, सुख-सुविधा तथा सारी सम्पत्ति बलिदान कर दी और फकीरी धारण कर जेल और जुल्म सहने का स्वाद लेते रहे।

इसी परिवार के पुत्र खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ भी देश के लिये जिस विनम्रता, समनिष्ठता और अहिंसा का परिचय देते हुए तासकों का अपमान और अवहेलना सहना अपना कर्तव्य समझते रहे। वे कितने स्वभिमान और असहनशील थे इसका पता इस एक ही बात से चल जाता है

उत्तमानख़ाँ से मिलिल की परीक्षा पास करने के बाद खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ ने मिलिट्री में जाने का निश्चय किया। उन्होंने अपना पूरा परिचय लिखकर प्रार्थना पत्र भेजा और वे तुरन्त बुला लिये गये। जूब-जोश और तील में अनफिट होने का प्रश्न ही नहीं था। अस्तिम डाक्टरों जाँच में भेज दिये गये। वहाँ वे अपनी खारी आँखों की प्रतीक्षा में धीरपूर्वक बैठे थे कि तब तक एक अंग्रेज अफसर ने एक हिन्दुस्तानी सिपाही से कुछ अपमान-जनक व्यवहार कर दिया। उस युवक गफ्फार ख़ाँ का स्वाभिमान जाग उठा और वे उस अफसर से एक हिन्दुस्तानी होने के नाते दूट पड़ने को तैयार हो गये। किन्तु कुछ लोगों ने बीच में पड़कर मामला वहीं रोक दिया। खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ का मन मिलिट्री की नौकरी से फिर गया और वे घर वापस चले आये। इसी स्वाभिमानी पठान युवक ने जब सत्य, शान्ति और अहिंसा की महत्ता हृदयंगम कर ली तो उसके निर्बाह में महात्मा गाँधी की समकक्षता तक जा पहुँचा। संसार में सिद्धान्त-शूर और व्रतवन्त व्यक्ति ऐसे ही धीरे पुरुष कहलाते हैं।

मिलिटरी की नौकरी से इन्कार कर देने पर इनके पिता ने इन्जीनियरिंग पढ़ने के लिये क्लिवरत भेजने का निश्चय किया। इस पर माता ने विरोध करते हुए कहा कि “मेरा एक लड़का तो वितायत जाकर हाथ से त्रिकस गया, अब मैं इस एक लड़के को उस रास्ते कदापि न जाने दूँगी।” निदान इनका इंग्लैण्ड जाना स्वगित हो गया।

यद्यपि खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ एक जागीरदार के बेटे थे, घर में किसी बात की कमी न थी। धन सम्पत्ति, जमीन-जायदाद और मान-सम्मान सब कुछ था। चाहते तो घर बैठे ऐशो-आराम की जिन्दगी बिता सकते थे। किन्तु उन्हें घर बैठकर खान-पोश और मौज उड़ाना पसन्द न आया। वे कुछ ऐसा काम करना चाहते थे जिससे वे व्यस्त भी बने रहें और जनता का कुछ हित भी होत रहे। निदान वे पेशावर के एक यकतब में चले गये और वहाँ कुरान और हदीस आदि धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन करने लगे।

कुछ समय तक यकतब की सेवा करने के बाद वे फिर अलीगढ़ आकर उच्च शिक्षा के लिए विश्व-विद्यालय में भरती हो गये। अलीगढ़ विश्वविद्यालय उन दिनों मुसलमानों में साम्प्रदायिकता धरने का एक बड़ा केन्द्र बना हुआ था। जब विश्वविद्यालय के कट्टरपन्थी और साम्प्रदायिक विष से विकृत मुसलमान नवयुवकों ने अपने बीच एक सरहद्द पठान नौजवान को आया देखा तो बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने सोचा—‘इसको साम्प्रदायिक विष से भरकर सरहद्दी सूबे में साम्प्रदायिकता फैलाने का यन्त्र बनाना चाहिए, अस्तु उन्होंने खान से वैसी बातें करनी और पाकिस्तान का स्वप्न दिखलाना शुरू कर दिया। किन्तु उस सच्चे पनुष पर देश-द्रोह का रंग न चढ़ सका। उसकी समझ में बिल्कुल न आया कि अखिर यह सब लोच हिन्दू-मुसलमानों के बीच दुरमनी और देश के विभाजन से किस हित का स्वप्न देखते हैं। उसे उनके विचार देश-द्रोह से भी अधिक दूषित लगे और उन्होंने उन सबका साथ छोड़ दिया तथापि उसके पश्चिष्क में राजनीति के बीज पड़ चुके थे।

खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ ने अलीगढ़ में रहते हुए पीताना आन्दोलन का अखबार ‘अल-हिलाल’ पढ़ना शुरू किया। उन्हें इस अखबार की विचारधारा ठीक मालूम दी और वे वहाँ विचारों में दीक्षित होते चले गये। अध्ययन, अनुभव, मनन और देश की आवश्यकता तथा विदेशियों की नीति देखकर खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ के हृदय में राष्ट्रीयता की भावना जाग उठी और वे स्वदेश की स्वाधीनता के लिये कुछ करने के लिये उत्सुक होकर वापस चले आये।

राष्ट्रीयता का प्रकाश लेकर १९१९ में घर आने पर उन्होंने राजनीति के नाम पर सोयी हुई पठान जाति को जगाना शुरू कर दिया। उन्हें इस बात पर बड़ी लज्जा आई कि साहस तथा वीरता की धनी पठान जाति स्वाधीनता के लिये कुछ न करती हुई, मोहनिद्रा में सोती हुई अंग्रेजों के जाल में फँसी हुई है।

सरहद्दी पठानों में जाग्रति लाने के लिये उन्होंने जो सबसे पहला काम किया वह था शिक्षा-प्रसार। खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ ने न केवल स्थान-स्थान पर स्कूल ही स्थापित कराये बल्कि स्वयं भी पाठशालाएँ लगाते थे और उनमें अक्षर-ज्ञान देने के साथ-साथ राष्ट्रीय शिक्षा भी देते

थे । आठ साल के अविवाह परिश्रम के बाद उन्होंने पठानों के बीच जाग्रति पैदा कर दी और उन्हें इस योग्य बना दिया कि वे स्वाधीनता, अपने अधिकार और देश व समाज के प्रति अपना कर्तव्य समझ सकें ।

१९१९ में जब गाँधी जी का आह्वान गूँज और देश भर में स्वतन्त्रता का आन्दोलन चल पड़ा तब खान अब्दुल गफ्फार खान ने सरहदी पठानों को उठाया और लाखों जन-समूह के बीच विदेशी सरकार को कड़ी आलोचना की । उसी सभा में उन्होंने स्वतन्त्रता-संग्राम में पठानों को मर मिटने का निमन्त्रण दिया । उनका आमन्त्रण पाकर वे संगठित हो बैठे और सरहद पर स्वतन्त्रता का सिंहनाद गूँजने लगा ।

अँग्रेजों के लिए यह एक नया अनुभव था । उन्हें स्वप्न में भी विश्वास न था कि उनकी नीति के जादू से बंधे सीमान्त प्रदेश के पठान भी भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में सम्मिलित हो सकते हैं । उन्होंने सरहदी विद्रोह का मुख्य कारण खान अब्दुल गफ्फार खान को समझा और उन्हें गिरफ्तार करा कर जेल में डलवा दिया । खान अब्दुल गफ्फार खान के व्यक्तित्व से सरकार इतनी डर गई कि उसने इस नरसिंह को बाँधने के लिए एक विशेष प्रकार की हथकड़ी-बैन्डियाँ बनवाई ।

खान अब्दुल गफ्फार खान ने जेल जीवन का समय यों ही पड़े-पड़े नहीं खो दिया । उन्होंने इसका पूरा-पूरा लाभ उठाया और उसका उपयोग गीत तथा वाक्पितृ के गहन अध्ययन में किया । इसके अतिरिक्त महात्मा गाँधी की आत्म-कथा और उनके राजनीतिक-दर्शन का भी गूढ़ अध्ययन किया । निष्पक्ष तथा निर्भिन्न अध्ययन से उन्हें इन सद्ग्रन्थों का सार-तत्त्व इदर्यगम हो गया और वे अब वास्तविक रूप से सत्य, शान्ति, अहिंसा और प्रेम के अनुयायी बन गये, तो फिर एक बार ग्रहण करने के बाद उसे जीवन भर नहीं छोड़ा ।

जेल से छूटने के बाद वे फिर देश और समाज की सेवा में लग गये । 'चारसहा आश्रम' और 'खुदाई खिदमतगार' नाम के दो आश्रम उन्होंने चलाये । यह आश्रम लगभग भारतीय आश्रम जैसे थे । इनमें सूत कातने का कार्य तो नियमित रूप से चलता ही था, साथ ही नित्य ही ईश्वर-प्रार्थना और राष्ट्रीय शिक्षा का आयोजन भी था । सत्य, अहिंसा और शान्ति का नियमित पाठ इस आश्रम में पढ़ाया जाता था । साधारण शिक्षा के अतिरिक्त 'चारसहा आश्रम' में ऐसी व्यावहारिक शिक्षा भी दी जाती थी जिसे पाकर शिक्षार्थी जीवन में स्वावलम्बी बनकर, सम्मानपूर्वक अपनी आजीविका कमा सकें । यह आश्रम पठानों का वास्तविक भारतीयकरण करने का एक साधक केन्द्र था ।

'खुदाई खिदमतगार' नाम का संगठन और कुछ नहीं था, देश तथा समाज के सेवकों का एक संगठन था । इसके 'स्वयंसेवक' खान अब्दुल गफ्फार खान के नेतृत्व में

देश के अहिंसात्मक आन्दोलनों में तो भाग लेते ही थे, आवश्यकता पड़ने पर पीड़ितों तथा दुःखी लोगों की सहायता भी करते थे ।

सरहद की इन दोनों संस्थाओं ने वहाँ पर विदेशी शासन के विरुद्ध एक प्रचण्ड वातावरण तैयार किया जिससे उस महत्वपूर्ण स्थान से अँग्रेजों के पैर उखड़ने लगे । अस्तु सरकारी कूटनीतिज्ञों ने लोगी नेताओं को खान अब्दुल गफ्फार खान की सच्ची राष्ट्र भक्ति से विरत करने की प्रेरणा दी । लोगी के बड़े बड़े नेताओं ने उनसे सम्पर्क स्थापित किया । उन्हें पाकिस्तान बनने के फायदे दिखलाये, इस्लाम और मुसलमानियत का वास्ता दिया और यहाँ तक कहा कि वे हिन्दुओं के संगठन काँग्रेस का साथ छोड़कर लोगी में शामिल होकर पाकिस्तान बनवाने में सहायता करें तो उन्हें पाकिस्तान सरकार का सर्वोच्च पद जीवन भर के लिए उन्हें दे देंगे और यदि चाहेंगे तो उनका पृथक राज्य ही बनवा देंगे । किन्तु सिद्धान्त तथा सत्य के धनी खान अब्दुल गफ्फार खान उनको चिकनी-चुपड़ी बातों में नहीं आये और सच्चे मन से भारत माता की सेवा में लगे रहे । इस आराधना के लिए उन्हें काफिर, गैर-मुस्लिम और इस्लाम का शत्रु भी कहा गया और तरह-तरह से अपमानित और लक्षित किया गया, किन्तु वे अपने स्वतः से जरा भी विचलित न हुए । सरकार ने उनकी सारी जमीन, सम्पत्ति तथा जीवन के साधन छीन लिये पर उन्हें न विचलित होना था और न वे विचलित हुए ।

१९२१ के असहयोग आन्दोलन से तो उनका जीवन जेल में ही कटने लगा । जेल में उन्हें तरह-तरह के त्रास और खतरावें दी गई । उनका स्वास्थ्य खराब हो गया । बहुत बार उन्हें अनशन करना पड़ा किन्तु जिस महान पथ पर वे अपना कदम बढ़ा चुके थे, वससे तिल भर पीछे हटना उन्होंने सोचा ही न था । राजनीतिक दुर्भाग्य से पाकिस्तान बन गया और खान अब्दुल गफ्फार खान की कर्म-भूमि सीमान्त प्रदेश पाकिस्तान में चला गया । पाकिस्तान बन जाने पर वहाँ की सरकार ने पुनः पदों का स्तलघ देकर उन्हें स्वतन्त्र कराना चाहा । किन्तु उन्होंने पाकिस्तान को मान्यता प्रदान न की और पख्तूनों की मातृभूमि सीमान्त प्रदेश को पाकिस्तान से स्वतन्त्र कराने के लिये संघर्ष करना शुरू कर दिया और जिसके लिये उन्हें जेल में जीवन बिताना पड़ा । यदि वे चाहते तो सिद्धान्त की कीमत पर पाकिस्तान के साथ होकर वहाँ की सरकार में मनमाना पद ले सकते थे अथवा भारत में स्थानांतरण कर जेल व जुल्म से तो बच ही सकते थे साथ ही जहाँ स्वतन्त्रता के बाद अवसरवादियों ने दोनों हाथ लाभ लूटे हैं वे भी उच्च से उच्च पद पा सकते थे । किन्तु जिसका जीवन ही सत्य के लिये संघर्ष करते रहने के लिये समर्पित हो चुका था, जो समाज तथा देश की सेवा के लिये जीवित रहा वह प्रलोभन की क्या महत्व देता ।

बंगला देश के निर्माता—

शेख मुजीबुर्रहमान

विजय सदा न्याय की हुई है, अन्याय सदा हारता आया है। विश्व का इतिहास उठाकर देखें तो यही स्पष्ट होगा कि अनाचार कितना ही बड़ा हो जब तक उसका प्रतिकार नहीं किया जाता तभी तक यह बढ़ता है किन्तु जब उसका प्रतिकार करने के लिए कोई उठ खड़ा होता है तो उसे हार माननी ही पड़ती है। इस प्रतिकार के लिए कमर कस कर खड़ा होना किसी सक्षम की ही काम होता है। ऐसे साहसियों की अमर गथायें युगों तक गाई जाती हैं।

ऐसा ही एक साहस इन दिनों किया गया। इस साहस का श्रेय बङ्गबन्धु शेख मुजीबुर्रहमान को दिया जायगा, जिसके फलस्वरूप बीबीस वर्ष बाद बंगला देश को पाकिस्तान के झुर सहसन से मुक्ति मिली।

७ दिसम्बर, १९७० का दिन न्याय के लिये लड़ने वाले साहसियों के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ने वाला दिन था। पाकिस्तान के अमानुषिक अत्याचारों को सहते-सहते बंगाल अधमरा हो गया था। डाका के रेसकोर्स मैदान में एक विशाल जनसमूह के सम्मुख शेख मुजीबुर्रहमान ने अपने घल को काट देने की अपील इन शब्दों में की "यह स्वातंत्रता संग्राम है, जिसके दौरान हम न सरकार को टैक्स देंगे, न उसके फौजियों के साथ सहयोग करेंगे।"

यह घोषणा करने वाले शेख मुजीबुर्रहमान को यहाँ की जनता स्नेह से बङ्गबन्धु के नाम से पुकारती थी। इनका जन्म १७ मार्च, १९२० में बंगाल के फरीदपुर जिले के टांगी पारा गाँव के एक मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। ये बी० ए० करने से पूर्व ही स्वाधीनता संग्राम में भाग ले चुके थे। १९४१ में उन्होंने नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के साथ काम किया था। कलकत्ता की 'ब्लैक हाल भटना' व होलवेल स्मारक हटाने में उन्होंने सहयोग दिया था। वे सुभाष को अपना गुरु मानते थे।

भारत विभाजन के बाद पाकिस्तान सरकार ने पाकिस्तान की भाषा उर्दू घोषित की। पूर्वी बंगाल व बंगालियों के प्रति यह नीतिला व्यवहार था। बङ्ग बन्धु ने इसके विरोध में जनता की आवाज बुलन्द की। विरोध करने वाले जेल में ठूस दिये गये। उसी दिन इनके मन में यह निश्चय हो गया कि यह पाकिस्तान चलने वाला नहीं है। वे पाकिस्तान के विरोधी हो गये। पूर्वी बंगाल के नागरिक उर्दू जानते नहीं थे। यह भाषा उन पर बलपूर्वक थोपी गई थी। इस विरोधी आंदोलन का नेतृत्व मुजीब ने किया। इन्हें भी बन्दी बनाकर ७ दिन तक जेल में रखा गया।

अब ये पूर्वी बंगाल की जनता में लोकप्रिय हो चुके थे, इन्हें अवामी लीग का संयुक्त सचिव चुन लिया गया।

१९५४ में वे प्रान्तीय चुनावों में विधानसभा के लिये चुने गये। एक वर्ष पश्चात् वे केन्द्रीय विधानसभा के लिये चुने लिये गये।

राजनीति शेख मुजीबुर्रहमान का क्षेत्र था किन्तु वे राजनीति, छलछिद्रों से परे थे। एक सच्चे मानव और सत्य के समर्थक होने के नाते उन्हें १९५६ में जो पाकिस्तान का विधान बना, स्वीकार नहीं हुआ। इनके अतिरिक्त अवामी लीग के सभी सदस्यों ने इसे 'अधूरी स्वायत्तता' की संज्ञा दी। पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान के साथ जो इस संविधान में भेद-भाव भरता गया था उसका कड़ा विरोध किया। ४ अक्टूबर, १९५६ को उन्हें पाकिस्तान सुरक्षा अध्यादेश के अन्तर्गत बन्दी बना लिया तथा बिना न्यायिक जाँच के एक वर्ष तक बन्दी बनाकर रखा गया।

बङ्गबन्धु का पूरा जीवन संघर्ष की एक कहानी है। जनता की आवाज को पाकिस्तानी शासकों के कानों तक पहुँचाते रहने पर भी वह सुन नहीं रहे थे वरन् मुजीब को दबाने का प्रयास करते रहे। यह चाहते ही राजनीति में अच्छा पद पा सकते थे किन्तु इन्होंने अनसाधारण की श्रद्धा को बेचा नहीं। १९६५ में जब भारत-पाक युद्ध हुआ तब पूर्वी बंगाल के प्रदेश को प० पाकिस्तान ने विलुप्त उपेक्षित रखा। तब बङ्ग, बन्धु ने जनता की भावना को इन शब्दों में व्यक्त किया था— "हमारी सरकार काश्मीर में जनमत कराने के लिये लड़ रही है। सरकार को यहाँ जनमत संग्रह करना चाहिये तब उसे मालूम होगा कि ९५ प्रतिशत जनता मेरे साथ है।"

बंगाल की जनता की श्रद्धा को मुजीब ने जिस प्रकार अपने हृदय में समेटा है उसका उदाहरण गाँधी जी के बाद यह दूसरा है। १९६६ में इनकी पार्टी ने पूर्वी बंगाल को पूर्ण स्वायत्तता दिलाने का कार्यक्रम प्रस्तुत किया तथा उसके लिये जनमत संग्रह करने में जुट गये। इसका परिणाम पाकिस्तान के प्रथम चुनाव (जिसमें एक व्यक्ति ने एक वोट दिया) में शेख मुजीबुर्रहमान के छह सूत्री कार्यक्रम के आधार पर इनकी पार्टी ने अपूर्व सफलता पाई।

जनमत के द्वारा इस प्रकार शेख साहब का समर्थन करने पर पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल याह्या खान चौखला उठे। इसका कारण यह पाकिस्तान में जनमत के आधार पर कोई सरकार नहीं बनी थी। इसी कारण सरकार सेना की कठपुतली मात्र रही थी। प्रत्येक सरकार चन्द महीनों तक ही जीवित रह सकी और कोई स्थानीय शासन न बन सका। सैनिक प्रशासकों को जनमत की इस सरकार से भय होना स्वाभाविक था।

जनरल याह्या खान नहीं चाहते थे कि शासन सूत्र मुजीब के हाथ में चला जाये। इस कारण ३ मार्च को जो राष्ट्रीय एसेम्बली को बैठक होने वाली थी उसे स्थगित कर दिया। राष्ट्रपति के इस निर्णय पर डाका, षटगाँव तथा पूर्वी बंगाल के सभी स्थानों पर जोरदार प्रदर्शन हुए।

पाकिस्तान सरकार ने इन प्रदर्शनों का बड़ी क्रूरता से दमन किया। शेख साहब ने याह्या ख़ाँ के इस कदम को 'काला षड्यंत्र बताया'। सारे पूर्वी बंगाल में इसका शान्तिपूर्ण तरीके से विरोध किया गया।

पाकिस्तान शासकों ने जनता की इस आवाज को दबाने के लिये एक चाल चली। १० मार्च को पूर्वी बंगाल में जनरल टिक्का ख़ाँ को मार्शल ला प्रशासक नियुक्त किया। याह्या ख़ाँ स्वयं मुजीब से बात करने का डोंग करने ढाका गये। बात चीत चलती रही साथ ही साथ सुनियोजित ढंग से सैनिक स्थिति को सुदृढ़ कर लिया। वह स्थिति मजबूत होते ही बातचीत बन्द कर याह्या ख़ाँ पाकिस्तान लौट आये। २६ मार्च को जनता के इस सेक्क को, जनता की आवाज को, पाकिस्तान के क्रूर शासकों ने बन्दी बना लिया और पश्चिमी पाकिस्तान ले आये। उसी रात पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने शेख मुजीब को उस राष्ट्र का शत्रु घोषित कर दिया, जिसके नागरिकों ने उसे राष्ट्र का शासक नियुक्त किया था। इन्हें पाकिस्तान का शत्रु घोषित किया साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि इनको कठोर दण्ड दिया जाएगा।

"उनके पास शस्त्र हैं, वे मुझे मार सकते हैं, परन्तु उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि वे बंगाल की साढ़े सात करोड़ जनता की भावनाओं को नहीं कुचल सकते।" पाकिस्तानी शासकों ने मुजीब के शरीर को बन्दी बना लिया तो क्या? मुजीब कोई एक शरीर तो थे नहीं वह तो समय की आवाज थी। समय की आवाज किसी भी शरीर के माध्यम से गुँज सकती थी। मुजीब और बंगला देश के प्रति किया गया नृशंस व्यवहार रंग लाया। बंगला देश के कोने-कोने से मुजीब निकल पड़े। दमन चक्र तेजी से चलने लगा। एक ओर सच्चाई के सत्य लिये साधन विहीन बिना सैनिक शिक्षण पाई जनता की सेना, मुक्ति वाहिनी और दूसरी ओर अमेरिका से खरीदे गये घुड़ सामग्री से लदे-फदे प्रशिक्षित पाकिस्तानी सैनिक घुड़ के मैदान में कूद पड़े।

बड़े-बड़े देश जो शान्ति का दम भरते थे मीन साधे बैठे रहे। बंगाल की धरती पर पाकिस्तानी सैनिकों ने जो अमानुषिक अत्याचार किये उनका उदाहरण विश्व के इतिहास में नहीं मिलता। हत्या और बलात्कार के कीर्तिमान स्थापित करने में पाकिस्तान की सेना ने कोई कसर नहीं रखी। साढ़े दस महीने तक यह साढ़े सात करोड़ जनता जिन्दगी और मौत के अँधेरे में भटकती रही। इस महाभारत के सूत्रधार थे बंगबन्धु जिनके आह्वान पर नागरिकों ने अपना सब कुछ स्वतन्त्रता के यज्ञ में होम दिया।

यह कम साहस की बात नहीं है। एक तरफ पाकिस्तान की सुसज्जित सेना से निहत्थे नागरिकों को लड़ाने का साहस, न्याय के प्रति अटल निष्ठा। ईश्वर के नियमों पर इतना अटल विश्वास यदि इतना सब नहीं होता तो बंग बन्धु की कभी हिम्मत नहीं पड़ती कि वे इस घुड़ के लिये बिगुल बजा उठते।

शेख मुजीबुर्हमान पर पाकिस्तान की फौजी अदालत में गुप्त मुकदमा चलाया गया। पाकिस्तान के शासकों का बस चलता तो इन्हें कभी का मरवा दिया होता पर वे जानते थे कि इस आदमी के पीछे सारा बंगला देश है। गिरफ्तारी पर ही इतनी प्रतिक्रिया हो रही है तो मृत्यु पर न जाने क्या होगा।

मुजीब ने जनता से केवल कहा ही नहीं कि स्वतन्त्रता के लिये लड़ मरो वरन् इस संग्राम की पूरी तैयारी भी करती थी। यदि ऐसा नहीं होता तो मुजीब के बन्दी बनाने के उपरान्त वहाँ दस महीने तक जनता का मनोबल बना रहना कठिन था।

शेख मुजीब राष्ट्रों की सच्ची मैत्री के समर्थक थे। किसी भी राष्ट्र के द्वारा उठाये गलत कदम का वे प्रतिवाद करने से नहीं धुँकते थे। वे जब चुनाव जीते ही थे और पाकिस्तान ने भारत का एक आयुधान बला दिया था तब बङ्गबन्धु ने पाकिस्तान द्वारा इसकी जीव व कराये जाने पर प्रतिवाद किया था।

नी महीने नर-संहार के बाद न्याय की विजय हुई। पाकिस्तान ने अनावक जब भारत के हवाई अड्डों पर आक्रमण किया तो भारत के लिखे बंगला देश की समस्या अपनी समस्या हो गयी तथा भारत की सहायता से बंगला देश पाकिस्तान की दासता से मुक्त हो गया।

शेख साहब अब बंगला देश के प्रधान मंत्री बने। एक सच्चे क्रांतिकारी राष्ट्र-भक्त के साथ-साथ इनमें मानवीय गुणों का समावेश था। अगस्त, १९७५ में सेना के कुछ किद्रोही अधिकारियों ने चिलकर उनकी हत्या कर दी।

जिनकी रंग-रंग में क्रांति भरी थी-

डॉ० राम मनोहर लोहिया

बर्लिन में शिक्षा पर रहे पुत्र को भारतीय पिता का पत्र मिला। पत्र में भारत में हो रहे अत्याचारों का वर्णन था। महात्मा गाँधी ने १२ मार्च को नमक कानून तोड़ने की डाँडो प्रकाश आरम्भ किया तो स्थान-स्थान पर नमक बनाकर इस कानून तोड़ने का विरोध करने के लिए जनता उमड़ पड़ी। इन निहत्थे सत्याग्रहियों पर अंग्रेज सरकार के सिपाहियों ने अमानवीय अत्याचार किये। इन्हें लाठियों से पीटा गया और चूटों के चले सँदा गया। कई लोग तो इस बेकरह पिटाई से बेहोश हो गये। स्वयं उसके पिता भी उन बेहोश होने वालों में से एक थे।

बुधक भगतसिंह तथा उसके साथियों के फाँसी दिये जाने की खबर पाकर पहले ही शुम्भ हुआ बैठा था।

राही-सही कभी इस पत्र ने पूरी कर दी। उसके मन में इसका प्रतिकार करने की प्रबल कामना जाग पड़ी।

इन्हीं दिनों लीग ऑफ नेशन की बैठक जिनेवा में होने वाली थी जिसमें भारत के प्रतिनिधि अंग्रेजों के पिटदू

२.१७ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

एक राजा भाग ले रहे थे जो अंग्रेजों द्वारा रटवाई गई बातें ही कहने वाले थे। भारत की वास्तविक स्थिति को प्रकट नहीं होने देने के चहुँपने को विफल करने के लिए यह युवक कटिबद्ध हो गया।

विदेश में जहाँ कोई संगी साथी नहीं, पराए लोग हों वहाँ इस प्रकार का कदम उठाना असम्भव था पर इन्होंने हार न मानी। वह जिनेवा जा पहुँचा। उन रातों में ज्यों ही अंग्रेजी शासन की बड़ाइयों की तोता रटने अरम्भ की तो इस युवक ने दर्शक कक्ष में जोर-जोर से सीटी बजानी आरम्भ कर दी। पहरेदार भागकर युवक के पास पहुँचे। इसे दर्शक-कक्ष से बाहर निकाल दिया।

युवक इस प्रकार बाहर निकाले जाने पर निराश न हुआ, 'कान्फ़ेस के अध्यक्ष के नाम एक पत्र' शीर्षक से भारत की वास्तविक स्थिति का विवरण अखबार में छापना चाहा। वह कई अखबारों के सम्पादकों के पास गया पर कोई इसे छापने को तैयार न हुआ। अन्त में एक पत्र 'लुग्रावे द्य मेनाइट' ने छापना स्वीकार कर लिया। युवक ने दूसरे दिन सभा आरम्भ होने के पहले ही इस पत्र की प्रतियाँ लीं और सभा भवन के द्वार पर खड़ा हो गया। सभा में भाग लेने वाले प्रत्येक प्रतिनिधि को उसने यह पत्र भेंट किया।

युवक ने अपना प्रतिवाद सफलतापूर्वक कर लिया। अन्य देश के प्रतिनिधियों ने इस पत्र को पढ़कर वास्तविक स्थिति जानी। अन्य देशों के सामने अंग्रेजों का स्वार्थ नंगा होकर सामने आ गया। यह युवक था-राम मनोहर लोहिया।

वे पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड गये पर उन्हें उसी देश की शिक्षा ग्रहण करने में कोई रुक दिखाई न दी जो हमारे देश को गुलाम बनाये था। वे जर्मनी चले गये। जर्मनी गये तो वहाँ एक विकट समस्या सामने आई। वे जब अपने प्राध्यापक प्रो० जोम्बार्ट के सामने उपस्थित होकर अंग्रेजी में अपना मन्तव्य बताने लगे तो उन्होंने कहा "मुझे अंग्रेजी नहीं आती। यहाँ की पढ़ाई केवल जर्मन भाषा में होती है।" इन्होंने उत्तर दिया-"तीन महीने बाद आपसे मिलूँगा।"

तीन महीने बाद वे प्रो० जोम्बार्ट से मिले तो जर्मन भाषा पूरी तरह सीख चुके थे। इस भारतीय की प्रतिभा देखकर जोम्बार्ट बहुत प्रसन्न हुए। लगन और परिश्रम के बल पर सभी कुछ सम्भव होता है, लोहिया ने इसका अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया था।

२६ मार्च, १९१० को अकबरपुर (उत्तर प्रदेश) में इनका जन्म हुआ। इनके पिता हीरालाल लोहिया कट्टर देशभक्त थे। राम मनोहर को जन्म देकर माँ चन्दा बचपन में ही सदा की नींद सो गई। एकमात्र पुत्र को अपनी माँ के भरोसे छोड़कर हीरालाल जी ने अपना सारा जीवन देश को सौंप दिया। लोगों ने विवाह करने का आग्रह किया पर वे न तो शादी के इच्छुक थे न पुत्र के लिए धन चमा करने के लिए ही। उन्होंने सोच लिया था कि पुत्र को

शिक्षित करने तथा अपना खर्च चलाने के लिए तो वे चार चप्पे काम करेंगे तो भी काम चल जायगा।

हीरालाल जी ने अपना कार्य क्षेत्र कलकत्ता बनाया। वे बड़ा बाजार काँग्रेस कमेटी के मंत्री बनाये गये। राम मनोहर भी अपनी प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करके कलकत्ता पहुँच गये। वहाँ कालेज चयन का प्रश्न उपस्थित हुआ। उस समय अभिभावक मिशनरी कालेज में अपने सहकों की पढ़ाना चाहते थे। राम मनोहर ने विद्या सागर कालेज में प्रवेश लिया जिसे लोग व्यङ्ग्य से भेड़िया धसान कालेज कहते थे। वहाँ पर भी अपने परिश्रम के बल पर प्रथम श्रेणी में बी० ए० आनर्स परीक्षा पास करके उन्होंने मिशनरी कालेज में पढ़ने वाले भारतीयों को दिखा दिया कि भारतीय कालेज में पढ़ाई का स्तर भीचा नहीं होता।

जर्मनी से डाक्टरेट करके लौटिया भारत लौट रहे थे तो इनके पास पुस्तकों का अपूर्व संग्रह था। इन्हें खाने से भी अधिक पुस्तकों की ज़रूरत रहती थी। भारत में इनकी जो पढ़ाई का खर्च पिताजी देते थे उसमें से तीन चौथाई अच्छी-अच्छी पुस्तकें खरीदने में चला जाता था। माजी सरकार के आदेश से इनकी सब पुस्तकें तथा सामान जप्त करवा दिया गया।

मद्रास बन्दरगाह पर उतरे तो वे खाली हाथ थे। एक भी पैसा चेब में नहीं था। धन भले ही न हो, अर्पित विभूतियाँ तो थीं। वे जहाज से उतर कर सीधे 'हिन्दू' पत्र के कार्यालय पहुँचे और सह-सम्पादक से बोले-"मैं जर्मनी से आ रहा हूँ। आपको दो लेख देना चाहता हूँ।" सह-सम्पादक ने इस क्षीणकाय नाटे युवक को देखा तो उसे इनके कचन पर विश्वास न हुआ। उसने पूछा-"कहाँ है लेख दिखाइये?" लोहिया बोले-कागज-कलम दीजिये अभी लिख देता हूँ। मेरे पास कलकत्ता जाने के लिये पैसे नहीं हैं इसलिये आपको कष्ट दे रहा हूँ।" इस सहज सच्चाई से वह प्रभावित हुए बिना न रह सका। कागज कलम लेकर कुछ ही घण्टों में दो लेख लिखकर लोहिया ने उनके हाथ में धमा दिये। लेख देखकर वह आश्चर्यचकित रह गया। लोहिया को पारिश्रमिक दिया तथा वह जीवन भर के लिये उनके मित्र बन गये।

भारत आकर लोहिया अपनी डिग्री के बलबूते पर अर्थोपार्जन में नहीं लगे। वे राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने लगे। देशप्रेम की अग्नि जो उनके हृदय कुण्ड में जल रही थी उसी में अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की आहुति देकर वे राष्ट्र समर्पित जीवन जीने लगे।

इनके पिता हीरालाल जी लोहिया ने इनकी भेंट गाँधी जी से कराई। वे इस युवक से प्रभावित हुए। लोहिया की गिनती गाँधी जी के अन्तरंग शिष्यों में की जाने लगी।

लोहिया ने 'काँग्रेस सोशलिस्ट' पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। इस पत्र में अपनी सशक्त लेखनी से अंग्रेजों के विरोध में लोहिया इस प्रकार के आक्षेप करते कि सरकार की नज़क में दम होने लगा।

केवल पत्रकार के रूप में ही नहीं लोहिया खुले सत्याग्रह में जोरदार भावण देते थे। उनके हृदय में भारतीय प्रजा की पीड़ा थी। वह पीड़ा इतनी सघन थी कि उन की वाणी और लेखनी में इस प्रकार उभरती थी कि उसे जो भी सुनता देशप्रेम की वेदी पर बलिदान होने को प्रस्तुत हो जाता।

लोहिया ने आजन्म अविवाहित रहने का संकल्प लिया था, मित्रों तथा परिचितों के आग्रह पर वे कभी विवाह करने के लिये तैयार नहीं हुए। उनके सामने महान लक्ष्य था उसी के निमित्त वह पूरी शक्ति लगाता चाहते थे। विवाह करके इस ओर शक्ति बँटना नहीं चाहते थे।

काँग्रेस में कार्य करते हुए लोहिया ने विदेशी सम्पर्क विभाग का काम सम्हाला। अब तक यह विभाग नहीं था। लोहिया ने इस विभाग को कुशलतापूर्वक संचालित करके विदेशों में भारतीय स्वतन्त्रता के पक्ष में जनमत तैयार किया।

उनके भावणों को आपत्तिजनक घोषित करके उन्हें कई बार जेल में रखा गया। ७ जून, १९४० को उन्हें इसी अपराध में बन्दी बनाया गया, मुकदमे की पेशी पर हथकड़ी पहने उन्हें तीन मील लाया जाता था। हथकड़ी नहीं पहनने पर बल प्रयोग किया जाता। उन्हें दो वर्ष के कारावास का दण्ड दिया गया। यह सजा पूरी नहीं हुई कि द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण उन्हें बिना पूर्व सूचना के छोड़ दिया।

फिर आया १९४२ का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन। लोहिया की आत्मा वर्षों से जिसका इन्तज़ार कर रही थी इतिहास बदलने वाला वह समय आ पहुँचा। लोहिया गिरफ्तार होने के पक्ष में नहीं थे। उन्हें तो सही अर्थों में आन्दोलन चलाना था। बड़े-बड़े नेता लोगों के गिरफ्तार हो जाने पर जनता का मनोबल बनाये रखने के लिये भी तो कोई चाहिए। गिरफ्तार होने का क्रम बनाये रखने के लिये भी तो कोई चाहिए था। लोहिया ने बड़ी भूमिका निभाई। पैम्फलेट तथा छोटी-छोटी पुस्तकों की चोरी छिपे छपाना तथा बाँटना इनका काम था। काँग्रेस रेडियो नाम का स्टेशन भी इन्हीं ने चलाया जो रेडियो प्रोग्रामों के बीच क्रान्तिकारी समाचार तथा उद्बोधन प्रसारित करता था। डेढ़ वर्ष तक इन्होंने अँग्रेजों की आँखों में धूल छोंककर देशभक्तों को करो भाँरो की प्रेरणा दी। सरकार ने लोहिया को पकड़ने के लिये बड़े-बड़े इनाम रखे।

लोहिया का भारत में रहना कठिन हो गया तो वे नेपाल चले गये। भारत सरकार ने नेपाल सरकार को उन्हें बन्दी बनाने के लिये मनबूर किया। जय प्रकाश पहले ही वहाँ से दोनों पकड़े गये। वहाँ से जेल तोड़कर दोनों भाग निकले। भारत आने पर फिर पकड़े गये।

लोहिया व जय प्रकाश को खतरनाक कैदी समझकर उन्हें लाहौर की जेल में रखा गया। वहाँ इतनी सख्ती तथा मानसिक यन्त्रणायें दी गईं जिनका वर्णन कठिन है। सात-सात दिन तक सोने नहीं देना सामान्य बात थी।

देश-प्रेम के इस दीवाने ने सब यन्त्रणायें सह लीं। चार वर्ष तक ये अत्याचारों को पीते रहे। जनता ने रिहाई के आन्दोलन किये पर सब व्यर्थ गया। इंग्लैण्ड में जब लेबर पार्टी की सरकार बनी तब इन्हें छोड़ा गया।

आजाद भारत में भी लोहिया हिन्दी के प्रबल समर्थक तथा किसानों और मजदूरों के हितों के रक्षक के रूप में अपना एक व्यक्तित्व बनाये रहे। प्रबुद्ध विरोधी नेता के रूप में उनकी कभी आवाज भी अनुभव की जाती है। १९६७ में इनका देहावसान हो गया।

लोहिया का जीवन एक ऐसे आदमी की कहानी है जो देशवर्षियों का अपना आदमी था। उन्हीं के दर्द में उड़ना, उन्हीं के दर्द को लेकर जिया और उसी को लेकर मरा। भवनासीत लोगों के हृदय में उनके कर्तृत्व से सदा पीड़ित मानव की सेवा करने की ठमगें उठा करंगी।

स्वदेश और समाज के उद्धारकर्ता—

डा० सनयातसेन

सन् १८९६ के अक्टूबर में लन्दन नगर में यह छब्र बड़े जोरों से फैली कि एक राजपूत चीन निवासी का बलपूर्वक अपहरण कर लिया गया है और उसे चीनी-दूतावास में कैद कर रखा है। स्वाधीनता की प्रियभूमि इंग्लैण्ड में ऐसी अनहोनी घटना का होना सुनकर सर्वसाधारण में एक विचित्र हलचल पैदा हो गई और दो-तीन दिन तक समाचार पत्रों तथा जनता में उसी की चर्चा सुनाई देती रही। यह देखकर वहाँ की सरकार का आसन भी डोला और प्रधानमंत्री साईं सेलिसबरी ने चीन के राजदूत को सन्देश भेजा कि 'हमारे देश में इस प्रकार का अवैध कृत्य करके आपने बहुत बड़ी गलती की है, अब उस व्यक्ति को तुरन्त मुक्त कर दीजिए।' कहना न होगा कि इस आदेश का अविलम्ब पालन किया गया। फिर इंग्लैण्ड निवासी उस व्यक्ति को बिल्कुल भूल गये।

इस व्यक्ति का नाम सनयातसेन था। यद्यपि वह एक गरीब घर में उत्पन्न हुआ था, पर बड़े होने पर उसने चीन के 'महामहिम सम्राट' के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाने का साहस किया था। एक गुलामों के भी गुलाम के तुल्य व्यक्ति की ऐसी गुस्ताखी देखकर अपनी पचास करोड़ प्रजा द्वारा 'भगवान' माने जाने वाले सम्राट बहुत असंतुष्ट हुये और उन्होंने आदेश दिया कि 'जो कोई उसे जीवित या मृतक पकड़ कर लावेगा उसे दस हजार (आब-कल के हिसाब से पाँच लाख) रुपया पुरस्कार दिया जायगा' इस धन के लालच से कितने ही लोग उसके प्राणों के ग्राहक हो रहे थे और उसके भय से वह क्रान्तिकारी युवक भी एक मुल्क से दूसरे मुल्क में छिपकर भ्रमण करता रहता था। जब वह अमरीका से लन्दन के लिए रवाना हुआ तो इसकी सूचना चीनी राजदूत ने तार द्वारा इंग्लैण्ड स्थित राजदूत को दे दी। लन्दन पहुँचकर सनयातसेन अपने एक अंग्रेज मित्र के यहाँ ठहर कर उस नगर में रहने वाले

२.११ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

चीनी लोगों में विद्रोह का प्रचार करने लगा। उसे यह मालूम न था कि स्वदेश से इस हजार मील के फासले पर यहाँ भी 'शत्रु' के दूत उसका पीछा कर रहे हैं।

इन दूतों ने भी चीन निवासी 'देश-पतनों' का स्वाँग बनाया और सनयातसेन को सहायता देने का वादा करके किसी एकान्त स्थान में ले गये। वहाँ चीनी राजदूत के गुर्गे रहले से ही छिपे थे और उन्होंने सनयातसेन को बेवश करके चीनी दूतावास में ले जाकर बन्द कर दिया। उनकी भोजन भी कि कुछ दिन बाद यौका लगने पर उसे जहान द्वारा चीन भेज देंगे, पर भेद खुल गया और बंद्यन्त्र रहने वालों की मन की मन में रह गई।

सनयातसेन का जन्म चीन के एक छोटे से गाँव में १८५६ में हुआ था। उस समय गरीबों की तो क्या बात चीन के अमीर लोग भी बहुत कम पढ़ते थे और उनको यह पता न था कि अपने देश के बाहर संसार में अन्य बड़े-बड़े प्रभावशाली और उन्नत देश भी हैं, जहाँ की जनता अपने आप ही यांत्रिक है। यही कारण था कि चीन के निरंकुश सम्राट अपनी प्रजा को तरह-तरह से गुलाम बनाये हुए थे और वे इर्गिज नहीं चाहते थे कि चीन निवासियों में भूगोल, इतिहास आदि का ज्ञान फैले और वे यह जान सकें कि संसार के अन्य अनेक देशों के निवासी उनकी अपेक्षा कहीं अधिक सुखी और अधिकार सम्पन्न हैं। चीन में रहने वालों को तो केवल एक ही बात सुनाई और भिछाई जाती थी कि सम्राट भगवान का स्वरूप है, वही समस्त प्रजा का पिता है, उसी की सेवा करने से हमारा उद्धार हो सकता है। वह जो कुछ भी चाहे-अच्छा करे वही धर्मानुकूल और मान्य है। उसके विरुद्ध तनिक भी आवाज निकालना घोर पाप है।

पर ऐसे 'दीबी कैदखाने' में रहने पर भी किसी प्रकार सनयातसेन को आजादी की हवा लग गई और १३ वर्ष की आयु में ही वे अफ्रीका द्वारा शासित हवाई टापू में भेजदूर के रूप में चले गये। वहाँ जाकर उनको अनुभव हुआ कि वे एक नई दुनिया में पहुँच गये हैं। पर उसका लाभ तब तक नहीं उठाया जा सकता जब तक वे अंग्रेजी सीखकर अन्य लोगों से बातचीत और विचार, विनिमय न कर सकें। इस उद्देश्य से उन्होंने एक 'बर्चस्कूल' में नाम लिखा लिया। इसके बाद तो उनका सफ़र बड़ गया और एक स्थान से दूसरे स्थान को जाकर अपनी शिक्षा को पूरी करने का प्रयत्न करने लगे, कुछ ही वर्षों में उन्होंने डाक्टरी की सनद प्राप्त कर ली और वे इस योग्य हो गये कि स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करते हुए कहीं भी रह सकें।

शासन की प्रष्टता और राज कर्मचारियों की घोर स्वार्थपरता को देखकर सनयातसेन के हृदय में विद्रोह का भाव कालेज में पढ़ते हुए ही उत्पन्न हो गया था और अपने कुछ साथियों को लेकर वे राज्य के विरुद्ध बंद्यन्त्र रचने लगे थे। चीन में रहकर तो यह कार्य कर सकना सम्भव न था, क्योंकि सरकार के जासूस चारों तरफ फैले

हुए थे और उनके द्वारा किसी के सम्बन्ध में जरा भी सन्देहजनक खबर मिलने पर उसे बिना विलम्ब किसी जेलखाने की कालकोठरी में बन्द कर दिया जाता और तरह-तरह की बन्धनधरें देकर उसका प्राणान्त किया जाता था। साथ ही शासक शासकों ने प्राचीनकाल से ही चीन की जनता के दिल और दिमाग को ऐसे सुदृढ़ बन्धनों में बाँधा था कि शासकगण चाहे जैसा अन्याय, अत्याचार करें वह चुँ नहीं करती थी। उनकी ठीक वही हालत थी जैसी हम अपने देश में कुछ ही वर्ष पहले भारतीय रिपब्लिक्स की प्रथा की देख चुके हैं। इनमें से अधिकांश राज्य अयोग्य थे और अपने धीम-विलास के लिये प्रजा का खून चूसने में उनको जरा भी संकोच नहीं होता था। उनके शासन में किसी की भी सम्पत्ति और इज्जत सुरक्षित नहीं थी। चाहे जब किसी की सूट-भार कर सकते थे फिर भी प्रजा उनको 'सर्वशक्तिमान भगवान' का अंश समझकर पूजती रहती थी।

सनयातसेन ने विदेशों में बसने वाले चीनी लोगों और अपने मित्रों के सहयोग से कई बार चीन में विद्रोह फैलाने की चेष्टा की, पर उसे नाम मात्र की सफलता ही मिल सकी। तब उसने विचार किया कि एक बार संसार के विभिन्न देशों का दौरा करके वहाँ के शासकों की स्थानुभूति प्राप्त की जाय और उन देशों में रहने वाले चीनियों को संगठित भी किया जाय तभी कोई बड़ा काम हो सकेगा। इसी संसार भ्रमण के अवसर पर इंग्लैण्ड में अपहरण होने की घटना हुई थी जिसका ठल्लेख आरम्भ में किया जा चुका है।

सनयातसेन का प्रयत्न कुछ समय बाद किसी हद तक सफल हुआ। चीन में आधुनिकतावादियों के मुकाबले में एक प्रगति विरोधी दल की स्थापना हुई और उसने एक विद्रोह उत्पन्न करके अनेक विदेशी पादरियों तथा राजदूतों को मार दिया। इस पर आठ राष्ट्रों ने सम्मिलित रूप से चीन में अपनी सेनाएँ भेजीं। चीन तो भ्रष्टाचार और अन्ध विश्वास के प्रभाव से खोखला बना था, वह उन्नतशील परिचयी राष्ट्रों का मुकाबला क्या करता? दस बीस दिन में ही विद्रोही जिसका नाम 'बक्सर' का कुचल दिये गये और हज्जि के रूप में चीन के कई समुद्र तट के स्थानों पर कब्जा कर लिया गया।

इस अवसर को सनयातसेन ने अपने आन्दोलन और प्रचार कार्य के लिए उपयुक्त समझा यद्यपि वह अब भी खुले तौर पर सरकारी सेना का मुकाबला नहीं कर सकते थे, पर अब चीन के शासन की पील खुल जाने से वहाँ का प्रबुद्ध वर्ग चेतन्य होने लगा था और उसी का संगठन करके सनयातसेन सपस्त देर में जाग्रति फैलाने तथा जनता में असन्तोष भड़काने की चेष्टा करने लगे। यद्यपि इस बार उनको पहले से अधिक सफलता मिली, पर चीन की बहुसंख्यक जनता को उठा सकना सहज न था। इसका एक कारण तो जैसा ऊपर जतसाया गया है, यही था कि शासकों ने प्रगति और जाग्रति के सब मार्ग बन्द कर रखे थे

और दूसरा कारण यह कहा जा सकता है कि स्वयं चीन की जनता आध्यात्मिकता का सच्चा अर्थ गूँथकर स्वयं भी प्रगति विरोधी बन गई थी। इसका वर्णन करते हुए एक स्थान पर कहा गया है -

“बहुत समय से चीन को आध्यात्मिक अहंकार का लकवा मार गया था और उसी अहंकार की बेड़ियों तसे अब तक जकड़े हुई थीं। जिस समय योरोप के लोग गिरे जंगली थे उस समय चीन वाले बड़े-बड़े मकान बनाते थे, चाय बोलते थे, बारूद बना लेते थे, मिट्टी के बर्तन, सरेस, तौत आदि अनेक पदार्थ बनाते थे। उन्होंने छापने की कला का आविष्कार किया था, १२०० मील लम्बी किलेबन्दी की अभेद्य दीवार और ६०० मील लम्बी नहर भी बनाई थी।

इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि उन्हें अपनी इस प्रकृति की उन्नति पर यह ख्याल पैदा हो गया कि संसार की सारी जातियाँ जंगली हैं और केवल हमारी जाति ही सभ्य कहलाने योग्य है। यदि यह जाति नष्ट हो जाय तो संसार का समस्त ज्ञान-भण्डार भी लुप्त हो जयगा। इस झूठे अहंकार का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि चीन दिन पर दिन प्रगति के मैदान में पिछड़ने लग्य, योरोपियन जातियों उससे बहुत आगे निकल गईं। पर उसका घमण्ड और श्रेष्ठता का गुमान ज्यों का त्यों बना रहा। ऐसे देश को एक दिन निश्चय ही नीचा देखना पड़ेगा और हुआ भी ऐसा ही

क्या इस प्रकार के आध्यात्मिक अहंकार का दोष हम भारतीयों की नसों में भी नहीं चुसा हुआ है? और पिछले हजार बरसों में हमने विदेशियों की जो ठोकरें खाई हैं उसका एक बहुत बड़ा कारण क्या यह गलत 'अध्यात्मवाद' ही नहीं है? कोई भी मानव्य व्यक्ति इस तथ्य की सच्चाई से इनकार नहीं कर सकता। निस्सन्देह अध्यात्म मानव-जीवन का सर्वोच्च स्तर है, पर तभी तक जब तक उसे अहंकार और अन्ध-विश्वास से दूर रखा जाय। अध्यात्म कोई गुप्त या कात्पनिक चीज नहीं है, बरन् जीवन को सार्थक बनाने का एक सुनिश्चित और बुद्धिसंगत मार्ग है। किसी समय हमारे पूर्वज सच्चे अध्यात्म को जानते थे और पालन करते थे। तब भारतवर्ष जगद्गुरु की पदवी पर आसीन था। अब भी यदि हम अपनी भूल को सुधार कर सच्चे अध्यात्मवाद का प्रचार करने लग जायें, तो फिर हमारा देश सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकता है।

फिर भी सनयातसेन ने अपना प्रयत्न जारी रखा। उनके मार्ग में अनेक बाधाएँ आती रहीं, पर अन्त में चीन का प्रबुद्ध वर्ग ठठ खड़ा हुआ और सन् १९११ के दिसम्बर की २९ तारीख को ब्रिटिश समाचार ऐजेन्सी 'रायटर' के चीन स्थित सम्वाददाता ने समाचार भेजा कि “वही शरणागत व्यक्ति (सनयातसेन) जो अपने देश से भागकर हमारे यहाँ पहुँचा था और वहाँ भी जिसका पीछा दुश्मनों से न छूटा था, आज चीन के प्रजातन्त्र का सर्वप्रथम

राष्ट्रपति बनाया गया है और इस समय वही उस देश का कर्तावर्ता और सुप्रचार है।”

सनयातसेन ने बीस वर्ष तक जो देशसेवा की थी और जिसके लिए आधे पैट खाकर भी वे संसार के विभिन्न देशों की खूब कमते हुए घूमे थे। जनता द्वारा सर्वसम्मति से राष्ट्रपति चुने जाने पर भी वे इस पद पर अधिक समय तक नहीं रहे। एक वर्ष के भीतर ही जब उन्होंने देखा कि अभी चीन उत्तरी और दक्षिणी दो भागों में बँटा हुआ है, जिसके कारण एक सुदृढ़ राष्ट्र के रूप में उसका निर्माण नहीं हो सकता, तो उन्होंने राष्ट्रपति का पद स्वेच्छापूर्वक उत्तरी चीन के नेता युआन शिकाई को इस शर्त पर दे दिया कि वह पूर्ण रूप से राज्य-वृद्ध को त्यागकर प्रजातन्त्र के लिए कार्य करें। इसके पश्चात् भी वे चीन की प्रगति के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहे।

सनयातसेन न तो किसी बड़े खानदान के वैभवशाली व्यक्ति थे और न अधिक विद्वान्। पर उन्होंने अपनी निःस्वार्थ सेवा-भावना से चीन जैसे विशाल देश का उद्धार कर दिया। अन्त में जब सफलता मिली तो उन्होंने स्वयं उसका लाभ उठाने के बजाय दूसरे लोगों को ही आगे बढ़ाकर अपना ध्येय केवल राष्ट्र-रक्षा ही रखा। इस दृष्टि से उनकी तुलना महात्मा गाँधी से की जा सकती है। हमारे वर्तमान 'नेता' नामधारी व्यक्ति, जो जनता तथा राष्ट्र के हित के बजाय सबसे पहिले अपनी प्रतिष्ठा तथा प्रधानता के लिये लड़ रहे हैं वे भी इस महान पुरुष के चरित्र से प्रेरणा लेकर देश के सच्चे सेवक बन सकते हैं।

**राष्ट्र के लिये सर्वतोभावेन समर्पित—
पोहलू राम**

पंचम विल्ल होशियारपुर गाँव आनन्द पुर। यहाँ एक व्यक्ति जन्म पोहलू राम। बचपन ऐसे ही बीत गया। युवावस्था आई तो उसने अपने को एक ऐसे चौराहे पर खड़ा पाया जहाँ से वह किसी भी दिशा में जा सकता था।

महत्वाकांक्षा हर व्यक्ति में होती है उसे दिशा मिली तो सँसारी आकर्षण, धन, भोग, यश, पद आदि प्राप्त करके अपनी सुख-सुविधा बढ़ाने एवं अहंकार की हृति करने में लगता है पर यदि उसे इस बढ़प्पन की तुलना में महानता का महत्व विदित हो आय, विलासिता और अईता की पूर्ति के स्थान पर महत्मानव बनने के लिये, उत्कृष्टता और आदर्शवादिता का अवलम्बन करने के लिये उत्साह उत्पन्न हो जाय तो स्वयं प्रकाशवान होने और अपनी ज्योति से अस्तित्वों को ज्योतिर्यव बनाने में समर्थ हो सकता है।

पोहलू राम का सौभाग्य ही कहना चाहिए कि उसे उस ठठली ठग में ही महानता के पथ पर चलने की प्रेरणा मिल गई, जिसमें कुछ कर सकना सम्भव होता है। संचमुच वही उस ही कुछ कर गुजरने के उपयुक्त होती है बुझने में तो मनुष्य एक प्रकार से निरर्थक ही होता है

शरीर अशक्त हो जाता है और मन ऐसे जाल-जंजाल में जकड़ जाता है कि कुछ परमार्थ कार्य बन पड़ना सम्भव ही नहीं रहता ।

सन् १९०९ की बात है । बालक पोहलू राम गाँव के मिडिल स्कूल में पढ़ता था । अध्यक्षक देवीनन्द तिवारी अपने छात्रों को स्वयं देश की स्थिति, अँग्रेजों के अत्याचार, स्वराज्य की आवश्यकता, देशभक्ति के लिये कुर्बानी जैसे विषयों पर विस्तार से बर्चा किया करते थे । अन्य छात्रों पर तो उल्लेख प्रभाव नहीं पड़ा, पर पोहलू राम के हृदय में वह बात गहराई तक छम गई, उसने निश्चय किया कि वह देश की दुर्दशा दूर करने के लिये ही अपना जीवन समर्पित करेगा ।

एक बार एक विद्वान साधु उधर आये । उनसे पोहलू राम का वार्तालाप होता रहता । उन्होंने भी कहा-ईश्वर भक्ति भी अच्छी है पर देशभक्ति उससे भी अच्छी है । बालक के विचारों में दुर्गत आई और परिपक्वता भी । उसने घर वालों से स्पष्ट कह दिया कि वह अपना रास्ता आप बनायेगा । न उसे गृहस्थी बसानी है न कमाई करनी है । वह देश के लिये जियेगा और उसी के लिये मरेगा । घर वालों ने रोका तो वह घर छोड़कर निकल पड़ा । एक कम्बल, एक जोड़ी कपड़े, एक लोटा कुछ पैसा, इतना ही सामान पास । देशभक्ति के लिए कहाँ जाय जाय ? सूझा दिल्ली राजधानी है देशभक्ति का अक्सर भी वहीं मिलेगा । भोला देहाती किशोर उसके व्यावहारिक रूप को जानता न था, पर उसकी उत्कंठा बहुत थी । सो पैदल हो लम्बी यात्रा पूरी करके भूखा प्यासा दिल्ली आ पहुँचा ।

यमुना किनारे एक साधु से उसकी भेंट हुई । कुछ खाने की मिला और आश्रय भी । देश भक्ति की लगन तो बहुत थी पर क्या करना चाहिए वह सूझ नहीं पड़ता था । उन्हीं दिनों लार्ड हार्डिंग दिल्ली आये । उनका जुलूस निकला उसमें दर्शक पोहलू राम भी था । क्रान्तिकारियों द्वारा बमफेंका गया । हार्डिंग मरे तो नहीं पर घायल हो गये । पंजाब नेशनल बैंक की छत पर बैठे हुये सभी लोग सन्देह में चकड़े गये, उनमें पोहलू राम भी था । पुलिस ने चौब-पड़ताल के लिए सबको जेल भेज दिया । कई दिन उन्हें वहाँ रहना पड़ा । इन्हीं सर्जियों से उसे यह शिक्षा मिल गई कि उसे भविष्य में क्या करना है । उन दिनों क्रान्तिकारी आन्दोलन ही ज़ोरों पर था । कांग्रेस तब भी तो पर उसका कोई आन्दोलनात्मक कार्य नहीं था । पोहलू राम क्रान्तिकारी बन गया और देश की स्वतन्त्रता के लिये क्रान्तिकारी कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए पार्टी के आदेशानुसार काम करने में जुट गया ।

एक बार संकल्प किया सो जीवन पर निभा । चंचल चित्त मनुष्य हजार ओर मन दुलाते और हजार रास्ते पलटते हैं, पर जो स्मिर मति दुष्ट निश्चयी होते हैं वे ऊँच नीच समझने के बाद निश्चय करते हैं और करने के बाद उसे निवाहते हैं । पोहलू राम ने निश्चय कर लिया था कि उसका जीवन देश के लिये है, अनेक प्रकार तलछाया पर

उसने किसी तरफ आँख उठाकर नहीं देखा बरन् और कठिनाइयों से भरे रास्ते पर वह धीरव्रती की तरह निरन्तर अन्वरात रूप से बढ़ता ही चला गया ।

पार्टी के निर्देशों के अनुसार उसे अनेक स्थानों की यात्रा करनी पड़ी और अनेक कार्यक्रम अपनाने पड़े । पर लक्ष्य एक रहा अपने नेताओं के मार्गदर्शन में वह कठपुतली की तरह नाचता रहा । जो करने के लिये कहा गया उसे उसने बिना शंका के किया । यथावत कर दिखाया ।

लिलुआ कसकता में गोराला के कर्मचारी की तरह, जापान में पत्र लेखक के रूप में, स्पेनिश कम्पनी में गेट कीपर बन कर न जाने उसे क्या-क्या भापड़ बेलने पड़े और अपना बाढ़ रूप ऐसा बनाये रहना पड़ा जिससे पकड़ में न आकर पार्टी का काम ठीक तरह किया जाता रहे आनन्द पुर में एक जर्मंदार के यहाँ और फिर मिलिट्री में सिपाही के यहाँ उसने मौकरी की । अपने लिये नहीं । पार्टी के निर्देशानुसार । गुजारे के लिए स्वावलम्बी उपाजन, सरकार को आँखों से बचने के लिए कोई धम्मा और शेष स्वरा समग्र क्रान्तिकारी गतिविधियों में । इस एक ही रीति-नीति में उनकी सारी जिन्दगी बीत गई । सत्रह वर्ष की आयु से लेकर सत्तर वर्ष की उम्र तक पूरे ६० साल वह भारत भ्रमता का पुजारी जब तक जिया केवल देश के लिये जिया । उसी के लिये सोचा और जो कुछ सम्भव था सो उसी के लिये किया ।

अनेक बार पुलिस की आँखों में धूल झोंक कर वे अपना काम ठीक तरह करते रहे । अनेक बार पकड़े भी गये और बन्दी गृह की यातनाएँ सहते रहे । उन्हें नौ बार गिरफ्तार किया गया कुल मिलाकर तीस वर्ष जेल रहना पड़ा । पर उनके लिए जेल जीवन और बाहर रहने में कोई अन्तर न था । जेल जीवन में जहाँ देश के लिये कुछ कर न पाने की व्यथा रहती थी वहाँ व्यस्तता में कुछ हल्का पन भी अनुभव होता था और एक प्रकार की निश्चिन्ता भी रहती थी । इसलिये उन्होंने न कभी जेल जीवन से उदासीनता प्रकट की और न बाहर आने की उत्सुकता । राष्ट्र के लिये समर्पित जीवन उनका अपना न था परिस्थितियाँ जहाँ थी ले जायें उसमें रहने में उन्हें कोई आपत्ति न थी ।

पच्चत्तर वर्ष में उनका शरीर थक गया और स्वतन्त्रता प्राप्ति का लक्ष्य भी पूरा हो गया तो उन्होंने सरकार से प्राप्त छोटे से भूमि-खण्ड पर अपनी कुटिया बनाई और वहाँ अन्न उत्पन्न करके स्वावलम्बी समाज के लिये उपयोगी गतिविधियाँ अपना कर जीवनयापन करने लगे । इसी भूमि खण्ड पर १९ फरवरी, १९६२ को उनका स्वर्गवास हो गया ।

सार्वजनिक जीवन में व्यक्तिगत सहत्वाकांक्षाओं की दीड़ धुँप चात्ते, पद और यश-कामना के लिये पागल लोगों के बीच पोहलू राम अपना एक पवलन्त उदाहरण छोड़ गये हैं । दूसरों पर छ जने को अपनी गरिमा

प्रतिष्ठापित करने की पुढ़ दौड़ में कलुषित सार्वजनिक जीवन कैसे पवित्र और प्रखर रखा जा सकता है, इसका दर्शन यदि सीखना हो, राष्ट्र के लिये समर्पित जीवन का स्वरूप समझना हो तो पोहलूराम के चिन्तन और कर्तृत्व की पुष्ट-भूमि का गम्भीरत्वपूर्वक अध्ययन करना चाहिये।

संग्राम के अमर अहिंसक सैनिक— फुलेना प्रसाद

अहिंसक योद्धा ने हिंसा से सड़ने के लिये अपना सीना खोल दिया। साठियों के प्रहारों ने दोनों हाथ पहले ही तोड़ रख दिये थे। एक भाला भी लग चुका था। उस वीर को इसकी चिन्ता नहीं थी। सिपाही यदि अंग भंग की चिन्ता करने लगे तो वह बिजय की कैसे करण कर सकता है? गोलियों चलाने वाले भी इस साहसी को देखकर दौड़ते दौड़ते अँगुली दबाने लगे। गोलियाँ तड़क उठी धँस, धँस...। एक दो नहीं पूरी आठ गोलियाँ सीने को घेस चुकी थीं पर योद्धा उसी शाम से मैदान में उड़ा था। जहाँ गोली ने शरीर के बिथड़े ठूँस दिये। अहिंसा के संग्राम में यह अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करने वाले भारतीय सत्यप्रहरी थे फुलेना प्रसाद।

विश्व के इतिहास में हिंसा और अहिंसा के युद्ध का पहला उदाहरण महात्मा गाँधी ने प्रस्तुत किया। निहत्थे सत्याग्रहियों पर सशस्त्र पुलिस ने लाठियाँ बरसाई, कुटों से रौंदा यहाँ तक कि गोलियाँ बरसाई पर आजादी के दोवाने सच्चाई के सेमानी बके नहीं, धके नहीं, परिणाम यह हुआ कि हिंसा हार गई अहिंसा जीत गई। अहिंसा के योद्धाओं में अमर शहीद फुलेना प्रसाद की गणना श्रेष्ठ सैनिकों में की गई। उनकी मृत्यु ने हजारों को प्रेरणा दी। यह शहादत किसी भी अहिंसक के लिये ईश्वर की वस्तु थी इस मृत्यु पर हजार जीवन न्यूनाधिक किये जा सकते हैं।

महाराजगंज, छपरा (बिहार) के निवासी इस बालक को देखकर आनन्दित हो उठते थे। मुस्कराते फूल की तरह हैसता हुआ गोरा-चिट्ठा, इष्ट-पुष्ट बड़ी-बड़ी आँखों वाला यह मनोहर बालक सबके आकर्षण का केन्द्र था। जो भी इसे देखता अपने आप को भूल जाता था। अपने जीवन के कुल तीस बसन्त देखकर वही बालक मातृ-भूमि की बलिवेदी पर बलिदान हो गया और गाँव वालों के हृदय में आदरों के प्रति एक दर्द बण गया। ऐसे पद चिह्न छोड़ गया जिनका अनुसरण करके कोई भी मनुष्य जन्म की 'सुर-दुर्लभता' प्रतिपादित कर सकता है।

यों तो पेड़ से गिरते हुए फल को सभी देखते हैं, आकाश में दीखने वाला इन्द्रधनुष सबको मोहित करता है पर उन पर चिन्तन-मनन करने वाले गिरते ही होते हैं जो न्यूटन और सी० वी० रमण-जैसे वैज्ञानिक बन जाते हैं। वैसे यह किसी की बपीती नहीं है पर अधिकतर लोग इस

प्रकार के चिन्तन-मनन की उम्मेद करते हैं। बालक फुलेना प्रसाद इस प्रकार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं देता था। वह प्रत्येक तथ्य पर विचार करता तथा अपना आत्म निरीक्षण करते हुए सदगुणों की वृद्धि करता तथा दुर्गुणों को छोड़ता जाता।

आमों के पकने की ऋतु आई। पके आमों की गंध से बच्चों के मुँह से लार टपकने लगी। बच्चे ही क्या युवक भी इसमें पीछे न था। एक आम के नीचे ऐसे कई बच्चे और युवक इकट्ठे होकर आम गिराने के लिये लकड़ियाँ फेंक रहे थे। एक लकड़ी बल्लकर आठ बर्ष के बालक फुलेना प्रसाद के सिर में जोर से लगी और खून बह निकला। जिसने लकड़ी फेंकी थी उसकी तो शामत ही आ गई। फुलेना प्रसाद सबका प्रिय था। घर वालों ने अपराधी के पिता से शिकायत की। उसके पिता उसे चारने लगे। फुलेना प्रसाद ने कहा—“बाबाजी मोहन धैर्य को पक्ष धरिये। मेरी भी गस्ती थी जो मैं फेंकी गई लकड़ी की ओर चला गया।” इस पर उस अपराधी बालक के पिता ने स्नेह से उसे गोद में उठा लिया और पूछा—“बेटा! तुम्हें यह बात किसने बताई।” बालक ने कहा—“मेरे मन ने। आप मोहन धैर्य को मारते तो हम साथ खेलेने में अबकवाते। मेरे तो सगे सो लगी उसे भी मार पड़ती।” यह बालक की विचार शक्ति का ही शुभ परिणाम था कि वह सबका प्रिय बन गया।

आज की तरह उन दिनों न तो गली-गली में चाउरखलाएँ थीं, न गाँव-गाँव में हाई स्कूल थे, बालक फुलेना प्रसाद को बस्ता बगल में पढ़ने के लिये पैदल छह मील जाना और छह मील आना पड़ता था। यह पूरी उपस्था भी कठोर परिश्रम करने पर जो शिक्षित कहलाने का सौभाग्य पाते हैं पीछे नहीं होता। फुलेना प्रसाद ने जिस परिश्रम तथा लगन से शिक्षा पाई उसी का परिणाम था कि वे जीवन में बहुत कुछ कर सके थे। समय और श्रम की महत्ता को समझ सके थे।

विद्यालय में कुछ छात्र उद्दण्ड थे। वे कुछ न कुछ शैक्की करते ही रहते थे। उनकी वह मण्डली चाहती थी कि फुलेना प्रसाद भी उसमें सम्मिलित हो जाय। वे जानते थे कि इस प्रकार की उद्दण्डता करने का परिणाम शुभ नहीं होता। वे उनसे खोलते नहीं थे। अपने काम से काम रखते। उनके व्यंग्यों की ओर ध्यान नहीं देते थे। इन्हें हँसू कहा जाने लगा। उन्होंने धुप रहकर कुसंगति से अपनी रक्षा करली।

बचपन से ही वे देख रहे थे कि माता पिता, परिवार के सदस्य तथा गाँव वाले उन्हें प्यार करते हैं, उनके लिये कष्ट उठाते हैं। माता-पिता ने तो बहुत कष्ट उठाया है। वे उस का प्रतिदान करने में नहीं चूकते थे। घर में कोई भी बीमार हो जाता तो वे उसकी सेवा में दिन रात एक कर देते थे। हाईस्कूल की परीक्षा के दिन छोटा भाई बीमार हो गया तो वे सब कुछ भूलकर उसकी सेवा में जुट

२.२३ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग २

गए। इस कारण फेल भी हो गए। दुःख तो हुआ पर सेवा का सुख भी कम न था। गाँव में किसी अपाहिण को बीमार को देखते तो खाना पीना छोड़कर उसकी सेवा करते।

पिता जमींदार थे पर छोटी जमींदारी पर सोसह व्यक्तियों का बोझ कम न था। वे उन पर भार बनना नहीं चाहते थे। हाईस्कूल परीक्षा पास करके वे पटना चले गये तथा अपनी आजीविका चलाने के साथ-साथ वे बैंगला गुजराती व संस्कृत का स्वाध्याय करके उसके अच्छे ज्ञाता बन गये। ज्ञानार्जन की भूख ने उनके दृष्टिकोण को विकसित किया। वे अब दक्षिण भारतीय भाषाएँ भी सीखना चाहते थे पर उससे भी महत्वपूर्ण काम उनके सामने था। वह काम था देश को राजनैतिक दासता से मुक्त कराना तथा भारतीयों को सामाजिक दशा सुधारना। अपने ज्ञान को, अपनी शक्त को केवल अपने लिये प्रयुक्त करना नहीं चाहते थे। ज्यों-ज्यों ज्ञान की वृद्धि होती गई उनकी परमार्थपरायणता बढ़ती गई।

संस्कृत के अध्ययन से उन्होंने भारतीय जीवन दर्शन को समझा। सच्चा ज्ञान पाकर वे मनुष्य जीवन को महानता को समझे और उसे कार्य रूप में परिणित करने को तत्पर हो गये। आत्मा की अमरता तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को उन्होंने अपने जीवन में उतारने का सुधारम्भ कर दिया। वे उन लोगों में से नहीं थे जो किसी आवर्श की प्रशंसा तो करते हैं पर अपने जीवन में उतारने का साहस नहीं जुटा पाते।

सबसे चार बजे उठकर व्यायाम करना उनका नियम था। शरीर को स्वस्थ एवं समर्थ बनाने में उन्होंने कोई कसर नहीं रखी। उनका शरीर शीघ्रत्व देखते ही बनता था। वे शरीर को दीनदुर्बलों की रक्षा, रोगियों-अपाहिजों की सेवा तथा देश धर्म का हेतु मानते थे। धन रुपये कल की तरह वे शारीरिक तथा मानसिक कल को उससे कम नहीं अधिक ही मानते थे।

स्वस्थ, सुन्दर, सुशिक्षित तथा सज्जन युवक को अपनी लड़की देने के लिये कौन स्तलापित न होगा? बीस वर्ष की आयु में फुलेना प्रसाद का विवाह होने पर उनकी परमार्थ वृत्ति घटी नहीं। ससुराल वाले बन्धुत्व थे। चार पाँच जोड़े कोट और सोने की चीबें इन्हें पेंट में मिलीं उसे उन्होंने जकरतमंदों को दे दिया। अपने लिये तो वे प्रत्येक मौसम में कुर्ता ही उपयुक्त समझते थे उनके स्वस्थ शरीर पर मौसम का प्रभाव नहीं पड़ता था। पिता के घर से मिली वस्तुओं का इस प्रकार बाँटना इनकी पत्नी को अच्छा न लगा। उन्होंने प्रतिवाद किया। इस समय तो वे चुप रहे दूसरे दिन अपनी पत्नी को साथ में उन मजदूरों की बस्ती में ले गये। करुणा की मूर्ति श्रीमती तारामती ने इन गरीबों की दशा देखी और अपने पतिदेव की विज्ञास हृदयता देखी तो नारी की स्वाभाविक ममता जाग पड़ी उन्होंने पतिदेव का सच्चा परिचय पाकर उनकी चरण

रज पावे पर लगा ली और सच्चे अर्थों में सहधर्मिणी बन गई। उन्होंने सदा अपने पति के मिशन में सहायता की।

देशवासियों के दर्द से भावनाशील फुलेना प्रसाद का अन्तःकरण रो उठता था। अपने माता-पिता की एकमात्र संतान होने से श्रीमती तारा को पर्याप्त धन तथा उपहार मिले थे वे चक्रवर्त-मंदों के लिये ही प्रयुक्त होने लगे। अपनी आय का अधिकांश भाग भी फुलेना प्रसाद परमार्थ में लगा देते थे।

वे देशसेवा करना चाहते थे। काम अधिक था समय और साधन कम थे। फुलेना प्रसाद ने विवाह के दो वर्ष के बाद ही संन्यास अपना लिया। वे बच्चे-बच्चियों के जंजाल में फँसकर अपने सेवा तत्व से ज्युत नहीं होना चाहते थे। इस निश्चय में उनकी पत्नी की भी पूरी सहमति थी। उन्होंने व्यायाम का समय बढ़ा दिया। भोजन में सादा दलिया और दूध लेने लगे। इस सर्वाधिक आहार ने उन्हें संन्यास पालन में सहायता की। शरीर निरंतर पुष्ट होता गया। इससे उनकी सेवा का क्रम और भी अधिक चलने लगा। वे कहते थे "सन्तान पालन और देशसेवा दोनों एक साथ नहीं हो सकती इस समय तो एक ही लक्ष्य है वह है देश सेवा।"

सर्दी हो या गर्मी चार बजे उठ जाना फिर नित्य कर्म से निवृत्त होकर पालिश करके व्यायाम करना उनका नियम था। उनका शरीर देखकर पेशेवर पहलवान भी ईर्ष्या करते थे। व्यायाम के पश्चात् भिगोए चने खाकर दूध पीते और फिर समाज सुधार और देश-सेवा के कामों में जुट जाते। इस काम से रात्रि के ग्यारह बजे निवृत्त हो पाते थे। रात्रि को जो सुखद गहरी नींद आती थी वह सबरी भकान भिया देती और चार बजे पहले ही वे उठ बैठते।

पराया दुःख देख सकना उनके बस की बात नहीं थी। किसी का पहुँच लटका देखा कि फौरन पूछते-"क्या हुआ?" लोगों को भी दुःख दर्द में और कोई सहारा नहीं मिलता था। घ्यासा जैसे कुर्से के पास आता है वैसे ही वे इनके पास भाग कर आते थे। कुर्आ जिस तरह अपना धानी अपने लिये नहीं रखता वैसे ही वे अपना उन, मन व मन दूसरों के दुःख दर्द दूर करने में लगा देते थे।

तीस वर्ष की अल्पायु में ही सत्याग्रही में सर्वश्रेष्ठ बलिदानों कहलाने के लिये ही मानो उन्होंने तैयारी कर रखी थी जिसने बन्म लिया है वह मरेगा ही पर ऐसी मृत्यु किसी-किसी को मिलती है।

इनकी पत्नी तारा देवी ने इनकी मृत्यु को स्वीकार नहीं किया। उस पारस के स्पर्श से वे स्वर्ण बन चुकी हैं। आज भी वे अपने पति के मिशन को पूरा कर रही हैं अगर शहीद का वह जीवन पारस पत्थर से कहीं अधिक मूल्यवान है जिनके अन्तःकरण से चू गया उसके महामानव बनने में संदेह नहीं है।

सच्चे देशभक्त--

श्री बदरुद्दीन तैयब जी

सज्जनता, शीतलता, सत्यता एवं कर्तव्य निष्ठा की जीती जागती मूर्ति श्री बदरुद्दीन तैयब जी का जन्म ८ अक्टूबर, १८४४ ई० को बम्बई के बहुत सम्पन्न परिवार में हुआ।

श्री तैयब जी उन तीन व्यक्तियों में से एक थे, जिन्होंने 'भारतीय स्वतन्त्रता की बहिष्कार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की नींव डाली थी।

श्री तैयब जी का परिवार एक साधन सम्पन्न धनी परिवार था और बम्बई में उनके परिवार का बहुत आदर था। किन्तु यह परिवार सुसलमान होवे हुए न तो मौस खाता था और न किसी प्रकार की ऐशो-इशारत का पक्षपाती था। पूरे परिवार का और खास तौर से श्री बदरुद्दीन तैयब का जीवन तो बिल्कुल साधु-सन्तों जैसा सरल और सादा था। वे सादा जीवन उच्च विचार के मिष्टान्त की जोती-जागती तस्वीर थे।

तैयब जी की इस सन्तोषम साधगी देखकर उनके अनेक धनी मित्र उनसे कहा करते थे। "भाई तैयब जी आप की तो परमात्मा ने बेकार ही पैसा दिया, न तो आप शान-शौकत से रह सकते हैं और न धनियों जैसा रोब-रोआब ही आप में है। आप सामान्य से सामान्य व्यक्ति से भी उसी तरह बात करते हैं और मिलते-जुलते हैं जिस प्रकार धनी मित्रों से, यह तो अमीरी का अपमान है।"

श्री तैयब जी उनकी बात सुनते और हँस कर उत्तर देते - "भाई मैं तो इन्सान पहले हूँ और कुछ बाद में। मेरी अमीरी, गरीबी के लिये भव का कारण न बने, इसी में मैं इसकी सार्थकता मानता हूँ और कोशिश करता हूँ कि अपने पैसे का उपयोग अपनी सुख-सुविधा में न करके गरीब और आवश्यकताग्रस्त अपने देश-भाइयों की सहायता में सदुपयोग करूँ। मुझे समाज के इस पैसे का उपयोग अपने लिये करने का क्या अधिकार है। फिर जहाँ मुल्क गुलाम और देश में इधर से उधर गरीबी फैली हुई है वहाँ मैं किस प्रकार से ऐशो-इशारत की जिन्दगी बिता सकता हूँ। यह स्वार्थ मेरी आत्मा के विरुद्ध तो है ही, साथ ही सम्भल तथा मानवता के विरुद्ध भी है। मैं ऐसा अपराध कदापि नहीं कर सकता। मुझे अपने देशवासी भाइयों की तरह ही सामान्य जिन्दगी जीना और उनकी जो भी सेवा हो सके उसे करते रहने में ही संतोष है। धन का अभिमान एक बुरी बात है। धनी की तो समाज में उसी प्रकार चिन्म होकर रहना चाहिए जैसे फलों से सदा वृक्ष नीचा रहता है।" उनके धनी मित्र उनकी बात सुनते और न केवल प्रभावित हो होते बल्कि प्रकाश भी ग्रहण करते।

श्री बदरुद्दीन तैयब जितने ही धनी व्यक्ति थे उतने ही विद्वान् तथा न्याय-निष्ठ भी थे। जिस प्रकार एक दुर्गुण

बढ़कर मनुष्य को बुराईयों की खान बना देता है उसी प्रकार एक सद्गुण परलपित होकर मनुष्य को गुणों का निखन ही नहीं उसे देवत्व के स्तर पर पहुँचा देता है।

तैयब जी ने देखा कि बम्बई हाईकोर्ट में अंग्रेज जज तथा अंग्रेज बैरिस्टर वकील आपस में संगठित होकर कानूनों को मनमाने ढंग से मोड़ते और मुकदमों में भारतीयों का न केवल शोषण ही करते बल्कि उनके साथ अन्याय भी करते हैं। यदि कोई भारतीय वकील वहाँ जाकर चकलत करने का प्रयत्न करता है तो वे उसे टिकने नहीं देते। अंग्रेज बैरिस्टरों तथा जजों के बहयन्त्र के फलस्वरूप साधारण वकीलों की तो बात ही क्या सर फीरोजशाह मेहता और एच० चाँडिया जैसे भूरभूर बैरिस्टरों तक के पाँव न टिक सके और वे बम्बई हाईकोर्ट छोड़ कर चले गये। यह भारतीय योग्यता तथा नस्तिष्क के लिये अंग्रेज वकीलों की खुली चुनौती थी। स्वाभिमानी भारतीय श्री तैयब साहब को स्थिति असह्य हो गई और आवश्यकता न होने पर भी उन्होंने इंग्लैण्ड जाकर बैरिस्टरी पास करने और बम्बई हाईकोर्ट में चकलत करने का निश्चय कर लिया।

अपने निश्चय के अनुसार श्री तैयब जी इंग्लैण्ड गये और प्रथम श्रेणी में बैरिस्टरी पास करके आये और बम्बई हाईकोर्ट में चकलत करने लगे। अंग्रेज वकील तथा जजों ने बधासम्भव उनका असहयोग तथा बहिष्कार करने का प्रयत्न किया किन्तु अपने उद्देश्य के धनी तैयब जी सब कुछ सहन करते हुए ठटे रहे और इस योग्यता से चकलत करते रहे कि आखिर अंग्रेजों के हीसले घस्त हो गये। उन्होंने दुश्प्रवृत्ति छोड़ी और भारतीयों के साथ सहयोग करने पर विवश हुए। श्री बदरुद्दीन तैयब ने अपने अध्यवसाय, परिश्रम तथा दृढ़ता के बल पर न केवल अंग्रेज जजों तथा वकीलों का सुधार ही कर दिया, बल्कि भारतीय वकीलों के लिये बम्बई हाईकोर्ट में स्थान बना दिया। एक लगनशील तथा दृढ़दर्शनित परिश्रमी पुरुष क्या नहीं कर सकता? उनकी परिश्रमशीलता एक उदाहरण है, जो उन्होंने इंग्लैण्ड में बैरिस्टरी पढ़ते समय स्थापित की जो बड़ी ही प्रेरक तथा उत्साहवर्धक है।

१८६० में जिस समय श्री तैयब जी इंग्लैण्ड में बैरिस्टरी पढ़ रहे थे उस समय छात्रों के बीच वहाँ एक बार लेटिन, फ्रेंच तथा अंग्रेजी भाषा में एक प्रतियोगिता आयोजित की गई जिसकी तैयारी के लिये अठारह घाह की अवधि रखी गई। यह प्रतियोगिता उन्हीं छात्रों के बीच रखी गई थी जो लेटिन तथा फ्रेंच भाषाओं नहीं जानते थे। जिस समय तैयब जी ने अपना नाम प्रतियोगिताओं में दिया उस समय अनेक यूरोपियन छात्रों ने उनकी खिल्ली उड़ाते हुए कहा कि तुम हिन्दुस्तानी हम यूरोपियन्स का क्या मुकाबला करोगे? तैयब जी ने इस कटु बात का हँसते हुए उत्तर दिया "विद्या परमात्मा की देन है इस पर किसी का एकाधिकार नहीं है। जो भी परिश्रमपूर्वक अध्ययन करता है उसको प्राप्त हो जाती है। अपनी भाषा पर अन्य लोगों को इतना

अभियान नहीं दिखाना चाहिए। घमण्ड करने वालों को बहुधा नीचा ही देखना पड़ता है। समय अपने दोजिबे पक्ष चल जायगा कि यस्तिष्क केवल यूरोप के पास ही नहीं भारत के पास भी है।" सारे यूरोपियन्स उनकी इस सम्मति तथा युक्तिपूर्ण वक्तव्य को सुनकर अपना सा मुँह लेकर रह गये।

श्री तैयब जी के लिये वह प्रतियोगिता देश को प्रविष्ट का प्रश्न बन गई। उन्होंने सफलता-असफलता का दायित्व परमात्मा पर छोड़ दिया और आप एक मन-धन से लैटिन तथा फ्रेंच भाषाओं के अध्ययन में लग गये। अठारह माह की अवधि एवं अभिरुचिपूर्ण अध्ययन के बाद वे प्रतियोगिता में उतरे और सैकड़ों यूरोपियन छात्रों के बीच एकपात के शिकार होने पर भी सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए। भारती के साल ने अपनी रुचन तथा अध्यवसाय के बल पर देश की ऐसी लाज रखी कि अभिमानी छात्रों को शिक्षा मिल गई और तब से अपने मुकाबले में उन्होंने भारतीयों को होनबुद्धि मानना छोड़ दिया।

तैयब जी अपनी इन सफलताओं तथा गुणों के कारण इतने लोकप्रिय बन गये कि १८७३ में जयपुर ने उन्हें बम्बई कांफरेंस का पहला अध्यक्ष बनाना और तभी वे मध्य में जनता की सेवा करते हुए १८८२ में बम्बई व्यवस्थापिका सभा के सदस्य चुने गये और अनेक वर्षों तक बाम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन के अध्यक्ष रहे। अपनी इस व्यक्तिगत उन्नति में उन्हें सन्तोष न था। वे तो पूरे देश को उन्नत देखना चाहते थे। निदान उन्नति में अधिक दायता से देश का उद्धार करने के लिये उन्होंने उन्हीं दिनों इंडियन नेशनल काँग्रेस की नींव डाली और हिन्दू-मुस्लिम एकता का इतनी गहराई तथा सच्चाई से प्रचार व समर्थन किया कि सारा देश एक झण्डे के नीचे आ गया। काँग्रेस एक शक्तिशाली राजनैतिक संस्था बन गई।

इस हिन्दू-मुस्लिम एकता से भयभीत अंग्रेज सरकार ने लार्ड डफरिन नाम के एक कुटिल राजनीतिज्ञ को उनमें फूट डालने के लिये नियुक्त किया। लार्ड डफरिन ने श्री तैयब जी को बुलाकर कहा कि "हिन्दुओं से आप मुसलमानों का क्या सम्बन्ध। आप उनसे अलग एक मुस्लिम संस्था बना लीजिए और उसके नेता बन जाइये। मैं आपकी उस संस्था को भारत की एकमात्र संस्था की मान्यता दे दूंगा।" श्री तैयब जी ने उस राजनीतिज्ञ की बात शान्तिपूर्वक सुनी और हैसकर उत्तर दिया - "श्रीमान् जी आप हर मुसलमान को मोर जाफर समझने की भूल न करें। अब मुसलमान सजग हो गया है और एकता का महत्व समझने लगा है। साथ ही मैं आपके इस कथन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अब हिन्दुस्तानियों को अंग्रेजों से और भी सावधान हो जाना चाहिए क्योंकि अब वह भाई-भाई को लड़ाकर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। साथ ही इसका अर्थ यह भी है कि भारत की इस एकता की शक्ति से सरकार बहुत डर गई है और वह दिन दूर नहीं दिखाई देता जब हमारी राष्ट्रीय एकता

अंग्रेजों को भारत से विदा होने के लिये विवश कर देगी।"

डफरिन तो उनकी यह बात सुनकर चुप हो गया किन्तु समय ने अपने विशाल पट पर उस महान् देशभक्त की बात अंकित कर ली जो कि समय आने पर पूर्ण रूप से प्रमाणित हुई। इस प्रकार जीवन भर सत्य, न्याय तथा स्वतन्त्रता के लिये विल-तिल बलिदान देकर वह भारत का सपूत १९ अगस्त, १९०६ को इस असार संसार से हँसी-सूती विदा हो गए।

निर्भीक जनसेवक—

श्री हीरालाल शास्त्री

राजस्थान के प्रथम मुख्यमंत्री और भारतवर्ष की देशी रियासतों के जन-आन्दोलन के नेता पंडित हीरालाल शास्त्री की महत्ता केवल नेता के रूप में नहीं, अपितु अखिल भारतीय महत्त्व की महिला शिक्षण-संस्था बनसूली विद्यापीठ के रूप में विशेष उल्लेखनीय है।

शास्त्री जी निरन्तर कार्यरत रहने में विश्वास करते हैं। वे मानते हैं कि हमें कल की फिक्र नहीं करनी चाहिए। कल आता ही नहीं है और जब आएगा तब उसे आज बनकर ही आना होगा। ४३ वर्षों तक जो व्यक्तित्व न केवल राजस्थान अपितु देश की अन्य रियासतों के जन-जीवन पर छाया रहा वह व्यक्तित्व ओहदे के लिए ओहदा, भाषण के लिए भाषण, लेखन के लिए लेखन और बात करने के लिए बात करना नहीं जानता। लेकिन आवश्यकता पड़ने पर समय की घींग पूरी करने में शास्त्री जी कभी पीछे नहीं रहते।

सन् १८९८ में जोधपूर के एक किसान परिवार में जन्म लेकर और प्रतिभाशाली छात्र-जीवन बिताकर बहुत छोटी अवस्था में शास्त्री जी जब तत्कालीन जयपुर राज्य की सरकार के मुख्यमंत्री बन गए, तब वह एक चमत्कार हो गया था परन्तु इससे भी बड़ा विस्मय तब हुआ जब उन्होंने उस जमाने की हवा के रुख के विपरीत वह पद एकाएक छोड़ दिया। छोड़ा इसलिए कि उनकी अन्तरात्मा पिछड़े हुए दलित ग्रामवासियों की सेवा के लिए व्याकुल हो रही थी।

एक बहुत ही छोटे और पिछड़े हुए गाँव बनसूली में उन्होंने ग्रामोत्थान का अपना कार्यक्रम 'जीवन-कुटीर' की स्थापना से आरम्भ किया और वहीं बैठकर दर्जनों रचनात्मक कार्यकर्ता तैयार किए। वह कार्यकर्ता मण्डली ही आगे चलकर जयपुर राज्य प्रजामण्डल की अग्रसेना बनी।

शास्त्री जी ने अभी हाल में प्रकाशित अपनी जीवनी प्रत्यक्ष जीवन 'शम्वर' में लिखा है कि "मेरी सत्ता से कभी जान-पहचान नहीं हुई, कुछ न कुछ कर गुजरने की इच्छा ही मेरे लिये सत्ता है।"

शास्त्री जी मानते हैं कि "आज देश में चारित्र्य और नेतृत्व का संकट है। ऐसे समय में बुराई को तटस्थ होकर देखते रहना उसमें शामिल होने के बराबर है।"

शास्त्री जी अपनी बात के प्रति आग्रही थे । वे स्पष्टवादी और बिना किसी लाग लपेट के बात करते जो उन्हें ठीक लगता, वही कहते और वही करते । अपनी गलती स्वीकार कर लेने में भी उन्हें कोई झिझक नहीं होती

स्वतंत्रता के बाद जयपुर में १९४८ में हुआ प्रथम विराट काँग्रेस अधिवेशन उनकी संगठन और कर्तृत्व शक्ति का प्रतीक था । कुछ कर गुजरने की तय्यारी वाला व्यक्ति ही वैसे विशाल आयोजन को जिम्मेदारी से सँभालता था ।

उनके मुख्य-मन्त्रित्व काल में देशी रिक्खस्तों के संघ राष्ट्रों पर केन्द्रीय सरकार का काफी नियन्त्रण रहता था पर बात चाहे पण्डित नेहरू की ओर से आए, चाहे सरदार पटेल की ओर से, यदि वह शास्त्री जी को उचित न प्रतीत हुई, तो उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि ऐसा करना ठीक नहीं है और यह सम्भव भी नहीं हो सकता फिर भी अपनी सच्चाई और निष्ठा के कारण वे पण्डित नेहरू और सरदार पटेल दोनों के ही अन्त तक निकट और विश्वासपात्र बने रहे ।

हवा के रुख के विपरीत भी सही बात सोचने और कहने वाले हवे-गिने लोगों में शास्त्री जी की गिनती है । १९४९ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में जब कतिपय रिपास्तों में राजाओं को अस्टोमेटय दे दिया गया, तब उन्होंने 'जयपुर राज्य प्रजा मण्डल' के अध्यक्ष की हैसियत से जयपुर के महाराजा को अस्टोमेटय देना ठीक नहीं समझा । वे मानते थे कि असली लड़ाई तो अंग्रेजों से है और उसी आन्दोलन को सफल बनाने में हमें अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए । उन्होंने राज्य-सरकार से एक असाधारण समझौता कर लिया, जिसके कारण राज्य में वैधानिक सुधार और बहुत से जनहित के काम सम्पन्न हो सके । साथ ही जयपुर सरकार युद्ध के लिए पौज में भर्ती न करने को तैयार हुई, अंग्रेजों के खिलाफ धन-जन की मदद में दखल न देने को तैयार हो गयी और जयपुर में युद्ध विरोधी प्रचार खुले आम होने देने से सहमत हो गयी । जेल से आने पर गाँधी जी ने शास्त्री जी की कार्यवाही का अनुमोदन किया और उसे बहुत ठीक 

शास्त्री जी ने 'जीवन कुटीर' के काल में ही एक क्रान्तिकारी भारत का स्वप्न देखा था । उन्होंने उसकी कल्पना अपने एक गीत में की- "महलों की टपिरियाँ, टपिरियों के महल, पहाड़ से मैदान और रेगिस्तान से हरा भरा देश बन रहा है । राज घर बैठ जायेंगे और आज के निर्बल दिखाई देने वाले लोग शासक बन जायेंगे । वह सपना कुछ अंशों में साकार तो हुआ पर शास्त्री जी कहते कि "सच्चे जन-राज्य के लिए एक वास्तविक क्रान्ति होना अभी बाकी है ।"

क्रान्तिकारी जीवन के मार्गदर्शक- सोहनसिंह

अण्डमान की जेल में काले पानी की सजा प्राप्त एक कैदी आया । उसने वीर सावरकर के साहसिक कार्यों की ख्याति बहुत पहले से सुन रखी थी । वह भी इसी जेल में थे । गया कैदी उन्हें खोजता-खोजता उस स्थान तक जा पहुँचा जहाँ सावरकर तेल का कोल्हू चला रहे थे । एक हवलदार बगल में कोड़ा लिये खड़ा था-बोच-बोच में उन्हें दो-चार गालियाँ और तेज और तेज चलने का आदेश झाड़ रहा था ।

ऐसी कठोर यातना देखने का पहला अवसर था । इस नवागन्तुक कैदी की आँखों से आँसू बरसने लगे-आत्मा हाहाकार कर उठी-परमात्मा क्या यही तुम्हारा न्याय है ?

गये कैदी को अपनी यातना पर रोते देख सावरकर मुस्करा दिये एक क्षण रुककर बोले-बाबले ! लगता है तू कच्चा क्रान्तिकारी है, मेरी मुसीबत से घबड़ा गया तो अपनी झटक कैसे झेलेगा । दोस्त क्रान्ति शूरवीरों का जाना है उसके लिये साहस और हिम्मत चाहिए, धैर्य चाहिये केवल यात्र त्याग-बलिदान का भाववेश ही पर्याप्त नहीं-लम्बे समय तक संघर्ष और कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास चाहिए ।

कैदी ने आँसू पोंछ डाले, थोड़ा सा मुस्कराया-जानो उसने क्रान्तिकारी का संदेश अक्षर-ब-अक्षर आत्मसात कर लिया और अपनी दुर्बलता को सदैव-सदैव के लिये मन से निकाल दिया । वीर सावरकर की शिक्षाएँ उसके लिये जीवन-मंत्र बन गयीं और उन्होंने को आदर्श मानकर वह जीवन भर कठिनश्रमों से संघर्ष करता रहा ।

क्रान्तिकारी चाहे वह राजनैतिक हो या सामाजिक उसका जीवन किस प्रकार होना चाहिए इस आदर्श का व्यावहारिक मार्ग-दर्शन देने वाला वह कैदी और कोई नहीं गढ़र पाटी के संस्थापक सरदार सोहनसिंह थे । सोहनसिंह का जन्म पंजाब के अमृतसर जिले के ग्राम भकना में १८७० में हुआ था । एक निष्काम कर्मयोगी की भाँति वह २६ वर्ष तक लगातार अण्डमान तथा लाहौर आदि की जेलों में यातनायें सहते रहे । इसके बावजूद भी वे अपने उद्देश्य से कभी विचलित न होकर यह सिद्ध कर गये कि महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिये संघर्ष करने वालों की निष्ठा इतनी प्रगाढ़ होनी चाहिए कि एक जन्म में ही नहीं लक्ष्य-सिद्धि के लिये कई जन्मों तक अनवरत जूझते रहने की वाक्यावदा हिम्मत रख सकें ।

सरदार सोहनसिंह का यथार्थ जीवन ३९ वर्ष से प्रारम्भ होता है । वे अपने इतने लम्बे जीवन काल पर पश्चात्ताप करते हुए कहा करते -यदि मैंने समय के महत्व को पहले समझा होता तो ४० वर्ष में तो न जाने कितनी उपलब्धियाँ अर्जित करती होतीं " जब समझ आई तभी मे सही" कहावत के अनुसार वे एक क्षण का बिलम्ब किये

२.२७ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

बिना काम में जुट गये । १९०९ में जब वह अमेरिका में एक आरा मिल में काम करते थे, एक अमेरिकन ने उन्हें बुरी तरह से डाँटा । उस समय उन्हें ज्ञात हुआ कि पैसे की कीमत दुनिया में बराबर है सबसे पहली वस्तु है व्यक्ति का आत्मविश्वास और उसकी रक्षा के लिये सबसे पहली वस्तु है राष्ट्रीय स्वाधीनता । दासता चाहे वह राजनैतिक हो या बौद्धिक व्यक्ति को आत्महीनता की स्थिति में धकेलती है ऐसा व्यक्ति जीवन में कभी उन्नति नहीं कर सकता है । उन्नति के लिये चिन्तन-उन्मुक्त होना चाहिए । चिन्तन उन्मुक्त सभी हो सकता है जब अपनी बौद्धिक क्षमताओं को योजनाबद्ध रूप में करने के लिये वातावरण बाधक न हो पर पराधीनता में तो न अपना शरीर साथी न मन, सभी दूसरों की इच्छा पर आधारित । इस स्थिति में उन्हें तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार देश की राजनैतिक स्वाधीनता ही अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य दिखाई दी । इसी उद्देश्य से उन्होंने सर्वप्रथम गदर-पार्टी की स्थापना अमेरिका में की और वहाँ के भारतीयों को संगठित किया ।

संगठन में बड़ी शक्ति होती है एक आदमी अधिक से अधिक २०० पीण्ड वजन का हो सकता है पर यदि सौ-सौ पीण्ड वजन के सौ आदमी भी मिल जाते हैं तो वजन ५०० पीण्ड हो जाता है । दो हमेशा एक से दो गुने होते हैं । अनेक भारतीय मिले तो अनेक तरह के साधनों का एकत्रीकरण हुआ । बाल की छत में काफी धन और शस्त्र इकट्ठे हो गये । निश्चय किया गया कि इन शस्त्रास्त्रों को लेकर भारत चला जाये वहाँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति छड़ी कर दी जाये ।

इस निश्चय को क्रियान्वित किया गया किन्तु दुर्भाग्य से जहाज कामा गाटा मारु जिस पर अस्त्र-शस्त्र लादकर कलकत्ता लाये गये थे, खुफिया भेद के कारण कलकत्ते में पकड़ लिया गया और उसका शस्त्रास्त्र तथा स्वाधीनता सैनिक बन्दी बना लिये गये । श्री सोहनसिंह को भी कैदकर मुल्तान भेज दिया गया । उन्हें लाहौर-बड़कन का दोषी ठहराकर गोरी हुकूमत ने फाँसी की सजा सुना दी पीछे अपील पर यह सजा आजीवन कारावास में बदल दी गई । सोहनसिंह इसी सजा को भुगतने अण्डमान चले गये जहाँ वीर सावरकर ने उन्हें कच्चे से पक्का क्रान्तिकारी बना दिया । उन्होंने समझाया -क्रान्तिकारी उसे कहते हैं जो पहले अच्छी प्रकार वह निश्चित कर लेता है कि देश जाति, धर्म या संस्कृति के हित में अमुक योजना आवश्यक है उसे अपना धर्म समझ कर पूरा किया जाना मेरा कर्तव्य है, एक बार यह निश्चय हो गया फिर समय की कमी, साधनों का अभाव, बाल बच्चों का मोह, सुखों की ललक और मानापमान की चिंता जैसी बातों की ओर उसका ध्यान नहीं जाना चाहिए । फिर तो लक्ष्य-सिद्धि ही उसका जीवन और मरण होना चाहिये ।

सोहनसिंह ने इस बात को मन में पक्का कर लिया । छोटे ही दिन पीछे स्वयं भी तेल निकालने वाले कोल्हू में जोत दिये गये । उनकी इस उमंग ने उनका सारा कष्ट मिटा दिया । आधे अधूरे मन वाला व्यक्ति होता तो इतनी सी बाधा ही उसे रास्ते से डिगाने को पर्याप्त हो जाती पर सोहनसिंह जिस गुरु का शिष्य था वह स्वयं बाधाएँ जान बूझकर आमन्त्रित करता और सूफान में खेलने के लिये मजबूत था । फिर सोहनसिंह भला अपने मार्गदर्शक को लम्बकर पाप का भागी क्यों बनता ?

तेरह वर्षों की एक लम्बी विन्दग्ने इस तरह जबकी पीसते कटी । सोहनसिंह के स्यान पर कोई दुर्बलमना व्यक्ति होता-कोई सन्तान के लिये रोने वाला, कर्ज की चिन्ता में डूबा हुआ, बेकारी के लिए दूसरों का मुँह ताकता हुआ, पारिवारिक सुख-शान्ति के लिये देवताओं की आराधना करता हुआ, स्वास्थ्य ठीक करने के लिए अपने जीवन क्रम को न सम्भाल कर स्याने-दीवानों की बखाल खाफ करता हुआ व्यक्ति होता तो १३ वर्ष के कठोर जेल जीवन में मकोब के पत्तों की तरह सूखा हुआ बाहर निकलता पर सोहनसिंह ऐसे दुर्बल मनोबल वाला इंसान नहीं था । १३ वर्ष बाद उन्हें अण्डमान से लाहौर बदला गया कष्ट कुछ कम हुआ । वे जानते थे कि ब्रिटिश हुकूमत को किसी भी इच्छा को न स्वीकार करने का अर्थ उससे भी कठिन बातना हो सकता है पर परिस्थितियों से भयभीत होना उन्होंने सीखा नहीं था, एक दिन उन्होंने जेल में कैदियों के साथ ही रहे अत्याचार के विरुद्ध अनशन कर दिया । आखिर सरकार चुकी, अत्याचार कम हुए उसी के साथ ही सरकार ने उन्हें सराई रिहा करने का भी प्रस्ताव किया पर उन्होंने साफ कह दिया-मेरा मन भारतीय है, मुझमें जातीय स्वाधीनता है मैं किसी की शर्तें मानने की अपेक्षा सच्चाई के लिए मर जाना श्रेष्ठकर समझता हूँ । आखिर वहाँ भी सरकार चुकी और उन्हें जेल से बिना शर्त मुक्त कर दिया गया ।

जेल से बाहर आये-कुछ कमजोर मन वाले मित्रों ने समझाया अच्छा हुआ तू छूट गया सोहनसिंह चल धर धार सम्भल आराम से रह ? उनकी ओर एक तीक्ष्ण, कूढ़ दृष्टि डालते हुए सरदार ने कहा-"देश और समाज नष्ट-व्यवस्था की आग में जल रहे हों, समस्याएँ छाये जा रही हों, विषमता की आग फैली हुई हो ऐसे समय केवल अपनी सुरक्षा सोचने वाले पूर्ण होते हैं । मैं भूख नहीं हूँ मुझे सुख नहीं चाहिए । मैं तो चाहता हूँ देश, जाति धर्म और संस्कृति को बाहरी या भीतरी शत्रुओं से जब भी भय पैदा हो, मैं बार-बार जन्म लूँ और दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध बार-बार संघर्ष करता रहूँ ।" वे घर में नहीं बैठे फिर कांग्रेस आन्दोलन में कूदे और दो बार जेल गये ।

जेल से छूटने पर उन्होंने देखा कि स्वतन्त्रता की आग पूरी तेजी से फैल गई है पर गाँव के अनपढ़ किसान अभी तक भी पिछड़े पड़े हैं, तब उन्होंने अपना ध्यान उस ओर लगाया । ठीक भी या विचारशील लोगों को परम्पराओं

और सामयिक बहाव से भिन्न दिशा में सोचना ही चाहिए। उन्होंने ऑल इण्डिया किसान सभा में काम शुरू किया और ग्रामीण किसान-मजदूरों में नवचेतना भरने लगे। इस कारण १९३९ में उन्हें फिर बन्दी बना लिया गया। इस तरह लगातार ६५ वर्ष तक वे मृत्यु से संघर्ष करते रहे। उनका शरीर जर्जर पड़ गया किन्तु मन सोने की तरह तपा हुआ खरा निकल आया ?

९८ वर्ष की आयु में उनका निधन हुआ उस समय भी उनके चेहरे का तेज बता रहा था—“बुढ़ा मरकर दुबारा इसी मिट्टी में जन्म लेगा और देश के उत्थान में फिर से भागीदार बनना चाहता है। कौन जाने आज उनकी आत्मा फिर से जन्म लेकर इस देश के उत्थान की वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्पन्न हो क्योंकि गीता में भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है—“अर्जुन अन्तिम समय जो जैसी इच्छा लेकर मरता है, मैं उसकी पूर्ति अगले जन्म में निश्चय ही करता हूँ ?”

आशावादी—डंकन

कैलीफोर्निया के प्रसिद्ध डाक्टर डंकन पक्षाघात के शिकार हुए। हाथ, पाँव बेतरह जकड़ गये उनका हिलना-डुलना कठिन हो गया, गंभीरता इतनी ही रही कि गरदन से ऊपर के अंग आँख, कान, मुँह आदि ठीक काम करते रहे।

डंकन ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है—जब मैं अस्पताल में भर्ती हुआ तो पहले-पहल अपनी दयनीय दशा पर अत्यधिक दुःखी हुआ। पत्नी के पास इतने पैसे भी न थे कि वह ठीक से इलाज का खर्च भी वहन कर सके। बच्चों की सहायता के लिए मैं कुछ भी नहीं कर सकता था, इस स्थिति में कई दिन बहुत परेशानी रही।

पीछे विचार किया कि इस स्थिति में रहते हुए भी जो कुछ अपने लिए तथा अपने बच्चों के लिए किया जा सकता है वह तो करना ही चाहिए। बहुत सोचने के बाद उन्हें सूझा कि वे जो कुछ इन परिस्थितियों में कर सकते हैं वह यह है कि इस आकस्मिक विपत्ति के समय परिवार पर जो भय, आशंका का दबाव पड़ा है उसे दूर करें। वे जब पत्नी और बच्चे उनसे मिलने आते तो सारा सारा झमेला हँसने-मुसकाने, आशा-हिम्मत बढ़ाने वाली बातें करने में लगते। इसका प्रभाव यह हुआ कि बच्चे वह अनुभव करने लगे वे किसी अप्रत्याशित संकट में फँसे हुए नहीं हैं। छोटी-सी बीमारी कुछ समय के लिए ही पापा को लग गई है और वे जल्दी ही उन स्नेहों के बीच पहलू की तरह होंगे। मन का बोझ हल्का हुआ तो वे चाय से पढ़ने लिखने लगे और अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। पत्नी का जी हलका हुआ और उसने भी बीमारी की चिन्ता छोड़कर अस्त-व्यस्त आर्थिक स्थिति एवं गृह व्यवस्था को सम्हालना आरम्भ कर दिया। फल यह हुआ कि डंकन के

अस्पताल में भर्ती होते समय परिवार की अपनी स्थिति डोंगड़ोल दीखती थी वह संभल गई और लगभग वैसा ही दरा चलने लगा वैसा कि डाक्टर साहब की स्वस्थ स्थिति में भलता रहा था।

आशा और उत्साह भरी अभिव्यक्तियों का साधियों पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका चमत्कार उन्होंने अपने परिवार पर देखा। अतः निश्चय किया कि अस्पताल के दूसरे साधू रोगियों को भी इसी प्रकार लाभान्वित करें। उसी वार्ड में लकवा के दूसरे ऐसे रोगी भी रहते थे। जो उनकी अपेक्षा कुछ अच्छी स्थिति में थे। डंकन ने उनका जी हल्का करने का उपाय सोचा। फालतू समय में ताश शतरंज आदि खेलने के लिए उन्हें इकट्ठा करते। दूसरे बीमार अहाँ हाथ की सहायता से ताश शतरंज खेलते वहाँ डंकन को वह कार्य मुँह और दाँतों की सहायता से करना पड़ता। उँगलियाँ तो नहीं मुड़ती थीं पर कुहनो हिल सकती थी वे मुँह-दाँत और कुहनियों की सहायता से कई तरह के खेल खेलते और वार्ड के अन्य रोगियों का अच्छा मनोरंजन करते, साथ ही उन्हें यह भी साहस बँधाते कि जब बीमारी से इतना अधिक जकड़ा एक रोगी इतना मस्त रह सकता है तो अपेक्षाकृत कम रोग की स्थिति में उन्हें ज्यादा प्रसन्न, ज्यादा आशावादी और ज्यादा उत्साही होना चाहिए।

डंकन को फोटोग्राफी की जानकारी थी। उनके पास कैमरा भी था। वार्ड के रोगियों, कर्मचारियों तथा उनके घर वालों को उन्होंने बताया कि यदि वे चाहें तो उनसे बिना पारिश्रमिक दिये अच्छे फोटो खिंचवा सकते हैं। लोग अपनी रीलों ले आते और फोटो खिंचवाते, हाथ ठीक काम नहीं करते थे, पैरों से खड़े भी नहीं हो सकते थे पर उनमें पलंग पर बैठ सकने जितना सुधार हो गया था, सो वे बैठकर कैमरे का फोकस मिलाते और डोढ़ी की सहायता से शटर दबते। पूरे मनोयोग के साथ खींचे गये वह फोटो इतने साफ निकलते कि लोगों का उत्साह बढ़ता ही गया और अवकाश के समय वह वार्ड एक प्रकार से फोटोग्राफी का केबिन ही बना रहने लगा।

अपनी आत्मकथा में डंकन ने लिखा है पक्षाघात का आक्रमण इतना गहरा था कि चारपाई पर हिलना-डुलना और करवट लेना भी कठिन था, ऐसी स्थिति में भविष्य के निराशाजनक चित्र देखने वाला व्यक्ति धुल-धुल कर मर ही सकता था। बीमारी अपने आप में जितनी भयंकर होती है, उससे कहीं अधिक विपत्ति उस मनोवृत्ति के कारण आती है जो रोगी के मन पर निराशा, घबराहट, आसंका जन्म कष्ट का अनवरत चिन्तन करते रहने के कारण उत्पन्न होती है। बीमारी दवा से अच्छी हो सकती है पर यदि रोगी अपनी मनःस्थिति दुर्बल बनाले तो फिर उसका अच्छा हो सकना कठिन है।

उन्हें लगभग एक वर्ष अस्पताल में रहना पड़ा। छुट्टी मिली तो सिर्फ इतना ही सुधार हो सका कि घर में थोड़ा चल-फिर सकें, कुहनियों और कंधों के जोड़ तो मुड़ने लगे

वे पर जंगलियाँ और कलाइयाँ इतना साथ न दे सकीं जिससे कुछ हाथों से किया जा सकने वाला काम कर सकें। डाक्टरों ने इससे आगे का सुधार बहुत धीरे-धीरे हो सकने की ही आशा व्यक्त की और उसी स्थिति में अस्पताल से निवृत्त कर दिया।

डंकन ने सोचा जिस आशा, धैर्य और उत्साह के बल पर वे स्वयं जीवित रह सके, भारी पीड़ा को सहन कर सकें, परिवार को सामान्य ढर्रे पर चल सकने की प्रेरणा दे सकें, साथी रोगियों का मनोरंजन कर सकें और साथ ही अपना मनोबल बनाये रह सकें उसी आशावादिता का आश्रय लेकर वे इस अवांछित विषय परिस्थितियों में रहकर भी 'कामचलाक' जीवनवापन कभी नहीं कर सकते।

उन्होंने अपने घर पर ही फोटोग्राफी का बन्धा खुला किया। पत्नी उनका सहयोग करती। मन पूरी तरह लगने पर फोटो बहुत बढ़िया आते। ठोड़ी से शटर दबाकर फोटो खींचने वाला फोटोग्राफर धीरे-धीरे मशहूर होता चला गया और उस कौतुक को देखने के लिये फोटो खिंचाने वालों की भारी भीड़ आने लगी। अखिर उन्होंने एक बड़ा स्टुडियो बनवा और अपने करतब से इतने लोगों को बचकूत किया कि स्वस्थ स्थिति में चलने वाले डाक्टरों भन्धे की अपेक्षा कई गुनी आमदनी होने लगी।

अस्पताल में भर्ती होने से लेकर फोटोग्राफी में भारी सफलता पाने वाले पाँच वर्ष के समय में डंकन ने अपना मनोबल स्थिर रखकर बढ़ाया और उसके आधार पर मृत्यु एवं अर्पणता पर विजय पाई। इतना ही नहीं उन्होंने इस अवधि में अपने सम्पर्क में आने वाले विपत्तिग्रस्त लोगों को अपना उदाहरण देकर साहस बढ़ाया। निराशा के अन्धकार में आशा की बिजली कौंचाते रहना उनका स्वभाव ही बन गया था। अन्तु, आये दिन उनके पास कितने ही दुःखी, उद्विग्न व्यक्ति अपनी कष्ट कथा सुनाने उन्हें आते और बदले में आश्व और उत्साह भरी प्रेरणा योजना साथ लेकर जाते। इस क्रम के कारण वे असह्यो बोझिल जीवन हलके बनाने में सफल हो सके।

अपने मित्र का संकट टालने से लेकर अगणित व्यथा-वेदना प्रस्तों को आशा की किरणें दिखाने तक के क्रिया-कलाप का विशद वर्णन उन्होंने अपने बच्चों की सहायता से लिखाया और पत्रिकाओं में छपाया। उससे उन्हें जहाँ आजीविका मिली वहाँ यश भी बहुत फैला। आशावादी डंकन के नाम से वे सारे अमेरिका में विख्यात हुए।

अस्पतालों में रोगियों का मनोबल बढ़ाने के लिये उनके भाषणों की आवश्यकता अनुभव की गई। उन्होंने अस्पतालों में अर्पण अवांछित और वृद्धों के बीच अनेकों भाषण दिये। आशावादी विचारों के चमत्कार समझाने साथ ही वह मार्गदर्शन भी किया कि संकटग्रस्त स्थिति में पड़े हुए लोग किस विचारधारा और किस कार्य-पद्धति को अपनाकर किस प्रकार अधिक सुन्दर और समृद्ध जीवन जी सकते हैं।

डंकन कहा करते थे पक्षाघात ने उनके हाथ-पाँव जकड़ दिये। उन्हें शारीरिक सुविधाओं से वंचित कर दिया पर विधेयात्मक चिन्तन का द्वार भी उस विपत्ति ने ही खोला। पहले शरीर स्वस्थ और साहस सोया पड़ा था पर अब शरीर अर्पण होते हुए भी आशावादी चिन्तन निखरा है। दोनों परिस्थितियों की जब तुलना करता हूँ तो प्रतीत होता है हर दृष्टि से आशावाद की उपलब्धि मेरे लिये अधिक सुखद और श्रेयस्कर सिद्ध हो रही है।

देशभक्तों के निर्माता—

वारीन्द्र कुमार घोष

ब्रिटिश सरकार की सेवा में निरत भारतीय डाक्टर की एक हार्दिक इच्छा थी कि उनके पुत्र पूरे अंग्रेज साहब बनें। रहन-सहन, वेश-भूषण तथा शिक्षा-दीक्षा में वे किसी प्रकार अंग्रेज अफसरों से कम न हों। इस विचार से इन्होंने अपनी पत्नी को जब दूसरा पुत्र पेट में ही था, इंग्लैण्ड भिजवा दिया ताकि बालक को इंग्लैण्ड की नागरिकता प्राप्त हो।

फूल कहीं भी खिले पर उसकी सुगन्ध नहीं बदली जा सकती। गुलाब को भारत में लगाएँगे तो भी गुलाब जैसी सुगन्ध फैलाएगा और इंग्लैण्ड में भी वह गंध नहीं बन जायेगा रहेगा गुलाब ही। बालक इंग्लैण्ड में उत्पन्न हुआ। उसे वहाँ की नागरिकता प्राप्त हुई। अंग्रेजी बोलता, अंग्रेजों जैसी वेशभूषा धारण करता पर उसकी आत्मा भारतीय थी। अपने देश और संस्कृति के प्रति उसके हृदय में अपार श्रद्धा उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं पड़ी।

वे पिता थे कुम्भघन घोष। अपने दोनों पुत्रों को वे साहब बनना चाहते थे पर उनमें से एक भी साहब नहीं बना। बड़े पुत्र अरविन्द को इंग्लैण्ड ही रखा गया, वहीं बढ़ाया गया। वहीं आगे चलकर भारतीय संस्कृति का महान दूता बना जिन्हें योगीराज अरविन्द के रूप में विश्व जानता है। जिसे ब्रिटिश नागरिकता मिली, वारीन्द्र घोष एक महान देशभक्त बना। बंगाल में क्रांति का सूत्रपात करने का श्रेय उन्हें दिया जा सकता है। पिता की अन्धवहारिक तथा समय के प्रतिकूल इच्छा का समर्थन दोनों पुत्रों की आत्मा नहीं कर सकी।

वारीन्द्र कुमार घोष अपनी शिक्षा समाप्त करके इंग्लैण्ड से लौट आये। उन्हें अपने देशवासियों की सेवा करने की बचपन से ही चाह उत्पन्न हो चुकी थी। ब्रिटिश शासन के चेतनभोगी अफसर बनकर यह काम नहीं किया जा सकता था। वे भारत को इस शासन से मुक्त कराना चाहते थे। इंग्लैण्ड में उन्होंने एक स्वतन्त्र राष्ट्र के नागरिक को सम्मानित जीवन जीते हुये देखा। भारतीयों के साथ जिस प्रकार का होन शर्च इन अंग्रेजों के मन में था उसे भी देखा था। उन्होंने संकल्प लिया कि मैं अपना जीवन इसी लक्ष्य को अर्पित कर दूँगा। भारतीय जनता को जगाकर देश को स्वाधीन करने का उद्योग करूँगा।

वारीन्द्र अब अधिक समय तक वहाँ रुकने में असमर्थ थे । उनके लिये एक-एक पल पारी हो रहा था । पिता उन्हें आई० सी० एस० परीक्षा में बैठने के लिए बोर दे रहे थे । एक ओर तो पिता की आज्ञा और दूसरी ओर मातृभूमि का प्रश्न । वह किसे चुने किसे न चुने ? पर वे निश्चय कर चुके थे कि जिस धरती का अन्न खाकर, जल पीकर तथा जिसकी चावन गोद में उनकी कितनी ही पीढ़ियाँ स्वर्गोपम सुख भोग चुकी हैं मुझे उसी की सेवा करनी है । आत्मा की आज्ञा को पिता तथा रिश्तेदारों का आग्रह दबा न सका वे बंगाल लौट आये ।

भारत में आकर जब उन्होंने अपने देशवासियों की दशा देखी और उसकी तुलना इंग्लैण्ड के नागरिकों से की तो उन्हें जमीन-आसमान का अंतर स्पष्ट दिखाई दिया । गरीबी व अशिक्षा के कारण ये दीन-हीन जीवन जी रहे थे । विदेशी तो शासन करते थे उन्हें जनता के उध्यान से क्या सरोकार था । युवक वारीन्द्र का हृदय कठम से भर आया । ऐसी स्थिति में भला कोई भावनाशील युवक कैसे चुप बैठ सकता है ।

उन्होंने राजनैतिक शासता से मुक्ति पाने के लिये एक दल संगठित करने की योजना पढ़े, लिखे युवकों के सामने रखी । किसी ने उत्साह प्रदर्शित नहीं किया । उनकी बातें सुनकर लोगों ने उनका उपहास किया । "आप इंग्लैण्ड से क्यों लौट आए ? आप तो अच्छे अफसर बन सकते थे ।" वारीन्द्र को यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि बंगाल के लोगों में स्वतन्त्रता के प्रति मोह तो है पर वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर देश के लिये कुछ करने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं ।

वारीन्द्र घोष उन अधीर लोगों में से नहीं थे । जो भाषावेश में आकर किसी काम को उठा तो लेते हैं पर जब कठिनाइयाँ आती हैं तथा लोगों का सहयोग नहीं मिलता तो उसे छोड़ देते हैं । वे जानते थे कि बीज डालने के दूसरे तीसरे ही दिन यदि फसल पकने की आशा की जाय तो व्यर्थ ही जायगी । उसके लिये तो बड़े धैर्य की आवश्यकता है । उसकी देखभाल करना, पानी-छाद देना तथा खरपतवार उखाड़ते रहना पड़ता है तब कहीं महीनों में फसल तैयार होती है । राजनैतिक स्वतन्त्रता तो बहुत बड़ी चीज है इसके लिये तो बड़ा समय चाहिए, श्रम चाहिए, बलिदान चाहिए । वे उस समय की प्रतीक्षा करने लगे जब जनता के व्यक्तिगत स्वार्थों पर सरकारी चोट पड़े, और वह उसके प्रतिरोध में ठठ खड़ी हो । वे अपना काम सफलता असफलता की ओर ध्यान न देकर करते रहे ।

लार्ड कर्जन ने बंगाल को दो भागों में विभक्त करने की सोची और इसे कार्यान्वित किया जाने लगा तो बंगाली जनता के हितों तथा भावना पर सीधी चोट पड़ी । एक घतुर किसान की तरह वारीन्द्र जिस समय की प्रतीक्षा कर रहे थे वह समय आ पहुँचा । खेत तैयार था बस बीज बोने की देर थी । क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी । संगठन का क्रम भी चल पड़ा । जनता ने लार्ड कर्जन के

बैंग भंग का व्यापक विरोध किया । बंगाल के टुकड़े फिर भी होकर रहे । यह क्रान्तिकारियों के लिये अच्छा अवसर था । इस समय ही लोगों को प्रेरित किया जा

आंदोलन चलाने के लिये जनमत को तैयार करना आवश्यक होता है । इसके लिये सभायें तथा व्यक्तिगत रूप से घर-घर जाकर जन जागरण करना न तो स्थायी होता है न सुगम । घर-घर जाकर जनजागरण का काम भ्रष्ट, पत्रिकाएँ ही कर सकती हैं । संगठन बन गया तो प्रचार कार्य के लिए 'युगान्तर' नामक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया गया । इस पत्र के सम्पादक बने स्वामी विवेकानन्द के भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त । यह पत्र जनजागरण के लिए बड़ा उपयुक्त सिद्ध हुआ । १९०८ तक तो इसकी बिक्री २०००० हो गई । इस पत्र के माध्यम से क्रान्तिकारियों का एक अच्छा-खासा संगठन बन गया ।

दल की शक्ता-प्रज्ञाछाएँ बंगाल में ही नहीं बंगाल से बाहर तक फैल गई । वारीन्द्र घोष इस दल के सफल संचालक थे । जो नव युवक केवल बंगाल को एक करने के उद्देश्य से इस संगठन में आये थे अब उनका लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य हो गया । उनका पूर्ण स्वराज्य महज एक कल्पना नहीं थी । वारीन्द्र घोष के तेज दिमाग ने इसकी पूरी रूप रेखा तैयार की थी । अपनी सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग उन्होंने दल के एक सदस्य हेमचन्द्र दास को विदेश भेजने में लगाया । हेमचन्द्र दास ने अपनी सारी सम्पत्ति बेचकर अपना सर्वस्व राष्ट्रहित पर न्योछावर किया । इसके पीछे वारीन्द्र की ही प्रेरणा थी । वे १९०६ में पेरिस गये । वहाँ से रुस गये तथा बम बनाना सीखकर आये । पाँडे से अँग्रेज चालीस करोड़ भारतीयों पर उनके ही सहयोग से राज्य कर रहे थे । इस दल ने जनता को सरकार से असहयोग करने की प्रेरणा दी । विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, डाक, तार, रेल, तथा प्रशासन में असहयोग करने के साथ-साथ खादी तथा स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग आरम्भ हुआ । गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन जैसा ही व्यापक असहयोग इन दिनों बंगाल में चला ।

उन दिनों बंगाल में एक और क्रान्तिकारी दल का आरम्भ हुआ उसका नाम था 'अनुशीलन समिति' वारीन्द्र ने उससे सम्बन्ध स्थापित किया पर वे जल्दबाज थे । उन्हें पूरी तैयारी के बाद सोच समझकर कदम उठाये जाने जितना धैर्य नहीं था । वारीन्द्र जानते थे कि यह जल्दबाजी हानिकारक सिद्ध हो सकती है । उन्होंने अनुशीलन समिति के सदस्यों को समझाया पर वे माने नहीं । इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ ।

१९०७ में क्रान्तिकारियों ने बंगाल के गवर्नर पर बम फेंकने की योजना बनाई । पहली बार बम फटने से रह गया । दूसरी बार बम फटा पर गवर्नर बच गया । इस प्रकार की असफलता ने वारीन्द्र को मजबूर कर दिया कि वे अपने दल को भी इसमें भाग लेने दें ताकि भविष्य में क्रान्ति का काम और तेजी से चले ।

खुदीराम बोस तथा प्रफुल्ल चन्द्र चाकी नामक दो नवयुवकों को दल ने -यायाधीश किंग्सफोर्ड को सम्पत्त करने का भार सौंपा। किंग्सफोर्ड का स्थानान्तरण मुजफ्फरपुर हो जाने के कारण ये युवक मुजफ्फरपुर गए। वहाँ किंग्सफोर्ड को सलाश करना कठिन था। इन्होंने उसका पता लगा लिया तथा उसके आफिस के मार्ग में छिपकर बैठ गये। उसकी कार आई। खुदीराम के बम ने कार को एक ही बार में उड़ा दिया और दोनों भाग निकले।

उन दिनों वारीन्द्र घोष के बड़े भई अरविन्द घोष भी इनके साथ ही थे। यह वारीन्द्र के कुशल संगठन का ही परिणाम था कि इतना सरासरी दल बंगाल में बन सका तथा अन्धरा के प्रतिकार के लिये कितने ही युवक सत्पर हो गये थे। सबसे अधिक ताकत इंजन को लगानी पड़ती है, ठिन्ने तो पीछे अपने आप खिंचे आते हैं। इस संगठन के इंजन थे वारीन्द्र। वे इस पुष्पोद्यान के माली थे जिसमें खुदीराम जैसे बलिदानी फूल खिले जिनकी सौरभ ने कितने ही युवकों को देशप्रेम की बलिवंदी पर चढ़ने के लिए तैयार किया।

किंग्सफोर्ड फिर भी बच गया था। उस दिन वह कार में नहीं था। उसके स्थान पर केनेडी परिवार की दो महिलाएँ मर गईं। १९०८ के मई माह में खुदीराम बोस गिरफ्तार कर लिये गये। उन्हें फाँसी की सजा दी गई। वे गीता हाथ में लेकर फाँसी के फंदे पर हँसते-हँसते झूल गये। उनका अन्तिम संस्कार हुआ तो हजारों दर्शक उपस्थित थे। इनकी राख को लोगों ने लूट लिया। ये बलिदान व्यर्थ नहीं गये। लोगों को इन बलिदानियों के भाग्य से ईर्ष्या होने लगी वे भी देश के लिये सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तैयार हो गये।

खुदीराम के चकड़े जाने पर पुलिस बहुत सतर्क हो गई। उसके गुप्तचर बंगाल भर में फैल गये। जब पर बम फैकना कोई साधारण बात नहीं थी। अँग्रेजों को लगने लगा था कि अब बंगाल हमारे हाथ से गया। बंगाल में यदि वे असफल हो गये तो फिर सब जगह असफलता ही उनके हाथ लगेगी। अँग्रेज वारीन्द्र कुमार घोष के नाम से चिढ़ चुके थे। धड़ा-धड़ गिरफ्तारियाँ होने लगीं। वारीन्द्र घोष, अरविन्द घोष, ठपेन्द्र भाब बनर्जी, उल्लासकर दत्त, हेमचन्द्र दास, कन्हैया लाल दत्त, इन्द्र भूषण राय आदि दल के बड़े-बड़े नेता गिरफ्तार कर लिये गये। उन पर मुकदमा चलाया गया। अरविन्द घोष की फैवली देशबन्धु चित्तरंजन दास ने की।

वारीन्द्र ने देखा कि पुलिस का दमन-चक्र चलू है और वह निर्दोष लोगों को परेशान कर रही है। दमन को रोकने के लिए उन्होंने अपने बयान में कहा-"हमारा उद्देश्य हत्या करना नहीं किन्तु जन जागरण के लिए हम इसे अनिवार्य समझते हैं तथा आततायी को दण्ड देने का हमारा यह कोई अनुचित तरीका नहीं। जिनके हाथ में मत्ता है वे फाँसी देते हैं वैसे ही यह दण्ड हमने दिया।

हमारा लक्ष्य आजादी पाना है। अब जब आरम्भ हो चुका है तो इसका अन्त आजादी ही होगी।"

वारीन्द्र घोष को अपने अन्य साथियों सहित आजन्म काले पानी की सजा दी गई। वहाँ इनके साथ बड़ा अमानवीय व्यवहार किया गया। जिस व्यक्ति ने अपना सारा जीवन देश को समर्पित कर दिया हो उसे इस प्रकार के कष्ट-कंटकों को सहने की तैयारी करके ही इस कर्म क्षेत्र में उतरना होता है। इन देश-भक्तों के कष्टों की करुण कथाओं ने देश के नागरिकों को बहुत झकझोरा। वे कष्ट-कंटक अँग्रेजी शासन को भारत से समाप्त करने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुये।

अरविन्द घोष इस मुकदमे में बरी हो गये। उसके पश्चात् वे फिर अध्यत्म क्षेत्र में चले गए। वारीन्द्र घोष का वह समर्पित जीवन सार्थक हुआ। बंगाल के लाखों लोगों को इनके बलिदानों से प्रेरणा मिली। इस प्रकार के त्यागी, उद्योगी तथा भावनाशील व्यक्ति ही मानवता को कुछ दे सकते हैं। इनका चरित्र अब तक इतिहास के पृष्ठों पर रहेगा, देश पर सर्वम्ब न्योछावर करने वालों को कमी नहीं रहेगी।

महान बलिदानी-

भाई मतिदास

मुगल शासन काल में एक हिन्दू को बादशाह का आदेश मिला-"बढ़ि जीवन चाहते हो तो स्वधर्म त्याग कर मुसलमान धर्म स्वीकार कर लो और हमारी राजजादी से विवाह करके सम्पन्न सम्मानित जीवन जीओ अन्यथा मृत्यु दण्ड पाने के लिये प्रस्तुत हो जाओ।" एक ओर सम्पूर्ण विलासिता का जीवन और दूसरी ओर मृत्यु, अब किसे वरण करे? इस व्यक्ति ने मृत्यु को स्वीकार किया अपने धर्म को नहीं छोड़ा। इस साहसी का नाम था भाई मतिदास।

किसी देश-जाति को जीतकर उस पर अधिकार तो किया जा सकता है पर वह स्थायी नहीं रह सकता। जब तक उस देश के नागरिकों की धार्मिक तथा सांस्कृतिक चेतना को नष्ट न कर दिया जाय। भारत वर्ष की समृद्धि कथाएँ सुनकर धन की लोभी जातियों ने भारत पर आक्रमण किये तथा चन्द-देशद्रोहियों के बलबूते पर शासन भी किया पर उनका सदा यही प्रयास रहा कि इनकी धार्मिक चेतना सपाव कर दी जाय। यही मुगलों ने किया। मुगल बादशाह को भाई मतिदास का व्यक्तित्व ऐसा ही लगा जिसे देखकर उसे भय हुआ कि यह सब हिन्दुओं की जगा देगा तो हमारा शासन खतरे में पड़ जायगा।

भाई मतिदास स्वाभिमानी तथा दृढ़ चरित्र के व्यक्ति थे। वे भारतीय धर्म व संस्कृति के ज्ञाता तथा उसकी महानता से परिचित थे, वे चाहते थे कि हिन्दुओं को अपना वास्तविक स्वरूप बताकर उन्हें संगठित कर विधर्मी शासन से मुक्त करें। इसकी भनक जब बादशाह

के कानों में पड़ी तो उन्हें धर्म-पथ से विचलित करने के लिए यह आदेश प्रसारित किया।

भाई मतिदास भला इस प्रकार के अन्याय के सामने सिर क्यों झुकाते मृत्यु से अज्ञानी ही भय खाता है। जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में जो हमारे धर्म की मान्यताएँ हैं यदि उन्हें कोई जीवन में उतार ले तो उसे किसी का भय नहीं रह सकता। वे जानते थे कि अच्छा राजपद और राजा की पुत्री से विवाह करके जो विलासिता पूर्ण जीवन जीयेंगे वह तो मृत्यु से भी बढ़कर होगा। इससे धार्मिक चेतना की जो चिंगारी उन्होंने जलाई है वह बुझ जायगी पर यदि वे मृत्यु का वरण कर लेंगे तो यही चिंगारी बढ़वाने ल उत्पन्न कर देंगे। मुगल शासक भी जान जायेंगे कि मृत्यु भी किसी को धर्म-पथ से विचलित नहीं कर सकती।

यह आदेश देने वाला फिर मुगल सम्राट औरंगजेब था जिसके हाथ ऐसे अनेकों निरपराध धर्म प्रेमियों के रक्त से सन चुके थे। इसी के परिणामस्वरूप मुगल शासन का अन्त हुआ।

दिल्ली के चौदनी-चौक में आज जहाँ खम्भारा है ठीक उसी स्थान पर मतिदास की प्राण-दण्ड दिया गया। शरीर पर आरा चल रहा है और वे मुस्करा रहे हैं। मुगल सेनापति अफजल खाँ उनका बड़ साहस व दृढ़ता देखकर चकित हो गया। वह बलिदानी इस शाप से मरा कि आज भी भारतवासियों का भस्मक गर्भ से ऊपर उठ जाता है। ऐसा ही बलिदान प्रस्तुत करने की हस्तक स्वयं के हृदय में भी ठठती है।

जब भी धार्मिक चेतना जागी है राष्ट्रीय-गीत के कीर्तिमान स्थापित हुए हैं। विदेशी हमारी इस चेतना को अपनी शिक्षा के मंद-विष से इतना मृत-प्राय बना गए हैं कि इसे पुनः जाग्रत करने के लिए कितने ही मतिदासों की बलि हमें देनी है। उनकी तैयारी हमें करनी ही चाहिए।

प्रसिद्ध क्रान्तिकारी—

कन्हैयालाल दत्त

गोरे जेलर ने देखा कि जिस युवक को कल फाँसी दी जाने वाली है आज भी उसके चेहरे पर वही मनोदमरी मुस्कान फूट रही है, उसी आत्मीयता के साथ वह उसका अभिवादन कर रहा है। जिस दिन से यह कैदी इस जेल में आया है उसकी विचारणाओं में महान परिवर्तन आने लगा। जब इस सुदर्शन युवक को फाँसी की सजा सुनवाई गई तो उसके हर्ष का पारावार न रहा। लम्बे बालों तथा चौड़े चेहरे वाले इस युवक से जेलर ने उस दिन पूछा था—“तुम इतने प्रसन्न क्यों हो?” उसने आश्चर्य की भी कि वह राष्ट्र पर अपने बलिदान के सौभाग्य पर प्रसन्न होना पर उस युवक ने इस आशय के विपरीत उत्तर दिया “मैं आगले जन्म की तैयारी में व्यस्त हूँ और यही मेरी प्रसन्नता का कारण है।”

विज्ञप्ता बना दी। वह इससे भारतीय संस्कृति का लगा ज्ञान जाने लगा, वह सम्झने लगा कि आत्मा जन्म-मरण से परे है, युवक आगले जन्म की तैयारी में लगा है। इन दोनों में परस्पर घनिष्ठता बढ़ती गयी।

मृत्यु के एक दिन पहले भी उसकी पूर्ववत् मुस्कान देखकर जेलर ने पूछा—“आज तो ईस रहे हो कल तुम्हारे यही मुस्कराये होठ मृत्यु की कालिमा से काले पड़ जायेंगे।” युवक ने कहा कुछ नहीं उसी तरह मुस्कराता रहा। जेलर का हृदय इस जिंदादिल युवक के बिछोह की कल्पना से भर आया। यह युवक वे स्वतन्त्रता की बलिदेदी पर बलिदान होने वाले प्रसिद्ध क्रान्तिकारी कन्हैयालाल दत्त। जिन्हें अलीपुर-कांड के सिलसिले में फाँसी दी गई थी। जेल की कोठरी में भी इनका वजन १५ पौण्ड बढ़ गया था। फाँसी के बाद जेलर ने इनका चेहरा देखा। उस पर वही अमर मुस्कान बिखरी हुई थी। मृत्यु की कालिमा का कोई चिह्न इस चोर के शरीर पर नहीं था, होना भी कैसे उनके लिए तो मृत्यु, आत्मा के वस्त्र परिवर्तन की प्रक्रिया थी।

कन्हैयालाल दत्त का जन्म कलकत्ता के निकट चन्द्र नगर में १८८७ में हुआ था। जन्माष्टमी के दिन जन्म लेने के कारण इनके माता-पिता ने इनका नाम कन्हैयालाल रख दिया। परिवार की स्थिति सामान्य थी। पिता इनके पढ़ाई का खर्च नहीं चुटा पाते थे। पिता की इस विवशता को कन्हैया स्वयं जानते थे। उन्होंने पिता का भार नहीं बढ़ाया। अपने पाँचों पर खड़े होकर इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी० ए० किया। रूयान तथा छोटी-मोटी नौकरियाँ करके उन्होंने अपनी शिक्षा पूरी की। सच है जहाँ चाह है वहाँ राह तो निकल ही आती है।

पढ़ाई पूरी करके वे स्वतन्त्र व्यवसाय करने की सोच रहे थे। व्यवसाय के लिए धन चाहिए था जो इनके पास नहीं था। अँगियों की नौकरी वे करना नहीं चाहते थे। अन्तःकरण से अवगत आयी “कन्हैया तू अपने पेट की चिन्ता कर रहा है और भारत के करोड़ों नागरिक दासता की कक्की में पिसे जा रहे हैं। तेरी यह जवानी किस दिन काम आयेगी? इसे सफल बना देना के लिए कुछ कर।” इस आवाज को सुनकर उन्होंने स्वतन्त्रता लाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया।

क्रान्तिकारियों से इनकी भेंट हुई। १९ वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने चन्द्रनगर में देशभक्तों की एक शाखा स्थापित की। बम बनाने की कला सीखने के लिए आप मानिकगढ़ जग के बम कारखाने में आने-जाने लगे। पुलिस तथा जासूसों को इस कारखाने का पता नहीं था। किसी देशद्रोही ने अपने बोझ से साथ के लिए इस कारखाने की सूचना सरकार को देने की नीचता की। भेद खुल गया। इस स्थान पर छापा मारा गया जिसमें ३४ व्यक्ति निरपत्तर हुए। कन्हैयालाल भी उनमें से एक थे।

जेल की चहारदीवारी में बन्द होने पर भी न तो वे लोग निष्क्रिय बैठे रहे और न इनकी गिरफ्तारी पर क्रान्ति

२.३३ महापुरुषों के अधिस्मरणीय जीवन प्रलेख-२

का काम रुका। इनका स्थान अन्य स्त्रियों ने ले लिया। इस केस के सरकारी वकील की फरवरी, १९०८ में क्रान्तिकारियों ने हत्या कर दी। दिन दहाड़े अदालत में डी. एस. पी. को खत्म कर दिया। हत्या करना क्रान्तिकारियों का उद्देश्य नहीं था। इस माध्यम से वे विदेशी शासकों को बता देना चाहते थे कि वह आम इन गिरफ्तारियों से मुझने वाली नहीं है और भी जोर से भड़केगी जिसमें यह साम्राज्य जलकर खाह हो जाएगा।

इस क्रान्ति दल का एक कमजोर आदमी जो मृत्यु के भय से काँप गया तथा प्रलोभन में पड़कर सरकारी गवाह बन गया। यह व्यक्ति का नरेन गोसाँई। विदेशी शासक अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए कुछ भी कर रहे पर एक भारतीय का इस प्रकार का विश्वासपात असह्य था। इस एक की गद्दारी ने अन्य देशभक्तों की पान मर्खटा तथा सदुद्देश्य को भी आँध पड़वाई। कन्हैया लाल तथा सत्येन्द्र ने इस देशद्रोही को सजा देने की ठान ली।

इनके उद्देश्य को जानकर अन्य बुद्धिमान क्रान्तिकारियों ने इन युवकों का उत्साह बढ़ाने की बजाय इन्हें हतोत्साह किया। किन्तु वे दोनों अपने निश्चय पर अटल थे। अन्य लोगों का असहमत होना निराधार भी नहीं था। जेल में रहते हुए पिस्तील पा लेना तथा नरेन के पास पहुँचना निजात असम्भव था। किन्तु दुर्घ इच्छा-शक्ति तथा बौद्धिक कौशल के बल पर इन दोनों ने इस असम्भव को सम्भव बना दिया।

इनके पास रिवाल्वर कैसे पहुँचे। वह अभी तक रहस्य के पर्तों में छिपा है। किन्तु यह सत्य है कि इन्होंने किसी प्रकार दो रिवाल्वर प्राप्त कर लिए। बहुत सम्भव है छाने के लिए जो मछली तथा कटहल आदि आते थे उनमें छिपाकर यह इस तक पहुँचाई गई हों। रिवाल्वर मिल जाने पर आधी सफलता तो हाथ लग गई।

नरेन सरकारी गवाह हो जाने के कारण इन स्त्रियों से दूर एक अस्पताल में रखा गया था। उस तक पहुँचना भी टेढ़ी खीर था। सत्येन्द्र ने खाँसी का भरोसा बनकर अस्पताल की शरण ली तथा कन्हैया ने पैट दर्द का कहना बनाकर। पहले सत्येन्द्र पहुँचा, उसके कई दिनों बाद कन्हैया लाल। कन्हैया ने अस्पताल पहुँचते ही जोर-जोर से कराहना चिल्लाना आरम्भ किया। वह सत्येन्द्र को अपने आगमन की सूचना देने का संकेत था।

दोनों ने बीमारी का अभिनय इस खूबी से किया कि किसी ने इन पर सन्देह नहीं किया। सत्येन्द्र ने अपने आपको जीवन से निराश प्रकट किया तथा मुखबिर बनने की इच्छा प्रकट की। नरेन से मिलने की इच्छा प्रकट करने पर नरेन तथा एक जेल का अफसर इससे मिलने का लोभ संवरण न कर पाये। दोनों इनसे मिलने पहुँचे। नरेन को देखते ही सत्येन्द्र ने रिवाल्वर से फायर किया पर गोली नरेन के पाँव में लगी। नरेन भाग खड़ा हुआ। अन्य मरीजों ने देखा कि दिन-रत खाट तोड़ने वाला पैट का मरीज शेर की तरह उछलता व लफ्फ कर नरेन के पीछे

भागता। वह देखते ही कन्हैया लाल ने सारी गोलियाँ इसी देशद्रोही पर सम्पात कर दीं। वह भराखाई हो गया।

यह सभाचार बिजली की तरह सारे कलकत्ता में फैल गया। कन्हैया लाल के इस साहस पर नवयुवकों में उत्साह की एक लहर दौड़ पड़ी। वे भी कमर कसकर आन्दोलन में भाग लेने को उठ खड़े हुए। जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ में ही लिपटे पड़े थे। इस काण्ड ने उन्हें झकझोर कर खड़ा कर दिया। भारतीय जनता में उत्साह का संचार हो गया। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जैसे नेताओं ने यह समाचार सुनते ही थिठाई बाँटी।

अंग्रेजी हुकूमत की यह बहुत बड़ी हार थी। उसकी जेल में रहने वाले क्रान्तिकारी ऐसा काम कर जाएँ। उनके पिछले जो जेल अधिकारी के सामने गोलियों से छलनी कर दें। वह भी किसी छोटे-मोटे स्थान पर नहीं कलकत्ता जैसे बड़े नगर में जहाँ अंग्रेजी साम्राज्य की नींव पड़ी थी। सत्त के मुँह पर इससे बड़ा लगावा और क्या हो सकता था?

भरती तो आज भी वही है। देशवासी भी बदले नहीं। पर आज कुर्बानी, वह देश-भक्ति, वह आदर्श एक सपना बनकर रह गया है। हर आदमी ने पैट इतना बढ़ा कर लिया है-अपना स्वार्थ ही सब कुछ मान लिया है। उसी संकुचित दृष्टिकोण को अपनाकर नीति-अनीति का भेद किये बिना अपना घर भरने की हीन वृत्ति से ग्रस्त होकर राष्ट्र के हित की बात सोच नहीं पाते। वह दिन दूर नहीं जब इस धरा पर फिर कन्हैया लाल उत्पन्न होंगे तथा स्वार्थ के पुतले नरेन को सबक सिखाकर ही छोड़ेंगे।

कन्हैया लाल के इस हुस्साहस पर विदेशी साम्राज्यवादी बीखला उठे। मुकदमे की रस्म अदायगी पूरी हुई। फर्सी से अधिक और क्या दे सकती थी यह हुकूमत दोनों को फर्सी की सजा सुनाई गयी। १० नवम्बर १९०८ के दिन इन दोनों को फर्सी दे दी गयी।

फर्सी के बाद शहीद का शव लेने के लिए उनके भाई तथा परिवार के अन्य व्यक्ति जेल पहुँचे। शोक से सभी की ऊर्जा फटी जा रही थी। बड़े भाई की रुलाई नहीं रुक पा रही थी। गोर जेलर ने उनकी पीठ थपथपाते हुए कहा-“आप रोते क्यों हैं जिस देश में ऐसे वीर पैदा होते हैं। वह देश धन्य है। मरेंगे तो सभी अमर होकर कौन आया है पर आपके भाई जैसे भाग्यवान कितने होते हैं?” उन्होंने विस्मय से देखा गोर अधिकारी स्वयं रो रहा था। जैसे उसका अपना भाई दिवंगत हो गया हो। काँपते हाथों से शव के मुख पर से कम्बल हटाया तो देखा कन्हैया इन रोने वालों पर हँस रहे थे। एक अमर मुस्कान उनके होठों से फूट रही थी।

कौन कहता है कि वह शहीद गुलाम रहा था। जिसने एक पल भी विदेशी हुकूमत को नहीं माना। अपने धृष्ट स्वार्थों का गुलाम वह बना नहीं। जेल की दीवार उसके संकल्प को बाँध नहीं पायी। फर्सी की सजा उसका चैन

नहीं छीन पायी । मृत्यु के विकराल हाथ उसकी मुस्कान नहीं छीन पाये । जिसे अंग्रेजी हुकूमत ने एक हत्याकाण्ड पर देशवासियों ने उसे शहीद का गौरव प्रदान किया । सैन से उसकी शवयात्रा निकाली गई । हजारों की संख्या में लोग एकत्रित हुए । पंचभूत शरीर की राख को लोगों ने लूट लिया अपने मस्तक पर लगाने के लिये ।

यह सम्मान, यह विजय श्री तथा यह श्रद्धा किसी-किसी को ही मिलती है । जो आदर्शों के पथ पर चलते हैं वे ही यह सब पा सकते हैं । इस पर कुत्सेर का कोष व विश्व का साम्राज्य भी न्योछावर किया जा सकता है । कन्हाई साल दत्त ने अपनी अन्तःप्रेरणा अन्तर्दुःख नहीं की, वह खड़े हुए तो सफल हो गई उनकी जयान्ती । आज देश में कितने ही युवक बेकार फिरते हैं । क्या वे अपनी इस जयान्ती को समझ पाये ? यदि समझ पाये होते तो आज देश की यह दशा नहीं होती । अनाचार और अनैतिकता इस प्रकार बढ़ी-बढ़ी न होती ।

कन्हाई साल दत्त अपनी भरी जयान्ती में अपने कर्तव्य पथ पर चलते हुए शहीद हो गये । उनकी मुस्कान सदा यह कहती-बताती रही—“अन्याय चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो उसका प्रतिकार करने का साहस न करना अपने मानवीय कर्तव्यों की उपेक्षा करना है । अन्याय का अन्धकार चाहे कितना ही सघन क्यों न हो एक आदर्शवादी व्यक्ति उसे मिटाने के लिए दीपक की तरह जले तो प्रकाश होकर ही रहेगा ।” हमें आज़ादी मुफ्त में नहीं मिली । अनेक देशभक्तों के रक्त से इस स्वतन्त्रता का निर्माण हुआ । स्वतन्त्र भारत की उन्होंने ऐसी कल्पना तो नहीं की थी जैसी आज हम देख रहे हैं । इन देशभक्तों के प्रति हमारे हृदय में तनिक भी श्रद्धा है—उसका जीवन धूल पड़ कर हमारे हृदय में तनिक भी हलचल होती है—औखों में दो अश्रु छलक आते हैं तो अन्तःकरण की आवाज-आत्मा की पुकार को सुनकर श्रम-पथ पर चलना होगा । सर्वनाश विभीषिकाओं से जूझने तथा नवसृजन के लिए हमें अपना जीवन नियोजित करना ही होगा ।

एक सच्चे भारतीय-

श्री कान्त अनन्त राव आपटे

चाचा । पास वाली बहिन जी । वे यह चिट्ठी रोते-रोते दी है । मैं इसे डाक में डाल आऊँ ? सात वर्षीय बालक ने चाचा श्री कान्त अनन्त राव आपटे से पूछा । उनको रोते हुए चिट्ठी देने की बात सम्झ में नहीं आयी, उन्होंने चिट्ठी देखी तो भाषा उनका । पता उनके पड़ोसी का था पत्र लिखने वाली लड़की अपने पिता को मौखिक नहीं कह सकी तथा पत्र में लिखी तो अवश्य यह कोई गूढ़ बात होनी चाहिए । रोते हुए पत्र देने का अर्थ शुभ नहीं हो सकता । उन्होंने लिफाफा फाड़कर पत्र पढ़ा ।

“पूज्य पिताजी ! कस जब यह पत्र आपको मिलेगा तब तक मैं किसी दूसरी दुनिया में आ चुकी होऊँगी । मैंने जो भूल की है उसकी सब मृत्यु दण्ड ही हो सकती है । आपने मुझे पढ़ने के लिए कॉलेज में भर्ती कराया ताकि मैं अपना जीवन संवर सकूँ पर मैंने उसे बिगाड़ लिया । मैंने एक लड़के की चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर अपना सर्वस्व उसे सौंप दिया । वह मेरी इस मूर्खता का लाभ उठाकर बोहे ही दिनों में बदल गया । अब मैं आपको मुँह दिखाने योग्य नहीं रही और दिखाऊँगी भी नहीं ।

आपटे इससे आगे पढ़ नहीं पाये । उनका हृदय भर आया । स्वार्थ और लोलुपता के इस दानव ने कितनी ही सुकुमार फलियों के भोलेपन का साध ठठाकर उन्हें कुचल-मसलकर आत्महत्या तथा सामाजिक प्रताड़ना का शिकार बनवा है । वासन के पीतल पर प्यार के सोने का मुसम्मा चढ़ाकर जो नर-पशु मारी की उदारता का अनुचित लाभ उठाते हैं उन्हें सबक देने के लिये इस विवेकशील सत्त्व की चेतना जाग उठी । दोष होनों का और दण्ड एक को मिले यह न्याय उन्हें स्वीकार न था ।

आपटे के चाचा उससे बड़ा स्नेह करते थे । उसने अपने चाचा को यह पत्र दिखाया । चाचा ने इस सम्बन्ध में अपना एक ही सुझाव बताया वह यह था कि कोई युवक इस कन्या से विवाह करने के लिए राजी हो जाय तो उसके प्राण बचाए जा सकते हैं ।

इस प्रकार का उदार युवक मिलना कठिन था । कोई तैयार भी हो जाता तो समाज के तथ्यांकभित्त ठेकेदार उसका जीवन हथप कर देंगे । यह मुसीबतें एक साथ मौल लेने वाली बात थी । ऐसा कोई युवक खोजा जाता तब तक तो उस लड़की का प्राणान्त ही हो जाता । आपटे ने आजीवन अविवाहित रहने का व्रत ले रखा था । आपटे के अन्तःकरण से अन्धारा आया । किसी के प्राणों की रक्षा के लिये व्रत तोड़ना पड़े तो कोई हानि नहीं । आपटे ने उस कन्या को स्वीकार कर लिया । चाचा के प्रयत्नों से दोनों विवाह-सूत्र में बँध गये ।

आपटे के पिता पूना के निवासी थे किन्तु पोस्टल सुपरिन्टेण्डेण्ट होने के कारण उन्हें अलग-अलग स्थानों पर अपना जीवन व्यतीत करना पड़ा । जब वे अहमदनगर में थे तब श्रीकान्त का जन्म हुआ । एक स्थान पर नहीं रह पढ़ने के कारण श्री कान्त आपटे की पढ़ाई नियमित नहीं हो सकी । वे बड़ी कठिनाई से मैट्रिक तक पढ़ सके ।

स्कूल की पढ़ाई नियमित न होते हुए भी आपटे ने अपने ज्ञान-पण्डित को घरने में कमी नहीं रखी । वे भारतीय धर्म शास्त्रों का अध्ययन करते, उनमें लिखी हुई बातों से जब प्रचलित रीति-रिवाज तथा मान्यताओं की तुलना करते तो उन्हें जमीन-आसमान का अन्तर दृष्टिगोचर होता था । इस स्वच्छन्द का यह परिणाम हुआ कि उनके अन्तःकरण में विवेक जाग्रत होने लगा । जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण समाजवादी तथा मानवतावादी होने लगा ।

१.३५ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१

सारे देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन की बूम मची हुई थी। आन्दे के मन में देश-प्रेम का सागर हिलोरे ले रहा था। वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ में ही बँधे नहीं रह सके। सामाजिक प्रगति के लिये राजनैतिक स्वतन्त्रता एक अनिवार्य आधार होता है। आन्दे ने अपने आपको राष्ट्र की सेवा में समर्पित कर दिया। पत्नी के साथ उन्होंने जो विशाल सहृदयता दिखाई थी प्रतिदान में उसने अपने आपको इनके उद्देश्य के लिए समर्पित कर दिया।

आन्दे ने एक क्रान्तिकारी दल का संगठन किया। अपने जैसे देशभक्त युवकों को एकत्रित करके उन्होंने पर्याप्त शक्ति संगठित करली थी। भारत के अन्य क्रान्तिकारी दलों से सम्पर्क स्थापित करके उन्होंने अँग्रेजों को आतंकित करना आरम्भ कर दिया। बाने लूट सेना साधारण बात थी। कोई अँग्रेज भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार करता तो उसका बदला वह दल सिये बिना नहीं रहता था। आन्दे की पत्नी अपने घर के मोर्चे को सम्भालती थी। उसने इन्हें पूरी तौर पर देश सेवा के लिए छोड़ दिया था। आन्दे की योजनाओं तथा कार्यपद्धति इतनी सूझ-बूझ की होती थी कि अँग्रेज सरकार इनका पता नहीं लगा पाती थी। आन्दे उनके लिए सिर दर्द बन चुके थे। वह किसी भी मूल्य पर इन्हें फँकड़ना चाहती थी और उनकी सख्त चालें नकामकाब कर देते थे।

पुलिस ने आन्दे के घर को आ घेरा। पति की रक्षा करने के लिए पत्नी दरवाजे पर चट्टान बनकर अड़ गयी। अँग्रेज अफसर ने उसे हटाने को कहा पर वह हटी नहीं। क्रुद्ध होकर उसने लठ्ठी चलाने को कहा। लठ्ठी के प्रहार से उस बीर वारी की कलाई टूट गयी पर वह चौंखट से हटी नहीं। हारकर पुलिस को गोस्ती चलाती पड़ी। एक दिन आन्दे ने उसकी रक्षा की थी आज उस का प्रतिदान उसने अपने प्राण देकर चुका दिया था। इतनी देर में आन्दे सिपाहियों की आँखों में धूल झोंक कर भाग चुके थे।

आन्दे को अपनी पत्नी के दिवंगत होने की सुबन्ध मिली तो वे वारी की इस महान्तर पर मत्त मस्तक हो गये। वे नहीं चाहते थे कि विवाह करें पर यदि वे विवाह नहीं करते तो उन्हें यह रूप देखने को कहाँ से मिलता कि हम अपने अर्धांग को इस प्रकार पद-दलित किये हुए हैं, यह हमारे प्रगति का सोपान सिद्ध हो सकता है, यह हमारी मूर्खता ही तो है।

राष्ट्र और सम्राज के लिये सारा जीवन अर्पित करने के उद्देश्य से उन्होंने अजीवन अविविहित रहने का व्रत लिया था। वह व्रत पत्नी की मृत्यु के उपरान्त ज्यों का त्यों चलने लगा। उस देवी ने उन्हें गृहस्थी के झंझट में नहीं पटकवा था। बाल बच्चा कोई था नहीं। अब उनके सामने एक ही लक्ष्य था लोक-सेवा।

गाँधी के विचारों की आँधी जब चली तो उसमें अच्छे-अच्छे प्रतिभावान, सम्पदावान उड़ गये। इस विचार धारा से परिचित होकर आन्दे को लगा कि जिस पथ की उन्हें प्रतीक्षा थी वह उन्हें मिल गया है। अब उनके मन में कोई विकल्प नहीं रहा, उन्होंने स्वयं को इस आन्दोलन का एक अंग बना लिया।

आन्दे जी ने जन कमाने को तो जीवन का एकमात्र उद्देश्य समझा नहीं था। विवाह हो जाने पर भी वे इस ओर से उदासीन ही थे। उस देवी ने कभी उनसे इस सम्बन्ध में आग्रह नहीं किया, क्रान्तिकारी जीवन में कमाई करना सम्भव भी नहीं था। घर में अकेले व्यक्ति की बोड़ी सी व्यवस्थाकसूर्य पूरी हो जाती। इतना ही वे कमाते बाकी समय का उपयोग समाजसेवा, देशसेवा में करते थे। इनके पास गाँधी जी को देने के लिए न धन था, न सम्पदा थी न और कुछ था। उन्होंने जीवन ही गाँधी के आदर्शों को समर्पित कर दिया जो धन-सम्पदा से कई गुना बहुमूल्य था।

गाँधी जी के नेतृत्व में अँग्रेजों से संघर्ष हुआ। अँग्रेज हमारे भारतवासियों की विजय हुई। गाँधी जी ने राजनैतिक स्वाधीनता की ही अपना लक्ष्य नहीं माना था। वे रामराज्य स्थापना चाहते थे। स्वराज्य मिलते ही इस संघर्ष के सैनिकों ने अपने देशप्रेम का मूल्य उगाड़ना आरम्भ कर दिया, जिसके साथ जो कुर्सी लगी उसी पर जमकर बैठने लगे। उसी की चिन्ता रहने लगी। बोड़ी सी सफलता को ही सब कुछ मानकर उसी में लीन हो गये। उद्देश्यों को भूल गये। आन्दे जी ने अपने उस देश-प्रेम को बेचा नहीं उन्होंने बचे कार्यों में अपने को लगाया।

आन्दे जी जानते थे कि भारत गाँवों का देश है। गाँवों की समृद्धि पर ही सारे देश की समृद्धि है। उन्होंने अपना कर्म क्षेत्र गाँवों को ही बनाया। सच्चा लोक-सेवक वह है जो सम्राज की बड़ को सौंवे। भारत के प्रगति प्रासाद की नींव गाँवों से भरी जायेगी वही वह टिक सकेगी। दिल्ली का शासन-सूत्र ही सब कुछ नहीं कर सकता। उसकी अपनी महत्ता तो है पर गाँवों की प्रगतिशील बनाना भी कम महत्वपूर्ण नहीं बरन् प्राथमिक कार्य है।

अपने गाँव के डेढ़ बीघा अनुपज्जक जमीन को आन्दे जी ने अपनी प्रयोगशाला बनाया। वे कहते कि भारतीय किसान के पास जमीन बहुत कम है। उस कम जमीन पर खेती करके भी सुखी और प्रसन्न रहा जा सकता है। वे उस हल्की कंकड़-पत्थरी वाली जमीन पर अधिकतम फसल उगाते थे। उसी की उपज से अपना निर्वाह करते हैं।

आन्दे जी के तपोमय जीवन के प्रति लोगों के हृदय में बड़ी आस्था थी। वे उनके कहने पर धन, खेत सब देने को उत्तर रहते थे, आग्रह करते, पर वे नहीं लेते। आरम्भ में उन्होंने अपनी इस अनुपज्जक भूमि पर काम करना आरम्भ किया तो लोगों ने उन्हें पागल व सनकी समझा। जब उस खेत में अन्य अच्छे उपजाऊ खेतों की अपेक्षा दुगुनी तिगुनी फसल होने लगी तो वे ही इनके प्रशंसक बन गये।

आन्दे जी विनोद जी से बहुत प्रभावित थे। उनकी विनोद के रचनात्मक कार्यों में बड़ी रुचि थी। सादगी, सच्चयता, अपरिग्रह तथा ऋचि-परम्परा का जीवन जीने वाले आन्दे जी ने इस क्षेत्र में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी उन्होंने बीस-बीस फुट जमीन में भी गोईं बोकर उसमें पर्याप्त उन्नत उत्पन्न किया। वे १९५१ से इस प्रकार के खेती सम्बन्धी प्रयोग कर रहे थे।

आपटे जी के तरीके को अपनाकर कम से कम भूमि वाला किसान, कम से कम साधन होते हुए भी अपना तथा अपने परिवार का पोषण कर सकता है तथा लोकसेवा के लिये समय निकाल सकता है। इस भूमि के टुकड़े पर चार पाँच घण्टा परिश्रम करके वे अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेते थे। शेष समय वे समाज निर्माण, लोक शिक्षण तथा सेवा में लगाते थे। उपदेश देने के लिए उनका यह जीवन क्रम ही काफी है वे तो बस सेवा करना सीखे हैं।

आपटे जी खेती नहीं करते पूजा करते थे। घरती मत्ता की पूजा सेवा करके उससे एक शिशु की तरह अन्न का उपहार पाते। फावड़ा, कुदाली, हँसिया, खुरपी, छद्दरी आदि उनके लिये माला, धूप, दीप नैवेद्य था। वह त्र्यम्बक देवता की पूजा ही उनके जीवन का आधार था। आपटे जी ने इस आदर्श कृषि परम्परा से इस क्षेत्र के किसानों में नव जीवन की संसार नहीं किया उन्हें सच्चे अर्थ में भारतीय बनाया था।

आपा-धापी, प्रदर्शन और उपदेश, दान, त्याग पर जो राजमार्ग इस तपस्वी लोक-सेवक ने चुना वह कोई सच्चा लोकसेवी ही अपनाता है। उनकी अपनी कोई संतान नहीं पर उनके स्नेह को छाया में कितने ही स्नेह के भूखे शिशुओं को सुखद छाया नसीब हुई है। 'बसुधैव कुटुम्बकम्' के भारतीय आदर्श को उन्होंने जीवन में साकार किया था।

आज भीलिकता की अन्धी-दौड़ में सभी बेतहाशा भाग रहे हैं पर इस दौड़ में सभी बेतरह धक भी रहे हैं। आपटे जी जैसे उदारमना व्यक्ति ही समाज को इस अंधानुकरण की विभीषिका से बचा सकते हैं। इनके इस जीवन से प्रेरित होकर भावनाशील युवक इस पथ पर निकल पड़ें तो देखते-देखते विश्व का कायाकल्प हो जाय।

सफलता संकल्पयानों को मिलती है—

निराला

चौदह वर्ष की अल्पायु में उसका विवाह हो गया। पत्नी अच्छी हिन्दी जानती थी। पत्नी के मुँह से हिन्दी भाषा सुनकर उन्होंने भी हिन्दी भाषा का विद्वान बनने का संकल्प लिया। कुछ सज्जावश और कुछ भक्ति के प्रति आश्वस्त रहकर अपनी आकांक्षा उसे बता न सके फिर पत्नी पितृगृह चली गई। युवक की कामना मन की धन में रह गई। विवाह के चार वर्ष बाद ही उसका देहान्त हो गया।

अहिन्दी भाषी प्रदेश में अब हिन्दी सीखे तो किससे सीखे। मन में सीखने की अदम्य चाह ने रास्ता सुझा दिया। सरस्वती पत्रिका के अंक पढ़-पढ़ कर अपने अध्ययन के बल पर अच्छी हिन्दी सीखनी आरम्भ कर दी। सरस्वती पत्रिका ने अपनी इस विशेषता के कारण हिन्दी भाषा के उत्थान में बड़ा योग दिया था। इसका त्रेय उसके तात्कालिक सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को

था। जिन्होंने इसे ईश्वरोपासना की तरह सम्पादित किया था।

अब तो वह आगे बढ़े एवं हिन्दी में कविता करने लगे। कविताएँ तो लिखीं पर उन्हें प्रकाशित करने के लिये तो पत्र-सम्पादकों के सहारे रहना पड़ता है। उनकी सभी कविताएँ लौटकर आने लगीं।

युवक जानता था कि सफलता पाने के लिये परीक्षण तथा संघर्ष अनिवार्य है। उन्होंने आरम्भ से ही अध्यवसाय के बलबूते पर हिन्दी भाषा सीखी थी। साहित्यकार बनने के लिये तो और भी अधिक परिश्रम करना चाहिए। वह हारे नहीं। अपनी ससक्त रचनाएँ अस्वीकृत होकर लौटतीं तो उन्हें कोई खेद नहीं होता था न।

प्रकाशन तो दूर उनका उपहास किया जाता था। उसके छन्दों के नये-नये नमस्करण संस्कार किये जाते थे। इन सब उपहासों को वह पी गया। वह जानता था कि सच्चाई को आव नहीं तो कल स्वीकार किया ही जायगा।

उन्होंने प्रकाशकों से संपर्क किया, स्वयं पत्रिकाओं का सम्पादन किया। वहाँ भी वही बात सामने आई पहले तो सम्पादकगण उनकी कविताएँ प्रकाशित नहीं होने देते थे अब पत्र के मालिकों ने विरोध किया।

संघर्ष चलता ही रहा। पास में सम्पदा नहीं, न कोई डिग्री जिसके सहारे धन कमाया जा सके। उन्होंने छोटे से छोटा काम किया। दवाइयों के पैम्फलेट लिखे, विज्ञापन बनाये सभी कुछ किया।

अंत में विजय हुई एक कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ फिर दूसरा व तीसरा। लोगों ने पढ़ा, सराहा और वह सप्रतिभाकाश में चमक उठे। यह व्यक्ति वे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, उन्होंने हिन्दी कविता को एक नई दिशा दी।

जड़-जगत में आदर्शयादिता का खोजी—

जानसन

बहोस के मकान में आग लगी। मुहल्ले वाले भी उसे बुझाने में जुटे। छोटे देहात में आग बुझाने के बड़े साधन न होने से आग पर काबू जल्दी न पाया जा सका। फिर भी प्रयत्न अभी रहा कि आग को बुझाने और घर का सामान निकासने के लिये नितान्त अधिक प्रयत्न सम्भव हो सके किया गया।

यह सब चलता रहा। सामान भी बहुत कुछ बाहर निकल आया पर एक कोठरी में सोती हुई उस लड़की का किसी को ध्यान ही नहीं रहा। जब आग की लपटों में बहुत झूलसी तब वह जगी और चीखी पर अब चारों ओर से वह कोठरी आग की लपटों से बुरी तरह घिर गई थी। उसमें से निकल सकना न लड़की के लिए सम्भव था और न किसी की यह हिम्मत बढ़ती थी कि अपने को जोखिम में डालकर उसे निकाले। सभी विवशता अनुभव कर रहे थे और मुँह नीचे को सटकाने लगे थे।

२.३७ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

थी तो विवशता ही पर एक सड़के के अन्तःकरण से असाधारण जोश आया । दूसरों के प्राण बचाने के लिए अपने प्राण जोखिम में डालने का साहस न जाने उसमें कहाँ से आ गया । लड़के ने एक गीला कम्बल शरीर पर लपेटा, जूते फड़े किये, तीर की तरफ आग से घिरी उस कोठरी में धुस गया जिसमें लड़की चीख रही थी । अपनी भुजाओं में उसे लपेटा और दौड़ता हुआ वापस आ गया ।

लड़की झुलसी तो थी पर उतनी नहीं जितना वह किसान युवक । लड़की को साधारण देहाती उपचार करने से ही राहत मिल गई, पर बेतरह जले हुए युवक को बोस्टन (अमेरिका) के अस्पताल में दाखिल किया गया । उसका नाम था-‘जानसन’।

लड़के की उच्च-भावना और साहसिकता की कथा सुनकर अस्पताल के सभी कर्मचारी प्रभावित हुए । वे जो उपचार कर सकते थे, करते ही रहे, पर स्थिति कुछ सुधरने में नहीं आ रही थी । मृत्यु और जीवन-संघर्ष चल रहा था ।

प्रकृति के विस्तृत नियम कहते थे, हमें अपनी धुरी पर घूमना है, भावना और उपयोगिता से हमें कुछ सेना-देना नहीं । जो आग को छूयेगा वह जलेगा । सब जितने गहरे होंगे-शरीर जितना अशक्त होगा, उतना कष्ट सहना होगा । हमारे यहाँ धर्मात्मा, अधर्मी के बीच कोई भेदभाव नहीं । हमारी अपनी आचार-संहिता है और उसी पर चलेंगे । जानसन धर्मात्मा है इससे उसके नियम-काबू नहीं बदल सकते ।

चेतना के सदैव नियम कह रहे थे हमारा अपना क्षेत्र है मनुष्य का अन्तःकरण । जहाँ उत्कृष्टता होगी वहाँ आत्मबल बढ़ेगा और उस आत्मबल से प्रकृति के नियमों को बदल सकना अधिक सम्भव न हो तो भी धैर्य, शक्ति और हिम्मत के साथ कष्टों को सहने का बल तो मिल ही सकता है ।

अस्पताल की रोग-संख्या पर लगता था बहुत और चेतन क्रिया-प्रक्रिया का संघर्ष आरम्भ हो गया और दोनों ही एक दूसरे को चुनौती देने लगीं ।

जखन इतने अधिक और इतने बड़े थे कि उनमें न रुकने वाले आब बहने लगे । दिन रात रक्त-मिश्रित पानी रिसता और हर रोज कई-कई आदरों बदलनी पड़तीं । डाक्टर चिकित्सा में संलग्न तो थे पर उनकी चिकित्सा कुछ अधिक कारगर नहीं हो रही थी । वे इस लड़के की साहसिकता से बहुत प्रभावित थे और उसे बचाने का हर प्रयत्न कर रहे थे पर कुछ रास्ता नहीं निकल रहा था । अपनी असफलता पर उन्हें उदासी ही घेरती चली आ रही थी ।

मृत्यु-शय्य पर पड़े हुए जानसन ने वस्तुस्थिति को समझा, पर वह बबराया नहीं और भी अधिक संतुलित तथा गम्भीर हो गया । उसकी निजीविषय जाग्रत हुई और निश्चय किया कि वह मरेगा नहीं अभी जीवित रहेगा । उसने डाक्टरों से कहा आप उदास न हों । नये साहस से प्रयत्न करें मेरी जीवनेच्छा अब आपको नये सिरे से

अधिक सहायता करेगी । न केवल दूसरे का प्राण बचाने में वरन् जीवन को मृत्यु के मुख में से निकाल सकने में भी क्या सत्साहस काम कर सकता है ? यह जानने के लिये डाक्टर उत्सुक ही नहीं आतुर भी हो गये । उन्होंने चावल सड़के से कहा-तुम चाहो तो चिकित्सा विधि में अपनी सलाह भी सम्मिलित कर सकते हो । हम लोग यथा सम्भव अपने उपचार में वैसा ही हेर-फेर करने की सोचेंगे ।

अब चिकित्सकों की मण्डली में यह मरीज भी शामिल था । अब उससे भी परामर्श लिया जाने लगा ।

जानसन ने सोचा मानसिक समस्याओं का समाधान यदि अपने भीतर से निकल सकता है तो शारीरिक समस्याओं का समाधान क्यों न होगा । भावों से बहते हुए आब के स्वच्छ भाग को यदि पुनः शरीर में प्रवेश कराया जाय तो उससे गलित विकृतियों को हटाया जाना सम्भव हो सकता है । वह सूझ उसे अध्यात्मवादी सिद्धान्तों के आधार पर सूझी । अपने सद्विचारों और सद्भावों को यदि विकृतियों से अलग छोट लिप्य जाय और उन्हें अधिक उत्साह के साथ अन्तःकरण में प्रवेश कराया जाय तो दुष्प्रवृत्तियों से-बुरी आदतों से सहज ही छुटकारा पाया जा सकता है । यही तत्त्व शरीर पर सफल क्यों न होगा । उसने जितना सोचा उतना ही विचार परिपक्व होता गया ।

दूसरे दिन डाक्टर आये तो एक नया प्रयोग करने के लिए कहा । उसके भावों में से बहते हुए आब में से शुद्ध बलात् निकालकर उसे शरीर में पुनः प्रविष्ट कराया जाय । डाक्टर पहले तो इस नये प्रयोग के लिए तैयार न हुये पर जब उसने यह लिखित अनुरोध प्रस्तुत किया कि इस नये प्रयोग में उसकी जान भी जाय तो कुछ हर्ज नहीं, क्योंकि शरीर अब ऐसा हो गया है जिसको एक प्रकार से बचने की आशा ही नहीं रह गई है । डाक्टरों ने उसका अनुरोध स्वीकार कर लिया । आब को इकट्ठा करके उसका शुद्ध अंश ‘सीरम’ निकाला गया और उसे सुई से उसके शरीर में पुनः प्रविष्ट किया गया । परिणाम बहुत ही उत्साहवर्धक निकला । भावों से बहने वाला आब बन्द हो गया । डाक्टर इस नये प्रयोग की सफलता से आश्चर्य चकित थे ।

आब तो बन्द हो गया पर भावों के समीपवर्ती भाग इतने विकृत हो गये थे उनका भरना, नई चमड़ी उत्पन्न होना असम्भव लगता था । जानसन ने इस समस्या का हल भी अष्टात्य सिद्धान्त के आधार पर सोचा । अपनी विकृतियों का समाधान अपने ही पास हो सकता है । शुद्ध चमड़ी को अशुद्ध चमड़ी के स्थान पर लगा दिया जाय, तो इससे शुद्ध स्थान की कोई हानि न होगी किन्तु अशुद्ध की अशुद्धि मिट जावेगी, यही होता भी है । श्रेष्ठ पुरुष अपने ज्ञान, तप और त्रम आदि का एक बड़ा भाग पतित और पिछड़े हुए लोगों के लिए दे देते हैं । इससे उनकी कुछ हानि नहीं होती । उनका पुण्य-परमार्थ खर्च हुए आत्मबल और तप की पूर्ति कर देता है । साथ ही पतित का उद्धार भी हो जाता है । इसी आधार पर यह शुद्ध स्थान की

त्वचा अशुद्ध स्थान पर लगाने दी जाय तो उस शुद्ध स्थान पर नई त्वचा आवेगी और सामने ही गलित प्खों का भय जाना भी सम्भव हो सकेगा। इस तथ्य पर विचार करता रहा। जितना सोचा उतना ही वह आघात सही प्रतीत होता गया। चेतन जगत के भावनात्मक सिद्धान्त शरीर पर, भले ही वह बड़ हों लागू क्यों न हो सकेंगे।

दूसरे दिन डाक्टरों से उसने अनुरोध किया उसके शुद्ध स्थान की चमड़ी उखाड़कर गलित प्खों में जोड़ दी जाय। डाक्टर इस नये प्रयोग के लिए भी मुश्किल से ही तैयार हुए पर उन्हें आशा वह जरूर थी कि पिछले प्रयोग की तरह शायद वह नया प्रयोग भी सफल हो जायगा। जब रोगी उस प्रयोग के लिये अपना शरीर स्वयं प्रस्तुत कर रहा है तो उसमें कुछ आपत्ति भी नहीं थी।

यह प्रयोग भी किया गया। शुद्ध स्थान की त्वचा उखाड़कर घावों पर लगाई गई। आश्चर्य इस बार भी हुआ। ८० प्रतिशत घाव पुर गये। साव ही उखाड़े हुए स्थान की क्षति-पूर्ति भी स्वयंमेव हो गई। २० प्रतिशत जो घाव रह गये वे इनका बसी तरह का अपरेशन फिर हुआ और ये रहे बचे घाव भी भर गये।

तीन वर्ष बाद अस्पताल से छुट्टी मिली। इस बीच इसका 'सीरम' का औषधि रूप प्रयोग और त्वचा का स्थानान्तरण वाला प्रयोग होता रहा। डाक्टरों के लिए इसमें दुहरी दिलचस्पी थी। इस परमार्थपरायण युवक की साहसिकता से प्रभावित लोग उसकी जीवन रक्षा करके सामाजिक कृतज्ञता का परिचय देने के लिये उत्सहित थे, दूसरा उसका शरीर चिकित्सा-विज्ञान की भावी सम्भावनाओं से जन-समाज को भारी लाभ देने वाला था। इस दुहरी दिलचस्पी से डाक्टरों ने वह सब साधन जुटाये जो साधारणतया अस्पतालों में उपलब्ध नहीं थे। युवक की साहसिकता और सूझ-बूझ की चर्चा जहाँ भी हुई, वहाँ प्रभाव उत्पन्न हुआ। लोगों ने जानसन को जन बचाने के लिये बहुत कुछ किया। लगभग ११ हजार डॉलर अस्पताल की सुविधा के अतिरिक्त खर्च अथवा सो कुछ ही हजार व्यक्तियों ने जिनमें वे डाक्टर भी शामिल थे, मिलजुल कर पूर्ति कर दी।

अस्पताल से छुट्टी पाकर जब वह निकला तो दो शिकायतें शेष थीं एक तो पड़े-पड़े उसके सारे जोड़ें जकड़ गये थे और मुड़ने में दर्द करते थे। दूसरे चेहरे के घब भर जाने पर उसकी शक्ल कुरूप हो गई थी इसके लिए भी उसने आध्यात्मिक सिद्धान्तों का ही प्रयोग किया। सत्ता संघर्ष से जड़ता का निराकरण चेतना क्षेत्र में तो सफल होता ही रहा है, शरीर पर भी सफल हुआ। उसने मालिश के कई प्रयोग किये, जोड़ों को रगड़ा और वहाँ उत्तेजना उत्पन्न की। व्यायाम की कई ऐसी विधियाँ खोज निकाली जो जकड़े हुए जोड़ों को फिर गतिशील बना सकें।

कुरूप अंगों को काट-छाँट करके उन्हें सुडौल बनाने की बात भी उसे सूझी। कुरूपता और सौन्दर्य दोनों ही

अपने में विद्यमान हैं। हेर-फेर की प्रक्रिया ही साधना, उपस्थ कहलाती है। यदि उसका प्रभाव जीवन के अन्धकार को प्रकाश में बदल सकता है तो कुरूपता सौन्दर्य में क्यों नहीं बदल सकती। नाक, जबड़ा ठोड़ी यह तीन अंग विशेषतया कुरूप हो गये थे। उसने डाक्टरों से अनुरोध करके एक और प्रयोग कराया। किस अंग को किस तरह काट-छाँटकर कहाँ का पैबन्द कहाँ लगाकर कुरूपता दूर हो सकती है, वह उसने बताया। डाक्टरों ने उसमें थोड़ा सुधार किया और वह प्रयोग भी कर डाला जानसन की कल्पना सही निकली इस प्रयोग ने उसकी कुरूपता दूर कर दी और वह अस्पताल में भर्ती होने से पूर्व जैसा ही सुडौल सुन्दर लगने लगा।

(१) शरीर से निकलने वाले साव का शुद्ध अंश 'सीरम'-औषधि रूप में प्रयुक्त होना (२) त्वचा का दूसरे स्थान पर प्रत्यारोपण (३) जकड़े जोड़ों में मुलायमी उत्पन्न करने वाली मालिश (४) प्लास्टिक सर्जरी। इन चारों ही आविष्कारों ने जानसन के शरीर पर प्रयोग होने के बाद दिशा प्राप्त की और उस सन्दर्भ में काफी आगे चलाकर इनकी बड़ी प्रगति सम्भव हो सकी, जिसने असंख्यों को नवजीवन प्रदान किया।

जानसन का परमार्थ एक लड़की को आग से निकालने की प्रक्रिया के साथ आरम्भ हुआ। उसने चार प्रयोग स्वास्थ्य जगत के लिये प्रस्तुत किए। पीछे उसने कृषि और बागवानी क्षेत्र में भी यही किया। पीछों और बुद्धों के जाति-भेद का संमिश्रण करके उसमें अधिक समुन्नत किस्म की फसलें उगाई इस सूझ के बारे में भी वह यही कहता था पारस्परिक-सहयोग और प्रत्यावर्तन मानव समाज के लिए ही हितकर नहीं-पेड़-पीछों के लिये भी वह लाभदायक है। इस कृषक युवक की सूझ-बूझ की जब भी सराहना हुई तब उसने यही कहा-मैंने आध्यात्मिक सिद्धान्तों को ~~विज्ञान~~ जगत में प्रयोग करने की बात भर सोची। दुनिया ने देखा कि वह तथ्य गलत नहीं सही है कि प्रकृति का कण-कण उच्च आदर्शों का ही समर्पण करता है।

न्याय के लिए संघर्ष

जगदीश चन्द्र बसु भी० ए० की उपाधि लेकर भारत लौटे। वह समय स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व का था। भारतीयों के साथ वेदभय करता जात था। वह प्रेसिडेंसी कॉलेज में भौतिक विज्ञान के अध्यापक हो गये। कॉलेज के संचालक उच्च अनेक अध्यापक अंग्रेज थे। भारतीय अध्यापकों को केवल दो तिहाई वेतन ही मिलता था।

समान योग्यता प्राप्त और एक समान विद्यालय की सेवा करने वाले अध्यापकों में वेतन की यह असमानता रंग भेद के कारण ही थी। उस विद्यालय में तीन अध्यापक कम वेतन पर काम करते थे पर विरोध कौन करे? विरोध करने का परिणाम सभी जानते थे नौकरी से अलग कर देना। अंग्रेज संचालक तो यह मानता था कि भारतीय

२.३९ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग २

अध्यापकों को भले ही सय्यन शिक्षा और योग्यता प्राप्त हो पर वह विज्ञान विषयों को उतनी अच्छी तरह नहीं पढ़ा सकते थे जितनी अच्छी तरह अंग्रेज ।

अंग्रेजों का यह अन्याय बसु सहन न कर सके । उन्होंने बेतन तथा समान सुविधाओं की माँग की और अन्याय का विरोध करने लगे । बसु भारतीय थे, अपने देश और जाति का उन्हें अभिमान था । वह सोचते, यह सब प्रकार के अन्याय इसलिए सहन करने पड़ते हैं कि हमारा देश स्वतन्त्र नहीं है । सात समुद्र पार देश के व्यक्तियों का शासन है ।

बसु के इस विरोध से कॉलेज का संचालक रुष्ट हो गया । उसने बसु की नौकरी स्याई भी नहीं की, इसलिए और भी कम वेतन मिलता था । इस कम वेतन को लेने के लिए बसु तैयार नहीं थे । महोबे की प्रथम शरीख आती, वेतन के लिए उन्हें बुलाया जाता और वह मन्न कर देते पर अध्यापन कार्य में किसी प्रकार की कमी नहीं की । पूर्ण मनोयोग के साथ वे अपनी सेवाएँ देते रहे और साथ ही समान अधिकारों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष जारी रखा ।

दो माह, चार माह, अब पूरे तीन वर्ष हो गये । इतना पैसा उनके पास कहीं था जो वेतन के अभाव में अपने परिवार का खर्चा चला लेते । वह कठिनाइयों में डूबे नहीं बरन् उनका सामना करने का प्रयास करते थे ।

आर्थिक स्थिति खराब होने लगी । अभी तक वह कलकत्ता में रहते थे पर अब वहाँ मकान छोड़कर बन्ननगर में रहने लगे । वहाँ कम किराये का एक मकान मिल गया । वहाँ से निरव कलकत्ता आना होता था रास्ते में एक नदी पड़ती थी, उनके पास इतने पैसे नहीं होते थे कि रोज-रोज नाव का किराया दें । वह अपने हाथ से नाव खेकर इस पार से आते और उनकी फनी गव को फिर वापस उस किनारे पर से आती । उनकी फनी ने आर्थिक कठिनाइयों के समय पूरा-पूरा सहयोग दिया ।

तीन वर्ष के इस संघर्ष के बाद कॉलेज के अधिकारियों को झुकना पड़ा और सिद्धान्तः मान लिया कि कॉलेज के सभी अध्यापकों को चाहे अंग्रेज हो या भारतीय समान रूप से वेतन तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी । बसु को यह तीन वर्षों का पूरा वेतन देकर उनकी सेवाओं को स्थायी घोषित किया गया ।

यह जगदीशचन्द्र बसु भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे जिन्होंने वनस्पति विज्ञान में अनुसन्धान कार्य करके सम्पूर्ण विश्व में अपनी धाक चमायी थी ।

पचारस का काम अकेले करने वाले—

विनोद कानूनगो

सन् १९४२ में एक युवक स्वतंत्रता आन्दोलन में पकड़कर जेल में दौंस दिया गया । जेल की चहलपदीवारी में रहना कुछ दिन तो युवक को बड़ा अखरा । इस प्रकार

अमूल्य समय को व्यर्थ गँवा देना उसे बड़ा बुरा लग रहा था । उसने अपने जीवन में एक महत्वपूर्ण काम करने का बचपन में निश्चय किया था । वह निश्चय था उड़िया भाषा का एक विशाल शब्द-कोष तैयार करना ।

उसने विचार किया कि क्यों न शुभ काम को शीघ्र ही आरम्भ कर दिया जाय । जीवन काल तो थोड़ा सा होता है । किसी महत्वपूर्ण कार्य को करने के लिये जितनी सीधता की जाय उतना ही उत्तम है । उसने अपने शब्द-कोष का निर्माण करने का निश्चय कर लिया ।

राजनैतिक कैदी होते हुए भी युवक को राजनैतिक कैदी की सभी सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थीं । उसने अपने साथियों को अपना विचार बताया । वे इस युवक की हँसी उड़ाने लगे । भस्म जेल में भी इस प्रकार का काम किया जा सकता है ? जिसमें विश्व की महत्वपूर्ण जानकारी दी जा रही हो, उसके सुत्र यहाँ एकत्रित कैसे किये जा सकते हैं ?

उसने देखा कि ये लोग तो मेरे इस कार्य में सहयोग नहीं दे सकेंगे । उसके अन्तःकरण से आवाज आई कि पगले सहयोगियों की बर्बाद करने वाले भला कोई महत्वपूर्ण कार्य कैसे कर पायेंगे ? महात्मा ईसा ने जब अपना कार्य आरम्भ किया था तो उन्हें सहयोग मिलना तो दूर उनका विरोध किया गया । विरोध ही नहीं उन्हें मृत्यु दण्ड दिया गया था । तुझे भी यदि कुछ करना है तो सहयोग की आश्रु त्याग दे ।

युवक ने देखा कि सहयोग-स्वेच्छा से कोई देगा नहीं सहयोग मुझे पाना है उसके लिए राह खोजनी पड़ेगी । उसे राह मिल भी गयी । उसने अपने साथ वाले राजनैतिक बन्धियों को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी सभी ने मिलकर राजनैतिक बन्धियों को दी जाने वाली सुविधाओं के लिये अनशन किया । युवक इस अनशन में सबसे आगे रहा । उनके सत्याग्रह के आगे जेल के अधिकारियों को झुकना पड़ा ।

वह युवक बड़ा आत्मविश्वासी था । उसका नाम था विनोद कानूनगो । उसने जेल से छूटने की प्रतीक्षा नहीं की । अपनी तैयारी वहाँ आरम्भ कर दी । अब उनके लिए यह जेल, जेल न रही थी एक अध्ययनशाला व चिंतन शाला बन गई । वह वहाँ अध्ययन करता, चिंतन करता, मनन करता और अपने भाषी कार्यक्रम की रूपरेखा बनाता । यहाँ जेल में उसने पूरी योजना बना ली । विश्व के कितने खण्ड होंगे, कैसा आकार होगा, कितनी सामग्री प्रस्तुत की जायेगी । अब उसका शरीर भले ही सींखियों में बन्द था पर मन तो सारे विश्व का घ्रमण करके एक महान कृति में सजाने की तैयारी करता रहा । जो भी उपयुक्त सामग्री मिलती उसे भी एकत्रित करता रहा ।

जेल से छूट कर १९१४ में इन्होंने इस विश्वकोष का सम्पादन आरम्भ किया 'ज्ञानमण्डल' नामक इस शब्दकोष में १७०० पृष्ठ होंगे तथा १५००० चीजों के बारे में जानकारी इसमें दी जायेगी । प्रत्येक खण्ड का मूल्य १००

रुपये होगा और उसके कुल ७५ खण्ड होंगे जिनका मूल्य ७५०० रुपये होगा।

जिनके पास किसी विश्वविद्यालय की कोई डिग्री नहीं। जिसके पास साहित्य जगत की कोई प्रसिद्धि नहीं। वह व्यक्ति इस प्रकार का कोई काम करना आरम्भ करता है तो उसका उपहास किया जाता है। उसे पागल तक कहा जाने लगता है इस प्रकार की स्थिति का सामना विनोद कानूनगो को भी करना पड़ा। उनके मित्रों ने सलाह दी कि इस प्रकार के असम्भव कार्य को नहीं उठाना चाहिए। इसके लिए बड़ी-बड़ी संस्थानों की साहस नहीं जुटा पाती जिसमें कितने विद्वान कार्यकर्ता होते हैं, उनकी विद्वता की भाँख सर्वत्र जाती है। उसी काम को एक अकेला व्यक्ति कैसे कर पायेगा।

इस प्रकार के उपहासों को उन्होंने अपने लिये हितकर माना। उन्होंने अपने काम को और भी सावधानी से करना आरम्भ कर दिया। ज्यों-ज्यों इस कोष का सम्पादन करते गये, त्यों-त्यों उनके ज्ञान की वृद्धि होने लगी। इस सम्पादन कार्य के साथ-साथ स्वयं का लेखन कार्य भी आरम्भ कर दिया।

उड़िया भाषा में इन दिनों साहित्यकारों का अभाव सा था। इनकी रचनाओं ने इस कमी को भी दूर किया। इस प्रकार के साहित्य-सृजन से उड़िया पाठक इनके नाम से परिचित होने लगे। इनके मित्रों को भी कुछ विश्वास हो चला कि इन्होंने जो काम हाथ में लिया है वह पूरा किया जाना इनके लिये असम्भव नहीं है इनका उपहास करने वालों को भी अब अपने पर लग्जा अनुभव होने लगी।

इतना बड़ा काम और एक अकेले व्यक्ति के द्वारा किया जाय, यह विश्व भर में पहला प्रयास है। जिस कोष का सम्पादन असंख्य कार्यकर्ताओं वाली संस्था भी बड़ी काठिनाई से कर पाती है, उसे अकेले श्री कानूनगो कर रहे हैं। इनके काम करने का तरीका ही ऐसा है कि जो कम समय तथा कम धन में हो सकने वाला है। एक बड़े कमरे में १०,००० फाइलों को बड़े करीने से सजाकर इन्होंने सारे विश्व की जानकारीयों जमा कर रखी है। इनका अधिकांश समय इसी कक्ष में व्यतीत होता है।

यह कार्य पर्याप्त धन तथा समय देने से ही पूरा हो सकता है। इनके लिये विनोद कानूनगो ने अपने समय का इस प्रकार से सदुपयोग किया है कि वे अपने दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ अपना यह कोष सम्पादन का काम भी करते रहते हैं। जब विश्राम का समय होता है तो विश्राम करते करते अध्ययन भी चालू रहता है। भोजन के समय भी उनका चिंतन कार्य चलता ही रहता है। एक एक क्षण को उन्होंने इसी मिशन में खर्च किया है।

अब तक इस विशाल कोष के जो खण्ड प्रकाशित हुए हैं वे अपने ढंग के अनोखे सिद्ध हुए हैं। जिनकी प्रशंसा भी कम नहीं हुई है। जो इनकी सफलता के प्रति आश्चर्य न थे, वे अब आश्चर्य हो चुके थे।

इनकी मान्यता है कि स्वतन्त्रता के साथ ज्ञान और स्वावलम्बन की शर्तें अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई हैं। ये तीनों एक दूसरे के पूरक हैं, स्वतन्त्रता पाने के लिये जो संग्राम वह पूरा हो गया पर अब उससे लाभ उठाने के लिये और भी अधिक श्रम करना चाहिए। अब हम देशवासियों पर अधिक जिम्मेदारियाँ आ गई हैं। इन जिम्मेदारियों का निर्वाह वे इस समय ५९ वर्ष की आयु में भी कर रहे हैं। वे थकते हैं न रुकते हैं। उनका अधिकतम समय इसी प्रयोजन में जाता है।

केवल श्रम व समय ही नहीं अपने इस कार्य को सफल करने में उन्होंने अपना धन भी लगाया है। वे कहते हैं कि धन का सदुपयोग करने में ही इसकी सार्थकता है। धन धन्य का दास है स्वामी नहीं। जब हम उसे अपने लिये ही खर्च करने का दृष्टिकोण अपना लेते हैं तो वह हमारा स्वामी बन बैठता है। उन्होंने इस कार्य में अपने दो लाख रुपये लगाने जबकि सरकार ने उन्हें २५००० रुपये ही दिये हैं।

अब हमारे देश को ऐसे ही उदार व ज्ञान देवता के आराधकों की आवश्यकता है अधिकचरे साहित्य लेखकों तथा जन-साधारण के लिये इनका चरित्र सदैव अनुकरण की प्रेरणा देता रहेगा।

दो हजार कुश्तियाँ लड़ने वाला—

किंग कांग

दरासोच (कम्बनिया) में सन् १९०९ में एक बालक का जन्म हुआ। नाम रखा गया पैमालन बजाया। आपु के अनुपात में बालक का शारीरिक विकास बहुत कम हो रहा था। वह दुबला-पतला और दबू प्रकृति का था अपने साथियों से रोब पिट कर घर आता था। उसे यह पिटना असह्य था पर विवश वह क्या करता।

एक दिन इसमें बहुत बुरी तरह मार पड़ी। वह रोता-रोता घर आ रहा था कि उससे एक मोटे ताबे व्यक्ति ने पूछा, “बच्चे क्यों रोते हो?” उसने उत्तर दिया—“मैं दुबला हूँ सब लड़के मुझे मारते हैं।” उस व्यक्ति ने स्नेह से उसकी पीठ धपकाई और समझाया कि तुम शरीर और बल का व्यायाम के माध्यम से विकास करो। उसी दिन से बालक ने नियमित व्यायाम आरम्भ किया। वह इस नियमित व्यायाम से विश्वविख्यात पहलवान बना और किंग कांग के नाम से अप्रतर्पण ख्याति अर्जित की।

किंग कांग का शरीर पहलवानों के लिये भी आश्चर्य की वस्तु था। उसकी ऊँचाई छह फुट तीन इंच और वजन १९० किलोग्राम था। आकार में यह पूरा एक महादू था। अपने जीवन में इसने दो हजार प्रथम श्रेणी की कुश्तियाँ लड़ी थीं।

किंग कांग को अपने इस शारीरिक विकास के लिए बड़ी साधना करनी पड़ी। साधारण दुबले पतले सीकिया पहलवान से विकसित होकर इतना विशाल शरीर

बनाने के लिये आजीवन अविवाहित रहने के संकल्प को उसने निभाया। इसके निर्वाह के कारण उसे मर भी खानी पड़ी। १९३८ में 'विश्व विजेता' होकर जब वह अर्पनी गया तो वहाँ भी एक सुन्दरी ने इसके सामने विवाह का प्रस्ताव रखा जिसे उसने अस्वीकार कर दिया। महिला ने अपने इस निरादर का बदला किंग कांग पर शराब को बोटल फेंक कर लिया। इस चोट का निदान उसे सदा अपने संकल्प का ध्यान दिलाता रहा।

ज्यायाम मनुष्य के लिये भोजन की तरह ही अनिवार्य है। किंग कांग की खुराक बहुत थी। इतनी अधिक कि लोग दौतों तले तैंगली दबाते थे। इतना भोजन पचाना तभी सम्भव था कि वह रोज़ ज्यायाम भी करता। भोजन और ज्यायाम वे दोनों उसके लिये अनिवार्य थे।

उठती उठ में एक दिन वह अपने मित्रों के साथ लन्दन में सिनेमा देखने गया। वहाँ एक दैत्य जिसका नाम किंग कांग था उसे देखकर उसके मन में यह विद्यासा उत्पन्न हुई कि क्या ऐसा शरीर केवल कहानियों की ही सामग्री है अथवा ऐसा बनाया भी जा सकता है उसी दिन से उसने अपना नाम ऐमायल बजाया से बदलकर किंग-कांग रखा लिया कि वह ऐसा बनने का प्रयत्न करता रहे।

किंग कांग अपने आपको विश्व नगरिक मानता था। एक ही देश का होकर रहना उसे अपनी निहालता के अनुपात में बड़ा छोटा लगता था। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण वह 'विश्व विजेता' के रूप में विख्यात हो सका था।

उसे हर प्रकार की कुरती लड़ने का शौक था। वह हमीद पहलवान के चेलेंज पर लाड़ीर आया तथा उससे कुरती लड़ा। भारतीय दौड़ों से लड़ने का उसका यह प्रथम अवसर था। दोनों बराबर रहे। दूसरी बार वह गाम्ब के भाई इमाम बख्श से लड़ा जिसमें इमामबख्श का घुटना टूट गया और सदा के लिये पहलवानी करना बूट गया। दारासिंह से कई बार वह हारा व कई बार उसने दारा सिंह को हराया।

कुरती में खिलाड़ी की भावना से लड़ने वालों में किंग कांग को सदा याद किया जाता रहेगा। विश्व विजेता होते हुए भी उसने भारतीय दौड़ से कुरती लड़ना अस्वीकार नहीं किया उसे अपनी शारीरिक शक्ति पर गर्व नहीं था, व अपने विश्व विजेता सम्मान को बनाये रखने की चिन्ता ही थी।

उसने अपने जीवन में एक लक्ष्य को चुना था और वह था कुरती लड़ना। उसकी इच्छा थी कि वह अल्हाड़े में ही प्राण त्यागे। इस इच्छा के पीछे यह एक ही बात कहता था कि जिस काम को करो उसी में लीन हो जाओ यही सफलता का राज है।

उसकी यह इच्छा पूरी नहीं हो सकी। मलेसिया की एक कार दुर्घटना में वह बुरी तरह घबकत हो गया था। ५७ वर्ष की आयु में दो महीने तक अस्पताल में इलाज करवाने के बाद इसका देहान्त हो गया।

किंग कांग ने अपने कार्य कलापों से यह सिद्ध कर दिया था कि मनुष्य चाहे तो अपनी शक्ति का मनचाहा

विकास कर सकता है। यह दूसरी बात है कि उसने उपार्जित क्षमता का उपयोग केवल कुरती लड़ने में ही किया। सभी मनुष्यों को वैसा शौक भी नहीं होता। शरीर को स्वस्थ व सबल बनाने के क्षेत्र में तो उसका लोहा खनना ही पड़ेगा।

कमबोर और पिछड़ा मनुष्य आज जीवन के हर क्षेत्र में दुबसे-पतले ऐमायल बजाया की तरह मार खा रहा है अपनी आन्तरिक शक्तियों को बगा कर उसे किंग कांग बनना है। भावनाशील व्यक्ति पीड़ित और दिग्भ्रमित मनुष्य के लिये करना तो बहुत कुछ चाहते हैं पर उन्हें अपनी क्षमताओं पर विश्वास नहीं आता है। किंग कांग की तरह इन शक्तियों को विकसित किया जाय तो ऐसे ही आश्चर्य जनक परिणाम जन-कल्याण की दिशा में भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

किंगकांग ने अपनी इस शक्ति का सदुपयोग दुर्बलों को अपनी तरह बलवान बनाने में किया उसने कई ज्यायाम शस्त्राये संचालित कीं। मरने के पूर्व भी वह सिंगपुर की ज्यायामसालर का संचालन कर रहा था।

एक ही उद्देश्य पर अपने समस्त कार्यकलाप केन्द्रित कर दिये जायें तो उसका परिणाम आश्चर्यजनक होता है। किंग कांग की तरह अपने लक्ष्य पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित करके पूरी निष्ठा व परिश्रम से जुट जाय तो असम्भव को भी सम्भव बनाया जा सकता है। किंग कांग की यह उपलब्धि संकल्पवानों को सदा प्रेरणा देती रहेगी और वे उसे पूर्ण करने में सफल होते रहेंगे।

असमय बुझी दोषग्रस्त प्रतिभा—

पैरासेलसस

सोलहवीं सताब्दी का प्रारम्भिक काल योरोप के इतिहास में क्रान्ति युग माना जाता है। गणित, ज्योतिष, विज्ञान, रसायन, चिकित्सा तथा दर्शन आदि के क्षेत्रों में नई खोजें हो रही थीं, अनेक विद्रोहियों ने अपने पूर्व में प्रचलित मान्यताओं का खुलकर विरोध किया था। चिकित्सा शास्त्र के क्षेत्र में पारसेलसस पारे तथा पैरासेलसस यदि ऐसे विद्वान् हुये थे जिन्होंने अपने युग की चिकित्सा प्रणाली के अनेक सिद्धान्तों को मिथ्या सिद्ध कर दिया था।

यूरोप के औद्योगिक वैज्ञानिकों के अनुसार धातुओं और रासायनिक तत्वों का प्रयोग स्वास्थ्य को दृष्टि से बड़े ही फायदेकर परिणाम उत्पन्न करने वाला था। क्योंकि उनकी दृष्टि में यह वस्तुएँ विष थीं। पैरासेलसस उस युग के उन महत्वपूर्ण विद्वानों में से एक थे जिन्होंने, सर्वप्रथम यूरोप के औद्योगिक ज्ञानकोष में रासायनिक तत्वों और धातुओं का समावेश किया था। पैरासेलसस का जन्म स्विटजरलैण्ड में १४९३ में हुआ था। इनका अधिकांश समय अपनी मातृभूमि से पिरामिडों की छाया तक बीसियों देशों की यात्रा में व्यतीत हुआ। यात्रा के मध्य चिकित्सा शास्त्र के

कितने ही आचार्यों, चिकित्सकों और फकीरों से पेंट करके विषय से सम्बन्धित नये अनुभव एकत्रित किए थे।

पैरासेलसस का विश्वास था कि प्रकृति की विचित्रताओं का रहस्य जानना कोई आसान कार्य नहीं है। जिज्ञासु को इन विचित्रताओं के मध्य ही घटकनष्ट होगा और अपनी मान्यताओं के अनुसार उनका सारा जीवन भटकने में ही गया तब कहीं शोध कार्य में सफलता प्राप्त कर सके। पैरासेलसस द्वारा संचित ज्ञान नृत्तलम्बक न होकर एक विशाल संग्रहालय की तरह था जिसमें विभिन्न कालों की वस्तुएँ संग्रहीत रहती हैं।

पैरासेलसस के संग्रह में रहस्यवादी दर्शन से लेकर अरबी हकीमों के नुस्खे तक संग्रहीत थे, इसलिये इस अद्भुत वैज्ञानिक पर दार्शनिक और चिकित्सक दोनों ही क्षेत्र के व्यक्तियों का जोर है। रहस्यवादी दार्शनिक उन्हें अपना जन्मक मानते हैं जबकि आधुनिक वैज्ञानिक औपधौय रसायन का जन्मदाता कहकर अपना दावा प्रस्तुत करते हैं।

सन् १५२५ में पैरासेलसस की छायाति चिकित्सक के रूप में सारे यूरोपीय राज्यों में फैल चुकी थी। इसलिये बेसल विश्वविद्यालय में औषधि-विज्ञान विभाग में प्राध्यापक पद पर इनकी नियुक्ति हो गई थी। विश्व-विद्यालय के उस कक्ष में, जिसमें पैरासेलसस अपने विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे, गैलन की औषधि-विज्ञान सम्बन्धी रचनाओं में आग लग गयी। बाद में उन्होंने अपने विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए कहा—“पुरानी मान्यताओं और संस्कारों को जब तक तुम अग्नि को समर्पित नहीं कर देते तब तक तुम नवी मान्यताओं को कैसे सीख सकते हो। अमुक व्यक्ति ने यह कहा है, इसलिये तुम उसे मानने के लिये तैयार क्यों हो जाते हो, सत्य स्वयं अनुभव करना चाहिए और जिसमें उसे स्वीकार करने का साहस है वही अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल हो सकता है।”

पैरासेलसस के इस व्यवहार से विश्वविद्यालय के सारे उच्च अधिकारी उसके विरोधी हो गये। पैरासेलसस को अपने मार्ग पर विश्वास था अतः कोई विरोधी उनका कुछ न बिगाड़ सका। प्रत्येक नये कार्य में परम्परावादी बाधा डालते ही हैं। पैरासेलसस रोग-हीन जीवन को ही सबसे महत्वपूर्ण स्थान देते थे। उनकी मान्यता के अनुसार चिकित्सक का लक्ष्य सत्य की प्राप्ति होना चाहिए। ज्ञान को पुस्तकों की सीमाओं में बाँधना उन्हें कहीं पसन्द था इसीलिये तो वे कहा करते थे कि ज्ञान पुस्तकों के बाहर बिखरा हुआ है। वास्तव में यह कथन उनके जीवन में सही रूप में दिखाई देता है उन्होंने अपना सारा जीवन पुस्तकों को पढ़कर ज्ञान संचित करने में नहीं लगवा बल्कि पुस्तकों के बाहर जो ज्ञान बिखरा पड़ा है, उसे वे सँजोते रहे।

पैरासेलसस आजन्म पुरातन परम्पराओं का विरोध करते रहे। कोई बात पहले से चलती आ रही है इसलिये

यह सही ही होगी यह कोई आवश्यक तो नहीं। उन दिनों विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम लैटिन भाषा थी, पर पैरासेलसस ने जर्मन भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया। यद्यपि यह कार्य विश्वविद्यालय की परम्परा के विपरीत था और संपूर्ण यूरोप में उच्च ज्ञान के लिये लैटिन को ही मान्यता प्राप्त थी पर पैरासेलसस का यह तर्क था कि जर्मन जन सामान्य की भाषा है अतः क्यों न इसे मान्यता दी जाये। एक ओर विद्यार्थियों में उनकी लोकप्रियता बढ़ी तो दूसरी ओर विश्वविद्यालय के अधिकारी तथा लैटिन प्रेमी उनके विरोधी हो गये।

पैरासेलसस ही यह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने उपदर्श (सिफलिस) जैसे घबंकर रोग से छुटकारा दिलाने के लिये भरसक प्रयत्न किया और सफलता भी मिली। उपदर्श की अवस्थाओं का वर्णन करते हुए इस रोग को वंशानुगत बताया। इस रोग की चिकित्सा के लिये उन्होंने पारद का प्रयोग किया था। पैरासेलसस ने ही सर्वप्रथम कैलोमेल और ऐण्टीमनी का प्रयोग चिकित्सा के लिये किया था। पूर्वी देश शताब्दियों से औषधि निर्माण में रसायनों का प्रयोग करते आ रहे हैं। इस वैज्ञानिक ने यह अद्भुत ज्ञान पूर्वी देशों से ही प्राप्त किया था।

यदि व्यक्ति में अच्छी लगन हो तो वह अपनी विरोधी मान्यताओं को भी समूल नष्ट कर सकता है। पैरासेलसस का स्वभाव अहंकारी था। उनका अहंकार इस सीमा तक बढ़ गया था कि उन्होंने एक बार बेसल विश्वविद्यालय में अपने भाषण में कहा था कि दुनिया के समस्त विश्व-विद्यालयों का अनुभव मेरी दाढ़ी के बालों से भी कम है। व्यक्ति के सद्गुण यदि उसे वाक्यान्वय की ओर लौ जाते हैं तो उसके अन्दर स्थान जमाये अवगुण भीतर ही भीतर उसकी जड़ खोखली करते रहते हैं। सद्गुण यदि अच्छाई का प्रसार करते रहते हैं तो अवगुण वातावरण को विषैला बनाने में कब चुकते हैं?

इस अहंयुति के कारण पैरासेलसस से बेसल के नागरिक भी विरोध प्रकट करने लगे थे। बेसल के व्यापारीय का अपमान करने के बाद दण्ड से बचने के लिये नगर छोड़ कर भागना पड़ा, अहंकार की प्रवृत्ति ज्ञान की प्रगति में बाधक होती है जब वह अपने को सबसे अधिक विद्वान समझने लगता है तो विद्वान में नम्रता का और विनय का जो गुण है वह लुप्त हो जाता है और उसका ज्ञान एक सीमाबद्ध होकर रह जाता है।

इसके अतिरिक्त पैरासेलसस को शराब पीने की भी बड़ी जुरी लग गयी थी। पहले तो आदमी शराब को पीता है पर बाद में शराब ही आदमी को पीकर बसका अन्त कर देती है। भूराषान के दोष के कारण अनेक लांछनार्थ सहनी पड़ी और १५४१ में एक भद्रालय में अधिक पी जाने के कारण ८४ वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया। यदि इन दोषों से उनका जीवन बचा रहता तो शायद और वे भी नई नई खोजें करके मानवता का पला करते।

मातृभूमि के बलिदानी—

सोहनलाल पाठक

फाँसी के फन्दे पर लटकाने से पहले जेल अधिकारी ने कैदी से पूछा “आप की अन्तिम इच्छा क्या है ?”

कैदी मुस्कराया उसने कहा ‘मैं चाहता हूँ कि भुझे शीघ्र फाँसी ही आए ताकि मेरा यह जन्म सभापत हो और दूसरा जन्म लेकर भारत को स्वतन्त्र कराने के प्रयत्न में दूसरी बार फाँसी के फन्दे को पुनः चूम सकूँ ।

यह कैदी कोई साधारण कैदी न था । किसी चोरी, डकैती या कत्ल करने के अपराध में जेल के सौंखचों में बन्द न किया गया था । वरन् यह देशभक्त था और देश को स्वतन्त्रता दिलाने का प्रयत्न ही इसका अपराध था । नाम था सोहनलाल पाठक ।

मौड़ले की जेल । १० फरवरी, १९१६ की एक सुबह । अमर शहीद सोहनलाल पाठक को फाँसी के तख्ते पर चढ़ाया गया । जल्दाइ उस निरपराधी की जीवन सीला समाप्त होते देख आँसू बहा रहे थे और पाठक अपने देश पर न्योछावर होने में प्रसन्नता तथा गर्व का अनुभव कर रहे थे । भला जिस देश में ऐसे बहादुर हों उस देश की स्वतन्त्रता को रोक भी कौन सकता था ?

सोहनलाल पाठक का जन्म सन् १८८३ में हुआ था । परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण स्कूली शिक्षा से शीघ्र ही सम्बन्ध तोड़ना पड़ा और लाहौर के डी० ए० बी० स्कूल में केवल २१ रु० मासिक पर शिक्षक का कार्य करना पड़ा ।

इस समय राजनीतिक क्षेत्र में ऐसी घटनाएँ हो रही थीं जिनकी उपेक्षा करना पाठक जैसे देशभक्त के लिये सम्भव न था । बंगाल का विभाजन, लाला लाजपत राय और अजीतसिंह जैसे नेताओं की गिरफ्तारी, सुदीराम बोस का बलिदान और महनलाल ठाँगरा द्वारा कर्जन पर गोली चलाना जैसी घटना उनके कानों में पड़तीं और अंग्रेजों द्वारा भारतीयों पर किये गये अत्याचार देखने और सुनने को मिलते तो उनका खून खौलने लगता था ।

१९०८ में लाला हरदयाल इंग्लैण्ड से लौटकर लाहौर आये तो युवक पाठक का उनसे सम्पर्क बढ़ने लगा । इसी समय उन्हें एक पुत्र का पित्त बनने का अवसर मिला । परिवार के लिये यह प्रसन्नता की ही बात थी पर दूसरे ही क्षण यह सभाचार भी सुनने को मिला कि पुत्र को जन्म देकर माँ सदैव के लिए संसार से विदा हो गई और एक सप्ताह बाद वह पुत्र भी भगवान को प्यारा हो गया ।

पाठक को उस समय उम्र ही क्या थी । घर वाले तथा मित्रों ने दूसरे विवाह के लिए बहुत जोर दिया पर उन्होंने साफ-साफ कह दिया “ईश्वर मुझसे कुछ महत्वपूर्ण कार्यों की आशा करता है इसीलिए तो उसने उत्तरदायित्वों से मुक्त किया है ।”

उनका लक्ष्य वा दूसरे देशों से सहायता प्राप्त करके भारत में क्रांति करवाना और अंग्रेजों को देश छोड़ने के लिये विवश करना, उस समय तक कांग्रेस और गान्धी जी पूर्ण प्रकृति में भी न आ पाये थे, उनकी गतिविधियाँ देश हित में तेज न हो पाई थीं । उस समय पाठक अपने ६ साथियों को लेकर अमेरिका पहुँचे ।

भारतीयों के सहयोग से अमेरिका में गदर-पार्टी की स्थापना की गई और एक ‘गदर’ नामक पत्र निकाला जिसका उद्देश्य भारतीय स्वतन्त्रता के लिये वातावरण का निर्माण करना था ।

१९१४ में विश्वयुद्ध छिड़ गया । अंग्रेजों ने दो लाख सैनिकों को भारत से बाहर युद्ध के लिए भेजा । इस अवसर पर क्रांतिकारी स्थाप ठठाना चाहते थे । सोहनलाल पाठक, बर्मा में क्रांति कराने का प्रयास कर रहे थे उन्होंने वहाँ के दो हजार सैनिकों को अपने पक्ष में कर लिया । चार दिन तक सिंगापुर में क्रांति की ज्वाला धधकती रही और वहाँ का शामन-सूत्र देशभक्तों के हाथ में रहा ।

एक दिन पाठक सैन्य-छावनी में कुछ सैनिकों की मार्गदर्शन दे रहे थे कि तीन हिन्दुस्तानी सैनिकों ने उनको घेर लिया । वह हिन्दुस्तानी सैनिक उनके भाई थे । वह अपने देशवासियों से बदला नहीं लेना चाहते थे । वैसे उस समय उनके पास तीन स्वचालित पिस्तौल तथा २८७ गोलियाँ थीं । जरासी देर में वह तीनों सैनिकों को मीत के घाट उतार सकते थे वा बर्मा के सैनिकों को ही संकेत करते तो वहाँ उनका काम समाप्त कर देते, पर एक दूसरे भारतीय के प्राणों का ग्राहक बने वह उन्हें स्वीकार न था ।

वह बन्दी बनाकर मौड़ले के जेल में भेज दिये गये और एक दिन देश को स्वतन्त्रता दिलाने के प्रयासों में फाँसी के तख्ते पर झूल गये ।

मातृभूमि के लिये सर्वस्व न्योछावर करने वाले तथा हँसते-हँसते मौत को गले लगाये वाला यह भीर आत्मा की अनित्यता पर विश्वास करता था । इसी विश्वास के कारण वे उस काल में अंग्रेजी शासन से लड़े जिस समय कि उनके राज्य में सूर्य तक अस्त नहीं होता था । सत्य में कितनी शक्ति होती है, भुव्य के विचारों व भावनाओं में कितनी शक्ति होती है इसका ज्वलंत उदाहरण पाठक जी का जीवन है, जो हमें सिखाता है कि अन्याय को सहन करना, जो कुछ हो रहा है उसे अनुचित व अस्वाभाविक मानते हुए भी ऐसे चुपचाप बैठना मानव-धर्म नहीं ।

सतहत्तर साल के नौजवान—

दाताराम

सन् १९३८ का एक महत्वपूर्ण दिन दाताराम को एक पुस्तक मिली ‘गीत-प्रवचन’ । कोई कोई पुस्तक ऐसी महत्व की होती है कि पाठकों को सोचने की एक नई दिशा प्रदान करती है । उसका दृष्टिकोण बदल जाता

है और ऐसा लगता है मानो किसी ने जादू कर दिया है।

वैसे दाताराम का परिवार धार्मिक विचारों का था। बचपन में ही उन्होंने अपने पिता तथा दादा के संसर्ग से रामायण, महाभारत, भागवत तथा गुरुग्रन्थ सहेब आदि का अध्ययन कर लिया था, पर अब तक का सारा स्वाध्याय तोला रटन्त सरीखा था। 'गोता प्रवचन' को पढ़ने के बाद उन्हें अपने जीवन में परिवर्तन मालूम पढ़ने लगा।

दाताराम का जन्म सरगोधा के छोटा ग्राम में जो आज पाकिस्तान में है, नवम्बर, १८९४ में एक व्यापारी परिवार में हुआ था। साधारण-सी शिक्षा प्राप्त कर वह २५ वर्ष की आयु में व्यापार का कार्य करने लगे। १९४६ में तो वह सरगोधा छोड़कर कलकत्ता में बस गये और हैसियत बाजार तथा गनी बाजार में दलाली का कार्य करने लगे।

व्यक्ति जब आत्म-निरीक्षण करता है, अपने दोषों को मार भगाने का प्रयास करता है, तो साधारण सा मनुष्य असाधारण महत्त्व के कार्य सम्पन्न करने लगता है।

व्यापार में उन्हें दो तीन बार घाटा हुआ और लगभग ४२ व्यक्तियों के कर्ज से वह लप गये। कानून उस कर्ज की रकम चुकाने से बच बरी थे। पर उनकी अत्मा ने पुकार कर कहा कि जिस व्यक्ति का ऋण लिया है उसका चुकाना चाहिए। १९५० तक २० हजार रुपये की लगादी रकम अपने ऋण-दाताओं को वापस कर दी।

दाताराम दलाली का तो कार्य कर ही रहे थे वचे हुये समय में सर्वोदय साहित्य का प्रचार करने लगे। विनोबा भावे से जब उनकी भेंट हुई तो विनोबा ने दाताराम को दो कार्य करने का परामर्श दिया। एक तो यह कि बिना पैसे लिये किसी को पुस्तक न दी, साथ ही यह भी देख लो कि उस पुस्तक को खरीद कर वह पढ़ता भी है अथवा उसकी पुस्तक पर धूल जमती रहती है। दूसरी बात यह कि रोज कामरी लिखो और समय-समय पर हमारे पास भेजते रहो।

विनोबा जी की इन दोनों बातों को दाताराम ने गंठ में बाँध लिया। दाताराम की आय बढ़ती आ रही थी और एक दिन वह आयकर देने जितनी हो गई। उन्होंने सरकारी कानून को तोड़ना उचित नहीं समझा। क्योंकि उनकी दृष्टि में यह कर की चोरी थी। वह आयकर अधिकारी के पास पहुँचे उनकी बात को सुनकर वह अधिकारी चौंका, उसे लग कि कोई पागल आ गया है। क्योंकि सारे व्यापारी आयकर के बचड़े में नहीं पड़ना चाहते। झूठे हिसाब किताब दिखाकर और अधिकारियों को खिला-पिला कर आयकर से बचने का प्रयास करते थे, जब कि यह व्यक्ति अपनी ओर से कर जमा करने आया है। अधीनस्थ कर्मचारी तो दाताराम को देखकर मजाक करने लगे।

कमिश्नर ने कहा जैसा यह बताते हैं वैसा हिसाब नोट कर लिया जाय, उसी हिसाब से इनसे आयकर ले लिया जाये। हिसाब करने पर १४०० रुपये आयकर के निकले और वह खुशी-खुशी देकर घर चले आये।

विनोबा भावे ने सम्पत्ति-दान का आन्दोलन शुरू किया तो उसमें सहयोग देने में दाताराम पीछे न रहे। उन्होंने उस आन्दोलन का महत्त्व समझा और नियमित रूप से अपनी आय का छठा हिस्सा देने लगे। दाताराम की सारी सम्पत्ति पाकिस्तान में छूट गई थी। भारत सरकार के द्वारा उन्हें काफ़ी जमीन सहारनपुर के पास मिली। उसका उपयोग उन्होंने अपने लिये नहीं किया बरन् विनोबा जी १८५२ में जब पधुरा आये तो उन्हें भूदान में दे दी।

दाताराम अनुभव करने लगे कि सर्वोदय और भूदान आन्दोलन समाज में धन के वितरण को समान व्यवस्था करने वाले हैं। वर्ग संघर्ष का इस समाज में कोई प्रश्न ही नहीं उठेगा। क्योंकि यह शोषण-मुक्ति आन्दोलन है फिर, उनकी दृष्टि अपने व्यवसाय की ओर गई। उन्हें अपना व्यवसाय शोषण-मुक्त लग्न। फिर क्या था उन्होंने १९५८ में अपना दलाली का धन्धा बिलकुल छोड़ दिया।

अब उनके पास केवल एक कार्य रह गया सर्वोदय-साहित्य का प्रचार। चढ़ी के कटि की तरह बिलकुल निष्कर्म रूप से पुस्तकों का झोला लेकर प्रचार-प्रसार के लिये निकलने लगे। सरदी, गरमी या बरसात ने उनका मार्ग नहीं रोका। कलकत्ता के इंडेन बार्डन, विक्टोरिया मैमोरियल या मन्सुमेट के पास एक सीधा-सादा खरधारी व्यक्ति सर्वोदय की पुस्तकें फैलावे बैठ मिलता था।

दिन हो या रात, सुबह हो या शाम उनका एक ही कार्यक्रम था, एक ही लगन थी। सर्वोदय का साहित्य घर-घर पहुँचे। गाँधी जी के सन्देश को लोगों तक पहुँचाना ही अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया था।

१९६५ में उनका स्वास्थ्य गिर गया। विनोबा भावे ने एक माह के लिये उन्हें बुलाकर अपने पास रखना चाहा पर वह इसलिए उनके पास नहीं गये कि वहाँ प्रचार करने का अवसर नहीं मिलेगा। विनोबा एक दम कुछ समय के लिये पूर्ण विश्राम करने की सलाह देंगे।

दाताराम के उत्साह में कभी-कभी नहीं आई, वह सदैव सर्वोदय के प्रचार-प्रसार में लगे रहते थे। बिना काम के उन्हें बैस नहीं पड़ता। बरसते पानी में झोला लेकर निकल पढ़ने हैं और दस बीस रुपये का साहित्य बेचकर ही घर लौटते हैं। बिना काम किने भोजन करने में उन्हें अन्नन्द नहीं आता।

जब तक शरीर काम देता रहेगा तब तक सदैव कार्य करते रहने का उन्होंने संकल्प कर लिया था।

पैसा कमाना उनके जीवन का उद्देश्य नहीं था। पैसा वह बहुत कम चुके थे और अब पैसे की इच्छा ही नहीं रही। सद् साहित्य को घर घर पहुँचाने का कार्य वह अपने अन्नन्द के लिये करते थे। एक बार विनोबा जी ने अपने प्रवचन में कहा था कि सुख बाँटने से सुख बढ़ता

है । अतः दाताराम घर-घर जाकर सुख बाँटते थे वह जानते थे कि इससे सुख में वृद्धि ही होगी कभी नहीं ।

फिर न मिलेगा अवसर ऐसा

समय की हवा के साथ देश-प्रेम की दबी हुई चिंगारी दायानन्द बनकर सारे भारत में फैल चुकी थी । कानपुर तो इस क्रान्ति का केन्द्र था । रूप के हाट में बैठी एक वेश्या के अन्तःकरण से आवाज आयी—“पगली अजीजन तू चुपचाप क्या बैठी है ? इस हाट पर बैठकर रोज-रोज मरने की अपेक्षा तो एक ही दिन मरना अच्छा है । उठ । बहती गंगा में हाथ धोले । छोड़ वह अस्मत् का छापार, देश की आज़ादी पर मर मिट ।” अजीजन ने अपने अन्दर बैठे देवता की आवाज को सुना और उठ खड़ी हुई ।

उसने स्त्रियों का एक दल संगठित किया । यह दल पुरुष वेश में हाथों में तलवार लिये कानपुर के राजमार्ग पर निकल पड़ा । गारियों के इस साहस को देखकर पुरुष वर्ग में एक नवीन जोश उत्पन्न हो गया । कल की बेश्या आज नारी-शक्ति का प्रतीक बन गई । सबके हृदय में उसके प्रति श्रद्धा का सागर लहराने लगा ।

इस महिला-सैनिक दल ने घर-घर क्रान्ति का संदेश पहुँचाया । घायल सैनिकों की सेवा-सुश्रूषा की । उन्हें युद्ध के मैदान से उठाकर सुरक्षित स्थान पर लाने का काम बड़ी तत्परता से चलाने लगा । यह दल ज़िंभर निकल जाते उधर उत्साह को एक लहर उमड़ पड़ती । सिपाहियों को लड़ाई को उत्साहित करने के लिये इनके मधुर तबद ही पर्याप्त थे पर ये अपने साथ फल तथा मिठाईयाँ ले जातीं तथा उन्हें बाँटतीं ।

तबले की ताल पर धिरकने वाली अजीजन अब विजली बनकर युद्ध क्षेत्र में चमक रही है । उसके नेतृत्व में धीरांगनाओं का दल गोला-बारूद सैनिकों के पास पहुँचाता उन्हें विश्राम देता तथा समय पड़ने पर स्वयं भी युद्ध में भाग लेता है ।

जनरल नील कानपुर में हुई हार को सुनकर चौखल उठा था । नाना साहब ने अंग्रेज़ परिवारों की रक्षा का पूरा प्रयास किया था पर नील अपनी सेना के साथ गाँव के गाँव जलाकर खाक करता हुआ आ रहा था । यह सुनकर अजीजन का बदला लेने का संकल्प और भी दृढ़ हो गया ।

युद्ध क्षेत्र में अजीजन पूरी वीरता के साथ सही दुर्भाग्य से अंग्रेज़ों ने उसे बन्दी बना लिया । सेनापति हेमलाक कोस के सामने अजीजन को लाया गया तो उसे विश्वास नहीं हुआ कि यह स्त्री भी युद्ध में भाग ले सकती है । उसने अजीजन से कहा—“तुम यदि अपने अपराधों के लिये क्षमा माँग लो तो तुम मृत्यु-दण्ड से बच सकती हो ।”

अजीजन के होठों पर मुस्कान फैल गई । उसने अपने आप से कहा “कैसा फगल है यह अंग्रेज़ सेनापति ? वह

अजीजन मर गई जो मौत से डरती थी और पेट भरने के लिये युक्ति व्यवसाय करती थी, पर आज मैंने जीना सीख लिया है । मृत्यु का भय क्या ? मृत्यु तो एक दिन आयेगी ही ।” सेनापति हेमलाक इसको निर्भीकता देखता ही रह गया । अजीजन बोली—“मैं आततायी से क्षमा नहीं माँगती । तुमने निरपराध लोगों की हत्या की है ।” हेमलाक ने पूछा—“क्या अंग्रेज़ परिवारों के साथ ऐसा अन्याय नहीं हुआ है ?” “तुम्हारा सेनापति नील इस प्रकार भारतीयों की हत्या नहीं करवाता तो कानपुर में उसका बदला न लिया जाता ।” हेमलाक क्रोधित होकर चीखा “आखिर तुम चाहती क्या हो ?” “अंग्रेज़ों कुशासन का अन्त ।” अजीजन का उत्तर था ।

सेनापति का इशारा पाते ही बन्दूकें गरज उठीं अजीजन का शरीर चिबड़े-चिबड़े हो गया पर उसके शब्द वायुमण्डल में गूँजते रहे ।

आत्मा की आवाज को सुनकर उठ खड़ी होने वाली अजीजन अवर हो गई । मनुष्य के पतन-उत्थान की कहानी अजीजन अपनी जबानी कह गई, जिसे दुहरा कर कोई भी अमर हो सकता है ।

टैंक-युद्ध के अनुभवी विजेता— जनरल चौधरी

अनेक, कष्ट जैसे समझौतों को तोड़कर और बार-बार अक्रमण करके पाकिस्तान ने समझ लिया कि भारत स्वाधीनता के लिये बहुत अधिक बलिदान देने के बाद खोखला हो चुका है, अब उसमें ऐसा कोई हमला नहीं रह गया है कि वह संग्राम के लिये रण-भूमि में उतर सके । कोई बड़ा आक्रमण करो और इन समझौतावादीयों से कश्मीर अथवा भारत-भूमि का कोई बड़ा भाग हड़प लो ।

निदान युद्ध की इच्छा से अपनी टैंक-सेना आगे बढ़ा दी । वह अमरीकी पैटर्न-टैंक अपेक्ष तथा अजेय समझे जाते थे, अमेरिका ने पाकिस्तान को इन्हीं टैंकों से लैस कर स्वखा था । पाकिस्तान को पूरा विश्वास था कि था तो भारत इन भीमकाय टैंकों को देखकर उनकी शर्तों पर समझौता कर लेगा अथवा उनके यह अमरीकी टैंक इलाके पर इलाके रौंदते हुए भारत पर अधिकार कर लेंगे ।

किन्तु हुआ यह कि भारत के टैंक दस्तों ने उनके अपेक्ष पैटर्न टैंकों के धुरे ठड़ाने शुरू कर दिये और बात की बात में तोड़-फोड़ कर घेर लगा दिये । भारत की यह दक्षता देखकर पाकिस्तान ही नहीं, अमेरिका तथा ब्रिटिश तक दौतों तले डँगलों दबा कर रह गये और इस बात की जाँच-बहताल करने लगे कि आखिर इस अहिंसावादी भारत के पास ऐसे कीन से अस्त्र-शस्त्र हैं, जिससे उन्होंने हमारे अपराधों टैंकों की मिट्टी पलीत कर दी, जिनके

बल पर उन्होंने द्वितीय महायुद्ध के दौरान टैंक-युद्ध विशेषज्ञ- जर्मन सेनापति जनरल रोमेल को परास्त किया था।

उन्होंने भारतीय बलों के टुकड़े इकट्ठे किये और इस बात की खोज बिन शुरू कर दी कि यह टैंक तोड़ने वाले बम किन-किन ठपानों से बनाये गये हैं। किन्तु उन्होंने यह सोचने का कष्ट नहीं किया कि टैंक-युद्ध के महारथी जनरल जयन्त नाथ चौधरी स्वयं ही इस युद्ध की कमान संभाले हुए हैं।

भारतीय सेनाध्यक्ष- 'जनरल जयन्त नाथ चौधरी' एक वीर, अनुभवी और तारे हुए सेनानी हैं। विश्व के माने हुए छह टैंक युद्ध महारथियों में उनका विशेष स्थान है। द्वितीय महायुद्ध में जर्मन सेनापति रोमेल को हरा देने का जो श्रेय मित्र-राष्ट्र सेनाध्यक्ष आकिनलेक को मिला था, वह वास्तव में हमारे जनरल चौधरी और चौथी भारतीय डिवीजन के जवानों की उपलब्धि थी।

लीबिया के मरुस्थल में जिस समय रोमेल ने अपने टैंक-आक्रमण से अमेरिकी तथा अंग्रेजी फौजों को दिन में तारे दिखाया दिये थे और ऐसी स्थिति में ला दिया था कि उन्हें लीबिया का मोर्चा छोड़ कर भागना पड़े, उसी समय जनरल चौधरी ने अपनी चौथी भारतीय डिवीजन अड़म्बर मित्र-सेनाध्यक्ष आकिनलेक की लाज रखली। किन्तु उस विजय का श्रेय जनरल चौधरी को इसलिये न मिल सका था कि उस समय वे मित्र-सेनाध्यक्ष आकिनलेक की आधीन लड़ रहे थे।

सन् १९४१ के नवम्बर मास में मित्र-सेनाध्यक्ष जनरल आकिनलेक ने लीबिया के सिदी उपर मरुस्थली में जर्मनी सेनापति की अभ्यक्षता में पन्द्रहवीं और इसकीसवीं पंजर डिवीजनों के विरुद्ध मोर्चा खोला। यह टैंकों का युद्ध था। इसी युद्ध में चौथी भारतीय डिवीजन के साथ जनरल चौधरी ने आकिनलेक के नेतृत्व में भाग लिया था।

उसी समय दूरदर्शी जनरल चौधरी ने लीबिया के मरुस्थल की हड़ड़ी गला देने वाली सर्दों और आत्मा हिला देने वाली रेगिस्तानी आँधियों के बीच जान हथेली पर रखकर टैंक युद्ध की बारीकियों का अध्ययन किया था और अपने में वे क्षमतार्थ उत्पन्न की थीं, जो भारत के विरुद्ध पाकिस्तान के युद्ध में काम आई। उन्होंने जनरल आकिनलेक के एक निर्देश का पालन करते हुए अपनी सूझ-बूझ से अनेक अन्य दाँव-पेजों को खोज निकाला। एक प्रतिरक्षा कार्यवाही के क्रम में दूसरे आक्रमण की रूप रेखा समझ लेने में तत्पर-जनरल चौधरी के सहस और प्रत्युत्पन्न बुद्धि ने उन्हें टैंक-युद्ध में इतना दक्ष बना दिया कि आज संसार में उनकी इस विशेषता का नक्कामा बज रहा है।

लीबिया का उद्धत-युद्ध एक निर्णायक युद्ध था और यदि उसमें मित्र सेनाओं की हार हो जाती तो हिटलरवादी के नीचे दबे मोरोप का और ही रूप होता और सम्भव था कि आज न तो ब्रिटिश अपनी कूटनीति चलाने योग्य रहता

और न अमेरिका अपने पाकिस्तान जैसे पिददुओं को करोड़ों रुपये के अस्त्र-सम्पन देकर शान्ति-प्रिय भारतीयों के विरुद्ध खड़ा कर सकता।

जनरल रोमेल ने लीबिया पर पूर्ण अधिकार करके उसे मित्र से अलग करने के लिये दस गज चौड़ी कटिदार तारों की एक बाड़ लगवा दी थी और इस विश्वास के साथ निश्चितता की सौर तान ली थी कि लीबिया की प्राण-सेवा ठण्डी हवाओं में कौन ऐसा भाई का लाल है, जो इन लौह-कंटकों को पार करके इसकी ओर रुख करेगा।

युद्ध का वातावरण और निश्चितता से जर्मन सेनापति रोमेल थोका खा गया। उसके विजय विलास ने लीबिया की कष्टकर परिस्थितियों को अधिक आँक और वह भूल गया कि जब तक शत्रु का रुख तक सड़कर मिट्टी न हो जाये, तब तक उससे पूर्ण सतर्क रहते हुए सज्ज रहने की आवश्यकता है।

१० नवम्बर, १९४१ की प्रलयंकारी रात को जबकि लीबिया का रेगिस्तानी तापमान गौरीसंकर के तापमान को मार दे रहा था और उसकी हिम-हवायें मौत के तीरों की तरह शरीर चीर रही थीं, मित्र-सेना के शिल्पी अपने को मोटे-मोटे लवाहों में छिपाये और बड़े-बड़े औजार लिये मित्र और लीबिया की विभ्रमन बाड़ पर आ पहुँचे और लगे काटने उन कटीले लौह तारों को, जिनमें जर्मन जनरल रोमेल की विश्वासपूर्ण-बुद्धिमत्त विजय के नशे में लिपटी सो रही थी।

हाथ ऐँठ रहे थे, प्राण ठिठुर रहे थे और औजार असह्य शीत की तरह ठण्डे हो रहे थे, पर साहसी इन्जीनियर आत्म को शक्ति लगाकर अपना काम कर रहे थे। उन्हें अपने जीवन से अधिक अपने उस शत्रु का जीवन अखर रहा था, जो उस बाड़ के आगे लीबिया में घेन से सो रहा था। उन्हें दुश्मन के वे सुल्प अधिकाधिक क्रियाशील बना रहे थे, जो अकारण ही उन पर छाये गये थे। उन्हें आततायी का अहंकार गर्म कर रहा था और राष्ट्र-रक्ष की भावनाई शरीर में बिजली भर रही थी।

तीन बार को असफलता के बाद धुन के धनी इन्जीनियरों ने वह कटीली बाड़ बीस जगह से काट गिराई मित्र सेनाओं के टैंक-बस्तों, बाखरबन्द गाड़ियों और मोर्टारों का दल तोपों के साथ लीबिया में घुस गया।

इस अधियान में चौथी भारतीय डिवीजन के जवान और उनके नायक-जनरल चौधरी सबसे आगे थे। वे इस रेगिस्तानी युद्ध से पहले शीतकाल में सहारा मरुस्थल की सर्दों को अपनी दृढ़वर्ती प्रवृत्ति से परास्त कर चुके थे और बर्फीली आँधियों को सहन करने के अभ्याससिद्ध कर चुके थे। इन भारतीय वीर प्रतिधों ने लीबिया की सर्दों को तनिक भी महत्व न दिया और ठण्डे देशों के सारे जवानों पर अपनी सहन-शक्ति का सिक्का जमा दिया।

कई दिन लगातार रेतीली यात्रा पार करके मित्र सेनाओं ने लीबिया में सिदी उपर के मैदान पर मोर्चा जमा

२.४७ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

दिया और जर्मन सेनापति रोमेल के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगी।

दूर समुद्र तट पर अपने शिविर में पड़े रोमन को आक्रमण की सूचना मिली और वह अपनी टैंक डिवीजन लेकर पूर्व की ओर से बढ़ चला। तोपें दानव, गोले बरसाता और आग उगलता हुआ रोमेल निरिक्त मृत्यु की तरह बढ़ा आ रहा था। ब्रिटिश सेनाई अपनी रक्षा का उपक्रम कर रही थीं।

देखते ही देखते रोमेल ने मैदान पकड़ लिया और ढेढ़ हजार गज की दूरी से अपनी पचास मिस्त्री-मीटर वाली तोपों से बार करना शुरू कर दिया। टैंक टूटने लगे और जवान मर-मर कर गिरने लगे और अमरीकी लड़ाकों की हिम्मत परत कर दी गई।

दूसरे दिन के युद्ध में भी रोमेल विजयी हुआ और ऐसा लगने लगा कि अपने साथ-साथ के साथ सारी मित्र-सेना लीबिया के रेगिस्तान में दफन हो जावेगी। किन्तु भारत के वीर जवानों और जनरल चौधरी ने हिम्मत न हारी। वे एक संगठित अनुरासन में होकर बढ़े और तीसरे दिन के घमासान युद्ध में रोमेल के छक्के चुड़ा दिये। रोमेल भाग गया और मैदान मित्र-सेनाओं के हाथ रहा।

लीबिया की पराजय को विजय में बदल देने वाले इन्हीं जनरल जयन्त ने पाकिस्तान के विद्रुध युद्ध की कमान सम्भाली और तब जिस कौशल से जर्मन के अथेरा टैंकों की मिट्टी बनाई थी, उसी कौशल से भारत भूमि पर बढ़कर आये अमेरिका के पैटर्न-टैंकों को टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दिया।

भारत की स्वतन्त्रता के शत्रुओं को इस युद्ध से शिक्षा लेनी चाहिए और इन अहिंसावादियों को ठीक-ठीक समझकर अपनी भ्रांतिपूर्ण धारणा में संशोधन करके भारत को इस बात का अवसर देना चाहिए कि वह अपनी मौलिक प्रवृत्तियों का लाभ संसार को दे सके, उसकी सेवा कर सके और विश्व में एक स्थायी सुख-शान्ति की परिस्थिति ला सके। अन्यथा जिस प्रकार वह आज तक रण लिप्सुओं का मुँह तीड़ता रहा है, अगले भी खेदवा होगा।

श्रम, सम्पदा व सद्भावना का धनी—

हेनरी फोर्ड

अमेरिका के ग्रीन फ्रील्ड नामक गाँव की पाठशाला में पढ़ने वाले आठ वर्षीय बालक हेनरी की मशीनों में चढ़ी रुचि थी। कोई भी मशीनरी देखी नहीं कि उसकी जानकारी पाने के लिए उसके मन में तीव्र आकांक्षा जागृत हो जाती। पिता एक साधारण किसान थे। उनके पास इसकी इस रुचि को तृप्त करने का कोई साधन नहीं था। अपने घर में रखी हुई टाइमपीस घड़ी उसके लिये बड़ा आकर्षण का केन्द्र थी। उसके भीतर जो संसार पर

बढ़ा था। उसे जानने के लिये वह बेचैन रहा करता था।

माता-पिता दिन भर खेत में परिश्रम करके रात्रि को थोड़े बेचकर सोते। वह समय उसे अपनी आकांक्षा पूरी करने के लिए उपयुक्त लगा। उसने एक रात उस टाइमपीस को खोलकर उसके सारे पुर्जे फिर व्यों के व्यों फिट कर दिये। उस दिन उसकी प्रसन्नता देखते ही बनती थी।

हेनरी का जन्म ३० जुलाई, १८६३ को ग्रीन फ्रील्ड ग्राम के फोर्ड परिवार में हुआ था। बचपन में ही वह बड़ा जिज्ञासु था। मशीनों के बारे में उसकी विशेष विज्ञान थी। अपने घर की टाइमपीस खोलकर फिट कर देने के बाद उसने घर के कबाड़खाने में पड़ी एक पुरानी घड़ी को खोला तथा दिन भर उसी को ठीक करने में जुट रहा। जिस घड़ी को कारीगर ठीक नहीं कर पाये थे उसे इस आठ वर्ष के बालक ने ठीक कर दिया था। उसके कुछ पुर्जे उसने अपने हाथ से बनाये। इस सकलता के पीछे एक ही कारण था वह था हेनरी का पनोवीन।

हेनरी को अब अपनी ज्ञान वृद्धि के लिये और मशीनों चाहिए वे कहाँ से मिलें? हेनरी को उसके लिये एक तरकीब सूझी। वह जिस घर में जाता वहाँ की घड़ी देखने लग जाता और फिर असावधानी प्रकट करता हुआ गिरा देता। घर वाले उसे डाँटते तो वह कहता “लाइये मैं अपने पिता के हाथ इसे ठीक करवा लूँगा।” अपने घर आकर वह स्वयं उसे ठीक कर देता। बारह वर्ष की आयु में हेनरी अच्छा घड़ी साज बन गया।

गाँव की पाठशाला की पढ़ाई पूरी करने पर हेनरी के पिता ने खेती करने को कहा। हेनरी को खेती करने में रुचि नहीं थी वह इन्जीनियर बनना चाहता था। वह डेट्राइट चला गया। वहाँ ओछीगिक प्रशिक्षण स्कूल में भर्ती हो गया वहाँ मशीनों सम्बन्धी पढ़ाई होती थी। पिता की इच्छा के विपरीत हेनरी इस स्कूल में भर्ती हुआ तो उन्होंने खर्च देना बन्द कर दिया। घड़ी साजी का ज्ञान वहाँ उसके लिये बड़ा हितकर सिद्ध हुआ। वह डेट्राइट की एक घड़ी सुधारक की दुकान पर पहुँचा। उसके भाँसिक से बोला “मैं घड़ियाँ सुधारना जानता हूँ, क्या आप मुझे काम देंगे।” बारह वर्ष के इस देहाती बालक को देखकर उस दुकानदार को विश्वास नहीं हुआ। वह कुछ विनोदी स्वभाव का था। उसने सोचा कि वह घड़ियाँ तो क्या सुधारें पर मनोरंजन की सामग्री व्यवस्था बन-जावेगा। उसने इसे ऐसी घड़ी लाकर दी जिसे कोई सुधारक सुधार नहीं पाया था। हेनरी अपने काम में जुट गया। वह उसी प्रकार की घड़ी थी जो उसके घर में कबाड़खाने की खेपा बड़ा रही थी। हेनरी ने उसे ठीक कर दिया। दुकानदार की आँखें आश्चर्य से फैल गई। उसने हेनरी को अपने वहाँ रख तो लिया पर ग्राहक बढ़क न जाये इस कारण हेनरी के लिए पदों के पीछे बैठने की व्यवस्था करनी पड़ी।

इस दुकान में काम करने से दुकानदार को बहुत लाभ हुआ। वह बहुत कम समय में यद्दियों ठीक कर देता व पारिश्रमिक दुकानदार को देता वहीं ले लेता। हेनरी ने इसे व्यवसाय के रूप में नहीं अपनाया व वह इसे साधना की तरह पूरे मनोयोग से करता था। उसे तो यंत्रों की चमकती करने अपनी ज्ञान वृद्धि से मत्सन्ध था। उसकी इस साधना का ही परिणाम था कि वह विश्व का धन कुबेर बना और उसके साथ के कारीगर अपने व्यावसायिक दृष्टिकोण के कारण घड़ी सुधारक से आगे न बढ़ पाये।

अपनी पढ़ाई से बचे समय में वह यद्दियों की इस दुकान पर काम करके अपना खर्च चुटा लेता। पूरे मनोयोग से पढ़ने का परिणाम यह हुआ कि वह जब इस स्कूल से निकला तो केवल यंत्रों का ज्ञान ही नहीं वरन् यंत्रों के आवश्यक सुधार तथा निर्माण के सम्बन्ध में भी उसका मस्तिष्क बहुत काम करने लगा था। अपनी प्रतिभा के कारण इसे काम हँदने में दीड़-घण्टा नहीं करनी पड़ी। उसे 'एडीसन एल्यूमिनेटिंग कम्पनी' में इन्जीनियर के पद पर नौकरी मिल गई।

प्रगति के इच्छुक पुरुषार्थी कभी अपनी स्थिति से संतुष्ट नहीं होते वे तो निरन्तर आगे बढ़ना चाहते हैं। वे मदी की तरह निरन्तर गतिमान रहना चाहते हैं। स्थिर तालाब की तरह सड़ना नहीं चाहते। विभिन्न व्यक्तियों ने महान उपलब्धियाँ प्राप्त कीं वे प्रथम श्रेणी के व्यक्ति थे दूसरी के नहीं। हेनरी इन्जीनियर बनकर ही संतुष्ट नहीं हो गया। उसने कारखाने का काम करने के परचात् बचे हुए समय में नवीन यंत्र बनाने का विचार किया। उसके पिता कृष्क थे। ग्रीन फील्ड के साथी निवासी किसान थे। हेनरी फोर्ड ने उनके लिये एक ऐसी गाड़ी का निर्माण करने की योजना बनाई जो खेतों पर सामान ले जाने में प्रयुक्त हो सके।

हेनरी फोर्ड इस दिशा में पहला व्यक्ति नहीं था। उसके पहले भी मोटर गाड़ी का निर्माण हो चुका था। वह मोटर गाड़ी इतनी लागत में पड़ती थी कि सधारण व्यक्ति उसे खरीदने का साहस नहीं कर सकता था। अब तक यंत्रचालित मोटर कार अमीर लोगों के लिये ही थी। हेनरी फोर्ड चाहता था कि इसमें यांत्रिक सुधार करके कम से कम लागत की मोटर कार बनाई जाय जिससे सार्वजनिक व्यक्ति लाभ उठा सके।

हेनरी इस काम में जुट गया उसने अपने घर के अन्दर ही मोटर कार बनानी आरम्भ कर दी। १८९२ में वह बनकर तैयार हुई तो निकालने की समस्या सामने आयी। घर की दीवार फोड़कर उसके लिए रास्ता बनाया गया। मोटर कार ५-६ मील प्रति घण्टा की रफ्तार से चलती थी। देखने में बड़ी भद्दी थी और शोर करके आसपास सिर पर उठा लेती थी। इस प्रदर्शन को लोगों ने फणत्पन समझा। हेनरी का मजाक उड़ाया। हेनरी जानता था कि वह सफल हुआ है।

इस निर्माण के पीछे हेनरी फोर्ड का उद्देश्य यह था कि उसे जनसाधारण खरीद सके और अधिक संख्या में बनाई जा सके। पहली मोटर कार में उसने कम से कम लागत लगाई थी। १८९८ में दूसरी मोटर कार तैयार हुई जो देखने में तो भद्दी थी पर कीमत तथा चलने के दृष्टिकोण से अति उत्तम थी। उसने इस का प्रचार करने के लिए मोटर कार रेस में भाग लिया और रेस जीती।

१९०३ में डेट्राइट में 'फोर्ड मोटर कम्पनी' की स्थापना हुई। हेनरी फोर्ड ने १८९८ वाले मॉडल में थोड़ा सुधार करके मोटरकारों का निर्माण आरम्भ कर दिया। उनकी मोटरकारें सस्ती होने से चल निकलीं। उनमें दिन पर दिन सुधार होने लगा। फोर्ड एक इन्जीनियर ही नहीं कुशल व्यापारी तथा उद्योगपति के रूप में प्रसिद्ध होने लगा। अधिक संख्या में मोटर बनाने के कारण लागत कम पड़ने लगी और मोटर कारें सस्ती पड़ने लगीं।

कारखाने की प्रपात्ति में सुधार करने के लिये हेनरी के उर्जर मस्तिष्क में कोई न कोई योजना आती रहती थी। उसने 'कन्वेयर बेल्ट' का आविष्कार करके कारीगरों के समय की बड़ी बचत कर दी। मोटर कार में भी प्रत्येक मॉडल में वह पर्याप्त सुधार करके निकालता जिससे लोगों का विश्वास बढ़ने लगा।

आरम्भिक दिनों में जब उसने अपनी छोड़ी सी पूँजी से डेट्राइट में फोर्ड मोटर कम्पनी की स्थापना करके उत्पादन आरम्भ किया था तो उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पहले तो उसका एक भागीदार उसे छोड़कर चला गया। वह अधिक लाभ लेने के लिए मोटरगाड़ी का मूल्य अधिक रखना चाहता था। हेनरी इस पर राजी न हुआ। सीमित साधनों से कारखाना चलाने लग्न तो जी. बी. सेल्डन ने इसके विरुद्ध नमून चोरी का दावा दायर कर दिया। पहली बार वह हार गया किन्तु वह निराश होने वाला नहीं था। उसने अगले अपील की क्षीर जीता।

इन कठिनाइयों को पार करत हुआ हेनरी फोर्ड आगे बढ़ता गया। अपने उत्पादन में निरन्तर सुधार करता रहा। इसके कारखाने में बनी मोटर कारें धड़ाधड़ बिकने लगीं। एक दिन जिस हेनरी फोर्ड की मोटर कार को 'खटारा' कहकर लोगों ने उसका मजाक उड़ाया वही अपनी लगन, अपने परिश्रम, सूझ-बूझ तथा धैर्य से विश्व के श्रेष्ठतम पूँजीपतियों में गिन जाने लग्न। उसके कारखाने में विश्व भर में सबसे अधिक मोटर गाड़ियाँ बनती हैं, जो प्रति वर्ष लाखों की संख्या में बनाई व बेची जाती हैं।

विश्वयुद्ध के समय हेनरी फोर्ड ने मित्र राष्ट्रों की मदद की। अपने कारखाने अमेरिका सरकार के लिए खोल दिये। उसमें जल जहाजों का निर्माण होने लगा। युद्ध के समय कितनी ही मोटर गाड़ियाँ हेनरी फोर्ड ने अमेरिका सरकार को दे दीं। हेनरी केवल धन कुबेर ही नहीं एक देशपक का हृदय भी रखता था। विनाश के जटिल मँडराये तो वह अपनी सम्पदा को लोकहित में प्रयुक्त करने को आतुर हो उठा।

‘शिकागो ट्रिब्यून’ नामक पत्र ने हेनरी फोर्ड को राजद्रोही ठहराया । हेनरी फोर्ड अन्तर्राष्ट्रीय शांति का पक्षपाती था । वह नहीं चाहता था कि कोई राष्ट्र अपने पास शस्त्रों का विशाल भण्डार रखे इसके लिये उसने एक आन्दोलन चलाया था । आपत्कालीन स्थिति में अमेरिका को जी-जान से सहायता करने वाले हेनरी फोर्ड का विवेक कहता था कि शस्त्रों की होड़ मानव के लिये हितकर नहीं है । हेनरी में एक सच्चे मानव के गुण थे तथा वह सरकार की नीति के विरुद्ध आन्दोलन चला सका था । उसने ‘शिकागो ट्रिब्यून’ पर टप्पा टप्पा किया और तीन वर्ष तक मुकदमा सड़कर जीता ।

हेनरी फोर्ड के कारखाने में १८००० आदमी काम करते हैं । उनमें नवयुवक, दृष्ट-पुष्ट कर्मचारी बहुत कम हैं । अधिकांश अन्ये, काने, लूले, लौंगड़े, अपंग कर्मचारियों को उन्होंने अपने कारखाने में काम दिया । ईश्वर के मंदिर की तरह उनके प्रति ब्रह्मात्मक का द्वार हर व्यक्ति के लिए खुला है । वे यह नहीं देखते कि वह व्यक्ति मेरे यहाँ काम कर सकेगा या नहीं बल्कि यह देखते हैं कि उसे कौन सा काम देकर उसे रोजगार दिया जाय । समाज में जो कैरी स्थान नहीं पा सकते, उनको भी वे अपने यहाँ काम देते थे । उन्हें ईश्वर ने भन दिया था । उस भन को उन्होंने अधिक से अधिक लोगों को रोजगार देने में लगाया । ऐसे लोग जिन्हें कहीं काम नहीं मिलता था वे इनके यहाँ काम पाते थे । अपने कर्मचारियों को वे अधिक वेतन तथा सुविधाएँ देते थे । दान देने में भी हेनरी फोर्ड कभी पीछे नहीं रहे ।

एक घाटे में चलने वाली जहाज कम्पनी इन्होंने खरीद ली । मजदूर हड़ताल कर रहे थे । खरीदने के दूसरे ही दिन इन्होंने घोषणा कर दी कि मजदूरों को उनकी माँग के बराबर वेतन दिया जायेगा । मजदूर काम पर लौट आए । घाटे ही समय में घाटा भी पूरा हो गया । हेनरी फोर्ड ने इस प्रयोग से दिखा दिया कि उदारता का परिणाम शुभ ही होता है । मजदूरों को अधिक वेतन देकर भी लाभ कमाया जा सकता है ।

हेनरी फोर्ड की इच्छा थी कि वे एक साम्राज्य आदमी की तरह मरे । उनकी यह इच्छा पूरी हुई जिस दिन हेनरी फोर्ड की मृत्यु हुई उस दिन घन-घोर सर्दियाँ हुई । उनके बेटे भी उनके पास नहीं पहुँच सके । बिजली, टेलीफोन आदि के तार टूट चुके थे । फर्नीचर जलाकर उनके कमरे में उजाला किया गया । अन्तिम समय में उनके पास उनकी पत्नी व एक नौकर ही था ।

हेनरी फोर्ड ने अपने अव्यवसाय से अपार धन अर्जित किया, उसका उपयोग जन कल्याण में किया तथा कभी उस पर गर्व नहीं किया । उन्होंने जीवन जीकर बताया कि धन साधन है साध्य नहीं । काश ! सभी पूँजीपति हेनरी फोर्ड के जीवन से कुछ प्रेरणा लेते ।

महाराष्ट्र मण्डल के चाणक्य-

नाना फड़नवीस

महाराष्ट्र-मण्डल के राजन्व वर्ग का सोलह वर्षीय कुमार बालाजी जनार्दन भानु मराठी सेनाओं के प्रधान सेनापति सदाशिवराव भाऊ का मंत्री बनकर अहमदशाह अब्दसी के साथ होने वाले बानीपत के युद्ध में पहुँचा । इस युद्ध के पीछे उसका उद्देश्य मात्र युद्ध कला का अनुभव प्राप्त करना ही नहीं था बल्कि उसने भारत के तीर्थ स्थलों का दर्शन करना भी था । इसीलिये उसके साथ उसकी माता और पत्नी भी थी ।

बानीपत का युद्ध तो विजेता अहमद शाह के लिये भी लाभकारी नहीं रहा था । पराजित पक्ष मराठों के लिये तो लाभकर होने का प्रश्न ही नहीं उठता । दोनों ओर से अपार जन-धन की हानि हुई । मराठी सेना के प्रधान सेनापति सदाशिवराव भाऊ छेत रहे । बालाजी जनार्दन भानु को भागना पड़ा । बानीपत से मराठी सेना के पूर्व उखड़े तो दिल्ली और मथुरा में डेरा डाले पड़ी मराठी सेनाएँ भी भानु छड़ी हुई । कुमार बालाजी जनार्दन भानु की माता व पत्नी इसी भाग दौड़ में खो गयीं ।

बानीपत के युद्ध का अनुभव इस कुमार के लिये बड़ा भयंकर रहा । माता व पत्नी को छोड़कर वह एक साथ ही अनाथ और विधुर हो गया था । युद्ध ने भन में बैराग्य उपजा दिया था । भन में वही विचार उठता था कि वह घरबार त्याग कर संन्यासी हो जाय । कई दिनों तक उसके चित्त में वही विचार उमड़ता रहा । एक दिन चित्त कुछ अधिक उद्विग्न हुआ तो वह समर्थगुरु ‘रामदास’ का दास बोध लेकर बैठ गया । इसके पठन, मनन चिंतन से उसे बोध हो गया कि संसार से भागना सम्भव नहीं है । मैं यदि निष्काम भाव से कर्णवीर्य कर्म करता रहूँ तो मुझे संसार त्यागने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी । यह बोध होते ही अपने लिये विशाल कर्म क्षेत्र दिखाई दिया-विघटित होते हिन्दू महाराष्ट्र को बचाने और पुनर्गठित करने का । यही किराँत आगे चलकर नाना फड़नवीस नामक इतिहास पुरुष के नाम से विख्यात हुआ । इस एक अकेले व्यक्ति ने अपने जोड़े की महाराष्ट्र की कीर्ति को धूमिल नहीं होने दिया, जिसे समर्थगुरु रामदास और शिवाजी आदि महापुरुषों ने अपने महान कर्तव्य के बल पर संगठित किया था ।

नाना फड़नवीस का जन्म १७४४ में पूना के फड़नवीस परिवार में हुआ था । मराठा मण्डल के फड़नवीसी कार्यालय के मुख्याधिकारी के पद पर कार्य करने के कारण इनके पूर्वजों के साथ फड़नवीस की उपाधि लगाने लगी थी । बानीपत के युद्धोपरान्त नाना फड़नवीस समर्थ गुरु रामदास तथा बीरवर शिवाजी की तरह निष्काम भाव से महाराष्ट्र मण्डल के पुनर्गठन के कार्य में लग गये ।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक अकेले निष्काम कर्मयोगी नाना फड़नवीस के पुण्य प्रलय से महाराष्ट्र मण्डल की नौका जिसमें अनेकानेक महत्वाकांक्षी पैंदे में छेद करने वाले सामंत बैठे थे फिर भी वह तब तक नहीं डूब सकी जब तक वे जीवित रहे।

पानीपत की हार का बक्का पेशवा नाना साहब (बालाजी) सहन न कर सके। शोक और निराशा ने उनके प्राण हर लिये। उनके पश्चात् उनका सोलह बर्षीय पुत्र माधवराव पेशवा बने। नाना फड़नवीस उसके मंत्री नियुक्त हुए। नाना फड़नवीस के मार्गदर्शन में माधवराव ने महाराष्ट्र मण्डल को पुनः शक्तिशाली बनाया। छोटे ही दिनों में पेशवा के इस कर्तृत्व ने वह अज्ञात जगहों की लोग पानीपत की हार को भूलने लगे। किन्तु माधवराव पेशवा अस्वास्थ्य सिद्ध हुए। वे इस वर्ष बाद ही चल बसे। माधवराव के बाद उनके कनिष्ठ भ्राता नारायण राव को पेशवा बनाया गया पर वह अपने भाई की तरह योग्य सिद्ध नहीं हुए। पेशवा नाना साहब का छोटा भाई राधोबा पेशवा बनने के सपने कई बर्षों से देख रहा था, पर नाना फड़नवीस और अष्ट प्रधान मण्डल के सदस्य उसके नीच स्वभाव से परिचित थे अतः वे उसे पेशवा नहीं बनाना चाहते थे। छत्रपति शिवाजी अपने समय से ही यह परम्परा बना गए थे कि अष्ट प्रधान मण्डल की सम्मति के बिना छत्रपति की नियुक्ति भी नहीं होगी।

महत्वाकांक्षी राधोबा ने गुप्त रूप से पेशवा नारायण राव को हत्या करवा दी। ऐसा कुकर्म महाराष्ट्र मण्डल में अब तक नहीं हुआ था, फिर भी नाना फड़नवीस ने अष्ट प्रधान मण्डल की सहायता से राधोबा जैसे हत्यारे को पेशवा नहीं बनने दिया। नारायण राव के अस्वभाविक पुत्र सवाई माधवराव को पेशवा बनाया गया। नाना फड़नवीस उसके संरक्षक बने।

परिस्थितियाँ विकटतर होती जा रही थीं। स्वार्थी लोग महाराष्ट्र की रसातल में ले जाने को उद्यत थे। इन सबके बीच नैतिक और निस्वार्थी नाना फड़नवीस राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य पालन के दुर्बल दायित्व को जिस तत्परता से निभाते रहे वह अपूर्व धैर्य और साहस का ही कार्य था। वे सच्चे योगी थे, सच्चे संन्यासी थे, जहाँ वे राजकार्य में रत रहे हों।

उन दिनों महाराष्ट्र मण्डल में नाना फड़नवीस जैसा पुरंधर राजनीतिज्ञ और महादाजी सिंधिया जैसा प्रबल पराक्रमी योद्धा दूसरा नहीं था। वे दोनों एक दृष्टि के होते दो महाराष्ट्र सम्राज्य इतना शीघ्र अकास्य कवचित न होता पर महादाजी सिंधिया, नाना फड़नवीस की तरह निस्वार्थी नहीं था। उसकी महत्वाकांक्षाएँ बड़ी बड़ी थीं। नाना फड़नवीस जब तक जीवित रहे उन्होंने महादाजी को महाराष्ट्र मण्डल से पृथक् नहीं होने दिया। उनकी मृत्यु होते ही वह महत्वाकांक्षी पर अदूरदर्शी व्यक्ति विदेशी अंग्रेजों की चाल में आ गया।

माधवराव द्वितीय के समय में नाना फड़नवीस अष्ट प्रधान मण्डल में महापातक पद पर पहुँचे। यों पद से उन्हें कुछ लेना देना था नहीं। एक प्रकार से वे तो विरक्त थे पर राष्ट्र की सेवा को अपना धर्म मानते हुए महाराष्ट्र के विगत-गौरव को स्थायित्व प्रदान करने का हर सम्भव प्रयास कर रहे थे। महापातक पद पर प्रतिष्ठित होना इस दृष्टि से अतीव उपयोगी था।

नाना फड़नवीस दूरदर्शी व्यक्ति थे। समझते थे वे कि हिन्दू साम्राज्य के वास्तविक शत्रु कौन हैं। महादाजी सिंधिया और राधोबा तो अभी तक यह भी नहीं जान पाए थे कि उनके वास्तविक शत्रु कौन हैं वास्तविक शत्रु तो वे अंग्रेज और फ्रांसिसी व्यापारी जबकि राधोबा और महादाजी निर्वल गुप्त सम्राट और राष्ट्रवादी हैदर अली व टीपू सुल्तान को ही अपने शत्रु समझते थे।

नाना फड़नवीस अपने समय के चाणक्य माने जाते हैं। उन्होंने अपना गुप्तचर विभाग कितना तत्पर बना रखा था इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासकार मेजर वसु ने लिखा है—“नाना फड़नवीस के गुप्तचर विभाग का प्रबन्ध इतना उत्तम तथा पूर्ण था कि देश के किसी भी भाग में कोई भी महत्वपूर्ण घटना होती तो उस घटना के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा दर्जन की संख्या में वृत्तान्त लेख ठीक समय उनके पास पहुँच जाते थे। इन भिन्न-भिन्न स्थानों से आये हुए वृत्तान्त लेखों को पढ़कर वे अपने कमरे में बैठे-बैठे ही देश भर की घटनाओं को अस्तित्वतः जान जाते थे।

महादाजी सिंधिया को वे कहा करते थे—“यदि हमने मराठा साम्राज्य में अंग्रेजों को पाँव रखने दिया तो देश पराधीन हो जाएगा।” अंग्रेज उनकी राजनीति से भयभीत रहा करते थे। उन्हें महाराष्ट्र मण्डल में एक ही व्यक्ति ऐसा दिखाई देता था जो उनके इरादों की तब तक पहुँचा था— वह व्यक्ति थे नाना फड़नवीस। अंग्रेज यह जानते थे कि नाना फड़नवीस जैसा चतुर और निस्वार्थी व्यक्ति पेशवा का महापातक रहेगा, तब तक उनकी चाल नहीं गलेगी। इसीलिए वे नाना फड़नवीस को महाराष्ट्र मण्डल से हटाकर उनके स्थान पर अदूरदर्शी व्यक्ति को नियुक्त करने का हर सम्भव प्रयास करते रहते थे। किन्तु अष्ट प्रधान मण्डल और महाराष्ट्र की जनता का नाना फड़नवीस में अगाध विश्वास होने के कारण वे अपने नापाक इरादों में सफल नहीं हो सके।

भूत के रेजीडेण्ट चार्ल्स मलेट ने लिखा था—“जब तक भूत दरबार में नाना फड़नवीस की प्रधानता है तब तक ब्रिटिश जाति को मराठा साम्राज्य में स्थिर स्थान प्राप्त करने की आस नहीं करनी चाहिए।”

नाना फड़नवीस और वारेन हेस्टिंग्स के मध्य जो कूटनीतिक खेल पैच चले उसमें हेस्टिंग्स को मुँह की खानी पड़ी। स्वार्थी राधोबा अंग्रेजों की तरफ में जा पहुँचा था। वह पेशवा बनने का महत्वाकांक्षी था, उसने महादाजी सिंधिया को भी सोप दिखाकर पुनः दरबार में फूट डालने का प्रयास किया पर नाना के आगे उनकी एक न चली।

२.५१ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

नाना ने न केवल पूना दरबार को फूट से नचाया बरन् निजाम व भोंसले को भी अँग्रेजों के विरुद्ध करके अँग्रेजों को चकित कर दिया। नाना फड़नवीस ने अपने आचरण द्वारा यह अनुकरणीय उदाहरण रखा है कि राष्ट्र की सेवा पूरी निष्ठा और ईमानदारी के साथ ही नहीं निष्काम भाव से की जानी चाहिए। राजनीतिक दौड़पेंचों का प्रयोग राष्ट्र विरोधियों के विरुद्ध ही किया जाना न कि अपने देशवासियों के साथ अपने स्वार्थ साधन के लिये।

अँग्रेजों ने १७५५ में सूरत में जो संधि की थी उसका उन्हें कोई लाभ नहीं मिला। वे उसे पेशवा बनाने में असमर्थ रहे। हारकर उन्होंने १७७७ में पूना दरबार से पुरन्दर स्वाम पर संधि की। इस संधि के पीछे उनका मतलब नाना फड़नवीस को महामात्य पद से हटाना था पर वे इसमें भी असफल हो रहे। कुटिल अँग्रेज पुरन्दर की संधि तोड़ने के प्रयास में थे। वे महाराष्ट्र मण्डल पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहे थे। नाना भी चुप नहीं बैठे थे वे उसका मुँह तोड़ उत्तर देने के लिये सज्ज थे। १७७९ में हुए इस युद्ध में अँग्रेज बुरी तरह हारे। उन्हें पूना दरबार से अपमानजनक संधि करनी पड़ी।

अँग्रेजों के लिये इन संधियों का कोई महत्व नहीं था। वे कभी भी उन्हें तोड़ सकते थे। नाना फड़नवीस उनकी कुटिलता से परिचित थे। अतः उन्होंने एक बार उन्हें मूल से नष्ट कर देने के लिये उद्यत हो गये। उन्होंने निजाम, हैदर अली, अर्काट के नबाब तथा मुगल सम्राट शाह आलम को इसके लिये तैयार किया। गवर्नर हैस्टिंग्स को जब इस बात का पता चला तो उसे ब्रिटिश भारत राज्य का समूल नाश होता दिखाई पड़ने लगा। महादजी सिन्धिया को उसने लोभ दिखाकर साक्षी के लिये मध्यस्थ बना लिया। महत्वाकांक्षी सिन्धिया वीर होते हुए भी दूरदर्शी राजनीतिज्ञ नहीं था अतः वह लोभ में आ गया। गवर्नर हैस्टिंग्स और पूना दरबार के मध्य संधि हुई।

नाना फड़नवीस के उद्योग से मृत्योमुख महाराष्ट्र मण्डल एक बार पुनः भारत की मुख्य शक्ति बन गया। मुगल सम्राट शाह आलम के मराठे संरक्षक बने। अँग्रेजों को दो-दो बार अपमानजनक संधि करनी पड़ी।

नाना फड़नवीस की मृत्यु १६ फरवरी, १८०० में हुई। नाना की मृत्यु के साथ ही एक प्रकार से मराठों का सुर्भ अस्त हो गया। उनके पश्चात् ऐसा कोई योग्य और निस्वार्थ व्यक्ति उन्हें सम्भालने वाला नहीं रहा। अँग्रेजों का दाँव लग गया। उन्होंने स्वकेन्द्रित मराठा सरदारों को एक-एक करके निर्मूल कर दिया। नाना साहब ने चालीस वर्ष तक राष्ट्र की जो सेवा की वह आज भी आदर्श है। उन्होंने सवाई माधव राव बालक पेशवा के आत्मघात के पश्चात् राधोबा के पुत्र बाजीराव को पेशवा स्वीकार किया क्योंकि पेशवा वंश में और कोई उत्तराधिकारी बचा ही न था। बाजीराव उनका जानी दुश्मन था फिर भी नाना की राष्ट्रनिष्ठा देखी उसने उसके पेशवा रहते हुए भी

महाराष्ट्र को खूबने नहीं दिया। ऐसे निष्काम देशसेवियों व निस्वार्थ राजनीतिज्ञों की आज भी देश को आवश्यकता है।

आत्मविश्वासी के लिये कुछ भी असम्भव नहीं

एक बार नाना साहब हाथी पर सवार होकर घूमने जा रहे थे। वे घनु को नहीं ले गये। बालिका रुठ गई। उसके पिताजी ने समझाया—“हम गरीब हैं, हमारे भाग्य में हाथी कहाँ ?” इस पर घनु ने तपक कर कहा “एक क्या ऐसे सैकड़ों हाथी हैं मेरे भाग्य में।” आत्मविश्वासपूर्ण कहाँ यह बात सब निकली। वह बड़ी होने पर हाँसी के राजा गंगाधरराव की पत्नी बनी और सैकड़ों हाथियों की स्वामिनी भी।

घनु नामक एक बालिका ही हाँसी की रानी लक्ष्मीबाई थीं, जिन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि आत्मविश्वास की भावना दृढ़ हो तो मनुष्य एक साधारण स्थिति से ऊपर उठकर उच्च स्थिति तक पहुँच जाता है।

महाराष्ट्र के पुनर्प्रीतिष्ठापक— पेशवा बाजीराव

बक्सर और योग्य पुरुषों के हाथ में शासन सूत्र धमाकर बुन्देल-केसरी वीर महाराज छत्रसाल ईश्वराधना और लोकसेवा में निरत रह वागप्रस्थ का सा जीवनयापन कर रहे थे। तभी ८६ वर्ष की आयु में स्वदेश की स्वतंत्रता के लिये महान उद्योग करने वाले बूढ़े शेर को पुनः राष्ट्रपक्षा की ओर उद्यत होना पड़ा।

मुहम्मद शाह बंगरा ने उनके कनिष्ठ पुत्र जगतराज पर तीसरी बार आक्रमण कर उसकी राजधानी जैतपुर पर अधिकार कर लिया। बंगरा पहले दो बार जगतराज से हार चुका था पर तीसरी बार उसकी विजय हुई। बूढ़े छत्रसाल के शरीर में अब यह बल नहीं रहा था, न पर्याप्त सैन्य हो उनके पास जो अतः उन्हें पुनः एक बार उस ओर आत्माभरी नजर से देखना पड़ा बिधर उन्होंने युवावस्था में देखा था। छत्रपति शिवाजी की सहायता और मार्गदर्शन से ही वे एक सामान्य जागीरदार से बुन्देलखण्ड के गौरव बन सके थे और मुसलमान शासकों से अपनी मातृभूमि को स्वतंत्र करा सके थे।

महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी के पौत्र शाहूजी उनके आसन पर आसीन थे। उनके सुयोग्य मंत्री पेशवा बाजीराव ने शिवाजी की मृत्यु के बाद विघटित हो गये हिन्दू महाराष्ट्र को पुनः संगठित कर एक महान शक्ति के रूप में विकसित किया था। महाराज छत्रसाल को बाजीराव ही वे व्यक्ति दिखे जो उनके जीवन भर की साधना को खूबने से बचा सकते थे। उन्होंने अपने एक

विश्वस्त दूत के हाथ इस आशय का संदेश भेजा—

जो गति भई गजेन्द्र की सो गति पहुँची आव ।

बाजी जात बुन्देल की राखी बाजी राव ॥

बाजीराव को संदेश मिला था कि वे एक विशाल सेना लेकर उनकी सहायता के लिये आ पहुँचे । भारत के इतिहास में यह अपने ढंग की महत्वपूर्ण घटना है । यदि इससे तत्कालीन हिन्दू राजा थोड़ी सीख लेते तो उनका पराभव सम्भव नहीं होता । महाराष्ट्र और बुन्देलखण्ड की सम्मिलित शक्ति के आगे बगल की पराजित होकर मागना ही नहीं पड़ा चरन हजान और पविष्य में आक्रमण नहीं करने के लिये वचनबद्ध भी होना पड़ा ।

महाराज छत्रसाल के आह्वान पर जो उनकी सहायता को प्रस्तुत हो जाने वाले पेशवा बाजीराव ने एक बार पुनः उस स्वप्न को साकार करने के लिये प्राणपण से प्रेष्य की जिसे समर्थगुरु रामदास और शिवाजी ने देखा था । उनका लक्ष्य पुनः भारत को एक सूत्र में बाँधना था । उनका अपना सारा जीवन इसी प्रयास में पूरा हुआ इसमें वे अन्ततः सफल भी हुए ।

इतिहास पुरुष बाजीराव का जन्म १६९९ में सावित्र नदी के तट पर बसे हुए महाराष्ट्र के ग्राम श्रीवर्द्धन पट्ट में हुआ था । व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान पर बसा होने के कारण मुसलमान शासकों की लोलुप दृष्टि के घेरे में रहा करता था । इनके पिता बालाजी विश्वनाथ यहाँ रह कर व्यापार कार्य किया करते थे । बालाजी को जब बाजीराव छोटे ही थे तभी निकटवर्ती जंजीरा क्षेत्र के मुस्लिम शासक कासिम के अत्याचारों के कारण ग्राम छोड़ना पड़ा । बालाजी व्यापार के सिलसिले में अपने पास कुछ सैनिक भी रखते थे, मालगुजारी वसूलने का काम भी उनके हाथ में था । कासिम के आक्रमण के समय उन्होंने तट प्रदेश के अधिपति कान्होजी अग्नि का सहाय दिया था । इस कारण कासिम ने उन पर घोर अत्याचार करने आरम्भ किये । बालाजी के प्रियेष्ठ भाता जनार्दन को हाथ-पाँव बाँध एक संदूक में बन्द कर क्रूरमना कासिम ने सागर में जीवित समाधि दे दी ।

ऐसी विकट परिस्थितियों को किशोर बाजीराव ने अपनी आँखों से देखा था और देखा था विषमता शक्तियों के इस ग्रांस अत्याचार को, जिसे देख कर उनके किशोर मन में इस अत्याचार से अपने देशवासी भाइयों को मुक्त करने का संकल्प भरने लगा ।

बालाजी का श्रीवर्द्धन पट्ट में रहना सुरक्षित नहीं था अतः वे सपरिवार यहाँ से चल दिये । कैसे वे छत्रपति शाहू के मन्त्रिमण्डल में पहुँचे, कैसे उन्होंने छत्रपति बंस को पुनः शक्तिमान बनाया यह एक शम्की कहानी है । जातीय-गौरव और राष्ट्रीय स्वाभिमान से भरे पूरे पिता के दाहिने हाथ बनकर रहने वाले बाजीराव ने उनसे बहुत कुछ सीखा । बालाजी यदि कायर होते तो वे कासिम के विरुद्ध अग्नि का समर्पण कभी न करते पर इससे उन्हें कोई हानि नहीं हुई । वे पहले से अधिक बहादुरी बन सके और

अधिक महत्वपूर्ण कार्य कर सके । बालाजी महाराष्ट्र मण्डल के पेशवा बनाए गये ।

पिता के पेशवा बनने के समय व उनके प्रमुख सहायकों में रहे । युद्धों में भी वे उनके साथ जाते और राज्य संचालन में भी वे उनका हाथ बँटाते । उन्हीं के साथ वे दिल्ली भी गये और तत्कालीन मुगल सम्राट फर्हख़िशर से संधि-वार्ता करने में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान रहा ।

बालाजी की कुशल राजनीति और वीरतापूर्ण देश भक्ति के प्रताप से मराठों का प्रताप सारे देश में फैल गया । वे भारत के सभी राजाओं से सन्देशमुखी कर चौध वसूल किया करते थे । एक बार पुनः धर्म समन्वित राज्य की स्थापना सम्भव हो सकी । धर्म समन्वित इसलिये कहा जाना उचित है क्योंकि उनके राज्य में वैसे अन्याय नहीं होते थे वैसे मुगलों व अन्य मुस्लिम शासकों के काल में होते थे ।

बालाजी की मृत्यु के उपरान्त उनके द्वारा निभाये जा रहे इस दुर्वह दायित्व का भार बाजीराव के कंधों पर आ गया । बाजीराव अपने पिता की तरह ही वीर और कुशल राजनीतिज्ञ थे । उनकी माता ने उन्हें बचपन में वीर शिवाजी, भगवान राम, भगवान कृष्ण आदि महापुरुषों की प्रेरक कहानियाँ सुना-सुना कर उनमें देश, धर्म और संस्कृति के प्रति अनुराग और जीवन के प्रति स्वस्थ और परमार्थिक दृष्टिकोण उत्पन्न किया था, इससे उनमें जो चारित्रिक और व्यक्तिगत विशेषताएँ उत्पन्न हुई थीं उनके सहारे ने इस दुर्वह दायित्व को पूरा करने में समर्थ थे ।

जो उस युग के किसी भी राजपुरुष के जीवन में घटनाएँ तो वही बुद्धि, वीरता, न्याय और राज प्रबन्ध विषयक चर्चित होती थीं वे उनके जीवन में भी चर्चित हुईं । उनके महत्व को उनके उच्च दृष्टिकोण के परिपेक्ष्य में न आँका जाय तो उनके महत्व को पूरी तरह आँकना सम्भव नहीं होगा ।

छत्रपति शिवाजी के प्रबल उद्योगों द्वारा स्थापित हिन्दू महाराष्ट्र समय के साथ शक्तिशाली तो होता गया और उसका धर्म विकास बाजीराव और उनके पुत्र नाना साहब बालाजी के समय में देखने को मिला पर बाद में इस महाराष्ट्र के जितने भी कर्णधार हुए उनमें जातीय और राष्ट्रीय निष्ठा का हास और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का परिवर्द्धन होने लगा था । ऐसी स्थिति में महाराष्ट्र के सामन्तगणों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को राष्ट्रीय हित से ऊपर उठकर उन्हें विनृच्छलित होने से बचाने का काम जिन व्यक्तियों ने किया उन्हीं में बाजीराव पेशवा का नाम मुख्य माना जाता है ।

पूना नगर के पुनर्निर्माण का श्रेय भी बाजीराव पेशवा को ही है । पूना नगर की रमणीयता, समृद्धि और बसावट के विषय में अंग्रेज प्रेक्षक मि० जार्जन का वर्णन मनोमुग्धकारी है । यह पेशवा बाजीराव की कलाप्रियता और निर्माण कौशल का उदाहरण है ।

२.५३ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग- २

निजाय पर अनेकों बार विजय और उससे जीव वसूलने का अधिकार पाना, मासवा जीतकर वहाँ सुशासन की स्थापना करना, छत्रसाल के गौरव और बुन्देल खण्ड के हिन्दुराज्य की रक्षा करना, पूर्वजातियों के राज्य विस्तार को रोकना आदि ऐसे महत्वपूर्ण कार्य हैं जो उनकी वीरता और नीति कुशलता के कारण ही सम्भव हुए हैं।

उनके जीवन में कई बार ऐसे प्रसंग आये जब मृत्यु उनके सामने विकराल रूप धारण करके खड़ी हुई। सत्र-पक्ष के विश्वासघात के कारण वे बन्दी बना लिये गये। ऐसे विकट क्षणों में भी उन्होंने धैर्य और सहस्र को बिसारा नहीं। फल यह हुआ कि बाजी उनके हाथ रही।

महाराज शाहू और राजाराम आदि तो नाममात्र के छत्रपति रहे थे। राज्य का मेरुदण्ड तो पेशवा ही थे। पेशवा बाजीराव के पराक्रमी व्यक्तित्व ने सिंधिया और होल्कर को अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का दास नहीं होने दिया। उनके जीवन के घटनाक्रम इस बात की पुष्टि करते हैं कि उन्हें विधर्मी शासकों से जितना संघर्ष नहीं करना पड़ा उतना अपने ही स्वजातीय बन्धुओं से महाराष्ट्र के एकत्व के लिये करना पड़ा।

पेशवा बाजीराव के जीवन के साथ ऐसे भी कुछ प्रसंग जुड़े हुए हैं जिनसे उनका उदात्त दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। महाराज छत्रसाल की सहायता करने के कारण उन्होंने पेशवा बाजीराव को महाराष्ट्र मण्डल के लिये न केवल अपने राज्य का तीसरा भाग, जिनमें झाँसी, बाँदा व प्लासी सम्मिलित थे मिले बरन् साथ ही काफ़ी धन भी मिला। यही नहीं उन्होंने अपनी बचनी पत्नी की कोख से उत्पन्न एक पुत्री का विवाह भी बाजीराव के साथ किया। यद्यपि बाजीराव नहीं चाहते थे फिर भी महाराज छत्रसाल की बात रखने के लिये उन्हें यह विवाह सम्बन्ध स्वीकारना ही पड़ा।

उनकी इस बचनी पत्नी को लेकर अपने कुटुम्बीजनों का बड़ा विरोध सहना पड़ा पर उन्होंने उसे अपने अधिकार से वंचित नहीं होने दिया। उसे वही सम्मान और स्नेह दे दे रहे जिसकी वह अधिकारिणी थी।

वे उसकी कोख से उत्पन्न पुत्र सम्पन्न बहमदुर के उसी प्रकार उपनयन व भुण्डनादि संस्कार करवाना चाहते थे ताकि वह सांस्कृतिक मर्यादों में बँधकर उच्च उदात्त जीवन जीने की प्रेरणा ले पर तत्कालीन रुढ़िवादी समाज का एक भी ब्राह्मण इसके लिये तैयार नहीं हुआ। हिन्दू समाज की यह संकीर्णता ही उसके संकोचन का कारण बनी हुई है, आज भी।

उनका सारा जीवन युद्ध, संधि करण और राजनीति में ही व्यतीत हुआ। पर उनकी राजनीति धर्मनीति के पीछे चलने वाली थी। अपने गुरु ब्रह्मेन्द्र स्वामी, जो तपस्वी संन्यासी थे से प्रायः वे राज्य विषयक परामर्श लिये करते थे। कभी कोई विशेष उलझन होती तब भी वे उन्हीं से मार्गदर्शन पाया करते थे।

२२ अप्रैल, १७४० में पेशवा बाजीराव का देहवसान हुआ। उनकी मृत्यु पर महाराष्ट्र पति को वैसा ही शोक हुआ वैसा महामात्य बाणव्य की मृत्यु पर सम्राट बिन्दुसार को हुआ था। इतिहास पुरुष बाजीराव का जीवन भर का अयोग कल की परिधि में बाँधा नहीं जा सका वे आज भी उतने ही अनुकरणीय हैं।

जिनका शरीर नहीं चरित्र सुन्दर था— महाराजा रणजीत सिंह

पंजाब के एक शहर में महाराजा रणजीत सिंह की सवारी निकल रही थी। रास्ते में हाथी पर बैठे हुए महाराजा के सिर पर एक पत्थर आ कर लगा और अगले ही क्षण आस-पास के सैनिकों ने एक बालक को पकड़ा। जो इस शोभायात्रा से बेखबर होकर सहक के किनारे लगे बेर के पेड़ से फल गिराने के लिए पत्थर फेंक रहा था।

सैनिकों ने राज दरबार में उस बालक को उपस्थित किया। वह बहुत डर रहा था और महाराज के सिर पर पड़ी बैठी हुई थी। सैनिकों ने शोभायात्रा के समय घटित घटना का विवरण कहा। महाराजा ने फैसला दिया "जब पेड़ भी पत्थर फेंकने पर फल देता है तो मैं ही इसे दण्ड क्यों दूँ। इसने मुझे लक्ष्य कर ही पत्थर फेंका नहीं था, भूल से यह लग गया। इसमें बालक का कोई दोष नहीं है उसे खुराक खापस भेज दो।"

महाराजा रणजीत सिंह के इस फैसले पर सबको आश्चर्य हुआ और सुखद हर्ष भी। उनकी क्षमाशीलता के ऐसे कई किस्से सुने जाते हैं। वे उतने ही क्षमाशील थे जितने कि वीर। क्षमा ही तो वीरता का भूषण कहा गया है। अपने प्रति भूल से या जानबूझ कर भी अपराध करने वालों को क्षमा कर देना।

महाराजा रणजीत सिंह शरीर से बिल्कुल भी आकर्षक नहीं थे। उनका कद छोटा था। चेहरा चेचक के दागों से भरा हुआ और एक आँख भी नहीं थी। इतने कुरूप व्यक्ति की प्रतिमा भी भारत के इतिहास में अति सुन्दर वीर के रूप में हुई है। वस्तुतः सौन्दर्य का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह तो व्यक्तित्व और चरित्र का ही अंग है। कटे कद के व्यक्ति में ऊँचा और लम्बा हृदय, नियति ने एक आँख छीन ली परन्तु सूझ-बूझ और नीर क्षीर मिलेकी बुद्धि के रूप में संसार का अद्वितीय नेत्र उनके पास था। उनका चेहरा चेचक के दाग से बड़ा भय लगता था परन्तु उस पर देदीप्यमान दिव्य-गुणों की आभा अच्छे-अच्छे चेहरों को मात दे देती थी और इस नैसर्गिक सौन्दर्य को प्राप्त किया था उन्होंने अपने समझदार पिता से। फलतः-फोषण में उनके पिता ने इस ओर विशेष ध्यान दिया था। वह भी जन्म से ही कुरूप होने के कारण।

१७८० में पंजाब की एक रियासत के अधिपति महाराजा महारिंह के यहाँ उनका जन्म हुआ। जन्म के

समय उनका शरीर बड़ा बँडाल और कुरूप था। लोगों की आम धारणा थी कि एक राजकुमार को सुन्दर होना चाहिए। इसलिए राजपरिवार के अन्य सदस्यों और सर्वसाधारण को स्वाभाविक ही कोमल तथा चिन्तित हुई। जिसे उन्होंने महाराज महसिंह के समाने व्यक्त किया। महसिंह को दुःख तो था। परन्तु इतना नहीं। उनकी तो मान्यता थी कि कोई भी व्यक्ति चेहरे मोहरे से सुन्दर नहीं कहा जाना चाहिए बल्कि सुन्दरता का मापदण्ड तो उसका पराक्रम, शौर्य और साहस सम्झना चाहिए। सहानुभूति बताने और राजकुमार के कुरूप होने की अपनी व्यथा कहने के लिए दरबार के कुछ लोग उनके पास पहुँचे तो उन्होंने ललकार कर कहा—“मुझे इस बात का बरा भी दुःख नहीं है कि मेरा चेहरा सुन्दर नहीं है। पुरुष का पुरुषार्थ और पराक्रमी होना ही उसका सुन्दर होना है और मैं अपने चेहरे को भिरकप ही ऐसा बनाऊँगा।”

राजकुमार के कुछ बड़ा होने पर महाराज महसिंह सचमुच ही अपने पुत्र को सौंदर्यशाली बनाने में जुट गये। वे रणजीतसिंह को घोड़े पर बिठाकर घूमने से जाते, घुड़सवारी करवाते, निगना सिखाते और बन्दूक चलाना सिखाते। रणजीत सिंह को उन्होंने ऐसे कलाभरण में रखा जो बीरता और साहस की डेरण देता था। रात को सोते समय भी महसिंह अपने लाइने की राय-लक्ष्यण की शौर्य कथाएँ सुनाया करते थे।

ऐसा करने का उनका एक दूसरा उद्देश्य भी था। पंजाब उस समय कई छोटी-बड़ी रियासतों में बँटा हुआ था। कुल मिलाकर बारह राज्य थे। जो आपस में लड़मार कर ही अपनी शक्ति नष्ट करते रहते थे। सिक्ख जाति सदा से बहादुर और देश-भक्ति की परम्पराओं का पालन करती रही है। गुरु गोविन्द सिंह ने पूरे सिक्ख समुदाय का जो सैनिकीकरण किया उससे बड़े-बड़े साम्राज्य तक भय छाते थे परन्तु बाद में इस सशक्त संगठन की भी फूट और वैमनस्य के संक्रामक रोग ने प्रसिद्ध कर दिया। जिसके परिणामस्वरूप पूरा पंजाब छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया और उन सबकी शक्ति क्षीण होने लगी।

महाराजा महसिंह बुद्धिमान और विचारशील भी थे। उन दिनों अंग्रेज और मुगल सेनाओं की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ जिस प्रकार सिक्ख जनता और भारतीय जन-जीवन को संतप्त किया करती थीं उसे देखकर उनका मन बड़ा व्यथित होता। भारतीय समाज में घुस आये इन विकारों को दूर करने की ठान कर महसिंह ने सर्वप्रथम पंजाब में एक संगठित राज्य का स्वप्न देखा। उसे साकार करने के लिए प्रयत्न भी किया। अपने पुत्र रणजीत सिंह को धीरे धोड़ा के रूप में तैयार करने की साधना उन्होंने प्रयत्नों की एक कड़ी थी।

रणजीत सिंह को युद्ध-विद्या में निष्णात करने के साथ उन्होंने अपने पुत्र के चरित्रगठन की ओर भी ध्यान दिया क्योंकि जन स्तर पर प्राप्त की गई सफलताएँ ऐसा व्यक्ति

ही तो स्थिर रख सकता है। अन्यथा इस ओर कोई ध्यान न देने वाला उन सफलताओं के साथ महंकारी और अभिमानही बनता है। व्यक्तिगत रूप से पुत्र को सच्चा सौन्दर्य प्रदान करने के लिए तथा उसे सामाजिक हितों के लिए उपयोगी बनाने हेतु महाराजा महसिंह ने अनपेक्ष प्रयत्न किया।

सन् १७९२ में उनका देहान्त हो गया। उस समय रणजीत सिंह की आयु बारह वर्ष की ही थी। भारत राष्ट्र का भावी उद्धारक असमय में ही अनाथ हो गया। परन्तु माता ने सूझ-बूझ से कथम सिख और रणजीत को अपने संरक्षण में लेकर इसी उम्र में राजगद्दी सौंप दी। राजकाज देखने के लिए उन्होंने अपने एक विश्वासपात्र दरबारी लखनत राय को दीव्यन नियुक्त कर दिया रणजीत सिंह का राज्यभ्रमण हुए अधिक समय नहीं हुआ था कि राज परिवार के सभी सदस्य उन्हें अपने हाथों का खिलौना बनाने के लिए तरह-तरह की योजनाएँ रचने लगे। उन्होंने तथा उनकी माता ने बड़ी सावधानी बरती और उन चढ़ावों को विफल किया।

कुछ वर्षों बाद शाहजर्मी नाम का एक महत्वाकांक्षी युवक अफगानिस्तान की राजगद्दी पर बैठा। उसने सुना कि पंजाब जैसे धनवान् सम्पन्न प्रांत के सीमांत क्षेत्र का राजा एक किशोर-युवक है तो उसके भूँइ में धानी भर आया और रणजीत सिंह के राज्य को जीतने के लिए लाहौर पर आक्रमण कर दिया। इस आसन्न संकट काल में राजमहल के बहमन भी खुलकर बाहर आये। सत्रह अठारह वर्ष के अवस्थित रणजीत सिंह के सम्पुर्ण विकट समस्या उठ खड़ी हुई। जिसका समाधान अपने बस का नहीं लगा।

परन्तु रणजीत सिंह ने धैर्य से काम लिया। इस संकट काल में उनकी बचपन की शिक्षा काम आई। माता के परामर्श और स्वयं की सूझ-बूझ से उन्होंने स्वयं को स्वतंत्र राजा घोषित कर दिया और सारे अधिकार अपने हाथ में ले लिये। शाहजर्मी के पास काफी बड़ी सेना थी और रणजीत सिंह के पास गिनेबुने किन्तु राजभक्त सिपाही। सेना का नेतृत्व उन्होंने स्वयं सम्हाला और शाहजर्मी का डटकर मुकाबला किया। आततायी सत्ता तोलुफता को विरुद्ध राष्ट्रभक्ति के दायों पराजित होना पड़ा। शाहजर्मी लाहौर छोड़कर भागा और महाराज रणजीत सिंह ने शत्रु के प्रति बदरता का व्यवहार किया। उन्होंने युद्ध के दौरान नदी में डूब गई शाहजर्मी की तोपें हथियार और छोना गया गोला बारूद वापस कर दिया। अफगान-सरदार को इस विचित्र-व्यवहार पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसका हृदय भी परास्त हो गया परन्तु पंजाब विजय की स्वतन्त्रता अभी पिटी नहीं थी। अगली बार पूरी तैयारी के साथ आने की खिसियानी धमकी देकर वह अफगानिस्तान लौट गया।

इस युद्ध के कारण महाराजा रणजीत सिंह का आत्म विश्वास बढ गया। उन्होंने लाहौर को अपनी राजधानी बनाया। माँ ने पिता को उस चिरपालित इच्छा के सम्बन्ध

२.५५ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

यें बताया जिसके अनुसार वे पंजाब को एक राष्ट्र के रूप में उदय होते देखना चाहते थे। उनके मन में भी राष्ट्र-शक्ति के संगठन की प्रेरणाएँ उठा करती थीं। अपने विश्वासपात्र सैनिकों को लेकर उन्होंने आस-पास के छोटे-छोटे राज्यों का विलीनीकरण और संभ्राज्य की स्थापना का अभियान छेड़ा।

इस विजय यात्रा में उन्हें अकल्पित सफलता मिली। इन छोटे-छोटे राज्यों ने चल्दो ही हथियार डाल दिये और महाराजा रणजीत सिंह की अधीनता स्वीकार कर ली। एक विशाल-राज्य की सुरक्षा के लिए एक सरासरी और आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस सेना भी चाहिए। एक ओर से अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति का भय था तो दूसरी ओर अफगानिस्तान के महत्वाकांक्षी राजा शाहजहाँ का। इन दोनों सम्भावित शत्रुओं से रक्षा का प्रबन्ध करने के लिए उन्होंने अपनी सेनाओं का विस्तार करना आरम्भ किया। पंजाब की उर्वरा भूमि तो सोना उगलती ही थी। इसीलिए खस की कोई खास चिन्ता नहीं थी।

उक्त समय जब वे अपनी सेनाओं का गठन कर रहे थे अंग्रेजी सरकार ने एक बड़े साम्राज्य को इस्तगत करने के प्रयत्न किये परन्तु वे सब विफल हुए। अंग्रेजों को मुँह की छापी पड़ी। अब वे महाराजा रणजीत सिंह से भय खाने लगे। उन्हें अपना मित्र बनाने के लिए प्रस्ताव रखा परिणामस्वरूप १८०९ में अमृतसर में दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों में संधिबार्ता हुई और अंग्रेजों तथा सिक्खों में समझौता हुआ।

हृदय से तो महाराजा रणजीत सिंह नहीं चाहते थे कि एक विदेशी शासन को अपना मित्र बनायें, परन्तु सैन्य-शक्ति क्रमजोर होने के कारण समझौता करना ही उचित समझा। अमृतसर की संधि के अनुसार महाराजा रणजीत सिंह से यह वचन लिया कि वे पूर्व दिशा की ओर अपना राज्य न बढ़ावें। इसके बदले में अंग्रेज जनरल एलार्ड और कोर्ट की सहायता से उन्होंने अपनी सेनाओं के आधुनिकीकरण का प्रस्ताव रखा। यह काम पूरा होने के बाद वे अपने वायदे के अनुसार पूर्व में तो नहीं बढ़े परन्तु पश्चिम और उत्तर दिशा में कई क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया।

सन् १८०९ में अफगानिस्तान का जदशाह शाहजहाँ उनके पास आया। वह इस बार खाली हाथ तथा अकेला था। कारण कि उसे गद्दी से उतार दिया गया था। महाराजा रणजीतसिंह की दयालुता और उदारता के गुणों के बारे में सुनकर वह उनके पास आया था। रणजीत सिंह ने उसकी सहायता की जिसके बदले में निर्वासित शाह ने कोहेनूर हीरा भेंट में दिया। इधर उनका एक राष्ट्र-अभियान जारी रहा। धीरे-धीरे उन्होंने अटक, कंगड़ा, मुलतान, कश्मीर और पेशावर को भी अपने राज्य में मिला लिया।

इतने बड़े साम्राज्य के अधिष्ठाता और कुशल शासक होते हुए भी महाराजा रणजीत सिंह एकदम अनपढ़ थे।

फिर भी उन्होंने पढ़े लिखे और उच्च शिक्षितों से अधिक काम किया और सफल हुए। इस सफलता का श्रेय उनके उच्च विचार, महान जीवन और उत्कृष्ट चरित्र को ही दिया जाना चाहिए। वे एक साथ वीर योद्धा, कुशल राजनीतिज्ञ और उदार धर्मप्राप्त महामानव थे। युद्ध क्षेत्र में उन्होंने सदैव आगे रहकर अपनी सेनाओं का पथ प्रदर्शन तथा उत्साहवर्द्धन किया। पिता से सुनी हुई कहानियों द्वारा उन्होंने राजनीति के मर्म को बहुत गहराई से समझा था।

निष्ठावान सिक्ख होते हुए भी धर्म और सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से उन्होंने कभी पक्षपात नहीं किया। साथ ही उनमें प्रतिभाओं को समझने और पहचानने की भी अच्छी क्षमता थी। सिक्ख, हिन्दू और मुसलमान सभी सम्प्रदाय के व्यक्तियों का वे उचित सम्मान करते और हर जाति के प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति को आगे बढ़ने का मौका देते थे। उनके राजदरबार में मुसलमानों को भी वही स्थान था जो उनके सहधर्मि हिन्दूओं का। लोक-सेवा के लिए रात-रात जागने वाला वह महामानव २७ जून, १८३९ को सदा के लिये सो गया। उन्होंने अजीवन संघर्ष करते हुए राष्ट्रोपता और एकता की भावना को मूर्तिमान किया वह आज के हर स्वतन्त्र भारतीय के लिए अनुकरणीय है।

मनका : मनका फेर

एक बार महाराजा रणजीत सिंह एमन बुर्ज में बैठे हुए माला फेर रहे थे। उनके समीप ही फकीर अजीजुद्दीन भी तसबीह लिये बैठे थे। महाराजा रणजीतसिंह हिन्दू धर्म की परम्परा के अनुसार मनके अन्दर की ओर फेर रहे थे और फकीर साहब मुस्लिम मान्यता के अनुसार बाहर की ओर।

महाराजा को न जाने क्या हुआ कि उन्होंने अजीजुद्दीन से पूछा—साह साहब! मनके अन्दर की ओर फेरना चाहिए या बाहर की ओर?

साह साहब बड़ी मुश्किल में फँसे। यदि अन्दर की ओर कहते हैं तो बात धर्म के विरुद्ध होती है और यदि बाहर की ओर कहते हैं तो महाराज के क्रोधित होने का भय था।

लेकिन साह साहब भी कम न थे। सौंप भी मर जाय और साठी भी न टूटे। ऐसे गुरु उन्हें खूब आते थे। सो बात बनाते हुए बोले “माला फेरने के दो उद्देश्य होते हैं। एक तो अपने दुर्गुणों को बाहर निकालना तथा दूसरा अच्छाइयों को ग्रहण करना। महाराज को सदैव अच्छी बात, अच्छी योजनाएँ तथा अच्छे काम करने का विचार रहता है। अतः आप मनके अन्दर की ओर फेरते हैं और मैं मन की यत्नशक्तियों को बाहर निकालने की बात सोचा करता हूँ। अतः मैं मनके बाहर की ओर फेरता हूँ।” सम्भव तथा दूसरों में अच्छाई देखने की इस दृष्टि ने सभी को पुलकित कर दिया।

संस्कृति की आन पर शहीद—

हरीसिंह नलवा

संध्या का समय था। शिशिर का ठिठुरा देने वाला जाड़ा गिर रहा था। निबिड़ वन में राखी के तट पर चार-पाँच साधू बैठे धुनि ताप रहे थे। साधु ही साधु वे बातें भी करते जा रहे थे निजी जीवन से सम्बन्धित, राज्य सम्बन्ध की स्थिति परिस्थितियों पर इतने में ही पास बह रही नदी के जल में कुछ आहट सुनायी दी। सरिता भी मधुनो ठण्ड में ठिठुरती हुई निःशब्द बही जा रही थी। वह आहट पानी बहने से अलग ढंग की थी—सो चारों की दृष्टि बंधर को अनायास ही घूम गयी। उनकी बातें करना भी बंद हो गया। भवानक ठण्ड में मनुष्य तो अपने घर में हुक्का बैठेगा वह क्यों नदी में तैरकर मृत्यु को आमंत्रण देगा। परन्तु वे किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके। नदी के पानी से जैसे कोई निकला हो और तट पर आ गया हो—ऐसा लग रहा था परन्तु कुछ दिखाई नहीं देता था। कुछ धन तक मौन किन्तु इदम की धड़कनें रोककर वे प्रतीक्षा करते रहे। पता नहीं क्या बात है। प्रतीक्षा के बाद उन्होंने देखा एक मानवीकाया जो दिखने में किशोर की लग रही थी नदी तट से उसी ओर आ रही है।

शायद कोई दुर्घटना ही गयी होगी जिसमें भाग्य का धनी वह किशोर बच गया है। वन सके तो इसकी मदद करनी चाहिए। किशोर आग जलते देख वहाँ आ गया और अपने कपड़े निचोड़ कर बदन सुखाने लगा। साधुओं में से एक ने पूछा—“क्या बात है बेटा?”

“लाहौर जा रहा था बाबा, महाराजा सहज से मिलने के लिये।” क्या “हरीसिंह नलवा” नाम है तुम्हारा?

कोई विपदा आ पड़ी है क्या—उसी साधु ने पूछा जो महाराज से फरियाद करनी है और वह नलवा का मुँह तकटे लगा।

“विपदा। यह विपदा नहीं है क्या कि देश और धर्म विदेशी-विधर्मी आतियों के हाथों लुट रहा है।”

“सो तो बेटा महाराज अपने ढंग से कोशिश कर ही रहे हैं। तुम क्या फरियाद करोगे उनसे इस विषय में महाराज इस बात को खूब अच्छी तरह जानते हैं।”

“मैं फरियाद नहीं करूँगा बाबा” निश्चयात्मक दृढ़ स्वरों में नलवा बोला “इस काम में उनका हाथ नैटकेगा।”

“अच्छा” चारों के मुँह से एक आश्चर्य परा शब्द निकल गया। फिर उनमें से एक बोला “तो तुम अपनी इच्छा पूरी ही समझो।”

“कैसे” नलवा ने प्रश्न किया।

“कल बसंत पञ्चमी है। महाराजा रणवीरसिंह लाहौर में एक अच्छा दरबार लगाते हैं और उस दरबार

में दूर-दूर से आने लोग अपने कर्तब दिखाते हैं। तुम भी अच्छे नीचवान हो ही। कोई ऐसा कमाल कर दिखाना जो महाराज तुम्हें अपनी सेना में भर्ती कर लें। अन्यथा इस उमर में तो किसी को भी सैनिक बनाकर नहीं रखते।”

उन पर के गीले कपड़े सुखाकर उत्साही और देश भक्ति की भावनाओं से भरे हुए नलवा रात भर में लाहौर जा पहुँचे। लाहौर की स्थिति ही उस समय बसंतों रंग से रंगी हुई थी। पीले फूल, पीला आम, पीले परिधान और सब कुछ पीला ही पीला। महाराजा रणवीरसिंह का दरबार लगा तो सहर की जनता उमड़ आयी उस मैदान के आस-पास जहाँ शरीर सामर्थ्य की प्रदर्शन प्रतिस्पर्धा होनी थी। हरिसिंह नलवा धुड़सवारी, हास्य सज्जालन, मल्लयुद्ध और तीरंदाजी में सबसे आगे निकल गया। किसी भी खिलाड़ी ने एक साथ इतने कीर्तिमान नहीं बनाये थे। महाराजा रणवीरसिंह ने नलवा को छाती से लगाकर जूम लिया और उन्हें सेना में उच्च पद प्रदान किया। हरिसिंह अपने जीवन की साथ पूरी होती अनुभव कर रहे थे। परिवार का परिवेश, माता-पिता के संस्कार और घर का वातावरण उनके जीवन में यह साथ पैदा करने का ठगित ही कारण था। उनके पिता गुरुदयाल सिंह अमृतसर के निवासी थे। वे सुक्रयकिया रियासत के सेनापति थे। गुरुदयालसिंह की वीरता से प्रसन्न होकर तत्कालीन महाराजा ने उन्हें लाहौर के निकट एक अच्छी जागीर इनाम में दी।

गुरुदयाल के परिवार में ही १७९१ ई० में हरिसिंह का जन्म हुआ। उनका पालन-पोषण क्षात्र परम्परा और देशभक्ति से भरे वातावरण में हुआ। शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध भी घर पर ही हुआ परन्तु उस समय जबकि वे मात्र सात वर्ष के थे देवयोग से गुरुदयालसिंह का देहान्त हो गया। घर में हरिसिंह को संरक्षण देने वाली रह गयीं अकेली माता धर्मकौर। जागीर का प्रबन्ध और घर-परिवार की देखभाल उनके बस से बाहर की बात थी सो वे अपने पुत्र को लेकर भाई के पास चली गयीं। गाँव की खुली हवा में पेड़ों के तले और खेत की मेंटों पर हरिसिंह गय के अगले वर्ष बहने लगे।

उनके मामा जी वीरता और बहादुरी में क्षेत्र भर में अनूठे थे। बिन गुणों का आधिक्य हो वे ही गुण अपने आश्रितों में भी बढाने की प्रबल इच्छा होती है। मामा ने उन्हें तीर, जलवार, धुड़सवारी और नेजाबाजी सिखायी। माँ पिता और पितामह की वीरता भरी कहानियाँ सुनायी करती थीं माँ और माया ने मिलकर पुत्र, पानजे में वीरता शीर्ष के प्रेरणाकुर बोये। जो अनुकूल स्थिति पाकर दिनों दिन बढ़ते गये। उस समय विदेशी विधर्मी, आततायी शासकों के अत्याचारों की कहानियाँ घर-घर सुनी जाती

थीं । यह एक तथ्यपूर्ण बात है कि चलवान और शक्तिशाली व्यक्ति यदि संस्कारवान भी होगा तो अनीति और अन्याय की घटनाओं सुनकर उसका खून खौंस ही उठेगा ।

एक बार की बात है हरिसिंह नलवा अपने कुछ साथियों के साथ जंगल में घूम रहे थे । घूमते-घूमते उन्होंने पास वाले खण्डहर में किसी का करुण कंदन सुना । नारी कण्ठ की चीत्कार धी-सुनकर नलवा अपने साथियों सहित उसी दिशा में चल पड़े । जाकर देखा कोई चुपटी जिसके बाल अस्त-व्यस्त हैं रो रही है । नलवा ने पूछा तो वह बोली-तुम क्या करोगे मेरा दुःख जानकर । उसे दूर करने का उपाय करने की सामर्थ्य हो तुममें तो ही पूछो । अन्यथा व्यर्थ इसी करने से ही क्या फायदा, मैदा ।

नलवा ने कहा-अब तो तुमने मुझे पैसा कह दिया है बहिन । तुम्हें कहना ही पड़ेगा । मैं अपनी माँ की सींगध खाकर कहता हूँ कि तुम्हारा दुःख दूर करने के लिए अब एक सौस में सौस बाकी है संपर्क करूँगा ।

उस चुपटी ने कहा-अब मेरे साथ जो हुआ उसे मिटाने का तो कोई उपाय नहीं है भाई पर हाँ कुछ कर सको तो इतना जरूर करना कि विदेशियों द्वारा बहिनों को सताया और अपमानित न होना पड़े । यह काम सरल नहीं है ।

चुपटी ने अपनी व्यथा हरिसिंह नलवा के अन्तःकरण में उड़ेल दी और नलवा ने इस सम्बन्ध में अपनी भूँह बोली बहिन से ही परामर्श किया । निश्चयात्मक स्थिति में आकर नलवा इसी शाम चल दिया महाराज रणजीत सिंह की सेना में भर्ती होने के लिए । ताकि धर्म और संस्कृति पर आक्रमण करने वाले असुरों को परास्त किया जा सके कुचला जा सके ।

पंजाब में सिक्खों की शक्ति बढ़ती जा रही थी । महाराजा रणजीतसिंह के नेतृत्व में धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए कृत संकल्प सिक्ख संगठित होते आ रहे थे । यह संगठन प्रतिदिन भारतीय धर्म और संस्कृति के लिए सुदृढ़ रक्षा पंक्ति बनता जा रहा था, वहीं मुस्लिम और विदेशी शक्तियों के लिए आतंक और खतरे का कारण भी बन रहा था । इसलिए मुल्तान के नवाब मुजफ्फर खान ने इस रक्षा-पंक्ति को तोड़ने और सैनिक संगठन को छिन्न-भिन्न करने के लिए कसूर के नवाब कुतबुद्दीन से सौठ-गौठ की तथा १८०७ में पंजाब पर आक्रमण कर दिया । सिक्ख सेनाओं ने भी दटकर मुकाबला किया । हरिसिंह नलवा ने उस युद्ध में महत्वपूर्ण भाग लिया । युद्ध क्षेत्र का कोई अनुभव न होने के कारण महाराज रणजीतसिंह ने पहले तो उन्हें इस भयंकर युद्ध में भाग न लेने के लिए कहा । परन्तु नलवा ने अपनी काव्यचतुरी से शीघ्र ही महाराज को मना लिया । इस युद्ध में कसूरी नवाब ने सिक्ख सेनाओं के विरोधी मोर्चे का मुकाबला

किया था । हरिसिंह नलवा ने मुगल सेनापति कुतबुद्दीन को गिरफ्तार कर महाराज रणजीतसिंह के सामने पेश किया । सेनापति के गिरफ्तार हो जाने से पठानों का मनोबल टूट गया और विजयश्री सिक्खों के पक्ष में रही ।

परन्तु अभी एक और मोर्चा बाकी था, मुल्तान का । अपने साथी की दुर्गति के समाचार पहले ही मुजफ्फर खान तक पहुँच चुके थे । सिक्खों के पास साधन और शस्त्र भले ही पठानों की अपेक्षा कम हों परन्तु उनका आत्म विश्वास और मनोबल पठानों की कुटिल कामनायें अपूरित कर देने के लिए पर्याप्त है । मुजफ्फर यह भली-भाँति समझ गया । इसलिए वह कुटनीति और छल-बुद्ध से अपना बचाव करता रहा । कुछ बार सिक्ख सेनाओं को लौट जाना पड़ा । सातवीं बार जब सिक्खों ने मुल्तान पर घेरा डाला तो उनकी सेना में ईजा फैल गया । तुरन्त इस बार वह उस पार का निश्चय कर नलवा अपने सहयोगियों सहित किले में घुस गये और अन्ततः विजयी होकर लौटे ।

महाराज रणजीत सिंह ने हरिसिंह नलवा को एक बड़ी जागीर इनाम में दी । परन्तु नलवा की साधना स्थली तो युद्ध भूमि ही थी । १८१९ में नलवा काश्मीर के सूबेदार बने । इससे पूर्व वहाँ मुहम्मद जम्मार खान का राज्य था । जम्मार खान के शासन में हिन्दू जनता का जीवन हर घड़ी असुरक्षित और विपदा में रहता था । वह हिन्दुओं को चकड़-चकड़ कर झीलों और तलाबों में डुबो दिया करता था-केवल मनोरञ्जन के लिए ही उनकी बहु बेटियों को जब जी आये उठा मैंगवाता और अपनी पशुता का शिकार बनाता । कुछ समझदार लोगों को जब यह पता चला कि हरिसिंह नलवा महाराज रणजीतसिंह के नेतृत्व में एक सशक्त संघराज्य स्थापित कर रहे हैं तो उन्होंने अपने प्रतिनिधि भेजे नलवा के पास । काश्मीरी हिन्दुओं की व्याथा सुनी न गयी नलवा से और वे महाराज की अनुमति से ३० हजार सिक्ख-सेनानियों को लेकर काश्मीर विजय के लिए चल दिये । सिक्ख सेनाओं की उस समय इतनी धक बढ़ी हुई थी कि जम्मार खान सुनते ही भाग खड़ा हुआ ।

काश्मीर विजय के बाद जब नलवा को वहाँ का सूबेदार बनना पड़ा तो हिन्दू-मुसलमान दोनों ही वर्गों की जो भेदभाव रहित सेवा और व्यवस्था उन्होंने की उसे काश्मीरवासी बाद में भी याद करते रहे । १८२१ ई० में जब महाराज रणजीतसिंह ने उन्हें आगामी अभियान के लिए काश्मीर से बुलाया तो विदा करते समय वहाँ के लोग विलख विलख कर रोने लगे । हरिसिंह नलवा ने आततायी राजाओं के राज्य तहस-नहस किये । उनके नेतृत्व में सिक्ख पेशावर तक पहुँचे ।

अंतिम समय नलवा बीमार पड़े थे तभी योजना बनी कि अगला किला पेशावर जीता जाय । सबसे उपयुक्त अवसर वही जान पड़ा । वैद्यों और हकीमों ने किसी से मिलना-जुलना तक बंद कर रखा था । परन्तु नलवा की

चिन्ता का कारण जितना अपना रोग नहीं था इतना था देश और धर्म को लग गया वह पुनः । युद्ध कला के सफल पैंतरे चलाकर नलवा अपने सहयोगियों के साथ किले में घुस गये । विजयश्री निकट ही थी शत्रु की एक गोली आम्बी और नलवा का सीना छेद गयी । सिख सैनिकों को यह पता चला तो वे उन्हें सम्हालने के लिए दौड़े । नलवा के सीने में गोली लगी थी फिर भी वे छोड़े पर तन कर बैठ गये और अपने को बचाते हुए निकलने लगे । कुछ लोग उनके पीछे चलने लगे तो उन्होंने कड़क कर कहा-कितना देखो ।

उस समय भी जबकि उनकी देह निष्काश हो चुकी थी नलवा छोड़े पर तनकर बैठे हुए थे । वहीं युद्ध विराम हो गया और सिक्खों ने अपने वीर भाई को अन्तिम विदा दी । यह ३० अप्रैल, १८३७ की बात है ।

मर-केहरी हो तो नलवा जैसा

दस वर्ष का बालक एक दिन अपने गाँव में जयमल राय की वीरगाथा का गीत सुन रहा था । गाने में इतना दर्द था कि सुकृपार बालक के अंतस्सल को पीड़ा से भर गया ।

वह गीत में इतना खो गया कि उसे सपन स्थान तक का भान न रहा । वह अकबर के अन्धाय का प्रतिकार लेने के लिये हुँकार कर उठा-"कहाँ है अकबर । मेरी कृपाण घेना अभी उसको मातृभूमि को बदलित करने का भज चलाता हूँ ।"

गाँव वालों ने बालक पकड़ कर झिझोड़ा "क्या कहते हो ? क्या सपना देख रहे हो ?" तब उसे ज्ञात हुआ कि मैं गाना सुनकर वसंतित हो गया था । बालक के हृदय में जो पीड़ा उस गीत को सुनकर जागी थी वह फिर सोयी नहीं । दस वर्ष का बालक क्या करता उसकी आत्म-बुद्धि में शत्रु के पंजों से अपने देश को सुड़ाने का कोई कारगर मार्ग दिखाई नहीं देता था । उसी पीड़ा ने उसे तपाकर कुन्दन बना दिया ।

अब बालक ने अपने आपको शक्ति सम्पन्न बनाना आरम्भ किया बिना शक्ति के अत्याचार का प्रतिकार करने की सोचना शोखचिल्ली का सपना ही था । बालक ने अपनी सामर्थ्य का विकास किया । शरीर को बलिष्ठ बनाया तलवार चलाने, धुहसवारी करने तथा युद्ध कला में उसने पूरी निपुणता प्राप्त करली । सच है जब तक प्रयास नहीं किया जाता कुछ भी सम्भव नहीं होता पर जब प्रयास पूरे मनोयोग और सङ्कल्प के साथ किया जाता है तो सफलता की राह खुल जाती है । यही बालक आगे जाकर हरिसिंह नलवा के नाम से प्रसिद्ध हुआ । जिसके नाम से विदेशी आक्रमणकारी काँपते थे ।

युवावस्था जीवन का चरम है । इसका सदुपयोग करने पर व्यक्ति बहुत कुछ कर जाता है । इस काल में पर्वतों का स्थान बदलने व नदी की राह मोड़ने जैसे

असम्भव कार्य सम्भव बनाये जा सकते हैं । हरिसिंह ने इसका सदुपयोग किया । षेरह वर्ष की आयु में ही यह घर परिवार का सुख छोड़कर महाराजा रणजीत सिंह की सेना में भर्ती हो गया ।

हरिसिंह ने अपनी योग्यता के बलबूते महाराजा का विश्वास पा लिया । एक बार यह महाराजा के शिकार खेलने के कार्यक्रम में उनके साथ गया था । असावधान हरिसिंह पर शेर ने हमला कर दिया । हरिसिंह के पास हस्त्र निकालने का समय भी न था । हरिसिंह स्वयं भी शेर से कम साहसी न था । वह विचलित नहीं हुआ । उसने सिंह के जबड़े पकड़कर इतने जोर से दबाये कि वह तिलमिला उठा और पंजों से इसे घीरने को उद्यत हुआ पर हरिसिंह ने जबड़े नहीं छोड़े, इतने जोर से दबाए कि वह टंदा हो गया ।

ऐसे समय यदि साहस से काम न लिया जाता तो मृत्यु तो होती ही साथ ही कायरता का कलंक भी लगता । उपहार में इसे सेनापति का पद मिला और संकटों से जूझने की अपार शक्ति भी मिली । इसी दिन इसको रणजीतसिंह ने नलवा (सिंह) की उपाधि दी ।

बचपन में राख में खो उबाल आया था, मातृभूमि को पद दलित और माँ-बहिनों के शील हरण का बदला चुकाने की सामर्थ्य अब उस बालक ने पाली थी । उसने सारा जीवन इन आवताइयों से संघर्ष करने में बिताया । ऐसा प्रचण्ड व्यक्तित्व उनके सामने उभारा कि वे इसके नाम से काँपने लगे ।

१८०७ में कसूर के किले पर नलवा के सेनापतित्व में आक्रमण किया गया । दस दिन तक तोपों की गोलाबारी से दुर्ग का बाल भी बाँका न हुआ । हरिसिंह ने देखा कि यों काम नहीं बनेगा । वह स्वयं मीन की पहाड़ न करके बरसते गोलों में दुर्ग की दीवार पर कुल्हाड़ी लेकर दूढ़ पड़ा । पीछे सैनिक भी वैसा ही करने लगे । देखते-देखते बड़ा सा छेद हो गया । उसमें बाहुद भरकर आग लगा दी । दीवार टूट गई । सिक्ख सेना को सामंदा विजय मिली ।

कसूर के बाद मुलतान पर चढ़ाई की गई । इसमें नलवा बुरी तरह घायल होकर भी लड़ता रहा और विजयश्री वरण की । मुलतान का गवाब बड़ा ही खोखला था । हार जाने पर हर्जाना देकर छूट जाता और फिर स्वतन्त्र हो जाता । इस प्रकार उसे सात बार इस सिंह ने हराया ।

नलवा ने भिन-भिनकर प्रतिशोध लिया । एक सुसंगठित स्वदेशी राज्य स्थापित करके आक्रमणकारियों को सदा के लिये भयभीत करने का काम इसने बड़ी कुशलता से किया ।

शक्ति का सदुपयोग करके वीरवर ने सदा के लिये अपना नाम अमर किया उसकी तलवार, बिजली की तरह चमकी थी । इसके चलने से विनाश करने वालों को शिक्षा मिलती थी, नागरिक सुख की नींद सोते थे । मातृ-शक्ति का अपमान करने का साहस कोई नर पशु नहीं कर पाता था ।

कश्मीर के सूबेदार के रूप में नज़्म ने वहाँ के नागरिकों को इतना स्वस्थ व सुन्दर ज्ञान दिया कि जब यह वहाँ से चला तो लोग रोने लगे । वहाँ अधिकाँस नागरिक मुसलमान थे । किसी को उसने धर्म परिवर्तन के लिये नहीं कहा । किसी को मजाल नहीं था कि किसी माँ बहन की ओर बुरी नज़र से देखले । एक सच्चे शत्रु के रूप में हरिसिंह नज़्म ने चलवानों के सामने आदर्श प्रस्तुत किया ।

यिचनो के ज्वाब ने कामांध होकर रामते में जाती हुई एक डोलो को लूट लिया और उसमें बैठी नवविवाहिता को अपनी वासना की भेंट बढ़ाने ही वाला था कि इसकी सूचना हरिसिंह को मिली । उसने नज़्म पर आक्रमण करके उसे पकड़ लिया और तौर से उड़ा दिया ।

नज़्म चाहता था कि व्यक्ति अपनी शक्ति और सामर्थ्य पर अंकुश रखे । उसे सम्मार्गगामी बनना । पतन की राह पर न चलने दे । यदि कोई इस प्रकार के मार्ग पर चल पड़ा है तो प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपनी शक्ति-सामर्थ्य बढ़ाकर उसे दण्ड दे ताकि भविष्य में कोई इस प्रकार का दुस्साहस न करे, समाज में अन्ध व्यवस्था न फैलाए ।

साहसी बुंचे

डॉ० एफ. बुंचे का नाम संसार के सभी विचारशील लोगों की आँखों के सामने उस समय आया जब उन्होंने अरबों और इसराइलियों के बीच चलने वाले युद्ध में मध्यस्थ का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न किया और लड़ाई की आग बुझाकर आशङ्काओं की सनकना में बदल दिया ।

अमेरिकी प्रशासन में वे प्रथम नीग्रो थे जिन्होंने औपनिवेशिक मामलों में विशेषज्ञ का महत्वपूर्ण पद सम्भाला । सैनिक सूचना कार्यालय के बड़े पदधिकारी रहे और विदेश-विभाग के सलाहकार नियुक्त हुए । सन् १९४९ में उनकी अमेरिकी सरकार ने सहायक विदेश सचिव का पद लेने के लिए आमंत्रित किया पर वे निजी कारणों से उस समय उसे स्वीकार न कर सके ।

जिस प्रकार भारत में हरिजनों के प्रति ऊँच-नीच का भेद-भाव बरता जाता था वैसे ही अमेरिका में अग्रगण्य से नीग्रो नस्ल के लोगों को गोरे लोग हैच दृष्टि से देखते हैं और उन्हें अपनी समानता के स्तर तक नहीं आने देते । कानून ने सुविधायें उन्हें दी हैं, पर व्यवहार में तो अभी भी उन पर बहुत थोड़ा अमल हो पाता है । कालेज में नीग्रो छात्रों के प्रवेश के प्रश्न को लेकर वहाँ अभी भी सत्याग्रह और प्रदर्शन करने पड़ते हैं । फिर जिस जमाने में डॉ० बुंचे को काम करना पड़ा वह भेदभाव की दृष्टि से और भी बुरा समय था । उनकी प्रगति के मार्ग हर प्रकार अवरोध थे । फिर भी अपनी प्रतिभा-लगन और अध्यवसाय के जल पर कोई व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों में भी किस प्रकार प्रगति कर सकता है उसका उदाहरण उन्होंने उपस्थित कर ही दिया ।

डॉ० बुंचे १९०४ में एक अत्यन्त निर्धन परिवार में जन्मे । उनके पिता नाई का काम करके मुश्किल से रोटी कमाते थे । पितामह को तो गुलाम का जीवन बिताना पड़ा । अमेरिका में उस समय मनुष्यों को भी पशुओं की तरह खरीदा-बेचा जाता था और वैसे ही उनसे काम लिया जाता था । इन शोषकों के शिकार जो लाखों नीग्रो बने थे उन्हीं में से एक बुंचे के पितामह भी थे । ऐसे घर में जन्म लड़का नाई के अतिरिक्त और कोई ऊँचा काम कर भी कैसे सकता था ।

दुर्भाग्य ने बुंचे को गुलाम और नाई का काम करने वाले पिछड़े वर्ग में अभावग्रस्त जन्म तो दिया ही, पर आगे भी अपनी खिलवाड़ बन्द न की । तेरह वर्ष की आयु होने से पहले रॉ-काप दोनों ही गुजर गये । बेचारा अनाथ बालक सर्वथा असहाय रह गया । पेट की ज्वाला को शांत करना और जीवित रहना उसके लिए ठन दिनों अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न थे । जीवन-भरण से युद्ध की घड़ी सम्मने आ पहुँचने पर भी कालक हाथ नहीं, उसने अपना सङ्कस समेटा और गली कूँचों में अखबार बेच कर किसी प्रकार रोटी भर के लिये पैसे कमाता रहा । कुछ और बढ़ा हुआ तो छोटी-मोटी बेसी ही नीकरी करने लगा वैसे कि इस स्थिति के बच्चों को मिल करती है ।

बुंचे का दुर्भाग्य प्रचण्ड प्रकोप करके पीछे पड़ा था । अनेक कठिनाइयों का सामना उन्हें रोज ही करना पड़ता था । जो सौंफो और करते उसमें आधे दिन बाधार्थ उत्पन्न हो जाती । फिर भी साहस का धनी यह नीग्रो युवक निराश न हुआ । आशा का संकलन पकड़े घोर परिश्रम के सहारे उसने अपनी जीवन यात्रा जारी रखी । बचपे समय में विद्याभ्यसन जारी रखना उसका निश्च निश्चन था । ज्ञान की साधन को उसने अपना लक्ष्य माना और अध्ययन को प्राण प्रिय विषय मानकर उसके साधन जैसे भी जुट सकें जुटाता ही रहा ।

समय बहुत लगा पर एक दिन वह आ ही पहुँचा जब बुंचे ग्रेजुएट बने और इसके पश्चात् उन्होंने हार्वार्ड विश्वविद्यालय से राजनीति में पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त करली । इतनी ऊँची शिक्षा प्राप्त करने वाले संसार के प्रथम नीग्रो थे डॉ० एफ. बुंचे ।

जातीय होन्ता और काली चमड़ी के कारण पग-पग पर मिलने वाले उपहास और तिरस्कार की रती भर भी परवाह न करते हुए उन्होंने अपना कार्य क्रम जारी रखा । समाज सेवा के लिये एक निस्पृह परमार्थी का जीवन बिताते रहे । अपने वर्ग और देश के लिये ही नहीं समस्त संसार के लिए उन्होंने सराहनीय सेवा कार्य किये उनकी चर्चा का व तो इन पोलिटो में स्थान है और न उपयोग । महत्व कार्यों का नहीं उन गुणों का है बिनके कारण मनुष्य आगे बढ़ता है । बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को परास्त करता हुआ अपने लिए प्रगति और अग्रस कर्म मार्ग प्रशस्त करता है ।

परिस्थितियों का महत्व है या गुणों का ? इस प्रश्न का सही उत्तर देने के लिए डॉ० बुंचे का जीवन एक

चमचमाला उदाहरण है। उन्होंने असंख्य पिछड़े और अविकसित लोगों के सामने एक प्रेरणा के रूप में अपना जीवन रखा और मूक बाणों से वह प्रतिपादित किया कि दुर्भाव का अस्तित्व आशा और अध्यवसाय की तुलना में नगण्य के बराबर है। साहस और सद्गुणों को अपनाकर कोई भी व्यक्ति विघ्न-बाधाओं को कुचलते हुए कितना भाग्य निर्माण कर सकता है? इसका एक जीवित प्रमाण डॉ० बुंचे के जीवन को पढ़ समझकर सहज ही उन्नत किया जा सकता है।

सन् १९५० में उन्हें शान्ति प्रवक्तों के लिए विश्व-विख्यात नोबेल पुरस्कार मिला और उन्हें राष्ट्र-संघ के अण्डर सेक्रेटरी पद में सम्मिलित किया गया। बुंचे का जीवन-आदर्श सम्बनता, प्रमत्तता और आशा के रूप में निरन्तर बना रहा। एक क्षण के लिये उन्होंने इन विभूतियों को अपने से पृथक् न होने दिया।

न्यायशील नौशेरवाँ

पारसियों के इतिहास में नौशेरवाँ एक बहुत प्रसिद्ध और न्यायशील बादशाह हुआ है। उसके पिता 'कोबाद' के समय में फारस में 'मजदक' नाम के एक ठोगी धर्म प्रचारक ने एक नया सम्प्रदाय अपने नाम से चलाया था। इसका सिद्धान्त था कि सब चीजें भगवान की हैं इससे किसी की चीज के ले लेने में कोई दोष नहीं है। मजदक बड़ा धूर्त था और उसने चालाकी से बादशाह को धोखे में डालकर अपना अनुयायी बना लिया। इसके फलस्वरूप राज्य में स्वार्थी और चालाक व्यक्तियों का जोर बढ़ गया और शासन व्यवस्था में बहुत सी खराबियाँ पैदा हो गईं।

जब बादशाह 'कोबाद' की मृत्यु हुई तो सब सरदारों ने नौशेरवाँ से राजगद्दी पर बैठने को कहा। पर नौशेरवाँ शासन की अवस्था से असंतुष्ट था इसलिये उसने कहा- 'मैं बादशाह बनना नहीं चाहता। इस समय राज्य में जैसी अधेरगद्दी मची हुई है और लोग मनमाने काम कर रहे हैं, मैं उसे सहन नहीं कर सकता। इसके सुधार के लिये मुझे सख्ती करनी पड़ेगी और तक आप लोग बुरा मानेंगे। इसलिये थोड़ी अच्छा है कि आप किसी और को बादशाह बना लें।'

सरदार-आपका कहना सच है कि राज्य की हानत खराब हो रही है और उसे सुधारने का ठपाव न किया जायगा तो वह कुछ समय में नष्ट ही हो जायगा। इसलिये आप शासन भार ग्रहण करके खराबियों को दूर करने की व्यवस्था कीजिये। हम सब आपकी आज्ञा का पालन करेंगे।

जब नौशेरवाँ बादशाह बन गया तो सबसे पहले उसने मजदक के अनुयायियों पर पबन्दी लगाने का निश्चय किया। पर मजदक तब तक राजगुरु की पदवी पर बैठा था और उसे इस बात का अहंकार था कि येरें सामने कोई सर नहीं ठठा सकता। एक दिन एक व्यक्ति रोता हुआ

दरबार में आया और नौशेरवाँ से शिकायत की कि "कि एक चेलो ने मेरी स्त्री को छीन लिया है और माँगने पर ठलटी धमकी देता है। दुहाई है, मेरा न्याय किया जाय।"

मजदक भी उस समय दरबार में उपस्थित था। नौशेरवाँ ने क्रोधपूर्वक कहा-"मजदक! अब ऐसा अन्धेर अधिक समय तक नहीं चल सकता। इसी समय अपने चेलो से इसकी स्त्री को वापस कराओ और अपने धर्म का प्रचार बन्द करो।"

मजदक का अभिमान अभी दूर नहीं हुआ था। नौशेरवाँ की न्याययुक्त बात उसकी समझ में न आई और वह वह कहकर दरबार से चला गया कि "बादशाह को बाद के पुत्र को झुझे हुक्म देने का कोई अधिकार नहीं है।" जब नौशेरवाँ ने देखा कि ये लोग सीधी तरह से न मानेंगे और सख्ती न की जायगी तो राज्य में विद्रोह खड़ा कर देंगे, तो उसने मजदक और उसके सब चेलों को तुरन्त पकड़ लेने की आज्ञा दी। उन सबको जेल में बन्द कर दिया गया और उन्होंने जिन लोगों की सम्पत्ति छीनी थी वह सब वापस करा दी गई। मजदक को नौशेरवाँ ने प्राण रण्ड की आज्ञा दी, जिससे फिर कोई उसके शासन में अन्धकार करने का साहस न करे।

न्यायशील होने के साथ ही नौशेरवाँ दयालु भी बहुत था। इसके विषय में उसकी एक घटना प्रसिद्ध है कि उसने एक बहुत अच्छा ग्रंथ लिखा एक विद्वान ने, जो उससे मिलने को आया था, वह ग्रंथ देखा और उसमें कुछ भ्रष्टाचारों बतलाई। नौशेरवाँ ने उसके बतलाये अनुसार उन भ्रष्टाचारों को काटकर ठीक कर दिया। पर जब वह विद्वान चला गया तो उसने उसके बतलाये शब्दों को मिटा कर फिर पहले के शब्द ही लिख दिये। यह देखकर उसके एक मित्र को जो पास में बैठा सब हाल देख रहा था, बड़ा आश्चर्य हुआ और जब उससे प रहा गया तो वह बादशाह से पूछ बैठा कि "यह आपने क्या किया? अगर आप अपने शब्दों को ही ठीक समझते थे तो फिर विद्वान के सामने उनको काटने की क्या आवश्यकता थी?"

नौशेरवाँ-मैं अच्छी तरह जानता था कि मैंने जो शब्द लिखे थे वे सही हैं। पर यदि उस समय विद्वान की बात न मानता तो उसके मन में दुःख होता। इसी कारण उस समय उसकी बात को स्वीकार कर लिया।

एक बार रोम के बादशाह का राजदूत नौशेरवाँ की राजधानी में आया। वह महल की एक खिड़की के पास खड़ा होकर उसके नीचे लगे सुन्दर बगीचे को देख रहा था। उसने देखा कि महल के चारों ओर बड़ा सुन्दर बाग लगा है, पर एक कोने में एक गन्दी सी झोंपड़ी बनी है। उसने पास ही खड़े हुये एक पारसी सरदार से इसका कारण पूछा तो मालूम हुआ कि जिस समय नौशेरवाँ इस महल को बनवाने लगा तो सब जमीन तो ठीक हो गई पर एक कोने में एक गरीब बुढ़िया की झोंपड़ी आ गई। जब राज्य कर्मचारियों के कहने से बुढ़िया ने झोंपड़ी खाली न

की तो स्वयं नीशेरवाँ ने जाकर उससे कहा कि बगीचे के बनने के लिये इस स्थान की आवश्यकता है, तु इसकी जितनी कीमत चाहे लेकर इसे बेच दे । पर जब वह बुढ़िया बेचने को राजी न हुई तो उससे कहा गया कि इस झोंपड़ी बजाय यहाँ एक सुन्दर भवन बना दिया जाय । पर इस पर भी बुढ़िया ने कहा कि यह झोंपड़ी मेरे परिवार वालों के स्मृति चिह्न की तरह है, मैं किसी प्रकार इसका मष्ट किया जाना सहन नहीं कर सकती । तब नीशेरवाँ ने यह कहकर कि चाहे मेरा महल अधूरा रह जाय, मैं जबदस्ती किसी की चीज पर कब्जा न करूँगा । इस झोंपड़ी को ज्यों का त्यों रहने दिया ।

रोम के राजदूत पर इस घटना का बड़ा प्रभाव पड़ा और वह कहने लगा कि तब से इस झोंपड़ी के रहने से महल को सुन्दरता घटने के बजाय और बढ़ गई । महल तो कुछ वर्षों में पुराना और अन्त में खण्डहर हो ही जायगा, पर यह बुढ़िया की झोंपड़ी की कथा तो सदैव लोगों को सत्य और न्याय पर चलने की प्रेरणा देती रहेगी ।

यद्यपि अन्याय मूलक और अपहरणकारी होने के कारण नीशेरवाँ ने मजदूर के सम्प्रदाय का उन्मूलन कर दिया था, पर जैसे वह सब धर्मों का आदर करता था । वह स्वयं पारसी धर्म को मानने वाला था और इसने उसका दूर-दूर तक प्रचार भी किया था, पर अपने राज्य में उसने ईसाई, यहूदी, हिन्दू सब मजहब वालों को स्वतंत्रता दे रखी थी । उसकी एक स्त्री ईसाई थी और वह महल में रहती हुई ईसाई धर्म का ही चालन करती थी । नीशेरवाँ ने बहुत सी संस्कृत की पुस्तकें का अनुवाद ईरान की भाषा में कराया था । एक बार रोम के बादशाह ने अपने देश के सात विद्वानों को किसी बात पर नाराज होकर देश निकाले का दण्ड दे दिया । वे आश्रय पाने के लिये नीशेरवाँ के पास आये । उसने उनकी आश्रय ही नहीं दिया, बल्कि यह देखकर कि उनके साथ अन्याय किया गया है, उसने रोम के बादशाह पर दबाव डाल कर उन्हें दण्डाज्ञा को रद्द कर दिया ।

एक बार फारस में गीदकों की संख्या अधिक हो गई और उससे लोगों को तकलीफ होने लगी । नीशेरवाँ ने प्रधान गुरु को बुलाकर इसका कारण पूछा । उसने कहा कि "जब किसी देश में अन्याय होने लगता है तो गीदक बढ़ जाते हैं । तुम पता लगाओ कि तुम्हारे राज्य में कहीं अन्याय तो नहीं हो रहा है ।" नीशेरवाँ ने उसी समय इसकी जाँच करने के लिये सुयोग्य न्यायाधीशों की एक कमेटी नियुक्त की । उससे मालूम हुआ कि कितने ही प्रान्तीय शासक प्रजा पर अन्याय करते हैं । नीशेरवाँ ने उन सबको दण्ड देकर सर्वत्र न्याय की स्थापना की ।

नीशेरवाँ को, जो भी मिले उसी से कुछ न कुछ सीखने का स्वभाव हो गया था । अपने इस गुण के कारण ही उन्होंने अपने जीवन के स्वल्प काल में महत्त्वपूर्ण अनुभव अर्जित कर लिये थे ।

राजा नीशेरवाँ एक दिन चेहरे बदलकर कहीं आ रहे थे । मार्ग में उन्हें एक वृद्ध किसान मिला । किसान के बाल पक गये थे पर शरीर में बवानों जैसी चेतना विद्यमान थी । उसका रहस्य जानने की इच्छा से नीशेरवाँ ने पूछा—महानुभाव ! आपकी आयु कितनी होगी ?

वृद्ध ने मुस्कान भरी दृष्टि नीशेरवाँ पर डाली और हँसते हुये उत्तर दिया—"कुल ४ वर्ष ।" नीशेरवाँ ने सोचा बूढ़ा दिव्यगी कर रहा है पर सच-सच पूछने पर भी जब उसने ४ वर्ष ही आयु बताई तो उन्हें कुछ क्रोध आ गया । एक बार तो मन में आया कि उसे बतल दूँ—"मैं साधारण व्यक्ति नहीं नीशेरवाँ हूँ ।" पर उन्होंने अपने विषेक को सम्भाला और विचार किया कि उत्तेजित हो उठने वाले व्यक्ति सच्चे विज्ञान नहीं हो सकते, किसी के ज्ञान का लाभ नहीं ले सकते, इसलिये ठठे हुए क्रोध का उपान बर्जित हो गया ।

अब नीशेरवाँ ने नये सिर से पूछा—पितामह ! आपके बाल पक गये, शरीर में झुरियाँ बढ़ गई लाठी लेकर चलते हैं मेरा अनुमान है आप ८० से कम के न होंगे फिर आप अपने को ४ वर्ष का कैसे बताते हैं ?

वृद्ध ने इस बार मन्धीर होकर कहा—आप ठीक कहते हैं मेरी आयु ८० वर्ष की है किन्तु मैंने ७६ वर्ष धन कमाने व्यापार रखते और बच्चे पैदा करने में बिताये, ऐसा जीवन तो कोई पशु भी जी सकता है, इसलिये उसे मैं मनुष्य की अपनी जिन्दगी नहीं किसी पशु की जिन्दगी मानता हूँ ।

इधर ४ वर्ष से समझ आई । अब मेरा मन ईश्वर उपासना, जप, तप, सेवा, सदाचार दया, करुणा, उदारता में लगा रहा है । इसलिये मैं अपने को ४ वर्ष का ही मानता हूँ । नीशेरवाँ वृद्ध का उत्तर सुनकर अति सन्तुष्ट हुये और प्रसन्नतापूर्वक अपने राजमहल लौटकर सादगी सेवा और सम्मनन का जीवन जीने लगे ।

**‘स्वतंत्रता या मृत्यु’ के मंत्र दृष्टा—
पैट्रिक हेनरी**

"वहाँ तक मेरा सवाल है मुझे आजादी चाहिए या फिर मौत" ये शब्द हैं अमेरिकन स्वतंत्रता संग्राम के क्रांति-दृष्ट पैट्रिक हेनरी के जिन्होंने अमेरिकी स्टेट्स को इंग्लैण्ड के औपनिवेशिक साम्राज्य से मुक्ति पाने के लिए उठ खड़े होने का आह्वान किया था ।

आज जिस देश को दुनिया का समृद्धतम देश माना जाता है वह कभी ब्रिटेन के आधीन एक उपनिवेश था । ब्रिटिश क्राउन के अधीन होने के कारण वहाँ की स्टेट्स अपने आंतरिक मामलों में ही स्वतंत्र थी बाहरी मामलों में उन्हें ग्रेट ब्रिटेन का ही मुँह जोहना पड़ता था । यह पराधीन पैट्रिक हेनरी जैसे कुछ व्यक्तियों को असह्य थी । इन निम्ने-बुने लोगों ने वहाँ की जनता में ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिये पैरार किया ।

पैट्रिक हेनरी का जन्म १७३६ में वर्जीनिया प्रदेश में हुआ था जहाँ की पिट्टी और ब्लैकवायु तम्बाकू को खेती के लिये बहुत उपयुक्त है। आज उस प्रदेश में उगायी जाने वाली तम्बाकू की खेती कई अन्य देशों में भी होती है। उसे वर्जीनिया तम्बाकू कहा जाता है। इसमें चरती का क्या दोष यह तो अनुषंग की बुद्धि का फेर है कि वह उससे ऐसी मजाली वस्तुएँ उपजाता है जहाँ तो वर्जीनिया ने हेनरी पैट्रिक जैसे देशभक्त को भी तो उपजाया था।

उनके माता-पिता सम्पन्न किसान थे। खेती से खूब आय होती थी पर इन भी काम नहीं करना पड़ता था। उन्हें तम्बाकू से बड़ी नफरत होती थी और उनके पिता तम्बाकू ही खोज करते थे क्योंकि वह अधिक आय देती थी। अतः उन्होंने खेती करने की बजाय पढ़-लिख कर बौद्धिक व्यवसाय करने का निश्चय किया।

उन्होंने उच्च शिक्षा ग्रहण करने के बाद अपने स्टेट्स के व्याधालयों में वकालत करनी आरम्भ की। वे थोड़े ही दिनों में एक श्रेष्ठ वकील के रूप में प्रतिष्ठि पा गये। वे ओजस्वी वक्ता भी थे। उन्होंने अपने को अपने जन्मे तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि जनजीवन की उस मुटुन को भी महसूस किया जो ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के कारण उत्पन्न हुई थी। वकालत करने के पीछे भी उनका लक्ष्य अंधाधुन्य पैसे कमाने का न होकर लोगों को न्याय दिलाना ही था। वे लोगों के मुकदमों की पैरबी करते-करते सारे अमेरिका के न्याय के लिये पैरबी करने के लिये प्रसूत हो गये।

उत्तरी अमेरिका में बसे तेरह उपनिवेशों के निवासी लम्बे समय से ब्रिटेन के अधिपत्य से मुक्त होना चाहते थे हेनरी पैट्रिक जिस उपनिवेश-वर्जीनिया में रहते थे। वहाँ की जनता भी पराधीनता से मुक्ति पाने के लिये छटपटा रही थी। लेकिन सबसे बड़ी दिक्कत यह थी कि कोई भी उपनिवेश इतना शक्तिशाली नहीं था कि वह इस पराधीनता के जुए को उतार सके।

पैट्रिक हेनरी ने अपने ओजस्वी भाषणों के द्वारा जनमानस में बसी हुई इस छटपटाहट की कर्मक्षेत्र में उतर पड़ने के लिये लालकारा। वर्जीनिया उपनिवेश में क्रान्ति का शङ्खनाद करने का श्रेय उन्हीं को जाता है। जनता को अन्याय के विरुद्ध उठ खड़े होने के लिये तैयार करने में प्राणपण से जुटे तो परिणाम भी अच्छे सामने आये। शक्ति सम्पन्न ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आवाजें उठनी आरम्भ हुई। उनका यह काव्य मुझे आन्कदी चाहिए था मीत यह वर्जीनिया के प्रत्येक व्यक्ति की आवाज बन गया।

अन्याय और पराधीनता के विरुद्ध आक्रोश तो हर व्यक्ति के मन में होता है, उससे मुक्ति पाने के लिये छटपटाहट भी प्रत्येक इंसान में होती है पर सबको किसी एक सार्वजनिक हित के लिये सूत्रबद्ध करके, एक मन्त्र के रूप में पिरोने, उनका नेतृत्व करने का साहस किसी ही जुटा पाते हैं उन्हीं विरलें में से पैट्रिक हेनरी भी एक थे।

उन्होंने अपने व्यवसाय की ओर से ध्यान हटाकर अपनी समूची शक्ति इसी स्वतंत्रता आन्दोलन के लिये नियोजित की।

जन-क्रान्ति का वैसा उद्योग वर्जीनिया में पैट्रिक हेनरी कर रहे थे वैसा ही अन्य अमेरिकी उपनिवेशों के जन नायक कर रहे थे। एक अकेला उपनिवेश ब्रिटिश-शक्ति से सोझ लेने और अपने को उसकी पराधीनता से मुक्त करने में असमर्थ था सो इन जननायकों ने तेरहों उपनिवेशों को संघबद्ध होकर स्वतंत्रता संग्राम छेड़ने का निश्चय किया। १७७४ में सभी उपनिवेशों के जन नेताओं ने एक महाद्वीपीय सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन में उन्होंने एकजुट होकर इस पराधीनता के कलंक को धो डालने का दृढ़ निश्चय किया। सम्मेलन में वर्जीनिया का प्रतिनिधित्व पैट्रिक हेनरी ने किया।

४ जुलाई, १७७६ के दिन तेरहों उपनिवेशों ने मिल कर संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थापना और उसकी स्वतंत्र प्रभुसत्ता की घोषणा की। यह दिन हेनरी जैसे देशभक्तों के सद्प्रयत्नों से ही देखने को मिलता था। वद्यपि अमेरिका की स्वतंत्रता इस घोषणा के छह वर्ष बाद मिली पर सही अर्थों में देखा जाये तो उसका खोजरोपण वर्षों पूर्व ही चुका था।

इस घोषणा के साथ ही इन तेरह उपनिवेशों ने तेरह राज्यों का रूप धारण कर लिया। वे सभी राज्य एक होकर जार्ज वॉशिंगटन के नेतृत्व में ब्रिटिश साम्राज्य से जुझ पड़े। छ वर्ष तक युद्ध चला और अन्त में अमेरिका की जनता की विजय हुई। अमेरिका स्वतंत्र देश बना। सभी राज्यों के प्रतिनिधियों की एक सभा फिलिडेल्फिया में हुई, जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान बनाया गया।

स्वतंत्रता के संग्राम में पैट्रिक हेनरी ने वर्जीनिया राज्य का नेतृत्व किया पर जब स्वाधीनता मिली तो उन्होंने उस वर्जीनिया का गवर्नर अपने निकटतम सहयोगी को बनाया और वे स्वयं संसद सदस्य ही बने रहे। बाद में उन्हें वर्जीनिया का गवर्नर भी बनाया गया, पर यह सब जनता के प्रबल आग्रह पर ही हुआ। वे वर्षों तक वहीं के गवर्नर रहे।

अपने समय में उन्होंने वर्जीनिया की जनता की बहुमुखी प्रगति के लिये यत्नार्थ प्रयास किये। अपने राज्य के संविधान में उन्होंने कई महत्वपूर्ण सुधार किये। उस समय वर्जीनिया में जो आर्थिक, सामाजिक व शैक्षणिक प्रगति हुई उसे आज भी श्रद्धा किया जाता है और याद किया जाता है उनके उस व्यक्तित्व को।

गवर्नर बन जाने पर भी वे सामान्य व्यक्ति से ठसी प्रेम और आत्मीयता से मिलते थे जो आज के नेताओं में बहुत कम देखने को मिलती है। उन्हें सरकार की तरफ से जो गवर्नर निवास मिसने का प्रावधान था, वे उसमें कभी नहीं रहे बल्कि अपने एक साधारण से मकान में ही रहे। उनका रहन-सहन भी बहुत साधारण था। उन्हें जो वेतन मिलता था। उस वेतन का अधिकांश भाग वे ऐसे संस्थानों को दान दे दिया करते थे, जो स्त्रोकसेवा में लगे हुए थे।

२.६३ महारणवीरों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

वे वर्षों तक वर्जीनिया के गवर्नर रहे पर कभी वे अपनी इच्छा से उस पद के लिये प्रत्याग्री नहीं बने वरन् उनके दल के लोगों के आग्रह और प्रकाशान्तर में जन आग्रह का सम्मान करने के लिये ही प्रत्याग्री बने थे। गवर्नर पद को भी उन्होंने अपने देशवासियों की सेवा का एक अवसर मानकर ही ग्रहण किया था। उनकी कोई व्यक्तिगत एवम् इसके पीछे चर्चा नहीं रही थी। १७९९ में जब उनका देहावसान हुआ तो वर्जीनिया के अनेक व्यक्ति ने यह अनुभव किया कि उनका कोई स्वजन बिछुड़ गया है। हेनरी पैट्रिक को उदात्त देशभक्ति व राष्ट्रियता की ध्वजा अमेरिकावासियों के लिये ही नहीं विश्व के कई देश पढ़ों की प्रेरणा-शक्ति बनी।

कर्तव्यरत-वीर दुर्गादास

औरंगजेब के दरबार में जोधपुर के महाराज यशवन्त सिंह का प्रभाव बहुत बड़ा हुआ था, उनकी वीरता और सत्य-निष्ठा के समक्ष सभी दरबारी सिर झुकाव करते थे। औरंगजेब को महाराज यशवन्त सिंह का यह प्रभाव सहन न होता था लेकिन कुछ कर सकने की उसकी हिम्मत न होती थी। वह महाराज यशवन्त सिंह से मन ही मन भयभीत रहता था। कायर कपट का सहारा लेता ही है। औरंगजेब ने भी लिया।

औरंगजेब ने त्रिकोण चाल सोची वह कह कि यशवन्तसिंह को दरबार से बाहर रखकर लड़ाई में फँसा दिया जाय। जिसमें सम्पर्क में न रहने से दरबार में उनका प्रभाव स्वतः कम हो जायेगा दूसरे निरन्तर युद्ध में लगे रहने से उनकी शक्ति कमजोर होगी और तब किसी न किसी लड़ाई में मारे ही जायेंगे। तीसरे उत्तराधिकारी नवाबलिंग होने से जोधपुर की गद्दी खाली हो जायगी जिसे मैं अपने अधिकार में ले लूँगा और राजकुमार अजीतसिंह को फलने के बहाने अपने पास रखकर ठिकाने लगवा दूँगा। हाथ रे ! मनुष्य का स्वार्थ ! तू अपने आश्रयदाता को इस हद तक गिरा देता है कि वह मनुष्य से पिराने तक बन जाता है। यही कारण है जो संसार के सत्पुरुष एक स्वर से तुझे दुस्कारते रहते हैं। तेरे वशीभूत होकर मनुष्य अन्यत्रपुरुष जो कुछ संचय करता है वह सब एक दिन इसी धरती पर रह जाता है। यदि साथ कुछ जाता है तो उसका प्रभाव जो पाप बनकर नरक की ओर उसका नेतृत्व किया करता है।

औरंगजेब ने अपनी दुरभिसंधि को कार्यान्वित किया और महाराज यशवन्तसिंह निरन्तर युद्धों में रत रहने लगे लेकिन तलवार का घनी वीर हर युद्ध में विजयी होता रहा। इससे उसका यश तथा प्रभाव और भी बढ़ गया। स्वार्थी औरंगजेब की चिन्ता और ईर्ष्या दोनों और बढ़ गई। अधम की विचार गति नीचे की ही खोद होती है। बादशाह विश्वासघात पर उतर आया। महाराज यशवन्तसिंह को काबुल की दुर्गम लड़ाई पर भेजकर उसके हमराह कुछ इत्तारे भी भेज दिये। काबुल के पठानों से बड़ा दुर्घर्ष संग्राम हुआ। विजय तो महाराज

यशवन्तसिंह की ही हुई किन्तु इस बार वे बुरी तरह से घायल हो गये। पेशवर में जिस समय वे विश्राम कर रहे थे विश्वासघातियों ने छल से उन्हें मार डाला था औरंगजेब ने बैन की साँस ली।

महाराज यशवन्तसिंह के सरदारों में एक सरदार दुर्गादास भी थे। उन्होंने बादशाह की दुरभिसंधि समझ ली और जोधपुर के नवाबलिंग उत्तराधिकारी अजीतसिंह को लेकर निकल गये। दूसरे सरदारों ने समझाया कि किसी के दूसरे के उत्तराधिकार के लिये अपने पर संकट क्यों लेते हो ? बादशाह से मिल जाओ हो सकता है वह जोधपुर का शासन मूत्र तुम्हारे हाथों में देदे और तब हम सब सुख-बैन की जिन्दगी प्य जायेंगे।

वीर दुर्गादास ने बातें सुनकर उन सबको धिक्कारा और कहा-"सुकाल में हम सब जिसकी छाया में विश्राम और सम्मान पाते रहे, आज दुष्काल में उसी के साथ विश्वासघात करने की सोचें। यह कहाँ की मनुष्यता है ? ऐसे अवसरवादी मनुष्य की आत्म दुर्ग-दुर्ग तक नरक की प्वाल में जल करती है। तुम लोग चाही तो बादशाह के तलवे चरकर सुख की जिन्दगी जी सकते हो किन्तु मैं तो राजकुमार अजीतसिंह की रक्षा में उसे लिये जंगलों और पहाड़ों पर मारा-वाटा फिरूँगा और जोधपुर की बादशाह के हाथों में जाने से बचाऊँगा और इसी कर्तव्य की पूर्ति में अपना सारा जीवन लग्न दूँगा।" सभी ने दुर्गादास की कर्षण में स्तर देखा और उसके साथ ही लिये। अन्त में तब ही संन्यास लेकर कात्ती गए जब स्वाधीन अधिकारों सहित अजीतसिंह को जोधपुर की गद्दी पर अभिविस्त कर दिया।

संघर्ष, पुरुषार्थ और श्रम के प्रतीक— देवजी भीमजी

कोचीन के फिकू मुरलीधर नामक एक प्रख्यात और उदारमना व्यापारी के पास एक दस वर्षीय बालक आया। सोचनीय अर्थिक स्थिति और इस अवोध आशु में ही सिर से फिकू का साथ बँध जाने के कारण जीवनयापन के लिए कोई काम दूँदना अनिवार्य था। व्यापारी को बालक ने सारी स्थिति अपनी टूटी-फूटी शब्दावली में सुनाई। मुरलीधर ने झ्रित होकर उसे अपने चर्चा आश्रय दिया।

बालक वर्षमासा और अक्षरों का थोड़ा सा ज्ञान रखता था। इसी पूँजी का धामता को अभ्यास द्वारा थोड़ा बढ़ाया और उसी व्यापारी के अधीन रहकर बहीखानों का काम सीख लिया और कुछ दिनों बाद कोचीन के ही एक और व्यवसायी के यहाँ लिख-पढ़ी की नौकरी कर ली।

यह असहाय बालक ही अध्यवसाय, परिश्रम और ईमानदारी के बल पर देवजी भीमजी के नाम से बहुत बड़ा उद्योगपति बन गया।

सामान्य से भी बदतर असहाय स्थिति से ऊपर उठने वाले उद्योगपति बहुत कम भी दीखते हैं और बहुत अधिक

सफल भी बहुत कम इसलिए कि परिस्थितियों में लोग साहस और धैर्य छोड़कर निरास और मृत जीवन जीने लगते हैं तथा जो धैर्य और प्रयत्न को अंगीकार कर लेते हैं उनके लिए वे ही परिस्थितियाँ घरदान सिद्ध होती हैं।

देवजी भीमजी-दूसरी श्रेणी के व्यक्तियों में से ही वे जिन्होंने अपने पुरुषार्थ के बल पर दुर्दैव की चुनौती को घरदान में परिणित कर लिया। लगभग पच्चीस वर्ष तक उन्होंने दत्त व्यापारी के यहाँ काम किया और अति सादगीपूर्ण जीवन बिताकर दो हजार रुपये की पूँजी जमा की। उनकी योग्यता देखकर दो अन्य व्यापारियों ने कपड़े के व्यवसाय में अपना साझीदार बना लिया। भिन्नु मुरलीधर उनका पूर्ववर्ती स्वामी सदैव उनका सहायक रहा। इसका कारण उनका विनम्र व्यवहार और ईमानदारी ही थी।

तीन वर्ष तक कपड़े का व्यवसाय नुकसान देता रहा। व्यापारी क्षेत्र में कदम रखते ही इतनी अल्पवधि में पड़ा उठाकर अपनी सारी जमा पूँजी गँवाकर भी निरास नहीं हुए। उनकी साझीदारी खत्म हो गयी और तीनों व्यक्ति अलग-अलग हो गये।

देवजी भीमजी अपने पूर्व स्वामी भिन्नु मुरलीधर के पास सलाह लेने पहुँचे। मुरलीधर ने हार्दिक सहायुभूति दर्शायी और उनकी मर्द की तथा करिपल के रेगो का व्यापार करने की सलाह दी। व्यापार के मूल सिद्धान्तों पर कायम रहते हुए कम मुनाफे पर ही अच्छा माल देने के कारण उनका धन्धा चल निकला और वे समृद्ध होते गये। १८६० में उन्होंने अपने कार्यक्रम का विस्तार किया और लेखन सामग्री तथा सोने, चाँदी का व्यवसाय भी शुरू कर दिया। अपने व्यवहार में सत्यनिष्ठ रहने के कारण केरल के सबसे प्रसिद्ध व्यापारी बन गए।

अपने व्यावसायिक जीवन में निरन्तर उन्नत होने के साथ ही साथ उनमें समाजसेवा की रुचि भी विकसित होने लगी। उन्होंने व्यापारियों और धनी लोगों के लिए एक अल्पोत्तम आदर्श रखा। धन-सम्पत्ति जब आवश्यकता से अधिक आने लगती है तो समझना चाहिए कि परमात्मा की लक्ष्मी की प्रसन्नता का लाभ इसलिए मिल रहा है कि अन्य जरूरतमन्द लोगों के लिए उसका उपयोग किया जाय। उपार्जन, शक्ति भर किया जाना चाहिए परन्तु उसे व्यक्तिगत सुख-सुविधा के लिए उपयोग में न लाकर अन्य औरों के लिए काम में लागू चाहिए। देवजी भीमजी अपनी बचपन की स्थिति को कभी भी न भुला सके। वे सदैव याद रखते कि एक अकिम्बल स्थिति से ऊपर उठकर वे धनपति बने हैं। परमेश्वर ने उन्हें इस काम के लिए इतना सम्पन्न बनाया है कि वे अपने जैसे अन्य दीनजनों की सेवा कर सकें।

एक बार जब वे किसी कारणवश दूसरे श्रान्त में गए तो वहाँ एक प्रेस में पुस्तकें छपती हुई देखकर मन में सोचा कि केरल में तो अभी तक इस प्रकार का उद्योग किसी ने स्थापित नहीं किया है। क्यों न इस व्यवस्था को हाथ में लिया जाय ताकि सैकड़ों लोगों के लिए रोजगार

की व्यवस्था हो सके और प्रेस के माध्यम से विशाल मात्रा में साप्ताहिक और धार्मिक साहित्य का प्रचार किया जा सके ताकि स्थिति लोगों की मानसिक दृष्टि भी तृप्त हो सके। ग्रामीण तथा अर्ध-सिक्खित लोग जो अपनी धर्म-वृत्ति को वृष्ट करने के लिए बड़ी कठिनाई से धर्म-ग्रंथ जुटाकर उनका रसपान करते हैं कि समस्याओं का आसान हल प्रस्तुत किया जा सके। केरल की मलयालम भाषा में धार्मिक पुस्तकें नितान्त अनुपलब्ध थीं फलस्वरूप पेशेवर पण्डित लोग धर्म ग्रन्थों का अधकचरा अनुवाद कर निर्धन ग्रामीणों का और भी शोषण करते।

१८६५ में देवजी ने चेरी में लिथोग्राफिक प्रकृति का प्रेस 'केरल मित्रम्' प्रेस के नाम से स्थापित किया। वहाँ से वे धार्मिक साहित्य के साथ-साथ ही अन्य बहुत सी महत्वपूर्ण पुस्तकें भी प्रकाशित करने लगे। जिससे केरल निवासियों को प्रकाशन खर्चा की गतिविधियों से परिचित होने तथा दुनिया की गति के साथ-कदम से कदम मिलाकर चलने का अवसर तथा प्रेरणा मिली।

प्रेस खुलने के कुछ ही महीने बाद कोचीन सरकार ने उन्हें नोटिस दिया और प्रकाशन को सेन्सर लागू दिया। देवजी ने यह सेन्सर हटा लेने की प्रार्थना की परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला तो उन्होंने सेन्सर की अवहेलना कर साहित्य छापना आरम्भ कर दिया। फलस्वरूप सरकार ने आज्ञा न मानने के अपराध में प्रेस को सीलबन्द कर दिया। देवजी ने रेजीडेंट से अपील की। काम बन गया और प्रेस को सेन्सर मुक्त कर दिया गया।

श्री देवजी ने तीन ईसाई सज्जनों की सहायता से एक और प्रेस खरीदकर-वेस्टर्न स्टार नाम का समाचार पत्र आरम्भ किया।

उन्होंने अन्य अंगों की सहायता के लिए औद्योगिक कार्यक्रमों के साथ ही साथ दूसरे प्रभावशाली कदम भी उठाए। 'अक्षर संरक्षण कम्पनी' नाम की एक संस्था का गठन कर मकानहीन लोगों के लिए बहुत सी जमीन खरीद कर उनके नाम पड़े कर दी और उन्हें रोजगार धन्धे से लगाया।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में सारी चल-अचल सम्पत्ति 'देवजी भीमजी ट्रस्ट'-के नाम से एक लोकोपकारी संस्था का निर्माण कर उसे सौंप दी। उनका जीवन बहुत ही सदा या और ऐसे सादगीपूर्ण निर्वाह के बाद जो कुछ भी बचा उसे समाज को सौंप देने का अनुपम उदाहरण लोगों के सामने रखा।

अपनी बसीबत करने के एक सप्ताह बाद ही उनका देहान्त हो गया। परन्तु जो लोग उनके जीवन से प्रभावित थे, उनके हृदय में वे सदैव जीवित रहे हैं। उनका चरित्र जन-जन को प्रेरणा देता रहेगा कि-आदमी साधारण और असहाय स्थिति से संघर्ष, साहस और सेवा बल पर किस प्रकार ऊपर उठ सकता है और कैसे सम्पन्न की ईश्वर की क्रियात्मक पूजा कर सकता है?

जिन्होंने सोते कुमार्यु को
जगाया-

बद्रीदत्त वैष्णव

देश भर में स्वतन्त्रता पाने के लिए जन आन्दोलन और क्रान्तिकारी गतिविधियाँ चल रही थीं पर बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के आरम्भ तक कुमार्यु का पर्वतीय आँचल इस हवा से अछूता था। इस क्षेत्र के भोले-भाले पर्वत पुत्रों को अपने जीवन की सामान्य आवश्यकताओं से ध्यान हटाकर देश व समाज के लिये कुछ करने की सुध नहीं थी। समय की हवा से अछूते इस क्षेत्र में क्रान्ति, असहयोग व समाज सुधार की प्कल सुलगने का श्रेय श्री बद्रीदत्त वैष्णव को जाता है जो १९२२ के असहयोग आन्दोलन में कुमार्यु क्षेत्र के एकमात्र मिलिट्री पेंशनर थे।

अल्पोद्गा से बाईस भोल दूर, गाँव तोला के एक घर्म भीक ब्राह्मण परिवार में १८७९ में जन्मे बद्रीदत्त वैष्णव को अपने पिता नारायणदास वैष्णव के हाथों अन्धविश्वास और धर्मभीरुता का जो दुर्वह दण्ड भोगना पड़ा इसकी कहानी बड़ी दुःखपूर्ण है। सन्त तुलसीदास की तरह उन्हें भी परित्यक्त बालक का जीवन जीना पड़ा था।

ग्राम के जाने माने ज्योतिषी जिनके लिये अपने पोथी पत्रे एक तरह से खेत-खलिहान थे और अपने ज्योतिष सम्बन्धी मनगढ़न्त दाँव-पेच वसमें उगने वाली फसलने कुछ ग्रह शान्ति आदि के हलाल से अश्लेषा नक्षत्रोत्पन्न बालक बद्रीदत्त के माता-पिता को बताया कि ऐसे समय में पैदा होने वाला बालक माता-पिता की मृत्यु का कारण बनता है।

नारायण दास के दो पुत्र पहले ही जीवित थे सो बंश न चलने या बालक के प्रति विशेष मोह-माया होने का प्रश्न ही नहीं था और आगे भी सन्तान होने की सम्भावना भी समाप्त नहीं हुई थी, अतः उन्होंने इस तथ्यकथित अनिष्टकारी पुत्र का त्याग कर देना ही ठीक समझा। उन्होंने अपने पुत्र को थोड़े से धन के बदले एक पुरोहित को बेच दिया।

इस अन्धविश्वास को कहाँ तक रोया जाय। इसने जितना अनिष्ट इस हिन्दू समाज का किया है उतना तो विदेशी-विधर्मी आक्रमणकारियों ने भी नहीं किया। हिन्दू समाज के लिए ही नहीं अन्धविश्वास तो हर धर्मावलम्बियों के लिये घातक सिद्ध हुआ है और हो रहा है। पुत्र अश्लेषा नक्षत्र में पैदा हुआ या घनिष्ठ में, इससे कोई अधिक अन्तर बढ़ने वाला नहीं है। भला नक्षत्रों को किसी मनुष्य से क्या दुश्मनी हो सकती है और पृथ्वी से करोड़ों प्रकाश वर्ष दूर स्थित रहकर वे किसी पृथ्वीवासी का क्या अनिष्ट कर सकते हैं। किन्तु जो लोग इस अन्ध विश्वास के पीछे बैठे-बैठे खाना चाहते हैं। वे भस्म कब मानते हैं। उनकी मक्कारी का फल इस बालक को भोगना पड़ा।

पुरोहित के घर बेच दिये जाने पर भी बालक बद्रीदत्त के दुर्भाग्य ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। उन्हें अपने पास रखने के बाद ही पुरोहिताइन ने एक पुत्र को जन्म दे दिया। सन्तान न होने के कारण पुरोहित ने पराये बालक को अपनाया था पर अब अपना स्वयं का पुत्र हो जाने के बाद उन्हें पराये बालक को अपने पास रखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई और उन्हें पुनः पिता को सौंप दिया गया।

माता-पिता और सन्तान के बीच अन्धविश्वास ने जो लक्ष्मण रेखा खींच दी थी उसे उनके माता-पिता कभी स्वीक नहीं पड़े। उन्हें न र्मा का स्नेह मिला, न पिता का दुलार। यों ही उपेक्षा सहते हुए वे बड़े हुए। उन्हें पढ़ने के लिए स्कूल नहीं भेजा गया।

पग-पग पर उपेक्षा व तिरस्कार पाने के कारण बालक बद्रीदत्त का आत्म-सम्मान कराह उठा। उसने अपनी आन्तरिक चेतना से छेरणा पाकर एक दिन घर छोड़ दिया। कुछ नेपाली सौर्वयात्री काशी जा रहे थे। बालक ने सुन रखा था कि काशी शिक्षा व ज्ञान का केन्द्र है। अतः उन्होंने वहीं आकर पढ़-लिखकर विद्वान बनने का निश्चय लिया।

उन्होंने सोचा था कि कुछ योग्यता प्राप्त कर लेने के बाद उन्हें माता-पिता का प्यार मिल जायगा। यदि नहीं भी मिले तो वे अपना जीवन तो बना सकेंगे। जिस बालक को परिवार वालों को सहयोग नहीं मिला पर जिसने अपनी सहायता स्वयं करने का निश्चय कर लिया, उसका बनना सुनिश्चित सा हो जाता है। किन्तु इस रंग का साहस थोड़े से ही व्यक्ति दिखाते हैं बाकी अधिकांश तो कुम्भित होकर ही रह जाते हैं।

बचपन में उन्होंने जो तिरस्कार व कष्ट-कठिनाइयाँ सही थीं उससे वे कष्टसहिष्णु हो गये थे तथा स्वयं अपनी राह बनाने की क्षमता पा गये थे। काशी में उन्होंने चार पाँच वर्ष तक संस्कृत का अध्ययन किया, जिससे उनका ज्ञान बढ़ा और जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाने में सहायता मिली।

वाराणसी में जब प्लेग का प्रकोप हुआ तो वह अपने कुछ नेपाली सहपढ़ियों के काफिले के साथ अपने गाँव लौट आये। उन्होंने सोचा था चार-पाँच वर्ष के वियोग से माता-पिता के हृदय में सोया वात्सल्य जाग पड़ेगा तथा अपने शिशु और स्वस्थ पुत्र को देखकर वे हर्षित हो उठेंगे। किन्तु उनकी आशा के विपरीत उनके पिता ने अपने मरिक्त पुत्र को दृष्ट पुष्ट दशा में लौटा देखकर उसे मूर्तिषों चुराने वाले गिरोह का सदस्य समझ लिया तथा और भी उपेक्षा का व्यवहार किया। बद्रीदत्त के स्वाभिमान पर यह एक और चोट थी। वे इस चोट से तिलमिला उठे।

उस बालक के मन में उस समाज के प्रति कितना अक्रोश उपजा होगा जिसे उसके माता पिता ने एक ज्योतिषी की बेसिर पैर की बातों पर विश्वास करके एक पुरोहित के हाथ बेच दिया, पुरोहित ने भी उसे तभी तक

अपनाया हो जब तक उसके कोई पुत्र उत्पन्न न हो गया हो, ऐसे स्वामी सम्मान के प्रति उसके मन में आक्रोश होना अस्वाभाविक नहीं होता किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि उसी व्यक्ति ने अपने चार छोटे भाइयों को अपने खर्च से पढ़ा-लिखाकर काम धंधे से लगाया अग्रे चलकर उसने उसी समाज के हित के लिये अपने प्राणों की बाजी लगा दी, जिसे उसने पग-पग पर दुःखाना था। उस समाज से उसने धृणा नहीं की बल्कि उसमें फैलते उन कुरीतियों, अन्ध-विश्वासों और विकृतियों से जड़ना आरम्भ किया जो उन्हें दुःख देने का कारण बनी थीं।

इसका कारण उनका स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे क्रांतिकारी, धर्म सुधारक, समाज सुधारक से सम्पर्क होना व उनके उपदेश से प्रभावित होना था। स्वामी जी जब बेदोश सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे पधारे तब उन्होंने अपने मन की बात स्वामी जी को बतायी। संक्षेप में परिवार और समाज द्वारा दिये तिरस्कार का वर्णन भी उन्होंने किया। इस पर स्वामी जी ने उन्हें बताया कि जो कुछ तुम्हें समाज ने प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में अनुदान दिया है वह हिचालक उसकी तुलना में यह तिरस्कार राई सूर्य भी नहीं है। अतः उन अनुदानों को देखो जो तुम्हें मिले हैं। तिरस्कार को देखो तो तुम अपना भी अहित करोगे और समाज का भी। समाज के अनुदानों को पहले चुका लो, स्वामी जी के इस प्रकार के निर्देश ने उनके जीवन की दिशा ही बदल दी।

वे बचपन में माता-पिता की रुखाई से ग्रस्त हो आक्रोश में भरकर ब्रिटिश सेना में भर्ती हो गये थे। जब वे सेना में भर्ती हुए उन दिनों कुमायूनी ब्राह्मणों की भर्ती बन्द थी तो वे बीरसिंह के छत्र क्षेत्रीय नाम से सेना में भर्ती हो गये।

सैनिक जीवन में उन्हें रंगून, माण्डले, लास्वो, छिदमिन तथा मीलिन आदि छावनीयों में रहना पड़ा था। वे अपनी सुश्रद्धा एवं कर्तव्य परायणता के कारण साप्ताहिक सिपाही से फोर्ट ग्रेड सिंगलर पद तक पहुँच गये।

स्वामी दयानन्द के सम्पर्क में आने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वे अब तक केवल पशु धर्म ही पाल रहे थे, अपने ही लिये जी रहे थे जो मनुष्य जैसे प्राणी की गरिमा के लिये उपयुक्त नहीं है। उन्हें मानव-धर्म वास्तव में चाहिए, अपने लिये ही नहीं समाज के लिये जीवन चाहिए। अपने सुख का ही नहीं समाज के सुख का भी ख्याल रखना चाहिए।

इसी दृष्टि को पाकर वे सृष्टियों में घर अपने और अपने दो छोटे भाइयों को अपने साथ बर्मा ले गये। उन्हें पढ़ा लिखाकर काम पर लगा दिया। वे स्वामी दयानन्द के सुधारवादी आन्दोलन से बहुत प्रभावित हुए थे। यदि इस प्रकार धार्मिक व सामाजिक रुढ़ियों व अन्धविश्वास को समाप्त किया जा सके तो पीछे आने वाली पीढ़ियों को उनका शिकार न होना पड़े। यह सोचकर वे स्वामी जी के बताये अनुसार समाज सुधार की प्रवृत्तियों का प्रचार प्रसार करने लगे। सेना की नौकरी करते हुए आर्थिक रूप

से और बाद में पूर्णकालिक रूप से वे इस कार्य में लगे रहे।

सेना की नौकरी से मुक्त होते ही उन्होंने धार्मिक पाखण्ड और अन्धविश्वास को मिटाने, सामाजिक कुरीतियों का कचरा जन मानस के मस्तिष्क से बहारने के लिये अपने गाँव आ गये और धोली में मकान बनाकर रहने लगे। यहाँ से उनका ध्येय समर्पित जीवन आरम्भ हुआ। वे गाँव-गाँव जाकर स्वामी जी के बताये हुए सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे। उन्होंने अछूतों और महिलाओं के साथ किये जाने वाले अन्धान का खुलकर विरोध किया। उनके इस प्रकार से अन्धविश्वासी जनता व पाखण्डी लोग नाराज हुए किन्तु विवेकशील और नवयुवक उनका साथ देने लगे। इस प्रकार उनका सुधार कार्य चल निकला। ग्राम-ग्राम में एक विचार से प्रेरित होकर लोग शिक्षा व ज्ञान का प्रचार-प्रसार करने लगे। इस कार्य में श्री वैष्णव की भूमिका अत्यन्त वैसी रही।

सामाजिक कुरीतियों से जनता की मुक्त कराने के साथ-साथ उन्होंने अंग्रेजी शासन का भी विरोध किया, क्योंकि बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता पाये राष्ट्र का सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं था। स्वयं उनके मार्ग-दर्शक स्वामी दयानन्द स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे।

सत्याग्रह और क्रांतिकारी आन्दोलन की चिंगारियाँ उन दिनों देश में घब-तघब फूट रही थीं। वैसी ही एक चिंगारी उन्होंने अपने क्षेत्र में भी पैदा की। अंग्रेजों द्वारा प्रदेश की जनता पर लादी गयी 'कुली प्रथा' से मुक्ति पाने के लिये उन्होंने प्रबल जन आन्दोलन छेड़ा। लोग कहते हैं कि पौन का सिपाही व तंगि का घोड़ा दूसरा कोई काम नहीं कर सकते, पर उन्होंने इस उक्ति को निराधार सिद्ध कर दिखाया। उन्होंने अनहित का बहुत बड़ा काम किया।

जन आन्दोलन प्रायः उसी स्थिति में गति पकड़ते हैं जब उसके द्वारा जनता को किसी समस्या का समाधान होता हो। प्राचीन और राजनैतिक चेतनारहित क्षेत्र में विस्तृत रूप से देश की स्वतन्त्रता को लेकर एकदम कोई आन्दोलन सफलतापूर्वक चलाना सम्भव नहीं होता है। इस बात को बड़ीदत्त वैष्णव धली-भाँति जानते थे अतः उन्होंने आन्दोलन का प्रारम्भिक चरण ऐसा रखा जिसमें हर व्यक्ति सम्मिलित हो सके, सहयोग दे सके।

उनके द्वारा संचालित इस आन्दोलन को देखकर अंग्रेज पदाधिकारी नीखला उठे। उन्होंने श्री वैष्णव पर राजद्रोह का आरोप लगाकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया। वे १९२९ में पड़सी बार इस आन्दोलन के सिलसिले में गिरफ्तार किये गये थे। अल्मोड़ा की जिला अदालत में उन पर मुकदमा चलाया गया। उनके भाई मोतीराम भी इस आन्दोलन में उनके साथ थे। दोनों भाइयों को एक एक वर्ष के कारावास की सजा दी गयी।

वे बरेली तथा फरीदाबाद जेल में रखे गये। उनके साथ प्रसिद्ध सत्याग्रही पं. बड़ीदत्त पाण्डे भी रहे थे। उन्होंने

२.६७ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

अपनी पुस्तक में वैष्णव जी की वीरता व साहस की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है ।

शरीर तो पहले ही वृद्ध और जर्जर हो चुका था । जेल की कठोर चन्चल ने उसे और भी नकार कर दिया पर उनकी उम्रों अभी भी नव-युवकों सी थीं । जेल से बाहर निकल कर वे पुनः जनजागरण में लग गये ताकि देश को शीघ्र विदेशी शासन से मुक्ति मिल सके । स्वतन्त्रता और समाज सुधार के क्षेत्र में उन्होंने अपनी आयु को देखते हुए जो कार्य किया है वह वृद्धों के लिये सौख्य और युवकों के लिये चुनौती जैसा है ।

उन्होंने अकेले ही इस आन्दोलन में भाग नहीं लिया था । वे स्वयं ही देशभक्त नहीं बने थे बल्कि अपने परिवार के सदस्यों ने भी उनके पिछों पर चलकर अपना भीरव समझा था । उनके पुत्र भी कर्म क्षेत्र में आ कूदे थे । १९४० के सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के लिये उन्होंने अपना नाम महात्मा जी के पास भेजा था पर उनके स्वास्थ्य और आयु को देखते हुए उन्हें आज्ञा नहीं मिली । आज्ञा मिली उनके पुत्र विद्याधर वैष्णव को । विद्याधर वैष्णव ने अपने पिता के स्थान पर 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में भी भाग लिया । विद्याधर को इस आन्दोलन में भाग लेने के कारण पाँच वर्ष का कारावास भीगना पड़ा तथा उनके परिवार की सारी सम्पत्ति कुर्क करके नीलम कर दी गयी । इस प्रकार पं. बन्नीदत्त वैष्णव ने अपनी मातृभूमि के लिये सर्वस्व समर्पित कर दिया ।

पुत्र जेल काट रहा था और वृद्ध अज्ञात पित्त जाने किस शक्ति के सहारे घर-घर जाकर आजादी का असल जग रहा था । उन बूढ़ी हड्डियों में जाने कहाँ से इतनी ताकत आ गयी थी कि वे घर-घर, गाँव-गाँव जाकर लोगों को स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये विदेशी हुकूमत से टकरा जाने का आह्वान कर रहे थे । अंग्रेज सरकार ने उन्हें बन्दी बनाना चाहा पर उसके वृद्ध शरीर और जर्जर स्वास्थ्य को देखते हुए पकड़ कर छोड़ दिया गया । गाँधी जी की विदेशी शिष्टा सरलाबेन ने उन्हें कौन्सिल व कोर्ट के पास रखे गये सत्याग्रही परिवारों की देख-रेख का भार सौंप दिया ।

राष्ट्रीय स्वाभिमान के रक्षक—

बालाजी विश्वनाथ

पश्चिमी घाट के बंजीराबाद नामक प्रदेश का अधिपति कासिम अपने बहु संरक्षक पर असंगठित हिन्दू प्रजा पर मनमाने अत्याचार किया करता था । उसकी इस क्रूरता का प्रेरक दिल्ली प्रति औरंगजेब था । कासिम छत्रपति शिवाजी के समय से ही हिन्दुओं की अन्धकार के विरुद्ध उठती हुई शक्ति को कुचलने का कुप्रयास करता रहता था ।

महाराष्ट्र में उन दिनों जागरण की लहर उठ रही थी । कान्होजी आंग्रे नामक एक महाराष्ट्रियन योद्धा ने

थोड़े से नवयुवकों की सेना गठित कर तट प्रदेश पर अधिकार कर लिया । उसके अपने युद्ध पोतों और जौबाज साधियों के कारण कासिम की नींद हराम हो गयी थी । कान्होजी आंग्रे की शक्ति दिन पर दिन बढ़ती जा रही थी वह कासिम के अपनी हिन्दू प्रजा पर अत्याचार करने के मार्ग में बाधा बनकर आ रहा था ।

कासिम और कान्होजी आंग्रे के बीच चलने वाले संघर्ष में विपलून जिले के मोठ बन्दर नामक स्थान के चमक व्यापार के ठेकेदार और जिले के कर उगाहने के ठेकेदार बुचक बालाजी ने अपने स्वधर्म और देश के हित में संघर्ष करने वाले कान्होजी आंग्रे का पक्ष लिया । कासिम को जब यह ज्ञात हुआ तो वह बहुत क्रुपित हुआ उसने बालाजी के भाई जनार्दन को हाथ पाँव बाँध कर संदूक में बन्द करके जीवित सागर में बहा दिया ।

ऐसी स्थिति में बालाजी का उस क्षेत्र में रहना सम्भव नहीं था । अतः वह सपरिवार वहाँ से भाग चले । वही व्यक्ति जो एक दिन कासिम के भय से अपनी प्राण प्रिय जन्म भूमि को छोड़ने को विवश हुआ था आगे चलकर अपनी कार्य कुशलता, योग्यता, सूझबूझ तथा राष्ट्र निष्ठा के कारण महाराष्ट्र का महासची पेशवा बन्य और उसने अपनी जन्म भूमि छोड़ने समय कासिम के अत्याचार से अपने क्षेत्र जनो को मुक्ति दिलाने की जो प्रतीक्षा की थी उसे पूरी करने में सफल हुआ ।

बालाजी का घराना बंजीराबाद के सिद्धी सरदार की आधीनता में अपने ग्राम श्री वर्द्धन पट्ट के परगने की मालगुजारी वसूल करने का काम किया करता था । बालाजी के पिता विश्वनाथ भट्ट का इस तहसीलदारी के कारण क्षेत्र में अन्ध्र मान था । पिता की मृत्यु के पश्चात् बालाजी के ज्येष्ठ भ्राता जनार्दन भट्ट इस कार्य को करते थे । महत्वाकांक्षी बालाजी ने भाई के आश्रय में रहकर पैतृक व्यवसाय में हाथ बँटाने की अपेक्षा अपना स्वतन्त्र व्यवसाय व आधिपत्य जमाने के लिये विपलून जिले में प्रयत्न किया । वे सपरिवार वहीं रहते थे तभी आंग्रे का पक्ष लेने के कारण उन्हें वहाँ से भागना पड़ा ।

मोठ बन्दर से चलकर वे बलवास ग्राम पहुँचे वहाँ उनके मित्र महादेव भानु रहते थे । वह भी अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिये बाहर जाना चाहते थे सो दोनों परिवार सत्तय की ओर चल पड़े । किन्तु वे अधिक दूर नहीं जा पाये थे कि कासिम के सैनिकों ने उन्हें पकड़कर अंजन वेल नामक दुर्ग में बन्द कर दिया । यहाँ पच्चीस दिन बड़े कष्ट में बिताने पर भी बालाजी और महादेव भानु निराश नहीं हुए । आशा ही परम बल के सहारे उन्होंने दुर्ग प्रति को अपने पक्ष में कर लिया और मुक्त हुए । मुक्ति के पश्चात् वे कैसे सास जाह् पहुँचे और आकाजी पुरन्दरे की सहायता से महाराष्ट्र की राजधानी सत्तरा में महाराष्ट्र छत्रपति के सचिवालय के अधीन मालगुजारी वसूल करने वाले प्रमुख अधिकारी बने यह लम्बी कहानी है । जब वे मोठ बन्दर से भागे थे तब उनके

साथ उनका चार वर्षीय पुत्र बाजीराव भी था जो आगे चलकर उनका उत्तराधिकारी पेशवा बना।

बालाजी जब महाराष्ट्र की राजधानी में राज्य के मालगुजारी वसूल करने वाले अधिकारी बनें तो उन दिनों छत्रपति सिंहासन के लिये छत्रपति सम्भाजी के पुत्र शाहू और छत्रपति राजाराम के पुत्र शिवाजी की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का झुंड ही रहा था। छत्रपति राजाराम की पत्नी महारानी ताराबाई अपने पुत्र को छत्रपति बनाना चाहती थीं किन्तु प्रधान सेनापति और अधिकांश सरदार न्याय सम्मत पक्ष-शाहू की ओर झुके होने के कारण शाहू ही छत्रपति बनाए गये। शाहू का छत्रपति बनना उचित भी था। उनकी माता चेंबुबाई अब तक उन्हीं के कारण मुगल सम्राट के यहाँ नजरबन्द थीं। स्वयं शाहू भी सोलह वर्ष तक नजरबन्द रहने के बाद मुक्त होकर महाराष्ट्र आये थे।

बालाजी इस ओर से उदासीन रहकर अपना कार्य कर रहे थे। यद्यपि वे छोटे पद पर किन्तु उनकी बुद्धिमत्ता आगे चलकर रंग लायेगी इसकी उन्हें भी अज्ञात थी और छत्रपति भी उनमें छिपे व्यक्तित्व को समझ रहे थे।

बालाजी का कार्य यों तो मालगुजारी वसूलने का था पर वे इस तक ही सीमित नहीं रहे। उनकी दृष्टि मात्र अधिकारी या कर्मचारी को ही न होकर उससे भी अधिक महत्व की थी। वे राष्ट्र की समृद्धि के लिये कृषकों की समृद्धि को अनिवार्य मानते थे। देश में उत्पादन बढ़ेगा तो खुशहाली अपने आप आयेगी। यह सोचकर उन्होंने खेती की उत्पत्ति की ओर विशेष ध्यान दिया। कृषकों को समुचित प्रोत्साहन व मार्गदर्शन देकर उन्होंने देश की समृद्धि को बढ़ाया। किसान उन्हें देवता की तरह मानने लगे। अब पहले की तरह मालगुजारी वसूलने के लिये सैनिकों व ज्यादा कर्मचारियों की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। कृषक अपने आप गुजारी कार्यालय में जमा करा जाते थे। किसी किसान को मालगुजारी न देने के कारण दण्डित करने का अवसर ही नहीं आता था।

इससे मालगुजारी की दर तो वही रही पर वसूली के लिये अधिक आदमियों की न लगाने के कारण उस राशि में प्रबन्ध व्यय कपी कटौती बहुत कम हुई। इससे प्रधान सेनापति धनानन्दजी जाधव और छत्रपति शाहू बहुत प्रभावित हुए। धनानन्द जी जाधव की मृत्यु पर सम्पूर्ण राजस्व विभाग उन्हें सौंप दिया गया।

बालाजी ने अपना प्रबन्ध कौशल व योग्यता तो राष्ट्रहित में दिखायी थी और इसी कारण उन्हें राजस्व विभाग का सर्वेसर्वा बना दिया गया था पर इसके कारण गव निर्वाचित प्रधान सेनापति चन्द्रसेन उनसे जलने लगा। आगे चल कर उसने उन्हें मारने का वदयंत्र भी रचा और छत्रपति से द्रोह भी किया पर दूसरों के लिये कुआँ खोदने वाले को स्वयं उसमें गिरना पड़ता है। उसी उक्ति के अनुसार चन्द्रसेन को अचानक प्रधान सेनापति पद खोना पड़ा और बालाजी को प्रधान सेनापति पद मिल गया।

बालाजी वीर और योग्य व्यक्ति थे। इनसे भी ऊपर उनकी विशेषता यह थी कि वे हिन्दू महाराष्ट्र को प्राणों से भी प्रिय मानते थे। वे जब प्रधान सेनापति बनाए गये उस समय महाराष्ट्र के सामन्तगण राष्ट्र का हित न सोचकर व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं में उलझने लगे थे। उन्हें पुनः एक सूत्र में बाँधने वाले कुशल राजनीतिज्ञ और वीर सेनापति की भूमिका उन्होंने बखूबी निभाई।

कान्होजी आंग्रे और कोल्हापुर के राजा को हराकर छत्रपति शाहू के पक्ष में करना और पेशवा धैर्यवन्त गिंगले को उनकी कैद से मुक्त कराने का वीरता और चतुरईपूर्ण कार्य करके उन्होंने अपनी योग्यता प्रदर्शित की। उसका परिणाम यह हुआ कि वे पेशवा बना दिये गये। कभी सिन्धियों के हार से मारे-मारे फिरने वाले बालाजी जो आरम्भ में पेशवा के कार्यालय में मामूली क्लर्क की ईप्सियस से काम करते थे, अपनी राष्ट्र-निष्ठा और योग्यता के बल पर महाराष्ट्र के पेशवा पद पर अभिसिक्त हुए।

कान्होजी आंग्रे को सैनिक सहायता देकर उन्होंने अपनी जन्मभूमि को सिन्धियों के आधिपत्य से मुक्त कराने की अपनी प्रतिज्ञा को भी पूर्ण कर लिया।

पेशवा पद प्राप्ति में उनकी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का उतना हाथ नहीं था जितना उनकी योग्यता और उत्कट राष्ट्रीय तथा जातीय भावना का हाथ था। पेशवा बनने के बाद भी वे सुलोपभोग में नहीं डूब गये। प्रायः ऐसा होता है कि सामान्य स्थिति का व्यक्ति जब किसी उच्च पद पर पहुँच जाता है तो उसमें गर्व आ जाता है और वह कर्म-निष्ठ न रहकर विलासी बन जाता है किन्तु बालाजी ने ऐसी पूर्णता नहीं की।

उच्च पद पर रहते हुए भी वे स्वभाव, व्यवहार व हृदय से छोटे लोगों के प्रति इमदद ही बने रहे थे। वे जब दिल्ली के मुगल शहंशाह फरख़शियर की प्रार्थना पर उनके साथ संधि कर उसे रक्षा का वचन देने के लिये सैन्य दिल्ली जा रहे थे तब की बात है। उन्होंने अपने सेनाधिकारियों को आदेश दे रखे थे कि मार्ग में पड़ने वाले खेतों में से अन्न या घास का एक तिनका भी अपनी सैन्य दमा क्षतिग्रस्त नहीं होना चाहिए। किन्तु उनके एक अधिभानी सरदार मल्हारराव होल्कर ने उनकी यह आज्ञा नहीं मानी वे अपने घोड़ों के लिये एक किसान की छोटी फसल कटवा डाली साथ ही उसे मारा-पीटा भी।

इस बात की सूचना जब बालाजी को लगी तो वे बड़े कुपित हुए इसलिये नहीं कि उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया गया है बल्कि इसलिये कि गरीब आदमी का अहित किया गया है। अतः उन्होंने मल्हारराव की सारी सम्पत्ति जब्त करके और किसान को उसकी फसल और मारा-पीटा का पूरा हर्जाना दे देने का निर्णय दे दिया। कृषक उनकी इस न्यायप्रियता पर बड़ा प्रसन्न हुआ। मल्हारराव की बुद्धि भी ठिकाने आ गयी। उसने भविष्य में ऐसा न करने

२.६१ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

की शपथ खाते हुए उनसे शपथ माँगी। पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने उसे क्षमा तो कर दिया पर दण्डस्वरूप उसका ओहदा घटा दिया। उनके इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर ने उन्हें समान्य व्यक्ति से ऊपर उठाकर पेशवा पद पर हसलिये जा बिठाया कि वे उसके उपयुक्त थे। इनसे गरीबों व दुर्बलों का रक्षण ही सम्भव था उन पर अत्याचार नहीं।

मुगल सम्राट फर्खसियर के बेटे मुहम्मदसाह से हुई संधि के अनुसार बालाजी ने चतुरता पूर्वक न केवल मुगल साम्राज्य से अपने प्रदेश ही छीन लिये बल्कि मुगल सम्राट का भीरतापूर्वक मुकाबला भी किया।

सम्प्रदायवाद से आजीवन लड़ने वाले— मजहरुल हक

सर सैयद अहमद खान ने किसी समय कर्तव्यता में कहा था कि हिन्दू और मुसलमान हिन्दुस्तान की दो आँखें हैं। और ही में से एक भी न हो तो यहाँ का चेहरा बदसूरत हो जायगा। इसी प्रकार के विचार सभी राष्ट्रीय नेताओं ने भी व्यक्त किये हैं। पाकिस्तान के निर्माता मोहम्मद अली जिन्ना भी तब हिन्दू-मुस्लिम एकता और अखण्ड भारत के समर्थक थे। लेकिन ब्रिटिश सत्ता को यह सब सहन हो सकता था। उसकी तो नीति ही फूट डालो और रान करो की थी। किसी प्रकार वह अपनी इस नीति को सफल बना गये और कुछेक मुस्लिम नेताओं के मन में क्रमशः अलग प्रतिनिधित्व, अलग राज्य और अन्ततः देश विभाजन की बात भी पैदा कर गयी।

स्वतन्त्रता से पूर्व हुआ मोपला विद्रोह, साम्प्रदायिक दंगे, उत्पात और उपद्रव सब अँग्रेजों के बहुबन्तों का ही परिणाम थे। परन्तु जिनके हृदय में अखण्ड देश-प्रेम का प्रवाह बह रहा था और जो लोग अँग्रेजों की इस नीति का मर्म समझते थे सतर्क और सचेत ही रहे। हालाँकि बहकाने के प्रयास तो उनके लिए भी किये गये। लेकिन विवेक की आँख खुली रखने वाला सर्वत्र निरिक्ता दृढ़ और स्थिर ही रहता है।

ऐसे ही स्थिर भक्ति महामानव थे मौलाना मजहरुल हक। जिन्होंने कई अवसरों पर कहा कि हम हिन्दू हों वा मुसलमान, सब एक ही माँ के बच्चे हैं। सूबेंगे तो साथ और पार निकलेंगे तो एक साथ। घटना उन दिनों की है जब किराये के गुण्डों और विघ्नसंतोषी तत्वों द्वारा बिहार के कुछ क्षेत्रों में साम्प्रदायिक दंगे करवाये गये। जन साधारण तो भावनाओं के बल पर जीती है—उसे कोई भी थोड़ा अच्छी बुरी दिशा में प्रवाहित कर दे तो तुरन्त बहा से बड़ा लाभदायक और प्रशंसनीय कार्य भी बन जाता है तथा अनर्थ भी हो जाता है। किसी ने हिन्दुओं में तो यह हवा छोड़ दी कि उनके धर्मग्रन्थों का अफसान किया जा रहा है और मुसलमानों में मस्जिद नाशक करने की बात फैला दी। यहाँ तक कि किसी ने सुअर का एक नमूना

बच्चा परकोटे में फिकका दिया। बस क्या था दोनों पक्ष अपनी धिरतन आत्मीयता और भाई-चारे को भूल कर टूट पड़े एक दूसरे पर।

जो लोग स्वजन सम्बन्धियों से भी अधिक धनियता के सम्बन्ध रखे हुए थे, वे बिना किसी कारण दूसरों के बहकाने पर चैरी बन गये। पुलिस सिपाहियों और अधिकारियों की उत्तरता से किसी प्रकार बड़ी मुश्किल से स्थिति को कब्ज किया गया। जब पूरी तरह शांति हो गयी तो मौलाना मजहरुल हक ने हिन्दुओं और मुसलमानों की एक सम्मिलित सभा आयोजित की। इसके पूर्व वे वैधानिक ढंग से साम्प्रदायिक आवेग को कब करने में लगे हुए थे। लोगों में आत्मीयता और बन्धुत्व का भाव पूर्व स्तर का ही कायम हो जाय उद्देश्य था सभा का।

हिन्दू-मुसलमान के झगड़े बाहर से बाँत मले ही हो गये हो परन्तु आक्रोश तो पूर्ववत् ही बना रहा। फिर भी मौलाना हक का उस क्षेत्र पर इतना प्रभाव था कि आपस में एक दूसरे को भूलने और छा जाने वाली नजरों से देखने पर भी लोग इस सभा में आये। दोनों पक्ष के लोग सोच रहे थे कि मौलाना हमारी ओर बोलेंगे तथा दूसरे पक्ष को ठट्टेने तथा दुतकारेंगे। अपने पक्ष में सुनने की वाकफ़ा से सबकी नजरें सभायें पर मौलाना हक के चेहरे पर टिकी हुई थीं। लेकिन जब उन्होंने आरम्भ किया तो दोनों पक्ष ही सकते में आ गये। मौलाना हक ने कहा—मैं जानता हूँ कि आप लोग बहकाने में हैं, गलती पर हैं। जब आप शांतचित्त हो कर विचार करेंगे तो आप को पता चलेगा कि हिन्दू और मुसलमान एक ही डाल के दो फूल हैं। एक ही माँ की दो आँखें हैं।

श्रोताओं की आँखों से चैर प्रतिशोध पानी बनकर निकल गया। मौलाना हक की धीर गम्भीर वाणी सबके कलेबों को चीरती हृदय को वेधती अन्तरात्मा में प्रवेश कर गयी और जब कोई बात उस गहराई तक पहुँच जाती है तो काह्न स्थिति बचाव कैसे बनी रहेगी। लोगों की आँखों में अब प्रश्न झाँक रहे थे। कौन है जो हमें बहका रहा है, हमें लड़काने में किसका स्वार्थ सिद्ध होता है और मंच से धारा प्रवाह धीर गम्भीर वाणी में वह भाव बह रहे थे—हम लोगों को फिरंगी सरकार आपस में लड़वाकर अपने पैर भारत में जमावे रखना चाहती है। हिन्दू और मुसलमान दो सगे भाइयों की तरह हैं। आपस में हमें लड़ना सोच नहीं देता।”

कहते हैं इस सभा के बाद वहाँ एकत्र हुए सभी लोग पूर्व के वैमनस्य भुलाकर हृदय से गले मिले थे। जिसकी वाणी में इतना पैनापन हो उसकी स्मृतिक अंतरंग स्थिति का अनुमान लग्न पाना बड़ा मुश्किल है।

मौलाना मजहरुल हक का जन्म २२ दिसम्बर १८६६ ई० को पटना जिले के एक धर्मनिष्ठ मुस्लिम परिवार में हुआ था। इस्लाम और कुशन की शिक्षाओं को उन्होंने जितना आत्मसात् किया था वह वह सिद्ध करने के लिए

पर्याप्त था कि वह पैगम्बर मोहम्मद के निष्ठावान अनुयायी हैं। इस्लाम धर्म के अनुयायी आज भी उन्हें आदर्श रूप में मानते हैं और उन्हें देखकर यह सोच पाना भी मुश्किल है कि कोई धर्मनिष्ठ मुसलमान अपने मत और विचारों के प्रति कट्टरपन्थी तथा दुराग्रही होता है। लोगों में यह एक भ्रान्त-धारणा फैली हुई है कि मोहम्मद साहब ने इस्लाम की दीक्षा जैसे भी हो देने और हर तौर तरीके को अपना कर मुस्लिम संख्या में अभिवृद्धि करने का उपदेश दिया है। मौलाना हक की यह दृढ़ मान्यता थी कि इस्लाम में इस प्रकार की संकीर्णता और कटमुत्तन्त्रपन को कोई स्थान नहीं है।

मुस्लिम धर्म की वास्तविकता को समझ कर बड़ी कुशलतापूर्वक उन्होंने इसे अपने जीवन में उतारा। यह भी एक कटु सत्य है कि सांप्रदायिक बैमनस्य के विष बीज बोकर अंग्रेज इस देश में अपने पाँव और भी मजबूती से जमाना चाहते थे। लेकिन मौलाना हक ने अंग्रेजों की इस कुदनीति का बड़ी निर्भयता और साहस के साथ पर्दाफाश किया।

उन दिनों जब भारतीय जनमानस में संप्रदायवाद के विषाणु फैलाये जा रहे थे मौलाना ने उन्हें रोकने और हटाने के लिए अपना जीवन लगा दिया। इस कार्य के विरोध में वे सत्य अवरोध बनकर मार्ग में आये थे जिनका कि इसमें स्वार्थ निहित था यह विरोध यहाँ तक बढ़ा कि उन्हें जान से मार देने की सैकड़ों बार धमकियाँ दी गयीं। उनकी सभाओं में ईंट और पत्थर फेंके गये तथा तरह-तरह के उत्पत्त मचे।

लेकिन यह बड़े मजे की बात रही कि ज्यों-ज्यों उनका विरोध बढ़ता गया त्यों-त्यों वे इस कार्य में और भी अधिक मनोयोगपूर्वक लगते गये। वैसे तो उन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र में स्वराज्य के उद्देश्य से ही प्रवेश किया था। वे कांग्रेस के सच्चे और लगनशील कार्यकर्ता थे। लेकिन जब उन्होंने देखा कि गौरी सरकार प्रतिष्ठित और प्रबुद्ध व्यक्तियों के अहं को विवृत कर अपना उत्सू सीधा करना चाहती है और इसी के लिए प्रयत्न भी कर रही है तो उन्होंने स्वराज्य प्राप्ति के पथ को प्रशस्त करना ही उक्ति और न्यायसंगत समझा।

उन्होंने इस क्षेत्र में कार्य भी इतना किया तथा उपलब्धियाँ भी इतनी रहीं उनकी कि मुख्य रूप से उन्हें सांप्रदायिक एकता के लिए ही स्मरण किया जाता है। सम्प्रदाय उन्मादियों ने उन्हें सर्वप्रथम प्रलोभन देकर अपनी ओर मिलाया चाहा। कई मुस्लिम सांप्रदायिक नेता और रईस उनके पास आये तथा प्रस्ताव रखा-“आप मुसलमानों को हिन्दुओं से बिल्कुल अलग कर लीजिए और कांग्रेस छोड़कर लीग में आ जाइये। हम आपको लीग संगठन का सर्वोच्च पदाधिकारी नियुक्त करेंगे।”

मौलाना का एक ही उत्तर होता-किसी माँ के दो बेटों में लालच देकर फूट पैदा करने की कोशिश की जाय तो मैं ऐसे बेवकूफ बेटों में से नहीं हूँ जो कुर्सी के लोभ में अपनी माँ का हृदय ही तोड़ दें।”

बार-बार प्रयत्न किया गया कि वे अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व का प्रयोग उन तत्वों के स्वार्थ साधने में करें। परन्तु मौलाना तो यह चाहते ही नहीं थे कि मुझे किसी प्रकार का पद या अधिकार मिले। जब लोगों का अनुचित दबाव बढ़ने लगा। रिश्ते और सम्बन्धों का दुहाई दी जाने लगी तो उन्होंने एक ठोस जबाब दिया। चाणी से नहीं कार्य से। उन्होंने पटना में सदाकत आश्रम खोला जिसका उद्देश्य था राष्ट्रीय भावनाओं से ओत प्रोत युवक कार्यकर्ता तैयार करना इस आश्रम में हिन्दू और मुसलमान सभी वर्ग के छात्रों को प्रवेश दिया जाता था। धर्म-निष्ठा के साथ-साथ धर्म सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया जाता। इस प्रकार उन्होंने एक तीर से दो शिकार करने का प्रयत्न किया। पहला तो यह कि असांप्रदायिक पीढ़ी का निर्माण और दूसरा प्रलोभन देकर फुसलाने की कोशिश करने वाले नेताओं को अनकहा उत्तर।

सांप्रदायिक-नेता उनकी दृढ़ता को समझ तो गये परन्तु हिम्मत उन्होंने भी नहीं हारी। लेकिन साहस जब दिग्भ्रान्त हो तो ओछे इधकण्डे ही सूझ पड़ते हैं और यही वह सत्य तथा अस्मिता के द्वार्थ पटकनी खा जाता है। एक बार कुछ लोगों ने उन्हें घेर लिया तथा जान से मारने की धमकी दी। आसपास कोई राहगीर भी आता-जाता नहीं था। सर्वथा एकांत और सुनसान रास्ता। धर्मोन्मादी उनसे कह रहे थे या तो वे इस बात का बचन दें कि भविष्य में हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न नहीं करेंगे अथवा मरने से पहले खुद को शान्त करें।

सुनकर पहले तो हँसे मौलाना। गुण्डों को खुले छुरों की गोंक के सामने, साक्षात् मृत्यु को खड़ा जानकर भी मौलाना को हँसते हुए देख आश्चर्य हुआ। जब मौलाना ने कहा कि शौक से चाकू चलाओ, तो उन बदमाशों के कन्धन स्वयमेव ही झीले पड़ गये छुरों पर से। कोई हानि नहीं पहुँचा पाये उन्हें और वहाँ से भाग खड़े हुये। उसके बाद देर तक मौलाना उस दिशा की ओर देखते रहे जिधर कि वे लोग भागे थे। आत्मबल के आगे बड़ी से बड़ी शत्रुता भी परास्त हो जाती है। मौलाना हक ने यह अनुभव किया और इस घटना के बाद वे और भी मनोयोग तथा उत्साह से अपना मिशन पूरा करने में लग गये।

एक बार की घटना है कि सारन जिले में फरीदपुर ग्राम के निकट कुछ मुसलमानों ने बकरीद का प्रोग्राम मनाया। लीगी नेताओं ने उन्हें इस बात के लिए तैयार कर लिया कि वे ईद पर ग़ाय की कुरबानी दें। इससे हिन्दुओं

की धार्मिक भावना पर ठेस लगने का भय था। एक को जब यह पता चलता तो वे अपने आवश्यक कार्य छोड़कर वहाँ गये तथा मुसलमानों को गौवध न करने के लिए समझाया। लेकिन वे लोग नहीं माने इधर मौलाना हक इस बात के लिए कृत संकल्प थे कि गौहत्या नहीं होने देंगे। उन्होंने आमरण अनशन की घोषणा कर दी और तैयारी भी करने लगे। तब जा कर कहीं वहाँ के मुसलमानों ने गौहत्या का विचार त्याग दिया।

इस प्रकार आजीवन हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्न करते हुए मौलाना मजहबुल हक जनवरी, १९३० को परमधाम चले गये। उनकी मृत्यु से हिन्दू मुस्लिम एकता का एक श्लाघनीय साधक उठ गया। उनके देहावसान का समाचार सुनकर लाखों लोगों के साथ महात्मा गाँधी भी रो उठे।

विद्वान् देशभक्त—

श्री श्यामकृष्ण वर्मा

पेरिस विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में एक ओर बहुत सी ऐसी अलमारियाँ पुस्तकों से भरी खड़ी हैं, जिन पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा है श्री श्यामकृष्ण वर्मा।

यह नाम उस भारतीय नररत्न का है जिसे भारतीय क्रांतिकारी आन्दोलन का जनक माना जाता है और जो आजीवन विदेशों में रहकर देश की स्वतंत्रता के लिये कार्य करता रहा। उनके देहावसान के बाद उनकी इच्छा के अनुसार उनकी पत्नी ने वर्मा जी का विशाल पुस्तकालय पेरिस के विश्वविद्यालय को दान कर दिया और उक्त विश्वविद्यालय ने आभारस्वरूप उनकी स्मृति बनाये रखने के लिये उनका नाम अलमारियों पर लिखा दिया।

३१ मार्च, १९३० को जिस समय जिनेवा में उनका देहावसान हुआ उसके एक दिन पूर्व महाप्रभाण का आभास पाकर श्यामकृष्ण वर्मा ने अपनी पत्नी को बुलाकर कहा कि मेरे बाद मेरा पुस्तकालय पेरिस-विश्वविद्यालय को दे देना और मेरे नाम की धनराशि में से अधिकांश भाग शिक्षण-संस्थाओं को दान कर देना। निदान अपने स्वर्गीय पति की सदिच्छा की पूर्ति में श्रीमती वर्मा ने पुस्तकालय पेरिस विश्वविद्यालय को और धनराशि जिनेवा की अनेक शिक्षण संस्थाओं को दान कर स्वर्गीय आत्मा को सन्तोष दिया।

श्रीश्यामकृष्ण वर्मा मूलरूप में एक विद्वान् तथा विद्या प्रेमी व्यक्ति थे। उन्होंने अनेकानेक वर्षों तक परिश्रम करके संस्कृत, अँग्रेजी तथा अन्य अनेक भाषाओं में प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त किया था। उनका विदेशों में संस्कृत भाषा तथा उसके महनीय साहित्य की गरिमा का प्रचार और देश में सामान्य शिक्षा प्रचार द्वारा समान्य सेवा

करने का था। जबई में शिक्षा पूरी करने के बाद, इनके पिता ने चाहा कि लड़का अब अपने व्यावसायिक कार्यक्रमों में रुचि ले। उनके पिता उस समय बम्बई में व्यापार किया करते थे। किन्तु श्यामकृष्ण ने पिता को अपना जीवन ध्येय स्पष्ट बतला दिया। पिता यह जानकर कि उनका लड़का विद्या तथा ज्ञान का उपयोग पैसा कमाने में नहीं बल्कि शिक्षा प्रचार के द्वारा समाज की सेवा करने में करना चाहता है, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और अनुमति देकर वह सिद्ध कर दिया कि वे इन संकीर्ण एवं स्वार्थी पिताओं में से नहीं हैं जो बच्चों को समाज-सेवा के परमार्थ कार्यों से विरत कर केवल धन कमाने की दिशा में हठात् विवश कर दिया करते हैं।

श्रीवर्मा ने संस्कृत का अध्ययन करने के साथ भारतीय शास्त्रों का इतना गहन अध्ययन किया कि उनके मृत्युता से ओत-प्रोत प्रवचनों तथा लेखों ने तत्कालीन विद्वानों का अकण्ठ आकर्षित कर लिया था। उनमें युगपुरुष स्वामी दयानन्द जी भी थे। स्वामी दयानन्द जी वर्मा जी की विद्वता से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उन्हें उसे समय का अप्रतिम विद्वान् निर्धारित कर लिया और जब। तब उन्हें अपने सम्पर्क में लाकर विचारों का आदान-प्रदान करने लगे।

स्वामी दयानन्द जैसे महापुरुष से प्रमाणित होकर श्यामकृष्ण वर्मा विद्वानों के बीच दिन-दिन चमकने लगे। उन्होंने दिनों आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय में एक संस्कृत के प्राध्यापक की आवश्यकता हुई और उसके प्रधान ने भारत में स्वामी दयानन्द को उस सन्दर्भ में सहायता करने को लिखा। यद्यपि उस समय भी भारत में संस्कृत विद्वानों की कमी नहीं थी, तथापि स्वामी जी ने वर्मा जी को ही वहाँ भेजने के लिये उपयुक्त माना।

श्यामकृष्ण वर्मा ने स्वामी दयानन्द जी के अनुरोध को अपने मन्तव्य की दिसा में एक अच्छा अवसर समझा। यह उनकी पहली विदेश यात्रा थी। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय पहुँच कर श्री वर्मा जी केवल अध्यापन तक ही सीमित नहीं रहे। बल्कि उन्होंने वहाँ अध्ययन का क्रम भी चालू रखा। अपने इस अध्ययन क्रम में उन्होंने उक्त विश्वविद्यालय से बी० ए० की सम्मानपूर्ण उपाधि प्राप्त करने के साथ-साथ इंग्लैण्ड की धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों का भी अध्ययन किया और पाया कि अँग्रेजों में देशभक्ति, प्रगतिशीलता, परिश्रम, समय एवं नियम पालन की दृढ़ता आदि के ऐसे अनेक गुण हैं जिनका प्रसार भारतीयों में होना नितान्त आवश्यक है। उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे जल्दी ही अपना प्रवास-पूरा करके देश जायेंगे और शिक्षा प्रसार के साथ-साथ अपने बड़े अनुभवों का भी प्रचार करेंगे।

लन्दन-प्रवास में वर्मा जी अन्य अनेक विद्वानों के साथ श्री मैक्समूलर नामक विद्वान् के सम्पर्क में भी आये।

उन्होंने इन विद्वान् महानुभाव में भारतीय धर्म के प्रति एक जिज्ञासा देखी पर साथ ही यह भी पता कि वे भारतीय-धर्म तथा दर्शन के प्रति अधिक स्पष्ट तथा निस्सन्देह नहीं हैं। इसका कारण भी उन्होंने खोज निकाला वह था-मैक्समूलर का भारतीय धर्म-शास्त्रों का अत्यन्त आकार संस्कृत न होकर विदेशी भाषाओं तथा व्याख्याओं में, जो किसी प्रकार भी प्रायोगिक तथा असंदिग्ध नहीं मानी जा सकती थी।

श्री वर्मा जी ने श्री मैक्समूलर को इस कमी को दूर करने का विचार किया क्योंकि इस दशा में हो सकता था कि उक्त जिज्ञासु विद्वान् पथ भ्रान्त हो जाते और भारतीय धर्म-शास्त्रों का विरोधी आलोचक बन जाता। ऐसी दशा में भारतीय धर्म की महिमा को तो हानि होती ही साथ ही उन जिज्ञासु का भी कल्याण न होता।

विद्वान् श्यामकृष्ण वर्मा ने मैक्समूलर से सम्पर्क बढ़ाया। संस्कृत में उनकी रुचि उत्पन्न की, पढ़ाया भी और वैदिक धर्म पर प्रकाश भी डाला। जिसका फल यह हुआ कि उनकी जिज्ञासा ठीक दिशा पकड़ इतनी तीव्रता से फलीभूत हुई कि मैक्समूलर विशुद्ध रूप से वैदिक धर्म के प्रशंसक, संस्कृत के विद्वान् और वेदों के अन्वेषक बन गये। वेदों पर मैक्समूलर की जो संसार में सबसे अधिक प्रायोगिक मानी जाती हैं। वेदों पर श्रीमैक्समूलर का काम देख कर बहुत से विद्वान् तो उन्हें वेदों का उद्धारक कहने तक में अलिप्तयुक्ति नहीं मानते। यदि ऐसा मान भी लिया जाये तो भी परोध रूप से श्यामकृष्ण वर्मा को ही उसका श्रेय दिया जायेगा। श्रीवर्मा की प्रेरणा से मैक्समूलर ने जो वैदिक ज्ञान पाया उसका उन्होंने इंग्लैण्ड में खूब प्रचार किया जिससे विदेशों में भारतीय धर्म की महिमा स्थापित हो गई।

श्यामकृष्ण वर्मा अपना प्रवास पूरा कर जब देश लौटे उस समय उन्होंने अनुभव किया कि उनके पास उतने पैसे की कमी है, जो अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये चाहिए। परिवार से पैसा लेना उन्हें उचित न लगा। अतएव कुछ दिनों के लिये वे बकालत के क्षेत्र में उतर गये। बम्बई हाइकोर्ट के बाद कुछ समय तक वे अजमेर में बकालत करते रहे। उसके बाद उन्होंने रातलग्न तथा अनेक अन्य देशी दिवासतों में दीवान तथा प्रहसन के अनेक ठेके पदों पर काम किया और जब देखा कि मत्स्यधर धर का पैसा हो गया तब सारे काम छोड़ कर लोक-हितकारी कार्यों के लिये इंग्लैण्ड चल पड़े।

भारतीय स्वाधीनता तथा राजनीतिक सुधारों के लिये उन्होंने प्रयत्न एवं आन्दोलन आरम्भ किया तो इंग्लैण्ड के प्रतिगामी तथा भारत विरोधी हलकों ने उन्हें हतोत्साह करने का प्रयत्न किया और उन्हें पराधीन देश का नागरिक कह-कह कर अपमानित किया। स्वान-स्वतन्त्र पर इस अपमान की पुनरावृत्ति इतनी बार हुई कि श्यामकृष्ण वर्मा को अपने उद्देश्य पर एक बार फिर विचार करना पड़ा। वे दिनों, सप्ताहों तथा महीनों सोचते और मनन करते रहे

और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पराधीन देश की शिक्षा, बुद्धि, बल, नैतिकता तथा धर्म की संसार में मान्यता नहीं मिल सकती और न वह अपने कल्याण के किन्हीं कार्यक्रमों को स्वतन्त्रतापूर्वक चला सकता है। देश की पराधीनता एक भयानक अभिशाप है और जब तक इसको दूर नहीं किया जायेगा, उत्थान अथवा कल्याण का स्वप्न देखना स्वप्न ही रह जायेगा। उन्होंने अपने पूर्व-निश्चित मन्तव्य को हृदय के निभृत कोप में निहित कर लिया और देश की स्वाधीनता के प्रयत्नों में लग गये।

इस दिशा में सबसे पहला काम उन्होंने यह किया कि लन्दन में इण्डिया हाउस नाम से एक विशाल छात्रावास स्थापित किया। इसके पीछे उनका उद्देश्य था कि लन्दन के वरुण भारतीय छात्र एक स्थान पर साथ-साथ रह सकें, जिससे कि उनमें संगठन हो सके और भारतीयता का पूर्ण आत्मभरण बना रह सके। वे एक साथ बैठकर देश की स्वाधीनता पर विचार कर सकें और उसके लिये यदि कुछ करना चाहें तो सम्मिलित रूप से कर सकें।

'इण्डिया हाउस' के पुरा होते ही लन्दन के सारे भारतीय छात्र उसमें आकर रहने लगे। वर्मा उनके बीच आते और उनमें देश-भक्ति तथा स्वतन्त्रता संघर्ष की भावनाएँ भरते। उनके सम्मुख कार्यक्रम तथा योजनाएँ रखते। श्री वर्मा की प्रेरणा से भारतीय छात्रों में ज्वलन्त देश-भक्ति का जागरण हो उठा और सब के सब संघर्ष में कुद पड़ने के लिये उत्साहले हो उठे। वर्मा ने अपनी कोई योजना चलाने से पूर्व लन्दन प्रकाश को आगे धादा भाई नौरोजी तथा कंग्रेस के सम्पादक श्री ह्यूम साहब से सम्पर्क स्थापित किया और उनके विचार जामे। श्री वर्मा ने पाया कि इन लोगों की योजनाएँ बड़ी ही मन्द तथा सपणीतवादी हैं। श्री वर्मा का विचार था कि देश की स्वतन्त्रता शक्तिपूर्ण ढंग से सम्भव नहीं। उसके लिये राष्ट्र क्रांति की आवश्यकता है। संसार का कोई भी देश प्रबल शक्ति-क्रान्ति के बिना स्वतन्त्र नहीं हुआ है और न अभिमान अंग्रेज सरकार शांत प्रयत्नों द्वारा देश छोड़ने को तैयार होगी।

मनुष्य को अपने विचारों में बड़ा विश्वास होता है। श्री वर्मा साहब को भी अपने विचारों में अखण्ड विश्वास था-उसका एक कारण यह भी था कि उस समय तक सारे देश राष्ट्र-क्रान्ति के आधार पर ही स्वतंत्र हुये थे। शक्तिपूर्ण आन्दोलन द्वारा भी यह सम्भव हो सकता है उस समय इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। शांत-प्रयत्नों का यह प्रयोग क्या तथा पहला था। वह बात दूसरी है कि आज उसकी शक्ति की प्रायोगिकता सिद्ध हो गई है और संसार किसी उद्देश्य के लिए आतंक के इमान पर शक्ति का मार्ग अधिक उपयुक्त समझने लगा है।

दादा भाई नौरोजी तथा ह्यूम साहब के विचारों से निराश होकर श्री वर्मा ने भारतीय छात्रों में क्रांतिकारी प्यनाएँ भरने तथा सशक्त क्रांति की तैयारी करने की प्रेरणा देना शुरू कर दिया। साथ ही उन्होंने छात्रों को

२.७३ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

अधिकाधिक आकर्षित करने के लिये, स्वामी दयानन्द, फाबर्ट स्पेनर, छत्रपति शिवाजी तथा महाराणा प्रताप के नाम पर चार छात्र-वृत्तियों की योजना भी चलाई। छात्रावास में रहने तथा छात्र-वृत्ति पाने वाले विद्यार्थियों को एक प्रतिज्ञा करनी होती थी- वह वह कि वे पढ़ लिख कर अंग्रेजों की नौकरी नहीं करेंगे और अजीबान देश की स्वाधीनता के लिये अपनी योग्यता तथा शक्ति का प्रयोग करते रहेंगे।

श्री वर्मा ने लन्दन में 'भारतीय होम सींग' की स्थापना की और 'इण्डियन गॉशियस्ताविस्ट' नाम की एक पत्रिका निकालना शुरू कर दिया। साथ ही वे प्रति वर्ष १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम की चरन्ती भी मनाते लगे। किन्तु जब उनका पत्र अधिक आग उगलने लगा तब इंग्लैण्ड सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करने की योजना बनाई। श्रीवर्मा ने अपना कार्यक्षेत्र बदल दिया। वे लन्दन से पेरिस चले गये और वहाँ से अपनी क्रान्तिकारी पत्रिका निकाल कर क्रान्ति की ज्वाला को हवा देने लगे। इसी समय क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए वीर सावरकर पर चारण्ट जारी हुआ। वे भी फ्रांस चले आये किन्तु फ्रांस सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर इंग्लैण्ड की सरकार को दे दिया। वर्मा ने फ्रांस सरकार के इस कार्य को उचित न समझा और उसकी आलोचना करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में सावरकर की गिरफ्तारी को चुनौती दी।

इस प्रकार फ्रांस से विरोध हो जाने पर वर्मा ने स्विट्जरलैण्ड में रहकर अपनी योजना आगे बढ़ाने का विचार बनाया। किन्तु तभी अत्यधिक काम का दबाव अस्थिरता से उनका स्वास्थ्य इतना खराब हो गया कि वे स्विट्जरलैण्ड न जा सके और ११ मार्च, १९३० में जिनेवा में उनका देहावसान हो गया। इन क्रान्ति के महान् उद्गामक श्री इयामकुब्ज वर्मा का जन्म, १८५७ में कच्छ के निकट मांडवी नामक नगर में हुआ था। आज देश स्वतंत्र हो गया है और इस स्वतन्त्रता में वर्मा का कितना योगदान है इसकी ठीक-ठीक नहीं आँका जा सकता, किन्तु देश की स्वाधीनता के लिए किये गये उनके प्रयत्न तथा आत्मोत्सर्ग निःसन्देह बहुमूल्य तथा महत्वपूर्ण हैं जिसके लिये वे स्वतन्त्र भारत के सदा-सर्वदा जट्ट-पात्र बने रहेंगे।

जो अनीति से जूझ पड़ा-

अमर सिंह महतो परिवार

रतनसिंह दुनियाँ की निगाह में भले ही चरखारी का राजा था किन्तु अमरसिंह महतो की आँखों में उसका मोल फूटी कौड़ी के बराबर भी नहीं था। अनीति के हथियारों से सफलता भले ही उसे मिली हो किन्तु उसके कुकर्मों को कोई भूल न था। अधिकांश लोग बिगाड़ के भय से ऐसे कुकर्मों का तिरस्कार नहीं कर पाते चाहे मन में उसके प्रति कितनी ही घृणा क्यों न हो। अमरसिंह

महतो उन लोगों में से नहीं थे, १८५७ में स्वतन्त्रता संग्राम हुआ। हमीरपुर जिले में महाराज परीक्षित उसमें जी जान से कूद पड़े थे। इस देशद्रोही रतनसिंह ने अपने चाचा परीक्षित के साथ विश्वासघात किया। अपने देश, देशवासियों तथा सगे भावा के साथ विश्वासघात करने वाले स्वार्थी व्यक्ति को वे पशु ही मानते थे। अंग्रेजों को खुश करने के लिये उसने अपने चाचा के सेनापति के सीने में कीलें चुकवा दीं। महाराज परीक्षित के समर्थकों को कड़ा दण्ड दिया।

अमरसिंह महतो हमीरपुर जिले के गोर्हाड़ गाँव के छाते-पीते किसान थे। किसान क्या जमींदार ही कहना चाहिए। उनके पास ७०० बीघे जमीन थी। वे अपने छोड़े पर बैठकर कहीं आ रहे थे। राह में रतनसिंह को सवारी मिली। रतनसिंह को देखते ही उन्हें उसके दुष्कर्म चित्रपट की तरह उनके अन्तःपटल पर उभर आये। राजा परीक्षित के सेनापति वीरवार को गव धर छाती पर चुकती कीलें और उन्हें देखकर हैसत हुआ निर्दयी रतनसिंह साकार हो उठे। रतनसिंह का यह क्रूर अट्टहास उनके कानों में गूँजने लगा। किस बेशर्मी के साथ उसने कहा था- "देखा रणवीर तुमने अंग्रेज बहादुर की हुकूमत के खिलाफ बगावत करने में राजा परीक्षित की सहायता की उसका अंजाम। चला लिया उसका स्वाद।" देश प्रेम के रंग में रंगे इस रणवीर ने घुण से रतनसिंह की ओर धूक दिया। इस पर रतनसिंह और भी गरम हो उठा तथा उसके साथ मनमाना दुर्व्यवहार किया। यों ही अमरसिंह ने स्वभाव से विमल थे किन्तु उन्हें रतनसिंह को दिखाना था कि इस प्रकार के व्यक्ति सम्मान पाने के लायक नहीं होते। अमरसिंह ने तो उसे मनस्कार नहीं किया न छोड़े से ही उतरे खरू उपेक्षापूर्वक उसके हाथी से आगे निकल गये। रतनसिंह उनके इस व्यवहार से जल-धुन गया। उसने अपने सैनिकों को एक बेल में गोर्हाड़ ग्राम पर चढ़ाई करके लूट लेने का आदेश दिया। वे लोग गाँव पर चढ़ आये।

अमरसिंह को पहले से ही इसकी आशंका थी। उन्होंने पूरी तैयारी कर रखी थी। रतनसिंह के सैनिक अपने साथ तोपें लाये थे। गाँव वालों के पास तोपें नहीं थीं। महतो जानते थे कि सड़ाई में न तोपों का महत्व है न छोड़ों का। जी जान से लड़ने वाला, बुद्धि बल साथ रखने वाला दल जीतता है। हमली के पेट काटकर उन्होंने तोपें बनवा रखी थीं। वे उतना न सही आधा काम तो देंगी ही। वह उनका विश्वास था। यदि हार भी गये तो यह भी जीत ही होगी। सत्य के लिये आदर्श के लिये लड़ने में एक व्यक्ति हार भी चाय तो कोई बात नहीं दूसरे के लिये राह तो बनती है।

लकड़ी की तोपों का आकार व गोलों की मार ने रतनसिंह के सैनिकों के छक्के छुड़ा दिये। वे भागने ही चले थे कि गाँव का एक व्यक्ति जो अमरसिंह से जलता था, वह उनसे जा मिलता। तोपों का भेद खुलते ही उनका

साहस लौट आया। अधिक संख्या में होने तथा सस्त्रों से लैस होने के कारण वे जीत गये। उन्होंने गाँव को लूटा, अमरसिंह महतो को पकड़कर ले गये तथा चरखारी की जेल में बन्द कर दिया।

शेर का बच्चा शेर ही होता है। अमरसिंह का पुत्र गणेश आयु में छोटा होते हुए भी सहस्र तथा मनीषि से जूझने में कम नहीं था। वह पिता को चुड़ाने तथा रतनसिंह को उसके किये का परिणाम भुगताने के लिये तैयार रहा था।

भाद्रपद माह में महतो को बन्दी बनाया गया था। आरिष्य में पितृ अमावस्या के दिन अमरसिंह यह पर्व मना लेने के बाद ही अन्न जल ग्रहण करते थे। इस आयोजन के लिये उनकी पत्नी को चरखारी जाना पड़ा। वहाँ उसने अपने पति की जो दस्त देखी तो उसे रोना आ गया। घर आकर उसने उनकी दस्त गणेश को बताई। अब गणेश चुप कैसे रह सकता था। छोटा हुआ तो क्या हुआ। उसने प्रतिज्ञा की-पिताजी को चुड़ाने बिना तथा अन्यायी रतनसिंह को दण्ड देने बिना मैं घर की देखरी पर कदम नहीं रखूँगा।"

गणेश चल पड़ा। अपने साथ उसने अपना छोड़ा तथा कुछ धन लिया। सीधा वह स्वतन्त्र संग्राम सेनाधी तौत्या टोपे के पास पहुँचा। उसने तौत्या टोपे को सारी कत बताई। रतनसिंह को दण्ड देने की प्रार्थना की। गणेश ने कहा-इसके लिये मुझे अपनी जमीन, घर, धन, जीवन सब कुछ न्योछावर क्यों न करना पड़े कहेगा। आप मेरी सहायता कीजिये।

तौत्या टोपे गणेश के साथ गोहाड़ आये। गाँव तथा आसपास के गाँवों की जकत में रतनसिंह जैसे स्वर्णी शायी तथा अँग्रेजों के प्रति तीव्र प्रजा थी। तौत्या टोपे ने इन्हीं गाँववासियों की सेना तैयार की। उन्हें प्रशिक्षित किया। बारह गाँव के नवयुवक इस सेना में आ जुटे। लोगों के मन में अन्याय, अत्याचार से जूझने का उत्साह तो होता है किन्तु पहला कदम उठाने में सभी हिचकिचाते हैं। किसी एक ने आगे कदम रखा तो फिर सब चल पड़ते हैं। यही यहाँ हुआ। देखते ही अच्छी खासी सेना तैयार हो गई।

१४ जनवरी, १८५८ के दिन इस बड़े ही समय में प्रशिक्षित सेना ने गणेश महतो के नेतृत्व में चरखारी को आ घेरा। यह सैनिक जो खेतों में हल चलाते चलाते आये थे जिन्हें युद्ध का तथा मोर्चेबन्दी का कोई अनुभव नहीं था। चरखारी राज्य के बैतन भोगी प्रशिक्षित सैनिकों पर भारी पड़ने लगे।

जन सहयोग का अनुपम उदाहरण इस घेरे में प्रस्तुत हुआ। इस तथ्य को इन अँग्रेजों ने भी स्वीकार किया जो यह कहते थे कि भारतीयों की आजादी पाने के लक्ष्य नहीं हुए। समय पर रसद पहुँचाने में गाँव वाले मुसीबत थे। घर वालों ने यह समझ लिया था कि हमारे घर का एक आदमी खेत पर नहीं जाकर समय की पुकार पर इस सड़ाई में गया है।

रतनसिंह को लेने के देने पड़ गये। उसने अँग्रेजों से सहायता माँगी। अँग्रेज स्वयं फँसे हुए थे। उन्होंने मना कर दिया। दो महीने तक बेताबन्दी रही। रतनसिंह को घुटने टेकने पड़े। चरखारी पर क्रान्तिकारी सेना का अधिकार हो गया। अमरसिंह महतो स्वतन्त्र किये गये। तौत्या टोपे को चरखारी कोष से तीन लाख रुपये तथा १४ तोपें भेंट की गई।

कुछ दिनों चरखारी पर अमरसिंह महतो का अधिकार रहा। तौत्या टोपे लौट चुके थे। रतनसिंह अँग्रेजों के पास पहुँचा। अँग्रेजों की सहायता से उसने चरखारी पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया।

अदालतों के लिये जीवन अर्पित करने वाले अमरसिंह तथा गणेश महतो इस पराजय से निराश नहीं हुए। अपना सर्वस्व वे दौध पर लगा चुके थे। वे कुछ दिनों गुप्त रहे। समय देखकर तौत्या टोपे से आ मिले। पीछे से उनकी जमीन अवदाद सब अँग्रेजों ने जब्त करके नीलाम कर दी। उन्हें उस क्षेत्र के लोगों के हृदयों में कितना ऊँचा स्थान मिला इसका सहज अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उनके मकान की जिस व्यक्ति ने छरीदा वह लोगों की भर्त्सना के कारण उसका उपभोग तक न कर सका।

वे दोनों पिता पुत्र तौत्या टोपे के दो हाथ बनकर रहे। नवम्बर, १८५८ को महारानी विक्टोरिया के राज्य की घोषणा होने से ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य समाप्त हो गया। अमरसिंह तथा गणेश अपने गाँव लौट आये। पहले उनके पास घोषणा की-धन था किन्तु अब उससे भी बड़ी वस्तु उनके पास थी। आस-पास के गाँवों में इनका बड़ा आदर सम्मान होता था। धन का मूल्य तो होता है पर वह केवल साधन के रूप में। वे पिता, पुत्र भी उसे इतना ही महत्व देते थे। भगवान ने दो-दो हाथ दोनों को दिये हैं। इनके रहते धन धन का अभाव क्या छटकेगा? १८५९ में अमरसिंह महतो का देहावसान हो गया।

गणेश महतो काफी दिनों तक जीवित रहे। उनका विवाह बचपन में ही हो गया था। अपने परिवार को आदर्श डंग से चलाते रहे। अपने जन्मों को भी वे यही शिक्षा देते रहे-"बेटा। मनुष्य को धन-दौलत और औहदे से मत लौटना। मनुष्य को तपने का गज है उसका चरित्र और उसके अद्विचार। वह मनुष्य योगि ही सबसे बड़ी सम्पदा है। इसे सार्वक करना चाहिए।"

मनुष्य का आदर उसके सदगुणों से ही धन-वैभव से नहीं। धन-वैभव से यदि उसका भूल्यंकन होने लग जाए तो संपन्न में अक्यवस्था फैल जायगी। इस मान्यता के मानने वाले गणेश महतो ने अपने शेष जीवन को इसी ध्येय के लिए समर्पित कर दिया कि समाज में ऐसी जायति भरी जाय जिससे व्यक्ति सत्कार्यों का अभिनन्दन करना सीखे तथा दुष्कर्म करने वालों को प्रताड़ित किया जाय ताकि कोई भी व्यक्ति दुष्कर्म करने का दुस्साहस न कर सके।

उनका विवाह पहले ही हो चुका था। बच्चे अँग्रेजों का पालन-पोषण करने के साधन जुटाने के बाद

२.७५ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

बचा हुआ समय वे इसी कार्य में लगाते थे। उनके इन प्रयासों का शुभ परिणाम यह हुआ कि उस क्षेत्र में अन्याय करने वालों का प्रतिकार करने की एक सामाजिक चेतना का उदय हुआ। सच है अनीति-अन्याय तभी तक फलता-फूलता है जब तक उसकी प्रताड़ना करने के लिये जनमानस की संगठित नहीं किया जाता। यदि गणेश महतो जैसे व्यक्ति इस प्रकार की चेतना जगाने के लिये निकल पड़े तो वह सहज हो जाय।

महतो परिवार का यह उत्सर्ग व्यर्थ नहीं गया। अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाना ही पड़ा। रतनसिंह ने जिस स्वार्थ के बशीभूत हो अनीति का मार्ग पकड़ा वह स्वार्थ का साधन राज्य भी स्थायी न रहा उल्टे उसे करोड़ों देशवासियों की घृणा का पात्र बनना पड़ा। वह राज्य और सम्पदा पुनः देश की सम्पदा ही रही। अमरसिंह और गणेश महतो अपने इस सुकृत्य के द्वारा करोड़ों देशवासियों के क्रोधा के पात्र ही नहीं बने वरन् आने वाली पीढ़ियों के प्रेरणाश्रोत भी बने।

शोषण के विरुद्ध बगावत करने वाले— मौलवी अहमदुल्ला

सादिकपुर के मौलवी परिवार को अंग्रेज अपना शत्रु समझते थे। वह उसे सदैव नीचा दिखाने का प्रयत्न करते रहते थे। पर यह परिवार अपनी सम्पन्नता ही नहीं वरन् विद्वता के कारण सम्पूर्ण भारत के मुसलमानों की दृष्टि में सम्मान का स्थान प्राप्त किये हुए था। हजारों मुसलमान इस परिवार के शिष्य थे। इस परिवार के प्रमुख थे—मौलवी अहमदुल्ला।

सीमा प्रान्त की पहाड़ियों में हिन्दुस्तानी मुसलमानों की छावनी कार्यरत थी जो अंग्रेजों को सदैव नाकों बने चबवाती रहती थी और इस छावनी का सम्भालन करते थे मौलवी अहमदुल्ला। यह मौलवी १८४५ से १८७२ तक निरन्तर ब्रिटिश सरकार से लोहा लेने वाले आन्दोलन का नेतृत्व करते रहे। इस आन्दोलन को अंग्रेज इत्फासकारों ने 'बहावी आन्दोलन' का नाम दिया है। बाद में इसका रूप जमायत-उल-उलेमा तथा सीमा प्रान्त के खुदाई-खिदमतगार आन्दोलन के नाम से लोकप्रिय हो गया।

ब्रिटिश सरकार इस मौलवी परिवार के प्रत्येक सदस्य पर कड़ी दृष्टि रखती थी और शंका की दृष्टि से देखती थी। पर उसको प्रति जन साधारण की क्रोधा को देखकर ब्रिटिश सरकार को कुछ भी करने का सहस्र न होता था। १८५२ में मौलवी साहब के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए कुछ आधार मिल गया।

रावलपिण्डी छावनी के मुंशी का नाम था मुहम्मदवली। पुलिस के हाथ में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण पत्र आ गये जिनसे विदित होता था कि मौलवी साहब सतियाना ग्राम की विद्रोही छावनी को हथियार, रुपया

और आदमी भेजकर सहायता करते रहते हैं। यह पत्र मुहम्मदवली के नाम लिखे गये थे।

मुंशी मुहम्मदवली तथा उनके अन्य साथियों को दण्डित करके उस प्रकरण को समाप्त किया गया। सन् १८५७ में जब पटना का वातावरण भी उत्तेजित हो उठा तो तत्कालीन कमिश्नर टेलर ने उन्हें बन्दी बनाने का विचार किया। घर पर जाकर गिरफ्तार करना पुलिस के बस की बात न थी। अतः छल द्वारा उन्हें पकड़ने की बात तय की गई।

१९ जून, १८५७ को कमिश्नर ने मौलवी साहब तथा उनके साथियों को अपने घर बुलाने का निमन्त्रण भेजा गया। सन्देश बाहक ने सूचना दी कि कमिश्नर साहब नगर में शान्ति रखने के उपायों पर चर्चा करना चाहते हैं। योजना पूर्व आयोजित थी अतः उन्हें कमिश्नर साहब के घर पर ही गिरफ्तार कर लिया गया।

अपने प्रिय देशभक्त नेता को गिरफ्तारी पटना की जनता सहन न कर सकी। ३ जुलाई, १८५७ को वह क्रान्तिकारी दिवस जब मुगल सम्राट का हरा झण्डा लेकर वहाँ के जन समूह ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। एक सिख रेजीमेंट भेजकर भीड़ को तितर-बितर करने के आदेश दिए। जनसमूह ने डटकर मुकाबला किया।

३० व्यक्तियों को उस भीड़ में से गिरफ्तार किया गया। मुकदमें चलाये गये और ८ व्यक्तियों को फाँसी की सजा दी गई। उस समय भोड़ का नेतृत्व पीर अली कर रहे थे। जब वह फाँसी के तख्ते पर चढ़ने लगे तो उन्होंने कहा बहुत शीघ्र ही वह समय आने वाला है जब अंग्रेज इस देश से भगा दिये जायेंगे।

मौलवी अहमदुल्ला बहुत समय तक नजर बन्द रहे। उनसे किसी को मिलने न दिया जाता था। वह सभी जेल से मुक्त हो गये जब कमिश्नर टेलर की सेवायें समाप्त की गईं। सन् १८५७ की ज्वाला बुझाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने लाखों भारतीयों का खून बहाया। सीमाप्रान्त विद्रोही छावनी की गतिविधियों में कोई अन्तर नहीं आया बल्कि उस समय क्रान्ति में भाग लेने वाले अनेक विद्रोही देशभक्तों के लिए वह छावनी आश्रय स्थल बन गई थी। अनेक विद्रोहियों ने अंग्रेजों की चौकियों तथा छावनियों को खफ करने में सफलता प्राप्त की।

सरकारी गुप्तचर विद्रोही छावनियों का भेद प्राप्त करने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहते थे। मई, १८६२ में पुलिस इन्स्पेक्टर गण्जन खाँ ने करनाल में चार बंगाली मुसलमानों को गिरफ्तार कर लिया, जिनके पास कुछ स्वर्ण मुद्रायें तथा कागजात थे जिनसे सिद्ध हो रहा था कि सीमाप्रान्त की चारों विद्रोही छावनियों के लिये भेजे गये हैं। वह पत्र सांकेतिक भाषा में लिखे गये थे फिर भी पढ़ लिये गये। गण्जन खाँ ने अपने उच्च अधिकारियों को प्रसन्न करने के लिए अपने पुत्र को भी उन बंगाली मुसलमानों के साथ भेजकर सारी गतिविधियों का रहस्य जान सिद्ध।

सम्पूर्ण भारत में तलाशियाँ तथा गिरफ्तारियाँ की गईं। मौलवी साहब के छोटे भाई याहिया अली को केस का मुख्य अभियुक्त माना गया। उन्हें फाँसी की सजा दी गई। हाई कोर्ट में अपील करने पर फाँसी का दण्ड आजीवन कारावास में बदल दिया गया। सरकार तो पूरे परिवार को तबाह करना चाहती थी, याहिया अली के साथ उनके ही परिवार के अनदुरहीम तथा इलाही बच्चा को भी लम्बी सजायें दी गईं और उनकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गई।

मौलवी अहमदुल्ला भी मौका देख रहे थे। पटना में दमन नीति का उन्होंने कोई उत्तर न दिया। पर ३ सितम्बर, १८६३ को मौलवी साहब के नेतृत्व में छावनी के विद्रोहियों ने दोषी स्थित ब्रिटिश चौकी पर हमला कर दिया। सीमाप्रान्त के सभी बड़ाई क्षेत्रों द्वारा मौलवी साहब को सहायता मिल गई सरकारी खजाने से करोड़ों रुपये छर्च हो गये, पर शान्ति को स्थापना फिर भी न हो सकी।

सरकार ने अब प्रलोभन देकर पठान कबीलों को अपनी ओर मिलाया था। इसके लिए एक-एक व्यक्ति को कई हजार रुपये देकर अपनी ओर मिलाया। तब कहीं स्थिति पर काबू किया जा सका।

सीमाप्रान्त का यह युद्ध अंग्रेजों को बहुत महँगा पड़ा। उन्होंने १८६५ में मौलवी को गिरफ्तार कर लिया। अब सरकार तोड़-फोड़ करके अपने पक्ष को प्रबल करना चाहती थी उसने मौलवी अहमदुल्ला के मुख्तार इलाही बच्चा को रिहाई का प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया और सरकारी गवाह बनाया। इलाही बच्चा को मौलवी याहिया अली के साथ सजा दी गई थी।

सरकार ने अपने गवाहों को डटे रहने के लिए बड़ी-बड़ी रकम दी। मौलवी साहब पर अनेक आरोप लगाये गये। सरकार यह सिद्ध करना चाहती थी कि उसके विरुद्ध युद्ध की योजनायें बनाई गई हैं, जन साधारण को युद्ध के लिए भड़काया गया है। सीमाप्रान्त की विरोधी छावनियों को धन, जन और शस्त्रों से सहायता दी गई। कई-कई आरोप एक साथ लगाये गये। जब न्यायधीन उनके हाथ की कठपुतली थी तो देशभक्तों के साथ कभी न्याय हो सकेगा, यह सोचना ही व्यर्थ था। मौलवी साहब को फाँसी की सजा सुन दी गई। बहुत दौड़-धूप करने पर इतनी ही रियायत उनके साथ की गई कि उनके मृत्यु-दण्ड को आजीवन कारावास में बदल दिया गया।

सारी अचल सम्पत्ति जब्त कर ली गई। चल सम्पत्ति को नीलाम किया गया। पुस्तकों का विशाल संग्रह गूँट किया गया और उन्हें जिन्दगी के दिन काटने के लिये अंडमान भेज दिया गया। अंडमान की जेल में भी वह यही प्रयत्न करते रहते थे कि किसी प्रकार सीमाप्रान्त की छावनियों को मजबूत बनाया जा सके।

पुलिस ने खोज-खोज कर उन व्यक्तियों को गिरफ्तार करना शुरू कर दिया जिसका थोड़ा भी परिचय मौलवी साहब से था। लार्ड मेयो जो उस समय भारत के गवर्नर

थे उन्होंने एक और चाल चली। देश के प्रमुख मुसलमान नेताओं को अपनी ओर मिलाकर ऐसे भाषण दिलावाये जो ब्रिटिश शासन की वफादारी प्रकट करते थे। मौलवी साहब भला यह क्यों सहन करते उन्होंने शेरअली नामक एक पठान से ८ फरवरी, १८७२ को लार्ड मेयो के अण्डमान आने पर उनकी हत्या करा दी। लार्ड मेयो जब मोटर चोट में चढ़ रहे थे गार डाले गये।

भारत को ब्रिटिश शासन से मुक्त कराने में जिन जिन देशभक्तों ने अपनी सम्पत्ति, परिवार और प्राणों की आहुति दी उनमें से मौलवी अहमदुल्ला भी एक हैं। उनकी महत्वपूर्ण सेवाओं को देश कभी भी न भूल सकेगा।

मनरवी आइजन हावर

अमेरिका के धृतरूप राष्ट्रपति ड्वाइट डी० आइजन हावर वस्तुतः एक योद्धा थे। उनके जीवन का अधिकांश समय सेना का अंग बनकर व्यतीत हुआ था। कठिनाइयों से घुलने में उन्हें मजा आता था। सैन्य क्षेत्र धैर्यपूर्वक और दूरदर्शिता के साथ हल करते थे। बबरगढ़ और उतावली कभी किसी ने उनके चेहरे पर नहीं देखी। गुत्थी जितनी ही पेचीदा होती थी उसने ही अधिक सतर्क और गम्भीर देखे जाते। बड़े सिकार पर हमला करने से पूर्व सिंह जिस तरह अपने शरीर और मन को एकाग्र करके पैनी ठछाल की तैयारी करता है उसी तरह वे बड़ी समस्याओं से निपटने के लिए अपना माय मनोयोग एकत्रित करते थे।

२४ सितम्बर, १९५५ को उन्हें भयंकर दौरा पड़ा था। डाक्टरों ने कई वर्ष तक पूर्ण विश्राम करने की सलाह दी थी। पर वे थोड़ा सुधार होते ही फरवरी, १९५६ में होने वाले राष्ट्रपति चुनाव के लिए छड़े हो गये। कुछ दिन बाद इलिटिस रोग का आक्रमण हुआ और फलतः दूसरे ही दिन एक बहुत बड़ा अंगप्रेसन हुआ। दो महीने बाद ही वे सैनफ्रांसिस्को में हुए रिपब्लिकन नेशनल अधिवेशन के मंच पर प्रमुख बक्ता के रूप में बोलते और राष्ट्रपति पद के लिए मनोनीत होते पाये गये।

जो डाक्टर उन्हें मरणास्तक एवं जीवित मृतक कहते थे उन्होंने कुछ दिन बाद घोषित किया कि भयंकर बीमारियों को परास्त करके अब राष्ट्रपति पूर्ण स्वस्थ हो गये हैं। विज्ञप्ति के दो सप्ताह बाद ही एक समारोह में ठण्ड लग जाने से वे बीमार पड़े और डाक्टरों ने उन्हें कई मास बिस्तर में पड़े रहने योग्य बताया किन्तु दो सप्ताह बाद जब वे नौरी सम्मेलन में भाग लेने पेरिस जा पहुँचे तो लोग सोचने लगे उनकी बीमारी कहीं मजाक तो नहीं।

७० वर्ष की आयु में जबकि उनके कार्य काल का अन्तिम वर्ष था तब वे योरोप, अफ्रीका, एशिया के अनेकों महत्वपूर्ण सम्मेलनों में बकाने वाली लम्बी यात्रा पर जाते रहे और नौजवानों जैसे उत्साह के साथ गुत्थियों को सुलझाने में ऐड़ी-चोटी का पसीना एक करते रहे।

आइजनहावर किस मिट्टी के बने हैं। इसका विश्लेषण करने वाले ने बताया था कि वैतुक साहसिकता, कठोर

२.७७ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

अनुशासन, दृढ़ निश्चय, मर मिटने की जीभट, धैर्य, अनुशासन, दृढ़ विवेक का मिश्रण, बीमारियों, कठिनाइयों और हँसी-खुशी के हलके फुलकेपन की धातुओं को मिला जुलाकर विधाता ने उन्हें गढ़ा है।

हृदय रोग के बार-बार होने वाले दौरों उन्हें तनिक भी विचलित न कर सके, वरन् जिन्दगी की हिफाजत के लिए प्रयुक्त होने वाले अनेक सतर्क समाधान अपनाने के लिए शिक्षा देने वाले अध्यापक बनकर रह गये। जखनी में पूरे पियकड़ और घेन स्मोकर थे। सिगरेट उनके होठों से छूटती न थी, पर जब उन्होंने जाना कि इससे उन्हें खतरा है तो एक बार ही जिन्दगी भर की संग्रहीत आदत को तिनके की तरह तोड़ कर फेंक दिया और फिर उन्होंने मुँह से नहीं लगाया। बार-बार उत्तेजित होने की उन्हें आदत थी, पर दिल के दौरों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ना, यह समझने के बाद ठने अपनी आदत चकायक सन्तों जैसी बना ली। उनका शरीर भारी था, पर जब इसकी अनुपयोगिता समझ ली तो नये-तुले आकार पर इस कदर दुःख हो गये कि भार फिर बढ़ा कभी नहीं, घटता ही गया।

कामों का अत्यधिक दबाव और उलझनों का अम्बार लगा रहने पर भी वे पूरे आठ घंटा सोने के अभ्यस्त रहे। गोलूक खेलना सम्भव न हो सका तो उसके देखने के लिए पहुँचते रहे। दवाई उन्होंने कम से कम खाई। जब तक बिलकुल ही विवशता न आ गई तब तक उन्होंने औषधियों के प्रति उपेक्षा ही दिखाई।

आइजन हावर अमरीका के राष्ट्रपति चुने गये। इस उपलक्ष्य में उन्हें देश-भर से लाखों उपहार मिले। इन उपहारों में एक मशहूली झाड़ू भी थी। भेजने वाले ने लिखा था, "आपने अपने भाषण में कहा था कि यदि मैं चुन गया तो मेरा काम राज्यतन्त्र में व्याप्त गन्दगी को साफ करना होगा। मुझे विश्वास है कि मेरा यह नन्हा-सा उपहार आपको सदा आपके उस वचन की याद दिलाता रहेगा।" इन उपहारों की प्रदर्शनी का उद्घाटन करते हुए राष्ट्रपति ने उस झाड़ू को ठेका उठाते हुये कहा—“यही है मेरा सर्वोत्तम उपहार। इसमें देश की आत्मा ने मुझसे सीधी बात-चीत की है।”



स्वतन्त्र भारत के आधार स्तम्भ

स्वतन्त्र भारत के कीर्तिस्तम्भ

भारत एक ऐसा देश है जहाँ अनेकों धर्मों तथा अनेकों संस्कृतियों के अनुयायी रहते हैं। अपनी-अपनी धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं में आस्था रखते हुए भी सभी एक अखण्ड भारत के अभिन्न अंग हैं। भारत माता किसी धर्म विशेष की नहीं, हर मानुषायी की आराध्य है। इस आराध्य की जब-जब उपेक्षा हुई है तथा साम्प्रदायिकता को प्रवृत्त पिला है, देश की अखण्डता को खतरा पहुँचा है। विदेशी आतंकियों को इस धरती पर चढ़-दीड़ने का अवसर इन्हीं विषय परिस्थितियों में मिला है। हजार वर्ष की गुलामी उस उपेक्षा की ही परिणति थी।

पर ऐसे अवसर भी आये हैं जब समस्त भेद-भावों को भुलाकर मौ की लाज बचाने के लिए देश के हर वर्ग ने बड़ी-बड़ी कुर्बानियाँ प्रस्तुत की हैं, चाहे वह सिक्ख रहा हो अथवा पारसी, हिन्दू रहा हो या मुसलमान। पिछला स्वतन्त्रता संग्राम इस बात का साक्ष्य है। देश को जब भी आवश्यकता पड़ी तो सम्प्रदाय एवं मजहब की दीवारों को तोड़कर हर वर्ग के शक्ति ने अकिम्बरजीब स्थापन एवं बलिदान का उदाहरण प्रस्तुत किया। इतिहास के पन्नों में जब भी उनकी गौरव गाथाएँ नेत्रों के समक्ष होकर गुजरती हैं, बरक्स ही उनके प्रति हृदय में श्रद्धा उमड़ने लगती है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्र के ये सज्जन ब्रह्मरी यो नहीं, उनकी अमर-आत्माएँ हमारे हृद-गिर्द ही मँडरा रही हैं, देशभक्ति की जीवन्त प्रेरणाएँ संचरित कर रही हैं। उनके जीवन के ऐतिहासिक संस्मारकों को बारम्बार दुहराने का यम करता है।

हमें स्वतन्त्रता तभी मिल सकती जब सभी वर्गों के लोगों ने संगठित होकर अत्याचारों, समस्याओं के विरुद्ध संग्राम छेड़ा सन् १८५७ का स्वाधीनता संग्राम सदा ही स्मृतिदायक बना रहेगा जिसमें सभी मौम के लोगों ने राष्ट्र हित में अपने प्राणों की जानी लगा दी। नाना साहब, फिरोजशाह, तात्या टोपे, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, सफ़जुल हुसैन, बरेली के बहादुर खान सनने मिलकर एक साथ ही अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया या साम्प्रदायिक सद्भावनाओं का वह प्रयास सधमुब अद्भुत था। सर्वविदित है कि इन सेनानियों के कुशल नेतृत्व में १८५७ के दौरान समस्त उत्तर प्रदेश में स्वाधीन शासन स्थापित किया गया था। उनकी संगठित शक्ति के समक्ष अंग्रेजों को अन्ततः हथकड़ना ही पड़ा।

१८५७ की क्रांति में शाहजादा फिरोजशाह का नाम अतुलनीय है। वह २० वर्ष की आयु में ही फकीर का वेश धारण करके भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़ा

था, लगातार १८ वर्षों तक वह अंग्रेजी सरकार से टक्कर लेता रहा तथा लक्ष्मनिष्ठ होकर कष्ट कठिनाई झेलता रहा। अन्त में उसने १८७५ ई० में अत्यन्त गरीबी की समस्या से पीड़ित होकर अपना बलिदान प्रस्तुत किया।

उस पारसी महिला श्रीमती कामा के बलिदान को कौन भूल सकता है। जिसने लगातार ३५ वर्ष तक (१८८५-१९२०) स्वाधीनता की चिन्ता में अपने पारिवारिक सुख को भी तिलज्वलि दे दी। शादी होने के कुछ दिन बाद ही सामाजिक कार्यों से च्युत करने के उद्देश्य से उन्हें लन्दन भेज दिया गया था, परन्तु वहाँ भी वे अपने उद्देश्य के प्रति समर्पित रही। बाद में उन्होंने पेरिस को अपना कार्यस्थल चुना तथा वहाँ 'बन्देमातरम्' पत्र के प्रकाशन से क्रांति की विमर्शनी को फैलाने में सफल हुई, राष्ट्र को विरंग झंडा उन्हीं की देन थी जो आज हम सब के गौरव का केन्द्र बना हुआ है।

गुरुगोबिन्द सिंह के 'पाँच प्यारे' की तरह पंजाब के पाँच शेरों ने भारत की स्वतन्त्रता हेतु भी बलिदान प्रस्तुत किया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। वे पाँच शेर अजीतसिंह, करतारसिंह, गुरदत्तसिंह, भगतसिंह तथा उधमसिंह थे, जिन्होंने अंग्रेजों के छप्के छुड़ा दिये थे।

अजीतसिंह लगातार भारतीय स्वतन्त्रता के लिए लड़ते रहे। १९०७ ई० में उन्हें जेल भी जाना पड़ा। सरकारी हस्तक्षेप के कारण १९०९ ई० में उन्हें देश छोड़ कर फरस, जर्मनी, स्वीट्स आदि देशों में भटकना पड़ा। अन्ततः वे यूरोप पहुँचे तथा वहाँ काफी धक जाने के बावजूद आन्दोलन चलाते रहे। उन्हें टी०बी० हो चुकी थी, परन्तु प्रगति पथ के पथिक को शरीर की चिन्ता क्यों हो। जीवन की उनकी एक ही लालसा थी भारत की स्वतन्त्र रूप में देखना। सो पूरी भी हुयी। वे ठीक १४ अगस्त १९४७ को भारत पहुँचे तथा अगले ही दिन स्वतन्त्र भारत के स्वतन्त्र नागरिक कहलाने का सौभाग्य प्राप्त कर सके।

करतारसिंह १७ वर्ष की आयु में ही सैनक्रांसिस्को की गदर पार्टी में संलग्न हुए थे। विदेशी भूमि से ही लगातार स्वाधीनता संग्राम को तीव्रतर बनाने का प्रयास करते रहे। १९१४ ई० में वे भारत पधारे तथा अगले ही वर्ष अखिल भारतीय विद्रोह का आयोजन किया। इसके आरोप में उन्हें फाँसी की सजा सुनाई गई। सरकार द्वारा जब मृत्यु दण्ड के विरुद्ध अपील करने का प्रस्ताव उनके समक्ष रखा गया तो, उन्होंने कहा— "मेरे पास यदि एक से अधिक जीवन होता तो उनमें से प्रत्येक को अपने देश के लिए नोछावर करना मेरे लिए बड़े सम्मान की बात होती।"

गुरुदत्तसिंह १९०९ ई० में सिंगपुर से पंजाब लौटने पर स्वतन्त्रता संग्राम में शामिल हुए। भेद बाध पूर्ण अप्रवासी

३.२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

कानून का उल्लंघन करने के उद्देश्य से उन्होंने १६५ साधियों के साथ जलमार्ग से कनाडा के लिए प्रस्थान किया। रास्ते में संख्या ३५२ तक पहुँच गई थी। परन्तु तट पर पहुँचते ही वहाँ की सरकार ने उन्हें वापस लौटने का आदेश दिया। अन्ततः वे कसकत वापस पहुँचे, परन्तु वहाँ उनका लाठी, बन्दूक से स्वागत किया गया। कितने ही लोग मारे गये। गुरुदत्तसिंह किसी तरह वहाँ से निकल सके।

भगतसिंह का संग्राम में प्रवेश १९२४ ई० में हुआ। १९२८ ई० में उन्होंने भगवतो चरण बोहरा के साथ समाजवादी रिपब्लिकन का कार्यभार संभाला। इंग्लैंड के संदेश की विश्व के कोने-कोने में पहुँचाने के उद्देश्य से उन्होंने अमेरिका में बम फेंकने का दृढ़ कदम उठाया। पकड़े जाने पर कोर्ट में उनके बयान इस प्रकार थे— "हमारे बम फेंकने का उद्देश्य मानवता के विरोधी तत्वों के काम खोलना है। २३ मार्च, १९३१ को उन्हें फाँसी दी गई।"

वधमसिंह का सरकार के भाम संदेश यह था कि—राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए मुझे जान भी देनी पड़े तो थिक् नहीं। बुढ़ापे तक इस अवसर की रात में जाँच बैठे मुझे तो जमाना में ही मरने की इच्छा है। उनसे नम्र पूछा जाने पर वे "काम मुहम्मदसिंह आवाद" बताया करते, जो पंजाब के तीन प्रमुख सम्प्रदायों और उनके जीवन लक्ष्य—'आवादी' का प्रतीक था। वस्तुतः स्वतन्त्रता सारी धर्म संस्कृतियों से उभर कर आने वाले भारत माता के सपनों के बल पर हमें मिली है। उसे अखण्ड बन्धने रखना हर नागरिक का मूलभूत कर्तव्य है।

जिनकी अध्यात्म साधना सार्थक रही

सुभाष बोस

कटक-उड़ीसा के एक सम्पन्न वकील की पत्नी ने जब यह देखा कि उनका बेटा सुभाष एक छोटी लपेटे जमीन पर सो रहा है। सहज बत्सल भावबद्ध ने चिंता उत्पन्न कर दी कि कहीं लड़के को कुछ हो न जाय तो प्यार से झूटते हुए कहा— क्या पागल हो गये हो सुभाष, जमीन पर क्यों सो रहे हो ?

माँ हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि भी तो जमीन पर ही सोया करते थे। क्या उन्हें भी पागल समझती हो— बालक ने सरलतापूर्वक कह दिया।

"नहीं बेटा। वे पागल थोड़े ही थे— वे तो महान् थे परन्तु तेरी उम्र भी अभी कम है तु जमीन का कड़ाफन नहीं सह सकेगा, बेटे ! मेरी बात भन, अब पलंग पर सोना। माँ ने कहा और बिस्तर पर सोने का आग्रह करने लगी।

माँ-बेटे की बातचीत सुनकर फस ही खो रहे जानकी नाथ बोस भी जाग गये। वे पूछने लगे— "क्या बात है ?"

"अरे यह अपना सुम है न"— माँ ने कहा— "पता नहीं कम से पलंग पर से उठ कर जमीन पर सो रहा है। मैं उसे पुकार रही हूँ।"

पिता ने पूछा वह किसने सिखाया बेटा जमीन पर सोना।

"सिखाया किसने पिताजी। गुरुजी कह रहे थे कि हमारे ऋषि-मुनि महापुरुष थे और वे जमीन पर ही सोया करते थे, मैं भी महान बनूँगा पिताजी इसलिए जमीन पर सोता हूँ।"

"ठीक है ठीक है। जमीन पर फिर सोया करना पहले माँ का कहना था तब"— वकील साहब ने कहा और बालक सुभाष उठ कर माँ के आँचल में जाकर सो गया। जानकी नाथ बोस नींद की खुमारी में बालक की कोमल पावनाओं को नहीं पकड़ सके। जब सुबह हुई तो उन्होंने अपने बेटे की समझाया जमीन पर सोने से कोई महाम नहीं बन जाय बेटा महान बनने का एक ही मार्ग है कठोर तप साधना और सुखी-दरिद्रों की सेवा करना। जानकी नाथ जी अच्छे पढ़े-लिखे और आधुनिक विचारों के होने से भारतीय संस्कृति के मूल-तथ्यों को भी उपेक्षित करने में नहीं चुकते। इसे अन्ध-भक्ति का रूपांतरण कहें या चकाचींध और ऐतरेय वैभव से भरी पारचात्य संस्कृति का प्रभाव कि उन्होंने अपने पुत्र को भारत की सांस्कृतिक धरा से काट कर पश्चिमी सभ्यता के वातावरण में पालना प्रोत्साहित किया। लेकिन उसे संयोग ही कहना चाहिए कि सुभाष को रेवेनशा कालजियल स्कूल में एक ऐसे अध्यापक मिले जो भारतीय संस्कृति के अनन्य भक्त थे। कुराण बुद्धि सुभाष की अंतर्निहित प्रतिभा उनसे छुपी न रही और वे समय-समय पर उन्हें सांस्कृतिक या ऐतिहासिक गीत गावाएँ सुनाने लगे।

सुभाषचन्द्र बोस पर अपने इन अध्यापक का ऐसा प्रभाव पड़ा कि जब भी कभी वे सुनते शहर में कोई साधु भक्तिया पधारे हैं तुरन्त उनका दर्शन करने के लिए दौड़ पड़ते। उन्हीं दिनों कटक में पधारे स्वामी विवेकानन्द। सुभाषचन्द्र बोस भी पहुँचे, उनके दर्शन को। प्रथम भेंट में ही अध्यात्म का महान्तम तथ्य उद्घाटित कर दिया। सुभाषचन्द्र बोस तब गीता, रामायण और वेदान्त के सिद्धान्तों का अध्ययन करने लगे थे। स्वामी जी से इन विषयों पर सम्बन्धी चर्चा होती रही। सुभाषचन्द्र बोस ने स्वामी विवेकानन्द से प्रभावित होकर संन्यास दीक्षा की प्रार्थना की परन्तु उत्तर मिला "संन्यास के लिए तैयारी और अभ्यास की आवश्यकता है। साधना के प्राथमिक सोपान पूरे कर लो तब तुम्हारी अन्तरात्मा स्वयंमेव ही तुम्हें इस जीवन में दीक्षित कर देगी।"

"इसके प्राथमिक सोपान कौन से हैं ?"

सेवा और सेवा—बस। इसी साधना का स्थूल अभ्यास तुम्हारी अगत्ती सीढ़ी बन जायेगा। सेवा—शब्द से ही स्मृति

पटल पर अपने पित्त का दिक्क हुआ उपदेश भी उभर उठा और वे सत्पर हो गये । अध्ययन और पठन-पाठन के बाद सुभाष बाबू सेवा के अवसर की तलाश करते । धीरे धीरे इस क्रम में अन्तर आया और सेवा-साधना प्रथम धर्म बन गयी ।

उन्हीं दिनों नगर में हैजा फैला । लोग घड़ाबद्ध मरने लगे और आश्चर्य कि अपना प्राण-प्रिय लगने वाला परिजन भी ऐसे अवसर पर शत्रु की भाँति नजर आने लगा । हैजे के रोगी छूने से भी हैजा हो जाता है— इस सध्व ने सारा संसार का मोह और कर्तव्य अपने एक सीमित कर दिया । नगर के गिने घुने डॉक्टर इस महामारी से लड़ने के लिए आगे आये परन्तु उन्हें सम्पन्न घरों की परिधर्मा से अवकाश नहीं मिलता ।

सुभाषचन्द्र बोस ने अपने जीवन मंत्र को साधने का उपयुक्त अवसर पाया । मूलतः उनके अन्तःकरण में आध्यात्मिक उत्कर्ष की भावना थी । इसलिए सेवा कोई आहंकार भी नहीं होता था अपने और साधियों को लेकर उन्होंने निर्धन बस्तियों को अपना कार्यक्षेत्र बनाया । जिस घर में बेटा अपनी माँ को छूने से भी परहेज करता था उस घर को सुभाष ने अपने साधियों सहित मन्दिर माना और उसमें निवास कर रहे जीते जागते देवताओं की पूजा की । जिस घर में उन्हें कोई चिलाप करता दिखाई पड़ता भुस जाते उसमें और रोगी को औषधि देने से लेकर उसका वमन साफ करने तक का दायित्व निभाते । इस रूप में लोगों ने उन्हें भगवान का दूत, भयहारी प्रभु का अवतार ही जाना । लोग उनकी प्रशंसा भी करने लगे । उनकी ख्याति भी फैलने लगी । सुभाष की इकाई भी मचने लगी ।

लेकिन सुभाष को कीर्ति की कामना नहीं थी । कामना भी किसी प्रकार यह संकट टल जाये । कीर्ति से निर्लिप्त होते हुए भी उनका बदला प्रभाव हैदरअली नामक एक व्यक्ति को नहीं भाया । वह चाहता था कि इस मोहले के सभी लोग मुझे सबसे महान समझें । इसलिए हैदर ने सुभाष और उनके साधियों को धमका दिया— खबरदार जो अब इस मोहले में कदम भी रखा एक-एक की टोंगे तोड़ दूँगा ।

कोई और अवसर होता तो सुभाष हैदर को अवश्य ठीक करते परन्तु इस समय ध्यान लोगों की सेवा-सुकृपा पर देना था । इसलिए सुभाष की टोली ने उस मुहले में कदम ही न रखा । दो बार दिन हुए । सुभाष बाबू अपने साधियों सहित पास वाले मोहले में काम कर रहे थे । अचानक हैदर आया दौड़ता हुआ । जिसने कुछ दिन पहले अपना चेहरा भयावह बनाकर धमकी दी थी उस समय की मुखमुद्रा शायद ही मुलाई जा सके परन्तु अब उसके चेहरे पर दूसरे ही भाव थे । याचना और आर्तता के भाव । उस समय उसकी मुखमुद्रा देखकर यह कह पाना ही मुश्किल था कि यह व्यक्ति किसी को धमकी भी दे सकता है । हैदर ने सुभाष को देखते उनके पाँव पकड़

लिये— मेरे देवता सहायता करो मेरी । यदि आपने अभी भी मुझे क्षमा नहीं किया तो मेरा पूरा घर उजड़ जायेगा । सारी बात इत्मीनान से कहने के लिए धीरज बँधाकर सुभाष ने सब कुछ सुना और जाना कि हैदर पर क्या बीत रही है । कटु विगत को भुलाकर सुभाष ने अपने कुछ साधियों को उसके साथ भेज दिया । सेवा उपचार से हैदर का परिवार ठीक हो गया और वह सुभाष को जीवन भर देवता मानता रहा ।

महामारी का प्रकोप जब शांत हुआ तो आत्म-अवलोकन कर सुभाष बोस ने यह अनुभव किया कि संन्यास जीवन की पात्रता उन्होंने अर्जित कर ली है । उन्हें यह भी आवश्यक लगा कि अब किसी योग्य गुरु के मार्गदर्शन में सधना पथ पर अलग कदम बढ़ाना चाहिए । घर पर रह कर तो वैराग्य नहीं पाया जा सकता है । उसे सिद्ध करने के लिए तो घर परिवार के मोह वात से मुक्त होना ही पड़ेगा । योग्य गुरु की तलाश में सुभाष बाबू घर छोड़ कर चल दिये । माता-पिता को जब यह पता चला तो वे बड़े दुःखी हुए और उन्होंने सुभाष को खूब दुँढ़ाया भी ।

लेकिन कुछ दिनों बाद वे स्वयं हो लौट आये । इस दौरान में उन्होंने काली, बृन्दावन, मधुरा, हरिद्वार, गया आदि कई तीर्थ स्थानों पर भ्रमण कर लिया था योग्य गुरु को खोजने के लिए, उनके योग्य कोई संत गुरु तो नहीं मिले परन्तु उनकी खोज भी असफल नहीं रही । सच्चे सन्त की तलाश में उन्होंने कई आश्रम छान डाले परन्तु हर जगह वही लग्न कि जो आध्यात्मिक प्रदीप उन्हें चाहिए वह यहाँ नहीं है । इन स्थानों पर आध्यात्मिकता तो ऊपरी आवरण नकाब धर बन कर रह गया है । कहीं गाँव की बिलम चल रही है तो कहीं सुल्फा बरस छींछी जा रही है । व्यभिचार, पाप, लूट, डगी का पूरा भायाजाल सर्वत्र फैला है । इस यात्रा के दौरान उन्होंने स्वामी विवेकानन्द का साहित्य पढ़ा । अध्ययन के बाद वे इस सत्य से परिचित हुए कि— साधक का सच्चा गुरु और विश्वस्त पथ-प्रदर्शक तो उसका अन्तःकरण है, उसकी अन्तःप्रज्ञा है, उसी की सरण जाना चाहिए । अन्तःप्रज्ञा का प्रकाश पाने के लिए स्वाध्याय भी एक साधन है । गीता, रामायण आदि ग्रन्थ साधना के मार्ग पर आरुढ़ साधकों की अनुभूतियाँ ही हैं । स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा पकड़ ही वे सेवा-साधना में प्रवृत्त हुए थे और उन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने सच्चा गुरु भी पाया ।

गोताध्ययन—फिर उनका नित्य-कृत्य बन गया । इस ग्रन्थ का अध्ययन करते ही वे घर लौट पड़े । परिवार में रहकर, कर्तव्यों का पालन करते हुए भी आत्मा का ज्योतिर्मय प्रकाश पाया जा सकता है । बाद में गीता को सदैव अपने पास रखते । आज़ाद हिन्द सेना के अभियानों का नेतृत्व करते हुए भी उन्होंने गीता की प्रति अपने पास रखी और विश्वासपूर्वक कई अवसरों पर कहा कि मेरी प्रेरणा और शक्ति इस ग्रन्थ से निःसृत होकर मुझ तक पहुँचती है ।

३.४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

सुभाष बोस का भटकाव सम्भव हुआ। अपना इष्ट और उपास्य बाहर खोजने के बाद वे वहाँ से निराश हो अन्तर्जगत की ओर मुड़े। घर लौटने पर माँ को बड़ा दुःखी पाया। बिना कुछ कहे घर से चले जाने के शोक में वे बीमार हो गयीं थी। बड़े शुद्ध मन से कहा माँ ने—
"सुभाष तुने मेरी मृत्यु के लिए जन्म लिया है।"

"नहीं माँ— सुभाष बाबू ने अपनी माँ को आत्मासन देते हुए कहा मैं अपनी गलती पर था अब तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा।" लम्बी यात्रा में उन्हें कई दुःख, तकलीफ भी सहने पड़े। कभी भूखे भी रहना पड़ा कभी पीने की पानी भी नहीं मिलता। इस प्रकार भूखे-प्यासे रहने के कारण उनका शरीर दुर्बल हो गया था। घर लौटते ही वे बीमार हो गये। कई माह तक बीमार पड़े रहे। धीरे-धीरे स्वस्थ हुए तो पढ़ाई आरम्भ कर दी अध्ययन और अभ्यास के लिए उन्हें बहुत कम समय मिला था फिर उन्होंने १९१५ ई० में एम० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की।

अध्यात्म साधना के साथ-साथ दैवी गुणों—आध्यात्मिक विशिष्टताओं का विकास भी होता चल रहा था। उन दिनों प्रेसीडेन्सी कॉलेज में प्रोफेसर कटन नाम के एक अंग्रेज अध्यापक थे। बात-बात में भारतवासियों का अपमान उनका स्वभाव बन गया था। कई भारतीय छात्रों को उनके मुख के सामने उन्होंने भारतीय संस्कृति और धर्म पर गन्दगी डहाली। सुभाष बाबू से यह सहन नहीं हुआ, वे बहस करने लगे और कटन से अपने शब्द वापस लेने के लिए कहने लगे परन्तु प्रोफेसर और नीचता पर उठते आये। सुभाष बाबू ने कसकर एक धप्पड़ लगा दिया। बलिष्ठ और शक्तिशाली हाथों से पढ़ा करारा तमाचा गाल की अपेक्षा आई पर अधिक बोट कर गया। इस अपराध में सुभाष बाबू और उनके कुछ समर्थकों को कॉलेज से निकाल दिया गया। स्वाभिमानी सुभाष ने कॉलेज छोड़ना मंजूर कर लिया पर अनीति के सम्मुख सिर न झुकाया।

सन् १९१९ में उन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की। अब तक उन्होंने अंग्रेजी शासन की अत्याचारी आतताई गतिविधियों का सजग अध्ययन कर लिया था और यह संकल्प किया अंग्रेजी शासन को भारत से खदेड़ कर ही दम लूँगा यही मेरा जीवन लक्ष्य है। फिलाजी चाहते थे कि सुभाष बाबू विलायत जाकर पढ़ें और अच्छे पद पर आराम का जीवन बितायें। परन्तु स्वामी विवेकानन्द के कथनानुसार उनकी सेवा साधना अगले क्रम पर विकसित हो रही थी। सामाजिक सेवा का कर्तव्य भाव उन्हें पुकार रहा था। पिता से दृढ़तापूर्वक इन्कार करने के बाद भी वे इंग्लैण्ड गये और वहाँ से आइ० सी० एस० होकर लौटे। जब नौकरी का प्रश्न उठा तो उन्होंने दृढ़तापूर्वक इन्कार कर दिया कि मैं नौकरी नहीं करूँगा। वह शत्रु सैन्य में

मेरी मातृभूमि के पैरों में जंजीर बन है का पुर्जा बनना उन्हें स्वीकार नहीं था। इसके बाद का उनका जीवन देश की एक लम्बी कहानी है। जिसका क्रमवार विवरण देने के लिए कई ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं फिर भी यह माना जाता है कि लिखी और प्रकाशित सामग्री पर्याप्त नहीं है।

आज़ाद हिन्द सरकार के सूचना मंत्री एस० ए० अय्यर ने यह स्वीकार किया है कि उनका जीवन और पूरी दिनचर्या ईश्वर के प्रति अडिग निष्ठा तथा कर्मयोग के अनुसार संचालित हुआ करती थी। नेताजी ने पच्चीस माह तक पूर्वी एशिया में भारतीय मुक्ति आन्दोलन का नेतृत्व मिला। उनकी दृढ़ मान्यता है कि वे अपनी अस्थायी को अडिग बनाते चलते।

मिर्गापुर में नेताजी अक्सर बहुत रात गये रामकृष्ण आश्रम से स्वामी जी को लाने के लिए कार भेजते। स्वामी जी के पास आधी-आधी रात तक बैठ कर वे आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा किया करते। सत्संग में स्मूर्त हो वे अपने अध्ययन कक्ष में चले जाते और भोर होने तक काम करते रहते थे।

एस० ए० अय्यर ने लिखा है—“सभी चुनौतियों का साधना करने की शक्ति उन्होंने ईश्वर में अपनी अगाध निष्ठा से प्राप्त की थी। नेताजी के आकर्षक व्यक्तित्व और शक्ति शाली नेतृत्व का यह रहस्य था।

माँ की महिमा के दर्शन

आज़ाद हिन्द फौज के संगठन के लिए सुभाषचन्द्र बोस एक बार बैकाक भी गये। वहाँ पर्याप्त मात्रा में रहने वाले प्रवासी भारतीयों ने उनका भव्य स्वागत किया। एक विशाल सभ में नेताजी ने परतन्त्र भारत की दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए भारत भूमि की स्वतन्त्रता के लिए प्रवासी भारतीयों को प्रेरित किया। नेताजी का एक-एक शब्द इतना भावमय था कि दसने यहाँ भारतीयों को कुछ करने की प्रेरणा से उदेकित कर दिया। असंख्य प्रवासी भारतीयों ने भारतभूमि को स्वतन्त्र कराने का दृढ़ संकल्प लिया।

नेताजी का उद्देश्य वहाँ भूत नहीं हो जाता था। उन्हें आज़ाद हिन्द फौज के संगठन के लिए धन की भी सख्त जरूरत थी। धन के अभाव में सेना के लिए अन्न शस्त्र खरीदने में बाधा हो रही थी। परन्तु नेताजी समझ नहीं पा रहे थे कि इस बात को कैसे कहें?

कुछ महिलाओं ने नेताजी के इस संकोच को समझ लिया। उन्होंने मंच पर आकर अपने आभूषण दान देने प्रारम्भ कर दिये। चार-छह महिलाओं ने भाव भीने स्वरों में अपनी यह श्रद्धांजलि अर्पित की फिर तो एक भव्य क्रांतिचक्र ही बन गया। महिलाओं में यह होड़-सी लग गयी कि कौन पहले आकर अपने आभूषण दे। यहाँ तक कि बैकस की महिलाओं ने भी अपने गहने देने प्रारम्भ कर दिये।

यह देखकर नेताजी भावाभिभूत हो गये । वह वही मंच था जहाँ कुछ दिनों पूर्व रासबिहारी बोस को बड़ा प्रयास करने के बाद भी एक हजार पौण्ड की राशि कठिनाई से ही प्राप्त हुई थी । नेताजी ऐसे हुए कण्ठ से बोले—“पुत्र कुपुत्र हो सकता है, माता कुम्भता नहीं हो सकती । मुझे यहाँ निराश, दुःखी और लाचार देखकर सैकड़ों रूपों में मेरी माँ मेरी लाज छिपाने के लिए मर्हों भी आ गयी । माँ के दो हाथों से ही मैंने अभी तक दुस्तर पाया था किन्तु आज तो माँ का ऐसा प्रेम मुझ पर ठमड़ा है कि हजार हाथों से मेरी माँ मुझे दुस्तरों मेरा रूप सँवारने के लिए आ गयी है । भारत देश की आजादी के दर्शन मेरे भाग्य में बदे हैं या नहीं, मैं नहीं जानता । किन्तु आजादी के इस अभियान में मुझे माँ की महिमा के दर्शन हो गये, मैं सचमुच कृतार्थ हो गया ।” मातृ रूप की इस महिमा को सुनकर वहाँ उपस्थित प्रत्येक श्रोता की आँखें श्रद्धा से सजल हो उठी ।

सर्वोपरि शक्ति मनुष्य

आजाद हिन्द सेना के लिये धन संग्रह किया जा रहा था । सुभाषचन्द्र बोस के आवाहन पर मल्लया निवासी अपना सर्वस्व सौंप देने की होड़ में थे । ऐसी ही एक सभा में एक शाम नेताजी ने स्वर्णदान की अपील की । दूसरे दिन हजारों व्यक्तियों ने स्वर्णदान किया । एक व्यक्ति ने वहाँ पहुँचकर अपने घर का सारा सोना दान देते हुए नेताजी से कहा—क्या मेरी धात्रता इतनी तुच्छ है कि आप हमसे सोने की मिट्टी माँगते हैं ? क्या उससे बढ़ कर हमारे पास और कोई वस्तु नहीं ?

नेताजी उस शीर्ष आग्रह को सुनकर गर्गद हो उठे । छलकते नेत्रों को रोककर उन्होंने कहा— आपमें से हर व्यक्ति देवता है और जहाँ देवता मिला अर्थ वहाँ धन की जरूरत नहीं रह जाती, आज से आप सब मेरे सेनापति और अब मैं एक सिपाही की तरह काम करूँगा ।

क्रान्ति धर्मी —

लाला हरदयाल

भारत का धर्म गति है । इसी गति के साथ अफिम रूप से 'परिवर्तन' और 'क्रान्ति' शब्द जुड़े हुए हैं । भारत के राजनैतिक इतिहास को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि समय की गति का अनुसरण करने वाली क्रान्ति लाख दबाने पर भी दब नहीं सकी । क्योंकि वह उस युग की आवश्यकता थी । पंजाब में जब सरदार अजीत सिंह और लाला लाजपतराम को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध जन-चेतना जगाने की गतिविधियों के संचालन के कारण 'ब्रिटिश रेगुलेशन तीन के अन्तर्गत नजरबन्द' कर दिया गया । पर इनके नजरबन्द किये जाने से क्रान्ति का पहिवा जाम नहीं

हो गया । क्रान्ति को नजरबन्द नहीं होना था, सो नहीं ही हुई । उसके स्थान पर कई क्रान्तिकारी नेता निकल आये । उन्हीं में से एक विख्यात नाम है—'लाला हरदयाल' का जिन्होंने विदेशों में रहते हुए समर्थ सहाय्य क्रान्ति करने के उद्योग में महत्वपूर्ण सहायता दी थी ।

उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक के प्रारम्भिक वर्षों में, दिल्ली में जन्मे लाला हरदयाल को ईश्वर ने विलक्षण स्मरण शक्ति से विभूषित किया था । जिस बात को पढ़ लेते या सुन लेते वह उन्हें सदा के लिये याद हो जाती । यह अनुदान जिसे मिला हो उसके लिए विद्याध्ययन और विश्वविद्यालयों की डिग्रियाँ पाना सहज सरल होता है । साथ ही उन डिग्रियों के चल पर किसी भी कॉलेज या विश्वविद्यालय में उच्च पद पर आसीन हो सकना भी । किन्तु क्या वे अनुदान केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए मिलते हैं तो फिर इनसे व्यक्तिगत स्वार्थ साधना ही क्यों की जाय उनका उपयोग सार्वजनिक हित में क्यों न हो ।

लाला हरदयाल ने यह सोचते हुए अपनी इस विसंभ्रण स्मरणशक्ति का सदुपयोग अपने ही हित में नहीं राष्ट्र के हित में करना श्रेयस्कर समझा । उन्होंने आराम-तलबी न पसन्द करके सतत कर्मठता और कष्ट-कठिनाइयों का मार्ग चुना— राष्ट्रीय क्रान्ति का मार्ग । वे चाहते तो पजे से देश विदेश के किसी कॉलेज या विश्व-विद्यालय में मान्य प्रोफेसर या प्रिंसिपल के पद पर रहकर पण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों का लेखन किया करते । धन, मान और आराम सब उन्हें सहज सुलभ होता किन्तु उन्होंने इस ईश्वरीय अनुदान का महत्त्व समझा और उसका उपयोग वैसे ही महत्वपूर्ण कार्य में किया जहाँ किया जाना चाहिए ।

मेकवी छात्र होने के कारण उन्होंने एम० ए० में इतने अंक प्राप्त किये कि उन्हें उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड जाकर पढ़ने के लिए सरकारी छात्रवृत्ति मिली । उस छात्रवृत्ति से वे इंग्लैण्ड गये और ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में पढ़ने लगे । किन्तु उनकी यह पढ़ाई अधिक दिनों तक जारी न रह सकी । उन्होंने अन्तःकरण से आती आवाज को सुना—“तुम अकेले ही उच्च शिक्षा प्राप्त करके सम्पन्न और सुखी जीवनयापन कर लो इससे क्या होने वाला है । देश पराधीन है । देशवासी दुःखी और प्रस हैं । अकेले व्यक्ति की प्रगति, सुख और सम्मान तब तक बेमानी हैं जब तक वह जिस समाज में रहता है वह भी प्रगतिशील, सुखी और स्वतन्त्र नहीं होता ।” अतः उन्होंने व्यक्तिगत सुख साधन की अपेक्षा देश की स्वतन्त्र कराने के लिए काम करना उचित समझा और ऑक्सफोर्ड में चल रही पढ़ाई को छोड़कर अपने देश आ गये ।

उनके दिल्ली आने से पहले ही यह स्थान क्रान्तिकारी गतिविधियों का केन्द्र बनता जा रहा था । रास बिहारी बोस और मास्टर अमीरबन्द मिलकर भीतर ही भीतर क्रान्ति की आग सुलगा रहे थे । स्कूलों और व्याख्यानमण्डपों के माध्यम से ऐसे कई युवक खोज कर

३.६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

संगठित प्रशिक्षित भी किये जा सकें थे जो समय आने पर प्राणों पर खेलकर भी ऐसे काम कर दिखायें जो अनगिनत देशवासियों के हृदय में देशभक्ति का प्यार उमड़ाने में सहायक हो सकें। उन्होंने जब अपने यम की बात इन लोगों को बतायी तो मास्टर अमीरचन्द व रासबिहारी बोस ने उनका हार्दिक स्वागत किया और कुछ समय के लिए वे दिल्ली की क्रांतिकारी गतिविधियों के सूत्र संचालक ही बना दिये गये।

हार्डिग्न यम के केस के समय वे ही दिल्ली के क्रांतिकारी संगठन के नेता थे। ब्रिटिश राजधानी कलकत्ता से बदल दिये जाने के उपलक्ष्य में २३ दिसम्बर को बायसराय लॉर्ड हार्डिग्न की घिराट और यम शोभायात्रा के पीछे अंग्रेज सरकार का यही उद्देश्य था कि भारतवासियों पर अपनी शक्ति और वैभव का सिक्का जमा दें किन्तु क्रांतिकारियों ने उनके इस उद्देश्य को सफल नहीं होने दिया। लॉर्ड हार्डिग्न का जुलूस जब चौदनी चौक की ओर बढ़ा तभी एक भयंकर धमके के कारण जुलूस में भगदड़ मच गयी। लॉर्ड हार्डिग्न पर यम फैका गया। वह तो बाल-बाल बच गया पर उसका ९० डी० सी० मारा गया था। रंग में भंग हो गया, महीनों की तैयारी और लाखों रुपयों का खर्च बेकार गया अंग्रेज सरकार का। लोगों के दिलों पर उनकी शक्ति और वैभव की धक तो नहीं बैठी उलटे यह भावना पुष्ट हुई कि इन्हें भगाया भी जा सकता है।

हार्डिग्न यम केस के बाद जो गिरफ्तारियाँ हुईं उनमें लाला हरदयाल नहीं थे। वे क्रांतिकारी आन्दोलन को गति देने के लिए विदेश जा पहुँचे क्योंकि वहाँ रहने पर उनका पकड़ा जाना सुनिश्चित था। इस केस में मास्टर अमीरचन्द, अबधबिहारी, भाई कालाधुकुन्द और बसन्त कुमार विश्वास को फाँसी की सजा हुई और हनुमन्त सहाय और बलराज भास्कर को सात-सात वर्ष की कालेपानी की सजा हुई। क्रांति के सूत्र संचालक रासबिहारी बोस और लाला हरदयाल विदेश चले गये। वहीं से उन्होंने अपना यह स्वतन्त्र अभियान चलाया जो आगे चलकर गदर पार्टी और आजाद हिन्द सेना के रूप में सामने आया।

इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भी जब ब्रिटिश राज के अन्तर्गत जो विशाल साम्राज्य था उसमें सूर्य कभी अस्त नहीं होता था, जबकि अधिकांश भारतवासी ब्रिटिश राज्य को उखाड़ ही फेंकना असम्भव मानते थे, उस अन्धकार युग में भी कितने ही लोग ऐसे थे जो ब्रिटिश राज्य की समाप्ति को सुनिश्चित सा मानते हुए प्राण-पण से उसकी जड़ों में तेल डालने में लगे हुए थे। उन्हीं में से एक लाला हरदयाल भी थे। कहना न होगा कि आज भी जो लोग नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक क्रांति की बात करते हैं या उसके लिये अपनी व्यक्तिगत सुख सुविधाओं को, अपनी भी आर्थिक प्रगति

को बिसार कर युग परिवर्तन या सांस्कृतिक नैतिक पुनरुत्थान के अभियान में प्राण-पण से जुटे हैं। बहुत सम्भव है उसका भी वैसे ही सत्परिणाम देखने को मिले। जिसकी आज कल्पना ही नहीं की जा सकती। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में इसे देखा जाय तो यह प्रभाव आना सुनिश्चित है जिसकी आज के अन्धकार युग में सम्भावना दुष्कर प्रतीत होती है।

लाला हरदयाल जब विदेश पहुँचे तो वहाँ भी उन्हें कई भारतवासी स्वदेश की स्वतन्त्रता का सुखद स्वप्न देखते हुए मिले। उस समय ऐसे कई भारतवासी विदेशों में रहकर भारत को स्वतन्त्र करने के लिये काम कर रहे थे। डा० पाण्डुरंग सदाशिव खान खोजे इसी उद्देश्य से विदेश गये थे। कई भारतीय सुरेन्द्रमोहन बोस, अमरचन्द 'लखर' जोगेन दास, लखनदास दास तथा गिरीश मुखर्जी आदि प्रमुख थे। अच्छी तरह से अमेरिका में जमे हुये थे। पंजाब के प्रवासी भारतीयों ने अमेरिका में रहते हुए भारत को स्वतन्त्र करने के लिए बहुत काम किया था। खान खोजे की इण्डियन इण्डिपेन्डेंस की तरह 'हिन्दी एसोसियेशन' भी इसी अभियान में जुटी हुई थी। हिन्दी से उनका भाव नहीं भारतवासी से सात्पर्य था यह जानकर सुखद आश्चर्य होता है कि उस समय के विदेशी पंजाबियों के मानस में राष्ट्रीयता की भावना थी। उसकी तुलना में आज की पुष्कः खालिस्तान की माँग कितनी छोटी और ओझी लगती है।

लाला हरदयाल ने इस हिन्दी एसोसियेशन को 'गदर पार्टी' के रूप में विकसित किया। लालाजी बहुत सुन्दर व्याख्यान दे लेते थे। उन्होंने अमेरिका में भारतीय सभ्यता और भारतीय दर्शन पर ऐसे पाण्डित्यपूर्ण और हृदयग्राही भाषण दिये थे कि सुनने वाले दंग रह गये। अमेरिका वासी उनकी इस प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए। कई विद्यालयों की ओर से उनके पास भारतीय इरान के प्रोफेसर बनने के प्रस्ताव आये। जिन्हें स्वीकार करके वे विदेशों में सम्पन्न और सम्पन्नित जीवनयापन कर सकते थे। किन्तु वे इस उद्देश्य से तो विदेश नहीं गये थे। उनके हृदय-कुण्ड में तो कुछ दूसरी ही आग जल रही थी।

उन्होंने वहाँ गदर-पार्टी का गठन किया जिसका उद्देश्य प्रवासी भारतीयों की सहायता से भारत में सफल विद्रोह करना था। वे इस पार्टी के मन्त्री थे। अध्यक्ष थे बाबा मोहन सिंह और उपाध्यक्ष थे बाबा केसर सिंह, कोषाध्यक्ष बने पं० काशीराम जोशी जो बाद में इसी विद्रोह के लिए फरार आये थे।

गदर-पार्टी द्वारा "गदर" नामक एक पत्र का भी प्रकाशन किया गया। इस पत्र के सम्पादन में लाला हरदयाल ने अपनी बौद्धिक क्षमताओं का नियोजन किया। नवम्बर, १९१३ में गदर का पहला अंक प्रकाशित हुआ। इसी अंक में "गदर" पत्र का उद्देश्य भी स्पष्ट किया गया था। १९१३ के पहले नवम्बर को भारतीय इतिहास

में एक नये युग का सूत्रपात होता है, क्योंकि आज विदेश में अपनी भारत की भाषा में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध संग्राम का आरम्भ होता है। हमारे पत्र का नाम क्या है ? 'गदर'। हमारा कार्य क्या है ? 'गदर'। यह 'गदर' कहाँ होगा ? भारत में। कब होगा ? कुछ सप्ताहों में। क्यों होगा ? क्योंकि अब भारत की जनता ब्रिटिश राज्य के अत्याचार के खुर को झेलते-झेलते उकता चुकी है और वह उसे आगे झेल नहीं सकती।

पत्र कई भारतीय भाषाओं में छपा था और दूर-दूर तक फैले हुए भारतवासियों को एक उद्देश्य-सूत्र में बाँधने का काम करता था। वह हांगकांग और सिंगपुर तक जाता था। सर्वत्र इसका स्वागत होता था। पंचाम्र में तो इसके सम्बन्ध में कई लोकगीत भी बन गये थे। पत्र के साथ ही संगठन का काम भी चलता था।

ध्यान-स्नान पर सभायें आयोजित की जाती थीं। इनके माध्यम से धन संग्रह का काम होता था। लोगों में अपने देश को स्वतन्त्र कराने के लिये कितना जोश था इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि जब धनदान की बात आती थी तो लोग अपनी बैंक पास-बुकों को ही भेंट कर देते थे जिसका अर्थ होता था अपनी सारी सम्पदा का दान।

गदर-पार्टी के उद्देश्य के पीछे मात्र जोश रहा हो सो बात नहीं। उसको लाल हरदयाल सैद्धान्तिक अधिष्ठान देकर चले थे। गदर-पार्टी का दृष्टिकोण राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय था। भारत के स्वतन्त्रता के लिये ही नहीं जहाँ जहाँ भी उसके सदस्य रहते थे वे वहाँ यदि स्वतन्त्रता आन्दोलन चलता था तो उसमें पूरी-पूरी सहायता करने के भी कटिबद्ध थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय विद्रोह का उपयुक्त समय समझकर १९१६ की २१ फरवरी क्रान्ति के लिए निर्दिष्ट हुई। इसमें बर्लिन की क्रान्तिकारी कमेटी और जर्मन सरकार का भी समुचित सहयोग लिया जाना था किन्तु क्रान्ति की यह योजना और तिथि गुप्त नहीं रह सकी। जिसके फलस्वरूप युद्ध सामग्री व क्रान्तिकारियों से भरे हुए जहाज तट पर लगते ही पकड़े लिये गये। क्रान्ति लगभग असफल हुई। पकड़े गये लोगों पर कई मुकद्दमे चले, कईयों को फाँसी व जन्म कैद हुई।

१९१४-१८ के बीच का क्रान्ति प्रयास असफल हुआ इसका यह अर्थ यह नहीं है कि वह निष्फल गया। यद्यपि तत्कालीन इतिहास लेखकों ने सत्य पर पर्दा डाला है। फिर भी जितने तथ्य उपलब्ध हैं वे भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। लाल हरदयाल का अपना एक महत्व है जिसे पुस्तक नहीं जा सकता। यह बात दूसरी है कि वे अपनी इस असफलता से निराश होकर सदा के लिये राष्ट्रीय आन्दोलन से हाथ खींच गये पर अपने जीवन के पूर्वाह्न में उन्होंने जो आदर्श प्रतिष्ठापित किये उनसे कई लोगों ने प्रेरणा ली।

उनके असंग हो जाने पर भी क्रान्ति का प्रवाह तो बढ़ता ही गया और भारत को राजनैतिक स्वतन्त्रता मिली। राजनैतिक क्रान्ति के बाद क्रान्ति के अगले सोपानों पर भी हमें उसी प्रकार चढ़ना होगा। उसके लिये लाल हरदयाल का यह राष्ट्र प्रेम हमें बल देगा यह निश्चित है।

स्वतन्त्रता संग्राम के क्रान्तिकारी—

शम्भुनाथ आजाद

मद्रास हाईकोर्ट के आस-पास सुबह से ही भीड़ एकत्र होने लगी। छोटे-छोटे बच्चे तक अपने पिता की आंगुलियाँ पकड़े बड़ी उत्सुकता से बढ़ते चले जा रहे थे। आज सड़र में चर्चा थी कि मद्रास बम-काण्ड के अपराधियों को सजाएँ सुनाई जायेंगी। प्रातः ९ बजे पुलिस की गाड़ी शम्भुनाथ आजाद तथा अन्य क्रान्तिकारियों को लेकर न्यायालय पहुँची। गाड़ी को देखते ही 'भारत माता की जय' 'देशभक्त अमर रहें' के नारों से आकाश गूँज उठा। देशभक्तों ने बाहर निकल कर उनके स्वर में स्वर मिलाया।

न्यायालय के अन्दर का कमरा छुछाछुछ भरा था फिर भी वातावरण एकदम शांत था। क्रान्तिकारियों के ओजस्वी चेहरों पर विशेष प्रकार की चमक थी। बकीलों तथा उपस्थित जनसमूह की दृष्टि देशभक्तों पर ही थी। निश्चित समय पर न्यायाधीश उपस्थित हुए। लोगों के मस्तिष्कों में अनेक प्रकार के विचार उठ रहे थे। सबके काम न्यायाधीश की ओर लग गए। उन्होंने बम-काण्ड की स्थिति का संक्षेप में वर्णन करते हुए क्रान्तिकारियों के भाग्य का निर्णय सुना दिया। शम्भुनाथ आजाद और प्रेमप्रकाश को आजीवन कारावास का दण्ड देकर काला पानी पियने की व्यवस्था कर दी गई।

अन्य साधियों को सजा दी गई। निर्णय सुनाकर न्यायाधीश महोदय न्यायालय से ऐसे निकल रहे थे मानो अपने पुत्र का ही अन्तिम संस्कार कर लाँटे हों।

अपार जनसमूह अपनी सजल नेत्रों से क्रान्तिकारियों को एकटक देख रहा था। लोगों के मन में घोर निराशा थी, जबकि क्रान्तिकारियों के चेहरों पर तेज झलक रहा था। वे दृष्टा के साथ पुलिस की लाठी की ओर बढ़ रहे थे। पीड़ पुलिस के नियन्त्रण को तोड़कर अपने देशभक्तों के दर्शन हेतु आगे बढ़ रही थी। गाड़ी स्टार्ट हुई और सबकी आँखों से ओझल हो गई।

अक्टूबर, १९२३ में अमृतसर में क्रान्तिकारियों की एक गुप्त बैठक हुई। उसमें दक्षिण भारत में क्रान्तिकारी आंदोलन के विस्तार पर विचार विमर्श हुआ। बैठक में शम्भुनाथ आजाद, रोशनलाल, बन्तासिंह तथा गोविन्दराम

३.८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

वर्मा उपस्थित थे। इसमें रोशनलाल और गोविन्दराम वर्मा की ही ऐसी स्थिति थी कि अपने घर से घन लाकर इस आंदोलन को गति प्रदान करें। सम्भुनाथ और बन्तासिंह तो योजनाओं को कार्यरूप में परिणित करने के प्रयत्न में ही सदैव व्यस्त रहते थे। इस समय अन्तर्प्रान्तीय बह्यन्त्र के सम्बन्ध में पुलिस काफी सतर्क थी। जगह-जगह देशभक्तों की धर पकड़ जारी थी। गुप्तचर निष्ठा भी बढ़ा सक्रिय था।

अप्रैल, १९३३ में डटकपण्ड में क्रान्तिकारियों ने एकत्रित होकर डकैती डालने की एक योजना तैयार की। २५ अप्रैल को नित्यानन्द और लखम् ठूटी पहुँच गए। २६ अप्रैल की रात्रि को अन्य साधियों को भी प्रस्थान करना था। पहुँचने भर की देर थी उन्होंने सारी स्थिति का सूक्ष्म रूप से अध्ययन किया।

संचार व्यवस्था अस्त-व्यस्त कर दी गई। बड़ी सतर्कता के साथ बैंक पर भावा बोल दिया गया। बैंक कर्मचारी भयभीत हो गये, लोग जान बचाकर भागने लगे। कुछ देशभक्त कर्मचारी अवश्य इस कांड को चुपचाप खदे देखते रहे। बैंक लुट गई।

बिचली की तरह यह खबर पूरे शहर में फैल गई। पुलिस ने आकर चारों ओर से रास्ता घेर लिया। नित्यानन्द और खुरीराम मेड़ता ईराडे स्टेशन पर पुलिस द्वारा बन्दी बना लिये गये। बन्तासिंह और बच्चूलाल पुलिस पर गोली चलाते हुए निकल भागे। सम्भुनाथ भी बाल-कल बच गए।

नित्यानन्द की गिरफ्तारी इस दल के लिए अधिशेष सिद्ध हुई। वह पुलिस का मुखबिर बन गया और उसने सारी गुप्त योजनाओं का भेद पुलिस को दे दिया। अब इन क्रान्तिकारियों के सम्मुख एक ही विकल्प था कि या तो वे अपने को पुलिस के हाथों में सौंप दें अथवा मद्रास छोड़कर अन्यत्र चले जायें। यह स्थान छोड़ने से पूर्व तय कर लिया कि जो रसायन सामग्री शेष है उससे बम बनाकर परीक्षण किया जाए और ऊटी बैंक डकैती के सिलसिले में गिरफ्तार साधियों को शोध ही छुड़ाने की व्यवस्था की जाए।

अन्तोगत्था ३० अप्रैल, १९३३ को उन्होंने पुराना भकान छोड़कर तम्बे घट्टी स्ट्रीट में एक नया भकान लेकर केन्द्र की स्थापना की। मोठे ही समय में बम बनकर तैयार हो गया। उसका परीक्षण रात्रि में ९ बजे रामपुरम् समुद्र तट पर किया गया। इसी परीक्षण में रोशनलाल को अपनी जान गँवानी पड़ी। अब पुलिस को अच्छी तरह मालूम हो गया कि क्रान्तिकारियों की गतिविधियों का केन्द्र मद्रास शहर ही है।

४ मई, १९३३ समय दिन के ११ बजे का। क्रान्तिकारी अगली योजनाओं पर गुप्त भ्रमण कर रहे थे। दरवाजा खटखटाने की आवाज सुनी गई। कराबर की खिड़की से झाँककर देखा भकान के पीछे हथियार बन्द

पुलिस खड़ी थी। अब उनके पास बचने का तरीका ही कौन-सा था ? सभी क्रान्तिकारी सतर्क हो गये। गुप्त कागजात और ऊटी बैंक के नोट जलाकर राख कर दिये ताकि पुलिस के हाथ कुछ न लग सके। वे सभी हथियार लेकर भोर्वेबन्दी के लिए छत पर चढ़ गये।

पुलिस ने क्रान्तिकारियों को ऊपर देखा तो उन्होंने गोली चलाई, गोविन्दराम ने भी जबाब में अपनी रामफल से एक के बाद एक फायर करना शुरू कर दिया। सिपाहियों की संख्या बढ़ती जा रही थी। उन्होंने भकान को चारों ओर से घेर लिया। उसी समय ऊपर से ताजियों का जमूस निकला। पुलिस ने इस भीड़ का लाभ उठाया डाकू लुट रहे हैं अतः सबको पुलिस की मदद करनी चाहिए। धोली जन्ता को क्या मालूम था कि देशभक्तों को डाकू बतलाकर बन्दी बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। जन्ता ने पथराव शुरू कर दिया। भीड़ बढ़ने लगी। क्रान्तिकारियों ने गगनधेदी नारे लगाए शुरू कर दिया। अब जन्ता वस्तुस्थिति समझ चुकी थी। उसने पथराव फेंकना बन्द कर दिया।

यह भकान आस-पास के भकानों से ऊँचा जा और छत पर भी २.५ फीट ऊँची जाली लगी हुई थी। क्रान्तिकारियों ने छत पर सेटकर मोर्चा बनाया और डटकर सामना करने का निश्चय किया। दोनों ओर से गोलियों सनसना रही थीं। अंग्रेज अधिकारी अपनी सहायता के लिए पुलिस की टुकड़ियों को बुलाते जा रहे थे। मोर्वेबन्दी को सात घण्टे का समय हो गया था। जब क्रान्तिकारियों के पास सिर्फ ५ कारतूस ही शेष रह गये थे। उन्होंने सुलह के लिए सफेद कपड़ा दिखाया पर पुलिस ने इस विवशता का लाभ उठाकर और अधिक गोलियाँ चलाती शुरू कर दीं।

इच्छा न होते हुए भी क्रान्तिकारियों ने बम गिरा दिया। हास्यकार बन गये, चारों ओर विचैला धुआँ फैल गया, इसी धुँए में क्रान्तिकारियों ने अपना रास्ता खोजने का प्रयत्न किया। सम्भुनाथ एक छत से दूसरी छत पर और दूसरी से तीसरी पर कूदफौंद करते हुये गली में जा पहुँचे और भागने लगे। पुलिस ने पीछा किया। आजाद को एक चाल सूझी। उन्होंने चोटों के बन्दल फेंकने शुरू कर दिये। कुछ लोग तो लोभ में पड़कर सड़क पर नोट डूँढ़ने लगे पर बाकी सिपाहियों ने उनका पीछा किया। वह पकड़े गए। हथकड़ी डाल दी गयीं। थोड़ी ही देर में हीरालाल कपूर को पकड़ लिया गया और दोनों ही क्रान्तिकारियों को जेल पहुँचाया गया। बाद में मद्रास बम कांड के नाम से मुकदमा चला।

भारत को परतंत्रता की मृखलाओं से भुक्त कराने में किन क्रान्तिकारी देशभक्तों ने अपने सर पर कफन बाँधकर कदम बढ़ाये वे उनमें सम्भुनाथ आजाद को विस्मृत नहीं किया जा सकता। ऐसे निस्पृह सैनिक ही किसी देश की

घरोहर होते हैं। भारतमाता को भी अपने इस लहड़ले सपूत पर गर्व है। उन्होंने अपनी जान पर खेलकर मृत्युभूमि के ऋण को चुकाने में सफलता प्राप्त की और अपने उदाहरण द्वारा नवयुवकों को देशपत्ति की प्रेरणा दी।

काकोरी काण्ड के शहीद चन्द्र शेखर आजाद

१ अगस्त, १९२५ का ऐतिहासिक दिन। राजजहाँपुर लखनऊ एक्सप्रेस काकोरी स्टेशन पर ठहरी। जब नव-युवकों ने द्वितीय श्रेणी के लखनऊ के टिकट लेकर डिब्बे में प्रवेश किया। स्टेशन से गाड़ी चली और सिंगल के पास जाकर रुक गई। "अवश्य किसी ने जंजीर खींचकर गाड़ी रोक दी है।" एक यात्री ने कहा। तब दूसरा यात्री बोला-"शायद कोई मुसाफिर गाड़ी में चढ़ने से रुक गया होगा।"

तीनों नवयुवक गाड़ी के डिब्बे में पहुँचे। इवाई फरार हुए। इस डिब्बे में सरकारी खजाने का बक्सा आ रहा था। यात्रियों को सचेत किया गया "खजरदार, किसी ने नीचे उतरने की हिम्मत की तो गोली मार दी जायगी। सरकारी खजाना लूटा जा रहा है।" ऐसा कौन सा मुसाफिर था जो जलती आग में कूदने का प्रयत्न करता।

यह सनसनीखेज डकैती ब्रिटिश सरकार के लिए एक चुनौती थी। इस काण्ड से संबंधित व्यक्तियों को पकड़ने के लिए गुप्तचर विभाग के कर्मचारी चारों तरफ फैल गए थे। प्रदेश के मुख्य-मुख्य नगरों और स्टेशनों पर उनके फोटो बिफकाये गए और पकड़ने वालों को भारी इनाम देने की घोषणा भी की गई। २६ सितम्बर, १९२५ को काफी लोगों की गिरफ्तारियाँ हुईं पर चन्द्रशेखर आजाद तथा उनके अन्य साथी न पकड़े जा सके।

क्रान्तिकारी दल को सशक्त बनाने के लिये छिड़त रामप्रसाद बिस्मिल के नेतृत्व में डाके डाले गये। पहला डाका फतहपुर के गाँव में डाला गया पर सफलता हाथ न लगी। क्रान्तिकारी ऐसी धातु के बने न थे कि छोटी-छोटी असफलताओं से निराश हो जायें। एक के बाद दूसरे डाके डाले गए उसी मुखला में यह काकोरी की डकैती भी थी।

चन्द्रशेखर आजाद पुलिस से बचने के लिए सामुद्रेश में ओरछा चले गये। ओरछा स्टेशन के पास टिमरापुर गाँव है। गाँव के पास सांतार नदी है उसी के किनारे हनुमान जी का मन्दिर है। मन्दिर के पास कुटी बनाकर आजाद रहने लगे। इस समय इनका नाम हरिशंकर ब्रह्मचारी था। यह जंगली क्षेत्र था रात को कितने ही जंगली जानवर उस नदी में पानी पीने आते थे। अकेले

उस कुटिया में रात निकालना साधारण बात न थी। फिर भी कई दिनों तक उस मन्दिर में सोते रहे। उन दिनों रियासतों में बन्दूकों पर लायसेन्स लेना आवश्यक न था। इसलिए उनकी सुरक्षा हेतु टिमरापुर गाँव के लोगों ने एक बन्दूक को भी व्यवस्था कर दी थी। बन्दूक मन्दिर में रखी रहती।

ब्रह्मचारी अपनी तेजस्विता, मृदुलता और स्वभाव की सरसता के कारण उस क्षेत्र में लोकप्रिय होते जा रहे थे। वह रामायण का सस्वर पाठ करते और गाँव के बच्चों को पढ़ा दिया करते थे। उनकी गाँव के गम्बरदार चतुर ठाकुर से अच्छी पणिष्ठता हो गई थी। ठाकुर साहब तो ब्रह्मचारी जी को अपने सगे भाई से भी ज्यादा चाहने लगे थे। जो भी व्यक्ति ब्रह्मचारी जी से मिलने आता उसे सबसे पहले गाँव के ठाकुर से मिलना होता था, वही आगन्तुक के भोजन की व्यवस्था करते और दूध, लहड़ू का नम्रता कराते; फिर ब्रह्मचारी जी के पास सदेरा भेजते, कभी ब्रह्मचारी जी स्वयं आ जाते और कभी मन्दिर में अतिथि को बुला लेते। ब्रह्मचारी जी से मिलने के लिए कितने ही क्रान्तिकारी साथी, राजगुरु, सुखदेव, भगतसिंह, कुन्दनलाल, भगवानदास चाहौर, विजय कुमार सिन्हा, रुद्रनारायण, सदाशिव राव और वैशम्पायन आदि आते रहते थे।

साँघ ही साँतार नदी का किनारा क्रान्तिकारी आंदोलन की गतिविधियों का केन्द्र बन गया। ब्रह्मचारी जी लगभग १८ माह तक क्षेत्र में रहकर क्रान्तिकारी दल का पुनर्गठन करते रहे। पर यह क्रम अधिक समय तक न चल सका। एक दिन एक जटाधारी बाबा कहीं से भ्रमते हुये वहीं आ पहुँचे। उन्हें साँतार नदी के किनारे वाला वह स्थान बहुत पसंद आया। वह भी वहीं मन्दिर के प्रांगण में धुने स्नान करने लगे। बाबा और ब्रह्मचारी जी के स्वभाव में जमीन आसमान का अन्तर था। बाबा उग्र स्वभाव के थे। एक दिन की बात बाबा की किसी ग्रामवासी से कहासुनी हो गयी। उन्होंने आग देखा न तब बन्दूक उठाकर उसके प्राण हर लिए। बाबा जी पकड़े गये पुलिस का आना शुरू हो गया। ब्रह्मचारी जी तो पुलिस से बचने के लिए ही यहाँ अज्ञातवास कर रहे थे। वह बिना कुछ कहे सुने अन्यत्र चले गये। ग्रामवासी तथा ठाकुर परिवार उन्हें ढूँढता रहा पर उनका कहीं पता न चला।

अब ब्रह्मचारी जी अपने असली रूप में झाँसी आ गए थे। यहाँ वह मोटर चालक रामानंद के पास मोटर का कार्य करने लगे। आजाद के सारे कार्यों के पीछे क्रान्तिदल को सशक्त बनाकर देश को आजादी दिलाना ही प्रमुख उद्देश्य था। इसी समय मास्टर रुद्रनारायण के द्वारा इनका परिचय दत्तिया रियासत के दीवान नहरसिंह से हुआ। दीवान साहब अच्छी तरह जानते थे आजाद के लिए ब्रिटिश सरकार ने भारी पुरस्कार घोषित किया है। फिर भी

३.१० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-३

इन्होंने इस रहस्य का उद्घाटन अंत तक न किया। कुछ समय परचातू दीवान साहब को दतिया छोड़नी पड़ी।

सन् १९२८ में आजाद के कहने पर उनके क्रान्तिकारी मित्र भगवान दास माहौर ने म्वालिकर में नान्का चन्द्रबदन पर एक मकान किराये से लिया। वहाँ भगतसिंह आजाद, विजयकुमार सिन्हा तथा माहौर आदि क्रान्तिकारी नेता एकत्रित होते और दल के संचालन के सम्बन्ध में समय-समय पर चर्चाएँ करते।

आजाद का पूरा जीवन भारतीय स्वतन्त्रता के लिए क्रान्तिकारी इंग से लड़ाई लड़ने की कहानों का जीवन है जिसमें छोटी बड़ी अनेक घटनाएँ घुड़ी हुई हैं। ऊपर तो कुछ घटनाएँ मात्र उनके साहस और चातुर्य का परिचय देने के लिए दी गई हैं। ऐसी घटनाओं की एक सुविस्तृत सूची है जो बताती है कि उनमें बड़े से बड़े खतरों को साहसपूर्वक कन्धे पर उठाने तथा देश की आजादी के लिए कुछ भी कर गुजरने की उत्कट अभिलाषा थी। क्रान्तिकारी संगठन और उसके संचालन में उन्हें सूर्यन्य गिना जाता है और उनके दुस्साहस भरे अगणित संस्मरणों को देश भर में भाव विभोर ब्रह्मा के साथ सुना जाता है।

२७ फरवरी, १९३१ का दुर्दिन समय प्रातः १ बजे का। आजाद ने इन दिनों इलाहाबाद को अपने दल का केन्द्र बनाया था। किसी मुखबिर ने खबर दी कि आजाद अलफ्रेड पार्क में है फिर क्या था? नट बाबर ने पुलिस के साथ पार्क का घेरा डाल दिया। आधे घण्टे तक गोलीबाँनी चलती रही। आजाद ने पिस्तौल से मुकाबला किया। पुलिस अधीक्षक नट बाबर की गोली आजाद की जीभ में लगी। आजाद की गोली से नट बाबर का दाहिना हाथ घायल हो गया और पिस्तौल गिर गई। नट बाबर ने मीलन्री के पेड़ के पीछे छिप ली। जब जब नट बाबर के शरीर का कोई अंग मीलन्री के पेड़ से बाहर दिखाई देता। आजाद का कार उस पर होता था। ठाकुर बिरोहर सिंह ने समर हाउस की ओर से आन्वद पर गोली चलाई और इसके उत्तर में आजाद की गोली ने उनका जबड़ा तोड़ दिया।

इस कठिन संघर्ष से बच निकलना आजाद के लिए कठिन था। अतः उन्होंने अपनी गोली से अपनी जीवन लीला समाप्त कर ली। आजाद के शहीद हो जाने के बाद भी किसी अधिकारी और सिपाही की इतनी हिम्मत न हो रही थी कि वह लाश के पास जावे। जमीन पर पड़े जामुन के पत्ते उनके खून से तर हो गये थे।

पहले तो आजाद की माँ को यह विश्वास ही नहीं हुआ कि उनका पुत्र देश के काम आया होगा पर जब दिव्य चक्षुः से छूटने के परचातू विश्वनाथ वैराग्यन क्रान्तिकारी की माँ के पास गये और दिल दहलाने वाली पूरी घटना सुनाई तो माँ के कण्ठ से यही निकल्य - "मेरा शेखर देश के काम आया, इससे अधिक किसी माँ के लिए

गौरव की बात और क्या हो सकती है, वह शरीर से भले ही शहीद हुआ हो पर नाम से सदैव जीवित रहेगा।"

स्वतन्त्रता की पावन-वेदी पर समर्पित इस शहीद का जन्म दिनांक २३ जुलाई को झाबुआ जिले के भाबरा ग्राम में हुआ था। वह बचपन के १३ वर्षों तक अपने पिता चम्पित सीताराम तथा माता जगतरानी के साथ इसी गाँव में रहे। पढ़ने में उनकी रुचियत न लगती थी। स्कूल के बहाने वह घर से निकल जाते और जंगल में अपने मित्रों के साथ खानेदार और डाकू का खेल खेलते रहते थे। तीर कमान और बंदूक चलाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। आदिवासियों के साथ रहने के कारण ही वह खेती करने में बड़े कुशल हो गये थे। पिता चाहते थे कि बेटा संस्कृत का अध्ययन कर वेद का ज्ञाता और विद्वान बने पर वह घर छोड़कर स्वच्छन्द पक्षी की तरह उड़ जाना चाहते थे और एक दिन वह बिना सूचना के घर से चले गये। बाद का जीवन तो एक क्रान्तिकारी के रूप में सामने आया।

उन्होंने जिस दिन आजादी के लिए अपने खून से होली खेली। उसके बहुत समय बाद टिमरापुर गाँव के ठाकुर परिवार तथा अन्य लोगों को यह पता चला कि मन्दिर के पास में रहने वाले ब्रह्मचारी कोई और नहीं परन्तु चन्द्रोखर आजाद ही थे तो उन सबने अनुपूरित नेत्रों से आजाद को मौन ब्रह्मांगलि दी साथ ही अपने भाग्य को सरला कि देशभक्त की सेवा करने, सम्पर्क में रहने और सहयोग प्रदान करने का उन्हें सौभाग्य मिला।

संग्रार नदी तट पर स्थित वह कुटिया जैसी थी आज भी वैसी ही बनी हुई है। वहाँ का घाट मन्दिर पक्का बन गया है। कुटिया में आजाद का चित्र टैंग है जहाँ प्रतिवर्ष सैकड़ों नर-नारी उन्हें अपने ब्रह्म सुमन बढ़ाने जाते हैं। इसी तरह उनके जन्म स्थान भाबरा की कुटिया भी सुरक्षित रखी गई है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए दीर्घकाल तक सतत संघर्ष करने वाले और अपने प्राणों को भी भारत माता के चरणों में न्योछावर करने वाले देशभक्तों की याद सदैव आती रहेगी और नयी पीढ़ी को राष्ट्रहित में अपनी सेवाएँ प्रदान करने के लिए संदेश देती रहेगी।

रौद्रता के भीतर सहृदयता के अंकुर

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम अपने वेग पर था। उग्रवादी तथा खून सान्त तरीकों के अतिरिक्त हिंसात्मक प्रतिकार पर भी उतर आया था। अंग्रेजों को अपनी दमन-नीति पर गर्व था- वे प्रदर्शित करने लगे थे कि भारतीय नवानों में कड़े प्रतिकार की क्षमता नहीं है। ऐसी स्थिति में शान्ति पूर्ण आन्दोलन तथा सहनशीलता पूर्ण प्रतिकार के साथ, शीर्ष एवं उग्रता का नमूना भी उनके सामने रखना आवश्यक-सा लगा। उन परिस्थितियों में जो युवक उस

आन्दोलन में कूद पड़े- उनके कार्य को देखकर बड़े बड़ों के हाँसते पस्त हो गये । दहकते हुए अंगार जैसे उनके व्यक्तित्व का तेज सहन करना कठिन था । फिर भी उनके अन्तःकरण में मानवता, सहृदयता तथा भावनाशीलता के जो पावन स्रोत बहते थे- उनको देख सकने वाले गढ़-गढ़ हो उठते थे । उनका मानवीय गुणों से पूर्ण अन्तःकरण ही वह प्रधान कारण था जो उन्हें अनर्थकारी क्लिष्टता से रोके रहा तथा उनके विद्वेष को भी रचनात्मक बनाये रहा ।

चन्द्रशेखर आजाद उस समय अखिल भारतीय स्तर के क्रान्तिकारी के रूप में सामने आ चुके थे । अंग्रेज सरकार उनकी खोज में थी और वे उन दिनों ओरछा के जंगलों में थे । तभी उन्हें सूचना मिली कि उनके क्रान्तिकारी स्वरूप के गठन में सहयोग देने वाले एक शिक्षक की बच्ची का विवाह होने वाला है ।

चन्द्रशेखर आजाद यों ही जोश में आकर मैदान में नहीं कूद पड़े थे । उन्होंने हर संभावित स्थिति के उपयुक्त योग्यता एकत्र की थी हर आवश्यक कार्य का प्रशिक्षण लिया था । उसी अभ्यास क्रम में उन्होंने मोटर चलाने तथा उसकी मरम्मत सम्बन्धी कुराकुरा भी प्राप्त की थी । वह अभ्यास उन्होंने झाँसी में 'दी हिन्दुस्तान मोटर वर्क्स' में किया था । उनके प्रशिक्षक इस्लाम धर्म के अनुयायी, सहृदय तथा राष्ट्रीय विचारधारा से ओत-प्रोत व्यक्ति थे । उनकी भी लड़की की शादी होने वाली थी ।

उन दिनों स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने वाले हर व्यक्ति को कठोर परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था । क्रान्तिकारियों के समर्थक होने का शक भी जिस पर हो, उसे तो सरकारी दरिन्दे अकारण ही परेशान किया करते थे । अस्तु, अधिकांश आर्थिक कठिनाइयों में ही रहते थे । फिर भी परस्पर सहयोग तथा अपने साहस एवं पुरुषार्थ के बल पर वे सदा मस्तक ऊँचा ही किये रहे । चन्द्रशेखर आजाद के उक्त प्रशिक्षक के भी सभी हितैषी उनके सहयोग के लिए एकत्र होकर कन्या के विवाह की व्यवस्था करने लगे ।

चन्द्रशेखर आजाद के कार्य और उनकी कठिन परिस्थितियों से सभी परिचित थे । अतः उनसे सहयोग लेने की किसी को कल्पना भी नहीं थी । किन्तु वे एक रात स्वयं उनके यहाँ पहुँच गये । उन्हें देखते ही उनके उस्ताद चौंके बोले 'क्यों आजाद खरियत तो है?' आजाद को अचानक प्रकट होने से उन्हें चिन्ता हो गई थी, पता नहीं जब आजाद ने आने का कारण बतलाया तो चिन्ता का निवारण तो हुआ पर उन्होंने प्यार भरी डाँट भी दी । बोले "ऐसी स्थिति में तुम्हें अकारण आने की क्या आवश्यकता थी ? वहाँ जो लोग हैं वही क्या काफी नहीं हैं ? एक तुम्हारे बिना ही क्या काम सकता था ।"

आजाद नम्रतापूर्वक उनकी बात सुनते रहे और फिर बोले-"उस्ताद जी मैं नबीज किसी काबिल होऊँ वा

नहीं, मेरे किये कुछ हो या न हो, किन्तु बहिन की शादी के लिये मैं सहयोग करने का कोई प्रयास भी न करूँ इतना नीच तो मैं नहीं हो हूँ ।"

आजाद के नाम पर ब्रिटिश सरकार काँप रही थी, उनके पुरुषार्थ से देश में आग बरस रही थी, पर अपने शिक्षक के सामने उनके सीधे सादे निरछल शब्द उनके सुद्ध पवित्र अन्तःकरण के प्रतीक थे । उस्ताद ने भी प्रेम के गहरे अन्वेषण खतरा न लेने के आग्रह से उनको भीठी झिड़की दी थी, पर आजाद के आग्रह के आगे वह पानी-पानी हो गये । चुपचाप अन्दर गये और कुछ रुपये लाकर उनके हाथ में दिये और बोले "काम तो तुम्हें देता हूँ पर अब और बात न सुनूँगा । यह रुपये ले जाओ- अपनी ओर से कुछ खर्च करने का न आग्रह करना और न प्रयास ही । यह मेरी आज्ञा है । यहाँ झाँसी की अपेक्षा ओरछा में भी कानूनी सस्ता है । वहाँ से दो टीन भी खरीद कर अपनी बहिन की शादी के लिए भेज देना । बस इतना ही कार्य तुम्हारे लिये बहुत है । बेटा तुम्हारा काम बड़ा है उसमें ही समय लगाना ।" और आदेश प्राप्त करके, रुपये अन्टी में लेकर चन्द्रशेखर आजाद उसी रात वापस ओरछा के जंगलों में पहुँच गये ।

विवाह व्यवस्था अपने मार्ग पर चलती रही । भी की व्यवस्था चन्द्रशेखर आजाद के हाथों में देने के बाद लोग उस तरफ से निश्चित हो गये । उन्हें विश्वास था कि आजाद किसी न किसी सूत्र से समय के अन्दर व्यवस्था कर ही देंगे । पर ऊपर से फौलाद की तरह कठोर, जरा से संदेह पर मनुष्य को गोली से उड़ा देने वाले चन्द्रशेखर आजाद के अन्तःकरण को शायद उनके निकटस्थ आत्मीय भी पूरी तरह न पहचान सके थे ।

उक्त घटना के एक सप्ताह के अन्दर ही एक रात्रि को फिर दरवाजा छटक़ा । उस्ताद ने उठकर दरवाजा खोला तो देख कर कंधे पर बहँगी पर दो टीन भी लिए चन्द्रशेखर आजाद खड़े हैं । पलक मारते उस्तादजी सब समझ गये । ओरछा से झाँसी तक भी स्वयं आजाद अपने कंधे पर लाये थे । सीधे रास्ते तो वैसे भी भी नहीं लाया जा सकता था । फिर आजाद को, जिन्हें पुलिस से लेकर गुप्तचर तक खोजते रहते थे- कितनी सावधानी से-बीहड़ जंगलों में होकर आना पड़ा होमा, यह समझते उन्हें देर न लगी । उनकी भावना पर हृदय भी ठपड़ा, किन्तु खतरा लेने पर क्रोध भी आया । तुरन्त अन्दर करके दरवाजा बन्द किया और प्यार व रोचपूर्ण फटकार फिर निकल पड़ी ।

"आजाद तुम कितने लापरवाह आदमी हो ? और कोई साधन तुम्हें न मिला, किसी और तरीके से भेजना क्या सम्भव नहीं था तुम्हारे लिये ?" और आजाद का फिर वही नम्रता भरा अकल्प्य प्रेम से भरा बेजोड़ उत्तर था "इस पवित्र कर्म में मुझे एक ही तो मौका मिला था उस्ताद जी, उसी को किसी और से कस लेता तो मेरा शरीर किस काम आता?"

“पर आजाद सोचो तो, देश को तुम्हारी कितनी आवश्यकता है— उसको धुलाकर ऐसा खिलवाड़ क्या शोभा देता है ? समय के अनुसार उपयोगिता का ध्यान भी तो रखना चाहिए ।” आजाद उसी प्रकार सिर झुकाने खड़े रहे । जिस गले की कड़क लोगों की रुह कैसा देती थी— वही जैसे शहद में डुबोकर धाक्य निकाल रहा था । बोले “उपयोगी-अनुपयोगी के स्थापन में मेरी जुड़ि काम नहीं कर पाती । मुझे डालते समय मेरे रौद्र रूप के अन्दर किसी ने एक मनुष्यता का अंकुर भी बगा दिया है । वह भी तो अपनी खुराक, अपना हक माँगता है । उसकी उपेक्षा कर देने के बाद यह चलती-फिरती विध्वंसक मशीन देश के कितने काम आ सकेगी यह मैं नहीं समझता ?

अब ठस्ताद से न रहा गया । बनावटी क्रोध बह गया । आजाद को उन्होंने गले लगा लिया और देर तक मूर्तिवत स्थिर से खड़े रह गये, केवल आँसू बह रहे थे । फिर धीरे कंठ से बोले “बेटा हमारा कमाया तो गया; अब तुम्हीं पर देश की आशा है । तुम्हें देखकर हमें संतोष है कि आपत्तिकालीन धर्म के रूप में हमने जो सोड़-फोड़ स्वीकार की है— वह देश का अहित न कर सकेगी । जाओ भगवान तुम्हें सफल करें ।” और चन्द्रशेखर आजाद उनके चरण छूकर पुनः लौट पड़े अपने कार्यक्षेत्र की ओर ।

तथ्य साक्षी हैं—गुणों को हृदय में धारण करके सोड़-फोड़ भी स्वीकार करने वाले क्रान्तिकारी देश के निर्माण में बाधक कभी नहीं बने और शान्ति की दुहाई देने वाले अनाकरण के तीन व्यक्तियों के कारण हमारे सामने रोज आया करते हैं, फिर भी नयी पीढ़ी को बनाने डालने में हम उनके आन्तरिक गठन की उपेक्षा करके अपने मानसिक दिवालियेपन का नमूना प्रस्तुत किए जा रहे हैं ।

आदर्श का शुभारम्भ स्वयं से

लाहौर के एक मकान के कमरे में एक नवयुवक बैठा सूखी रोटियाँ चबा रहा था । उसकी कद-काँती और चेहरे के हाव-भाव से कोई भी सहज अन्दाजा लगा सकता था कि वह बलिष्ठ और चरित्रवान है ।

उसे घेरे बैठे अन्य नवयुवक साधियों में से एक ने कहा “क्यों जिद करते हैं, पण्डित जी ?” “वह जिद नहीं किरायतशारी है ।”

“तो अब सूखी रोटियाँ चबाने का आपने नया नामकरण भी कर लिया ।”

“समझने की कोशिश करो रजनीत” खर रहे युवक ने पूछने वाले को सम्बोधित करते हुए कहा । “चलिए आप ही समझाइये ।”

दल की वर्तमान आर्थिक स्थिति के अनुरूप प्रत्येक सदस्य को दो आने भोजन के लिए मिलते हैं । एक आने की रोटियाँ और एक आने का गुड़ । पर मेरा पेट एक

आने की रोटियों से नहीं भर सकता । इसी कारण समूचे दो आने की रोटियाँ खरीद खा रहा हूँ । आयी बात समझ में ।

“बिल्कुल नहीं सुनने वालों ने एक साथ कहा । “दल के पास बहुत पैसा है ।”

“पर खाने के लिए नहीं” बात काटते हुए नवयुवक ने कहा ।

“ठीक है पर आप हमारे प्रमुख हैं इसलिए आप यदि खाने में कुछ थोड़ा ज्यादा खर्च कर लें तो कोई एतराज नहीं । पर यहाँ तो मामला ही उलटा है । आप सूखी रोटियाँ चबाते हैं और हम सबको अपेक्षाकृत अच्छा भोजन मिल जाता है । वह नीति कब तक चलेगी ?”

“जब तक संगठन को जीवित रखना है ।” अपने प्रति कठोरता, दूसरों के प्रति उदारता । “संगठन के जिम्मेदार लोग जब तक इस नीति के अनुरूप व्यवहार करते हैं, तभी तक संगठन जीवित रहता है । सामूहिकता तभी बरकरार रह सकेगी जब तक किरायतशारी को अपनाया और महात्माकांक्षाओं को ठुकराया जाता रहेगा ।”

“अब गए न आप धूम-फिरकर वहीं । सिद्धान्त सूर्य की तरह है, जब तक मानवीय जीवन के विभिन्न ग्रह उसके चारों ओर चक्कर लगाते हैं, उसकी प्रेरणा के अनुरूप अपने को संचालित करते हैं तभी तक उनका अस्तित्व है । सिद्धान्त से विलग हुए कि अस्तित्व समाप्त हुआ ।”

“बहुमन सुविधा सम्बर्द्धन का नहीं सद्गुण सम्बर्द्धन का नाम है ” कहने वाले के स्वरों में पीड़ा थी । “जिसने संगठन बनाया है उसे ही बिखरने का दर्द होता है । खूबसूरत मत्स्य के टूटने की सबसे अधिक पीड़ा माली को होती है । कहते-कहते गला भर आया ।”

साधियों ने एक स्वर से क्षमायाचना की । हमने आपकी किरायतशारी का मखौल उड़ाया इसके लिए माफ़ी चाहते हैं । आप जो भी दण्ड दें, स्वीकारने के लिये तैयार हैं ।

“दण्ड नहीं अच्छाई का महत्व समझो और स्वीकारो । देश को हम सब लोगों से कितनी आशा है । हम क्रान्तिकारी माने जाते हैं एक बड़े परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील हैं ।”

“क्रान्तिकारी का मतलब जानते हो ?” कुछ चुप रहकर वह बोले जो वर्तमान में भी भविष्य में होने वाले परिवर्तन के अनुरूप जी रहा हो । जिसकी जिन्दगी के छोटे-छोटे क्रियाकलाप को देखकर हर कोई कह सके, अहा ऐसा होना स्वर्णिम भविष्य जिसके लिए वे लोग प्रयत्नरत हैं ।

हम सभी प्रतिज्ञा करते हैं पण्डित जी । सब आपकी सपना, हम जैसे ही क्रान्तिकारी बनेंगे जैसे आप चाहते हैं ।

यह पण्डित जी थे, हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी नामक क्रान्तिदल के कमाण्डर इन चीफ चन्द्रशेखर आजाद, जिनके आदर्शवादी जीवन ने अनेकों में प्राण फूँके ।

सर्वजयी आत्मीयता का प्रतिफल

एक साधारण परिवार के युवक ने विदेशी साम्राज्यवादियों से टक्कर लेने की ठानी, वह क्रान्तिकारी बन बैठा । यों जवानी के जोश में-भावधेस में आकर दीपक पर पतंगे की तरह जल मरना एक बात थी और क्रान्ति का सफल संचालन दूसरी ।

इस युवक ने जो न विशेष पढ़ा-लिखा ही था, न उसका परिवार क्षेत्र ही विस्तृत था, न पर्याप्त धन तथा सम्मान उसे उत्तराधिकार में मिला था फिर भी वह वर्षों ठन साम्राज्यवादियों को नाकों बने चबवाता रहा जिनके राज्य में कभी सूरज भी अस्त नहीं होता था । सरकार उसे जीवन भर पकड़ नहीं सकी । उसने अपने से अधिक पढ़े-लिखे तथा शक्तिशाली क्रान्तिकारियों का सफल नेतृत्व किया । इसके पीछे उसकी बहुत बड़ी सम्पदा-बहुत बड़ी सामर्थ्य-बहुत बड़ी प्रतिभा थी उसकी सर्वजयी आत्मीयता । आजाद जहाँ भी जाते वहाँ अपनापन, प्रगाढ़ आत्मीयता जोड़ लेते थे ।

आजाद काकोरी काण्ड से फरार होकर झाँसी आ गये । झाँसी आने के बाद अपने अन्तिम समय-अल्फ्रेड पार्क में शहीद होने तक उनकी गतिविधियों का केन्द्र वही स्थान रहा । अंग्रेज सरकार ने इन्हें पकड़वाने के लिए हजारों रुपयों के इनाम घोषित किये पर जब मजस कि वे आजाद की छाया को भी पकड़ पाते ।

झाँसी में उनकी ठिकाना था मास्टर कदनारायण का घर । उनकी आस-पास के गौँवों में तलारा होती और वे मने से पहाँ रहते थे । इस परिवार के वे सहज ही अभिन्न सदस्य बन गये थे । बड़ोसी तक इन्हें मास्टर साहब के भाई समझते रहे । उनकी पत्नी के प्रिय देवर तथा बच्चों के प्रिय चाचा के रूप में आजाद परिवार की अमूल्य निधि बन गये थे । मास्टर कदनारायण के लिए आजाद का पारिवारिक मूल्य उनके राजनैतिक मूल्यों से राई रती कम नहीं था ।

झाँसी ही नहीं झाँसी और मोरठा के बीच सांसार मदी के तट पर बसे ग्राम टिमरापुर के ठाकुर के छोटे भाई बनने में भी उन्हें विशेष समय नहीं लगा । झाँसी में रहना जब निरापद नहीं रहा तो उन्होंने इस नदी के तट पर अपना आसन अमाया । एक ब्रह्मचारी के छद्म वेश में अजरार्थ यहाँ रहने लगे । मधुकरी वृत्ति से उदरपोषण होने लगा । उनकी रामायण की कथा कहने के डंग तथा दुष्ट चरित्र से प्रभावित होकर गाँव के ठाकुर ने सदा के लिए इन्हें अपने परिवार का पूज्य बना लिया । अपने चार भाइयों पर उन्हें विश्वास नहीं था जितना आजाद पर हो

गया । ठाकुराइन की तिजुरी की चाबियाँ इनके यज्ञोपवीत में बँधी रहने लगी ।

इसी ग्राम में बैठे-बैठे आजाद ने काकोरी केस के बिखरे क्रान्तिकारियों को एक सूत्र में पिरोकर संगठित रूप दिया । ठाकुर साहब के परिवार के सदस्य की तरह वे सप्ताहिक पर दूसरे-तीसरे दिन झाँसी की दौड़ कर आते थे ।

बहुसंख्यक क्रान्तिकारी अपने साधियों के विश्वास-घात के कारण पकड़े गये तथा दण्डित हुए । किन्तु आजाद के साथ ऐसा कभी नहीं हो सका । उनकी आत्मीयता ने दल के सभी दस्यों को अपना अंतरंग बना लिया था उनकी आत्मीयता इतनी विस्तृत थी कि जो भी उनके सम्पर्क में आता, उन्हें अपना मानने लगता था । उन्हें प्यार करने लगता था, उन पर विश्वास करने लगता था ।

ऐसी आत्मीयता के महान गुण को मनुष्य को सच्ची सम्पदा मानकर जिसने विकसित कर लिया, उसको अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफलता मिलकर रहती है । वह जिस क्षेत्र में जाता है, जिस काम में हाथ डालता है वहाँ सम्पदा उसके साथ दैवी शक्ति की तरह सहायक होती है । दूसरों का यह सहयोग मिलते देर नहीं लगती । आजाद की तरह हर कोई इसका विकास करके महान कार्य सम्पादित कर सकता है ।

महत्त्व व्यक्ति को नहीं आदर्शों को देना
श्रेयस्कर है

सरदार भगतसिंह

शहीद भगतसिंह तथा उनके जाग्रत-प्राण साधियों ने तलारा लज्जताराम की मृत्यु का बदला सान्डर्स का घध करके ले लिया था । उसके परभाव से बड़ी दक्षता से अपने आपको छिपाने में सफल भी हो चुके थे । किन्तु भगतसिंह को जो आत्मसन्तोष मिलना चाहिए था वह नहीं मिल रहा था । उन्हें कहीं-कोई न कोई भूल मखर आ रही थी ।

इत्या करना तो क्रान्तिकारियों का आदर्श नहीं था । उनका आदर्श तो देशप्रेम की अग्नि को जन-जन के हृदय कुण्ड में प्रज्वलित करना था । उनके इस आदर्श का, उनके इस उद्देश्य का स्पष्ट स्वरूप सान्डर्स घध से जन-मानस के समने प्रस्तुत नहीं हो सका था । जिन लोगों में देश प्रेम की आवना थी वे तो उनके उद्देश्यों का परिचय पा सके थे । किन्तु ऐसे लोग थोड़े से ही थे । अधिकांश जनता के लिये तो वह कृत्य विशेष महत्व का नहीं था ।

सरदार भगतसिंह ने अपने अन्तर में झलकने वाले इस असन्तोष के सम्बन्ध में गहन चिन्तन किया तो उनके समक्ष यह तथ्य स्पष्ट हो गया कि इस प्रकार के कृत्य से जनता

३.१४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

को जगाया नहीं जा सकता । आदर्शों को प्रमुखता देनी होगी चाहे उसके लिये हमें अपने बाँबाज साधियों का बलिदान ही क्यों न देना पड़े । तभी हम अपने आदर्शों का सच्चा स्वरूप देशवासियों के सामने रख सकेंगे । वह स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया जा सका तो ये हत्याये तथा विद्रोह-अपराध का उदाहरण बनकर रह जायेंगे ।

अपनी प्रथम भूल को उन्होंने दूसरी बार सुधारा । उन्होंने एसेम्बली में बम फेंका, वह विस्फोट भर बनकर नहीं रहा । इस विस्फोट के माध्यम से उन्होंने अंग्रेज सरकार के कान खोल दिये तथा जनता की नींद को इस धमाके से तोड़ा । इस कृत्य की सफलता के लिये उन्होंने अपने उद्देश्यों का परिचय छापी हुई विडियो(फ्लेमस्कोट्स) की पर्चा करके दिया । इनमें यह बताया गया था कि बहरों को जगाने के लिये आवाज की नहीं विस्फोट की आवश्यकता होती है । यह संकेत अंग्रेज सरकार की ओर था । परोक्ष में भारतवासियों को जगाने का लक्ष्य भी प्रमुख रहा था ?

बम विस्फोट से एसेम्बली में भगदड़ मच गई । सारा 'हॉल' धुँएँ से भर गया था । इस प्रकार के विस्फोट की अंग्रेजों ने कल्पना तक नहीं की थी । ऐसी स्थिति में भगतसिंह अपने साधियों सहित बाहर निकल भाग सकते थे । इसके लिये प्रबन्ध रहले से ही किया जा चुका था । बाहर इनके भागने के लिये मोटरसाइकिल का प्रबन्ध था ।

भगतसिंह भागने के लिये नहीं आये थे । वे अपनी पहली भूल को दोहराना नहीं चाहते थे । उनका उद्देश्य जनता में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करना था । यह भावना जगाने के लिये उनका बलिदान आवश्यक था-उनका बन्दी होना आवश्यक था ताकि न्यायालय के सम्मुख वे अपने मन की बात कह सकें-अपने उस उद्देश्य को स्पष्ट कर सकें जिसके लिये उन्होंने हिंस्र का औचित्य स्वीकार किया था ।

इन लोगों के बन्दी हो जाने के कारण क्रान्तिकारियों के प्रति जनमानस में गया आकर्षण और उद्वा भाव जागृत । उसे इन कानून विरोधी कृत्यों के पीछे जो उद्देश्य- आदर्श छिपा था उसके दर्शन होने लगे थे । नवजागरण की एक लहर उठने लगी थी ।

भगतसिंह क्रान्तिकारियों के नेता थे । उनका जेल में बन्दी हो जाना इन लोगों को असह्य हुआ । इन क्रान्तिकारियों को खतरनाक कैदी समझ कर लाहौर के किले में रखा गया जो जेल भी थी व गुप्तचर विभाग का मुख्यालय भी । उसके अधिकारी अपने बन्दीयों को पर्यन्त यन्त्रणा देने के लिए कुख्यात थे । इसके सबसे बड़े अधिकारी खान बहादुर अब्दुल अजीज ने इन दैतयों को अमानुषिक यंत्रणाएँ दीं । भगतसिंह तथा उनके साथी इन्हें हँसते-हँसते डेल गये । राष्ट्र की स्वतन्त्रता के आदर्श

के सम्मुख सरीर को दी जाने वाली यह यन्त्रणा उनके लिये नगण्य सिद्ध हुई । मनुष्य को दुःख कष्टों की अनुभूति अपनी भावनाओं से होती है । उन्हें इस यन्त्रणा में भी अद्भुत सुख मिल रहा था ।

इन दिनों न्यायालय में इन क्रान्तिकारियों के अभियोग पर विचार हो रहा था । इन्हें मृत्यु दण्ड से हल्का दण्ड तो मिलने वाला न था ।

क्रान्तिकारी जो भगतसिंह के बन्दी हो जाने से पहले ही भुज्य थे । उन पर होने वाले अत्याचारों को सुनकर किसी भी शर्त पर इन्हें जेल से मुक्त कराने के लिए कृत संकल्प हो चुके थे, उसे पूरा करने के लिये उन्होंने तत्परता से तैयारियाँ आरम्भ कर दीं ।

तब तक भगतसिंह लाहौर की बोस्टल जेल में स्थानान्तरित कर दिये गये थे । उन पर लाहौर के न्यायालय में अभियोग चल रहा था । उसके लिये उन्हें नित्य बोस्टल जेल से सेन्ट्रल जेल तक मोटर लारी में ढिठाकर लाया जाता था । इसी मार्ग पर इस मोटर लारी पर अधिकार करके इन सबको हड़ाने की योजना बनाई गई । चन्द्रशेखर आजाद इस योजना के सूत्रधार थे ।

लाहौर में सारे भारत के प्रमुख क्रान्तिकारी एकत्रित हो गये । साइकिलों, मोटरसाइकिलों तथा मोटरगाड़ी का प्रबन्ध किया जा चुका था । उन्हें मुक्त कराने के पश्चात् रखने के लिये कई मकानों का प्रबन्ध भी किया जा चुका था । बम बनाये गये थे, पिस्तौलें तथा अन्य हथियार जुटा लिये गये थे । राहीब भगवती चरण इनमें से एक बम का परीक्षण करते हुए दिवंगत हुए थे ।

सरदार भगतसिंह इस तैयारी से अनभिज्ञ न थे । वे भी इसमें ऊपरी मन से सहमत हो चुके थे । समय, स्थान तथा कार्यक्रम का निर्धारण भी हो गया था । उसे क्रियान्वित करने के लिये भगतसिंह की सहमति भी मिल गई थी, किन्तु उनका उद्देश्य कुछ और ही था ।

जिस दिन यह सब होना था उस दिन उन्होंने अपने इस उद्देश्य को स्पष्ट किया । दो चार व्यक्तियों के पीछे इतने व्यक्तियों की जान जोखिम में डालना उन्हें उपयुक्त नहीं लगा था । वे जानते थे कि महत्त्व भगतसिंह को दिया जा रहा है, दिया जाना चाहिए राष्ट्र के स्वतन्त्रता आन्दोलन को । क्रान्तिकारियों को जेल से मुक्त कराने के चक्कर में आन्दोलन कमजोर पड़ जायेगा । इसलिए वे इस योजना को कार्यान्वित करना नहीं चाहते थे । उनकी पूरी सहमति के पीछे यह लक्ष्य था कि उस बहाने क्रान्तिकारियों की एकता दृढ़ हो जायेगी ।

जैसा कि भगतसिंह चाहते थे जिस असहमति की आशंका क्रान्तिकारियों ने कदापि नहीं थी, वही हुआ । बोस्टल जेल के द्वार पर जहाँ पुलिस की मोटर लारी बन्दीयों को सेन्ट्रल जेल से जाने को तैयार खड़ी थी ।

भगतसिंह छद्मवेश में खड़ी क्रान्तिकारियों के नेता को योजना कार्यान्वित करने का संकेत देने वाले थे, वैसे नहीं हुआ। भगतसिंह को जब तारी में बैठने के लिए से जाया गया तो उन्होंने संकेत दिया—“नहीं यह सब कुछ नहीं होगा।” इस पर क्रान्तिकारी समझे कि आज कोई खतरा है। अगले किसी दिन इस कार्य को पूरा किया जायेगा।

दूसरे दिन जब एक व्यक्ति उनका मरतम्य जानने के लिये जेल पहुँचा। उनसे मुलाकात हुई। उनसे मनाही का कारण पूछा गया तो उन्होंने बताया—“यह उचित नहीं होगा कि थोड़े से व्यक्तियों की जान बचाने के लिये हम कितने ही देशभक्तों का रक्त बहा दें। हम जिस उद्देश्य को लेकर अपना सब कुछ छोड़कर क्रान्ति पथ पर आये हैं वह इसकी आत्मा नहीं देता। हम तो अपना कफन अपने ही स्तिर पर बाँधकर निकलते हैं। यह सब व्यक्ति की नहीं इस आदर्श की है। हमें ही श्रेष्ठ मिले या हमसे ही क्रान्ति होगी— देश स्वतन्त्र होगा यह तो हम लोग नहीं सोचते किन्तु यह कार्य हमें ऐसा ही सिद्ध करेगा। हमारे बलिदान से हमारे आदर्श को बल मिलेगा तो कल इसी जनसमुदाय में से सहस्रों भगतसिंह पैदा हो जायेंगे तथा भारत स्वाधीन होकर रहेगा।”

क्रान्ति दृढ़ा भगतसिंह के इन शब्दों में जो सत्य छिपा है, उसे काल की परिधि में नहीं बाँध जा सकता। समय की पुष्कार पर आज भी आदर्शों के लिये जीवन समर्पित करने की परम्परा बनाये रखना आवश्यक है।

देश सेवक का यत्न

क्रान्तिकारी शहीद सरदार भगतसिंह एक खाले-पीले परिवार के पुत्र रत्न थे। किन्तु जब उन्होंने देश सेवा में पदार्पण किया और उपार्जन का विचार त्याग दिया तब उन्होंने अपने स्वर्ग के लिये परिवार पर भी निर्भर न रहने का निश्चय कर लिया। कारण पूछने पर उन्होंने बतसाया कि वे परिवार के स्तिर पर बोझ बनकर देश सेवा करना पसन्द नहीं करते।

निदान जिस समय १९२७ में पंजाब-बंगाल और उत्तर प्रदेश के क्रान्तिकारी नेताओं के बीच सम्पर्क स्थापित करने में व्यस्त थे, उनको आर्थिक कठिनाई का अनुभव हुआ। उन्होंने तत्कालीन कांग्रेस कार्यकारिणी के प्रभावशील सदस्य श्री शार्दूलसिंह को कइलाया कि वे अपनी गुजर-वशर के लिये कुछ काम करना चाहते हैं। श्री शार्दूलसिंह ने अमृतसर कांग्रेस कार्यालय में काम करने के लिये दैनिक सौ रुपये महाभार पर नियुक्त करा दिया किन्तु सरदार भगतसिंह ने बहुत कुछ कहने पर भी ३० रुपये मासिक से अधिक स्वीकार न किया और कहा—मैं तो देश की सेवा करने के लिए जीवित रहने

का साधन चाहता हूँ न कि अधिक कमाई करके सुख के साथ जीवन बिछाने के लिये। तीस रुपये मेरे गुजारे के लिये बहुत हैं।

क्रान्ति की भावनात्मक वसीयत

घन सम्पदा की वसीयतों की तो बात आम है पर भावनाओं की वसीयत के उदाहरण भी देखने को मिल जाते हैं। सरदार भगतसिंह के होश सम्हालने से पहले ही उनके चाचा अंग्रेजी सरकार से विद्रोह करने के सिलसिले में फरार हो चुके थे। भगतसिंह को उसके बाद उनके दर्शन भी नहीं हो सके।

भगत अपने प्रिय चाचा के धर्म बिस्नों पर चलकर देश के लिये घर घरे। घरते दम तक उनकी यही इच्छा रही कि उनको अपने उस चाचा के दर्शन हो जाते किन्तु उन्हें देशभक्ति को प्रबल उमंगें अनदेखे सूत्रों से उन्हें सौंप दी थी, भावनात्मक वसीयत के रूप में।

सर्वस्व समर्पित करने वाले आहुत-आत्मा

महावीर सिंह

प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद भारत में एक भीषण राजनैतिक चेतन की आँधी आयी। देश का बच्चा-बच्चा अंग्रेजों के प्रति आक्रोश से भर उठा। विदेशी सरकार की जड़ें हिलने लगीं। गोर-शासन लंगड़ा उठा तो उसे बैसाखियों का सहारा देने का प्रयास किया गया। विप्लवी-जन भावनायें उबल कर सरकार के लिए कोई प्रकट अदम्य विद्रोह खड़ा न कर दे, इसलिए स्थान-स्थान पर अमन-सभायें कायम की गयीं। कमेटीयों आम सभा आयोजित करतीं, जन सभ्यक बनातीं और लोगों से शांत रहने की अपील करती थीं।

ऐसी ही एक अमन कमेटी की सभा आयोजित हुई उत्तर प्रदेश के (तब संयुक्त प्रान्त) के एटा जनपद की कासगंज तहसील में। इस सभा में तहसील के सभी नागरिकों को बुलाकर एकत्रित किया गया। जो नहीं आना चाहते थे या आने में असमर्थ थे, लाख काम छोड़कर उन्हें भी सभा में उपस्थित होना पड़ा। कारण था— राजाजा और उसके पालन के लिए सरकारी मशीनरी का दबाव। मन से बेमन से तहसील के सभी बूढ़े, बच्चे, युवा, किशोर स्त्री-पुरुष सभा में आये। इस सभा में बताया गया कि अंग्रेजी शासन भारत का कितना शुभचिन्तक है। एक मात्र अंग्रेज जाति ही ऐसी है जो इस देश का कल्याण कर सकती है और करने में जुटी हुई है।

जो न समझ थे उनके गले तो ये बातें उतरती जा रही थीं। राजभक्ति की मन्त्र-दीक्षा से दीक्षित ठेठ ग्रामीणों का हृदय अंग्रेजों को अपना भाग्य विधाता

५.१६ महापुरुषों के अधिस्पर्णीय जीवन प्रसंग-२

अनुभव कर रहा था । हालाँकि ऐसे लोगों की संख्या नगण्य थी । बहुलता ऐसे ही नागरिकों की थी जो अंग्रेजी शासन की वास्तविकता को अच्छी तरह जानते थे और समझते थे कि यह सभा लोगों की शक्काओं को जीतने के लिए नहीं, बल्कि उन पर राजशक्ति बोलने के लिए की जा रही है । जो चाहता था बस चले तो अभी इसके संयोजकों का गिरेबान पकड़ कर मंच से खींच लिया जाय । परन्तु राजदण्ड का भय उन्हें अपनी कुङ्कुन को व्यक्त करने से रोक रहा था । एक अधिकारी ने अपना भाषण समाप्त कर जैसे ही अस्सन ग्रहण किया । प्रोताओं की भीड़ में से एक किशोर कण्ठ की आवाज आयी—“महात्मा गांधी की जन्” इसके बाद जो वहाँ उपस्थित सभी बच्चों और किशोरों ने नारे लगाये ।

सभा मंच पर जमे हुए बच्चा अधिकारी धँसके रह गये । आस-पास पहरा दे रही पुलिस ने भीड़ में घुसकर उस किशोर को गिरफ्तार कर लिया जिसने सर्व प्रथम महात्मा गांधी की जन्म का उद्घोष किया था । इस अपराध में किशोर को आठ-दस बेंतें पड़ीं । निर्भयतापूर्वक की गयी पिटाई के कारण किशोर बेहोश हो गया । घर लौटा तो पिता ने गर्व से सौना फुलाकर कहा—मेरे प्यारे बच्चे मुझे तुझ पर नाज़ है ।

और इस प्रोत्साहन वाक्य ने बेंत की मार से पड़े नीले निशानों पर जो बुरी तरह जलन कर रहे थे, ठंडे महान का काम किया । वही किशोर आगे चलकर महान विप्लवी क्रांतिकारी राष्ट्रीय महावीर सिंह के नाम से विख्यात हुआ । महावीर सिंह का जन्म १९०४ में एटा जिले की कासगंज तहसील में हुआ था । उनके पिता कुँवर देवीसिंह वैद्यक के द्वारा अपना निर्वाह करते थे ।

कुँवर देवीसिंह अच्छे शिक्षित और जागरूक व्यक्ति होने के कारण उस समय की देशकाल की परिस्थितियों से अच्छी तरह परिचित थे । उनके हृदय में भी राष्ट्रभक्ति और स्वातन्त्र्य प्रेम की उत्कट लालसा हिलोरेँ मार रही थी । उन्होंने अपने पुत्र को भी उस मार्ग पर निर्विरोध बढ़ने दिया । सन्धिबेला में ऐसी आत्मायें जन्म लेती ही हैं जो अपनी सन्तान को पेट-प्रजनन की परिधि सीमा तोड़कर देश और समाज के लिए कुछ करने को उत्सुक बनाने में प्रयत्नशील रहती हैं । कुँवर देवीसिंह भी ऐसे ही युगीन महामानवों, लोक मंगल के साधकों में से एक थे । उन्होंने अपने पुत्र को उत्कृष्टतम परिस्थितियों के अनुरूप समाज की आवश्यकता तथा उसे पूरी करने में रत होने के लिए प्रशिक्षित किया ।

एटा के राजकीय हाईस्कूल में महावीरसिंह ने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की । विद्यार्थी जीवन में उन्होंने देशभक्ति और स्वाधीनता संग्राम की भूमिका निभाने का भी पाठ पढ़ा । वहाँ भी उनका विद्रोह और

स्वाभिमान प्रकट हुए बिना न रहा । उन दिनों जब महावीर सिंह हाईस्कूल के छात्रावास में रह रहे थे, एटा में किसी राष्ट्रीय नेता का आगमन हुआ नेताओं की सभा में लोग उत्साहपूर्वक भाग लिया करते थे । फिर महावीरसिंह जैसे देशभक्त युवक जाने से कब चूकते । उन्होंने अपने कुछ साथियों के साथ सभा में जाने की योजना बनायी । इस योजना की खबर जैसे ही छात्रावास के अधीक्षक को मिली तत्काल प्राचार्य का आदेश निकलवा दिया कि उस समय सभी विद्यार्थी छात्रावास में उपस्थित रहें ।

महावीर सिंह को इस आदेश का पता चला तो बड़ा क्रोध आया । जान लिया कि छात्रावास तथा विद्यालय के राजभक्त अधिकारी और कर्मचारी उन्हें सभा में भाग नहीं लेने देना चाहते, तो विद्रोह और तत्कालित अवज्ञा का भाव यहाँ खुलकर सामने आया । महावीर सिंह ने तो दूढ़ निश्चय कर रखा था कि चाहे जो हो वे सभा में अवश्य जायेंगे । अपने इस निश्चय से उन्होंने आदेश प्रसारित करने वाले चपरासी तथा प्राचार्य को भी अवगत करा दिया । अधिकारियों ने इस पर शक्ति प्रयोग कर उन्हें रोकने का बहाना रचा परन्तु सबकी आँख बचाकर वह ऐसे निकले किसी को खबर तक नहीं हुई ।

सभा से लौटने पर प्राचार्य ने उन पर अनुशासनहीनता और नियम भंग करने का आरोप लगाकर दण्डित किया । महावीर सिंह ने हर्ष के साथ दण्ड भोगा । उनकी दृष्टि में यह कार्य किंचित भी अनुशासन भंग नहीं था । वस्तुतः वह अनुशासन और प्रतिबन्ध अनुचित ही है जो पालनकर्ता को उसके कर्तव्यों से विधुक्त कर दें । नियम और व्यवस्था का प्रयोजन ही यह है कि उससे बँधकर व्यक्ति अधिकाधिक कुरासता पूर्वक अपने कर्तव्य का पालन कर सके और जब वह व्यवस्था उस प्रयोजन की पूर्ति में अनापेक्षित और औचित्य विरोधी रुकावट पैदा करती है तो उसे तोड़ ही देना चाहिए । इस दण्ड ने महावीर सिंह को विद्रोही छात्रों का नेता बना दिया ।

हाईस्कूल की शिक्षा समाप्त कर वे कानपुर के डी० ए० बी० कॉलेज में भर्ती हुए । उस समय महात्मा गांधी द्वारा संचालित प्रथम असहयोग आन्दोलन अंग्रेजों के स्वार्थियों और दमन बढ़घन्नों के बीच दब-सा गया था । विद्रोह की शक्का धूप भर के लिए भले ही दबा दी गयी हो परन्तु विद्रोह की आग अन्दर ही अन्दर सुलग रही थी । नवयुवकों का गर्व खून दमन और आतंक का प्रत्युत्तर उसी शक्का में देने को कसमसा रहा था ।

ऐसे ही जोश और उत्साह की हवा से डी० ए० बी० कॉलेज भी अकूत नहीं रह गया था । महावीर सिंह यहाँ उसकी हवा के संस्पर्श में आये और उन्होंने क्रांतिकारी का व्रत धारण कर लिया । कॉलेज में उन्हें प्रोफेसर मुंशीराम का संरक्षण मिला जिसकी छत्र छाया में वे

अपनी गतिविधियाँ चलाते रहे। क्रान्तिकारी युवकों ने तब 'हिन्दुस्तान समाजवादी गणतन्त्र सेना' का गुरुरूप से संगठन किया था। इस सेना में चन्द्रशेखर, सरदार भगतसिंह, शचीन्द्र सान्याल जैसे विख्यात क्रांतिकारी नेता थे। महावीर सिंह ने इन्हीं की जमात में भर्ती होकर क्रान्ति के माध्यम से अंग्रेजी शासन का तख्ता उलटने का सपना बनाया। कॉलेज से निकलते ही उन्होंने इस सेना की सक्रिय सदस्यता ग्रहण कर ली और चौबीसों घण्टे पार्टी को देने लगे।

घर से पिता जी का संदेश आया। महावीर सिंह को जल्दी अपने पास बुलाया था। वे घर गये तो पिताजी ने शादी का प्रस्ताव रखा। उन्हें नहीं पता था कि महावीर सिंह किसी गुप्त संगठन का सदस्य हैं। वस्तुस्थिति बतकर उन्होंने अपने पिता से कहा-मेरी तो शर्दी हो चुकी है अपने लक्ष्य से। अब घर-गृहस्थी के पचड़े में न पड़कर देशसेवा करने की इच्छा है। जिसके लिए आप इजाजत तो देंगे ही।

आँखों में आँसू भरकर कुँवर देवीसिंह ने कहा-मुझे बड़ी खुशी है बेटे। परन्तु मेरी एक बात को याद रखना। देश की सेवा का जो रास्ता तुमने अखिल्यास किया है, वह बड़ी तपस्या और कठिनाई से भरा पड़ा है। लेकिन अब तुम उस पर चल ही दिये हो पीछे न मुड़ना। साधियों से विश्वासघात न करना और अपने बूढ़े पिता का ख्याल रखना।

"पिताजी आप आशीर्वाद तो दे रहे हैं। परन्तु आपकी आँखों से बहती आँसुओं की धारा बता रही है, कहीं आप मजबूरी के कारण तो यह सब नहीं कह रहे"- महावीर सिंह ने कहा।

"नहीं बेटा। वे तो हर्ष के आँसू हैं। जिस काम को करने के लिये मैं जिन्दगी भर सपने देखता रहा। वह तू कर रहा है तो मुझे कोई दुःख होगा पहले!"-देवीसिंह जी ने कहा और उनके मुँह पर खुशी नाच उठी। दुःख था- तो सही-अपने पीछे के विचुड़ने का। लाख कितने ही अच्छे उद्देश्यों के लिए अपना पुत्र विदा ले रहा हो परन्तु उस हृदय में जहाँ ममता, वात्सल्य ही वात्सल्य और प्यार ही प्यार भरा हो वह भला कैसे भागेगा।

निकट रहने से पिता कहीं और दुःखी न हों इसलिए महावीर सिंह उनकी चरण रज अपने भस्त्रक से लगाकर चल दिये। चलते-चलते पिता ने उन्हें फिर पुकारा-"बेटा तुझे किसी चीज की ज़रूरत हो वह मुझ से मिल सके तो संकाच मत करना। यह सब कुछ तेरा है।" मकान और सम्पत्ति की तरफ इशारा करते हुए कुँवर देवीसिंह ने कहा।

"पिताजी मेरी तो कोई व्यक्तिगत आवश्यकता आकांक्षा है नहीं। मैंने अपना सब कुछ देश को सौंप दिया है। अब तो जो कुछ भी ज़रूरत होगी सब उसी की।

"उसके लिये भी तू यह सब अपना समझना और देश के लिए अपने साधियों के लिए ही इन सबका उपयोग करना।"

सर्वस्व समर्पण की दीक्षा लेकर महावीर सिंह ने उस जगह से प्रस्थान किया और पार्टी कार्यालय में जाकर पिता की प्रेरणा से अपने संकल्प की घोषणा की। पार्टी संगठन के लिए उस समय धन की आवश्यकता तो थी ही। वे दल के आदेशानुसार १९२७ में लाहौर गये और वहाँ पर 'हिन्दुस्तान समाजवादी गणतन्त्र सेना' का गठन किया। यह सारा काम उन्होंने छद्मवेश में- मोटर ड्राइवर के रूप में रहकर किया। क्रान्तिकारियों के इस संगठन की सूचना तब सरकार को मिल चुकी थी इसलिए छद्मवेश में रहना आवश्यक था। मोटर ड्राइवर के रूप में उन्होंने बड़े साहसिक कार्य किये। उस समय की व्यवस्था के अनुसार उनका स्वरूप तो गैरकानूनी था। परन्तु क्रान्तिकारियों का सपना ही तब इसी प्रकार का था। जनता में असन्तोष और प्रशासन में अव्यवस्था फैलाकर अंग्रेजी शासन की नींव कमजोर करना।

बाद में जब 'हिन्दुस्तान समाजवादी सेना' के सदस्य क्रान्तिकारियों की धर पकड़ आरम्भ हुई तो १९२९ में उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया। राजद्रोह और अशान्ति फैलाने के कई अभियोग उन पर चलाये गये। यह सब तो महज नाटक ही था। सब बात तो यह थी कि सरकार इस खुले सिंह को स्वतन्त्र घूमते देखना पसन्द नहीं करती थी। इसलिए उन्हें लम्बे समय तक कारावास का दण्ड दिया गया। जेल के अधिकारी कैदियों से बड़ा दुर्व्यवहार करते थे। महावीर सिंह ने इसके विरोध में अपने साधियों सहित अनशन किया। उनका अनशन तुड़वाने के लिए प्रलोभन से लेकर बल प्रयोग तक सभी तरीके अजमाये गये परन्तु महावीरसिंह के दृढ़ विश्वासी स्वभाव के सम्युक्त एक भी सफल न हो सका। अन्ततः विजय इन्हीं की हुई।

सन् १९३० की ७ अक्टूबर को उन्हें आजन्म कैद की सजा सुनाई गयी। उन्हें क्रमशः लाहौर, मुलतान और भद्रास की जेलों में रखा गया। तीन वर्ष तक इस प्रकार स्थान बदल-बदल कर रखने के बाद उन्हें अण्डमान भेज दिया गया। भारत भूमि से आठ सौ मील दूर पोर्ट ब्लेयर का भयावह मन्त्रणा गृह। उसमें सौलन और बदबूदार कोठरी। भोजन के साथ कीड़े और कंकड़। पत्र, मुलाकात, संपाचार पत्र सब कुछ बन्द। इन नारकीय वातनाओं को बंद करने के लिए महावीर सिंह ने आमरण अनशन किया। अधिकारीगण तो देशप्रेम में मत्वाले इन अपराधियों को निर्जीव वस्तुओं से भी गया गुजरा समझते थे। मनपीन विरोध को पहचानने की क्षमता उनमें कहीं से आती। उसी प्रकार और उससे अधिक निकृष्ट पशु व्यवहार किया जाता रहा। जिसके

३.१८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

परिणाम स्वरूप १७ मई, १९३३ को उनका देहान्त हो गया। इस अपराजित महामानव का जीवन युग सैनिकों के लिये भी प्रकाश दीप है।

अमर शहीद-

रामप्रसाद बिस्मिल

फन्दे पर लटकाने की तारीख से पूर्व सन्ध्या को कैदों के लिए दूध आया। अब तक तो दूध आता नहीं था, ब्रिटिश सरकार के अनुग्रह का लाभ लेने का कभी मन नहीं हुआ तो अब भी क्यों उसकी कृपा प्राप्त की जाये सो उन्होंने कहा-“अब तो मैं का ही दूध पिऊँगा।” सुबह हुई स्नान आदि किया, सन्ध्या-चन्दन, जप-उपासन से निवृत्त हुए और अपने भाइयों के नाम एक लेख लिखा।

फाँसी का समय हो गया था। उन्हें तख्ते की ओर ले जाया जाने लगा तो- बन्देमातरम् और भारत माता की जय उनका कण्ठ चीत्कार कर उठा। रास्ते में वे उच्च स्वरों से गीत गाते जा रहे थे -

मालिक तेरी रज्ज रहे और तू ही तू रहे,
बाकी न मैं रहूँ, न मेरी आरजू रहे।
जब तक कि तन में जान, रगों में लहू रहे,
तेरा ही जिक्र और तेरी ही अस्तजू रहे ॥

फाँसी घर के द्वार पर पहुँचकर उन्होंने उच्च कण्ठ से पुकारा-“मैं ब्रिटिश साम्राज्य का विनाश चाहता हूँ और फिर जेदमन्त्रों का पाठ करते हुए फाँसी के फन्दे पर झूल गये। जब उनकी देह निष्प्राण हो गई तो अन्ता ने उनके शव को लेकर बड़े सम्मान के साथ नगर भर में घुमाया और बड़ी धूमधाम से उनकी अन्त्येष्टि की गई।

अनेकों लोग होते हैं, जो जीते-जी मीत से भी बदतर दुर्दशा में रहते हैं और कई एक होते हैं जो मरते भी हैं- तो जिन्दगी से बेहतर स्थिति में जा पहुँचते हैं। दूसरी श्रेणी के सुरमा कम ही होते हैं पर उनका होना मुश्किल नहीं है क्योंकि वे आदर्शों के लिए जीते हैं और आदर्शों के लिए ही अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर आते हैं। ऊपर जिस नरपुंगव की मृत्यु-मृत्यु नहीं अमर जीवन में प्रवेश का जिक्र किया गया है, का नाम है रामप्रसाद ‘बिस्मिल’। जिनका आदर्श था देशभक्ति, जिनका ध्येय था स्वतन्त्रता, जिनका परिवार था देशव्यापी और जिनकी माता थी मातृभूमि। यह उनके व्यक्तित्व का उच्चतम पहलू ही है। स्थूलदृष्टि से तो वे सामान्य मनुष्यों जैसे ही थे।

उनका जन्म ग्वालियर राज्य के रहनेवाले और शाहजहाँपुर में आ बसे मुरलीधर जी के यहाँ ब्येष्ठ शुक्ल पक्ष १९ संवत् १९५४ विक्रमी को हुआ था। उनके पूर्वज नमीदार थे, परन्तु वक्त की मार ने परिवार की आर्थिक स्थिति को ढगमगा दिया। इसलिए उनके पूर्वजों को अपना पैतृक आवास छोड़कर शाहजहाँपुर में आ

बसना पड़ा था। रामप्रसाद जी को उनकी दादी का विशेष स्नेह मिला था, वे थे भी पहली सन्तान। इसीलिये बड़े बूढ़ों का लाड़ प्यार मिलना स्वाभाविक ही था।

सात वर्ष की आयु में सन् १९१४ में उन्हें पढ़ने के लिए स्थानीय पाठशाला में भर्ती कराया गया। वे बचपन से ही बड़े उद्विग्न थे। कभी घर में बैधी गायों के घन से मुँह लगाकर दूध पीते तो कभी अपने संग-साथियों के साथ दिन भर घर से गायब रहते। पिता को पता चलता तो पिटाई भी हो जाया करती पर उससे उनकी बचलता और उद्विग्नता में रत्न पर भी फर्क नहीं आया। फर्क आया तब जब उनकी पाठशाला उन्हें अपने साथ मन्दिर ले जाने लगी। मन्दिर में रोज सत्संग चलता और वहाँ सदाचार, नीति और चरित्र की शिक्षाएँ धर्म पुराणों की कथाओं द्वारा दी जातीं। इन शिक्षाओं का किशोर रामप्रसाद के हृदय पर बड़ा प्रभाव हुआ। उनकी बचलता और उद्विग्नता जाती रही तथा सैतान बालक कुछ ही दिनों में शरीफ और परिश्रमी बन गया।

प्रथमरी शाला में अपने शिक्षा पूरी कर लेने के बाद उनका नाम विरल स्कूल में लिखाया गया। यहाँ वे बड़े परिश्रम, मनोयोग और एकाग्रतापूर्वक पढ़ने लगे। इन्हीं दिनों उनकी मैत्री अपने ही समान परिश्रमी और लगनशील छात्र सुरीलचन्द्र से हुई। उसके व्यक्तित्व का रामप्रसाद पर बड़ा प्रभाव हुआ सहपाठी सुरील का परिवार उस समय आर्य समाज की विचारधारा से अभिभूत था। सुरील ने उन्हें स्वामी दयानन्द का ‘सत्यार्थ प्रकाश’ ग्रन्थ दिया, जो आर्य समाजी विचारधारा का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। सत्यार्थ प्रकाश ने रामप्रसाद के जीवन को सर्वथा नई छी दिखा दी और वे संस्कृति के गौरवमय तथा गरिमामय स्वरूप से परिचित हुए। धर्म और अध्यात्म के विवेकसम्पन्न स्वरूप ने उनके मन को ऐसा रंग दिया कि वे तख्ते पर एक कम्बल बिछाकर सोने लगे। रात्रि समय भोजन भी छोड़ दिया और भोजन में नमक का प्रयोग भी बन्द कर दिया। शुद्ध, सात्विक और ताजा भोजन तथा व्यायाम के साथ-साथ ध्यानसिक और आत्मिक विकास का प्रयत्न उनका साधन बन गया। भारतीय दर्शन की आदि विचारधारा ने उन्हें इतना अभिभूत कर दिया कि नगर में जब कभी सुधारवादी और विवेक धर्म के अनुयायी महात्यागण आते तो ऐसा हो ही नहीं सकता कि रामप्रसाद उन्हें सुनने या उनकी सेवा करने न जायें।

आर्य समाज और स्वामी दयानन्द के प्रति जब उनकी श्रद्धा इस कदर बढ़ने लगी तो घरवालों को लगा कि वे पटरी से हट रहे हैं और उन्होंने रामप्रसाद को आर्य समाज से विच्छेद करने के लिए कहा। पर उन्हें यह बात नहीं जंची थी, तब घर वाले दबाव डालने लगे। धुन के घनी और लगन के पके रामप्रसाद को विरत नहीं किया जा सका। एक दिन पिता ने कहा-“राम यदि तू अपने मन की ही करना चाहते हो तो इस घर में तुम्हारे लिए कोई स्थान नहीं है।

“ठीक है पिताजी-रामप्रसाद ने कहा- “मैं यह घर छोड़ दूँगा।”

पिता ने तो सोचा था कि इस धमकी को सुनकर उनका बेटा उनकी बात मान लेगा पर आशा के प्रतिकूल जब यह उत्तर सुन तो वे धक्का उठे और बोले-“तुम अभी ही इसी वक्त घर छोड़कर चले जाओ।”

और सचमुच रामप्रसाद जैसे के तैसे ही घर से निकल गये। परिवार के लोगों ने सोचा कि नादान उमर का सड़का दुनिया की ठोकरें खाकर शाम तक ही वापस आ जायगा। परन्तु रामप्रसाद नहीं आये। थोड़ी चिन्ता तो हुई पर जी को कड़ा कर लिया। दूसरे दिन भी नहीं आये तो चिन्ता घरा बढ़ी और तीसरे दिन तो सस्की सीमा का कोई ठिकाना ही नहीं था। मुरलीधर जी अपने दो साथियों को साथ लेकर उन्हें खोजने निकले। उनके मिसने की सम्भावना किसी सत्संग में ही थी अतः इन्हीं-उन्हीं ठिकानों पर उन्हें खोजा भी गया। एक स्थान पर किसी प्रसिद्ध ध्यायीजी का प्रवचन चल रहा था। पिता को रामप्रसाद प्रवचन पण्डाल के पास एक बुध के नीचे खड़े प्रवचन सुनते दिखाई दिये, और उन्हें पकड़ कर घर लिया ले गये ?”

माँ ने पूछा-“क्यों रे राम ! तू चला क्यों गया था ?”

“पिताजी ने तो कहा था।” - रामप्रसाद का कहना था।

“तो फिर आपा क्यों ?”

“वे ही लाये भी हैं। इसीलिए।”

“पर तू आर्य समाज न छोड़ेगा ? है न।”

“नहीं” - यह संक्षिप्त उत्तर था।

घर आने के बाद पिताजी उन्हें स्कूल में अपने साथ लेकर गये और वहाँ के प्रधानाध्यापक से रामप्रसाद जी के सम्बन्ध में कई बातें कीं। प्रधानाध्यापक ने उन्हें कई सुझाव दिये और उनकी क्रियान्वित करते हुए मुरलीधर जी ने कभी अपने बेटे पर हाथ नहीं उठाया।

पड़ते समय ही रामप्रसाद जी क्रान्तिकारी नेताओं के सम्पर्क में आये। तदविषयक साहित्य का उन्होंने गहन अध्ययन किया। अब वे यह सोचने लगे कि हमारा देश हमारा परिवार है और अपने परिवार के अधिकांश सदस्य दुःखी और खिल हैं। इन्हीं दिनों लखनऊ में काँग्रेस अधिवेशन होने जा रहा था। रामप्रसाद जी भी वहाँ गये और अधिवेशन की कार्यवाही देखी। सम्पेलन में हुई कुछ घटनाओं का रामप्रसाद जी पर अच्छा प्रभाव नहीं हुआ और वे क्रान्ति के द्वारा ही स्वतन्त्रता की प्राप्ति को सम्भव देखने लगे। इस अधिवेशन में लोकमान्य तिलक को युवकों ने एक जगह पर बिठाकर खुद के हाथों से खींचते हुए उनका स्वागत बलूस निकाला था। युवा हृदय रामप्रसाद बिस्मिल ने लोकमान्य की चरचर को अपने माथे से लगाया।

लखनऊ में ही उन्हें पता चला कि क्रान्तिकारियों की एक गुप्त समिति भी है, जो लड़कर स्वतन्त्रता पाने में विश्वास करती है। इस समिति के नेता पं० गेंदालाल दीक्षित हैं। समिति के पास पर्याप्त साधन नहीं थे फिर भी उसके अन्य सदस्य सामर्थ्य के अनुसार क्रान्ति के विचारों का प्रचार कर रहे थे। गेंदालाल दीक्षित और उनके अन्य सहयोगी इस विचार की आग-बन-बन के मन में धक्का देने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। रामप्रसाद को जब इस वक्त का पता चला तो वे भी दल के सदस्य बन गये।

इन्हीं दिनों समिति ने एक पुस्तक- ‘अमरीका की स्वाधीनता कैसा मिली’ छपवाई और उसे लोगों में वितरित किया। यह पुस्तक विस्फोटक और विचारोत्तेजक थी। संयुक्त प्रान्त सरकार को इसका पता चलते ही पुस्तक बन्द कर दी गई। तो भी पुस्तक की कई प्रतियाँ बच गयीं, जो दिल्ली काँग्रेस में बाँटी गयीं। दिल्ली की पुलिस को पता चला तो वहाँ भी पकड़ा-धकड़ी हुई। रामप्रसाद के पास लगभग दो सौ पुस्तकें थीं। वे किसी प्रकार अपने आपको बचा-छुपकर वहाँ से निकल सके। इस घटना के बाद उत्साह कई गुना बढ़ गया था। इसी प्रकार वे एक बार अपने साथियों के साथ दिल्ली से राहजहाँपुर जाते समय बाल-कला बसे।

उनकी गतिविधियों को बढ़ते देखकर उनकी निरफ्तारी का कारण जारी कर दिया गया तो रामप्रसाद धुमिल हो गए। गुप्त रूप से क्रान्ति प्रचार और प्रसार साहित्य का सृजन प्रकाशन भी चलता रहा। निहितलिस्ट रहस्य का अनुवाद, बन की लहर, कैबराइन, स्वदेशी रंग आदि पुस्तकों का अनुवाद और लेखन किया। इस काम में उन्हें घाटा उठाना पड़ा पर घाटे की वहाँ किसी चिन्ता थी। चिन्ता थी तो अल्प लक्ष्य प्राप्त करने की और वे उस दिशा में दृढ़ता से बढ़ते जा रहे थे।

‘बिस्मिल’ नाम उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम भावभाव से रखा था। उत्तर प्रदेश में तब क्रान्तिकारियों में उनकी ख्याति फैलती जा रही थी और बिस्मिल का सम्बन्ध राजीन्द्रनाथ सान्वाल की उग्रवादी पार्टी ‘हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन’ से भी हो गया था और उसके सदस्य क्रान्तिवीरों द्वारा बड़ी बड़ी योजनाएँ बनाई जा रही थीं। दल की आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए सरकारी खजानों और सम्पत्ति को लूटने का निश्चय किया गया।

उन्हीं दिनों निश्चित किया गया कि सहारनपुर से लखनऊ तक जाने वाली गाड़ी को लूटा जाय। क्योंकि छोटी-मोटी डकैतियों में कम ही पैसा मिलता था जबकि उसकी गुलाम में अधिक क्षति होती थी। अनुमान था कि ऐसी गाड़ी में कम से कम दस हजार रुपये तो जाते ही होंगे, अतः रामप्रसाद बिस्मिल के अतिरिक्त चन्द्रशेखर आज़ाद, रामेन्द्र साहिदी, राजीन्द्रनाथ बखशी, अशाफाक

३.२० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

ठामा खाँ, मुकुन्दलाल, केशव चक्रवर्ती, मुरारीलाल, बनवारीलाल मन्मथनाथ गुप्त ने उस डकैती में भाग लेने का निर्णय लिया।

लूट की योजना बनाकर सभी क्रान्तिकारी ट्रेन में सवार हुए और रास्ते में ही जंजोर खींच कर गाड़ी रोक ली गई। उसमें बैठे सभी यात्री सहम गए और कुछ नीचे भी उतरने लगे। उन्हें आश्चर्य करने के साथ-साथ नीचे उतरने से भी रोका गया। गाड़ी में रखा लोहे का सन्दूक जिसमें माल रखा हुआ था, नीचे उतार लिखा गया और उसे मोड़कर क्रान्तिकारियों द्वारा पैसा हथिया लिया गया था और वहाँ से चले गये। डकैती के समय इस बात का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया गया था कि उसमें किसी भी प्रकार जन क्षति न पहुँचे और इसका बराबर ध्यान भी रखा गया था।

इस रेल डकैती का समाचार जब फैला तो सारे देश में बड़ी खलबली मच गई। पुलिस की सरगर्मी अब इतनी तेज हो गई थी कि लगता था वह क्रान्तिकारियों का मूलोच्छेदन ही कर डालना चाहती है। इस सिलसिले में स्थान-स्थान पर गिरफ्तारियाँ होने लगीं और धीरे-धीरे सभी क्रान्तिकारी- जिन्होंने काकोरी रेल डकैती में भाग लिया था गिरफ्तार कर लिए गये। रामप्रसाद बिस्मिल भी गिरफ्तार हुए और उन पर मुकदमा चला। बिस्मिल ने अपनी सफाई में कुछ नहीं कहा, कहने का अर्थ भी क्या था? ब्रिटिश गवर्नमेन्ट के दमन चक्र में किसी को सुनवाई होना तो मुश्किल था ही नहीं। बिस्मिल ने बड़ी वीरता के साथ अपने कृत्य को स्वीकार किया। इसके उपहार में मिला उन्हें मृत्युदण्ड। इनके साथ ही राजेन्द्र लाहिड़ी, तथा रोशनीसिंह को भी फाँसी की सजा हुई। अशफाक उल्ला खाँ को नोरखपुर जेल में फाँसी दी गयी।

इन देशभक्तों को १९ दिसम्बर, १९२७ को फाँसी के फन्दे पर लटक दिया गया और वे भारत माता की जव कहते हुए मातृभूमि की गोदी में चिरनिद्रा में लीन हो गये लेकिन उनकी सहादत असंख्य देशभक्तों के लिए जागरण का शंखनाद बन गई।

स्वतन्त्रता संग्राम का बीज बोने वाला

खुदीराम बोस

जब कोई बड़ा कार्य सामने आता है तो लोग यह कह कर "हमारी शक्ति छोटी है, हमारी योग्यता कम है, हम अभाव ग्रस्त हैं, हमें समय नहीं मिलता," प्रफस टास देते हैं और सामाजिक या वैयक्तिक जीवन विकास की अवस्थाएँ वकी पड़ी रह जाती हैं।

अपनी शक्ति सामर्थ्य और योग्यता को छोटा मानकर प्रयत्नों से मुख मोड़ने वस्तुतः बहाना मात्र है। अन्यथा

मनुष्य जिस जीव से नन्म है, उसकी शक्ति और क्षमता का पारावार नहीं। जल्पावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक न तो उसकी शक्ति कम होती है न सामर्थ्य। यदि कुछ घटता-बढ़ता है तो मनोबल और प्राणबल। यदि इन दोनों शक्तियों को चिरंजीव रखा जाये तो साधन, अल्पायु, सीमित शारीरिक क्षमताओं का व्यक्ति भी क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर सकता है।

किसी क्रान्तिकारी खुदीराम बोस को ११ अगस्त, १९०८ को विभिन्न क्रान्तिकारी कारदार्तों के अधियोग में मुजफ्फरपुर जेल में फाँसी पर चढ़ा दिया गया। तब उसकी कुल आयु १८ वर्ष ८ माह और ८ दिन की ही हुई थी। इतनी अल्पायु में ब्रिटिश सामन्तशाही की नींव को धड़ाम करने वाले इस बालक में और कुछ था केवल अपने को छोटा और न्यून शक्ति समझने की आत्महीनता भर न थी। यही वह कमजोरी है जो मनुष्य को ऊपर उठने और कोई उल्लेखनीय कार्य करने से रोकती और बाधा पहुँचाती है।

खुदीराम का जन्म ३ दिसम्बर, १८८९ में हबीबपुर जिला मिर्जापुर (बंगाल) में हुआ था। पिता त्रैलोक्यनाथ बोस नारनैल के तहसीलदार थे। माता का नाम लक्ष्मीप्रिया था। खुदीराम भाई-बहनों में सबसे छोटा था। वह अभी ७ वर्ष का ही था कि उसके माता और पिता दोनों का देहान्त हो गया। पालन-पोषण उसकी बहन-बहनोई ने किया तथापि वे एक प्रकार से संरक्षक मात्र रहे। अपने पूर्वज्य जीवन और गतिविधियों का विकास खुदीराम बोस ने स्वतः किया। इसके लिए उसके विचार और भावनाएँ ही पार्श्वदर्शक और अभिभावक रहीं।

बंगाल में बंग-भंग आंदोलन उठा, उस समय खुदीराम मिर्जापुर के कॉलेजिएट स्कूल के छात्र थे। विद्यार्थी जीवन में उसमें रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया था। यद्यपि उसका स्वकृष राजनैतिक था पर सध्वन्ध विशुद्ध रूप से ऐसे समाज से था जिसमें वे पले और बड़े हुए थे। वे देख रहे थे कि भारतीयों को किस प्रकार कुचला दबाया और मान्योचित अधिकारों से वंचित किया जा रहा है। जहाँ अपनी धूलें थी उनके सुधार के लिए उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार-प्रसार, युवक-संघ को बढ़ाने का रचनात्मक कार्य प्रारम्भ किया। उनकी यह रचनात्मक कुशलता ही बड़े-बड़े क्रान्तिकारियों के लिए भी मार्ग दर्शक बन गई। लोगों ने अनुभव किया बाहरी शक्तियों को तभी मुँह तोड़ जवाब दिया जा सकता है जब अपनी शक्तियों संगठित और समर्थ हों। राजनीति में चमक यहीं से प्रारम्भ होती है।

सामान्य संगठन कार्यों से भावी जीवन की नींव बाँधने वाले वास्तव में केवल लगन ही नहीं दृढ़ता भी बढ़ती है इस बात का पता १९०६ में ही चल गया। क्रान्तिकारी पर्व

बाँटने के अभियोग में एक पुलिस कर्मचारी ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। अदालत में प्यारे ताल नामक वकील ने पैरवी करनी चाही। उन्हें सम्बोधित कर बोस ने कहा “वकील साहब। आप इस छोटे से कार्य में अपना बहुमूल्य समय नष्ट न कीजिए। मुझे फाँसी होगी तो राष्ट्र में जीवन और जागृति ही आवेगी इसलिए आप मेरी चिन्ता न करें, अपना समय किसी बड़े कार्य में लगावें।”

खुदीराम प्रतिदिन गीता का पाठ किया करते थे। उनके इन शब्दों में वही दर्शन प्रस्फुटित था जो गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को समझाया था—“हे अर्जुन ! तू कर्म कर, फल की चिन्ता न कर, आत्म अमर है उसका मोह न कर। न ही माया ममता के बन्धन में पड़कर श्रेयस्कर को तिलांजलि दे।”

मजिस्ट्रेट ने छोटी उम्र का विचार कर खुदीराम बोस को रिहा कर दिया। उनकी दृढ़ता और वीरता की बहुत प्रशंसा हुई पर साथ ही अब उन पर पुलिस की कड़ी निगरानी रहने लगी। कॉर्टों में उलझकर उनसे पीछे हटना भारतीय परम्परा के खिलाफ है। बोस उसका निर्वाह क्यों न करते? कठिनाइयाँ आनी ही थीं। बड़ा उद्देश्य लेकर चले थे तो बड़ी मुसीबतों से कैसे छूटते? मिदनापुर छोड़ना पड़ा पर अपने उद्देश्य की पूर्ति ही उनके जीवन का अन्तिम ध्येय बना रहा।

इन दिनों कलकत्ता के सेशन जज किंग्सफोर्ड के अत्याचार बहुत बढ़ गये थे। राजनैतिक सत्याग्रहियों को मामूली कारणों को लेकर कठोर सजायें देना उनके बाँये हाथ का खेल ही गया था। ‘दुगान्तर’, ‘संध्या’, ‘हितवादी’, ‘वन्देमातरम्’ नामक राष्ट्रवादी समाचार पत्रों के सम्पादकों को किंग्सफोर्ड उच्च राजनीतिक लेख लिखने के अपराध में कठोर दण्ड दे चुके थे। अत्याचार का मुँह बन्द करने के लिए लोगों ने छिटपुट प्रयत्न भी किए किन्तु उनकी शक्ति सामर्थ्य बड़ी थी, कम न थी, काम में आना कोई आसान बात न थी। उसके लिए किसी न किसी कर्मठ थोड़ा की जरूरत थी। कोई बुलन्द बलिदानी ही अत्याचार और अन्याय का मुँह थोड़ा करता है।

खुदीराम बोस उसके लिए तैयार हुआ। किंग्सफोर्ड सुरक्षा की दृष्टि से मुजफ्फरपुर (बिहार) पदोन्नत करके भेज दिए गए पर जिसे अपने कर्तव्य को पूरा करना आता है उसके लिए कर्तव्य की एक और कसौटी भक्त क्या महत्व रखती है। अभी तक राजनीतिक हिंसाओं में रिवाल्वर का ही प्रयोग हुआ था। राष्ट्रवादी मोर्चा चाहता था कि ब्रिटिश गवर्नमेंट विद्रोहियों की शक्ति भी अनुभव करे और भयभीत हो, बम फेंक कर किंग्सफोर्ड का प्राणान्त करने की योजना बनाई गई। बम लेकर कसकत्त से मुजफ्फरपुर पहुँचने का दुःसाहस किशोरों ने ही किया। एक तो खुदीराम थे ही दूसरा उन्हीं का साथी प्रफुल्ल चाकी था।

बम फेंका गया किंग्सफोर्ड की गाड़ी पर किन्तु दुर्भाग्य से उसमें किंग्सफोर्ड के स्थान पर अन्य कोई दो महिलाएँ थीं उनकी मृत्यु ही गयी। पुलिस की कठोर जाँच के कारण खुदीराम बच कर न जा सके। मोकामा स्टेशन पर प्रफुल्ल चाकी भी गिरफ्तार कर लिए गए। १९०८ में उनका मुकद्मा प्रारम्भ हो गया।

वकीलों के समझाने पर भी खुदीराम ने अपनी सफाई देने से इन्कार कर दिया। मुकदमे के दौरान जब बर्टहुड ने खुदीराम से अपने कृत्य पर खेद प्रकट करने को कहा तो उसने तत्काल उत्तर दिया—“जिस तरह मैं अपनी सफाई नहीं दे सकता उसी तरह खेद प्रकट करना असम्भव है। मैं जीता पड़ता हूँ और सदैव सच बोलता हूँ।

विश्वास नहीं होता कि उसी खुदीराम ने गीता के कर्मवाद को इतना स्पष्ट कैसे समझा था कि सच मनुष्य का ध्येय है। पर यदि किसी महान कार्य की पूर्ति के लिए झूठ बोलना पड़े तो वह धर्मसंगत है। बोस जब पहली बार जेल गये थे और पचास बाँटने का अभियोग लगाया गया था तो उन्होंने कहा—“इनमें पचास देने वाला व्यक्ति एक भी नहीं है।” जबकि सत्येन्द्र जिन्होंने इन्हें पचास दिये थे इनकी बगल में ही खड़े थे। वास्तव में मिदनापुर की रक्षा के लिए दूसरी बार आत्म बलिदान के लिए ऐसा आचरण किया ताकि राष्ट्र की चेतना प्रखर हो उठे।

छोटी आयु में थोड़ा समय मिला था, वह भी संघर्ष में गुजरा कि देश, धर्म और समाज का पुनरुद्धार हो तो अन्तिम समय वह अपने अभोह से कैसे हट जाते। खुदीराम को फाँसी हो गई। बम फेंकने से एक सप्ताह पूर्व जब वे बड़ी सज्जधज के साथ जा रहे थे तो उनके एक मित्र पूरनचन्द रावत ने पूछा—“खुदीराम ! पार तू तो हमेशा सादगी से रहता था आज यह चमक-दमक कैसी ?” बोस ने मधुर मुस्कान के बीच कहा—“मित्र ! मेरी शादी हो रही है। यह तो पता नहीं कब, पर दावत अवश्य मिलगी।”

खुदीराम फाँसी के समय ठीक वैसी ही सजावट में थे। वैसा दूल्हा बारात के समय सजा होता है। भय और निराशा की एक भी शिकन माथे पर न थी। दिन भर उनकी कोठरी राष्ट्रीय गीतों से गूँजती रही, पर वह सदैव गहरी नींद में सोये। आत्म की अमरता पर उन्हें विश्वास था तो फिर मृत्यु वैसी घटना से वह क्यों चकराते। जेल में उनका बचन आश्चर्यजनक रूप से बढ़ गया, उसका कारण था उनका कर्तव्य प्रेम।

११ अगस्त को, जिस दिन उन्हें फाँसी होनी थी, प्रातः-काल जल्दी उठे। शरीर संवारा ऐसे जैसे घरघात्रा में जाना हो। हँसते हुए गए और वन्देमातरम् का जयघोष करते हुए फाँसी के वस्त्र पर झूल गए। कर्तव्य-पालक का जन्म कर्तव्य के पालन के लिये हुआ था सो पूर्ण हुआ।

३.२२ महापुरुषों के अधिस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

परमात्मा भी आखिर कैसे चैन से बैठा रहता । खुदीराम बोस के बलिदान ने करोड़ों देशवासियों का हृदय झकझोर कर रख दिया । उसने अपनी संधना से करोड़ों लोगों में जान फूँक दी । लोकमान्य तिलक ने अपने 'केशरी' में- 'देश का दुर्भाग्य' नामक शीर्षक से खुदीराम के त्याग पर ब्रह्मोजलियों व्यक्त की थी जिसे पढ़कर सारा देश गर्म हो उठा था । तिलक उसी लेख के सम्बन्ध में ६ वर्ष के लिए देश से निकाल दिए गए थे ।

किशोर क्रान्तिकारी खुदीराम बोस का जीवन पुत्र पढ़कर किसी को अविश्वास नहीं रह जाना चाहिए कि हमारी शक्ति और सामर्थ्य छोटी है । हर बच्चा, युवक या वृद्ध परमात्मा की एक शक्ति है, उसे क्रियशील होने का अवसर दिया जाए तो किसी भी युग और परिस्थितियों में राजक्रान्ति को गरह उल्लेखनीय परिवर्तन किया जा सकता है ।

शहादत की अद्वितीय मिशाल—

बन्दा वैरागी

फरवरी, १७१६ में लाहौर नगर में चित्तल शाही सेना ने प्रवेश किया । अब्दुल ख़ाँ के सेनापतित्व में यह सेना पंजाब के गुरदास नंगल को जीत कर लौटी थी । आठ सौ सिख सैनिकों को बन्दी बनाकर गधों और ऊँटों पर बिठाकर लाया गया था । बड़े अमकनपूर्ण तरीके से इन लोगों का जुलूस निकाला गया । बाँसों पर सिक्खों के कटे हुए सिर, जिनके बीच में मरे हुए बलिषी और कुत्ते तथा ऊँटों पर उलटे हुए बिठाये सिख थे । जुलूस के बीच में एक पिंजरा था और उसमें कैद थे चौर बन्दा वैरागी । पंजाब के इस शेर को ख़ुला लाने की हिम्मत भी दो हजार शाही सिपाहियों में नहीं थी ।

अप्रैल, १५७५ को लाहौर के शाह अफ़रिया ख़ान ने अपनी आठ हजार सेना के साथ अब्दुल समद ख़ाँ को गुरदास नंगल को जीतने के लिए भेजा था । गुरदास नंगल के पास केवल आठ सौ सैनिक थे । जिन्होंने शाही फौज का आठ भाग तक मुकाबला किया । परन्तु हजारों की संख्या में घेरा डाले शाही सेना का मुकाबला कब तक किया जा सकता था । गाँव की रसद समाप्त हो गयी तो सिपाहियों ने वृक्षों की छाल तथा सूखी हुई शक्कराबें कूट-कूट कर आटे की तरह फाँकना शुरू किया । भूखा क्या न करता के अनुसार सिक्खों ने गाँव के सारे पशु मारकर खा डाले फिर भी बन्दा वैरागी जीते दम तक लड़ने का उत्साह उनमें फूँकते रहे । मातृभूमि के प्रति अगाध प्रेम तथा धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए उनके सैनिक उस क्षण तक लड़ते रहे जब तक कि शरीर ने साक्ष दिया ।

देशभक्त सिपाही मूल के कारण बल्दी ही अशक्त और अयोग्य होने लगे । कई सैनिकों को खून के दस्त होना शुरू हो गये । बहुत से बीमार पड़ गये । अन्त में अहमसमर्पण का निर्णय लिया गया और उससे पूर्व यह दृढ़ संकल्प कि हम मरते दम तक अपने धर्म और संस्कृति के प्रति निष्ठा का त्याग नहीं करेंगे और सब किले से बाहर आ गये । इतने दिनों में शाहीसेना की संख्या आठ हजार से दो हजार मात्र ही रह गयी थी ।

उन सिपाहियों को ही पाँवों में बेड़ियाँ और हथकड़ियाँ डालकर लाहौर लाया गया था । रास्ते में अब्दुल समद धर्म परिवर्तन करने के लिए कहियों को सतपाता बहसाता रहा और काटता-घारता भी रहा । परन्तु एक भी सिक्ख सैनिक न तो प्रलोभनों से आकृष्ट रहा और न कोई भी घारकाट व घ्राण-दण्ड से भयभीत हुआ । देश, धर्म और संस्कृति की रक्षार्थ एक व्यक्ति के कहने पर कुछ सौ लोग ही सही मरने के लिए तैयार हो जायें तो निश्चित ही उनके प्रेरण और अग्रज का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली तथा प्रामाणिक रहा होगा चाहिये । जो कहा वह केवल मुँह से ही नहीं अपनी निष्ठा तथा प्रामाणिकता से व्यक्त हो तो साधियों पर भी चौंकित प्रभाव पड़ता है ।

यह प्राणिकता बन्दा वैरागी ने अपनी संस्कृति पर आये संकट और उसके निवारणार्थ गुरुगोविन्द सिंह द्वारा चलाये जा रहे प्रयास से प्रभावित होकर उत्पन्न की थी इसके पूर्व वे एक संन्यासी थे और भजन ध्यान में ही अपना समय व्यतीत करते थे ।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कश्मीर के डोगरा राजपूत परिवार में जन्मे लक्ष्मण देव (बाद में बन्दा वैरागी) आरम्भ से देशधर्म और स्वाभिमान की रक्षा के लिए अत्याचारी मुगल शासकों का अन्त करने की बातें सोचा करते थे । इसके लिए उन्होंने ब्रयत्न भी किये परन्तु कोई विशेष सफलता नहीं मिली । अपनी सन्तान से मनुष्य अपने अधूरे सपने पूरे करने की आशा करता है । इसलिए रामदेव ने अपने पुत्र को बचपन से ही हथियार चलाने, धुड़सवारी करने और रणविद्या सिखाना आरम्भ कर दिया । बाल्यावस्था में ही किसी को उपयोगी दिशा में लगा दिया जाना तो प्रगति की सम्भावना दृढ़ बन जाती है । लक्ष्मण देव भी निष्ठात सफलता की ओर उसी प्रकार अग्रसर होते गये ।

एक दिन शिकार खेलते समय उन्होंने एक हरिणी पर तीर छोड़ा निस्ताना ठीक बैठ वह मर गयी । नीचे गिरते हरिणी के गर्भ में से दो बच्चे छिटक गये और कुछ समय बाद मर गये । इस घटना ने उन्हें इतना शोक ग्रस्त बना दिया कि उन्होंने तत्काल तीर कमान और तलवार आदि हथियारों को प्रणाम कर लिया । यही नहीं उन्होंने वैराग्य धारण करने का निश्चय भी कर लिया ।

१६ वर्ष के लक्ष्मण देव घर बार छोड़कर सन्यासी बन गये और उन्होंने अपना नाम बदल कर माधवदास रख लिया । देश भर की तीर्थ यात्रा करते हुए भी वे नासिक के पास पंचवटी पहुँचे । हरिणी के शिकार की भटना और उससे वैराग्य धारण कर लेने के कारण लोग उन्हें असली नाम माधवदास, के नाम से कम बैरागी के नाम से अधिक जानने लगे थे । पंचवटी का रमणीय स्थान उनके मन भा गया और वहीं रहकर उन्होंने चौदह-पन्द्रह वर्ष तक कठोर तप किया । वहाँ उनकी बड़ी छ्त्राति फैली और हजारों लोग उनके शिष्य बनने के लिए आने लगे । वे लोक छ्त्राति से चबराने लगे । साधन्य जन तो अपना परिचय और प्रभाव क्षेत्र थोड़ा भी बढ़ते देख अति प्रसन्न हो उठते हैं । परन्तु महानता के साथक ज्ञानते हैं कि वह एक मोटा जहर है, जो उसकी सभ्यता और उपलब्धि को चौपट करके रख देगा । बैरागी भी सोचकर पंचवटी छोड़कर पंजाब के दक्षिण प्रदेश चले आये ।

उन दिनों गुरु गोविन्दसिंह जन जागरण के लिए पंजाब और देश भर की यात्रा पर निकले थे । उन्हें जब बैरागी बाबा और उनके पूर्व-जीवन का पता चल्य तो सोचा कि प्रासंगिक घटनाओं से भावबोध में आकर मार्ग ही बदल देने वाले प्रतिभशाली योग्य व्यक्ति को उपयुक्त दिशा में आसानी से नियोजित किया जा सकता है ।

गुरु गोविन्दसिंह ने बैरागी बाबा से सम्पर्क साध और उन्हें अपने विचारों तथा प्रयासों से अवगत कराया । धर्म का प्रचार ही नहीं उसकी सुरक्षा के लिए बसिंदान करने की मिठा भी स्वयं में तथा लोगों में पैदा की जानी चाहिए । अत्याचार और अन्याय सहने की आवश्यकता के स्थान पर उसका मुकाबला कर पराजित करने तथा उन्मूलन करने का प्रयत्न आवश्यक ही नहीं अनिवार्य धर्म कर्तव्य है । गुरुजी से चर्चा के द्वारा इन तथ्यों को सुनने के बाद बैरागी का सोया हुआ क्षात्र तेज, शौर्य और साहस के रूप में पुनः जाग उठा । गुरु गोविन्दसिंह के सम्मुख नतमस्तक होकर उन्होंने कहा— "मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है । आप जैसा कहेंगे, मैं तो आजका बन्दा हूँ । इस परिपूर्ण समर्पण की स्मृति करी रहे इसलिये गुरुजी ने महन्त माधवदास बैरागी को उठाकर छाती से लगा लिया और धर्म दीक्षित करते हुए बन्दा बैरागी नाम दिया । वह नाम उन्हें आजीवन अपने गुरु के आदर्शों तथा उनके प्रति अपने समर्पण की स्मरण कराता रहा । नाम भी विचारशील व्यक्तियों के अपने अर्थ के अनुरूप प्रेरणार्थ प्रदान करता रहता है ।

गुरुजी से आशीर्वाद प्राप्त कर बन्दा बैरागी पंजाब के लिए रवाना होने लगे तो गुरु गोविन्दसिंह ने एक हुक्म नामा और २५ शिष्य दिये । इन जवानों को खालसा दल कहा गया । बन्दा बैरागी को सैन्य संगठन का काम सौंपा गया । हुक्मनामा भी इसी उद्देश्य से लिखा गया था । सिक्ख लोगों को गुरुजी का आदेश पढ़-पढ़कर सुनाना गया तथा

सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए धन-संग्रह, जन-संग्रह और भाव-संग्रह किया जाने लगा । कुछ ही दिनों में अच्छी खासी सेना तैयार हो गयी । सभी सैनिक प्रखर निहा और देशभक्ति को भावनाओं से भरे हुए थे । ये दो हृदय गत विभूतियाँ जिस व्यक्ति या संगठन के पास होती हैं वह अपनी सामर्थ्य से भी कई गुना अधिक कर दिखाता है । संख्या में बन्दा बैरागी की सेनायें भले ही कम हों परन्तु उक्त दोनों विशेषताओं के कारण अच्छी खासी सेना से भी अधिक लागता है ।

बन्दा बैरागी ने अपना पहला सक्ष्य बनाया सरहिंद के घणोंमादी नवान बन्दोर खाँ को । जिसने गुरु गोविन्दसिंह के दोनों पुत्रों को बिन्दा दीवार में बिनवाया था । रास्ते में शाहाबाद, मुस्तफाबाद, सम्भार आदि रियासतों को जीतते हुए सन् १७१० में खालसा सेना ने सरहिंद पर आक्रमण बोल ही दिया । रणकुत्तस और छल-बल में चतुर विशाल पटान सेना मुठ्ठी भर खासस सैनिकों के सामने टिकी नहीं । चौदह दिन की लड़ाई में ही सरहिंद पर बन्दा बैरागी का कब्जा हो गया ।

सरहिंद को विजय कर बन्दा बैरागी ने दुआबा के जलन्धर और मझ के इलाकों को भी जीत लिया और एक स्वदेशी राज्य का निर्माण कर लिया । अपने राज्य में उन्होंने गुरु गोविन्दसिंह के नाम के शिखे चलाये । दिनों-दिन उनकी विजयवाहिनी आगे बढ़ती गई, पठानों और मुगलों को इससे बड़ी चिन्ता हुई । दिल्ली, अवध, इलाहाबाद, मुरादाबाद आदि के सुल्तानों ने एक स्थान पर अपनी सेनायें इकट्ठी कर १७१० में बन्दा बैरागी के राज्य पर हमला बोल दिया । परिस्थितियों और घटनाओं का ऐसा क्रम चल्य कि सिक्खों को अपनी राजधानी छोड़कर पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी ।

परन्तु इसके बाद भी बन्दा बैरागी चुप नहीं बैठे उन्होंने पहाड़ी क्षेत्रों में ही सिक्ख राज्य की स्थापना कर ली और पंजाब के बहुत से भागों पर केशरिया हाण्डा फहरा दिया । इतिहास हार कर बैठ जाने वालों से नहीं असफल हो जाने के बाद फिर प्रवृत्त करने वालों से बनता है । इसी कारण इतिहास के लेखकों ने बन्दा बैरागी को इतिहास का निर्माता कहा है ।

लाहौर के सुबेदार अब्दुल समद खाँ ने फिर बन्दा-बैरागी पर हमला बोला । जिसमें पूर्वोक्त कारणों से सिक्खों को अन्तमसमर्पण करना पड़ा । उनकी इत्थ भी बड़ी प्रसन्निक मननार्थ देकर की गयी परन्तु वे अन्त समय तक अपने निश्चय पर दृढ़ रहे । वहाँ तक कि जहाद ने उनके बच्चे को उनकी आँखों के सामने बड़ी निर्ममता से काटकर बच्चे की कलेजी तक पहुँच में दूँस दी थी । फिर भी वे अविचल ही रहे ।

केवल मुँह से इस्लाम कबूल कर लेने के लिए वे राजी न हुए, क्योंकि हृदय और वचन की समानता उच्च चरित्र की पहली शर्त है । इस पर उनकी हत्या के रोज सबसे पहले कई आँख फोड़ी गयी, फिर दायाँ पैर काटा

३.२४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

गया। दोनों हाथ काटने के बाद गरम चिम्टों से उनकी बोटी-बोटी नोच डाली गयी और यह क्रम तब तक जारी रहा जब तक कि वे जिन्दा रहे। जून, १७१६ में भक्कर यन्त्रणायें तथा यातनायें देकर उनकी हत्या की गयी। फिर भी संकल्प और निष्ठा के धनी बन्दा बैरागी के मुँह पर एक आत्मदीप्त मुस्कान खेलती रही और हृदय में अपने प्रभु और गुरु गोविन्दसिंह का स्मरण गुंजता रहा।

अपने धर्म, संस्कृति और जन्म सिद्ध स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए शहीद हो जाने वाले बन्दा बैरागी की सत्कीर्ति युगों-युगों के लिए अमर बन गयी। संसार ऐसे निष्ठावान् भक्तों का नाम सदैव ब्रह्मा के साथ सेता रहेगा। बन्दा बैरागी ने धर्म के लिए भी ही अपना अंग-अंग नुसला लिया हो परन्तु उनके बलिदान ने आगे चलकर कई पीढ़ों के अंग इतने गर्मा दिये हैं कि आताताइयों को उल्टे पाँव खान बचाकर भागना पड़ा।

शरीर तो एक न एक दिन घूटना ही है। अच्छा हो अगर वह धर्म के लिए घूटे।

एक और बाल्मीकि—

ठाकुर रोशनसिंह

अपने साथी की नियमित दिनचर्या, प्रातः चार बजे निद्रा त्याग तदनन्तर शौच, व्यायाम, स्नान, उपासन, हवन और तत्पश्चात् हिन्दी, उर्दू साहित्य और धार्मिक पुस्तकों का लम्बा स्वाध्याय ज्ञान कुछ ऐसा था कि जीवन के एक-एक क्षण का बड़ी सावधानी के साथ सदुपयोग करते देखकर काकोरी केस के एक क्रान्तिकारी अभियुक्त को बड़ा आश्चर्य हुआ और जब उन महाराज ने बंगला भाषा सीखने का क्रम चलाया और थोड़े ही दिनों में वे बंगला भाषा का सत्साहित्य भी पढ़ने लगे तो साथी से न रहा गया। वह पूछ ही बैठा—“ठाकुर साहब अब नयी भाषा सीखकर क्या करेंगे।”

“क्यों अब क्या हो गया।”

“आपको तो फौसी पर चढ़ना है। आपको इससे हलकी सजा होने वाली है नहीं फिर इस स्वाध्याय का सदुपयोग कब करेंगे।”

“भाई जब तक जीवित है, सौंस चलने के साथ ही कर्म भी चलता रहना चाहिए। इस जन्म में इसका लाभ नहीं मिल सकेगा यह सोचकर कर्म ही न करना तो बहुत बड़ी भूल होगी। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में तो उसका लाभ मिलेगा और फिर आज ही तो फौसी नहीं होने वाली है, तब तक भी तो इनसे बहुत कुछ लाभ उठाया जा सकता है।”

अपने साथी को ऐसा तथ्यपूर्ण उत्तर देने और कर्ममय जीवन के प्रति ऐसी निष्ठा रखने वाले यह व्यक्ति थे ठाकुर रोशनसिंह, जिन्होंने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में अपने

कालिदास्युक्त पूर्वाह्न को पूरी तरह धो-धोँस दिया था। अन्तिम समय में ही सही उन्हें जो सच्ची राह दिखायी उस पर वे दृढ़ चरणों से चले ही नहीं तीव्रगति से दौड़े भी उनका यह साहस कम प्रशंसनीय नहीं है। नहीं तो सौ में से पिछाने व्यक्ति वह जानते हुए भी कि पिछसा जीवन जैसा भी उन्होंने जिया वह गलत था पर अब सही मार्ग या जाने पर भी वे उस पर चलने का साहस नहीं कर पाते। उनकी मनःस्थिति शायद गालिब की— सौ हो जाती— ‘जिन्दगी भर तो इसके बुलंद में गुजरी, अब मरते दम क्या खूबक मुसलमाँ होंगे’ और ऐसे व्यक्ति अनुष्य जीवन का लाभ या सक्ने की स्थिति में होते हुए भी लाभ उठा नहीं पाते।

ठाकुर रोशनसिंह काकोरी केस में फौसी की सजा पाने वाले चार यशस्वी क्रान्तिकारियों में से एक होते हुए भी अपने तीन फौसी पाने वाले साथियों से सर्वथा भिन्न प्रकार के व्यक्ति थे। क्रान्तिकारी तो ठाकुर इसलिए डालते थे कि उन्हें अपनी गतिविधियों के लिए धन चाहिए था जो उनके पास था नहीं और दूसरे धनी-मानी लोग स्वेच्छा से इस कार्य में आर्थिक सहयोग देते नहीं थे सो वे देश के काम के लिए बलात् धन ले लेना विवशतापूर्ण औचित्य के रूप में स्वीकार लेते थे। किन्तु रोशनसिंह तो डाकू थे, शौकिया डाकू डालते करते थे।

उनका जन्म साहजहाँपुर जिले के नवादा ग्राम में हुआ था, जहाँ के ठाकुर डाका डालने के लिये उस क्षेत्र भर में कुख्यात थे। नवादा ग्राम जिले का सबसे कुख्यात गाँव माना जाता था। मध्ययुगीन सामन्तशाही ने ठाकुरों में कुछ ऐसे दुर्गुण रूपी पुन लगा दिये थे जिनमें विलासिता और मुकुटहस्त उर्ध्व करना मुख्य थे। इन्हीं दुर्गुणों के पारा में फँसे कुछ लोग धन व सुन्दर स्त्रियों के लिए डाकों का सहारा लिया करते थे। नवादा ग्राम के अभिप्रांश ठाकुर भी ऐसे ही थे।

इसी ग्राम में रोशनसिंह जन्मे, पले और बड़े हुए। स्वाभाविक ही था कि उनके ऊपर संगति और ग्राम के अनीति तथा दुराचारपूर्ण वातावरण का प्रभाव पड़ता। रोशनसिंह में भी वे कमजोरियाँ उत्पन्न हो गयीं जो वहाँ के ठाकुरों में आम थीं। इससे उनकी अन्तःचेतना पर कुसंस्कारों की कालिमा-सी चढ़ती गयी। उन्हें पेशेवर तो नहीं पर शौकिया डाकू कहा जा सकता है।

इसे संयोग ही कहना चाहिए कि वे पण्डित रामप्रसाद ‘बिस्मिल’ जैसे क्रान्तिकारी और सुधारक के सम्पर्क में आये। पण्डित जी कट्टर आर्थ समाजी थे— सत्कर्मों और भारतीय संस्कृति के प्रबल पोषक। इनके सम्पर्क में आने से रोशनसिंह को ज्ञात हुआ कि वे आज तक जो कुछ करते आये गलत था।

उनका सम्पर्क भी एक संयोग ही था। क्रान्तिकारी लोगों को जब अपनी अंग्रेज सरकार विरोधी क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए सीधी राह से घन मिलता नहीं दिखा तो उन्होंने जबरदस्ती का मार्ग अपनाया— डाके डालकर धन जुटाने का निश्चय किया। किन्तु पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल के अतिरिक्त दल का कोई व्यक्ति इस काम का अनुभव नहीं रखता था। वे तो पण्डित गैदासाल दीक्षित और ब्रह्मचारी नामक उनके दम्पु साथी के क्रान्तिकारी दल में रह चुके थे।

प्रारम्भिक एक दो मौकों पर एक आघ अनुभवी डाकू को साथ रखने का निश्चय किया गया। सौभाग्य से वे व्यक्ति डाकुर रोशनसिंह ही थे—शरीर से तगड़े, बलिष्ठ और पक्के निशानेबाज।

यों १९२९ में वे एक बार पकड़े जाने पर जेल में असहयोग आन्दोलन के अन्तर्गत बन्दी हुए कुछ सत्याग्रहियों के सम्पर्क में आये वे सभी से उनके मन में अच्छा बनने की उमंगें अंगड़ाइयाँ लेने लगी थीं। पर उनका आलस्य या कमजोरी कहीं या किसी सचेतक का अभाव, वे इन उमंगों को जीवन में उतार न सके। उस बीच को सिंचन मिला पण्डित रामप्रसाद 'बिस्मिल' के सान्निध्य से।

पहले एक दो बार उन्हें साथ रखने पर जब 'बिस्मिल' ने देख लिया कि उनके साथी नवयुवक कुछ कम साहसी नहीं हैं तो उन्होंने रोशनसिंह को जमान दे दिया। पर रोशनसिंह तो अब डाकू से क्रान्तिकारी बनने की तैयारी कर चुके थे। सो वे दल से विलग नहीं हुए बरन् उन्होंने अपने को सुधार कर अच्छा आदमी बनाने का प्रयास आरम्भ कर दिया।

पण्डित रामप्रसाद 'बिस्मिल' ने उन्हें सदाचरण और धर्माचरण का पाठ पढ़ाया। उनके मन-पर कुसंग और अनिष्टकारी धातावरण में रहने के कारण जो कुसंस्कार पड़ गये थे वे धीरे-धीरे झुलने लगे। हवन, पूजा, उपासना, स्वाध्याय और चिन्तन-मनन द्वारा उनके मन-भस्तिष्क में ज्ञानलोक फैलने लगा। वे अपने पहले के दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त करने लगे। उन्होंने अपने जेब जीवन को स्वदेश के लिये समर्पित कर दिया। काकोरी ट्रेन डकैती के समय भी वे दल के साथ थे।

२६ दिसम्बर, १९२५ में उन्हें भी मुख्य अभियुक्तों के साथ गिरफ्तार कर लिया। उन्होंने वही सौचकर जेल में कदम रखा था कि अपने पापों का प्रायश्चित्त यहाँ हो जायेगा। जेल में भी उनका पूजा, उपासना, हवन, स्वाध्याय और चिन्तन, ध्यान आदि का सात्त्विक क्रम चलता ही रहा था।

यों तो उन पर भी वही अभियोग था जो काकोरी केस के अन्य अभियुक्तों पर था। पुलिस को उनके विगत जीवन के बारे में भी बहुत कुछ ज्ञात था कि वे पहले डाके

खसते थे। पुलिस अधिकारी समझते थे कि उनमें डाकूओं वाली वे सभी चरित्रिक कमजोरियाँ विद्यमान होंगी। उनके सहारे वह उन्हें अन्य क्रान्तिकारियों की अपेक्षा आसानी से सरकारी गवाह या मुखबिर बना सकेगी। किन्तु उनका वह विश्वास गलत था कि वे अपनी जान बचाने के लिये सब कुछ डगल जायेंगे। वे एक भी शब्द मुँह से नहीं बोले, इस विषय में। उन्हें और भी कई प्रलोभन दिये पर वे भ्रमाने वाले नहीं थे। अब तक अज्ञानवश जो कुछ करते आये थे, उसे तो लौटाना सम्भव नहीं था पर अब वे अपने साधियों के साथ गद्दारी नहीं कर सकते थे न प्रकारान्तर में अपने देश के प्रति। उन्हें तो फक्र था कि वे भी किसी महान उद्देश्य के साथ जुड़कर श्रेय के भागी बन गये।

उन्होंने पुलिस वालों से बात करना तक नापसन्द कर दिया। इससे पुलिस अधिकारी उनसे बहुत नाराज हुए। इस कारण उन्हें मुख्य अभियुक्तों में शामिल बताया गया। जबकि न तो वे दल में प्रमुख थे और न ही संगठन और योजना बनाने में उनका कोई हाथ ही रहा था। फिर भी उन्हें अपने आपको सुधारने के साहस का शुभ परिणाम तो मिलने ही वाला था सो उन्हें भी फाँसी की सजा सुनाई। उनके मुख से दो बार 'ॐ' शब्द की ध्वनि निकली। अपने साधियों से उन्होंने यही कहा—“मुझे फाँसी हुई इसका कोई गम नहीं, पर तुमने तो अभी जीवन का कुछ भी नहीं देखा।”

अंग्रेज सरकार की अन्यायपरक नीति ने रोशनसिंह को अपने पुराने पापों का प्रायश्चित्त करने का पूरा अवसर दिया और उन्होंने भी इस अवसर पर बड़ी बीरता का परिचय दिया। यह बीरता भी अपने ढंग की अनौखी थी। पूरे आठ महीने तक वे फाँसी पर में रहे, उनकी स्थिति में कोई और आदमी होता तो पागल हो जाता या आत्म-हत्या कर लेता। उस आदमी की दयनीय स्थिति का अनुमान सधन नहीं लगाया जा सकता कि जिस आदमी को आठ महीने तक जीवन और मृत्यु के बीच अधर में लटका कर रखा जाय। पर चाह रे रोशनसिंह। वे जीवन और मृत्यु से निरपेक्ष हो गये थे। उनके मन में यही उत्साह और निष्ठा फाँसी के फन्दे को घुपने तक रही। वही अँधेरे मुँह उठ जाना फिर शौचादि के अनन्तर व्यायाम, स्नान, उपासना आदि का क्रम चलता रहा जैसे कुछ होना ही न हो।

१३ दिसम्बर, १९२७ को उन्होंने अपने मित्र को जो पत्र लिखा था, उससे उनकी मन-स्थिति का सच्चा परिचय मिल जाता है। पत्र में लिखा था—

“इस सप्ताह के भीतर ही फाँसी होगी।

ये साल से मैं बाल-बच्चों से अलग हूँ। इस नीच ईश्वर पवन का खूब मौका मिला, इससे मेरा मोह छूट गया और कोई वासना बाकी न रही। मेरा पूरा विश्वास है कि दुनिया की कष्ट भरी यात्रा समाप्त कर मैं आराम की

जिन्दगी के लिये जा रहा है। हमारे शास्त्रों में लिखा है कि जो आदमी धर्म युद्ध में प्राण देता है, उसकी वही गति होती है जो एकांत में रहकर तपस्व्य करने वाले की होती है।" धन्य है वे हमारे धर्मशास्त्र और धन्य है वे व्यक्ति जो उनको अपने जीवन में आत्मसात करके क्या से क्या बन जाते हैं।

१९ दिसम्बर, १९२७ को ठाकुर रोज़नसिंह को इलाहाबाद जिला जेल में फाँसी हुई। फाँसी के दिन से तैयार बैठे थे। गीता हाथ में लेकर बन्देमातरम् का जयघोष करते और 'ॐ' का स्मरण करते हुए वे फाँसी के फन्दे पर हैसते-हैसते झूल गये। उनकी शव लेने के लिये जेल के बाहर हजारों व्यक्ति एकत्रित थे। लोग उनकी शव छात्र को जुलूस का रूप देना चाहते थे पर सरकारी अधिकारियों ने इजाजत नहीं दी। वेदोक्त रीति से उनका अन्तिम संस्कार सम्पन्न हुआ, जिसमें हजारों की संख्या में जनता उपस्थित थी सबकी आँखों में आँसू थे। कल का डाकू रोज़नसिंह सम्मार्ग पर चलकर आज हजारों के लिये ब्रह्मास्पद बन गया था, वह हमारा अध्यात्म विद्या और वैशेष्य संस्कृति का ही परिणाम था।

महान् क्रान्तिकारी देशभक्त— विनायक सावरकर

१ जुलाई, १९०९ के दिन मदन लाल डींगरा नामक एक भारतीय युवक ने सर कर्जन वाइली नाम के अंग्रेज को लन्दन के जहांगीर हॉल में ही रही एक सभा में गोली मार दी और उसका प्राणान्त हो गया। कर्जन वाइली लन्दन में रहने वाले भारतीय छात्रों पर जासूसी किया करता था और भारत की स्वाधीनता के लिये प्रयत्न करने वाले भारतीयों की गतिविधियों की सूचना पुलिस को दिया करता था। क्रान्तिकारी युवक डींगरा को यह सहन नहीं हुआ और उसने ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी में ही उसकी धजियाँ उड़ा दीं।

उन दिनों इंग्लैण्ड में रह रहे भारतीयों तथा भड़ने के उद्देश्य से गये भारतीय युवकों के दो दल थे। एक तो वे लोग थे जो देश को स्वतन्त्र कराने के लिए प्रयत्नशील थे दूसरे वे जो ब्रिटिश राजभक्ति नतलाकर सरकार की कृपा पाना चाहते थे। मदनलाल डींगरा पर अभी मद्रास में मुकदमा चल ही रहा था कि इस दूसरे राजभक्त दल ने हिंसात्मक कार्य के विरुद्ध एक निन्द्य प्रस्ताव पारित कर अपनी राजभक्ति का प्रमाण देने की गरज से एक सभा आयोजित की। सभा में कई राष्ट्रभक्त भी उपस्थित थे। यह सभा कुछ अंग्रेज के इशारों पर चल रही थी। इस सभा में जो प्रस्ताव पारित होने जा रहा था उसे विनायक दामोदर सावरकर नामक एक राष्ट्रभक्त भारतीय युवक ने यह तर्क देकर रुकवा दिया कि मामला न्यायालय में

विचाराधीन है, अतः प्रस्ताव पारित करने का मुकदमे पर चलत असर पड़ सकता है।

बिन अंग्रेजों ने यह सभा आयोजित करवायी थी वे अपना खेस बिगड़ते देखकर सावरकर पर क्रोधित हो उठे। उनमें से एक उनके मुँह पर घूँसा मारने के लिए उछल हुआ और बोला—“ब्रिटिश घूँसे का मजा चखो, यह मुँह पर बड़ा फिट बैठता है।” इसके पहले कि वह चोट कट्टा एक भारतीय ने उसके सिर पर हन्डा मार दिया और बोला—“यह भारतीय हण्डा है तुम पहले इसका स्वाद तो चख लो।”

इन परतन्त्र भारत के स्वतन्त्रता प्रेमी युवकों पर रक्त होता था जो ब्रिटिश शासन की नाक तले अपनी इस राष्ट्र भक्ति का परिचय देते थे। अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को तनिक भी परवाह नहीं की। उन्होंने उन्हें एक महान् ध्येय को समर्पित कर दिया था किन्तु उनकी तुलना हम आज के स्वतन्त्र भारत के अपने स्वार्थ में बँधे भारतीयों से कर, जो अपने छोड़े से स्वार्थ के लिए देश का बड़ा से बड़ा अहित करने से नहीं चूकते, तो बड़ा दुःख होता है और लज्जा भी आती है कि हम इतने बेगैरत कैसे हो गये कि उन लोगों के त्याग-बलिदानों को भूल गये जिनके त्याग, बलिदान एवं रक्त से इस आजादी का विनिमय हुआ था।

अंग्रेजों की इस दुरभिसंधि को नाकाम करने वाले युवक विनायक सावरकर को पच्चीस वर्ष की आयु की धरी जवानी में क्रान्तिकारी विचारधारा, गतिविधियों तथा लेखनी के कारण पचपन वर्ष के काले पानी का दण्ड दिया गया। उन्होंने अपने जीवन के—जवानी के तीस वर्ष काले पानी की नारकीय बंत्रणाओं को भोगते हुए गुजारे। इस जीवन दान के बलिदान को धुलाकर उसके बदले में मिली आजादी का मूल्य न समझना और राष्ट्रीय दायित्व से द्रोह करना कितनी बड़ी कृतघ्नता है।

विनायक सावरकर का जन्म ठम्रीसवीं सदी के अन्तिम दशक के प्रथम चरण में हुआ था। वे जब अल्पायु ही के थे कि अपने राष्ट्रभक्ति पूर्ण क्रिया-कलापों के कारण उन्हें ब्रिटिश हुकूमत ने फाँसी की सजा दे दी थी। बालक विनायक के मन पर इस घटना का बड़ा प्रभाव था। कोई व्यक्ति अपने देश के लिये प्राणोत्सर्ग भी कर सकता है यह भावना उन्हें बड़ी स्पृहणीय लगी थी।

उनके परिवार का वातावरण भी उनमें जातीय और राष्ट्रीय स्वाधियान जगाने में सहायक हुआ था। बचपन में अपनी माता के मुँह से छत्रपति शिवाजी की वीरता, साहस और देशप्रेम की जो गौरव-गाथाएँ विनायक ने सुनीं, उन्होंने उनके व्यक्तित्व को एक सौदा प्रदान कर दिया—अदसों के लिये बलिदान हो जाने वाले व्यक्तित्व का सौना। बचपन में उन्हें जीवन का जो लक्ष्य मिला उसने

उन्हें वीरता, विद्वता, तेजस्विता, क्रान्तिदर्शिता और आदर्शवादिता की महिम्नाओं से मण्डित एक राष्ट्रीयता के रूप में यशस्वी बना दिया। भारत की स्वाधीनता के लिये उन्होंने जो योगदान दिया उसे कभी विस्मृत नहीं किया जा सकेगा।

बाफेकर बन्धुओं को हुई फाँसी ने कलक विनायक और उनके बन्धु गणेश सावरकर को स्वातन्त्रता की लड़ाई में कूद पड़ने के लिए प्रेरित कर दिया। इस स्वातन्त्र्य वज्र में प्रथम आहुति उनके अग्रज गणेश सावरकर द्वारा दी गई। १९०९ में उन्हें राजद्रोहात्मक कवित्तयें रखने के अपराध में गिरफ्तार कर लिया गया और बाद में ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध बढ़यन्त्र रचने और युद्ध घोषणा करने के अपराध में आबन्ध काले पानी की सजा दी गई। साथ ही उनकी सारी सम्पत्ति जब्त करने का भी आदेश ब्रिटिश शासन ने दिया।

ब्रिटिश शासन की शक्ति और सामर्थ्य के सामने विनायक और गणेश सावरकर जैसे युवकों की क्या तुलना थी, पर्वत के सामने राई जैसी ही, पर जहाँ नीति और न्याय के समर्थक की शक्ति की बात है वह राज्य शक्ति और सैन्य बल की परवाह नहीं करता। न्याय और नीति के साथ ईश्वरीय शक्ति होती है। इनके पक्ष में बड़ी से बड़ी ताकत से टकराने वालों को वह शक्ति मिलती भी है। अपनी इसी शक्ति के बल पर साधनहीन युवकों ने ब्रिटिश हुकूमत को चुनौती देने का साहस कर ही लिया।

विनायक सावरकर स्कूल में पढ़ते थे तभी उन्होंने बच्चों की एक समिति बनायी थी— 'राष्ट्रभक्त समूह'। इस समिति का काम ऐसे स्वयंसेवक तैयार करना था जो आगे चल कर आजादी की लड़ाई में भाग लें। आगे चलकर यही संस्था 'मित्र मेला' के रूप में परिवर्तित हो गयी। अब इसका क्रियात्मक पक्ष भी सामने आया। गणेश-पूजा और शिवाजी-उत्सव जैसे अभिनव पर्वों के आयोजनों पर साधारणजनों में देशभक्ति की भावनाओं का प्रचार करना और वह जोश उत्पन्न करना कि वे अपनी शक्ति को समझें और उसका प्रयोग करके विदेशी शासकों को देश के बाहर निकालने के लिये व्यापक क्रान्ति करें।

१९०२ में महारानी विक्टोरिया के देहावसान पर और एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेक पर जो उत्सव भारतीय जनता ने मनाये, उस पर इन युवकों ने उन्हें बतलाना कि वे उत्सव उनकी पराधीनता के प्रतीक हैं। वह राज्य-शक्ति देश-द्रोह की अभिव्यक्ति भर है। इनकी इस तत्त्व पूर्ण बात का प्रभाव उस समय चले ही लोगों पर न पड़ा हो पर आगे चलकर उन्होंने इस सत्य को स्वीकार किया।

सावरकर जब फर्ग्युसन कॉलेज में प्रविष्ट हुए तो लोकमान्य तिलक से उनकी सहज सम्पर्क जुड़ गया। लोकमान्य उनकी भावना और व्यक्तित्व की प्रखरता से बहुत प्रभावित हुए। उनकी 'मित्र-मेला' मण्डली, जिसका नाम अब 'अभिनव भारत' हो गया था, ने महापुरुषों में

पहले ही विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार की धूम मचा रखी थी। लोकमान्य तिलक तो ऐसे युवकों को खोजते फिरते थे।

१९०६ में बी० ए० पास करने पर लोकमान्य तिलक ने उन्हें श्याम जी कृष्ण वर्मा नामक प्रख्यात देशभक्त द्वारा भारतीय छात्रों को विदेश जाकर पढ़ने के लिए दी जाने वाली छात्रवृत्ति दिलवादी और वे इंग्लैण्ड पहुँच गये। जनार्दन और विद्योषार्दन के प्रति सावरकर पूरे तत्पर थे पर उसका उपयोग भी वे देश के लिए ही करना चाहते थे। इंग्लैण्ड से उच्च शिक्षा ग्रहण करने के बाद भारत आने पर उनके लिए ब्रिटिश शासन तंत्र में उच्च ओहदे, सम्पन्नित जीवन और अच्छा खासा वेतन मिलना सहज सम्भव था पर वह सब गुलामी की शर्त पर मिलता था और फिर सावरकर का निर्माण कुछ और ही डंग से और ही मिट्टी से हुआ था। उनके लिये वे प्रलोभन तिनके की तरह लुब्ध थे। वे तो सरफरोशी की लम्बा रखने वालों में थे। अपने स्वार्थ और सुख के लिये अन्याय, अनीति से समझौता करके झुक जाने वाले लोगों में से नहीं थे। यह आदर्शवादित उनके लिये बाटे का सौदा नहीं रही, कितने ही विदेशों से पढ़कर भारत आये और सरकार के उच्च पदों पर रहे, ऐसे लोगों का आज कहीं नाम-निशान ही नहीं मिलता, वे धीरे में खो गये हैं।

भारतीय युवकों में स्वदेश प्रेम और क्रान्तिधर्मिता उत्पन्न करने के लिए उन्होंने चौबीस वर्ष की आयु में '१८५७ के स्वाधीनता संग्राम का इतिहास' नामक एक पुस्तक लिखी। ब्रिटिश सरकार ने यह पुस्तक इतनी खतरनाक समझी कि यह प्रकाशित होने के पहले ही जप्त घोषित कर दी गई। ब्रिटिश सरकार के इस निर्णय से वह प्रचलित मान्यता कि ब्रिटेन में स्वतन्त्र चिन्तन और स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का अधिकार प्राप्त है भी झूठी सिद्ध हो गयी। ब्रिटिश सरकार का यह कदम इंग्लैण्ड के सबसे बड़े सभाकार वर 'लन्दन टाइम्स' को भी असोभनीय लगा। इस प्रतिबन्ध के बाद भी गई अल्फ्रेड नामक एक ब्रिटिश वक्ता के सहयोग से इसका प्रकाशन किया गया। यह पुस्तक भारत भी पहुँची।

इस पुस्तक को जन्म देने के निर्णय से स्पष्ट हो जाता है कि सावरकर की लेखनी में कितना दम था। यह तथ्य विचारों की अद्भुत शक्ति का परिचायक भी है। सरकारी इस आज्ञा के उल्लंघन के फलस्वरूप सावरकर को बन्दी बना लिया गया। वे जब जहाज द्वारा भारत लाये जा रहे थे तो फ्रांस के मासेल्व नगर के निकट उन्होंने मौका देखकर खतरनाक मछलियों और समुद्री जन्तुओं से भरे सागर में छतौन लगाकर अद्भुत साहस का परिचय दिया। उनमें इस साहस का संचार आत्मा की अमरता की हमारी भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा ने ही किया था। उन्होंने तैरकर सागर भी पार कर लिया था पर ब्रिटिश

३.२८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

पुलिस उन्हें पुनः बन्दी बनाने में सफल हो गयी। फ्रांस सरकार ने इसमें हस्तक्षेप न करके अपने ही कानून का उल्लंघन किया।

उन्हें ५५ वर्ष के काले पानी की सजा हुई। सावरकर को पूर्ण विश्वास था कि इतने लम्बे समय तक तो अंग्रेज सरकार भारत पर अधिकार चलाए रखने में सफल भी नहीं हो सकेगी। उनका अनुमान सही निकला उनको जेल भेजने के चौबीस वर्ष बाद ही अंग्रेजों को भारत से भाग खड़ा होना पड़ा। अपने ध्येय के प्रति सावरकर की कितनी निश्चयास थी। वह ध्येयवृत्तियों के लिये उत्कृष्ट उदाहरण है।

सावरकर ने अपने जीवन के तीस वर्ष अण्डमान द्वीप समूह की काले पानी जेल की काल कोठरी में बिताये। इस जेल की पंजणायें इतनी अमानुषिक थीं कि सुनकर उन पर सहज विश्वास नहीं होता। साथ ही इस बात पर भी विश्वास नहीं होता कि ऐसी नारकीय पंजणायों को सहते हुए भी कोई व्यक्ति तीस वर्ष तक जीवित ही नहीं बरन् कार्यक्षम भी रह सकता है। वहाँ रहते हुए अपने देश सेवा के ध्येय को पूरा भी कर सकता है। पर यह सब असम्भव ही दीखने लगी बातें सावरकर ने सम्भव कर दिखाई थीं। मनुष्य की अदम्य जिजीविषा किसी महान ध्येय के साथ मिलकर कैसा चमत्कार कर दिखाती है वह सावरकर के जेल जीवन में देखा जा सकता है।

वह वही अण्डमान की जेल थी जिसमें कितने ही राजनैतिक कैदी सावरकर के सामने आये और वहाँ की अमानुषिक परिदृशियों से त्रस्त होकर मर गये, कितने ही पागल हो गये। सावरकर यह सब देखते-सुनते और सहते हुए भी अविचलित रहे। अण्डमान में तीस वर्ष की जेल काटने वाला आदमी सही सलामत लौट आये यह आश्चर्य की बात थी।

जेल में भी वे निष्क्रिय नहीं रहे। वहाँ भी हिन्दी भाषा का प्रचार किया। १९३७ में जेल से छूटकर स्वदेश लौटने पर भी उनका देश सेवा का कार्य रुका नहीं। शरीर से जर्जर पर मन और आत्मा से सबल सावरकर अपने ढंग से देश का काम करते रहे। उनके विचारों में जातीय स्वाभिमान की जो प्रेरणायें विद्यमान हैं उन्हें यदि विशद दृष्टिकोण से देखा जाय तो उनकी उपयोगिता आज भी दिखलाई देती है। गुटीकरण की नीति के वे उतने ही विरोधी थे जितने सुभाष बाबू।

सावरकर एक प्रखर सिद्धान्तवादी व्यक्ति के रूप में सदा स्मरण किये जाते रहेंगे। आदर्शों की हत्या करके व्यक्तिगत स्वार्थ के स्तर पर सभझौता करने की जो हवा आज चारों दिशाओं में चल पड़ी है, उसके विपरीत रुख में खड़े आदर्शवादियों के लिये उनका चरित्र एक दुर्दु पतवार का काम देने वाला है। १९६६ में इस महान

क्रान्तिकारी उत्कृष्ट राष्ट्रवादी और प्रखर साहित्यकार के पार्थिव जीवन का अन्त हुआ, पर अपने प्रेरक कर्तृत्व के रूप में वे आज भी हमारे बीच विद्यमान हैं।

बाँध न पायीं, जिन्हें जेल की दीवारें भी

साम्राज्यवादी अंग्रेजों के घर इंग्लैण्ड की राजधानी में भारतीय युवकों की क्रान्तिकारी गतिविधियों का सूत्र संवातन करने और अंग्रेजों के पाकों दम करने वाले साइसी युवक को भारतीय न्यायालय ने आज्ञा काले पानी की सजा दी। इस पर लोगों ने कहा—“पचास वर्ष की सजा बहुत अधिक होती है।”

“पचास वर्ष की बात करते हो? क्या इतने दिनों पे अंग्रेज हमारे यहाँ रहने वाले हैं? कभी नहीं।”

वही दुइपना युवक मार्च, १८९९ में अण्डमान द्वीप समूह में काले पानी की सजा काटने के लिये भेज दिया गया। लम्बी जेल यात्रा के बाद वह अण्डमान पहुँचा तब तक तो उसने तय कर लिया था कि उसे वहाँ जाकर क्या करना है। नहाव चलने के साथ ही उसका मस्तिष्क भी चलता रहता था। उसकी अपनी सारी योजना और सम्भावित गतिरोध और उनसे निपटने के सारे तरीके उसके ठोकर मस्तिष्क में उपज आये थे।

उसके चिन्तनशील मस्तिष्क में यह बात पहली ही स्पष्ट हो चुकी थी कि अब अंग्रेज अधिक दिनों भारत पर शासन नहीं कर पायेंगे क्योंकि भारतवासी उनके विरुद्ध उठ खड़े हुए हैं। किन्तु उनके जाने के बाद जो ऐक्य उनसे विरोध करते समय बना था वह बना रहना सम्भव नहीं है। क्योंकि भारत जैसे विशाल देश के निवासी धर्म, रीति, रिवाजों तथा भाषागत विभिन्नता के कारण एक होकर सोच नहीं पायेंगे। जातिवाद, भाषावाद व सम्प्रदायवाद के काले नाग फन उठाने लगेंगे। ऐसी स्थिति में राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रखने के लिए भाषणात्मक ऐक्य के लिए देश भर में एक राष्ट्रभाषा का होना आवश्यक है और वह भाषा हिन्दी ही हो सकती है। अतः उन्होंने जेल में ही हिन्दी प्रचार करने का निश्चय कर लिया। इस निश्चय को उसने अनेकानेक कठिनाइयों अक्षुषिणजों, विरोधों के अनन्तर भी पूरा कर दिखाया। वह युवक थे भारत के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी विनायक लम्पेदर सावरकर जिन्होंने दस वर्ष तक अण्डमान जेल में रहकर वहाँ ९० प्रतिशत बन्दियों को हिन्दी सिखायी।

अंग्रेजी ने अपने शासन के साथ ही साथ अपनी भाषा और संस्कृति भी भारतवासियों पर थोपी थी। अंग्रेजी भाषा व अंग्रेजी वेशभूषा के बौद्धिक परावलम्बन का बुझ उन्होंने भारतवासियों के कन्धों पर रख दिया था। यह मानसिक दासता उस राजनैतिक दासता से कम भयंकर नहीं थी। इससे ठसी समय सावरकर ने जूझना आरम्भ कर दिया था।

अण्डमान की जेल में जाते ही उन्होंने अण्डमान जेल स्थित बंदियों को साक्षर बनाने अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सिखाने का कार्य आरम्भ कर दिया। बन्दी जीवन की कष्ट, कठिनाइयों व अत्याचारों ने लोगों को इतना निराश बना दिया था कि उन्हें पढ़ने के लिये तैयार करने में भी सावरकर को बड़े धैर्य का परिचय देना पड़ा। कोई कहता—“धैर्य जाने कब वहाँ से मुक्ति मिलेगी तब तक तो हम मर खप ही जायेंगे।” कोई कहता—“अब तक तो पंजाबी बोलता रहा हूँ अब हिन्दी बड़कर क्या तीर मार लूँगा।” कोई बुढ़ाये का रोना रोते—“पक्की इट्टियों पर क्या कच्ची मिट्टी का पेचन्द लगाता है बेटे।” इन सबके मध्य में उन्होंने अपनी बुक्तियों व अपने आश्रयार्थ के कारण उत्साह उत्पन्न किया। वे लोग भी देखें कि यह तीस वर्ष का युवक यहाँ पचास वर्ष की जेल भोगने आया है। यहाँ से जायगा तब तक तो अस्सी का हो जाएगा फिर भी यह हँसता-मुस्कुराता है और कहता है कि इतने वर्ष तक अंग्रेज भारत में रहेंगे भी नहीं और फिर इधे सक्षर बनाने के लिये कितना परिश्रम करता है। इसने जीवन के मर्म को समझा है हमें उसकी बात माननी चाहिए।

सावरकर की कर्मनिष्ठा और उत्साह ने जेले के दिलों में आशा की संजीवनी की चुट्टी पिलाकर ज्ञान संचार किये और उनका शिक्षण क्रम तेजी से चलने लगा। अनपढ़ पढ़ने लगे। अहिन्दी भाषी हिन्दी सीखने लगे।

उनकी इस सफलता पर जेल के अंग्रेज अधिकारी क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने देखा कि यदि लोगों में उत्साह उत्पन्न हो गया और हिन्दी सीखकर वे हिन्दुस्तानी बन गये उनके बीच पड़ी हुई पंजाबी, गुजराती, मराठी, दक्षिण भारतीय की अदृश्य सीमारों उठ गयीं तो हमारी मुश्किल हो जायगी। भारत रुपये वह देश जो अभी सोया हुआ है जाग पड़ेगा तो जाने क्या हो जायगा। अतः उन्होंने “फूट डाली और राज करो” की नीति के अनुसार काम करना आरम्भ कर दिया।

घोड़े ही समय में सावरकर से पढ़ने वालों ने पढ़ने से ईकार कर दिया। सब लोग उनसे कतराने लगे। इसका कारण अधिकारियों द्वारा फैलाई गयी यह अपन्थाह थी कि वे बंगाली, सिन्धी, पंजाबी, मराठी आदि भाषा-भाषियों पर हिन्दी, जो कि घोड़े से लोगों की भाषा है, सपढ़ने के कुचक्र रच रहे हैं। इस पर बड़ा बखेड़ा उत्पन्न हो गया। कुछ लोग तो उनका प्रबल विरोध करने लगे। वे हिन्दी को समस्त भाषाओं से श्रेष्ठ कैसे मान लें। बंगाली कहने—“हमारी भाषा का साहित्य इतना समृद्ध है कि हिन्दी में उनके अनुवाद होते हैं फिर उसे ही क्यों प्रमुख मान लिया जाय ?। इतने में मराठी बोल पड़ता—“मराठी क्या किसी से कम है।” कोई कहता—“हिन्दी का तो अपना व्याकरण भी नहीं।” इस प्रकार तरह-तरह के विरोध उठ खड़े हुए।

इस विरोध का उत्तर एक-एक व्यक्ति को पृथक् पृथक् देने की अपेक्षा उन्होंने सब बन्दिओं की एक सामूहिक सभा बुलाकर उसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया। पृथक् पृथक् समझाने में कितना ही समय लग जाता और अनावश्यक गतिरोध उत्पन्न हो जाता। उन्होंने सब भाषाओं को अपने-अपने स्थान पर उपयुक्त मानते हुए हिन्दी को सबके बीच की सम्पर्क भाषा मान लेने के औचित्य को समझाया। साथ ही साथ उन्होंने इसकी व्यवहारिकता पर भी प्रकाश डालते हुए बताया कि हमारा देश भिन्न भिन्न मठ मतान्तरों व भाषाओं वाले लोगों का होतै हुए भी धर्म और संस्कृति के सूत्रों में बँधकर एक बना है वैसे ही हिन्दी को भी एकता का एक सूत्र मान लेना चाहिये।

उनकी बुक्ति बुक्त बात लोगों के गले उतर गयी। वे हिन्दी पढ़ने के लिये तैयार हो गये। हाँ कुछ कठोर चर्चों की तरह गले नहीं वे विरोध करते रहे किन्तु उनकी आवाज आज नमस्कारछाने में तूती की तरह अग्रभावी बन गयी। सावरकर का प्रयास सफल होता दिखाई देने लगा।

अब समय आधी पुस्तकों की। जेल के कुछ सहचर भारतीय अधिकारियों के सहयोग से कुछ पुस्तकें उपलब्ध हुईं। उनसे ज्ञान मन्दिर (पुस्तकालय) की स्थापना की गयी। किन्तु पढ़ने वालों की संख्या देखते हुए पुस्तकें बहुत कम थीं। उसका तरीका खोजा गया कि बन्दी पैसा इकट्ठा करें और जबसर देखकर बाहर से पुस्तकें मँगालें। इन्हीं दिनों दीक्षान सिंह नामक एक व्यक्ति की मृत्यु हो गयी। पुस्तकें मँगाने का वह अच्छा बहाना था। कैदियों ने जो पैसा-पैसा जोड़ा था वह इकट्ठा किया गया। कोई दो सौ रुपये एकत्रित हुए। उन रुपये से दिवंगत बन्दी की स्मृति में पुस्तकें मँगायीं। सामान्य व्यक्ति के स्तर से लेकर ठीक साहित्यिक पुस्तकें भी मँगायी गयीं जिससे सभी स्तर के लोग लाभ उठा सकें।

अब हिन्दी के साथ-साथ दूसरी भाषाओं का शिक्षण भी आरम्भ किया गया। सम्यक भाषा बनी हिन्दी। तब लोगों की समझ में आ गया कि इसे सीखने से कितना लाभ हुआ। हिन्दी सीखने से परस्पर एक दूसरे की भाषा समझने, सीखने में बड़ी आसानी हो गयी।

जेल से जिन व्यापारियों का सम्पर्क रहा करता था उन्हें भी सावरकर ने कहा—हिन्दी सीखने का प्रयास करो, अपने बच्चों को हिन्दी सिखाओ ताकि सरकार उनके लिये पठशाला खोल सके। हिन्दुओं की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। पंजाबी, गुजराती, मराठी बंगाली होते हुए भी वैसे हम हिन्दू हैं। वैसे ही धर्म की तरह भाषा को भी हमें सीखना चाहिए।”

सावरकर को जेल में कोठाधिकारी बनाया गया। उन दिनों जेल व खली खरीदने के लिये जो व्यापारी आते, उन्हें

३.३० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

वे अपनी यह बात समझाना नहीं भूलते । यही नहीं उन्हें महाभारत, रामायण तथा अन्य महापुरुषों की जीवनिर्वा भी पढ़ने के लिए देने लगे, जिन्हें पढ़कर वे लोग वापस उन्हें लौटा देते थे । इस प्रकार जेल की चहारदीवारी में लगाने गये ज्ञानरूपी वृक्ष के जब फूल आये तो उनका सौरभ उन सौख्यों के बाहर भी बिचरने लगता ।

किसी को बंदी बना देने से उसके क्रिया-कलाप रुकते नहीं । जिनमें कुछ कर गुजरने की भावना होती है वो वे पर्वतों को तोड़ कर भी राहें बना लेते हैं । बस लगन और धैर्य की आवश्यकता होती है । अंग्रेजों ने देखा कि यह सावरकर यदि खुला फिरता रहा तो जाने क्या-क्या बखेड़े उत्पन्न करेगा । इसलिये न्याय का गला घोटकर उन्हें सुदूर काले पानी की सजा काटने भेज दिया पर वहाँ भी वे चुप नहीं बैठे ।

उन्होंने भारतवर्ष के क्रान्तिकारियों से भी सम्पर्क बनाये रखा । उनके इस जेल में चलाये गये साक्षरता आन्दोलन को इन क्रान्तिकारियों की सहायता मिलती रही थी । इस कार्य से दोहरा लाभ हुआ एक तो निरक्षर लोग साक्षर हो गये । उनके लिये ज्ञान प्राप्ति का मंगल द्वार खुल गया दूसरे राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार हो गया ।

जेल में उन्हें भी अन्य बंदियों की तरह कोल्हू चलाया पड़ता था, चक्की पीसनी पड़ती थी । भोजन डंग का नहीं मिलता था । जलवायु तो पहले ही खराब थी ही । मलेरिया का भीषण प्रकोप होता था । इन सब बाधाओं को झेलते हुए भी उन्होंने अपने संकल्पों को साकार करने में कभी आलस्य नहीं किया । उन्हें जब भी समय मिलता अपना पढ़ाने का काम पकड़ लेते ।

दस वर्ष तक वे इन काल-कोठरियों में पाठशाला चलाते रहे— अपने डंग की अमोही पाठशाला जिसके लिये न समय था, न साधन और ऊपर से अंकुश लगा ही रहता । फिर भी दस वर्ष तक वे वहाँ रहे तो उन्होंने ९० प्रतिशत बन्दियों को साक्षर बना दिया । लोग कहते हैं, क्या करें परमार्थ का काम करने पर इतने व्यवधान सम्भने हैं इनके लिए यह उदाहरण अपर्याप्त नहीं । संकल्पों की कमी है और किसी की नहीं अन्यथा परमार्थ के काम में न समय बाधक बनता है न साधनों का अभाव ही ।

हाजिर जवाब में भविष्यवाणी

“दण्डित १९१० में, रिहाई १९६० में, इन शब्दों से अंकित तख्ती गले में लटकाये वीर सावरकर दोहरे आजीवन कारावास का दण्ड भोगने के लिये काले पानी की कोठरी में प्रविष्ट हो रहे थे । किन्तु न मुख म्लान, न मन में ग्लानि । आन्तरिक स्थिरता भी नहीं ढगमगाई । पास खड़े जेल अधिकारी ने व्यंग्य किया—“मजराओ नहीं । ब्रिटिश सरकार पचास साल पूरे होते ही तुम्हें जल्द रिहा कर देगी ।” सावरकर ने उत्तर दिया— “किन्तु क्या स्वयं

ब्रिटिश सरकार भारत में पचास साल टिकी रह सकेगी ?”

हृदय की विशालता

स्वातन्त्र्य संग्राम के वीर विनायक राव सावरकर की स्वतन्त्र संपत्ति अंग्रेजों ने राज-सात करायी थी । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस संपत्ति की वापसी के लिये प्रयत्न किये गये परन्तु किन्हीं निषर्ण आदि के कारण संपत्ति वापस नहीं हो सकी । इस पर एक मित्र ने सावरकर के समक्ष स्वतन्त्र भारत की व्यवस्था की आलोचना कर इसे राजसकीम उपेक्षा बताया । ऐसा कहने से रोकते हुए वीर सावरकर ने कहा—“बन्धु, जाने भी दो, जब सागर, नदियों व हिमालय जैसी मूल्यवान संपत्तियों वाला देश मुझे वापस मिल गया है तो थोड़ी-सी संपत्ति को लेकर क्या झगड़ में पड़ना ।”

सावरकर की यह सज्जमता व हृदय की विशालता देख उनके मित्र चुप हो गए ।

धीर बालक—

हकीकत राय

मुगल शासन काल में फारसी का महत्व एक राज-भाषा जितना था । फारसी पढ़ाने के लिये मौलवी लोग पदसे तब्त मकतब (पाठशाला) चलाते थे । स्मालकोट के एक ऐसे ही मकतब के मौलवी साहब कुछ देर के लिये बाहर गए तो बालकों ने हो-हल्ला करके मकतब सिर पर उठा लिया । सभी बालक इसमें भाग ले रहे थे केवल एक बालक इन सब उच्छृंखलताओं से अलग-थलग बैठा अपनी पुस्तक पढ़ने में मग्न था । यह बालक पढ़ने में सबसे आगे था इस कारण उससे कुछ मन्दबुद्धि मुसलमान लड़के जलते थे, दूसरा कारण इस बालक का हिन्दू होना था । उन्होंने उसे छेड़ने के लिये हिन्दू देवी-देवताओं को गालियाँ देना आरम्भ कर दिया । इस बालक को यह सहन नहीं हुआ ।

बालक अपनी माताजी को गीता, रामायण पढ़ते सुनता था । उसकी हिन्दू देवी-देवताओं पर बड़ी ब्रद्धा थी । गीता तो उसे बड़ी प्रिय लगती थी । उसने उन्हें समझाया—“तुम हमारे देवी-देवताओं को गाली न दो । हम भी तुम्हारे पैगम्बर को गाली दें तो तुम्हें कैसा लगेगा ।”

इस पर वे और जोर से गालियाँ देने लगे । हिन्दू हकीकत को यह सहन न हो सका उसने भी अल्लाह को गालियाँ दी ।

मौलवी के आने पर उन उच्छृंखल बालकों ने नमक मिर्च लगाकर हकीकत की शिकायत की । मौलवी यह सुनकर आग जमूला हो गया । उसने हकीकत को डाँटा । बालक के मन में शिक्षक के प्रति ब्रद्धा थी पर वह सत्य

कहने का साहस रखता था । उसने प्रतिवाद किया व अपनी गलती नहीं मानी ।

मुसलमानों के शासन में एक हिन्दू उनके देवताओं को गाली देने का साहस करे ? वह मौलवी को सहन न हुआ । बात न्यायालय तक पहुँची । न्याय भी उन दिनों मुल्ला मौलवी करते थे । बालक को मृत्यु दण्ड की सजा देने का निर्णय हुआ ।

मौलवी ने इस बालक को बहुत सम्झाया कि वह अपना धर्म छोड़कर मुसलमान बन जाय तो उसे जीवनदान ही नहीं बड़ा पद मिल जायगा । उसके माता पिता ने भी समझाया “बेटा स्वीकार कर लो क्या से कम तुम्हारी जान तो बच जायगी ।”

हकीकत में मन में विचार किया । मृत्यु तो आज नहीं तो कल आएगी ही फिर धर्म और सत्य को छोड़कर क्यों जीवन की भीख मागूँ । मैं रोज गीता पढ़ती है उसमें लिखा है कि आत्मा पुराने कपड़े की तरह एक शरीर छोड़कर नये कपड़ों की तरह दूसरा शरीर धारण करती है । वह न तो आग में जलती है, न जस्तों से काटी जा सकती है । फिर मैं इस शरीर का क्यों मोह करूँ । उसने कहा- “आप धर्म चिन्ता करते हैं, मैंने कोई अपराध नहीं किया है, मैं क्यों अपना धर्म त्याग दूँ ।”

एक अवोध बालक के आगे सारा राजस्व हार रहा था । ज्यों-ज्यों बालक अपने निश्चय पर दृढ़ रहा त्यों-त्यों प्रलोभन भी बढ़ते गये । उसे सभी प्रकार के भय दिखाए गए । किन्तु हकीकत अपनी बात पर अटल था ।

सन् १९१४ वसंत ऋतु के दिन रावी नदी के किनारे इसे मृत्यु दण्ड देने के लिए ले जाया गया । वहाँ बड़ी भीड़ एकत्रित हो गई थी । जल्लाद हाथ में भंगी तलवार लिये खड़ा था । मुल्लाओं ने समझा कि अब डर व्यवस्था-
“बोलो जिन्दगी चाहते हो या मौत ।”

निर्भीक स्वर में हकीकत ने कहा-“अपन न तो मुझे मौत से सकते हैं न जिन्दगी । जो करना है करें ।”

सिर काटने का आदेश हुआ । क्रूरकर्मा जल्लाद के हाथ से भी तलवार छूट पड़ी, उसे भी दम आ गई पर हकीकत ने तलवार ठठाकर उसे घना दी व कहा कि तुम अपना कर्तव्य पूरा करो ।

तलवार भली, हकीकत का सिर कट गया । क्षण भर भिटने वाला यह वीर अमर होकर लाखों की जीवन प्रेरणा बन गया ।

स्वातन्त्र्य युद्ध का प्रथम सैनिक-

मंगल पाण्डे

अंग्रेज भारत में व्यापारी बनकर आये थे । साहजिकी के दरबार में सर टामस रो ने व्यापारिक सुविधाओं के लिए छुट्टियों के बल झुक कर निवेदन किया था । वही अंग्रेज १८५० तक भारत सम्राट बन बैठे । युगत सम्राट

उनके हाथों की कठपुतली भर रह गया । भारतीय जनता अंग्रेजों के इस कुचक्र को समझ नहीं पाई । उसे चेत तब हुआ जब राजनैतिक विषय के बाद उन्होंने सांस्कृतिक विषय करने की ठानी और वैसे ही प्रयास आरम्भ कर दिये ।

भारतीय जनमानस धर्म व संस्कृति से ही नियन्त्रित, संचालित रहा है । अब धर्म व संस्कृति पर चोट पड़ने लगी तो उन्हें चेत आया, वे क्षुब्ध हो उठे । भीतर ही भीतर विप्लव की गृहधूमि बनने लगी । १८५७ में मंगल-पाण्डे नामक एक युवा सैनिक ने इस विप्लव को स्वर दिया । देखते ही देखते यह स्वर महाराज बनकर भारत के दिगदिगत को प्रकम्पित करने लग्न । अंग्रेजों के साम्राज्य की प्राचीर टूटने लगी ।

अंग्रेज इतिहासकार ने उस विस्फोट को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है-“२९ मार्च, १८५७ को बैरकपुर की ३४वीं हिन्दुस्तानी बटालियन में असाधारण हलचल दिखाई दी । भारतीय हवलदार मेजर हॉफता हुआ अपने अंग्रेज अधिकारी के पास आया और यह खबर सुनाई कि एक दल सिराही ने यह घोषणा कर दी है कि वह बागी है । वह बैरकों में क्रान्ति का प्रचार करता हुआ घूम रहा है । लैफ्टीनेण्ट घोड़े पर सवार होकर लाइन की ओर गया तो क्या देखता है कि एक जवान सिराही जिसका नाम मंगल पाण्डे था, सिपाहियों में घूम-घूमकर यह प्रचार कर रहा है । “अंग्रेज सरकार हमारे धर्म का नशा कर रही है । हमें उसकी नीकरी छोड़ देनी चाहिए ।” वह यह घोषणा भी करता जा रहा था-
“मैंने प्रतिज्ञा कर ली है कि जो भी अंग्रेज मेरे सामने आवेगा उसे गोली मार कर धेर कर दूँगा ।”

बग़वत का प्रचार कर ही रहा था कि अंग्रेज लैफ्टीनेण्ट उसके सामने जा पहुँचा । मंगल पाण्डे ने क्षण भर का विलम्ब किए बिना उस पर गोली दाग दी । अंग्रेज अफसर ने गोली बचाने के लिए घोड़े को मोड़ दिया । फलस्वरूप गोली घोड़े को लग गई और वह क्रोध कर दूर जा खड़ा हुआ । उसने दूर खड़े मंगल पाण्डे पर गोली चलाई वह छाती गयी । बिफरे सिंह की तरह मंगल पाण्डे उस पर टूट पड़ा व अपनी तलवार से इसे परमधाम पहुँचा दिया । लैफ्टीनेण्ट की सहायता के लिए एक अंग्रेज सार्जेण्ट मेजर दौड़कर आया उसका भी मंगल पाण्डे ने काम सम्पन्न कर दिया ।

बीस भारतीय सिपाही मंगल पाण्डे की इस कारगुजारी को देखते रहे । मेजर जनरल भी यह वारदात देख रहा था, किन्तु न वह बीच में पड़ा न उसके आदेश को मानकर भारतीय सिपाहियों ने इस बिफरे शेर को ही पकड़ा । उनमें भी देशप्रेम व स्वधर्म रक्षण की उमंगें जलवाही होने लगी थीं । ३४वीं पलटन के कर्नल हिलर ने भी उन्हें मंगल पाण्डे को पकड़ने का आदेश दिया पर उन्होंने अनसुन कर दिया ।

३.३२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

दोनों अंग्रेज मंगल पाण्डे की असिभरता के बार से मर चुके थे। दूसरे अंग्रेज खड़े खड़े देख रहे थे। किसी में उसे पकड़ने का साहस शेष नहीं रहा था। भारतीय सिपाही आदेश मानने को तैयार नहीं थे। छोटे अफसर इस प्रकार उस काण्ड को हतप्रभ हो देख ही रहे थे कि तभी फौज का बड़ा अफसर वहाँ आया और उसने अंग्रेजों को [] की काररता पर धिक्कारा। तब वे संगठित होकर आगे बढ़े। पर मंगल पाण्डे बन्दी नहीं होना चाहता था। उसने अपनी ही बन्दूक का मुँह अपने सीने की ओर कर गोली दाग दी। किन्तु वह मर नहीं सका, पकड़ा गया।

मंगल पाण्डे ने जिस क्रान्ति का शंख फूँका था उसके बीच कभी के भारतीय जनता व सैनिकों में बढ़ चुके थे। उनकी अधिव्यक्ति भर होनी बाकी थी। ईसाई धर्म प्रसार के लिए अंग्रेज पादरियों की धड़ाधड़ नियुक्तियाँ होनी लग गयीं व सुअर की चर्बी लगे कारदूतों का अंग्रेज सरकार द्वारा निर्वाण कराया जाना, जिन्हें दौतों से खेड़ना पड़ता था। ऐसे प्रत्यक्ष कारण थे जिनसे भारतीय जनमानस में विशोध की लहर-सी फैल गई थी-। यही नहीं भारतीय रीति-रिवाजों में भी अंग्रेजों ने हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया था। बिदूर के नाना सहच पेशवा व झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई भी उनकी अत्यापपूर्ण नीति के शिकार हो चुके थे। पेशवा गुप्त रूप से क्रान्ति की अद्भुत योजना के साने-बाने बुनकर उसके सुनिश्चित उग से विस्फोट की ताक लगाये बैठा था।

बैरकपुर के भारतीय सैनिकों में भी ऐसी ही कतों को लेकर रोष फैल चुका था। मंगल पाण्डे के इस सहायक कृत्य से उस रोष का विस्फोट हो चुका था। अंग्रेज अब तक भारतवासियों को खरीदे हुए गुलाम समझते थे और उन्हीं के बल पर मुड़ी भर अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति के सहारे इस विशाल देश पर साम्राज्य जमा लिया था किन्तु उन्होंने अब इनका दूसरा ही रूप देखा था। अपने धर्म पर आँख आटे देखकर वे किस प्रकार बग़ावत कर सकते हैं यह इस घटना ने स्पष्ट कर दिया था।

मंगल पाण्डे को भायल अवस्था में बन्दी बना लिया गया। उसने अपना कार्य पूर्ण कर लिया था। एक क्रिया उसने की थी, उसकी प्रतिक्रिया भारतीय सैनिकों पर हो रही थी धीरे-धीरे ही सही, पर वह ठोस प्रभाव डाल रही थी और समय पाकर वह राष्ट्रव्यापी क्रान्ति के रूप में फूट पड़ी थी। कुछ दिन बाद उसका कोर्ट मार्शल किया गया, जिसमें उसे फाँसी की सजा सुनाई गयी, जबकि हिन्दुस्तानी सैनिक बग़ावत का परिणाम देखें। हिन्दुस्तानी सिपाहियों के प्रति अंग्रेज इतने सरांफ हो उठे थे कि उन्हें फाँसी देने के लिए चार आदमी कलकत्ते से बुलाने पड़े थे मंगल पाण्डे को भारतीय सिपाहियों के सामने फाँसी

दी गई। अंग्रेजों ने आश्चर्य से देखा कि फाँसी के फन्दे को गले लगाते समय उसके चेहरे पर कोई शिकन नहीं थी- उदासी का कोई निह नहीं था, वरन् वह झुमता हुआ फाँसी के बख्ते पर चढ़ा। उस समय उसके तरुण मुख मण्डल पर देशप्रेम की स्वर्णिम आभा चमक रही थी। उसकी निगाहें कह रही थी कि तुम अब यहाँ राज्य नहीं कर सकते। उन्हें देखकर अंग्रेज सैनिक पदाधिकारी सन्न उठे थे। मरने के पहले भी यह हिन्दुस्तानी सैनिकों को देश-धर्म की बलिपेदी पर प्राणोत्सर्ग करने की प्रेरणा देता रहा था।

मंगल पाण्डे का पार्थिव शरीर तो फाँसी पर झूल गया पर उसकी वे त्रेरजायें हजार गुना प्रबल होकर जनमानस को आन्दोलित करती रहीं। इसी के परिणामस्वरूप १८५७ की इतिहास प्रसिद्ध क्रान्ति हुई। एक दिन अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाना ही पड़ा। सब है कोई बलिदान व्यर्थ नहीं जाता-कोई सत्कार अवभावी नहीं होता।

दृढ़ गर्जना

स्वतन्त्रता संग्राम के वीर सेनानी मंगल पाण्डे को तब तक फाँसी की सजा का आदेश सुनाया नहीं गया था। न्यायाधीश ने कहा-"तुमने राजद्रोह किया है अतः तुम्हें ब्रिटिश सरकार से क्षमा माँगनी चाहिए। मंगल पाण्डे ने दृढ़ता के साथ कहा-"मैं अंग्रेजों को इस देश का भाग्य विधाता नहीं मानता। वह अपने मुँह से राजा बनना चाहते हैं, तो बनते रहें। मैं उनसे अपने देश को मुक्त कराना चाहता हूँ और यदि यही मेरा अपराध है तो मैं प्रत्येक प्रकार का दण्ड स्वीकार करने को तैयार हूँ और दूसरे ही क्षण अंग्रेज न्यायाधीश ने उसे फाँसी की सजा सुना दी।

जौरापुर का राजा बालक

उस समय देश में अंग्रेजों का शासन था। सन् १८५७ की क्रान्ति सम्पूर्ण भारत में फैली तो ऐसा लगने लगा कि अब तो इन क्रूर अत्याचारियों के शासन का सूर्य अस्त होगा भी तो इसी भारत भूमि पर।

पूरे देश में क्रान्ति की लहर दौड़ रही थी। फिर हैदराबाद इस हवा से कैसे अछूता रह सकता था। यहाँ पर सर सालारजंग नामक धीवान राज्य का कार्य सँभाल रहा था। धीवान अंग्रेजों का दलाल था। उसे देशभक्तों को मृत्यु दण्ड देने में तनिक भी संकोच नहीं होता था। सालारजंग और निजाम अफजुलदौला देशभक्तों के साथ विस्वासघात कर रहे थे। उन्होंने कितने ही व्यक्तियों को पकड़वाकर अंग्रेज अधिकारियों के सुपुर्द कर दिया था।

हैदराबाद के निकट भी जौरापुर नामक एक छोटी सी रियासत। राजा की मृत्यु हो गई तो राजकुमार को उसका उत्तराधिकारी बनाकर गाढ़ी पर बिठाया गया। उस बालक

की आयु अवश्य कम थी, पर वीरता, साहस, सूझबूझ और देशभक्ति में किसी से कम नहीं था।

बालक राजा की शिक्षा-दीक्षा राष्ट्रीय चतुर्वर्ण में हुई थी। इसके अतिरिक्त अपने माता पिता के संस्कारों से भी वह प्रभावित था। बचपन से ही नाना साहब, ताँत्या टोपे और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई की वीर गाथाएँ सुनता रहा था। अतः भय नाम की कोई वस्तु तो उसमें नाममात्र को न थी। वह तो उन राष्ट्रभक्तों की तरह स्वयं भी बनकर संसार के बीरों के मध्य अपना स्थान बनाना चाहता था।

निजाम और दीवान की कुदृष्टि इस रियासत पर थी। वह इसे हड़प कर अपने अधिकार में करना चाहते थे। बालक राजा रुहेलखण्ड के रहने वाले रुहेल पठानों और अरब लोगों की सेना लाकर अंग्रेजों के छक्के चुड़ाने लगा। स्वभाव का सीधा-सादा वह बालक दीवान सलारजंग की चालाकियों को न समझकर उसके चक्कर में फँस गया। दीवान ने उसे गिरफ्तार कर अंग्रेजों को सौंप दिया।

अनेक यातनाएँ तथा प्रलोभन देने के बाद भी उस बालक ने न तो क्षमा माँगी और न अपने साथियों का भेद ही बताया। अंग्रेज अधिकारी निकोल टेलर का उस बालक से बहुत प्रेम था। उसकी भी टेलर के प्रति अपार प्रज्ञा थी। वह टेलर को अण्डा कहकर संबोधित करता था। टेलर को विश्वास था कि वह क्रान्तिकारियों का रहस्य जानने में सफलता प्राप्त कर लेगा। उसके बहुत पूछने पर भी बालक राजा ने यही उत्तर दिया।

“अप्पा ! आपके प्रति मेरे हृदय में अहज भी वही स्नेह तथा प्रज्ञा है। पर यह तो आप जानते ही हैं कि यह मेरे देश का मामला है। मैं अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए देशभक्तों के साथ विश्वासघात नहीं कर सकता। जीवन में मृत्यु तो एक बार आती है। अंग्रेज अधिकारी भले ही मुझे फाँसी पर चढ़ा दें, उनके द्वारा दिये गये प्रत्येक दण्ड को सहर्ष स्वीकार करूँगा, पर विदेशियों का दास बनकर कायरतापूर्ण जीवन जीना पसन्द नहीं करूँगा।”

अपने द्वारा समझाने का भी जब उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ और उसने अंग्रेज रेजिडेंट से मिलने के प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया तो टेलर को बहुत दुःख हुआ, पर एक दिन वह उस बालक के पास जेल में गया और अंग्रेजों द्वारा दिये गये मृत्यु दण्ड को सुना दिया।

बालक राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। मृत्यु दण्ड सुनकर भी मुस्कराहट। टेलर को आश्चर्य हुआ। टेलर

ने उसकी प्रसन्नता का कारण जानना चाहा तो उसने यही उत्तर दिया।

“अप्पा ! फाँसी और काले पानी की सजा से उतना कष्ट नहीं है जितना देशभक्तों के साथ विश्वासघात करने में, क्योंकि फाँसी पर चढ़कर तो हमें इसी जीवन में केवल एक ही बार कष्ट उठाना पड़ेगा। पर देशद्रोही बनने पर तो इस अप्रत्या को कई जन्मों तक कष्ट होगा क्योंकि इस पर राष्ट्र को थोखा देने का दोष लगा होगा। अतः ऐसे भुक्ति जीवन के जीने की अपेक्षा मैं मृत्यु को वरण करना अधिक अच्छा समझता हूँ।”

“बेटा ! ऐसी स्थिति में मैं तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हूँ ?”

“यदि सहायता ही करना चाहते हैं तो आप ऐसी व्यवस्था कर दीजिए कि मैं तोप के मुँह से उड़ाना जाऊँ। मैं फाँसी को चोरों की सजा समझता हूँ। मैं चोर नहीं हूँ बल्कि देशभक्त हूँ। मेरा अपराध देशभक्ति है इसीलिए ही मुझे वह फाँसी की सजा दी जा रही है। यदि आपने तोप के मुँह से उड़ाने की सजा सरकार से दिलवाने की व्यवस्था की तो देखना यह बालक किस बहादुरी से ‘भारत माता की जय’ बोलकर शान्ति के साथ अपने जीवन को समाप्त करता है।”

टेलर उस समय खींचता था पर शान्त नहीं बैठा रहा। उसने जाकर बहुत दौड़-धूप की, तब कहीं मृत्यु दण्ड को काले पानी की सजा में बदला जा सका। पर वह वह न जानता था कि काले पानी की सजा को वह अपमानजनक मानता है। जैसे ही बालक को सजा के परिवर्तन की सूचना मिली तो उसके मुख से यही निकला, “टेलर अप्पा ने मेरे साथ यह क्या किया ? उन्हें शायद मालूम नहीं कि मेरा प्रत्येक सैनिक जेल और काले पानी की सजा को अपमानजनक और कायरतापूर्ण मानता है। फिर मैं तो उनका राजा हूँ। यदि जिंकेगा तो वीर की तरह और यदि मरने का समय आयेगा तो उसे भी वीरता के साथ वरण करूँगा।”

बालक राजा को जब काले पानी की सजा के लिए ले जा रहे थे, तब उसने मजानक में ही पास बैठे एक अंग्रेज पुलिस अधिकारी की पिस्तौल से ली और थोड़ी देर इधर-उधर घुमट कर देखता रहा। पौका पाते ही उसने वह गोली अपने ऊपर दाग ली।

उस वीर बालक ने अपने प्रण को पूरा कर दिखाया। आज भी साथ संसार उस बालक के साहस और शौर्य की सराहना करता है। जिस देश में ऐसे वीर और राष्ट्रभक्त जन्म लेते रहे हों उसे अधिक समय तक दासता का जीवन नहीं जीना पड़ता और एक दिन ऐसा आया जो जन देशवासियों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई।

भारतीय सशस्त्र क्रान्ति के प्रथम नायक वासुदेव बलवंत फड़के

गुरिल्ला पद्धति द्वारा लड़ाई सड़कर सीमित संख्या में होते हुए भी गुरिल्ला विद्रोह सेनाओं को भी चला सकते हैं। चीन की जनता ने इसी पद्धति से पूर्व सरकार का खाला किया था। अन्य देशों में भी जहाँ की जनता ने शासकों से आततायी आस्थाकारी शासन व्यवस्था का खाला किया वही युद्ध शैली अपनाई। हाल ही में भिक्तानाथ और कम्योदिया की मुक्ति का उदाहरण सामने है। इस रणनीति में नब्बे प्रतिशत गुरिल्ला बल को जीतने की सम्भावना रहती है, अतः भारत में भी जिन दिनों अंग्रेजी शासक उन दिनों गुरिल्ला युद्ध द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने के प्रयास चले। यह बात और है कि उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। पर इतना निश्चित है कि अंग्रेजी शासन को हल करने के लिए इन निद्रावाण देशवासियों ने भी बहुत बड़ी और महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।

जिन लोगों ने गुरिल्ला युद्ध के माध्यम से भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रयास किए उनमें से फड़के के दो नाम अज्ञात हैं। पर जिन लोगों के नाम स्मरण किए जाते हैं और यशोगान गाये जाते हैं उनमें सर्वाधिक श्रेय दिया जाता है—महाराष्ट्र के वासुदेव बलवंत फड़के को। कहा जाता है कि १८५७ की सैनिक क्रान्ति के बाद ब्रिटिश सरकार किसी से बुरी तरह आतंकित और भयभीत थी तो वह वे वासुदेव बलवंत फड़के और उनकी गुरिल्ला हुकड़ियाँ। यहाँ तक कि उनका पता देने वाले के लिए भी काफी इनाम घोषित किया गया था।

महाराष्ट्र के कोंकण क्षेत्र में एक छोटा-सा गाँव है—शिरडोण। यह गाँव प्रकृति की गोद में बैठा एक नन्हा-सा शिशु लगता है। धारियों के अलावा कोंकण प्रदेश वन और पर्वतों से भी भरा हुआ है, वन और पर्वत ऐसे दुर्गम कि कोई व्यक्ति छो जाये तो वापस लौटने की राह भी न मिले। कुछ विशेष जातियाँ हैं जो वहाँ की मूल निवासी कही जाती हैं और इन वन-पर्वतों की ईश-ईश जमीन से परिचित हैं। वे जातियाँ लूटमार और डकैती का काम करती हैं तथा बरायम्पेक्षा भी हैं—ऐसा लोग मानते हैं पर साथ ही स्वाभिमत, पैसी धर्म को आखिरी साँस तक निष्पन्ने वाले और विश्वासपात्र भी होते हैं। जो भी हो, इसी भूभाग में शिरडोण गाँव में ४ नवम्बर, १८४४ ई० को वासुदेव ने जन्म लिया। उनके पिता बलवंत राव उस क्षेत्र के सभी निवासियों द्वारा आदृत और सम्मानित व्यक्ति थे। कहा जाता है कि मुगल काल में उनके पूर्वज बागीरदार थे। उस समय का वैभव तो तब नहीं रहा था। लेकिन प्रतिष्ठा और सम्मान

यें वह कुल उसी स्थान पर बना रहा। इसका एक कारण यह भी था कि परदुःख कातरता साम्य उस कुल के सभी सदस्यों को संस्कारों के रूप में विरासत से मिलती थी। कोई भी दुःखी या विपदा का मारा उस परिवार में बसकर शरण पा लेता था। इसलिए लूटमार और डकैती करने वाले अत्यन्त पैसावाँ जाति के लोग भी फड़के परिवार को बड़ी आदर देते थे जो वहाँ के आम आदमी।

फड़के की प्रारम्भिक शिक्षा घराबी धारा में हुई और फिर उन्होंने थोड़ी बहुत अंग्रेजी भी पढ़ी। पर उनका मन पढ़ने-लिखने का स्फूर्त में नहीं लगता, शिरडोण क्षेत्र की प्राकृतिक सुकृष्ण और शम्य घाटियाँ उन्हें अपने पास बुला लेतीं और वे वने पंगलों, घाटियों में घूमते रहते। वहाँ के देहाती और आदिवासी लोगों के बीच रहकर फड़के ने शरीर स्वयंसेवी की, खूब व्यायाम करने लगे और धुड़सवारी भी सीख ली। अपने की शिक्षा पूरी करने के लिए उन्हें पुनः भेज दिया गया। उसी दौरान हुआ सन् १८५७ का स्वतन्त्रता संग्राम, जिसकी लपटें देश भर में फैलीं और जन-मानस को आन्दोलित कर गईं। अंग्रेज सरकार की जड़ें भी इस क्रान्ति से हिल उठीं। क्रांतिकारियों की कुछ गतिवृत्तियों और अंग्रेजी सेनाओं के आधुनिक साधनों—सामर्थ्यों के कारण वह क्रान्ति दबा दी गई और उसे सैनिक विद्रोह (गद्दर) का नाम दिया गया ताकि लोगों को उसकी स्मृति भी कोई अच्छे रूप में न रहे। सैनिक क्रान्ति तो विकल हो गई पर सरकार का भी वह दूसरा प्रयास सफल न हो सका।

१८६० में फड़के बम्बई आ गये और वहाँ छोटी-मोटी नौकरियाँ करने लगे। तब उनका विवाह भी हो चुका था। पाँच वर्ष तक उन्हें इसी प्रकार अस्थायी नौकरियों से संतोष करना पड़ा तब कहीं जाकर उन्हें सैनिक वित्त विभाग में नौकरी मिली। तब तक फड़के पूर्ण बचस्क भी नहीं हो पाये थे, फिर भी वे सात-आठ वर्ष पूर्व घटी घटनाएँ सुनकर रोमांचित हो उठते। साथ ही वह भी अनुभव कर रहे कि वस्तुतः अंग्रेज सरकार हमारे देश में अन्तर्धिकारिक रूप से शासनाकूट है। उन्हीं दिनों उनके जीवन में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिससे उनका मन अंग्रेजों के प्रति धृष्ट से भर उठा और उनके उलाहले खून ने सशस्त्र क्रान्ति का रास्ता अपनाता ठीक समझा।

जिन दिनों वे सैनिक वित्त विभाग में नौकरी करते थे उन्हीं दिनों उनकी माँ बीमार हुई। फड़के के पास इसकी सूचना पहुँची और माँ की वह आकांक्षा थी कि वे अपने लाहुरे को अखिरी बार देखना चाहती थीं। उन्होंने अपनी विधायी अधिकारी से इस प्रयोजन से छुट्टी माँगी। लेकिन गौरे अधिकारियों के लिए काले भारतीयों की भावनाओं का कोई मूल्य नहीं था। फड़के ने काफी अनुनय विनय की ताकि किसी प्रकार अधिकारीगण राजी हो सकें लेकिन उन्हें छुट्टी नहीं देना था और न ही दी।

आखिर विक्षोभ और आक्रोश से भरकर वे बिना अनुमति लिए ही अपनी याँ को देखने चल पड़े पर यह जानकर वे धक्क से रह गये कि उनके आगे से पूर्व ही भाँ उन्हें खद करती दम तोड़ गई है।

एक तो इस घटना ने फड़के को आक्रोश से भर दिया, दूसरे उस समय की देश काल की परिस्थितियों ने। उस समय १८५७ का स्वतंत्रता संग्राम लड़ा जा चुका था और अंग्रेजों ने अपनी शासन नीति में कुछ इस प्रकार का परिवर्तन किया था जिससे जनता परेशान हो उठी थी। इस नीति का आधार यह था कि लोग कम्पने और गुजारा करने में ही इस प्रकार व्यस्त रहें कि उन्हें राजनीति के विषय में सोचने का अवसर हो न मिले। इस नीति के कारण देश के अधिकांश भागों में अकाल जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी और महाराष्ट्र में तो और भी भयावह।

इन्हीं दिनों फड़के गणेश जोशी तथा महादेव गोविन्द रानाडे जैसी समाजसेवी विभूतियों के सम्पर्क में आये और उनके राजनैतिक विचारों से प्रभावित हुए। रानाडे का तो उन पर ऐसा प्रभाव हुआ कि वे प्रायः उनके प्रत्येक व्याख्यान में उपस्थित रहते थे। अखिर १८७२ में उन्होंने आरम्भ किया अपना राजनैतिक जीवन। तब से उन्होंने स्वतंत्रता के विचार को गाँव-गाँव पहुँचाने का कार्य आरम्भ किया। वे अपने व्याख्यानों का प्रचार, व्यवस्था और आयोजन सब कुछ स्वयं ही करते। जिस गाँव में कार्यक्रम रखना होता वहाँ वे सुबह से ही पहुँच जाते और धाली बजा-बजाकर अपने व्याख्यान की घोषणा करते। सन्ध्या समय, निपत समय, निपत स्थान पर जो प्रायः चौराहे होते अपने ओजस्वी भाषण देते। इस समय वे यही प्रयोजन पूरा करने में लगे हुए थे कि किसी प्रकार सामान्य जनता में अंग्रेज सरकार के प्रति आक्रोश उत्पन्न किया जाय। अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अगस्त्य सीढ़ी के लिए वे स्वयं को तैयार कर रहे थे, जिसमें उन्होंने सख चलाना, घुड़सवारी करना और अन्वान्य ऐसे अभ्यास करना आरम्भ किया जिससे कि भावी कार्यक्रमों को पूरा किया जा सके। उनके बलिष्ठ शरीर और ओजस्वी विचारों ने हर स्थान पर अपना प्रभाव दिखाया।

राजनीति में उतरने के चार वर्ष बाद महाराष्ट्र में भयानक अकाल पड़ा। कोंकण प्रदेश की तो बड़ी बुरी दुर्दशा हुई, वहाँ की भारी हरियाली सूख गई और बड़ी-बाले भी जलकर धास बन उड़ गये। अन्नमी और जानवर भूख के मारे मरने लगे। इस अकाल के साथ महामारी का प्रकोप भी हुआ और लोग गाँव छोड़कर भागने लगे। अंग्रेज सरकार ने जिन इरे-रे प्रदेशों से अपने राजकोषों को खूब भरा था, इस विकट परिस्थिति में वहाँ की जनता की तकलीफों से मुँह फेर लिया। ऐसे समय में फड़के ने

जनता का आह्वान किया—“लोगों को भूखों मरते चुपचाप देखने वाली सरकार को हम कब तक स्वीकार करेंगे। मरना वैसे भी है तो क्यों न बहादुरी की मौत मरा जाय।” इस आह्वान को सुनकर, मौत को सामने खड़ा देखते हुए भी लोग आँखें मूँदकर उसे झुठलाने की कोशिश करने लगे।

आह्वान को सुना वहाँ की मूल निवासी जातियों ने जिन्हें रोमोति, घनगर और मांग कहा जाता है। इनके स्वभाव और पेशे का बिल्क आरंभ में कुछांरा किया जा चुका है। फड़के ने उन्हें अपने साथ लिया और बताया कि हम पेट पालने के लिए, सबकी पीर हरने के लिए, सरकार को लूटने और वसत यहाँ से उखाड़ेंगे ताकि हम सब इन्कत की बिन्दगी बसर कर सकें। फड़के का उन पर प्रभाव तो था ही। अतः उन्होंने दो सौ हट्टे-कट्टे जवानों को चुन और एक सैनिक दल बनाया। इन दो सौ जवानों को भाले और तलवार के साथ बन्दूक चलाने का भी प्रशिक्षण दिया गया। २१ फरवरी, १८७९ को एक प्रकार से उन्होंने परिवार से संन्यास ले लिया और पत्नी को घर भेजकर एक गाँव के पास गुप्त में जाकर रहने लगे। अब आगे का कार्यक्रम तय किया गया। उन लोगों को लूटना जिन्होंने अंग्रेजों की कृपा दृष्टि से गरीब जनता का खून चूस-चूस कर अपनी तिजोरियाँ भरी हैं। इस लूट से गुरिस्ता दुकड़ियों के खर्ब की व्यवस्था भी बनाई जाती और सैनिकों को आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस करने का प्रबन्ध भी किया जाता। यह दल एकदम इतना सक्रिय हो गया कि यहाँने भर के अन्दर हमने कई गाँवों में जमींदारों शोषणकर्ताओं को लूटा, वही नहीं पुलिस थानों को भी नहीं बख्ता।

सेना और पुलिस चौकसी हो गई। इधर फड़के ने पूना का सरकारी खजाना लूटने की योजना बनाई। लोग तो समझ रहे थे कि वे साधारण डकैत होंगे पर जब फड़के ने अपने घोषणा पत्र का सार्वजनिक प्रकाशन किया तो जनता दंग रह गई और सरकार भयभीत हो उठी। इस घोषणा पत्र में गुरिस्ता लड़ाई द्वारा अंग्रेजी सरकार को भारत से खदेड़ने तथा क्रान्तिकारी सरकार बनाने का विचार दर्शन और कार्यक्रम था। पुलिस अधिकारियों ने फड़के को बिरफ्तार करने तथा उनको टुकड़ी को भट करने का अभियान एक होशियार मेजर डेनियल को सौंपा। डेनियल अपने साथ के सैनिक लेकर कोंकण प्रदेश के गाँव-गाँव में फैल गये और वहाँ के निवासियों को तंग करने लगे।

पुलिस और सेना ने फड़के को जीवित वा मृत पकड़ने वाले के लिए इनाम का इश्तहार छापकर गाँव-गाँव में चिपकाया और वहाँ पर अपने तम्बू ताने। पर उन्हें यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि दो चार दिनों बाद ही

३.३६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

फड़के की क्रान्तिकारी सरकार ने बम्बई के गवर्नर, पूना के मैजिस्ट्रेट, सेशन जज और अन्य अंग्रेज पुलिस अधिकारियों के सर काट कर लाने कलों के लिए इनाम की घोषणा के इशतहार उन सभी गाँवों में बिफकवा दिये।

किसी प्रकार मेजर डेनियल को यह पता लग गया कि फड़के तथा उनके साथी तुलसी की घाटी में हैं। मेजर ने अपने विश्वसनीय चाँबाज सैनिकों को लेकर तुलसी घाटी को घेरा। फड़के तथा उनके साथियों को जैसे ही पता चला उन्होंने मुठभेड़ की और डेनियल को पीछे हटना पड़ा। उसने कई बार प्रयत्न किए पर सफलता नहीं मिली। गुरिल्ला-दल के पास सीमित धना में ही मैगजीन हुआ करती थी। अतः लम्बे संघर्ष में दुर्भाग्यवश वह समाप्त हो गई और इस बार फड़के के साथियों को पीछे हटना पड़ा। इसके बाद फड़के कुछ समय तक शान्त रहे क्योंकि उनकी शक्ति का काफी ह्रास हुआ था। इस समितिकाल में उन्होंने अपनी सेना का पुनर्गठन किया और पुनः सक्रिय हो गये। पुलिस और सेना को थोड़ा चैन मिला था कि फिर उसकी नींद हराय हो गई और मेजर डेनियल को ही फड़के से निबटने का दायित्व सौंप गया।

२० जुलाई, १८७९ की रात। फड़के एक बौद्ध मठ में विश्राम कर रहे थे। किसी प्रकार डेनियल को इसका पता चल गया और उसने फड़के को जाकर गिरफ्तार कर लिया। उन पर देशद्रोह का मुकदमा चला, मृत्यु दण्ड की संभावना थी पर एक विख्यात वकील महेदेव आंधे ने उनकी पैरवी कर मृत्यु दण्ड को काले फनी में बदलवा दिया। वहाँ भी उन्होंने जेल से भागने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहे। वहाँ कुछ दिनों बाद उन्हें धुव रोग हो गया और १७ फरवरी, १८८३ को सरासरी क्रान्ति का यह प्रथम नायक सदा के लिए सो गया।

महान जनसेवक—

लाला लाजपतराय

जन कल्याण और देशहित में अपना सर्वस्व बलिदान कर देने वाले महान पुरुषों में पंजाब केसरी लाला लाजपतराय का एक विशिष्ट स्थान है। लाला लाजपतराय एक निर्धन परिवार के व्यक्ति थे। किन्तु आगे चलकर अपने अध्यवसाय के बल पर उन्होंने विद्या प्राप्त की, एक सफल वकील बने और खूब धन कमाया। लेकिन बाद में उन्होंने अपनी सारी विद्या, बुद्धि और सम्पत्ति देश-जाति के जागरण में ही लगा दी। अपने व्यक्तिगत जीवन में वे सदा सदे और सामान्य ढंग से ही रहते रहे। सारे सुखों और

सारी सम्पत्तियों को छोड़ कर वे आजीवन देश धर्म की सेवा करते रहे और अन्त में स्वाधीनता के प्रयत्न में उन्होंने अपने प्राण छत्र उत्सर्ग कर दिये। लाला लाजपतराय का त्याग, बलिदान और जन-सेवा के कार्य सदा सर्वदा स्मरणीय बने रहेंगे।

कॉंग्रेस के माध्यम से देश की सेवा करने के अतिरिक्त लाला लाजपतराय ने जनहित की अन्य और भी दिशाओं में अपनी सेवाएँ समर्पित की हैं। पंजाब डी. ए. बी. कॉलेज और उसकी शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार में लाला लाजपतराय का प्रमुख हाथ रहा है। उन्होंने प्राथमिक शिक्षा का प्रसार करने के साथ-साथ एक राधाकृष्ण हाईस्कूल की स्थापना कराई और इन शिक्षा-संस्थाओं में अवैतनिक अध्यापन कार्य भी किया।

सामान्य शिक्षा प्रसार के साथ-साथ उन्होंने शिष्टों और अशुभ चालकों के लिए भी अनेक पाठशालाएँ स्थापित कराई और उनका व्यय भी अपने पास से दिया। अशुभों के उद्धार और सुधार के लिए उन्होंने न केवल प्रचार ही किया बल्कि चालीस हजार रुपये तक अनुदान देकर अपनी सच्ची सेवा भावना प्रकट की। उन्होंने एक अखिल भारतीय अशुभोद्धार कमेटी बनाई और उसके कार्यकर्ताओं की सहायता से अशुभों की सेवा के कार्यक्रम चलाये। गुरुकुल कांगड़ी में अशुभों का एक अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाकर उनकी समस्याओं पर विचार किया।

कॉंग्रेस द्वारा हिन्दू हितों की रक्षा न होते देखकर लाला लाजपतराय ने हिन्दू महासभा की स्थापना की और बहुत समय तक उसकी अध्यक्षता करते रहे। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'पंजाब शिक्षा संघ, तिलक स्कूल आफ पॉलिटेक्निक' आदि संस्थाओं की भी स्थापना की। जिस समय वे कॉंग्रेस पक्षन पर हंगलैण्ड गये उस समय उन्होंने ओरोप के अन्य देशों में भारतीय हित का प्रचार करने के साथ-साथ 'इण्डियन इन्फारमेशन ब्यूरो' की स्थापना की और 'यंग इण्डिया' एवं 'पोलिटिकल फ्यूचर ऑफ इण्डिया' आदि अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं।

लाला लाजपतराय ने भारतीय स्वतन्त्रता के हित में असहयोग, स्वदेशी, बहिष्कार आदि सभी आन्दोलनों में भाग लिया, जिसके कारण उन्हें न केवल देश की जेलों में वर्षों तक बसना सहनी पड़ी अपितु देश निकाला पाकर मांडले की नारकीय जेलों में रहना पड़ा।

जन भंग आन्दोलन के समय लाला लाजपतराय ने अपने ज्वार द्वारा सारे देश में आग ही लगा दी और उसके बाद तो साइमन कमीशन के बहिष्कार आन्दोलन में उन्होंने पुलिस की लाठियों का लक्ष्य बनकर अपने प्राण ही दे दिये।

इस प्रकार देश-जाति के हित में अपना जीवन और प्राण उत्सर्ग करने वाले साक्षात् राजपतराय ने उत्तर भारत के अकाल, राजपूताना के दुर्भिक्ष और काँगड़ा के भूकम्प के समय जो सेवाएँ कीं उसके लिए तो शत्रु सरकार ने भी उनकी प्रशंसा की थी। उन्होंने आपत्ति पीड़ितों की सेवा-सहायता में दिन-रात एक कर दिया और जब तक चैन की श्वास न ली जब तक जनता का कह दूर न हो गया। इस प्रकार जनसेवा में अपना सर्वस्व दे देने वाले साक्षात् राजपतराय हमारी सबकी अट्टा के पात्र हैं।

स्वतंत्रता संग्राम का नन्हा सैनिक —

योगेन्द्रनाथ

'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन पार्टी' की चटगाँव शाखा ने स्थानीय शाखागार पर आक्रमण करने के तत्पर अधिकार करके चटगाँव में एक ऐसा शौर्यपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करने की योजना बनाई जिससे स्वतंत्रता आन्दोलन को बल मिले, अंग्रेज भयभीत हों और दूसरे क्रांतिकारियों के हौसले बुलन्द हो जायें।

दल के सबसे छोटे किन्तु सक्रिय सदस्य योगेन्द्र का उस अभियान में भाग लेने वाले सदस्यों में नाम नहीं था। इसे यह जानकर बड़ा दुःख हुआ। उसे कम आयु का समझकर दल के नेता सूर्यसेन जिन्हें दल के 'मैस्टर टा' के नाम से पुकारते थे, ने इसे जान पर खेलने वाले काम के उपयुक्त न समझा था। मैस्टर टा ने यह निर्णय सोच-समझकर ही किया था किन्तु योगेन्द्र वह कम समझता था। देशप्रेम की चरणी पीकर उसकी रक्त वाहिनियों में जो आर आगु परिपक्व होने के पूर्व ही उठ खड़ा हुआ था वह भला कब तकने वाला था। उससे यह निर्णय अपनी निहा का-भावना का अभिव्यक्ति लग रहा था। उसने निश्चय कर लिया कि वह भी इस अभियान में भाग लेगा।

योगेन्द्र की उम्र भी कम थी। अभी उसे चौदहवाँ वर्ष लगा था। स्थानीय हाईस्कूल में वह नहीं कक्षा में पढ़ता था। बाल सुलभ चंचलता और इतनी अभी कम नहीं था। किन्तु वह इस आयु में भी पूरा निडर, निर्भीक था। उसी कारण उसे जरा-सी चूक पर जान से हाथ धो बैठने वाला वह अभियान भी एक खेल ही लग रहा था जो खिलाड़ियों की पिस्तौलों-बन्दूकों से नहीं सन्धी पिस्तौलों व बन्दूकों से खेला जाने वाला था।

वह अपने दल में 'टेगरा' के नाम से जाना जाता था। उसकी अस्पायु और नटखटपन के कारण दल के अन्य सदस्यों ने उसे यह नाम दे दिया था। जो दल के सदस्य अनन्तसिंह, गणेश भोष, अम्बिका चक्रवर्ती, लोकनाथ, प्रीतिलता, कल्पना दत्त आदि सब किशोर ही थे। दल के

नेता सूर्यसेन को छोड़कर शेष की आयु १७-१८ वर्ष के आसपास ही थी। वह सबसे कम आयु का था।

बालकों को जैसा वातावरण मिलता है, वे वैसा ही बन जाते हैं। बंग भूमि इन दिनों क्रांतिकारियों की भरपूर फसल उगा रही थी। उसके बड़े भाई परिवार का खर्च चलाने के लिए व्यवसाय करते थे। मंगलसे लोकनाथ क्रांति दल के मुख्य सदस्य थे। उन्होंने का अनुकरण वह भी कर रहा था ऐसी स्थिति में वह अपने आपको देश का नन्हा सिपाही समझने लगा और उसके हृदय में अपने आपको आजादी के लिए न्यूतावर करने की दममें उठने लगे तो आश्चर्य की बात ही क्या? इस आयु में व्यक्तित्व का वित्त निर्माण होता है उतना फिर नहीं। अतः राष्ट्र निर्माण व भ्रमण के निर्माण का आधार जहाँ पौध से ही आरम्भ होना चाहिए। इसके लिए पारिवारिक वातावरण को वैसा बनाना भी आवश्यक होता है।

योगेन्द्र के भाई लोकनाथ का नाम अभियान दल में भाग लेने वालों में से था। अतः वह अपने भाई की निगरानी करने लगे। लोकनाथ निश्चित समय पर योजना के कार्यान्वयन के लिए जाता तो योगेन्द्र भी उसके पीछे चल दिया। वे लोग कांग्रेस हाउस में एकत्रित हुए जहाँ मैस्टर टा ने उन्हें भावी युद्ध सम्बन्धी निर्देश दिये। उन्हें टेगरा को चढ़ा देकर वे कुछ देर तक सोच में पड़ गये, उसे मान ले जायें वा न ले जायें। अन्त में उसे वापस भेषक खतरनाक समझकर मान लेना ही उचित समझा गया क्योंकि बालक की भावनाओं पर चोट पड़ने पर वह अपने अपरिपक्व अस्तित्व से जाने क्या प्रतिक्रिया कर बैठे। इस प्रकार योगेन्द्र भी उस अभियान में सम्मिलित कर लिया गया। उसे लूटे हुए हथियार मरोड़ने का काम सौंपा गया।

उत्तर क्रांतिकारियों के इस दल में जिसमें अधिकांश अल्पवयस्क ही थे, ने चटगाँव के शाखागार पर आक्रमण कर दिया। चार दलों में बँटकर वे अपनी योजना को पूर्तत्व देने लगे। लोकनाथ, निर्बल सेन, गणेश भोष तथा अम्बिका चक्रवर्ती ने अपने-अपने दल के नायक थे। १८ अगस्त, १९३० को अल्प संख्या में होते हुए भी थोड़े से हथियारों से लैस इन क्रांतिकारियों ने चटगाँव शाखागार पर अधिकार कर लिया। अंग्रेज सरकार के हथियारबन्द प्रसिद्धि सैनिक इनके आगे हार गये क्योंकि एक ओर वेतन भोगी रसक थे तो दूसरी ओर सिर पर कफन बाँध कर निकले देशभक्त।

शाखागार पर अधिकार करने के पश्चात् क्रांतिकारियों ने रेल, डाक, तार, टेलीफोन व्यवस्था भंग कर चटगाँव का शेष भारत से सम्बन्ध तोड़ दिया। अब चटगाँव अंग्रेजों के आधिपत्य से बाहर था। यहाँ क्रांतिकारी दल का अधिकार था।

अंग्रेज सरकार के अधिकारियों को जब इस बात की सूचना मिली तो वे हतप्रभ रह गये । सारे देश में तहलका मच गया । शस्त्रागार में बितने हथियार क्रान्तिकारियों के काम लायक थे वे उन्हें ले गये और शेष गोला, बारूद को उन्होंने आग के भेंट कर दिया । ब्रिटिश सरकार ने घटगाँव उनसे वापस लेने के लिए एक बड़ी सेना भेजी ।

इतनी बड़ी सेना से जूझने के क्रान्तिकारियों ने उपयुक्त स्थान जलालाबाद की पहाड़ियों पर मोर्चा लगाया। ब्रिटिश सेना ने जलालाबाद की पहाड़ियों को घेर लिया। क्रान्तिकारी इसके लिए तैयार ही थे । २२ अप्रैल, १९३० के दिन वह ऐतिहासिक युद्ध हुआ जिसमें योगेन्द्र की अपनी मनोकामना पूर्ण हुई, बड़ा ही विषम संग्राम था । एक ओर मुट्ठी भर युवक और दूसरी ओर ब्रिटिश सेना के खूँखार अंग्रेज सिपाही । फिर भी कमकर युद्ध हुआ । क्रान्तिकारी एक-एक करके धराशायी होते आ रहे थे । पहले ही दौर में योगेन्द्र को गोली लग गई । फिर भी उसने न होश खोया न साहस । वह बीसह वर्ष का किशोर राघवराव कन्हा से अढ़ाये मोर्चे पर उठा रहा। अपने साथियों का सफाया होते देखकर क्रान्तिकारी एक-एक करके क्रान्ति की बाड़ी को और भी उग्र करने के लिए सुरक्षित स्थल की ओर खिसकने लगे । जो लोग वापस थे वे मोर्चे पर डटे रहे । योगेन्द्र के प्राय से बराबर रक्त रिस रहा था फिर भी वह मोलियाँ चलाता ही रहा । अन्त में जब डटे हुए बायरल लोग भी बच निकलने के लिए पीछे हटने लगे तब तक बायरल योगेन्द्र में उड़ने की शक्ति भी नहीं थी । अतः वह मोर्चे पर ही डटा रहा और उसने उस आजादी की भावना को प्रखरलिप्त रखने के लिए अपनी बलि दे दी जो मनुष्य का प्रथम अधिकार है ।

उस युद्ध में कितने ही क्रान्तिकारी मारे गये थे । उनसे दुगने फौजी सिपाही मरे थे । बहुत अधिक रक्त बह जाने के कारण अपने अन्तिम क्षणों में योगेन्द्र को चोरों की प्यास लग आई थी । वह अपने गर्द से पानी माँगने को ही था कि उसे अपने 'मास्टर सा' की वह बात याद आ गई- "क्रान्तिकारी को किसी प्रकार की कमजोरी नहीं दिखानी चाहिए ।" और वह चुप लगा गया ।

मातृभूमि का वह नन्हा वीर सिपाही मरकर अमर हो गया । उसका यह बलिदानी जीवन किशोरों, युवकों को बताता है कि देश और समाज की भीषणतम समस्याओं से जूझने के लिए उन्हें सभी प्रकार के बलिदान देने के लिए सदा उत्पन्न रहना चाहिए। राजनैतिक स्वतंत्रता भारत का चुका है किन्तु अभी

आर्थिक, नैतिक, बौद्धिक स्वतंत्रता के लिए देश को ऐसे कितने ही सिपाही चाहिए ।

अत्याचार से लड़ने वाले—

चाफेकर बन्धु

सन् १९०७ में पूना में प्लेग महामारी का भयंकर प्रकोप हुआ । देखते ही देखते हजारों मरने लगे । उन्हें जलाने तथा गड़ने के लिए आदमी तक नहीं मिलते थे ।

पहले तो अंग्रेज शासनकर्ताओं ने इस ओर कोई ध्यान न दिया । जब वह भीषण रूप धारण कर गई तो उन्होंने जनता को सूटी दिलासा देने के लिये एक प्लेग निवारक समिति का गठन किया । इस समिति का अध्यक्ष बनाया गया एक अंग्रेज अफसर वाल्टर रेण्ड को । वह व्यक्ति भारतीय जनता के प्रति दुर्व्यवहार करने में पहले ही से कुख्यात था । प्लेग निवारक समिति का तो एक नाम था । रेण्ड को अपनी निर्दयता दिखाने का एक और अवसर मिला। वह स्वयं सैनिकों की टोली के साथ नगर में प्रभम करता तथा लोगों के घर में घुसकर हर किसी को पकड़ कर अस्पताल भेज देता । रोगियों को घर वालों की सेवा से वंचित कर उन्हें अस्पताल में डलवा देता । यहाँ न तो कोई उपचार होता न सेवा-सुश्रूषा ही । परिणाम यह होता कि वे समय से पहले ही मर जाते । रेण्ड जैसे निरंकुश, निर्दय नर-पशु के नेतृत्व में अंग्रेज सिपाहियों को मनमानी करने का अवसर मिला । उन्होंने प्लेग निवारक के नाम पर सैकड़ों घरों को लूटा, लोगों को पीटा तथा स्त्रियों से दुर्व्यवहार किया ।

इस खुले अपाचार और निरंकुशता से भारतीय जनता में बहुत रोष फैला। नवयुवकों का खून खौलने लगा । मुट्ठी भर विदेशी हमारे देश में मनमाना अत्याचार करते रहें और वे साथ में तेल डाले बैठे रहें यह कैसे सम्भव था आतताई चाहे कितना ही समर्थ क्यों न हो उसका प्रतिकार करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है । नवयुवकों का एक संगठन इस दुर्व्यवहार का बदला लेने के लिए गठित किया गया । इस संगठन के प्राथमिक दासोदर, बालकृष्ण तथा वसुदेव चाफेकर ।

वे तीनों भाई पूना के पास चिंचवाड ग्राम के हरिभाऊ नामक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के पुत्र थे । तीनों भाइयों में अपूर्व स्नेह था । सन् १८८३ में आजादी के महान बलिदानी वासुदेव बलवन्त फडके का अंग्रेजी जेल में अमानवीय अत्याचार सहते हुए देहान्त हो गया । इन तीनों भाइयों को इस बलिदान से इसी राह पर चलने की प्रेरणा मिली ।

सन् १८५७ की कान्ति के असफल हो जाने तथा क्रान्तिकारियों के साथ किए हुए दुर्व्यवहार तथा

हत्याकाण्ड को देखकर जनता काँप उठी थी। लोगों ने अंग्रेजी शासन को मिटना असम्भव मान लिया था। फड़के के प्रयास तथा बलिदान से लोगों में नया उत्साह जाग रहा।

चाफेकर बन्धुओं ने एक मत होकर अपनी आहुति राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के यज्ञ में देने का संकल्प कर लिया। उन्होंने बचपन में जो धार्मिक ग्रन्थ पढ़े थे उससे उनके हृदय में देशप्रेम की ज्वाला जलने लगी थी, फड़के के बलिदान ने उसमें भी डाला। रही सही कमी रेण्ड के कुकृत्यों ने पूरी कर दी। अब ये अपना सब काम छोड़कर युवकों का एक संगठन बनाने में लग गए। करीब ३०० युवक इस संगठन के सदस्य बने।

दामोदर पन्त चाफेकर, जो सब में बड़े थे, उन्होंने देखा कि इस छोटे से संगठन से तो इतनी बड़ी हुकूमत से नहीं लड़ा जा सकता है। इसके लिए सेना का सहयोग मिल जाय तो इस सफल हो सकते हैं। उसने सेना में भर्ती होने का प्रयास किया। वह इसमें सफल नहीं हो सका। नर-केसरी फड़के ने अपने जोड़े से सन्धियों के साथ ही अंग्रेजों को नाकों बने चबवा दिये थे, इस कारण मराठों को सेना में भर्ती करने के पहले पूरी जाँच-पड़ताल होती थी। दामोदर पन्त को सेना में स्थान नहीं मिला।

लोकमान्य तिलक 'मराठा' व 'केसरी' के माध्यम से अंग्रेजी शासन को बुरी तरह लताड़ रहे थे। जनता में भी कुछ करने की हिम्मत आने लगी थी। १२ जून को शिवाजी की बर्जगाँठ पर विठ्ठल मन्दिर पर हुई सभा में लोकमान्य तिलक ने रेण्ड के आत्याचारों की तीव्र भर्त्सना की। उनका भाषण सुनने के लिए यह युवक मण्डली भी उपस्थित थी। दामोदर चाफेकर ने भी उस सभा में भाषण दिया। तिलक ने देखा कि इसके हृदय में देशप्रेम की आग जल रही है। यह युवक कुछ करने का साहस रखता है। सभा की समाप्ति पर तिलक ने दामोदर पन्त को सम्बोधित करके कहा— 'पूना के लोगों में धुरंधर है ही नहीं अन्यथा रेण्ड की क्या मजाल थी कि हमारे घरों में घुस आवे।' दामोदर को यह बात लग गई। वह रेण्ड का नाम ही धरती से मिटाने को तुल्य गया।

चाफेकर बन्धु इन लोगों में से नहीं थे जो जमाने की हॉ में हॉ मिलाकर अपने धुइ स्मारकों की पूर्ति करते हैं तथा अन्याय को आश्रय देते हैं। वह जमाने को बदलने वालों में से थे। पहले भी इन लोगों ने जम्माई में पहरों के बीच विक्टोरिया की प्रतिमा को कोलतार चोत करके जन जाग्रति से अंग्रेजों को अवगत कराया था।

चाफेकर बन्धु रेण्ड को दण्ड देने के लिए कटिबद्ध थे। दामोदर ने गोली चलाने का भार अपने पर लिया

और बलकृष्ण व बसुदेव को सूचना देने के लिये गुप्तचरी का काम सौंपा गया। वे लोग इसी ताक में रहने लगे कि कब अवसर हाथ लगे और रेण्ड को मारा जाय।

रेण्ड को इसकी चन्क पड़ चुकी थी। उसने अपना निवास बदल दिया था। एक सरकारी अफसर और इन स्वयन्धीन अल्प वयस्क युवकों का मुकाबला था उसके चेदिये यत्र-तत्र फैले हुए थे और इनको कदम कदम पर विश्वासघात का चोख था। सहयोग की आशा सँजोये हाथ पर हाथ रखे बैठे रहे तो जीवन बीत जायेगा और कुछ होगा नहीं। यह सोचकर इन थोड़े से नवयुवकों ने ही अपने देश और जाति के गौरव को कलंकित करने वाले रेण्ड को दण्ड देने के लिए जान हथेली पर रख ली।

१२ जून को विक्टोरिया की शीर्षक जयन्ती मनाने के लिये सहर में एक विशेष समारोह आयोजित किया गया। समारोह से लौटते हुए रेण्ड तथा डोवर शायर एवं रेजीमेण्ट के सेफ्टीनेण्ट चार्ल्स इगर्टन दामोदर चाफेकर की गोली के शिकार हुए। आतताइयों को दण्ड देने वालों के इतिहास में एक पृष्ठ और जुड़ गया।

इस काण्ड को सुनकर अंग्रेज चौखला गये समारोह का सारा रंग भुल-पुँछ गया। भारतीय जनता में उत्साह की एक लहर दौड़ गई। मारने वाले की खोज होने लगी बीस हजार रुपये के लोभ में इनके ही दल के एक युवक ने इन्हें पकड़वा दिया।

इन पर मुकदमा चला। दामोदर ने अपराध स्वीकार कर लिया। इन्हें फाँसी की सजा दी गई। फाँसी के फन्दे को घुमते समय इनकी आयु केवल २७ वर्ष की थी। विवाहित पत्नी तथा एक पुत्र को छोड़कर यह देशभक्त हँसते-हँसते अपने देश पर निष्कावर हो गया।

बलकृष्ण व बसुदेव ने दामोदर को पकड़वाने वाले गनेस शंकर इविड तथा उसके अन्य दो विश्वासघाती सन्धियों को अपने इस कुकर्म का फल भुगताना दिया। वे भी इनकी गोली का शिकार होकर रेण्ड के पद के पथिक बने। देशद्रोहियों को दण्ड देने के बाद इन्होंने स्वयं को पुलिस के हवाले कर दिया। इन पर हत्या का मुकदमा चला और इन्हें भी फाँसी की सजा हुई।

चाफेकर बन्धुओं के बलिदान के दूरगामी परिणाम हुए। जनता में विश्वास जाग, विदेशी आत्याचारियों से लड़ने की प्रेरणा मिली, बलिदानों की परम्परा चलती ही रही। विचल होकर अंग्रेजों को पागला पड़ा। ऐसे वीरों का बलिदान निश्चय पथ पर बढ़ने की प्रेरणा देता रहेगा और इस पथ के राही आदर्शों के लिए जान पर खेलते रहेंगे।

मातृभूमि पर सर्वस्व निछावर करने वाले—

रोशनलाल मेहरा

‘मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए मैं जाने कितने लोग सुख-सुविधाओं को छोड़कर भारकर मृत्यु को गले लगा रहे हैं। मुझे और मेरे परिवार को भी इस पुनीत कर्म में योगदान देना चाहिए। देश के लिए कुछ न कर पाये तो हथपाड़ा जीवन व्यर्थ है।’ ये विचार श्रीमती ललिता देवी के मन को निरन्तर व्याप करते थे। परन्तु जति तो बस अपनी कपड़ों की दुकान में ही मग्न थे। उन्हें देशहित जैसे कार्यों में कोई रुचि नहीं थी। ‘रामजी लक्ष्मण हैं’ इसी में वे अपने जीवन की सार्थकता मानते थे।

पति परिवार का भरण-पोषण कर ही रहे हैं, मुझे अपनी शक्ति का सदुपयोग स्वतंत्रता संग्राम में करना चाहिए, यह सोचकर उन्होंने क्रान्तिकारियों से सम्पर्क बनाना प्रसन्न कर दिया। धीरे-धीरे बंगाल की क्रान्तिकारी संस्था ‘अनुरीक्षण-समिति’ से उनके सम्बन्ध बनित होते गये। वे क्रान्तिकारियों को जो खोल कर अधिक सहायता दिया करते थे तथा अन्य विविध प्रकार से उनके कार्यों में सहयोग देती थीं।

एक बार श्रीमती ललिता देवी आसन्न प्रसव थीं। उन्होंने भविष्य किया कि पुत्र हो या पुत्री उसे देश रक्षा के लिए दे दूँगी। ‘गर्भावस्था में माता के आचार-विचारों का गर्भस्थ शिशु पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है’ यह वे भली-भाँति जानती थीं। मदालसों का बर्ताव उनके सम्मुख था। उन्होंने इस पूरी अवधि में निरन्तर क्रान्तिकारी साहित्य तथा भारत की बीर गाथाएँ पढ़ीं। माता का अभिप्राय बन्ध से पूर्व ही शिशु पर बीरता और सहस के

सम्बन्ध १९७१ अगहन सुदी पूर्णमासी को उन्होंने सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। नाम रखा गया—रोशनलाल। बड़ा होकर यह बालक सचमुच माँ के नाम को—भारतमाता के वीर सुपुत्रों के नाम को ‘रोशन’ करने वाला ही निकला।

माता ने इनके मन में शौर्य, पराक्रम और अन्धाय के प्रति विद्रोह की भावना बचपन में ही भर दी थी। वे क्रान्तिकारी शहीदों की जानकारी से सहज सुबोध कण्ठों के रूप में बालक रोशनलाल को सुनतीं और पूछती—‘क्या तू भी इन जैसा बनेगा?’ छोटा बालक सीना जमकर कहता ‘हाँ’ और फिर सोचते-सोचते माता के आँचल में सो

धीरे-धीरे रोशनलाल बड़े होते गये। उन्होंने हाई-स्कूल तक शिक्षा प्राप्त की। अंग्रेज ‘काले गुलाम’ बनाने की शिक्षा प्रणाली ही देश में विकसित कर रहे थे, अतएव उन्हें ऐसी शिक्षा के प्रति अरुचि उत्पन्न हो गई, और अग्रे की शिक्षा उन्होंने छोड़ दी।

इसी मध्य सन् १९२८ में माता का स्वर्गवास हो गया। भरते समय भी उन्होंने पुत्र को आदेश दिया कि वह पूरी तरह से स्वयं को देश की रक्षा के लिए समर्पित कर दे। अपनी की इच्छा पूरी करने के लिए वह १५ बर्षीय किशोर पूरी तरह से चुट पड़ा।

१९३० में रोशनलाल क्रान्तिकारी पार्टी के सक्रिय सदस्य बन गये। यद्यपि वे अमृतसर में रहते थे तथापि पंजाब, उत्तर प्रदेश, बंगाल आदि के क्रान्तिकारियों से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखते थे।

उन दिनों सरकार तथा पुलिस जनता पर बड़ा अत्याचार करती थी। यदि उसे यह पता लग जाता कि अमुक व्यक्ति क्रान्तिकारी दल या देश की स्वतंत्रता के लिए प्रवृत्तशील अथवा किसी दल से सम्बन्धित है, तो उसके पीछे निरन्तर जासूस लगे रहते थे और किसी न किसी बहाने से जेल में बन्द कर देते थे। स्वतन्त्रता संग्राम से सम्बन्धित किसी भी गोष्ठी, किसी भी समिति के विकट कड़ी से कड़ी कार्यवाही की जाती थी। अतएव क्रान्तिकारी संगठन सरकार की आँखों में धूल झाँक कर गुप्त रूप से ही अपनी गोष्ठियाँ किया करते थे।

श्री रोशनलाल ने भी उपर्युक्त मार्ग को अपनाया। उन्होंने संगठन का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए एक मकान किराये पर लिया। जो सामान्यतः देखने पर यह विद्यालय जैसा लगता था, परन्तु वास्तव में यह क्रान्तिकारियों का गुप्त अड्डा था। उनके विविध कार्यों की रूपरेखा यहीं तैयार होती थी।

१९३०-१९३१ के असहयोग आन्दोलन के समय अमृतसर की कोतवाली कमिश्नर सत्याग्रहियों पर निरन्तर कहुर का रही थी। अपने चाहिये पर होता अन्याय, अत्याचार देखकर रोशनलाल से रहा न गया और उन्होंने सर्वसम्मति से कोतवाली पर बम फेंकने का निर्णय पास कराया। वे जर्जर अधिकारियों को सचेत करना चाहते थे कि हम खून का बदला खून से लेना भी जानते हैं। रोशन ने अपने साथी उपग्रहों की सहायता से बम फेंका जिससे कोतवाली को काफी हानि हुई। पुलिस बत्ता लगाकर थक गई कि ऐसा दुस्सहस करने वाला, जान-बूझकर मौत की कामना करने वाला अधिकार कौन है, परन्तु असफल ही रही।

श्री रोशनलाल मेहरा ने अपनी विचारशीलता से समय-समय पर दल को साभान्वित कराया। क्रान्तिकारियों को जन की आवश्यकता होती थी तो वे

ठकैती डाल लिया करते थे। रोशनलाल व्यक्तिगत तौर पर ठकैतियों के सख्त विरोधी थे। उनका मत था कि इससे जनता का अहित तो होता ही है साथ ही संगठन को भी विशेष लाभ नहीं होता। धन तो पर्याप्त रूप में मिल नहीं पाता—हाँ पुलिस से मुठभेड़ का डर अवश्य रहता है। इस कार्य में दल के कुछ साथी भी खोने पड़ते हैं। अतएव उन्होंने साथियों को यह मंत्रणा दी कि भविष्य में न ही कोई ठकैती डाले, न ठकैती के कार्यों में सहयोग दे।

उस समय लगभग पूरा भारतवर्ष में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह की व्यापक चिंगारी विद्यमान थी। तथापि कुछ एक प्रान्त बिल्कुल शान्त भी थे। रोशनलाल ने एक पीटिंग में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि मद्रास प्रान्त में लम्बे समय से कोई भी क्रान्तिकारी संगठन कार्य नहीं कर रहा है, फलतः वहाँ अंग्रेज शासक बड़े घैन और घमण्ड के साथ बार-बार बड़ मोर्चा करते हैं कि उनके प्रान्त की जनता सबसे अधिक राजभक्त है। यह हमारे लिए चुनौती और लक्ष्य की बात है। अतएव सीधे ही मद्रास पहुँच वहाँ की सोई हुई जनता को जगाना आवश्यक है। रोशनलाल की यह महत्त्वपूर्ण राय सर्वसम्पत्ति से स्वीकृति हुई। रोशनलाल सदैव-सदैव को अपना घर-परिवार छोड़कर सम्भुनाथ अज्जद, सीतानाथ डे आदि कुछ साथियों के साथ मद्रास पहुँच गये।

अंग्रेजों को यह बताने के लिए कि अब भारतवर्ष जाग उठा है और उनकी तानाशाही अधिक न चल पायेगी, उन्होंने मद्रास के गवर्नर वर बम कैकने का निश्चय किया। उनके साथी ने सुझाव दिया कि बंगाल का गवर्नर भी वही आ रहा है अतएव दोनों पर एक साथ बम फेंके जायें।

इसी मध्य इनके संगठन के पास धन की कमी हो गई। अन्य कोई व्यवस्था न हो जाने पर क्रान्तिकारियों ने ऊटी बैंक को लूटने का निश्चय किया तथापि रोशनलाल इसके पक्ष में न थे उनका कथन था कि यह कदम फलतः है तथा उससे पुलिस को हमारे संगठन का पता चल जाने का भय है, पर धन का इतना अभाव था कि साथियों ने एक न सुनी और वे ऊटी के लिए रवाना हो गये।

ठकैती सम्पन्न तो हुई परन्तु सम्भुनाथ अज्जद को छोड़कर अन्य लोग गिरफ्तार कर लिए गये। सम्भुनाथ रुपया लेकर मद्रास आ गये। रोशनलाल ने जब अज्जद के साथियों की गिरफ्तारी का समाचार सुना तो उन्हें बड़ी ठेस पहुँची और उन्होंने सबसे पहले ऊटी काण्ड में गिरफ्तार साथियों को जेल से छुड़ाकर लाने का ही निश्चय किया।

पुलिस के चंगुल से साथियों को छुड़ाकर लाना कोई साधारण कार्य न था। इसके लिए असीम साहस और अच्छे हथियारों की आवश्यकता थी। रोशनलाल ने बम बनाने का निश्चय किया। उन्होंने बम का मसाला तो बना

लिया। अब समस्या खड़ी हुई कि उसे प्रयोग करके कैसे देखा जाये क्योंकि मद्रास जैसे नये अपरिचित स्थान पर बम के खोल दलवा पाना खतरे से खाली न था। अतएव चूड़ोद्वार मद्रासी लोटों को ही बम के खोल के रूप में प्रयोग करने का निश्चय किया गया।

श्री रोशनलाल ने बम तैयार किया तथा मद्रास बन्दरगाह की पूर्वी दिशा में रामपुरम् क्षेत्र के समुद्र तट पर रात्रि के आठ बजे बम परीक्षण का निश्चय किया। घातकता के कारण वे यह प्रयोग किसी अन्य को करने देने को तैयार न थे। १२ मई, १९३३ को रात्रि निश्चित समय पर रोशनलाल अपने साथियों के साथ समुद्र तट पर पहुँचे। सागर की डलस तरंगें भयंकर गर्जन कर रही थीं। कोई बाहर का व्यक्ति न आ जाय इस आशंका से दो साथी परिचम्वी दिशा में चौकसी करने लगे। भयंकर काली रात्रि में रोशनलाल हाथ में बम लिए समुद्र के किनारे बढ़ते ही जा रहे थे। सहसा एक ओर जोर का धमाका हुआ। पलभर को अन्धकार में बिजली-सी कौंध गई फिर चारों ओर धुआँ ही धुआँ छा गया।

रोशनलाल के तीनों साथी उनके वापस लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे। भीषण विस्फोट की ध्वनि के कारण रामपुरम् क्षेत्र की जनता तथा पुलिस उस ओर दौड़ पड़ी थी। पूर्वी क्षेत्र पर सैन्य साथी ने सोचा कि रोशनलाल परिचम्वी क्षेत्र की ओर गये होंगे। अतएव तीनों साथी घर लौट आये। लेकिन अब वे चार न थे। यह मालूम होते ही कि रोशनलाल वापस नहीं आये एक साथी श्री इन्द्रसिंह पुनि मद्रासी का उपवेश बनाकर घटनास्थल की ओर दौड़ गये।

वहाँ उन्होंने बड़ा करुण दृश्य देखा। गिरजाधर के सामने पुलिस के सख्त पहरे में रोशनलाल का क्षतबिधत शरीर पड़ा था। दाहिना हाथ शरीर से पृथक् हो चुका था। बम के टुकड़े शरीर में गहराई से प्रवेश कर गये थे तथा स्थान-स्थान से रक्त निकल रहा था। पुलिस के पहरे से लगना उन्हें सम्भव न जान पड़ा अत इन्द्रसिंह लौट आये।

रोशनलाल की साँस अभी मन्द गति से चल रही थी। उन्हें मद्रास के सार्वजनिक अस्पताल में भेजा गया। एक-दो बार होश आने पर उन्होंने पानी पीगा पर अधिकारी यही कहते रहे कि पहले अपना और अपने मित्रों का पता बता दो वही पानी देंगे। वह वीर पुरुष प्यास से तड़फता रहा, परन्तु मरते समय तक भी उसने संगठन का कोई पेट न दिया। रात्रि के बाहर बजे उनके प्राण-पखेरू उड़ गये।

बाद में सरकारी रसायन विशेषज्ञ ने अपनी रिपोर्ट देते हुये कहा था कि संभवतः रोशनलाल का पैर फिसल गया और उनके गिरने से बम का विस्फोट हो गया।

इस प्रकार रोशनलाल आजीवन मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील रहे । जब से वे क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हुए तभी से साधारण मोटे वस्त्र पहनना, मोटा भोजन खाना तथा भूमि पर सोना प्रारम्भ कर दिया । उनका कहना था— “गरीब भारत में हम क्रान्तिकारियों को ठठना ही खाना-पहनना है जिसके बिना जीवित रहना संभव न हो ।”

वस्तुतः कोई भी व्यक्ति हो, कोई भी संगठन हो, वह सही सफल हो सकता है जब कि समय, शक्ति, धन, विचारधारा, कर्तृत्व सभी सक्षमपूर्ति में संयोजित कर दिए जायें । हर समय कार्यकर्ता के मन में ‘गर्व’ की भाँति अपना उद्देश्य गँजता रहे तथा ‘करना चाहिए’ के स्थान पर ‘किया है’ बताने को वह आतुर रहे ।

अकेले एक मिशन—

पं० काशीराम जोशी

अम्बाला जिला (पंजाब) के गाँव मड़ौली कलाँ में आज एक बहार आ गई है । पंडित गंगाराम की चौपाल इस बहार से भर उठी है । हजारों नर-नारी यहाँ आ जुटे हैं । इस बहार का कारण था तेरह वर्ष से बिछुड़ा उनका बेटा काशीराम ।

गाँव की गलियों में घूमते-खेलते फिरने वाले बालक काशी पढियाला के स्कूल से मैट्रिक पास करके नौकरी के लिए घूम-घूम कर जूतियों के ताले धिसा देने वाले कपड़े को आज तेरह वर्ष बाद गाँव के लोगों ने एक नये रूप में देखा । बचपन में जो कहता था— “मैं पढ़-लिखकर बड़ा आदमी बनूँगा । देश की सेवा करूँगा ।” उसका वह अरमान पूरा हो चुका था । अमेरिका में उसका स्त्राँ का व्यापार चलता था । यही नहीं सात समुन्दर पार करके वह अपने देश को विदेशियों के पंजों से मुक्त कराने आया था । अकेला नहीं अपने कई साथियों के साथ एक सुनियोजित ढंग से विद्रोह करने के लिए आया था ।

उसकी बोलती से आग बरस रही थी— “भाइयो ! गुलामी की जिन्दगी से इन्त की मौत बेहतर है । भारत माँ आज विदेशी शासन में मकड़ी सिसक रही है । हमें उसे मुक्त कराने में जुट जाना है । यह वही पंजाब है जहाँ वीर नलवा और गुरु गोविन्दसिंह जन्मे थे । इकीकत और भाई मतिदास जैसे बलिदानी जन्मे थे । उन्हीं पाँच नदियों का अमृत हमने पिया है । हमें जीना है तो उसी शान के साथ जीना है नहीं तो उसी शान के साथ मर जाना है ।

पिता, चाचा, भाई तथा बेटा आश्चर्य से इस आग के पुतले को देख रहे थे । जो कभी राख में दबा पड़ा था । जिसे कभी वे पहचान नहीं पाये थे आज वही धक्का कर दावानल उपस्थित करने को तत्पर हो रहा था । वह

कहता जा रहा था— “इच्छा तो बहुत थी कि कुछ दिन यहाँ रहूँ, पर क्या करूँ, यहाँ जिस उद्देश्य से आया हूँ वह पहला कर्तव्य है । अब इजाजत दीजिए ।”

वह क्या तेरह बरस में वापस आवे और तीन घण्टे भी रुक नहीं सके । घर वालों की आँखों से आँसू बह निकले । उन्हें किशोर पुत्र के माथे पर हाथ फेर, चाचा तथा पिता के चरण स्पर्श करके यह आजादी का दीवाना चल पड़ा । अब वह पहले आजादी का सिपाही था, बाद में पिता-पुत्र तथा और कुछ । उसका कर्तव्य उसे एक रात भी अपने घर नहीं बिछा देने को विवश कर रहा था ।

पं० काशीराम जोशी १८९९ में मैट्रिक पास करके अम्बाला में नौकरी करने लगे थे पर उन्हें इससे सन्तोष नहीं हो सका । वे हाँगकाँग चले गये । हाँगकाँग से वे अमेरिका चले गये । वहाँ ओरेगान स्टेट लकड़ी के व्यापार का केन्द्र थी । ओरेगान स्टेट के पोर्टलैण्ड नगर के समीप सेंट जॉन नामक कस्बे का एक आरा मिल में वे काम करने लगे । मजदूर से वे मेट बने और प्रगति करते हुए वे लकड़ी के नवी व्यवपारी बन गये । इनका लाखों रुपयों का कारोबार चलने लगा ।

जब उन्होंने पर्याप्त सम्पदा अर्जित कर ली तो उन्हें उसके सदुपयोग को फिक्र हुई । इस सम्पदा को अर्जित करने का प्रयोजन भी उनका यही था कि किसी महत्वपूर्ण कार्य में इसका उपयोग होगा । सम्पत्ति पर सौंप बनकर बैठने तथा उसे अपने तथा अपने परिवार तक ही सीमित रखने के छोटे दृष्टिकोण से वे सर्वथा मुक्त थे । उन्हीं दिनों इतिहास प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार अजीतसिंह इनके पास पहुँचे । सरदार जी को इनसे कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी । गहर पाटी को उन्होंने अपना तन-मन-धन सब समर्पित करने की घोषणा कर दी ।

इनका सेंटजॉन का ठिकाना उसी दिन से राजनैतिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया । यहाँ प्रायः देशभक्तों की गोष्ठियाँ होने लगीं । सोहन सिंह भक्ना, हरनाम सिंह दुग्डी, उद्यम सिंह कसेल, रामरवला सड़ोआ आदि व्यक्ति एकजिंत होकर चर्चा करते तथा अपने देश भारत को राजनैतिक उन्नति से मुक्त करने की योजनाएँ बनाते ।

पंडित जी ने अमेरिका में भारत की स्वतन्त्रता के लिए सहयोग देने वाले भारतीयों के ऐसे संगठन बनाने आरम्भ कर दिये । इन संगठनों के लिए विदेशों से तथा अमेरिका से प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं यथा ‘स्वदेश सेवक’, ‘परदेशी खालसा’, ‘श्री हिन्दुस्तान’ आदि भेजते । उन्हें बढ़कर लोगों में देश के प्रति उत्सर्ग के विचार पनपते । जापान से मौलवी बरकतुल्ला का साहित्य तथा यूरोप से श्रीमती काष्ठा का साहित्य भी उन्होंने भेजवा कर संगठनों में वितरित किया । इस प्रकार विचार क्रान्ति का प्रथम अभियान चल पड़ा ।

प्रथम विश्व युद्ध के आसार दिखाई पड़ने लगे थे। अब यह कोई सक्रिय कदम उठाना चाहते थे। इस स्वर्ण अवसर को हाथ से जाने देने के पक्ष में नहीं थे। भारत में एक सुनियोजित विद्रोह की रूपरेखा इनके मस्तिष्क में चक्कर काट रही थी। इसी का परिणाम गदर पार्टी के रूप में परिलक्षित हुआ। सन् १९१९ में पोर्टलैंड में भारतीयों की एक विशाल सभा बुलाई गई। इसमें 'हिन्दुस्तान एसोसिएशन ऑफ पैसिफिक कोस्ट' नामक संगठन का जन्म हुआ। पण्डित काशीराम को इसका कोषाध्यक्ष चुना गया। भन्जी बने जी. डी. कुमार तथा अध्यक्ष सोहनसिंह मकन चुने गये।

संगठन बनने की देर थी कि इसकी शाखाएँ खुलने लगीं। संगठन का काम आँधी-तूफान की गति से प्रगति करने लगा। २५ मार्च, १९१३ में साहा हरदयाल, पण्डित जी के निर्मंत्रण पर सेंटजाम आये। उन्होंने पण्डित जी के प्रपत्नों की सराहना की। पण्डित जी ने अपना सर्वस्व इस संगठन को समर्पित कर दिया था। अधिकांश खर्च पण्डित जी अपनी जेब से देते थे। पिरथी सिंह आजाद का कथन नितान्त सत्य है— "पण्डित जी स्वयं एक गदर पार्टी थे।"

संघ का पत्र 'गदर' प्रकाशित होने लगा। सरदार अजीतसिंह तथा सरदार करतारसिंह सरावा उसमें काम करने लगे। पण्डित जी ने इस कार्य को हाथ में लिया तो पूरे मनोयोग से किया। सन् १९१४ में तो वे गदर पार्टी ही बनकर रह गये थे। उनकी सारी प्रतिभा इसी में निबोधित हो गई। इसी का यह परिणाम था कि अमेरिका के अंकल में बसे छः हजार भारतीयों में से पाँच हजार एक सूत्र में बँध गये।

जुलाई, १९१४ में प्रथम विश्व युद्ध अरम्भ हो गया। गदर पार्टी जिस अवसर की ताक में थी, वह अवसर आ पहुँचा था। गदर पार्टी का अधिवेशन हुआ जिसमें पाँच हजार भारतीय एकत्रित हुए। 'करो या मरो' का निर्णय लिया गया। पार्टी के प्रमुख नेता भारत के लिए रवाना हो गये।

इन लोगों में अपार जोश था। प्रत्येक व्यक्ति सबसे पहले भारत पहुँचने को उत्सुक था। अंग्रेजी सरकार इन गतिविधियों से बेखबर नहीं थी। न्याय को ताक पर रखकर उसने देश की धरती पर पाँव रखने के पहले ही अधिकांश गदर करने वालों को बन्दसगहों पर ही बिना किसी अपराध के बन्दी बना लिया। इस गैर कानूनी हरकत का अनुमान तब इन्हें नहीं था। इस कुकृत्य से विश्व राजनीति में अंग्रेजों का मुँह काला हो गया।

पण्डित काशीराम तथा करतार सिंह सरावा व्यापारी के रूप में पृथक्-पृथक् जहाजों से भारत पहुँचे। इन्हें

गिरफ्तार करने में विदेशी शासन सफल न हो सका। भारत आकर इन्होंने देखा कि यहाँ तो सारी योजना ही चौपट हो चुकी है। फिर भी उन्होंने धीरज नहीं छोड़ा। पार्टी के नेताओं का फिर से चुनाव किया गया। अपनी कम आयु के बावजूद भी संगठन कुशलता तथा परिस्थितियों के अनुरूप क्रिया-कलाप अपनाने में चतुर करतार सिंह सरावा को नेता बनाया गया।

बहसा कदम फौजी शस्त्रागार पर कब्जा करने का था। मियाँ मोर तथा फिरोजपुर छावनी के शस्त्रागारों पर अधिकार करने का काम पण्डितजी ने अपने लिये चुना। सभी क्रान्तिकारी २९ नवम्बर को फिरोजपुर नगर के बाहर जस्त्राबाद वाली सड़क पर एकत्रित हुए। इस दिन जिस व्यक्ति ने सत्ताख चूटने का वादा किया था वह पूरा नहीं कर पाया। इस प्रकार यह काम कुछ दिनों के लिए टाल दिया गया।

सभी व्यक्ति अपने-अपने स्थानों के लिए रवाना हुए। सब लोग तंगी में सन्नद्ध थे। शहर के पास पुलिस के एक दस्ते ने इन्हें रोका। सबने अपने को अलग-अलग मुसाफिर बताया। इन्स्पेक्टर ने जाँच करने के लिए एक व्यक्ति के मुँह पर जोरदार धप्पड़ मारा। सब खून का—सा घूँट पीकर रह गये पर गाँधिसिंह कतर भ्रम से न रहा गया उन्होंने उस इन्स्पेक्टर को गोली मार दी। पुलिस में भगदड़ मच गई। दोनों ओर से मोर्चे बँधकर गोलीबाँबी चलने लगी। कई सच्ची बचकर निकल गये। पुलिस को सहायता मिल गई। सक्त क्रान्तिकारी बन्दी बना लिए गये। पण्डित जी उनमें से एक थे।

पण्डित जी सफलता में न तो हर्ष से पागल हो जाते थे और न असफल होने पर सिर धुनने लगते थे। यह हीन ही उन्हें इतना बड़ा विद्रोह संचालित करने के लिए तैयार कर सका था। जब वे गिरफ्तार हो गये तो उनके मन में न कोई निराशा उत्पन्न हुई न चेहरे पर उदासी झलकी।

न्याय और वह भी क्रान्तिकारियों के साथ करना आज यह तो अंग्रेजी शासन की नीति ही नहीं थी। फिर विश्व युद्ध का समय था। न्याय के नाम पर अत्यन्त जमाने की नीति चल रही थी। विद्रोहियों को काली से कड़ी भजा देकर देश प्रेम की भावना के दबा देने के उद्देश्य से इन सातों व्यक्तियों को फाँसी की सजा दी गई।

सातों अभियुक्तों को सम्राट के विरुद्ध अपराध का अपराधी सिद्ध किया गया। केसले में पण्डित जी को इस दल का नेता माना गया। इनकी सारी सम्पदा जो लगभग चालीस हजार थी, कुर्क कराने का आदेश दे दिया।

सब कुछ दाँव पर लगाकर भी निराश नहीं होने वाले पण्डित जी ने यह फैसला बड़े धीरज से सुना। उन्होंने कहा— "मुझे प्रसन्नता है कि अधिक देश सेवा करने का अवसर न सही पर मातृभूमि पर प्राण-बोझावर करने का

३.४४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

सौभाग्य तो मिल ही गया ।" उन्हें फैसले को सुनकर शान्ति मिली । उन्होंने सजा को सहज रूप में स्वीकार किया ।

एक देशभक्त के लिए इससे बड़ा सौभाग्य और हो भी क्या सकता था ? इतना सहस्र नहीं होता तो वे इस क्षेत्र में उतर ही कैसे सकते थे ? आदर्शवादिता भौतिक दृष्टिकोण से तो घाटे का सौदा ही है । वह जन्तो हुए भी इस पथ पर चलने वाले चलते हैं तथा भौतिक उपलब्धियों के पीछे भागने वालों की अपेक्षा घाटे में नहीं रहते । इन्हें आत्म सन्तोष का सुख मिलता है तथा जो अपना दृष्टिकोण संकुचित रखते हैं उन्हें जीवन भर इस सच्चे सुख से वंचित रहना पड़ता है तथा उनकी आत्मा सदा उन्हें प्रतड़ित करती रहती है ।

पण्डित जो अपने कार्यों से इतिहास में अमर हो गये । यदि वे जीवन में आदर्शवादिता की ओर उन्मुख नहीं होते तो आज उन्हें कोई जानता तक नहीं । ऐसे कई व्यक्ति जन्मे व मर गये, जिन्हें किसी ने कद नहीं किया, उनके जीवनवृत्त से किसी के मन में, आत्मा में मानवता की सेवा, राष्ट्र देवता की उपासना की लालक उत्पन्न नहीं हुई । मनुष्य जीवन पाकर भी वे उसे सार्थक नहीं कर सके थे । ऐसी भूल विवेकशील पण्डित जी कैसे कर सकते थे । उन्होंने जिन हाथों से उपार्जन किया उन्हीं से उसका सदुपयोग भी किया ।

ऐसे ही कुशल शिल्पियों ने राष्ट्र मन्दिर के भव्य भवन का निर्माण किया, उसमें राष्ट्र देवता की मूर्ति स्थापित की, उसमें प्राण भरे, जो सदा सर्वदा छोटे-छोटे मनुष्यों को महान देश भक्त बनने की प्रेरणा, प्रकाश व सहस्र देता रहेगा ।

अमर शहीद-पिंगले

फाँसी देने के पूर्व सजा पाने वाले से पूछा गया- 'आपकी अन्तिम इच्छा क्या है ? आप कहें तो उसे पूरी की जा सकती है ।'

मृत्यु के अतिथि ने इस प्रकार हँसकर कहा जैसे फाँसी न दी जा रही हो खेल के मैदान में उतर रहे हों- "जंजीर खुलवा दीजिए ताकि दो मिनट ईश्वर का स्मरण कर सकूँ ।"

जंजीरें खुलवा दी गई । उसने बड़ी शान्ति से ईश्वर का स्मरण किया । फिर बिना किसी रंजो-मश्रूल के स्वयं फाँसी के तख्ते पर चढ़ गया और फन्दा गले में पहन लिया , जैसे एक सफर समाप्त कर दूसरे की तैयारी की जा रही हो, इसी निर्विकार भाव से वह भीत की मात्ता पहन चुका था ।

यह फाँसी का फन्दा हैसते-हैसते नसे में पहनने वाले और कोई नहीं अमर शहीद धिष्णु गणेश पिंगले थे, जिन्हें भारतीय जीवन दर्शन में वर्णित आत्मा की अमरता पर पूर्ण विश्वास था । तभी उन्होंने जीवन और मृत्यु दोनों को एक-दूसरे का पूरक माना ।

इनका जन्म पुन के एक पहाड़ी ग्राम में हुआ था । बचपन से ही वे स्वाभिमान तथा निडर थे । सन बालक जब खेलकूद में मग्न रहते थे । वे अकेले में बैठे चिन्तन किया करते थे । इन्हें अपने विचारों पर दृढ़तापूर्वक चलने की अदृष्ट उसी समय से थी ।

पढ़ने के साथ-साथ इन्हें अपने देश के सम्बन्ध में ज्यों-ज्यों ज्ञान प्राप्त होने लगा इनके रक्त में उबाल आने लगा । अपनी मातृभूमि को इस दासता से छुड़ाने के लिए वे अपने मन ही मन चिन्तन किया करते थे ।

अध्ययन काल में ही उन्होंने अन्य देशों के स्वाधीनता संग्राम के इतिहास का अध्ययन किया । उन्होंने इस साहित्य के माध्यम से यह निष्कर्ष निकाला कि भारत को आजाद करने के लिए सशस्त्र क्रान्ति अनिवार्य है ।

भारतीय धर्मग्रन्थों में गीता उन्हें बड़ी प्रिय थी । गीता ने ही उन्हें निष्काप कर्म की ओर उन्मुख किया । आत्मा के सम्बन्ध में उनको गीता के माध्यम से जो ज्ञान मिला उससे उन्हें बड़ी शक्ति मिली । सुख-दुःख को समान भाव से ग्रहण करते हुए अपना कर्तव्य करते रहने की प्रेरणा मिली । अध्ययन काल में कुछ दिनों तक वे साधु वैराग्य धारण कर देश के कई भागों में घूमे । देशवासियों की दुर्दशा देखकर वे बड़े दुःखी हुए । अपने भाइयों पर जो अत्याचार विदेशियों ने किये थे, उसे सुन-सुनकर उनकी राष्ट्र के प्रति उत्सर्ग करने की भावना और उग्र हो गई ।

अपने साथियों तथा परिचितों से उन्होंने इस कुशासन के विरुद्ध संघर्ष करने की बात कही । उन लोगों ने यह तो स्वीकार किया कि हम जिस स्थिति में हैं वह है दो बुरी पर हम कर भी क्या सकते हैं । वे अपने पारिवारिक तथा व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठने की सोच ही नहीं सकते थे ।

भारत में शिक्षा पूरी कर लेने के बाद इनके घरवालों ने उन्हें इंजीनियरिंग की उच्च शिक्षा पाने के लिए अमेरिका भेजा । वहाँ जाकर भी उन्हें इसी दुर्दशा के दर्शन हुए । गुलाम देश के नागरिक होने के कारण वहाँ भी भारतीयों को सम्मान नहीं मिलता था । वहाँ के भारतवासियों ने 'गदर पार्टी' नामक एक संस्था स्थापित कर रखी थी, जिसका उद्देश्य सशस्त्र क्रान्ति करके भारत को मुक्त कराना था । वहाँ उन्होंने उस पार्टी को और भी शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया ।

हृदय कुण्ड में अग्नि तो देशप्रेम की जल रही थी और स्वयं को इंजीनियर बनाकर उन्हें कौन-सा सुख मिलने वाला था । इस कारण वे इस चक्कर से निकल भागे । वे प्रथम विश्व युद्ध के पहले ही अमेरिका से भारत लौट आए ।

वहाँ आने पर उन्होंने क्रान्ति की तैयारी करनी आरम्भ कर दी । उन्होंने बंगाल तथा पंजाब और महाराष्ट्र के क्रांतिकारियों से मिलकर अपनी तैयारी अन्दर ही अन्दर करते रहना आरम्भ कर दिया । उपयुक्त अवसर आते ही सभी उपायों पर कब्जा कर लेने की योजना थी ।

प्रथम महायुद्ध आरम्भ होते ही इन्हें वह अवसर मिला गया। उन्होंने अपने साथियों को सचेत कर दिया। पंजाब में करतार सिंह सरावा, डॉ. मथुरा सिंह, बंगाल में रास बिहारी बोस तथा शचीन्द्र नाथ सान्याल इनके साथ मिले हुए ही थे। २१ फरवरी, १९१५ को सभी छात्रानियों पर अधिकार कर लेने की योजना बना ली गई।

करतारसिंह सरावा के साथ इन्होंने मेरठ, आगरा, कानपुर, इलाहाबाद, बनारस आदि छात्रानियों का दौरा किया। इनमें से एक साथी कृष्णसिंह ने सोंध के वशीभूत होकर इसका भण्डाफोड़ कर दिया। सरकार सचेत हो गई और सर्वत्र गिरफ्तारियाँ आरम्भ कर दी गई।

पिंगले इस विश्वासघात से कुछ देर के लिए दुःखी अवश्य हुए पर हताश नहीं हुए। उन्होंने अपना कार्यक्रम जारी रखा तथा विद्रोह की विधि अनिश्चित समय के लिए आगे बढ़ा दी।

उन्होंने एक नए सुसलमान मित्र पर धरोहर किया जिसका परिणाम दुःखदायी हुआ। वे करतारसिंह से इस बड़े बच लेकर पुनः मेरठ लौट रहे थे कि उस मित्र ने उन्हें गिरफ्तार करा दिया। उनके सहित जितने भी क्रांतिकारी गिरफ्तार हुए वे, सभी पर मुकदमा चलाया गया। उनमें से सात को मृत्युदण्ड की सजा दी गई। मृत्युदण्ड की सजा पाने वालों में इनके अतिरिक्त करतारसिंह सरावा, जगतसिंह, हरनामसिंह, सुपेरसिंह, बख्शीसिंह तथा सुरेन्द्रसिंह थे।

पिंगले को इस निर्णय पर कोई दुःख नहीं हुआ बल्कि वे तो प्रसन्न थे कि उनका उपयोग देश के हित में हुआ। अपने इस बलिदान को वे निरर्थक नहीं समझते थे। उन्हें विश्वास था कि जिस दिन बलिदानों की यह संख्या पूरी हो जायगी उस दिन यह देश स्वतंत्र हो जायगा।

उनके बलिदानों की जो प्रतिक्रिया पीछे आने वाली पीढ़ी पर होगी उसका सहज अनुमान ये कर चुके थे। जहाँ पर धिंगारी जलती है वहीं वह हवा के झोंके से बढ़कर दावानल बन जाती है। एक दीपक की लौ से अनेकों दीपक जलाकर प्रकाश किया जाता है। उन्होंने अपने बलिदान को ऐसी ही प्रक्रिया बना।

सात नवम्बर का वह दिन आया जब वे सात अन्वटी के दीवाने फाँसी के फन्दों पर लटकने निकले। उस समय का दृश्य निराशाजनक नहीं था। इनके साथियों ने इन्हें गीत गाकर विदा किया—जैसे स्वतंत्रता को व्याहने कराव बढ़कर जा रही हो।

पिंगले का दैनिक क्रम इस दिन भी नहीं टूटा था। सुबह उठकर व्यायाम-स्नान किया। उसी प्रकार उपवास की।

इस बलिदानी का बलिदान पीछे कई देशवर्षों के लिए प्रेरणा बन गया। दीवानगी की एक ऐसी हवा चली कि लोग अपने स्वार्थों को भुलाकर देश के लिए सर्वस्व समर्पित कर गये।

राजनैतिक क्रान्ति हो जाने के बाद सामाजिक क्रान्ति भी अब ऐसी ही एक अनिवार्यता के रूप में आ उपस्थित हुई है, जो कितने ही ऐसे बलिदानों की माँग कर रही है। आत्म्य की अमरता के ऐसे उदाहरण फिर प्रस्तुत करने का समय आ गया है।

अमर शहीद डॉ. मथुरासिंह

भारतीय स्वाधीनता संग्राम को और अधिक तीव्र करने के लिए तथा विदेशी सरकारों एवं जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए देश के कई सपूत उन दिनों बाहरी देशों में जाकर करते थे। डॉ. मथुरासिंह भी रुस जाने वाले थे। उन्होंने प्रस्थान किया ही था कि किसी ब्रिटिश गुप्तचर को इसका पता चल गया और उन्हें लाहौर लाया गया। उन दिनों बलियाँवाला नाम इत्याकण्ड के कर्जधार डायर का नहीं सख्त था। दमन, अत्याचार और अन्याय का चोलवाला था इन दिनों। ऐसी दशा में न्याय और रियायत की आशा ही कैसे की जा सकती थी?

डॉ. मथुरासिंह को राजद्रोह के अपराध में फाँसी की सजा सुनाई गई। १७ मार्च, १९१७ को फाँसी होनी थी और उसके एक दिन पूर्व डॉ. मथुरासिंह का छोटा भाई उनके पास आकर बिलख-बिलखकर रोया। डॉक्टर साहब ने उसे धीरे-धीरे बँधाते हुए कहा—“छिः पंगले! रो रहा है। दूसरों के लिए जान देना तो सिक्कों के लिये बहुत पुरानी परिपाटी हो गई है। तुम्हें तो गर्व करना चाहिए कि तुम्हारा भाई अपने देश के लिए अपनी जान न्योछावर कर रहा है।”

इस दृश्य को देखकर जेल अधिकारी भी अस्वस्थचित्त रह गये। एक पात्र बड़े भाई का सामा सर से उठते देखकर छोटे भाई का दुःखी होना स्वाभाविक था। अचरसाही के पुर्जों ने शायद छोटे भाई के आँसुओं से पसीम कर अपने निर्णय पर पुनर्विचार किया होगा।

एक अधिकारी इस निर्णय पर पहुँचा और बोला—“यदि तुम अपने किए के लिए क्षमा माँग लो और आगे से ऐसी गलती न करने का वचन दो तो सरकार तुम्हारी सजा कम कर सकती है।”

“परन्तु मैंने क्षमा माँगने जैसा काम ही क्या किया है।” डॉक्टर साहब ने कहा।

“तुमने अभी दुनिया में देखा ही क्या है मथुरासिंह। इस अवसर को हाथ से मस्त छोड़ो।”

मथुरासिंह इस पर आग बबूला हो उठे और बोले—“मुझे फाँसी हो रही है। तुम समझते हो क्या मैं इससे दुःखी हूँ। नहीं, मुझे तो बड़ी खुशी और गर्व है कि मैंने विप्लव को सफल बनाने के लिए मुझसे जो कुछ हो सका है, किया है।”

और इस दृढ़ निश्चयी शूरमा ने बड़ी शान के साथ अगले दिन फौसी का फन्दा चूम लिया। देश के लिए कई वीरों ने अपनी आत्माहुति दे दी, उन्हीं की श्रेणी में डॉक्टर मधुरासिंह भी अग्रिम पंक्ति में जा बैठे। ३४ वर्ष की अवस्था में उन्होंने जो साहस, लगन और देश प्रेम का परिचय दिया वह अन्यत्र कहीं मिलना दुर्लभ है।

डॉक्टर मधुरा सिंह का जन्म झेलम जिले के छुटियाला गाँव में सन् १८८३ में हुआ। परिवार की स्थिति बहुत सामान्य थी। उन्हें कठिन से कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा परन्तु मजाल कि चेहरे पर थोड़ी-सी शिकन भी आ जाये। गरीब और विपन्न परिवारों में ही अक्सर विभूतियाँ पलती हैं। सामान्य रूप से विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति में कई प्रकार की कठिनाइयों और अवरोधों का सामना करना पड़ सकता है। जिन्हें सहते हुए उनकी उपेक्षा कर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रतिक्षण ऐसे ही परिवारों में मिलना संभव है।

उनकी प्रारंभिक शिक्षा गाँव में हुई। परिवार ने उनके विकास हेतु बाद में शहर भेजा परन्तु हाईस्कूल तक ही वे पहुँचाये। डॉक्टर मधुरासिंह को चिकित्सा विज्ञान में असाधारण लगाव था। परिवार की स्थिति ऐसी नहीं थी कि उन्हें डॉक्टरों पढ़ा सके। हाईस्कूल भी वे बड़ी मुश्किल से कर पाये थे। परन्तु लगन और अप के अग्रे दैन्य और दरिद्रता क्या अवरोध पैदा कर सकते हैं। डॉक्टर मधुरासिंह ने नौशेरा छावनी में नौकरी कर ली और चिकित्सा विज्ञान का स्वयं ही अध्ययन करने लगे। इस विषय में उन्होंने कई डॉक्टरों का भी सहयोग लिया।

मधुर, नम्र और शिष्ट व्यवहार से किसी को भी अपने वश में किया जा सकता है। दूसरों को सम्मान देने का स्वभाव हर किसी का सहयोग उपलब्ध करा सकता है। ऐसे कई डॉक्टर जो अपने कार्य में तो अति कुशल थे परन्तु दूसरों को सहयोग देने के लिए कभी तैयार नहीं हुए, डॉक्टर साहब ने अपनी नम्रता और सेवा भाव की पकड़ों से उनका अनुग्रह भी प्राप्त किया।

स्वाध्याय और सहयोग के बल पर उन्होंने अपने कार्य में बड़ी दक्षता प्राप्त कर ली, परन्तु उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। कहते हैं उस समय उनके क्षेत्र में जितने भी कुशल डॉक्टर थे उनका सहयोग मधुरासिंह ने प्राप्त कर लिया था। अब वे चिकित्सा विज्ञान के उच्च अध्ययन हेतु विदेश जाने की तैयारी करने लगे। कुछ ही दिनों बाद वे अमेरिका रवाना भी हो गये।

उनकी यह यात्रा भी बड़ी आकस्मिक रही। वे संयोग से सभी प्रकार के पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्त हो चुके थे। पत्नी और पुत्री का आकस्मिक निधन उन्हें कुछ समय को व्यक्ति अवश्य कर गया,

परन्तु मन्सवी मधुरासिंह ने तुरन्त ही अपनी मनोदशा सुधार ली। इस वेदना को परमात्मा का भंगल मिथान समझ कर वे सह गये। अमेरिका जाते वक्त रास्ते में ही अर्वाभाव के कारण उन्हें चीन के शंघाई शहर में उतर जाना पड़ा। यहाँ से चिकित्सा कार्य करने लगे। उस समय वहाँ चिकित्सकों की बड़ी कमी थी। डॉक्टर साहब ने कपफ़ी पैसा कमाया।

कुछ पैसा इकट्ठा हुआ तो वे अमेरिका की बजाय कनाडा के लिए रवाना हुए। कुछ कारणों से उन्हें रीष ही आपस लौटना पड़ा। उस समय कनाडा के एक चन्द्रगाह से 'कामा गाटा मारु' नामक जहाज भारत रवाना हो रहा था। उस जहाज में अस्त्र-शस्त्रों से लैस, ठसड़ी और साहसी क्रान्तिकारी भरे हुए थे। उसी में डॉक्टर साहब भी चढ़ गये। क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आकर उन्होंने भी देश सेवा का संकल्प ले लिया। भारत वापस आने पर वे कलकत्ता से अमृतसर आये। तत्कालीन राजनैतिक वातावरण का अध्ययन कर वे बड़े धुम्ब हुए और सशस्त्र क्रान्तिकारियों को संगठनबद्ध करने का कार्य करने लगे। उनके दल में अमेरिका से वापस लौटे भारतीय भी आकर शामिल होने लगे। संगठन दिनों दिन सुदृढ़ होता गया।

धीरे-धीरे देश भर में इस क्रान्तिकारी संस्था के सदस्य फैल गये और चुन चुन रूप से सभी स्थानों पर एक ही दिन इन्क़लाब के डे देने का निश्चय कर लिया। पुलिस को इस संगठन की वृ पहले ही लग गई थी। वह इस संगठन की गतिविधियों और सदस्यों का पता चलाने का प्रयास जी जान से कर रही थी। डॉ. मधुरासिंह के संगठन के कुछ सदस्य पुलिस से मिल गये। पुलिस सूचना पाकर सदस्यों की धर-पकड़ करने लगी। एक क्रान्ति होने से पहले ही विफल हो गयी। डॉ. मधुरासिंह तो पुलिस की आँखों में धूल झोंक काम्बुल पहुँच गये। उन दिनों वहाँ राजा महेन्द्र प्रताप ने भारत की अस्माई सरकार घोषित कर रखी थी। डॉक्टर साहब उनसे जाकर मिले।

राजा महेन्द्रप्रताप ने उन्हें रुस जाने की सलाह दी परन्तु दुर्भाग्य से वे रास्ते में ही पकड़े गये।

अमर शहीद—शिवराम राजगुरु

स्वतंत्र्य-यज्ञ में अपना सर्वस्व तन, मन, धन व प्राण अर्पित करने वाले नर पुंगवों में अमर शहीद राजगुरु का नाम अग्रिम पंक्ति में आता है। सरदार भगतसिंह और सुखदेव के साथ हैंसते-हैंसते फौसी के फन्दे को चूमने का गौरव उन्हें भी मिला था। इन तीनों देशभक्तों के प्रति

भारतीय जनमानस में जो ब्रह्मा व सम्मान की भावना थी उसे देखते हुए भावी जनाक्रोश की फुफकारती, उफनती बेगवान सरिता की कल्पना से ही अंग्रेज अधिकारी सतंक हो उठे तथा उन्हें निर्धारित समय से बारह घण्टे पूर्व ही फौसी दे दी, जबकि ब्रिटिश शासन में चोर, डाकू व हत्यारों को भी रात्रि के समय फौसी नहीं दी जाती थी । किन्तु इन्हें रात्रि में ही फौसी दी गई ।

राजगुरु ने अपने जीवन के शुभारम्भ के साथ ही इस पथ पर अपने पग बढ़ा दिये थे । पराधीन, पददलित व अपमानित रहने की अपेक्षा उन्होंने अन्धव्य से संघर्ष करना ही अभीष्ट समझा । उन्होंने अपने जीवन का एक ही ध्येय बना लिया । वह ध्येय था भारत माता को परतन्त्रता की कारा से मुक्ति दिलाना और अपने आपको इस प्रयोजन में बलिदान कर देना ।

तत्कालीन क्रान्तिकारियों के दल में राजगुरु की तरह ही अनेकानेक युवक भिन्न-भिन्न सरिताओं के सागर में आ मिलने की तरह ही आ जुटे थे । भावनाएँ सबकी देश के लिए प्राणार्पण की थीं । किन्तु योग्यताएँ व क्षमताएँ तो एक-सी नहीं थीं । दलनायक चन्द्रशेखर आजाद थे । वे किसी भी क्रान्तिकारी को अपने काम कराने के लिए कहने से पहले उसकी योग्यता-क्षमता को भी देखते थे । यहाँ राजगुरु भगतसिंह से पिछड़ जाते थे । भगतसिंह उनसे हर दृष्टि में बीस थे किन्तु राजगुरु की लिफफट व बलिदान की उत्कट करमना को वह सदा नहीं हो पाता था ।

साइमन कमीशन के आगमन पर लाहौर में लाला लाजपत राय के नेतृत्व में जनता ने उसका विरोध किया । शासन की तरफ से विरोध प्रदर्शन के अवसर पर निहत्थी जनता पर लाठीचार्ज बरसाई गई । इस नृशंस लठ्ठी चार्ज में लाला लाजपत राय लाठीचार्ज की मार सहते-सहते गिर पड़े । वे इतनी बुरी तरह पीटे गये थे कि उनका प्राणवन्त हो गया । शान्तिवादी तो इस क्रूरता को चुपचाप सह गये किन्तु क्रान्तिकारियों के लिए यह असह्य था । उन्होंने उसका बदला लेने का निश्चय किया । यह निश्चय पुलिस अधिकारी सांडर्स का वध करना था । इसको क्रियान्वित करने के लिए भगतसिंह को चुना गया ।

राजगुरु भी इस 'एक्शन' के समय उनके साथ थे । निश्चित समय पर भी पंजाब केसरी लाला लाजपत राय की हत्या का कारण वह पुलिस अधिकारी पुलिस स्टेशन से बाहर नहीं निकला तो राजगुरु अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सके । वे दलनायक आजाद से बोले- "अन्दर जाकर ही मार आऊँ" आजाद को उनकी यह अधीरता बहुत अखरी । यह अधीरता राजगुरु के उत्कट देशप्रेम व निर्भयता की प्रतीक थी । महान उद्देश्य के साथ बैठकर सामान्य व्यक्ति भी कितना निर्भय और साहसी हो सकता है इसका यह प्वलंत उदाहरण है ।

सांडर्स वध के समय भी राजगुरु पहले वार करने से नहीं चूके । भगतसिंह वार करें इससे पहले ही उन्होंने मोटरसाइकिल पर चढ़ने को उद्यत सांडर्स को अपनी गोली का निशाना बना दिया । गोली उसकी कनपटी पर लगी । सत्कार्यों में भी स्पर्धा हो सकती है । राजगुरु भगतसिंह से स्पर्धा ही करते थे ।

अपनी इस स्पर्धा के कारण उन्हें बार बार आजाद की डाँट सहनी पड़ी थी व अपने साधियों के सामने लज्जित होना पड़ता था । किन्तु उन्होंने कभी अपना अपमान नहीं समझा । उन्हें तो बस यही दुःख होता था कि उन्हें देश के लिए कुछ करने का अवसर क्यों नहीं दिया जाता ।

उनकी यह स्पर्धा केवल आवेश नहीं थी । वे क्रान्तिकारी बनने के पहले अपने आप को भावी परिस्थितियों में दृढ़ रहने के लिए शरीर, मन व आत्मा से तैयार कर चुके थे । एक समय की बात है उन्होंने भोजन बनते समय चूल्हे में सड़ामी का मुँह रख दिया । जब वह सपकर सस्त हो गई तो उसे पकड़ कर अपने सीने पर दगाने लगे । गर्म लोहे से दगने जाने की शारीरिक यंत्रणा को बिना आह किये सह रहे थे । दो बार वे ऐसा कर चुके थे तीसरी बार साधियों का ध्यान उनकी ओर गया तो उन्हें रोका और पूछा गया- "यह क्या कर रहे हो ?" कुछ नहीं, देख रहा था कि शारीरिक यंत्रणाएँ क्या मुझे इस पथ पर आने वाली किसी भी स्थिति में विचलित तो नहीं कर देंगी ।" यह उनका सीधा-सा उत्तर था ।

संसद में बय केंकने की योजना बनी तो भगतसिंह के साथ उन्हें भेजने की बजाय बटुकेश्वर दत्त को भेजने का निर्णय किया गया । राजगुरु इस निश्चय पर चोट खाये साँप की तरह फुफकार उठे । अपनी देशभक्ति व अपनी समर्पण भावना पर एक चोट समझकर उन्होंने कुछ प्रतिक्रिया किया । इस निश्चय में केवल आजाद ही परिवर्तन कर सकते थे । वे कोटला मैदान में हुई गुप्त मंत्रणा के परचातु झाँसी के लिए प्रस्थान कर चुके थे । राजगुरु को उसके लिए आजाद के पास झाँसी जाना पड़ा किन्तु आजाद ने उनकी बात नहीं मानी । यही नहीं उन्हें झिड़कियाँ भी सहनी पड़ीं । उनका उनके सरल-निश्चल चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । उन्हें तो यही मलाल था कि उन्हें क्यों नहीं अवसर दिया जाता सरफरोशी का ।

महाराष्ट्र के एक निर्धन परिवार में जन्मे शिवराम राजगुरु का यह अनेखा व्यक्तित्व यह बताता है कि युग की पुकार सुनकर अपने आपको किसी प्रयोजन विशेष के लिए समर्पित कर देने की स्वाभाविक अन्तःप्रेरणा को दबाया न जाय तो हर स्थिति का, हर अर्थ का व्यक्ति श्रेष्ठ पथ का पथिक बन कर गौरवान्वित हो सकता है ।

३.४६ महापुरुषों के अधिस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

संसद में बम विस्फोट के परचासू बगतसिंह व बटुकेश्वर दत्त स्वेच्छा से बन्दी हो गये क्योंकि उन्हें बताया था कि क्रान्तिकारियों का दल जो क्रियकलाप करता है उसके पीछे उनका उद्देश्य क्या है ? इनके पकड़े जाने के बाद गिरफ्तारियों का ताँता लग गया । पुलिस चाक चौकन्द हो गई । सुखदेव, बबगोपाल, किशोरीलाल, हंसराज, शिवधर्म आदि क्रान्तिकारी पकड़े गये । बाद में राजगुरु भी बूना में पकड़ लिए गये । उन पर साहौर बख्श केस चलाया गया । इस केस में सुखदेव, बगतसिंह व राजगुरु को फाँसी की सजा दी जाने का फैसला कर दिया गया । अन्य कई क्रान्तिकारियों को आजीवन काले बानी की सजा दी गई थी ।

न्यायालय में ७ अक्टूबर, १९३० के दिन जब यह फैसला हुआ तो न्यायाधीश ने अभियुक्तों की उपस्थिति को ठीक नहीं समझा क्योंकि एक साथ इतने लोगों को फाँसी व आजीवन कारावास की सजा सुनाने की जनता पर प्रतिक्रिया हो सकती थी । अतः उन्हें पुष्क-पुष्क बुलाकर फैसला सुनाया गया ।

फैसला सुनने के लिए सर्वप्रथम राजगुरु को ही बुलाया गया । मातृभूमि के लिए प्राण दण्ड देने वालों में वह बगतसिंह के पीछे नहीं रहे थे । वह जानकर उनके हर्ष का पारावार नहीं रहा । न्यायालय में ही उन्होंने 'इन्कलाब जिन्दाबाद' का नारा पुरजोर आवाज में बुलन्द किया । इससे जब ने हुंदा हो उन्हें चुप रहने का आदेश दिया । तो वे दुगने जोर से नारा बुलन्द करने लगे । पुलिस बड़ी कठिनाई से उन्हें फाँसी की कोठी तक ले जा सकी । उनकी उत्कट अभिलाषा पूर्ण हो गई । वे फाँसी के फन्दे को घूमकर अमर हो गये । वे भन्व हैं जो इस निर्भयता, निरछल व प्रखरता से दीप्त जीवन जीते हैं और मर कर भी अमर बनकर पीछे वालों को वजुष्प जीवन सफल कर देने का पथ दर्शा जाते हैं ।

देश प्रेम और धर्म निष्ठा के अनूठे प्रतीक—

अशफाक उल्ला

“तुम्हारी इस प्रकार की प्रवृत्तियों को देखकर बहुतों को संदेह होता है कि कहीं तुम इस्लाम त्याग कर शूद्धि न करा लो, पर तुम्हारा हृदय किसी प्रकार अशुद्ध नहीं था फिर तुम शूद्धि किसकी कराते ? तुम्हारी इस प्रकार की प्रगति ने मेरे हृदय पर पूर्ण विजय पाली । बहुधा भिन्न मण्डली में बात छिड़ती कि कहीं मुसलमान पर विप्लव करके धोखा न खा जाना ।”

“तुम्हारी जीत हुई मुझमें तुममें कोई भेद नहीं रह गया । बहुधा मैंने तुमने एक बाली में भोजन किया । मेरे हृदय से यह विचार ही जाता रहा कि हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद है।” ये हृदयोदगार हैं प्रसिद्ध क्रान्तिकारी पं. रामप्रसाद बिस्मिल के, जो उन्होंने गोंडा जेल के फाँसी घर में बैठ कर लिखे थे अपने निकट सहयोगी क्रान्तिवीर अशफाक उल्ला के सम्बन्ध में ।

पं. रामप्रसाद बिस्मिल जब क्रान्तिकारी आन्दोलन को गतिशील बनाने के लिये युवकों में देशभक्ति की भावना जगाने और समझ में आ जाये तो उनसे सहयोग देने के उद्देश्य से शाहजहाँपुर आये तो एक मुसलमान युवक उनसे भेंट करने को बड़ा उत्सुक जान पड़ा । वह युवक और कोई नहीं अशफाक उल्ला ही थे जिनके हृदय में देश प्रेम की आग पहले से ही धधक रही थी । पं. रामप्रसाद बिस्मिल को भी ऐसे ही युवकों की खोज थी और अशफाक उल्ला को भी ऐसे ही मार्गदर्शक की । समय की पुकार को प्रतिध्वनियाँ एक ही व्यक्ति के हृदय में गूँजती हों सो बात नहीं है । जाग्रत अन्तःकरण में तो वह अपने आप ही प्रतिध्वनित होती रहती हैं ।

पं. रामप्रसाद बिस्मिल ने उनकी बातों का उत्तर उपेक्षापूर्वक दिया । इससे अशफाक उल्ला को बड़ा दुःख हुआ । पं. रामप्रसाद 'बिस्मिल' कट्टर आर्यसमाजी थे वे मुसलमानों का शूद्धिकरण किया करते थे । आर्य समाज मन्दिर उनका निवास हुआ करता था और अशफाक उल्ला एक कट्टर मुसलमान परिवार के सदस्य थे । इसी कारण उन्होंने अशफाक की उपेक्षा की थी, पर वह भी निराश होने वाले युवक नहीं थे । उन्होंने अपने आचरण और व्यवहार द्वारा यह प्रमाणित कर दिया कि मकहब आदमी-आदमी के बीच दीवार नहीं बन सकता ।

कट्टर आर्य समाजी और कट्टर मुसलमान युवक का यह असम्भव दिखने वाला मेल सम्भव हुआ । 'बिस्मिल' उनसे अपने छोटे भाई की तरह स्नेह रखने लगे । अशफाक बिना किसी संकोच और दुराग्रह के उनसे मिलने के लिए आर्य समाज मन्दिर आया करते थे । घण्टों वहाँ रहा करते थे । इनके लिए हिन्दू और मुसलमान होने का अर्थ मात्र उपासनादिक विधियों में थोड़ा अन्तर मात्र था । यह व्यक्तिगत आस्था देश और समाज की एक व्काई होने के नाते पारस्परिक विभेद का कारण बनना ही नहीं चाहिए ।

शाहजहाँपुर में जब भी हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुये अशफाक ने इन दंगों को रोकने में सफलता प्राप्त की । पं. रामप्रसाद 'बिस्मिल' ने हिन्दू परिवारों में से कुछ ऐसे सुलझे हुए विचारों के युवकों का दल संगठित किया जिसका काम ऐसे दंगों को रोकना था । अशफाक ने जैसे

ही कुछ मुस्लिम युवकों का दल संगठित किया। इन दोनों टोलियों ने समय-समय पर ठठ खड़े होने वाले दंगों की चिंगारी को भयंकर आग बनने से पहले ही बुझ दिया। हर नगर और गाँव में यदि ऐसे अशफाक पैदा हो जायें तो मजहबी झगड़े देखने को भी नहीं मिलें।

अशफाक को अपनी उस मातृभूमि से बेइन्तिहाँ मुहब्बत थी जिसके हवा, पानी और मिट्टी से उनकी बलिष्ठ और सुदृढ़ काया और फौलादी मन का निर्माण हुआ था। वे अपनी इस स्वर्गादयि गरीबसौ मातृभूमि को पराधीन कैसे देख सकते थे? अशफाक ने बुजदिल होकर जीना नहीं सीखा था। उन्हीं के शब्दों में—

बुजदिलों ही को सदा मौत से डरते देखो।
गो कि सौ बार उन्हें रोज ही मरते देखा ॥
मौत से घीर को हमने नहीं डरते देखो।
मौत को जब एक बार आन है तो डरना क्या है?
हम सदा खेल ही समझा किए, मरना क्या है?
बतल हपेशा रहे शादकाय और आजाद ॥
हमारा क्या है अगर हम रहें या न रहें ॥

जिन्दगी जिन्दगिलों का नाम है। जो अशफाक की तरह जिन्दगी का वह अर्थ समझ लेते हैं उन्हें जहाँतगत शौक-मौल और खाने-पहनने की छोटी-छोटी एचण्डरें बाँधे नहीं रख सकती। वे समय की पुकार पर तन, मन, धन न्योछावर कर देते हैं।

भारतीय क्रान्तिकारियों में अशफाक न होते तो पिछली पीढ़ियाँ एक बहुत बड़ी प्रेरणा से वंचित रह जाती। किस प्रकार एक युवक जाति व धर्म की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर देश के लिए बलिदान हो सकता है। ऐसा एक अकेला उदाहरण है। अशफाक उल्ला का भारतीय क्रान्तिकारियों में। मातृभूमि के प्रति निष्ठा और भक्ति का जो चरमोत्कर्ष उनके व्यक्तित्व और फुर्तिय में देखने को मिलता है वह स्पृहणीय एवं अनुकरणीय ही नहीं वन्दनीय भी है।

उन्हीं की एक हिन्दी कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं—
हे मातृभूमि तेरी सेवा किया करूँगा।
फाँसी मिले मुझे या हो जन्म कैद मेरी।
घीणा बना बना कर तेरा भजन करूँगा ॥

उत्सर्ग की इस भावना का एक फल भी आज का भारतीय नवयुवक अपने हृदय में रख सके तो हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ, समस्याएँ न रहकर खेल बन जायें।

अशफाक उल्ला को काकोरी बदमंत्र के अभियुक्त के रूप में फाँसी की सजा मिली थी। न्यायाधीश ने जब उन्हें फाँसी की सजा सुनाई तो उनका सीना गर्व से फूट गया। उनकी वह हसरत पूरी हो गई कि उन्हें जिन्दगिस्तों की तरह शानदार मौत मिले। जो पैदा हुआ है उसका मरना तो सुनिश्चित है पर अशफाक ने जैसी मौत पाई वो यह

उनके साथियों के लिए ईर्ष्या और भाजी पीढ़ियों के लिए प्रेरणा का विषय भी।

१९ दिसम्बर, १९२७ को फैजाबाद जेल में कुरान सरीफ का बस्ता कंधे पर लटकाये हुए 'लवेक' कहते और कलम पढ़ते हुए अशफाक उल्ला मुस्कराते हुए फाँसी के तख्ते के पास पहुँचे व उसका चुम्बन लिया और उपस्थित बन-समुदाय को सम्बोधित करते हुए बोले—
"मेरे हाथ इन्सानि खून से नहीं रगे। मेरे ऊपर जो इल्जाम लगाया गया, वह गलत है। खुद के यहाँ मेरा इन्साफ होगा।" और वे फाँसी के फन्दे पर झूल गये। आस्तिकता और राष्ट्र-प्रेम के ऐसे उदाहरण बहुत कम देखने को मिलते हैं। देश-भक्ति और ईश्वर विश्वास के सहारे आदमी कितना अभय प्राप्त कर सकता है, यह अशफाक की सहृदयता में स्पष्ट देख जा सकता है।

उनके भाई-बन्धुओं के आग्रह पर उनका हाथ साहजगौरु लया गया, मार्ग में लखनऊ स्टेशन पर उनके अन्तिम दर्शन के लिए लोग उमड़ पड़े थे। जिन थोड़े से लोगों को उनके अन्तिम दर्शन मिले वे मृत्यु के इस घण्टे बाद भी उनके मुख-मण्डल पर विराजती शान्ति और माधुर्य को देख विस्मित रह गये। जैसे खेल-खेल में ही सो गया हो कोई जीवन क्रीड़ा का खिलाड़ी।

काकोरी रेल डकैती के अवसर पर अशफाक उल्ला की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण रही थी, यद्यपि उन्होंने सरकारी खजाने को डकैती का विरोध किया था। इसमें पकड़े जाने का धम्य अधिक था। क्रान्तिकारी कोई डाकू तो थे नहीं। उन्हें अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए धन चाहिए था जो उनके पास था नहीं और दूसरे लोग उन्हें यों ही देश के नाम पर धन नहीं देते थे। अतः विवश होकर उन्हें यह मार्ग अपनाना पड़ता था।

जब रेल खजाने की डकैती की योजना बनी तो उन्होंने विरोध किया, किन्तु जब उनका विरोध कारगर नहीं हुआ तो वे उसे सफल बनाने में जुट गये। इससे उनकी सामूहिकता की भावना का सहज ही अन्दाज लग जाता है। उन्होंने विरोध किसी भय से नहीं किया था वरन् बुद्धि से किया था और यदि उनकी बात मान ली जाती तो सायद देश के इस प्रकार छिन्न-भिन्न हो जाने का अवसर नहीं आता।

ऐकतन के समय भी सबसे महत्वपूर्ण काम उनका तब आया जब खजाने की पेटी को तोड़ना था। डकैती में मिले खजाने के सन्दूक को तोड़कर जब धन निकालने की बात आई तो तोड़ने में कोई सफल नहीं हुआ। छोटा-सा सुराख अवश्य हुआ पर उससे रुपया निकालना सम्भव नहीं था, किसी भी तरह। तब अशफाक की बलिष्ठ काया ही काम आई। वे पहरों पर खड़े थे। उन्होंने सबको असफल होते देखकर अपनी पाठजर पिस्तौल अपने साथी के हाथ में बमाई और उस सन्दूक पर पिल पड़े। लंबी देर में सुराख बड़ा हो गया।

ढकैली के बाद भी वे अपने साथियों में सबसे तेज निकले। उन्हें पता था कि सरकार तुरन्त ही पकड़ा-धकड़ी करेगी सो वे घर ही नहीं गये और घर से आधे मील दूर एक गन्ने के खेत में छिप गये। रात को उनका खाना भी वहीं पहुँच जाता था।

जब थड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ हुईं तो वे बिहार चले गये और वहाँ डाल्टनगंज में दस महीने तक एक सरकारी दफ्तर में काम पर लगे रहे। यह उनकी चतुराई का ही परिणाम था। पर वे वहीं पर रहकर कलम पिसाई में कुछ भी सार नहीं समझते थे और चाहते थे कि किसी छात्र नाम से उच्च शिक्षा ग्रहण करने के बहाने विदेश चले जायें। यही सोचकर वे दिल्ली आये। वहाँ उन्हीं के गाँव व जाति के एक सहपाठी मित्र ने उन्हें पकड़वा दिया।

जेल में भी सरकारी गवाह बन जाने के लिए बहुत समझाया गया। इस काम में बाहिर एक भुससम्मान इच्छाधिकारी को उन्हें समझाने के लिए भेजा गया। अंग्रेज 'फूट डालो और राज करो' की नीति पर ही तो अपना आसन जमाये हुए थे भारत वर्ष पर। उन्होंने भारतवासियों को कभी भारतवासी की दृष्टि से नहीं सोचने दिया। वरन् वे तो उन्हें हिन्दू, मुसलमान, सिख, हरिजन आदि फिरकों में बाँटकर अपना डल्लू सीधा करते रहे। पर भला अशफाक उल्लू जैसे देशघट पर उनकी वह मोहिनी माया कैसे चल सकती थी। अतः उनके प्रयास व्यर्थ ही गये। समझाने वाले सुपरिन्टेण्डेंट पुलिस ने उन्हें बार-बार कहा कि यह सब हिन्दुओं का फसाद है। वे यहाँ अपना राज्य जमाना चाहते हैं। मुसलमानों को उनके फेर में नहीं पड़ना चाहिए। इस पर अशफाक झुंझलाकर बोले— "हिन्दू-राज किसी भी तरह ब्रिटिश राज से अच्छा ही होगा हमारे लिए।"

अशफाक उल्लू का जन्म शाहजहाँपुर के एक प्रसिद्ध पण्डित परिवार में हुआ था। उनके बड़े भाई भोपाल राज्य में किसी उच्च पद पर नियुक्त थे। उनके पास एक गार्ड्समैन भी था। अशफाक ने इसी से निशानेबाजी सीखी थी जो बाद में बहुत काम आयी। साथ ही उन्हें कन्धे पर बन्दक रखने की आदत भी थी। जब कभी क्रान्तिकारी कामों के लिए छिपाकर बन्दक ले जानी होती तो अशफाक उसे खुले रूप में कन्धे पर लेकर चल पड़ते और पीछे-पीछे उनके साथी। दिखने में भी उनका गौरा चिट्ठा कड़ाकर शरीर किसी कुँवर साहब या नबाब जैसा था। किसी के रुक की मुँचायश ही नहीं रहती थी ऐसे व्यक्ति पर।

हाईस्कूल तक पढ़ाई करने के बाद वे क्रान्तिकारी आन्दोलन में लगे तो फिर आगे पढ़ाई हो ही नहीं सकी। घर वालों ने, माता पिता व भाइयों ने बहुत समझाया, मना किया पर वे अपने निश्चय पर अटल रहे। इस निश्चय पर वे अन्त तक अटल ही रहे। किसी

प्रकार का लोप उन्हें अपने पक्ष से विचलित नहीं कर पाया और न फौसी का फन्दा ही।

अशफाक ने संयम सदाचार और उचित आहार-विहार के द्वारा शरीर साधना भी की थी तो शुभ विचारों से अपने मन और आत्म को भी परिपुष्ट किया था। जेल में बिना नाश कुरान शरीफ का पाठ करते, नमाज पढ़ते और रमजान में रोजे रखते। धर्म निष्ठा और देश-प्रेम उनकी आत्म-शक्ति के अजस्र स्रोत थे, जिसके बल पर वे फौसी के फन्दे को गले में डालते हुये भी मुस्करा सकते थे। राष्ट्रीय एकता और बलिदान की जो अनूठी मिसाल सहीद अशफाक ने कायम की है वह आज के नवयुवकों को आर्थिक, सामाजिक और नैतिक क्रान्ति के लिए बल प्रदान करती रहेगी।

अनूठे देश प्रेमी क्रान्तिकारी—

बन्तासिंह

सन् १९२९ में पंजाब के होशियारपुर जिले में मलड़ी गाँव का युवक— बन्तासिंह नौकरी की तलाश में अमृतसर आया। टहलसिंह पीतम नामक एक सरदार जी के मोटर के कारखाने में उसे नौकरी मिल गई। वह वहाँ मोटर मेकेनिक और ड्राइवर का काम सीख कर लौटी चलाने लगा।

टहलसिंह पीतम खाली मोटर कारखाने के मालिक ही नहीं, भारत को स्वतंत्र कराने के उद्देश्य से गठित की गई नवयुवकों की क्रान्तिकारी संस्था 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट एसोसिएशन' के सदस्य भी थे। उन्होंने इस युवक को केवल मोटर मेकेनिक व ड्राइवर का काम ही नहीं सिखाया वरन् अपने क्रान्तिकारी कामों का राजदार भी बना लिया। फिर तो इस युवक का हृदय आजादी की भावनाओं से कुछ ऐसा परवान चढ़ा कि उसे ज्यादा दिनों तक मोटर लौटी नहीं चलानो पड़ी और व वह सामान्य मोटर ड्राइवर की सुगम ज़िन्दगी जीकर समाप्त हो गया वरन् वह क्रान्तिकारी आन्दोलन का सेनानी बनकर अपना नाम अविस्मरणीय बना गया।

इन्का आरम्भिक काम पार्टी की मोटर कार से फरार क्रान्तिकारियों को, पार्टी के हथियारों व विस्फोटक पदार्थों को और गोपनीय साहित्य को इधर-उधर पहुँचाना था। १९३० में क्रान्तिकारियों द्वारा दिल्ली में खाली गई राजनैतिक ढकैली में इस युवक को भी बन्दी बनाकर लाहौर के किले में भयंकर यातनाएँ दी गईं। कोई कच्चे दिल का होवा वो वह जेल से छूटते ही क्रान्ति और देश-प्रेम को सदा के लिए नमस्कार कर गया होता। पर वह युवक जब सबूत के अभाव में लाहौर की कुख्यात जेल से मुक्त किया गया तो वह दुगुने जोश से क्रान्तिकारी गतिविधियों में भाग लेने लगा।

देश प्रेम की आग जो दिल में लगी थी वह बुझाने न मुझी । वे एक वर्ष बाद ही १९३१ में पार्टी के सत्कार विरोधी पक्षें बाँटते हुए फिर पकड़ गये । फिर शारीरिक यंत्रणा का भयंकर दौर चला । मारते-मारते उसके केश तक उखाड़ दिये गये पर वह युवक तो जैसे दुःख-सुख की अनुभूतियों से ऊपर उठ गया था किसी पहुँचे हुए योगी की तरह । वह जब अंग्रेजी दासता की चक्री में पिसते अपने देशवासियों के दुःख-दर्द की बात सोचता तो उसे अपने दुख साधारण लगते और वह सह जाता । वस्तुतः वह 'स्व' से 'पर' की ओर चल पड़ा था ।

एक वर्ष तक लाहौर की चोरस्टल जेल में उसका सम्पर्क अपने ही जैसे अन्य देशभक्तों से रहा । इन लोगों को सरकारी प्रेस में काम करना पड़ता था । यहाँ एक सिविल और मिलिट्री गजट में वह पढ़ने को मिला- "दक्षिण की जनता शान्तिप्रिय और राजभक्त है ।" यह वाक्य इन लोगों के लिए चुनौती बन गया ।

१९३२ में जब बन्तासिंह एक वर्ष की जेल काटकर बाहर निकले तो उन्हें अपने कई साथी, जिनमें सीतानाथ डे, रोशनलाल मेहरा, गोविन्दराम बहल, इन्दिरा वैद्य, शम्भुनाथ पाठक आदि थे, मिल गये । अब उन्होंने इस वाक्य को चुनौती को स्वीकार कर दक्षिण भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाने का निश्चय किया ।

अप्रैल १९३३ तक तीन बार में यह सम्पूर्ण दल दक्षिण भारत पहुँच गया । रामविलास शर्मा नामक एक युवक अभी लाहौर में ही था जिसके पास दक्षिण भारत की क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए कई हजार रुपया, हथियार व बम आदि थे । दुर्भाग्य से वह ब्रिटिश गुप्तचरों द्वारा पकड़ लिया गया । हिम्मत बाला न होने के कारण वह सरकार का मुखबिर बन गया और उसने सारा भेद खोल दिया । पार्टी को पैसों की कमी व बिखराव का सामना करना पड़ा ।

आर्थिक स्थिति सुधारने की गरज से २८ अप्रैल, १९३३ को बन्तासिंह के नेतृत्व में ऊटी बैंक में डाका डाला गया । यह बड़े दुस्साहस का कार्य था । दिन के बारह बजे मुख्य बाजार में स्थिति ऊटी बैंक के कार्यालय पर डाका डाल सकन बन्तासिंह जैसे साहसी क्रान्तिकारी के लिए ही सम्भव था । बन्तासिंह ने भीड़ से धिरी मोटर टैक्सी को निकाल कर नीलगिरी की पहाड़ियों की ओर निकल थामने में चालन कौशल का जो परिचय दिया वह अनूठा ही था ।

इस एक्शन के बाद ये लोग भीलों पैदल चलकर इरोड स्टेशन पहुँचे । सी. आई. डी. के त्रेन सादे वेश में वहाँ से इनके पीछे पड़ गये थे । यह पाग-दौड़ खूब कत्ती । बड़ी देर में बन्तासिंह को पुलिस पकड़ने में सफल हुई ।

क्रान्तिकारी जीवन में यह सब होता ही है । ७ जुलाई, १९३३ को उन्हें ३८ वर्ष की सजा सुनाई गई । उन्हें बिल्लारी सेण्ट्रल जेल में भेजा गया । वहाँ उन्हें पैंसी की

कोठरी में रखा गया । वहाँ उनके साथ प्रेम प्रकाश मुनी नामक एक व्यक्ति और था । जेल का अंग्रेज सुपरिण्टेण्डेण्ट बहुत निर्दयी था । यह दोनों साथी उसे अपनी इस कुराख का मजा चखाना चाहते थे ।

जेल में भी यह लोग चुप नहीं बैठे थे । यहाँ जेम्स नाम का एक जेल वार्डन था, जिसे इन दोनों ने देशभक्ति की शिक्षा दी और पार्टी के लिए कार्य करने को राजी कर लिया । उसकी सहायता से वे दोनों एक दिन जेल से निकल पागे । यह इनके देश प्रेम का ही प्रभाव था कि वे जेम्स को अपना सहयोगी बना सके थे । बाद में जब जेम्स पकड़ा गया तो उसने सारा अपराध अपने सिर पर ले लिया । उसे सत्र वर्ष का कारावास भोगने का दण्ड मिला ।

बन्तासिंह जैसे नवयुवकों को राष्ट्रीय भावना बड़ी उत्कट थी । भग्नसिंह व चन्द्रशेखर आचाद इनके आदर्श थे । इनकी पीरता और कह-सहिष्णुता तथा सरफरोशी की तो याद देनी पड़ेगी । यह भावना हमारे युवाओं को आज भी बहुत कुछ प्रेरण प्रकाश दे सकती है । किन्तु क्रान्ति का पथ कुछ ऐसा टेढ़ा है कि उस पर हर व्यक्ति नहीं चल सकता था और न हर व्यक्ति उनकी सहायता ही कर सकता था पर अब तक का क्रान्ति का पथ यही था । गाँधी जी का असहयोग आन्दोलन अभी सत्यता की कसीटी पर कसा ही जा रहा था ।

बन्ता सिंह और मुनी फिर गिरफ्तार कर लिए गये । उन्हें अण्डमान जेल भेजा गया । ऊटी बैंक डकैती केस के तीन अभियुक्तों के अतिरिक्त रोष सब यहाँ पहुँच चुके थे । जहाँ चार सौ के लगभग क्रान्तिकारी पहले से सजा काट रहे थे । यहाँ भी ये लोग चुप नहीं बैठे रहे । १९३७ में इन्होंने रिहाई के लिए आग्रह अनशन किया । इसकी सम्पत्ति के बाद उन्हें अन्य थोड़े से बन्दीयों के साथ लाहौर जेल में भेजा गया जहाँ १९३७ में उन्हें मुक्ति मिली ।

१९३९ में टाटा नगर के एक कारखाने में श्रमिक हड़ताल के समय वे श्रमिकों का नेतृत्व कर रहे थे । मारखाने के मालिक ने अपने गुण्डों द्वारा उन्हें टुक के नीचे कुचलवा कर मार डाला । इस प्रकार एक अन्याय अनीति का विरोधी शहीद हो गया ।

भारत माता के वीर पुजारी-

ज्योतिन्द्र नाथ मुखर्जी

कलकत्ता के गोरा बाजार में एक अंग्रेज अपना डंडा घुमाता हुआ बड़ी मस्ती से चल जा रहा था । जो भी भ्रमलोभ, भले हो वह स्त्री हो या पुरुष, वृद्ध हो या बालक, के सिर पर डंडे का प्रहार कर देता । वह कहता जा रहा था- से पचस, से इक्कावन पता नहीं वह कहाँ तक पहुँचना चाहता था । घर से निकलने के बाद इक्कावन व्यक्तियों को तो वह डंडा जमा चुका था ।

३.५२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन-वर्णन-२

उस गोरे अंग्रेज के पीछे ही चल रहा था एक बंगाली किशोर जतीन । वह अभी ही एक गली से निकल कर आया था । अंग्रेज को गिनती गिन कर डण्डा मारते हुये देखा तो पन्नायक तो समझ में नहीं आया परन्तु जब वह अच्छी तरह जान लिया कि चौंकि गोरों का राज है इसलिए वे चाहे जो मनमानी कर सकते हैं तो कुछ ही क्षण हुए होंगे पीछे चलते हुये कि जतीन से रहा न गया । वह दौड़ कर डण्डेबाज के पास पहुँचा और एक जोर का धक्का दिया गोरा गिर पड़ा । जतीन ने उसके हाथ से डण्डा छीन लिया और उसी के सिर पर कसकर मारते हुए कहा— 'ले तिरेशन ।'

आस-पास बड़ी भीड़ एकट्ठी हो गई । अपना अधिकार मग्न भूलकर अंग्रेज ऐसा भग्न कि पीछे मुड़कर तक नहीं देखा । उस समय अंग्रेजों से बातें करने में भी लोग डरते थे । तब नहीं गोरे मालिक जब छपरा हो जायें । ऐसे भुग में किसी किशोर द्वारा इतना प्रबल प्रतिरोध अदम्य साहस का ही काम था । जतीन कोई जन्मजात ही साहसी पैदा नहीं हुआ था । बचपन में तो वह चूहों से भी डर जाया करता था, परन्तु पाँच वर्ष की आयु में ही दुर्दैव के प्रकोप और संघर्षपूर्ण परिस्थितियों ने उसे साहसी बना दिया था ।

जन्म के पाँच साल बाद ही पिता का स्वर्गवास हो गया । उसके कुछ ही दिनों उपरान्त माँ भी चल बसी । जतीन का पालन-पोषण उसके मामा के यहाँ हुआ । मामा और नाना अपनी बेटी की अन्तिम निशानी समझकर उसे बड़े लाड़-प्यार से रखते थे । फिर भी जिसका पूरा नाम ज्योतिन्द्र मुखर्जी था— अपने माता-पिता को भूल नहीं सका । निदान उसका ध्यान बढ़ाया गया और पढ़ाई के बच्चों को जतीन को साथ खिन्नने के लिए कहा गया । उस समय आस-पास के सभी बच्चे कसरत करने जाया करते थे, अखाड़े में कुश्तियाँ भी करतीं । जतीन भी उन बच्चों के साथ जाने लगा । दण्ड बैठक और कसरत कुश्ती में उसका मन अच्छी तरह लगा । व्यायाम और शारीरिक गठन के प्रति यह आगलकला इतनी विकसित हो गयी कि जतीन ने किशोरावस्था में ही भुङ्सवारी, तैराकी और साठी तथा तलवार चलाना अच्छी प्रकार सीख लिया ।

बल संवर्धन की प्रक्रिया मनुष्य को सज्ज ही आत्म विश्वासी बना देती है और वह सभी भयों से मुक्त हो जाता है । भयमुक्ति की सिद्धि ही सत्यक में सत्यस का संचार भी कर देती है । जतीन के ज्ञान-मामा ने माता-पिता को भुलाने के लिए इस ओर प्रवृत्त किया तो वह डरपोक से साहसी और दुर्बल से सकल बन गया । पाँच सात वर्ष पूर्व जो जतीन घर से बाहर के व्यक्ति की उपस्थिति से भी झेंप जाता था, वही जतीन दूर देश के

आक्रमक सशक्त वर्ग के लोगों को भी इस प्रकार सलकार सकता था । प्रगति की दिशा में ठठाया गया कोई भी कदम व्यर्थ नहीं जाता । वह व्यक्ति के आत्मविकास में किसी न किसी प्रकार का सहायक ही सिद्ध होता है ।

जतीन की शिक्षा-दीक्षा भी चलती रही । वहाँ भी गोरे अंग्रेज बच्चों की ज्यादातर सहन करने के बजाय उन्हें पटखनी देने में ही मग्न आता था । अंग्रेजों के प्रति घृणा से भर उठने का एक बड़ा कारण और भी था । सन् १९०५ की बात है, प्रिंस ऑफ वेल्स उन दिनों भारत आये हुए थे । कलकत्ता में उनकी सवारी निकलने जा रही थी । हजारों गर-गरी फुटपाथों पर जमा थे । एक गली के नुक्कड़ पर एक बच्ची खड़ी थी जिसमें कुछ महिलाएँ थीं । उन औरतों को परेक्षण करने के लिए पीछे छ: गोरे युवक बच्ची की छत पर चढ़ गये और औरतों के मुँह के सामने पाँव लटककर बैठे सीटियाँ बजाने लगे । जतीन भी सामने फुटपाथ पर खड़ा था । औरतों के साथ उनके परिवार वाले भी थे परन्तु वे डर के कारण कुछ भी नहीं कह रहे थे । जतीन ने देखा और उससे नारी-जाति का, भारतीय समाज की घातू-लाछि का वह अपमान सहा नहीं गया । वह तुरन्त लपका और छत पर चढ़ों गोरे युवकों के बीच चढ़ गया । इस अप्रत्याशित घटना से युवक सहम गये । वे कुछ समझने की स्थिति में आये इसके पूर्व जतीन ने सबको अपनी की छत से गिरा दिया ।

उन सबने जतीन को पीटने और मजा चखाने की कोशिश की तथा धमकियाँ भी दीं परन्तु वह अप्रभावित ही रहा और बड़ी निदरता के साथ उनकी पिटाई करता रहा । निदान गोरे युवक अपमान का पूँट पीकर रह गये और भग्न छोड़े हुए । इस घटना के कुछ ही समय की बात है कि जतीन रेल से रजाघाट जा रहा था । उसके पास वाले डिब्बे में एक बूढ़ अपनी बेटी के साथ बैठा हुआ था । रास्ते में दो अंग्रेज उसी डिब्बे में चढ़े और लड़कों के आस-पास बैठ गये । हालांकि डिब्बा काफी खाली था । वे लड़कों के पास छिसककर उसे भीचने लगे । बेचारा बूढ़ व्यक्ति उनके सामने गिढ़-गिढ़ाने लगा परन्तु अधिकार भद से उन्मत्त गोरे आदमियों पर इसका कोई असर नहीं हुआ ।

दूसरे स्टेशन पर जब बाड़ी रुकी तो जतीन नीचे उतरा और सारा दृश्य देखा । वह समझ गया कि बात क्या है और लपककर उस डिब्बे में चढ़ गया । गोरे लोग अभी भी वही हरकतें कर रहे थे । डिब्बे में बैठे अन्य दूसरे कच्ची बीच में बोलकर आपसि मोल नहीं लेना चाहते थे । परन्तु जतीन जो अन्ध्रा और मधोन्यत के अनाचार के खिलाफ कोई भी खतरा उठाने का साहस रखता था, उन दोनों गोरों के पास गया और जोर से घूँसे मारे । गोरे फर्श पर लुढ़क गये ।

अनाचारी पागलपन की हरकतों को चुपचाप सहते रहने से दुष्ट की उन्मत्तता बढ़ती है। इन कृत्यों के प्रति उदासीनता आग में घी का काम करती है। जतीन इस तथ्य को बहुत अच्छी तरह समझता था इसी कारण उसने अपनी आँखों के सामने कभी न होने योग्य काम नहीं होने दिया।

शरीर बल और सामर्थ्य की सर्वकृता भी वो वही है। दुर्बल और पीड़ित व्यक्ति की अनाचारी और प्रमत्त आततायी से रक्षा करना ही शक्तिशाली का धर्म है। यह निष्ठा उसके व्यक्तित्व में चार चौद सग्न देती है। परन्तु अक्सर देखा यही गया है कि अच्छे-अच्छे लोग भी ऐसे अवसरों पर किनारा काट जाते हैं। जतीन में यह बात नहीं थी। इसीलिए भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में उसे धिरकाल तक याद किया जाता रहेगा।

जतीन-ज्योतिन्द्र नाथ मुखर्जी के जीवन का पूर्वार्ध इसी प्रकार बीता। अपनी सत्ता, अपना राज और अपने अधिकार के गर्व में अंग्रेज लोग निरपराध भारतीय जनता पर अत्याचार करते रहते थे। जतीन अपनी उपस्थिति में ऐसा होते देखकर बिना आगा-पीछा सोचे-विचारे बीच में फूट पड़ते थे और अंग्रेजों को ऐसी सीख देते कि उन्हें जीवनभर याद रहती। भले ही वह कोई सिपाही हो या अफसर। एक बार वे हार्जिलिंग जा रहे थे। जिस ट्रेन में वे सफर कर रहे थे उसी में चार अफसरों की देखरेख में एक सैनिक टुकड़ी भी जा रही थी। रेल के स्टेशनों पर दतरकर ये लोग बड़ी शान के साथ टहलते और यात्रियों को परेशान करने का मजा लेते।

एक स्टेशन पर जतीन अपने बीमार सहचारी के लिए पानी लेने उतरा। पानी का लोटा भरकर वह टिब्बे की ओर चल ही रहा था कि एक अफसर उससे टकरा गया। इस कारण जतीन के लोटे से थोड़ा-सा पानी गिर गया। अंग्रेज ने कसकर इसकी पीठ पर अपनी छड़ी भी जमा दी। जतीन ने उस समय तो कुछ नहीं कहा। पानी का लोटा रौंगी साथी तक पहुँचाकर वे वापस आये और उस अंग्रेज अफसर की कलाई पकड़ कर मरोड़ दी। अन्य गिरे युवकों ने भी जतीन पर आक्रमण किया परन्तु उनके तेज तर्रार और बलिष्ठ बदन के सामने किसी की भी न चली। इस बात पर तो मुकदमा भी चला था परन्तु अंग्रेज न्यायाधीश ने पहली ही सुनवाई में उसे खरिज कर दिया क्योंकि इससे भारतीय जनता का दृष्टि हुआ मनोबल बढ़ जाने की संभावना थी।

ऐसी अनगिनत घटनाएँ हैं जो जतीन के स्वाभिमानी व्यक्तित्व से परिचित कराती हैं। अब उनकी साहसिकता देश-भक्ति में परिणित होने लगी। किशोरावस्था में ही वे भगिनी निवेदिता के संपर्क में आये। भगिनी ने इस स्वाभिमानी, साहसी और बराकमी वीर को स्वामी

विवेकानन्द के सामने प्रस्तुत किया। स्वामी जी ने इस होम्बर किशोर की प्रशंसा की और प्रोत्साहित किया कि उन जैसे निहट लोग ही देश को आततायी अंग्रेजी शासन के बंधे से मुक्त करवायेंगे।

स्वामी विवेकानन्द से प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर वे राष्ट्रीय आंदोलन की गतिविधियों में भाग लेने लगे। बाद में आध्यात्मिक जागरण के प्रणेता, राष्ट्रवाद के मसीहा और क्रांतिकारी अरविंद घोष के सम्पर्क में आकर उन्होंने राष्ट्रीय और स्वाधीनता की पतली धारा को तेज बहाव में बदला। श्री अरविंद ने देश के युवकों को आह्वान किया और कहा कि— "भारत जमीन का एक टुकड़ा नहीं, जहाँ की भूमि हमारी माता है। सिन्धु, हिमालय विस्तीर्ण भारत देश की भूमि हमारा जननी और माँ है। जन्म-मरण के रूप में ही हमें इसकी प्रतिष्ठापना करनी होगी।"

जतीन ने इन विचारों को पूरी तरह अपने हृदय में बिठा लिया और वे क्रांति दृष्टि अरविन्द के निकटतम सम्पर्क में आते गये। इन दोनों महामानवों में गुरु शिष्य का सा सम्पर्क स्थापित हो गया। अरविंद अपने सभी साधियों से अधिक विश्वास जतीन पर करते थे। अपनी आशा आकांक्षओं को पूरी करने की सामर्थ्य उन्हें इन्हीं में दीख पड़ी थी। उद्योगीति के आकाश पर जब अरविंद का सितारा सूर्य की भाँति चमकने लगा तो उन्होंने अपनी बाढ़ गतिविधियों को समेटकर तपस्वियों द्वारा जन्मानस के मालोइन की राह ली। जिस समय उन्होंने पाण्डिचेरी जाने का निर्णय लिया तो उनके साथी बड़े धुब्ध और निराश हुए। वे अनुभव करने लगे कि "हम अब नेतृत्व बिहीन हो गये हैं।" किसके मार्गदर्शन में अब काम करने यह समस्या उन्हें कबोटने लगी।

अपनी व्यथा और समस्या को सभी साधियों ने अरविंद के सामने रखा तो समाधान मिला— मैं जा रहा हूँ परन्तु इसके कारण तुम लोगों को चिन्तित नहीं होना चाहिए और न ही निराश। क्योंकि अब तुम्हें एक भोग्य, साहसी, वीर और देशभक्त नेता का अनुशासन मिलेगा और वह नेता है ज्योतिन्द्र नाथ मुखर्जी। जतीन को ही तुम अपना नेता मानो।"

अरविंद के निर्णय से उनके व्यक्तित्व को पूजने वाले जतीन का भी व्यक्ति होने स्वाभाविक था। उन्होंने भी अपने नेता के साथ जाने की इच्छा व्यक्त की तो प्रेरणा मिली— हर मोर्चे पर जूझने के लिए सभी साधियों को अलग-अलग उत्तरदायित्व सौंपना और निभाना आवश्यक है। महाभारत के अर्जुन की तरह स्वातंत्र्य समर में अनीति के विरुद्ध नीति और अन्याय के खिलाफ न्याय की सड़ाई पर मोर्चा लेना ही जतीन की निर्धारित साधना है। जतीन

के अन्तःकरण ने प्रतिपादन को स्वीकार किया और क्रान्तिकारियों का नेतृत्व संभाला।

योगी अरविंद उन्हें बाद में भी कर्मयोगी कहकर प्रोत्साहित करते रहे। स्वयं जतीन भी अपने को कर्मयोग की भट्टी में तपाकर इस योग्य बन गये थे कि वे अपने साथियों के विश्वासपात्र और बड़े भारी सम्झे जाते रहे। उनके एक अतरंग सहयोगी ने अपने दादा का रेखाचित्र बनाते हुए लिखा है। इसमें उन्हें बस 'दादा' कहते थे। वे अपने जमाने के सबसे अद्वितीय व्यक्ति थे।

योगीराज अरविंद के अज्ञातवास में जाते ही विदेशी शासकों की बहुपन्थ भरी बंग-भंग योजना सामने आयी। इस दुरधिसन्धि को बिफल बनाने के लिए जनता ने सम्मिलित प्रतिरोध करने की छान्नी। क्रान्तिकारियों ने इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाने का निश्चय किया। उस समय जनता में विदेशी शासकों के प्रति विद्रोह का भाव अपने चरम-बिन्दु पर था। देश भर में आंदोलन चलता। ज्यों-ज्यों आंदोलन जोर पकड़ता गया सरकार का दमन चक्र भी क्रूर और दानवी होता गया।

जन भावनाओं का दमन वह भी आतंक के कल पर कोई भी सरकार सफल नहीं रही है। इतिहास इस बात का साक्षी है। मन की पारस्विक इच्छिका विद्रोह की आग को कुछ क्षणों के लिये भले ही कम कर दे, परन्तु वह अन्दर ही अन्दर तो सुलगती रहती है और जब विस्फोट होता है तो बड़ी से बड़ी संहारक शक्तियाँ और साम्राज्य ध्वस्त हो जाते हैं।

शाताब्दियों से भारतीय समाज पर किये जाने वाले अत्याचारों की भी प्रतिक्रिया अन्दर ही अन्दर सुलगती रही और बंग-भंग योजना का प्रतिरोध करते समय फूट पड़ी। उस समय देश का बच्चा-बच्चा आततायी के सामने झुल कर मुकाबला करने के लिए आ खड़ा हुआ। निःसंदेह उनके प्रेरणा-स्रोत वही क्रान्तिकारी रहे थे जो सुक-सुप कर अपनी देशमाता की बेड़ियाँ काट फेंकने के प्रयास कर रहे थे। जतीन और उनके साथियों ने इस इबा में अपनी गतिविधियाँ और भी तेज कीं। सरकार भी उन लोगों के पीछे हाथ धोकर पड़ गयी।

सरकारी जासूसों ने भानिकतता में अरविन्द का बम कारखाना पकड़ लिया और उन पर मुकदमा चलाया। उनके कई साथी पकड़े गये, जतीन भी गिरफ्तार हुए और उन्हें जेल में ठूस दिया गया।

पन्द्रह महीनों तक उन्हें जेल में तरह-तरह की यंत्रणायें दीं। परन्तु जतीन ने स्वाभिमान के साथ अपना सिर ऊँचा रखा और इन यंत्रणों की पीड़ा में कभी मुँह से ठफ तक नहीं किया और न ही क्रान्तिकारियों के गुप्त संगठन के लिए जुबान खोली। यंत्रणायें देने वाले अधिकारी परेशान हो गये और उन्होंने दूसरी कुक्ति से काम

लिया, मुकदमे में सरकारी गवाह बनाने, खूब सारा इनाम देने, अच्छी नौकरी दिलवाने और सरकार से मैदल प्रदान करने का प्रलोभन दिया परन्तु जतीन के लिए तो जैसे वे सब कुछ बेकार था।

एक प्रेम-योगी भक्त जिस प्रकार अपने आराध्य इष्टदेव के लिए किसी भी सिद्धि प्रलोभन को ठुकरा देता है, जतीन भी अपने इष्टदेव के लिए प्रलोभनों को ठुकारते हुए ठुकारते चले गये। अविचल और चुप रहकर किसी भी प्रकार का बखान वा स्वीकारोक्ति न देने के कारण पुलिस उनके खिलाफ कोई भी अभियोग सिद्ध नहीं कर पायी। इसलिये न्यायाधीश ने उन्हें २१ फरवरी, १९११ को रिहा कर दिया।

अब जतीन ने भूमिगत रहकर अपनी गतिविधियाँ चलाना आरम्भ किया। उन्होंने एक व्यापारिक फर्म खोल ली और पुलिस की निगरानी में दुनियादार बन गये। उन अधिकारियों को जो उनके कारण बड़े चिंतित रहते थे वोड़ी राहत मिली। परन्तु जतीन तो इस सबकी आड़ में उग्र विचारों वाले लोगों से संपर्क साध रहे थे।

भूमिगत रहकर ही उन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम की दो सूत्री योजना बनाई। जिसके पहले सूत्र में भारतीय जनता को मातृभूमि के प्रति उत्कट प्रेम करने और विदेशी शासन का जूझ उठार फेंकने के लिए प्रेरित करने की व्यापक योजना थी। दूसरे सूत्र में उन विदेशी-इंग्लैण्ड विरोधी-भारतीय क्रान्तिकारियों से सहानुभूति रखने वाले राष्ट्रों से सहायता प्राप्त करने की योजना थी। इन दोनों कार्यक्रमों पर उन्होंने तत्काल अमल किया और सन् १९०६ में ही विदेश में बसे भारतीय लोगों तथा वहाँ की सरकारों से संपर्क साधना आरम्भ किया।

जतीन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि खूब सोच विचार करने के बाद बनाई गई योजना को वे तुरन्त क्रियान्वित कर डालते थे। इस विशेषता ने उन्हें बड़ी-बड़ी सफलताओं का उपहार दिया। कई प्रतिभाशीली और समर्थ लोग भी योजनाएँ बनाकर ठण्डे पड़ जाते हैं, शायद वे नहीं जानते कि इस प्रकार वे अपनी क्रिया शक्ति और उत्साह को शिथिल बनावे दे रहे हैं।

जतीन ने क्रान्तिकारियों के प्रतिनिधियों को जर्मनी, रूस, अमेरिका और कई यूरोपीय देशों में भेजा। वे स्वयं भी कई अधिकारियों से मिले। इस सम्पर्क अभियान में उन्होंने काफी शस्त्र सहायता प्राप्त की और आर्थिक सहयोग भी मिला।

इस सहायता और स्वयं बनाये शस्त्रास्त्रों द्वारा जतीन और उनके साथियों ने युवकों को जो देशभक्तिपूर्ण भावनाओं से धरे हुए थे- प्रशिक्षित करना आरम्भ कर दिया और साथ ही शस्त्रास्त्र क्रान्ति का विगुल भी बजाया। इस क्रान्ति को सफल बनाने के लिए विदेशों में कई संगठन बनाये गये थे जो गुप्त रूप से धन, सूचनाएँ और शस्त्रास्त्र-कलकत्ता में इसी उद्देश्य से खोली गयी

‘हेरी एण्ड कम्पनी’ नामक आत्यात-निर्बात कम्पनी के माध्यम से यहाँ भेजते रहते थे ।

२१ फरवरी, १९१५ को विद्रोह की पहली मुहिम चलायी गयी । रासबिहारी बोस ने फोर्ट विलियम के सैनिकों को अपनी ओर पिला लिया । देशभर के क्रान्तिकारियों को इसकी सूचना दे दी गयी । किन्तु बोस के ही एक साथी ने धोखा दिया और सारी योजना विफल हुई । पुलिस ने वड्डयन्त्रकारियों को गिरफ्तार कर लिया बोस तो भाग निकले परन्तु जतीन के ही एक अनन्य सहयोगी एम. एन. राय पकड़ लिये गये । जतीन किसी भी प्रकार अपने इस बायें हाथ को गैयाना नहीं चाहते थे । इसलिए उन्होंने बड़े साहस से काम लिया और अपने साथी को छुड़वा लिया । उस समय पुलिस बड़ी सरगमों से उनकी तलाश कर रही थी । एम. एन. राय को छुड़वा लेने में जतीन का ही हाथ था यह जानकर पता चला कि वे कलकत्ता में ही हैं । उस समय वे इस मुस्तीदो और सतर्कता के साथ अपने काम में लगे हुये थे कि किसी को भी अब तक उनके बारे में ऐसी संका नहीं हुई ।

पुलिस छोजने को कष्टम उठाये इसके पूर्व ही वे कलकत्ता की सीमा से बाहर निकल गये । उस समय कुछ विदेशी जहाजों द्वारा गोला-बारूद भी आने वाला था इसके लिए भी उनका पहुँचना जरूरी था । इस जहाज से माल उतारने के लिए वे उड़ीसा पहुँचे और बालासोर में ठहरे जो काष्ठीपाड़ा के निकट है । कलकत्ता पुलिस को इसका सुराग मिला गया कि जतीन अपने साथियों सहित उड़ीसा पहुँच गये हैं और बड़ पुलिस सँपती-सँपती काष्ठीपाड़ा पहुँच गयी ।

जिस समय पुलिस उनके निवास स्थान पर पहुँची वे वहाँ नहीं थे तो सभी सिपाही चारों ओर दौड़ने लगे और गाँवों में भी यह खबर फैला दी कि कुछ भयंकर डाकू निकल भागे हैं । ८ सितम्बर, १९१५ को आखिर पुलिस से मुठभेड़ हो ही गयी और वे शहीद हो गये । यद्यपि उनके साथियों ने उन्हें बचकर भाग निकलने के लिए कहा परन्तु जतीन ने कहा- “हम उस वीर परम्परा के अनुयायी हैं जिसके अनुसार सब लोगों को खतरे में छोड़कर स्वयं भाग निकलना बोर पाप है ।”

निःसन्देह इस धामक-प्रचार के कारण जतीन को मार देने में ग्रामीण लोगों ने भी सहयोग दिया कि वे भयंकर डाकू हैं । बाद में जब उन लोगों को पता चला कि यह आदमी भुक्ति का मसीहा था तो उन्हें बड़ा पश्चाताप हुआ ।

ज्योतिन्द्र नाथ मुखर्जी को लोग जतीन के नाम से ही जानते हैं । वे एक ऐसे युग में, ऐसे सत्पुरुष के रूप में सामने आये जब देश को उनकी बहुत आवश्यकता थी । मातृभूमि को आराध्य मानकर, ईश्वर समझकर उसकी

पूजा करने वाले ज्योतिन्द्र सच्चे आस्तिक और ईश्वर भक्त के रूप सदैव याद किये जाते रहेंगे ।

शौर्य और पराक्रम के प्रतीक

बाघा जतीन्द्र

स्वाभिमानी जतीन्द्रनाथ मुखर्जी अच्छे डील डौल के स्वामी थे, इष्ट पुष्ट काम्य और शक्तिशाली भुजाओं के मालिक थे, साथ ही साथ उनमें साहस भी गबब का था । इसी कारण उनका नाम बाघा जतीन पड़ा था । बाघा नाम पड़ने की एक रोचक कहानी है । इन दिनों वे अपनी माँ के साथ मामा के गाँव में रहते थे । गनिहाल एक छोटा-सा गाँव था जिसके आस-पास घने वन भी थे । वन बनों में ज्वाघ, चीते और शेर आदि हिंस पशु खूब थे ।

वे किसी काम-काज और दायित्व से तो मुक्त ही थे । एक ही काम था पढ़ना-लिखना और मौज-मजे उड़ाना । अक्सर वे मनोरंजन के लिए जंगल में निकल जाया करते थे । एक बार उन्होंने चीते के बच्चे देखे और मन रीझ गया कि इन्हें पालना चाहिए । बस फिर क्या था, वे चीते के तीन बच्चे जंगल में से पकड़ लाये और घर आ गये । माँ ने देखा तो यतीन्द्र को एक डार्ट पिलाई और बड़ी मुश्किल से चीते के बच्चों को बापस जंगल में रखवाने के लिए राजी किया ।

एक और दूसरी बटना है । मामा के गाँव कोया के पास वाले वन में कोई बाघ नरभक्षी हो गया था । जिस हिंसक पशु की डाढ़ में मनुष्य का खून लग गया हो वह फिर दूसरे जानवरों को अपना आहार बनाना पसन्द नहीं करता । इसलिए वह नरभक्षी बाघ आये दिन गाँव में घुस कर लोगों के बच्चे उछा से जाता, इक्के-दुक्के कोई आदमी मित जाता तो उसे भी मार डालता । गाँव वाले बड़े डरते हो ठठे और यतीन्द्रनाथ से यह सब देखा नहीं गया । एक दिन वे बिना कोई डधियार लिए निकल पड़े- नरभक्षी बाघ का शिकार करने हेतु । कुछ दूर जाने पर ही बाघ दिखाई दिया । बाघ ने भी उन्हें देखा और झपट पड़ा । यतीन्द्र बाबू एक शक्तिशाली और बलवान काया के स्वामी तो थे ही । वे भी बाघ से जूझ पड़े और दोनों की खूब कुस्ती हुई । बाघ ने बड़ी कोशिश की कि यतीन्द्र को मार डाले और अपना आहार बना ले पर उसकी एक न चली और यतीन्द्र बाबू ने बड़े साहसपूर्वक बाघ का काम तमाम कर दिया । इस कुस्तम-पछाड़ में उन्हें बड़ी चोटें आयीं और महीनों तक उन्हें अस्पताल में रहना पड़ा पर इस फटना ने उन्हें पूरे क्षेत्र भर में विख्यात कर दिया । खाली हाथ नरभक्षी बाघ का शिकार करने के कारण उनका नाम बाघा जतीन्द्र पड़ गया ।

राजनैतिक और सामाजिक क्रान्ति के सूत्रसंचालक—

मास्टर अमीरचंद्र

जैसा कि उन दिनों की सामान्य परम्परा थी, उनका विवाह बचपन में ही छोटी आयु में हो गया था। उन्हें तब इतनी समझ ही नहीं थी कि वे विवाह जैसे महत्वपूर्ण संस्कार के दायित्वों और उपबोधित को समझ सकें या अपना मत प्रकट कर सकें। उनके लिए तो यह भी एक तमारा भर था। बैण्ड बाजे, भोज, बारात, मुहब्बती, बिनोली, सप्तपदी, सुन्दर-सुन्दर-सनीले-भड़कीले बख, भीड़-भाड़ और उत्सव उनके बाल बच को कौतूहल जाग्रत लेते थे और जैसा उनके माता-पिता कहते गये थे वे करते गये थे और इस प्रकार खाने-खेलने की आयु में ही वे परिवार वाले हो गये थे।

विधि का विधान कुछ ऐसा था कि युवावस्था में ही उनकी सहधर्मिणी विभंग हो गई तो लोगों ने उन्हें दूसरा तमारा करने के लिए प्रेरित किया किन्तु अब तो वे बच्चे नहीं थे। समझते थे सब कुछ, अतः वे बोले— "जब स्त्रियों का पुनर्विवाह नहीं होता तो मुझे क्या अधिकार कि मैं पुनर्विवाह कर लूँ। विधवाओं का विवाह उचित हो तो मेरा विवाह करना न्यायसंगत है।"

लोगों ने समझाया— "कैसी बातें करते हो। अभी तो तुम्हें लड़का बच्चा भी नहीं हुआ। पच्चीस वर्ष की उम्र ही क्या उम्र होती है। क्या जीवन भर अकेले ही रहोगे? औरतें तो औरतें हैं उन्हें मर्दों का बराबरी का हक कैसे मिल सकता है?"

"मैं दोनों को बराबर समझता हूँ। हमारे देश में भी पहले स्त्रियों को पुरुषों के समान ही माना जाता था। मैं तो समता के इस मानवीय अधिकार का इनग नहीं कर सकता। मेरी मृत्यु हो जाती तो मेरी पत्नी को जीवन भर अकेला ही रहना पड़ता— वैधव्य काटन पड़ता तो मैं कैसे पुनर्विवाह कर लूँ।"

समता के मानवीय अधिकार के वे फलफूल वे दिल्ली नगर निवासी मास्टर अमीरचन्द्र, जिन्हें भारतवर्ष के महान क्रान्तिकारियों में माना जाता है। २३ दिसम्बर, १९१२ के दिन लार्ड हार्डिंग पर बम फेंकने के षड्यंत्र के अपराध में उन्हें ८ मई, १९१५ को दिल्ली में भाई बालमुकुन्द और अवधबिहारी के साथ फाँसी की सजा दी गई। वे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के वे रत्न हैं जिनकी कांति आज भी धीम नहीं हुई है और न धुंधिल में होगी।

क्रान्ति को मास्टर साहब ने अपने धर्म के रूप में स्वीकारा था। वे राजनैतिक क्रान्तिकारी के रूप में तो

स्मरणीय हैं ही, उन्होंने सामाजिक क्रान्ति भी कम नहीं की। पिछड़ी अच्छे सम्पन्न व्यक्ति थे। भाई आदि कोई उत्तराधिकारी या नहीं उनकी सम्पदा का, पत्नी सुवावस्था में ही उन्हें पारिवारिक दायित्वों से मुक्त कर गई थी। अब उनके पास पूरा जीवन था और पिता की पर्याप्त सम्पत्ति भी थी। इनका सदुपयोग क्या हो? इस सम्बन्ध में विचारने पर उन्हें दो ही भाई नजर आये एक तो सामाजिक क्रान्ति और दूसरा राजनैतिक क्रान्ति, इन्हीं को उन्होंने पिता और पत्नी का श्राद्ध समझा।

उन्होंने विधवा सम्प्रदाय एक संस्था का गठन किया, जिसका उद्देश्य विधवाओं की आर्थिक स्थिति सुधारना, समाज में उन्हें सम्मानित स्थान दिलाना और विधवा-विवाह का प्रचलन करना था। उन्होंने कई अप्रदर्शकादी नवयुवकों और विधुरों को विधवा-विवाह करने के लिए तैयार किया और विधवा-विवाह सम्पन्न करवाये। उन्होंने इसी उद्देश्य से एक पत्रिका का प्रकाशन भी किया।

उस समय विवाह तथा भोज आदि के अवसरों पर जनसामान्य में बेश्याओं का नाच कराने का रिवाज प्रचलित था। इससे धन हानि और चरित्र हानि दोनों ही होती थी। मास्टर साहब ने इस अधिवेकपूर्ण प्रचलन को बन्द करने के लिए बहुत काम किया। सार्वजनिक क्षेत्र में उनके द्वारा किए गये वे शक्तिभर प्रयास अपनी कम अहमियत नहीं रखते उस समय के संदर्भ में।

मास्टर अमीरचंद्र का जन्म सन् १८६९ में हुआ था। आपके पिता हुकुमचन्द हैदराबाद दक्षिण रियासत की लेजिस्लेटिव असेम्बली के सेक्रेटरी थे। उनकी कानूनी जानकारी इतनी बड़ी-बड़ी थी कि कहते हैं उनकी लिखी हुई पुस्तकें बकीलों और बैरिस्टर्स के लिए पाठ्य-पुस्तक के रूप में प्रयुक्त होती थीं। वे कई बार राज्य की ओर से ब्रिटिश साम्राज्यी विक्टोरिया से मिलने भी गये थे।

ऐसे रियासती और ब्रिटिश साम्राज्यवादी रंग में रंगे हुए पिता के पुत्र का इस प्रकार क्रान्तिकारी हो जाना एक आश्चर्य की बात थी। उनका अपना राष्ट्रवादी और समाजवादी दृष्टिकोण ही था कि वे अपने पिता की तरह किसी स्टेट के दीवान या ब्रिटिश साम्राज्य के उच्च वरिष्ठ अधिकारी बनने की अपेक्षा क्रान्तिकारी और समाज सुधारक बने। उन्होंने अपने अकेले की प्रगति की ओर ध्यान देने की बजाय देश और समाज के सामान्य जन की प्रगति की ओर ध्यान केन्द्रित किया।

उन्होंने दिल्ली के मिशन स्कूल और मिशन कॉलेज में शिक्षा ग्रहण करने के बाद वहीं के एक स्कूल में अध्यापक बनना बसंद किया। उनके पिता ने उन्हें बहुत सम्झाया कि वे अध्यापकी का काम करने की बजाय किसी राजा या अंग्रेज सरकार की सेवा में रहकर उच्च पद

प्राप्त करें पर वे तो अपनी अध्यापकी में स्वार्थ और परमार्थ दोनों की साधना करना चाहते थे। अध्यापक के काम में उन्हें इतनी आय हो जाती थी कि उनका खर्च भी चल सके और कभी-कभार किसी बरूरतमन्द की सहायता भी कर सकें।

इन्हीं दिनों पता चला कि संस्कृत स्कूल नामक एक विद्यालय बन्द होने का रहा है तो उन्होंने मिशन स्कूल का अच्छा वेतन छोड़कर उसका प्रशासक प्रधानाध्यापक बनना स्वीकार कर लिया अल्प वेतन में। उनके पुण्य प्रयास से बन्द होता संस्कृत स्कूल पुनः चल निकला। जब दिल्ली में रामजस स्कूल खुला तो उसमें भी उन्होंने अध्यापक का काम किया। इसी कारण उनके नाम के साथ 'मास्टर' का सम्मानसूचक विशेषण जुड़ गया। शिक्षा प्रसार में ही वे सामाजिक और राजनीतिक जागरण के बीजांकुर देखते थे। अतः मास्टरी उनके लिये पैट पालने का साधन नहीं आत्मा की भूख मिटाने जैसा, ईश्वरोपासना जैसा सुकृत्य था। अध्यापक वर्ग के लिए उनका यह जीवन गौरव की वस्तु भी है और प्रेरणा का स्रोत भी।

अंग्रेज साम्राज्य के प्रतिनिधियों और पदाधिकारियों ने समझा था १८५७ की क्रांति का दमन हो जाने के कारण भारतीय जनता हार मान गई है। उसकी क्रांति की शक्ति समाप्त हो चुकी है किन्तु यह उनकी भूल थी। क्रांति कभी समाप्त नहीं हो सकती। रात्रि के बाद सूर्योदय सुनिश्चित है, इस तथ्य को जानने वाले क्रांतिधर्मी जाग्रत कियेक पुरुष सूर्योदय होने से पूर्व ही प्रभात फेरी करने लगते हैं। उनका 'ठठ जाग मुसाफिर भोर भई' का रस जाने कितनों को ही नव प्रभात के आगमन के साथ ही अपना जीवन क्रम चला देने के लिए जाग्रत कर देता है।

राज्य में दबी चिंगारी की तरह १९०५ में बंग-भंग आन्दोलन के रूप में यह फिर भड़की। उस आन्दोलन को दबाने के सरकारी प्रयासों के समानान्तर वहाँ क्रांतिकारियों की गुप्त गतिविधियाँ तेज होती गईं। १९१२ में वायसराय की भव्य शोभायात्रा पर फेंके गये बम और उनके भयंकर विस्फोट ने इस तथ्य को उजागर करके रख दिया कि अन्धकार में भी प्रकाश के सुकेला बीटे रहते हैं और उनकी विद्युत प्रभाई जब प्रकट होती है तो लोग चमत्कृत रह जाते हैं।

इतिहास दोहराता है अपने आपको। दिल्ली की पुरानी सेन्ट्रल जेल से थोड़ी ही दूर जिस स्थान पर कमान हडसन ने १८५७ में मुगल सहजादों मिर्जा मुगल, मिर्जा खिजर सुल्तान और मिर्जा अबूबकर को गोली का निशाना बनाया था, जिस स्थान पर शाही खानदान के इक्कीस व्यक्तियों को फाँसी दी थी, वही स्थान पर १९१५ में मास्टर

अमीरचन्द, आई बालमुकुन्द और अखण्ड बिहारी नामक भारत माँ के लाइलों ने हँसते हँसते फाँसी के फन्दों को चूमा। क्रांति का एक निखर हुआ रूप और सामने आया इस दिन।

मास्टर अमीरचन्द का यह बलिदान एक सामयिक जोश मात्र नहीं था। वे वर्षों से लोगों में स्वाधीनता की भावना का नवोन्मेष करने के लिए स्थापक, व्यवस्थित और योजनबद्ध तरीके से इस दिशा में काम करते आ रहे थे। १९०७ में जब दिल्ली में दाम चली तो उन्होंने अपने सहायियों सहित उसका विरोध किया, क्योंकि दाम चलाने वाली कम्पनी विदेशी थी, माव ही इससे ब्रिटिश शासन के पाँव मजबूत होते थे।

बंग-भंग के आन्दोलन के साथ ही स्वदेशी आन्दोलन चला खो दिल्ली नगर में उसका पृष्ठपोषण करने वाले मास्टर जी ही थे। उन्हीं के प्रयासों से किनारी बाजार में स्वदेशी स्टोर खुला और वे शिक्षा के क्षेत्र के साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र में भी उभर आये।

स्वदेशी स्टोर तो एक शुभारंभ था। लोगों में स्वदेशी प्रेम की भावनाएँ जगाने और विदेशी दासता का जुआ उखार फेंकने की उमंग, उत्साह और संकल्प जगाने के लिए उन्हें नेशनल बाचनालय खोलना पड़ा, जहाँ देश-भक्तिपूर्ण साहित्य रखा जाता था। यों ऐसी थोड़ी-सी पुस्तकें और राष्ट्रीय नेताओं के चित्र स्वदेशी स्टोर में भी रखे गये थे, पर वे पर्याप्त नहीं थे। इसीलिये इस नेशनल बाचनालय की स्थापना करनी पड़ी थी।

बाचनालय स्थापना के साथ ही उनके सामने दो समस्याएँ आईं। एक तो लोगों को बाचनालय में पढ़ने आने की रुचि व अभ्यास ही नहीं था और दूसरी बात यह थी कि हिन्दी-उर्दू में ऐसे साहित्य की भी बहुत कमी थी जो कि पाठकों के दिल में देश-भक्ति और क्रांति का जोश उत्पन्न कर सके। सरकार तो ऐसे कार्यों के विरुद्ध थी ही। घर-घर जाकर लोगों को पुस्तकें देने और लाने का काम और उन्हें उनके सहारे बाचनालय में आकर पढ़ने के लिए तैयार करने का काम भी मास्टर साहब और उनके सहायियों को करना पड़ा। धीरे-धीरे लोगों को बाचनालय में आकर विचारोत्तेजक और देश-भक्तिपूर्ण साहित्य पढ़ने की आदत पड़ने लगी।

अब तक हिन्दी-उर्दू में दो प्रकार का साहित्य ही मुख्य था। एक तो बाबाकू जो चटिया और कुरुचिपूर्ण था, दूसरा धर्म और भक्ति का जो क्रांतिकारी भावनाएँ जगाने के लिए उपयुक्त नहीं था। सो उन्हें अभीष्ट साहित्य प्रकाशन का काम भी स्वयं ही करना पड़ा। नेशनल बाचनालय की ओर से कुछ पुस्तकें छापी गईं। किन्तु यह क्रम भी आगे नहीं चल सका क्योंकि सरकार ऐसे

प्रकाशकों और मुद्रकों को परेशान करती थी जो देश-भक्तिपूर्ण साहित्य छापते थे। 'आफताब' पत्र और 'आफताब' प्रेस को सरकार द्वारा बन्द कर दिए जाने पर तो यह धक्का और भी गहरा हो गया और मुद्रकों ने नेशनल पाबनालय की पुस्तकें छापने से पूरी तरह इन्कार कर दिया।

अब क्या किया जाय ? प्रेस वाले पुस्तकें छापने को तैयार नहीं और इसका अर्थ था अपने काम को बन्द कर देना, जिसे वे किसी भी कीमत पर स्वीकार नहीं करना चाहते थे। अतः उन्होंने अपना प्रेस खोल लिया-नेशनल प्रेस। पर समस्याओं का जन्म यहाँ भी नहीं हुआ। सरकार की कोप दृष्टि के शिकार नेशनल प्रेस में हर कोई अपना छपाई का काम करवाने से इरता था और केवल नेशनल पाबनालय की पुस्तकों से प्रेस का पेट नहीं भरता था। इस कारण गणेशस्थान छापना के सम्पादकत्व में मास्टर जी ने 'आकाश' नाम का देशभक्तिपूर्ण पत्र निकाला।

नेशनल प्रेस में भी उन्होंने अपनी पैतृक पूँजी लगाई थी। पहले ही नेशनल पाबनालय में वे उसका बड़ा अंश लगा चुके थे। परकारिता और विशेषकर निष्पक्ष और सरकार विरोधी-स्वतंत्रता समर्थक पत्रों का प्रकाशन तो घाटे का सौदा था ही। आदर्शवादी मास्टर साहब पत्र में विज्ञापन छापने के भी विरुद्ध थे। स्वाभाविक ही था पत्र घाटे में चलता। वे इस घाटे का पेट भरने के लिए स्वयं नौकरी करते और अपनी निजी पूँजी से उसे पूरा करते और सम्पादन का श्रेय दूसरे सहयोगियों को देते।

चन्दा माँग कर घाटे को पूरा करना भी एक तरीका था पर वे जब तक अपने पास पैसा है तब तक दूसरे से न माँगने की नीति के समर्थक थे। पहले स्वयं को सुटाने के बाद ही कोई दूसरे से चन्दा माँगने का अधिकारी होता है- यह सोचकर वे घाटे को सहते रहे।

वे स्वामी रामतीर्थ के ओजस्वी भाषणों से बहुत प्रभावित थे। उन्हें उनके अध्यात्म में वे सब तत्व दिखाई पड़ते थे जो उस समय के समाज-शरीर के विकास के लिए आवश्यक थे। उनके भाषणों का एक संग्रह भी प्रकाशित किया, 'ईश्वर उपलब्धि आरण्यों में' के नाम से।

१९०९ में उन्होंने एक स्वदेशी प्रदर्शनी का आयोजन किया। जिसमें देश भर के व्यवसायिक, कला, कौशल और हस्तशिल्प की वस्तुओं की दुकानें लगाई गयीं थी। इसका उद्घाटन लाला लाजपत राय करने वाले थे। उनके इस आगमन से प्रदर्शनी की कार्यकारिणी समिति आर्थिक लाभ उठाना चाहती थी। उन्होंने उनके भाषण सुनने वालों के लिए प्रवेश शुल्क रखा। आदर्शवादी मास्टर जी को यह औचित्यपूर्ण नहीं लगा सो वे स्वयं भी उनके भाषण सुनने से वंचित रहे।

१९११ में अंग्रेजों ने अपनी राजधानी कलकत्ता से दिल्ली बदल दी। जनता पर रौब गालिब करने के लिए तत्कालीन कायसराय स्टार्ड हाईडिंग ने २३ दिसम्बर, १९१२ के दिन एक विशाल सोभावाज निकालने की योजना बनाई। यह सब बड़ी तैयारी और योजना के साथ हुआ, पर उनकी इस योजना के सम्भ्रान्तर मास्टर अमीरचन्द, राम बिहारी बोस, भाई मुकुन्दी लाल आदि भी अपनी योजना बना चुके थे इस रोग को समाप्त करने के लिए।

निश्चित दिन निश्चित समय पर ब्रिटिश सम्राट के प्रतिनिधि का जुलूस निकलना, अपनी शान के अनुरूप ही। अखिर वह भी किसका जुलूस-उस सम्राट के प्रतिनिधि का जिसके राज्य में सूर्यास्त कभी नहीं होता था। भारत के राजे, महाराजे तथा नवाब ही नहीं आस-पास के द्वीपों के प्रतिनिधि भी अपनी पूरी शान के साथ उपस्थित थे। जनता भी सम्मशकीन की तरह यह सब देख रही थी, किन्तु यह क्या। चँदनी चौक की ओर बढ़ते हुए जुलूस में एक धमंकर धमाके के साथ ही भगदड़ मच गई। सम्राट के प्रतिनिधि पर चमकेंका गया था। चंद क्रांतिकारियों द्वारा महामहिम सम्राट और उसके प्रतिनिधि के अन्वेष, अत्याचार पूर्ण शासन के विरोध में भारतीय जनता की तरफ से यह एक बड़ा जोरदार और प्रत्यक्ष प्रदर्शन था। पुलिस विभाग ने इस बदम्यन्द का पता लगाने और इसके मुखिया को पकड़ने के लिए जमीन-आसमान एक कर दिया, पर मास्टर अमीरचन्द और उनके संगी-साथी ऐसे गायब हुए कि यहीनों तक पुलिस को कुछ भी पता नहीं लगा, पर धीरे-धीरे कई शहरों में उन्होंने छोटे-मोटे कार्यकर्ताओं को पकड़ा और उनको धमकाकर तथा मन्त्रणा देकर कुछ धेड़ की बातें मालूम कीं। तब कहीं जाकर मास्टर अमीरचन्द और उनके मुख्य साथी पुलिस की गिरफ्त में आ सके। बच्चपि अदालत में फिर भी पुलिस मास्टर सख्त का दोष पूरी तरह सिद्ध नहीं कर सकी, पर मुकदमे के महत्व को देखते हुये और जनता की भावनाओं को दवाने के उद्देश्य से सभी अभियुक्तों को कठोर दण्ड दिया गया। मास्टर अमीरचन्द अपने दो देशभक्त मित्रों सहित फाँसी के तख्ते पर झूल गये पर उन्होंने अन्तिम क्षण में भी 'भारत माता की जय' का नारा लगाते हुए भी अपनी जीवन सीला समाप्त की।

मास्टर अमीरचन्द जैसे देशभक्त समाज-सेवियों और समाज सुधारकों की आज इस देश की बड़ी आवश्यकता है।

एक और भगतसिंह-

हेमूकलानी

पुराने सक्कर(सिन्ध) में एक विख्यात कलानी परिवार रहता था। गरीब किसान किन्तु देश-भक्त परिवार। इसी परिवार का एक बारह तेरह वर्ष का किशोर अपने एक

कमरे में स्टूल पर खड़ा था। ऊपर एक रस्सी का फन्दा झूल रहा था। किशोर ने फन्दा गले में पहन लिया। देखने से लगता था शायद वह आत्महत्या का प्रयास कर रहा है।

अचानक पिता ने कमरे में प्रवेश किया। देखा तो हक्का-बक्का रह गया। दौड़कर अपने बेटे को स्टूल से उतारा और गले से लगा लिया। गदगद कंठ से पूछा—
“क्या हुआ बेटा! यह क्या कर रहा था।”

“कुछ नहीं पिताजी”—किशोर ने सहज मुस्कान लुटाते हुए कहा।

“फिर यह सब क्या नाटक है?”—पिता ने उसी आश्चर्य से पूछा?

“फौसी लगने पर कैसा महसूस होता है, मैं यह देख रहा था।”

“फौसी! तुझे फौसी कौन लगायेगा ये बच्चे।”

“आखिर मुझे भी एक दिन फौसी पर चढ़ना होगा। अपने देश के लिए, आजादी के लिये, तर्हीदे आजम भगतसिंह की तरह”—गौरव के साथ सीना फुस्फुकर एक ही सौंस में किशोर ने यह कह दिया और पिता ने अपने लाइसे को छाती से भींच लिया।

इस किशोर का नाम था—हेमूकलानी। इस घटना के तीन-चार वर्ष बाद ही सचमुच वह फौसी के फन्दे पर झूल गया ब्रिटिश राज के सक्रिय विरोध के अपराध में।

अपने आदर्श तर्हीदे आजम का चेहरा उसकी आँखों के आगे रह-रहकर घूम जाता और मन में तरह-तरह के संकल्प-विकल्प उठते। मैं भी देश की स्वतंत्रता के लिये, जातीय गौरव के लिए हँसते-हँसते फौसी का फन्दा घूम लूँगा, मेरा बलिदान ही जीवन को सार्थक बनायेगा। पुण्य-भूमि भारत पर अंग्रेजी राज को अधिक नहीं चलने दिया जा सकता। सात वर्ष की आयु में हेमूकलानी को डी. ए. सी. स्कूल में भर्ती करा दिया गया। छठी कक्षा पासकर जब वह तिलक म्युनिसिपल हाईस्कूल में भर्ती हुआ तो पता चला कि अपने जन्म-सिद्ध अधिकार आजादी के लिए भगतसिंह फौसी पर चढ़ गए।

२३ मार्च, १९३९ को भगतसिंह और उसके साथियों को मृत्यु-दण्ड दिया गया। तब तक देश में पर्याप्त राष्ट्रीय चेतना आ चुकी थी। जनसाधारण में यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया था कि अंग्रेजी शासन अब किसी प्रकार का समझौता न करने पर आयात है तथा इधर शासक वर्ग में यह धारणा बल पकड़ती जा रही थी कि अब किसी भी प्रकार पचास दिन टिके रहना मुश्किल है। बच्चे बच्चे के मन में आततायी गरी सरकार को उखाड़ फेंकने की भावना जोर पकड़ने लगी थी।

किशोर हेमू भी इन सब घटनाओं से अप्रभावित कैसे रह सकता था? उस समय तक महात्मा गाँधी का सत्याग्रह आन्दोलन भी चलकर स्मगित हो चुका था। आन्दोलन

स्मगित होने की घोषणा सुनकर हेमू बड़ा क्षुब्ध हुआ। उसके बात मन में अंग्रेजों की शक्ति के बल पर, ईंट का जवाब पत्थर से देकर खदेड़ने की बात जम चुकी थी।

हेमू ने सोचा स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ आत्मा का निवास हो सकता है। इसके लिए शरीर को बलवान और पुष्ट बनाना बहुत जरूरी है। अतः अपने गाँव के कृष्ण मण्डस निमलाने में वह व्यायाम व उसकी प्रतियोगिताओं में भाग लेने लगा। इन सब बातों में उसका खूब मन लगा कोई भी ध्येय चुनकर उसके प्रति समर्पित हो जाने से साधन चुटाने और त्रय करने में न तो दकान आती है और न ही असफलता मिलती है। हेमू कलानी ने प्रतियोगिताओं में निरन्तर विजयश्री का वरण किया।

हेमू अपनी क्रान्तिकारी विचारधारा के कारण ‘स्वराज्य चण्डल’ नामक गुप्त संस्था के सम्पर्क में आया। इसके सुधारक थे डॉक्टर मंधाराम। संस्था का लक्ष्य था भारत में ब्रिटिश राज्य का अन्त। इसकी एक विद्यार्थी शाखा भी गठित की गई जिसका नेतृत्व भार हेमूकलानी को सौंपा गया। विद्यार्थियों और नवयुवकों ने अपने दल का नाम रखा ‘स्वराज्य सेना’। पुष्ट शरीर, बलिष्ठ भुजाएँ, ऊँची और मजबूत कद-काठी तथा आकर्षक चेहरे वाले हेमू में नेता के सभी गुण मौजूद थे। एकान्त के क्षणों में वह ‘भगतसिंह’ की भाष-धंगिमाओं का अभ्यास करता रहता।

८ अगस्त, १९४२ को बम्बई के कांग्रेस अधिवेशन में अंग्रेजों ने भारत छोड़ो, प्रस्ताव पारित हुआ। दूसरे दिन थोर में ही मइरप्पा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, मौलाना आवाद जैसे चोटी के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया फिर भी प्रस्ताव के अनुसार कार्यक्रम क्रियान्वित किया जाने लगा। कांग्रेस के आन्दोलन की जगहोर डॉ. लोहिया, जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन और लीकरी अरुणा, आसफ अली जैसे युग नेताओं ने सम्हाली। गाँधी, नेहरू, मौलाना आजाद और सरदार पटेल की गिरफ्तारी से सारे देश में उत्तेजना की लहर दौड़ गई।

गाँव-गाँव सुलग उठा। जगह-जगह से ‘अंग्रेजो भारत छोड़ो’ की आवाज उठने लगी। सरकार ने बड़ी तेजी से दमन चक्र चलाया। निहत्थी और अहिंसक जनता पर गोली-साँठ की बौछार होने लगी। भारतीय देश-भक्तों ने सब कुछ सह्य। फिर भी आततायी सरकार के नारकीय अत्याचार उस आजाद को दबा नहीं पाये। उसी वर्ष के २३ अक्टूबर की रात है, भारत छोड़ो आन्दोलन अपने शिखर पर था। क्रान्तिकारियों के दमन के लिए अस्त्र-शस्त्रों से लैस एक सैनिक रेसलगाड़ी सफ़र आ रही थी। हेमू को इस बात की खबर लगी। उसने अपने दो साथियों को साथ लिया और नगर सीमा के बाहर जा पहुँचा—रेल की पटरियाँ उखाड़ने। उस समय पुलिस बड़ी सतर्क थी। तीनों साथी पटरियों की एकाध ही फिशप्लेट उखाड़ पाये थे कि हथौड़ी की आवाज गस्त देते हुए पुलिस के जवानों ने सुन ली।

आवाज सुनकर पुलिस दौड़ी आई। हेमू ने अपने साथियों को भाग जाने के लिये कहा। अरम्भ में तो उन्होंने साथ छोड़ने से इन्कार कर दिया पर हेमू ने जोर देकर कहा तो वे भाग गये। वह अकेला बचस्य गया।

गिरफ्तारी के बाद उसे कठोर सजावाई दी गई। पूछा गया उसके साथियों का नाम पता परन्तु हेमू उन सजाव्यों को चुपचाप सहता रहा और सारा अपराध अपने सर ले लिया। पुलिस को लगा कि वह किसी गुप्त क्रान्तिकारी संस्था की करामात हो सकती है परन्तु वह हेमू के होठों पर स्वराज्य सेना और स्वराज्य मण्डल का एक शब्द भी नहीं ला सकी।

अदालती कार्यवाही शुरू हुई। १८ वर्ष के इस तरुण किशोर पर सैनिक न्यायालय में मुकदमा चलाया गया। दण्ड का स्वांग भ्रूने के लिए हेमू को चकील की सुविधा लेने की छूट दी गई परन्तु उसने स्पष्ट इन्कार कर दिया। अदालत ने पूछा- 'तुमने किसलिए यह अपराध किया?'

"अपने जन्म सिद्ध अधिकार को प्राप्त करने के लिए।"

"क्या तुम अपनी गलती के लिए पछता रहे हो?" न्यायाधीश ने पूछा।

"नहीं, मुझे गर्व है। अफसोस भी है कि मैं असफल हो गया।"

न्यायाधीश ने कहा- "तुम्हें यह कार्य करने के लिए किसने कहा?"

"मेरी आत्मा ने।"

"क्यों?"

"अंग्रेज सेना अन्न-शस्त्र की मदद से स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानियों को कुचल सकती है तो उन शक्तों को नष्ट करना अनुचित नहीं है।"- हेमू ने दृढ़ता के साथ कहा।

जिसकी गस-नस में माटी का गौरव समा गया हो उसे बदला नहीं आ सकता। इसीलिए सैनिक अदालत ने उसे आजीवन कारावास का दण्ड भुना दिया। परन्तु हैदराबाद स्थित सैनिक मुख्यालय के कमाण्डर लार्ड रिचर्डसन ने इस दण्ड को मृत्यु-दण्ड में बदल दिया।

मृत्यु की वह मुदित मन से प्रतीक्षा करने लगा। फैसला सुनाने से दण्ड मिलने तक उसका वजन लगभग ८ पौण्ड बढ़ गया। २१ जनवरी, १९४३ को उसे कौसी घर की ओर ले जाया गया। "भारत माता की जय-इन्कलाब जिन्दाबाद" के नारे लगातार हुआ हेमू कौसी घर की ओर चल पड़ा। जब उससे अंतिम इच्छा पूछी गई और पूरी की जाने का आश्वासन मिला तो बचनबद्ध जिला मजिस्ट्रेट को भी 'भारत माता की जय' जब बोलनी पड़ी थी।

विप्लवी वीर-

भाई बालमुकुन्द

अधुनों की छाया बड़ जाने पर भी जिन दिनों घर में चुल्हे-चौके तक पहुँचने के लिए दसियों प्रायश्चित्त-अनुष्ठान करने पड़ते हों, उन दिनों किसी उच्च कुल के व्यक्ति का अशुभ बस्तियों में रहना, अधुनों के पास बैठना और उनके गोपार पड़ने पर इनकी सेवा-सुश्रूषा करना लोक-निन्दा का कारण ही बन सकता था और इसी कारण पंजाब के बेटे बालमुकुन्द को भी जाति निष्कासन जैसे दण्ड देने पर लोग विचार कर रहे हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

विचार करना इसलिए आवश्यक था कि भाई बाल-मुकुन्द जी किस परिवार और किस वर्ग से सम्बन्ध रखते थे परम्परागत रूप से वह लोक श्रद्धा का भाजन और जन अदर का पात्र था। वह भी इसलिए कि उनके पूर्वजों ने समाज और जाति के लिए एक से एक बड़-बड़कर बलिदान प्रस्तुत किए थे। सिक्ख गुरु तेगबहादुर ने जब देश की आन-बाद की रक्षा के लिए बलिदान और उत्सर्ग की भावना रखने वाले धर्मवीरों से शीशदान का आह्वान किया, उस समय अपना सिर भी देने के लिये आगे आने वालों में एक थे-मतिराम जी।

मतिराम जी तथा उनकी सन्तानों को सभी से भाई का सम्बोधन मिला था। इसे कहना चाहिए समाज की ओर से मिलने वाली उपाधि। उन्हीं सन्तानों की परम्परा में एक थे बालमुकुन्द जी। इसलिए जब तक बात नहाने-धोने से ही पूरी हो जाती हो तब तक यह अपराध कार्य क्षम्य भी था परन्तु जब साथ-साथ ठठने-बैठने और साथ-साथ खाने-पीने भी लगे तो धर्म और संस्कृति के ठेकेदारों के लिए बहुत अवश्य विचारणीय हो गई।

यद्यपि सिक्ख समुदाय में ऊँच-नीच और जातिवाद मूलक भेदभाव इतना चिन्तनीय नहीं था फिर भी जिस क्षेत्र में रहते थे वहाँ के हिन्दू ब्राह्मण और उच्च जाति के लोग जो भाईजी को भी उच्च वर्ण का मानते थे, वह कैसे सहन कर सकते थे। उस समय भाईजी लाला लाजपत राय के निर्दिष्ट मार्गदर्शन में अछूतोद्धार के लिये काम कर रहे थे।

लेकिन कुछ ही दिनों में उन्होंने अपनी जीवन दिशा बदल दी और पूर्णतया भारत माता की उस पुकार को सुनने और पूरा करने के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया जो देश के कोने-कोने से आ रही थी। स्वतंत्रता के जन्मसिद्ध अधिकार को उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया और उस अधिकार पर अपने खूनी पंजे जमाये बैठी अंग्रेजी सरकार से संघर्ष के मार्ग पर चल पड़े। अन्त तक वे इसी मार्ग से इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ते रहे और

लड़ते-लड़ते शहीद हो गये। जिस समय उन्हें फाँसी की सजा दी गई उस समय उन्होंने बड़े अन्तमसंतोष और आत्मगौरव के साथ कहा था—“इसी दिवस में एक दिन मेरे पूर्व पुरुष भाई मतिरामजी ने मुगलों से लोहा लेने के लिए अपने शरीर को आरे से चिरवाया था। इसी पवित्र भूमि पर आज मैं भारत माता के पाँवों में पड़ी अंग्रेजों की गुलामी की जंजीरों को तोड़ने के लिए अपने प्राणों की आहुति दे रहा हूँ।”

भारत माँ की दासता की जंजीरों को काटने के लिये शहीद हुए इस अमर सेनानी का जन्म १८५५ ई. में झेलम के तट पर अवस्थित ग्राम चकवाल में हुआ था। इनका परिवार आर्थिक दृष्टि से खासतः सम्पन्न भी नहीं था तो दीन दरिद्र भी नहीं। परिवार का निर्वाह आसानी से और साधारण ढंग से सरलतापूर्वक चलता रहता। घर में दो भाई थे, एक विधवा बहिन थी जो अपने पति का देहान्त हो जाने के बाद पिता के घर ही आकर रहने लगी थी। इस छोटे से सीमित परिवार में भाई जी का लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार के साथ चलता रहा।

उनकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा चकवाल में ही सम्पन्न हुई। माध्यमिक कक्षाओं के बाद लाहौर के डी. ए. बी. कॉलेज से हाईस्कूल और बी. ए. की परीक्षाएँ पास कीं। अध्ययनशील और परिश्रमी स्वभाव के होने के कारण वे अपनी कक्षाओं में सर्वत्र ही अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होते रहे। सन् १९१० में लाहौर के गवर्नमेंट कॉलेज से उन्होंने बी. टी. की परीक्षा में भी पूरे प्रान्त पर में द्वितीय स्थान प्राप्त किया। बी. टी. की परीक्षा पास करने के बाद वे ऐबटाबाद के एल्बर्ट विक्टर एंग्लो संस्कृत हाईस्कूल में अध्यापक हो गये।

अध्यापन काल में ही उन्होंने समाज सेवा का उपरोक्त कार्य आरम्भ किया, परन्तु जब वे बनवाहा के करसती वाले की गुफाओं में रहने वाले एक साधु तपसीराम जी के संपर्क में आये तो देश भक्ति का ठका हुआ बाँध जैसे फूट कर बह निकला। साधु तपसीराम एक अच्छे खाते-पीते जमींदार परिवार के व्यक्ति थे। भगवत का दिव्य सब कुछ था उनके पास, परन्तु देश-सेवा की उमंग ने उन्हें सब कुछ छोड़ छोड़ाकर संन्यासी बना दिया और जो भभूत रमाकर अपने हृदय की चिंगारी और दूसरे हृदयों तक पहुँचाने में लग गये।

उनके निकट संपर्क से वह चिंगारी भाई जी के हृदय में भी प्रवेश कर गई और भाईजी नौकरी छोड़कर आ कूदे विप्लवी आन्दोलन में। अब तक तो उनका कार्यक्षेत्र मात्र पंजाब प्रान्त ही था परन्तु अब सारा देश और एक अर्ध में सारा विश्व बन गया। क्योंकि समूची मानवता की पुकार थी यह—“विश्व का आध्यात्मिक नेतृत्व करने में समर्थ भारतवर्ष आजाद हो।” मास्टर अमीरचन्द ने लाला

हनुमन्त सहाय तथा महात्मा इंदिराज के सुपुत्र श्री बलराज जैसे नेताओं के नेतृत्व में रहकर अपने विप्लवी हृदय की आग को क्रान्ति की दिशा दी।

भाईजी को नौकरी छोड़कर विप्लवी आन्दोलन में भाग लेना देखकर परिवार के सदस्यों को चिन्ता हुई और उन्होंने अपने इस प्रिय आत्मीय को घर परिवार से ही बाँधे रखने के लिए जाना माना पैतरा अपनाया। उनके भाई जयरामदास जी ने मणिगाँव की एक सुन्दर कन्या रामकली से भाईजी का विवाह कर दिया। परन्तु यह दौंव सफल न रहा। देश सेवा के लिए कृत संकल्प आजादी के दीवाने भाईजी को सुन्दर पत्नी का मोह न बाँध सका। पंजाब से निकल कर वे सीधे दिल्ली आये, यहाँ उन्होंने प्रसिद्ध क्रान्तिकारी अवध बिहारी के साथ क्रान्तिकारी पत्रों और पुस्तिकाओं के प्रकाशन तथा वितरण का काम सम्हाला। ऐसे पत्रों रोज हजारों की संख्या में निकलते। वितरण व्यवस्था ऐसी चाक-चौबन्द रखी गई थी कि वे पत्रें देहरादून, कसौली, अम्बाला, फिरोजपुर, लाहौर जैसे बड़े-बड़े और दूर-दूर के नगरों तक पहुँच जाते लेकिन कानों-कान किसी को खबर तक नहीं होती यद्यपि अंग्रेजी सरकार इन पत्रों से परेशान अवस्थ थी।

इन्हीं दिनों भाईजी ने रासबिहारी बोस के साथ बम बनाने का अभ्यास किया। दिसम्बर, १९१२ में वायसराय की दिल्ली में सवारी निकलनी थी। तब भारत की राजधानी भी कलकत्ता से बदलकर दिल्ली आ रही थी। उस समय क्रान्तिकारियों की ओर से निश्चित यह किया गया कि इस अवसर पर वायसराय को बम से ठँका दिया जाय। इस निश्चय को कार्यरूप में परिणित करने की तैयारियाँ हुई और तब ऐसे किसी भी खतरे से वायसराय की सुरक्षा को भी व्यवस्था की गई।

दोनों ही पक्ष अपनी तैयारियाँ पूरी कर चुके थे। २३ दिसम्बर को जैसे ही वायसराय की सवारी निकली, सारा काम योजनाबद्ध ढंग से चलता रहा। सवारी का जुलूस भीतों लम्बा था। जैसे ही वह आदमी घोंक के फन्वारे के निकट पहुँचा स्टाई हार्डिंग के हाथी पर एक बम आकर गिरा। संयोगवश स्टाई हार्डिंग तो बच गये परन्तु अंग्रेज सरकार आतंकित हो गई। इतनी सुदृढ़ और किलेबन्दी जैसी व्यवस्था को भेधकर भी यह कृत्य आतंककारी ही था। बम फेंकने वाले दो युवा क्रान्तिकारियों में से एक स्वयं भाईजी भी थे। यद्यपि इस घटना के बाद भाईजी गुप्त रूप से काम करने लगे थे परन्तु खुफिया पुलिस सूँघते-सूँघते उन तक आखिर पहुँच ही गई और १६ फरवरी, १९१४ को उन्हें वर्षभर से भी अधिक समय के बाद गिरफ्तार कर लिया गया।

उस समय वे जोधपुर में थे। दिल्ली का चूका वार जोधपुर में और भी मुस्लिमी से दोहराया जाने वाला था। ११ दिनों चायसराय का वहाँ आगमन होने वाला था, परन्तु इसके पूर्व ही वे गिरफ्तार कर लिए गये। परिणाम जो होना था वही हुआ। बिना सफाई का मौका दिये उन्हें ८ मई, १९१५ को फाँसी दे दी गई और यह अजेय विप्लवी वीर हँसते-हँसते अपनी वीरोचित मर्यादा के अनुसार फाँसी का फन्दा धूम गया और दिखा गया एक ऐसी अनन्त राह जिस पर कितने ही चलकर अमर हो गए और कितनों को अभी चलना शेष है।

जो राष्ट्रहित में बलिदान हो गये—

सूफी अम्बा प्रसाद

“सूफी साहब चलिए अपना समय हो गया।” जेलर ने मृत्यु दण्ड देने के लिए बन्दी को पुकारा। कोठरी खोली। बन्दी पणसन लगाये बैठा था नीरव, निष्पन्द, निष्क्रान्त। शरीर को चत्तों की तरह त्याग देने वाले वे जीवन्त आत्मा थे— देशभक्त सूफी अम्बाप्रसाद। भारत में इनका रहना कठिन हो गया था। इनके वहाँ रहने से उन्हें प्राण-दण्ड से कम सजा अंग्रेज देने वाले नहीं थे। अतः इनके मित्रों ने इनसे विदेश जाने का आग्रह किया तो वे ईरान चल गये। प्रथम विश्व युद्ध में वे ईरान की तरफ से लड़े। अंग्रेजों ने उन्हें पकड़ लिया। सैनिक न्यायालय ने उन्हें गोली मारने की सजा सुनाई। सूफी साहब उनके गोली मारने से पहले ही अपना परवर शरीर छोड़ गये।

पानी की धारा के साथ तो जड़ छिनका भी बह लेता है किन्तु प्रवाह के विपरीत तैरने का साहस मछली ही कर सकती है। समय के साथ चलने वाले तो बहुत होते हैं पर समय को बदलने का प्रयास जीवित-जाग्रत आत्माएँ ही कर पाती हैं। जिनकी आत्मा सोई हुई है— उस पर अज्ञान का आवरण पड़ा हुआ, वे विवेकहीन भ्रम्य पशु तुल्य जीवन ही जीते रहते हैं। सूफी अम्बाप्रसाद समय की धारा को पलटने वाले जीवित जाग्रत आत्माओं की कोटि में गिने जाते हैं।

भारतवर्ष अंग्रेजी दासता की चक्की में फिसल जा रहा था साधारण जनता को जमींदार लूटते थे और अंग्रेज भी लूटते थे। इस दुहरी मार से भारतवासी बुरी तरह तड़प रहे थे। सामान्य जन जीवन नरकीय हो चला था। सूफी अम्बाप्रसाद को यह स्थिति सदा नहीं हो सकी। इस अत्याय से देशवासियों को छुड़ाने के लिए उनकी आत्मा तड़फ उठी। ऐसी ही अनेकों जीवित-जाग्रत आत्माओं का पुण्य प्रताप है भारतवर्ष की जनता आजादी की खाँस ले सकी है।

इनका जन्म मुरादाबाद में १८६२ में हुआ। ये पैदा हुए तब भी इनके एक ही हाथ था। इस एक बायें हाथ से ही उन्होंने आगे चलकर ऐसे जौहर दिखाए जिन्हें देखकर दो हाथ वाले भी दाँतों तले अँगुली दबाते थे। ‘जैम उल इदुम’ उर्दू पत्र के सम्पादक के रूप में वे एक नक्षत्र की तरह भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के आकाश में उदित हुए। वे अच्छे लेखक थे। उनको लेखनी तलवार की मार करती थी।

उन्होंने देखा कि मेरे देशवासी किस प्रकार अत्याचारों से पीड़ित हैं। अंग्रेज हम पर शासन ही नहीं करते हमें नीचा समझते हैं। विद्वत्, प्रतिभा तथा योग्यता सम्पन्न भारतीय को भी अंग्रेजी की तुलना में कोई कद नहीं होती। सड़क पर चलने, रेल में बैठने जैसे सामान्य नागरिक अधिकार तक में असमानता बरती जाती है। भारतवासी इतना सहते हुये भी चुप हैं, जागते नहीं, प्रतिकार के लिए उठ खड़े नहीं होते। उन्हें जगाने का माध्यम उन्होंने पत्रकारिता चुना।

पत्रकारिता का क्षेत्र उन दिनों आज की तरह पैसा कमाने का साधन नहीं था। न तो विज्ञापन की मोटी-मोटी रकमें उन दिनों प्राप्त होती थीं, न सरकार से संरक्षण ही मिलता था। सरकार तो ऐसे पत्रों की जानी दुश्मन थी जो भारतवासियों में देश-प्रेम जगाते थे। इस प्रकार के पत्र-पत्रिकाओं का अभाव ही था। इस प्रकार के गिने-चुने पत्रकार थे जिनकी आर्थिक स्थिति बड़ी कमजोर होती थी। वस्तुतः वह एक परमार्थपरक कार्य था जिसमें हानि उठाने की ही सम्भावना थी, लाभ का तो सवाल ही नहीं उठता था। अम्बाप्रसाद जी ने इसी काम को अपनाया।

इनकी लेखनी क्या चलती थी तलवार चलती थी। विदेशी शासन तथा जमींदारों पर इसकी मार बहुत भयानक होती थी। इस प्रकार के खतरनाक पत्रकार को सरकार कैसे खुला छोड़ सकती थी। ‘जैम उल इदुम’ में प्रकाशित एक लेख के आधार पर इन पर सरकार ने धनदोह का अभियोग लगाया। न्यायालय ने उन्हें छेड़ वर्ष के कठोर कारावास की सजा दी।

सजा की अवधि समाप्त हुई तो राजवाड़ों ने इनके ऊपर अनुचित हस्तक्षेप करने का मुकदमा दायर किया। विदेशी सरकार तो वही चाहती थी कि सूफी जेल में ही सड़ता रहे। इस अभियोग में उन्हें छः वर्ष का सश्रम कारावास दिया गया। सूफी तो यह सब सहने को तैयार होकर ही मैदान में कूदे थे। वे जानते थे कि सत्य कहने वाले को वातनाएँ तो मिलेंगी ही। वे सोचते “ईसा को भी ऐसी ही सच्ची बात कहने के कारण सूली पर चढ़ना पड़ा था, पर उनकी वह बलिदान निरर्थक नहीं गया। मेरी यातनाएँ भी निरर्थक नहीं जायेंगी। इनका परिणाम शुभ होगा। भारतवर्ष को स्वाधीनता दिलाने में ऐसे कितने ही बलिदान देने पड़ेंगे। जेल तो साधारण बात है।

हैदराबाद का निजाम इनकी विद्वत्ता का कबल था । जब इनकी सजा पूरी हो गई तो इनसे अपने वहाँ रह जाने का आग्रह किया । निजाम ने उन्हें दो सौ रुपये प्रतिमाह देने का प्रस्ताव किया । उसने तो इनके रहने के लिये यकान तक बनवा दिया था । सूफी इस प्रकार जीवन जीना नहीं चाहते थे । आत्म का हनन करके शारीरिक सुख सुविधा के लिए अपने आपको पतित कर लेना उन्हें स्वीकार नहीं था । उन्होंने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया । अंग्रेज सरकार उन्हें एक हजार रुपये मासिक वेतन पर अपने जासूसी विभाग में रखना चाहती थी । सरकार के वेतनभोगी होने का अर्थ था राष्ट्र के प्रति उत्सर्ग के जीवन का अन्त । उन दिनों एक हजार रुपये बहुत बड़ी रकम थी । इतनी बड़ी रकम तुकरा देना उस आदर्शवादी के लिए साधारण बात थी । वे कहा करते थे “अपने ही स्वार्थों के लिए तो पशु भी जी लेता है । मनुष्य होकर जो दूसरों के दुःख-दर्द का ध्यान न रखे तो वह बिना सींग-पूंछ का जानवर ही तो है ।”

इन सब प्रलोभनों से कभी उनका चित्त डोलाडोल नहीं हुआ । उन्होंने जेल से छूटते ही इतिहास प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार अजीतसिंह के साथ मिलकर पेशवा उर्दू पत्र निकाला । इस पत्र ने जन-जागरण की बहुत बड़ी कामी पूरी की

‘पेशवा’ के माध्यम से इन क्रान्तिकारियों की आत्मान जन-जन के अन्तर में सोई मर्दानगी, आदर्शवादिता तथा राष्ट्रप्रेम जगा रही थी । इन्हीं दिनों लाई कर्जन ने बंगाल को दो टुकड़ों में बाँट दिया । इस निर्णय के विरोध में देशव्यापी आन्दोलन हुआ । इस आन्दोलन को भड़काने में ‘पेशवा’ बहुत सहायक सिद्ध हुआ ।

एक ओर अंग्रेजी हुकूमत थी जिसके पास बहुत बड़ी सेना, धन-दौलत, शासन-तन्त्र, पुलिस, सत्ताशक्त आदि सब साधन थे । दूसरी तरफ कुछ गिने-चुने साधनहीन मनुष्य थे जिनके साथ सच्चाई की सेना, आदर्शों की धन-दौलत तथा राष्ट्र भद्र में आहुति देने की अदम्य सालसा थी । ऐसे ही गिने-चुने सिरफिरोँ के अगुआ सूफी जी थे । भारतीय जनता सो रही थी । उसे जगाना था । उसकी इस नींद का लाभ उठाकर ही अंग्रेज भारत पर शासन कर रहे थे ।

लाहौर के आर्य होटल में एक विराट सभा का आयोजन किया गया । सरकार ने पंजाब के नौ जिलों के लिए एक कानून पास किया था जो जनहित की दृष्टि से अनुचित था । सभा में सरदार अजीतसिंह इस कानून के विरोध में आग उगलने वाली वाणी में भाषण दे रहे थे । मोए सिंह भी यह हुंकार सुनकर जागने लगे थे । इसी समय अंग्रेज पुलिस ने होटल को घेर लिया । उपस्थित जन समुदाय में भय की एक लहर दौड़ आई थी । सूफी जी ने

लपककर होटल का दरवाजा बन्द कर दिया तथा चट्टान की तरह अड़ गये । अंग्रेज ऑफिसर को उन्होंने इस प्रकार निहत्थी भीड़ पर चढ़ आने के लिए डाँटा । जब तक सभा चली अंग्रेज अफसर का साहस न हो सका कि वह सभा की कार्यवाही रुकवा देता ।

अन्यथा चाहे कितना ही सबल क्यों न हो वह जरा से प्रतिरोध से भी भय खाने लगता है । अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध सरदार अजीतसिंह तथा सूफी अम्बाप्रसाद के दल ‘भारतमित्रता’ ने जब मोर्चाबन्दी शुरू की तो वे बौखला उठे । क्योंकि सच्ची शक्ति उनके पास नहीं थी । सच्चाई तथा न्याय यदि उनके साथ होता तो उन्हें इन थोड़े से देश-भक्तों से भय खाने की आवश्यकता नहीं थी । सब पूछा जाय तो अंग्रेज इनके मुकाबले में बहुत कमजोर सिद्ध हुए थे ।

सूफी जी इस तथ्य से परिचित थे कि साधन तथा प्रभुत्व अपने आप में महान नहीं बरन् उनका सदुपयोग करके ही उन्हें महत्त्व दिलाई जा सकती है । मनुष्य की प्रतिभा तथा योग्यता की भी यही स्थिति है । सदुपयोग एक अनिवार्य शर्त है । उन्होंने अपनी लेखनों का उपयोग एक महान प्रयोजन के लिए किया । सूफी जी अपने स्वार्थ के लिए ही लिखते तो वे काफी धन कमा सकते थे, अच्छा पद या सकते थे पर उन्होंने उन्हें सामने आये हुए तुकरा दिया । इसी का परिणाम है कि वे आज एक प्रेरक अमर चरित्र के रूप में याद किए जाते हैं ।

सूफी जी ने ‘पेशवा’ के माध्यम से यह तथ्य बजाई कि उससे विंगारियों दावानल बनने लगीं । जनता जागने लगी । उनके सम्पादकीय बेजोड़ होते थे । ‘पेशवा’ की पुरानी फइलें देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी लेखनी में कैसा जादू था ?

अंग्रेज सरकार हाथ धोकर इन लोगों के पीछे पड़ गई । इनको पकड़ने के लिए जाल बिछाये जाने लगे । किसी भी मृत्यु पर अंग्रेज सरकार इन्हें खुला नहीं छोड़ना चाहती थी । जितना शीघ्र हो सके इन्हें बन्दी बनाना चाहती थी । बन्दी बनाने के बाद मृत्यु दण्ड या फाँसी की सजा इन्हें दी जाती । वे बन्दी होना नहीं चाहते थे । गुप्त वेला में नेपाल जा पहुँचे । नेपाल गवर्नर ने इन्हें आश्रय दिया ।

एक ही हाथ के होते हुए भी सूफी जी जो लिपियाँ लिखने में समर्थ थे लिख लेते थे । उन्हें अपने एक हाथ का अभाव कभी छटकाता नहीं । वे यजाक में कहा करते थे- “१८५७ की लड़ाई में एक हाथ कट गया था सो इस जन्म में एक ही रह गया ।”

उनका यह जोश तथा देश-प्रेम केवल लेखन तथा भाषण देने तक ही सीमित नहीं रहा । वे अब्बल दर्जे के

३.६४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

संवाददाता तथा गुप्तचर भी थे। सन् १९१९ की बात है। अम्बाला का कमिश्नर जनता पर बहुत अत्याचार करता था। वे गूंगे-बहरे बनकर उसके यहाँ नौकरी करने लगे। उन्हें खाने की मेज पर गन्धिल्लियाँ उड़ाने का काम दिया गया। उस समय प्रायः वह कमिश्नर अपने सहायकों से परामर्श करता था। इसकी रिपोर्ट 'अमृत कजार पत्रिका' के लिए वे भेज देते थे। कई महीने तक वे गूंगे-बहरे बनकर उसकी आँखों में धूल झोंकते रहे। कमिश्नर अपनी इन बातों को पत्रिका में देखकर ईरान होता था। सूफ़ी साहब पर वह कभी सक्रिय न कर सका।

भारत में रहना कठिन हो गया तो वे ईरान चले गये। ईरान में उन्होंने 'आबे हयात' पत्र का सम्पादन किया। वहाँ रहकर भी आप भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में सहायता देते रहे। उनके देश-प्रेम पूर्ण व्यक्तित्व से भारत ही नहीं ईरान को भी लाभ हुआ। सूफ़ी जी वहाँ भी लोकप्रिय नेता बन गये। सूफ़ी जी के जीवन से यह सिद्ध हो गया कि सच्चाई और न्याय, आदर्श तथा लोकसंगठन का क्षेत्र देश की सीमा से बँधा नहीं है। आदर्शों के लिए जीवन अर्पित करने वालों की सर्वत्र अपेक्षा है। जहाँ भी ऐसे सच्चे मानव रहेंगे वहाँ की जनता को लाभ ही मिलेगा।

ईरान में रहते हुए वे प्रथम विश्व युद्ध में ईरान के पक्ष में लड़े। इनके प्रति वहाँ के लोगों में बड़ी श्रद्धा थी, वे उन्हें अपने पथ प्रदर्शक मानते थे।

उद्देश्य के लिए संसार भर की

आकृष्ट करने वाले क्रान्तिवीर

सरदार अजीतसिंह

"फगढ़ी संभाल ओ जट्टा, फगढ़ी संभाल रे।" यह गीत बहुत लोगों ने सुना होगा पर उसका इतिहास थोड़े ही आदमी जानते होंगे। इसे लिखा था बाँके दयाल ने और उस पर परवाने की तरह जल भरने वाले थे सरदार अजीतसिंह। महान शहीद सरदार फगत्तसिंह के चचा अजीतसिंह।

तप-पूत शहीदों के जीवन-दीपक से वही प्रकाश फूटता है—“मेरे प्यारे देशवासियों, फगढ़ी की रक्षा अर्थात् देश, धर्म और जातीय गौरव की रक्षा के लिए तिस-तिस जलना पड़ता है। फफोले पड़े हों तो भी चिल्ला पड़ता है। जीवन साधना की सफलता तो उसे ही मिलती है जो निष्काम, निःस्वार्थ भाव से और यश-कामना से अत्यन्त दूर रहकर केवल ऊँचा लक्ष्य देखता है, ऊँचा लक्ष्य सोचता है और ऊँचे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपना जीवन न्योछावर कर देता है।”

आदर्शों के पुनरुद्धार और पुनर्स्थान के लिए संघर्ष करना ही पड़ता है। तब स्वदेश के सम्मुख स्वाधीनता प्राप्ति का महान लक्ष्य आ खड़ा हुआ था। सरदार अजीतसिंह ऐसे ही संक्रान्ति काल में जालन्धर जिले के खटकड़वाँ ग्राम में जन्मे।

जिन दिनों उनकी प्रारम्भिक शिक्षा लाहौर में पूरी हुई तो उन्होंने कहा—“मैं उस महान संस्कृति का अध्ययन करूँगा— जिसका एक अंश लेकर गुरुओं ने पंथ का सिरजन किया।” वे बनारस जाकर संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त चाहते थे पर घरवालों की इच्छा के आगे झुककर वे बरेली कानून पढ़ने चले गये। वहाँ से उनके हृदय में देश-प्रेम की चाला ठमड़ी, तीव्र हुई और किसी के रोके न सकी, जब तक कि वह अपना अभीष्ट नहीं पा गई।

‘कर्मयोगाधिकारस्तो’ के आदर्श को मानने वाले इस कर्मयोगी से एक बार एक मित्र ने कहा—“सरदार। अंग्रेजी हुकूमत से पैदा पापा बड़ा कठिन है। क्यों अपने सुख, चैन और जिन्दगी को दाँव पर लगाते हो।” सरदार ने तुरन्त उत्तर दिया—“भाई जी। मर्दाने देश और जाति के उद्धार के लिए मर पिटना जानते हैं। हम देश और जाति के उद्धार के मर मिटेंगे, सफलता मिलेगी या नहीं यह मेरा परमात्मा जाने।”

१९०६ में ब्रिटिश सरकार ने उपनिवेश अधिनियम पारित किया जिसके अनुसार किसानों पर भारी प्रतिबन्ध लगाने लगे। बंगाल के विभाजन से वैसे ही देशवासी विभुज्य थे, अब तो लोगों के दिल जलने लगे। वही समय था नवयुवकों की परख का। परिस्थिति आगे बढ़ी तो पीरुष की परीक्षा होती है।

सरदार अजीतसिंह ने ‘भारत माता सोसायटी’ की सक्रिय सदस्यता स्वीकार की और स्थान-स्थान पर जोशीले भाषणों से लोगों को विद्रोह के लिए भड़काने लगे। चारों ओर क्रान्ति की आग धधक उठी। लाला लाजपतसय के साथ उन्हें भी बन्दी बनाकर पाँडले की जेल में भेज दिया गया। कुछ महीने बाद उन्हें छोड़ दिया गया पर मुक्त होते ही वह फिर ‘भारत माता सोसायटी’ के कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। ‘दण्ड और दमन से अजीतसिंह घबड़ा कर शान्त हो जायगा’— सरकार की यह धारणा निर्मूल सिद्ध हुई। ‘पेशवा’ नामक समाचार पत्र निकाल कर उन्होंने क्रान्ति की चाला को और भी तीव्र किया। बाद में यह पत्र जन्म कर लिया गया तो अजीतसिंह अपने दोनों भाइयों और अन्य साथियों के साथ अन्य नामों से अखबार निकालते रहे।

इधर गवर्नमेन्ट उन पर मुकदमा चलाने की योजना बनाने लगी तो अजीतसिंह ने अपने जीवन की लम्बी कीमत अनुभव की। सार्वतशाही के शिकंजे में पड़कर

उन्हें शहीद होने में कोई आपत्ति न थी पर उन्होंने अनुभव किया कि केवल जोर से ही काम न चलेगा, हमें होश के साथ काम करना पड़ेगा ताकि वर्तमान अन्दोलन अपनी मंजिल की ओर निरन्तर गतिमान रहे। सश्व प्रगति के लिए नियोजित व्यवस्था बनाने का अजीतसिंह का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समस्या के सम्प्रधान के लिए बड़ी शिक्षा है। जो लोग स्थिति का अनुमान लगाकर उचित जवाबी शक्ति लगाते हैं, वे ही जीतते हैं। त्याग और बलिदान को व्यर्थ न जाने देना वस्तुतः बड़ी समझदारी की बात है। अजीतसिंह ने बड़ी किया। इसके पूर्व कि वे पकड़े जायें अपने दो साथियों के साथ वे ईरान चले गये।

उस समय ईरान भी अंग्रेजी शासन में था। यहाँ के शिराज नगर से अजीतसिंह ने फारसी में अखबार निकाला। उद्देश्य एक ही था— अंग्रेजी उपनिवेशवाद पर चोट करना और भारत के समर्थन में पक्ष मजबूत करना। सरकार बेखबर न रही। गिरफ्तारी का वारंट निकाल दिया गया जिसमें इनके साथी अम्बाप्रसाद को गिरफ्तार हो गये और फाँसी के तख्ते पर चढ़कर शहीद हो गये पर अजीतसिंह एक व्यापारी की कृपा से तुर्की चले गये। तुर्की में वहाँ के शासक मुस्तफा कमालपशा से मिले और भारतीय स्वाधीनता के लिए चर्चा की, फिर वहाँ से अस्ट्रिया तथा आस्ट्रिया से जर्मनी चले गये। जहाँ भी गये उनका एक ही उद्देश्य रहा— शक्ति संगठित करना या विदेशी समर्थन लेकर अंग्रेजों को भारत-भूमि से हटाने के लिए मजबूर करना।

'जिन खोजा तिम बाइयाँ'—वाली कहावत प्रसिद्ध है। खाली हाथ बैठने से तो कुछ भी नहीं मिलता पर यदि अभीष्ट की दिशा में प्रतिदिन एक पग भी बढ़ा जाता है तो वर्ष में ३६५ कदम मंजिल कम हो जाती है। सरदार अजीतसिंह यही लगन धारण किए हुए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। जर्मनी में भारतीय बुद्धबन्धियों को भूमि इस्मरत के पदचरों की तरह एकत्रित किया और उनको लेकर 'भारतीय मुक्ति सेना' संगठित की। इस कार्य से उनकी संगठन शक्ति में गहरी पैठ व अथक परिश्रम दृष्टिगोचर होता है। किसी कार्य के लिए सामान्य बुद्धि, व्यक्तिगत और योग्यता वाले बहुत आदमी एकत्रित हो जाते हैं तो यही एक बड़ी शक्ति बन जाते हैं। यह बात दूसरी भी कि जर्मनी परास्त हुआ और उन्हें ब्राजील जाना पड़ा। ब्राजील से सरदार अजीतसिंह अमेरिका गये जहाँ वह एक सूती कारखाने में मैनेजर, फ़ैक्टर और प्रोफ़ेसर होकर तीन दिशाओं से संघर्ष की तैयारी करने लगे। एक का उद्देश्य धन अर्जित करना या दूसरे का भारतीय स्वातंत्र्य की विचारधारा फैलाना और तीसरे का उद्देश्य नियोजित समर्थन पाना।

इस बीच जलन्धर में उनके घरवालों को उनका पता चल गया। उनको बुलाने के लिए घर से कई पत्र भेजे पर सरदार आखिर आत्मनिष्ठा के धनी थे। उन्होंने यहीं निश्चय किया कि मातृभूमि पर उभरी पैर रखूँगा जब वह अंग्रेजी परतंत्रता से पूर्ण मुक्त हो जायेगी। यह सरदार की पवर्लव निष्ठा ही थी कि सरदार भगतसिंह को फाँसी हुई, उनकी पत्नी, बच्चे अपने पति और पिता को देखने के लिए तड़पते रहे पर उन्होंने हर बार यही कहा— "बड़े घरदान, बड़ी उपस्था से मिलते हैं। त्याग और बलिदान देते हुए जिनके चेहरों पर शिकन नहीं आती वे एक दिन जरूर सफलता के द्वार तक पहुँचते हैं। यदि मेरा विश्वास सच है तो उसी दिन अपनी धरती पर पैर रखूँगा जब वह विदेशी शासन से स्वतंत्र हो जायेगी।"

अमेरिका में कुछ काम बनता न दिखाई दिया तो अजीतसिंह बँधकर बैठने वाले न थे, वे ब्राजील के रास्ते फ्रांस और फिर वहाँ से इटली पहुँचकर मुसोलिनी से मिले। वहाँ उन्होंने 'भारतीय स्वतंत्रता सभिति' बनायी और उसे 'आजाद हिन्दुस्तान सेना' का कार्य सौंपा, बाद में नेताजी सुभाषचंद्र बोस से मिलने पर उसे आजाद हिन्द फौज में विलय कर दिया।

रोम रेडियो से उन्होंने 'आजाद हिन्द रेडियो' के नाम से वक्तव्य और समाचार प्रसारित कर भारतीय जनता में स्वतंत्रता के लिए क्रान्ति फैलाने और विश्व जनमत को भारतवासियों के पक्ष में लाने का जोरदार कार्य किया। इस कार्य की प्रगति स्वयं गांधी जी ने भी की थी। परन्तु दुर्भाग्य पीछा छोड़ने वाला न था। इटली परास्त हुआ और उन्हें उत्तरी इटली भागने के लिए विवश होना पड़ा। २ मई, १९४५ को वे उत्तरी इटली में मित्र राष्ट्र की सेनाओं द्वारा बन्दी बना लिए गये और उन्हें मर्यान्तक पीछा दी गई।

इधर जब भारत में अंतरिम सरकार की स्थापना हुई तो नेहरू जी के प्रयत्नों से उन्हें मुक्त किया गया। ४० वर्ष तक विदेशों में भारतीय स्वतंत्रता की अलख जगाने वाला योगी पुनः मातृभूमि के दर्शन कर सका पर जब वह यहाँ आये तब तक उनकी सारी शक्तियाँ समाप्त हो चुकी थीं। शरीर भी सेवा के योग्य न रहा था।

१५ अगस्त के दिन जब स्वतंत्रता का सूर्य उदय हो रहा था तो देश-प्रेम के परवाने अजीतसिंह ने अपनी इहलौला समाप्त की। यह जिस उद्देश्य के लिए आये थे वह पूरा हो गया था। मरते समय उन्होंने दोनों हाथ जोड़े और कहा— "हे रब तैरूँ लाख-लाख धन्यवादां कि तैरूँ साक्षी साधना नूँ सिद्धि दे दी" (हे परमात्मा! तुझे लाख-लाख धन्यवाद कि तूने मेरी साधना को सिद्धि दे दी)। यह कहकर उन्होंने अपनी आँखें मूँद लीं। सरदार अजीतसिंह चले गये पर उनकी निष्ठा आज भी जीवित है

और यह अनुप्रेरणा प्रदान करती है महान् उद्देश्यों की पूर्ति मेरे देशवासियों ऐसी ही लगन, तत्परता, त्याग और निष्ठा होती है।

निष्ठावान् क्रान्तिकारी—

बटुकेश्वर दत्त

१९२९ का जून मास। दिल्ली के आल इण्डिया मेडिकल इन्स्टीट्यूट के चार्ज में भगतसिंह के साथी बटुकेश्वर दत्त को गम्भीर रूप से बीमार होने के कारण भर्ती कराये गये। शहीदे आज़म को बूढ़ा यों अपने दूसरे भगतसिंह को देखने आई। उन्होंने अपने पुत्र का सिर अपनी गोद में ठठा लिया और सहलाने लगीं। आँखों से अश्रुकण बह निकले। अब उनका दूसरा बेटा भी मौत के पास जा रहा था और वे बेबस थीं।

बटुकेश्वर दत्त यद्यपि भगतसिंह के सहोदर भाई नहीं थे परन्तु विधादेवी के लिए इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था। सन् १९२९ में हुए बम काण्ड के कर्जदार भगतसिंह और दत्त ये ही दो वीर तो थे। भगतसिंह तो फाँसी पर चढ़कर शहीद हो गये परन्तु बटुकेश्वर दत्त अभी बहुत कुछ करना चाहते थे, इसलिए बच रहे। परन्तु इस क्रान्तिकारी को स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बड़े दुर्दिन देखने पड़े।

उस समय संसद में सार्वजनिक सुरक्षा बिल पर चर्चा चल रही थी। बैठक में मोतीलाल नेहरू, मदनमोहन मालवीय, मोहम्मद अली जिन्ना आदि नेता उपस्थित थे। बिल पास हो गया— इसकी घोषणा हो रही थी कि दर्शक-दीर्घा से कोई चीज ठठली और ओर का धमाका हुआ। हाल धुँए से भर गया। संसद सदस्य इधर-उधर दौड़ गये कि फिर दूसरा धमाका हुआ। अब बगड़ड़ मच गई। पुलिस अधिकारी दर्शकदीर्घा की ओर भागे। भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त के शायों में पिस्तौल देखकर वे एक क्षण ठिठक गये परन्तु दूसरे ही क्षण दोनों ने पिस्तौल फेंक दी और आत्मसमर्पण कर दिया।

भगतसिंह और दत्त ने समर्पण करने की योजना पहले से ही बना ली थी। कुछ लोग इससे सहमत नहीं थे। परन्तु भगतसिंह ने फाँसी पर चढ़ने की कसम खाई थी। वे चाहते थे कि उनका बलिदान हो। देश के लिए किया गया बलिदान कभी व्यर्थ नहीं जाता। ईसा मसीह पर चढ़कर भी अमर हो गये। वस्तुतः बलिदान से कोई मरता नहीं बल्कि अमर हो जाता है। परन्तु भगतसिंह के मन में अमर होने का लोभ नहीं था। उनका विचार तो यह था कि यह बलिदान देश के युवकों में एक जोश और ठगाला देगा। वास्तव में हुआ भी यही। भगतसिंह के फाँसी चढ़ जाने के बाद जो जोश पैदा हुआ वह अद्वितीय था।

समर्पण करते हुए बटुकेश्वर दत्त तथा भगतसिंह ने लाल रंग के कुछ पर्चे भी संसद के सभाकक्ष में फेंके थे। जिन पर लिखा था— “बहरी अंग्रेज सरकार को सुनाने के लिये धमाकों की जरूरत है। हम आज का यह कार्य सर्वथा उचित समझते हैं। एक ओर सरकार सार्वजनिक सुरक्षा बिल तथा औद्योगिक विधेयक प्रस्तुत कर रही है तथा दूसरी ओर मजदूर नेताओं को पकड़ रही है। क्या इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि हवा का रुख किधर है। हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी ने बहुत सोच-विचार कर यह कदम ठठामा है ताकि इस नाटक का अन्त किया जा सके।”

अंग्रेजी दासता और शोषण का अन्त अपनी आँखों से देखने के लिये बटुकेश्वर दत्त जीवित रहे। शहीद हो जाने के कारण भगतसिंह तो इतने प्रसिद्ध हो गये कि गाँधीजी भी एक बार फीके पड़ने लगे परन्तु बटुकेश्वर दत्त ने स्वर्ण को अँधेरे में ही रखना उचित समझा। तत्कालीन परिस्थितियों में यह सर्वथा उचित भी था। उस समय उनकी आयु २९ वर्ष की रही होगी। लेकिन क्रान्तिकारी गतिविधियों में होत सँभलते ही वे भाग लेने लगे थे। कानपुर में शिक्षा प्राप्त करते हुए दत्त योगेश चटर्जी के सम्पर्क में आये। श्री चटर्जी उन दिनों कानपुर में ही सक्रिय थे। संगठन की बैठक में भाग लेना तथा काम करना उन्होंने तभी से आरम्भ कर दिया था। भगतसिंह भी बल्लभन्तसिंह के नाम से कानपुर आये हुए थे। वहीं पर वे दोनों क्रान्तिकारी कनिष्ठ मित्र बने।

बम फेंकने में गिरफ्तार होने के बाद दोनों को अलग-अलग जेल में भेजा गया। परन्तु बाद में दोनों ही साधियों को स्थायी लाया गया। जेल में होने वाले अमानवीय व्यवहार तथा पाशविक अत्याचार के विरोध में दत्त की प्रेरणा से सभी क्रान्तिकारियों ने भूख हड़ताल की। अनशन लम्बे समय तक चला। इसी हड़ताल में ६८ दिन तक भूखे रहकर यतीन्द्रनाथ दास तो चल बसे। बटुकेश्वर दत्त की दशा भी खराब होने लगी। श्री दास की मृत्यु हो जाने पर अनशन में बड़ा रोष फैला। महात्मा गाँधी ने इसी वर्ष को राजनैतिक जाग्रति का प्रमुख वर्ष कहा। ‘यंग इण्डिया’ में उन्होंने लिखा— “देश की स्वतंत्रता के संघर्ष में १९२९ का वर्ष बहुत महत्वपूर्ण समझा जायगा, क्योंकि इसी वर्ष के मध्य में जो भी भारी राजनीतिक जाग्रति हुई है वह उसके पूर्व कभी नहीं देखी गई।”

शहीद भगतसिंह के बलिदान और यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु से देश में क्रान्तिकारी वातावरण तैयार हुआ। इसी मूँखला में २३ दिसम्बर, १९२९ को वायसराय की स्पेक्टल ट्रेन को बम से ठठाने का प्रयास किया गया। यद्यपि यह प्रयास सफल नहीं हो सका फिर भी भारत की आत्मा इन गतिविधियों में बोलने लगी थी।

इधर लाहौर में सभी क्रान्तिकारियों को एक साथ रखना खतरनाक समझा गया। उस समय भूख हड़ताल भी टूट चुकी थी। बटुकेश्वर दत्त को लाहौर से मद्रास भेज दिया गया, फिर वहाँ से अण्डमान ले जाया गया।

वहाँ भारतीय कैदियों की बहुत बुरी दशा थी। साथ ही कोठरियों में अधिकांश क्रान्तिकारी ही भरे थे। सबने मिलकर वहाँ भी भूख हड़ताल की। बाद में दत्त और उनके साथियों को रिहा कर दिया गया तथा बंगाल, उत्तर-प्रदेश और पंजाब क्षेत्रों में जाने पर बान्दो लगा दी गई। लेकिन देशभक्त कभी चुप नहीं बैठ सकते। दत्त ने अपनी गतिविधियों का केन्द्र पटना बनाया। वही से वे लोगों को प्रेरित करते रहे और गुप्तचर काम करते रहे।

१९४२ में महात्मा गाँधी ने भारत-छोड़ो आन्दोलन चलाया। अहिंसावादियों के साथ-साथ उग्रवादी नेताओं को भी पकड़ा जाने लगा। बटुकेश्वर दत्त भी गिरफ्तार कर लिए गए। सरकार इनसे इतनी आतंकित थी कि आन्दोलन के समाप्त हो जाने के बाद सब लोगों को रिहा कर दिया परन्तु घल को नहीं छोड़ा। उन्हें पटना में नजरबन्द रखा गया।

१५ अगस्त, १९४७ को क्रान्तिकारियों की फिर साथ पूरी हुई। बटुकेश्वर दत्त को लगा कि अभी तो बहुत कुछ किया जाना है। स्वराज्य प्राप्त कर लेने के बाद देश का पुनर्निर्माण अभी बाकी है। एक अर्थ में यह कार्य स्वतंत्रता-प्राप्ति से भी अधिक ज़रूरी है। लाल किले पर तिरंगा तो फहराने लगा परन्तु सच्ची खुरशी तो भारतीय जनता की खूशहाल स्थिति देखकर ही होनी है। क्रान्तिकारियों ने जिस भारत का सपना देखा था वह अभी तक अधूरा ही है। स्वतंत्रता के २५ वर्ष बाद भी उस लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सका। दत्त की आत्मा तड़पती रही।

वे तिल-तिल कर घुलने लगे। सरकार ने उन्हें पेंशन देनी चाही परन्तु उन्होंने इन्कार कर दिया। कर्तव्य का कोई पुरस्कार लेना उसकी महत्ता को नष्ट करता है। यह सोचकर दत्त ने कह दिया—“इन्कलाब अभी पूरा नहीं हुआ। अंग्रेजी शासन से मुक्त होने के बाद देश में समता और एकता का वातावरण बनाना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। मैं साधारण जनता में से हूँ, राष्ट्र की जो सेवा मेरे द्वारा हो सकी उसका पुरस्कार मैं नहीं चाहता।”

१९६९ में वे बीमार हुए। क्रमशः बिहार और भारत सरकार ने उनकी चिकित्सा करवाई परन्तु अन्ततः वे बचाए नहीं जा सके। २० जुलाई, १९७१ को उनका देहान्त हो गया। वे आजीवन मूक रहकर देश के लिए कार्य करते रहे और मरकर अमर हो गये।

जाति अभिमानी—

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी

उस समय तक समस्त भारत में चार व्यक्ति ही सिविल सर्विस (आई. सी. एस.) की परीक्षा पास करके मैजिस्ट्रेट, कलेक्टर आदि उच्च पदों के योग्य माने गये थे। श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी भी उनमें से एक थे। उनको सिलहट (आसाम) में असिस्टेंट डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट नियुक्त किया गया। भारतवासियों को तो अपने एक देशवासी के इतना उच्च पद पाने से बड़ी प्रसन्नता हुई, पर जो एंग्लो इण्डियन और अंग्रेज भारतवासियों को नीचा समझकर आगे बढ़ने देना नहीं चाहते थे, वे इससे जल-भुन गये। दुर्भाग्य से सिलहट का डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट सदर लैण्ड इसी मनोवृत्ति का व्यक्ति था और उसने आरम्भ से ही सुरेन्द्र बाबू के साथ कच्चा व्यवहार करना और बात-बात में गलती निकालना आरंभ कर दिया। इधर वे भी अपनी जातीयता के अभिमानी थे और इस बात के लिये हरगिज तैयार न थे कि भारतवासियों को डोमन को दृष्टि से देखा जाय या उसके साथ अपेक्षापूर्ण व्यवहार किया जाय। परिणाम यह हुआ कि दो-चार महीने में ही उनकी सदर लैण्ड साहब के साथ ठन गई।

यद्यपि सुरेन्द्र बाबू में योग्यता की कमी न थी और वे अंग्रेज मैजिस्ट्रेट के मुकाबले में अधिक सफलता प्राप्त करके दिखा रहे थे, पर उच्च अधिकारी से वैमनस्य रहने के कारण उनको पग-पग पर कठिनाई सहन करनी पड़ने लगी और अन्त में दो वर्ष के भीतर ही वे उक्त सरकारी नौकरी से हटा दिये गये। इस प्रकार जातीय पक्षपात के शिकार होने वाले वे सर्वप्रथम भारतीय उच्च पदाधिकारी थे, जिसको वर्षों आगे से लगभग सौ वर्ष पूर्व बहुत दिनों तक देश-विदेशों में सुनाई पड़ती रही थी। श्री ए. ओ. ह्यूम जैसे अंग्रेज ने जो स्वयं एक बरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी थे, इस घटना पर विचार करके कहा था—“भारतवर्ष की अंग्रेज नौकरशाही सदैव इस बात की चेष्टा में रहती है कि शाही नौकरी का भव्य भारतीयों के प्रवेश से दूषित न होने पाये। इसी नीति का शिकार सुरेन्द्र बाबू को होना पड़ा है।”

सुरेन्द्र बाबू का जन्म बंगाल के एक प्रसिद्ध ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता कलकत्ते के एक प्रसिद्ध डॉक्टर थे। उन्होंने सात वर्ष की आयु में ही सुरेन्द्र बाबू को ऐसे स्कूल में दाखिल कराया जिसमें प्रायः सभी बालक एंग्लो इण्डियन थे। नाम लिखते समय इनको अंग्रेजी का एक अक्षर भी नहीं आता था, पर स्कूल में सब लड़कों के अंग्रेजी में ही बात करने के कारण उन्हें थोड़े ही समय में उसका अच्छा अभ्यास हो गया। पढ़ने में वे इतने

३.६८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

लगनशील और स्वावलम्बी थे कि स्वयं उद्योग करके अंग्रेजी ही नहीं लैटिन भाषा का भी सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लिया। कॉलेज में पढ़ते समय अंग्रेज प्रोफेसर मि. जॉन साइमन भी इनकी परिश्रमशीलता को देखकर बड़े प्रसन्न रहते थे। जब इन्होंने जी. ए. की परीक्षा उच्चश्रेणी में पास कर ली तो सबसे पहले ही, जैसा कि वे निश्चय कर चुके थे, आगे पढ़ने के लिये उन्नीस वर्ष की आयु में ही वे इंग्लैण्ड पहुँच गये। वहाँ भी शिक्षा-संस्था वास्तव में इनकी आयु अधिक मानकर इन्हें भर्ती करने से इन्कार कर दिया। इस विषय में भी इनको अंग्रेज अधिकारियों से छह महीने तक जोरदार संघर्ष और बहुत अधिक लिखा-पढ़ी करनी पड़ी तब कहीं जाकर परीक्षा में बैठने की अनुमति मिल सकी।

जब सरकारी नौकरी से पृथक् हो गये तो वे दुबारा इंग्लैण्ड गये ताकि भारतीय अधिकारियों के अन्वय की शिक्षायत्त वहाँ के अधिकारियों के समक्ष उपस्थित करें पर जब जातीयता के आधार पर वहाँ भी गौरे लोगों का ही पक्ष लिया गया, तो उन्होंने अपना विचार बिल्कुल बदल दिया और अपने देश में जातीय-भाव की वृद्धि करके शासन पर जनता का मिश्रण स्थापित किया जाना ही अपना एकमात्र लक्ष्य बन लिया। इसके लिए वे एक वर्ष तक इंग्लैण्ड में ही ठहरे रहे और योरोप के राजनीतिक साहित्य और इतिहास का गहरा अध्ययन किया। उनको मेजिनी के सिद्धान्त विशेष रूप से पसन्द आये यद्यपि उसकी सशस्त्र क्रान्ति के मत को उन्होंने कभी मान्य नहीं किया। वे वैध आन्दोलन करके राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के पक्ष में थे। अपने भावी कार्यक्रम पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा-

“मैंने पहले ही उस कार्य का कुछ विचार कर लिया था जो जीवन में मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि यह अन्याय मुझे केवल इसलिए सहन पड़ा कि मैं भारतीय था। मैं एक ऐसे सम्प्रदाय का सदस्य था जिसमें कोई संगठन नहीं है, जिसका एक सर्वजनिक मत नहीं है और जिसका अपने देश के शासन में कोई अधिकार व महत्त्व नहीं है। युवावस्था के जोश में मुझे यही प्रतीत हुआ कि हम लोग इस सम्प्रदाय अपने देश में हो दास, लकड़ी काटने वाले या बोझा ढोने वाले कुली बना दिये गये हैं। जो कुछ अन्याय मेरे सामने किया गया वह हमारे समाज व देशवासियों की निरान्त शक्तिहीनता का घातक था। मैंने निश्चय किया कि इस अवस्था में देशवासियों की सहायता अवश्य करनी चाहिए। जिस प्रकार मृत्यु का परिणाम अधिक उच्च जीवन होता है, मेरी असफलता का भी वैसा ही परिणाम हुआ।”

भारतवर्ष लौटते ही उन्होंने शिक्षा प्रचार में ध्यान देना आरम्भ किया। उनकी मान्यता थी कि अच्छी शिक्षा ही

देशोन्नति की बहली सीढ़ी है। संयोग से उसी समय महान समाजसेवक पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने उनसे अपने “मैट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट” में शिक्षक का कार्य करने को कहा। वहाँ पर यद्यपि उनको २००) रुपये मासिक ही मिलता था जो असिस्टेंट मैजिस्ट्रेट की अपेक्षा आधा ही था, पर सुरेन्द्र बाबू को अधिक खुशी इस बात की थी कि इस कार्य में वे नवयुवकों के सम्पर्क में रहकर उनमें समाज-सेवा तथा देश-भक्ति की भावना उत्पन्न कर सकते थे। सन् १८८२ में उन्होंने स्वयं एक संस्था स्थापित की, जो बाद में रियन कॉलेज के नाम से प्रसिद्ध हुई और जिसमें से सन् १९१२ तक उन्होंने हजारों विद्यार्थियों को सुयोग्य नागरिक बनाकर निकाला।

राजनीतिक जीवन का आरम्भ

शासन सुधार की दृष्टि से सुरेन्द्र बाबू ने ‘इण्डियन एसोसिएशन’ की स्थापना की थी। उस समय ब्रिटिश सरकार नहीं चाहती थी कि भारतवासी इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा में सम्मिलित होकर भारत के शासन कार्य में भाग लेने लगे। उसने एक नियम बनाया कि परीक्षा में सम्मिलित हो सकने की आयु जो पहले २१ वर्ष की थी अब १९ ही रहेगी। यदि यह मान लिया जाता तो किसी भारतवासी का उसमें शामिल हो सकना कठिन था। इसके विरुद्ध ‘इण्डियन एसोसिएशन’ ने जोरदार आन्दोलन उठाया और अपना प्रतिनिधि इंग्लैण्ड भेजकर पार्लियामेण्ट के सामने इस प्रश्न को उपस्थित कराया। इसके फल से १९ वर्ष वाला नियम रोक दिया गया और सिविल सर्विस वालों को और भी कई सुविधाएँ दी गईं।

इसी प्रकार जब सरकार ने ‘बर्नाब्यूलर प्रेस एक्ट’ बनाकर देशी पत्रकारों के अखबारों का दमन करना चाहा तो सुरेन्द्र बाबू ने उसके विरुद्ध बड़ा जोरदार आन्दोलन शुरू किया। भारत के अंग्रेज शासकों ने तो उनको हर तरह से दबाने की चेष्टा की, पर उन्होंने फौरन इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री, मि. ग्लैडस्टन का दरवाजा खटखटाया, जो स्वयं बड़े उदार सिद्धान्तों के व्यक्ति थे। परिणाम यह हुआ कि दो-चार वर्ष बाद ही नये वायसराय लार्ड रिपन के आने पर वह कानून रद्द कर दिया गया।

पत्र सम्पादन

सुरेन्द्रनाथ जहाँ एक बहुत बड़े शिक्षाशास्त्री तथा उच्चकोटि के वक्ता थे, वहाँ उनकी तीसरी विशेषता सम्पादन कला में दक्षता भी थी। उन्होंने ‘बंगाली’ नाम का प्रसिद्ध दैनिक ४३ वर्ष तक प्रकाशित और सम्पादित किया। उसके सम्बन्ध में भारत के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा ने कहा था- ‘सम्पादन की दृष्टि

से सुरेन्द्रनाथ का स्थान बहुत ऊँचा था और उन्होंने सदैव पत्र की महत्ता और उच्चता को कायम रखा । अपने विरोधियों के प्रति भी उन्होंने कभी अन्याययुक्त विचार प्रकट नहीं किए और न कभी प्रान्तीयता के संकीर्ण घेरे में ही अपने पत्र को आबद्ध होने दिया ।" एक अन्य आलोचक ने लिखा था- बंगाली के लेखों में सदैव भारतीयता की भावना ही प्रकट होती थी ।" सुरेन्द्रनाथ पर बंगाली के एक लेख के कारण सन् १८८३ में हाईकोर्ट की मान-हानि का मुकदमा चलाया गया । एक जज ने किसी मुकदमे में शालिग्राम की मूर्ति को कोर्ट में मँगाया था । इस पर सुरेन्द्र बाबू ने लिखा- "जिस मूर्ति को हम भगवान के रूप में पूजते हैं उसे अदालत में मँगाना बड़ा अनुचित है और ऐसे जज को देश के सर्वोच्च न्यायालय में नियुक्त करना गलती है ।" इस मुकदमे में उनको दो महीने की कैद की सजा दी गई, जिससे उनका नाम चारों तरफ फैल गया । सार्वजनिक मजदूरी में सजा पाने वाले से सम्भवतः प्रथम सम्पादक थे । इसके १३ वर्ष बाद लोकमान्य तिलक को भी ऐसे ही मामले में सजा हुई थी ।

समाज-सुधार के क्षेत्र में

सुरेन्द्रबाबू का मुख्य कार्यक्षेत्र राजनीति ही था, पर समाज सुधार की तरफ भी उन्हें युक्तवस्था से ही आकर्षण था । पं. ईश्वरचन्द विद्यासागर के विधवा विवाह आन्दोलन से वे बहुत प्रभावित हुए थे, यद्यपि उनके पितामह पुरानी विचारधारा के सनातनी होने से इसके विरुद्ध थे पर पिता डॉ. दुर्गाधरजी बनर्जी इसके पक्षपाती थे । सुरेन्द्रबाबू ने अपनी 'आत्म कथा' में लिखा है कि अपनी किशोरावस्था में ही मैं चिन्तित हो उठा था कि इस महापुरुष का सन्देश कब पूरा होगा और अब अपनी जीवन सन्ध्या में भी मैं उसी प्रकार 'धुंकार' रहा हूँ । दूसरा आन्दोलन 'जिसमें उन्होंने भाग लिया' श्री प्यारेचरण सरकार का था । उस समय बंगाल के नवयुवकों की दशा बहुत पतित हो उठी थी और वे अंग्रेजी रहन-सहन की नकल करना ही सबसे बड़ा काम समझते थे । फैशन बदलने की तो लोगों ने बड़ा दोष नहीं माना, पर जन शोरोपियनों की देखा-देखी उनमें भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति भी बढ़ने लगी तब समाज-हितैषी सज्जन वृन्द चौकते हुए सुरेन्द्र बाबू भी नवयुवकों में शुद्ध जीवन का प्रचार करने लगे और फिर एक शिक्षक की हैसियत से आज्ञा उसे करते रहे ।

काँग्रेस के निर्माण कर्ता-

सुरेन्द्रबाबू को एक दृष्टि से कांग्रेस का संस्थापक कहा जाता है । जैसा कहा जा चुका है कि भारतीय शासन में

सुधार कराने के उद्देश्य से उन्होंने 'इण्डियन एसोसियेशन' की स्थापना की थी और १८८४ में उसको इतनी सफलता प्राप्त हो गई कि उससे प्रेरणा लेकर पि. ह्यम और उमेशचन्द्र बनर्जी आदि ने काँग्रेस की स्थापना की । सुरेन्द्रबाबू आरम्भ से ही इस कार्य में सम्मिलित रहे और बहुत वर्षों तक तो उसके मुख्य सचालक वही बने रहे । उनकी सेवाओं के उपलब्ध में १८९४ के पूना में होने वाले काँग्रेस अधिवेशन का समापन अध्यक्ष उनको ही बनाया गया । उसमें उनका भाषण इतना प्रभावशाली और भावनात्मक था कि जिसकी बड़ी सराहना हुई । जब अन्तिम दिन वे अधिवेशन का समापन करने उठे तो लोगों में उत्साह की एक लहर दौड़ गई और वे एक अभूतपूर्व जोश में आकर सुरेन्द्र बाबू की जय-जयकार करने लगे । इस दृश्य को देखकर सुरेन्द्रबाबू का हृदय भी भाव-विह्वल हो उठा और उसी अवसर पर उन्होंने ठण्ड कण्ठ से घोषणा की -

"अगर मैं इसी क्षण तक जीवित रहूँ और इसके बाद तुरन्त ही मेरी मृत्यु आ पहुँचे तो भी मैं अपने को सबसे अधिक प्रसन्न मनुष्य समझूँगा । मेरी आयु चाहे लम्बी हो या छोटी ही रह जाय तो भी इस समय समस्त भारतवर्ष से एकत्रित इन प्रतिनिधियों के सम्मुख परमात्मा को साक्षी मानकर वह घोषित करता हूँ कि मेरा जीवन उन अधितापियों को पूरा करने में ही व्यतीत होगा जिनको हमारे राष्ट्र ने उद्घोषित किया है ।"

यद्यपि अन्तिम दिनों में काँग्रेस में नर्म और गर्म दल का मतभेद छाया हो जाने से जनता का भाव परिवर्तन हो गया और अनेक व्यक्ति नर्म दलों वालों को 'सरकार परस्त' कहने लग गये । सुरेन्द्रबाबू नर्म दल के माने हुए नेता थे, इसलिए उनका सम्मान भी पूर्वापेक्षा काफी घट गया, फिर भी वे वैध उपायों से काम लेकर देश की सेवा करते रहने के अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहे और विभिन्न रूपों में समाज और राष्ट्र की प्रगति के लिए प्रयत्न करते रहे । उनकी निष्काम सेवाएँ आने वाली पीढ़ी को प्रकाश ही देंगी ।

राष्ट्रसेवी-आचार्य गिडवानी जी

आचार्य गिडवानी कर्नाटकी में विदेशी वस्त्र की दुकानों के आगे पिकेटींग कर रहे थे । एक तो उनकी दुर्बल काया और ऊपर से जून माह की भयंकर गर्मी, कड़ी धूप में उन्हें खड़े-खड़े बड़ी देर हो गई थी । उनको धर्म पत्नी गंगा बहिन ने आकर उनसे कहा-"अब आप घर जाओ । आपको धूप में खड़े-खड़े बहुत देर हो गई है । वहाँ बच्चों की देखभाल करना । अब मेरी चारी है, मैं पिकेटींग करूँगी ।"

“अच्छी बात है, पर क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हम दोनों ही पिकेटिंग करें।” गिडवानी जी ने अपने मन की बात कही। तभी निकट खड़े मित्र बोले पड़े- और बच्चों की देखभाल कौन करेगा ?”

‘भारतमाता !’ गिडवानी जी का सहाज-सा उत्तर था।

इस प्रकार के व्यक्तित्व को जिसके मन में भारत माँ के प्रति यह निष्ठा थी, ब्रिटिश सरकार भयंकर सयफ़्ती थी। यही कारण था कि आचार्य गिडवानी को जिनके लिए इस देश में भी और विदेश में भी किसी निराले संस्थान का कुलपति या वैदेशिक राजदूत का पद या सकल सहज था, देश की स्वतंत्रता के लिए सरकारी जेल में रहकर रस्मियाँ बुनने जैसा शारीरिक प्रयत्न करना पड़ा जो उनके व्यक्तित्व को देखते हुए निराला दुष्कृत था पर सदुरेख्य के लिए वे यह सब अपना गौरव मानते थे।

आचार्य गिडवानी के सम्बन्ध में हिन्दी के जाने माने साहित्य साधक बनारसदास चतुर्वेदी ने अपने एक रेखा चित्र में लिखा है-

“मैदान निवासियों के लिए कभी-कभी पर्वत यात्रा करना अति आवश्यक है। जो लोग नीची सतह पर रहते हैं, उन्हें यदाकदा उच्च भूमि पर जाकर प्राकृतिक सौन्दर्य का निरीक्षण करना चाहिए। भौतिक जगत की यह बात विचारों के जगत के लिए भी कही जा सकती है। साधारण आदमियों को, जो विचारों की निचली सतह पर रहते हैं, उच्च विचार वाले सज्जनों का सत्संग उतना ही आवश्यक है, जितना कि मैदान निवासियों के लिए पर्वत यात्रा।

जब-जब आचार्य गिडवानी जी से मिलने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है, तब-तब उपर्युक्त कथन की सत्यता हमारी समझ में आती रही है। उनके चरित्र में बड़ी आत्मा आता है जो शीतल मन्द समीर के सेवन में। उनकी विचारधारा निर्मल-निर्झर के कल-कल निरगद की भाँति बहती है। उनका मस्तिष्क दलबन्दी के कोलाहल से उतना ही ऊँचा उठा रहता है, जितना गिरि-श्रृंग आस-पास की भूमि से। उनका सत्संग एक प्रकार का स्वास्थ्य-लाभ है, जहाँ का सांस्कृतिक वातावरण बुद्धि विचारों के कीटाणुओं के लिए घातक है। इसीलिए हमारे हृदय में दो आकांक्षाएँ बराबर बनी रहती हैं- “एक तो आपतकाल में कहीं पर्वत यात्रा की जाय और दूसरी गिडवानी जी जैसे सुसंस्कृत व्यक्तित्व का सत्संग।”

उच्च विचार और उच्च व्यवहार के फलों से लदे जिस व्यक्तित्व की सुखद छाया में आपतकाल में दो घड़ी सुस्ताकर क्लान्ति मिटाने और नूतन बल पाने वाली बात श्री चतुर्वेदी जी ने कही है वह अग्रगण्य नहीं मानी जा सकती। ऐसे व्यक्तित्व के घनी मान्य, समाज का सबसे बड़ा धन होते हैं।

ऐसे व्यक्तित्व सम्पन्न गिडवानी जी (असूदमल टेकचन्द गिडवानी) का जन्म ११ सितम्बर, १८९० में हैदराबाद

(सिन्ध) में हुआ था। शिक्षा-संस्कृति की दृष्टि से इस नगर का अपना वैशिष्ट्य है। गिडवानी जी तो इसकी तुलना ऑक्सफ़ोर्ड से करते थे। उनके बाबू सिन्धी भाषा के कवि थे और सिन्ध के गीत-संगीत के आश्रय में रहते थे। पिता एन. डब्ल्यू. रेल्वे में स्टेशन मास्टर थे। इससे उन्हें बचपन में अपने पिताजी के एक से दूसरे स्टेशन पर स्थानान्तरण के कारण घूमने की खूब मिला। पैंतीस वर्ष रेल्वे की सेवा करने के बाद उनके पिता जी को कुल सत्ताईस रुपया महीना की पेंशन मिली तो उन्हें पहली बार यह बात बुरी तरह छटकी कि वे पराधीन देश के नागरिक हैं। समय आने पर उन्होंने परतंत्रता के इस जुवे को उतार फेंकने वाले आन्दोलन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

नवसयस हीराचन्द स्कूल से माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने के बाद वे कॉलेज में भर्ती हुए। सिन्ध कॉलेज कराँची से उन्होंने एम. ए. किया। विद्यार्थी जीवन में ही वे युवक संगठनों में सम्मिलित होकर देश व समाज के लिए कुछ कर सकने की योग्यता अभिवृद्ध करते रहे और एम. ए. करने के बाद कोई अच्छा-सा अधिकारी पद पाने या किसी कॉलेज में प्रोफेसर बनने की बजाय उन्होंने दूसरा ही मार्ग चुना, कह-कण्टकों व छतरों से भरा हुआ मार्ग।

वे जीवन का अर्थ ‘एडवेंचर’ से लेते थे। गिडवानी जी अच्छे कार्य के लिए बड़े से बड़ा खतरा उठाने में भी हिचकिचाते नहीं थे।

सौभाग्य से उन्हें जेना बहिन जैसी धर्मपत्नी मिल गई, जो उनके इस सत्साहसी व्यक्तित्व के साथ तालमेल बिठा सकीं या उन्होंने धर्मपत्नी को अपने अनुरूप ढाल लिया था। दोनों ही बातें सम्भव हैं। इतना स्पष्ट है कि परिवार उनके लिए सम्पन्न सेवा के मार्ग में बाधन नहीं बना। गंगा बहिन और गिडवानी जी एक और एक मिलकर ग्यारह होने वाली उरु को चरितार्थ कर गये।

एम. ए. करने पर वे आई. सी. एस. परीक्षा पास करने के लिए ऑक्सफ़ोर्ड भी गये। वहाँ उनकी भेंट हसन शाहीद सुहरावर्दी से हुई। उनसे परिचय होने के बाद उनके क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव गिडवानी जी पर भी पड़ा और वे आई. सी. एस. न करके ऑक्सफ़ोर्ड में पढ़ने लगे। यहाँ उन्होंने इटली को स्वतंत्र कराने के ध्येय पथ पर जीवन समर्पित करने वाले देशभक्त मेजिनी की जीवनी पढ़ी। उसका स्थायी प्रभाव उनके मन पर हुआ। एम. ए. करके स्वदेश लौटने पर वे प्रयाग के म्योर सेण्ट्रल कॉलेज में कुछ समय के लिए प्रोफेसर रहे पर उनके देशभक्तिपूर्ण विचारों ने अधिक दिनों तक उन्हें वहाँ बँधने न दिया। तत्पश्चात् वे थोड़े दिनों बीकानेर महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे पर वहाँ भी देश के लिए कुछ न कर सकने की स्थिति में स्वयं को पाने के कारण उसे भी छोड़ बैठे। कहने का अर्थ यह है कि उन्होंने कई स्थानों पर नौकरी

की, पर जहाँ कहीं भी उनकी निर्धारित राष्ट्रीय और सामाजिक भूमिका के निर्वाह में नौकरी बाधक होने लगी तो वहीं उन्होंने उससे नमस्कार कर लिया।

मेयो कॉलेज अजमेर और रामजस कॉलेज, दिल्ली में क्रमशः प्राध्यापक और प्राचार्य रहते हुए अन्ततः १९२० में उन्होंने इस्तीफा देकर असहयोग आन्दोलन में खुल्लम-खुल्ला भाग लिया। इससे पूर्व भी वे राष्ट्रीय गतिविधियों में बराबर भाग लेते रहे थे।

जब गिड़वानी जी राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने के कारण नाभा जेल की छोटी-सी कोठरी में रखे गये थे तब उनका स्वास्थ्य आश्चर्यजनक रूप से गिरता चला गया। काया दुर्बल तो पहले ही भी काल कोठरी ने उसे और भी क्षीण बना दिया। उनका तीस पौण्ड बजन घट गया था। ऐसी स्थिति में भी उनका और उनकी धर्मपत्नी गंगा महिन का धैर्य अतुलनीय था।

रामजस कॉलेज में प्राचार्य पद से हटने के बाद उनका कार्यक्षेत्र बना गुजरात विद्यापीठ। गुजरात विद्यापीठ में उन्होंने वर्षों तक सेवाएँ समर्पित कीं। वे एक आदर्श आचार्य थे। वे किसी एक संस्थान के होकर नहीं रहे। जहाँ किसी को उनकी आवश्यकता अनुभव हुई या स्वयं उन्हें ऐसा लगा तो वे वहाँ पहुँच गये। शिक्षा क्षेत्र में उनका योगदान अविस्मरणीय ही माना जायेगा।

महात्मा गांधी ने उन्हें प्रेम महाविद्यालय, वृन्दावन का अध्यक्ष बनाकर भेजा। वे वहाँ पर दो वर्ष तक रहे। आपके सद्प्रयत्नों से प्रेम महाविद्यालय में एक नया जीवन का संचार हो गया। उसकी कार्यकारिणी समिति में कांग्रेस की प्रधानता स्थापित करने का श्रेय आप ही को है।

गिड़वानी जी एमर्सन के बड़े भक्त थे। एमर्सन के कितने ही वाक्य उन्हें कण्ठस्थ थे। उनके समकालीन नेताओं में ऐसे लोग बहुत कम थे जो स्वतंत्र ढंग से विचार कर सकते थे। उनका एक बहुत बड़ा गुण यह भी था कि वे अपनी मौलिक विचार-शक्ति को कभी बिसरते नहीं थे।

एक समय की बात है। कहीं पर एक अंग्रेज विद्वान का भाषण था। वे उनका भाषण सुनने गये। वहाँ आपसे भी बोलने के लिए अनुरोध किया गया। वे बोले, बहुत अच्छा बोले। अंग्रेज वक्ता तो उनसे बड़े प्रभावित हुये और गूँझने लगे-“आपने बर्ट्रेण्ड रसेल की हस्त में छपी शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ी हैं?” गिड़वानी जी बोले-“नहीं तो।” उन अंग्रेज महाशय को आश्चर्य हुआ कि जो बात रसेल ने इन पुस्तकों में कही थी वही गिड़वानी जी ने अपने भाषण में भी कही।

गिड़वानी जी की व्याख्यान शैली उच्चकोटि की थी और स्वर बड़ा कर्णप्रिय था। उनके व्याख्यान में मानसिक भोजन का काफी मसाला रहता था। उनकी वक्तृत्व-शक्ति अनूठी थी।

गिड़वानी जी कहीं में भी प्रसन्न रहना जानते थे। वृन्दावन में उनका स्वास्थ्य प्रायः अच्छा नहीं रहता था। वहाँ के आस पास का वातावरण अनुदार विचारों के साथ-साथ मलेरिया के कीटाणुओं से भी भरापूर था। वे कई बार बीमार पड़े। मित्रों ने आग्रह किया, “आप इस स्थान को छोड़कर चले जाएँ।” पर उनका एक ही उत्तर था। “जहाँ परिस्थितियों ने मुझे ला पटक़ा है वहाँ मेरा कर्म क्षेत्र है, वह नहीं जहाँ मैं जाना चाहता हूँ।”

वृन्दावन के अनेक कठों के बीच में भी उन्होंने अपने लिये आकर्षण खोज लिया था, वह था वृन्दावन का सन्ध्यकालीन दृश्य और सूर्यास्त। वे कहा करते थे, “मेरे सब कठों के लिए ये दृश्य मानो पुरस्कार हैं।” जो इस प्रकार की उन्मात्तवयुक्त कल्पनाओं में रमा रहता हो उसे कह अधिक सासता भी तो कैसे?

गिड़वानी जी सिंधी भाषा के अच्छे लेखक थे। उन्होंने कई पुस्तकें लिखकर सिंधी भाषा के साहित्य को समृद्ध बनाया। साहित्य सेवा, शिक्षा सेवा और समाज सेवा की अधिकतम मन्दाकिनी उनके जीवन में बहती रहकर मनस को उससे आप्लावित करती रही है।

सन्त समायम और उनकी सेवा की कामना संतों की परिभाषा अग्रकांक्षाओं में गिनी जाती थी पर उनकी संतों की परिभाषा क्रान्तिकारी थी, आधुनिक थी, उनकी दृष्टि में जो ब्रह्म सन्त थे और जिनके साथ वे दो-दो महीने रहना चाहते थे वे थे-ब्रजेन्द्रनाथ शील, साधु टी. एल. वासवान्नी और सी. एफ. एण्ड्रूज।

ऐसा मधुर और प्रखर व्यक्तित्व था गिड़वानी जी का जो प्रेरक भी है और प्रशंसनीय भी।

देशबन्धु चितरंजन दास

अंग्रेजों के शासनकाल में धनोपार्जन की दृष्टि से सबसे बड़ा पैरान्त बकील-बैरिस्टर का सम्झा जाता था। उस समय थोटी के बकील एक हजार रुपया प्रतिदिन तक मेहनतना बसूल करते थे। इसका आशय यह है कि वे आजकल के हिसाब से दस-बारह हजार रुपया प्रतिदिन पा जाते थे। ऐसे लोगों में पं. भोतीलाल नेहरू और श्री चितरंजन दास का नाम उस समय सबसे अधिक प्रसिद्ध था। लोग कहते थे कि जिस समय महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन में शामिल होकर दास बाबू ने बैरिस्टरी को छोड़ा उस समय उनकी मासिक आय पचास हजार तक पहुँच गई थी। उनकी श्रेणी के एक-एक बकील अपनी मृत्यु के पश्चात् एक एक करोड़ तक की सम्पत्ति उत्तराधिकार में छोड़ गये थे पर दास बाबू ही थे जिन्होंने सबसे अधिक आमदनी करने पर भी अपने पीछे कुछ नहीं छोड़ा, मरते समय अपना मकान भी अस्पताल

बनाने को दे गये, ऐसे आदर्श त्याग के उदाहरण संसार में कम ही मिल सकेंगे।

यों तो दास बाबू (१८७० से १९२५) को देशसेवा और परोपकार की लगन प्रारम्भ से ही थी। अपने ऊपर कर्ज हो जाने पर भी राष्ट्रीय कार्यों में वे मुक्तहस्त होकर सहायता करते रहते थे। उनकी यह विशेषता जनता को तब विदित हुई जब उन्होंने श्री अरविन्द घोष के मुकदमे की पैरवी का भार ग्रहण किया। अरविन्द घोष को भारतवर्ष के सबसे बड़े चट्टयन्त्र-अभियोग 'मार्निकतल्ल बम केस' में फाँसा गया था। इसमें बम बनाने का कारखाना स्थापित करने और बम बसाकर दो अंग्रेज स्त्रियों को मार देने के अभियोग में ३६ बंगाली युवकों को पकड़ा गया था और इतना विस्फोटक पदार्थ तत्पक्षों में मिला था, जिससे एक छोटा शहर पूरी तरह उड़ा दिया जाय। सरकार ने इस सबको जड़ अरविन्द को ही बतलाया और इस बात को पूरी कोशिश की कि उनको प्राण-दण्ड दिया जाय। अरविन्द के पास एक पैसा भी न था जिससे वे मुकदमे की पैरवी करा सकें, क्योंकि वे तो अपना सर्वस्व ही स्वाधीनता देवी की बेटी पर डोम चुके थे। ऐसे अवसर पर देशबन्धु चित्तरंजन दास आगे बढ़े और मुकदमे का पूरा भार अपने ऊपर ले लिया और मुकदमा भी ऐसा धर्यकर तथा कठिन जिसमें उनको अपना सब काम छोड़कर प्रतिदिन रात के बारह बजे तक परिश्रम करना पड़ता था। इस प्रकार लगभग महीनों तक हृद के दर्जे का उद्योग करने के पश्चात् दास बाबू सरकारी जाल को छिन्न-भिन्न करके अरविन्द घोष का उद्धार कर सके।

उनके इस महान त्याग पर प्रकाश डालते हुए एक लेखक ने कहा है— "चित्तरंजन ने अपने मुकदमों को बचाने के लिए बड़ी मेहनत की। उन्होंने इस मुकदमे में अपनी सारी बुद्धि और शक्ति लगा दी तथा अपना पक्ष सशक्त करने के लिए तत्सम्बन्धी सभी कानूनों और फैसलों का अध्ययन किया। दस महीने तक चित्तरंजन ने अरविन्द के मुकदमे में रात-दिन एक कर दिया। उन्होंने इस मुकदमे को न केवल बिना किसी प्रकार की फीस के स्वीकार किया, बल्कि इसके कारण उनको अपनी छोड़ा-गाड़ी बेच देनी पड़ी तथा कर्ज लेकर काम चलाना पड़ा। उनकी आमदनी बिल्कुल चन्द हो गई थी। जबकि खर्चे ज्यों के त्यों बने हुये थे। जिस समय मुकदमा खत्म हुआ उन पर लगभग पचास हजार का ऋण हो चुका था।"

इस प्रकार एक देश सेवक की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व दाँव पर लगा देने वाले दास बाबू जैसा दूसरा उदाहरण मिल सकना कठिन है। उनका मुकामला सर्व

शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार से था, जिसने राज विद्रोहियों को कड़ी से कड़ी सजा दिलाने के लिए पानी की तरह रुपया जहाया था, पर तो भी वह दास बाबू की निस्वार्थ उदारता और कर्तव्य पालन के मुकामले में सफल मनोरथ न हो सकी। मुकदमे का फैसला करने वाले अंग्रेज जज मि. नीच क्राफ्ट ने स्वयं अपने फैसले में लिखा— "अरविन्द ही वह अभियुक्त थे जिन्हें दण्ड दिलाने के लिए सरकार सबसे अधिक इच्छुक थी अगर वे इसमें न होते तो यह मुकदमा कभी का खत्म हो गया होता।"

घन के विषय में दास बाबू की यह निस्पृह भावना तथा उचित कार्य के लिए उसे मुक्त हस्त से खर्च करना सदा से उनका स्वभाव रहा था। उनके पिता भी अपनी अत्यधिक उदारता के कारण कुछ अभियुक्तों के जमानतदार बन गये थे। जिसके कारण उन पर तीस चालीस-हजार रुपये की देनदारो आ गई और उनको दिवालिया हो जाना पड़ा। इसके पश्चात् जब दास बाबू २३ वर्ष की आयु में विलायत में बैरिस्टरी की परीक्षा पास करके आये और उनकी वकालत चलने लगी तो सबसे पहले उन्होंने इस कर्ज को ही चुकाया, यद्यपि दिवालिया कानून के अनुसार उन पर ऋण चुकाने का कोई दायित्व न था। जब बाबू विपिन चन्द्र पाल ने राष्ट्रीय प्रचार कार्य के लिए 'न्यू इण्डिया' पत्र का संचालन भार लिया तब भी देशबन्धु दास ही उनके सबसे बड़े सहायक बनकर सामने आये। इसका वर्णन करते हुए पाल बाबू ने कहा था—

"जब प्रारंभिक मालिकों के लिए 'न्यू इण्डिया' का भार सँभालना कठिन हो गया तो चित्तरंजन दास उसकी सहायता आगे बढ़े। कानूनी बन्धन के कारण वे स्वयं तो उसके डाइरेक्टर नहीं बन सकते थे पर अपने मित्रों को आगे लाकर एक 'ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनी' की स्थापना कराई जिससे पत्र फिर चलने लग गया। लगभग बीस वर्ष तक इस प्रकार मैं और चित्तरंजन दास सच्चे सहयोगो के रूप में देश-सेवा करते रहे। मैं काम करता था और वे धीरे-जीवन निर्वाह की व्यवस्था करते थे।

अपने इस कार्य द्वारा दास बाबू ने उन लोगों का पर्दाफाश कर दिया जो अपने कारोबार, नौकरी अथवा गृहस्थी के बन्धनों का महाना बताकर सेवाकार्य में सहयोग नहीं करते? दास बाबू के ऊपर अपनी वकालत का इतना कार्य भार और अभियुक्तों का उत्तरदायित्व रहता था कि वे न तो देश के कार्यों के लिए अधिक समय दे सकते थे न अधिक खतरा उठा सकते थे, पर फिर भी वे घन और आवश्यक सलाह-मशविरा द्वारा ऐसे कार्यों में बराबर सहयोग देते रहते थे।

इस प्रकार दास बाबू आरम्भ से ही परिस्थिति के अनुसार देश के कार्यों में बराबर, जिस प्रकार संभव हो

सका, भाग लेते रहे। १९०५ में जब बंग-भंग के आन्दोलन के फलस्वरूप समस्त देश में राजनैतिक हलचल बहुत बढ़ गई तो सरकार ने एक 'सर्वोत्तर' निकाला कि स्कूल कॉलेजों के छात्र राजनैतिक आन्दोलनों में भाग न लें अन्यथा वे दण्डित किए जायेंगे। इस आज्ञा का उत्तम करने के कारण अनेक छात्रों पर जुर्माना किया गया और कुछ को बेंत भी लगाये गये। यह देखकर देश के नेता कलकत्ता में एक राष्ट्रीय कॉलेज खोलने का विचार करने लगे, पर इतने बड़े आयोजन के लिए उस समय साधन मिल सकना सहज न था तब दास बाबू अग्रसर हुए और अपने परिचित एक धनी सज्जन से एक लाख रुपया लेकर राष्ट्रीय शिक्षा परिषद (नेशनल काउंसिल ऑफ एजुकेशन) की स्थापना करा दी। फिर जब राष्ट्रीय कॉलेज के प्रिंसीपल पद के लिए किसी ठप्पकोटि के विद्वान की आवश्यकता हुई तब भी उन्होंने श्री अरविन्द घोष को जो उस समय बड़ौदा के 'नायकबाड़ कॉलेज' में ७५० रुपये मासिक पर बाइस प्रिंसीपल के पद पर कार्य कर रहे थे, प्रेरणा देकर कलकत्ता बुला लिया। राष्ट्रीय कॉलेज में उनको केवल १५० रुपये दिये जाते थे।

सन् १९१७ में 'होम रूल आन्दोलन' के जोर पकड़ने पर उनको उसमें प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। उसी अवसर पर उनको 'बंगाल प्रादेशिक राजनैतिक सम्मेलन' का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। उनके नाम का प्रस्ताव उपस्थित करते हुये बंगाल के पुराने नेता सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने भविष्यवाणी कर दी कि "श्री दास शीघ्र ही भारत के अत्यन्त लोकप्रिय और विश्वासपात्र नेता बनने वाले हैं।"

इस कान्फ्रेंस में दास बाबू ने जो भाषण दिये वह भी इस बात का प्रतीक था कि यद्यपि वे राजनीति में प्रवेश कर रहे हैं, पर उनका लक्ष्य आधुनिक कूटनीति और अपने स्वार्थों की रक्षा करना नहीं बरन् भारत के आध्यात्मिक आदर्शों पर ही चलना है। अपने भाषण में उन्होंने कहा—

"अपने देश में विदेशी राज्यविस्तार होने के साथ-साथ हमने योरोप की कुछ बुराइयों को अपना लिया है और हम अपने प्राचीन आडम्बर रहित जीवन को त्यागकर सुख और विलासिता के जीवन की ओर अग्रसर होते जा रहे हैं। अगर विचार किया जाय तो हमारे सभी राजनैतिक आन्दोलन यथार्थता से दूर हैं क्योंकि इनमें उन लोगों का कोई हाथ नहीं, जो इस देश की असली रीढ़ हैं।" यहाँ उनका आशय सामान्य जनता से था, जिसके नाम पर सब आन्दोलन उठाये जाते हैं पर उनका लाभ प्रायः जतिशक्ती और सम्पन्न वर्ग के लोग ही उठाते हैं। दास बाबू का यह भाषण इतना मार्मिक था कि बंगाल के तत्कालीन गवर्नर लार्ड रोनाल्डरो ने अपनी एक पुस्तक 'दी हार्ट ऑफ अर्यावर्त' में उसकी चर्चा करते हुये लिखा था—

"श्री दास ने जो कुछ कहा, वह वास्तव में एक मिशनरी के उत्साह से कहा गया था। योरोपीय स्वर्ण पशु (दिखावटी आदमी) की उन्होंने धजियाँ उड़ाकर रख दीं और एक ऋषि के समान अपने देशवासियों को सच्ची प्रगति का मार्ग दिखलाया।"

ऐसे ही उद्गार उन्होंने उस समय प्रकट किए जब भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में प्रमुख रूप से कार्य करने के फलस्वरूप श्रीमती एनीबीसेण्ट को ब्रिटिश सरकार ने गिरफ्तार करके नजरबन्द कर दिया। इस कार्यवाही की आलोचना करते हुये दास बाबू ने एक सार्वजनिक सभा में कहा—

"यै नहीं समझता कि मानवता के देवता का गला केवल एक कर ही चोट गिरा है। अत्याचारियों ने मानवता का गला बार-बार चोट डाला है। मानवता पर होने वाला प्रत्येक आपात उसके इन घेँ उकी गई एक नई कील के समान है।"

देसबन्धु दास केवल कानून के ही बहुत बड़े जानकार नहीं थे, वे ठप्पकोटि के साहित्य प्रेमी और भक्त भी थे। उन्होंने 'सागर संगीत' नामक एक महत्वपूर्ण काव्यग्रन्थ लिखा था, जिसका अनुवाद कुछ वर्ष परचात् श्री अरविन्द घोष ने अंग्रेजी में कविता के रूप में ही किया। इसके अतिरिक्त उनके 'अन्तर्दामी', 'किशोर-किशोरी', 'माला' आदि कई-कान्य संग्रह प्रकाशित हुये, जिनको जनता ने बहुत पसन्द किया। अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध विद्वान 'जाम अलेक्जेंडर सैपमैन' ने दास बाबू की रचनाओं की बड़ी प्रशंसा की और उनमें से कुछ का अनुवाद भी किया। उन्होंने दास बाबू की एक-एक रचना पर विचार करते हुए लिखा—"देसबन्धु के विचारानुसार संगीत और जीवन दोनों एक हैं। संगीत जीवन है और जीवन संगीत। निस्संदेह संगीत उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव, और वह मानव की दिव्यता का प्रमाण है।"

दास बाबू देश की स्वाधीनता के लिए गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन में शामिल अवश्य हुए और उसकी सफल बनाने में उन्होंने अपना धन और ज्ञान ही नहीं लगा दिया बरन् अपना स्वास्थ्य और प्राण भी अर्पित कर दिये, फिर भी आपकी विचारधारा में स्वतंत्र चिन्तन का अस्तित्व सदैव बना रहा। जब चौरा-चौरी हत्याकाण्ड से ध्रुज्य होकर महात्मा गाँधी ने देश भर में सत्याग्रह को रोक दिया तब देसबन्धु बड़े असन्तुष्ट हुये और उन्होंने कहा— "नारदोली के सार्वजनिक अवज्ञा आन्दोलन को रोकने के लिए यह सत्याग्रह जी के पास जो कुछ भी कारण रहा हो, पर बंगाल में स्वयंसेवकों का काम रोकने के लिए कोई आधार नहीं था। वहाँ स्वयंसेवकों ने अपने प्रयत्नों द्वारा सरकार को लगभग पंगु बना दिया था, पर अब उनके कुछ भी कार्य करने पर प्रतिबन्ध लग गया। यह दूसरी बार महात्मा जी ने परिस्थिति को उलझाया है।"

फिर जब उनके महात्मा जी तथा उनके कुछ विशेष अनुयायियों का कौंसिल बाबकाट का प्रोग्राम पसन्द न आया तो उन्होंने 'स्वराज्य पार्टी' का निर्माण किया। जब विरोधियों ने उनको 'काँग्रेस का विद्रोही' कहकर बदनाम करने की चेष्टा की तो उन्होंने उत्तर दिया- "क्या मैं विद्रोही हूँ ? यदि मुझे ऐसा जान पड़े कि स्वराज्य प्राप्त करने के लिए काँग्रेस अथवा भारत की किसी भी दूसरी संस्था का विरोध करना आवश्यक है तो मैं अवश्य उसके प्रति विद्रोह करूँगा। मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि काँग्रेस से भी अधिक पवित्र एक और चीज है और वह है- भारतीय जनता की स्वतंत्रता।"

पर उनका 'जनता की स्वतंत्रता' वाला उद्देश्य भी एक और आधार पर टिका हुआ था और वह था भारतीय संस्कृति और धर्म की रक्षा। उन्होंने गाँधी जी से स्पष्ट कह दिया था कि "मैं राजनीतिक आन्दोलन में इसीलिए शामिल हुआ हूँ क्योंकि उसे धर्म का अंग समझता हूँ।" इन सबको धर्म के इस बुद्धि संभव स्वरूप को समझकर आचरण करना चाहिए।

राष्ट्रभक्त बाबू शिवप्रसाद गुप्त

अंग्रेजी शासन काल में और अब स्वाधीन भारत में भी मोटर गाड़ी के नम्बर प्लेट अंग्रेजी में लिखे जाने का नियम है। शायद इसका कारण यह हो कि अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बन चुकी है और संसार भर के व्यक्तियों को उसकी संख्या पढ़ने का थोड़ा बहुत अभ्यास होता हो। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि मार्गों में पहरा देने वाले पुलिस वालों को अंग्रेजी अंकों की जानकारी कराई जाती है और वे उसके नम्बरों को चलती मोटर में भी देख सकते हैं। कुछ भी हो ये विदेशी अंक बहुत समय से देशभक्तों और मातृभाषा भक्तों को खटकते रहते थे। वे सोचते थे कि अपने देश में भी जब हम अपनी भाषा का प्रयोग पूर्ण रूप से नहीं कर सकते तो अन्य लोग उसे क्यों महत्व देंगे ? ऐसे व्यक्तियों में बनारस के बाबू शिवप्रसाद गुप्त सर्वप्रथम थे जिन्होंने इस विचार को कार्यरूप में परिणित किया। उन्होंने आज से चालीस वर्ष पहले मोटर पर हिन्दी का नम्बर लगाया। इस पर उन पर मुकदमा चलाया गया और अदालत ने दोषी ठहराकर एक रुपया जुर्माना कर दिया। पर एक रुपया जुर्माना देने के बजाय आप सैकड़ों रुपया खर्च करके हिन्दी के अधिकार के लिए हाईकोर्ट तक लड़े। इसी प्रकार आप बैंकों के चेक पर भी हिन्दी में हस्ताक्षर करते थे और जो बड़ी बड़ी बैंक हिन्दी हस्ताक्षरों पर एतराज करती थीं उनसे सम्बन्ध नहीं रखते थे।

हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति के ऐसे अनन्य उपासक बाबू शिवप्रसाद गुप्त (१८८३-१९४८) पूर्वी उत्तर

प्रदेश के एक बहुत बड़े जमींदार वंश में जन्मे थे। उनके मुकाबले का रईस उस समय बनारस और दूर-दूर तक नहीं था और इसके लिए उनके चाचा मोतीलाल को सरकार ने 'राजा' और 'सर' (नाइट) के दोनों खिताब दिये थे, पर उनके भतीजे शिवप्रसाद अपने चाचा से उलटे मार्ग पर चले और इसके फलस्वरूप उनको तीन बार जेल की और भुमिनी की सजाएँ भोगनी पड़ीं। पर आज बहुत समय बीत जाने पर जब राजा मोतीलाल का नाम शायद बनारस के कुछ लोग ही जानते होंगे शिवप्रसाद जी का यह पूर्ववत् स्थिर है और रहेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि बाबू शिवप्रसाद बहुत बड़े धनी थे, पर उनका नाम धन की अधिकता के कारण प्रसिद्ध नहीं था। उस समय भी कलकत्ता और बम्बई में तथा अन्य नगरों में भी अनेक व्यवसाई और राजा तथा वास्तुकेदार उनसे बहुत अधिक धनवान थे, पर भारतीय जनता न तब उनका नाम जानती थी और न आज कोई उनकी याद करता है पर बाबू शिवप्रसाद ने अपना अधिकांश धन देना-सेवा, समाजसेवा और मातृभाषा सेवा के लिए खर्च कर दिया, अनेक व्यक्तियों को तरह-तरह से सहायता देकर देश-सेवा के मार्ग पर आगे बढ़ाया। इन्हीं सब प्रशंसनीय कार्यों और गुणों के लिये आज भी उनको श्रद्धा किताब जता है वरिधि भारतवर्ष में इस बीच में हजारों बड़े-बड़े धनी होकर गुजर चुके हैं पर उनमें अभी तक हमको कुछ ही ऐसे दिखलाई पड़े हैं, जिनकी तुलना बाबू शिवप्रसाद से की जा सकती है।

राजनीति में प्रवेश

वे विद्यार्थी अवस्था से ही राजनीतिक आन्दोलन की तरफ आकर्षित हो गये थे और १९१२-१३ में ही जब उनकी आयु मुश्किल से तीस वर्ष की होगी, राजनीतिक कार्यकर्ताओं को सहायता देने लगे थे। उन्हीं दिनों उन्होंने सुप्रसिद्ध राजनीतिक ग्रन्थ 'भारत में अंग्रेजी राज्य' के लेखक पं. सुन्दरलाल जी को 'जापान की राष्ट्रीय प्रगति का इतिहास' लिखने के लिए काफी आर्थिक सहायता दी तथा बड़े-बड़े प्राणात्मिक और महत्वपूर्ण अंग्रेजी के ग्रन्थ मँगाने उन्हें दिये। वह इतिहास बड़े परिश्रमपूर्वक लिखा गया था, पर लेखक और प्रकाशक में किसी साहित्यिक विषयक सिद्धान्त पर मतभेद हो जाने से सदा के लिए छटाई में पड़ा गया।

वैसे वे इससे बहुत पहले से ही राजनीति में भाग लेने लग गये थे। १९०४ में उन्होंने बम्बई के काँग्रेस अधिवेशन में भाग लिया था, अगले वर्ष (१९०५) उसका अधिवेशन बनारस में ही हुआ और गुप्त जी ने उसमें स्वयंसेवक बनकर कार्य किया। जब देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन ने जोर पकड़ा और लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय,

बाबू विपिन चन्द (लाल-बास-पाल) की जय जयकार होने लगी तो गुप्त जी भी उसी पार्टी में सम्मिलित हो गये। यह कुछ आश्चर्य की ही बात थी, क्योंकि मनमान लोगों के देशभक्त और समाज सुधारक हो जाने पर भी उनको अपने धन का भय बना ही रहता है। पर शिवप्रसाद जी इसके अपवाद थे। वे इस मामले में बड़े बड़े नेताओं से भी दो कदम आगे थे। १९२८ में जब कलकत्ता कांग्रेस के अधिवेशन में पूर्ण स्वतंत्रता और औपनिवेशिक स्वराज का मतभेद उपस्थित हुआ तो महात्मा जी औपनिवेशिक स्वराज्य को स्वीकार कर लेने के पक्ष में थे, पर शिवप्रसाद जी अन्य स्वतंत्रतावादियों के साथ इसके विरुद्ध थे। गाँधी जी के कट्टर अनुयायी होते हुये भी वे इस मामले पर उनसे जगड़ पड़े।

वे भारतीय स्वतंत्रता के कितने जबरदस्त पक्षपाती थे यह उनके मनोभावों से कभी-कभी प्रकट हो जाता था। एक बार जब वे दिल्ली में सेठ गोविन्ददास जी के साथ पार्लियामेन्ट भवन और सेक्रेटेरियट के सामने से निकल रहे थे तो कहने लगे—“आप जानते हैं कि स्वराज्य प्राप्त होने पर यदि मेरी चस्ती तो सबसे पहले मैं क्या करूँगा?” फिर कहने लगे—“तोष से इन इमारतों को ढ़क ढ़ूँगा, क्योंकि वे हमारी गुलाबी के इतिहास की छोटक रहेंगी।” इसी प्रकार जब गोविन्ददास जी स्वराज्य पार्टी की तरफ से केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के लिए उम्मीदवार हुए और एक दिन गुप्तजी से उनका सामना हो गया तो वे अपने दोनों हाथों से अपने गालों को घपघपाते हुए कहने लगे—“गोविन्ददास जी! आप वहाँ जाकर बादशाह और उसके कुटुम्बियों के प्रति वफादारी की शपथ कैसे लेंगे?” वे पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय में वहाँ तक दृढ़ थे कि जब कांग्रेस ने कौंसिल प्रवेश का प्रस्ताव पास कर दिया, तो गुप्त जी ने कांग्रेस की सदस्यता त्याग दी और उससे सम्बन्धित सब पदों से इस्तीफा दे दिया।

समाज सुधार की लगन

पुराने लोगों में जाति-पाँत के नियमों तथा रूढ़ियों के पालन के सम्बन्ध में नितनी कट्टरता होती थी, वह सर्वविदित है। अब से पचास-साठ वर्ष पहले वह आजकल की अपेक्षा बहुत अधिक थी, फिर शिवप्रसाद गुप्त का घराना बहुत प्राचीन और वैभवशाली होने के कारण अग्रवाल समाज में बड़ा सम्मानित था। सन् १९२९ में गुप्त जी बीमारी के कारण अपनी बी. ए. की पढ़ाई छोड़कर इलाज कराने दिल्ली गये और वहाँ से चिकित्सक की सलाह से जलवायु बदलने मंसूरी चले गये। वे मंसूरी में ही थे कि उनके एक मित्र लक्ष्मीचन्द जी अग्रवाल शिक्षा प्राप्त करके विदेश से लौटकर काशी आये। “काशी

अग्रवाल स्पोर्ट्स क्लब’ के अठारह युवकों ने एक प्रीतिभोज में उनके साथ खाना खा लिया। जब इस बात की खबर बिरादरी वालों को लगी तो वे बहुत बिगड़े और उन युवकों के खिलाफ एक जोरदार आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इसका पता चलने पर गुप्त जी मंसूरी से बनारस लौट आये और स्वयं भी उन युवकों के साथ छाने पीने लगे। अंत में उन सबको जाति से बहिष्कृत कर दिया गया, पर गुप्त जी ने इस बात की कभी परवाह नहीं की और बरामबर विदेश यात्रा का समर्थन करते रहे।

इतना ही नहीं वे स्वयं दो बार विदेश भ्रमण के लिये गये और कभी कोई प्रायश्चित्त आदि नहीं किया। वास्तव में वे स्वभावतः स्वतंत्र प्रकृति के थे और जिस कार्य को उचित समझ लेते थे। उसको बिना किसी संकोच और द्विवक् के करते थे। यह मनोवृत्ति सुधारकों के लिये आवश्यक है। हम सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक किसी भी क्षेत्र में सुधार क्यों न करना चाहें, हमारे भीतर अपने सिद्धान्तों के प्रति किसी भी विरोध अथवा हानि को सहने का साहस होना आवश्यक है। गुप्त जी में अपने सिद्धान्त पर डटे रहने का बहुत बड़ा गुण था और इसके लिए उन्होंने अनेक बार बहुत हानि भी उठाई। काशी में दंगा हो जाने पर जब नगरवासियों पर सामूहिक जुर्माना किया गया तो आपने उसे अन्यायपूर्ण समझकर उसका विरोध किया और स्वयं उसे देने से इन्कार कर दिया। इस पर थोड़े से रुपयों के लिए पुलिस ने उनकी कई हथार को मोटर जप्त करके नीलाम कर दी, पर आपने जुर्माना राशी से अदा न किया।

गुप्तजी की दानशीलता बहुत अधिक थी। यद्यपि अब भी देश में मंदिर, धर्मशाला, धर्मोत्सवों में लाखों रुपया खर्च कर जलने वाले धनियों की कमी नहीं है, पर उनका दान विचारपूर्ण और देश तथा समाज की दृष्टि से हितकारी ही होता था। केवल नाम कमाने या शौक को पूरा करने के लिए उन्होंने कभी दान नहीं किया। इसके विपरीत वे अधिकांश दान इस प्रकार करते कि उसका उनके इष्ट-पित्रों तक को पता नहीं चलता था। एक जानकार व्यक्ति के कथनानुसार काशी विद्यापीठ व उसका पुस्तकालय, श्री भगवानदास स्वाध्यायपीठ, भारत मंदिर, ज्ञान भण्डार, ‘आज’ दैनिक पत्र आदि के संस्थापन और संचालन में ही उन्होंने बीस लाख रुपये के लगभग खर्च किया था। इसके अतिरिक्त लोकसेवा के पचासों कमरों में वे दस-दस, पाँच-पाँच हजार रुपया देते ही रहते थे। कितने ही गरीब विद्यार्थियों को उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त करने में पूरी सहायता दी, कुछ को तो विदेश जाकर पढ़ने का भी खर्च दिया। उनकी उदारता इस सम्बन्ध में ऐसी थी कि जो लोग उनका विरोध करते थे वे भी उनसे सहायता प्राप्त कर लेते थे। जितने बड़े

दान उन्होंने प्रकट रूप में दिये थे अपने नाम से न देकर अन्य लोगों के नाम से ही दिए।

गुरु जी बड़े विद्याव्यसनी थे। यद्यपि वे स्वयं बहुत अधिक अध्ययन नहीं कर सके थे, पर अपने पुस्तकालय में देश-विदेश की सुन्दर और बहुमूल्य पुस्तकें एकत्रित करते रहते थे। इस कार्य में उन्होंने लाखों रुपये खर्च कर दिया और उनका पुस्तकालय ऐसा महत्वपूर्ण बन गया जैसा किसी बड़े विद्यालय का हो सकता था। बहुत से विद्वान अध्ययन के लिए इन पुस्तकों को लेकर लाभ उठाते थे। बाद में आपने इस विशाल संग्रह का एक बड़ा भाग काशी विद्यापीठ को दे दिया, जिसमें ३-४ लाख रुपये मूल्य की २६ हजार पुस्तकें थीं।

गुरु जी का बनवाया भारत माता का मंदिर भी अपूर्व है, जिसकी तुलना का मंदिर भारत में एक भी नहीं है। इस मंदिर में मूर्ति के स्थान पर भारतवर्ष का ३० फुट लम्बा और लगभग इतना ही चौड़ा संगमरमर का बना मानचित्र स्थापित किया गया है जिसके दर्शन से देश की एक दिव्य झलकी मिल जाती है। यह एक ऐसा मंदिर है जिसमें सभी धर्मों और सम्प्रदायों के व्यक्ति एकत्रित होकर राष्ट्र-माता के सम्मुख नमस्कार चुका सकते हैं।

श्री शिवप्रसाद गुरु का समस्त जीवन इसी प्रकार की लोकोपकारी प्रवृत्तियों में व्यतीत हुआ। वे स्वयं तो यथाशक्ति देशसेवा और समाजसेवा करते ही रहते थे, साथ ही अन्य देशसेवकों की सेवा करने में भी उनको बड़ा सुख मिलता था। काशी में बाहर से आने वाले सभी नेता उनके 'सेवा-उपवन' में पहुँच जाते तो गुरु जी उनको बिना भोजन या जलपान कराये आने नहीं देते थे। प्रत्येक व्यक्ति के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करना, सहायता करना उनका स्वभाव हो गया था। इसी से हमको कहना पड़ता है कि देश में धनी तो बहुत हैं, पर शिवप्रसाद जी की तरह अपने धन को सार्थक करने वाले थोड़े ही हैं अगर हमारा धनिक वर्ग उनके चरित्र से उचित प्रेरणा ले सके तो यह देश का बहुत बड़ा सौभाग्य होगा।

आजन्म देशसेवी—

विजयसिंह 'पथिक'

"पथिक काम करने वाला व्यक्ति है। अन्य सब बातें करते हैं। वह बहादुर सैनिक है।" महात्मा गांधी की यह टिप्पणी विजयसिंह पथिक का सच्चा परिचय देने के लिए पर्याप्त है।

आज तो हम प्रति वर्ष स्वतंत्रता दिवस मनाते हैं। हमें स्वतंत्र हुए कई वर्ष हो चुके हैं किन्तु विजयसिंह

'पथिक' जिस समय जन्मे थे उस समय आजादी का नाम लेना सिरफिरी का काम था। कई लोग अंग्रेजों के प्रभुत्व को समाप्त कर सकना असम्भव मानते थे, कई उनके भय से स्वतंत्रता समर्थक सभाओं में भाग तक नहीं लेते थे कि कहीं किसी सरकारी कर्मचारी की निगाह में आ गये या किसी ने शिकायत कर दी तो जेल जाना पड़ेगा। पीछे से बात-बच्चों का क्या होगा? ऐसे समय में जब अन्धकार घनीभूत होकर अपना आधिपत्य जमाए हो, विरले ही प्रकाश की कामना कर उठ सके हो पाते हैं। उन्होंने विरलों में एक 'पथिक' भी थे।

राजस्थान में स्वतंत्रता की ज्योति जलाने का श्रेय उन्हें कम नहीं जाता। उत्तर-प्रदेश में जन्म लेने पर भी उन्होंने अपना सारा जीवन राजस्थान के सेवाद्वारा तथा अजमेर क्षेत्र की जनता को जगाने में लगा दिया। इन सोये हुए लोगों में जागृति लाने के लिए उन्होंने कम प्रयास नहीं किए। बिजोलिया-सात्यग्रह के सूत्रधार तथा राजस्थान सेवा संघ के संस्थापक के रूप में उनके राष्ट्रीय व सामाजिक कर्तृत्व की किंबदन्तियाँ आज भी राजस्थान की उस चिकट पर्वतीय भूमि के वासियों में सारथ्य कही-सुनी जाती हैं।

उनका जन्म उत्तर-प्रदेश के बुलन्दशहर जिले के गुन्करी गाँव में हुआ था। उनका असली नाम भूपसिंह था। विजयसिंह नाम बाद में उन्होंने रख लिया था। 'पथिक' उनका उपनाम था जो उनके सतत कर्मशील होने का परिचायक है। नाम के बदलने के पीछे भी एक कहानी जुड़ी हुई है। १९०७ में जब युवक भूपसिंह की नसों भीगी ही थीं, तन-मन पर जीवन की लुगई बड़ी ही थी कि उनका सम्पर्क क्रान्तिकारियों से हो गया था। अतः उन्होंने अपनी जवानी देश-सेवा करके ही सार्थक करने की ठान ली।

किंग्सफोर्ड की गद्दी पर बम फैकने के अपराध में भूपसिंह को भी पकड़ा गया था किन्तु प्रमाणों के अभाव में उन्हें छोड़ दिया गया। तभी से उन्होंने अपना नाम बदल कर विजयसिंह रख लिया।

इनकी माता 'कैवल' बड़ी साहसी व जीषट घाली महिला थीं। १८५७ की क्रांति में उन्होंने बड़ी धीरता के साथ फिरोगियों को नाकों चने चन्नाये थे। उन्होंने अपने पुत्र का निर्माण भी उसी तरह किया कि वह अपने जीवन में उनके अधूरे काम को पूरा कर सके। उन्होंने बाल्यावस्था में ही उनके कोमल मन-मस्तिष्क पर साहस, नैतिकता, देश-भक्ति, सूझ-बूझ, समाज सेवा और कर्मठता अर्थात् सद्गुणों के संस्कार डाले। देश व समाज के लिए बलिदान करने की भावनाएँ जगाने वाली ऐसी माताएँ जहाँ हों वहाँ 'पथिक' जैसे लोकसेवियों का निर्माण होना असम्भव नहीं होता।

बचपन से उनके मन-मस्तिष्क पर पड़े इन सुसंस्कारों का प्रभाव भी वैसा ही हुआ जैसी उनकी वीर प्रसूता माता ने चाहा था, यों स्कूली शिक्षा उन्हें नहीं के बराबर मिली थी किन्तु उन्होंने निरन्तर सजगता व जिज्ञासा के बल पर संसार में बिखरे ज्ञान रूपी मणि मुक्ताओं को समेटकर अपने ज्ञान भण्डार को समृद्ध बना लिया था। यही नहीं स्वाध्याय के सहारे उन्होंने राजनीतिशास्त्र में विद्वता भी प्राप्त कर ली थी।

१९१४ में हुए क्रान्तिकारी सम्मेलन में उन्हें राजस्थान के अजमेर तथा नसीराबाद क्षेत्र पर अधिकार करने का दुष्कर काम सौंपा गया। वीर परिवार से सम्बन्धित होने के कारण अस्त्र-शस्त्र संचालन की कला तो उन्हें पैतृक गुण के रूप में मिली ही थी। उन्होंने अजमेर के बन प्रान्तों में जाकर अपना डेरा चमया तथा उत्साही क्रान्तिकारी युवकों का एक छद्म संगठन बना लिया। एक बार अजमेर के कमिश्नर की पाँच सौ सिपाहियों की टुकड़ी के साथ वे जमकर लड़े भी। अन्त में कमिश्नर ने उनसे समझौता कर लिया था।

यहीं आकर उनके विचारों में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आया। उन्होंने भाषना के साथ बुद्धि का समन्वय आरम्भ किया। जब तक जनता को अपने दायित्वों व अधिकारों का भान नहीं हो जाता तब तक इस प्रकार की लड़ाई लड़ने में उन्हें कोई लाभ नजर नहीं आया। जनता जब अपने अधिकारों को पाने के लिए सजग हो जायगी तब अंग्रेजों से लड़ना व देशी राजाओं के वर्चस्व को समाप्त करना सहज हो जाएगा। अतः उन्होंने इसी दिशा में काम करना आरम्भ कर दिया।

उन्होंने देखा कि राजस्थान की गरीब जनता राजाओं और जागीरदारों के पाँवों तले रौंदी जा रही है। राजा हो नहीं छोटे-छोटे जागीरदार भी उन पर मनमाना अत्याचार करते हैं। प्रजा इसे अपना दुर्भाग्य मानकर स्वीकार कर लेती है। प्रतिकार, विरोध का प्रयास ही नहीं करती।

उन्होंने अपने जन-जागरण के कार्य का शंखनाद यहाँ से किया। सामन्ती अत्याचारों व शोषण ने आन्दोलन की पूर्व पीठिका तो तैयार कर ही रखी थी। ऐसे ही समय वे बिजोलिया पहुँचे। उन्होंने किसानों को संगठित होकर आन्दोलन करने की सलाह दी तथा आगे रहकर आन्दोलन का नेतृत्व करने का बीड़ा उठाया। उनके ओजस्वी भाषणों से अग्न बरसती थी। इस अग्नि में किसानों की भीरुता जल जाती, उनमें श्रेष्ठता व अत्याचार से संघर्ष करने की शक्ति जाग उठती थी।

उनकी प्रेरणा से बिजोलिया में जबरदस्त कृषक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। राजा तथा उसके समर्थक आन्दोलन को कुचलने के लिए साग, दम, दण्ड और भेद

की नीति अपना रहे थे। विजयसिंह 'पथिक' के तो व प्राणों के ग्राहक बन गये थे। उनकी कह-कठिनाइयों का कोई ठिकाना नहीं था। प्रतिपक्षी लोग जबरदस्ती मनमाना सरकारी ऋण, लगान व चन्दा उगाहने पर तुले हुए थे। किन्तु उनकी एक न चली। सामन्तवाद को जनमत के सम्मुख धुटने देकने पड़े थे।

बिजोलिया के संघर्ष की सफलता ने किसानों और सामान्यजनों में एक नया आत्मविश्वास जगाया था। यह राजस्थान के संघर्ष का प्रतीक बन गया था। अब जनता को यह विश्वास हो गया था कि सच्ची शक्ति धोड़े से प्रभुता सम्पन्न लोगों के हाथों में नहीं बरत उनके हाथों में है। इस आन्दोलन की सफलता से प्रभावित होकर गाँधी जी ने उन्हें अपने पास बम्बई बुलाया था।

'पथिक' जी को अपने जैसे कितने ही समाजसेवी देशभक्त उत्पन्न करने का श्रेय भी कम नहीं जाता। उनका विश्वास था कि समाज में एक वर्ग ऐसा होना चाहिए जो देश व समाज के लिए ही अपना सारा जीवन, अपनी सारी शक्ति-साधन व्यय करे। इस बलिदान परम्परा का निर्वह उन्होंने स्वयं भी किया तथा अपने साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने वाले अन्य कितने ही सैनिकों का निर्माण भी किया।

उसी समाज में से जिसके अधिकांश व्यक्ति प्रजा राज्य की जय बोलने में भी भावो अनिष्ट की शंका-कुशंकाओं से ग्रस्त हो हिचकिचाते थे, उन्होंने ऐसे व्यक्तित्व खोज निकाले जो परमार्थ प्रयोजनों में संलग्न हो सकें। ऐसे ही जनसेवियों की एक टोली का गठन उन्होंने 'राजस्थान सेवा संघ' के नाम से किया। यह संघ अपने क्रिया कलापों के कारण सारे मेवाड़ तथा अजमेर क्षेत्र में विख्यात हुआ। इस संघ ने समाज को कितने ही निस्मृह कार्यकर्ता दिये।

राजस्थान सेवा संघ का उदय हुआ तो देशी रजवाड़े अपने सापने खड़ी होने वाली इस जन शक्ति से भयभीत हो उठे। अंग्रेज सरकार भी इन गतिविधियों से चिन्त थी। उन्होंने संघ में फूट डलने के कितने ही प्रयास किए जो यों तक असफल रहे। देश भक्तों की, लोक सेवियों की जमात अपने उद्देश्यों पर आरुढ़ रही किन्तु बाद में कुछ ऐसे तत्व इसमें सक्रिय हो गये कि उन्होंने संघ में फूट उत्पन्न कर दी जो उसके अन्त का कारण बनी।

संघ की समाप्ति पर वे निराश नहीं हुए। उन्होंने एक सैनिक की तरह दुर्दमन पथिक बनकर चलना सीखा था। उन्होंने मजदूरों का नेतृत्व अपने हाथ में लिया। वे तत्कालीन जी. बी. एण्ड सी. आई. रेल्वे मजदूर यूनियन के सम्मानित अध्यक्ष बनाये गये। इन्हीं दिनों १९२७ में लाहौर कांग्रेस में पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य निर्धारित किया गया,

‘पथिक’ जी पूरी तरह उसी लक्ष्य को पाने के लिए जुट गये। ‘पथिक’ जी द्वारा रचित कविताओं ने उन दिनों राजस्थानी जन समुदाय में प्रबल जाग्रति उत्पन्न करने का कार्य भी किया। साहित्यिक क्षमताओं से किस प्रकार जन मानस को एक महान उद्देश्य के लिए उद्बोधन देकर अभोष्ट प्रयोजन के लिए सन्नद्ध किया जा सकता है उसका यह अनुपम उदाहरण था।

सामान्य कृषक आन्दोलन से आरम्भ होकर उनका यह जन जागरण का यह अधिकांश देशी राजाओं को भारतीय गणतंत्र में मिलाने के लिए बाध्य करने तक चला। प्रबल सुधारम्भ उस आन्दोलन का परिणाम था जो उन्होंने जिजोलिया में किया था। वे अब सेनानायक बनकर अपने वायित्यों का निर्वाह करने में जुट पड़े थे।

‘पथिक’ जी पूरे सिद्धान्तवादी थे। राजनैतिक स्वतंत्रता को ही वे चरम लक्ष्य मानकर नहीं चले थे बल्कि वे तो भारतीय जनमानस में नागरिकता, नैतिकता व राष्ट्रीयता को प्रबल भावनाएँ, निश्ठाएँ जगाना चाहते थे। यही कारण था कि भारत के स्वतंत्र हो जाने पर अधिकांश जननेता राजनीति में उलझकर रह गये पर वे इस पंक से दूर ही रहे। उन्होंने देखा कि उन्हीं के साथ स्वतंत्रता पाने के लिये संघर्ष करने वाले साथी सत्तास्थ होकर लक्ष्य भ्रष्ट हो रहे हैं तो वे बड़े खिन्न हुए। उन्हें तो संघर्ष अब भी करना था। उनकी लड़ाई अभी समाप्त नहीं हुई थी अपनी स्वार्थवृत्तियों व संकीर्णताओं से अभी भी जनमानस को मुक्त करना था। अतः वे परिस्थितियों की चिन्ता किए बिना ही आदर्शों व सामाजिक पुनर्स्थापन के लिए संघर्ष करते रहे।

१९५४ में इस महान आत्मा ने अपनी इश्लीला सपास की। उनकी आत्मा आज भी हमें उनके अधूरे स्वप्नों को पूरे करने के लिए झकझोरती रहती है। हम भले ही अपनी विवेक की आँखों पर स्वार्थ का पर्दा ठासकर देख न पाते हों किन्तु हमारी आन्तरिक चेतना उन शब्दों को सुनती है।

पेशावर विद्रोह प्रणेता -

चन्द्रसिंह गढ़वाली

३० अप्रैल, १९३० की बात है। पेशावर के किस्स-खानी बाजार में एक विशाल जनसभा हो रही थी। चर्खेवाला तिरंगा झण्डा मंच पर लहरा रहा था। हजारों की संख्या में आजादी समर्थक पठान लोग वहाँ एकत्रित थे। सभा में सम्मिलित होने वालों के अतिरिक्त हजारों की संख्या में स्त्री, पुरुष और बच्चे अपने-अपने मकानों के झरोखों, छतों व खिड़कियों से दोनों तरफ की तैयारियों

को देख रहे थे। निकट भविष्य में क्या घटने जा रहा है इसकी उत्सुकता उनके चेहरों से स्पष्ट झलक रही थी।

पेशावर उन दिनों एक प्रसिद्ध सैनिक छावनी था। सरकार ने जनसभा को कुचलने के लिए पूरा प्रबन्ध कर रखा था। रायल गढ़वाल रेजीमेंट के सैनिक समय पड़ने पर लाठियों व गोलियों बरसाने के लिए तैनात किए हुए थे किन्तु अंग्रेज सरकार को क्या पता था कि आज के दिन भारतीय सैनिक कुछ दूसरी ही चीरता दिखाएँगे।

भीड़ बढ़ती ही जा रही थी, साथ ही दर्शकों की उत्सुकता और कप्तान रिकेट की आतुरता। कप्तान रिकेट यहाँ तैनात गढ़वाली सैनिक टुकड़ी का कप्तान था। अंग्रेज सैनिक अधिकारियों के लिए तो उन दिनों सत्पात्रहियों व स्वतंत्रता समर्थक निहत्थी जनता पर हमला चक्र चलाना एक सामान्य बात हो चली थी। कप्तान यह सब देखकर लाल-पीला हो उठा। उसने कड़ककर आदेश दिया- ‘गढ़वाली बटालियन एडवांस! (गढ़वाली पलटन आगे बढ़ो)। उसके इस आदेश का प्रतिउत्तर जन समुदाय ने ‘महात्मा गाँधी की जय’ और ‘अल्ल हो अकबर’ के नारों से दिया।

तभी एक गोरे अर्दली ने कप्तान को एक कागज बयावा जिसमें उच्च अधिकारियों द्वारा गोली चलाने का आदेश दिया गया था। उसे पढ़ते ही दौत पीसते हुए हुए उसने आदेश दिया- ‘गढ़वाली श्री राठण्ड फायर’ (गढ़वाली तीन बार गोली चलाओ)। किन्तु उसके इस आदेश की कोई प्रतिक्रिया सैनिकों पर नहीं हुई। एक तेजस्वी गढ़वाली हवलदार अपने स्थान से आगे बढ़ आया और उसके कड़ककर आदेश दिया- ‘गढ़वाली सीब फायर!’ (गढ़वाली गोली मत दागो)। इस आदेश का सुनना था कि सब सैनिकों ने अपनी राइफलें जमीन पर रख दीं।

यह विद्रोह इस बात का प्रतीक था कि व्यक्ति अपने पेट की खातिर नौकरी करते हुए अपने ही निरपराध देशवासियों पर गोली नहीं चल सकता। सैनिक भी पहले भारतीय हैं और फिर अंग्रेज सरकार के चेतन भोगी सैनिक। वे अपने देश के लिए मर मिटने को तैयार हैं। महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन का यह भी एक स्वरूप था। इस छोटे से विद्रोह में भावी क्रान्ति की महत्वपूर्ण पहलूनि छिपी थी। इसी घटना ने सुभाष चन्द्र बोस के मस्तक में आजाद हिन्द सेना की प्रेरणा भरी थी। वही छोटा-सा बीज १९४२ में वृक्ष रूप में परिणित हुआ था और ३००० गढ़वाली सिपाहियों ने आजाद हिन्द सेना में भर्ती होकर विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने का महत्वपूर्ण निर्णय लिया था।

इस विद्रोह के प्रणेता चन्द्रसिंह गढ़वाली थे । वे गढ़वाल के एक कुषक परिवार में उत्पन्न हुए थे । थोड़ा पढ़-लिखकर वे सेना में भर्ती हो गये । प्रथम विश्व युद्ध में वीरता प्रदर्शन के कारण उन्हें कई पदक मिले व उन्हें हवलदार बना दिया गया । आर्यसमाज जैसी समाज सुधारक संस्था के सम्पर्क में आकर उनके हृदय में स्वदेश प्रेम और आस्तिकता की भावनाएँ उत्पन्न हुई । उसे महात्मा गाँधी की अहिंसा नीति ने और भी गहरा रंग दे दिया । वह अब इस बात को समझने लगे थे कि विदेशी सरकार की सेना में नौकरी करते हुये अपने ही देशवासियों द्वारा चलाए जा रहे स्वतंत्रता आन्दोलन को कुचलना वीरता नहीं देशद्रोह है । उन्होंने अपने इस विचार का प्रचार अपने साथी सैनिकों में भी किया । उसके फलस्वरूप गढ़वाल राइफल के ६० सैनिकों व अफसरों ने अपने स्तीफे लिखकर रख लिए थे । उन्हें वे जल्दी ही उच्च अधिकारियों को देने वाले थे ।

इसी बीच यह आम सभा होने की बात जानकारों में आई । गढ़वाली राइफल के सैनिकों ने इसके पूर्व ही २२ अप्रैल को इस विषय पर विचार-विमर्श किया जिसमें निर्णय लिया गया कि चाहे सिर ही कटाया पड़े निहत्थे स्त्री-पुरुषों व अवोध बालकों पर वे हथियार नहीं उठावेंगे । उसी निश्चय की परिणति उस दिन हुई ।

पेशावर काण्ड के इस सैनिक सत्याग्रह के अनन्तर उन सब सैनिकों को बन्दी बना लिया गया और उन पर अभिभोग चलाया गया । मुकदमे की बैरवी पेशावर के सांस्कृतिक व बौद्धिक नेता बैरिस्टर मुकन्दी ताल ने की और उन्हें बचाने का पूरा-पूरा प्रयास किया । उस मुकदमे में हवलदार चन्द्रसिंह गढ़वाली को आजीवन कैद व अन्य सैनिकों को २ से ८ वर्ष तक की जेल की सजा दी गई ।

बैरिस्टर मुकन्दी ताल का कथन है—“श्री चन्द्रसिंह गढ़वाली का हम यथायोग्य सम्मान करते हैं । वह एक महान् पुरुष है । आजाद हिन्द फौज का बीच बोने वाला घड़ी है । पेशावर काण्ड का नतीजा यह हुआ कि अंग्रेज समझ गये कि भारतीय सेना में यह विचार गढ़वाली सैनिकों ने पहले-पहल पैदा किया । विदेशियों के लिए अपनों के खिलाफ नहीं लड़ना चाहिए ।”

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में इस घटना का अपना एक अहम् स्थान है । यों स्वतंत्रता दिलाने का श्रेय असहयोग आन्दोलन को मिला । किन्तु क्रान्तिकारियों विशेषकर वीर सुभाषचन्द्र बोस द्वारा किए गये प्रयास तथा आजाद हिन्द सेना के गठन, स्वतंत्र भारत सरकार की स्थापना आदि तथ्यों का भी स्वतंत्रता प्राप्ति में कम हाथ नहीं था । यह विद्रोह भी उसी की एक कड़ी या उसका जनक कहा जाय

तो अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा । अब तक अंग्रेज भारतीय सैनिकों पर विश्वास करते आये थे । १८५७ के विद्रोह ने उस विश्वास को तोड़ा था और १९२३ के इस असहयोग ने तो उन्हें यह प्रतीति ही करा दी थी कि अब वे अधिक दिनों तक यहाँ अपने पाँव टिकाए नहीं रख सकते ।

इस विद्रोह में गाँधी जी के असहयोग व सुभाष की क्रान्ति दोनों के दर्शन होते हैं । उन वीरों का वह साहस निश्चय ही सराहनीय है । उस साहस को हम भूल नहीं सकते । आज स्वतंत्रता पा लेने के इतने वर्ष बाद भी हमारे देश में राष्ट्रीय चेतना का अभाव खलता है । अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए देश व अपने देशवासी भाइयों का बहुत बड़ा अहित करते हुए हम तारमते नहीं । जबकि आज हमारी अपनी सरकार है, हमारे घुने हुए प्रतिनिधि देश का सम्मान सूत्र सम्हालते हैं फिर भी वह नैतिक सामर्थ्य हमें हासिल करनी बाकी है जो एक स्वतंत्र राष्ट्र के नागरिकों में होनी चाहिए । उसे पाने के संकल्प को पूरा करने में उन सैनिकों का वह साहस, निष्ठा व भावना हमें बल प्रदान करेंगी ।

स्वातंत्र्य यज्ञ के अमर होता—

पं. रामनाथ

“भारत में ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हो गये । बहुत ऊँची चोटियाँ, बहुत ऊँचे मनुष्य । किन्तु आम जनता का स्तर नीचा ही रहा । मुझे योरोप का चरान इससे भिन्न लगता है । योरोप में ऊँचे पहाड़ शायद कम ही हैं, लेकिन आम जनता का स्तर ऊँचा है— जो हमारे यहाँ है उससे ऊँचा । तो आध्यात्मिक दृष्टि से सोचने के लिए भी यह चीज सामने आती है ।

मैंने कई बार कहा है कि आगे जो युग है वह युग श्रेयकर्म का है, नेतृत्व का नहीं । इसलिये कोई एक ऊँचा मनुष्य हो और बाकी सब लोग नीचे हों, उस मनुष्य की जय-जयकार चले और उसके कारण लोगों का थोड़ा उत्थान हो तो वह पर्याप्त नहीं है । इसके आगे वह करना होगा कि सारे समाज का चित्त ऊपर उठाएँ । वह भले उठना न उठे, जितना एक व्यक्ति का उठा था, फिर भी उसकी शक्ति ज्यादा होगी और मैंने कहा कि चित्त ऊपर उठाने में, एक प्रेरणा से प्रेरित समूह काम करेगा तो आसानी होगी।”

अचार्य विनोबा भावे के उपरोक्त तथ्य निरूपण की सत्कता और उनके दिश-निर्देश की उपादेयता निर्विवाद रूप से सत्य लगती है । विचारणीय प्रश्न है कि हमारे देश में एक व्यक्ति का चरित्र इतना ऊँचा कैसे हो जाता है जबकि समाज का स्तर नीचा रहता है । इसके पीछे एक

कारण यह है कि किसी भी महान कर्ष का श्रेय थोड़े से नेताओं को तो खूब दे देने की हम भारतवासियों की पुरानी आदत है और जो उनके सहयोगी रहे थे, उनको भूल जाने की आदत है। स्वतंत्रता संग्राम की बात को ही लें तो कितने ही ऐसे लोगों के बारे में हमें थोड़ा-सा ज्ञात नहीं है जिन्होंने यथा-शक्ति, यथा-सामर्थ्य इस संग्राम में भाग लिया था और सब पूछा जाय तो संग्राम तो सिपाहियों के बल पर ही सदा जाता है। लेकिन हमारी नजर सिपाहियों पर नहीं सेनानायक पर जाती है। थोड़े से व्यक्तियों को 'हीरो' बना दिया जाता है और सामान्य व्यक्ति को 'जीरो' मान लिया जाता है। सामान्य जनता कहाँ से प्रेरणा प्राप्त करे- किसे अपना अहंदाश चुने। ऐसे व्यक्ति बहुत कम नजर आते हैं। 'युग निर्माण योजना' पत्रिका का एक लक्ष्य ऐसे चरित्रों को प्रकाश में लाना भी रहा है ताकि जन सामान्य का पित्त ऊपर उठाने के लिये वे उत्प्रेरक का कार्य कर सकें।

पं. रामनाथ शर्मा ऐसे ही व्यक्तित्व हैं जो यह बतलाते हैं कि स्वतंत्रता संग्राम के सैनिक की हैसियत से वे किस वृद्धता, किस वीरता और साहस के साथ अपने मोर्चे पर खड़े रहे। उत्तर प्रदेश के कानपुर जिले के बिल्हौर कस्बे के सुहृद् अवस्थिपान में पं. सदान राम के घर की स्थिति ठीक वैसी ही थी जैसी लंका में विभीषण की। अंग्रेजों के कृपा पात्र जमींदार फौज के सूबेदार, जमींदारों के एजेन्ट और पुलिस के दलालों के बीच वह अकेला ही आजादी परस्त घर था। पं. सदान साल हुकल नैऋतीन थे। उनकी पुत्र रामनाथ और रामसाल ने आजादी के लिए अंग्रेज सरकार के विरुद्ध लड़े गये संग्राम में बहु-बहुकर भाग लिया।

पं. रामनाथ अपने मामा की सहायता से थोड़ा-सा पढ़-लिखकर मुरादाबाद में रेलवे कार्यालय में नौकरी करने लगे थे। एक सामान्य स्थिति के व्यक्ति के लिये इतने से संतुष्ट हो जाना पर्याप्त था। यों परिवार के पास पर्याप्त कृषि योग्य भूमि तथा बाग थे। पर उन दिनों कृषि कोई विशेष लाभदायक व्यवसाय नहीं था। आरम्भ में वे अपने इस जीवन से लगभग संतुष्ट ही थे पर एक दिन जब उन्होंने बंकिम बाबू के आनन्द मठ उपन्यास को पढ़ा तो उनका यह संतोष असंतोष में परिवर्तित हो गया। जब भारत माता पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ी हुई हो तो हम संतुष्ट कैसे बैठ सकते हैं अतः उन्होंने राष्ट्रीय भावनाओं के जागरण के लिये कार्य करना आरम्भ कर दिया। अपने मिलने-जुलने वाले लोगों और पास-पड़ोसियों में संगठन, स्वाभिमान और देश-भक्ति की भावनाएँ उभारने के कारण उन्हें नौकरी से हाथ धोना पड़ा।

वह सर मुंडाते ही ओले गिरने जैसा दुर्योग था। कोई और होता तो वह अपने जनजागरण के कार्य को यहीं पर

रोक देता पर पं. रामनाथ किसी भी शुभ कार्य को आरम्भ करके मार्ग की बाधाओं से विचलित हो जाने वाले दुर्लभ लोको में से नहीं थे। अतः उन्होंने इस स्थिति में भी श्रेय पथ से विचलित होना ठीक नहीं समझा। नौकरी छूट जाने से परिवार को भयकर अर्थ संकट भोगना पड़ा। पिता नेत्र हीन थे, छोटा भाई पढ़ रहा था और वे बेकार हो गये थे इसका अर्थ यह था कि परिवार में कमाऊ एक भी नहीं रहा था। मुहल्ले के अंग्रेजी सरकार परस्त लोगों ने उनका उपहास उड़ाना आरम्भ कर दिया- "चले देश-भक्ति के उपदेश देने अब बच्चू को पता चलेगा।" पर उन्हें क्या पता कि आदर्शों के पथ पर चलने वालों के लिये आपदाओं के शूल भी फूल का सा मजा देते हैं।

घर के रईस तो थे नहीं। परिवार को गहरी भी खींचनी थी और देश का काम भी करना था तो उन्होंने कानपुर के बिल्हा बोर्ड द्वारा चलाये जाने वाली प्राथमिक पाठशाला के लिये दस रुपये माहवार वेतन पर अध्यापक बनना स्वीकार कर लिया।

अध्यापक के रूप में उन्हें वेतन तो बहुत कम मिलता था पर कार्यक्षेत्र काफी बड़ा मिल गया था, कार्य करने के लिए। इस बात की उन्हें प्रसन्नता थी। यह उनकी आस्थावादी दृष्टि ही थी जो विषम परिस्थितियों में भी उपयोगी क्षेत्र ईँड़ निकालती थी। वे जहाँ भी जाते ग्रामीण जनता को संगठित करते, व्यायामशालाएँ चलाते और उनमें आने वाले बच्चों में देशभक्ति की भावनाएँ उत्पन्न करते। गाँव की चौपाल में बैठकर ग्रामवासियों को देश की बातें बताते और उनमें राष्ट्र-भक्ति उत्पाने का प्रयास करते। उनका वह प्रचार कार्य अंग्रेज सरकार परस्त अधिकारियों को फूटी आँखों नहीं सुहाता था। इस कारण उन्हें अधिक समय तक एक स्थान पर टिकने नहीं दिया जाता था। उनका जल्दी-जल्दी स्थानान्तरण कर दिया जाता था।

वे जब सिंधोली ग्राम में अध्यापक थे तब तो उन्हें अपने स्वाधियन के कारण नौकरी से भी हाथ धोना पड़ा। उनके स्कूल का निरीक्षण करने आये हुए एक एंग्लो इण्डियन एस. डी. एम. ने उन्हें विद्यार्थियों के सामने ही 'इडियट' कह दिया। शासक वर्ग से सम्बन्धित होने के कारण लोगों को तो अपने भातहत काम करने वाले हिन्दुस्तानियों से इसी प्रकार की पाषाणों से बात करने की आदत पड़ गयी थी पर अपने ही छात्रों के सामने उनके यों गाली सह लेने का प्रभाव उन पर क्या पड़ेगा? यह सोचकर पं. रामनाथ के लिये इस गाली का उत्तर देना आवश्यक हो गया था। उन्होंने कक्षा का दरवाजा बन्द करके एंग्लो इण्डियन एस. डी. एम. की अच्छी तरह चुनौती दी ताकि यह किसी भारतीय के साथ बदतमीजी से पेश न आये और छात्रों में भी अन्यायी से प्रतिकार लेने के भावनाएँ उत्पन्न हों और वे स्वराज्य के लिये लड़ सकें।

स्वाभिमान रक्षार्थ उठाये गये इस साहसिक कदम की जो प्रतिक्रिया होनी थी वह होकर रही। उन्हें नौकरी से हटा दिया गया। पं. रामनाथ के सामने वह जब पहले से ही स्पष्ट हो गयी थी कि विदेशी सरकार का विरोध और उसकी नौकरी ये दोनों कार्य एक साथ चस सकने सम्भव नहीं हैं। अतः आजीविका का कोई स्वतन्त्र साधन बना लेना जरूरी है। इसकी तैयारी वे पहले से ही कर रहे थे। उन्होंने अध्यापकी करते हुए वैद्यक सीख ली थी। परिवार के भरण-पोषण और छोटे भाई की पढ़ाई को चलाते रहने के लिए अब वे इसी पर निर्भर रहने लगे। उन दिनों ग्रामीण क्षेत्रों में चिकित्सकों की कमी भी थी। इस प्रकार उन्होंने आजीविका के साधन और सेवा को एक साथ जोड़ लिया। उनका यह व्यवसाय आगे चलकर कांग्रेस के लिये स्वयंसेवक व कार्यकर्ताओं का निर्माण करने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ था।

१९११ में जब ब्रिटिश राज के उत्तराधिकारी-प्रिंस आफ वेल्स दिल्ली आये तो वे उनके सामने चुनकरों के हाथ की बनी खहर की टोपी पहनकर गये। इस पर उन्हें ५१ रुपये जुर्माने के देने पड़े थे। आरम्भ में जो लोग उनके स्वदेश प्रेम को पागलपन की संज्ञा देते थे अब उसमें कुछ तब्य देखने लगे थे और वे भी उनकी पीछे चलने को तैयार हो गये।

उनके भाई रामलाल भी उन्हीं के पद चिह्नों पर चलने लगे थे। कहना न होगा कि उनके देशप्रेम से कई युवकों ने प्रेरणा ग्रहण की थी। १९१९ तक तो उन्होंने बिल्डोर तहसील में कांग्रेस कमेटी की स्थापना कर ली थी। दस बारह वर्ष तक वे इसके भन्नी रहे। वे उत्तर प्रदेश व अखिल भारतीय कांग्रेस के प्रतिनिधि चुने जाते रहे थे। उन्होंने अपने क्षेत्र के युवकों का एक दल कांग्रेस के कार्य के लिये तैयार कर लिया था। यह उनके कुशल प्रचारक और संगठनकर्ता व्यक्तित्व का ही कमाल था। कानपुर जिले में उनकी तहसील की कांग्रेस कमेटी ही प्रदेश पर की पहली तहसील कांग्रेस कमेटी थी जिसके पास २००० से भी अधिक कांग्रेस सेबादल के गणदेशधारी स्वयंसेवक थे। अपने परिवार का भरण पोषण, भाई की शिक्षा का प्रबन्ध आदि करते हुए भी उन्होंने देशसेवा का यह अनुकरणीय उदाहरण लोगों के सामने रखा था। एक तहसील में ही दो हजार स्वयंसेवकों का संगठन खड़ा कर लेना कोई सामान्य बात नहीं थी।

उनके इन स्वयंसेवकों का प्रदर्शन कई रैलियों में हुआ था। १९३० में विठ्ठल भाई पटेल जब कायसरवाव की कौंसिल से त्याग पत्र देकर कानपुर आये थे तो उनका स्वागत भी इसी स्वयंसेवक दल ने किया था।

भारत को स्वतन्त्र कराने के लिये हुए जन जागरण और जन आन्दोलन में पारिवारिक जिम्मेदारियों से सदा-

फटा कोई व्यक्ति कितना काम कर सकता है यह देखना हो तो पं. रामनाथ के कार्यों के द्वारा देखा जा सकता है। उन्होंने कई बार जेलखानों भी की थीं। १९२१ में उन्हें स्वतन्त्र आन्दोलन के लिये जेल जाना पड़ा था। १९३० में वे पुनः पकड़े गये और तीन-तीन घाराओं के अन्तर्गत उन्हें छह-छह महीने की तीन सजाएँ कानपुर व गोरखपुर जेल में भोगनी पड़ीं।

कानपुर बिसे के ग्रामीण क्षेत्र में उन्होंने जाग्रति पैदा की वह मात्र राजनैतिक व होकर आर्थिक भी थी। वहाँ के कृषकों को संगठित करके उन्होंने लगानबन्दी आन्दोलन चलाया था। सरकारी अधिकारी पहले ही उनके कप्रेस में कार्य करने के कारण छोड़े हुए थे। अब इस आन्दोलन के कारण कानपुर के जिलाधीश ने उनकी संपत्ति पैतृक कृषि योग्य भूमि व आय के भाग जब्त कर लिये। इनकी कीमत उस समय २०,००० रुपये के लगभग थी। इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में छोटी भूमिका से आरम्भ करके वे शरब्ध समर्पण की उच्च स्थिति तक पहुँच गये।

अपनी पत्नी श्रीमती श्यामादेवी को भी उन्होंने अपने विचारों के अनुरूप डाल लिया था। उन्होंने भी देश के प्रति अपनी जिम्मेदारी को महसूस किया और हर प्रकार के कष्ट-कठिनाइयों को हँसते-मुस्कराते सहा। उन्हें पुलिस के डण्डों की ऐसी मार भी खानी पड़ी कि वह जब तक जीवित रहें बादलों के आगमन के साथ ही उनकी चोटें हरी हो जातीं -पोर-पोर दर्द कर उठता, उसके साथ ही सरकार ही उठती विदेशी सरकार की बर्बरता।

पं. रामनाथ अपने दोनो पुत्रों- देवदत्त शर्मा व कृष्ण दत्त शर्मा को ठीक से पढ़ा-लिखा भी न सके। किन्तु अपने उच्चतम पिता के एह-समर्पित जीवन से उन्हें बहुत कुछ सीखने को मिला। उनमें वह क्षमता उत्पन्न हुई कि वे बिना सहारे के अपनी मंजिल आप पा सकें।

पं. जवाहरलाल नेहरू तथा रफी अहमद किदवाई जैसे छोटी के नेताओं से परिचित भी का सीधा सम्पर्क था। वे लोग उन्हें खूब मानते थे और ऐसे सहयोगियों के सहारे ही उनके ज्ञान रोशन हुये थे। सब पूछा जाय तो उन्हें ऐक्सेस्ट की तरह ऊँचा उठाने में ऐसे ही लोगों का हाथ रहा था।

१९४० में व्यक्तिगत सत्याग्रह का मौसम आया तो परिवार के तीनों मुख्य सदस्यों पं. रामनाथ उनके भाई रामलाल और पुत्र देवदत्त शर्मा ने भाग लिया। पकड़े तीनों मये, पर सजा युवक देवदत्त को ही हुई। पं. रामनाथ की अवस्था को देखते हुए उन्हें जेल में नहीं रखा गया। १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन में भी पूरा का पूरा परिवार कूटा था। जब जनरल ने हुकार ही 'करो या मरो' की ध्वनि के रूप में गूँज उठी तो वे फिर काहें हुए फैले

बैठ सकता था। इस बार उन्होंने यह ध्यान अवश्य रखा कि वे पकड़े नहीं जायें ताकि सत्याग्रह के लिये सत्याग्रहियों को कमी न पड़े। भूमिगत रहकर व निरुपेक्ष सत्याग्रही गढ़ गढ़ कर सरकार की जेलें भरते रहे थे।

स्वतन्त्रता के यज्ञ में अपने परिवार के प्रथम होता बने थे पं. रामनाथ। आरम्भ में छोटी-छोटी आहुतियाँ देते देते आगे चलकर तो उन्होंने अपने सारे परिवार को ही युग धर्म पालन में लग्न दिया था। उन्होंने अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये जो कुछ किया वह आज भी उतना ही प्रेरक है जितना उस समय था। आज भी सत्याग्रह की आवश्यकता है। अंग्रेज स्वामी थे इसलिए बुरे थे। उन्हें हम इसीलिये भगवान् चाहते थे। आज वही स्वार्थ, वही संकीर्णता हमारे भीतर आ चुकी है— हमारे जन जीवन में सपायी हुई है, आज अनैतिकता के, अंग्रेजियत के विरुद्ध उससे भी बड़ा संग्राम लड़ना है। इस संग्राम के लिये कितने ही पं. रामनाथ चाहिए। जो अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य इस दिशा में लगा दें।

खेत, बाग आदि तो सरकार ने १९३० में ही छीन लिये थे। वृद्धावस्था में सहारा देने वाला पुत्र भी स्वतन्त्रता संग्राम में जुड़ रहा था। ऐसी स्थिति में पण्डित जी को बड़ा ही अभावग्रस्त जीवन जीना पड़ा पर उन्हें इस बात की प्रसन्नता रही कि वे केवल अपने लिये ही नहीं लिये। १९५३ में जब उनका देहावसान हुआ तो घर में कफन के लिये भी पैसा न था पर उन्होंने देश के लिये जो कुछ किया था उसकी संतोषपूर्ण आभा उनके चेहरे पर खिल रही थी। उनका अन्तिम संस्कार उसी के अनुरूप हुआ। युग धर्म पालन के लिये ऐसे सिपाहियों की आज भी देश को आवश्यकता है।

स्वतन्त्रता के अमर पुजारी- श्री रासबिहारी बोस

भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के अग्रणी, कर्मधार तथा भारत में क्रान्तिकारी दलों के संगठक और नेता, साथ ही अन्य देशों में भारत की आजादी का नारा देने वाले, भारत माता के सपूत रासबिहारी बोस की उत्कट देशप्रेम का परिचय आज की नई पीढ़ी को बहुत कम होगा। स्व० बोस अपनी निजी पारिवारिक परिस्थितियों की उपेक्षा कर ब्रिटिश शासन की सत्ता शक्त से बचते हुए जीवनपर्यन्त भारतीय स्वाधीनता के लिये संघर्षरत रहे और अन्तिम दिनों में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को अपना उत्तराधिकार सौंपकर माने उनकी आत्मा ने यह सन्तोष पाया कि आजादी का जो दीपक उन्होंने प्रज्वलित किया है उसे नेताजी बुझने न देंगे।

महाविप्लवी रासबिहारी बोस का सारा जीवन त्याग और बलिदान की एक रोमांचकारी कहानी है। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में जिन महावीरों का पथ प्रदर्शन और योगदान मिला है, उन नायकों में रासबिहारी का स्थान सर्वोच्च है। सन् १८५७ के बाद स्व. बोस ही पहले क्रान्तिकारी नेता थे जिन्होंने भारतीय सैनिकों को संगठित कर, ब्रिटिश-साम्राज्य को उखाड़ फेंकने के लिये सशस्त्र क्रान्ति का आह्वान किया था और जिनका क्रान्तिकारी संगठन श्रेष्ठ से लेकर बंग के डेल्टा और ब्रह्मा की सीमा तक फैला था। उनमें राजाप्रताप के समान शूरता, शिवाजी के समान रण-कुशलता, बाणबख के समान कूटनीतिज्ञता और स्वामी विवेकानन्द के समान आत्मबल था।

स्व० रासबिहारी बोस का जन्म १८८६ की २५ मई को बंगाल के एक सम्भ्रान्त परिवार में हुआ था। उनके पिता विमोद बिहारी बोस पटना के एक सरकारी प्रेस में क्लर्क थे और राष्ट्रीय विचारधारा से प्रभावित भी। पिता के गुणों की बालक रासबिहारी पर छाप पड़ी और उनमें भी राजनीतिक जाग्रति उत्पन्न हुई। शिक्षण समाप्त करके, उन्होंने फोर्ट विलियम कॉलेज में नौकरी करली और फिर वहाँ से मन-तोष-संस्वान, देहरादून चले आये। उनके हृदय में क्रान्तिकारी ज्वाला जल रही थी, अतएव उनका यहाँ के कार्य में मन नहीं लगा।

उन्होंने प्रथम उत्तर-भारत का पंजाब से लेकर बंगाल तक दौरा किया और सभी छोटे-छोटे गुप्त क्रान्तिकारी संगठनों से एक होकर स्वाधीनता की लड़ाई के लिए आह्वान किया। उनके ही श्रम और प्रयत्नों से क्रान्तिकारियों का केन्द्रीय संगठन बना।

उसी समय अमेरिका में भी भारत की आजादी का असख जगाने के लिए गदर-पार्टी का गठन हो चुका था, अतएव बोस ने सेना में क्रान्ति-विचारों को जगाने के लिए क्रान्तिकारी साहित्य वितरित करने की योजना बनाई। तदनुसार 'लिबर्य' नाम से असख पर्वे लाहौर से कलकत्ता तक सेना के साथ-साथ जनता में भी बँटि गए और सन् १९१२ में राजकीय समारोह के साथ दिल्ली में प्रवेश करते समय भारत के तत्कालीन चायसराय लार्ड हार्डिंग के ऊपर बम प्रहार कर ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ों को हिला दिया था। आपने भारत में सन् १९१५ तक के अल्प समय में क्रान्तिकारी संगठन में जिस योग्यता का परिचय दिया और जिस ढंग से सारी तैयारी की थी, उसकी झलक ऐंडीसन कमेटी की रिपोर्ट और माइकेल ओ ह्यार के लेखों में देखी जा सकती है।

कुछ देश-द्रोहियों की मुखबिरी के कारण १९१२ में सशस्त्र क्रान्ति के अपने प्रयत्नों में असफलता के बाद रासबिहारी को स्वदेश छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा।

जून १९१५ में तमाम सरकारी पुलिस और मुखचोरों की आँखों में धूल झोंककर राज्ज पी. एन. टैगोर के नाम से वे जापान पहुँचे। वहाँ से वे जघाई गए और चीनी ऐजेंसियों के माध्यम से उन्होंने जर्मन शासक भारत भेजने का प्रयत्न किया। किन्तु यह कार्यक्रम सफल न हो सका। तब वे पुनः टोकियो वापस आ गए। यहाँ पर आपकी पंचव्रत केसरी लाला लाजपतराय से भेंट हुई और उनकी सहायता से आपने भारत को अंग्रेजी दासता से मुक्त करने के लिए योजना बनाई। जापानी भाषा से अनभिज्ञ होते हुए भी १९१५ की १५ नवम्बर को टोकियो में एक विमल सभा का आयोजन करके भारत की आजादी के पक्ष में जोरदार भाषण दिया।

इस भाषण के बाद ब्रिटिश दूतावास को पता चला कि पी. एन. टैगोर के नाम से जापान आने वाला और कोई नहीं स्वयं रासबिहारी बोस हैं। जब ब्रिटिश दूतावास ने जापान सरकार पर दबाव डालना शुरू किया कि वह लालाजी तथा बोस को पकड़कर उन्हें सौंप दें। इसी बीच लालाजी अमेरिका चले गये और बोस वहीं रह गये। थोड़े ही समय बाद अन्य भारतीय साधियों ने भी जापान छोड़ दिया। अब रासबिहारी बोस अकेले रह गये थे।

जब ब्रिटेन के दबाव पर जापान सरकार ने आदेश जारी किया कि यदि भारतीय क्रान्तिकारी रासबिहारी बोस २ दिसम्बर, १९१५ तक जापान नहीं छोड़ते हैं तो उन्हें पकड़कर ब्रिटिश सरकार को सौंप दिया जायेगा, तब वे जापान के लौह पुरुष मित्रूरी तोयामा के पास गये। तोयामा राहों की स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे और विभिन्न देशों के क्रान्तिकारियों को शरण देते रहते थे। उन्होंने चीन के जन नेता डॉ. सन-यात-सेन को भी आश्रय प्रदान किया था। वह रासबिहारी के खिलाफ आदेश को रद्द कराने के प्रयत्न में लग गये।

जापान के राष्ट्रीय समाचार-पत्रों ने बोस के समर्थन में जोरदार आवाज उठाई। अतएव उन्हें जापानी बुद्धि-जीवियों का प्रबल समर्थन मिला किन्तु जापानी विदेश विभाग जनमत और प्रेस के सम्मुख नहीं हत्ता। ऐसे समय में जापान के एक बड़े होटल के स्वामी एको शीमो उनसे मिले और उन्हें अपने होटल में छिपा दिया। वे एको शीमो और उनकी पत्नी श्रीमती सौमा एक व्यवस्थायी ही नहीं बल्कि सक्रिय सामाजिक एवं राजनैतिक कार्यकर्ता थीं वे अनेकों महत्वपूर्ण आन्दोलनों में भाग लिया था।

अप्रैल, १९१६ को लगभग साढ़े चार सप्ताह बाद तो यामा तथा कुछ अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों के प्रयत्न से बोस के खिलाफ उक्त आदेश वापस ले लिया गया। प्रति-बंध हट जाने के बाद भी डर बना ही रहा। अतएव

स्थायी सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए तोयामा ने सौमा दम्पति को सुझाव दिया कि वे अपनी बड़ी पुत्री तोशिको का विवाह बोस के साथ कर दें। श्रीमती सौमा इस मिश्रित विवाह पर चौकी। अन्त में उन दोनों ने इसका निर्णय अपनी पुत्री पर छोड़ दिया। कुमारी तोशिको ने अपनी सहमति व्यक्त की और दोनों प्रणय सूत्र में बँध गए।

श्रीमती तोशिको ने जापानी नागरिकता के मिलने तक लगभग छह वर्ष पति के साथ शत्रु के एजेंटों की नजरों से बचते हुए अनेकों कष्ट झेले और उनकी रक्षा की। सन् १९२३ में जापान की नागरिकता मिलने पर उन्हें कुछ राहत मिली। विवाह के आठ वर्ष बाद श्रीमती तोशिको की मृत्यु हो गई। बोस के एक पुत्र तथा पुत्री पैदा हुई थी। पुत्र द्वितीय महायुद्ध के दौरान ओकीनावा के टैंकयुद्ध में मारा गया तथा पुत्री श्रीमती हिंगु जो अभी जीवित हैं और टोकियो में रह रही हैं। श्रीमती हिंगु जी ने अभी तक भारत नहीं देखा है, किन्तु उनकी बड़ी पुत्री सन् १९६९ के मन्तव्य-दिवस पर दिल्ली आई थीं। श्रीमती हिंगुजी के पास अपने स्वर्गीय पिता से सम्बन्धित अनेक बहुमूल्य पुस्तकें, कागजात, फोटोग्राफ आदि आज भी सुरक्षित हैं।

तमाम कष्टों और अपसिद्धों के बावजूद श्री रासबिहारी बोस भारत को आजाद कराने के प्रयत्न में लगे रहे। जापानी जनमत तक अपने विचार पहुँचाने के लिए उन्होंने जापानी भाषा सीखना शुरू किया और चार माह में ही उन्होंने उस भाषा पर अधिकार कर लिया। तब एक पत्रकार का जीवन आपने ग्रहण किया और न्यू एशिया नामक एक पत्र का प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया। अपनी मुकीली कलम और चुटीली भाषा के माध्यम से उन्होंने जापानी भाषा में १४ पुस्तकें भी लिखीं, जो रवीन्द्र काव्यानुवाद, लोक कथा, भगवद्गीता, रामायण, संस्कृति और भारतीय स्वाधीनता संग्राम से सम्बन्धित हैं। वे अपनी रचनाओं के माध्यम से जापानियों के हृदय-सम्राट बन गये, इनके व्यवहार से जापानी युवक इतने प्रभावित हुये कि वे उन्हें 'दादा' 'बड़े भाई' (शोन-सा) से सम्बोधित करते थे। उन्होंने टोकियो में एक होटल भी खोला था, जो भारतीयों के सम्पत्तियों का काम करता था। वे टोकियो में प्रतिवर्ष 'बलिष्ठावात्स बाग दिवस' बनाकर शहीदों को श्रद्धा-सुमन अर्पित किया करते थे। उन्होंने चीन के क्रान्तिकारी नेता डॉ. सन-यात-सेन को बीस हजार जापानी युद्ध की आर्थिक सहायता भी की थी।

जब गुरुदेव रवीन्द्र अपनी विह्वल-यात्रा के दौरान जापान पहुँचे तो वे रासबिहारी बोस द्वारा किये गये सराहनीय कार्यों से अति प्रभावित हुए। गुरुदेव उनके निवास-स्थान पर भी गए और सभी पारिवारिक जनों से मिले। ब्रह्मेय गुरुदेव के हृदय में बोस के लिए बहुत ही

सम्मान था। यह बात तब और भी सिद्ध हो गई, जब स्वदेश लौटने पर पूज्य गुरुदेव को मालूम हुआ कि जापान में भयंकर धूम्रमय आने से रासबिहारी का मकान तहस-नहस हो गया है, तो उन्होंने ब्रिटिश रहस्य की नाराजगी की परवाह न करते हुए छह सौ रुपये की आर्थिक सहायता बोंस को भेज दी थी।

रासबिहारी बोंस वास्तव में जापान में एक गैर सरकारी राजदूत की भूमिका अदा कर रहे थे। उनके सम्पर्क में जो भी आता, वह मुग्ध हो जाता था। उन्होंने सन् १९२६ में 'पान एशियन लीग' की स्थापना की, जिसके वे स्वयं अध्यक्ष थे। भारत के स्वतंत्रता-संग्राम को और तेज करने के लिए उन्होंने दो बार कोरिया की भी यात्रा की थी और सन् १९३७ में आपने 'इण्डियन इन्डिपेन्डेन्स लीग' की स्थापना भी की।

सन् १९३९ में जब द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हुआ तो वे अपनी शक्ति संगठित करने में व्यस्त हो गये। ८ दिसम्बर १९४१ को जब जापान ने पर्लहार्वर पर आक्रमण करके मित्र-राष्ट्रों के खिलाफ युद्ध घोषित कर दिया, तो इनकी खुशी का ठिकाना न रहा। उन्हें अपनी सफलता दुष्टिगोचर होने लगी। उन्होंने टोकियो में भारतीयों का एक सम्मेलन बुलाया और अपनी बात समझाई कि अब हमें अपना देश आजाद करने का अच्छा मौका है, जिसे सबने हृदय से स्वीकार कर लिया और आजादी के लिए संघर्षबद्ध होने का प्रण किया। ठीक युद्ध-घोषणा के अठारहवें दिन टोकियो के भारतीयों के संगठन 'इण्डियन इण्डिपेन्डेन्स लीग' ने भारत को एक स्वतंत्र राष्ट्र घोषित कर दिया। जापानी मंत्रिपरिषद् ने भी लीग की वैधता को स्वीकार कर सरकारी स्तर पर सम्मति प्रदान कर दी। लीग का प्रधान कार्यालय टोकियो का एक होटल बना।

इतना सब होने पर भी भारत से कल्पित दिनों तक बाहर रहने के कारण आप अनुभव करने लगे थे कि भारतवासी उन्हें भूल चुके हैं। अतः किसी भारतीय नवयुवक नेता की तलाश में आप जुट गए। इसके लिए आपने गुप्त रूप से वीर सावरकर के द्वारा सुभाषचन्द्र बोंस को अपना सम्वाद भेजा। जापानी सैनिकों द्वारा दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में बंदी बनाये गये भारतीय सैनिकों को संगठित कर आपने 'आजाद हिन्द सेना' का गठन किया। साथ ही साथ पूर्वी एशिया में निवास करने वाले बोंस लाख भारतीयों के मन-मन की रक्षा की। सन् १९४२ में जब भारत में 'करो या मरो' का नारा बुलन्द किया तो रासबिहारी बोंस के नेतृत्व में उन भारतीयों ने भी बगवत का झन्डा बुलन्द किया। आपने तमाम नागरिकों एवं सैनिकों के सामने आई. एन. ए. के सर्वोच्च सेनाध्यक्ष के नाते बहुत ही जोरदार शब्दों में भाषण देकर अपना कार्यक्रम उनके आगे रखा। बाद में जब सुभाष बाबू वहाँ पहुँचे तो एक सम्मेलन में १९४३ की ४ जुलाई को आजाद हिन्द सेना की सर्वोच्च कमान उन्हें सौंप दी।

आजाद हिन्द सेना की कमान सौंपते हुये रासबिहारी बोंस ने कहा था—“भित्री और सैनिक साथियो। आज मैं आप सबकी उपस्थिति में देशसेवक सुभाषचन्द्र बोंस को आई. एन. ए. का सेनाध्यक्ष नियुक्त करता हूँ। मैं वृद्ध हो चला हूँ। सुभाष बोंस आई. एन. ए. का कुशल नेतृत्व करने में सक्षम होने, वही कामना करता हूँ।”

इस अवसर पर नेताजी सुभाष चन्द्र बोंस ने शपथ लेते हुए कहा—“भारतीय जनता वर्तमान तथा पिछले महायुद्ध में रासबिहारी बोंस के कार्यों से धली-भाँति परिचित है। उन्होंने मुझ पर जो गुरुतर भार रखा है, उसे जीवन के अन्तिम क्षणों तक निभाने की प्राणपण से कोशिश करूँगा। हथ सब लोग अब भी उनके ही संरक्षण में काम करना पसन्द करेंगे। अतएव उनसे आजाद हिन्द सेना का सर्वोच्च सलाहकार बने रहने की वज्र प्रार्थना करता हूँ।”

कैलाश खानदार दूरच या यह महान त्याग और बलिदान की परम्परा का!

२१ अक्टूबर, १९४३ को आजाद हिन्द सरकार की विधिवत स्थापना हुई, जिसके आप सर्वोच्च सलाहकार थे। आपके नेतृत्व का अनुभवी सलाह का सम्बल पाकर आजाद हिन्द सरकार अपने उद्देश्य की ओर आगे ही बढ़ती गयी किन्तु देश का दुर्भाग्य था कि वे देश को स्वतंत्र नहीं देख सके। निरन्तर कार्य करते रहने के कारण आपका स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन गिरता चला गया। अतएव उन्हें टोकियो वापस आकर विस्तार पकड़ना पड़ा।

जापान की पराजय और आजाद हिन्द सेना के अन्त-संघर्ष के पहले २१ जनवरी, १९४५ को दो-दो महाक्रान्तियों के पुजारी रासबिहारी बोंस ने सदैव के लिए आँखें बंद लीं, उनकी मृत्यु की घोषणा राजकीय ढंग से की गयी थी और जापान के सम्राट ने अन्तिम संस्कार के लिए शाही सवारी भेजी थी। जापान सरकार ने गैर सरकारी लोगों को दिया जाने वाला सर्वोच्च सम्मान सेकण्ड क्लास आर्डर से भी उन्हें अलंकृत किया था।

अमर बलिदानी—

भगवती चरण वोहरा

२८ मई, १९३० के अस्ताचलगायी दिवाकर का मुख-मण्डल भी कुछ वैसा ही रक्ताभ हो उठा था। रावी की गिरती-उठती लहरों में उसका लोहित प्रतिबिम्ब कुछ वैसा ही लग रहा था जैसा उसके तट प्रदेश में क्षत-विक्षत शरीर से बहती रक्त धाराओं की पीड़ा से और आसन्न मृत्यु के भय से नहीं पर अपने साथियों को झुड़ाने के अधियान में सम्मिलित न हो सकने की वेदना लिए भारत माँ की गोद में पड़ा उसका लाड़ला सपूत। उसका एक साथी रावी के जल में तैलिया भिगे साया था और उसके मुँह में चानी टपका रहा था।

तभी दो साथी और आ पहुँचे उसे खोजते हुए। उन्हें देखकर बोला—“तुम आ गये अच्छा हुआ। आनाद भी आते तो उन्हें देख लेता।”

“भैया इस समय घर पर नहीं हैं नहीं तो अवश्य आते।”

“कोई बात नहीं।”

साथियों ने आगने-सामने से अपनी भुजाएँ जोड़कर उसे ठठाने का यत्न किया। मरीर के हिलते ही उसके मुँह से चीख निकल गयी। स्टेचर या खाट के बिना काय घसने वाला नहीं है, यह सोच कर कैधे गले से एक साथी बोला—“हम अभी खाट सेकर आते हैं स्मराना नहीं।” जो आदिमी जीवन पर संकटों से खेलता रहा हो भला व मृत्यु के क्षणों में क्या चरवादेगा व साथियों के इरादों में समझती वेदना ने उन्हें सोच-विचार कर कुछ कह सकने की स्थिति में भी कहाँ रखा था।

“तुम समझते हो मैं कर रहा हूँ? यही दुःख है कि मैं भगतसिंह को छुड़ाने में सहयोग न दे सकूँगा। कास! यह मृत्यु दो दिन बाद होती।” यह बात वह व्यक्ति कह रहा था जिसकी एक पूरी कलाई और दूसरे हाथ की पाँचों अँगुलियाँ टड़ चुकी थीं। उनके चेहरे और पेट के गहरे भाँचों से रक्त बह रहा था। वह व्यक्ति थे शहीद भगवती चरण जोहरा जिसका सारा जीवन भारतवर्ष को अंग्रेजों के आधिपत्य से छुड़ाने के लिए संघर्ष करने में बीता था। भगतसिंह और साथियों को जेल से छुड़ाने के लिए बनाये गये बमों का परीक्षण करते हुए उनके हाथ में ही बम बिस्फोट हो जाने के कारण उनकी यह स्थिति हुई थी। उनके जो साथी खाट या स्टेचर लेने के लिए लखौर नगर के लिए रवाना हुए थे उनके जाने के कोई आध घण्टे बाद उनके प्राण-पखेरू टड़ गये। इस निर्जन वन प्रान्त में उनको इस असहाय दशा में प्राण त्यागते हुये देखकर उनकी रक्षा में सज्जद साथी बिलख-बिलख कर रो पड़ा।

शहीद भगवती चरण की मृत्यु जिन परिस्थितियों में हुई थी उन्हें देखते हुये, चाहते हुए भी उनका सार्वजनिक रूप से अन्तिम संस्कार भी नहीं किया जा सका, वहाँ तक कि उनकी पत्नी दुर्गा देवी, जो क्रांतिकारियों में दुर्गा बायी के नाम से जानी जाती थी, भी उनका अन्तिम दर्शन नहीं कर सकी। क्योंकि वे सब लोग भगतसिंह को लखौर जेल से मुक्त कराने की योजना को पूरी करने में लगे हुए थे। ऐसी स्थिति में उनका सार्वजनिक रूप से अन्तिम संस्कार करना भी सरकारी गुप्तचरों के लिए बहुत बड़ा सूत्र बन सकता था। अतः उनके तीन साथियों ने मिलकर उनके शव को राखी की लहरों को समर्पित कर दिया।

वे मूक रहकर ही देश-सेवा करने का परम सौभाग्य लिखा कर लाये थे। यही कारण है कि उनके साथियों को

भरपूर नम्र मित्र और बल भी पर वे अपनी मृत्यु की तरह ही अनजाने-अनचीन्हे रहे। उनके साथी स्टेचर और आधमिक उपचार की सामग्री लेकर पहुँचे तब तक तो उन्हें प्राण त्यागे कोई तीन घण्टे हो चुके थे।

भगवती चरण पंजाब के एक खाते पीते गुजराती ब्राह्मण परिवार में बन्ने थे। उनके पिता शिवचरण जोहरा रेल्वे कम्पनी में उच्च पद पर थे। सरकार ने उन्हें रायबहादुर की उपाधि दी थी। अपनी सर्विस से रिटायर होने के बाद वे आगरा से लाहौर आकर बस गये थे पंजाब की बलवान और पाटी का पूरा रंग भगवती बाबू पर पड़ा था। डीलडौल में वे अच्छे-खासे पहलवान लगते थे। इसी कारण भगतसिंह इन्हें कभी-कभार हँसी में ‘मोटा’ भी कह दिया करते थे। छह फुट तक पहुँचा हुआ कद, दोहरा कसरती बदन, चुस्त-दुरुस्त, रंग गंदुभी और गम्भीर भग हुआ चेहरा उनको आकर्षक व्यक्तित्व का भी स्थायी बचने को पर्याप्त था।

लखनौ लाजपतराव का नेशनल कॉलेज उन दिनों देश भक्ति के रंग में रंगे युवकों के लिए दीर्घ स्थल बना हुआ था। भगवती चरण भी इसी कॉलेज के छात्र थे। जवानी का जोरा तन-बन में बंधा था पर यह जोरा आवशॉन्मुख था। इस जवानी को देश की स्वतन्त्रता के लिए न्यौछावर कर देना ही उनकी समझा थी। इसी नेशनल कॉलेज में भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु, यशपाल, हीरानन्द, सच्चिदानन्द चात्सावय, वैराग्यायन आदि क्रांतिकारी पड़े थे। भगवती चरण इनसे सीनियर थे।

देश-भक्ति को उमंग जो बचपन से ही थी। इन्टर पास करने के बाद ही उन्होंने असहयोग आन्दोलन में भाग लेना आरम्भ कर दिया था। पिताजी लाख मना करते रहे पर वे मान ही कैसे सकते थे। रायबहादुर शिवचरण का बेटा क्रांतिकारी बन गया था। समय की पुकार सुनकर के। बचपन में ही विवाह भी कर दिया था माता-पिता ने इनके न चाहते हुए भी, पर यह सब बाधाएँ उन्हें अपने उद्देश्य से भटकाने न सकीं।

वे स्वयं तो क्रांतिकारी बने ही बने, साथ ही उन्होंने अपनी पत्नी को भी क्रांतिकारिणी बना डाला। ग्यारह वर्ष की दुर्गा को बारह-तेरह के भगवती चरण प्याह कर लाये थे तब वह हिन्दी लिख-पढ़ लेती थी। रामायण, भागवत, जाँच लेती थी। भगवती चरण ने देखा कि उनके विचारों को पत्नी तब तक समझ नहीं पायेगी जब तक कि वह पढ़ लिख न आवे। उनके क्रांतिकारी आन्दोलन में लगे रहना उसे तब तक अच्छा भी नहीं लगेगा और ऐसी दशा में उससे सहयोग मिलना सम्भव भी न होगा। अतः उन्होंने अपनी पत्नी को स्वयं पढ़ाना आरम्भ किया। पत्नी भी सुलझे विचारों की थी। एक पुत्र उत्पन्न हो जाने पर भी उन्होंने पढ़ाई जारी रखी और १९२६ में पंजाब

विश्वविद्यालय से 'प्रभकर' परीक्षा पास करके लाहौर के 'महिला कॉलेज' में प्राध्यापिका बन गयीं।

वे अपने जीवन का ध्येय पत्नी को समझाने में सफल हुए। दुर्गा बायी ने समझा लिया कि उनके प्रतिदेश ने देशप्रेम की प्रबल भावनाओं से त्रेरित होकर जो काम हाथ में लिया है उसमें जेल, कचारी, मृत्यु और जर्सी की क्षण-क्षण सम्भावना है। अतः परिवार की सारी विम्वेदारियाँ उन्हें ही निभानी हैं। वे उनके काम में बाधक नहीं सहायक बनीं, उसका बहुत कुछ धैर्य भगवती चरण मई की बुद्धिमत्ता को ही जात है।

देश के प्रति उत्सर्ग की जो धन्यता उनके हृदय में थी उस पर उनके क्रान्तिकारी दल के कुछ सदस्यों के मन में अविश्वास भी ठहरा। इस अविश्वास को मिटाने के लिए उन्हें कठोर परीक्षाओं से गुजरना पड़ा था। किसी ने उन्हें पुलिस का जासूस समझ लिया। इसकी संका दल के सभी सदस्यों के लिए सिर दर्द बन गयी। भगवती आई अपने प्रति रखे जाने वाले इस अविश्वास से दुःखी तो हुए पर उन्होंने क्रान्ति के कार्यों से हाथ नहीं खींचा। यहाँ तक कि दल के कुछ सदस्यों ने उन्हें ज़हर से मार देने का निर्णय भी ले लिया था। पर वे अविचलित भाव से अपना काम करते रहे थे। अविश्वास की क्रिया की कोई गलत प्रतिक्रिया उनके मन में नहीं हुई। अन्त में उनके वैय और सच्चाई ने दल वालों का विश्वास जीत लिया।

उन्होंने मन, मन और धन छीनें देश पर न्योछावर किये थे। उनके दल 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन सेना' के सदस्यों में से वे ही ऐसे थे जो विवाहित थे। आर्थिक दृष्टि से भी वे ही ऐसे थे जो क्रान्तिकारी क्रियकलाओं के लिए आर्थिक सहायता दे सकते थे। उन्होंने इस कार्य के लिए कभी हाथ नहीं खींचा। उनका घर क्रान्तिकारियों के लिये आश्रय स्थल, उनकी पत्नी उनके सपनों के लिए अप्रपूर्ण और उनका बैंक-बैलेंस सदा क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए कोष बन रहा था।

पंजाब के उत्साही नवयुवकों के दल में वे बरिह थे। उनके सम्बन्ध उन पुराने क्रान्तिकारियों से भी थे जिन्होंने गुप्त रूप से 'हिन्दुस्तान कम्युनिस्ट पार्टी' का गठन किया था। वे चाहते थे कि क्रान्तिकारी गतिविधियाँ कुछ इस तेजी से हों कि अंग्रेजों के काम खुल जायें और जनता में भी जागरण की एक लहर उत्पन्न हो जाय। इसके लिए वे अपने पास से काफी धन भी देते थे।

उनका अपना खर्च बहुत कम था। एक पैसा भी वे फालतू खर्च नहीं करते थे। खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की इस सादगी के कारण ही वे दल को इतनी आर्थिक सहायता दे सके, जबकि वे कोई व्यापार, धन्य या नौकरी नहीं करते थे। उनके इसी मुक्त हस्त धन को देखकर कुछ लोगों ने उन्हें सुफियन पुलिस का आदमी समझ लिया था। किन्तु उन्होंने अपने आत्मीय व्यवहार से

दल के सभी सदस्यों के हृदय जीत रखे थे जो यह संदेह अधिक प्रशस्ती न हो सका।

१९२८ में साहमन कमीशन के विरोध में प्रदर्शन करते हुए भगवती भाई ने भी लाठियों खाई थीं। सात सातपत रात की मृत्यु के उपरान्त उनका बदला लेने के लिए सम्पर्क सब के परभाव भगतसिंह आदि को सुरक्षित रूप से काहर निकालने में भी उनका और दुर्गा बायी का प्रमुख हाथ रहा था। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि दल का सूत्र सम्बलन और योजना बनाने में वे सबसे आगे रहते थे। पर धैर्य लेने में सबसे पीछे रहते थे, यही कारण था, कि वे प्रख्यात में बहुत कम आये।

'मेरठ बह्यन्त्र' से सम्बन्धित होने के कारण उन्हें बर्षों फरार रहना पड़ा था। कचारी के दिनों में उनके घर की बार-बार तलाशियाँ ली जाती रहीं। यहींमें पत्नी बर्षों से दूर रहना पड़ा था और दूर रहते हुए भी पत्नी के माध्यम से दल की प्रत्येक गतिविधियों में पूरा-पूरा सहयोग देना, कम त्याग और बलिदान का काय नहीं था। उनकी अनुपस्थिति में उनके परिवार वालों को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उन्हें भुक्तभोगी ही जान सकता है।

ऐसेव्यस्ती में कम कैदने के कारण भगतसिंह और मरुकेनवर दल की बन्दी बनकर लाहौर की जेल में रखा गया था। यहाँ उनके साथ बहुत बुरा व्यवहार होता था। उनके कद भी कई क्रान्तिकारियों को पकड़ा गया था। वे सब भी लाहौर की जेल में ही रखे गये थे। भगतसिंह को जेल से छुड़ाने के लिए आकाश और भगवतीचरण बोहरा ने मिलकर योजना बनाई थी कि बोस्टेल जेल से पुलिस लाठी में भगतसिंह को सेन्ट्रल जेल लाते समय, लाठी पर आक्रमण करके उसे छुड़ा लिया जाय। पुलिस की नजरों से बचते हुए उन्होंने भगतसिंह को छुड़ाने की पूरी योजना बना ली थी। इसी योजना को क्रियान्वित करने के लिए धन बनाने पर वे, जिनका परीक्षण करते हुए भगवती चरण बोहरा लड़ीद हुए थे। बाद में भगतसिंह के मन कर देने पर छुड़ाने की योजना को क्रियान्वित नहीं किया गया।

भारत को स्वतन्त्रता दिलाने में क्रान्तिकारी आन्दोलन की भूमिका किसी अन्य आन्दोलन से कम महत्वपूर्ण नहीं रही थी। इस आन्दोलन को नति देने वालों में भगवती चरण बोहरा का नाम क्रान्तिकारियों की सूची में शीर्षस्थ स्थान पर प्राप्त है। उनके इस बलिदान का मूल्य चुकाना अभी से है।

राष्ट्र की स्वतंत्रता को समर्पित—

ब्यारहट परिवार

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में क्रान्तिकारी आन्दोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह बात दूसरी है कि आजादी

लाने का श्रेय उन्हें नहीं मिला पर इसका अर्थ यह नहीं है कि क्रान्तिकारियों के बलिदान व्यर्थ गये अथवा राष्ट्र के प्रति उत्सर्ग की निहा उनके असहयोग आन्दोलन के सत्याग्रहियों से कम थी।

विदेशी शासन का एक तंत्र से मुक्ति पाने का अब तक का जो प्रचलित मार्ग था वह सशस्त्र क्रान्ति का ही मार्ग था। भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए इस प्रचलित मार्ग का अनुसरण करके सैकड़ों युवकों ने अपनी समस्त व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं व सुख-सुविधाओं को त्यागकर देश के लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी दी। यह बात दूसरी है कि उनका चिंतन महात्मा गाँधी की तरह मौलिक और भारतीय जीवन दर्शन के साथ समग्र रूप से तद्दर्शन स्थापित करके चलने वाला नहीं था और न ही सारी की सारी जनता उन के पथ पर चल सकती थी। यही कारण था कि भारत की आजादी का श्रेय उन्हें नहीं मिल सका। किन्तु उनकी राष्ट्रनिष्ठा और उत्कट देश-भक्ति करोड़ों लोगों के दिलों में यह तुफान उत्पन्न करने में कतनी ही महत्वपूर्ण रही थी जितना कि गाँधी जी का सत्याग्रह आन्दोलन।

देखा जाय तो गाँधी जी का अहिंसक आन्दोलन उस समय इतिहास के गर्भ में ही था उसकी सत्पत्ता अभी संदिग्ध ही थी सो पारम्परिक मार्ग पर चलने वाले क्रान्तिकारियों की महत्ता स्वीकारे बिना कोई मार्ग अहिंसावादियों के लिए भी बस सम्भव नहीं हो सकता था। कोई व्यक्ति अपने देश के लिए अपने कितने सुख त्यागकर कर सकता है यह क्रान्तिकारियों के जीवन में स्पष्ट ही देखा जा सकता है जो अत्यधिक प्रेरक है। ऐसे ही एक विस्मृत क्रान्तिवीर की बात हम बताने जा रहे हैं, जोरावर सिंह बारहठ तथा उनके परिवार के बारे में।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में क्रान्तिकारी भावना अत्यन्त उग्र हो गयी थी। गाँधी जी का नाम तक एक भारत के क्षितिज पर उदित भी नहीं हुआ था। इसी भावना से प्रेरित होकर राजस्थान का एक बारहठ परिवार इस क्रान्ति की लहर में बहकर अपना सर्वस्व दाँव पर लगा बैठा।

भाट, धारण अथवा बारहठ मध्यकालीन सामन्त युग की एक विशिष्ट जाति थी जिसका काम कानून-रचना करना और युद्ध के समय अपनी ओजपूर्ण कवित्वों से वीरों का उत्साहवर्द्धन करना था। कवि चन्द्रपरदायी इसी वंश में हुए थे। केसरीसिंह बारहठ और उनके अनुज जोरावरसिंह बारहठ की रगों में उसी वंश का रक्त बह रहा था। भावनाओं का ज्वार भी कुछ कम नहीं था। केसरीसिंह बारहठ की उदयपुर व कोटा राज्य में बड़ी प्रतिष्ठा थी तो उनके अनुज जोरावरसिंह को जोधपुर नरेश

बहुत मानते थे। इनको बड़ी बड़ी जागीरें मिली हुई थीं। साहपुर में जोरावरसिंह की हवेली और जागीर थी। जोधपुर महाराजा ने उनकी योग्यता से प्रभावित होकर महारानी के महलों का प्रबन्धक नियुक्त किया था।

अकबर और औरंगजेब के दाँत खट्टे करने और स्वाधीनता के ध्वज को ठठाने रखने वाले वीरों के वंशज देशी राज्यों को तो विलासिता ने अकर्मण्य बना दिया था पर उनको वीर बनाने वाले इन वीरों का हृदय अभी वीरत्व की भावनाओं से रिक्त नहीं हुआ था। केसरी सिंह बारहठ को जब यह पता चला कि रास बिहारी बोस नामक क्रान्तिकारी भारत में सशस्त्र क्रान्ति की योजना बना कर उसे कार्यरूप में परिणित करने जा रहे हैं तो उन्होंने अपने पुत्र प्रतापसिंह व अनुज जोरावर सिंह व जामाला ईश्वर रास अग्रिया को उनके पास भेजा।

ये लोग रास बिहारी बोस के दाहिने हाथ मास्टर अमीरचन्द से मिले। मास्टर अमीरचन्द ने दिल्ली को अपना केन्द्र बनाकर राजनैतिक व सामाजिक क्रान्ति के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण काम किया था। बाद में उन्हें वायसराय लार्ड हार्डिंग पर बम फेंकने के अपराध में तीन अन्य सहियों के साथ पौसी पर लटका दिया गया।

इन तीनों युवकों का परिचय जब रासबिहारी बोस से कराया गया था तो उन्होंने कहा था—“देश भर में ठाकुर केसरी सिंह बारहठ ऐसे क्रान्तिकारी देशभक्त हैं, जिन्होंने अपने को ही नहीं अपने भाई, पुत्र व जामाला को भी मृत्युभूमि की बलिबेदी पर आहुति देने के लिये भेजा है।”

केसरी सिंह बारहठ रास बिहारी बोस के अनन्य सहयोगी थे। उनके पिताजी ने प्रसिद्ध क्रान्तिकारी स्वामी जी कृष्ण बर्मों को उदयपुर नरेश महाराजा सज्जन सिंह से कहकर मेवाड़ का प्रधानमंत्री नियुक्त कराया था। स्पष्ट था क्रान्ति और देश-प्रेम की भावनाएँ केसरी सिंह व जोरावर सिंह को पैतृक विरासत में मिली थीं।

जोरावरसिंह व प्रतापसिंह ने २३ दिसम्बर, १९१२ को अंग्रेजी राज्य की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली लाने व उद्घाटन रूप में बड़ी शान से लाखों रुपया खर्च करके जो वायसराय की सवारी निकाली गयी थी, उस पर बम फेंकने के कार्य में भाग लिया था।

पुलिस ने क्रान्तिकारियों को पकड़ने में पर्याप्त तेजी बरती पर उस समय कोई पकड़ा न जा सका। जोरावर सिंह व प्रताप सिंह मास्टर अमीरचन्द से क्रान्ति सम्बन्धी शिक्षण प्राप्त करके राजस्थान चले गये। वहाँ क्रान्ति की आज्ञा सुलपाना उनका काम था। उन्होंने कुछ देश-भक्त अकुरों को इसके लिये तैयार भी कर लिया था।

वायसराय पर बम फेंकने के सिलसिले में उन्हें पुनः दिल्ली बुलाया गया था। विस्फोट के बाद वे कई दिनों

तक दिल्ली में ही छिपे रहे। फिर पैदल ही रामम्हान के लिये रवाना हुए क्योंकि रेलों आदि साधनों पर पुलिस व गुप्तचर विभाग की कड़ी निगरानी थी। यमुना नदी उन्हें तैर कर पार करनी पड़ी। दूसरे किनारे पर पहुँचने पर संदेह में दो पुलिसमैन इनके पीछे पड़ गये। यहाँ जोरावर सिंह को अपने हाथ बताने पड़े। अपनी तलवार से उन दोनों को यमलोक पहुँचा दिया।

हार्डिग्व बय-काण्ड को सरकार ने बड़ी गम्भीरता-पूर्वक लिया। घडाधड़ गिरफ्तारियाँ हुईं। रासबिहारी बोस व जोरावरसिंह बरहट को छोड़कर जेल सभी क्रान्तिकारी गिरफ्तार कर लिये गये। रासबिहारी जापान चले गये। वहीं उन्होंने 'आजाद हिन्द सेना' का गठन किया। प्रताप सिंह बरहट को अंग्रेजी सरकार ने बरेली जेल में इतनी अमानुषिक यंत्रणाएँ दीं कि इनका प्राणभूत हो गया। कैसरी सिंह बरहट को आरा बड़पन्थ केस में बीस वर्ष की सजा दी गयी। प्रताप सिंह को अनेकानेक प्रत्येधन दिये गये कि वह बड़पन्थ का सारा धेद काट दे तो उसके पिता को जेल से मुक्त कर दिया जायगा, उनकी जागीर भी लौटा दी जायगी तथा बाबा पर से चारन्ट इटा दिया जायेगा, पर वीर प्रतापसिंह ने मरना स्वीकार कर लिया, राह के साथ गहरी नहीं।

जोधबंसिंह और उनके भाई की जागीर जप्त कर ली गयी थी। उन्होंने अपने जीवन का प्रिय घर-घर चकरा क्रान्ति का अलख जगाना तथा अंग्रेज सरकार की आँखों में धूल झाँकते रहना बना लिया। वे जब तक जीवित रहे सरकार उन्हें पकड़ नहीं सकी।

एक बार उदयपुर के रेजिडेन्ट ने उन्हें पकड़ भी लिया पर उनके व्यवहार से उसके संदेह की तनिक-सी पुष्टि नहीं हुई। रेजिडेन्ट ने वैसे रियासतों के कई निम्नोदार भारतीय अफसरों से उनकी शिनाख्त करवायी। वे लोग इस देश-भक्त से इतने प्रभावित थे कि वे भी सही काव नहीं कह सके। उन्हें छोड़ दिया गया।

जोरावरसिंह बरहट के मित्रों का कहना है कि बायसराय पर बय उन्होंने ने फेंका था। क्रान्तिकारियों के कार्य इतने गुप्त होते थे कि इस सत्य का पता नहीं चल सका। सरकार ने बसन्त विस्वास को बय फेंकने का अपराधी माना है। सम्भवतः उसने जोरावर सिंह को बचाने के लिए ऐसा कहा हो। कुछ भी हो जो त्याग और बलिदान उन्होंने देश के लिये किया वह अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

जोरावर सिंह ने संन्यासी के रूप में अपना फरारी जीवन ही नहीं काटा वरन् एक सच्चे संन्यासी की तरह उन्होंने गाँव-गाँव जाकर धर्म का प्रचार किया तथा लोगों में देश-भक्ति की भावनाएँ उत्पन्न कीं। फरारी का जीवन कितना कष्टपूर्ण और अनिश्चितता का जीवन होता है। यह तो कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है। वह जीवन जोरावर सिंह ने स्वेच्छा से चरम किया था। अपने सुख सुविधायुक्त जीवन को देश की स्वतन्त्रता के लिये तिनके

की तरह त्यागने वाला उनका वह व्यक्तित्व हमारे युवकों के लिये आज भी प्रेरण का स्रोत बन सकता है। बरहट परिवार का भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में जो महत्वपूर्ण योगदान रहा है उसने उनके नाम को अमर किया है।

क्रान्तिवीर रामचरण लाल

सन् १९०८। जिला कारावास एटा के पेंट कक्ष में एक चालीस वर्षीय महिला सजल वयनों से अपने कलेजे के टुकड़े की आत्मा लिए बेंच पर बैठी थी। जेल के दो चार्जर उसके ज्येष्ठ पुत्र को उस तक छोड़ गये। उसने अपने हाथ को एक नजर से देखा। माँ की आँखें क्षण भर में ही उसकी देह पर अंकित अमानुषिक यंत्रणाओं की कहानी को पढ़ गयीं। जिसे जरा-सा च्चर आने पर वह रात भर उसके शिरछाने बैठकर काट देती थी। वही माँ अपन पुत्र की यह दरा देखकर रो पड़ी। पुलिस की मार से उसके शरीर पर जहाँ-तहाँ नील पड़ गये थे।

माँ को अपने पुत्र की दुर्दसा पर शोक था और पुत्र को अपनी जननी की इस अधीरता पर रोष। वह परिवारिक मोड़ बन्धनों व शारीरिक सुख-दुःखों से बहुत ऊपर उठ चुका था। उसने अपनी माता से कहा- "तुम रो रही हो माँ! तुम बड़ी सोच लेना कि मैं तुम्हारी कोख से जन्मा ही नहीं। जिसके बेटे होते ही नहीं या भरी जवाब में उठकर चल देते हैं वे भी तो सन्तोष करती हैं फिर तुम्हारा मैं अकेला ही पुत्र तो नहीं हूँ।"

वह युवक थे भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानी रामचरण लाल, जिन पर सत्र न्यायाधीश, एटा के न्यायालय में भारतीय दण्ड विभाग की धारा १२१ ए, १२० बी व १२४ ए के अन्तर्गत अभियोग चल रहा था। यह अभियोग साप्ताहिक 'स्वराज्य' में प्रकाशित उनकी एक राष्ट्रीय कविता तथा अन्य स्वराज्य समर्थक क्रिया-कलापों के आधार पर चलाया गया था। अब उनके लिए अपनी माता के आँसुओं से अधिक महत्व भारत माता के आँसुओं

अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकने के प्रयासों का आरम्भ १८५७ से आरम्भ हुआ तो फिर वह रुका नहीं। चाहे सरल क्रान्ति का प्रयास हो या असहयोग आन्दोलन का मार्ग हो, दोनों दो मार्गों से होती हुई अन्याय का प्रतिकार करने, उसे समूल नष्ट कर देने की यह भाव सरिता इन दो गंगा जमुना के प्रवाहों की तरह अविरल रूप से बहती हुई जनमानस को जगाती झकझोरती रही। जनमानस में अन्याय से बूझने की जो शक्ति उन दिनों दिखाई पड़ी थी आज वह उतने प्रबल रूप में कहीं देखने को नहीं मिलती। यह कय आश्चर्य की बात नहीं।

स्वातन्त्र्य युद्ध में किस प्रकार व्यक्तिगत स्नेह-मोह और पारिवारिक मोह बन्धनों के शुद्ध पारों को तोड़कर भारतवासी अंग्रेजी साम्राज्य से लोहा लेने के लिए उठ खड़े हुए थे, यह कम महत्वपूर्ण नहीं। यह युवक रामचरण लाल भला इस बहती गंगा में हाथ धोने से कम चूकता।

एटा जनपद की कासगंज तहसील के नगला ठक ग्राम में जन्मे रामचरण लाल के पिता गंगाराम की आर्थिक स्थिति अत्यन्त सामान्य थी। बालक रामचरण के प्रगति पथ में परिवार की यह निर्धनता बाधक नहीं हुई थी। विद्याध्ययन की दृढ़ता कामना की डोर से बँधे वे कौतोर ग्राम की प्राथमिक पाठशाला से एटा और अलीगढ़ की शिक्षण संस्थाओं में पहुँचे। अलीगढ़ में उन्होंने इन्टर की परीक्षा उत्तीर्ण की। उन्हीं दिनों बंग-भंग को लेकर सारे भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन की एक लहर-सी चल पड़ी थी। वे भी इस लहर से अछूते नहीं रह सके। इस राह पर चलकर वे अंग्रेजी शासन की आँखों के कटि बन गये। शासन का दमन चक्र उन्हें एटा सत्र न्यायालय तक ले गया। उन्हें तीनों घाराओं को तोड़ने के दण्डस्वरूप दस-दस वर्ष का कारावास दिया गया। वह तीनों सजाएँ एक साथ चलकर एक साथ समाप्त होने वाली थी।

माता-पिता सोच रहे थे। जेह पुत्र है। इन्टर तक पहुँचा है। (उन दिनों इन्टर पास कर लेना सम्भरण बात नहीं थी।) कहीं नौकरी करके परिवार की आर्थिक दशा सुधारेगा। वे उसके लिये सुन्दर-सी बहू की तलाश में भी थे। किन्तु रामचरण लाल ने तो दूसरा ही मार्ग पकड़ा था। समर्थ की पुकार-पुग की आवश्यकता को स्वीकारते व मातृभूमि के लिए सर्वस्व न्योछावर करते हुए वे आजादी की बलिबेदी पर चढ़ गये।

पहले पहल उन्हें एटा जेल में रखा गया। वहाँ से स्थानान्तरित होकर वे कतेहगढ़ केन्द्रीय जेल व अलीपुर (कलकत्ता) की जेल में पहुँचे। अन्त में उन्हें अण्डमान की जेल भेज दिया गया। अण्डमान जेल की वे काल कोठरियाँ अपने साथ इन दिनों के नर्सस अत्याचार, क्रूरता व यन्त्रणा की स्मृति लिए आज भी विद्यमान हैं। वहाँ के बन्दियों को इतनी यन्त्रणाएँ दी जाती थीं कि पत्थर भी पिघल जाये।

वहाँ के राजनैतिक बन्दियों को भी अन्य बन्दियों की तरह ही रखा जाता था। उनके साथ पशुवत् व्यवहार किया जाता था। असह्य शारीरिक एवं मानसिक यन्त्रणाएँ दी जाती थीं। इन्हीं की तरह रामचरण लाल को भी कोल्हू खींचना पड़ता था। क्रूर बातनाएँ सहनी पड़ती थीं। एक क्रान्तिकारी, नन्दलाल बोस ने तो इन बातनाओं से परित्राण पाने के लिए विवश हो आत्महत्या कर ली थी।

क्रान्तिकारियों के साथ होने वाले इस अमानवीय व्यवहार से भारतवासी सगमन अनभिज्ञ ही थे। सुदूर

बंगाल की खाड़ी में स्थित इन द्वीपों के समाचार यहाँ तक बहुत कम पहुँच पाते थे। वही कारण था कि इसे काला पानी की सत्ता कहा जाता था। रामचरण यहाँ भी चुप नहीं बैठे। उन्होंने एक वार्डर से मिलकर काले पानी की इन काल कोठरियों की क्रूर बातना कथा को गुप्त रूप से कलकत्ता राष्ट्रवादी चक्रकार मोती लाल घोष के पास भेज दी। जिसे उन्होंने 'अमृत बाजार पत्रिका' में प्रकाशित किया। क्रान्तिकारियों की इस दशा का वर्णन पढ़कर अंग्रेजों के प्रति भारतवासियों के मन में चोर घृणा उत्पन्न हुई, जिसने स्वतन्त्रता बल में घृताहुति का काम किया।

अण्डमान की जेल का वर्णन 'अमृत बाजार पत्रिका' में प्रकाशित हो जाने से अंग्रेज सरकार बहुत चौखलायी। जाँच के बाद उस वार्डर को सेवा मुक्त कर दिया गया। जिसने उनकी सहायता की थी। उस वार्डर की आर्थिक सहायता उन्होंने चक्रकार घोष से करवायी।

चार वर्ष तक अण्डमान की नारकीय यन्त्रणाएँ सहने के बाद उनका स्थानान्तर बागपुर जेल में किया गया। यहाँ भी वे जेल में होने वाले अमानवीय व्यवहारों के विरोध में असहयोग व जेल के नियमों की अवहेलना करते रहे। जिसके कारण उनकी सजा में छद्महीने की वृद्धि कर दी गयी।

१९१८ में उनकी कारावास से मुक्ति हुई। दस वर्ष की क्रूर यन्त्रणाएँ भोगकर भी उनकी देश-भक्ति का ज्वार ठण्डा नहीं हुआ था। उसमें वही तूफानी गति विद्यमान थी जो आरम्भ में होती है। दिल्ली में रहकर उन्होंने 'कॉमिंस' व 'फतह' नामक दो दैनिक अखबारों का सम्पादन किया। वहाँ से वे जबलपुर गये वहाँ 'तिलक' नामक सम्पादन किया। सम्पादक पत्रों के माध्यम से वे भारतीय जनमानस को झकझोर कर स्वातन्त्र्य संग्राम में कूद पड़ने के लिए तैयार करते रहे। वे जनसभाओं में भी अंग्रेजी शासन के विरुद्ध आलोचनात्मक वाक्पथ दिया करते थे। पुलिस उनकी टोह में रहा कारती थी। पुलिस के बंगुल से बचाने के लिए उनके मित्रों ने उन्हें बागपुर भेज दिया। यह अच्छा ही हुआ। उनको जीवित तथा मृत एकड़ लाने के लिए बंगाल सरकार ने बोड़े ही दिनों बाद भारी इनाम घोषित किया। तब तक वे 'कर्मवीर' के सम्पादक भास्कर लाल सतुर्वेदी के अग्रह पर पण्डितवेरी पहुँच चुके थे, यह प्रदेश फ्रांस के अधिकार में था।

वहाँ रहकर भी उन्होंने अंग्रेजी शासन विरोधी क्रिया-कलापों में कोई कमी नहीं आने दी। वहाँ वे अधिक स्वतन्त्रता से अपना कार्य कर सकते थे। अंग्रेजी शासन का कोई घम नहीं था। कानपुर व मेरठ में हुए बह्यन्त्रों के पीछे उनका पूरा-पूरा हाथ था। कांग्रेस के कानपुर अधिवेशन में उनकी ओर से एक विज्ञप्ति पितरित की गयी थी। जिसमें सत्ता से खुला संघर्ष करने का आह्वान किया गया था। मेरठ के बह्यन्त्र में मानवेन्द्रनाथ राय के साथ

उनका भी नाम जुड़ा हुआ था। किन्तु पाण्डिचेरी में होने के कारण उन पर कोई मुकदमा नहीं चल सका।

पाण्डिचेरी के गवर्नर को अंग्रेजों ने इन्हें हिन्द चीन भेज देने के लिए सहमत कर लिया था किन्तु वहाँ की व्यवस्थापिका सभा के अध्यक्ष श्री गोबरे से उनके परिवार जैसे सम्बन्ध होने के कारण उनके हस्तक्षेप से उनका यह निर्वासन रुक गया। यही नहीं गोबरे परिवार से उन्हें समय-समय पर पर्याप्त संरक्षण मिलता ही रहा।

उनका सारा जीवन भारत को आजाद कराने के लक्ष्य से अभिन्न रूप से जुड़ चुका था कि वे इसके अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं सकते थे। उनकी सक्रियता चारों तरफ की नहीं अन्य देशों तक भी विस्तृत हुई थी। उनका सम्पर्क अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तिकारी दलों से भी था।

वे विदेशी दासता के साथ-साथ सामंजसिक विचमला के भी घोर विरोधी थे। मद्रास व मदुरा के चर्रों से उनके आग उगलने वाले लेख निकलते रहते थे, जिन्हें भारतीय जनता में इन बेदुियों को तोड़ फेंकने का साहस जाग्रत होता था।

वे केवल संपर्कशील पोटल ही नहीं कुशल सर्वक भी थे। वे एक सफल लेखक थे। उनके लेखक बनने के पीछे अपने पांडित्य प्रदर्शन का उद्देश्य नहीं था बल्कि उनका लेखन एक महत्वपूर्ण कार्य के लिए नियोजित था। उनके लेख उन दिनों पत्रिकाओं में छपते रहते थे। उन्होंने अपनी आजीविका चलाने के लिये कई अंग्रेजी पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद भी किया।

दस वर्ष तक जेल की नारकीय यंत्रणों सहते हुए उनका स्वास्थ्य खर्ब हो चुका था। अपने जीवन की गाढ़ी को वे अपने महान उद्देश्य की संकल्प शक्ति से ही खींचे जा रहे थे। उनका सारा जीवन मातृभूमि को विदेशी दासता से मुक्त कराने के कष्टपूर्ण प्रयासों व क्रान्ति के कष्टकाकीर्ण पथ पर चलते हुए ही व्यतीत हुए। पल भर भी वे कभी बैन से नहीं बैठे। आर्थिक व स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यक्तिगत समस्याएँ उन्हें घेरे ही रहीं फिर भी वे एक धीर-धीर सैनिक की तरह अपने स्थान पर टटे ही रहे।

सन् १९३० में उनके पाँव में कौल का घाव हो गया। जो गैगरिन में परिणित हो गया। उन्होंने मद्रास आकर उसकी चिकित्सा करवायी। वहीं उन्हें ब्रिटिश पुलिस ने जन्दी बना लिया। अस्पताल में उन पर कड़ा पहरा रहता था। रोग के बढ़ जाने के कारण उनकी टाँग काटनी पड़ी। इसी दौरान १९३१ में उनकी मृत्यु हो गयी। उनका यह जीवन वृत्त भारतवासियों को आज भी अनीति व अनाचार से संघर्ष करने के लिए उनकी तरह जीवन समर्पित करने की प्रेरणा देता रहेगा।

अत्याचार के विरुद्ध सतत संघर्षशील—

मुकुंदीलाल

राह चलते नागरिकों को अकारण ही परेशान करना उन दिनों अंग्रेज अधिकारियों तथा पुलिस वालों का नित्य धर्म बन गया था। बेचारी जनता इन अत्याचारों का विरोध करना तो दूर कुछ कर भी नहीं सकती थी। क्योंकि सदियों से चली आ रही पराधीनता ने उसका मनोबल तोड़ दिया था और टूटे हुए मनोबल के व्यक्ति ही या समाज उस असह्य परिस्थितियों में भी विवश होना जीवित रहने का आदी बन जाता है, जीवित तो क्या कहा जाय उसे मरा हुआ ही कहा जाना चाहिए। क्योंकि वह जीवन कोई जीवन नहीं है। जो स्वयं की रक्षा भी न कर सके। एक तो खोया हुआ आत्मसम्मान और टूटा हुआ मनोबल मनुष्य को पंगु बना देता है, दूसरी ओर अपने अस्तित्व तथा मानकीय सत्ता का मान उसे निरन्तर टीसता रहता है। वास्तव में ऐसे व्यक्ति किस मनोव्यथा से गुजरते होंगे—“यह न तो कहा जा सकता है और न ही कल्पना की जा सकती है।”

समाज में जब अनाचार और अत्याचार के विरोध की क्षमता और सामर्थ्य नहीं रहती है तो उस पक्ष के दुस्साहसी होने की संभावना बनती है। उन लोगों के लिए उदासीनता अपरोध प्रोत्साहन की प्रेरणा ही बन जाती है और अनाचार का कुचक्र दूनी गति से घूमने लगता है। परन्तु समाज में तब ऐसे जागरूक व्यक्तियों का भी उदय होता है जो अनाचार और अत्याचार का प्रबल विरोध करने के लिए उठ खड़े होते हैं। समाज को उसके दुस्साहस का सामना करने के लिए खड़ा करते हैं।

अत्याचार और अनाचार सहनशक्ति की सीमा से बाहर हो जाते हैं तो संपर्कशील व्यक्तियों की क्रोधाग्नि में अन्धवी, आलस्यवी झुलसकर खाक हो जाते हैं। ऐसे ही जागरूक अस्तित्व के एक युवक मुकुंदीलाल ने आज से सत्र-सत्तर वर्ष पूर्व इटावा जिले के खीरेया ग्राम में अंग्रेजों के दौल खड़े कर दिये। बाद में तो ज्यों-ज्यों उनकी चर्चा फैली देश भर में बिखरे हुए कई क्रान्तिकारियों ने उनसे सम्पर्क साधा और विदेशी सत्ता के विरुद्ध-मोर्चे पर तैनात कर दिया।

मुकुंदीलाल क्षेत्र के सर्वाधिक सम्पन्न जमींदार परिवार के सड़ते पुत्र थे। पिता का अच्छा अलग से करोड़वार भी था— काफी जमीन और जमा हुआ व्यापार। कुल मिलाकर हेस्वर्ष सम्पन्न पारिवारिक स्थिति। मद्रास-फिज ने सुनिश्चित और सुखी भविष्य के लिये ही लक्ष्मण पढ़ाया-लिखाया नहीं था। शिक्षा के सम्बन्ध में एक आम धारणा है स्कूल भेजने का अर्थ कोई अच्छी नौकरी

दिलवाने की आकांक्षा, पर बालक मुकुन्दीलाल को बचपन से खेलना, कुश्ती लड़ना, कसरत करना, दण्ड बैठक लगाना और मुगदर घुमाना अच्छा लगता था। इसी कारण खाने-पीने और सोने के बाद जो भी समय बचता था वह इन्हीं कामों में जाता। शारीरिक व्यायाम के प्रति इसी रुझान ने सुन्दर सुगठित देहवृष्टि और बलवान मौसपेशियाँ बना दी।

गाँव के लोगों पर अंग्रेजों को कोड़े और हण्टर बरसाते जब भी देखा हृदय तड़प उठता। आखिर ये लोग इन्सान होकर मनुष्य के प्रति पशुओं से भी गया बीता व्यवहार क्यों करते हैं। इसे सहने वाले भी कैसे कायर हैं? चाहे तो इन लोगों की अकल गिनट भर में ठिकाने लगा दें? परन्तु इन्हें देखते ही भय से धरधरा उठते हैं। बालक मुकुन्दीलाल गहरे मनोविश्लेषण में नहीं उतर सकते थे और उनके हृदय में उठने वाले प्रश्न निरन्तर ही रह जाते। अपने प्रश्नों का समाधान, मिले या न मिले परन्तु एक आक्रोश भरता गया हृदय में और जब वह सीमा से बाहर हुआ तो फूट पड़ा। चौबन की घब ही ऐसी होती है जिसमें उत्साह, जोश और साहस जैसी बीरता और पराक्रम की भावनाएँ उद्गम सह जाती हैं। किशोरावस्था की देहलीन पारकर मुकुन्दीलाल ने जैसे ही पुत्रावस्था में प्रवेश किया, निरपराध मनुष्यों पर होने वाले अत्याचार और अन्याय का विरोध करने की आकांक्षा उत्पन्न हो गयी।

अन्याय के प्रतिरोध की भावना मुकुन्दीलाल के मानवीय हृदय से उद्भूत हुई थी। दो चार अवसरों पर मुकुन्दीलाल ने पुलिस अधिकारियों का विरोध भी किया और अंग्रेजों को भी ललकारा। अस्तित्वियों का अहं आहत हो उठा। उन्हें लगा यह ललकार अंग्रेज शासन और जाति के गाल पर एक करारा तमाक है। जिसका दमन करना ही चाहिए अन्यथा वे एक कण्ठ से उठी विरोध में यह आवाज हजारों कण्ठों से समवेत स्वरों में गूँजने लगेगी।

अब अधिकारियों का सारा ध्यान मुकुन्दीलाल पर केन्द्रित हो गया। परिजनों और शुभचिन्तकों ने गलती स्वीकार करने तथा क्षमा माँगने का परामर्श दिया परन्तु मुकुन्दीलाल को तो परामर्श इस प्रकार लगा— वह सांसारिक दुष्टि से भले ही लाभदायक हो परन्तु इस प्रकार तो मेरे स्वयं के ही पाँवों से आत्मा कुचली जायेगी। उन्होंने दुर्वृत्तापूर्वक परामर्श मानने से इन्कार कर दिया और बरागाँव में आने वाले अत्याचारी अधिकारियों से मुकाबला लेते रहे।

परिजनों और शुभचिन्तकों ने मुक्क मुकुन्दीलाल को बहुभाँति समझाया कि इस प्रकार तुम अपने जीवन के

सिन्धे स्वयं ही खतरा पैदा कर रहे हो। तो मुकुन्दीलाल ने उत्तर दिया— खतरे में जीने से ही तो शान है। खतरे से सुरक्षित रहने का प्रयत्न करने वालों के लिए इस संसार में इन्ध भर की बगइ नहीं है। उसे तो एक ऐसी कोठरी में खाने-पीने का पर्याप्त साधन इकट्ठा रखकर बैठ जाना चाहिए जिसमें कोई दरवाजा नहीं हो।

पिता ने समझा— बेटे को कोई बहका रहा है। अन्यथा यह छोटा-सा अपरिपक्व बुद्धि का व्यक्ति इस प्रकार की घम्भीर बातें कैसे कर सकता है? उन्होंने कहा— “बेटा तुम किसी के सिखाने में न आओ। लोग तो बहका कर अलग हो जाते हैं। बीच में मुकसान तम्हें ही उठाना पड़ेगा।”

“मुझे कोई नहीं सिखाता पिताजी। मैं तो खुद ही जो ठीक देखता हूँ समझ रहा हूँ वह कह और कर रहा हूँ।”

बेटे की विरह से वह भी घबरा गये थे। मुकुन्दीलाल यह मानने को तैयार ही नहीं था कि जो कुछ करना वह चाह रहा है वह गलत है। किस्मत के भरोसे छोड़कर पिता यह कहते उठ गये— “ठीक है बेटा तुझे जो रुचे वही कर।”

उन दिनों कतिपय लोगों ने राष्ट्रीय चेतना के जागरण का शंख फूँका था। मुकुन्दीलाल अभी गाँव की सीमा से ही बाहर नहीं पहुँच पाये थे फिर भी वे अपने ढंग से लोगों को यह समझाने में लगे हुये थे कि अंग्रेज जो कुछ कर रहे हैं वह अनुचित है और उसका विरोध किया जाना चाहिए। उसे हमें कदापि सहन नहीं करना चाहिए लोगों को अन्याय और अत्याचार के विरोध में तैयार करने के अभियान में उन्हें काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

परन्तु वे बलवान होने के साथ-साथ सुदृढ़ आत्मशक्ति सम्पन्न भी थे। यह उन्हें बरदान के रूप में मिली थी बल और शक्ति। जिस व्यक्ति को ये बरदान के रूप में मिलती हैं उसका उपयोग तो सार्वजनिक सुरक्षा और कल्याण के कार्यों में ही होना चाहिए। मात्र अहंकार प्रदर्शन या अन्य औरों पर रौब जमाने के लिये उसका उपयोग तो दुरुपयोग ही कहा जाएगा। मुकुन्दीलाल जी ने इन्हीं आदर्श प्रेरणकों से प्रेरित होकर के नागरिक जीवन को भयभीत करने वाले तत्वों का दमन करने के लिए अपनी शक्ति साधना को उपलब्धियों का उपयोग करने की ठानी।

एक बार की बात है। मुकुन्दीलाल जी अपने किसी रिश्तेदार के यहाँ व्याहृ सादी में गये। उस समय पहला विश्व युद्ध चल रहा था। अंग्रेजी सेनाएँ जर्मनी फौजों के आगे धुटने टेकती चली जा रही थीं। मेहमानों में इसी विषय पर चर्चा चली तो मुकुन्दीलाल जी ने कुछ रोषपूर्ण स्वरों में अंग्रेजों की निन्दा करते हुये इस पर प्रसन्नता व्यक्त

की। उन मेहमानों में ही प्रभुदयाल पाण्डे नाम के एक सज्जन भी आये थे— जो उन दिनों चल रही क्रान्तिकारी गतिविधियों में सक्रिय भाग लेते थे। मुकुन्दीलाल जी का आक्रोश सुनकर उन्होंने इनसे सम्पर्क बढ़ाया और औरंगा तहसूल में अंग्रेज विरोधी संगठन तैयार करने के लिये प्रेरित किया। तब क्रान्तिकारियों के विख्यात नेता च. गैदालाल दीक्षित भी औरंगा के पास ही किसी स्कूल में अध्यापक थे। मुकुन्दीलाल जी ने पाण्डेय जी की प्रेरणा से उनसे भी सम्पर्क बनाया और अंग्रेजी शासन के विरुद्ध खड़े समग्र युवा मोर्चे पर आ दड़े।

पहले उनकी पुलिस अधिकारियों तथा अंग्रेजों से ही यवा-कड़ा झड़प या मुठभेड़ हो जाया करती थी परन्तु अब वे अपने देश में उनके अस्तित्व और सत्ता को ही चुनौती देने के लिए कसर कसकर आगे आ गये। पहले वहाँ वे अपने आपको अकेला पा रहे थे वही अब उनके साथ कई बत्साही सहयोगियों का विश्वास बल भी आ जुटा। मुकुन्दीलाल जी ने दीक्षित जी के साथ मिलकर एक दल तैयार कर लिया। संगठन को मजबूत बनाने के लिए धन की आवश्यकता हुई तो भारतीय जनता से अन्वयपूर्वक सूटा गया धन अंग्रेजों से वापस छीनने की प्रक्रिया चल पड़ी।

इधर अंग्रेज अधिकारियों को यह पता चल गया कि मुकुन्दीलाल किसी क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो गये हैं तो वह इनके पीछे हाथ धोकर पड़ गयी। उस समय उनका घर क्रान्तिकारियों का अड्डा बन गया था। पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार करने के लिये कई बार छापे मारे परन्तु वह असफल ही रही। मुकुन्दीलाल जी इतनी सफाई के साथ सब निकलते कि लोग दंग रह जाते थे।

तभी दीक्षित जी ने अंग्रेज अधिकारियों को आतंकित करने के लिए एक योजना बनायी। शत्रु की साम, दाघ, दण्ड, भेद की नीतियों से पराजित करना ही क्रान्तिकारियों द्वारा अपनाया मार्ग था। परन्तु दुर्भाग्य से इस योजना का पता पुलिस को चल गया। गैदालालजी दीक्षित और मुकुन्दीलाल जी तथा उनके कई साथी पकड़े गये। इन सब पर मुकदमा चलाया गया अन्य सदस्यों के साथ उन्हें भी लम्बी सजा हुई।

सात वर्ष तक कारावास में रहने के बाद वे बाहर आये तो पुनः सक्रिय हो गये। अब उनके पास कुछ नहीं बचा था। माता-पिता तो पहले ही मृजुर चुके थे। जमींदारी और जमीन-जायदाद भी चौपट हो गयी परन्तु उन्हें तो किसी प्रकार की चिन्ता भी न हुई। उसी प्रकार निश्चिन्त भाव से मनोयोग के साथ अपने कार्य में डटे रहे।

स्वतन्त्रता-संग्राम का यह वीर कुछ ही समय बाहर रह पाया था कि पुलिस ने उन्हें फिर गिरफ्तार कर लिया। काकोरी केस में पकड़े गये क्रान्तिकारियों के साथ जाना पड़ा। इस बार तो उन्हें स्वतन्त्रता मिलने तक कारावास

भोगना पड़ा। जेल के सॉलर्यों में बन्द मुकुन्दीलाल ५८ वर्ष की आयु में बाहर आये और तब तक उनका लम्ब-मातृत्वयी विदेशी शासन समाप्त हो चुका था।

अक्टूबर, १९७२ में उनका देहान्त हुआ। परन्तु उन्हें संतोष था कि जिस अन्वय और अत्याचार को समाप्त करने के लिये उन्होंने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया वह उनके जीवे जी दम बौद्ध गया था। मुकुन्दीलाल को संतोष था मरने से पूर्व अपने जीवन की उपलब्धियों पर कि जो कुछ वे अपने देश और समाज के लिए कर सके सार्थक रहा। वनतः से उन्होंने कभी अपनी सेवाओं का प्रतिदान नहीं चाहा।

बहते रहे उत्सर्ग के निर्झर ऐसे ही—

बशेशर नाथ

गोलियों से डलनी तथा खून से लथपथ एक युवक को पुलिस अपनी मोटर गाड़ी में लादकर लाठीर अस्पताल में लव्ही। युवक को घूँछा आ गई थी। यह युवक बन्दी था। इस पर राजगोह के कई आरोप थे।

मध्यम कद के इस गठे शरीर वाले युवक को पहचानने में उन्हें क्लिक भी समय न लगता। पहचान के साथ ही उसकी सहनशक्ति का स्मरण भी उन्हें आया। यों तो वे उसे संगीनों की मोंक से गोद-गोद कर भी जो ठगसवाया चाहते थे वह नहीं ठगलवा सकते थे।

उन्होंने युवक के वर्तमान पर भावनात्मक आघात पहुँचाने का मार्ग चुना। पुलिस के रिकॉर्ड में उसका पूरा जीवनवृत्त अंकित था। उसकी माँ को बुलाया गया। यह खबर सुनकर कि उसका इकलौता पुत्र मृत्यु-शैव्या पर अस्पताल में पड़ा है तो वह तुरन्त उनके साथ मोटर गाड़ी में बैठकर चल दी।

अपने हृदय के इस एक अंश के लिये उस जननी ने क्या-क्या कष्ट नहीं सहें— कौन-कौन से अभाव नहीं देखे। उसे अपने जीवन में ही छिनने की आशंका ने उसे कैपा दिया। क्या मुकामे की वह लाठी भी टूट जायेगी और वह वे सहारा हो जायेगी।

इन्हीं कुसंकाओं से लदी यह पृष्ठा जब अस्पताल पहुँची तो उसके पुत्र की घूँछा टूट चुकी थी। वह अपने पुत्र को इस अवस्था में देखकर से पड़ी। आँसू अपना बाँध तोड़कर वह निकले। आख तक उसने अपने श्रम व सहनशक्ति से जो कहानी लिखी थी वह इन अश्रुबिन्दुओं से धुलती जान पड़ती थी।

पुलिस अधिकारियों ने युवक की माता को एक तरफ से जाकर सम्झाया। “माँ जी तुम्हारा बेटा बहुत घायल हो चुका है। इसको बचाना चाहती है तो हमारी राय मान

लो । इसे हम बचा लेंगे । बाद में उसे विलायत भेजकर ऊँची पढ़ाई का प्रबन्ध भी किया जा सकता है । फिर ऊँची नौकरी भी मिल जायगी । यदि वह अपने साधियों के नाम बता दे तभी यह सब हो सकता है । नहीं बताने पर यह कुछ ही समय का मेहमान है, अर्चित इस्त्राएल के अन्धत्व में दम तोड़ देगा ।

माँ के हृदय की पोट्टी माँ ही जानती है । यह तीन वर्ष का था तभी तो उसके पिता का देहान्त हो चुका था । उसी के सहारे वह आज तक वैधव्य का घोरान जीवन कट सकी थी । इसके पालन-पोषण के लिए उसने क्या-क्या नहीं किया । घर की आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर थी । अपने रक्त और पसीने से उसने इस चौधे को सींचा था । वह जानती थी कि किन कठिनाइयों और अभयों के रहते हुए भी उसने अपने पुत्र को पढ़ाया था । इन दिनों वह लाहौर स्टी. ए. बी. कॉलेज में पढ़ रहा था ।

बेटे के प्राण बचाने के लिये वह सब कुछ कर सकती थी । पुलिस अधिकारियों ने उसे सुझाया कि वह अपने पुत्र पर इस बात का दबाव डाले कि वह अपने साधियों के नाम बता दे ।

बुद्धा ने अपने बीस वर्षीय पुत्र के पाँव पकड़ लिए, कहने लगी- "बेटा इनका कहना मान ले ।" जिस माँ के अणु-भार से उसका रोम-रोम दबा था । वही आज उससे भीख माँग रही थी- गिड़गिड़ा रही थी । आँसू बसकर रही थी ।

युवक माँ की सेवा में सारा जीवन लगा सकता था किन्तु उसने अपनी मातृभूमि की सेवा में जीवन उत्सर्ग करने को- पूरा धर्म समझकर अंगीकार कर चुका था । माँ के आँसू उसे अपने बंध से विचलित नहीं कर सकते थे । प्राणों का मोह उसे नहीं था ।

उसे माँ से सीधा 'ना' कहना उचित नहीं लगा । उसने पुलिस अधिकारियों को कहा- "मैं सब कुछ बता दूँगा पहले मेरी माँ को मुझसे दूर ले जाओ । मुझसे उसका यह रुदन देखा नहीं जाता ।" पुलिस अधिकारियों को अपना स्वधन सत्य होता हुआ दीक्षा । उन्होंने सोचा अब तो वह सारा भेद खोल देगा । उन्होंने उसकी बुद्धा भक्त को अपने घर पहुँचाने की व्यवस्था कर दी ।

युवक की माता को रवाना करने के तुरन्त बाद उन्होंने युवक से कहा- "अब अपने साधियों के नाम तथा घटपन्नका भेद बता दो ।" युवक बोला- "मैंने क्या देने का वचन दिया है मैं उसे तोड़ेंगा नहीं किन्तु मैं किसी भारतीय मजिस्ट्रेट के समक्ष ही अपना बयान दूँगा, इन लोगों ने तुरन्त भारतीय न्यायाधिकारी को बयान लेने की व्यवस्था कर दी ।

भारतीय न्यायाधिकारी ने आकर कुर्सी पर बैठते हुए कहा- "बरोशरनाथ ! मैं भारतीय मजिस्ट्रेट हूँ । तुम्हारी

इच्छा पर उपस्थित हुआ है । अपने बयान दो ।" यह बरोशरनाथ नामक युवक भगतसिंह तथा उनके साथियों पर लाहौर के राहली किले में किये गये पुलिस अधिकारियों के अमानुषिक अत्याचार का बदला लेते हुए इतना धावत हुआ था । उसने कहा- "मजिस्ट्रेट साहब ! मैं एकान्त में बयान देना चाहता हूँ ।"

न्यायाधिकारी के इंगित पर पुलिस अधिकारी कमरे से बाहर निकल गये तब बरोशरनाथ ने कहा- "श्रीमान् पहले दरवाजा बन्द कर लीजिये फिर मेरा बयान अंकित कर लीजिये ।" मजिस्ट्रेट ने दरवाजा बन्द कर दिया । युवक की शारीरिक दशा बिगड़ती जा रही थी, उसने न्यायाधिकारी को अपना बयान देना आरम्भ किया । "श्रीमान् मैं भारतवर्ष में पैदा हुआ । सामान्य भारतीय नागरिक की तरह मैं भी निर्धन हूँ । मेरी विधवा माँ ने अपने खेबर बेचकर बच्चों लोगों के घर घर काम करके मेरा पालन-पोषण किया । यही नहीं मुझे कॉलेज में पढ़ाने तक का सहस्र उसने किया । आज वह बेस्हारा हो रही है । किन्तु जब सारे नाँव में ही आग लगी हो तो अपने घर पर ही पानी डालने से क्या लाभ ? उसी को बुझाने में सबको लगना चाहिए । हमारा देश आज परतन्त्र है । यह परतन्त्रता जब तक नहीं मिटती, तब तक विकास के सपने भी देखे नहीं जा सकते- समाज सुधार की बात सोची नहीं जा सकती । यही सोचकर मैंने स्वयं को स्वतन्त्रता की इस बलिभेदी पर बलिदान किया है । आप हिन्दुस्तानी हैं मजिस्ट्रेट साहब ! जरा पास आइये मेरे हृदय पर हाथ रखिये ।" मजिस्ट्रेट ने अपना काँपता हाथ उसकी क्षीण पड़ती धड़कन पर रख दिया । "मेरा समय अब समाप्त हो रहा है । गीत में लिखा है आत्मा अपने बच्चों की तरह शरीर बदलती रहती है । मेरा यह शरीर अब अधिक समय नहीं रहेगा । मैं घर रहा हूँ मरना और जीना अपने उद्देश्यों और आदर्शों का होना है । मेरा भी उद्देश्य था भारत को आजाद करने में अपने आपको समर्पित कर देना । वह पूरा हो गया । मुझे खुशी है कि मैं अनुषंग के जन्म सिद्ध अधिकार के लिए मर रहा हूँ । भारत की स्वतन्त्रता का उद्देश्य ही मेरा एकमात्र साथी है जो पृथक्-पृथक् रूपों में प्रकट हुआ है । इससे अधिक मुझे कुछ कहना नहीं है ।"

मजिस्ट्रेट की आँखों में आँसू आ गये, गला रुंध गया बोदे ही समय बाद बरोशरनाथ के प्राण-पखेक उड़ गये व्यक्तिगत हितों की संकीर्ण मली को त्यागकर उत्सर्ग का राजमार्ग चुनने वाले ये वीर स्वतन्त्र भारत के नागरिकों के हृदय में समाज सेवा की उमंगें उत्पन्न करते रहेंगे, जो कि स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रगति की दिशा में दूसरा चरण है ।

आजादी के दीवाने— हेमचन्द्र दास

अपने देश को विदेशी दासता से मुक्त कराने के लिये ज्ञात-अज्ञात कितने ही युवकों ने अपनी जान की बाजी लगा दी। सुख-सुविधाओं, लौकिक एवणाओं के प्रबल आकर्षण से स्वयं को मुक्त करके वे समय की चुका पर सर्वस्व राष्ट्र हित दीव पर लगाने में हिचकिचाए नहीं। ऐसे क्रांतिकारियों का योगदान भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में कम नहीं रहा। उन्हीं में से एक थे हेमचन्द्र दास कानूनी-अलीपुर काण्ड के प्रमुख बहस-वकाली।

हेमचन्द्र दास का जन्म सन् १८७९ में बंगाल के मिदनापुर के एक मध्यमवर्गीय जमींदार परिवार में हुआ था। उनके पिता खेतदास का अपने गाँव में अच्छा सम्मान था। प्रारम्भिक शिक्षा उनकी अपने गाँव की पाठशाला में ही हुई। वहीं से—मिदनापुर कॉलेज से ही उन्होंने इन्टर की परीक्षा पास की। उनके पिता उन्हें डॉक्टर बनाना चाहते थे किन्तु वे कलकत्ता बनना चाहते थे। पिता की आज्ञा मानकर वे कलकत्ता के तत्कालीन केपबेल मेडिकल कॉलेज तथा वर्तमान सर चैलर रतन सरकार कॉलेज में प्रविष्ट हुए किन्तु उन्हें शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि इस विषय में अपनी रुचि नहीं है। उसमें सिर खपाने की अपेक्षा तो पिताजी को अपना स्पष्ट अधिप्राय कह देना ही उचित है।

उन्होंने अपने पिता को अपनी इच्छा बतलाई तो उन्होंने उन्हें अपनी रुचि के अनुसार पढ़ने की आज्ञा दे दी। अब वे कलकत्ता आर्ट्स स्कूल में प्रविष्ट हुए तथा वहीं की शिक्षा पूरी करके मिदनापुर कॉलेज में ड्राइंग के अध्यापक बन गये। थोड़े दिन अध्यापन कार्य करते रहे किन्तु अंग्रेज सरकार द्वारा चलाये जा रहे कॉलेज में अधिक दिनों तक अध्यापन कार्य नहीं कर सके। उनके भीतर ही भीतर एक क्रांतिकारी जन्म लेता जा रहा था, जिससे वे स्वयं भी अनभिज्ञ थे।

कॉलेज की अध्यापकी छोड़कर वे चित्रकला साधना में प्रवृत्त हुये। उसमें शीघ्र ही उन्हें सफलता मिलने लगी। उनके चित्रों की प्रशंसा होने लगी। उनका स्टुडियो लोगों की भीड़ से भरा रहने लगा। किन्तु हेमचन्द्र के लिये तो नई राहें खुली पड़ी थी। उन्हें प्रसिद्धि कलकत्ता के रूप में नहीं क्रांतिकारी के रूप में मिलने वाली थी।

इन्हीं दिनों उनका सम्पर्क क्रांतिकारी संगठन के युवकों से हुआ। वे इन क्रांतिकारी गतिविधियों से अत्यधिक प्रभावित हुए। मिदनापुर में उन दिनों आनन्द मठ नाम से गुप्त क्रांतिकारी दल चलता था। उन लोगों को हेमचन्द्र काम के आदमी लगे। इस दल का सूत्र संचालन अरविन्द व करीन्द्र घोष के मामा सत्येन्द्र नाथ

बसु किया करते थे। उन्होंने इनका परिचय अपने दोनों भान्जों से करवाया। फिर वही हुआ जो दीवानों के मिल बैठने पर होता है।

उस समय बंगाल में ऐसे कितने ही गुप्त दल संगठित हो चुके थे। किन्तु उनमें पारस्परिक परिचय व संबद्धता का अभाव था। इस कारण वन में दल के लिये बहुत कुछ कर गुवरने की सभ भीतर ही भीतर तमझूटी-धुमझूटी रहती थी उधे कोई दिशा नहीं मिल पाती थी। न वे ऐसा कोई 'एक्शन' ही लेने में समर्थ थे। यदि कोई 'एक्शन' लिया जा सकता तो इन दलों का परिचय भी एक दूसरे से हो जाता व भविष्य के लिये कुछ रास्ता भी बन जाता।

गुप्त संगठनों को इस स्थिति से उबारने के लिये हेमचन्द्र दास के चरित्र में एक योजना ने जन्म लिया। उन्होंने विदेश जाकर गुप्त संगठनों की क्रिया-पद्धति तथा कम करने का तरीका सीखने की ठानी। उन्होंने अपना यह विचार अपने साथियों को बताया। उन्हें विचार तो पसन्द आ गया लेकिन समस्या विदेश जात्रा के लिए धन जुटाने की आ खड़ी हुई। इस सम्बन्ध में कोई भी कुछ सहायता करने में समर्थ नहीं था। किन्तु हेमचन्द्र केवल वन के अभाव में इस योजना को अपूर्ण नहीं रखना चाहते थे। उन्होंने इसके लिये अपनी जमींदारी का थोड़ा-सा भाग बेचकर इतना धन प्राप्त कर लिया जिससे विदेश जाकर संगठन पद्धति तथा विस्फोटकों की निर्माण प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त जा सके। लौटते समय कुछ सजाख लाने का भी उनका विचार बन गया।

स्वयं ही धन जुटाकर बिना किसी से सहायता माँगे वे जुलाई १९०६ में विदेश के लिये रवाना हो गये। सबसे पहले वे फ्रान्स की राजधानी पेरिस पहुँचे। उन्होंने वहाँ विदेश जात्रा के खर्च का अनुमान लगाया था वह गलत चैत्र। वे जितने पैसे वहाँ से ले गये वे वे तो पेरिस में ही समाप्त हो गये। अब तक वे किसी क्रांतिकारी संगठन से सम्पर्क ही नहीं बना सके थे। अब पराधी धरती पर वे किस से सहायता पंगे। तब उन्हें ध्यान आया कि लन्दन में रहने वाले भारतीय श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा उनकी सहायता कर सकते हैं। उन्होंने श्याम जी वर्मा को पत्र लिखा।

श्याम जी कृष्ण वर्मा ने उन्हें आर्थिक सहायता देकर लन्दन जुटा लिया तथा उन्हें 'इण्डियन हाउस' का मैनेजर बना दिया। वहाँ पर भी उन्हें जमकर काम करने का मौका नहीं मिला। वे अपने घर पर ही विस्फोटकों का परीक्षण करने लगे किन्तु ब्रिटिश गुप्तचरों की सरगर्भियों के कारण उन्हें शीघ्र ही फ्रांस लौटना पड़ा।

फ्रांस लौटने पर पेरिस में उनकी भेंट सरदारसिंह रेवा आई राना नामक देशभक्त से हुई जो फ्रांस में रहते हुए भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में योगदान देते रहते थे। वे भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए तत्प प्रयत्नशील रहते थे।

प्रवासी भारतीयों व क्रान्तिकारियों को वे पूरी-पूरी सहायता देते थे। उन्होंने हेमचन्द्र दास का परिचय मदाम कामा जी कामा नामक प्रख्यात भारतीय महिला से कराया।

मदाम कामा का फ्रांस के क्रान्तिकारी संगठनों से अच्छा परिचय था। उन्होंने उनका परिचय क्रान्तिकारी संगठनकर्ताओं से कराया जिससे उनका अभिप्राय पूरा हुआ। उन्होंने बम बनाने की विधि भी विधियाँ भी उनका ज्ञान प्राप्त किया। एक विषयक जो भी पुस्तक उन्हें मिलती उसके महत्वपूर्ण सूत्र के बारे में उनका ज्ञान तब तक की वैज्ञानिक जानकारी तक पहुँच गया था। अपना काम पूरा होते ही वे १९०३ में भारत लौट आये।

रूसी तथा फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों से उन्होंने जो विधियाँ सीखी थीं उन्हें एक पुस्तकाकार में लिपिबद्ध कर लिया। मानिक ताल्ल मकान की तलाशी लेने पर जब वह हस्तलिखित पुस्तक सरकार के हाथ लगी तो अधिकारी लोग इसमें वर्णित वैज्ञानिक विस्फोटक पद्धतियों को पढ़कर चकित रह गये।

यूरोप प्रवास से लौटने पर उन्होंने श्री अरविन्द घोष के भाई चारीन्द्र घोष से साथ मिलकर बुधवार दल की स्थापना की तथा बम बनाने के रसायन जुटाने व बम बनाने का पूरा काम उन्होंने अपने हाथ में ले लिया। वे कलकत्ता के गोपी मोहन दल सेन के एक किराने के मकान में तथा जब कुछ स्ट्रीट स्थित अपने मकान में ठहरास कर दल को साथ लेकर बम बनवा करते थे।

उनके बनाये गये पहले बम का प्रयोग चन्द्रनर के फ्रांसिसी मैथर पर किया गया, जो अंग्रेज अधिकारियों के कहने में आकर क्रान्तिकारियों की गतिविधियों पर अंकुश लगाये रहता था। दुर्भाग्य से वह बम विस्फोट में मर नहीं सका किन्तु उस विस्फोट से क्रान्तिकारी संगठनों को एक होने की प्रेरणा अवश्य मिली।

बम बनाने के सम्बन्ध में हेमचन्द्र दास कानूनी बहुत प्रवीण हो गये थे। उनके दल ने कलकत्ता के चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट को समाप्त करने की योजना बनायी। क्योंकि किंग्सफोर्ड ने अगस्त, १९०४ से लेकर मार्च, १९०८ तक देशभक्तिपूर्ण कार्य करने वालों को कठोर सजाएँ दी थीं।

किंग्सफोर्ड को समाप्त करने के लिए हेमचन्द्र दास के उर्वर भविष्य ने बड़ी अच्छी योजना बनायी जिससे कि सॉप भी मर जाय व साती भी न टूटे। उन्होंने १२०० पृष्ठों की एक बम पुस्तक उसके लिए बनायी। इस कानूनी पुस्तक के बीच के सह सौ पृष्ठों को काटकर एक चौकोर गद्दा बनाया गया जिसमें मिक्करिक एंजिन का उसी नाम का एक टिन का डिब्बा रखा गया। पुस्तक को खोलने के लिये उसके फीचे काटने पड़ते थे। इन फीचों को काटते ही भयंकर विस्फोट होता और किंग्सफोर्ड मर जाता। पर उसका जगमग उबलता था। पुस्तक उसके हाथ में आयी उसने समझा उसके किसी

भित्र ने उसी की पुस्तक लौटायी है। अतः उसे बिना खोसे ही असमर्थी में रख दिया।

इस पुस्तक का रहस्य अलीपुर बड़वन्द केस की सुनवाई के दौरान खुलता तो उस पुस्तक को बड़ी सावधानी से खोला गया। उसके सिंग तक जंग भी खा चुके थे। किन्तु वह उनके आत्म दर्जे के दिमाग की एक हैरत अंग्रेज कण्ठधर भी जिसे देखकर अंग्रेज लोग भी भारतीयों के बुद्धि कौशल का सोझ मान गये। उन्हें देखकर अपना जहाँ पर रह पाता असम्भव लगने लगा।

उनके बनाये गये अतिथि बम थे वे जिन्हें प्रफुल्ल चन्द्र चर्की तथा सुदीराम बोस ने मुजफ्फरपुर में प्रयुक्त किये ३० अप्रैल, १९०८ को वे बम फेंके गये थे। उन बमकों ने अंग्रेजों के काम खोल दिये थे। उन्होंने बड़ी छपरता से कलकत्ता व आस-पास के अधिकांश क्रान्तिकारियों को पकड़ लिया और उन पर मुकदमा चला।

हेमचन्द्र भी उनमें सम्मिलित थे उन्होंने व सत्येन्द्र नाथ बसु ने सरकारी गवाह बन गये नरेन्द्र गोस्वामी को समाप्त करने की मुक्त योजना बनायी। चारीन्द्र घोष, जो बाहर थे, ने पिस्तौलें उन तक पहुँचायीं। चारीन्द्र की योजना तो पेल तोड़कर धमने की थी। इसीलिए उन्होंने हथियार धेजे थे। किन्तु उसे असम्भव जान उन्होंने वे पिस्तौलें सत्येन्द्र नाथ बसु व कन्हैया लाल दत्त को दे दीं और उन्होंने नरेन्द्र गोस्वामी को देशद्रोह का मजा चखा दिया।

अलीपुर काण्ड के फैसले के अनुसार उन्हें आजन्म कारावास की सजा दी गयी। उन्हें अण्डमान भेज दिया गया। वहाँ उन्होंने वे सब यातनाएँ सही सौ काले पानी की सजा के दौरान दी जाती थीं। वहाँ उन्होंने दस वर्ष बिताये तथा १९१९ में मीन्टेग्यू चेम्सफोर्ड योजना के अनुसार बन्दियों की आब रिहाई के समय उन्हें भी मुक्त किया गया।

काले पानी की सजा काट कर आने के बाद वे पुनः राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेने लगे। किन्तु दस वर्ष तक शरीर असह्य वनजाओं का भार सहते-सहते लगभग टूट चुका था। अतः अब वे उस जोरा-जिरोरा के साथ काम नहीं कर पाये। अतः वे १९५९ में उनका देहान्त हो गया। सरा जीवन राष्ट्र के लिए समर्पित करने वाले इस अपर क्रान्तिकारी का जीवन हमारे देश के नवयुवकों को युगधर्म पालने के लिये आह्वान करता है।

यशस्वी क्रान्तिकारी—

बाबू कुँअरसिंह

सतत समन्दर पार से आवे गोरे व्यापारी भारतीय राजाओं की फूट और अहमन्यता से लाप रठाकर भारत के स्वसक बन गये। इस वृष्ण को देर से ही सही पर

भारतीय राजाओं ने समझा और संगठित होकर क्रान्ति की योजना बनाई, उसके लिए भीतर ही भीतर पुरजोर तैयारियाँ कीं। भाग्य कुछ विचरित था इसलिये क्रान्ति समय के पूर्व ही फूट पड़ी और अंग्रेजों की सफलता का अवसर मिल गया। फिर भी क्रान्ति चरदस्त हुई। अंग्रेजी साम्राज्य की नींवें हिल गयीं। आरम्भ में तो उनका अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया था। समय से पूर्व फूट पड़ने वाला यह क्रान्ति का ज्वालामुखी उन भी अंग्रेजी राज्य को भूमिसात कर देता यदि उसके सिपाही अनुभवी और कुशल होते। क्रान्तिकारियों में चतुर और अनुभवी व्यक्ति थोड़े से ही देखने में आये। यदि दूसरे भी उन्होंने जैसा पराक्रम, युद्ध कौशल व सूझ-बूझ दिखाते तो बहुत सम्भव था पोंसा पसट ही जाता। उन थोड़े से क्रान्तिकारियों में जिन्होंने अपने स्वल्प साधनों से ही अंग्रेजों के दौल खट्टे कर दिये, अंग्रेजों की उनके सामने एक न चली, बिहार केसरी बाबू कुँआरसिंह भी उनमें से एक थे।

बाबू कुँआरसिंह बिहार के गढ़वाड़ जिले के जगदीशपुर नामक जागीर के अधिपति थे। उनके पिता बाबू जादसिंह अन्य जागीरदारों की तरह प्रजा पर अत्याचार नहीं करते थे। लगान आदि की बसुली के समय प्रजा के साथ कठोरता का बर्ताव करने के पक्ष में वे कतई नहीं थे। इस कारण कई किसानों पर तो वर्षों की बसुली बड़ी रहती थी। उनकी इस दयालुता का कुछ लोग नाजायब लाभ भी उठाते थे और जाह्नकर लगान नहीं देते थे, पर उनके पीछे बाबू जादसिंह सबके साथ ब्यादती नहीं करना चाहते थे। आय भले ही पूरी नहीं बढ़ती हो प्रजा के हित के कार्यों में वे किसी प्रकार की कटौती नहीं करना चाहते थे। वे स्वयं भी अन्य जागीरदारों की तरह शान-शौकत से रहते, मनमाना खर्च करते। परिणाम यह होता कि उनका खजाना सदा खाली ही रहता।

उन्हीं का उत्तराधिकार बाबू कुँआरसिंह को मिला। उनके पिता ने अपनी प्रजा के साथ जो उदारता करती थी उस परम्परा को उन्होंने ने भी उसी तरह निभाया इससे प्रजा में उनका मान और लोकप्रियता तो बढ़ती ही पर साथ ही रियासत पर कर्ज भार भी बढ़ता जाता था।

शान-शौकत से रहना, खुले हाथों से खर्च करना, अपनी मान-मर्यादा पर आवश्यकता से अधिक खर्च करना तथा जरा-जरा-सी बात पर अपनी हेरी हो जाने की चिन्ता करना—उस समय के छोटे-से-छोटे जागीरदार से लेकर बड़े से बड़े राजा की कमजोरी थी। इस कमजोरी से बाबू कुँआरसिंह भी मुक्त नहीं थे और राजाओं व जागीरदारों से वे इस दृष्टि से तो भिन्न नहीं थे पर भिन्न थे

इस दृष्टि से कि उनमें राष्ट्रीयता व परमार्थ की भावना अन्य जागीरदारों व राजाओं से कहीं अधिक थी। उनकी इन भावनाओं ने आगे चलकर उन्हें स्वातन्त्रता संग्राम के यशस्वी सैनिक बनाकर इतिहास में अमर कर दिया।

अपनी प्रजा को अपनी सन्तान की तरह प्यार करने और उसकी भलाई के लिए कर्ज लेकर भी काम करने के कारण प्रजा उन्हें बाबू कहती थी, जिसका भोजपुरी में अर्थ होता पिता। दीन-दुःखियों की सहायता करने में वे सदा आगे रहते थे। उसी प्रकार अपनी आन-बान और शान में भी वे अपने से बड़े-बड़े जागीरदारों से भी टकरा लेते थे। मालगुजारी बसूलने में शकती नहीं की जाय तो खजाने में बराम्बर बैसा नहीं आता। खर्च तो घटता नहीं बढ़ता ही जाता था अतः उनकी रियासत पर कोई अठारह लाख का कर्ज हो गया था। इस कर्ज का कारण यह भी था कि उनका इकलौता पुत्र जवाना में ही मर गया था और पौत्र था वह अर्धविक्षित था सो उन्हें रियासत की इतनी चिन्ता भी नहीं थी। वे यही सोचते थे कि प्रजा की रियासत है फिर उनके हित के लिए कर्ज का सहारा लेना ही क्या बुरा है।

१८५७ की क्रान्ति हुई तब बाबू कुँआरसिंह ७६ वर्ष के हो चुके थे। इस आयु में भी उन्होंने जिस वीरता, साहस और युद्ध कौशल का परिचय दिया वैसा यदि सभी क्रान्तिकारी दिखाते तो विजय उन्हीं के हाथ रहती। इस क्रान्ति में उनकी अपनी एक अनूठी भूमिका रही है। कहीं तो ७६ वर्ष के बाबू कुँआर सिंह अंग्रेजों से कभी प्रकट और कभी छापामार युद्ध करते हुए क्रान्ति को सफल बनाने के लिए प्राणपण से जुटे हुए थे, बड़ी-बड़ी अंग्रेजी सेना उनसे पार नहीं च रही थी और कहीं मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर के पुत्र जिनके पास बड़ी-सी सेना थी, दिल्ली की रक्षा नहीं कर सके।

क्रान्ति की आग भीतर ही भीतर सुलग रही थी। अंग्रेजों से न जनता संतुष्ट थी, न राजा, महाराजा व छोटे-छोटे जागीरदार ही सुखी थे, हिन्दू और मुसलमान एक होकर इस तीसरी हुकूमत को भारत से हटाने के लिए कटिबद्ध हो रहे थे। ककीरों और साधुओं द्वारा घर-घर, गाँव-गाँव जाकर आजादी का अलख जगाया जा रहा था। दिल्ली, आगरा, मेरठ, झाँसी, कानपुर इसके केन्द्र थे। पूरे उत्तर भारत में यह आग राख में दबी-ठकी जवानल बनने का प्रयास कर रही थी।

बाबू कुँआरसिंह को इसका पता चला तो उनका स्वतन्त्रता प्रिय हृदय इसके लिए मचल उठा। यद्यपि उनकी अंग्रेज अधिकारियों से अच्छी मित्रता थी तथा अंग्रेज सरकार ने उनकी रियासत का प्रबन्ध भी अपने हाथ में ले रखा था पर जहाँ देश की स्वातन्त्रता का प्रश्न था वे पीछे रहने वाले कहीं थे। उन्हें अपने व्यक्तिगत हितों की उत्तनी चिन्ता भी नहीं थी।

वे भी इस बहती बंग में हाथ धोने की मानसिक तैयारी कर चुके थे। अतः वे तीर्थयात्रा के बहाने जगदीशपुर से निकले और बिदूर पहुँच चाना साहब पेशवा के पास जिन्होंने और उनके अभिन्न मित्र अजीमुल्ला ने इस क्रान्ति की पूरी योजना तैयार की थी। चाना साहब कुँआरसिंह से मिलकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें एक और समर्थ सहायक मिल गया बाबू साहब के रूप में। बिदूर से निकलकर वे कई तीर्थस्थलों का भ्रमण करते हुए कई पहाड़ों में वापस जगदीशपुर पहुँच गये।

यद्यपि उन्होंने चाना साहब से मिलने की बात को बधासम्पन्न गुप्त हो रखा था पर उनके किसी विश्वासपात्री द्वारा यह सूचना अंग्रेज अधिकारियों तक पहुँच चुकी थी अतः वे सतर्क हो गये। कई वर्ष पहले उन्होंने जगदीशपुर जागीर का प्रबन्ध अपने हाथ में लिया था, वह किसी पूर्व सूचना के बिना बाबू कुँआरसिंह को लौटा दिया। अंग्रेजों ने उनके कर्म के हिस्से में इन कई वर्षों में एक भी पैसा नहीं चुकाया था जबकि सर्त के अनुसार आप में से प्रबन्ध का खर्च काटकर तोष कर्म चुकाने में खर्च होना चाहिए था पर अंग्रेज समर्थ से वे कुछ भी कर सकते थे। उनकी इस अनीति से बाबू कुँआरसिंह बड़े रह हुए और क्रान्ति के बढ़कते ही उन्हें बख्शिश फेंकने की तैयारी में लग गये।

१८ जून, १८५७ को पटना कमिश्नरों के सभी जागीरदारों की सभा वहाँ के कमिश्नर ने बुलायी पर बाबू कुँआरसिंह वहाँ नहीं गये। इस पर मौलवी अजीमुल्ला नामक डिप्टी कलेक्टर को २ जुलाई, १८५७ को उन्हें पटना कमिश्नर के पास हाजिर करने के लिए भेजा पर वे गये ही नहीं। जगदीशपुर में क्रान्ति की योजनाएँ बनने लगीं। गया का जमींदार अब्दुल करीम खाँ भी इन्हीं दिनों जगदीशपुर आया। वह भी उनके साथ मिलकर क्रान्ति में सहयोग देने की तैयार हो गया। दुर्भाग्य से कुँआरसिंह का भतीजा रिपुभञ्जन सिंह घर का भेदिया बनकर वह सूचनाएँ अंग्रेजों को देता रहा। पर जो आग लग चुकी थी उसे बुझाना अंग्रेजों के बस का रोग नहीं था।

२५ जुलाई, १८५७ के दिन रानापुर अमनी की ७ व ८ नम्बर की पलटन ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह के पीछे बाबू कुँआरसिंह के निकटतम सहयोगी रहे कृष्ण सिंह और रणदलन सिंह का हाथ था। ये विद्रोही सिपाही इन दोनों के साथ सोन नदी पार करके आरा जा पहुँचे जहाँ कुँआर सिंह अपनी पूर्व योजना के अनुसार यहाँ उपस्थित थे, अपने सैनिकों के साथ।

इन लोगों ने देखते ही देखते आरा स्थित अंग्रेजी सेना को मार भगाया। आरा पर क्रान्तिकारियों का अधिकार हो गया। सेना की कमान अब ७६ वर्षीय अनुभवी वीर योद्धा कुँआरसिंह के हाथ में थी। २९ जुलाई को गार्गों के युद्ध में अंग्रेजी सेना का कमान मारा गया। ५०० गोरे सिपाहियों में ५० ही जीवित बचे। मैदान कुँआरसिंह के हाथ रहा।

२ अगस्त को बीबीगंज के संघर्ष में विन्सेंट आयर से भिड़कर भी कुँआर सिंह अपने रण कौशल के बल पर अपने सैनिकों को बचाकर निकल भागने में सफल हुए। बाबू कुँआरसिंह ने अपनी प्रजा के साथ जिस ठोकर का व्यवहार किया था उसका सुफल उन्हें इस समय मिला। उन्हें सैनिकों की कमी न रही। हजारों की संख्या में अवैतनिक सैनिक अपने नयक का साथ देने की तैयार हो गये। उनके छोटे भाई अमरसिंह जो पहले किसी बात पर उनसे रह हो गये थे अपने वीर भाई की सहायता करने के लिए आ पहुँचे। बाबू कुँआरसिंह का हौसला दुगुना हो गया।

जगदीशपुर अब उनका गढ़ बना, पर आपसों फूट के कारण यह गढ़ टूटा। इरेक्यून्स सिंह को कुँआर सिंह द्वारा अपने छोटे भाई अमरसिंह को सेनापति बनाना अच्छा। इसी का परिणाम जगदीशपुर की पराजय थी।

इस पराजय से कुँआरसिंह हतप्रभ होने वाले नहीं थे। उन्होंने छावनीर युद्ध प्रणाली अपनाते हुए शक्ति संग्रह करने का निश्चय किया। सहसराम की पहाड़ियों में रहकर अंग्रेजों को नज़रों से बचाया। कुँआरसिंह वहाँ से रीवा पहुँचे मकरान से स्वतन्त्रता संग्राम के लिए १०,००० रुपये खिराज में बसुले। वहाँ से लखनऊ पहुँचे। नबाब लखनऊ ने १२,००० रुपये की सहायता दी और अवध के नबाब ने १६,००० की सहायता दिलायी, साथ ही उन्हें अजमेरगढ़ का समक निमुक्त किया।

२९ मार्च, १८५७ को चार हजार सैनिकों के साथ मिलकर नामक अंग्रेज सेनापति को बुरी तरह हराया। बनारस का कर्नल हेम्स चढ़कर आया तो उसने भी पैसी हो मार खायी। ६ अप्रैल, १८५८ को मसिना के युद्ध में स्पार्ड मार्ककार को हराकर उसका रसद व गोला खीन लिया।

तीन-तीन अंग्रेज सेनापतियों को हराकर यह बूढ़ा शेर जगदीशपुर की ओर पलट पड़ा, नदी शक्ति के साथ हारी बाजी को पुनः जीतने। मार्ग में उन्हें लुगाई व बिर्गेडियर डग्लस से उन्हें भिड़ना पड़ा। उन्हें छकाते हुए वे जगदीशपुर की सीमा में आये पर गंगा पार आने पर उनके खवास की छोटी-सी छत्र खींचने की भूल पर अंग्रेजी सेना को उनके हाथी को लक्ष्य कर तोष का गोला फेंकने का मौका मिल गया। लक्ष्य कर फेंके गये गोले के विस्फोट से ही उनका खवास और रणदलनसिंह नामक साथी उड़ गये। उनका एक हाथ और एक पाँव घुरी तरह अखण्ड हुए। याव सतरनाक था। उनके जगदीशपुर आने पर अमरसिंह भी वहाँ आ गये। इरेक्यून्स सिंह, जो अब तक अपने किये पर प्रसन्न रहे थे वे भी अमरसिंह से आ मिले। सबने मिलकर सिमार्ड की सेना को घेर ऐतिहासिक पराजय दी कि पराजित अंग्रेज सैनिक अनुसूसन तोड़कर तालाबों व कुँओं में कूदकर जान बचाने लगे। यह अंग्रेजों के लिए बड़ी सज्जाजनक पराजय थी।

इस विजय के बाद २६ अप्रैल, १८५८ को कुँवर सिंह का देहान्त हुआ। उनके बाद उनके उत्तराधिकारी अमर सिंह ने क्रान्ति यज्ञ जारी रखा। उन्होंने तो अपनी आँखों के सामने क्रान्ति का सफल रूप ही देखा। बिहार के सरी कुँवर सिंह की वीरता और देशभक्ति उन्हें अमर बना नहीं है।

आततायी से निपटने वाला—

सरदार ऊधमसिंह

सन् १९१८ को जलियाँवाला बाग में निरपराध भारतीय जनता की एक सभा पर गोलियों की वर्षा की गई। माइकेल ओ डायर तब पंजाब का गवर्नर था। वह दानवीय कृत्य इतिहास के काले पृष्ठों पर लिखा गया। इस समय कितने ही व्यक्ति मारे गये, कितने ही चकल हो गए। उस भीड़ में एक बालक भी था। बारह वर्ष का यह बालक सरदार ऊधमसिंह गोलियों चलाने वाले पर बहुत क्रुपित हुआ। उसने कहा—“मैं भी इसको मारूँगा।”

प्रतिशोध की यह अग्नि उसके हृदय-कुण्ड में लगातार बाइस वर्षों तक जलती रही। हर समय उसको यही लगा रहता था कि मुझे उस इत्यारे को दण्ड देना है जिसने मेरे भाइयों को इस प्रकार गोलियों से घुनकर रख दिया है।

ऊधम सिंह इंग्लिश बन। दैनिक कृत्य सम्पन्न करते, पढ़ते-लिखते उसे अपना मिशन याद रहता। वह इस अवसर में था कि जो ओ डायर यह इत्याकाण्ड करके इंग्लैण्ड भाग गया है, जब भी भारत बाइस आएगा, तभी उसको उसे दण्ड देने का अवसर मिलेगा।

इस प्रकार प्रतीक्षा करते-करते जब उसका धैर्य जबाब दे गया तो वह आगे बढ़ने का बहाना ढूँढ़कर इंग्लैण्ड ही चला गया। उस समय इंग्लैण्ड में देशभक्तों का एक अच्छा संगठन हो चुका था। ऊधमसिंह इसी घात में रहता था कि कब ओ डायर से भेंट हो। इतने बड़े कहर में एक व्यक्ति को पाना बड़ा कठिन होता है। वह किसी सार्वजनिक आयोजन की प्रतीक्षा में था।

१३ मार्च, १९४० को यह प्रतीक्षा समाप्त हुई। यह दिन भारतीय गौरव के दिनों में अविस्मरणीय रहेगा। लन्दन के कैबेजेट हॉल में रायल सेन्ट्रल एसोसियेशन सोसायटी व ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन के संयोजन में एक सार्वजनिक सभा हुई। इसमें सर माइकेल ओ डायर का भी भाषण था। जिसकी पूर्व सूचना प्रसारित कर दी गई थी। सरदार ऊधम सिंह को लगा कि अब उसका स्वप्न साकार होने ही वाला है।

यों देखा जाय तो किसी का प्राण-हरण कोई अच्छी बात नहीं है किन्तु कोई व्यक्ति ऐसा क्रूर कर्म करे और शासन द्वारा उसका दण्ड उसे न दिया जाय तो उससे इन्कारों को प्रोत्साहन मिलता है। भारतवर्ष में ऐसा करने वाले को

सरकार भले ही दण्ड न दे पर भारतवासी दे सकते हैं। जिससे भविष्य में कोई ऐसा कुकर्म का साहस न करे।

वह चकर मंच के सामने चाली कुर्सी पर बैठ गया। माइकेल ओ डायर जिसके गवर्नर पद पर रहते हुए पंजाब में जलियाँवाला बोली काण्ड हुआ था, भाषण देने खड़ा हुआ। वह अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ उसे अपने रिवाल्वर का निशान्न बनाकर सरदार से तीन बार किये। ओ डायर भरसकवी हो गया, उसका वहीं प्राणान्त हो गया। दो अन्य व्यक्ति बाल-बाल बचे।

सरदार ऊधम सिंह को पकड़ लिया गया और जेल भेज दिया गया। उनके सिर से बहुत बड़ा भोजन हट गया। अब न्यायालय उसे मृत्यु-दण्ड की सजा ही तो देगा। ऐसी मौत किसे मसीब होती है। देशभक्त देश जाति के गर्व को रक्षा के लिये मृत्यु को गले लगाते ही हैं।

“मैंने अंग्रेजों के शासन के नासदार जूतों के नीचे अपने देशवासियों को रौंदे जाते देखा है। मैंने इसका विरोध अपने रंग से किया है। मुझे इसका परचाताप नहीं है। मौत का डर तो उसी दिन मेरे मन से हट गया था जब बाइस वर्ष पहले जलियाँवाला बाग में सैकड़ों बेगुनाह भारतवासियों को मैंने शहीद होते देखा था। भारतवासी अब गुलाम नहीं रह सकते। मैं अदालत से दया नहीं कटोर-दण्ड चाहता हूँ।” यह वे अदालत के सामने उनके कथन। उन्होंने मृत्यु दण्ड सहर्ष स्वीकार किया।

भारतीय संस्कृति की मर्यादाएँ

ब्रिटिश न्यायालय के कठमरे में नर-नाहर ऊधमसिंह खड़े थे। न्यायाधीश ने प्रश्न किया—“मौजवान, क्या तुम अपने बचाव के लिए वकीलों की सहायता लेना चाहते हो?” उत्तर मिला—नहीं। प्रश्नों का सिलसिला चल ही रहा था कि एक बुजुर्मी भीड़ को चीरती हुए न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित हुई और न्यायाधीश से बोलने की अनुमति लेकर उसने बड़े कातर स्वर में ऊधमसिंह से पूछा कि जब तुम्हारी रिवाल्वर में तीन गोलियाँ शेष थीं, तो तुमने मुझ पर गोली चलाकर निकलने की कोशिश क्यों नहीं की? तुम्हारे पास एक लम्बा चाकू भी था। ऊधमसिंह ने अस्वन्त शिष्टता और विनम्रता से उसे उत्तर दिया—“बहिन, हम भारतीय हैं। स्त्री पर हाथ उठाना भारतीय संस्कृति नहीं है। इसीलिए मैंने रिवाल्वर फेंक दिया था और अपने चाकू को भी जेब में विश्राप करने दिया था। यदि आपके स्थान पर कोई पुरुष होता, वो वह अवश्य गोलियों का निशाना बन जात।”

न्यायालय ने ऊधमसिंह को मृत्युदण्ड सुनाया और १२ जून, १९४० को उस नर-नाहर ने प्रसन्न चित्त से “बंदे मातरम्” कहा और फाँसी का हार अपने गले में पहन लिया।

विस्मृत क्रान्तिवीर—

पं. गेंदालाल दीक्षित

पति पर मृत्यु की छाया गण्डराते देखकर पत्नी के चैन का बाँध टूट गया। वह रोने लगी। अपनी पत्नी को इस प्रकार रोते देख पति ने कहा—“तुम रोती हो तो रोओ, किन्तु आखिर इस रोने से भी क्या मिलने वाला है। दुःख तो मुझे भी है। मैंने जिस बात का व्रत लिखा था उसमें कितना निष्ठा पाया? घर तो मैं रहा हूँ पर जिस कारण मैं घर रहा हूँ वह पूरा कहीं हुआ। मैं वह देखकर घर रहा हूँ, कि मैंने जो कुछ किया वह छिन्न-भिन्न हो गया। मुझे दुःख है कि मातृभूमि पर अत्याचार करने वाले से बदला नहीं हो सक्ता, जो मन की बात को वह मन में ही रह गयी। मेरा यह शरीर गह हो जाफ़ा। मैं मोक्ष नहीं चाहता। मैं तो चाहता हूँ कि बार-बार इस धरती पर जन्म लूँ और बार-बार इसी के लिये यकै। ऐसा तब तक करता रहूँ जब तक कि देश गुलामी की बन्दीरों से छूट न जाए।”

वे अन्तिम शब्द थे मातृभूमि पर बलिदान हो जाने वाले देशभक्त क्रान्तिकारी पं. गेंदालाल दीक्षित के। जिन्हें इस असहाय और अजानी अवस्था में मरण पड़ा कि उस समय उनके पास न कोई शिष्य था न साथी, न कुटुम्बीजन न पत्नी न कोई मित्र ही। सरकारी अस्पताल के रक्खारिस बीमार के रूप में २१ दिसम्बर, १९२० को इस क्रान्तिकारी का अन्तिम संस्कार सम्पन्न हुआ, अस्पताल के मेहतारों द्वारा, किसी ने आँसू नहीं बहाये, ब्रह्मबलिर्वाँ अर्पित नहीं की। न किसी ने शहीदों की चित्तों पर गाया जाने वाला गीत ही गाया। किन्तु जो बतन के लिये अपने सिर पर जाफन बाँधकर निकलते हैं उन्हें अपने इस दुःखद अन्त पर कोई मलाल नहीं होता।

देश को अंग्रेजी दासता से मुक्ति दिलाने के लिये कितने ही क्रान्तिकारियों ने अपनी सुख-सुविधाओं और उससे भी अधिक अपनी भावी प्रगति की सम्भावनाओं को ठुकराकर उस पथ का चरण किया जिस पर कौसी, जेल, आजीवन कारावास, दुःख, अभाव और यन्त्रणाओं का साम्राज्य था। कुछ प्रयास संगठित रूप से चले तो कुछ छुटपुट रूप से। किन्तु वे सब क्रान्तिकारी जो प्रकाश में आये या गेंदालाल दीक्षित की तरह अप्रकाशित ही रह गये, वस्तुतः युग की पुकार को सुनकर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर युग धर्म फलने वाली सज्जन आत्माएँ ही थीं।

पं. गेंदालाल दीक्षित ने अपने क्रान्तिकारी संगठन को अन्य क्रान्तिकारी संगठनों से जोड़ने का प्रयास तो किया पर वे उसमें सफल नहीं हो सके। उनका यह प्रयास छुटपुट आन्दोलन बनकर रह गया। किन्तु इतने से ही उसका

महत्व कम नहीं हो जाता। क्रान्ति एक व्यक्ति या उसके चोढ़े से सशक्तियों के द्वारा सम्पादित हो बाय यह आवश्यक नहीं। उसके लिये तो कई पीढ़ियाँ खप जाती हैं। रामप्रसाद ‘बिस्मिल’ व मुकुन्दलाल जैसे क्रान्तिकारी उनके द्वारा ही बनाये गये थे। उनके इस बलिदान ने उन्हें बड़ी शक्ति दी थी।

पण्डित गेंदालाल दीक्षित का जन्म आगरा जिले के बटेस्वर ग्राम में ३० नवम्बर, १८९० को हुआ था। पैदा होते ही व मातृ-सुख से वंचित हो गये। उनकी माँ ने उनका पालन-पोषण किया।

परिवार की स्थिति साधारण ही थी। किसी तरह उन्होंने इन्टर पास किया जो उस समय को देखते हुए काफी महत्वपूर्ण बात थी। इन्टर पढ़े-लिखे लोग उन दिनों अच्छे-अच्छे पदों पर थे। उनकी आगे पढ़ने की इच्छा थी पर घर की खस्त हालत इसकी इजाजत नहीं देती थी। अतः इन्टर पास करके वे अध्यापक बन गये।

एक सम्पन्न परिवार के व्यक्ति के लिये इन्टर तक पढ़ जाना और अध्यापक की अच्छी-भली नौकरी या जामा एक प्रकार से जिन्दगी की नाव के किनारे लग जाने जैसा ही काम था। पर डी. ए. बी. स्कूल में कार्य करते हुए व आर्य सम्प्रदाय जैसी क्रान्तिकारी संस्था के सम्पर्क में रहते हुए देश-भक्ति की ध्वजा से ओत-प्रोत हृदय वाले दीक्षित जी के लिये इसी ठरे से बने रहना सम्भव नहीं था। हृदय की आग तो समय की हवा का झोंका पाकर धधक पड़ने को तैयार बैठे थी।

बंगाल और पंजाब के क्रान्तिकारी आन्दोलन की चर्चारें सुन-सुनकर तो उनके युवा रक्त में उबाल आये बिना नहीं रहा। वे इसी विचार में रहते थे कि किसी न किसी प्रकार इन क्रान्तिकारी संगठनों से सम्पर्क साधा जाय और मातृभूमि को घिरेरी दासता से मुक्ति दिलायी जाय। किन्तु उन्हें इस सम्बन्ध में कोई सूत्र हाथ नहीं लगा। सतस्य क्रान्ति का यह पथ एक प्रकार का अनुपयुक्त ठहरता था कि गुप्त रूप से संचालित होने वाली इन गतिविधियों को न तो सामान्य व्यक्ति समझ सकता था, न भाग ले सकता और न ही इनसे व्यापक स्तर पर संगठन का हो सकना भी सम्भव था। किन्तु इनमें से जब कोई देश के नाम पर हैसते-हैसते फाँसी के फन्दे को चूमता था तो उससे जन-जन का अन्तःस्वल को झकझोर उठता था। कहना न होगा कि देश-भक्ति की प्रबल धर्मों जगाने की दिशा में यह असहयोग व सत्याग्रह से भी अधिक प्रणाली था।

बाहरी क्रान्तिकारी संगठनों से सम्पर्क करने के लिये वे अधिक दिनों तक चुप नहीं बैठ सकते थे। उन्होंने अपने ढंग से क्रान्ति की मशाल जलाने का निश्चय करके एक समिति बनायी जिसका नाम ‘शिवाजी समिति’ रखा गया। इस समिति का उद्देश्य देश को स्वतन्त्र कराना था।

उन्होंने सोचा कि पढ़े-लिखे लोगों से इस सम्बन्ध में समुचित सहायता मिलेगी किन्तु वैसा हुआ नहीं। जिन लोगों के सम्पर्क में वे आये उनमें प्रायः सभी इसी प्रकार के थे जो पढ़ लिखकर उच्च पद पाने या धन कमाने के ही चक्कर में रहते थे। उन्हें अपने पिछड़े हुए क्षेत्र के पढ़े-लिखे लोगों के इस दृष्टिकोण को जानकर बड़ा दुःख हुआ कि पढ़े-लिखे लोग उन्नति से अभिप्राय अपनी व्यक्तिगत उन्नति ही समझते हैं, देश व समाज की नहीं। उनका वह नितान्त व्यक्तिवादी दृष्टिकोण गैदालाल दीक्षित को बहुत अखरा और वे ऐसे लोगों की ओर से निराश हो गये।

भावना का जहाँ तक प्रश्न है देश को स्वतन्त्र कराने के लिये सर्वस्व दौब पर लगा देना उनके लिये बायें हाथ का खेल था पर योजनाबद्ध काम करने में वे कुछ आवश्यकता से अधिक जल्दबाज थे। वे प्रवास करते तो पढ़े-लिखे लोगों में से भी कुछ सहायक बना सकते थे, थोड़े प्रयास से।

पढ़े-लिखे लोगों से हठकर उनका ध्यान चम्बल के बीहड़ों में बसने वाले डाकुओं की ओर गया। यदि उनमें से कुछ लोग ही उनके सहायक बन जायें तो काम बन सकता है, वे उनके लिये उपयोगी मिट्टी हो सकते हैं। वे डाकू लोग मरने मारने में डरते नहीं साथ ही निराला बाँधकर गोलियाँ चलाने और मोर्चेबन्दी के प्रयत्न में भी पकड़े होते हैं। उनकी सहायता मिल जाये तो उन्हें धन की भी किल्लत नहीं रहेगी। जब जितना चाहेंगे डाका डालकर धन मुठा लिया करेंगे।

यों डाकू भी मनुष्य होते हैं। बाल्मीकि भी एक डाकू ही थे जो आगे चलकर ऋषि बन गये थे। सुभरकर तो वे भी अच्छे आदमी बन सकते हैं पर यह कोई एक दिन में या कुछ महीनों में सम्भव नहीं होता। साथ ही उनके मन में भी अच्छे बनने का संकल्प जागे तब की बात है। उनकी बुरी आदतें और अपराधी प्रति एकदम समाप्त नहीं हो सकती। न ही सब डाकू बाल्मीकि बन सकते हैं।

इस प्रयास में उन्हें पहले तो सफलता मिली। ब्रह्मचारी नाम का एक साहसी और जोरदार वाला डाकू उनका सहायक बन गया। वह हर समय प्राण हथेली पर रखकर सशस्त्र क्रान्ति का काम किया करता था। वह भी पहले डाकू ही पर अब वह देश के काम आकर अपने पापों का प्रायश्चित्त करना चाहने लगा था।

डाकुओं को क्रान्तिकारी बनाने के क्रम के साथ ही पं. गैदालाल दीक्षित ने कुछ विद्यार्थियों को भी क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिये तैयार किया था। जिनके नेता पं. रामप्रसाद 'बिस्मिल' और औरैया के मुकुन्दीलाल आदि थे। जिन पर बाद में गैदालाल दीक्षित को चेस से बुझाने के असफल प्रयास के सिलसिले में मैनपुरी ब्रह्मन्त्र के नाम से केस चलाया गया था। इस टोली का नाम 'मत्स्यवेदी' रखा गया।

पण्डित गैदालाल यदि डाकुओं को क्रान्तिकारी बनाने के फेर में न पड़ते और युवकों को ही संगठित करके कुछ काम करते तो बहुत सम्भव था वे इतने हीन पकड़े नहीं जाते पर वे तो समझे थे जिस प्रकार ब्रह्मचारी उनका दाहिना हाथ बन गया है वैसे ही और डाकू भी उनके साथ निष्ठावान बने रहेंगे। किन्तु वैसा नहीं हो सका। एक डाकू पुलिस से मिल गया। इसी के कारण वे पकड़े गये।

मुख्तार बन गये डाकू ने पुलिस वालों को उनके दल के सम्बन्ध में पूरी सूचना दे दी थी। मुठभेड़ के समय दल के कई लोग मारे गये, कई भाग गये। ब्रह्मचारी और पण्डित गैदालाल पकड़े गये।

ग्यालियर जेल में उन्हें न तो ठीक से खाना मिलता था और न ही किसी प्रकार की कोई सुविधा थी। क्योंकि डाकुओं के साथ पकड़े जाने पर उन्हें भी डाकू ही समझा गया था। अस्वास्थ्यकर वातावरण, अपर्याप्त भोजन व कठोर श्रम करने के कारण उन्हें टी. बी. हो गयी।

उनके लिपियों - 'मत्स्यवेदी' टोली के युवकों ने उन्हें बुझाने के लिये योजना बनायी। किन्तु वह भी सफल नहीं हुई। योजना कार्यान्वित होने के पहले ही उनमें से एक लड़का मुख्तार बन गया। उनमें से अधिकांश पकड़े गये, केवल पण्डित रामप्रसाद 'बिस्मिल' बच निकले। इन युवकों पर मैनपुरी ब्रह्मन्त्र केस चला। उन्हीं के पकड़े जाने पर पण्डित गैदालाल के क्रान्तिकारी होने का पता चला और उन्हें ग्यालियर जेल से मैनपुरी लाया गया। यहाँ से वे युक्तिपूर्वक जेल से भाग निकले। किन्तु घर जाने पर भ्रमालों ने भी पुलिस के भय से उन्हें अधिक दिनों अपने पास नहीं रखा। क्योंकि इस पिछड़े इलाके के लोग देश और क्रान्ति का अर्थ ही नहीं जानते थे। उनकी नजर में तो वे अपराधी थे। पुलिस उनके पीछे पड़ी थी। सो उन्हें अपने जर्जर शरीर को लेकर दिल्ली भाग जाना पड़ा।

वहाँ अपने को अनपढ़ बताकर एक प्याठ में पानी पिलाने की मौकरी करते हुए स्वास्थ्य लाभ का प्रयास किया पर सफल न हो सके। फरारी का जीवन और ऊपर से बीमार शरीर। डारकर अपने एक विश्वासी मित्र को पत्र लिखा। वे मित्र पण्डित गैदालाल की पत्नी को साथ लेकर आये। उन्होंने शक्ति पर प्रयास किया उन्हें बचाने का, पर अब कुछ सम्भव नहीं हो सका तो उन्हें छद्म नाम से सरकारी अस्पताल में भर्ती करा दिया गया। उनकी पत्नी ने तो बहुतेरा चाहा कि प्रति की सेवा करें पर उनके रिस्तेदारों ने मना किया, पुलिस द्वारा पकड़े जाने का भय दिखाया। अतः विवश हो उन्हें अकेला ही छोड़ देना पड़ा। वे अकेले और अन्धम स्थिति में लावारिश की तरह मरे। एक क्रान्तिकारी का यह दुःखद अन्त हुआ।

असफलता के खण्डहरों पर सफलता के प्रसंगों की नीचे रखी जाती हैं। उनकी इस असफलता ने पन्नी क्रान्तिकारियों को जो आधार दिया था उनका अपना महत्व है। यं रामप्रसाद 'बिस्मिल' जैसे क्रान्तिकारी उन्हीं की देन थे।

भारतीय शौर्य परम्परा के प्रतीक—

कप्तान चन्द्रनारायण सिंह

युद्ध अच्छी बात है। इस कथन से कोई सहमत नहीं हो सकता। फिर भी युद्ध होते हैं और कभी-कभी तो युद्ध लड़ना अनिवार्य-सा हो जाता है। युद्ध के विजय को रोकने और दूसरे देश की सोलुपता को लगभग देने के लिए प्रतियुद्ध स्वीकार करना दूसरे देश के लिए आवश्यक हो जाता है। भारतवर्ष जैसे शान्तिप्रिय देश को भी अपने पिछले वर्षों में चार-चार युद्ध लड़ने पड़े हैं। इन युद्धों में भारतीय वीरों ने जिस वीरता का परिचय दिया वह हमारे लिए गौरव की बात है।

शान्ति और अहिंसा का अर्थ कायरता नहीं होता। रक्षा के लिए उठाया गया शस्त्र अपने साथ पशुता नहीं धरन पशुता को हटाने वाला नैतिक साहस भी साथ रखता है। यह पिछले दो भारत-पाक संघर्षों में देखा आ चुका है।

अगस्त, १९६५ की बात है। उड़ी-पूँछ क्षेत्र की चौकी पर युद्ध विराम रेखा के इस पार हमारे भारतीय सैनिक और सेनाधिकारी बातचीत करने में व्यस्त थे। तभी पास के डबरोट गाँव का बाबा मोहम्मद दीन इस ओर दौड़ता हुआ आया। उसने बताया कि वह अभी-अभी सारे लिबास में कुछ लोगों को बेतार पर जोर-जोर से बोलते हुए कहीं सन्देश भेजते हुए देखकर आ रहा है। उसे सन्देह है कि ये लोग पाकिस्तानी सैनिक गुप्तचर हैं।

इस बात की सूचना तुरन्त हैड क्वार्टर को भेज दी गयी। वहाँ के ऑफीसर ने अन्य अधिकारियों से विचार-विमर्श करके कप्तान चन्द्र नारायण सिंह को एक दस्ते के साथ इस बात की सच्चाई का पता लगाने के लिए जाने का आदेश दिया। कप्तान चन्द्रनारायण सिंह इसके लिए तैयार बैठे थे।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतवर्ष ने जो उपलब्धियाँ और सफलताएँ पायी हैं उनमें सर्वाधिक गौरवपूर्ण ही है हमारे जवानों की वीरता और राष्ट्र-भक्ति। कप्तान चन्द्रनारायण सिंह को दो मील दूर उत्तर-पश्चिम की पहाड़ी के पीछे जाकर पता करना था कि क्या गोल-गोल है?

आदेश मिलने के साथ ही भारतीय सैनिकों की यह टुकड़ी अपने कप्तान के साथ चल पड़ी। एक तो बरसात

का मौसम ऊपर से पहाड़ी इलाका। जाने मार्ग में कब कौन-सा चन्तु आ जाय। हिंसक जन्तुओं की ही बात नहीं थी। इन दिनों साँप, बिच्छुओं की भी बहुतायत होती है। टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों पर चलते हुए, झाड़ू झंखाड़ों में उलझते, नदी-बलों को फलौंगते हुए वे लोग बढ़ते गये।

पहाड़ी की ढलान पर पहुँचना था कि ऊपर से मशीन गन से चलायी गयी गोलियों और मोर्टारों के गोलों ने उनका स्वागत किया। कप्तान ने अपने सैनिकों को रुकने का आदेश दिया। स्थिति बड़ी विषम थी। ये लोग नीचे थे। पाकिस्तानी सैनिक पहाड़ी पर थे। वे इन पर आसानी से गोलियाँ बरसा सकते थे, जबकि इनके द्वारा चलायी गयी गोलियों की पहुँच वहाँ तक नहीं हो सकती थी।

उन्होंने अपने गिने-चुने सिपाहियों को दो भागों में बाँट कर हाथें बाँधे होकर गोलियों की मार के क्षेत्र से परे रहकर मोर्चा सम्हाल कर आगे बढ़ने का आदेश दिया। उनके आदेश के आदेश पर भारतीय सैनिकों की राइफलें गरज उठीं। उधर से भी उनका उत्तर मिला पर कप्तान सिंह ने देखा कि इस गोलावारी का कोई अर्थ निकलने जाता नहीं है और फिर उनके पास गोला बालूद भी कम था सैनिक भी कम थे। अतः उन्होंने अपने सैनिकों को रोक दिया। रात को जब दुश्मन सो जाय तब आक्रमण करने की बात तय रही।

कप्तान चन्द्रनारायण सिंह अनुभवी सैनिक थे। अपने देश की शान्ति रक्ष करने और उसके प्रदेशों पर अपना अधिकार जमाने की पाकिस्तानी शासकों की नापाक हरकतों ने उन्हें क्रोध से भर दिया था। भारत अल्प-संख्यक लड़ रहा था, आक्रमण के लिए नहीं।

इस पहाड़ी के पीछे जो पाकिस्तानी सैनिकों का जमाव था वहीं से कारमोर में घुसपैठिये भेजे जाते थे। कप्तानसिंह यह स्थान उनसे जीतने की मन ही मन योजना बनाते हुए समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। यह बात साफ जाहिर थी कि पाकिस्तानी सैनिक संख्या और शस्त्रास्त्रों की दृष्टि से उनके साथियों की अपेक्षा कई गुने शक्तिशाली थे। किन्तु उनमें राहु-रक्ष की यह भावना नहीं थी जो हमारे सैनिकों में थी। इस बात का पता उन्हें था।

रात्रि को भारतीय सैनिकों ने रेंगते हुए आगे बढ़ना आरम्भ किया ताकि पाकिस्तानी सैनिकों को उनके आक्रमण का पता ही न चल पाये पर रात्रि की निस्तब्धता में बरा-सी आवाज भी बहुत कँची लगती है सो पाकिस्तानी सैनिकों को इस बात का पता चल गया। उन्होंने गोलावारी करना आरम्भ कर दिया। फिर भी रात के अन्धेरे का लाभ हमारे सैनिकों को भरपूर मिला। जब वे दुश्मन की चौकी से पचास गज दूर रह गये तब कप्तान ने गोली चलाने का आदेश दिया।

भारतीय सैनिकों की राइफलें गरज उठीं। उसका उत्तर दुश्मन ने मोर्टार से गोलों की फेंक कर दिया। कप्तान सिंह सबसे आगे थे। उन्होंने अपने साथियों को आगे बढ़ने

का आदेश दिया। 'रुको नहीं' 'आगे बढ़ो' वे जानते थे कि एक एक क्षण मूल्यवान है। जो पहले मारता है वह जीता है।

भारतीय सैनिक आगे बढ़ते ही घसे गये। उनका नायक उनके आगे चल रहा था। अपने नायक की चौरता और निर्भयता ने उनके हृदय में अपूर्व जोश भर दिया था। चोर की तरह पहाड़ी के पीछे छिपे बैठे पाकिस्तानी सैनिकों में से कुछ के मरते ही बहुत से भाग खड़े हुए। कप्तान सिंह और उनके साथी उन्हें अच्छा मजा चखा रहे थे। मृतकों व घायलों के अतिरिक्त केवल एक पाकिस्तानी सैनिक मशीनगन लेकर मोर्चे पर उठा हुआ था। शेष सब सिर पर पाँव रखकर भाग चुके थे।

वस्तुतः युद्ध में भी भावनायें व नैतिकता ही विजय का मुख्य कारण होता है। पाक सैनिकों के पास कोई उच्च भावना या आदर्श तो था नहीं। वे तो पेट के खातिर सैनिक बनकर मोर्चे पर आ गये थे। उन्हें अपनी जान की चिन्ता थी। इसके विपरीत भारतीय सैनिक देश-प्रेम और राष्ट्र-रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग को भी हँसी खेल मानते थे। कप्तान सिंह ने देखा कि एक पाकिस्तानी सैनिक मशीनगन सम्हाले हुए मोर्चे पर उठा हुआ है तो उनसे न रहा गया। प्रथम तो उन्होंने उसे ललकारा और फिर आगे बढ़ गये उसकी मशीनगन से निकली गोलियों ने उनके सीने को छेद कर रख दिया। गिरते-गिरते भी उन्होंने अपने सन्धियों को आदेश दिया- 'आगे बढ़ो'।

अपने नायक के बलिदान ने उन्हें दुगुने जोश में भर दिया। भूखे शेरों की तरह लपक पड़े। मशीनगनधारी से अब न रहा गया वह मशीनगन छोड़कर भाग खड़ा हुआ, पर भागता कहाँ भारतीय सैनिकों की राक्षसों से निकली गोलियों ने उसे धुनकर रख दिया।

कप्तान चन्द्रनारायण सिंह ने बलिदान देकर भी पाकिस्तानियों पर विजय की। उनकी इस चौरता ने उनके सैनिकों के मन में अपने प्रिय नायक की मृत्यु का बदला लेने के लिए प्राणों पर खेल जाने की प्रेरणा दी। इस भुहिम में उन्हें विजय के साथ देर से इम्फियर व गोला बारूद भी मिला। इस विजय का मूल्य कप्तान सिंह ने अपने प्राणों से चुकाया था।

एक संघर्षशील व्यक्तित्व—

त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती

अपने जीवन के तीस वर्ष और वह भी जखनी में जेल की काल कोठरियों में काटे हों। वह या तो कुख्यात अपराधी हो सकता है या फिर कोई देशभक्त। देशभक्त

होने की स्थिति में उस व्यक्ति को जीवनदानी कहना ही उचित होगा जिसने बिन्दगी के बेहतरीन तीस वर्ष देश को आजाद कराने के लिये जेल की काल कोठरियों में बिताये हों। त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती एक ऐसे ही जीवनदानी थे।

अपने देश को आजाद कराने के लिये जिन देशभक्तों ने अपनी जखनी में अपनी समस्त महत्वाकांक्षाओं को त्याग कर एक ही ध्येय अपनाया था उसे पूरी तरह निभाया था, उनके हम चिरञ्जीवी हैं। उस ऋण से उद्धार होने का एक ही मार्ग है कि आजादी के बाद स्वराज्य और सुराज्य की स्थापना के लिये हम भी उन्हीं लोगों की तरह अपनी व्यक्तिगत सुखाकांक्षाओं से ऊपर उठें।

पूर्वी बंगाल के मेघनसिंह जिले के किशोरगंज सब डिवीजन के एक ग्राम में, सन् १८८८ में जन्मे त्रैलोक्य नाथ चक्रवर्ती का जीवन इस कार्य में हमारा मार्गदर्शक बन सकता है। जो आजादी के लिये विदेशी-सत्ता से संघर्ष करने में बंगाल सबसे आगे रहा है। वे जब पढ़ते थे तभी से उनके मन में देश के लिये बलिदान देने की तत्पराई उठने लगी थी। भावनाओं का न्यार तो उनके पुत्रा इष्य में प्रबल वेग से उमड़ रहा था। मार्ग की आवश्यकता थी तो बंगाल के तत्कालीन क्रान्तिकारी दल- 'अनुरीतन दल' ने दिखाया और वे स्वतंत्रता के लिए लड़े जाने वाले लम्बे संग्राम के एक स्वाधीन सैनिक बन गये।

त्रैलोक्यनाथ पढ़ने-लखने में बहुत तेज थे। सदा कक्षा में प्रथम आते थे। मन लगाकर पढ़ने का ही यह परिणाम था। चढ़ते भी वे कि वे खूब पढ़ें पर जब घर में आग लगी हो तो कोई व्यक्ति उसे बुझाने के अतिरिक्त और कोई बात सोच ही कैसे सकता है। भारत को स्वतन्त्र कराना उस समय ऐसा ही एक अहम् सवाल था। अतः उन्हें पढ़ाई के स्थान पर आजादी की लड़ाई की प्राथमिकता देनी पड़ी। अपने कैरियर से अधिक महत्व देश के भविष्य को देना पड़ा।

१९०८ में जब वे ढाका के निकट गिरफ्तार हुए तो इन्टर की परीक्षा निकट ही थी। वे परीक्षा दे पाते तो बहुत अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होते, पर ऐसा नहीं कर पाने पर भी वे जीवन की परीक्षा में तो बहुत अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हुये हैं— इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। जबरन बहुर्यत्र केस में उन्हें आजन्म काले पानी की सजा का दण्ड दिया गया।

१९१६ में उन्हें अण्डमान की काल कोठरियों में भारतीय वंशवाएँ सहने के लिये भेज दिया गया। पन्द्रह वर्ष तक वे वहाँ पर रहे। अण्डमान की जेल में रहने का अर्थ होता है बिन्दगी घर के लिये दूट जाना। फिर कैसे कोई व्यक्ति पन्द्रह वर्ष वहाँ बिताने के बाद भी पूरे बयासी वर्ष तक जी सका और जेल से मुक्त होने के बाद भी पाकिस्तानी सरकार से बंगलवासियों के अधिकारों के

लिये लड़ सका ? यह रहस्य कोई शरीर विज्ञानी नहीं सुलझा सकता ।

अण्डमान द्वीप यों भी भारतवर्ष से अलग बहुत दूर सागर के बीच में है । उसकी जलवायु इतनी विषम है कि वहाँ पर रहना स्वास्थ्य के लिये बहुत हानिकारक होता है । अब तो वहाँ आबादी भी हो गयी है पर उन दिनों तो वहाँ बहुत ही कम लोग रहते थे । फिर वहाँ की कालकोठरियों में क्रान्तिकारियों के साथ भी खतरनाक अपराधियों जैसा ही कठोर व्यवहार किया जाता था । कठोर श्रम कराया जाता था और जिसे पशु भी न खावे ऐसा खाना दिया जाता था । दिन में आठ घण्टे कोल्हू घेरने की हाड़-तोड़ मेहनत करने पर खाने को सड़े आटे की रोटियाँ और कौड़ों वाले चावलों का पात मिलता था ।

शिक्षायात करने पर कोई सुनने वाला नहीं था । जेल अधिकारी शिक्षायात करने वाले को बहुत बुरा दण्ड देते थे । ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति कैसे जीवित रह सकता है और अपने शारीरिक मानसिक संतुलन को बनाए रख सकता है ? यह बहुत जीवट का काम था और आत्मिक

शक्ति और मनोबल के सहारे ही कोई ऐसा कर सकता था । त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती इसे सज्ज नहीं तपस्या मानते थे और यह विश्वास करते थे कि उनकी इस तपस्या के परिणामस्वरूप देश को स्वतन्त्रता मिलेगी ।

स्वार्तत्र्य बीर सावरकर तथा गुरुमुख सिंह जैसे क्रान्तिकारी उनके साथ रहे थे । 'सच्चे शक्ति कलियुगे' के मन्त्रानुसार इन लोगों ने वहाँ भी संगठन शक्ति के बल पर रचनात्मक कार्य किया और जेल अधिकारियों को उनकी उचित भाँगी की मानने के लिये बाध्य भी किया ।

बीर सावरकर के सहयोगी के रूप में उन्होंने जेल में ही हिन्दी भाषा के प्रचार का कार्य अपनाया । वे स्वयं भी हिन्दी नहीं जानते थे । सावरकर से हिन्दी सीखने वाले पहले व्यक्ति थे । वे यह मानते थे कि शिक्षा केवल स्कूलों में ही नहीं पायी जाती । जीवन में हर परिस्थिति में, हर स्थान पर कुछ न कुछ सीखा जा सकता है, सिखाया जा सकता है । फिर चाहे जेल की दीवारें हों या काले-पानी की काल-कोठरियाँ, वहाँ भी यनस्वी और कर्मनिष्ठ चुप नहीं बैठते ।

परतंत्र भारत में भी वे स्वतन्त्र भारत की बातें सोचते करते थे । उन्हें पूरा विश्वास था कि अब जब देश को जनता जाग गयी है, अंग्रेज सरकार अधिक दिनों तक भारत को पराधीन नहीं रख सकती । भारत के स्वतन्त्र होने के साथ ही उनके दासियों की इतिश्री नहीं हो जायगी । इस विशाल देश को एक सूत्र में बाँधने के लिये एक भाषा का होना बहुत आवश्यक होगा । यह भाषा हिन्दी ही हो सकती है । अतः इस भाषा के प्रचार का कार्य उन्होंने सावरकर के साथ वहाँ काले पानी की जेल में ही आरम्भ कर दिया । आरम्भ में इस कार्य में कुछ

नाथार्थ आगों पर वे लोग उन पर विचार पाते हुए अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते ही रहे । उसके सम्मिलित प्रयास से २०० से भी अधिक बंदियों ने वहाँ पर हिन्दी भाषा सीखी ।

ये लोग वहाँ भी चुप नहीं बैठे तो सरकार ने उन्हें वहाँ से भी हटाने की बात सोच ली । त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती को अण्डमान से हटाकर मण्डले की जेल में रखा गया, जहाँ १९२५-२६ में वे नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के साथ भी रहे । १९३२-३३ में वे मद्रास जेल में रहे । यहाँ उन्होंने अपनी ध्वजस्मित दिनचर्या अपनाकर अण्डमान जेल में बिगड़े हुए स्वास्थ्य को बहुत कुछ सुधार लिया । यों परिस्थितियाँ वहाँ भी कुछ भी अनुकूल नहीं थीं पर वह भी खे उन लोगों में से नहीं थे जो परिस्थितियों का रोक रोका करते हैं ।

१९३४ में वे अक्सर पाकर जेल से ज़रार होने में सफल हो गये । उन्होंने जेल से निकलने के बाद अपना नाम भी 'शशिकान्त' रख लिया ताकि सरकारी पुलिस व गुप्तचरों का ध्यान उनकी ओर से हट जाय । वे उन्हें झाँसा देने में सफल हो गये ।

चक्रवर्ती जी की तपस्या पूरी हुई । १९४७ में अंग्रेजों का भारत छोड़कर जाना ही पड़ा । उनकी जन्मभूमि पूर्वी पाकिस्तान के क्षेत्र में आयी । पश्चिमी पाकिस्तान के अल्पसंख्यक हिन्दुओं को शरण देने के लिये तो भारत सरकार तैयार थी पर पूर्वी पाकिस्तान के अल्पसंख्यकों को वह यहाँ शरण देने के लिए विधिबद्ध तैयार नहीं थी । ऐसी स्थिति में उन्होंने वहाँ रहकर अपने अल्पसंख्यक भाइयों की सेवा करना अपना लक्ष्य बनाया । उनका कहना था—
“सच्चे देशभक्त को यह सोचना नहीं देता कि वह अपना देश छोड़ दे । सारे भारत की स्वाधीनता के लिये लड़ने के बावजूद मेरा पूर्वी बंगाल से सम्बन्ध है, इसलिये अन्तिम स्वास तक पूर्वी पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों के लिये न्याय व अधिकारों की प्राप्ति के लिये संघर्ष करना मेरा कर्तव्य है । मेरा कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ है ।”

श्री चक्रवर्ती ने पाकिस्तान सोशलिस्ट पार्टी की नींव डाली । यह पार्टी सम्प्रदायवाद से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र को एक मानने वाले विवेकशील व्यक्तियों का अपना दल बन गयी । इस दल को संकीर्णमन्त्र सम्प्रदायवादी राष्ट्रपति जनरल अयूब खान आस्तन में एक सनाशाह थे, ने १९५८ में इस पर प्रतिबंध लगा दिया । श्री चक्रवर्ती १९५४ से ५८ तक वहाँ की विधान सभा के सदस्य रहे ।

पूर्वी पाकिस्तान में इस्लामपरस्त सरकार ने वहाँ के अल्पसंख्यक हिन्दुओं पर जो अत्याचार किये और उन्हें वहाँ से भाग लड़े होने को विवक्षित किया । उनकी सम्पत्ति को शत्रु सम्पत्ति घोषित किया । यह सब अन्याय था । अन्याय से संघर्ष करना त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती का धर्म था सो वे भारत के स्वतन्त्र होने से पहले अंग्रेज सरकार से और उत्पन्न विच्छिन्न भारत की पाकिस्तान सरकार से संघर्ष करते रहे ।

उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। खादी की श्वेत साधारण वेशभूषा में वे सादगी और सज्जनता के प्रतीक लगते थे। उनके आन्तरिक व्यक्तित्व की परिचायक थी उनकी यह वेशभूषा। बंगलादेश के स्वतन्त्र होने का पूर्वाभास उन्हें हो गया था। यह कहना असत्य न होगा कि इस सम्भावना को साकार करने के लिये नींव भरने का कार्य उन्होंने जैसे लोगों ने किया था।

उनकी इन गतिविधियों को देखते हुए— पाकिस्तान सरकार ने भी उन्हें वर्षों तक नजरबन्द बनाये रखा यह भी एक विचित्र संयोग था कि वे १९७० में तीन महीने के लिये भारत आये और वहीं १ अगस्त, १९७० को दिल्ली में उनका देहावसान हो गया। भारत प्रमण के लिये वे चौदह वर्ष तक पाकिस्तान सरकार से स्वीकृति लेने के लिये प्रयत्नशील रहे पर स्वीकृति भी उस समय मिली कि वे पुनः पाकिस्तान लौट ही न सके और उसके दो वर्ष बाद ही उस धरती से पाकिस्तान का नाम ही उठ गया। उनका यह संघर्षशील व्यक्तित्व अन्याय, अनीति से जीवनपर्यन्त झूझने की अनूठी कहानी है जो प्रेरक भी है और रोमांचक भी।

असहयोग के आद्य प्रवर्तक—

बाबा रामसिंह

महाराज रणजीतसिंह की फौज में एक बीस वर्षीय ब्रह्माही देशभक्त नौजवान भर्ती हुआ। इदर में राष्ट्रप्रेम का ज्वर लहरा रहा था। दिल्ली में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य था। रणजीतसिंह के साहस और शौर्य से भवभीत रहने के कारण पंजाब तो विदेशी सत्ताधीशों के कुचक्र से अलूता ही रहा था परन्तु इतने बड़े राज्य पर तलचाही दृष्टि तो थी ही।

उधर महाराजा की फौज में कई प्रकार की कुरीतियों, जिनके कारण बड़े-बड़े साम्राज्य ध्वस्त होते रहे हैं देखी जा रही थी। सिक्ख फौज की शक्ति तेजी से क्षीण होती जा रही थी। महाराजा रणजीतसिंह की दी हुई जमीनों पर ऐशो आराम की जिंदगी जीते हुए सरदार अपना चरित्र खोने लगे थे। अपने अन्तिम दिनों में महाराज भी उतने शक्तिशाली नहीं रहे थे। फौज और सरकार दोनों ही ईर्ष्या और फूट की शिकार हो चुकी थी।

ऐसी स्थिति में उक्त नौजवान रामसिंह उदात्त आदर्श के प्रतीक कहे जा सकते हैं। फौज में उन्हें बाई रामसिंह के नाम से जाना जाता था। सामान्य सैनिकों में वे बड़े ही सम्मानित थे परन्तु उनकी निर्भीक आलोचना से सैनिक अधिकारियों की आँख में वे सदा ही खटकते रहे। सन् १८३९ में महाराजा रणजीतसिंह का देहान्त हो गया। उनके मरते ही राज्याधिकारियों की ईर्ष्या और सत्ता लिप्सा फूट पड़ी। उनको ऐसा कोई योग्य उत्तराधिकारी नहीं मिला

सक्य जिसने उतने बड़े साम्राज्य का कुशलता से संचालन किया हो।

फसलस्वरूप अगले छह सालों में पंजाब की सात सरकारें बदली। समूचा शासन तन्त्र लड़खड़ा गया। युवक रामसिंह ने इससे खिन्न होकर सेना की नौकरी छोड़ दी और १८४५ में नौकरी छोड़कर अपने गाँव आ गये। वहाँ जीवकोपार्जन के लिए उन्होंने एक किराने की दुकान खोल ली।

प्रत्यक्ष में रामसिंह सार्वजनिक जीवन से विरत होने लगे परन्तु उनका वास्तविक देश-भक्त अब एक नयी दिशा में मोड़ ले रहा था। किराने की दुकान पर उनके व्यक्तित्व के आकर्षण से बँधकर बहुत से लोगों ने देश सेवा की प्रेरणा पायी। परम्परागत सिक्ख वेशभूषा और मुख-मण्डल पर चमकती हुई ईश्वर-निष्ठा की दीप्ति ने उनके व्यक्तित्व को एक उत्कृष्ट, प्रभावशाली और तेजस्वी स्वरूप प्रदान किया। यही पर वे आगन्तुकों को धर्मोपदेश की शैली में राष्ट्रपति की शिक्षा देते। लोगों के हृदय में उनके प्रति अगाध स्नेह और सम्मान बस गया। जिसके कारण वे सर्व स्मरण में 'बाबा' के नाम से लोकप्रिय हो गये। उनकी पत्नी और पुत्री भी दिन भर दुकान का काम सम्हालती। दुकान का काम तो नाम भर को था। वस्तुतः बाबा इसके माध्यम से लोगों को विरोधकर युवा वर्ग को नयी जीवन-दिशा देते थे। दुकान पर आगन्तुकों के खान-पान और रहने के लिये 'गुरु का लंगर' चलाने लगा।

पंजाब में उस समय महाराज दलीपसिंह का राज्य चल रहा था। अंग्रेजों ने पंजाब पर आक्रमण कर दिया। परिणाम वही हुआ। पंजाब का विशाल साम्राज्य अंग्रेजों के हाथ में चला गया। अंग्रेजों की चाल में आकर महाराज दलीप इंग्लैण्ड चले गये और बाद में वे ईसाई भी हो गये।

इतना सब कुछ होने पर भी पंजाब को इसकी रूढ़ि भी चिन्ता नहीं हुई। जिन सिक्ख धर्मानुयायियों ने मुगल सत्ता के दौल खड़े किए थे। गुरु गोविन्द सिंह के युग की सिक्ख जाति का बोझ ठण्डा हो चुका था। अंग्रेज सरकार ने क्षेत्रीय रिकसतों को कायम रख के सिक्ख नेताओं को अपनी ओर फीड़ लिया था। रस्मों-धर्म निधाने और अपनी जागीर को बनाये रखने के लिए अंग्रेज अधिकारियों की सुस्तपद करते रहना ही उनका काम था।

बाबा रामसिंह के लिए यह सब असह्य था। सिक्ख सरदारों की भ्रष्टा और सिक्ख-पन्थ की गौरवशाली परम्परा दोनों की तुलना करते हुए उनका हृदय एक साथ शोभ और आक्रोश से भर उठता। शोभ और आक्रोश भी इसी मनःस्थिति में उन्होंने विशुद्ध वीरों की सेना गठित करने की आवश्यकता अनुभव की। अंग्रेजी दासता से मुक्त होने के लिए उनका हृदय छटपटाने लगा।

अपने इस विचार को तुरन्त कार्यरूप में परिणित करने के लिए बाबा ने स्वतन्त्रता का महत्व धर्म ग्रन्थों के दृष्टान्त उदाहरण दे देकर प्रचारित करना आरम्भ कर दिया। सिख जाति में जो मूर्च्छा फैल रही थी उससे वह धीरे-धीरे जागने लगे। इन्हीं दिनों १८५७ का स्वतन्त्रता संग्राम लड़ा गया। बाबा इसे सफल होते देखना चाहते थे परन्तु उसकी सफलता में उन्हें विश्वास नहीं था। कारण यह था कि जनता में जब तक क्रोध की तड़प न पैदा हो जाय किसी भी शक्तिशाली 'सरकार के प्रति विद्रोह' सफल नहीं हो सकता। जन-आक्रोश को भड़काने के लिये वे चरित्र की उत्कृष्टता और शक्ति को आवश्यक मानते थे। दुर्भाग्य से तत्कालीन जनता इन सदगुणों से वंचित थी और बाबा के पास भी जनशक्ति का लगभग अभाव ही था। फलस्वरूप उन्होंने इस संग्राम में भाग नहीं लिया।

क्रान्ति की असफलता ने बाबा के सामने क्रान्ति दर्शन के नये-नये आयाम प्रस्तुत किये। उन्होंने अपनी गति-विधियों को और अधिक बल दिया। बाबा ने अपने अनुयायियों को संगठित करने के लिए— 'नामधारी पन्थ' की घोषणा की।

तीन वर्षों में ही बाबा के अनुयायियों की संख्या साठ हजार हो गयी। उनके अनुयायी सोधी पगड़ी बाँधते, सफेद खुर के कपड़े पहनते, तलवार रखने की तो मनाही थी इसलिए एक टुकड़ा रखते। नामधारियों के लिए मीस और शराब वर्जित थे। उस समय जबकि पूरे पंजाब में इनका प्रचलन आम हो गया था, नामधारी अलग ही दीखते। अनेक शिष्यों ने इस पन्थ को अपनी सारी सम्पदा अर्पित कर दी। बहुत से धनस्थ और जागीरदार अपनी जमीन-जायदादें बेचकर नामधारी पन्थ में सम्मिलित हो गये। उल्लेखनीय यह बात गति पकड़ता गया। फलस्वरूप अगले दस वर्षों में इनकी संख्या तीन लाख से भी ऊपर हो गयी।

अब बाबा ने अपने शिष्यों के लिए अगला कार्यक्रम रखा। अंग्रेजी स्कूलों की संख्या दिनों दिन बढ़ती जा रही थी। जहाँ भारतीय संस्कृति और धर्म से विमुख बनने वाली पतनकारी शिक्षापद्धति का बोलबासा था। नामधारियों ने जगह-जगह अपने स्कूल खोले जहाँ मातृभाषा में शिक्षा दी जाती और राष्ट्रीयता तथा देशप्रेम की भावनार्थ बालकों में कूट-कूट कर बरी जाने लगी। विश्व के इतिहास में बाबा ने पहली बार नये प्रकार का रचनात्मक विरोध किया। सरकारी डाकखानों और रेलों का भी बहिष्कार किया जाने लगा। इतना ही नहीं इस पंथ के लोगों ने अपनी एक अलग डाक व्यवस्था बना ली। शासन तन्त्र के समान ही डाक व्यवस्था इतनी दक्षता से चलाई जाने लगी कि सरकार भी दंग रह गयी। महात्मा गाँधी द्वारा सन् १९२१ में चलाया जाने वाला असहयोग आन्दोलन भी इतना सफल नहीं रहा होगा जितना कि

बाबा द्वारा चलाये जाने वाला यह आन्दोलन। इसमें मात्र नाम का ही अन्तर रहा कि महात्मा गाँधी ने अपने आन्दोलन का नामकरण कर दिया। परन्तु असहयोग आन्दोलन के आद्य-प्रवर्तक के रूप में बाबा रामसिंह स्वयमेव ही प्रतिष्ठित हैं।

सारे नामधारी सिखों ने वर्षों तक अंग्रेजी अदालतों और अन्य दूसरी सरकार संस्थाओं का बहिष्कार किये रखा। न्याय और अन्य प्रकार की सार्वजनिक व्यवस्थाओं के लिए जगह-जगह पंचायतें कायम कर ली गयीं। जहाँ इस प्रकार के आपसी विवादों का निपटारा किया जाता। रूस, नेपाल, कश्मीर और काबुल में उन्होंने अपने दूतावास कायम कर लिए। बाबा का यह आन्दोलन धार्मिक पृष्ठभूमि पर चलाया जा रहा था और उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि धर्म-सत्ता की शक्ति राज्य-सत्ता की शक्ति से किसी भी प्रकार कम नहीं है वरन् उससे ज्यादा बढ़-चढ़ कर ही है।

बाबा ने नामधारियों के सैनिक प्रशिक्षण का भी क्रम बनाया। कई सैनिक शिक्षण पाने के लिए कश्मीर की पौन में भरते हो गये। इस प्रकार आम लोगों में विदेशी शासन के प्रति नफरत पैदा होने लगी। पर अंग्रेज शासन बाबा के प्रभाव को देखते हुए उनके विरुद्ध कोई कदम नहीं उठा पा रहा था। नामधारी पन्थ का धार्मिक स्वरूप जन-आस्था का प्रतीक बन चुका था। इधर पुलिस अधिकारी बार-बार सरकार को यह चेतावनी दे रहे थे कि यह संस्था सन् १८५७ के विप्लव से भी ज्यादा खतरनाक स्थिति पैदा कर देगी।

अन्ततः पुलिस अधिकारियों की यह आशंका सत्य सिद्ध हुई। नामधारी सूत्रों ने विद्रोह की घोषणा कर दी थी। बूचड़खानों में प्रतिदिन कई हजार गावें कटतीं। १८७१ में नामधारियों ने अमृतसर के बूचड़खानों पर हमला बोल दिया। इस मौके का फायदा उठाकर सरकार ने बाबा जी को गिरफ्तार कर लिया। अब तो कूके और भी भड़क उठे। मलोह और मलेर कूटला रियासत के नेकब पर हमला बोल दिया। उनकी योजना थी कि इन रियासतों से हथियार लूटकर भड़े पैमाने पर क्रान्ति की जाय। परन्तु यह योजना अंग्रेजों की कुटिल नीति के कारण असफल रही। इस विद्रोह को दबाने के लिए कड़ा दमन चक्र चलाया गया। लुधियाना में कई क्रान्तिकारी नामधारियों को तोपों के सिरो पर बाँधकर पारार्थिक तरीके से मरवा दिया गया। १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम के बाद का यह दूसरा संग्राम भी बुरी तरह विफल हुआ।

बाबा जी को बिना मुकदमा चलाये ही देश निर्वासन की सजा दी गयी और वे वर्मा भेज दिये गये। नामधारी फिर भी हिम्मत नहीं हारे। उनकी संख्या बढ़ती ही गयी। वर्मा से बाबाजी डाक आदि के माध्यम से अपने सन्देश भेजते रहे। जिन्हें उनके शिष्य देश के विभिन्न

इलाकों में पहुँचाते रहे । कुछ सिक्ख विदेश भी गये ताकि वहाँ से मदद पा सकें ।

परन्तु पहले विफल प्रयास के बाद इतना सतक कदम नहीं उठाया जा सका । १८८५ में बाबा जी का देहान्त हो गया फिर भी आत्मा की अमरता में विश्वास रखने वाला कूके, बाबा को सदैव अपने आस-पास जानकर संघर्ष करते रहे । परन्तु बाबा का सहस और शौर्य किसी प्रकार विफल नहीं कहा जा सकता । उन्होंने लाखों निरुद्देश्य मनुष्यों के जीवन को नवीं दिशा दी । जिसके कारण वे सदा ही महामानव की पंक्ति में धिने जाते हैं ।

वीर सेनानी—

सुखवीर सिंह और मथुरादास

सितम्बर १९६५ । पाकिस्तान द्वारा भारत की पवित्र भूमि पर आक्रमण, सीमा पर घमासान युद्ध जारी था । बर्फी मोर्चों पर शत्रु की चौकी को अपने कब्जे में करने का काम ले० सुखवीर सिंह को सौंपा गया । सुखवीर के नेतृत्व में भारतीय जवान शेर की तरह आगे बढ़ते जा रहे थे । दुश्मन की तोपें गोले बरस रही थीं ।

अचानक एक गोला सुखवीर के साथी पर गिरा । वह अपने साथी को उठाकर जैसे ही आगे बढ़े कि उनके सीने में गोली आकर लागी और वह वहीं गिर गये । उनके साथियों ने तुरन्त उठाकर चिकित्सालय ले जाने की तैयारी की पर उस सपूत ने जाने से मना कर दिया उसने अपने घाव पर स्वयं ही पट्टी बाँध ली और तोपों को पीछे हटेलते हुये तूफानी गति से आगे बढ़ने लगे । शरीर से रक्त की धारा प्रवाहित हो रही थी । पर सुखवीर के पास इतना समय नहीं था कि अपने शरीर से निकलने वाले रक्त को देखें और एक क्षण रुक कर उसके उपचार की बात सोचें ।

उसके सामने केवल एक ही लक्ष्य था । उसी की पुनः पर सवार थी कि किसी प्रकार शत्रु की चौकी को कब्जे में करके उस पर तिरंगा झण्डा फहराया जाये ।

ले० सुखवीर सिंह के अपने प्राणों के मोह को त्याग कर शत्रु सैनिकों को पीछे खदेड़ दिया और जिस चौकी को कब्जे में करने का आदेश दिया था, उस पर कब्जा करके अपना झंडा फहरा दिया । लहराते हुये तिरंगे ध्वज को देखकर उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा । वह मात्र भी का लाहला सदैव के लिए उसकी गोदी में सो गया ।

चण्डी की पर्वत माला से संत मथुरादास को डोली में लियकर कनकल के 'रामकृष्ण सेवा आश्रम' में लाया गया । स्वास्थ्य उनका अधिक खराब था । उठना-बैठना तक मुश्किल था । चिकित्सकों द्वारा जाँच करने पर पता लगा कि उनकी जाँघ तथा पेट में मवाद भरा है दोनों ही पूरी तरह फट गये ।

उन्हें आपरेशन टेबल पर लिटाया गया और क्लोरोफार्म सूँघाने के लिए उपकरण लाकर नाक के पास रखे । उन्होंने देखा तो डॉक्टर से पूछा । डॉक्टर ने उत्तर दिया, "महात्मा जी! यह क्लोरोफार्म है, इसके सूँघने से बेहोशी आ जायेगी और आपका आपरेशन आसानी से किया जा सकेगा आपको किसी प्रकार का कष्ट भी न होगा ।"

संत ने कहा " इन सब वस्तुओं की कोई आवश्यकता नहीं । इसे उठाकर रख दीजिये और आप आपरेशन कीजिये । मेरे आपरेशन में शरीर का कोई हिस्सा न हिलेगा और न हुलेगा आप अच्छी तरह अपना कार्य कर सकेंगे, डॉक्टर को संत की बात माननी पड़ी । डॉक्टर ने जाकू उठाकर संत की जाँघ में लगभग एक फुट लम्बा चीरा लगा दिया । उसमें मवाद ही मवाद भरा हुआ था । लगभग एक बरूटी मवाद निकला ।

एक घीरे से काम न चला तो दूसरे स्थान पर भी उतनी ही बड़ा एक घीरा और लगाना पड़ा, पर संत उस से भस न हुये उनके भुँह से किसी ने आह तक न सुनी । मवाद निकालने के बाद घाव पर पट्टी बाँधी गई । सारा काम समाप्त हो जाने पर वह अन्यत्र जाने को तैयार हो गये । चिकित्सकों तथा अन्य व्यक्तियों के विशेष आग्रह पर वह कुछ दिनों के लिये वहीं रुकने को तैयार हुए । व्यक्ति अपने ध्यान को एकाग्र करके असहनीय पीड़ा को भी सहन कर सकता है ।

उत्कट देशभक्ति के प्रतीक महामाजब

युग-दृष्टा राजर्षि—गोखले

श्री गोपालकृष्ण गोखले के व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए महात्मा गांधी ने लिखा है—लोकसेवकों को कैसा होना चाहिए, इसकी जो कल्पना मूर्ति में ने अपने मन में बसा रखी है उस आदर्श के साकार स्वरूप श्री गोखले थे। वे स्पष्टिक जैसे निर्दल, गाय जैसे सरल, सिंह जैसे शूर थे। उदारता इतनी अधिक थी कि उसे दोष भी माना जा सकता है। मुझे उनके व्यक्तित्व में कहीं रती भर भी दोष नहीं दीख पड़ा। मेरी दृष्टि से राज-नेताओं के क्षेत्र में वे एक आदर्श व्यक्ति थे।

ओछे व्यक्तित्व के मनुष्य कभी बड़े काम नहीं कर सकते। जिस चतुरता के बल पर वे जल्दबारी और सफलता कमाने की आशा लगाते हैं, अन्त में वही उन्हें धोखा देती है। ओछापन देर तक छिप नहीं सकता और जब वह प्रकट होता है तो अपने ही पराये बन जाते हैं और वे लोग जो आरम्भ में उनकी प्रशंसा किया करते थे वे ही अन्त में निन्दक, असहयोगी बन जाते हैं। यों सीमित दायरे में जीवन क्रम रखने वाले को भी वैयक्तिक सफलताओं के लिए उदात्त दृष्टिकोण ही रखना अवश्या है पर जिसे सार्वजनिक क्षेत्र में काम करना हो उसे ओछापन छोड़कर उदारता और साधुता का ही अवलम्बन करना चाहिए। व्यक्तिगत उत्कृष्टता के अभाव में मनुष्य के सारे गुण निरर्थक सिद्ध होते हैं। विशेषतया सार्वजनिक कार्यकर्ता की सफलता तो संदिग्ध ही हो जाती है। धूर्तता के बल पर कोई व्यक्ति लोकनेता के पद पर देर तक आसानी से नहीं रह सकता, भले ही वह किसी प्रकार उसे कुछ समय के लिए प्राप्त करने में सफल हो जाय।

गाँधीजी जीहरी थे। वे मनुष्यों को परखते थे। गुणों के आधार पर नहीं, व्यक्तित्व के आधार पर, गोखले को उसने परखा तो खरा पाया और सच्चे मन से उनके अनुयायी हो गए। वे उन्हें अपने राजनैतिक गुरु के रूप में मानते थे और अपनी गतिविधि निर्धारित करने में उनसे बहुत प्रकाश ग्रहण करते थे।

ऋषि शब्द की व्याख्या करते हुए यही कहा जा सकता है कि मानव जीवन की समस्याओं पर जो समग्र रूप से विचार कर सके, युग के अनुरूप अपना कर्तव्य निर्धारित कर सके, गिरों को उठाने के लिए जिसके मन में तरुण उठती हो और स्वयं तपस्वी जीवन बिताते हुए दूसरों को सुखी बनाने का प्रयत्न करे वह ऋषि है। कम्का कालेलकर ने पिछले दिनों भारत में जन्मी विभूतियों में से देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रामाडे, अण्णासाहेब पटवर्धन, स्वामी विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती, स्वामी ब्रह्मानन्द, गोखले, गाँधी, अरविन्द, स्वीन्द्रनाथ ठाकुर, एनी बेसेन्ट आदि

महामानवों को ऋषि श्रेणी में गिना है। गोखले सचमुच इसी श्रेणी के ऋषि हुए हैं।

वे सच्चे ब्राह्मण थे। राजनीति में धर्म का प्रवेश उन्होंने आवश्यक माना और इसके लिए अपनी सामर्थ्य भर प्रयत्न करते रहे। एक बार एक संन्यासी उनके पास आए और ब्राह्मण होने की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने लगे। गोखले ने उत्तर दिया यदि किसी वंश में जन्म लेने के कारण मुझे श्रेष्ठ माना जाय तो ऐसी श्रेष्ठता को दूर से ही मेरा नमस्कार है। मनुष्य गुणों में श्रेष्ठ बन सकता है फिर चाहे वह किसी देश, जाति या वर्ग का क्यों न हो। गोखले ब्राह्मण कुल में जन्मे थे पर उनकी श्रेष्ठता जन्म में नहीं कर्म में सन्निहित थी।

उस माहमनोषी ने गरीबी जन्मजात ईश्वरोप धरदान के रूप में पायी और उसे वे आजीवन प्रेमपूर्वक छाती से लगाये रहे। महाराष्ट्र के रत्नगिरी जिले के एक छोटे से गाँव में वे जन्मे थे। छोटी आयु में ही पिताजी का स्वर्गवास हो गया। विधवा माता, चार बहिनें और दो भाई सात प्राणियों के गुजारे के लिए कोई साधन न था तो उनके बड़े भाई को पढ़ाई छोड़कर (१५) भासिक की नौकरी करनी पड़ी। उदार बड़े भाई ने अपने छोटे भाई को पढ़ाई बन्द न होने दी। उसे कोल्हापुर पढ़ने भेजा और उस (१५) में से सात रुपये में पूरे परिवार का खर्च चलाकर आठ रुपये गोखले को पढ़ाई का खर्च देते। गरीबी ने उन्हें अनेकें गुण दिये। अमोरी के बच्चे पैसे का मूल्य नहीं समझ पाते और सुविधाओं की अधिकता के कारण व्यक्तित्व को विकसित करने वाली विशेषताओं से वंचित रह जाते हैं। गरीबी से उत्पन्न कठिनाइयों मनस्वी व्याकुल को सतर्क, कर्मठ और सद्गुणी भी बनाती हैं। उनसे दब तो वे लोग जाते हैं जिसकी आर्थिक स्थिति की तरह मानसिक स्थिति और भी दयनीय होती है।

अच्छी श्रेणी में उन्होंने बी० ए० पास किया। उस जमाने में उच्च शिक्षा तो नाममात्र की थी। इतने पैसे लोगों की ऊँची सरकारी नौकरी या धन कमाने के अनेकों मार्ग खुले हुए थे। पर गोखले ने तो विद्यार्थी किसी और ही उद्देश्य के लिए पढ़ी थी। वे उसे नर नारायण की सेवा का एक साधन बनाना चाहते थे। उनके जैसे ही भावनाशील व्रतधारी लोगों ने मिलकर अशिक्षा दूर करने के लिए 'दक्षिण शिक्षा समिति' स्थापित की। उसके आजीवन सदस्यों को (३५) भासिक पर, सदा काम करते रहने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। गोखले उसके सदस्य बने और समिति द्वारा संचालित फार्गुसन कॉलेज में बीस वर्ष तक निष्ठापूर्वक अध्यापन करते हुए, देश सेवा के लिए नई पौध बन्धने में लगे रहे। लोकमान्य तिलक के स्तीफा दे देने पर उन्हें गणित भी पढ़ाना पड़ा, यों राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि विषयों को वे पढ़ते पढ़ाते थे।

परिस्थितियों ने कॉलेज के बाहर भी उनकी सेवाओं की आवश्यकता अनुभव की और उनका क्षेत्र घरे-घरे समाज सेवा, पत्रकारिता और राजनीतिक दिशा में अग्रसर होने लगा। अनेक घरों में वे नवचेतना उत्पन्न करने वाले लेख लिखा करते और कुछ ही दिनों में 'राष्ट्रसभा समाचार' का सम्पादन भार भी उन्हीं पर आ पड़ा। न्यायमूर्ति रानाडे द्वारा स्थापित 'सार्वजनिक संस्था' के यन्त्री चुने गये। कार्यभार की अधिकता देखते हुए रानाडे से १५०) मासिक वेतन लेने का अनुरोध किया पर उन्होंने २२ वर्ष की आयु में ३५) में काम चलते रहने की जो प्रतिज्ञा की थी, उसका उल्लंघन करना उचित न समझा और अनुरोध को अस्वीकार करते हुए स्वल्प वेतन पर गरीबी के साथ गुजर करते रहे।

लोकसेवा में अपना जीवन समर्पण करने वाले जन-सेवकों की निर्वाह व्यवस्था करने के लिए 'सर्वेण्ट ऑफ इण्डिया सोसाइटी' की स्थापना की। एक से एक आदर्शवादी और राजनैतिक संन्यासी उस आश्रम से व्यक्तिगत जीवन की आर्थिक समस्याओं से निरिचल होकर जनसाधारण के काम में जुट गये। कहना न होगा कि सोसाइटी के सदस्यों ने भाषण, लेखन, कला, रचनात्मक कार्य द्वारा जनजीवन में नव-जागरण की ऐसी आग फैकी जो राजनैतिक चराधोनता समाप्त होने तक कभी बुझने न पाई।

राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने प्रवेश किया तो अपनी सूझ-बूझ, प्रतिभा और व्यक्तित्व के बल पर आरम्भिक कार्य कर दिखाये। राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस में प्रवेश करके उन्होंने उसका संगठन मजबूत किया, शक्ति बढ़ाई और उसे सही दिशा में तेजी से बढ़ाया जिस पर चलते हुए 'स्वराज्य' की प्राप्ति करने के लिए पथ प्रशस्त हो सके। बम्बई प्रान्तीय कांग्रेस के मंत्री, फिर कांग्रेस महासमिति के संयुक्त मंत्री बने और १९०५ में ७० वीं कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में वे अध्यक्ष चुने गये। दक्षिण अफ्रीका से गाँधीजी को निमन्त्रण देकर उन्होंने भारत बुलाया और उनके हाथ में अन्नेतुल्य भौषण की अन्तर्भूमिका बड़ी कुशलता से उन्होंने पूरी की।

भारत में प्लेग, हैजा फैला तो पीड़ितों की सहायता के लिए जी जान से जुटे रहे। उस समय भयानक दुर्भिक्ष में भुधार्तों के लिए उन्होंने कुछ उठा न रखा। बंग-भंग आन्दोलन और तत्कालीन स्वदेशी आन्दोलन में उन्होंने आगे बढ़कर भाग लिया। दक्षिण अफ्रीका की सरकार द्वारा वहाँ के भारतीयों पर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध गाँधी जी द्वारा आरम्भ किए अभियान में सहायता करने वे अफ्रीका पहुँचे और ब्रिटिश सरकार को भारत के प्रति उदार नीति बरतने की प्रेरणा देने के लिए कई बार इंग्लैण्ड की यात्रा की। बम्बई चारा सभा के सदस्य निर्वाचित हुए और पीछे दिल्ली की केन्द्रीय सभा के सदस्य भी चुन लिए गये। अंग्रेजी सरकार द्वारा भारत के दोहन का वे निरन्तर भण्डाफोड़ करते और उस प्रवृत्ति में सगे रहे कि भारतीय

जनता को सरकार द्वारा उपयोगी कार्यों का अधिकाधिक लाभ मिले। उस समय की परिस्थितियों में सरकार को झुकाने के लिए जितना कुछ सम्भव था वे नरम और गरम तरीके अपनाकर भारतीय जनता के सच्चे प्रतिनिधि के रूप में संघर्ष करते रहे। जहाँ आवश्यकता पड़ी वहाँ उन्होंने डटकर विरोध करने में भी संकोच न किया। उस समय के व्यवसाय स्टार्ट करज उनमें अपना 'समवयस्क' प्रतिद्वन्द्वी माना करते और कहा करते थे, 'उनके सम्पर्क में अब तक जितने भी मनुष्य आये, उनमें गोखले ही सबसे अधिक मजबूत और कसबाव हैं।'

"जो मिले उसे प्राप्त करो और आगे के लिए संघर्ष जारी रखो" उस समय की राजनीति का यही केन्द्र बिन्दु था जो परिस्थितियों को देखते हुए उचित भी था। ब्रिटिश सरकार पर भारसक दबाव डालकर उन्होंने माले-मिण्टो सुधार घोषणा कराई, जिसके अन्तर्गत भारत को कुछ अधिक अधिकार मिले। दक्षिण अफ्रीका में गाँधी-स्मट्स समझौता उन्होंने कराया और भारतीयों को कुछ राहत मिली। कांग्रेस के नरम और गरम दलों में समझौता करा सकना उनकी ही सूझ-बूझ का फल था। वे लड़ना जानते पर वहाँ समझौते का अवसर आता उससे झुकते न थे। देश के कोने-कोने में भ्रमण करके उन्होंने राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने वाले असंख्य भाषण दिये। देश को संगठित करने और भावनात्मक एकता उत्पन्न करने के लिए उनके प्रवास निरन्तर चलते रहे। उन्होंने भारत के एक सच्चे देशभक्त के रूप में जीवन का प्रत्येक दिन लोकहित के लिए अर्पित करने में ही सौभाग्य समझा।

व्यक्तिगत जीवन की तरह ही वे सार्वजनिक जीवन में भी ईमानदार थे। ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध एक बयान में उन्होंने एक बार ऐसे आरोप लगाये जो पीछे जाँच करने पर असत्य निकले। अपनी गलती के लिए उन्होंने सार्वजनिक रूप से खेद प्रकट किया। यों उस समय के नेता उनके इस माफी माँगने से रुह हुए और कुछ समय तक वे संधियों द्वारा उपेक्षित होने पर एकाकी पड़ गये, पर इसका उन्हें बरा भी दुःख न हुआ। सच्चाई उनकी दृष्टि में सबसे बड़ी बात थी। राजनीतिक लाभों के लिए वे सच्चाई को उपेक्षा नहीं कर सकते थे। उनकी राजनीति में धर्म के लिए प्रमुख स्थान था।

गोखले ने राष्ट्रीय कार्यों के लिए प्रचुर धन एकत्रित किया और उसका विभिन्न कार्यक्रमों में उपयोग भी हुआ। पर उनके व्यक्तिगत जीवन के लिए फर्गुसन कॉलेज से सेवा निवृत्त होने पर जो २४) मासिक पेन्शन मिलती थी, वही पर्याप्त हो जाती। जिस गरीबी से उन्होंने जीवन आरम्भ किया उसे ही उन्होंने जीवन भर अपनाये रखा और केन्द्रीय सभा की सदस्यता आदि से कभी कुछ अतिरिक्त आय हो जाती तो उसे जरूरतपन्दों को उदारतापूर्वक दे डालते। गोपाल कृष्ण गोखले राजनेता के रूप में प्रख्यात हैं पर वस्तुतः वे एक ऋषि थे। सच्चे ब्राह्मण की तरह उन्होंने जनता जनार्दन की उपासना के लिए विश्व ध्यान को सत्य

शिव सुन्दरम् से समलंकृत करने की आराधना के लिए अहर्निश निष्ठापूर्वक कार्य किया। ऋषि ऐसे ही लोगों को तो कहते हैं—वेश में नहीं कर्म में उनका ऋषित्व देखा और परखा जा सकता था। ऐसे ही विभूतियों से इस महान देश का मस्तक ऊँचा होता चला जाता है और आगे होता रहेगा।

सत्य की रक्षा

गोपालकृष्ण गोखले तब विद्यार्थी थे। एक दिन की बात है कि कक्षा अध्यापक ने गणित का एक प्रश्न पूछा—प्रश्न थोड़ा कठिन था इसलिए कोई भी विद्यार्थी उसे हल नहीं कर पाया।

एक गोपाल कृष्ण ऐसे विद्यार्थी थे जिन्होंने प्रश्न का सही उत्तर बता दिया। उससे अध्यापक को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने इसके लिए गोपाल कृष्ण को पुरस्कृत भी किया। किन्तु पुरस्कार प्राप्त करने के साथ ही उनकी मानसिक बेचैनी और अशान्ति बढ़ती हो गई। घर पहुँचकर तो उनकी अशान्ति और भी तीव्र हो उठी। रात कठिनाई से बिता चले उन्हें अच्छी तरह नींद भी नहीं आई।

गोपाल कृष्ण दूसरे दिन विद्यालय पहुँचे और सीधे अध्यापक के कक्ष की ओर चले गये। पुरस्कार वापस करते हुए बालक गोखले ने निवेदन किया—गुरुजी! इस पुरस्कार का अधिकारी मैं नहीं ठहरे तो मैंने दूसरे विद्यार्थी से धुँड़कर बसाया था। इसलिये यह पुरस्कार तो उसे ही मिलना चाहिए।

अध्यापक महोदय ने गोपाल के इस साहस की बड़ी प्रशंसा की। उन्होंने सब विद्यार्थियों को एकत्रित करके समझाया—जो लोग सत्य से विपुल आचरण करते हैं उनकी झुठ पकड़ में न भी आये तो भी इसी तरह अशान्ति होती है जैसे गोपाल कृष्ण गोखले को हुई।

लेकिन फिर भी पुरस्कार गोपाल कृष्ण गोखले को ही लौटाते हुए अध्यापक ने कहा—इस पर अब तुम्हारा वास्तविक अधिकार ही गया है क्योंकि तुमने सत्य की रक्षा की है।

कृतज्ञता के प्रतीक

गाँधीजी के राजनैतिक गुरु देशम्भन गोपाल कृष्ण गोखले बचपन में बहुत गरीब थे। जैसे-तैसे स्कूल की शिक्षा समाप्त करने के बाद जब कॉलेज की फ़र्माई का समय आया तो खर्च का प्रश्न उपस्थित हुआ। गोखले के बड़े भाई गोविन्दराम को अपने छोटे भाई की योग्यता और प्रतिभा पर पूरा विश्वास था। उन्होंने कहा—“मैं मेहनत-मजदूरी करके भी छोटे भाई को अवश्य फ़र्माऊँगा।” बड़े भाई की पत्नी ने देवर के लिये अपने गहने तक बेचकर प्रारम्भिक फीस आदि का प्रबन्ध किया और उन्हें राजाराम कॉलेज कोल्हापुर में दाखिल कर दिया।

बड़े भाई गोविन्दराम उस समय २५) रुपये प्रतिमास कमाते थे। उसमें से ७) वे छोटे भाई की मासिक खर्च के

लिये नियमित रूप से भेज देते थे। गोखले इन रूपयों में बड़ी किफायतदारी से अपना निर्वाह करते थे। बी०ए० हो जाने पर गोखले जी की ३५) रुपये मासिक पर एक स्कूल में अध्यापक की नौकरी मिल गई। इस वेतन में से वे प्रतिमास २०) रुपये अपने भाई की नियमित रूप से भेजने लगे। वे जीवन भर अपने भाई भाभी के त्याग और उपकार को नहीं भूले थे। ऐसे थे गाँधी जी के गुरु श्री गोपाल कृष्ण गोखले।

बचत करके काम चलाया

फ़र्माई के दिनों में गोखले को गुजारे के लिए बहुत कम पैसे मिलते थे। अकेले भाई ही उनकी सहायता करने वाले थे। एक दिन गोखले का धनी मित्र कहीं से नाटक के दो टिकट ले आया और उन्हें भी नाटक दिखाने ले गया। दूसरे दिन शाम को फिर आया तो उनसे उस टिकट के पैसे माँगने लगा। गोखले को अपने मित्र के स्वार्थपूर्ण व्यवहार पर बड़ा खेद हुआ, साथ ही आश्चर्य भी।

गोखले ने मित्र से तो कुछ भी न कहा। जितने पैसे उसने माँगे, उन्होंने चुपचाप निकालकर दे दिये। अब आखिर इस आकस्मिक व्यवय के लिये अपने अन्य आवश्यक खर्चों में कटौती करनी थी। संकोचवश भाई को पत्र लिखकर और पैसे न माँगा सके। अतः कितने ही दिनों तक गली में लगे नगरपालिका के लैम्प के प्रकार में अपनी फ़र्माई करनी पड़ी और इस प्रकार उन्होंने शाम को लैम्पस्टेन में जलने वाले तेल को बचत कर ली।

जिन्होंने भारतीय संस्कृति को नूतन गति दी

गुरु गोलवलकर

प्रस्तावित द्विराष्ट्र के सिद्धान्त के समय से ही विभाजन के पूर्व से ही पंजाब और बंगाल में हिन्दुओं पर अमानुषिक अत्याचार किये जाने लगे थे। १९४७ के मार्च महीने में तो स्थिति इतनी भीषण हो गयी थी कि केवल अमृतसर में ही लूटमार, आगजनी और हत्याओं के ९९४ मामले दर्ज कराये गये। करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट कर दी गयी और रावलपिण्डी, लाहौर, गुजरावाला आदि स्थानों पर हिन्दुओं के मौहल्ले जला दिये गये। ऐसे समय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखाओं के स्वयंसेवकों ने पीड़ित जनों की वयसम्भार सुरक्षा की। उन्हें सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने से लेकर अन्न-वस्त्र, दवाइयाँ आदि देने के लिए स्वयंसेवकों के जत्थे के जत्थे गये। आग बुझाने के लिए अग्निशामक दल बनाये गये और लोगों को आत्मरक्षा के लिए प्रशिक्षित किया गया।

१० अगस्त, १९४७ को विभाजन की जब विधिवत् घोषणा कर दी गयी। पाकिस्तान में हिन्दुओं पर किये जाने वाले नृशंस अत्याचारों ने और भी वीधत्स रूप धारण कर

४.४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

लिया। उस समय उपलब्ध सभी स्वयंसेवकों को अल्प संख्यकों की सुरक्षा के लिए इकट्ठा किया गया। कहना नहीं होगा कि ठन्यादग्रस्त साम्प्रदायिक तत्त्वों के हाथों कई स्वयंसेवक भी वीरगति को प्राप्त हुए।

उन्होंने दिनों कश्मीर का वातावरण भी बिगड़ा। पाकिस्तान का निर्माण होते ही कई कबामत्ली कश्मीर में घुस आये। रियासत में इतनी साक्षर्य नहीं थी कि वह कबालियों का सामना कर सके। ऐसे संभव में संघ के स्वयंसेवक आगे आये और उन्होंने पाकिस्तानी आक्रमणों का सामना किया। कश्मीर को सरकार से मदद माँगी और भारतीय सेना ने जम्मू-कश्मीर की सहायता का निश्चय किया। भारतीय सेना के विपक्ष जम्मू के बिस अह्मद पर उतरते थे वह हवाई अड्डा बहुत छोटा था और वहाँ विमान उतर नहीं सकते थे अतः संघ के पाँच सौ स्वयंसेवकों ने रात दिन एक कर बिना कुछ लिए केवल सात दिन में ही विमान अह्मद को विमान उतारने योग्य बना दिया। स्वयंसेवकों की इस सेवा सन को भारत सरकार के एजेण्ट जनरल कुँवर दिलीप सिंह ने मुठ-कण्ठ से सराहा।

कश्मीर को कबालियों के आक्रमण और पाकिस्तानी शिकंजे से मुक्त करने में सैकड़ों स्वयंसेवक शहीद हुए। इसके अतिरिक्त सन् १९४७ में भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्ताओं ने गुरुजी के निर्देश पर दिल्ली में भी सराहनीय सेवाएँ कीं। पूर्वी पंजाब का बँटकारा तो हो ही चुका था। लीगी तत्त्व इसके बाद दिल्ली में भी गड़बड़ी फैलाना चाहते थे और इसके लिए बदयन्त्रकारी योजनाएँ बनायीं पर संघ के स्वयंसेवकों ने उनका पर्दाफाश ही नहीं किया उन बदयन्त्रों को विफल करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कहा जाता है कि उस समय पाकिस्तान का इरादा दिल्ली के लाल किले पर हमला फहराने का था। यदि स्वयंसेवकों ने इस बदयन्त्र का भण्डाफोड़ न किया होता तो कहा नहीं जा सकता कि आज भारत की एक तस्वीर होती, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की ओर से यह सूचना सरदार पटेल को दी गयी थी और भारत सरकार समक्ष भी स्तर्क हो गयी।

३० जनवरी, १९४८ को दिल्ली के किरला भवन में सायंकाल प्रार्थना सभा के लिए जते समय गाँधीजी को किसी ने गोली मार दी। उस समय गुरुजी मद्रास में थे। तुरन्त वे वहाँ से नागपुर पहुँचे और देश भर में फैली राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखाओं को तेरह दिन तक बन्द रखकर शोक मनाने का आदेश दिया। महात्मा गाँधी को ब्रह्मावलि अर्पित करते हुए उन्होंने कहा वर्तमान काल के सर्वाधिक आदरणीय महान विभूति की ऐसी नृसंस हत्या असाधारण पाशविक घटना है। मुझे इससे असह्य दुःख हुआ है और यह बात तो और भी शर्मनाक है कि ऐसा कुकृत्य करने वाला व्यक्ति हमारा ही देश कथु है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का सिर इस स्थिति में शोकाकुल अवस्था में लज्जा से झुक जायेगा। हत्यारे ने राष्ट्र को

अप्य क्षति पहुँचायी है और उसे कड़े से कड़ा दण्ड दिया जाना चाहिए।

इस हत्या का सम्बन्ध संघ से जोड़ा गया और तरह तरह के भ्रामक समाचार फैलाये गये। गुरुजी ने देश भर की शाखाओं को ऐसी परिस्थिति में साँत रहने के लिए तार द्वारा संदेश भेजे। गुंजा तत्त्व इस हत्या का सम्बन्ध संघ से जोड़कर स्वयंसेवकों पर अत्याचार करने लगे। गुरुजी स्वयंसेवकों की साँति तथा धैर्यपूर्वक यह सब सहन करने के लिए कहते रहे।

लेकिन देशभक्त और राष्ट्रवादी हत्थों को विस्मय तो उस समय हुआ जब एक दिन रात को बारह बजे गुरुजी के नाम पर कार्रण्ट जारोकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उस समय कुछेक स्वयंसेवक ही उनके साथ थे। जिससे गुरुजी ने कहा-बबड़ाने की कोई बात नहीं है। कुछ दिनों में ही संदेह का वह पटल गलत जायेगा और हम लोग निष्कलंक बाहर आवेंगे। जब तक हम पर अनेकों अत्याचार होंगे पर इमें उन्हें धैर्य और साँति के साथ सहना है। इमें पूरे संयम से रहना है और तभी हम स्वयंसेवक की कसौटी पर खरे उतरेंगे।

गुरुजी को महात्मा गाँधी की हत्या के एक अभियुक्त के रूप में कारागार में डाल दिया। जिस दिन उन्हें गिरफ्तार किया गया, उसके दूसरे दिन ही संघ को अवैध घोषित कर दिया गया। इसका कारण यह बताया गया था कि संघ हिंसा में विश्वास रखने वाली एक फासिस्ट संस्था है और उसको हिंसा वृत्ति के शिकार अनेकों व्यक्ति हुए हैं। संघ की इसी वृत्ति के कारण देश से महात्मा गाँधी के नेतृत्व का स्वयं उठ गया है।

इस घोषणा के बाद भी गुरुजी ने कानून और सरकार में आस्था व्यक्त करते हुए जेल से ही एक व्यक्तव्य दिया, जिसका सारांश इस प्रकार है—“सरकार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को अवैध घोषित कर इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। अतः प्रतिबन्ध हटाये जाने तक मैं संघ को विसर्जित करता हूँ। लेकिन सरकार ने संघ पर जो आरोप लगाये हैं, उन्हें मैं अस्वीकार करता हूँ।”

गुरुजी को यह बखूब सर्वप्रथम एक पाकिस्तानी अखबार ने छापा था। कुछ दिनों बाद सरकार ने गुरुजी पर लगाया गया यह अभियोग वापस ले लिया, जिसमें उन्हें गाँधीजी की हत्या के बदयन्त्र में भागीदार माना था और उन्हें नागपुर जेल में नजरबन्द कर दिया था। जेल में गुरुजी और सरदार पटेल तथा पं० नेहरू के बीच पत्र-व्यवहार चल्य। गुरुजी की ओर से लिखे गये पत्रों में संघ पर लगाये गये प्रतिबन्ध का अनौचित्य सिद्ध किया गया था। लेकिन इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। वस्तुतः पं० नेहरू तथा सरदार पटेल चाहते थे कि संघ का काँग्रेस में विलय हो जाये। इस आशय के पत्र पटेल ने लिखे भी थे। पर गुरुजी का कहना था कि संघ किसी राजनैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए काम नहीं कर रहा है, उसका उद्देश्य तो भारतीय जनता में राष्ट्रीयता की भावनाओं का विकास

करना और उन्हें सुदृढ़ बनाना है। परन्तु बात इस प्रकार बनती न देख गुरुजी ने लिखा—संघ पर लगाये गये आरोप झूठे हैं यह सिद्ध हो चुका है या तो उन्हें वापस लेकर संघ पर से प्रतिबन्ध हटाया जाना चाहिए अथवा उन आरोपों को न्यायालय में सिद्ध करना चाहिए। सरकार इस प्रस्ताव को भी टाल गयी। वार्तालाप और विचार विनिमय को सभी पहल विफल हुई और गुरुजी को एक बार पुनः 'बंगाल प्रिजनर्स ऐक्ट' के अनुसार चणपुर जेल में कैद कर दिया गया।

अब गुरुजी ने राष्ट्रव्यापी आन्दोलन की योजना बनायी और सत्याग्रह का आह्वान हुआ। इस आह्वान को सुनकर शहरों और गाँवों के स्वयंसेवक अपना घर परिवार तथा निजी कार्य-धन्धा छोड़कर, पढ़ाई-लिखाई त्याग कर सत्याग्रह आरम्भ होने की तिथि की घोषणा का इन्तजार करने लगे। जब तिथि की घोषणा हुई तो हजारों स्वयं-सेवक अपने ही देश में सत्याग्रह के समारोह में कूद पड़े। बताया जाता है कि उस समय कोई अस्ती हजार स्वयंसेवक गिरफ्तार हुए। उन्हें कड़के की सड़ी में नदियों में फेंका गया और तरह-तरह की यातनाएँ दी गयीं। कई सत्याग्रहियों ने इसका विरोध करने के लिए भूख हड़ताल की।

आम जनता ने भी संघ पर लगा प्रतिबन्ध हटाने के पक्ष में आन्दोलन किया और कई कारों में बड़े-बड़े जुलूस निकाले। लेकिन यह सब इतने शान्त, अनुशासन और व्यवस्थित ढंग से होता था कि संघ की विचारधारा से मतभेद रखने वाले प्रख्यात सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण ने भी कहा—“राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अनुशासन-प्रियता, चारित्र्य-दृढ़ता और प्रिय अक्षयुष ही प्रशंसनीय है। संघ ने समाज के लिए पर्याप्त ठोस काम किया है। इसीलिए वह अभी तक टिका हुआ है। कानून से हम उसे बन्द नहीं कर सकेंगे।”

कॉंग्रेस के ही एक वयोवृद्ध नेता डॉक्टर भगवानदास ने संघ पर लगी पाबन्दी को हटाने की माँग की थी और यही नहीं इसके लिए उन्होंने एक पत्र छपवा कर बाँटा भी था।

प्रख्यात नेताओं की राय, जनता की माँग और सत्याग्रह के परिणामस्वरूप संघ और सरकार के बीच समझौते के प्रयत्न होने लगे। इन प्रयत्नों के अरम्भ होते ही संघ की ओर से आन्दोलन स्थगित करने की घोषणा कर दी गयी। कई नेताओं की मध्यस्थता और सम्बन्धी समझौता वार्ताओं के परिणामस्वरूप ११ जुलाई, १९४९ को संघ पर लगाया प्रतिबन्ध हटा दिया गया। अगले दिन गुरुजी बैतूल जेल से रिहा हुए। पत्रकारों ने उनसे सरकार के पिछले रवैये के बारे में जानना चाहा तो उन्होंने कहा कि मेरा विश्वास सही निकला, जिस सत्ता ने प्रतिबन्ध लगाया था उसी ने उसे वापस भी ले लिया है और इसके आगे अठारह मास तक भोगी जेल यातनाओं के सम्बन्ध में बिना कोई कटुता व्यक्त किये बोले—“संघबन्दी के इस

मामले को अब वहीं समाप्त कर दीजिए। दौत यदि जीभ को काट ले या टाँग टाँग से लड़ पड़े तो हम न दौत को तोड़ देते हैं और न टाँगों को काट डालते हैं। जिन्होंने हम पर अन्याय किया है। वे अपने ही लोहे हैं और एक घर में रहने वाले सदस्यों में क्या कभी मन भुटाव नहीं होता।”

कितना उदास था उनका दृष्टिकोण और कितनी उच्च थी उनकी धारणाएँ। अठारह महीने की जेल यात्रा के बाद जब वे नागपुर स्टेशन पर उतरे तो तीस हजार लोगों ने उनका स्वागत किया और भी कई अन्य स्थानों पर उनका अभिन्दन हुआ। सरदार पटेल ने उन्हें अपनी शुभ कामनाएँ भेजते हुए लिखा—“संघ से प्रतिबन्ध हटा लेने पर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई है, इसका अनुमान वे ही लोग लगा सकते हैं जो उस समय घेरे पास थे। मैं अपनी शुभ-कामनाएँ भेजता हूँ।”

इन्हीं दिनों गुरुजी का दिल्ली आना हुआ। पं० नेहरू गुरुजी की उस प्रतिक्रिया से बड़े प्रभावित हुए थे। जो उन्होंने जेल से छूटने के बाद पत्रकारों के पूछने पर व्यक्त की थी। उनकी दृष्टि में गुरुजी का स्थान काफी ऊँचा हो गया था। अतः वे गुरुजी से दो बार मिले और इन दोनों मुलाकातों में गुरुजी तथा पं० नेहरू ने देश की समस्याओं पर विचार-विमर्श किया तथा एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझा।

अँग्रेजों के राज्य में गायेँ कटती थीं—यह तो इतना आपत्तिजनक नहीं था क्योंकि उन्हें हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं से लेना-देना ही क्या? परन्तु ~~भारत में भी चलते रहे—यह अनुचित ही कहा जाना चाहिए। इस विषय को ओर सर्वप्रथम ध्यान आकर्षित किया। गुरुजी ने और अन्य हिन्दू नेताओं ने मिलकर सरकार से निवेदन किया तो उत्तर मिला कि भारत सरकार धर्म निरपेक्ष है और वह इस विषय में कुछ नहीं कर सकती।~~

भित्त आन्दोलन का निश्चय करना पड़ा। प्रस्तुतः गुरुजी के मुख से धर्मप्रण हिन्दू जनता की वाणी इन शब्दों में मुखर हुई थी—“गो वंश की रक्षा न केवल आर्थिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है वरन् यह हमारे देश की सांस्कृतिक धाती और राष्ट्रीय एकता का भी प्रतीक है। सरकार तक इस आवाज को पहुँचाने के लिए हस्ताक्षर आन्दोलन चलाने का निर्णय किया गया। यह कदम गोपाट्टमी से उठाया गया। लगभग एक माह के भीतर करोड़ों लोगों के हस्ताक्षर एकत्र किये गये। इसके लिए जनमत जगाने हेतु स्थान-स्थान पर प्रदर्शन किये गये, जुलूस निकाले और गाँव-गाँव संदेश भेजे गये। इस अभियान का व्यापक प्रभाव हुआ और विरोध भी कम नहीं हुआ।

देशभर के विभिन्न क्षेत्रों से एकत्र किये गये हस्ताक्षर जब राष्ट्रपतिजी को दिये गये तो उन्होंने सरकार को सहानुभूतिपूर्ण स्वैक-अपनाने की सलाह देने का आश्वासन दिया। कुछ प्रान्तों में तो गो हत्या बन्द हो गयी। अतः गोवध नन्दी आन्दोलन को स्थगित नहीं किया गया।

४.६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

१९५४ में प्रयाग के कुम्भ मेले में भी पं० नेहरू को लाखों व्यक्तियों के हस्ताक्षरों से युक्त यह मॉन पत्र दिया गया कि लोकतान्त्रिक पद्धति से हम यह यौग करते हैं कि संसद में प्रस्तुत गोहत्या बन्दी विधेयक का आप समर्थन करें। गोवध की अनुमति देने वाला व्यक्ति हमारा प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

देश पर संकट के समय

१९६२ में चीन ने भारत पर अकस्मात हमला किया। इससे पूर्व भारत और चीन के सम्बन्ध बड़े मैत्रीपूर्ण थे। हिन्दी चीनी भाई-भाई का नारा लोगों की जवान पर था। चीन की ओर से यह आरंभ हो नहीं की जा सकती थी और भारत भी युद्ध के लिए तैयार नहीं था। फिर भी भारत के बीर सैनिकों ने सीमा पर योर्बा सम्हाला, लेकिन ऐसे समय में आन्तरिक मोर्चों पर भी तो खतरा रहता है। उससे निवृत्ति के लिए क्या-क्या किया जाये?

ऐसे विषम और अप्रत्याशित संकट के समय गुरुजी ने संघ के स्वयंसेवकों को तैयार किया। भारत सरकार को पूर्ण सहयोग देने की घोषणा की। स्वयंसेवकों ने जिस तत्परता, अनुशासन और निष्ठा के साथ द्वितीय रक्षा पंक्ति का काम किया उससे पं० नेहरू भी बड़े इम्प्रेस्ड हुए और यही कारण था कि २६ जनवरी, १९६२ को दिल्ली संघ शाखा के पक्ष संचालन में भ्रम सेने के लिए निर्मजित किया। इसके लिए काँग्रेसी नेताओं ने पं० नेहरू की कड़ी आलोचना की तो नेहरू जी ने आलोचकों को उत्तर देते हुए कहा-“आप लोग संघ से मतभेद रख सकते हैं परन्तु संघ की, संघ के स्वयंसेवक की राष्ट्रभक्ति पर संदेह नहीं कर सकते।” यह उत्तर सुनकर आलोचक चुप रह गये।

इस युद्ध के तीन वर्ष बाद सितम्बर १९६५ में पाकिस्तान ने भारत पर हमला किया। उस समय भारत के प्रधानमंत्री थे श्री लालबहादुर शास्त्री जो किसी भी राष्ट्रीय समस्या पर सभी मतभेद रखने वालों से भेदभाव भुलाकर उनकी राय खानने के बाद निर्णय लेने वाले नेता थे। शास्त्री जी ने ऐसी परिस्थिति में सभी राष्ट्रवादी नेताओं को आमंत्रित किया। इनमें गुरु गोलवलकर भी थे। गुरुजी को देखकर वहाँ उपस्थित कतिपय कम्युनिस्ट नेता इष्ट से दिखाई देने लगे परन्तु शास्त्री जी के यह कहने पर कि संघ की राष्ट्र भक्ति असंदिग्ध है-उन्हें चुप रह जाना पड़ा।

सब लोग अपना मत व्यक्त कर चुके तो गुरुजी ने अपना निश्चयात्मक मत व्यक्त करते हुए कहा-विभाजन के समय जब देश को विषम परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा था तब संघ ने देश की रक्षा के लिए जितना सम्भव हो सका प्रयत्न किया। उसी निष्ठा से सन् १९६२ में भी संघ ने राष्ट्र देवता के मन्दिर में अपना आराधना दीप जलाया। अब पुनः देश पर संकट के बादल छाये हैं तो तनु का प्रतिकार करने के लिए हम प्राणपण से तैयार हैं। जिस मोर्चे पर खड़ा होने के लिए कोई तैयार न हो उस स्थान पर मैं और मेरे स्वयंसेवक खड़े होंगे। मीटिंग में उपस्थित सभी नेतागण गुरुजी के इस संकल्प को सुनकर स्तब्ध रह

गये और सचमुच में ही संघ ने इस संकल्प को साकार कर दिखाया। स्मरणीय है पूरे युद्धकाल में दिल्ली के आवागमन संचालन की व्यवस्था राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सेवकों ने ही सम्हाली थी।

इसके बाद दिसम्बर, १९७१ में जब पाकिस्तान ने पुनः भारत पर हमला किया और बंगला देश के लिए प्रधान-मंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने जो कदम उठाये, उस अभियान का स्वागत गुरुजी ने किया। इस युद्ध में भी गुरुजी ने संघ के स्वयंसेवकों को जनता के सहयोग और सरकार की सहायता के लिए प्रोत्साहित किया।

महाप्रयाण

अनवरत श्वास और अहर्निश प्रवास से गुरुजी का शरीर अब बच चलता था। इन्हीं दिनों उन्हें कैंसर जैसे महारोग ने आ घेरा। टाटा मेमोरियल अस्पताल में सफल ऑपरेशन से वे स्वस्थ हुये किन्तु १९७२ में पुनः कैंसर की गाँठ निकल आयी, चिकित्सा की नवी और डॉक्टरों ने उन्हें पूर्ण विश्राम की सलाह दी पर उनकी कामना थी बिस्तर पर लैटे-लैटे मरने से तो बेहतर है काम करते हुये मरा जाय। ५ जून, १९७३ को राष्ट्र की सेवा करते हुये राष्ट्र मन्दिर के इस पुजारी ने महाप्रयाण किया।

छोटी-छोटी बातों से महात्मा बने-

गाँधीजी

महापुरुषों के चरित्र की एक विशेषता होती है कि उनकी महानता छोटे कामों और छोटी-छोटी बातों में भी व्यक्त होती है। सतर्कता और निष्ठा उनके छोटे-छोटे कार्यों में भी व्यक्त होती है साथ ही साधारण कार्यों में भी वे अपने आदर्शों को समन्वित कर लेते हैं। महात्मा गाँधी के जीवन चरित्र का यदि हम अध्ययन करें तो विदित होगा कि उन्होंने अपने जीवन में जितनी बड़ी उपलब्धियाँ अर्जित कीं और उन उपलब्धियों को अर्जित करने में जिस अद्वर्त-निष्ठा का वे परिचय देते रहे, उतनी ही आदर्श निष्ठा उन्होंने साधारण कार्यों में भी समाविष्ट की।

जब धावनसर्जों का आदर करना उनका एक विशिष्ट गुण था। न केवल आदर करना बल्कि छोटे से छोटे बच्चे की भजना को भी हमेशा महत्व देते रहते थे। सन् १९१५ की बात है-बम्बई में काँग्रेस अधिवेशन चल रहा था। गाँधीजी अपने स्वयंसेवकों सहित, मारवाड़ी विद्यालय में ठहरे हुए थे। एक दिन उन्हें कहीं जाना था। डेस्क पर रखी सभी चीजें उन्होंने सम्हालकर रख दीं। इसी बीच काका कालेलकर ने देखा कि वे कोई चीज हँड रहे हैं और उसके न मिलने से बड़े परेशान से दिखाई दे रहे हैं। काका कालेलकर वहीं मौजूद थे उन्होंने पूछा कि क्या गुम गया है तो गाँधीजी ने बताया-“एक छोटी सी पेन्सिल है जो मिल नहीं रही है।”

काका कालेलकर अपनी चेब से एक पेन्सिल निकाली और गाँधी जी को देते हुए कहा कि-“उसे जाने दीजिये। आप इससे अपना काम चला लेंगे।”

गांधीजी ने काका साहब की पेन्सिल लेने से मना करते हुए बोले "नहीं-नहीं। मुझे वह छोटी सी पेन्सिल ही चाहिए, उसे मैं खो नहीं सकता। वह पेन्सिल मुझे मद्रास स्टेशन पर एक लड़के ने दी थी। कितने प्यार से लाया था वह? उसे मैं कैसे खो सकता हूँ।" और थोड़ी देर बाद जब वह दो इंच से भी छोटी पेन्सिल मिल गयी तब कहीं बापू को चैन मिला।

वे स्वयं सादगी से रहते थे, इसलिए नहीं कि उनके पास पैसों का अभाव था बल्कि इसलिए कि वे समाज के सामने समाजसेवी को कैसा होना चाहिए इसकी एक मिसाल पैदा करना चाहते थे। रचनात्मक कार्यक्रमों के लिए लोग इच्छा खोलकर उन्हें अनुदान देते थे और उसकी पाई-पाई को वे बड़े जनपूर्वक सम्हाल कर रखते थे। इसी तरह की एक घटना है। तब गांधीजी हरिजन फण्ड के लिए चन्दा इकट्ठा कर रहे थे। इसके लिए वे जहाँ-कहाँ भी जाते अपने साथ एक पेटी लेकर जाते और जनसभाओं में भाषण समाप्त हो जाने के बाद लोगों से हरिजन फण्ड के लिए चन्दा माँगते।

एक गाँव में गांधीजी गये। वहाँ सभी से धाबण देने के बाद उन्होंने इसी प्रकार चन्दा माँगा। लोग आते और उनके हाथ में पैसे रखकर अपने स्थान पर जा बैठते। गांधीजी का हाथ जब पैसों से भर जाता तो वे उन पैसों को अपनी पेटी में डाल लेते। एक बार पेटी में पैसे डालते समय एक पैसा हाथ से गिर गया। लोगों की बड़ी भीड़ थी। पर वे पैसे लेना रोककर वह गिरा हुआ पैसा खोजने लगे। लोगों ने कहा-"आप उस पैसे को रहने दीजिए, हम उस पैसे के बदले में कपड़ा देते हैं।" और कई लोगों ने अपना हाथ आगे बढ़ाया। पर गांधीजी ने कहा-वह पैसा राष्ट्र का धन है। अगर मैं इसको मैंबात हूँ तो राष्ट्र के प्रति गद्दार होता हूँ। वह पैसा हरिजनों का धन है, मेरा नहीं इसलिए जब तक पैसा नहीं मिलेगा तब तक मैं यहाँ से हटूँगा नहीं। अगर आपको रुपया देना है तो वह पैसा मिल जाने के बाद दीजिये और गांधीजी ने वह पैसा मिल जाने के बाद ही लोगों से चन्दा लिया।

लोगों को प्रेम और आत्मीयता से सही रास्ते पर किस प्रकार लाया जा सकता है-यह कोई गांधीजी से सीखे? उन्होंने अपने आश्रमवासी शिष्यों को कड़े अनुशासन में रखने की शिक्षा दी थी और कभी कोई गलती भी कर जाता तो वे गलती करने वाले को कुछ कहने की अपेक्षा अपनी उस गलती और कमजोरी को भानते थे। एक बार की बात है बापू ने आश्रमवासियों को किसी काम के लिए मना कर दिया। आश्रम के कुछ विद्यार्थियों ने फिर भी वह काम चुपके से कर लिया लेकिन बात अधिक देर तक छुपी न रही। उन्होंने सब विद्यार्थियों को इकट्ठा किया और पूछा कि प्रतिबन्धित कार्य किन-किन छात्रों ने किया है? कोई नहीं बोला। डर के भरे सब चुप रहे। इस पर बापू को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कहा "अवश्य ही मुझमें कोई दोष होगा जिससे तुम लोग सब कहने में डरते

हो।" और यह कहकर उन्होंने तड़तड़ अपने ही गाल पर तीन तमाचे मार लिये। आश्रम के विद्यार्थियों पर इसका यह प्रभाव हुआ कि जिन्होंने गलती की थी उन्होंने अपनी गलती स्वीकार कर ली?

स्वतंत्रता आन्दोलन में प्रवेश करने के कई वर्षों बाद तक गांधीजी अपनी परम्परागत पोशाक पहना करते थे। लोग कहते हैं कि उन्होंने केवल एक धोती इसलिए पहनना आरम्भ किया कि वे लोगों पर अपनी सादगी का प्रभाव छोड़ सकें। पर वास्तुस्थिति कुछ और ही थी। उन्होंने अपना बेश एक मात्र-अनुभव से प्रेरित होकर कम किया। उस समय गांधीजी बड़ीस की यात्रा कर रहे थे। यात्रा में उन्होंने एक ऐसे गरीब स्त्री को देखा जो फटा हुआ मैत्र कपड़ा पहने थी। कपड़ा भी बहुत छोटा था-इतना छोटा कि उससे केवल आधा शरीर ही ढका जा सके। गांधीजी ने उस स्त्री से कहा-बहिन तुम अपने कपड़े धोती क्यों नहीं। इतना आलस्य क्यों करती हो कि कपड़े मैले हो जायें।"

उस स्त्री ने सलज्ज दृष्टि से बापू की ओर देखा और कहा-"इसमें आलस्य की बात नहीं है श्रीमान। मेरे पास इसके अलावा कोई दूसरा कपड़ा नहीं है जिसे पहनकर मैं इसे धो सकूँ।" उस स्त्री का यह कथन सुनकर गांधीजी की आत्मा द्रवित हो उठी और वे मन ही मन कह उठे-"हाय! आज मेरी भारत माता के पास पहनने को बिचड़े तक नहीं हैं।" उसी समय गांधीजी ने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक देश स्वतन्त्र नहीं हो जाता और गरीब से गरीब आदमी को भी देश ढकने के लिए चर्यात कपड़ा नहीं मिलता तब तक मैं कपड़े नहीं पहनूँगा। लाज ढकने के लिए मेरे पास एक लंगोटी रहना ही काफी होगा।" और गांधीजी ने उसी समय अपनी परम्परागत पोशाक का परित्याग कर दिया।

राष्ट्रपिता हो जाने के बाद भी वे अपना प्रत्येक कार्य स्वयं के ही हाथों से करते थे। काम को ही पूजा समझने वाले बापू के लिए टट्टी साफ करने और वर्तन माँजने सरीखे कार्यों में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था। यह गुण उन्होंने प्रारम्भ से ही भलीभाँति विकसित कर लिया था। सन् १९०९ की बात है। अफ्रीका में सत्याग्रह आन्दोलन सफलतापूर्वक चलाकर वे किसी कार्य से लन्दन गये थे। लन्दन में कई भारतीय नवयुवक पढ़ते थे। उनके प्रवास के समय भारतीय छात्रों ने एक सम्मेलन का आयोजन किया। उस सम्मेलन में पहले भोजन और फिर आषण का कार्यक्रम रखा गया। इसके अध्यक्ष बनाये गये गांधीजी ने भोजन में भी शामिल होना स्वीकार कर लिया पर तब यह रखी कि भोजन में माँस नहीं रखा जायगा। युवकों ने तब मान ली और एक हॉल किराये पर लेकर भोजन का प्रबन्ध करने लगे।

छात्रों ने सारा काम अपने ही हाथों से किया। इसी बीच गांधीजी भी वहाँ पहुँच गये और चुपचाप वर्तन माँजने लगे। वहाँ उपस्थित विद्यार्थियों में से उन्हें कोई भी

४.६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

नहीं पहचानता था। गाँधीजी बिना अपना परिचय दिये आरम्भ से आखिर तक वर्तन मौजने में लगे रहे। जब सारी तैयारियाँ हो गयीं तो सभा के उपप्रधान यहाँ आये, वे गाँधीजी को पहचानते थे। पहचान कर उन्होंने जैसे ही विद्यार्थियों को उनका परिचय दिया विद्यार्थी दंग रह गये। छात्रों ने गाँधीजी को लाख वह काम करने से रोका पर उन्होंने काम नहीं ही छोड़ा। इसी प्रकार से आश्रम में भी बापू ने स्वयं के आचरण द्वारा यहाँ के कार्यकर्ताओं को दैनिक जीवनचर्या में स्वावलम्बी बनाना सिखाया था। मौखिक रूप से उन्होंने किसी से नहीं कहा कि अपना काम अपने हाथ से करें बल्कि जिस तरह की रीति-नीति उन्होंने अपनायी उससे स्वभावतः ही सब लोग वह नियम अपनाने के लिए बाध्य हो गए।

गाँधीजी स्वयं प्रत्येक कार्य अपने हाथों से करते थे। और किसी भी दशा में वे इस नियम में व्यतिरिक्त नहीं आने देते थे। एक बार उन्होंने रात को देर तक काम किया और सुबह आटा पीसते रहे। चकान और पीट में हुई कमी के कारण उनके सिर में दर्द होने लगा। इसके बाद पानी भरना था। आश्रमवासियों ने कहा—आप आराम करें। पानी हम भर देंगे। पर बापू नहीं माने और कुँए की जागत पर जाकर खड़े हो गये। आश्रमवासियों ने पहले ही सब वर्तन हथिया लिये थे तो गाँधीजी दौड़े गये और आश्रम को दौड़ मारा। जब कुछ नहीं मिला तो एक कोने में पड़ा हुआ बच्चों के नहाने का टब ही उठा लाये और उसी में पानी भरने लगे।

अपनी निन्दा का अत्यन्त सहज भाव से सुनने या उसकी ओर कोई ध्यान देकर निन्दक को अपना बन्ध लेने की कला में भी बापू ने बड़ी महारत प्राप्त की थी। एक बार की घटना है। गाँधीजी लन्दन जा रहे थे। रास्ते में उनका परिचय एक अंग्रेज से हो गया वह अंग्रेज गाँधीजी का कट्टर विरोधी था। बात-बात में वह उन्हें खरी-खोटी सुनाया करता था। एक दिन उसने गाँधीजी पर कुछ व्यंग्य पूर्ण कविताएँ लिखीं और गाँधीजी के पास ले गया। गाँधीजी ने उन कविताओं को सरसरी निगाह से देखा और देखकर रही को टोकरी में फेंक दिया। इससे पूर्व उन्होंने वह पिन निकाल ली जो उन कविताओं को चिपका करने के लिए लगायी गयी थी। उक्त अंग्रेज ने गाँधीजी को ऐसा करते देखकर कहा—‘इसमें कुछ सार भी है। पढ़कर तो जरा देख लीजिए।’

‘हाँ’—गाँधीजी ने कहा—‘सारा या वह तो मैंने पहले ही निकाल कर रख लिया है। कहते समय उनके चेहरे पर कोई भी विकार नहीं था। उक्त अंग्रेज ने भी स्वीकार किया कि इन कविताओं को पढ़कर गाँधीजी नाराज हो उठेंगे तथा उसे बुरा-पला कहेंगे और मुझे गाँधीजी की आलोचना करने के लिए एक और नया विषय मिल जायगा। पर गाँधीजी के निर्द्वन्द्व भाव ने उस पर कुछ और ही प्रभाव डाला।

इसी तरह का एक संस्मरण काका सहज कालेलकर ने भी लिखा है—‘अजमेर के एक आर्यसम्प्रदायी मित्र बापू के

बड़े आलोचक थे। वे उनके विचारों की प्रायः निन्दा किया करते थे और कहा करते थे कि मैं उनकी भेंट गाँधीजी से करा दूँ तबकि वे बापू को खरी खरी सुना सकें। मैं उन्हें ही तो कर देता था पर मन में डरता भी था। संयोग से एक दिन गाँधीजी अजमेर से गुजरे और हम लोग उनका दर्शन करने के लिए अजमेर स्टेशन पर गये। वे मित्र भी यहाँ पहुँचे और बापू के सामने ही परिचय के लिए कहने लगे तो मैंने डरते डरते गाँधीजी से उनका परिचय करा दिया। मित्र हिन्ने के अन्दर पहुँचे और खड़े-खड़े अपनी चौंकार शुरू की। बापू सुनते रहे। उन्हें कुछ कहने का अवसर ही न मिला। गाँधी ने सीटी दी। मित्र की बात अधूरी रह गयी और वे स्टेशन पर उतर गये। मैं बापू के साथ ट्रेन में आगे तक गया। अपने मित्र के अवस्थाद्वय पर मैं मन ही मन हँस रहा था। बापू से श्मत् माँगते हुए मैं बोला—‘बापू मैं जानता था कि यह आपको खरी-खोटी सुनाकर दुःखी करेगा मगर’ मैं अपनी बात पूरी करके इससे पहले ही गाँधीजी ने कहा—‘लेकिन मुझे तो दुःख इस बात का है कि अधिक समय नहीं मिल पाया। नहीं तो मैं उनकी बातें और भी सुनता। उन्हें पूरा समय देता।’

गाँधीजी से सम्बन्धित ऐसी अनेकों घटनाएँ प्रसिद्ध हैं जिन्हें जानकर लगता है कि महानता अर्जित करना आसान नहीं है तो कठिन भी नहीं है। जो लोग छोटी-छोटी बातों को भी सजगता से और कार्यों को पूरे कीर्णाल से करने का अभ्यास डाल लें, वे न केवल प्रशंसनीय स्वयं अर्जित कर लेते हैं वरन् लोकजडा भी प्राप्त करते हैं। गाँधीजी ने अपने लिए छोटी-छोटी कई मर्यादाएँ और कई नियम बना रखे थे। उन मर्यादाओं और नियमों के अन्तर्गत रहते हुए ही वे अपना जीवन व्यतीत करते थे तथा किसी भी कारण से उन नियमों का दूटन सहन नहीं करते थे। उनके जीवन से सम्बन्धित वह घटना तो प्रसिद्ध ही है जब वे एक दिन स्नान की प्रार्थना भूल गये थे और थक जाने के कारण सो गये थे। जगने पर जब उन्हें अपनी भूल अत हुई तो उन्हें बड़ा पछतावा हुआ और इसके लिए अपने आपको दण्डित किया।

आदर्श सिद्धान्तयादिता

गाँधीजी उन दिनों ठराबन में थे। सत्याग्रह चल रहा था। कस्तूरबा को बार-बार रक्तस्राव हो रहा था। ऐसी स्थिति में गाँधीजी पूर्ण मनोयोग से राष्ट्र को अपनी सेवाएँ नहीं दे पा रहे थे। एक चिकित्सक ने भरतर लगवाने का परामर्श दिया। बिना बेहोश किये ही भरतर लगवा गया। पौढ़ा तो बहुत हुई पर ‘बा’ ने उसे सहन किया।

देख-रेख के लिये ‘बा’ को उसी चिकित्सक के घर पर रखा गया। कुछ स्थिति सुधरने पर चिकित्सक ने बापू को जाने की आज्ञा दे दी और एक अपनी पत्नी को वहीं छोड़कर जोहानसवरन चले आने। बाद में बापू को पता चला कि ‘बा’ को इतनी क-तीरी है कि वह उठ बैठ

नहीं पाती । कभी कभी कंधजोरी के कारण बेहोशी भी आ जाती है । चिकित्सक ने बापू से टेलीफोन पर बात करते हुये कहा—“आपकी पत्नी का स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन गिरता जा रहा है अतः मैं उन्हें मौस का शोरबा तथा ‘बीफ टी’ देना चाहता हूँ आप आज्ञा दीजिए ।

बापू का उत्तर था “इस सम्बन्ध में मैं आज्ञा नहीं दे सकता । ‘बा’ स्वतन्त्र हैं यदि उसकी इच्छा हो तो आप शौक से दे सकते हैं ।”

डॉक्टर बार-बार मौसाहार पर जा रहे थे । पर बापू इसके लिये किसी भी शर्त पर तैयार नहीं हुए । बापू ने चिकित्सक से कहा “यदि मेरी पत्नी मौस के शोरबे के बिना मर भी जाये तो मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं है । मैं तो यह आवश्यक समझता हूँ कि पहले उसकी सब सेने चाहिए ।”

चिकित्सक ने कहा “आप तो बड़े निष्ठुर प्रति प्रतीत होते हैं । आपकी पत्नी जब तक मेरी देख-रेख में है तब तक आपकी नहीं मेरी ज़िम्मेदारी है । मौस ही नहीं उसकी जीवन रक्षा के लिये मुझे जो उचित होगा दूँगा । आप की यह सिद्धान्तवादिता मेरी समझ में नहीं आई । यदि आप ऐसा नहीं चाहते तो अपनी पत्नी को अन्वय ले जा सकते हैं । मेरे ही घर में उनकी जीवन लोला समाप्त हो गई मैं नहीं चाहता ।”

बापू अपनी पत्नी के पास गये उनकी स्थिति बड़ी खराब थी । ऐसे में कुछ बात करना भी कठिन था फिर भी हिम्मत करके उन्होंने अपना उद्देश्य उनके सम्मुख रख ही दिया । ‘बा’ ने कहा “मैं मौस का शोरबा किसी भी स्थिति में लेने को तैयार नहीं हूँ । यह मनुष्य शरीर बार-बार तो मिलाता नहीं । मेरे लिए किसी जीवधारी की हिंसा की जाये यह मुझे सहन नहीं । आपकी गोद में ही मेरी जीवनलोला समाप्त हो जाये इस यही इच्छा है ।”

बापू ‘बा’ के दृढ़ विचारों की सुनकर बहुत प्रसन्न हुये । यद्यपि उस समय ‘क’ की स्थिति ऐसी नहीं थी कि उन्हें कहीं ले जाया जाये । उनका दुर्बल शरीर हलका-सा धक्का भी सहन करने को तैयार न था ।

पानी बरस रहा था । स्टेशन पास ही था । डरबन से फिनिक्स तक रेलगाड़ी से जाना था और फिनिक्स से कई मील पैदल का रास्ता था । खतरा उस पैदल रास्ते में ही था । उन्होंने वेस्ट को संदेश भेजकर स्टेशन पर एक जोतल गरम दूध, एक जोतल गरम पानी और ६ मनदूरों की व्यवस्था करने के लिए कहा ।

निश्चित समय पर मनदूर पहुँच गये और डोली बनाकर स्टेशन से आश्रम तक ले गये । बापू को ईस्कर पर विश्वास था फिर भी चिंता की रेखायें उनके चेहरे पर देखी जा सकती थीं । ‘बा’ ने कहा—“आप मेरी ओर से निश्चिन्ता हो जाइये, मुझे मार्ग में कुछ भी होने वाला नहीं है ।”

बापू की प्राकृतिक चिकित्सा तथा ‘बा’ के परदेज के संयुक्त प्रयासों से उनका दुर्बल शरीर पुनः पनपने लगा ।

रक्त-स्राव भी बन्द हो गया और कुछ दिन में पूर्व की तरह उन्हें स्वास्थ्य लाभ मिला । ‘बा’ से बनमानस की जो सेवा करानी थी, उसके लिए उनका जीवन आवश्यक था किन्तु उसके लिए आदर्शों व सिद्धान्तों को त्यागना कदाचित् उचित न था । गाँधीजी व ‘बा’ की निष्ठा से उनकी रक्षा होकर रही ।

आदत को व्यवस्थित बनाये रखना

महत्त्वा गाँधी के जीवन से व्यक्तियों ने जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रेरणा ली है । महात्मा का जीवन एकांगी नहीं सर्वांगीय होना चाहिए । ब्रेष्ठ व्यक्तियों के जीवन की छोटी घटनायें भी जीवन के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती हैं । महात्मा गाँधी का जीवनक्रम भी कुछ ऐसा ही उत्पन्न था । प्रस्तुत छोटी-सी घटना भी इसी प्रकार अपने आप में महत्वपूर्ण शिक्षण लिये हुए है ।

गाँधीजी इलाहाबाद गये । वहाँ बड़ आनन्द भवन में मेहमान के रूप में ठहरे हुए थे । उनके कार्य निर्धारित समय पर हुआ करते थे । दैनिक कार्यों के बीच भी जहाँ सम्भव होता था वह बात-चीत, परामर्श आदि के द्वारा लोगों को साम्प्रदायिक किया करते थे । प्रातःकालीन दातीन, कुत्ता, भूँह धोने के समय भी ठीक क्रम चलाने की सुविधा रहती थी । अस्तु, पं० जवाहर लाल नेहरू बापू से चर्चा करने उस समय पहुँच गये । बापू हँसते बात करते हुए अपना कार्य भी करते जा रहे थे ।

अचानक बापू बोल पड़े—“अरे राम, राम ! भाई जवाहर ! तुमने बात-चीत में गड़बड़ करा दी ।” जवाहर लाल जी प्रश्न भरी दृष्टि से बापू की ओर देखने लगे । उन्हें कोई गड़बड़ी के चिह्न कहीं दिख नहीं रहे थे । बापू कहीं परिहास तो नहीं कर रहे हैं ? किन्तु बापू के चेहरे पर गम्भीरता आ गई थी । हाथ में खाली लोटा लिये उनकी ओर देखते हुए बोले—“तुम्हारी बात-चीत में मैं पानी का ध्यान भूल गया और मुँह पूरा धुलने के पूर्व सारा पानी समाप्त हो गया ।”

इतना सुनते ही जवाहर लाल जी खलकर हँस पड़े । बोले—“बापू आप भी कमाल करते हैं । आप गंगा-यमुना के तट पर बैठे हैं, कहीं रेगिस्तान में थोड़े ही हैं । वहाँ पानी की क्या कमी है जो आप एक थोड़ा पानी का सोच करते हैं ।” सम्पन्न दृष्टि से बात ठीक हो गई । घटना को देखते हुए इतनी लोटी बात को महत्व देना बचपना ही कहा जावेगा । किन्तु इस घटना को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि ब्रेष्ठ व्यक्तियों का दृष्टिकोण घटनाओं को देखने का और ही होता है । जिसे समझकर अपने को समझदार समझने वालों को अपनी विचारहीनता का पता लग जाता है ।

बापू नेहरू जी की बात सुनकर और गम्भीर हो गये । बोले “अन्य कोई न समझे किन्तु तुम में तो मेरे

दृष्टिकोण को समझने की क्षमता होनी चाहिए।" नेहरू जी का हास्य रुक गया। वह जिज्ञासु की तरह सुनने को तत्पर हो गये। बापू बोले-"मूल्य एक स्रोत पानी का भले न हो, सन्तुलित स्वभाव का तो है। मैं एक स्रोत पानी से रोज मुँह धो लेता हूँ, आज अधिक लेना पड़ा तो कुछ बड़ी बात नहीं। किन्तु यदि इस वृत्ति की उपेक्षा की, अपनी असावधानी की आदत को बढ़ने दिया तो जीवन में वह सभी स्थानों पर हस्तक्षेप करेगी। निर्धारित मात्रा में पानी से मुँह न धो सकना बढ़ती हुई असावधानी का प्रतीक है। इसी बातें वह चिन्तनीय है। अपने अंदर के 'दुर्गुणों' पर कड़ी निगाह रखना विकास के लिए आवश्यक है।"

बात नेहरू जी की समझ में आई। किन्तु बापू की बात अभी पूरी नहीं हुई थी। बोले-"जवाहर तुमसे एक सैद्धांतिक भूल और हुई है। बताओ क्या?" जवाहर लाल जी पुनः चुप रह गये। बापू ने पुनः स्पष्ट किया-"हमने पानी समाप्त होने को क्यों महत्व दिया, यह न समझ पाया एक बात थी। मुँह धोने के लिए और पानी की आवश्यकता स्वाभाविक थी। किन्तु यह कहना कि पानी की कमी नहीं है अतः खर्च अनियन्त्रित किया जावे, भूल है। कोई वस्तु तुम्हारे पास ईश्वर की कृपा से प्रचुर मात्रा में है-इसी कारण हम उसके व्यव करने की कोई सीमा न बनायें यह भारी भूल है। व्यवस्था सन्तुलित उपयोग से बनती है। सन्तुलित होना प्रकृति का नियम है। समृद्धि के नाम पर असन्तुलित होने का अर्थ है, अभाव को निमन्त्रण देना। अपनी सन्तुलित आवश्यकता से अधिक व्यव करना अनैतिकता है। ब्रह्म व्यक्ति के लिये अशोभनीय है।"

सच्चा जन-सेवक

सेवक और स्वामी में यों तो विशेष अंतर नहीं है। पर जो स्वेच्छया सेवा को अपना जीवन पस मानकर अपनाते हैं वे सेवक के प्रति विनम्र होते हैं। यही कारण है कि महात्मा गाँधी ने अब से जनसेवा का श्रवण लिप्य जन-सामान्य के समान ही औसत स्तरीय जीवन भी चलाना आरम्भ कर दिया और तब स्थिति तक वे औसत स्तर की सुविधाओं में जीने लगे, जिससे कि उन्हें आम जनता से अलग कर पाना कठिन हो गया। मार्च, १९१९ की घटना है गाँधीजी बिहार में काम कर रहे थे। तभी वायसराय ने आवश्यक चर्चा के लिये उन्हें बुलाया। बापू ने दिल्ली रवाना होने की तैयारियाँ कीं। उनके साथियों ने कहा-"वायसराय ने बुलाया है, अतः आप हवाई जहाज से जायें तो ठीक रहेगा।"

गाँधीजी ने यह कहकर इस सलाह को मानने से इन्कार कर दिया कि जिस सवारी में करोड़ों लोग सफर नहीं कर सकते, उसमें मैं कैसे बैठूँ? जबकि रेलगाड़ी से भी मैं पहुँच सकता हूँ और उन्होंने मनु बहिन को अपने

साथ चलने को बोलते हुए कहा-पैरे साथ सिर्फ तुम ही चसोगी। सामान कम से कम लेना और टिकट तीसरे दर्जे का।

मनु बहिन ने कम से कम सामान लिया, पर डिब्बा ऐसा चुन जिसमें दो भाग थे। एक भाग में उन्होंने सामान रखा और दूसरे में बापू के सोने-बैठने की व्यवस्था। पटना से गाड़ी मुम्बई नौ बजे रवाना हुई। रास्ते में हर स्टेशन पर लोग गाँधीजी के दर्शन के लिये इकट्ठे होते अतः मनु बहिन ने उनके आराम की भी उपयुक्त व्यवस्था की। गर्मी के दिन थे और गाँधीजी ठन दिनों इस बजे भोजन किया करते थे। भोजन तैयार करने के बाद मनु बहिन गाँधीजी के पास आयीं। उन्होंने पूछा-"कहाँ थीं?"

"ऊपर खाना तैयार कर रही थी।" मनु बहिन ने कहा।

"जरा झिड़कने के बाहर झँकना तो।" गाँधीजी बोले। मनु बहिन ने झँककर देखा कि कई लोग दरवाजा पकड़ कर लटकते हुए यात्रा कर रहे थे। गाँधीजी क्या देखने के लिये कह रहे थे? मनु समझ गयी थीं। तब गाँधीजी ने कहा-"इस दूसरे कमरे के लिये तुमने कहा था।"

'हाँ' मनु बोली। "मेरा विचार था इसी कमरे में काम करूँगी तो आपको तकलीफ होगी।"

मेरी तकलीफ को तो तुमने धिन्ता कर ली, पर उन यात्रियों के बारे में कुछ क्यों नहीं सोचा जो लटकते हुए सफर कर रहे हैं।

गाँधीजी ने मनु बहिन को और भी झिड़का उन्हें अपनी गलती और गाँधीजी की तकलीफ का इतना अहसास हुआ कि आँखों से आँसू बहने लगे। उसे रोते देखकर बापू ने समझाया-"अच्छा रोओ मत। भविष्य में ध्यान रखना और अगले स्टेशन पर स्टेशन मास्टर को अवश्य सूचित करना।"

मनु बहिन ने गाँधीजी की आज्ञा पालन करते हुए सामान एक ही स्थान पर रख दिया और अगले स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो स्टेशन मास्टर को इसकी सूचना दे दी। स्टेशन मास्टर को अजीब-सा लगा, वे गाँधीजी के पास आये और बोले-"मैं इस गाड़ी में एक और डिब्बा लगावाने देता हूँ। आप आराम से सफर कीजिये।"

गाँधीजी ने स्टेशन मास्टर को फटकारते हुए कहा-"जिस चीज की आवश्यकता न हो उसका उपयोग हिंसा है। आप सुविधाओं का दुरुपयोग करवाना चाहते हैं।"

स्टेशन मास्टर ठगे रह गये। तब फिर गाँधीजी ने कहा-"आप दूसरा डिब्बा तो लगावा ही दें, पर यात्रियों के के लिये वह कम्पार्टमेंट भी खोल दें ताकि लोग आराम से सफर कर सकें।"

गाँधीजी औसत नागरिक की सुविधाओं से जरा भी अधिक सुविधाओं का उपयोग नहीं करना चाहते थे और इसी अदृष्ट को जन-सेवा की आवश्यक शर्त समझते थे।

जनसेवा का प्रमाण तीसरे दर्जे का सफर

जब चम्पारन (बिहार) के कुछ प्रतिनिधियों ने गाँधीजी के पास जाकर अपनी कष्ट गथा सुनाई कि किस प्रकार निलहे (नील का व्यापार करने वाले) गोरे उनके साथ अमानुषिक व्यवहार करते हैं और मारने-पीटने का भय दिखाकर उनके खेतों की पैदावार छीन लेते हैं, तब उन्होंने सत्याग्रह द्वारा इस अन्वय का प्रतिकार करने की सलाह दी पर उस समय तक इस देश में कहीं सत्याग्रह का प्रयोग नहीं किया गया था और लोग इस सम्बन्ध में अनजान थे। इसलिये इसका कार्यभार गाँधीजी को स्वयं ही ग्रहण करना पड़ा। चम्पारन पहुँचकर उन्होंने देखा कि गाँवों की हालत वास्तव में बड़ी दयनीय हो रही है। हजारों व्यक्तियों को धरपेट अन्न और तन इकट्ठे को मोटा कपड़ा भी नहीं मिलता। निलहे गोरे अपने लाभ के लिए किसानों से जबरदस्ती कुल जमीन के तीसरे या पाँचवें भाग में नील की खेती कराते थे, यद्यपि वे इस प्रकार अच्छी जमीन में नील पैदा करना हानिकारक मानते थे। पर बड़े जमींदार और सरकारी अफसर गोरों के सहायक थे, इसलिये जो किसान गोरों की आज्ञा मानने से इन्कार करते थे उन पर मनमाना जुल्म किया जाता था।

इसके साथ ही गाँधीजी ने देखा कि किसान एक तरफ तो निलहे गोरों के अत्याचारों से पीड़ित हैं और दूसरी तरफ उनमें स्वयं इस प्रकार के दोष-दुर्गुण मौजूद हैं, जिनके कारण उनकी हालत और भी गिरती चली जाती है। अशिक्षा, अन्धविश्वास, रुढ़िवादित्व, गन्दगी आदि हानिकारक प्रवृत्तियाँ उनके रहे-सहे साथियों को भी समाप्त करती जाती हैं। यह देखकर उन्होंने स्वयं तो राजनीतिक आन्दोलन आरम्भ किया और अपने कुछ विश्वस्त कार्यकर्ताओं को प्रचारार्थ बुलाया। इनमें से ज्यादातर व्यक्ति गाँधीजी के आश्रम में रहने वाले गुजराली थे। इसी कार्य के लिए बम्बई से अम्बिकाबाई गोखले को बुलाया, जो यद्यपि अभी तक गाँधीजी से एकाध बार ही मिली थीं और जो अभी चर्खा और खर से भी सम्बन्धित नहीं थीं। पर गाँधीजी उनकी सेवा-धामना को समझते थे। वह नर्स के काम की विधिवत शिक्षा प्राप्त कर चुकी थीं, विदेश यात्रा कर आने से सुआलून के विषय में उदार-विचार रखती थीं और हिन्दी बोलने का भी काफी अभ्यास था।

जिस दिन अम्बिकाबाई को मोतिहारी (चम्पारन का सदर मुकाम) पहुँचना था, लोगों ने कहा-अम्बिकाबाई तो सदैव दूसरे दर्जे में यात्रा करती हैं अब भी उसी में आर्येंगी। गाँधीजी ने कहा अगर वे तीसरे दर्जे में आर्येंगी तो उन्हें यहाँ रखूँगा, वरन् बम्बई ही वापस भेज दूँगा। गाड़ी रात के एक बजे मोतिहारी स्टेशन पर आई। वहाँ गाँधीजी के सबसे छोटे पुत्र देवदास गाँधी मौजूद थे, क्योंकि वे ही अकेले अम्बिकाबाई को पहचानते थे।

देवदास ने उनको पहले और दूसरे दर्जे के डिब्बों में ढूँढ़ा लेकिन कहीं पता न लग्न, तब वे निराश होकर छेरे पर वापस आये और खबर दी कि अम्बिकाबाई इस गाड़ी से नहीं आई। यह सुनकर सब लोग हँसने लगे, क्योंकि वे दोनों पति-पत्नी पहले ही आकर एक कमरे में ठहर गये थे। यात्रा उन्होंने तीसरे ग्रेणी में की थी। गाँधीजी की परख गलत नहीं थी।

उन्होंने दूसरे ही दिन अम्बिकाबाई को बड़हछा गाँव में जाकर कार्यालय का आदेश दिया। इस पर कस्तूरबा ने कहा कि “वे आज ही आई हैं और कल दीवाली है। अच्छा हो दीवाली बनाकर गाँव जायें कितने ही लोग तो १०-१५ दिन से यहाँ ठहरे हुए हैं।” गाँधीजी ने कहा- “मैंने उनको महत्वपूर्ण कार्य के लिये ही बम्बई का सब काम-काज छोड़कर यहाँ बुलाया है। उनका हर एक क्षण कीमती है। अम्बिकाबाई दूसरे ही दिन उस दूरवर्ती गाँव में पहुँच गई और उस चिकट देहात में छह महीने तक ग्रामीणों की सेवा, शिक्षा और मार्ग-दर्शन करती रहीं। उन्होंने बम्बई की सब सुख-सुविधाओं को भुला दिया और उन ग्रामीणों में इस तरह घुल-मिल गई कि वे उन्हें सचमुच ‘माता’ की तरह ही मानने लग गये।

अहिंसात्मक मनोभाव का चमत्कार

महात्मा गाँधी के पुत्र यशिलाल एक भयंकर काल प्वर से पीड़ित थे। प्वर कभी भी कम होने का नाम ही न लेता था। इसके साथ ही सन्निपात के लक्षण भी दिखाई देने लगे। कई दिन बीत गये तो गाँधीजी और कस्तूरबा दोनों को ही चिन्तित होने लगी, अब तो बिना किसी चिकित्सक को दिखाये काम चलने वाला नहीं था। घर पर एक चिकित्सक को बुलवाया गया। चिकित्सक ने भली-भाँति उसके शरीर का परीक्षण करके कहा “गाँधी जी। आपके बच्चे के इलाज में अब औषधियाँ काम नहीं कर सकती, अब तो इसे अण्डे और मुर्गी का शोरबा देना ही अच्छा है।

गाँधीजी चिकित्सक की बात सुनकर पीके उन्होंने बड़ी आश्चर्यमुद्रा में कहा “डॉक्टर साहब। मेरा परिवार तो शाकाहारी है। मैं इन दोनों वस्तुओं में से एक भी वस्तु नहीं दे सकता यदि सम्भव हो तो कोई दूसरी ही वस्तु बताइये।”

डॉक्टर ने उत्तर दिया “तुम नहीं जानते कि रोगी की स्थिति कितनी दयनीय है, बचन मुश्किल है। रोगी मृत्यु से बूझ रहा है हाँ, दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है पर उससे पोषण पूरा नहीं होता।”

गाँधीजी ने कहा “डॉक्टर साहब! आपका कथन सत्य है, पर मेरा तो विश्वास धर्म में है और इन वस्तुओं का उपयोग मेरी दृष्टि में हिंसा होगी। फिर मैं बीमारी की स्थिति में भी बच्चे को कैसे दे सकता हूँ? मैं तो यह

४.१२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

समझता है कि हर व्यक्ति के वैयक्तिकी परीक्षा संकट की ऐसी ही घड़ियों में होती है। उचित हो अथवा अनुचित पर मैं तो इसे धार्मिक दृष्टि से ही देखता हूँ और यह भी जानता हूँ कि व्यक्ति को मौस-भस्ती नहीं होना चाहिए। डॉक्टर साहब। इन बातों को जाने दीजिये। जीवन के सधनों की भी सीमा होती है। मैं आपका इलाज तो अब करा नहीं सकता। पर मुझे बाढ़ी और इदय-गति देखना नहीं आता है। मैं यह चाहता हूँ कि समय-समय पर आप मेरे चर्चा आते रहें और इसकी शारीरिक जाँच करके शरीर में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों की मुझे जानकारी कराते रहें तो आपको बड़ी कृपा होगी। आशा है आप अपने मूल्यांकन समय का एक भाग यहाँ भी देते रहेंगे।”

डॉक्टर समय-समय पर रोगी की जाँच करने का आश्वासन देकर चले गये। अब गाँधीजी ने अपने बच्चे मणिलाल की 'जल चिकित्सा' प्रारम्भ की, पर कुछ लाभ न देखकर वे एक क्षण को मचका गये, उनके चम में तपल-पुषल मचने लगी। पर गाँधीजी आसानी से अपने इह निश्चय को बदलने वाले न थे। उन्होंने एक चप्पर पानी में भिगोई और उसे निचोड़कर सिर से लेकर पैर तक लपेट दिया। सिर पर भीगा लौलिका रखकर ऊपर से दो कम्बल ओढ़ा दिये। पसीना न आने के कारण ही प्यार कम नहीं हो रहा था। शरीर बहुत ही गर्म था। थोड़ी ही देर बाद उन्होंने देखा कि मणिलाल का शरीर पसीने से तर हो गया है और माथे पर भी पसीने की कुछ बूँदें चमकने लगी हैं प्यार भी पहले से कम हो गया था। आशा के विपरीत एकदम इतना बड़ा परिवर्तन। गाँधीजी को अपने प्रयत्नों पर बड़ी प्रसन्नता हुई। कस्तूरबा जो पिछले दिनों से अपने बच्चे की सेवा करते-करते उदासीन सी रहने लगी थीं उन्हें अब बचने की आशा दिखाई देने लगी। गाँधी जी ने मन ही मन ईश्वर को धन्यवाद दिया।

डॉक्टर ने अन्ततः वह स्वीकार ही किया कि चिकित्सा के नाम पर की जाने वाली हिंसा न तो आवश्यक ही है और न अपोष है। बिना हिंसा का सहारा लिये भी रोगी अच्छे किये जा सकते हैं और अपेक्षाकृत कम समय तथा कम खर्च में।

प्रलोभन से बचाव

बैरिस्टरी की शिक्षा पाने, गाँधीजी वित्तवस्तु गये हुए थे। वहाँ एक वृद्धा उनकी परिचित थी। वह उन्हें बड़-कदा आमन्त्रित करती। वृद्धा के वहाँ एक कुत्ती रहती थी। गाँधीजी ने यह देखा कि वृद्धा इस प्रकाश में रहती है कि बुवती और वे परस्पर घुलें मिलें। इस हेतु एकान्त में भी उन्हें छोड़ देती।

गाँधीजी किसी को भ्रम में नहीं रखना चाहते थे, पर संकोची स्वभाव के कारण अपने विवाहित होने की बात भी न कह पाते। इसलिए उन्होंने एक पत्र में वस्तुस्थिति लिखकर वृद्धा को पत्र भेज दिया।

लौटती डाक से ही वृद्धा का उत्तर मिला—“इतने खुले दिल से पत्र लिखने के लिए धन्यवाद। हम दोनों खुश हुई, हैती थीं। हमारी मैत्री पूर्ववत् रहेगी। अगले रविवार को आप आमन्त्रित हैं। हम प्रतीक्षा करेंगे।”

सदुपयोग की कला

गाँधीजी के सामने डाक का डेर लगा था। वह आये हुए प्रत्येक पत्र को ध्यान से पढ़ते जाते और जो हिस्सा कोरा होता उसे कैची से काटकर अलग रख लेते। एक सम्बन्ध यहाँ पास में बैठे थे और बहुत देर से गाँधीजी को कतरते देख रहे थे। उन्होंने बहुत आश्चर्य से पूछा—“मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप इन कतरनों को एक ओर एकत्रित कर क्यों रखते जा रहे हैं? इनका क्या उपयोग है?”

“मुझे जब पत्रों के उत्तर देने होते हैं तब मैं इन्हीं कतरनों का उपयोग करता हूँ। यदि ऐसा न करूँ तो यह कागज बेकार हो जायेंगे और इससे दो प्रकार की हानियाँ होंगी, एक तो अनवश्यक खर्च की वृद्धि हो जायेगी और दूसरे राष्ट्रीय सम्पत्ति नष्ट होगी। किसी देश में जितनी वस्तुपूर्व होती है वह सब उस देश की सम्पत्ति मानी जानी चाहिए। हमारा देश निर्धन है। ऐसी स्थिति में हमें धन का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।”

गरीब-अमीर का अन्तर

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने कहा था—“अहिंसात्मक स्वराज्य की कुंजी अधिक समानता है। हमारा उद्देश्य देश के मुट्ठी भर धन-कुबेरों को सीधे खाना और करोड़ों भूखे-नंगों को ऊपर उठाना है। स्वतन्त्र भारत में जबकि सबको समान अधिकार है, नई दिल्ली के भाव्य भवनों और गरीब मजदूरों की झोपड़ियों का अन्तर एक दिन भी नहीं चल सकेगा। अगर जनहित के लिए स्वेच्छापूर्वक उस वैभव, उस अधिकार का त्याग नहीं किया गया तो निश्चय ही एक दिन भयंकर हिंसात्मक क्रान्ति होकर रहेगी।”

गाँधीजी के प्रेरणा स्रोत

जिन व्यक्तियों से महात्मा गाँधी अपने जीवन काल में प्रभावित हुए, जन्म के एक विख्यात व्यापारी रायचन्द भाई भी उनमें से ही एक थे। वे जन्म में हरि-जवाहरात का व्यापार किया करते थे।

एक व्यापारी से सीदा किया कि अमुक तिथि तक अमुक भाव में वह व्यापारी रायचन्द भाई को इतने हरि दे देगा। व्यापारी और रायचन्द भाई ने लिखित स्टाप्प पर हस्ताक्षर कर दिये।

संयोग से हरि के भाव बढ़ने लगे इतने बढ़ गये कि सम्झौते के अनुसार वह व्यापारी रायचन्द भाई को जवाहरात दे तो उसे अपना मकान और जमीन जायदाद सब कुछ बेचनी पड़े।

रायचन्द भाई को इस बात का पता चला तो वे व्यापारी की दुकान पर पहुँचे। उन्हें देखते ही

व्यापारी चिन्तित हो उठा और बोला-आपके सौदे के लिए मैं स्वयं चिन्तित हूँ। चाहे जो हो वर्तमान बाज के अनुसार मैं आपको घाटे के रुपये अवश्य दे दूँगा, आप चिन्ता न करें।

रायचन्द भाई ने कहा-“नहीं भाई तुम्हें परेजान होने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारी चिन्ता से मैं भी चिन्तित हूँ। हम दोनों की चिन्ता का कारण है वह लिखा-पढ़ी उसे ही समाप्त कर दिया जाय तो हम दोनों की चिन्ता ही नष्ट हो जायगी।”

व्यापारी ने कहा- नहीं-नहीं। यह तो व्यापारिक ईमानदारी के सिद्धान्तों से विपरीत बात हुई। मैं आपको दो दिन के अन्दर सारा रुपया अवश्य चुका दूँगा।

परन्तु रायचन्द भाई नहीं माने और कामज टुकड़े-टुकड़े करते हुए बोले-“इस लिखा-पढ़ी से तुम बँध गये थे ना किन्तु मैं तुम्हारी परिस्थिति को जानता हूँ। इन कागजों के अनुसार मेरी चालीस-पचास हजार रुपये तुम पर निकलते हैं परन्तु वे रुपये मैं तुमसे नहीं लूँगा। रायचन्द दूध पी सकता है खून नहीं।”

दूसरे की परिस्थिति देखकर ही सच्ची सहानुभूति से लाभ उठाना व्यापार का ग्रेहवर्तन आदर्श है।

कोई काम छोटा या बड़ा नहीं होता

मगनबाड़ी आश्रम में एक दिन महात्मा गाँधी ने यह योजना बनायी कि सबके जुटे बरतन बारी-बारी से दो-तीन व्यक्ति मँजवा करें। इससे आश्रमवासियों में प्रेमभाव बढ़ेगा तथा एक-दूसरे के बरतन मँजवाने से जो चुप्पा होती है वह मिट जायेगी। इस कार्य का महत्त्व भी एक आश्रमवासी को बताया तो उसके गले यह बात न उतरी। उक्त आश्रमवासी कहने लगे-“सबके जुटे बरतन मँजवाने से अव्यवस्था होने का डर है।”

गाँधी जी ने कहा-“अव्यवस्था का निराकरण कर व्यवस्था लाना हमारा काम है। सबसे पहले मेरी और बाकी बारी है।” इसके दुरन्त बाद गाँधीजी और बाकी बरतन भलने में लग गये। अन्य आश्रमवासियों ने जब यह देखा तो उन पर अच्छा प्रभाव पड़ा और वे भी उनके साथ हो गये। तब गाँधीजी ने कहा-“इस काम को स्तैग छोटा समझकर करने में डरते हैं। जबकि कोई भी काम छोटा या बड़ा नहीं है। छोटा या बड़ा तो दृष्टिकोण होता है।”

सदुपयोग करना सीखें

बापू का उस दिन मौन व्रत था। वे प्रातःकाल आश्रम के बच्चों को साथ लेकर टहलने गए।

रास्ते में एक तीन ईन्च लम्बा सूई का टुकड़ा पड़ा दिखाई दिया। गाँधीजी ने एक छोटी लड़की से उसे उठा लेने का इशारा किया।

लड़की ने उसे उठा तो लिफा पर उल्ट-पुल्ट कर देखने पर उसे निर्धनक बाया और आगे चलकर फेंक दिया।

शाम को मौन टूट तो गाँधीजी ने लड़की से वह टुकड़ा माँगा। पर वह तो उसे निर्धनक समझकर फेंक चुकी थी। गाँधीजी नाराज हुए और दूँद लाने के लिए उसे भेजा।

टुकड़ा मिला गया और उसे साफ करके गाँधीजी ने सूत काता और कहा-“वस्तुओं का पूरा सदुपयोग करने की आदत सभी को डालनी चाहिए। बर्बादी हम तनिक भी न करें।”

सजा तुझे नहीं मुझे भोगनी चाहिए

दक्षिण अफ्रीका के फिनिक्स आश्रम के विद्यार्थियों को गाँधीजी कई-कई दिन का अस्वाद व्रत कराते थे। कुछ विद्यार्थी पहले तो सम्मत् व्रत ले लेते और बाद में उनका संकल्प कमबोर पड़ने लगता। ऐसे विद्यार्थियों को वे कड़ाई से नियम पालन करने के लिए कहते।

एक बार देवदास गाँधी आठ दिन का अस्वाद व्रत लेकर जीव में ही तौड़ने लगे। नमक पढ़ी कढ़ी बनी थी और वे उसके लिये अड़ बैठे। गाँधीजी ने लाख मनाया पर मने नहीं। उल्टे रोने लगे। गाँधीजी ने विचार किया वे भी तो कुछ दिन पहले देवदास की तरह ही संकल्प तोड़ देते थे। बेटे का क्या दोष? दोष मेरा है। दण्ड मुझे मिलना चाहिए। अतः वे जोर-जोर से अपने ही गालों पर तप्तावे मारने लगे। “देवदास यह मेरी ही धूल का परिणाम है जो तू मचल रहा है। सजा तुझे नहीं मुझे भोगनी चाहिए।”

गाँधीजी के इस व्यवहार का देवदास पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे व्रत पर दृढ़ हो गये।

हृदय परिवर्तन इस तरह

गाँधीजी का सत्याग्रह आन्दोलन चल रहा था। ब्रिटिश सरकार भी गाँधीजी के नये-नये आन्दोलनों से तंग आ गई थी। एक अंग्रेज अधिकारी ने तो क्रोध में यहाँ तक कह दिया “यदि मुझे गाँधी अभी कहीं मिल जाय तो मैं उसे गोली से उड़ा दूँ।”

बात छिपने वाली न थी, गाँधी जी को भी सुनने को मिल गई। वह दूसरे दिन सुबह ही उस अंग्रेज के बँगले पर अकेले ही पहुँच गये। उस समय वह अंग्रेज सो रहा था, जगने पर गाँधीजी की घेंट हुई उन्होंने कहा-“मैं गाँधी हूँ। आपने मुझे मारने की प्रतिज्ञा की है। आपकी प्रतिज्ञा आसानी से पूर्ण हो सके अतः मैं यहाँ तक अकेला ही आया हूँ। अब आपको अपना काम करने में सुविधा होगी।” इतक सुनकर अंग्रेज पानी-पानी हो गया। मारने की कौन कहे उसके मुख से कोई अपशब्द तक न निकला। उसका हृदय उसी समय बदल गया और बाद को तो वह गाँधीजी का परमपूजक बन गया।

वचन-भंज सबसे बड़ा पाप

इंग्लैण्ड के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति के घर भोज था। उसमें गाँधीजी भी उपस्थित थे। नियत समय पर गाँधीजी पहुँच गये। खेज में एकत्रित सभी व्यक्ति उच्च प्रतिभा और

४.१४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

सम्मान वाले व्यक्ति थे। भोजन परोसा गया। उन्होंने देखा भोजन की थाली में मौस है तो वे ठठकर खड़े हो गये और खाने से इन्कार कर दिया। लोग आश्चर्यचकित रह गये। तभी एक अंग्रेज ने कहा—मौस खाने से क्या होता है? गाँधीजी बोले—मौ को दिने गये मचन को तोड़ना ही क्या कम पाप है, जो मैं मौसाहार के पाप पर विचार करूँ।

संयम का प्रभाव

कस्तूरबा उन दिनों अस्वस्थ थीं। स्वास्थ्य सुधारने के कितने ही प्रयत्न हो चुके थे पर सभी निष्फल गये। एक दिन गाँधीजी ने दाल और नमक छोड़ने की सलाह दी। अपनी बात के समर्थन में स्वास्थ्य सध्वन्धी साहित्य के कुछ अंश भी पढ़कर सुनाये पर 'बा' उनकी बात मानने को तैयार नहीं हुई। उन्होंने झुँझलाते हुए कहा—“आप मेरे इतने पीछे पड़े हैं दाल और नमक तो आप भी नहीं छोड़ सकते।”

गाँधीजी को यह बात चुभ गयी, अच्छी बात है तुम नहीं छोड़ना चाहती तो मत छोड़ो मैंने आज से एक वर्ष के लिये दोनों ही वस्तुएँ छोड़ दीं। गाँधीजी को 'बा' के प्रति प्रेम व्यक्त करने का यह अपूर्व अवसर मिला था, इसे वह सहज छोड़ना नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा यदि मैं अस्वस्थ होता और मेरा चिकित्सक इस प्रकार का परहेज करने के लिये कहता तो मैं खुशी-खुशी तैयार हो जाता।

गाँधीजी की एक साल तक नमक और दाल छोड़ने की प्रतिज्ञा ने कस्तूरबा को वह सपभाने में सफलता प्राप्त की कि संयम से कुछ भी कठिन नहीं बन सरल है और लाभदायक भी।

ईश्वर पर भरोसा

गाँधीजी उन दिनों दक्षिण अफ्रीका में थे। उनके साथ जर्मनी के निवासी कैलन बैंक रहते थे। दोनों में अच्छी मित्रता थी। वहाँ के पठानों को गाँधीजी की नीति पसन्द न आई तो वह नाराज हो गये। कुछ व्यक्तियों ने पठानों के काम और भर दिये।

कैलन बैंक को ऐसा अनुभव हुआ कि वह पठान कभी भी गाँधीजी पर आक्रमण कर सकते हैं, अतः उन्होंने गाँधीजी की सुरक्षा हेतु एक रिवाल्वर की व्यवस्था कर ली गाँधी जी के साथ कैलन बैंक को जहाँ-कहीं जाना होता वह अपने कोट की जेब में रिवाल्वर छिपाकर ले जाते। गाँधी जी को इस सम्बन्ध में तनिक भी जानकारी न थी।

एक दिन अचानक गाँधीजी की दृष्टि कैलन बैंक के कोट में रखी रिवाल्वर पर पड़ी। उन्होंने पूछा “इतना तो बताइये कि यह रिवाल्वर आप अपनी जेब में क्यों रखते हैं?”

“मुझे ज्ञात हुआ है कि कुछ पठान आपसे रुठ हो गये हैं। पता नहीं कब आप पर आक्रमण कर दें।”

“अच्छा! तो आप मेरी रक्षा उनसे करना चाहते हैं।”

“इरादा तो यही है।” फिर तो मैं निश्चिन्त हो गया कि मेरी रक्षा का दायित्व अब तक ईश्वर के हाथ में था

और अब आप उसे अपने हाथ में ले रहे हैं। जब तक आप जीवित हैं तब तक मेरा बाल बर्बाद नहीं हो सकता। वह भी खूब रही। आप ने मेरे प्रति मैत्री और आत्मीयता का भाव रखने के कारण ईश्वर के अधिकार को छीनने का साहस किया।”

कैलन बैंक अब क्या कहते। उन्होंने रिवाल्वर निकाल कर बाहर फेंक दिया।

भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता

भारतीय संस्कृति पर लेख लिखने के लिए गाँधी जी ने कलम उठाई। उन्होंने प्रथम वाक्य लिखा—“भारत की संस्कृति से तुलना करने वाली विश्व की कोई भी संस्कृति नहीं है।” पड़ल ही वाक्य पूरा लिख पाये थे कि कलम रुक गई। अभी तो बहुत कुछ लिखना शेष था। अब बार-बार उस वाक्य पर ही उनकी दृष्टि जाने लगी वे स्तब्ध हो गये। और कुछ लिखने के स्थान पर उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी।

गाँधीजी से उनकी आत्मा ने पूछा—“तुम तो सत्याग्रही हो, फिर क्या सोचकर अपनी संस्कृति की इतनी प्रशंसा करने लगे। क्या तुम्हें ध्यान नहीं कि देश के लाखों अस्मर्य नरकीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इनसे अच्छी स्थिति तो पशु-पक्षियों की है। फिर यह तुमने कैसे लिख दिया कि इस संस्कृति की संपन्नता विश्व की अन्य कोई संस्कृति नहीं कर सकती।” और बावजूद भारतीय संस्कृति की महिमा पर लेख लिखने का विचार ही छोड़ दिया।

बचपन के गुरु

स्वराज्य आन्दोलन के दिनों की बात है। राजकोट में कठियावाड़ राज्य प्रजा परिषद का अधिवेशन हो रहा था। बापू अन्य नेताओं के साथ मंच पर बैठे थे। तब ही उनकी दृष्टि दूरी पर बैठे एक वृद्ध पर पड़ी। वे गाँधीजी को कुछ जाने-पहचाने से लगे। स्मरण शक्ति पर जरा जोर देने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि ये तो मेरे बचपन के अभ्यापक हैं।

बापू सीधे ही मंच से उतरकर उनके पास गये और प्रणाम करके उनके चरणों के समीप बैठ गये। गुरुजी से उन्होंने परिवार की कुसल-बेम पूछी। जब काफी समय बीत गया तो गुरुजी ने बापू से कहा—“अब आप मंच पर पधारिये। नेतागण आपकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।” बापू बोले—“नहीं-नहीं मैं यहीं पर ठोक हूँ। अब मैं मंच पर नहीं जाना चाहता। यहीं बैठकर सारा कार्य देखूँगा। आप धिंता न कीजिये।” सभा समाप्त होने पर वे चलने लगे तो व्यवस्थापक ने गद्गद् होकर आशीर्वाद दिया—“जो व्यक्ति तुम जैसा अहंकार रहित हो, महान कहलाने का अधिकारी वही हो सकता है।”

ऐसे थे गाँधी जी

बेतिया में कोई कार्यक्रम था। बिहार का एक किसान भी गाँधीजी को देखना चाहता था सो वह भी बेतिया के लिये चला पड़ा।

किसान की कल्पना में महात्मा गांधी का बड़ा-बड़ा स्वरूप था। वे विलायती कपड़े पहनते होंगे। बड़े डोल-डोल वाले होंगे। फर्स्ट क्लास में चले होंगे। राजाओं-महाराजाओं का-सा भोजन करते होंगे। उस बेचारे को क्या पता था कि सच्चे सेवक अपना जीवन महात्माकाक्षाओं से नहीं विनमशीलता, सेवा-भाव, लगन और सादगी से सजाते हैं।

किसान रेलगाड़ी में सवार हुआ। थर्ड क्लास के डिब्बे। कई आदमी बैठे थे। उन्होंने के बीच एक सज्जन लेटे थे। काफी थके जान पड़ते थे। किसान ने हाथ पकड़ कर उन्हें उठाते हुए कहा-“ठठकर बैठें ऐसे लेटे हो जैसे सुम्हारे बाप की गाड़ी है।”

वह महाशय उठ बैठे। उन्हें इस तरह उठाने जाने से न तो खिन्नता थी न द्वेष-भाव। अब किसान मजे से बैठ गया और छेड़ ही तो हो जान उसने “धन-धन गांधीजी महाराज दुःखियों का दुःख मिटाने वाले।” ठधर डिब्बे के सब लोग मुस्कराते रहे। चेतिया में गाड़ी रुकी तो लोग गांधीजी को उतारने दौड़े। उनको जय-जयकार से स्टेशन गुँज उठा। किसान बेचारा वह देखकर सम्म रह गया कि जिस व्यक्ति को उसने हाथ से ठठाकर बैठा दिया वही गांधीजी थे।

अन्याय के विरोध की शक्ति

स्वतन्त्रता मिलने के बाद देश में साम्प्रदायिक दंगों की हवा चल पड़ी थी। एक दिन शाम को किसी कार्यकर्ता ने आकर गांधीजी को कोई दर्दनाक बात बताई। अब तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। वे बोले-“इस तरह इन घटनाओं का अन्त होने वाला नहीं है। अब मुझे उपवास रखना ही पड़ेगा।” और दूसरे ही दिन से गांधीजी ने उपवास-व्रत ले लिया।

अगले दिन शाम को कुछ कार्यकर्ता गांधीजी से भेंट करने गये तो उन्होंने गांधीजी को बहुत ही प्रसन्न पाया। वे सोच रहे थे कि जब व्रत शुरू किया है तब तो इन्हें कुछ उद्यम होना चाहिए था। आखिर वह पूछ ही बैठे-“गांधीजी। आज आप इतने प्रसन्न क्यों नजर आ रहे हैं?”

गांधीजी ने प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया-“कत तक मैं अन्याय की बातें सुनता था और चुप हो जाता था। पर आज से अन्याय का विरोध करने की शक्ति भी मुझमें आ गई है और अब मैंने अन्याय का सामना करने का संकल्प भी कर लिया है। मेरे लिये इससे अधिक प्रसन्नता की बात और क्या हो सकती है।”

अपव्यय की वृत्ति कितनी घातक

महात्मा गांधी से एक मारवाड़ी सेठ भेंट के लिये आये। वह बड़ी-सी पगड़ी बाँधे थे और मारवाड़ी वेशभूषा में थे। बात-चीत के बीच उन्होंने पूछा-“गांधीजी। आपके नाम पर लोग देशभर में गांधी टोपी पहनते हैं और आप इसका इस्तेमाल ही नहीं करते ऐसा क्यों?”

गांधीजी मुस्कराते हुए बोले-“आपका कहना बिल्कुल ठीक है, पर आप अपनी पगड़ी को उतारकर तो देखिये, इसमें कम से कम बीस टोपियाँ बन सकती हैं। जब बीस टोपियों के बराबर कपड़ा आप जैसे धनी व्यक्ति अपनी पगड़ी में लगा सकते हैं, तो बेचारी उनीस आदिमियों को नंगे सिर रहना ही पड़ेगा। उन्हीं उनीस आदिमियों में मैं भी एक हूँ।”

गांधीजी का उत्तर सुनकर सेठजी को कुछ कहते न बना। वह चुप हो गये, पर गांधीजी ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा-“अपव्यय, संचय की वृत्ति अन्य व्यक्तियों को अपने हिस्से से वंचित कर देती है।” तो मेरे जैसे अनेक व्यक्तियों को टोपी से वंचित रहकर उस संचय की पूर्ति करना पड़ती है।

कठिनाइयों से जूझने वाले-

अब्राहम लिंकन

सन् १८१६ केन्टुकी-की हार्डिन काउन्टी स्थित कुटी में रहने वाला एक निर्धन परिवार। परिवार के चार सदस्य पिता-धर्मस लिंकन, माता मैन्सी हैबल, नौ वर्षीय पुत्री और सत्र वर्षीय पुत्र एब। कुछ परिस्थितियों ने इस परिवार को अपना निवास स्थान छोड़ने के लिये विवश किया। उत्तर-पश्चिम के जंगल की ओर यह चारों चल पड़े। जंगल बीहड़ था, कुल्हाड़े से मार्ग बनाना पड़ता था। भोजन का कोई साधन न होने के कारण धर्मस लिंकन अपनी बन्दूक से तिक्कर करते और सबका निर्वाह उसी से होता था।

इण्डियाना की चैन्डविले बस्ती में पहुँचकर एब ने कुटिया का निर्माण किया। बिस्तर के स्थान पर सूखे पत्ते बिछा लिये गये। इसके अतिरिक्त सामान के नाम पर उस कुटिया में स्टूल, मेज और धर्म ग्रन्थ बाइबिल ही देखी जा सकती थी। एब अपनी माता से अधिक स्नेह करता था पर अधिक समय उसकी देख-रेख में एब का पालन पोषण न हो सका क्योंकि वह शीघ्र ही परलोकगामी हो गई। एब माता के विछोह पर बहुत रोया, बाद को उसने इण्डियाना से बाहर की दुनिया को भी देखना शुरू किया।

अब पढ़ाई के प्रति उसकी रुचि बढ़ती जा रही थी, पर निर्धन पिता साधन जुटाने में असमर्थ था। ऐसी विवशता के बीच उसने गरीबी और दुर्भाग्य को कोसने की अपेक्षा मूल-बूझ और परिश्रमशीलता को ही धरण किया। वह अपने परिचित व्यक्तियों तथा विभिन्न पुस्तकालयों से पुस्तकें ले आता था और पढ़कर समय पर वापस कर आता, पर एक बार एक पुस्तक उससे छराब हो गई तो बदले में तीन दिन मजदूरी करके उसकी कीमत चुकाई। ऐसा स्वाभिमान की बालक का वह एब।

कुछ दिनों पश्चात् उसका विवाह एक विधवा से हो गया। उसने अपने तीन बच्चों के साथ परिवार में प्रवेश किया। एब की पत्नी बड़े अच्छे स्वभाव की थी वह अपने

पति को सदैव अधिक से अधिक पुस्तकों का अध्ययन करने के लिये प्रेरित करती रहती थी। वह यही समझती कि जिस कार्य का प्रारम्भ करो, अनेकलेख आपत्तियाँ आ जाने पर भी उसे बीच में न छोड़ो। अशक्तियों को मनुष्य की परीक्षा लेने के लिये आया करती हैं। फिर उनसे घबराने की क्या आवश्यकता? पत्नी के प्रति एब की बद्धा बढ़ती ही जा रही थी।

एब को कहीं वाशिंगटन की जीवनी पढ़ने को मिल गई। पुस्तक बड़ी प्रेरणाप्रद थी। वह अमेरिका के राष्ट्रपति बनने का स्वप्न देखने लग्य। यदि कोई व्यक्ति किसी कार्य की पूर्ति हेतु जुट जाता है। तो प्रारम्भ में लगने वाला स्वप्न भी एक दिन पूर्ण होकर रहता है। एब के सपने भी तो यही हुआ। वह दिन में किस्मनों के साथ खेत में काम करता, पीधे लगाता, लकड़ी फाड़ता और रात्रि का समय स्वाध्याय में लगाता था।

उस समय एब की आयु केवल १८ वर्ष की थी। एक दुकान पर मौकरी लग गई। मौकरी में उसका मन कम ही लगता था पर जीविका उपार्जन के लिए भी तो कुछ करना जरूरी था। वहाँ से १५ मील दूर न्यायालय लगता। न्यायाधीश दोनों पक्ष के वकीलों की दलीलें सुनकर निर्णय दिये करते। एब को जब कभी समय मिलता १५ मील दौड़ा जाता और मुकदमों की कार्यवाही सुनता। वकीलों की बहस सुनने में उसे बड़ा आनन्द आता था। वह गाँव की दुकान पर काम करते हुए भी कानून की पुस्तकें पढ़ने लग्य।

एक वकील हत्यारे के पक्ष में बहस कर रहा था और एक से एक बढ़कर दलीलें प्रस्तुत कर रहा था। एब ने प्रथम बार ही ऐसी बहस सुनी थी। न्यायालय का समय समाप्त हुआ तो एब उस वकील से हाथ मिलाने और प्रशंसा करने के लिये आगे बढ़ा, वह वकील बिना हाथ मिलाये उपेक्षा से ही आगे बढ़ गया। इस तरह अनेक उपेक्षाएँ और अपमान एब को अपने जीवन में सहन करने पड़े, पर वह घबरामा नहीं, बाधकों के सामने झुका नहीं।

एब प्रगति की राह पर निरन्तर बढ़ता जा रहा था। अब वह आटा चक्की तथा दुकान का व्यवस्थापक बन गया। आस-पास चारों ओर उसकी ख्याति 'ईमानदार' एब के नाम से बढ़ती जा रही थी। यदि उसके पास किसी ग्राहक का कुछ रह जाता था पैसों में भूल हो जाती तो वह कई मील पैदल जाकर पैसे लौटाता। एब का जन्म किसी धनी परिवार में तो हुआ न था और न उसे किसी व्यवसाय का विशेष ज्ञान था, ऐसी स्थिति में उसे जैसा काम मिल जाता उसी में लगन के साथ जुट जाता।

साक्य कबीले के सरदार ब्लैकहोल के साथ युद्ध छिड़ जाने पर सैनिकों की भर्ती शुरू हो गई। एब की निवृत्ति सैनिक कम्पनी के कप्तान के पद पर हो गई और वह भी युद्ध भूमि में पहुँच गये। वहाँ वह अपने कष्टों को भुलकर दूसरों की सेवा में लगे रहते और अपने साथियों की

अधिक चिन्ता करते थे। यही कारण था कि उनके मित्र और स्नेही बढ़ते जा रहे थे।

युद्ध की समाप्ति पर अनेक साथियों ने राज्य सभा का चुनाव लड़ने का परामर्श दिया पर एब यह समझने लगे मानो उनका मनाक किया जा रहा है क्योंकि अब तक उनमें पूर्णरूप से आत्मविश्वास नहीं जग पाया था। वे चुनाव में सम्मिलित हुये पर सफलता उनसे दूर ही रही। असफलता के पश्चात् निराश होना या उस कार्य को छोड़ देना उन्होंने सीखा न था। वह हर असफलता से शिक्षा ग्रहण करने वाले थे। वह बारीकी से असफलता प्रदान करने वाली परिस्थितियों का अध्ययन करते और फिर उन्हें दूर करने का प्रयास करते थे।

दूसरी बार चुनाव आया तो वह पुनः प्रत्याशी बने इस बार वह जनता को कठिनाइयों को ईमानदारी से अनुभव करने लगे। पर इस समय उनके पास इतने पैसे तक न थे कि नया सूट बनवाते। आखिर इस आवश्यकता की पूर्ति उन्होंने उधार पैसे लेकर की। अब राजनीति उनका कार्य-क्षेत्र था। वकालत की पुस्तकें पढ़कर वह पूरी तरह से वकील बन गये थे। सत्य पक्ष पर आधारित मुकदमों को ही वह लेते थे। न्यूजोर्लियन्स जाने पर उन्होंने देखा कि काले रंग के अनेक स्त्री-पुरुष जंजीरों में धेड़-धकड़ियों की तरह से बंधे हुए हैं और उन दामों को मँडियों में बेचने से जाया जा रहा है। मानवता के साथ यह दुर्व्यवहार उन्हें बहुत अस्वारा और उन्होंने दास व्यापार के उन्मूलन की दिशा में भरसक प्रयत्न किया।

सन् १८६० का वर्ष एब के जीवन में बड़े महत्व का था क्योंकि ए० डगलस को परास्त कर अमेरिका जैसे विशाल देश के राष्ट्रपति बनने का अवसर उन्हें प्राप्त हुआ। एक ओर इतना बड़ा पद उन्हें मिला तो दूसरी ओर अनेक आन्तरिक समस्याएँ थी, जिनका सुलझना भी बड़ा आवश्यक था। बहुत से दक्षिणी राज्यों ने संघ से अलग होने की घोषणा कर दी। कई युद्ध हुये पर एब ने संघ की रक्षा का नारा लगाया। हजारों युवक एक ही आकाश पर एब के पीछे चलने को तैयार हो गये। बचपन में एब के नाम से पुकारा जाने वाला वह युवक अब्राहम लिंकन के नाम से सम्पूर्ण विश्व में ख्याति प्राप्त कर चुका था।

लिंकन की सेवाओं का ही यह प्रभाव था कि वह दूसरी बार राष्ट्रपति चुने गये। उनको वैचारिक दृढ़ता और आत्मविश्वास सफलता पर सफलता दिलाते जा रहे थे। उन्होंने सत्य पर आरुढ़ रहने के अपने निश्चय को दुहराया और कहा 'गृहयुद्ध के समाप्त हो जाने पर मेरा कार्य समाप्त हो जावेगा' और हुआ भी यही। जनरल लो के आत्मसमर्पण के चौथे दिन पश्चात् जब लिंकन फोर्ड रिवेटर में खेल देखने गये तो एक देशद्रोही ने उनके पीछे से गोली मारकर जीवन लीला समाप्त कर दी।

लिंकन के द्वारा ठठाया गया कार्य समाप्त हो चुका था। पुनर्निर्माण के युग का आरम्भ हो रहा था। उन्होंने

जिस ईमानदारी, योग्यता और साहस के साथ राष्ट्र का नेतृत्व किया वह राजनेताओं के लिये प्रकाश-स्तम्भ के समान है।

सफलता का मूल्य

एक नौजवान नदी के किनारे पर बैठा मछलियाँ पकड़ने की कोशिश कर रहा था। पानी में तट पर छोटी-छोटी सुनहरी मछलियाँ दिखाई पड़ती तो वह दौड़ता और पानी में हाथ डालता और वापस आ जाता। क्योंकि इतनी देर में तो मछलियाँ वापस भाग जाती थीं। उसके पास मछली पकड़ने के उपकरण भी नहीं थे। न उसने इनकी आवश्यकता समझी थी। शायद उसको दृष्टि में उनका कोई उपयोग था भी नहीं। इनके अभाव में वह बार-बार प्रयत्न करता, खाली हाथ लौटता रहा और निराश होकर तट के किनारे आकर बैठ गया।

एक मछुआ जो बहुत देर से उसे देख रहा था पास आया और बोला-भाई! मछलियाँ पकड़ने के साधन नहीं होंगे तो तुम कभी अपने इरादे पूरे नहीं कर सकोगे और हमने नौजवान को कील-काँटा, छड़ी और चारा दिया। उसने काँटे में चारा फँसाया और नदी के पानी में डोर से बाँधकर फेंक दिया। अब वह यह सोचता हुआ निश्चिन्त-सा बैठा था कि डेर सारी मछलियाँ स्वयं हो फँस जायेंगी। घण्टा भर बीत गया। सूरज पश्चिम की ओर डलने लगा था। नौजवान ने कील-काँटा पानी से निकाला और देखा तो आश्चर्यचकित रह गया। एक भी मछली काँटे में नहीं फँसी थी। उसे लगा मछुए ने उसे गलत बात कही है। वह दौड़ा हुआ मछुए के पास गया और शिकायत भरे स्वर में बोला कि तुमने मुझे अन्धे में रखा है। एक भी मछली नहीं फँसी है।

सारी बात जान लेने के बाद मछुए ने समझाया कि 'घोस्त मछली केवल उपकरणों से ही नहीं पकड़ी जाती। कील-काँटा पानी में डालकर निरन्तर सजग रहना पड़ता है और बार-बार प्रयत्न करना पड़ता है।'

मछुए की यह शिक्षा उसे गुरुमन्त्र-सी लगी और उसने अपने व्यावहारिक जीवन में भी इसे उठाया अपने जीवन के अन्तिम दिनों में यह नौजवान बार-बार असफल होकर भी निराश न होते हुए प्रयत्नशील रहने के कारण संसार के एक बहुत बड़े और सर्वाधिक समृद्ध देश का राष्ट्रपति बना, उस नौजवान का नाम था- 'अब्राहम लिंकन।'

लिंकन जब राष्ट्रपति बने तो वे अक्सर इस घटना का उल्लेख किया करते थे। एक बार उनके किसी मित्र ने उनसे पूछा- "जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए क्या करना पड़ता है?"

उन्होंने उत्तर दिया - "सफलता प्राप्त करने के लिये उसका मूल्य चुकाना पड़ता है। बिना मूल्य चुकाने कोई

भी चीज प्राप्त नहीं की जा सकती। मंजिल तक पहुँचने के लिये पहले से मार्ग की जानकारी होना आवश्यक है।"

"मार्ग तो खैर मैं जानता हूँ परन्तु आप मूल्य के बारे में बताइये।"

"मार्ग जानते ही उसका मूल्य भी भालूम हो जाता है" लिंकन बोले-"मार्ग जानने के बाद सफलता तक पहुँचने के लिये उस मार्ग पर चलने का साहस और धैर्य सफलता की कीमत है। जीवन का मार्गदर्शन करने वाले सैकड़ों तत्व दुनिया में मिलते हैं। परन्तु वे सब कील-काँटे की तरह हैं। बिना प्रयत्न किये इनका कोई मूल्य नहीं। इनका होना भर अपर्याप्त है, निरर्थक है। यही नहीं हानिकारक भी है। केवल इतने पर ही आस लगाये बैठे रहने से अवसरवादी तत्व पास में जो कुछ होता है वह भी छीन भागते हैं। कील-काँटे के साथ जिस तरह प्रयत्न और धैर्य की आवश्यकता है उसी प्रकार मार्ग और साधनों के साथ-साथ साहस और धैर्य भी जुड़ा होना चाहिए।"

लिंकन का यह निबोड़ कितना सारगर्भित है। मार्ग-दर्शन देने वाली, रास्ते के अवरोध, कठिनाइयाँ और संघर्ष बताने वाली शक्तियाँ तो बहुत हैं और वे बड़ी सहजता से उपलब्ध भी हैं परन्तु कभी तो हममें हैं जो उस दिशा में चलने का प्रयत्न करने से ही चबराते हैं। प्रयत्न न करने और बल्के ही निराश होकर बैठ जाने से हम इन शक्तियों और ईश्वर प्रदत्त सुविधाओं का लाभ नहीं उठा सकेंगे। इस कृपणता को त्यागकर सफलता का मूल्य चुकाने के लिये जितनी अल्पी दन्त हुआ जा सकेगा हम अपने उद्देश्य की ओर उतने ही शीघ्र बढ़ने लगेंगे।

अविचल निष्ठा और ईमानदारी

अब्राहम लिंकन जो अमेरिका के सर्वाधिक प्रसिद्ध राष्ट्रपति रहे तथा जिन्होंने अमेरिकी इतिहास में कई स्वर्णिम पृष्ठ खोदने-की आरम्भ में कोई भी काम नहीं आता था तथा न ही उनमें कोई योग्यता थी। पूँजी के रूप में उनके पास कुछ था तो केवल कार्य के प्रति अविचल निष्ठा तथा ईमानदारी। इन गुणों को लेकर ही वे जीविकोपार्जन के क्षेत्र में उतरे। धन्या तो उन्हें कोई आता नहीं था और न ही उनके पास एक पैसा भी था अतः जो भी काम उनके सामने आता वही वे करने लगे।

प्रारम्भ में सन्त भर तक वे किसानों के साथ मजदूरी करते रहे। उन दिनों बारह घण्टे का कार्य दिन समझा जाता था। अतः वे सुबह से लेकर शाम तक किसानों के साथ काम करते रहते। मजदूरी तो जमकर की नहीं जा सकती। मालिक लोग जब तक जल्लारत होती है तभी तक मजदूरी करवाते हैं और काम समाप्त होने पर छुट्टी कर देते हैं। लिंकन को भी इसी प्रकार बत्र-तत्र मजदूरी की

सलाश में भटकते रहना पड़ा। कभी वे एक किसान के यहाँ काम करते और कभी दूसरे के यहाँ।

एक बार उन्हें तथा उनके सौतेले भाई को किसी ने नाल बनाकर दी और उस नाल को नदी द्वारा न्यूयॉर्क सिटी तक ले जाने के लिए नौकर रख लिया। लिंकन ने अपना कार्य बड़ी मेहनत और दायित्व निष्ठा के साथ पूरा किया। इससे भावों का पालिका जिसका नाम ओफ़फ़ुट था बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने लिंकन को न्यूयॉर्क में अपनी चक्की तथा एक दुकान का प्रमुख कर्मचारी बना दिया। लिंकन अपने ग्राहकों के साथ पूरी ईमानदारी और निष्ठा से पेश आते थे। एक बार उन्होंने किसी ग्राहक स्त्री को सया आठ रुपये का सामान बेचा। हिसाब करने के बाद उस स्त्री ने सया आठ रुपये चुका दिये और कैशमीर लेकर चली गयी। शाम को जब सारी बिक्री का हिसाब किया गया तो लिंकन ने पाया कि वह स्त्री चार आने अधिक दे गयी।

लिंकन ने तुरन्त पता देखा और दुकान बन्द कर उस पते पर जाने लगे। वह स्त्री दुकान से लगभग चार मील दूरी पर रहती थी। लिंकन चार मील पैदल गये और उस स्त्री को चार आने वापस कर क्षमा माँगने के बाद पैदल ही वापस लौटे। चार आने वापस करने के लिए लिंकन को इतनी दूर जाना देखकर वह स्त्री चकित तो हुई ही उनकी ईमानदारी से प्रभावित हुए बिना भी न रही।

इसी प्रकार एक बार उन्होंने किसी ग्राहक को पाव भर चाय बेची। ग्राहक चाय लेकर चला गया। बाद में दूसरे ग्राहक को सामान बोलते समय उन्होंने देखा कि पूर्व ग्राहक को पाव भर चाय बोलते समय उन्होंने आधा पाव का चाट ही रखा था। उस ग्राहक को निकटाने के बाद लिंकन आधा पाव चाय लेकर तुरन्त उस ग्राहक के पास गये तथा बाकी की चाय देकर आये।

जीवन निर्वाह के लिये मजदूरी करते हुए भी लिंकन पढ़ते रहे तथा अपनी योग्यता बढ़ाते रहे। अपनी ईमानदारी के कारण वे काफी लोकप्रिय हो गये थे। ओफ़फ़ुट की दुकान पर काम करते हुए ही उन्होंने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। अपने सद्गुणवत्ता तथा ईमानदारी से उन्होंने न्यूयॉर्क में अपने कई मित्र बना लिये थे और जब वे राज्य संसद के चुनाव में लड़े हुए तो वह मित्र ही उनकी पूँजी थे। लोग कहा करते थे कि "लिंकन के पास और कुछ नहीं केवल बहुत सारे मित्र हैं।" यद्यपि इस चुनाव में उनकी हार हुई थी लेकिन वोट से हारने वाले लिंकन मन से तो अपराजित ही रहे। वे तब तक संघर्ष करते रहे जब तक सफल न हुए।

इस सफलता का रहस्य स्वयं लिंकन के शब्दों में कार्य के प्रति निष्ठा और ईमानदारी ही था। राष्ट्रपति बनने पर जब उन्होंने दास प्रथा का अन्त कर दिया तब भी उन्हें इसी बात का सन्तोष था कि वे अपना वचन पूरा कर सके।

उदारमना की उदारता

अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन ने अत्यन्त निर्धन और अभावग्रस्त परिवार में जन्म लेकर अपने चरित्र, पुरुषार्थ और अध्यवसाय से इतनी उन्नति की। निरन्तर की प्रयत्नशीलता, सच्चाई और निर्धारित लक्ष्य के प्रति निष्ठा ऐसे सद्गुण हैं जो मनुष्य को कहीं से कहीं ले पहुँचते हैं। गुणों का अभाव, आलस्य, निराशा और हीन मनोवृत्ति के स्वेग जीवनभर चर्चों के तहाँ पड़े रहते हैं, आगे बढ़ना तो दूर कई बार वे इन्हीं दुर्गुणों के कारण नीचे गिरने लगते हैं, जो आगे बढ़े हैं उन्होंने ज्ञात यह अज्ञात रूप से अपना निर्माण अवश्य किया है। अपने को गिरी मानसिक स्थिति में रखकर कोई व्यक्ति उन्नति कर सका हो और उस उन्नति को स्थिर रख सका हो ऐसा देखा नहीं गया। प्रगति का एक सुनिश्चित मूल्य है—आत्मनिर्माण। अष्टादम लिंकन ने यह मूल्य चुकाया और वे एक महापुरुष की भाँति इतिहास के पृष्ठों में अमर हैं। उन्हें संसार में बहुत दिन तक याद किया जायगा।

वे नीकरी करते हुए पढ़ते भी जाते थे। धीरे-धीरे उन्होंने बकायत तक पस कर ली। वे ईमानदार वकील के नाम से विख्यात थे। वे कोई ऐसा मुकदमा नहीं लेते थे जिसकी सच्चाई में उन्हें शक भी अविश्वास हो। एक बड़े मुकदमे में दो युवक बन्दी बनाये गये और उन्हें फौसी की सजा मिलने की सम्भावना थी, पर वस्तुतः युवक निर्दोष थे। लिंकन ने उनका मुकदमा लड़ा, उन्हें जिलाया और उनकी गरीबी को देखते हुए फौस भी नहीं ली। ऐसी थी उनकी उदारता।

लिंकन ने राजनीति में प्रवेश किया तो इसी उद्देश्य से कि दास-प्रथा का अन्त करने के लिए कानून बनाया जाय। एक बार उन्होंने एक काली स्त्री को गैजीटों में कसी हुई घसीटे जाते देखा था। वह गुलाम थी, उसके पालिका उसे कहीं ले जा रहे थे और यातनाएँ दे रहे थे। वह आर्त कुन्दन कर रही थी। इस बर्बरता पर उन्हें बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि दास-प्रथा का अन्त कराके ही दम लेंगे। राजनीति में उन्होंने प्रवेश किया, चुनाव लड़े और संसद सदस्य बने। गुलाम प्रथा को लेकर दक्षिण अमेरिका के साथ गृह युद्ध आरम्भ हो गया। लिंकन उस बक्त राष्ट्रपति थे। उन्होंने ७५००० स्वयं सेवकों की जनता से माँग की। उनकी यह माँग पूरी हुई। युद्ध लड़ा गया और संघ की विजय हुई। उन्होंने युद्ध संचालन का कार्य भी बुद्धिमत्ता के साथ पूरा किया।

एक बार फीज से चीबीस जवान सेना छोड़कर भाग निकले। पकड़े जाने पर कोर्टमार्शल ने उन्हें गोली से उड़ाने का हुक्म दिया। लिंकन को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने मृत्यु दण्ड को रोका और कहा—अमेरिका में

पहले ही दुःख के आँसू बहाने वाली विधवाएँ बहुत हैं, मैं उनकी संख्या में और वृद्धि नहीं करना चाहता। इन्हें मारकर जमीन में गाड़ देने की अपेक्षा यह अच्छा है कि इन्हें जमीन के ऊपर रहने और काम करने दिया जाय।

दास प्रथा के उन्मूलन की घोषणा करते हुए लिंकन ने कहा—“मैंने अपने भगवान के सामने शपथ ली थी कि दास प्रथा को समाप्त करूँगा। प्रभु की शपथ है कि वह साधना पूरी हो गई।” दूसरी बार जब वे फिर राष्ट्रपति चुने गये तो यह ग्रहण करते समय उन्होंने कहा—“हमें किसी के प्रति द्वेष नहीं रखना चाहिए। उदारता ही मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है। हम संकीर्ण नहीं दूरदर्शी बनें और सबके दुःखों को अपना दुःख मानें।” बुढ़ हो चुका अब हमारा काम है कि जर्जरित राष्ट्र के घावों पर मरहम पट्टी लगावें।”

लिंकन जिहा की मूर्ति थे। वे आदर्श के लिए जिए और उसी के लिए मर गये। वे अपने पैरों छड़े हुए, आप ही उठे, आगे बढ़े और वहाँ तक पहुँचे, जहाँ तक पहुँचना उनकी स्थिति के लोग असम्भव मानते हैं और आरम्भ से ही निराश होकर चुप बैठे रहते हैं।

भूल को कर्तव्य की सजगता से सुधारो

द्वितीय महायुद्ध चल रहा था। अमेरिकी सेना काफी क्षतिग्रस्त हुई, किन्तु कर्तव्यपरायण अमेरिकी सैनिकों का हौसला कम न हुआ।

विलियम स्काट नामक एक सिपाही उस युद्ध में लड़ रहा था। एक दिन उसे लम्बी पैदल यात्रा करनी पड़ी। अपनी रेजिमेण्ट में लौटने पर वह थककर चकनाचूर हो गया था, फिर भी सैनिकों की कमी थी इसलिये उसने शत की ड्यूटी भी स्वीकार कर ली।

उसका एक साथी बीमार हो गया था। उसके हृदय में साहानुभूति जाग पड़ी—स्काट ने अपने साथी से कहा—भित्र मैं केवल थका हूँ इसलिये मुझे कुछ भय नहीं है, थोड़ा अधिक थक जाऊँगा यही तो होगा पर तुम्हारा जीवन तो बहुमूल्य है। आज आराम करने से कत तक अच्छे हो आओगे। साओ तुम्हारी ड्यूटी भी मैं ही पूरी किये देता हूँ।

स्काट ने वह भी ड्यूटी दो पर अन्तिम क्षण तकान ने बुरी तरह आक्रमण किया। स्काट सो गया और जीव के समय पकड़ा गया। सैनिक न्यायालय ने उसे गोली से उड़ा देने की सजा दी।

पाषाणायें उदात्त होते हुए भी मनुष्य जीवन की जटिलतायें तंग करती हैं और सच्चे सेवा-भक्ती, लोगों को भी स्काट की तरह दंड भुगतना पड़ जाता है। पर सच्चाई की अपनी महत्ता ही अनोखी है। कठिन परिस्थितियों में भी वह शान्ति और सन्तोष प्रदान करती रहती है। स्काट भी मृत्यु दंड से विचलित न हुआ। उसे इस बात

का संतोष था कि उसने मानवीय कर्तव्य का पालन करने का प्रयास तो किया। भूल स्वाभाविक है उसके लिये दुःख क्यों किया जाय ? हाँ, उसे यह दुःख अवश्य था कि वह अपने कर्तव्य को जिसे उसने स्वेच्छा से ग्रहण किया था ईमानदारी और जागरूकता के साथ पूरा न कर सका।

इसी दुःख में विनित स्काट अपनी जेल-कोठरी में बैठा था। उस दिन राष्ट्रपति लिंकन सैनिक टुकड़ियों का निरीक्षण कर रहे थे। उन्हें स्काट से भी भेंट करने का अवसर मिला। लिंकन ने पूछा—जवान। तुम्हें गोली नहीं मारी जावेगी, पर तुम्हारे कारण सेना को जो तकलीफ हुई, उसका ग्रहण चुका सकोगे क्या ?

स्काट ने अनुमान लगया उसकी कुल जायदाद जो कई हजार रुपये की थी। उसने राष्ट्रपति से कहा—मैं यह सारी जायदाद छोड़ने के लिये तैयार हूँ।

लिंकन हँसे और स्काट के कंधे पर हाथ रखकर उन्होंने कहा—“स्काट कर्तव्य को चूक का ग्रहण धन और जायदाद से नहीं चुकाया जा सकता। तुमने जो भूल की है और जिसके कारण पराजय की परिस्थिति बनने वाली थी उसका प्रापरिधत्त सिर्फ एक तरह से हो सकता है, तुम प्रतिज्ञा करो कि वैसी भूल दुबारा न होने दोगे। कर्तव्य में चूक न होने देने का संकल्प पूरा कर सकें तो तुम पिछली भूल से उद्ग्रहण समझे आओगे।”

स्काट की सच्चा रद्द कर दी गई। उसने इस क्षमा का अनुचित उपयोग नहीं किया। सच्चे हृदय से वह फिर युद्ध भूमि में जा डटा। समान युद्ध और जीवन के खतरे के बीच भी कर्तव्य का दिया जलता रहा। थका पर सोया नहीं, भूखा हुआ, बिना खाये लड़ता रहा। कठिन से कठिन स्थिति में भी उसने अपनी सुविधा और सुरक्षा की परवाह न की, अब कर्तव्य पालन ही उसका इष्ट था।

कुछ समय ही बीता था एक दिन पता चला स्काट युद्ध में लड़ते हुए बुरी तरह घायल हो गया। मरने से पूर्व उसने राष्ट्रपति लिंकन को पत्र लिखा—“आपको जो चयन दिया था संतोष है, उसे पूरा कर इस संसार से विदा हो रहा हूँ।”

स्वावलम्ब्यता ही प्रगति का रहस्य

अब्राहम लिंकन चुनाव जीत गये। बधाई देने वाले व्यक्तियों का अपार समूह उमड़ पड़ा उनके निवास स्थान की ओर। बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ तथा धनी मानी व्यक्ति पहुँचे उनके पास। उस समय वह अपनी गाय का दूध निकाल रहे थे। उनके इस कार्य को देखकर लोगों में कानाफूसी होने लगी। एक बोला—“इतने बड़े नेता होकर भी छोटे-छोटे कामों को यह खुद करते हैं।” तब तक दूसरा बोल पड़ा—“जात बड़ी अजीब है इस व्यस्तता के बीच भी यह इन कर्तव्यों के लिये समय कहाँ से निकाल लेते हैं ?”

४.२० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

बड़े आश्चर्य से अब्राहम लिंकन के इस कार्य को आगन्तुकों के द्वारा देखा गया। लोगों को यौन सहे देखकर उन्होंने संकेत से बैठने के लिये कहा। तब तक गाय दुहने का कार्य समाप्त हो चुका था।

एक मज्जन ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—“आप अमेरिका जैसे देश के इतने बड़े नेता हैं फिर गाय दुहने के इस छोटे कार्य को स्वयं करने में आपको लज्जा नहीं आती?”

“लज्जा आती है घरे कार्य करने में। अपने कार्य को स्वयं करने में लज्जा कैसी? मैं तो किसी काम को छोटा या बड़ा समझता नहीं। अधिक व्यस्तता या समयाभाव के कारण जब लोगों ने अपना काम दूसरों के सुपुर्द कर दिया तो वह काम छोटा माना जाने लगा। यदि कोई व्यक्ति मेरी प्रगति का रहस्य पूछे तो मैं उससे कहूँगा कि स्वावलम्बन की इस आदत ने ही मुझे आज वहाँ तक पहुँचा दिया है।”

स्वावलम्बी महापुरुष

एक दुबला-पतला बालक लकड़ियाँ काट रहा था। परिश्रम और पसीने से उसकी देह लथपथ थी, किन्तु वह बड़ी तल्लीनता से अपने काम में जुटा रहा। फिर ठठा खाना पकाया। घर की झाड़ू लगाने से लेकर पानी डोने तक का काम उसने अपने हाथों से किया था। फिर उसे दिन डलते ही नींद आना स्वाभाविक था। किन्तु जीवन में सफलता की इच्छा रखने वाले व्यक्ति आराम नहीं, श्रम से आलस्य नहीं वशोग से प्रेम करते हैं। ऐसा लगता है कि इस बच्चे ने भी यह निश्चय कर लिया था कि उसे बड़ा आदमी बनना है। इसलिए अभी वह चारपाई पर नहीं गया, उसने दीपक जलाया और पढ़ने बैठ गया।

एक दिन ब्लैक स्टोन की एक पुस्तक पढ़ने की इच्छा हुई। वह प्रत्येक बड़े लेखक के आदर्शों को अभ्यसता था इसलिए गुण-संचय की उसे धुन हो गई थी पर वह पुस्तक मिलती कैसे? वहाँ से चार मील दूर एक लाइब्रेरी से पुस्तक मिल सकती थी। “चार मील कौन जाय?” धका देने वाली कुत्सा बच्चे के जीवन में न थी वह तो तुरन्त चल पड़ा। लौटते समय रास्ते में ही पुस्तक पढ़ डाली। दुबारा घर पढ़कर लौटा दी।

सतत कर्मरत यही छोटा-सा बालक एक दिन अमेरिका का राष्ट्रपति बना और अब्राहम लिंकन के नाम से विख्यात हुआ।

कार्यों का परिणाम

अब्राहम लिंकन के एक मित्र ने समाचार पत्र की एक कटिंग उनके सामने रखते हुये कहा “देखिये न! लोग किस तरह से आपकी आलोचना करने लगे हैं और आप चुप्पी ही साधे बैठे हैं क्यों न इसका प्रतियाद आप भी समाचार पत्र को भिजवा दीजिए।”

अमेरिका के महान राष्ट्रपति लिंकन का साधारण-सा उत्तर था, मेरे घ्यारे दोस्त। यदि मैं आलोचकों की हर आलोचना को देखूँ और उनके उत्तर छपाने का प्रयास करूँ तो राष्ट्र के महत्वपूर्ण कार्य करने का समय होश न रहेगा। यह तो आप सब जानते हैं कि अच्छे ढंग से राष्ट्र की सेवा सम्भवतः मैं करता हूँ, यदि मेरे कार्यों के परिणाम देश की जनता के हित में निकलते हैं तो आलोचकों की बातें स्वतः ही निरर्थक सिद्ध हो जायेंगी और यदि लोक-कल्याण की भावना पूर्ण नहीं होती, देशवासियों को सुख और सुविधाएँ नहीं मिल पाती तो मैं क्या देवता भी आकर मेरे कार्यों का पक्ष लेते तो भी कोई उस बात को सुनने के लिए तैयार न होगा।”

मित्रता का प्रभाव

अब्राहम लिंकन से उनके मित्रियों ने कहा—“आप सन्तुष्टों के साथ नम्रता का व्यवहार क्यों करते हैं? इनका तो सपका ही कर देना चाहिए।”

लिंकन ने कहा—“मैं इनका सफाया ही कर रहा हूँ। सिर्फ मेरे और आपके तरीके सम्बन्धी दृष्टिकोण में अन्तर है। मैं इनकी गरदन काटने की अपेक्षा इनको मित्र बनाकर इनका स्वरूप ही बदलते दे रहा हूँ।”

सरलता और सादगी की प्रतिमूर्ति

एक बार एक बालिका ने अब्राहम लिंकन को उनका चित्र अपने हाथ से बनाकर भेजा जिसमें दाढ़ी थी। इससे पूर्व वे दाढ़ी नहीं रखाते थे। साथ में सुझाव भी भेजा “क्योंकि आप लम्बे हैं एवं देखने में दुबले लगते हैं। यदि आप दाढ़ी रख लें तो आपके व्यक्तित्व में और निखार आवेगा। इससे आप के पद की गरिमा भी कम नहीं होगी।”

बालिका का सुझाव पसन्द आया, उन्होंने दाढ़ी बढ़ाना आरम्भ कर दिया। बहुत समय बाद जब लड़की से उनकी भेंट अचानक हुई तो उन्हें उसके सुझाव की बात یاد आई।

लिंकन भले ही अमेरिका के सर्वोच्च पद पर थे किन्तु वे सरल और साध। छोटी-छोटी सुझावों का वे सम्मान करते और उन्हें क्रियान्वित भी करते थे।

स्वावलम्बन से बढ़कर और कुछ नहीं

अब्राहम लिंकन दैनिक कार्यों से निवृत्त होकर सुबह ही सुबह अपने जूतों पर पालिश कर रहे थे। उनका एक मित्र आया। एक राष्ट्रपति को अपने जूतों पर पालिश करते देखा तो उसे लगा उसकी आँखें धोखा खा रही हैं। आखिर उस पर न रहा गया तो बोला—“लिंकन! यह क्या करते हो? तुम्हें अपने जूतों पर स्वयं पालिश करनी पड़ती है?”

“तो क्या तुम दूसरों के जूतों पर पालिश करते हो?” लिंकन ने कहा।

इस बात पर कुछ देर के लिए कमरा कहकहों से गूँज उठा।

मित्र ने कहा "मैं तो जूतों पर पालिश स्वयं न करके दूसरों से करवा लेता हूँ ।"

"मेरी समझ में दूसरों के जूतों पर पालिश करने से भी यह बुरी बात है कि अपने जूतों पर किसी मनुष्य से पालिश करवाई जाये । इतने छोटे-छोटे कार्यों के लिए हमें दूसरों पर आश्रित नहीं रहना चाहिए ।"

लिंगन की बात सुनकर मित्र के पास उत्तर के लिए अब शेष ही क्या रह गया था ? उनके मित्र ने भी अपना काम अपने हाथ से करने का संकल्प किया ।

झगड़ा नहीं सुलह-समझौता

अमरीका के दो किसानों में खेत की सीमा के बारे में झगड़ा उठ खड़ा हुआ । एक किसान अब्राहम लिंकन को अपना वकील बनाने के लिए उनके घर पहुँचा । लिंकन ने उससे कहा, "दोनों इस प्रकार झगड़ते रहोगे तो पीड़ितों तक यह झगड़ा चलता ही रहेगा । तुम्हारा विरोधी भी मुझे ही अपना वकील बनाने आया है । मेरी एक सलाह है । दोनों मेरे इस कार्यालय में बैठो । मैं भोजन करने पकत हूँ । जब तक मैं लौटकर आऊँ तब तक तुम अक्स में बात-चीत करके कोई समाधान कर लो ।"

अब्राहम लिंकन ढेर तक जानबूझ कर नहीं लौटे । किसानों ने आपस में बातचीत शुरू कर दी । दिन चलने पर लिंकन लौट आये । उन्होंने देखा कि दोनों किसानों ने बातचीत के बाद सुलह कर ली है ।

पुरुषार्थी व्यक्तित्व

उन दिनों कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी । एक अमेरिकन युवक नाब में बैठकर नदी पार कर रहा था । उसे एक जमींदार के यहाँ मजदूरी करने के बदले कानूनी ज्ञान सीखने का अवसर मिला था । वह उसे खोना नहीं चाहता था, सो वह एक क्षण गैवाये बिना जमींदार के यहाँ चल दिया ।

नदी में बर्फ के टुकड़े बह गये थे । एक बड़ी-सी बर्फ की चट्टान टकराई और नाव टूटकर चकनधूर हो गई । युवक के हाथ में केवल खेने के काम आने वाला चप्पू रह गया । वह किसी तरह नदी पार करके निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचा ।

जंगल में ईंधन काटकर लाने और पानी भरने का कठोर काम उसे करना पड़ता था, पढ़ाई में बढ़ने पर उसने हिम्मत नहीं हारी । पढ़ता ही रहा और एक दिन प्रसिद्ध वकील बन गया ।

यह वकील अन्ततः अमेरिका का राष्ट्रपति बना । नाम उसका था अब्राहम लिंकन । वह सदा यही कहता रहा सफलताएँ कठोर पुरुषार्थ के बिना नहीं पाई जा सकती ।

कटुता नहीं मधुरता

अब्राहम लिंकन के युद्धमन्त्री एडविन स्टेन्टन ने एक जनरल को एक कड़ा पत्र लिखा जिसने कभी उसे गालियाँ

दी थीं । वह पत्र उसने अब्राहम लिंकन को पढ़कर सुनाया । उन्होंने उसकी लेखन शैली की प्रशंसा करते हुए कहा "बहुत खूब स्टेन्टन ! तुमने बड़ा अच्छा पत्र लिखा है ।"

स्टेन्टन उस पत्र को मोड़कर लिफाफे में रखने लगा तो लिंकन ने उससे पूछा "अब तुम इस पत्र का क्या करोगे ?" "उसे भेज रहा हूँ ।" "नहीं इसे भेजने की आवश्यकता नहीं इसे फाइल कर दो ।" लिंकन बोले - "इस प्रकार कटुता बढ़ती है और समय आने पर उसे स्वयं अपनी गलती जाय हो चायेगी तथा तुम्हारा भूल्य बढ़ चायेगा ।"

असफलताओं से सीख

अब्राहम लिंकन से एक बार उनके जन्मदिन पर एक पत्रकार ने पूछा आप साधारण मनुष्य से राष्ट्रपति बने इस सफलता का रहस्य क्या है ? लिंकन बोले मैंने अपनी जीवन की पग-पग पर परीक्षा की । हर असफलता से कुछ सीखा, संभला और नये रास्ते बनाता चला गया ।

सद्गृहस्थ राजनीतिज्ञ-

पं० जवाहर लाल नेहरू

नेहरू जी बचपन में बड़े नटखट स्वभाव के थे । एक दिन वे ऊपर के कमरे में ऊधम मचा रहे थे । डछल-कूद के कारण उनके पिता पं० मोतीलाल नेहरू का ध्यान अपने काम से हट गया । इस कारण उन्होंने अपने पुत्र को नीचे बुलवाया और डाँटकर पूछा-"ऊधम क्यों मचा रहे हो ?"

जवाहरलाल जी अपने पिता से बहुत डरते भी थे । इस डाँट को सुनकर सकपका गये और हकलाते हुए कहना लगने लगे-"जी जी वो नीकर जो ऊपर के कमरे का दरवाजा खोल गया था न बगीचे में से एक बन्दर भीतर घुस आया सब गड़बड़ कर गया...पिताजी ।"

पिताजी इस बहाने को सुनकर मुस्करा उठे, अपने लाठले के शरारती और भवमिभित चेहरे को देखकर हँसते हुए कहा-"तो भगत दिवा न उस बन्दर को ।"

"जो हाँ परन्तु वह भागकर कहाँ जायगा, पास के ही एक पेड़ पर चढ़ गया है ।" पिता समझ चुके थे कि वह बन्दर कोई पशु नहीं उनका ही बेटा जवाहरलाल है । बोले-"हूँ तो ऐसे बन्दर को मैं रस्सी से बाँधकर रखाँगा ।" और उन्होंने अपने बच्चे को रस्सी से बाँध दिया । जवाहर चुपचाप टुकुर टुकुर देखते रहे ।

लेकिन उनका नटखटपना नहीं छूटा । जवान होने तक स्कूल के सहपाठी और कॉलेज के अध्यापक उनकी शिकायत लेकर आते और पिता अपने बेटे को उसी प्रकार प्यार भरा दण्ड देते । एक दिन उन्होंने देखा कि वे बड़े हो गये हैं । कद में भी बराबर । जवानी में भारता हुआ ।

४.२२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

फिर भी बाँधन तो था ही । लेकिन अन्न की बार उन्होंने रस्सी से नहीं सत्रह बर्षों के कमला के पवित्र आँचल से बाँध दिया । नेहरू पति बन गये और कमला उनकी पत्नी । दोनों पति-पत्नी को भौतिक पराजित की सभी सुख सुविधायें उपलब्ध थीं । मोतीलाल जी का विश्वास था कि इस उत्कृष्ट वैभव को पाकर कोई भी पुत्र अपने को गौरवान्वित अनुभव करेगा और सन्तुष्ट ही उनके लाहुरे का मस्तक गर्व से ऊँचा हो उठा । बाल सुलभ चपलता जीवन के उत्साह और कर्मशीलता में बदल गयी । कमला- सी सुगृहणी पत्नी बनकर नेहरू जी को लग्न सारे संसार का सुख तन पर ज्योत्स्नावर हो गया ।

आनन्द भवन की अपार सम्पदा, कमला-सी कमनीय पत्नी, पिता का विवेकपूर्ण स्नेह इन सबने मिलकर नेहरू को स्वर्गीय सुख प्रदान किया । परन्तु वे सन्तुष्ट नहीं हुए । लगा कहीं रीतापन है सभी आनन्द भवन में एक बालिका का क्रन्दन गुँज रहा । कमला ने फूल-सी कोमल और सुन्दर इन्दिरा को जन्म दिया था और नेहरू जी चौंक उठे । उन्होंने अपनी आकुलता को समझा और दिशा मिल गयी ।

नेहरू जी अपनी पुत्री इन्दिरा, पत्नी कमला एवं आनन्द भवन के सामीप्य और सुखोपभोग को तिलांजलि देकर कर्मक्षेत्र में आ बैठे । कमला मन मसोस कर रह गयीं । जब उसे अपने पति और इन्दिरा को पिता का साम्बिध्य भोगना था उन्होंने क्षणों में जवाहर दूर हो गये । प्रेम से अधिक महत्वपूर्ण और बरणीय कर्तव्य लग्न था । अकेले भोगे जाने वाली सुख-कैवल्य की अपेक्षा उन्हें करोड़ों लोगों की आजादी आवश्यक लगी ।

जिसके शरीर पर दिन भर में कितनी ही बार अलग-अलग कीमती पोशाक पहनी जाती बही जवाहर अब मोटी खादी पहनते थे । जिसके ऐश्वर्य-सुख को देखकर कई धनी मानी व्यक्तियों को ईर्ष्या होने लगती, वही नेहरू सीलन और बंबई भरी जेल की कोठरियों में जमीन पर सोने लगे । थालियों का भोजन, गमक मिर्च या मिठाई के जरा भी कम तेज होने से कह प्रसन्न जवाहर को खुत करने के लिए कुत्तों को फेंक दिया जाता था, वही वैभव विस्तार में पला राजकुमार कई दिनों तक उपवास करने लगा, दोखने में मोटी खादी, जमीन का बिस्तर और धूल-प्यास कितना असह्य कहकर लगता है, परन्तु नेहरू ने इन्हें स्वेच्छा से वरण किया ।

पिता मोतीलाल तड़प उठे । पहले उन्होंने अपने पुत्र को समझाया, लाख मना करने पर भी नहीं माने तो विवश मौन होकर सब कुछ देखते रह जाना पड़ा । उनकी यह तपस्या रंग लार्ज और पं० मोतीलाल जी उसी मार्ग के पथिक बन गये । बेटी इन्दिरा भी अपने पिता की अनुगामिनी बनी ।

नेहरू जी के चेहरे पर एक तेज आलोकित हो उठा । इस अभिजात पुरुष ने देशहित के लिये स्वर्ग को

तपस्या की आग में झोंककर निखार लिया । पत्नी कमला को आरम्भ में यह सब कहकर लगा, परन्तु अपने पति के महान उद्देश्य को समझने के बाद उन्होंने भी अपने व्यक्तिगत सुख को तिलांजलि दे दी और वह भी अपने पति की पूर्ण सहयोगिनी बन गयी ।

कमला नेहरू के इस निष्ठाभाव का प्रमाण है-एक घटना । पं० नेहरू का अधिकांश समय उन दिनों जेलों में बीता था और कमला नेहरू का अस्पताल में । वे बीमार रहने लगी थीं । रुग्ण इतनी कि लगता था इस बीमारी से शायद ही बचें । नेहरू जी को इस स्थिति का पता जेल में चला और उन्होंने विचार किया-जिस महिला ने अपने अधिकार सुख को देश और समाज के लिए तिलांजलि दे दी, मैं भी उसे कभी भन्तुष्ट नहीं कर पाया, इतना भी साथ नहीं रह सका कि उसे आभास हो मैं एक गृहस्थ व्यक्ति हूँ । अब अन्त समय में किसी भी प्रकार उसे यह अधिकार सुख उपलब्ध कराया जाना चाहिए और उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो वे अपनी पत्नी के समीप जाकर रहेंगे ।

ब्रिटिश सरकार से इस आग्रह का निवेदन किया सरकार ने तर्त लगायी कि यदि वे राजनीति से संन्यास ले लें तो उन्हें कमला के पास रहने की इजाजत दी जा सकती है । नेहरूजी अजीब धर्म संकट में पड़ गये ।

समाचार फैला कि पं० नेहरू ने ब्रिटिश सरकार की यह तर्त स्वीकार कर ली है और वे राजनीति से संन्यास ले रहे हैं । यह समाचार आग की तरह देश भर में फैल गया । नेहरू का उस समय तक देश की राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान बन चुका था । अस्पताल में रोग-शय्या पर पड़ी कमला नेहरू तक भी यह खबर पहुँची और वे अस्फुट किन्तु दृढ़ स्वरों में कह डठी-“उनसे कह देना कि इसकी हागिब आवश्यकता नहीं है । सरकार को वे इस प्रकार का कोई आश्वासन न दें ।”

नेहरू जी तक उनकी पत्नी का यह संदेश भिजवा दिया और उन्होंने अधिकारपूर्वक कहे गये इन शब्दों पर ही अमल किया । आखिर वे चाहते भी तो यही थे कि कमला नेहरू को अपने पत्नीत्व का अभिनव सुख मिले । बरसों से वह मौन रहकर नेहरू जी को घर परिवार से विमुख होते देख रही थीं । इसका परिणाम कहीं ठलटा न हो इसी कारण तो उन्होंने यह निर्णय किया था । परन्तु उनकी भाँति टूट गयी, उन्हें आभास हुआ कि कमला नेहरू उनके चरण चिह्न पर नहीं-नहीं । उनके साथ-साथ कदम से कदम मिलाकर चल रही हैं ।

कुछ काल ने कुछ ही दिनों बाद कमला को नेहरू जी से छीन लिया । नेहरू उद्विग्न हो उठे । तप त्याग की अग्नि से कंचन हुई जीवन सहचरी जब घेरणा झोत बनकर आगे आई भी तभी भगवान ने उसे उठा लिया । किन्तु नेहरू ने इसे प्राकृतिक विघटन का मंगलमय परिणाम जानकर ही सन्तोष कर लिया । वस्तुतः उनकी यह विचार प्रक्रिया सही भी थी । अभी तक तो कमला का पार्थिव शरीर उन्हें प्रेरणा

दे रहा था, परन्तु अब उसकी आत्मा नेहरू की आत्मा में आकर एकाकार हो गयी थी। वे प्रेरणायें उनकी रस-रंग में समा गयीं। कमला ने नेहरू के जीवन और हृदय पर एकाधिकार शासन किया था। उनकी वही पत्नीसुत निहा जवाहर को कमला से तादात्म्य कर गयी।

पत्नी से दूर रहते हुए भी उन्होंने अदृश पत्नीसुत धर्म निवाहा। कमला नेहरू का देहान्त हो जाने के बाद उन्हें कई व्यक्तियों और सम्बन्धियों ने दूसरा विवाह करने की सलाह दी परन्तु नेहरू जी ने इस सलाह को अस्वीकार दिया। जब स्वजनों की ओर से दबाव दिया जाने लगा तो उन्होंने एकदृक जबाब दिया—“कोई भी भारतीय पति यह नहीं चाहता कि उसके मरने के बाद उसकी पत्नी किसी और की जीवन संगिनी बने। स्त्रियों की भावना भी इसी प्रकार की होती है। मैं दूसरे विवाह के सम्बन्ध में सोचना भी अपनी पत्नी की आत्मा से बेवफाई करने के बराबर मानता हूँ।”

इस उत्तर में पत्नी के प्रति कितनी निहा झुपी हुई है। नेहरूजी के घोर विरोधियों तक ने उनकी इस दायित्व-निहा की मुक्त-कण्ठ से सराहना की है। नेहरू परिवार का ही विरोध करने वाले डॉ॰ राममनोहर लोहिया ने उनके देहान्त हो जाने पर कहा था कि “वे एक सद्गुहस्थ राजनीतिज्ञ थे।” चक्रवर्ती राज गेपालाचारी भी इस अवसर पर कह उठे “बुद्धावस्था में भी नेहरू जी में युवकों जैसी क्रियाशक्ति थीनूर की। उनका राजनैतिक स्वरूप चाहे जो रहा हो परन्तु उनकी पत्नीसुत निहा और दायित्व जीवन प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय है।”

नेहरू जी का कथन बिल्कुल ठीक था कि स्त्रियों की भावनाएँ भी कुछ इसी प्रकार की होती हैं। इसलिए मैं दूसरे विवाह के सम्बन्ध में सोच भी नहीं सकता क्योंकि इससे कमला के प्रति बफादारी नहीं निभा सकूँगा।

इतिहास में सती महिलाओं और पतिव्रता स्त्रियों की घटनाएँ तथा कहानियाँ एक से एक बड़ी-बड़ी मुनी हैं। लेकिन नेहरू जैसे पत्नीसुत पुरुष की कहानी अद्वितीय है। लोग जानते थे और मानते थे कि नेहरू एक नास्तिक व्यक्ति हैं। परन्तु किसे मालूम था कि वे सत्तरहें साल से अपनी पत्नी की अस्थि-राख बिना किसी को कुछ भी बताये अपने सिराहने रखकर सोया करते थे। भावना और प्रेम से बढ़कर कोई धर्म नहीं।

जो लोग नेहरू को नास्तिक मानते और कहते हैं भूल करते हैं। इतना जरूर था कि वे धर्म के आह्वार और प्रदर्शन से सर्वथा दूर रहे। एकान्त के क्षणों में गीत का अध्ययन और अध्यात्म चिन्तन में रत जीवन सुखों का राहद्वि में त्याग, सेवा और परोपकार के लिए समर्पित व्यक्ति यदि नास्तिक है तो फिर इस दुनिया में अस्तिक व्यक्ति कहीं नहीं मिल सकता।

किसी ने उनके बारे में ठीक ही लिखा है—“सूर्य के सात रंगों की समन्वित आभा की भाँति उनका व्यक्तित्व अद्भुत था और उन रंगों में मधुवर्णी हरा रंग था—पत्नी के प्रति अगाध स्नेह।”

जीवन कला के कलाकार

भारत सरकार के फिल्म डिवीजन ने ‘हमारे मन्त्री’ नाम से एक चित्रित बनाया था, जिसमें पं॰ जवाहरलाल नेहरू की दिनचर्या, कार्यक्षमता, बमशीलता, चुस्ती-फुर्ती स्वास्थ्य, सतर्कता और निस्पृहता आदि इन गुणों का दिग्दर्शन कराया था; जिनके आधार पर वे उतना अधिक कार्य करने और इतने ऊँचे पद का उत्तरदायित्व भली प्रकार वहन कर सकने में समर्थ हो सके।

नेहरूजी की दिनचर्या पशुन की तरह पूर्णतया नियमित और व्यवस्थित थी। वे प्रायः ५ बण्टे सोते थे और शीघ्र सवे समय अपने व्यस्त कार्यक्रम में लगे रहते थे। व्यक्तिगत कार्यों को वे फुर्ती से निपटाते थे ताकि अधिक समय अपने राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों के निर्वह में लगा सकें।

चुस्ती और फुर्ती उनका विशेष गुण था। स्टेनो से जब वे पत्रों का उत्तर लिखाते थे तो औसतन वे एक मिनिट में १२४ शब्द बोलते थे। कभी उत्तेजना में आ जायें तो वह साल २०१ तक का पहुँचती थी। उनके पास महत्वपूर्ण तार व पत्रों की संख्या लगाभग डेढ़ हजार रहती थी वे सभी को सावधानी से पढ़ते, देखते और गम्भीरतापूर्वक उत्तर लिखाते थे। चुनाव के दिनों उन्होंने तीन-तीन सौ मील की यात्राएँ लगातार इफ्तों तक की हैं और बहुत बार उन्होंने पन्द्रह-बीस सप्ताहों तक में भाषण दिये हैं फिर भी कभी उन्होंने थकान की शिकायत नहीं की और व कभी बीमार पड़े।

उनकी इस क्षमता के आधार मूल गुण थे—निश्चितता, मिताहार, तत्परता, निश्चिन्तता, निश्कलता और कर्तव्य-निहा। समय का एक क्षण भी बेकार नहीं गँवाते थे। दिनचर्या ऐसी बपी-तुली और व्यवस्थित रहती थी कि बेकार की बातें और बेकार के कार्यों में एक क्षण भी नष्ट न हो। जो काम करना उसे पूरी चुस्ती, मुस्तीदी और तन्मयता के साथ करना—इस गुण ने उनकी कार्यशक्ति कई गुनी बढ़ा दी थी। दूसरे लोग जबकि उतने समय में बहुत कम काम कर पते थे, वीले हाथ और उदास मन से किसी प्रकार समय काटते हुए बहुत समय में मोड़ा काम कर पते थे, तब पं॰ नेहरू उतने ही समय में अपनी फुर्ती और मुस्तीदी के कारण दूसरे साधियों की तुलना में दस गुना अधिक काम निबटा देते थे।

वे थरपेट जीवन कभी भी नहीं करते थे। पेट को खाली रखते थे ताकि अतिस्य न आये, पेट पर अनावश्यक वजन न पड़े और पाचन क्रिया में गड़बड़ी उत्पन्न न हो। वे शौच-स्नान के उपरान्त नियमित व्यायाम का क्रम अवश्य पूरा करते थे। व्यायामों में उन्हें सर्वांगीसन जैसे योगासन अधिक अनुकूल पड़ते थे।

बहुत उत्तरदायित्वों और समस्याओं में डलले रहने पर भी वे उन्हें अपने ऊपर हावी नहीं होने देते थे। चिन्तित

उन्हें कभी नहीं देखा गया। निराशा क्या होती है, वह उन्होंने जाना ही नहीं। कठिन से कठिन और विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में मानसिक सन्तुलन बनाये रहना और समाधान क्या हो सकता है? इसका सातचित्त से खोज करना उनकी मानसिक विशेषता थी। वही कारण था कि वे बिना उलझन में कैसे दुरूह समस्याओं के हल निकालने में सफल होते रहे। जो इस नहीं निकले उन असफलताओं में भी उन्होंने खिलाड़ी की मनुष्यमि कवच रखी। दुःखी या खोजते, कोसते उन्हें कभी किसी ने नहीं पाया।

व्यक्तिगत द्वेष, अहंकार और लोभ, स्वार्थ से वे कोसों ऊँचे थे। साधियों पर कभी-कभी वे झुल्ला भी पड़ते थे, पर वह आवेश एक क्षण भर का ही होता था। द्वेष या दुराव छू भी नहीं गया था। वे साधियों को सच्चे मन से प्यार करते थे फलतः जिन्हें छोटी-छोटी सुननी पड़ती वे भी न तो बुरा मानते थे और न अपना अपमान अनुभव करते थे। जो भी उनके सम्पर्क में आया वह प्रेम के बन्धनों में जीवन भर के लिए बँधकर रह गया। देश-भक्ति, लोक-संगल की कामना, कर्तव्यनिष्ठा का स्तर सदा इतना ऊँचा रहा कि व्यक्तिगत लोभ, मोह और अहंकार के प्रवेश की पहुँच वहाँ तक ही नहीं सकी। पं० नेहरू का पद, सम्मान और उत्तरदायित्व बहुत ऊँचा था और उससे भी ऊँचा था उनका महान् चरित्र एवं व्यक्तित्व।

साहसी नेहरू

१९२४ में प्रयाग में हुए अर्ध कुम्भ की बात है। संन्यस्यल की गहराई देखते हुए सरकारी अधिकारियों ने वहाँ स्नान करने पर प्रतिबंध लगा दिया। स्नानार्थी लाखों यात्रियों ने अधिकारियों से निवेदन किया पर व्यर्थ। अंग्रेज सरकार के अधिकारी भला जनता की बात क्यों मानते।

स्नानार्थियों को भीड़ रोकने के लिये सशस्त्री, डण्डेधारी पुलिस की व्यवस्था बनाई गयी थी। मालवीय जी ने स्नानार्थियों और अधिकारियों में समझौता करने का प्रयास किया। इस प्रयास में चार घंटे लग गये पर फल कुछ नहीं निकला। तभी एक युवक पुलिस के घेरे को चीरता हुआ गंगा में कूदा। उसके साथ ही दूसरा फिर तीसरा और देखते ही देखते सब लोग स्नान करने लगे। पुलिस ताकती रह गयी। पहले-पहले गंगा में कूदने वाले प्रथम युवक थे पं० जवाहरलाल नेहरू।

कमला नेहरू की त्यागशीलता

जब कमला नेहरू बीमार दशा में स्विट्जरलैण्ड में थीं, नेहरू जी उनके पास थे। भारत से तार गया-झीप चले आओ। भारत माता के साल मी की चेदियों को काटने के लिये तुम्हें आह्वान करते हैं। तार पढ़कर जवाहरलाल की आँखों के सामने अँधेरा-सा छा गया। एक तरफ पत्नी मरणासन और दूसरी ओर भारत माता की पुकार। किंकर्तव्यविमूढ़ हो चिन्तामग्न हो गये। कमला ने पति को अन्यमनस्क देखा पूछा-चिन्तित क्यों

हो? उत्तर मिला-कुछ नहीं। कमला बोली-"बात कुछ अवश्य है। आप कभी किसी बात को मुझसे नहीं छिपाते फिर आज चोरी क्यों?" जवाहर ने मीन लोड़कर स्पष्ट कर ही दिया कि एक ओर तुम इस दशा में हो, दूसरी ओर भारत माता का आह्वान है। यदि तुम्हारे मोह में तुम्हारे पास रहता हूँ तो दुनिया कहेगी कि कैसा स्वार्थी है जवाहर, चालीस करोड़ जनता की परवाह न कर मायाजाल में कैसे गवा और यदि जाता हूँ तो तुम कहोगी कि अन्त समय में भी साथ नहीं दिया। उत्तर मिला-नहीं प्राणनाथ! तुम चिन्ता न करो। मैं छोक हो जाऊँगी। तुमको माता स्वरूप रानी ने कमला के लिये नहीं, अपितु चालीस कोटि भारत माता के पुत्रों की पराधीनता की चेदियों को विच्छिन्न करने के लिये जन्म दिया है। तुम्हें अविलम्ब भारत चले जाना चाहिए।

कितनी त्याग की भावना थी इस उत्तर में। जवाहर आवे निज देश की गुलामी छुड़ाने और उधर चिरसंगिनी कमला इस दुनिया से सदा के लिये चल बसी।

नेहरू की संवेदनशीलता

पंडित जवाहरलाल नेहरू कार से कहीं जा रहे थे। खिड़की से सिर बाहर निकाल कर देखा कि एक लड़का बस से टकराकर सड़क पर गिर पड़ा है और खून से लथपथ है।

पंडितजी ने अपनी कार रुकवाई और उस लड़के के पास गये। वहाँ पर काफी लोग उस लड़के को घेरे खड़े थे पंडितजी को देखते ही उन्होंने जय-जयकार शुरू कर दी। वह पास में खड़े लोगों पर बरस पड़े "जय-जय क्या फिस्ला रहे हो, तुम्हें इस बच्चे को अस्पताल ले जाते हुए तर्प आ रही है" इतना कह उन्होंने अपनी कार में उस लड़के को लिटाया और अस्पताल ले गये इसके बाद ही वह पृथ्वी निर्धारित स्थान की ओर रवाना हुये।

प्रामाणिकता हो तो गंगाधर शास्त्री जैसी

दो मित्र आपस में बातें करते हुए घले जा रहे थे। एक कह रहा था-"व्यक्तित्व यदि प्रामाणिक हो, तो सहयोग सहकर मिलने में किसी को कोई कठिनाई नहीं होती।"

"किन्तु" दूसरा मित्र कुछ कहते कहते रुक गया।
"किन्तु क्या? क्या तुम मेरी बातों से सहमत नहीं हो?"

"सहमत तो हूँ, पर जो स्वयं अपनी आँखों से देख रहा हूँ उसे कैसे झूठला हूँ।"

"क्या देख रहे हो?"-मित्र ने प्रश्न किया।
"क्या तुमने सदाशिव के बारे में नहीं सुना। किस प्रकार लोगों की आँखों में धूल झाँक कर कैसे ऐंठ रहा है। अन्धकस तो उसकी चाँदी है। पाँचों अँगुलियाँ भी हैं। कभी-कभी तो मैं भी सोचता हूँ कि क्यों न उसी का

रास्ता अपना लूँ ? कम से कम मौज मस्ती की विन्दगी तो कटे । दिन भर का पसीना बहाकर बस उतना उपार्जित कर पाता हूँ, जिससे किसी प्रकार खींचतान कर परिवार का गुजर चल पाता है । दूसरी तरफ सदाशिव को देखो । काम न धाम, फिर भी अभीरी जैसे ऐल । कितना पक्षपाती है भगवान । एक तो ब्रम कर-करके मर रहा है और दूसरा हाथ तक नहीं हिलाता व कमता रहता है ।

“भगवान को दोष तुम दो, दोस्त । मुझे तो अपना सौभाग्य मानना चाहिए कि हम परिश्रम की कमाई खाते हैं और मुफ्त के माल को हाथ भी नहीं लगाते । सारी बीमारियाँ मुफ्त के माल के साथ ही जुड़ी होती हैं । सबसे अधिक रोगी और बीमार ऐसे ही लोग होते हैं, क्योंकि वे पसीना बहाने से जी जी चुराते हैं । अनैतिक कमाई के कारण समाज में अपमान और अन्तर्द्वेष होता है सो अलग और कोई फिर क्या तुम्हें नहीं मालूम काठ की हाँड़ी चूल्हे में एक ही बार चढ़ती है ।”

“हाँ, मालूम तो है और वह भी जानता हूँ कि ऐसे लोगों के झूसे में व्यक्ति एक बार से दूसरी बार नहीं खाता, भले ही दूसरी बार वह सही हो क्यों न हो, क्योंकि उसने अपनी प्रामाणिकता जो खो दी ।”

“बिल्कुल ठीक कहा । क्या तुमने भेड़िये और कालक की वह कहानी नहीं सुनी, जिसमें कालक इतिदिन सूतपूठ भेड़िया-भेड़िया चिल्लाकर किसानों को इकट्ठा कर मजा लेता और एक बार जब भेड़िये से सचमुच सामना हो गया, तो उसकी चीख-पुकार से भी कोई मदद के लिये नहीं आया । वह जान गया बैठा, क्योंकि किसान उसे मसखरा बालक समझ बैठे थे । अतः मित्र अप्रामाणिकता की हानियों को समझने की कोशिश करो ।”

“क्या तुमने काशी के शासकीय संस्कृत महाविद्यालय के आचार्य श्री गंगाधर शास्त्री के बारे में नहीं सुना है ?”

नाम तो कुछ परिचित-सा जान पड़ता है, पर इससे अधिक कुछ विशेष उनके बारे में मालूम नहीं । तबिक उन पर प्रकाश डालने की कोशिश करेंगे ?

“अवश्य-अवश्य । मैं उन्हें अरक्त निकट से जानता हूँ । कई बार निजी रूप से भी मिला चुका हूँ । अतिसव शालीन और नम्र प्रकृति के व्यक्ति हैं । कपनो और करनो में कामा और छाया जैसी सम्मनता । किसी को भी खचन दे दिया, वे उसे समय पर पूरा करते हैं । जो कहते हैं, वहीं करते भी हैं अन्दर और बाहर कोई असमानता नहीं । जो बात मन में है, उसी को वे प्रकट करते और तदनुकूल करते भी हैं । इन्हीं गुणों के कारण तो समाज में उनका सम्मान और प्रतिष्ठा है और मितव्ययिता की तो बात ही क्या ? ऐसा प्रतीत होगा, मानो प्राचीनकाल के किसी अपरिग्रही ऋषि से साक्षात्कार हो गया हो ।

“कुछ और विस्तार से बताने की कृपा करो ।”

“हाँ १८९७ की घटना है । एक दरिद्र ब्राह्मण के मन में विशाल यज्ञयोजन की इच्छा हुई, पर वह स्वयं और

अपने परिवार का मुस्तकल से ही किसी प्रकार गुजारा कर पाता था । पैतृक सम्पदा कुछ भी नहीं । नित कुँआ छोड़ने और पानी पीने जैसी स्थिति थी, फिर इतना विशाल यज्ञ कैसे सम्पन्न हो । बहुत विचार करने के बाद उसके मन में एक उपाय सूझा-काशी संस्कृत कॉलेज के आचार्य गंगाधर शास्त्री के पास चला जाय । वही इस संदर्भ में सहायता कर सकते हैं । उनकी सज्जनता और सहृदयता की प्रशंसा उसने भी सुन रखी थी, सो एक दिन वह उनके घर पहुँच गया । समस्या बतायी, पर शास्त्री जी तो स्वयं छोटे से वेतन में अपना, अपने परिवार का निर्वाह कर रहे थे । फिर छोटी-मोटी रकम की बात होती, तो कहीं से प्रबन्ध भी कर देते, किन्तु ब्राह्मण की योजना तो विशाल आयोजन की थी, जो उनके बूते के बाहर की बात थी । मगर कुछ सोचकर उन्होंने हाँ कर दी । ब्राह्मण तैयारी में जुट पड़ा और शास्त्री जी ने पूरे धेड़ में वह ऐलान करवा दिया कि एक विशाल ब्रह्मयोजन हेतु जनता की सेवायें तन, मन, धन से अर्पित हैं । आपके सहयोग के बिना यह सम्पन्न नहीं हो सकता । एक ब्राह्मण की प्रतिष्ठा का सवाल है । आशा है-आप सब इस क्षेत्र में कोताही नहीं करेंगे । इतना ऐलान करवाना था कि दूसरे ही दिन से उनके घर के सामने दानदाताओं का राता लग गया । कई दिनों तक यह क्रम चलता रहा । काफी बड़ी राशि दान में आ गयी । फिर भी दान-दाताओं की कतार लगी रहती ।

शास्त्री जी ने जब यह महसूस किया कि अपेक्षित धन एकत्र हो गया है और इतने से यज्ञ की सफलता में कोई कमी नहीं पड़ने वाली है, तो उन्होंने कातर भाव से विनीत होकर दानार्थी से आग्रह किया कि “बड़ी विचारापूर्वक कड़ना पड़ रहा है कि जितने धन की आवश्यकता थी, वह जमा हो गया है । अब और की जरूरत नहीं रही । अतः शेष लोगों की सेवायें [] में आवश्यकता पड़ने पर से ली जाएंगी । अस्ता है मुझे क्षमा करेंगे ।” इस घोषणा के बाद लोग बेचन से वहाँ से चल पड़े । उन्हें दुःख इस बात का था कि वह सुपात्र की सत्प्रयोजन के लिये सहायता करने से वे चूक गये, पर गंगाधर शास्त्री के बार-बार समझाने पर उनकी पीछा कुछ इलकी हुई । बाद में नेपाल मोल वे भी अपने वहाँ ऐसे ही यज्ञ सम्पन्न करने के लिये उन्हें आपन्नित किया । वे बचे और इस प्रकार के अनेक यज्ञ सम्पन्नित किये । दान-दक्षिणा के रूप में वहाँ उन्हें जो कुछ भी धन प्राप्त हुआ, उसे वहाँ एक पाठशाला के निर्माण के लिये खर्च कर दिया । स्वयं के लिये उस राशि से एक कुटी कौड़ी भी नहीं रखी । इसे प्रामाणिकता कहते हैं, मित्र ! व्यक्ति प्रामाणिक हो तो गंगाधर शास्त्री की तरह ।

सखा ने सपर्यय में फिर हिलाया और कहा “आज इसीलिए हर व्यक्ति एक-दूसरे को शंकित दृष्टि से देखता है, क्योंकि उसके आचरण और व्यवहार में चमीन आसमान का अन्तर होता है । अभी जो कुछ कहा, दूसरे ही क्षण उसके विपरीत आचरण । प्रामाणिकता के अभाव

यें कोई किसी को सहायता करने से भी हिचकिचाता है । हमें भी श्री गंगाधर शास्त्री की तरह बनने की कोशिश करनी चाहिए, मित्र ।" यह संकल्प लेकर दोनों मित्र अपने अपने घर गये । सचमुच प्रामाणिकता सबके द्वारा सराही जाती है ।

उत्कट देशभक्ति के प्रतीक

राव तुलाराम

असफलताएँ जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में आती हैं वैसे ही देश व समाज के जीवन में भी आती हैं और वे सफलता का प्रथम सोपान बनकर अपनी भूमिका निभा जाती हैं । हम जब इनका मूल्य ओंकेने बैठते हैं तो प्रायः सफलताओं पर ध्यान केन्द्रित कर बैठते हैं और असफलता के रूप में आयी उन घटनाओं का मूल्यांकन करना भूल जाते हैं । १८५७ की क्रांति के बारे में भी हमारे कुछ ऐसे ही विचार हो सकते हैं पर वे सही नहीं हैं ।

१८५७ के संग्राम के सेनानी का मूल्य असहयोग के किसी सेनानी से कम ओंकना उनके साथ अन्याय करना ही होगा । युग के संदर्भ में उनकी भूमिकाएँ भी उतनी ही महत्वपूर्ण थीं जितनी बाद वालों की रहीं । अतीत के गर्भ में दबे उन स्वतन्त्रता के दीवानों का व्यक्तित्व व कर्तृत्व हमारे लिये आज भी प्रेरणा का स्रोत बन सकता है । ऐसे ही एक सेनानी की बात हम करने जा रहे हैं, राव तुलाराम की, जिन्होंने हरियाणा में इसका नेतृत्व किया ।

राव तुलाराम ९ दिसम्बर, १८२५ में रेवाड़ी के राज परिवार में जन्मे । सुख-सुविधाएँ और हास-वितास के साधनों की सुलभता ने अधिकांश व्यक्तियों को स्वकेन्द्रित और अकर्मण्य बनाया है । अंग्रेज इस तथ्य को अच्छी तरह जानते थे अतः उन्होंने देशी राजाओं के राज्यों का प्रबन्ध अपने हाथ में लेकर उन्हें इन्हीं सब फन के जंगलों में डल्लाकर वर्चस्वहीन बना दिया था । किन्तु जब उन्हें बड़ी ठोकर लगी । १८५७ की क्रांति के पीछे यह एक बहुत बड़ा कारण था । किन्तु राव तुलाराम के सामने ऐसी कोई दिक्कत नहीं थी । वह तो विशुद्ध रूप से देशप्रेम से ही प्रेरित हो इस संग्राम में कूदे थे ।

जिस नवयुवक को दैहिक सुखोपभोग के समस्त साधन उपलब्ध हों वह फिर क्रांति और देशप्रेम की बातें कैसे करने लगता, जबकि उसकी तरह अन्धान्ध राजकुमार तो इन्हीं से डलझे हुए थे । इस परिवर्तन का श्रेय उनकी अध्यात्म दृष्टि को जाता है जो अपने कुलगुरु से मिली थी । स्मरण रहे १८५७ की क्रांति में गुप्त प्रचार का काम समान के इसी वर्ग ने किया था ।

अंग्रेज अपना राज्य स्थापित करके ही चुप नहीं रह गये थे । उनका पहला हमला जो भारत की भूमि पर हुआ

था और वे अपनी भेदनीति के कारण उसमें सफल भी हो गये पर उनका अगला हमला भारतीयों के धर्म और उनकी संस्कृति पर था, यदि वे इसमें सफल हो जाते तो फिर उन्हें यह सोने की बिड़िया छोड़नी न पड़ती । पर इस दूसरे हमले से भारत का जनमानस आन्दोलित हो उठा था । यह कहना कि १८५७ की क्रांति थोड़े से राजाओं का विद्रोह या सरासर बलव होगा । इस क्रांति के जन्म के मूल में धर्म संस्कृति पर होने वाला आक्रमण ही था । सभी तो सैनिक, साधु-संन्यासी और सामान्य प्रजाजनों ने भी इसे अपनी सड़ाई मानकर इसे जारी रखा था । अंग्रेज इतिहासकारों ने इसे विप्लव की संज्ञा देकर सत्य पर परदा डालने का प्रयत्न किया है । वस्तुतः यह आंशिक रूप से राजनैतिक और आंशिक रूप से धर्मयुद्ध था ।

राव तुलाराम कुशल प्रशासक व योग्य सेनानी थे । इस तथ्य को उनके बड़े भाई कृष्ण गोपाल राव भली प्रकार जानते थे । बड़े भाई ने इस युद्ध में रेवाड़ी का मोर्चा अपने छोटे भाई को सम्हालाया । और स्वयं मेरठ की कमान सम्हालने जा पहुँचे राव तुलाराम ने रेवाड़ी का प्रबन्ध हाथ में अगले ही भारत माँ की कंधियाँ तोड़ फेंकने के कार्य में जी जान से जुट पड़ने का निश्चय कर लिया ।

रेवाड़ी एक छोटी-सी रियासत थी । एक रियासत के छोटे से अधिपति की क्या हिम्मत थी कि वह एक ऐसे साम्राज्य को चुनौती दे जिसमें कभी सूर्य अस्त ही नहीं होता । किन्तु यहाँ स्मरणीय तथ्य यह है कि इस बार देशी राजाओं ने संगठन की शक्ति को समझा था, साथ ही देश धर्म को अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं के ऊपर स्थाप दिया था । राव तुलाराम की शक्ति भी ये उदात्त भावनाएँ ही थीं ।

क्रान्ति की बास्तू में आग समय के पहले पड़ जाने पर भी अंग्रेजों को छत्ती का दूध पाद आ गया था । क्रांति का ज्विगल बजते ही राव तुलाराम ने गुडगाँव मेजरल फोर्ड की अंग्रेज सेना की ओर रुख किया । कर्नल फोर्ड व उसके सैनिक इन देशधर्कों के आगे ठहर सके । इस लड़ाई में उन्हें रसद, गोला बारूद की प्राप्ति भी हुई । अब तो उन्होंने रेवाड़ी के निकट की अंग्रेजी-छावनी का भी सफलता कर उस पर अधिकार कर लिया ।

गोकुलगढ़ में तोपें डालने व एकसाल आरम्भ करके उन्होंने दिल्ली और आसपास के देशभक्त क्रांतिकारियों की धन व शस्त्रास्त्र से सहायता की । १६ नवम्बर को नसीबपुरा में इनका मुकाबला कर्नल जोरार्ड से हुआ । अंग्रेजी सेना के पास तोपें, गोला-बारूद व सैनिक संख्या अधिक होने के बावजूद भी वे इन अल्प प्रशिक्षित देशधर्कों के सामने नहीं ठहर सके । कर्नल जोरार्ड व उसके बहुत से सैनिक राव तुलाराम व उनके साथियों के द्वारा मारे गये । किन्तु दूसरे ही दिन पंजाब व राजस्थान के देशी राज्यों की सेनाएँ अंग्रेजों की मदद

के लिये आ पहुँचीं । उनसे हुए संग्राम में वे बुरी तरह घायल हुए । उनके साथियों ने उन्हें सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया ।

इस पराजय से राव तुलाराम निराश नहीं हुए । देशव्यापी क्रान्ति में एक स्थान पर हुई पराजय को उनके लिये कोई अर्थ नहीं था और फिर वे इस संग्राम में कूदे तो सब आगा-पीछा सोचकर ही कूदे थे । देश और धर्म के लिये मरे तो स्वर्ग और जीवित रहे तो विजय श्री का वरण, इस भावना ने उन्हें निराश होने का अवसर ही नहीं दिया ।

उन्होंने अपनी बची खुची शक्ति को एकत्रित किया और हजार कष्ट-कठिनाइयों को सहते हुए भी अज्ञाती की सड़ाई को घारी रखने के लिये कालपी के निकट तौत्वाटोपे से आ मिले ।

इस समय उस क्रान्ति के भ्रम एक-एक करके टूटते जा रहे थे । नाना साइब और तौत्वाटोपे भी इस स्थिति में नहीं थे कि इसको सफल बना सकें । समय के पूर्व भिन्न-भिन्न समय में भिन्न स्थानों पर क्रान्ति फूटने का कारण इसमें वह शक्ति नहीं रही जो चकावक विस्फोट में हो सकती थी फिर भी राव तुलाराम निराश नहीं हुए । वे अंग्रेजी सरकार की आँखों में भूल झोंकते हुए भारत की भावी स्वतन्त्र सरकार के जनरल बनकर विदेशी सरकारों से सहायता लेने के लिये प्यारत से बाहर निकले । वहाँ पुनः शक्ति संगठित करने का प्रयास किया । बचकर भारत से भाग निकलने वाले क्रान्तिकारियों को उन्होंने संगठित भी किया पर वे उनसे कुछ काम ले पाते, उसके पूर्व उनका देहान्त हो गया । उनकी देशभक्ति की यह भावना भारत की नयी पीढ़ी की व्यक्तिगत सुखों से ऊपर उठकर राष्ट्र के जीवन-मरण के प्रश्नों को सुलझाने की प्रेरणा देती रहेगी ।

जिन्होंने जनता को मया स्वर दिया—

ठाकुर दयानन्द

सन् १९०५ में जब राष्ट्रीय नेताओं ने स्वदेशी अफनाने का आह्वान किया तो भारतीय देशभक्तों में, साम्राज्य अफ्सी हो पर विदेशी वस्तु परित्याग्य और कितनी भी बुरी हो पर अपने देश की चीज अच्छी, इस विचारधारा ने लाखों व्यक्तियों के आन्तरिक और बाहरी जीवन में उफ़ल-पुफ़ल मचा दी । उस समय तो राजनैतिक आन्दोलन बड़ी तेजी से बढ़का पर शीघ्र ही उसका जोश ठण्डा पड़ने लगा । यह आन्दोलन कुछ ही समय में शान्त भले ही पड़ गया हो पर इसका प्रभाव विरामायी हुआ ।

जो भावनाशील लोग इस आन्दोलन के प्रवाह में बह गये थे उन्होंने बहना ही स्वीकार किया । बंगाल के एक

राजकीय कार्यालय में कार्यरत एक कर्मचारी ने देश-प्रेम की भावना में अपनी नौकरी छोड़ दी और राष्ट्रीयता तथा भारतीयता के प्रति स्वयं को समर्पित कर दिया । युवक का चिन्तन दूसरी ही दिशा में चल रहा था । वह सोचता था वर्षों की गुलाबी ने भारतीय जनमानस को इस बुरी तरह दिवालिया बना दिया है कि वह अपने गौरवशाली सांस्कृतिक मूल्यों को भी भूलता जा रहा है । कई शताब्दियों के इस्लामी राज्य ने भारतीय जनता को अपनी संस्कृति के प्रति ठठन उदासीन नहीं बनाया जितना कि लगभग १०० वर्ष के ब्रिटिश राज्य ने । युवक इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जब तक भारतीय जनता के हृदय में भारतीय जीवन मूल्यों के प्रति अस्थिरता को पुनर्जागरण नहीं किया जाता तब तक स्वदेश प्रेम का स्याही आधार नहीं बनेगा ।

स्वदेशी आन्दोलन जब ठण्डा पड़ गया तो कई विचारशील व्यक्तियों ने भी इस स्थिति को अनुभव किया । वे भी सोचने लगे कि हम लोग अपने जातीय महत्व और गौरव को रतने-रतने भूलते जा रहे हैं । विस्मृति का यह नम्रोर रोग अपनी सीमा पर पहुँच गया है अगर थोड़े समय और ऐसा चलता रहा तो भारत में ब्रिटिश राज के पैर स्थायी रूप से जड़ें जमा लेंगे । अतः मूर्धन्य नेताओं का ध्यान सांस्कृतिक पुनर्जागरण की ओर भी गया । कई लोग अभिमान स्तर के प्रयास में जुटे, सभाएँ होती, संगठन खड़े किये जाने लगे, जन-सम्पर्क आरम्भ हुआ और जन-साधारण की धीमि-धीमि के तरीकों से अपने सांस्कृतिक गौरव का स्मरण कराया जाने लगा ।

पर यह युवक जिसकी आयु मुश्किल से तीस वर्ष रही होगी-अपने लिए भिन्न रास्ता बना रहा था । वह आसाम के सिलचर नगर में गया और वहाँ से तीन मील दूर महादी जगह पर एक आश्रम की स्थापना की । जिसका नाम रखा-अरुणाचल आश्रम । अन्य लोग जहाँ सभाएँ आयोजित कर भाषणों द्वारा सांस्कृतिक पुनर्जागरण का कार्य वैचारिक धरातल पर कर रहे थे, वहीं इस युवक ने विचार से भी अधिक तहरे प्रभावित करने वाली भाषनाओं के तार फेंके । आश्रम में मिल्य प्रति संकीर्तन चलता और उनके माध्यम से लोगों की भावनाएँ जगायी जाती । संकीर्तन और भजन गायन से किसको परहेज होता सो सभी वर्ग के लोग आश्चर्य करते । युवक की भाषा में ऐसा जादू था कि वह हर किसी के हृदय को छू जाती और मन में ऐसी टीस कि सुनने वालों के अन्दर तक घुसती जाती । वहीं करण था कि आश्रम में आने वाले युवक धीरे-धीरे देश और जाति के लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने की प्रवृत्ति से संन्यास लेने लगे । इस प्रकार जन जागरण का विशेष प्रयोजन पूरा करने के लिए धर्म के माध्यम से ही उठगे पग बढ़ाने वाले अरुणाचल आश्रम के संस्थापक का नाम था ठाकुर दयानन्द । जिन्होंने आगे चलकर जब स्वतन्त्रता आन्दोलन ने जोर पकड़ा तो एक से एक तपे हुए स्वतन्त्रता सेनानी देश को दिये ।

४.२८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

अरुणाचल आश्रम में समयानुसार शंकर और महाकाली की प्रतिमा स्थापित की गयी थी और उसकी अवस्था स्वामी विवेकानन्द की शिष्या भगिनी निवेदिता को कन्या गया। सिस्टर निवेदिता उस समय भारत में स्त्री शिक्षा और समाज सेवा का कार्य कर रही थीं तथा युवकों को राष्ट्र प्रेम और देशभक्ति की प्रेरणा भी देती। आश्रम में हर वर्ग और हर स्थिति के व्यक्ति को आने तथा मिशन का कार्य करने की छूट थी। लिंग और जाति भेद के कारण किसी से असमानता का व्यवहार नहीं किया जाता था। इस कारण ठाकुर दयानन्द के इस प्रवास की सामाजिक और विचारशील धार्मिक नेताओं ने भी सराहना की।

आश्रम में ही संकीर्तन का केन्द्र और धर्म प्रचार का कार्य करता दिखाई देता था। पर मूलतः वहाँ से जो प्रवृत्तियाँ चलती थीं वे राष्ट्रीयता के जागरण और लोगों में स्वतन्त्रता प्राप्ति की भावना जगाने का ही प्रयोजन पूरा करती थीं। इस मिशन को कार्यप्रणाली बहुत कुछ बंकिम चन्द्र के उपन्यास 'आनन्दमठ' की तरह थी, आनन्दमठ उपन्यास ने अपने समय में स्वतन्त्रता आन्दोलन को जो बल दिया वह एक संगठन से भी अधिक है। इसमें एक ऐसे संन्यासी दल की कहानी है जो किसी घने जंगल में गुहा बनाकर रहता है और विदेशी शासकों को मार्भूमि से छुड़े देने का प्रयत्न करता है।

अरुणाचल आश्रम के कार्यकर्ता कुछ दिनों बाद गाँव-गाँव में भ्रमण करने लगे और प्रचार तथा संगठन बनाने लगे। उनके भक्तों से सांस्कृतिक जागरण की ध्वनि सुनकर अंग्रेज अधिकारियों को शका होने लगी कि ठाकुर दयानन्द कहीं 'आनन्द मठ' की योजना को कार्यान्वित करने में तो नहीं लगे हैं, इसकी जाँच करने के लिए जामूस भी लगाये गये पर सारा काम इतने सुनियोजित ढंग से चलता रहा कि अंग्रेजों को उन पर हाथ डालने का मौका भी नहीं आया।

लेकिन अधिकारियों को तो जैसे विस्वास हो गया था। इसलिए सरकार ने अरुणाचल आश्रम के आस-पास पुलिस का पहरा लगा दिया। वे आश्रम से सम्बन्धित लोगों को भी तरह-तरह से डराने-धमकाने लगे। शासकीय कर्मचारियों पर आश्रम से कोई सम्बन्ध न रखने के लिए प्रतिबन्ध लगा दिया गया और उनका अनाज जमा भी रोक दिया गया पर आश्रमवासी इससे न तो विचलित हुए और न भयभीत। वे अपना काम पूर्ववत् करते रहे। अंग्रेज सरकार ने जब आश्रम के कार्यकर्ताओं को परेशान करना आरम्भ किया तो सन् १९११ में ठाकुर दयानन्द ने घोषणा की कि सरकार हम पर जो दोष लगा रही है और हम पर अत्याचार कर रही है उससे मजबूर होकर हम भी वह घोषणा करते हैं कि उसे हम अपना तत्वन नहीं मानते। आश्रमवासी उससे परेशान होकर जो कदम उठावें उसकी जिम्मेदारी शासक वर्ग पर ही होगी।

इस घोषणा से सरकारी अधिकारियों का रोव और बढ़ गया तथा ८ जुलाई, १९१२ को पुलिस के एक बड़े

दल ने आश्रम पर धावा बोल दिया। आश्रमवासियों ने पुलिस वालों का प्रतिरोध नहीं किया तो भी शीघ्र ही पुलिस के सिपाहियों ने गिरफ्तार कर लिया और उन्हें कन्दूक के कुन्दों तथा सगाँवों से बहुत घारा। महात्मा गाँधी ने इससे आठ वर्ष बाद असहयोग का हाँखनाद किया था पर ठाकुर दयानन्द ने जैसे उसी समय असहयोग का एक उदाहरण प्रस्तुत किया। आक्रमण उन पर भी हुआ और उनकी रक्षा करते हुए बाता मैरेवी की हड़्डी टूट गयी।

सब मिलाकर लगभग ६० व्यक्ति गिरफ्तार किये गये। जिन्हें सत्र तक बने में रखा गया। उनमें से ४५ को छोड़ दिया गया और शेष पर मुकदमा चलाया गया जिनमें ठाकुर दयानन्द भी थे। ठाकुर दयानन्द ने अदालत में भी बयान देने से इन्कार कर दिया और वहाँ भी असहयोग किया। उन्होंने इतना ही कहा—“अभी तक सरकार ने हमारी शिकायतों पर ध्यान न देकर पक्षपात किया है। इसलिए मुझे अपने बचाव के लिए कुछ नहीं कहना।”

ठाकुर दयानन्द के अन्य शिष्यों ने भी उनकी का अनुसरण किया और उन्होंने भी अपने बचाव में कुछ नहीं कहा। जब किसी ने अपने बचाव में कुछ नहीं कहा तो फैसला करने में क्या लगता था। अंग्रेज न्यायाधीश ने ठाकुर दयानन्द को डेढ़-डेढ़ वर्ष की और शेष व्यक्तियों को तीन महीने से लेकर एक वर्ष तक की सजा दी। जेल जाते समय उन्होंने अपने अनुयायियों को धैर्य बँधाते हुए कहा—“जिन लोगों में आध्यात्मिक शक्ति का विकास हो चुका है, उनकी गति को कोई नहीं रोक सकता। यहाँ तक कि भगवान भी।”

उनके शिष्यों की आतंककारी कार्यों का भय नहीं था वरन् अपने गुरु पर आयी इस विपत्ति का दुःख था। लेकिन वे हाथ पर हाथ रख कर बैठे नहीं रहे। कुछ समय बाद, अरुणाचल आश्रम के कार्यकर्ता पुनः संगठित होकर अपना कार्यक्रम चलाने लगे। अब जगह-जगह कीर्तन बढ़ होते। यचना नगर के एक कार्यकर्ता ने अपने वहाँ सात दिन अखण्ड कीर्तन चलाया। इससे वहाँ के अधिकारियों में बड़ी खलबली और चिन्ता फैली। उन्होंने किसी तरह कीर्तन मण्डली को वहाँ से हटाया।

राष्ट्रीयता की भावना को जाग्रत करने के साथ-साथ अरुणाचल मिशन की दूसरी विशेषता भी समाज सुधार के कार्यक्रम। उस समय ऊँच-नीच, बाल-विवाह, सती प्रथा आदि कितनी ही कुरीतियाँ समाज को घुन की तरह चाटे जा रही थीं। स्वामी जो द्वारा चलाये गये कीर्तन कार्यक्रमों द्वारा सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन से चेतना जाग्रत हुई।

इसके साथ ही ठाकुर दयानन्द ने सामाजिक विचारधारा भी समाज को दी और अरुणाचल मिशन की विचार और कार्यप्रणाली को स्पष्ट करते हुए मिशन की एक पत्रिका में लिख—एक नवीन शक्ति प्राप्त करके संन्यासियों

का एक दल कार्य सिद्धि के लिए उद्यत होगा। अनेक युवक साधनारत होकर अग्रसर होंगे। भारत चाग्रत होगा, समस्त विश्व में धर्म का राज्य स्थापित करने के लिए अब नया प्रकाश और नवीन आनन्द लेकर नया युग आ रहा है। भारतवासी शुद्ध होकर नहीं रहेंगे वरन् सारे विश्व में एक विराट और उदार सभ्यता का प्रचार करेंगे।

इस प्रकार विश्वधर्म और विश्व मैत्री का संदेश देते हुए ठाकुर दयानन्द ने सन् १९३१ में महाप्रवचन किया। उन्होंने भारतीय जनता को नवजागरण का संदेश देते हुए विश्वधर्म का जो उदार स्वरूप विचारशील व्यक्तियों के सम्मुख रखा आज भी जन-जन के लिए प्रेरणास्रोत का कार्य कर रहा है।

दास बाबू की दानशीलता

श्री चितरंजनदास के पिता श्री भुवन मोहन सिर से पैर तक कर्म में डूबे हुए थे। वे स्वयं एक अच्छे वकील थे और काफी आमदनी थी पर अत्यन्त उदार और उग्र स्वभाव के कारण उन्होंने दूसरे कितने ही लोगों की देनदारी स्वीकार कर ली थी। एक बार अपने क्लर्क की प्रार्थना पर वे किसी व्यक्ति के जमानतदार हो गये, पर वह धोखेबाज आदमी निकला और भुवन मोहन पर उसके ३० हजार रुपये की देनदारी आ गई। जिस समय दास बाबू ने वकालत आरम्भ की वे सारे ऋण, पिता-पुत्र दोनों के नाम लिख दिये गये। कुछ लोग तो अपना रुपया वसूल करने अदालत तक जा पहुँचे। इस कारण भुवन मोहन और चितरंजन दोनों को दिवालिया घोषित कर दिया गया और १६ जून, १८९६ को उनकी जायदाद और मकान-असबाब पर सरकारी कब्जा हो गया।

चार साल से भी अधिक समय तक दास बाबू को अपने बड़े परिवार का भरण-पोषण करने के लिए कठिन संघर्ष करना पड़ा। कलकत्ता हाईकोर्ट के बड़े-बड़े वकील प्रायः दीवानी मुकदमे ही करते हैं। पर इस क्षेत्र में वकालत चल निकलने और सफलता मिलने में काफी देर भी लगती है। दास बाबू की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे इतने दिन प्रतीक्षा कर सकें। इसलिये उनको फौजदारी मुकदमे भी लेने पड़ते थे और उनकी पैरवी के लिये जिलों की छोटी अदालतों में जाना पड़ता था। जब अन्य सब वकील अपनी घोड़ागाड़ी (वस समय तक मोटरें नहीं चली थीं) में बैठकर हाईकोर्ट जाते थे तब दास बाबू ट्राम द्वारा जाते और वहाँ से पैदल घर आते। इतना ही नहीं उनको अनेक बार अपनी हैसियत के बैरिस्टर्स की अपेक्षा कम फीस स्वीकार करने पर मजबूर होना पड़ता था।

उस समय दास बाबू की आर्थिक दशा कितनी खराब थी इस सम्बन्ध में नाटोर के महाराज ने एक बार एक

घटना सुनाई थी। उनकी चितरंजन से घनिष्ठ मित्रता थी और वे उनके यहाँ प्रायः आते जाते रहते थे। एक बार जब महाराज उनके यहाँ पहुँचे तो देखा कि चितरंजन उदास और अकेले बैठे हैं। कुछ समय बाद जब फिर वे वहाँ गये तो उनको पहले की अपेक्षा बहुत प्रसन्न पाया। इसका कारण यह था कि उनको एक ऐसा मुकदमा मिल गया था जिसमें ३०० रु० फीस मिलने वाली थी। महाराज एक बड़े मुकदमे के लिये इतनी छोटी रकम देखकर आश्चर्य करने लगे पर दास बाबू ने उसे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया था, क्योंकि उन दिनों उनके पास घर के दैनिक खर्चों के लिये भी पैसा न था।

पर इतना होने पर भी दास बाबू के हृदय में न किसी प्रकार की दोनता आई थी और न वे धन को अनुचित महत्व देने लगे थे। उनको अपने ऊपर लगे 'दिवालिया' के क्लर्क को भिटाने की भी बड़ी चिन्ता थी और कुछ वर्षों बाद जब उनकी बैरिस्टरी अच्छी तरह चल निकली तो उन्होंने कानूनी तौर पर बाध्य न होने पर भी तत्पक्ष कर्जदारी का एक-एक पैसा चुका दिया। इतना ही नहीं जो लोग कर्ज का रुपया लेने न आये अथवा जिन्होंने मित्रतावश लेने से इन्कार किया उनके नाम का रुपया अदालत में जमा कराके अपना तथा अपने पिता का नाम दिवालियों की सूची से कटवा दिया।

इस तरह का आर्थिक संकट सहन करने पर भी दास बाबू की उदारता और त्यागवृत्ति में कोई अन्तर नहीं आया था। इस दृष्टि से कहा जाय तो वे अपने पिता के 'योग्य उत्तराधिकारी' थे। इतना अन्तर अवश्य था कि जहाँ उनके पिता ने धूर्त लोगों के फन्दे में फँसकर घाटा उठाया, वहाँ दास बाबू ने ऐसे कार्यों में धन व्यय किया जिनसे उनका नाम चिरस्मयी हो गया और वे लोगों की दृष्टि में पूजनीय बन गये।

ऋण-मुक्ति

चितरंजन दास के पिता दास लाख रुपया कर्ज छोड़कर मरे थे। नवयुवक दास ने निश्चय किया कि वे सब का कर्ज चुकावेंगे। कर्ज रिश्तेदारों का था। सभी आसूदा वे इसलिए लड़के की परेशानी को देखते हुए कर्ज वापस नहीं लेना चाहते थे पर दासबाबू भी किसी का ऋण रखना अपनी बेइच्छती समझते थे। वे जो कमाते गये, अदालत में जमा करते गये। बाद में उन्होंने विज्ञापन प्रकाशित कराया कि जिनका कर्ज हो वह अपना पैसा ले जायें। बहुत दिनों वह पैसा जमा रहा तब उन्होंने दूँढ़ दूँढ़कर कर्जदारों का पता लगाया उनका हिसाब चुकता किया। हालाँकि लोगों को यह विश्वास नहीं था कि अपना पैसा वापस आयेगा। परन्तु बाबू चितरंजन दास ने वह सब अदा किया।

किसी व्यक्ति की बेइज्जती यह है कि वह अनिवार्य आपत्ति के अवसर को छोड़कर अपना खर्च बढ़ाकर उसके लिए कर्ज ले और उससे भी बड़ी बेइज्जती यह है कि होते हुए भी ऋण चुकाने में जानबूझती करे। चित्तरंजनदास ने अपने लिए निर्धनता निम्नत्राण करके भी ऋण मुक्त होना अपना कर्तव्य समझा। वही आदर्श हर ईमानदार व्यक्ति का होना चाहिए।

समय पर सहायता

एक बार एक वृद्ध ने, कोठी से निकलते हुए किसी भद्र पुरुष से पूछा—“क्या आप मुझे इस कोठी के स्वामी से मिला देंगे।”

“क्या काम है उनसे, मुझसे कहिये?” भद्र-पुरुष ने कहा।

“मेरी बेटी का विवाह है। तीन सौ रुपये चाहिए, हुआ। यदि उनसे मिल गये तो मैं अपनी बेटी का विवाह कर सकूंगा।” गरीब वृद्ध ने कहा।

आओ मेरे साथ। और भद्र-पुरुष वृद्ध को कार में अपने साथ बैठाकर ले गया। थोड़ी दूर जाकर कार रुकी। भद्र-पुरुष उतरे और सामने छोटी बिल्डिंग में प्रवेश कर गये। जाते-जाते वह वृद्ध को भी पास के एक बरामदे में बैठने को कह गये।

थोड़ी ही देर बाद एक घपरासी बरामदे में आया और वृद्ध को पाँच सौ रुपये सँभालवाते हुये बोला—“भाई! वह पाँच सौ रुपये हैं। तीन सौ मैं अपनी बेटी का विवाह करना और बाकी दो सौ से विवाह के बाद कोई ऐसा धन्धा कर लेना, जिससे आगे की जीविका चलती रहे।”

वृद्ध ने रुपये तो ले लिये, किन्तु बोला—“भाई! मुझे उस कोठी के स्वामी तो मिले ही नहीं।”

अभी-अभी जिनके साथ कार में बैठकर आप इस दफ्तर में आये हैं, वे ही हैं उस कोठी के स्वामी का चित्तरंजनदास!” घपरासी ने कहा।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन

आज से लगभग १०० साल पूर्व इलाहाबाद के थोर सेण्ट्रल कालेज में टूर्नामेंट के खेल हो रहे थे। उसके प्रबन्धक प्रोफेसर हिल नामक एक अंग्रेज थे। उन्होंने जगह-जगह पुलिस के जवान तैनात किए थे, ताकि कोई गड़बड़ी न होने पाए। कालेज के छात्रों की राय थी कि हम विद्यार्थी ही सारा प्रबन्ध करेंगे, पुलिस न बुलाई जाए पर हिल साहब न माने।

खेल शुरू होने ही वाला था कि एक विद्यार्थी मैदान के एक ओर से दूसरी ओर जाने लगा। मि० हिल पास ही खड़े थे। उन्होंने एक पुलिस वाले से कहा—“इस सुअर से कहो कि यहाँ से हट जाए।” नजदीक ही खड़े एक नवयुवक को यह बहुत बुरा लगा, पर प्रोफेसर का लिहाज कर वह चुप

रहा। थोड़ी देर बाद दूसरा लड़का खेल देखने की उत्सुकता से मैदान में घुस आया। पुलिस वाले ने उसे गालियाँ दीं और धक्के देकर बाहर निकालने लगा। अब उस नवयुवक से च रहा गया। पुलिस वाले को डाँटकर बोला—“क्यों धक्के दे रहे हो? बच्चा है खड़ा रहने दो।” पुलिस वाला अपने बीच में दूसरे का दखल न सह सका। वह नवयुवक से उलझ पड़ा। नवयुवक को जोश आ गया। उसने पास खड़े आदमी के हाथ से लाठी छीन ली और पुलिस वाले को धमकाते हुए बोला—“खबरदार। अब और कुछ बोले तो इसी डण्डे से सिर फोड़ दूँगा।”

उन दिनों पुलिस का बड़ा दबदबा था। उससे जगड़ा खेल लेना आसान नहीं था। अंग्रेज अफसर पुलिस के खिलाफ कुछ भी सुनने को तैयार नहीं होते थे। वे भारतीयों को बड़ी नीची निगाह से देखते थे। हिल भी एक अंग्रेज थे। उन्होंने भारतीय विद्यार्थियों के राम की परवाह न करके पुलिस बुलाई थी। वह नवयुवक अपने कॉलेज की क्रिकेट टीम का कप्तान था। उसके दिल में अंग्रेज और अंग्रेजी शासन के खिलाफ विद्रोह की आग सुलग रही थी। उसके ही एक अदना नौकर-एक मामूली सिपाही के हाथों अपने भाई का अपमान वह न सह सका और पुलिस वाले से भिड़ने को तैयार हो गया।

वह नवयुवक और कोई नहीं, स्वर्ण राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन थे। उनके मन में अपने देश और अपने देशवासियों के लिए इतना गौरव था कि जिसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता। आखिर उस अंग्रेज अफसर को टंडन जी के इस साहसपूर्ण एवं धीरोदात्त कदम के आगे झुकना पड़ा और उन्होंने टंडन जी से क्षमा-वाचना करते हुए उन्हें शांत किया।

एक बार वे इलाहाबाद म्यूनिसिपल बोर्ड के सभापति चुने गये। उस समय जब गवर्नर लखनऊ से इलाहाबाद आते, तब उनके महाने के तालाब में पीने का पानी भरा जाता था। इसका इन्तजाम म्यूनिसिपल बोर्ड करती थी। उस साल जब गवर्नर साहब आये तब इलाहाबाद में पानी की बेहद कमी थी। लोगों को बड़ी मुश्किल से पीने का पानी मिल पाता था। टंडन जी से जब तालाब में पानी परवाने को कहा गया तो वे बड़ी उलझन में पड़ गये। एक ओर जनता को प्यास बुझाने के लिए पानी की जरूरत थी, दूसरी ओर गवर्नर साहब को तालाब में तैरने के लिए पानी चाहिए था। टंडन जी ने प्यासी जनता का पक्ष लिया। उन्होंने गवर्नर का तालाब भरने से साफ इन्कार कर दिया। सरकार की ओर से उन पर काफी दबाव डाला गया पर वे अपने निर्णय से नहीं हटे।

टंडन जी का जन्म सन् १८८२ में इलाहाबाद में हुआ था। बचपन में प्रथम उन्होंने फारसी पढ़ी। कुछ दिनों बाद अंग्रेजी पढ़ने के लिए हाईस्कूल में भर्ती किए गये। वे पढ़ने में बड़े तेज थे। एक बार मास्टर साहब ने कक्षा में कुछ हिन्दी के वाक्य अंग्रेजी में अनुवाद करने के लिए दिये। उन्होंने बड़ी जल्दी अनुवाद करके कापी मास्टर साहब के

टेबल पर रख दी। मास्टर साहब को शक हुआ कि लड़के ने शरारत के कारण बिना अनुवाद किए ही कापी दे दी है। उन्होंने गुस्से से कापी जमीन पर फेंक दी। टंडन जी ने कापी दुबारा टेबल पर रख दी। जब मास्टर साहब ने उसे देखा तो सब अनुवाद ठीक निकला। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उस दिन से मास्टर साहब उन्हें बहुत मानने लगे। स्कूल की पढ़ाई पूरी करके उन्होंने ग्रेजर सेण्ट्रल कालेज से बी० ए० पास किया। बाद में वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की और वकालत करते हुए उन्होंने एम० ए० भी पास किया।

टंडन जी अपमान जरा भी सहन नहीं कर सकते थे। वे जब वकालत कर रहे थे, तब नाभा-नरेश ने उन्हें अपने राज्य का मंत्री बनाया। इस जिम्मेदारी को उन्होंने बड़ी कुशलता से निभाया। नाभा-नरेश उनके काम से बड़े खुश थे। एक बार उन्हें जरूरी काम से इलाहाबाद जाना था। उन्होंने राजा साहब से छुट्टी माँगी पर उन्होंने इन्कार कर दिया। इसे टंडन जी ने अपना अपमान समझा और वे उसी समय त्यागपत्र देकर इलाहाबाद चले आये। बाद में राजा साहब ने उन्हें बुलाने का काफी प्रयत्न किया पर वे नहीं गये तो नहीं ही गये।

सच्चाई और ईमानदारी टंडन जी के स्वभाव की दो बड़ी विशेषताएँ थीं। उनके समय में पैट्रिक की परीक्षा में सोलह साल से कम आयु का विद्यार्थी नहीं बैठ सकता था। उनके लड़के की उस सोलह साल से कम थी। स्कूल के प्राध्यापक ने कहला भेजा कि यदि आप लिखकर दें कि आपके लड़के की आयु सोलह साल की है, तो यह परीक्षा में बैठ सकेगा। टंडन जी ने जवाब दिया—“मेरा लड़का भले ही इस साल परीक्षा में न बैठे, पर मैं झूठा बयान नहीं दूँगा।”

टंडन जी का अधिकांश समय सार्वजनिक सेवा कार्यों में व्यतीत होता था। इससे वे कमकर वकालत नहीं कर पाते थे। आमदनी का कोई दूसरा जरिया नहीं था। इसलिए उन्हें हमेशा आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ता था। घर का खर्च जैसे-तैसे पूरा कर पाते। ऐसे समय में म्युनिसिपल बोर्ड के अध्यक्ष चुने गए। उन दिनों दूसरे अध्यक्ष घूस ले लेकर लाखों रुपये कमाते थे पर टंडन जी ने भूलकर भी वैसी आमदनी की इच्छा नहीं की। बल्कि उन्होंने अपने निजी खर्च में कई प्रकार से कटौती की। वे जूते की जगह खड़ाऊँ पहनने लगे। घर से म्युनिसिपल ऑफिस चार मील दूर था, किन्तु वे बिना किसी सवारी के वहाँ से पैदल ही आया-जाया करते थे।

टंडन जी को एक बार जो बात ज्ञात जाती थी, उसे वे कभी छोड़ते नहीं थे। जब देश में स्वदेशी का आन्दोलन चला, तब विदेशी कपड़ों का जोरदार बहिष्कार हुआ। इससे देश का करोड़ों रुपया विदेशों में जाने से बच गया। चीनी भी उस समय बाहर से आती थी। उसके लिए भी देश का बहुत-सा धन दूसरे देशों में चला जाता था। टंडन

जी को यह बात अच्छर गई और उन्होंने उसी समय से विदेशी वस्त्र और चीनी का व्यवहार बन्द कर दिया।

ऐसी ही एक दूसरी घटना है। एक शहर में कसाईखाना खुलने वाला था। वहाँ के कुछ नागरिक उनके पास आये। नागरिकों ने उनसे कसाईखाना रोकने में मदद माँगी। उनकी समझ में यह बात नहीं आई कि जब उस शहर में मौस खाने वाले कम हैं, तब वहाँ कसाईखाना क्यों खुल रहा है? नागरिकों ने बताया कि वहाँ गायें मौस के लिए नहीं, बल्कि चमड़े के लिए काटी जायेंगी। आस-पास के इलाके में जानवर बहुत सस्ते मिलते हैं। चमड़े के व्यापार में इस समय बहुत मुनाफा है। चमड़े के लिए गायों की हत्या की बात सुनकर टंडन जी को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने उस दिन से चमड़े की जगह कपड़े के जूते पहनने शुरू किए। वे जूते पहनकर वे हाईकोर्ट में भी जाते थे। उनके पिछे इन जूतों का मजाक उड़ाते थे पर टंडन जी जीवन भर कपड़े के ही जूते पहनते रहे।

टंडन जी प्राकृतिक चिकित्सा के बड़े समर्थक थे। बीमारी में टंडन जी को डॉक्टरी दवा कराना बिल्कुल पसंद नहीं था। इसके लिए वे खतरा मोल लेने की तैयार रहते। एक बार उनका लड़का मलेरिया से बीमार पड़ा। उन्होंने उसे गीली चादर में लपेटकर रखने का प्रयोग शुरू किया। लड़का धीरे-धीरे काफी कमजोर हो गया, फिर भी बुखार दूर नहीं हुआ। वैसी हालत में प्राण जाने का खतरा था, फिर भी प्राकृतिक इलाज पर उनका विश्वास जमा रहा और अन्ततः उन्होंने की प्राकृतिक चिकित्सा से लड़का स्वस्थ हो गया।

टंडन जी भोजन के विषय में भी नये-नये प्रयोग करते रहते थे। कुछ दिनों तक वे गेहूँ का कच्चा आटा सानकर खाते रहे और कुछ दिनों तक उन्होंने गेहूँ की रोटियाँ, धूप में सुखानकर खाईं। नमक और शक्कर न खाने का बात तो उन्होंने जीवन भर निभक्का। इससे उनके विचारों की दृढ़ता और टेक निभाने के स्वभाव का पता लगता है।

पंजाब के ‘अलिप्पोजाला बाग हत्याकाण्ड’ के बाद कांग्रेस की जो जॉब-समिति बनी थी, टंडन जी उसके एक मुख्य सदस्य थे। असहयोग आन्दोलन के समय उन्होंने अपनी वकालत छोड़ दी। नमक सत्याग्रह के दिनों में वे अपने प्रान्त के डिक्टेटर बनाए गए। वे काफी अरसे तक कांग्रेस कार्य समिति के सामान्य सदस्य रहे। कांग्रेस की नीति निर्धारित करते समय उनकी सलाह हमेशा ली जाती थी। वे अपने प्रदेश अर्थात् उत्तर प्रदेश की विधान सभा के अध्यक्ष चुने गए थे। इस पद पर वे जब तक रहे, किसी दल को उनकी ईमानदारी पर शक करने का मौका नहीं मिला। एक बार वे कांग्रेस महासभा के सभापति भी चुने गये थे। सभापति के नाते कांग्रेस को संगठित और क्रियाशील बनाने के लिए उन्होंने अधिक प्रयास किया। देश

४.३२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

की आजादी की लड़ाई में वे कई बार जेल गए और घोर यातनाएँ सहन कीं।

टंडन जी हिन्दी के प्राण थे। उन्होंने इसकी जो सेवा की वह सदा अमर रहेगी। वे मानते थे कि हिन्दी हमारी संस्कृति की रक्षा के लिए आवश्यक है। उनके प्रयत्न का ही यह फल है कि आज भी हिन्दी सेवा, देश सेवा का एक अंग मानी जाती है। हिन्दी को वे राष्ट्र की एकता का साधन समझते थे। इसकी उन्नति के लिए उन्होंने हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की स्थापना की। वे शुरू से इसके प्रधानमंत्री थे। वे इसके सभापति भी बनाये गए थे। वे सम्मेलन के कार्यों में ऐसे लगे रहते कि लोग सम्मेलन को टंडन जी का मानते थे और टंडन जी सम्मेलन के कहलाते थे। उनकी लगातार कोशिशों का ही फल है कि आज हिन्दी हमारी राष्ट्र भाषा बन सकी है। सारे देश में हिन्दी-प्रचार के लिए उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया।

सन् १९५० की बात है। साहित्यकारों ने टंडन जी को अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने की योजना बनाई। टंडन जी उन दिनों दिल्ली में थे। उन्हें इस आयोजन की सूचना दी गई तब उन्होंने अभिनन्दन लेना अस्वीकार करते हुए आयोजकों को लिखा कि व्यर्थ के कार्यों में अपनी रक्ति क्यों गँवाते हैं, मुझे इसमें कोई रुचि नहीं।

यह थे महापुरुष टंडन जी जिन्होंने अपने ही लिए अभिनन्दन को व्यर्थ की संज्ञा दी और एक ही आज के लोलुप साहित्यकार और राजनेता जो स्वयं ही अपने अभिनन्दन के लिए कितने ही प्रसंग रचते हैं।

राजर्षि टंडन जी १ जुलाई, १९६२ को इस संसार को छोड़कर विदा हो गये। मृत्यु के पहले टंडन जी कई सप्ताह तक रोग-हीन्या पर पड़े रहे। रोग-हीन्या पर वे उन्हें अपने देश की भलाई की चिन्ता लगी रहती थी। राजर्षि ने बचपन से सच्चाई, ईमानदारी, निर्भीकता एवं दृढ़ता का जो रास्ता एक बार अपनाया, उसे जीवन भर नहीं छोड़ा। धन्य है, ऐसा महापुरुष जिसे पाकर धन्यता भी धन्य हो गई।

लोकमंगल के लिए सर्वस्व समर्पण भी कम

लोक सेवा मण्डल (सर्वेण्ट्स आफ पीपुल्स सोसायटी) के सभापति लाला लालपतराय का देहावसान हो गया। तब उस स्थान की पूर्ति की समस्या आ गई। बहुत ही कम आजीविका में योग्य व्यक्ति का मिलना कठिन ही नहीं असम्भव दीख रहा था।

यह खबर श्री टंडन जी को मिली तो उन्होंने अपना तेरह सौ मासिक का पंजाब नेशनल बैंक की लहौर शाखा का मैनेजर पद त्याग दिया और लोकसेवक मण्डल के सभापति बन गये। गाँधीजी ने पूछा—आपको इस अपार धन हानि का कोई दुःख नहीं हुआ? टंडन जी ने भरे गले

से उत्तर दिया—बापू लोकमंगल के लिए धन तो क्या जीवन भी उत्सर्ग कर दिया जाये तो वह थोड़ा है।

नैतिकता की राह

उन दिनों राशन का बड़ा कंट्रोल था। राशन कार्ड पर सीमित गेहूँ मिलता था। पुरुषोत्तम दास टण्डन के घर में हजारों का ताँता लग्न रहता। उतने राशन से काम न चलता। फलतः वे ज्वा-बाजरा जैसे खुले बाजार में मिलने वाले सस्ते अनाज लेकर काम चलाते।

एक बार कई बड़े नेता अफसर उनके मेहमान थे। वे सभी को ज्वा-बाजरे की रोटी परोसी गई। उन्हें चकित देखकर टण्डन जी ने स्वयं कहा—“झूक का अनैतिक तरीका अपना कर आप लोगों को गेहूँ खिलाने की अपेक्षा ईमानदारी ने यही उपाय सुझाया जो अभ्यस्त भोजन के रूप में आपके सामने है।”

सफलता-असफलता में समान-दृष्टि

राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन उन दिनों बीमार थे। उन्हें देखने के लिए उनके एक पुराने सहपाठी मित्र प्रयाग गये। तब राजर्षि ने बातें ही बातों में अपना एक संस्मरण सुनाया—किसी समय मैं देशी रिपासतों में राजाओं का सुधार करने के लिए एक आदर्श योजना बना रहा था तबकि यह दिखाने का अवसर मिले कि भारतीय अँग्रेजों से अच्छा शासन कर सकता है। इसी उद्देश्य के लिये बनायी गयी योजना को क्रियान्वित करने हेतु मैंने मामी रिपासत में नौकरी की परन्तु मैं असफल रहा।

उनके मित्र ने कहा—“यह तो बड़ा अच्छा रहा।”

“यही तो मैं भी कहना चाहता था। अँग्रेजों के कारण मैं असफल हुआ तो मैंने अपना ध्यान अँग्रेजों को यहाँ से हटाने में लगाया। ईश्वर के प्रति मैं धन्यवाद से भर गया हूँ। गांधी में सफल होने पर सम्भव था कि मैं कृममण्डूक बन रह जाता। इस असफलता ने मेरे लिए सफलता और साधना का नया द्वार खोल दिया”—टण्डन जी बोले। अपने कार्यों में किसी सफलता-असफलता के प्रति स्वजात्मिक दृष्टि भर अपनाने से ही वे राजर्षि उपनिधि के अधिकारी सिद्ध होते रहे।

राष्ट्रीय सेवाव्रती महान वैज्ञानिक—

प्रफुल्ल चन्द्र राय

इंग्लैण्ड से रसायन विज्ञान की उच्च परीक्षा पास कर लेने के पश्चात् जब प्रफुल्ल बाबू भारत वापस आकर जीविकोपार्जन का कोई कार्य ढूँढ़ने लगे तो उनके प्रेसिडेन्सी कॉलेज में सहायक प्रोफेसर की जगह मिली, जिसका वेतन २५०० रुपये मासिक था। वे जानते थे कि उनकी योग्यता के जो अँग्रेज इस देश में शिक्षक का कार्य करने को आते हैं, उनको केन्द्रीय सेवा में नियुक्त करके

एक हजार से भी अधिक वेतन दिया जाता है । ऐसी दशा में अपने को २५० रुपये की प्रान्तीय सेवा की नौकरी दिया जाना उनको सरासर अन्याय जान पड़ा । उस अन्याय का प्रतिकार करने के लिए उन्होंने सीधे शिक्षा विभाग के अध्यक्ष क्राफ्ट साहब से इसकी शिकायत की । उन्होंने किसी प्रकार की सहानुभूति दर्शाने तो दूर स्पष्ट जन्दों में कहा कि आपको कोई इस बात के लिए ज्वध्य नहीं करता कि आप इस नौकरी को स्वीकार ही करें । यदि आप अपनी योग्यता को इतनी अधिक सपझते हैं तो कहीं भी वैसा कार्य करके दिखा सकते हैं ।" उपयुक्त अवसर न देखकर उस समय प्रफुल्ल बाबू ने इस अपमान को तो सहन कर लिया, पर अपने मन में निश्चय कर लिया कि अवसर पाते ही अपनी योग्यता को प्रदर्शित करके इस गवर्नर का उत्तर अवश्य देंगे ।

इसके पश्चात् वे प्रेसीडेन्सी कॉलेज की नौकरी और विज्ञान सम्बन्धी नई-नई खोजें करते रहे । उनका मुख्य कार्य अपने युवक शिष्यों को रसायन विज्ञान के क्षेत्र में व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना था । इसके लिए वे उनको केवल कॉलेज में पढ़ाते ही न थे, वरन् जो होनहार छात्र आर्थिक कारणों से आगे बढ़ने में असमर्थ होते थे, उनकी आर्थिक सहायता भी करते थे । इसलिए अपना खर्च अत्यन्त कम रखने पर भी उनके पास कुछ बचत न था । उन्हें क्राफ्ट साहब की चुनौती का ज्वलन बराबर बना रहा और सन् १९०६ में केवल ८०० रुपये लगाकर 'बंगाल केमिकल एण्ड फार्मास्यूटिकल वर्क्स' की स्थापना की । इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि आर्थिक दृष्टि से असमर्थ छात्र उस कारखाने में कुछ काम करके जीवन निर्वाह में सहायता प्राप्त कर सकें ।

आरम्भ में यह ८०० रुपये की पूँजी वाला कारखाना नाममात्र को ही था, पर प्रफुल्ल बाबू द्वारा आविष्कृत प्रभावशाली रसायनों और उनके सद्व्यवहार से इसकी दिन हूनी रात चीगुनी उन्नति होने लगी और दस बरह वर्ष में ही यह एक बहुत बड़े कारखाने के रूप में परिणत हो गया जिसका वार्षिक व्यय लाखों रुपया था । इसके द्वारा पचासों युवक विद्यार्थियों को कॉलेज में अध्ययन करने का साधन प्राप्त हो गया । जिनमें से अनेक आगे चलकर प्रसिद्ध वैज्ञानिक बने । प्रफुल्ल बाबू विद्यार्थियों की प्रायः इस बात के लिए भर्त्सना किया करते थे कि सब नौकरी के लिए ही दौड़ते हैं, किसी उद्योग-धन्धे या कारोबार की तरफ ध्यान नहीं देते । जिसमें अपनी तथा देश की उन्नति की सम्भावनायें अपेक्षाकृत बहुत अधिक होती हैं । उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से बंगाली युवकों का ध्यान इयर गया और उसके पश्चात् कुछ वर्षों में वहाँ रासायनिक पदार्थों के कारखानों की काफी वृद्धि हुई ।

प्रफुल्ल बाबू ने यद्यपि विदेश में शिक्षा पाई थी और वे भारतवर्ष के एक प्रसिद्ध कॉलेज के प्रोफेसर थे, पर वे थे एक सच्चे सन्त । हमारे देशवासी अभी तक नेरुआ वस्व

धारण करने वालों और नटावूट रखने वालों को ही साधु-महात्मा समझते हैं, पर वास्तव में ऐसे महात्मा प्रफुल्ल बाबू की साधुता के आगे नगण्य हैं । अपनी योग्यताओं और परिश्रमशीलता के फल से उनका वेतन कुछ ही दिनों में एक हजार मासिक के लगभग हो गया था और वैज्ञानिक आविष्कारों से भी कफ़ी आय हो जाती थी, पर वे उसमें से अपने लिए केवल ४० रुपये मासिक खर्च करते थे । शेष सब बस्तरतमन्दों को दान कर देते थे, जिनमें से अधिकांश विज्ञान के छात्र ही थे ।

वे कहा करते थे 'मेरी जरूरतें ही क्या हैं ।' उन्होंने विज्ञान की साधना और परोपकार के ज्वाल से विवाह ही नहीं किया था और बहुत ही मामूली ढंग से जीवन निर्वाह करते थे । यद्यपि उनकी गिनती संसार के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों में थी और विदेशों के बड़े वैज्ञानिक भी उनके सामने बड़ी नम्रता से आकर बैठते थे, पर उनका रहन-सहन सदा वैसा ही अति सामान्य बना रहा । वे जो धोती पहनते थे वह घुटनों से कुछ ही नीची होती थी, ऊपर एक बन्द गले का कोट लटका लेते थे जिसे देखकर फैरानेबल लोग तो अपनी हँसी नहीं रोकते थे ।

वे और लोगों की तरह कहते ही न थे वरन् सबसे पहले स्वयं करके दिखाते थे । जब बंगाल में भोषण बाइ आई तो अन्व नेता जहाँ एकाध सहानुभूति सूचक बयान निकालकर और दो चार सौ रुपया चन्दा इकट्ठा करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे, वहाँ आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय अपने विद्यार्थियों के दल को लेकर घटना-स्थल पर पहुँचते और सब तरह की कठिनाइयों का मुकाबला करके पीढ़ियों की सहायता करते । उनके इस वास्तविक सेवाभाव को देखकर लोगों ने उनकी अपील पर सौ की जगह हजार चन्दा दिया और बड़े सम्मन भरी के युवक सेवा करने को आगे आ गये ।

इसी प्रकार जब महात्मा गाँधी ने सुद्धर चर्खा का प्रचार आरम्भ किया तब पहले आचार्य राय उससे अलग रहे । पर जब उन्होंने अच्छी तरह विचार करके तर्क और प्रमाणों के आधार पर उनकी उपयोगिता को समझ लिया तब वे स्वयं क्रियतमक रूप में करने लगे । देश भर में बड़े जोर-शोर के साथ उसका आन्दोलन किया और बंगाल में उसको बहुत अधिक लोकप्रिय बना दिया ।

इसी प्रकार जब तक अपने प्रेसीडेन्सी कॉलेज में काम किया तो अपने को उसी में पूरी तरह खपा दिया । सभी विद्यार्थी आपको केवल अपना शिक्षक ही नहीं वरन् परम शुभचिन्तक, सहायक और सखा भी मानते थे । सन् १९१६ में जब आप कॉलेज को छोड़कर यूनिवर्सिटी के साइन्स कॉलेज में जाने लगे तो विद्यार्थियों ने आपको मान-पत्र देते हुए कहा कि—'आपने जो कार्य करके दिखाये हैं वे साधारण नहीं हैं । आप जीवन भर हमारे मार्गदर्शक, तत्व चिन्तक और मित्र रहे हैं । हमको जो आप प्राचीन भारतीय गुरुओं के अवतार की तरह जान पड़ते हैं । प्राचीन भारत की आध्यात्मिकता के आप में

४.३४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। आपने सदैव सच्ची सलाह, सूचना और गरीब विद्यार्थियों की धन से भी जिस प्रकार सहायता की है वह वर्णनातीत है।

प्रफुल्ल बाबू जब इसका उत्तर देने को खड़े हुए तो भावावेश में उनका शरीर काँपने लगा और उन्होंने कहा—“मैंने इस कॉलेज में जो एक मन्द च्योति प्रज्ज्वलित की है विद्यार्थियों के आगे आने वाले दल उसको प्रज्ज्वलित रखेंगे, बढ़ते-बढ़ते वह हमारी समस्त मातृभूमि को प्रभावित कर देंगे। सम्भवतः आप में से बहुत लोग जानते होंगे कि दुनियादार जिसे धन सम्पन्नते हैं मैंने उसको तनिक भी परवाह नहीं की है। तो भी अगर कोई मुझसे पूछे कि प्रेसीडेन्सी कॉलेज में इतने बरस काम करते हुए तुमने जो पैसी इकट्ठी की है तो मैं इसका उत्तर रोम की एक प्राचीन महिला कार्नेलिया के शब्दों में दूँगा। कार्नेलिया से मिलने एक बड़े घर की स्त्री आई। वह अपने आभूषण और रत्न आदि दिखलाकर अपना बढ़पन दिखलाने लगी। अन्त में उसने कार्नेलिया से कहा—“तुम्हारे रत्न आभूषण कहाँ हैं?” छोड़ी डी देर में कार्नेलिया के दो पुत्र स्कूल से बढ़कर आ गये और उनकी ओर देखते हुए सगर्व उसने कहा—‘मेरे आभूषण और रत्न ये ही हैं।’ मैं भी कार्नेलिया की तरफ अपने एकनिष्ठ होकर कार्य करने वाले अनेक शिष्यों की तरफ अँगुली उठाकर कह सकता हूँ कि मेरा माल खजाना यही है।

“भाइयो! यह सोचना कि मैं प्रेसीडेन्सी कॉलेज से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर रहा हूँ, एक असम्भव बात है। मेरे हृदय में एकत्रित समस्त संस्मरण इसी के आस-पास लिपटे हुए हैं। इसकी रसायनशाला का कोना-कोना और ईट-पूना तक मेरे लिये बड़े-बड़े संस्मरणों से युक्त प्रतीत होता है। जब मैं याद करता हूँ कि प्रेसीडेन्सी कॉलेज की उपसंस्था ‘हेयर स्कूल’ में मैं बार वर्ष तक पढ़ा था और उसके पश्चात् बार वर्ष इसके विज्ञान विभाग में विद्यार्थी के रूप में रहा था तो मुझे मात्स्य पड़ता है कि मेरा सम्बन्ध तुम्हारे कॉलेज के साथ ३५ वर्ष लम्बा है। जब मेरे पार्थिव जीवन का अन्त होगा तब भी मेरी अन्तिम इच्छा यही होगी कि मेरी एक मुट्ठी रख इस पवित्र भूमि पर कहीं रख दी जाय।

इस प्रकार प्रफुल्ल बाबू ने अपना तन-मन धन सर्वस्व मातृभूमि की सेवा और उसे ऊँचा उठाने में लगा दिया। उन्होंने जीवन भर अध्ययन, मनन, खोज, खोज करके जो कुछ प्राप्त किया वह सब कुछ फरतीय राष्ट्र और सम्पन्न के उत्थान में ही लगाया। अपने समस्त अध्ययन के रूप में जो ग्रन्थ—‘हिन्दू रसायन शास्त्र का इतिहास’ उन्होंने लिखा वह भी इस देश के प्राचीन वैज्ञानिक-सिद्धान्तों की कीर्ति बढ़ाने वाला है। यह ग्रन्थ अपने क्षेत्र में अपूर्व और स्थाई

महत्त्व रखने वाला माना जाता है और १०० वर्ष पहले लिखा जाने पर भी आज तक भारत ही नहीं विदेशों के साइन्स कॉलेजों तक में पाठ्य-पुस्तक की तरह काम में लाया जाता है।

प्रफुल्ल बाबू भारतवर्ष को सच्चे अर्थों में महान बनाने के पक्षपाती थे। सन् १९२३ में उन्होंने गुजरात विद्यापीठ का उद्घाटन करते हुए कहा था—“किसी भी देश के निवासी अपने ही प्रयत्न और पराक्रम से ऊँचा उठते हैं। हमको भी स्वराज्य लेना है, वह अपनी कमाई का ही होना चाहिए। जो स्वराज्य भारी परिश्रम और उद्योग से मिलता हो तभी उसका महत्त्व है। अगर कोई हमको स्वराज्य घेंट की तरह प्रदान करे तो उसका मूल्य एक हमड़ी भी नहीं होगा।”

इसको अपने प्रयत्न को देखते हुए स्वराज्य जल्दी मिल गया। पर वह हमारे प्रयत्नों से ही मिला है इसमें सन्देह नहीं। हम चाहें तो आगे चलकर उसे अधिक पूर्ण और पक्का बना सकते हैं। छेद इतना ही है कि वे उसे न देख सके और उसके मिलने के तीन वर्ष पूर्व ही अर्थात् सन् १९४४ में प्रफुल्ल बाबू की प्रबल आत्मा ८६ वर्ष पुराने और दुर्बल शरीर को छोड़कर परलोक को प्रयाण कर गई। वे देश सेवा के लिए स्वेच्छा से जिन्दगी भर कुँवारे और ब्रह्मचारी रहे। इसलिये अपने पीछे कोई सन्तान तो नहीं छोड़ गये, पर सन्तान से बढ़कर ऐसे अनेक भनिष्ठ और सुयोग्य शिष्य अवश्य छोड़ गये हैं जो अपनी तथा अपने गुरु की कीर्ति को देश में बढ़ाते जाते हैं सन् १९२३ से १९३७ तक उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के साइन्स कॉलेज में वैतनिक रूप से काम किया, पर वह समस्त केंद्रन जो लगभग दो लाख रुपया होगा विश्वविद्यालय को ही विज्ञान की उन्नति के लिए दान कर दिया। उन्होंने अपने जीवन में स्वदेशी उद्योग धर्मों की उन्नति के लिए अनेक व्यापारिक योजनाओं में सहयोग दिया था, उससे उनके पास जितना रुपया एकत्रित हुआ उसका आधा भाग ‘समाचार ब्राह्मी समाज’ को समाज सुधार के कामों के लिए दे दिया। उनके पास आर्थिक सहायता के लिए जितने विद्यार्थी जाते थे, उनमें से उन्होंने किसी को निराश करके नहीं लौटाया। वे दानवीर थे पर अपने दानीपन का अभिमान उनको कभी भी नहीं गया था। वे कहा करते थे कि मेरे दान का कोई महत्त्व नहीं। यह धन का दान तो सब दानों में घटिया होता है। सर्वश्रेष्ठ दान तो सहानुभूति रखना, प्रेम भरे शब्द कहना, प्रसन्नता प्रदान करना, हितकारी सम्मति देना, धके हुए को विश्राम देना है। इनकी तुलना कन्दन कभी नहीं कर सकता। प्रफुल्ल बाबू स्वयं एक मरीब की तरह रहते हुए जीवन भर सब प्रकार के दान करते रहे। यही मानव सेवा उनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

जिनका धर्म ही अन्याय से लड़ना है-

रानाडे

अंग्रेजों के शासन से भारत ने मुक्ति पा ली थी, पर उसका एक भू-खण्ड 'गोवा' पुर्तगालियों के अधिकार में रह गया। अंग्रेज तथा पुर्तगालियों ने लगभग सत्रह ही भारत के भू-खण्डों पर अधिकार करना प्रारम्भ किया था। अंग्रेजों के जाने के साथ ही उन्हें भी उस भाग को मुक्त कर देना चाहिए था, किन्तु उन्होंने तो वसटे गोवावासियों पर अत्याचार करके उन्हें कुछ बोलने से भी बंचित कर दिया।

गोवावासी भय से चुप थे तथा पुर्तगाली उद्ये उनकी शान्ति तथा सहमति कहकर अपना शासन बनाये रखने के लिये संसार के राष्ट्रों के आगे दलीलें दिया करते थे। ऐसे समय में गोवावासियों का मनोबल बढ़ाया जाना पहली आवश्यकता थी।

इस प्रयोग की सिद्धि के लिये राष्ट्रभक्त सहसी भारतीय नागरिकों ने गोवा में प्रवेश करके-वहाँ की नागरिकता प्राप्त कर स्थानीय नागरिकों के मनोबल को जगाने का कार्य प्रारम्भ किया। उसी के फलस्वरूप गोवा में मुक्ति आन्दोलन तीव्रता पकड़ सका। अन्यथा पूरे पुर्तगालियों का दमन तथा शोषण गोवा पर न जाने कब एक छाया रहता ?

अपने आपको संकट में डालकर गोवा मुक्ति हेतु प्रयास करने वालों में वीर मोहन रानाडे भी अग्रणी थे। उन्होंने जिस वीरता, शूरता तथा सूझ-बूझ का परिचय दिया वह अविस्मरणीय रहेगा। राष्ट्र हित में अपने कर्तव्यों के पालन के लिए उनका त्याग एवं कष्ट सहन की कहानी अपने आप में बड़ी प्रेरक तथा गौरवमय है।

श्री रानाडे जब गोवा में प्रवेश करने में छपबेरा से सफल हो गये तो उनके सामने प्रश्न उठा कि किस प्रकार कार्य प्रारम्भ किया जाये ? हिम्मत डारी जनता को जगाने तथा संगठित करने के लिये किस दिशा से प्रयास प्रारम्भ किया जाये। उन्हें लगा कि कोई स्थूल कार्यक्रम चलाने के लिये नागरिकों के अन्तःकरणों में स्फुरण पैदा की जानी चाहिए। उनमें स्वयं एक लहर उठे, उत्साह आगे, सभी स्थूल कार्यक्रम सार्थक हो सकेंगे।

यह सोचकर उन्होंने शिक्षक के रूप में कार्य प्रारम्भ किया। हिन्दी, मराठी शिक्षक का स्वरूप तो उनके सिद्धान्त का प्रतीक मात्र था। वह तो वास्तव में बड़े पैमाने पर लोकशिक्षण के लिये सम्बद्ध हुए थे। उन्होंने उनके लिए विभिन्न प्रकार से कार्य किये। सम्मान, देश तथा संसार के सम्बन्ध में जानकारी जिन्हें नहीं ऐसे नागरिक कुछ कर सकेंगे, इसकी आशा उन्हें छान्ति ही लगी। उसके लिये व्यक्ति को शिक्षित होना भी आवश्यक है। केवल किशोरों की ही शिक्षा इस दृष्टि से पर्याप्त नहीं है। जिन्हें सीधे-सीधे संघर्ष में प्रवेश करना है, प्रत्यक्ष भाग लेना है

ऐसे ग्रीढ़ वर्ग को भी शिक्षित होना चाहिए। अस्तु, उन्होंने ग्रीढ़ शिक्षण के लिये घर घर, गाँव-गाँव जाकर कार्य करना प्रारम्भ किया। सक्रिय सहयोगियों के सहयोग से कार्य तेजी से गति पकड़ने लगा।

दूसरा पक्ष लोगों की भावनायें जगाने का था। उसके लिये उन्होंने पदान्तर पदमन्त्र का भी कार्य संचालन किया। इस माध्यम से उन्होंने लोकशिक्षण एवं भाव जागरण का कार्य बृहद् रूप में सम्पन्न किया। उनके प्रयासों में सिद्धान्त का बस था, वाणी में अन्तःकरण की तटस्थ थी। उनके द्वारा प्रसारित प्रेरणा प्रवाह जंगल की आग की तरह फैलने लगा। उनके शिक्षण से प्रभावित लोगों ने उन्हें 'रानाडे गुरुजी' के सम्मानास्पद सम्बोधन से सम्बोधित करना प्रारम्भ कर दिया। लोकशिक्षण के इस कार्य के साथ वह उपयुक्त साधियों के चुनने तथा संगठन का भी कार्य करते गये। इस प्रकार पुर्तगाली दमन चक्र के विरुद्ध प्रत्यक्ष संघर्ष के उपयुक्त भूमिकायें बढ़ती तथा पुष्ट होती गई।

इस प्रकार आधारभूत तैयार पूरी हो जाने पर वीर रानाडे ने सीधे संघर्ष का कार्य प्रारम्भ कर दिया। उनके हर कदम के साथ समग्र योजना होती थी व हर चोट में जन-सहयोग की प्रबलता तथा सूझ-बूझ का पैनापन होता था। मोहन रानाडे के कारनामों से एक ओर पुर्तगाली अधिकारी चौकसा उठे, तो दूसरी ओर मुक्ति आन्दोलनकारियों में जोर भर उठा। इसी मूँछला में दावरा नागर हवेली कण्ठ ने तो गोवा में हलचल मचा दी। २७ जुलाई, १९५४ को वीर मोहन के सफल नेतृत्व में उक्त हवेली पर उनके साधियों ने आक्रमण किया। बात की बात में वहाँ के पुर्तगाली अधिकारियों को बन्दी बनाकर उसे पुर्तगाल के नियन्त्रण से मुक्त करा लिया।

उक्त घटना से गोवा के पुर्तगाली अधिकारी खीझ उठे। वीर रानाडे को जीवित या मृत पकड़वाने के इस हजार रुपये का इनाम घोषित कर दिया गया। किन्तु जो व्यक्ति सीधा मोर्चा लेने के लिये ही कृत संकल्प हो उस पर इस प्रकार की कार्यवाहियों का क्या असर होता ? 'रानाडे गुरु' तो मुद्रोण की तरह 'शास्त्रादपि शरादपि' के लिये तैयार थे। उन्होंने सैनिक वस्त्र तथा शस्त्रास्त्रों का उपयोग प्रारम्भ कर दिया। उसका सबसे बड़ा अस्त्र तो जाग्रत जन-चेतना थी तथा सबसे बड़ा कवच जन-सद्भावना। पुर्तगालियों की खीझ, भयभीती, कार्यवाही कुछ भी उनके कार्यों को रोकने में समर्थ न हो सकी। उनकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई।

सफलतायें मिलती गईं, हौसले बढ़ते रहे और २५ अक्टूबर, १९५५ को उनके दल ने एक भारी साहसिक अभियान कर डाला। 'बेटिन' पुलिस केन्द्र पर पुर्तगाली शासन का महत्वपूर्ण अस्त्र-शस्त्रों का भण्डार था। उस पर इन पुंगवों ने छापा मारा। सुनियोजित अभियान, आत्माहुति की भावना से ओत-प्रोत हर सैनिक, फिर सफलता तो मिलनी ही थी। शस्त्र-भण्डार पर उनका अधिकार हो

४.३६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

गया । किन्तु अपनी परवाह न करके भी सचिवों को उत्साहित करने तथा संचालन के लिये आगे बढ़कर कार्य करते हुए वीर रानाडे घायल होकर गिर पड़े । अब समस्या थी कि अधिकार में आये भण्डार को अपने सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाया जावे अथवा नेता की रक्षा का प्रयास किया जाये । साथी उनकी ओर बढ़े, किन्तु उन्हें आदेशात्मक स्वर ने रोक दिया । भारतीय वीर परम्परा के तपस्वुत ही निर्देश रानाडे ने दिया—“पहले अस्त्र-शस्त्रों को अपने स्थान पर ले जाने की व्यवस्था करें, तब तक मुझे ईश्वर सहारे छोड़ दें ।” और अनुशासनवद्ध साथी फुर्ती के साथ अधिकृत शस्त्रास्त्रों को सुरक्षित स्थान पर रखकर लौटे तब तक वीर रानाडे पुर्तगालियों के हाथ पड़ चुके थे ।

पुर्तगालियों के साथ एक संघर्ष का दौर पूरा होकर दूसरा प्रारम्भ हुआ । अब भारतीय देशभक्त की निष्ठा, सहिष्णुता तथा धैर्य का मुकाबला पुर्तगाली अधिकारियों की क्रूरता, दुष्टता तथा अत्याचारों से था । किन्तु वहाँ भी पहले ही की तरह पुर्तगाली शासक हर कदम पर मुँह की छाते गये । स्वदेश प्रेम और सद्भावना ने अनैतिक कठों से अप्रभावित रहकर श्रेष्ठता प्रमाणित की ।

२९ दिसम्बर को सैनिक अदालत ने उन्हें २६ वर्ष की कठोर कैद का दण्ड सुनाया । उनके व्यक्तित्व से भयभीत अधिकारियों ने सुरक्षा के नाम पर तीन वर्ष तक उन्हें किसी भी तरह के प्रतिबन्ध में रखने की विशेष घोषणा की । लोग समझते थे कि वह इस भेषज दण्ड से काँप उठेंगे किन्तु उनकी आत्मविश्वास पूर्ण मुस्कराहट ने उनके सारे स्वप्नों को काटकर फेंक दिया । उनकी शान्त हँसी जैसे चुनौती देकर कह रही थी “इस संसार में दुष्टता कभी भी स्थिर होकर नहीं रह सकी, असुरता से देवत्व की आयु अधिक है । तुम समाप्त हो जाओगे और मैं रहूँगा—इसी प्रकार हँसता-मुस्करता हुआ”

साढ़े पाँच वर्ष तक उन्हें एकाग्र में घमण्डा दी गई । फिर ६ माह तक बेड़ियाँ डालकर रखा गया । पर रानाडे भी किसी कच्ची मिट्टी के बने नहीं थे । उन्होंने अपनी निगरानी करने वाले अफ्रीकियों से जल्दी ही सद्भाव बना लिया । रक्षक उनके प्रति आत्मीयता अनुभव करने लगे तथा पुर्तगालियों की करतूतों का वर्णन सुनकर उनके मन में भी प्रतिक्रियाएँ उठने लगी ।

कुढ़ होकर अधिकारियों ने रानाडे को पुर्तगाल की सबसे खराब जेल में भेज दिया । उन्हें राजनैतिक बन्दी भी नहीं माना गया । निर्धारित संख्या से दुगुने तिगुने तक कैदियों से भरी कोठरियों में उन्हें रहना पड़ा । निकृष्ट भोजन तथा डॉक्टरों सुविधा लगभग नहीं के बराबर थी । इस स्थिति के प्रति भी रानाडे ने कोई खीझ प्रकट नहीं की—कोई कमजोरी नहीं दिखाई । अधिकारियों के सामने उनकी दृढ़ता पूर्ववत् थी । किन्तु बन्दीयों के प्रति उनका समाज सेवी हृदय अपना प्यार उड़ेलने लगा । वह उनके प्रति सद्भावना व्यक्त करते, उनकी माँगों के साथ अपनी सहानुभूति तथा सहयोग देते रहते थे । उत्कृष्ट व्यक्तित्व

अपने आप में पूरा होता है । उत्कृष्ट व्यक्तित्व का धनी व्यक्ति वहाँ भी रहता है, सम्पन्नित तथा प्रिय बनकर रहता है । उनकी कोठरी के बन्दी उनके साथ घुल-मिल गये । उन्हें परस्पर प्रेम से जेल चन्चलारों फीकी लगने लगी तथा अधिकारियों के अनैतिक दबाव का भय कम होने लगा । भारतीय चानी वहाँ भी खरा उतर रहा था । जेल अधिकारियों ने भी रानाडे को सबके साथ, भास देने के लिए रखा था, किन्तु डलते उन्हें ज्ञास होने लगा । उनका क्रोध रानाडे के साथ उस कोठरी के कैदियों पर भी बरसने लगा । अनेक प्रकार की ज्यादतियाँ होने लगीं, हाथापाई तक मौबत आने लगी । जेल डायरेक्टर ने उनके सहित उनकी कोठरी के तमाम कैदियों को पिटाई भी की । किन्तु इन नृशंस तरीकों पर उतर कर भी न तो वह उन्हें भयभीत कर सके और न ही अपनी सैद्धान्तिक हारों को छिपा सके ।

वीर मोहन रानाडे १३ वर्ष तक पुर्तगाली अधिकारियों के राक्षसी शिकने में रहे । वैसे यदि सन् १९६२ में बन्दीयों के आदान-प्रदान की सूची में उनका नाम भूल से च छूट गया होता तो वह तभी छूट जाते । किन्तु शायद पुर्तगालियों को भारतीय शौर्य, साहस तथा दृढ़ता का अधिक परिचय मिलना आवश्यक था । इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु सम्भवतः श्री रानाडे को अधिक समय तक रहना पड़ा । रानाडे उसी मास मुस्कराहट के साथ स्वदेश लौट आये । भारतीय जनता की पुकार एवं भारत सरकार के प्रयासों से जेल से छूटकर भी उन्हें कोई उतावली नहीं हुई । वे रोम में रुककर एक दूसरे सेनानी श्री डा० मास्कर हंस की मुक्ति का प्रयास करने लगे । डा० देली मास्कर हंस भी पुर्तगाल में बन्दी थे तथा पहले बम्बई से प्रकाशित पुर्तगाली भाषा के साप्ताहिक ‘रिसर्च गोवा’ के सम्पादक थे । उनको भी मुक्त कराने का प्रयास भी सफल रहा । पकड़े जाकर जेल जाने पर भी तथा जेल से मुक्ति पाने पर भी वीर रानाडे ने दुःख-सुख की तुलना में कर्तव्य का ही महत्व देकर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित की थी ।

अभेद आदर—निर्विकार व्याय

इस युग में भी जबकि बुद्धि-विकास तेजी से हो रहा है लोगों में ऊँच-नीच, छूत-अछूत, छोटे-बड़े का भाव देख कर हर विचारशील व्यक्ति को कह होता है । उस परिस्थिति में तो और भी जबकि सामाजिक न्याय के लिये भी पक्षपात होता है । साधारण कर्मचारी से लेकर बड़े-बड़े पदाधिकारी और न्यायाधीशों में भी इस तरह की प्रवृत्ति देखने में आती है तो उन महापुरुषों की यादें उपर आती हैं जिन्होंने कर्तव्य परावणता से अपने पद को सम्पन्नित किया, आब की तरह उस पर कलंक का टीका नहीं लगाया ।

बम्बई हाईकोर्ट के जज गोविन्द रानाडे को कौन नहीं जानता । पर इसके लिए नहीं कि वे अँग्रेजी युग के सम्माननीय जज थे वरन् इसलिये कि उन्होंने अपने पद की

अपेक्षा कर्तव्यपालन को उच्च माना और उसकी पूर्ति में कभी हिचक न होने दी।

एक बार की बात है—“रानाडे साहब अपने कमरे में पुस्तक पढ़ रहे थे, उस समय कोई अत्यन्त दीन और बेध-भूषा से दरिद्र व्यक्ति उनसे मिलने गया। अफसर्तों के लिये इतना ही काफी होता है, अपने पास से किसी को भण्ड देने के लिये। कोई अपना मित्र, सम्बन्धी, प्रियजन हो तो सरकारी काम को भी अवहेलना कर सकते हैं, पर न्याय के लिये हर आम की बात गौर से सुन लेना अब ज्ञान के खिलाफ माना जाता है।

रानाडे इस दृष्टि से निर्विकार थे। उन्होंने अपने चपरसी से कहा—“उस व्यक्ति को आदरपूर्वक भीतर से आओ।” कोई छोटी जाति का आदमी था। चमस्कार कर एक ओर खड़ा हो गया। कहने लगा—“हुजूर! मेरी एक प्रार्थना है।”

“तो तो मैं सुनूँगा।” जज साहब ने सौम्य स्वरों में कहा—“पहले आप कुर्सी पर बैठिये।”

“हुजूर मैं छोटी जाति का अस्दमी हूँ, आपके सामने कैसे बैठ जाऊँ, यों ही खड़े-खड़े अर्च कर देता हूँ।”

रानाडे जानते थे इनके साथ हर जगह उपेक्षापूर्ण बर्ताव होता है, इसीलिये वह वहाँ भी खड़ा रहा है। उनके लिए यही बड़ा दुःख था कि मनुष्य, मनुष्य में भेद जताकर उसका अनादर करता है। परिस्थितियों से किसी को हीन स्थिति मिली तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि उन्हें दुस्कारा जाय और सामाजिक न्याय से वंचित रखा जाय। भेद किया जाय तो हर व्यक्ति दूसरे से छोटा है। तब चाहे जो चाहे जिसका अनादर कर सकता है। ऐसा होने लगे तो संसार में प्रेम, आत्मीयता और आदर का लेशमात्र स्थान न बचे।

जज साहब ने उसे पहले आग्रहपूर्वक कुर्सी पर बैठाया और फिर अपनी बात कहने के लिए पूछा।

बम्बई नगरपालिका के विरुद्ध अभियोग था। साधारण व्यक्ति होने के कारण कोई सुनवाई न हुई थी, बरन् उसे जहाँ गया डाँट-फटकार ही मिली थी। आजकल वैसा नहीं तो बहानेबाजी, रिश्वतखोरी की बातें चलती हैं, दोनों एक-सी हैं। फिर जितना ऊपर बड़ों सुनवाई की सम्भावना थी उतनी ही बन्द पड़ती जाती है।

जज साहब ने सारी बात ध्यान से सुनी और कहा—“मैं सब कुछ आज ही ठीक कर दूँगा।” आश्वासन पाकर उस दीन-जन की आँखें भर आईं। जज साहब ने उसी दिन उस बेचारे का चर्चों का रुका काम निबटाया। यह भी हिदायत दी कि किसी को निम्न वर्ग कसे की, अशिक्षित या अछूत मानकर उपेक्षित और न्याय से वंचित न किया जाय।

जज साहब की यह आदर्शवादिता यदि आज के पदाधिकारियों में होती तो भारतीय लोकतन्त्र उज्वागर हो

मितव्ययी न्यायाधीश

जस्टिस रानाडे के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है। एक बार वे अपने नौकर को बाजार से सामान भंगाने के लिए भेज रहे थे। वे नौकर से हर एक चीज का दाम पूछते जाते थे और कितने सामान की आवश्यकता थी उसकी तौल तथा रूप्य, अपने-पैसों में उसकी कीमत एक कागज पर नोट करते जाते थे। पर्चा तैयार कर नौकर को भेज दिया इसी बीच उनके एक मित्र जो स्वयं भी जज थे, वहाँ पहुँच गये। मामूली सामान का पर्चा बनाते देखकर उन्होंने आश्चर्य से पूछा—“सर आपकी इसकी क्या आवश्यकता है।” रानाडे ने कहा—“भाई मैं जज होऊँ या कोई और जो घर के खर्च का हिसाब नहीं रखते उन पर सदा ही कर्म बना रहता है।” अंग्रेज जब उनकी इस बात से बड़ा प्रभावित हुआ और स्वयं ने भी वैसा ही करना शुरू कर दिया।

ताकि अनुशासन भंग न हो

ज्यामूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे के पास किसी मित्र ने कीमती हापुस आमों का टोकरा भेजा। भोजन के समय श्रीमती रमाबाई रानाडे आम ले आईं। उन्होंने चाकू से आम काटकर तीन फॉर्क पति को दीं। तीन फॉर्क खाकर रानाडे बोले—“बस अब नहीं चाहिए।” क्यों और लीजिए न! क्या स्वादिष्ट नहीं हैं।” स्वादिष्ट तो हैं, पर इससे अधिक खाना मेरे स्वाद के अनुशासन से बाहर होगा।” रानाडे कहते गये वे आम कीमती हैं। मैं इन्हें उतना ही खाना चाहता हूँ, जितने से जीभ की आदत न बिगड़े और जितना मैं खरीदकर भी खा सकूँ किसी ने भेंट किये हैं, इसलिए ज्यादा खा लेना अनुशासन बिगड़ना होगा।”

उदार हृदय

एक बार पूना के सरकारी जज श्री मदनकृष्ण की पत्नी का देहान्त हो गया। जज साहब हरिजन थे। यद्यपि दाह-संस्कार में शरीक होने वालों में रुढ़िवादिता की कुछ हिचकिचाहट-सी थी। फिर भी शर्मा-शर्मा आ ही गये।

पत्नी की मृत्यु के ठीक १५ दिन बाद स्वयं जज साहब का देहान्त हो गया। अब समस्या दाह-संस्कार की सामने आयी। लोग यह सोचकर नहीं आये कि एक बार धर्म बिगड़ लिया तो बिगाड़ लिया। अब की बार हम धर्म न बिगाड़ेंगे परिणाम यह हुआ कि कोई भी न आया और लाश घण्टों रखी रही।

उस समय ज्यामूर्ति महादेव रानाडे स्वयं भी जज थे, जो कि उसी दिन दौरे से लौटकर आये थे।

जैसे ही उन्हें जज साहब के देहान्त के बारे में मालूम हुआ, वे फौरन वहाँ पहुँचे। उन्होंने मुर्दे को उठाने की व्यवस्था स्वयं ही की।

यह वा हृदय की भावनात्मक एकता के प्रश्न का हल, जिसका कि जति-पाति के प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

पाप का धन

एक न्यायाधीश सरकारी काम पर पैदल हो सतारा जिले का दौरा कर रहे थे। उन्होंने अपनी पत्नी को संदेश दिया था कि पीछे घोड़ा गाड़ी से आ जाना।

मार्ग में एक अपराई में बंदिया आम दिखायी दिये। न्यायाधीश की पत्नी की इच्छानुसार गाड़ीवान ने कुछ आम पेड़ से तोड़े। संयोगवश एक बड़ा आम उनके हाथ पर आ गिरा और उनके सोने का कंगन टूट गया। टूटे हुए कंगन का एक टुकड़ा भी नहीं मिल पाया। जिसकी वजह उन्हें बड़ा पछतावा रहा।

पड़ाव पर आकर न्यायाधीश की पत्नी ने सारी कहानी पतिदेव को सुनायी। न्यायाधीश कहने लगे—ठीक ही हुआ। बिना अधिकार के जराया माल प्राप्त करने का कभी परिणाम होना चाहिए। भविष्य में इस प्रकार की मनोवृत्ति से दूर रखने के लिए प्रभु ने यह दण्ड दिया है। तुम्हारे अपराध की थोड़ी-सी सजा मुझे भी मिल गयी है। मेरा भी चाकू कहीं खो गया है। पाप की कौड़ी पुण्य का सोना भी खोच लेती है।

ये न्यायाधीश थे श्री महादेव गोविन्द रानाडे जो केवल दूसरों के मुकदमों के फैसले ही नहीं करते थे वरन् अपने और अपने स्वजनों के क्रिया-कलापों का भी विवेकपूर्ण तरीके से निरीक्षण करते हुए उस न्यायाधीश को नहीं बिसारते थे जो इस संसार का स्वामी है। यह सब पर दया भी करता है और उन्हें उनके कर्मों के अनुसार दण्ड भी देता है।

सुधार के लिये इतनी सहिष्णुता

श्री महादेव गोविन्द रानाडे के एक मित्र थे श्री कुण्टे। वे दोनों एक साथ पढ़े थे और इसलिए एक प्रकार से लीगोटिया पार थे। बड़े हो जाने पर भी दोनों में घनिष्ठ मित्रता बनी रही। पर सन् १८८५ में जब लार्ड रिपन ने भारतवासियों को स्वायत्त-शासन (नगर पालिका) का अधिकार दिया तो उसके चुनाव के समय दोनों में मतभेद हो गया। श्री रानाडे तो उसमें अधिकाधिक संख्या में भारतीय सदस्य रखे जाने के पक्ष में थे और कुण्टे म्हादेव उसमें अंग्रेज अफसरों का बहुमत रखने के समर्थक थे। एक दिन रानाडे ने कुण्टे को उनकी अंग्रेज परस नीति के लिये फटकारा तो वे उनसे क्रुद्ध हो गये और बहुत सुले तौर पर जोर-शोर के साथ अंग्रेज अफसरों के चुने जाने का प्रचार करने लगे। वे प्रायः सना किन्ना करते और उनमें रानाडे पर तरह-तरह के आक्षेप करते हुए हिन्दुस्तानियों के चुनाव का विरोध किया करते। रानाडे को यह देखकर बड़ा दुःख हुआ कि हम लोग आपस में ही लड़कर अंग्रेजों को अपने ऊपर हँसने का मौका दे रहे हैं। इसलिये उन्होंने इस झगड़े का अन्त करने का निश्चय किया और सन्ध्या के समय स्वयं ही कुण्टे की सभा में

चले गये। उस दिन भी कुण्टे ने इन पर खूब आक्षेप किये पर इसकी कुछ परवाह न करके भावमय समाप्त होने पर वे उनके पास गये। कुण्टे ने नाराजगी से अपना मुँह दूसरी तरफ फेर लिया। पर वे उसके और भी पास चले गये और जबरदस्ती बातें करने लगे। फिर इन्होंने कुण्टे से अपनी गाड़ी में बैठकर चलने के लिये कहा, तो कुण्टे ने उसे अस्वीकार कर दिया। इसके बाद जब कुण्टे अपनी गाड़ी में जाकर बैठे तो वे भी उसी गाड़ी में जा बैठे और कहा—“यदि आप मेरी गाड़ी पर नहीं चस सकते तो मैं आपकी गाड़ी पर चसूँगा।” कहना अनावश्यक है कि मार्ग में दोनों में जो वार्तालाप हुआ उससे कुण्टे महोदय ठिकाने आ गये और उन्होंने अंग्रेज अफसरों का पक्ष लेना छोड़ दिया।

सेवा एवं मान्यता की मूर्ति—

महामना मालवीय जी

“जब तक मैं इस पकाव में हूँ तब तक ये गरीब आदमी इसी प्रकार चर्ची आते रहेंगे। मुझे भारत ही नहीं संसार भर के गरीबों से सहानुभूति है। मुझे वनसे हार्दिक प्रेम है। अपने घर आने को मैं इनकी कृपा मानता हूँ। इनको घर बैठे देखने का अवसर पाकर मैं देश के विषय में बहुत-सी बातें समझ लेता हूँ।”

ये शब्द थे महामना मदनमोहन मालवीय जी के, जो उन्होंने अपने पुत्र श्री गोविन्द मालवीय की इस शिकायत पर कहे थे कि बैठक में ऐसे बहुत से आदमी बिना पूछे चले आते हैं, जिनके पैर धूल से सने होते हैं और कपड़े निराल्पत गंदे रहते हैं मुझे इनका आना बिल्कुल पसंद नहीं, मैं इनके आने पर प्रतिबंध लगाना हूँगा।

पं० मदनमोहन मालवीय एक पूर्ण धार्मिक व्यक्ति थे किन्तु उनकी धर्म-भावना में घृणा नहीं प्रेम की प्रधानता थी। उन्हें किसी से मिलने, बात करने में संकोच नहीं होता था।

पं० मदनमोहन मालवीय सनातन धर्म के साकार रूप थे। धर्म की अनुभूति उनके रोम-रोम में धरी हुई थी। उन्हें अपने ब्राह्मणत्व पर स्वयं ही बहुत श्रद्धा थी। वे अपने ब्राह्मण संस्कारों को किसी भी स्थिति अथवा अवसर पर त्यागने को तैयार नहीं थे। धार्मिक नियमों की रक्षा और उनके पालन को वे जीवन का सबसे बड़ा कर्तव्य मानते थे।

उनका कथन था—“धर्म वह शक्तिशाली तत्व है जिसको अपनाने से बड़े से बड़े पतित हृदय का अनुराग भी महामना बन सकता है। मुझे अपने धर्म पर अनन्त श्रद्धा है। धर्म मेरा जीवन और प्राण है। मैं जीवन की सारी सुख-सुविधाएँ, यहाँ तक कि परिवार और प्रेमीजनों तक को धर्म पर न्योछावर कर सकता हूँ।”

महायुक्त मालवीय जी का वह कथन केवल मात्र ही न था बल्कि उसका एक-एक शब्द उनके दैनिक जीवन में कदम-कदम पर परिलक्षित होता था। वे हिन्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तान के पूर्ण वधासक थे और जीवन भर इन्हीं के लिए काम करते हुए, इन्हीं के लिए मर गये।

महायुक्त मालवीय जी को अपने देश-भारत की दो कमियाँ बहुत छटकती थीं। एक अविद्या और दूसरी निर्धनता। वे बनारस के एक परम प्रतिष्ठित व्यक्ति और उस शीर्ष के सर्वमान्य नेता थे। वहाँ काशी की जनता उन्हें देवता के समान पूजती थी, वहाँ काशी परेश उन्हें गुरु के समान मानते थे।

मालवीय जी का वह प्रभाव केवल इसलिए नहीं था कि वे एक अद्वितीय ब्राह्मण थे बल्कि उनका सारा सम्मान उनकी उन समाज सेवाओं पर निर्भर था जो समय-समय पर वे करते रहते थे।

पं० मदनमोहन मालवीय पौन्यपंथी धार्मिक नहीं थे। उनके धर्म में सत्य और संयम का समन्वय रहता था। यद्यपि वे अपने धर्म के कट्टर अनुयायी थे और उसके लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को सदैव तत्पर रह करते थे तथापि जो धार्मिक नियम कहीं जनकर, देश, जाति अथवा समाज को हानि पहुँचाने लगते थे उनका त्याग कर देने में उन्हें जरा भी संकोच न होता था। इसका प्रमाण उन्होंने अखिलों और वलित वर्ग के प्रति सेवा भावना से दिया।

गरीबी और गरीबों के प्रति महायुक्त मालवीय जी का प्रेम सर्वविदित था। किसी गरीब को देखकर तत्काल उनका हृदय कण्ठ से भर जाता था और वे उसकी यथासम्भव सहायता किया करते थे। काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी विशाल संस्था के संस्थापक और उसके उपकुलपति होने पर भी वे अपने व्यक्तिगत जीवन में एक साधारण भारतीय नागरिक की तरह ही रहते थे। वे अपने जीवन पर एक सामान्य नागरिक की औसत आय से अधिक कभी खर्च नहीं करते थे और न कभी ऐसे बड़े प्रीतिभोजों में शामिल होते थे, जिनमें ऐसी वस्तुएँ खाने के लिए बनी हों जो भारत के एक सामान्य नागरिक को आसानी से न मिल सकें।

वे ऐसे अपेक्षणी एवं बहुध्वनी प्रीतिभोजों का बहिष्कार ही नहीं बल्कि उनकी इन शब्दों में निन्दा भी करते थे—“जहाँ तुम्हारे घर में हजारों-लक्षों तुम्हारे भाई आधे पेट भोजन की पीड़ा सह रहे हों वहाँ इस प्रकार के विविध ध्वजनों से परिपूर्ण बड़े-बड़े प्रीतिभोज अस्तेमनीय ही नहीं बल्कि निंदास्पद भी हैं।” इस प्रकार के अपेक्षणी प्रीतिभोजों को चलाने और रहन-सहन पर केवल खर्च करने वाले देश के गरीबों के प्रति सहानुभूति दिखलाकर दुःख प्रकट करते हैं, तब मुझे ऐसा लगता है कि जैसे वे गरीब भारतीय जनता का उपहास करते हैं। जिसको कह का एक काँटा नहीं चुभा, जिसने गरीबी के दर्द का कोई अनुभव नहीं किया वह गरीबों से सच्ची सहानुभूति किस प्रकार रख सकता है? उनका दुःख दूर करने के लिए

क्या कर सकता है? गरीब जनता के नेताओं को अमीरों की जिन्दगी बिताने और विलासपूर्वक रहने का क्या अधिकार है? मैं किसी अमीर को गरीबों का नेता मानने को तैयार नहीं हूँ। गरीबों का नेता तो उन्हें की तरह अमीरों को अंगोकार करने वाला होना चाहिए।

वे द्वार पर आए गरीबों के प्रति नेताओं का विषमतापूर्ण व्यवहार पर आँसू बहाते हुए कहा करते थे—“वह कितनी बड़ी विडम्बना है कि आप देश के नेता जनता से दूर सजे हुए बैंगलों और वातानुकूल कोठियों में बैठकर उसकी गरीबी पर विचार विमर्श करते हैं, सोफों पर बड़े-पड़े उसका उपाय सोचते हैं। अपने चाँदी जैसे चमकते कपड़ों को गरीबों के स्पर्श से बचाते हैं और अपने कमरे में बिछी कालीनों को किसी आगन्तुक गरीब के पैरों से मैला होने देने में संकोच करते हैं। यह कैसा नेतृत्व है, यह कैसी हिमायत है? जिसने गरीबों का अधिष्ठाप नहीं देखा उसकी आँहों-कराहों को नहीं सुना वह भला गरीब जनता का नेतृत्व कैसे कर सकता है? आज तो देश को ऐसे नेताओं, ऐसे सेवकों की आवश्यकता है जिनके हृदय देश के प्रति कण्ठ से भरे रहते, जिनके आँसू गरीबों की पद-धूलि के लिए सदैव आँखों से भरे रहते हों और जिनका हृदय स्वभावतः अमीरी और आरामपूर्ण जिन्दगी से जुना रहता हो। मैं भगवान से नित्य यही प्रार्थना करता हूँ कि हे कण्ठकार जगदीश! तू मेरे हृदय में गरीबों के प्रति इतनी दया, इतना प्रेम भर कि मैं अपने अस्तित्व को उनकी सेवा में विसर्जित कर दूँ और देश को ऐसे नयक दे जो समाज की आवश्यकता, उसकी पीड़ा और परेशानी को ठीक-ठीक अनुभूत कर सकें।”

महायुक्त का मन्वत्प्रभाव व्यक्तित्व धर्म की उदात्त पृष्ठभूमि पर विकसित हुआ था। यद्यपि नित्य-प्रति पूजा-पाठ करना मालवीय जी की दिव्यधर्म का एक विशेष अंग था। जब तक वे निश्चित रूप से पूजा न कर लेते थे जीवन के नये दिन का कोई कार्य प्रारम्भ न करते थे, किन्तु मन्वत्ता की सेवा करना वे व्यक्तिगत पूजा-उपासना से भी अधिक बड़ा धर्म समझते थे। इसका प्रमाण उन्होंने उस समय दिया जबकि एक बार प्रकाश में प्लेग फैला। अभागी घर-गरी कीड़े-मकड़े की तरह मरने लगे। मित्र-पड़ोसी, सगे-सम्बन्धी तक एक-दूसरे को असहाय दशा में छोड़कर भागने लगे थे। किन्तु यह मन्वत्ता के सच्चे पुजारी श्री महायुक्त ही थे जिन्होंने उस आपत्तिकाल में अपने जीवन के सारे प्राणप्रिय कार्यक्रमों एवं कर्मकांड छोड़कर तद्दृष्टी हुई मानवता की सेवा में अपने जीवन को दाँव पर लगा दिया था। वे घर-घर, गली-गली पैदल दवाओं तथा स्वयंसेवकों को लिए हुए, दिन-रात घूमते रहते थे और खोज-खोजकर रोगियों के घर आते। उन्हें दवा देते, उनकी सेवा-सुवृष करते, उनके मल-मूत्र साफ करते और अपने हाथों से उनके निवास स्थान तथा कपड़ों को धोते थे। अपने इस सेवा कार्य में वे नहाना-धोना, पूजा-

४.४० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

घाट तथा खाना पीना सब कुछ भूल गये । कब दिन निकला ? कब रात हुई ? इसका पता ही न रहता था ।

ठदारचेता मालवीय जी स्वयंसेवकों से ऊपर का काम तो ले लेते थे किन्तु रोग के प्रभाव के भय से उन्हें रोगियों के पास न आने देते थे । जब उनके भक्तजन उनसे यह कहा करते थे कि आप दूसरों को रोगियों के पास रोग के संक्रमण के भय से तो जाने नहीं देते किन्तु स्वयं उनका घल-मूत्र तक साफ करते हैं । आप देश, जाति की अमूल्य निधि हैं, क्या आपको रोग की संका नहीं होती ? तब उनका यही उत्तर होता था कि एक तो मैं अपने सेवा कार्य में किसी का साक्षात् नहीं करना चाहता, दूसरे मेरे हृदय में इस प्रसन्न मानवता के लिए इतनी तीव्र आग जल रही है कि मेरे पास रोग के कीटाणु आकर स्वयं भस्म हो जायेंगे और यदि इनकी सेवा करता-करता मैं स्वयं पर जाऊँ तो भी अपने मानव-जीवन को धन्य समझूँगा ।

यह थी महान्या मालवीय जी की सेवा-भावना जिसके लिए वे अपना तन, मन और धन सब कुछ न्योछावर करते रहते थे । उनके धर्म का ध्येय योक्ष अपना निर्वाण न होकर मानवता की सेवा मात्र था । जिसको वे जीवन भर सच्चाई के साथ निभाते हुए एक दिन उसी मार्ग पर चलते-चलते परम तत्त्व में विलीन हो गए ।

कहना न होगा कि धर्म के अभाव में कोई मनुष्य सच्चा मनुष्य नहीं बन सकता और बिना सेवा-भ्रम के धर्म का कोई महत्व नहीं ।

सिद्धान्तनिष्ठा

कालाकाँकर के राजा रामपाल सिंह ने 'हिन्दुस्तान' नामक पत्र आरम्भ किया ही था कि उसके लिए सुयोग्य सम्पादक की आवश्यकता सामने आ खड़ी हुई । उन्होंने दिनों मदनमोहन मालवीय कॉलेज की शिक्षा सम्पन्न करके निकले ही थे और अध्यापन का कार्य करने लगे थे । पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेखों एवं भाषणों से राजा साहब बहुत प्रभावित हुए और उन्हें हिन्दुस्तान के सम्पादन के लिए आमन्त्रित किया ।

मालवीय जी उन दिनों आर्थिक तंगी में थे । तब अध्यापकों को वेतन भी कम मिलता था । राजा साहब उन्हें ढाई सौ रुपये मासिक देना चाहते थे, जो आज की दृष्टि से कई हजार के लगभग होता था । सम्मान का पद भी था और आर्थिक दृष्टि से आकर्षक भी, पर महम्मदा के सामने एक कठिनाई थी कि राजा साहब शराब पीते थे और उन्हें शराब से घोर घृणा थी । यह भिन्नता किस प्रकार मिटेगी, वह बात उन्हें असमंजस में डाले थी ।

सम्पादन का उत्तरदायित्व लेने की शर्तें तब करते समय मालवीय जी ने स्पष्ट कह दिया कि राजा साहब नशे की हालत में उनसे न मिलें । यह शर्त उन्होंने स्वीकार कर ली । बहुत दिन तक निभी भी, पर एक दिन नशे की हालत में ही वे मालवीय जी के कार्यालय पर घंट कसे जा पहुँचे ।

आदर्श और स्वाभिमान को प्रधान मानने वाले महामन्त्र मालवीय जी स्तोफ़ देकर बापस लौट आये और तत्क्ष कड़ने पर भी उस उत्तरदायित्व को फिर से नहीं स्वीकारा । राजा साहब पर मालवीय जी की अदृष्टवादिता का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उनका चेतन ढाई सौ रुपये मासिक सकालत पढ़ने की छात्रवृत्ति के रूप में उन्हें वे सत्त भेजते रहे ।

परीक्षा

पं० मदनमोहन मालवीय बम्बई में ठहरे हुये थे । रात्रि के समय बम्बई के प्रसिद्ध विद्वान पं० रमापति मिश्र उनसे मिलने के लिये आये । मिश्र जी बोले—“मालवीय जी ! मैं तो अपने में काफी सहनशीलता बढ़ाती हूँ, आप चाहे तो सी गाली देकर देख लीजिए मुझे क्रोध नहीं आयेगा ।” मालवीय जी हँसते हुए बोले—“मिश्र जी ! आपकी बात तो ठीक है पर क्रोध की परीक्षा तो सी गाली देने के बाद होगी । उससे पूर्व ही पहली गाली मैं मेरा मुँह गन्दा हो जायेगा ।” मालवीय जी के इस उत्तर को सुनकर मिश्र जी गह-मस्तक हो गये ।

मानवीय भावना

एक लड़का दीड़ता हुआ डॉक्टर के पास पहुँचा और उनसे अत्यधिक आग्रह करके एक रोगी को दिखाने ले गया । डॉक्टर ने देखा—सड़क पर एक कुत्ता घायल पड़ा है, उसी के इस्त्रव के लिये उसे लाया गया है । इस पर डॉक्टर बहुत झल्लाया, पर लड़का भी अपनी आन पर पूरा था । उसने कहा—मनुष्य के समान ही कुत्ते को भी कह होता है । हम मनुष्यों का ही दुःख दूर करें और दूसरे प्राणियों का नहीं, क्या यह उचित है ? डॉक्टर की हँप मिटी और उसने कुत्ते का उपचार किया । कुछ दिन में वह कुत्ता अच्छा भी हो गया । इस सहृदय बालक का नाम था—महामन्त्र मदनमोहन मालवीय ।

कर्तव्य पालन

मदनमोहन मालवीय किसी अंग्रेजी अफसर से मिलने जा रहे थे । अचानक बोली ही दूर पहुँचे थे कि रास्ते में पड़ी हुई एक निर्धन स्त्री दिखाई दी । उसके पाँव में घाव हो गये थे । मर्चिखर्चों काट रही थीं । इससे उसे असह्य वेदना हो रही थी ।

मालवीय जी ने अपनी घोड़ागाड़ी रुकवाई । स्वयं उतरे और उस स्त्री को उठाकर गाड़ी में बैठाकर अस्पताल की ओर चल पड़े । एक युवक ने यह देखा तो दौड़ा-दौड़ा आया और बोला पण्डित जी इस स्त्री को लाइये मैं अस्पताल पहुँचा देता हूँ आप किसी आवश्यक कार्य में जा रहे हैं वहाँ बाइये । अफसस समय ज्यादा मूल्यवान है ।

मालवीय जी ने कहा—“यह कार्य ज्यादा आवश्यक है, मैं उसी के लिये बिन्दा हूँ ।” यह कहकर उन्होंने गाड़ी आगे बढ़वाई और उस स्त्री को स्वयं अस्पताल पहुँचाकर आये ।

कल्याणकारी दान

एक बार एक सेठजी स्वयं महामन्त्र मालवीय जी के पास अपने यहाँ विवाह पर आयोजित विशाल भोज में सम्मिलित होने का निमन्त्रण देने के लिए पहुँचे। महामन्त्र जी ने उनके इस निमन्त्रण को इन विनम्र किन्तु बर्बत्पूर्ण शब्दों में अस्वीकार कर दिया—“यह आपकी कृपा है जो मुझे अकिंचन के पास स्वयं निमन्त्रण देने पड़े किन्तु जब तक मेरे इस देश में, मेरे हजारों-लाखों भाई आखे पेट रह कर दिन काट रहे हों, तो मैं विविध व्यंजनों से परिपूर्ण बड़े भोजों में कैसे सम्मिलित हो सकता हूँ। वे सुखादु पदार्थ मेरे गले कैसे उतर सकते हैं। क्या भोजन मात्र से ही धरा धिलता है। धरा अर्जन का अथवा कोई अच्छा तरीका नहीं सोच सकते?”

महामन्त्र जी की यह मर्मयुक्त बात सुन सेठजी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने भोज में व्यय होने वाला सारा धन गरीबों के कल्याणार्थ दान दे दिया।

भागवत-कथा-वाचन

जयपुर के अग्रवाल महाविद्यालय भवन में अ० भा० आयुर्वेद सम्मेलन हो रहा था। महामन्त्र मालवीय जी को अध्यक्षता करनी थी। उन दिनों घेरी रजवाड़े किसी राष्ट्रीय विचार वाले को अपने क्षेत्र में प्रवेश न करने देते थे। अस्तु, मालवीय जी के जुलूस एवं भावज पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

मालवीय जी ने पैतरा बदल कर उन्होंने भागवत कथा कहना आरम्भ कर दिया जो पूरे दो घण्टे चली। जनता मंत्र मुग्ध रह गई।

समाचार राजमहल पहुँच तो राजा ने मालवीय जी को कथा सुनाने उन्हें राजमहल में आमन्त्रित किया। बड़े ध्यान से उन्होंने कथा सुनी। इसके उपरान्त हिन्दू धर्म-विद्यालय के लिए राज्यकोष से लाखों रुपये की सहायता भी दी गई।

सेवा धर्म

गुजरातीवाला का खालसा कॉलेज—जहाँ मार्क्सिस्तों के दिनों में अंग्रेज सैनिकों ने निर्दयतापूर्वक गोलीबारी बरसाई थी। देखने के लिये महामन्त्र मालवीय जी, पण्डित मोतीलाल नेहरू, स्वामी श्रद्धानन्द तथा श्री व्यंकटेश नारायण तिवारी गये थे। जून की दोपहर सूर्य आग बरसा रहा था। तिवारी जी के अलावा तीनों नेताओं के पास छाते थे। तिवारी जी को बिना छाते के देख महामन्त्र उनके सिर पर छाता लगाकर चलने लगे। ज्यों-ज्यों तिवारी उनके छाते से दूर भागते, त्यों-त्यों मालवीय जी उनके पास ही उठते जाते। तिवारी जी से न रहा गया। बोले—“महाराज आप मुझे पाप का भागी क्यों बना रहे हैं?” महामन्त्र ने उत्तर दिया—“तुम उस सेवा-समिति के मंत्री हो, जिसका सभापति मैं हूँ। क्या मुझे सेवा के धर्म से बिल्कुल वंचित

करना चाहते हो? तुम जनता की सेवा कर रहे हो, तुम्हारी सेवा कर मैं पुण्य का भागी होना चाहता हूँ।”

अद्भुत याचक

रामानन्दन का पुनीत पर्व। बीकानेर नरेश का दरबार लगा हुआ था। राजद्वार पर ब्राह्मणों की लम्बी कतार थी। उन्हीं ब्राह्मणों के मध्य मालवीय भी एक नारियल लिये खड़े थे। सनै-सनै कतार छोटी होती जा रही थी। प्रत्येक ब्राह्मण, नरेश के पास जाकर राखी बाँधता और दक्षिणा के रूप में एक रुपया प्राप्त कर खुशी-खुशी घर लौटता जा रहा था।

मालवीय जी का नम्बर आया तो वे नरेश के समक्ष पहुँचे राखी बाँधी, नारियल भेंट किया और संस्कृत में स्वरचित आशीर्वाद दिया। नरेश के मन में इस विद्वान ब्राह्मण का परिचय जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। जब उन्हें मालूम हुआ कि वह तो मालवीय जी हैं तो वह बहुत प्रसन्न हुए और अपने भाग्य की मन ही मन सराहना करने लगे। मालवीय जी ने विश्वविद्यालय की रसीद बही उनके सामने रख दी। उन्होंने भी तत्काल एक सहस्र मुद्रा लिखकर हस्ताक्षर कर दिखे। नरेश अच्छी तरह जानते थे कि मालवीय जी द्वारा संचित किया हुआ साधु द्रव्य विश्वविद्यालय के निर्माण कार्यों में ही व्यय होने वाला है।

मालवीय जी ने विश्वविद्यालय की समूची रूपरेखा नरेश के सम्मुख रखी। उस पर सम्भावित व्यय तथा समाज को होने वाला लाभ भी बताया तो नरेश मुग्ध हो गये और सोचने लगे इतने बड़े कार्य में एक सहस्र मुद्राओं से क्या होने वाला है, उन्होंने पूर्व लिखित राशि पर दो शून्य और बढ़ा दिये, साथ ही अपने कोषाध्यक्ष को एक लाख मुद्राएँ देने का आदेश प्रदान किया।

युग धर्म पुकार

मालवीय जी चाहते थे कि हरिजन भाई हिन्दू धर्म के ही एक अंग बने रहें। यदि ब्राह्मणों के द्वारा उन्हें भी मन्त्र दीक्षा दी जा सके तो वे भी अपने को सहयोगी मानते रहेंगे और देश को स्वतन्त्र करने में उनसे जो बल पड़ेगा उसे करने में पीछे न रहेंगे। इस आशय से उन्होंने देश के विभिन्न भागों से प्रकांड पण्डितों को आमन्त्रित किया।

ओरियन्टल महाविद्यालय के सभा भवन में सभा का आयोजन किया गया। कार्यवाही प्रारम्भ हुई। प्रारम्भ में ही मालवीय जी ने बड़े ही नम्र शब्दों में अपनी बात कही और उपस्थित विद्वानों से यह निवेदन किया कि इस समस्या को युग की पुकार समझकर अपने-अपने विचार प्रकट करने का कष्ट करें।

पंच० प्रबोधनार्थ तर्क भूषण जैसे पण्डितों ने उनका समर्थन किया। वहीं कितने ही कट्टर ब्राह्मणों ने उनके प्रस्ताव को निन्दनीय ठहराया। एक सज्जन ने उनके प्रयास

की आलोचना करते हुए वहाँ तक विरोध प्रकट किया कि मालवीय जी को इन कार्यों से नरकगच्छी होना पड़ेगा।

इतना सुनकर मासवीय जी हँस रहे उन्होंने कहा—“सज्जनों यदि हिन्दू धर्म के उत्थान और उसकी एकता बनाये रखने के लिये मुझे एक बार नहीं हज़ार बार नरक जाना पड़े फिर भी मैं वहाँ के कष्टों को भोगने के लिये सहर्ष तैयार हूँ। इस समय तो आपको इसका समर्थन करना चाहिए।” अब उनकी आलोचना करने की किसी में हिम्मत न थी।

सरलता की प्रतिमूर्ति—

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

घटना उस समय की है जब प्रसिद्ध राष्ट्रीय समाचार पत्र ‘लीडर’ के सम्पादक थे श्री सी० बाई० चिंतामणि। वे पत्रकारिता के माध्यम से जन जागरण की मुहिम चलाने के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में भी भाग लिया करते थे। इस सिलसिले में उनसे मिलने के लिए कई राजनेता भी आया करते थे। चिंतामणि जी का स्वभाव था कि जब वे गम्भीर लेखन में व्यस्त रहते थे तो उस समय बीच में किसी का आना या बातचीत करना उन्हें बहुत अस्वस्थ था। उस दिन भी चिंतामणि जी लीडर का सम्पादकीय अग्रलेख लिख रहे थे और चपरासी को आदेश दे रखा था कि यह किसी को अन्दर न आने दे। चपरासी गेट पर बैठा—किसी भी आने वाले को चिंतामणि जी के आदेश से अवगत करा देता और उसे दरवाजे पर ही रोक देता।

कुछ ही देर बाद एक सादा कुरता और धोती पहने एक भद्र पुरुष वहाँ आये। गेट पर चपरासी ने सम्पादक के कक्ष में जाने से रोकता तो भद्र पुरुष ने अपना विजिटिंग कार्ड उसके हाथ में धमा दिया और कहा—“इसे चिंतामणि जी को दे आओ और उनकी आज्ञा बूझ लो।”

चपरासी ने उस भद्र पुरुष को अपरिचित भरे भाव से देखा और कहा—“क्षमा करना साहब, साहब का हुक्म है कि मैं भी उनसे किसी के बारे में बात न करूँ।”

“अच्छा तो तुम यह कार्ड उनकी मेज पर रखकर ही आ जाना। वे जब कभी इसे देखेंगे तो मुझे कृतज्ञ लेंगे। मुझे उनसे बहुत ही जरूरी बात करनी है।” भद्र पुरुष ने कहा।

चपरासी ने उस भद्र पुरुष को कई बार चिंतामणि जी के साथ देखा था और वह यह भी जानता था कि चिंतामणि जी से इनके अन्तरंग सम्बन्ध हैं। वह कार्ड ले जाकर उनकी टेबिल पर रख आया। चिंतामणि जी इतने तन्मय होकर लिख रहे थे कि उन्हें चपरासी के आने का आभास भी नहीं हुआ था।

जाड़े का मौसम था। बाहर बरफ़ में कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। राजेन्द्र बाबू को सर्दी मालूम पड़ने लगी। उन्होंने देखा कि नीचे मुख्यद्वार पर कुछ कर्मचारी

सूती लकड़ियों और पतियों जलाकर आग ताप रहे हैं। भद्र पुरुष उठे, नीचे उतरे और नौकरों के बीच बैठकर आग तापने लगे। यही नहीं, वे कर्मचारियों से जो धृत्य वर्ग के थे उनकी भी बोली में, उनके गाँव, उनके परिवार और उनकी छोटी के बारे में पूछने लगे। वे लोग भी उन्हें आत्मीय समझकर बड़े आनन्द से बातें करने लगे।

करीब घण्टा भर बीत गया। चिंतामणि जी का अग्रलेख समाप्त हुआ और उन्होंने कागजों पर झुका हुआ सिर उठाया तथा हाथ में पकड़ी हुई कलम एक ओर रखी सन्तव्र दूर करने के लिए हाथों को कन्धों से पीछे ले जाकर धरा जाना ही था कि उनकी दृष्टि मेज पर पड़े हुए उस कार्ड पर गयी जिसे चपरासी रख गया था। उन्होंने तुरन्त चपरासी को बुलाया और पूछा—“इन साहब को कितनी देर ही गयी और उन्हें कहीं बिठाया है?”

चपरासी ने सहज भाव से बताया—“करीब घण्टा भर हो गया उन्हें आये। कुछ देर तक तो वे मेरी बगल को बीच पर बैठ रहे फिर बाद में जहाँ अलाव जल रहा है, वहाँ आकर बैठ गये हैं।” यह सुनते ही चिंतामणि जी उठे और दौड़े हुये उस भद्रपुरुष के पास पहुँचे—“बाबूजी क्षमा करना। आपको कष्ट हुआ, बलिभे।” और बाबूजी कहने लगे—“अरे! इसमें मुझे क्या कष्ट हुआ। यहाँ सर्दी थी, इसलिए मैं अलाव के पास चला गया और मेरा समय उन लोगों से बाँटें करते हुए बड़े आनन्द के साथ बीता। साथ ही मुझे उन लोगों से इस जिले के गाँवों के जन-जीवन को बहुत-सी नई बातें मालूम हुईं।” इस प्रकार सरलता से उत्तर देने वाले भद्र पुरुष और बाबूजी थे डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जो स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति बने। जिस समय की बात है उस समय बाबूजी कांग्रेस अध्यक्ष थे और उन दिनों कांग्रेस अध्यक्ष की उतनी ही प्रतिष्ठा थी जितनी कि अंग्रेज गवर्नर की होती थी इतने ऊँचे पद पर रहते हुए भी बाबूजी को गर्व का भाव सू भी नहीं गया था।

कथ्य और तथ्य—भूल और आत्मविश्वास

विद्यार्थ्य में आब छात्रों का अच्छा खासा जमघट जमा हो रहा था। कई दिनों तक अवकाश रहने के बाद आज विद्यार्थ्य खुल रहा था। हफ्तों पूर्व परीक्षाएँ निबटी थीं और आब के दिन वे छात्र भी विद्यालय में उपस्थित थे जो कई-कई दिनों तक अनुपस्थित रहते थे। कारण था—आज परीक्षाफल घोषित होने वाला था। वर्ष भर की मेहनत और परिश्रम अथवा साफ़रवाही, आलस्य या उच्छ्वसलता का प्रतिफल सुनने के लिए शायद सभी उत्सुक थे। पता नहीं दुर्भाग्यवश मेहनत और परिश्रम करने वाले छात्र भी इस परीक्षा में असफल हो जायें इसलिए मेहनती छात्रों की छाती भी धुक-धुक कर रही थी और जिन विद्यार्थियों को अपनी अस्ति का पता था वे भी यह आशा दृष्टि लेकर इकट्ठे हुए थे कि शायद अकस्मात् किस्मत साथ दे जाय।

इस प्रकार दोनों ही तरह के छात्र अधीरता लिए समय से पूर्व ही एक-एक कर इकट्ठे हो गये । समय हुआ-विद्यालय शुरू होने का घण्टा बजा । प्रार्थना के बाद सभी परीक्षाफल की लिस्ट लेकर कक्षाओं में पहुँचे ।

और कुछ क्षणों बाद ही अध्यापक भी परीक्षाफल की लिस्ट लेकर कक्षाओं में आ गये । परीक्षा परिणाम घोषित हुए तो अनिश्चितता का वातावरण तो छंट गया परन्तु किन्हीं चेहरों पर प्रसन्नता नाच उठी और किन्हीं पर निराशा व परवसाप ।

इसके बावजूद भी एक कक्ष में विचित्र स्थिति उत्पन्न हुई । परीक्षाफल घोषित हो जाने के बाद एक छात्र ने दठकर पूछ ही लिया कि साहब मेरा नाम क्यों नहीं आया ?

छात्र के इस प्रश्न पर कक्ष में बैठे सभी विद्यार्थी खिसखिला कर हँस उठे । वे भी अपने चेहरे पर मुस्कान को जन्म नहीं कर सके, जो अपना नाम उत्तीर्ण छात्रों में आने पर उदास हुए बैठे थे । अध्यापक ने कहा-“नाम नहीं आया तो स्पष्ट है कि तुम अनुत्तीर्ण हो गये हो ।”

“नहीं ऐसा नहीं हो सकता-” छात्र ने कहा ।

“ऐसा क्यों नहीं हो सकता”-शिक्षक ने सहृदयता के साथ कहा- “मैं जानता हूँ कि तुम परिश्रमी और अध्ययनशील छात्र हो । परन्तु इस वर्ष परीक्षा के पूर्व ही तुम्हारे स्वास्थ्य का बिगड़ना तुम्हारे परीक्षाफल के लिए घातक सिद्ध हुआ है ।”

“भले ही मेरा स्वास्थ्य सारा हो गया हो । परन्तु मैं मेहनत से पढ़ा हूँ और फेल नहीं हो सकता”-विद्यार्थी ने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा ।

अध्यापक समझी कि लड़का जिद कर रहा है, अतः उन्होंने जरा कठोर हो कर कहा-“बैठ जाओ ।”

“नहीं बैठूँगा । मेरे परीक्षाफल की पुनः जाँच होनी चाहिए ।”

शिक्षक महोदय को इस पर और भी गुस्सा आ गया । वे बोले-“बैठते ही या नहीं । अन्यथा तुम्हें दण्डित किया जायगा ।”

“भले ही दण्डित किया जाय । परन्तु मेरा विश्वास है कि मैं फेल नहीं हुआ हूँ । रिजल्ट फिर से देखा जाना चाहिए । मैं पूरी मेहनत और ईमानदारी के साथ पूरे साल पढ़ा हूँ । परीक्षा का नक्का मेरी आँखों के सामने है और मुझे अपने उत्तरों पर पूरा विश्वास है ।”

आचार्य ने पाँच रुपये जुमाना कर दिया । फिर भी छात्र नहीं बैठे । निदान जुमाना बढ़ाया गया-दस रुपये हो गया फिर भी विद्यार्थी की जिद जहाँ की तहाँ । जुमाना पचास रुपये तक बढ़ गया लेकिन छात्र उस से मस नहीं हुआ । इस विवाद से पूरे विद्यालय में हंगामा मच गया ।

जात प्राचार्य तक पहुँची । उन्होंने सोचा कि क्यों अपनी जिद पर अड़े रहा जाय । सम्भव है कर्मवैतन्य में ही भूल हो गयी हो । अन्यथा इतने आत्मविश्वास और दृढ़ता के साथ कौन अपनी बात पर अड़ा रहेगा । फलतः

परीक्षाफल की पुनः जाँच की गयी और पता चला कि लिपिक की भूल से ही उस छात्र का नाम उत्तीर्ण छात्रों की लिस्ट में चढ़ने से रह गया है अन्यथा वह सबसे अधिक अंकों से उत्तीर्ण है । भूल सुधार में उस छात्र को उत्तीर्ण घोषित किया गया और विद्यार्थी के आत्मविश्वास को सराहा भी गया । वह छात्र वे भारत के प्रथम राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्र प्रसाद । मनोबोग और श्रमशीलता के बल पर अर्बित आत्मविश्वास की नींव पर खड़ा उनका व्यक्तित्व आगे भी महानता के मार्ग पर लोगों को इसी प्रकार प्रेरित करता रहा ।

पुरुषार्थ का प्रतीक-राजेन्द्र सेवा आश्रम

बिहार के सारन जिले में धैरवा एक छोटा-सा रेलवे स्टेशन है, जहाँ से करीब दो मील की दूरी पर अनुग्रह नगर बसा हुआ है । यह स्थान जो १९ वर्ष पूर्व बिल्कुल उन्माड़ और बीरान था और लोगों के लिए दिन में भी धय का कारण बना रहता था, वह आज राजेन्द्र सेवा आश्रम के कारण बहुचर्चित है और लोगों के लिए एक तीर्थ स्थान-सा बन गया है । कुछ सेवा के लिए निर्मित यह आश्रम अब विशाल भवनों में विकसित हो गया है और इसकी करीब ३० एकड़ जमीन पर कुँबि और बागवानी का काम होता है । आश्रम की व्यवस्था २४ लोग संभाल रहे हैं ।

सन् १९५३ में जब बच्चा राजचदास की प्रेरणा और सलाह पर श्री जगदीश दीन इस जगह पर कुछ रोगियों की सेवा करने पहुँचे थे, तब तक यहाँ कोई आश्रम नहीं बना था । श्री जगदीश दीन ने अपनी सेवा-कामना और अर्बित अनुभवों के आधार पर यहाँ कुछ रोगियों के बीच दवा बाँटना शुरू किया । तब उनके पास आश्रम बनाने के लिये न तो पर्याप्त धन था और न ही इस चिकित्सा में उन्हें कोई विशेष प्रशिक्षण प्राप्त था । परन्तु लगन और सेवा भावना से उन्होंने यह काम उठाया था, इसलिए वह उत्तरोत्तर बढ़ता गया चूँकि यह इलाका गरीब है और यहाँ पर कुछ रोगी अधिक पाये जाते हैं, इसलिए कुछ निष्करण के लिए यहाँ एक चिकित्सालय की स्थापना आवश्यकता थी । श्री जगदीश दीन ने सभी गाँवों से चिकित्सालय के निर्माण के लिये धन एकत्रित किया । आज भी इसका व्यवस्थानीय आर्थिक सहायता से चल रहा है । सरकार से केवल ५० हजार रुपये वार्षिक अनुदान के रूप में प्राप्त होता है । गाँव पंचायतें समय-समय पर आश्रम की सहायता के लिए धन एकत्र करती हैं और अन्य कई तरह से सहयोग देती रहती हैं ।

आश्रम में ६ पक्की इमारतें हैं, जिनमें रोगियों के कमरे, ठखोगरतल, बालबाड़ी, प्रयोगशाला और अतिथि सत्ता शामिल हैं । कई कुछ रोगी यहाँ पर अपना इलाज करवा रहे हैं । चिकित्सालय में यद्यपि एक ही प्रमुख चिकित्सक है, लेकिन उनकी सहायता के लिये ३४ अन्य डॉक्टर हैं, जो विभिन्न रोगों के विशेषज्ञ हैं और

४.४४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

मरना आधा समय रोगियों की चिकित्सा के लिये निःशुल्क देते हैं। स्त्री-पुरुष और बच्चों के लिये अलग-अलग कमरे हैं और एक बाह्र केवल उन रोगियों का है, जिनसे रोग की छूट का भय अधिक है। सप्ताह में तीन बार बाहरी रोगियों के लिए अस्पताल खुला रहता है और अनुमानतः ३०० बाहरी रोगियों को सप्ताह पर ये इलाज मिलता है। आश्रम के १२ अन्य छोटे केन्द्र हैं जो विभिन्न गाँवों में कुछ रोगियों को दवा भेंटा करते हैं और इस प्रकार सुदूर गाँवों में बसे करीब १८ हजार रोगियों की भी इस आश्रम के द्वारा सेवा हो रही है। आश्रम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ पर रोगियों का इलाज दवा से कम और मन से अधिक होता है। कुछ रोगियों के मन से हीम भावना और घृणा से देखे जाने की लज्जा को खत्म करने के मनोवैज्ञानिक प्रयास किये जाते हैं एवं भविष्य में कुछ रोग को सम्पन्न करने की योजना भी बन रही है।

सन् १९५५ में राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने इस आश्रम का शिलान्यास किया था, तभी से इसका नाम राजेन्द्र सेवा आश्रम पड़ा। इसके बाद सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाश नारायण और डा० अनुग्रह नारायण इस आश्रम के विकास में प्रयत्नशील रहे। इस आश्रम में रोगी एवं स्वस्थ सबको ग्रामोद्योगों का प्रशिक्षण भी दिया जाता है ताकि वे प्रतिष्ठापूर्वक स्वावलम्बी जीवन व्यतीत कर सकें।

आश्रम के कार्यकर्ताओं द्वारा कृषकों को कृषि उद्योग की उन्नति के लिए नवीनतम कृषि-विधियों की प्रदर्शनी का आयोजन किया जाता है। आश्रम का जीवन सांस्कृतिक आयोजनों से भी ओतप्रोत है, जिनमें रोगी और स्वस्थ सभी लोग सम्मिलित होते हैं और इस कारण आश्रम में आकर्षण और प्रसन्नता का वातावरण बना रहता है।

धन का सदुपयोग

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद एक बार कई राशियों का दौरा करके राँची (बिहार) पहुँचे। वहाँ उनके पैर में दर्द होने लगा। पता चला कि उनके जूते के ठले घिस गये हैं और उनमें उभरी कीलें उन्हें चुभती हैं।

राष्ट्रपति के शिविर से 'अहिंसक कर्मासय केन्द्र' दस मील था। उनके सचिव तुरन्त ही वहाँ से गया जोड़ा खरीद लाये। जूता पहनते हुए राजेन्द्र बाबू ने कीमत पूछी जवाब मिला—“उन्नीस रुपये”। राजेन्द्र बाबू विचार में पड़ गये। कुछ क्षण बाद उन्होंने कहा—“पर गत वर्ष ऐसे जूते ग्यारह रुपये में लिये थे।” सचिव ने कहा—“जी हाँ, ग्यारह रुपये वाले भी वहाँ थे, पर वे इनसे कमजोर थे। यह जोड़ा अधिक मुलायम चमड़े का है।” राजेन्द्र बाबू को इस पर सन्तोष नहीं हुआ वे कहने लगे—“यदि ग्यारह रुपये वाले जोड़े से काम चलता हो तो उन्नीस रुपये क्यों खर्च किये जायें? और मेरे पैर तो कड़े जूते पहनने के अभ्यस्त हैं। अतः तुम वे लौटाकर ग्यारह रुपये वाला

जोड़ा ले आओ।” सचिव राष्ट्रपति के स्वभाव से परिचित थे, अतः वे जूते लौटाने को तैयार हो गये। इतने में राष्ट्रपति जी ने पूछा—“इतनी दूर कैसे जाओगे?” जी, मोटर में चला जाऊँगा।” सचिव ने कहा। “यह तो ठीक नहीं। जितने रुपये तुम जूते खरीदने में बचाओगे, उतने पेट्रोल में चले जायेंगे। सी वे जूते अभी तो तुम पहने रहने दो। हमें यहाँ तीन दिन रहना है। इस बीच उधर जाने वाले किसी आदमी द्वारा उन्हें बदलवा देंगे।” राजेन्द्र बाबू का उत्तर था।

बड़ा नाम ही नहीं बड़ा काम भी

पूकम्प-रिलीफ का काम उत्तर बिहार में देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद की देखरेख में बड़े जोरशोर से चल रहा था। कुछ लोग प्रोफेसर बलदेव नारायण जी के नेतृत्व में दरभंगा में काम कर रहे थे, उनमें एक डा० राम बहादुर सिंह भी थे। राजेन्द्र बाबू कार्य का निरीक्षण करने हेतु दरभंगा पहुँचे। वहाँ से लौटते समय साध में डा० राम बहादुर सिंह को भी ले लिया। दोनों आदमी साथ ही साध ट्रेन में बैठे। दिन के लगभग ६ बजे होंगे। ताड़ी धीरे-धीरे सरकती हुई सोनपुर स्टेशन पर आ पहुँची। बैसाख का महीना था, सूर्य चमके आग उगल रहा था। सारा संसार तप्त होकर जल रहा था। कहीं भी थोड़ा चैन नहीं। यात्रियों का प्यास के बारे में सख्त खबरें चल रही थी।

सोनपुर स्टेशन बड़ा स्टेशन पड़ता है। यहाँ ट्रेन को काफी लम्बे समय तक रुकना होता है। ज्यों ही ट्रेन रुकी—सबकी नजर बाहर की ओर थी। सब लोगों की एक आवाज थी—पानी पाँड़े पानी चाहिए, पानी पाँड़े पानी चाहिए। पर पानी पाँड़े का कहीं भी पता नहीं। नल में भी पानी नहीं था जिससे लोग अपनी प्यास बुझाते।

इसी बीच राजेन्द्र बाबू अपने डिब्बे से गायब। डा० राम बहादुर यह भी नहीं देख सके, कि कब वे वहाँ से चले गये।

अपने समीप उन्हें न पाकर उन्होंने अनुमान लगाया कि कहीं पानी पीने चले गये हों। कुछ देर बाद क्या देखते हैं कि राजेन्द्र बाबू एक बाल्टी में पानी और दूसरे हाथ में सोटा लिये हुए यह आवाज लगा रहे हैं, “पानी पियोगे बाबू?” लोग उन्हें देख-देख कर ये कह रहे थे, “ऐ पानी पाँड़े हमें पानी पिलाओ।” जहाँ से भी आवाज आती वहाँ दौड़ दौड़ कर पानी पिला रहे थे। देशरत्न की आवश्यकता के समय केवल कार्य की चिन्ता थी, अपनी पद, प्रतिष्ठा और सम्मान का उन्हें तनिक भी ध्यान न था।

सादगी और सरलता

राजेन्द्र बाबू उन दिनों राष्ट्रपति तो नहीं पर देश के अग्रणी नेता अवश्य थे। उन्हें इलाहाबाद में नेहरू से मिलने जाना था। निश्चित ट्रेन पर उन्हें लेने के लिए जितने ही व्यक्ति पहुँचे, पर वे उन्हें असाधारण सादगी के कारण पहचान न सके। निदान वापस लौट आये।

राजेन्द्र बाबू इक्के पर बैठकर आनन्द भवन पहुँचे । रात अधिक हो गयी थी । लोगों को जगाने की अपेक्षा उन्होंने यही उचित समझा कि दरवाजे के बाहर खुले फर्श पर सोया जाय सो, सो भी गये ।

रात्रि के अन्तिम पहर जब उन्हें दमे की खाँसी उभरी तो पं० नेहरू ने आवाज पहचानी और उतरकर नीचे आये । राजेन्द्र बाबू की इस सादगी और सज्जनता से उनकी आँखें भर आई ।

दायित्व का निर्वह

परिवार के सारे उत्तरदायित्व अपने अग्रज श्री भेन्द्र प्रसाद पर छोड़कर राजेन्द्र प्रसाद देश सेवा में लग गये । वकालत छोड़ देने के कारण घर की आर्थिक स्थिति में तो अन्तर आया ही था कि अचानक बड़े भाई का स्वर्णवास हो गया । अब तो और भी हास्त विगड़ी । परिवार की सारी व्यवस्था बड़े भाई ही किया करते थे, राजेन्द्र बाबू को इस सम्बन्ध में कुछ जानकारी नहीं थी । परिवार ऋण प्रस्त हो गया था कई महाजनों का । सब स्त्रियों ने राजेन्द्र बाबू से तकावा किया परन्तु घर में इतना पैसा था नहीं कि सभी कर्जदारों को निपटाया जा सके ।

बाबूजी ने फिर भी देश सेवा में किसी प्रकार का व्यतिक्रम न आने दिया । ऋण उतारने के लिए उन्होंने तीन चौथाई संपत्ति बेच दी और कर्ज चुकया । इस प्रकार उन्होंने धैर्यपूर्वक सारा ऋण अदा कर दिया । कोई और व्यक्ति होता तो उन परिस्थितियों में अपना सन्तुलन खो बैठता ।

आश्चर्यजनक स्मरण-शक्ति

काँग्रेस कार्यकारिणी के प्रधान सदस्य परेशान थे । वह रिपोर्ट नहीं मिल रही थी जिसके आधार पर महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित करने के लिए कार्यकारिणी की विशेष बैठक बुलाई गयी थी । स्वतन्त्रता आन्दोलन का समय था, जबकि हर कदम ठीक समय पर उठाना अत्यधिक आवश्यक था । बिना आधार के कार्य आगे कैसे बढ़ें ।

अचानक ध्यान आया कि वह रिपोर्ट महात्मा गाँधी तथा डा० राजेन्द्र प्रसाद पढ़ चुके हैं । राजेन्द्र बाबू वरिष्ठ नेताओं पं० नेहरू, आचार्य कृपलानी, मौलाना आज़ाद आदि के साथ चर्चा कर रहे थे । उनसे पूछा गया तो बोले 'हाँ मैं पढ़ चुका हूँ और आवश्यक हो तो उसे बोलकर पुनः नोट करा सकता हूँ ।'

लोगों को विश्वास न हुआ कि इतनी लम्बी रिपोर्ट एक बार पढ़ने के बाद ज्यों की त्यों लिखाई जा सकती है, किन्तु और कोई चारा न था । छोज के साथ साथ पुनर्लेखन भी आरम्भ कर दिया गया ।

राजेन्द्र बाबू सौ से भी अधिक पृष्ठ लिखा चुके तब वह रिपोर्ट भी मिल गयी । कौतूहल वश लोगों ने मिलान

किया तो कहीं भी अन्तर न मिला । लोग आश्चर्यचकित रह गये । पंडित नेहरू ने प्रशंसा भरे स्वर में पूछा "ऐसा आला दिभाग कहाँ से पाया राजेन्द्र बाबू ? और देशरत्न की चिरर्षरिक्त सौम्य मुस्कान से उत्तर मिला । "यह दिभाग दूध से बना है अण्डे से नहीं ।"

उदारता की मूर्ति

जब १९३७ की है । पटना जंक्शन पर गाड़ी रुकी । तीसरी दर्जे के डिब्बे में लगभग पैंतालौस-पचास साल का एक व्यक्ति सवार हुआ और उसका एक साथी भी । उसी डिब्बे में कॉलेज के पाँच-छह छात्र भी आ गये । जाड़े का मौसम था । उस व्यक्ति ने घोंटा कम्बल ओढ़ रखा था । बेतरतीब सिर के बाल और बनी खिचड़ी मूँछों से वह भोजपुरी किसान प्रतीत होता था । छात्रगण उस व्यक्ति का मजाक उड़ाने लगे । इसी समय डिब्बे में टिकट चेकर आया । टिकट किसी छात्र के पास न था । इस पर टिकट चेकर छात्रों को भल्ला-बुल्ला कहने लग्य । अब उस व्यक्ति से न रहा गया । उसने टिकट चेकर से कहा-"आप बेकार इन बच्चों को भला-बुरा कह रहे हैं । अपना चार्ज ले लीजिये और आपको चाहिए ही क्या ?"

छात्रों की समझ में नहीं आ रहा था कि एक अजनबी व्यक्ति ने, जिसका उन्होंने मजाक उड़ाया था, ऐसा क्यों किया । गाड़ी अगले स्टेशन पर रुकी । सारा प्लेटफार्म 'देशरत्न की जय', 'राजेन्द्र बाबू की जय' के नारों से गूँज उठा । छात्रों को काटो तो खून नहीं । उन्हें अब पता चला कि वे राजेन्द्र बाबू हैं और दूसरे उनके सेक्रेटरी श्री मधुरा प्रसाद ।

स्वागत के लिए आये लोगों की ओर से हटकर राजेन्द्रबाबू छात्रों की ओर मुड़े और स्नेहपूर्वक एक-एक की पीठ धपधपाते हुए बोले "परेशानी की कोई बात नहीं । इस समय आपकी ठग ही ऐसी है । उसका यही तकावा है । जाइये, खुश रहिये, खूब पढ़िये और देश का काम कीजिये ।'

भारतीय परम्परा के आधुनिक ऋषि-

डा० राधाकृष्णन्

सन् १९४७ में डा० राधाकृष्णन् ने भगवद्गीता पर एक अद्वितीय टीका लिखी । पुस्तक को प्रेस में देने से पूर्व उन्होंने यह निश्चय किया कि यह ग्रन्थ धर्म, अध्यात्म और राजनीति के संश्लेष व्यक्तित्व वाले, महात्मा गाँधी को समर्पित की जाय । समर्पण के लिए उन्होंने गाँधी जी से अनुमति लेना भी आवश्यक समझा और पुस्तक लेकर पहुँचे उनके पास । महात्मा गाँधी ने भगवद्गीता पर लिखा गया ग्रन्थ देखे बिना ही कहा-मेरा विश्वास है कि आपने

कोई अयुक्त बात नहीं लिखी होगी। लेकिन इसके लिए अनुमति लेने आये हैं तो मैं चाहता हूँ कि आप मेरी कुछ जिज्ञासाओं का समाधान करें।

डॉक्टर साहब गाँधीजी के मुख से यह वचन सुनकर बरा संकोच में पढ़ने लगे। ऐसा देखकर बापू ने कहा-देखिये। आप संकोच मत कीजिए। दरअसल इस समय मैं अर्जुन की भूमिका में हूँ और आप कृष्ण की तरह दिखाई दे रहे हैं। मेरी इन जिज्ञासाओं का समाधान आप ही कर सकते हैं।

किसी तरह डॉक्टर साहब गाँधीजी की जिज्ञासाओं का समाधान करने के लिए तैयार हुए और फिर दोनों में चर्चाएँ चलीं। डॉक्टर साहब के उत्तरों से गाँधीजी संतुष्ट हुए और उन्होंने भगवद्गीता पर लिखा गया ग्रन्थ सहर्ष स्वीकार कर लिया। भगवद्गीता भाष्य से पूर्व भी उनकी अनेकों कृतियों प्रकाशित हो चुकी थीं। उन कृतियों ने केवल भारतीय बौद्धिक प्रतिभाओं को ही समूह नहीं किया बल्कि विदेशों में भी भारतीय दर्शन का ऐसा झंका बजाया कि विदेशी विद्वान और दार्शनिक बुद्धिजीवी सभी हतप्रभ रह गये।

“उन्होंने भारतीय विचार भूमि पर खड़े होकर विश्व के सम्मुख भारतीय सपत्तावाद को उद्घाटित किया। इस दृष्टि से उन्होंने न केवल दर्शन को एक नयी दिशा दी बल्कि अज्ञानत विषय को शान्ति का मार्ग दिखाने का प्रयत्न किया”- एक विख्यात पत्रकार द्वारा कहे गये ये शब्द उनके कृतित्व की चिन्मय हार्ती प्रस्तुत करते हैं। एक दर्शनिक के रूप में, एक अध्यापक के रूप में, एक स्वतन्त्रता सेनानी के रूप में और एक राजनेता के रूप में वे इन महान विभूतियों में सिरमौर कहे जा सकते हैं। स्वाधी विवेकानन्द के बाद भारतीय दर्शन की कीर्ति पदाब्ज विश्व भर में फहराने वाला कोई व्यक्तित्व खोजा जाय तो अभावस ही दृष्टि डॉक्टर राधाकृष्णन् की ओर केन्द्रित हो जाती है।

मद्रास शहर से चालीस मील दूर तिरुत्तरी गाँव है। उसी गाँव में उनके पूर्वज सर्वपल्लि से बसकर आये थे। चूँकि उनका पेशा पुरोहिताई था, सर्वपल्लि में इस पेशे से ठीक प्रकार निर्वाह नहीं हो पाता था इसलिए उनके पूर्वज आजीविका की खोज में तिरुपति की ओर चल दिये। तिरुपति से कुछ ही दूर इस गाँव में आकर वे ठहर गये इसी ब्राह्मण वंश में वीर स्वामी उच्चा पुरोहितवाइ के साथ अध्यापक का कार्य करते थे। डॉ० राधाकृष्णन् ने उनके परिवार में पुत्र बनकर ५ सितम्बर, १८८८ ई० को जन्म लिया।

कहा जा चुका है कि डॉक्टर राधाकृष्णन् के पूर्वजों ने आजीविका की खोज में सर्वपल्लि से चलकर तिरुत्तरी आये थे और वहीं बस गये थे। वहाँ उन्हें निर्वाहोपयोगी आवश्यक उपार्जन होने लगा। सन्तोषी ब्राह्मण परिवार ने

और अधिक की आकांक्षा से कर दीड़ न लगाई, जो मिला उसी में सन्तोष कर लिया और इसी कारण उनका परिवार सम्पन्न और बनवान तो नहीं हो सका लेकिन अभावग्रस्त और सर्वज्ञ निर्धन भी नहीं रहा।

बारह वर्ष की आयु तक वे अपने गाँव में ही रहे। धर्मशास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान पिता के सान्निध्य में रहकर अक्षर ज्ञान प्राप्त किया तथा शास्त्रों का अध्ययन भी। परिवार ने उन्हें भले ही कोई भीतिक सम्पदा न दी हो, परन्तु धर्म-निष्ठा, जिज्ञासा, ईश्वर अनुरक्ति तथा धर्मानुराग की जो भावनाएँ विरासत में दीं वे ही उन्हें एक सामान्य बालक से महान दार्शनिक और आदर्श राष्ट्रपति तक पहुँचा सकीं। श्री वीरस्वामी अपने पुत्र को आवश्यक सत्यध्वंस और अक्षरज्ञान प्राप्त कराने के बाद आगे की शिक्षा का प्रबन्ध करने लगे। उन्हीं दिनों श्री वीरस्वामी ईसाई मिशनरियों के सम्पर्क में आये। मिशनरियों द्वारा चलाई जाने वाली पाठशालाओं और शिक्षालयों में प्रवेश दिलाना उन्होंने उपयुक्त समझा। इसका एक कारण यह भी था कि राधाकृष्णन् भारतीय धर्म शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ ईसाई धर्म और पारब्राह्म जीवन दर्शन का परिचय भी प्राप्त कर सकें।

वैत्तोर के यूरोपीय कॉलेज में एफ० ए० की शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् मद्रास आये और वहाँ के क्रिश्चियन कॉलेज में धाती रहे। उन दिनों ईसाई शिक्षण संस्थाओं का एकमात्र उद्देश था छात्रों के मन में हिन्दू धर्म तथा भारतीय संस्कृति के प्रति घृणा-वितुष्णा उपजाना तथा ईसाई धर्म और पारब्राह्म सभ्यता के रंग में रंगना था। राधाकृष्णन् के सामने भी ऐसी परिस्थितियाँ आई जब उनकी आत्माओं पर चोट पहुँचती परन्तु उनका व्यक्तित्व उस चक्की घूर्ति के समान बन गया था जो कितनी ही आँधियाँ और कितनी ही तूफान आने पर निखरती है।

इन परिस्थितियों के साथ डॉक्टर राधाकृष्णन् की आर्थिक समस्याओं ने भी परेशान रखा। बाहर का निवास, शहर का खर्च और भर्त्तृ शिखा तथा परिवार की आर्थिक स्थिति में कहीं तालमेल नहीं बैठ रहा था परन्तु उन्होंने फूँक-फूँक कर कदम रखते हुए शिक्षा और ज्ञान साधना को भी एक पवित्र तपश्चर्या बना लिया। जो अपने से नीची कक्षाओं के छात्रों को दयारा पर पढ़ाते। उन्हीं दिनों मद्रास में स्वामी विवेकानन्द का आगमन हुआ। उनके प्रवचनों ने युवक राधाकृष्णन् को बड़ा प्रभावित किया और धर्म के प्रति उनकी निष्ठा, जिज्ञासा व विचार पूर्ण हो गये। स्वाधी विवेकानन्द के प्रवचनों का प्रभाव स्वीकार करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् ने कहा है-“उनके अद्भुत साहस और अद्भुत वाग्मिता ने हिन्दू धर्म के प्रति मेरे उस अधिभाव को जाग्रत किया जिस पर ईसाई मिशनरियों द्वारा बार-बार आघात किया जा रहा था।”

स्वामी विवेकानन्द से ही प्रभावित होकर उन्होंने बी० ए० के बाद भी दर्शनशास्त्र ही लिया। एम० ए० में शोध

विषय के लिए उन्होंने वेदान्त को चुना और इस विषय पर ठन्ध कोटि का शोध निबन्ध लिख कर एम० ए० पास किया। जिस समय उन्होंने एम० ए० पास किया तब उनकी आयु मात्र २० वर्ष की थी। इस निबन्ध को देखकर उनके अध्यापक श्री ए० जी० हाग ने अल्प से एक प्रमाण पत्र भी दिया था।

उसी वर्ष सन् १९०८ में उनकी निवृत्ति मद्रास प्रेसिडेन्सी कॉलेज में हो गयी। वे सर्वज्ञत्व के अध्यापक (असि० प्रोफेसर) बनकर छात्रों को यह विषय पढ़ाने लगे। पढ़ाने के साथ-साथ पढ़ने का क्रम भी जारी रखा। उन्होंने अपनी एक संजिला बना ली थी-विश्व में पारस्परिक तत्त्वदर्शन का परिचय देना। यह तत्त्व उन्होंने उसी समय निर्धारित कर लिया था जब वे रूस से किशोरवस्था को पार कर ही रहे थे। उस समय क्रिश्चियन मिशन के स्कूल कॉलेजों में हिन्दू धार्मिक धारणाओं तथा आस्थाओं पर आक्षेप तथा कुठाराघात किये जाते। सुनकर डॉक्टर राधाकृष्णन् का हृदय दहल उठता था। चचावस्था में अध्यापकों द्वारा किये गये प्रश्नों के समुचित उत्तर भी देते, उन उत्तरों को सुनकर अध्यापकों के मुँह बन्द हो जाते। परन्तु इससे बड़ा असर बढ़ता था। समूची मिशन व्यवस्था ही हिन्दू आस्थाओं की जड़ें खोदने के लिए निर्निर्मित की गई थी। एक कॉलेज एक कक्षा में एक अकेले छात्र का प्रतिकार कोई विशेष प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता था। लेकिन इस धास्तावरण ने डॉ० राधाकृष्णन् के हृदय में हिन्दू धर्म और भारतीय तत्त्वदर्शन के प्रति अद्भुत आस्थाएँ तो जाग्रत कर ही दीं और वे कृत संकल्प हो बैठे-उन आस्थाओं को साकार रूप देने के लिए।

मद्रास प्रेसीडेन्सी कॉलेज से डॉ० राधाकृष्णन् ने ऐसी व्याख्यान शैली अपनायी कि कक्षाओं में आधारा कहे जाने वाले प्रायः अनुपस्थित रहने वाले छात्र भी विचलित रूप से कक्षाओं में देखे जाने लगे। उनके व्याख्यान प्रभावोत्पन्नक माधुर्य में तो बहते ही थे, शब्दों के समोचित समन्वय श्रोताओं को विषय से सम्बन्धित अनेकानेक जानकारीयें देते चलते। यह क्षमता समय, अवसर और साहस की थी और इसे अर्जित करने में युवा प्रोफेसर को दीर्घपूर्वक अनवरत अभ्यवसान करना पड़ा होगा।

डॉ० राधाकृष्णन् अपनी क्षमताओं के सम्बन्ध में आश्वस्त थे, उनके प्रति आत्मविश्वास भी पर्वत अर्जित कर चुके थे और उन क्षमताओं के विकास पर भी उनका पूरा-पूरा ध्यान था। क्षमताओं के अर्जनपूर्वक वे अपनी शक्तियों का यथावेष्टा साथ अन्य औरों को बढ़ाने देने के लिए भी कम सतर्क नहीं थे। यही कारण है कि उन्होंने अध्ययन के साथ-साथ लेखन कार्य भी आरम्भ किया। १९१८ और १९२० में क्रमशः उनकी दो कृतियें प्रकाशित हुईं दि फिलॉसफी ऑफ रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा दि रीजन ऑफ रिलीजन इन कॅरिम्पबेरी फिलॉसफी। इन पुस्तकों के प्रकाशन ने डॉक्टर राधाकृष्णन् की प्रतिभा का परिचय दिया। पूर्वी तथा पश्चात्य दर्शन दोनों में उनकी गहरी

पैठ और गहन अध्ययन का निबोड़ इन पुस्तकों में उद्भूत हुआ। विदेशों में उनकी ये कृतियें काफी पसन्द की गयीं।

१९२६ ई० में हैदराबाद विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित विश्व दर्शनसम्मेलन में उन्हें आमंत्रित किया गया। वहाँ देश-विदेश के कई दार्शनिक उपस्थित थे। डॉ० राधाकृष्णन् के व्याख्यान को सुनकर सब उनका लोहा मान गये। यही कारण था कि उन्हें शिकागो के हुसकल कॉलेज में वाचन देने के लिए भी आमंत्रित किया गया। तब तक उनकी तीन बार कृतिर्या और प्रकाशित हुई। इण्डियन फिलॉसफी तथा 'दि हिन्दू ज्यू आफ लाइफ' ने तो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का व्यक्ति बना दिया था। 'दि हिन्दू ज्यू आफ लाइफ' १९२६ में ऑक्सफोर्ड के मेनेचेस्टर कॉलेज में जीवन का हिन्दू दृष्टिकोण विषय पर दिये गये व्याख्यान के लिए उन्हें विशेष आग्रहपूर्वक निर्मंत्रित किया था।

छोटी और पगड़ी पहनने, आपन्य साधु घेरा-धूँचा और सरल रहन-सहन रखने वाले डॉ० राधाकृष्णन् जब मेनेचेस्टर कॉलेज में व्याख्यान देने जाते तो अनायास ही स्वामी विवेकानन्द की विचलित भावना का स्मरण हो जाता है। वह भी उत्प्रेक्षणीय है कि उस समय में ~~जहाँ~~ जाकर विश्वागत करण बड़े गौरव की बात मानी जाती थी। लेकिन डॉ० राधाकृष्णन् को ऐसा अवसर तो नहीं मिला। फिर भी उन्हें विदेशों में जाकर बड़ाने का ऐसा अवसर प्राप्त हुआ, जिसके लिए वहाँ के बुद्धिजीवी और प्राध्यापक विद्युत सभी क्षमस्तक हो उठे। व्याख्यानमाला में उनके व्याख्यान को सुनकर प्रख्यात पत्रकार डॉ० जैम्स ने अपने पत्र दि इवनिंग वर्नल में लिखा था "भारत से बाहर हमारे विश्वस्तव में सर्वप्रथम व्याख्यान देकर आपने हमारा गौरव बढ़ाया है।"

केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में भी उनके व्याख्यान हुए। वहाँ के प्रतिपद्यों को सुनकर बुद्धिजीवियों ने एक मत से यह स्वीकार किया था कि "प्रो० राधाकृष्णन् का ज्ञान अत्यन्त गम्भीर और विस्तृत है। भारतीय और पश्चिमी दोनों दर्शनों के वे महापण्डित हैं। राधाकृष्णन् हिन्दू धर्म के सर्वसमर्पक प्रसिद्ध विद्वान हैं। हम लोगों को हिन्दू धर्म के विषय में उनसे ज्यादा अच्छे ढंग से अन्य कोई और नहीं बता सकता।" इन्हीं दिनों डॉ० राधाकृष्णन् ऑक्सफोर्ड के मेनेचेस्टर कॉलेज में चर्च के तुलनात्मक अध्ययन का विभागध्यक्ष बनाने के लिए भी पेशकश की गयी। अमेरिका के तथा ब्रिटेन के विभिन्न विश्वविद्यालयों में विभिन्न विषयों पर व्याख्यान देने के साथ डॉ० राधाकृष्णन् चर्च और गिरजाघरों में भी बुलाये जाते। वे वहाँ जाते और चर्च तथा अध्यात्म के गहन आधरमूर्त तर्कों का उद्घाटन करते। जर्मनी के कई विश्वविद्यालयों में भी उनकी व्याख्यान मालाएँ चलीं और विदेशों में भारत का एक नया गौरव चण्डित स्वरूप उजागर हुआ।

४.४८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

१९१८ तक वे विभिन्न विश्वविद्यालयों में उच्च पदों पर आसीन रहे । इस बीच उन्हें व्याख्यान के लिए विदेशों से निमंत्रण मिलते रहते थे । सन् १९२३ से १९३५ तक वे अन्तर् विश्वविद्यालय के कुलपति रहे । १९३९ में ही वे इन्टर नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ कोऑपरेशन कमेटी' अन्तराष्ट्रीय बौद्धिक सहयोग समिति के सदस्य बने । वह समिति राष्ट्र संघ ने अन्तराष्ट्रीय स्तर पर बौद्धिक सहयोग की स्थापना के लिए गठित की थी । इस समिति के सदस्य रहते हुए उनका परिचय कई विदेशी प्रतिभाओं से हुआ । प्रायः सभी लोग उनकी वाग्विद्या और सहृदयता से प्रभावित होते थे ।

वस्तुतः व्यवहार क्षेत्र में जादू-कौशल का ही प्रभाव नहीं होता बरन् प्रभाव तो उत्पन्न करती है जादू के हृदय में अपने उद्देश्यों के लिए कसक । डा० राधाकृष्णन् का एकमात्र उद्देश्य था सनात मानवता को सर्वोच्च की रीतिरिवाज प्रदान करना । इस उद्देश्य के लिए उनके हृदय में निरन्तर एक टीस-सी ठठा करती थी । इस टीस का प्रभाव कहना चाहिए कि लौह हृदय स्टालिन-हजारों बूज जिसकी आँखों के सामने हो चुके थे-भी जब डा० राधाकृष्णन् को रूस के राजदूत के रूप में बिदा करने लगे तो उनकी भी आँखें नम हो उठीं ।

वे १९४९ से १९५२ तक रूस में भारत के राजदूत रहे थे । इससे पूर्व वे बनारस विश्वविद्यालय के मन्द कुलपति तथा भारतीय विश्वविद्यालय आयोग के अध्यक्ष पदों को सुशोभित कर चुके थे । पीड़ित मानवता के प्रति वे इतने दुःखित थे कि उस भावना ने उन्हें सर्वथा निर्भीक और स्पष्टवादी बना दिया था । वहाँ तक कि रूस के जनजीवन के सम्बन्ध में कई तथ्य बड़ी निर्भीकता के साथ रखे और अपनी सद्भावनायें भी प्रकट कीं । जिस समय राधाकृष्णन् रूस से बिदा होने लगे तो स्टालिन से उनकी अन्तिम मुलाकात का जिक्र करते हुए प्रत्यक्षदर्शियों का कहना है कि स्टालिन की आँखें सूजी हुईं और लाल थीं । राधाकृष्णन् ने स्टालिन के गालों पर हाथ फेरा और उनकी पीठ को थपथपाया । स्टालिन ने कहा-"आप पहले व्यक्ति हैं जिसने मुझे मनुष्य समझकर व्यवहार किया । आप हम सबको छोड़ कर जा रहे हैं-इसका मुझे भारी दुःख है ।" यह कहते स्टालिन की आँखें सजल हो उठी थीं ।

१९५२ में भारतीय संविधान के अधीन व्यवस्क मताधिकार के आधार पर पहला आम चुनाव हुआ । इसी वर्ष डा० राधाकृष्णन् निर्विरोध उपराष्ट्रपति चुने गये तथा बाबू राजेन्द्र प्रसाद राष्ट्रपति । पाँच वर्ष बाद वे पुनः उपराष्ट्रपति चुने गये । १९६२ में बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने रुग्णावस्था के कारण राष्ट्रपति पद से अवकाश ले लिया और उनके स्थान पर डा० राधाकृष्णन् राष्ट्रपति बने । यद्यपि इससे पूर्व ही वे राष्ट्रपति का सारा काम काम सम्भालने लगे थे । डा० राजेन्द्र प्रसाद १९५६ में ही भ्रमंकर रूप से बीमार हो गये थे । उनकी अक्षमता की दृष्टा में सारा काम-काज डा० राधाकृष्णन् ही चलाते, यद्यपि वे रहे पुराने स्थान पर ही ।

१९६२ में राष्ट्रपति होते ही देश पर चीनी आक्रमण हुआ । इस समय डा० राधाकृष्णन् को एक अग्नि परीक्षा से गुजरना पड़ा । इस अग्नि परीक्षा से गुजरने के बाद उन्होंने अफगानिस्तान, ईरान, अमेरिका, इंग्लैण्ड, सोवियत संघ और आयरलैण्ड की यात्रायें की और वे यात्रायें पर्याप्त सफल रहीं । डा० राधाकृष्णन् का राष्ट्रपतित्व काल निःसन्देह रूप से अनेक चुनौतियों से घिरा हुआ था । चीनी आक्रमण, लब्धा बनक पराजय, जनता पर सरकार का क्षीण होत प्रभाव, शासन तंत्र की फूट देश के विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ते उत्पात आदि कई समस्यायें छाड़ी हुईं लेकिन डा० राधाकृष्णन् ने बड़े धैर्यपूर्वक उन समस्याओं से उभरने के भरसक प्रयत्न किये ।

१९६७ में डा० राधाकृष्णन् ने पुनः राष्ट्रपति के लिए खड़े होने से इन्कार कर दिया । वे भारतीय राजनीति और व्यवस्था से क्षुब्ध हो उठे थे । उनकी यह व्यथा २५ फरवरी, १९६७ को गणतन्त्र दिवस की पूर्व संध्या पर राष्ट्र के नाम संदेश में व्यक्त हुई । उन्होंने आशा व्यक्त की कि-"वर्तमान संकट का सामना करने के लिए पूर्ण अन्तिम परिवर्तन अनिवार्य है । हमें आवश्यकता है ऐसे नैतिक जागरण की जिससे अधिक से अधिक लोगों का सहयोग हम प्राप्त कर सकें ।"

भारतीय राजनीति से संन्यास लेने के बाद वे अपने घर पढ़ास हो रहने लगे । जीवन के अन्तिम दिनों में उनका हृदय देश में घटने वाली घटनाओं के बारे में सुन कर रो उठा था । १७ अप्रैल, १९७५ को पक्षाघात से उनका देहान्त हो गया । वे भले ही न रहे हों परन्तु मानवता के लिए उनकी सेवार्थ भारतीय संस्कृति का तुपुल मोष और उनका चिन्तन साहित्य उन्हें अमर बनाये रहने में समर्थ है ।

हिन्दू-धर्म किसी अन्य धर्म का अपमान नहीं करता

सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जब एक छोटे ईसाई स्कूल में पढ़ते थे तभी से हिन्दू धर्म के प्रति ईसाई अध्यापकों के द्वेष पूर्ण उद्गारों को सुनते आये थे । स्कूल में लड़कों को 'क्राइस्टल' तो पढ़ाई ही जाती थी पर बात-बात में हिन्दू धर्म की हैसि ठडाना भी ईसाई पादरियों का नित्यकर्म बन गया था । नालक राधाकृष्णन् को यह घुर तो लगता था पर धर्म के रहस्यों से अनजान होने के कारण वे अधिक जोल नहीं सकते थे । फिर भी इन बातों से उनका मन धर्म के स्वरूप की तरफ आकर्षित हो गया और वे इस विषय की पुस्तकों को पढ़कर उन पर विचार करने लगे । उन्होंने स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकें पढ़ीं और उनसे उनको निश्चय हो गया कि हिन्दू धर्म ईसाई धर्म की अपेक्षा अधिक सारवुक्त और उपरक्त है । अब वे ईसाई पादरियों की बातें चुपचाप न सुन लेते थे, बरन् कभी कभी अपना असन्तोष भी प्रकट कर देते थे, वे ईसाई धर्म की निन्दा

नहीं करते थे, वरन् पादरियों की दोषदर्शी मनोवृत्ति की ही आलोचना करते थे। जब कोई पादरी उनके सामने हिन्दू धर्म की निन्दा करता तो वे कहने लगते-

“पादरी महोदय ! आपका धर्म दूसरे धर्मों की निन्दा करना ही सिखाता है क्या ?”

पादरी उत्तर देते-“और हिन्दू धर्म ? क्या दूसरों की प्रशंसा करता है ?”

“हाँ, वह कभी दूसरों के धर्म को बुरा नहीं कहता। भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने यही कहा है कि किसी भी देश की उपासना करने से मेरी ही उपासना होती है और मैं उसका प्रतिफल देता हूँ। वे विभिन्न मन्त्रहन् और सम्प्रदाय उन अनेक रास्तों की तरह हैं जो विभिन्न दिशाओं से आकर एक ही केन्द्र पर मिल जाते हैं। इनमें से किसी को सच्चा और अन्यो को झूठा कहना उचित नहीं।”

जब कभी कोई पादरी हिन्दू रीति-रिवाजों की आलोचना करता तो वे कहते-

“पादरी साहब ! हो सकता है आप हमारे इन रीति-रिवाजों का महत्त्व न समझें, किन्तु चिरकाल से चली आ रही इन्हीं प्रथाओं ने हमारे विश्वास और ब्रह्म को स्थिर रखा है, जो धर्म का मूल है। मेरे देश का एक साधारण किसान भी, जो इन्हीं विश्वासों के साथ अपना जीवनयापन करता है, आज के विज्ञान की चकाचींध से पागल बने किसी भी पश्चात्य देश के अपने को ज्ञान सम्पन्न कहने वाले व्यक्ति से अधिक धार्मिक है। अधिकचरे विज्ञान ने तो आज करोड़ों पश्चात्यजनों की ब्रह्म को ऐसा निर्बल बना दिया है कि वे किसी भी धर्म के विश्वासी और अनुयायी नहीं रह पाते। इस प्रकार धर्म बल से रहित व्यक्ति क्या कभी सच्चा सुख पा सकता है ? आप निश्चय समझ लें कि भारतवर्ष के जिन तपस्वियों और आचार्यों ने संसार को ऐसी महान संस्कृति दी और उसका लाभ बिना धर्म और सम्प्रदाय के भेद-भाव के मानव मात्र को पहुँचाया उनको कभी धर्म शून्य नहीं कहा जा सकता ?”

एक दिन आया जब इसी नवयुवक का लिखा ‘भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास’ बोरोप और अमरीका में प्रसिद्ध हो गया और ऑक्सफोर्ड (इंग्लैण्ड) संस्कार प्रसिद्ध विश्वविद्यालय ने इनको बुलाकर अपने वहाँ दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर बनाया। वहाँ पर उनको बड़े-बड़े पादरियों द्वारा गिरजाघरों में भाषण करने बुलाया जाता। उस समय भी वे सब धर्मों की अच्छाइयों दिखाते हुए अन्त में हुंके की चोट पर यही कहते-“वर्षादि हमारे देश में अनेक अन्धविश्वास हैं और उन्होंने बहुत अहित भी किया है, तो भी मैं यह कहने को तैयार हूँ कि हमारे सामान्य देशवासियों में सच्ची धार्मिकता पाई जाती है।”

संदेहना-सहानुभूति की प्रतिमूर्ति

राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जब रूस में भारतीय राजदूत होकर मास्को में रहते थे, तब एक बार उन्होंने स्टालिन से कहा-“भारत के महान सम्राट संग्राम में विजय पाकर पिथु बन गये थे। कौन जाने शायद आप भी उसी प्रशस्त मार्ग पर चल पड़ें।”

स्टालिन ने उत्तर दिया था-“हाँ कई बार चमत्कारी घटनाएँ भी हो जाती हैं। ऐसा चमत्कार भी सम्भव तो है ही।”

रूस से विदा लेते हुए डा० राधाकृष्णन् जब स्टालिन से मिलने गये, तो विदा लेते हुए स्टालिन के सिर पर हाथ रखा, तो स्टालिन ने भीगी आँखों से विदा देते हुए कहा-“आप प्रथम व्यक्ति हैं, जो मुझसे मानव-सा व्यवहार करते हैं, शेष सब राजदूत तो मुझे दैत्य मानकर दूर रहते हैं। मुझे अब अधिक दिन नहीं जीना, ईश्वर आपको चिरायु करे।” इस सम्वाद के कुछ महीने बाद स्टालिन ने शरीर छोड़ दिया।

जिन्होंने हर क्षेत्र में अजूबा काम किया- राजाजी

राजाजी उन दिनों केन्द्रीय सरकार में गृह मंत्री थे। एक दिन उनके कोई परिचित के साथ प्रसिद्ध जैन विद्वान् एवं गोविन्द राय शास्त्री आये। शास्त्री जी ने महान सन्त तिम्वल्लुवर की एक रचना का हिन्दी में पद्यानुवाद किया था। मूल ग्रन्थ तमिल में था। अनुवाद कहीं मूल ग्रन्थ से अलग तो नहीं जा रहा है। इस बात को परखने के लिए शास्त्री जी उनके पास आये थे। राजाजी उस समय काफी व्यस्त थे इसलिये दस मिनट का समय ही मिला। इस दौरान शास्त्री जी से कुछ अंशों का सस्वर पाठ करने के लिए कहा गया। पाठ शुरू हुआ तो वे विभोर होकर सुनने लगे। दस मिनट कम हुए कुछ पता ही नहीं चला, फिर बोस-तीस, लगभग एक घण्टा हो गया। राजाजी इतने धाव-विभोर हो गये कि उन्हें समय का ध्यान न रहा। ध्यान तो तब आया जबकि शास्त्री जी ने ही कुछ सोचकर पाठ रोका। अव्यात्म और भक्ति भाव में इस प्रकार दूब जाने वाले, स्वयं को और समय को भी भूल जाने वाले राजाजी अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन में इतने जगल्लूक तथा सावधान रहे हैं कि उन्होंने परिस्थितियों का अध्ययन कर समय से पहले ही जो बातें कही थीं घस्तुतः सत्य सिद्ध हुईं। यह उनकी दूरदर्शी बुद्धि और चिन्तनशील व्यक्तिता की प्रदत्त विशेषता थी।

महात्मा गाँधी और अन्य नेता जब देश-विभाजन न होने देने के लिये बड़ी-बड़ी बातें कर रहे थे तब राजाजी ने तत्कालीन परिस्थितियों और राजनेताओं की मनोवृत्तियों का अध्ययन कर कहा था कि चाहे जो हो जाये पकिस्तान बनने की सम्भावना को समाप्त करना किसी के

४.५० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

पस की बात नहीं है। उस समय कई लोगों ने राजा जी की बात का मजाक उड़ाया था। परन्तु उस समय सब आश्चर्यचकित रह गये जब पकिस्तान बनने, बंगाल और बंगाल का विभाजन होने की योजना दोनों पक्षों ने स्वीकार कर ली और उसे मूर्त रूप देने का भी निश्चय कर लिया। देश की और नेताओं की चला रही नतिविधियों के दुष्परिणामों से उन्होंने कई बार अवगत कराया। परन्तु जब हिन्दी चीनी भाई-भाई का नारा लगा रहे थे और एक-दूसरे के गले में हाथ डाले शान्ति, मैत्री का रेतीला वाक्य कर रहे थे तो राजाजी ने इस दोस्ती को बहुत खड़े समय तक कायम रहने वाली और अन्त में शत्रुता में बदल जाने वाली कहा था। उस समय भी उनकी बातों को उपहासस्पद कहा गया। परन्तु सब ये ही निकलीं।

अपनी प्रतिभा और बौद्धिक क्षमता से देश और समाज को समय-समय पर सलाह देते रहने वाले चक्रवर्ती राज गोपालाचारी का अन्य तमिलनाडु के एक ग्रामीण मुंसिफ परिवार में ८ दिसम्बर, १८७७ ई० को हुआ। अपनी योग्यता, लगन, कुशल बुद्धि और प्रतिभा के बल पर वे निरन्तर आगे बढ़ते गये और भारत के अन्तिम तथा सर्वप्रथम गवर्नर जनरल बने। भारत सरकार से मतभेद होते हुए भी उन्हें स्वतन्त्र देश के सर्वोच्च अलंकरण भारत रत्न से सम्मानित किया गया।

जन्म से ही वे काफी कमजोर थे, दुबले-पतले और कमजोर-बीमार राजगोपाल के सम्बन्ध में उनकी माता ने आशंका प्रकट की कि यह थोड़े बहुत समय तक भी जीवित रहेगा या नहीं। पिता ने उस समय विश्वास व्यक्त किया था कि राज गोपाल थोड़े बहुत समय तक नहीं पूरे सौ वर्ष तक जीवित रहेगा और वह भी साधारण मनुष्यों की तरह नहीं महामानव और प्रतिभावान विभूतियों की तरह। उनका यह विश्वास कुछ अन्तर से एकदम सही निकला। वे महामानव तो बने ही जीये भी अपने पिता के विश्वास से कुछ ही कम वर्षों तक। यदि उन्हें प्राणलेश स्वस्थ रोग नहीं होता तो पूरे सौ वर्ष तक और उससे भी अधिक आयु तक जीवित रहते। फिर भी इस खतरनाक बीमारी का बोझ उठाते हुए ९५ वर्ष देखा लिये जबकि भारत का औसत आदमी मुस्लिम से ६०-७० साल तक जीता है।

इस जीवन शक्ति का सम्पूर्ण ज्ञेय उनके आहार-विहार, श्रम, उत्साह, सेवा-निष्ठा और निष्पक्षता को ही दिया जाना चाहिए। दीर्घ जीवन का मुख्य आधार वे सदगुण ही तो हैं और राजाजी ने तो बचपन से ही अपना जीवन इस प्रकार साध लिया कि जिसके बल पर अर्यरूपि तो मृत्यु को भी जीत चुके थे। राजाजी भारतीय संस्कृति और जीवन-पद्धति के कटुर अनुयायी थे। खान-पान, आचार विचार, रहन-सहन, वेषभूषा सभी इस देश की सभ्यता और संस्कृति के अनुकूल थे। हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार महापाल जी ने उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए एक स्थान पर लिखा है—“उन्हें देखकर भारत के प्राचीन ऋषि मुनियों की स्मृति हो जाती है। वेसी

कुर्त पहने, सरल और सौम्य व्यक्तित्व के धनी, चेहरे पर स्निग्ध मुस्कान लिये राजा जी जब भी किसी से मिलते तो उनके सन्त और साधु स्वभाव के सम्मुख हर किसी को नत-मस्तक ही जान पड़ता था।”

सांस्कृतिक परम्पराओं का निष्ठापूर्वक अनुसरण करते हुए भी वे कभी अन्धानुयायी नहीं बने। परिस्थिति दोष से अविवेकबन्ध परम्पराओं और कुरीतियों का उन्होंने डटकर मुकाबला किया। संस्कृति के प्रति उनकी निष्ठा और ब्रह्म एकदम परिष्कृत थी। भारतीय समाज की बुराइयों और दुष्प्रवृत्तियों का उन्होंने कभी संस्कृति के नाम पर समर्थन नहीं किया, जिन्हें तत्कालीन और अर्वाचीन रुढ़िवादी लोग भी धर्मसम्मत मानते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन एक समाज सुधारक के रूप में आरम्भ किया। जब महामा गाँधी अज़ोका में रंगभेद के विरुद्ध आन्दोलन कर रहे थे। दुनिया में गाँधीजी को जानने वालों की संख्या भी अधिक नहीं थी। तब तो भारत के सार्वजनिक क्षेत्र में उनका पदार्पण भी नहीं था। उस समय उनकी सौ और बीसवीं शताब्दी के सन्धिकाल में राजाजी ने वर्ण और जातिभेद के विरुद्ध आवाज उठायी। भगवान को किसी की सम्पत्ति और अपना व्यक्तिगत अधिकार समझने वाले कट्टरपन्थी लोगों को उन परम्पराओं के दुष्परिणामों से सावधान किया जिसे वे धर्म का आधार बनाकर गले से चिपटाये हुए थे। राजाजी ने सर्वप्रथम हरिजनोद्धार के लिए चोजन्मबद्ध प्रयास किये और जातिवाद के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन चलाया और हरिजनों के मन्दिर प्रवेश की माँग उठायी।

इसके कारण उन्हें पुरातनपन्थी ब्राह्मणों और सवर्ण हिन्दुओं का कोपभाजन भी बनना पड़ा। स्थिति यहाँ तक पहुँची कि सन् १९१४ में जब उनके पिता का देहान्त हुआ तो कोई भी कर्मकाण्ठी ब्राह्मण उनका मरणोत्तर संस्कार करवाने के लिए तैयार नहीं हुआ। इस हालात में भी वे अपने मार्ग से नहीं हटे।

अपने विचारों और विश्वासों में आस्था और निष्ठा तो उनके स्वभाव का अविच्छिन्न अंग बन गयी थी। दूसरों को कही हुई बातें भी जब उनकी समझ में आ जाती तो वे दृढ़तापूर्वक उसे भी क्रियान्वित कर डालते। हरिजनोद्धार का कार्यक्रम और आन्दोलन भी उन्होंने स्वामी विवेकानन्द का एक भाषण सुनकर चलाया था। जो स्वामी जी ने उस कॉलेज में दिया था जिसमें कि राजाजी पढ़ते थे। हिन्दू समाज की बुराइयों के सम्बन्ध में बताते हुए स्वामी जी ने उन्हें दूर करने की आवश्यकता बताई थी और कानून के विद्यार्थी राज गोपालाचारी इस अन्य सामाजिक कानून के क्षेत्र में कूद पड़े। हरिजनोद्धार के लिए तो उन्होंने सदैव ही प्रयत्न किया और रुढ़िवादीजनों के विरोध के बावजूद भी अपने प्रयासों में किसी प्रकार शिथिलता न आने दी। सन् १९०८ में जब वे मद्रास प्रान्त के मुख्यमन्त्री बने तो सबसे पहले उन्होंने हरिजनों के मन्दिर प्रवेश का वैधानिक अधिकार दिलवाया।

शराब के विरुद्ध भी सर्वप्रथम उन्होंने ही आन्दोलन छेड़ा। उनके नशाबन्दी के विचारों से गाँधीजी ने भी प्रेरणा प्राप्त की थी और इसे एक राष्ट्रीय आवश्यकता मानकर जोरदार आन्दोलन चलाया। राजाजी ने उस समय जबकि वे मद्रास के मुख्यमंत्री थे शराबबन्दी का कानून बनवाया था। मद्यपान के वे आजीवन कट्टर विरोधी रहे और इस प्रश्न पर अपने प्रिय से प्रिय व्यक्ति का भी विरोध किया। जब मद्रास की करणानिधि सरकार ने शराबबन्दी तोड़ी तो वे बहुत क्रोधित हो उठे थे और इसी प्रश्न पर उन्होंने करणानिधि सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया था।

स्कूल जीवन में से ही उस समय चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित होकर राजनीति के क्षेत्र में आये। उस समय वे सबसे अधिक प्रभावित थे लोकमान्य तिलक से। उनके भाषणों तथा विचारों को सुन-पढ़कर राजाजी ने अनुभव किया कि स्वतन्त्र भारतीय समाज की प्रथम आवश्यकता है। वे अपने स्वभाव के अनुरूप ही राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े। १९२० में जब भारत के राजनीतिक आकाश में गाँधीजी का उदय हुआ तो राजाजी भी उनके साथ हो गये। गाँधीजी के साथ होने से पूर्व उन्होंने काफी समय तक गाँधीजी के कार्यों और सिद्धान्तों का अध्ययन किया। देश के लिए लाभदायक समझकर वे गाँधीजी के निहङ्गान समर्थक बन गये और सारे दक्षिण भारत में कांग्रेस का संगठन कर डाला।

गाँधीजी भी राजाजी को अपने सबसे अधिक योग्य अनुयायियों में से एक समझते थे। उन पर गाँधीजी को इतना विश्वास था कि वे हर प्रश्न पर कोई भी विचार या राय उनसे पूछकर ही दिया करते थे। यहाँ तक कि कलकत्ता-कांग्रेस अधिवेशन में असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव भी मात्र राजाजी के समर्थन सहयोग के कारण रखा। इस विश्वास का कारण था उनकी बौद्धिक कुशाग्रता। सर्वसाधारण और आम-कार्यकर्ता को भी राजाजी के बुद्धि कीशल पर इतना विश्वास था कि उस समय मतदान के बल, प्रस्ताव के समर्थन में राजाजी सहमत हैं यह ज्ञानकर ही अपना वोट दे दिया था। अन्यथा कलकत्ता कांग्रेस में असहयोग प्रस्ताव का विरोध तो चित्तरंजन दास तथा मोतीलाल नेहरू जैसे नेताजी तक ने किया था।

राजाजी कांग्रेस संगठन तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेते रहे। सरकार का कोषभाजन भी बनना पड़ा परन्तु वे तो आरम्भ से ही निर्भयता के उपासक थे। उन्होंने सदा ही सत्य और औचित्य का समर्थन किया। जो सच था उसे बिना लाग लपेट कह दिया। जो ठीक लगता वह तुरन्त कर डाला। यहाँ तक उन्होंने अपने अग्रज और श्रेष्ठ गाँधीजी तक की चिन्ता नहीं की। उनके प्रति राजाजी के हृदय में असीम अनुराग और अग्रज श्रद्धा थी परन्तु किसी प्रश्न पर मतभेद हुआ तो उसे निर्णय होकर स्पष्ट कहने में कभी संकोच नहीं किया। इस बात की उन्होंने कतई चिन्ता नहीं की कि कही हुई बात की क्या प्रतिक्रिया होगी। राजनीति जैसे टेढ़े-मेढ़े क्षेत्र में इतना

स्पष्टवादी और सरा आदमी कोई नहीं हुआ, जिसने खुलकर अपना मतभेद व्यक्त किया हो और अपने नेत्र तथा अंगुओं की भी आलोचना की हो। गाँधीजी के बाद तो राजाजी को अपने इसी स्वभाव के कारण कांग्रेस छोड़ देनी पड़ी कि वे जनैचित्य को कभी देख और सह नहीं सकते थे। उनके विरोध में हुंकार कर उठ खड़े होते थे।

जनैचित्य का विरोध करने में वे कभी पीछे नहीं हटे तो औचित्य का समर्थन करने में कभी पीछे नहीं रहे। इस शताब्दी के तीसरे दशक में कांग्रेस में दो विचारों ने जन्म लिया। एक पक्ष चाहता था कि कांग्रेस को चुनाव लड़ना चाहिए और दूसरा दल चाहता था कि असहयोग जारी रखा जाय। पहले पक्ष के समर्थक थे मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजन दास और सत्यभूति जैसे प्रतिष्ठित नेता और दूसरे पक्ष में अकेले प्रवक्ता थे राजा जी। १९३८ के कांग्रेस अधिवेशन में पहले पक्ष विजयी हुआ और चुनाव लड़ने का फैसला किया गया। अब अनुशासन का प्रश्न उठा खड़ा हुआ। बहुमत से निर्णय हो जाने पर उसे क्रियान्वित तो करना ही था। औचित्य का तकाजा था किसी भी प्रकार दल में फूट न पड़ने हो जाय और उसके लिए अपने मतभेद को धुलाकर अनुशासन का पालन किया जाये। राजाजी ने अपना हठ छोड़ दिया और कांग्रेस के चुनाव लड़ने के निर्णय का खुलकर समर्थन किया।

अनुशासन-दलीब हित में ही या सामाजिक, हर दृष्टि से अनिवार्य है। राजाजी ने इस अनिवार्यता को ध्यान में रखते हुए स्वयं भी चुनाव लड़ा और उसी वर्ष मद्रास के मुख्यमंत्री भी बन गये। उस समय जब वे कुशल प्रशासक के रूप में देश भर में विख्यात हो रहे थे तो कांग्रेस ने सभी पदों के त्याग का अधिषाण छेड़ा और सर्वप्रथम इस्तीफा देने वालों में से वे राजाजी। अनुशासननिष्ठा ने उन्हें सदैव मिल्वह बनाये रखा। उन्होंने प्रशासन व्यवस्था के कई उच्च पदों पर रहकर काम किया और जब उन्हें छोड़ा तो इतनी निश्चिन्तता के साथ कि उसके तुरन्त बाद—“वह व्यक्ति अमुक पद पर था”—कहना मुश्किल हो गया।

१९३८ में वे मद्रास के मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र देकर उसी सहजता के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े। १९४७ में वे स्वतन्त्र भारत के प्रथम गवर्नर जनरल बने और १९५० में वह पद छोड़कर वापस अपने घर मद्रास चले आये। मद्रास आये अभी उन्हें अधिक समय नहीं हुआ था कि उन्हें १०० वंगल का सम्पत्ति बनाकर भेज दिया गया फिर गृहमंत्री बने। नये संविधान के अन्तर्गत चुनाव हुए तो उन्हें मद्रास का मुख्यमंत्री बनाया गया। इतने सारे महत्वपूर्ण पदों पर काम करने के बाद भी उन्हें कुर्सी का मोह कभी नहीं रहा।

राजनीति में इतने व्यस्त होते हुए भी उनके व्यक्तित्व का एक दूसरा पहलू भी है और वह है उनका साहित्यिक। राजनीति में भाग लेने के साथ साथ उन्होंने साहित्य को भी दिया था। वे अंग्रेजी और तमिल भाषा के

वे सिद्धहस्त लेखक थे। रामायण और महाभारत पर लिखे उनके चक्रवर्ती तिरुमगन (रामायण) तथा व्यासर चिरन्दु (महाभारत) भारतीय भाषा साहित्य की अनमोल निधियाँ मानी जाती हैं। इन कृतियों का अन्य भाषाओं में भी अनुवाद हुआ, जिनका सभी क्षेत्रों में स्वागत किया गया। हिन्दी में राजाजी की कृतियाँ दशरथ नन्दन श्री राम तथा महाभारत-कथा के नाम से प्रकाशित हुई हैं। सामयिक समस्याओं पर वे 'स्वराज्य' में भी लिखते। उन्होंने साहित्य के माध्यम से आदर्शवाद के व्यावहारिक स्वरूप को उद्घटित किया है। नये वैज्ञानिक आविष्कारों तथा अनुसंधानों में उनको गहन रुचि रही है।

संसार के प्राचीन तथा अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान की धाराओं का अद्भुत समन्वय उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से पाठकों को उपलब्ध कराया है। वे व्यापक प्रतिभा के धनी थे। जिस क्षेत्र में भी जिस विषय को भी उन्होंने स्पर्श किया, उसमें गहराई तक बैठते गये और मणि-मुक्ता खोज लाने जो संस्कृति और सभ्यता के लिए धरदान बन गयी।

राजाजी भीड़ में रहे हों या एकान्त में, राष्ट्रपति भवन में निवास किया हो राजभवन में, गाँधीजी के साथ उनके समर्थक या उनसे दूर और उनके विरोधी बनकर जहाँ भी रहे उनके व्यक्तित्व में एक विशिष्ट अनुठापन रहा। यश, प्रतिष्ठा, श्रेय और विरोध हर परिस्थितियों में वे अधिचलित रहे। जीवन में हजारों कड़वे घूट पीकर भी वे मीठे ही बने रहे।

जिन्होंने राजनीति को राष्ट्र सेवा का माध्यम बनाया

रफी अहमद किदवाई

स्वतंत्र भारत के लोकतन्त्रात्मक गणराज्य के विगत वर्षों का लेखा-जोखा करने बैठते हैं कि हमने क्या खोया है और क्या पाया है इन पिछले वर्षों में, तो बरबस हमें उन जननेताओं का अभाव जिन्हें काल ने राष्ट्र के हाथों से छीन लिया, बुरी तरह खलने लग जाता है। जो राजनेता और जननेता तो इस देश में बहुत हुए पर ऐसे राजनेता और जननेता अँगुलियों पर गिने जितने ही हुए हैं जिनके व्यक्तित्व में राष्ट्र के करोड़ों नागरिक अपनी-अपनी जीवन मरण की समस्याओं का समुचित हल या सेने के सम्बन्ध में पूरी तरह आश्वस्त थे। आज उन थोड़े से वरतनों का अभाव हमें बुरी तरह खसता है और भीतर से एक दीर्घ निश्वास सा उठ खड़ा होता है। इस विश्वास का स्वर होता है काश आज वे होते!

आज के इस स्पर्धा से व्यस्त और अभावों से, वस्तु जन जीवन में जब आदमी को घण्टों लाइन में खड़े रहने के बाद भी पूरा राशन नहीं मिलता। बाजार में चीजों के दर्शन ही नहीं होते। कभी गेहूँ गायब तो कभी चीनी।

कभी वनस्पति भी गायब तो कभी मिट्टी का तेल। इस विषम और विकट परिस्थिति में धुँह से निकलता है काश! आज किदवाई साहब होते - भारत के सफलतम खाद्य मंत्री-रफी अहमद किदवाई।

खादी की डीली डीली अचकन, खादी का ही चौड़े पाँवचे का पत्रामा और सिर पर खादी या फर की गर्म टोपी उनके शरीर पर उसी प्रकार खिलती थी जैसे गोल भरे चेहरे पर आँखें पहर खिलने वाली आत्मीयता भरी सहज मुस्कान। सिर पर टोपी और होठों पर मुस्कान यह उनके व्यक्तित्व के अनिवार्यतम प्रतीक थे। इस साधारण से दीखने वाले व्यक्ति ने जो असाधारण करतब अपने जीवन में कर दिखाये वे उन्हें भुला देना कृतघ्नता ही होगी।

राजनेता उनके समय में भी थे, उन्हें राजनेता की बजाय जननेता कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि उनमें से अधिकांश की राजनीति में लाने वाली प्रेरक शक्ति जनता का दुःख-दर्द था। राजनेता आज भी हैं पर वे अब जन नेता नहीं रहे क्योंकि जनता के दुःख-दर्द और राष्ट्र के हित के साथ एकात्म भाव स्थापित करने वाली चारित्रिक शक्ति को लोग छोटे चले जा रहे हैं जो रफी साहब के चरित्र और व्यक्तित्व में देखने को मिलती थी। यह शक्ति मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति होती है। आज व्यक्ति, देश और समाज के सामने जो अनेकानेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं उन्हें सुलझाने के लिये उस शक्ति का उपजना बहुत आवश्यक है जो किदवाई साहब की शक्ति थी।

उनका जन्म सन् १८९८ में हुआ था। २४ वर्ष की आयु में अलीगढ़ से बी० ए० करके वे कानून की परीक्षा पास करने की तैयारियाँ कर ही रहे थे कि देश में असहयोग आन्दोलन की लहर उठ खड़ी हुई। असहयोग आन्दोलन का स्वरूप इतना विशाल था कि इसमें छोटे से छेदे और बड़े से बड़े भारतवासी के लिये करने को बहुत कुछ था। वह इसमें अपनी समग्रही भूमिका खोज सकता था। कहना न होगा कि उस समय हर भारतवासी के मन में यह तूफान उठ खड़ा था कि अंग्रेज भारत छोड़कर चले जायें। अब तक उस तूफान की सार्वजनिक अभिव्यक्ति का मार्ग खुला नहीं था। असहयोग के सिद्धान्त ने वह मार्ग सुझा दिया तो भावनाशील युवक रफी अहमद के पाँव भी अन्धवास उस मार्ग पर चल निकले। कानून की पढ़ाई धरो की धरी रह गयी। यह वह प्रथम अवसर था जब उन्होंने इस सत्य को जाना कि अपने व्यक्तिगत हित को अधिकतम लोगों के हित में विसर्जित कर देने में भी एक सुख मिलता है। साथ ही वे यह भी जान गये कि यही प्रणति का सच्चा मार्ग भी है।

पंच मोतीलाल नेहरू उन दिनों कांग्रेस के माने हुए नेताओं में से थे। उन्हें बुबक रफी अहमद का प्रखर व्यक्तित्व कुछ ऐसा याया कि उन्होंने उन्हें अपना निजी सचिव बना लिया। यहाँ उन्हें एक कठिन परीक्षा के दौर से गुजरना पड़ा। आनन्द भवन का यह वैभव विलास और नेहरू परिवार का ऐश्वर्य और रफी साहब की सादगी के

बीच रस्साकसी चलने लगी। वे एक आम हिन्दुस्तानी की तरह रहना चाहते थे। इस्लाम की सादगी और भारतीय जीवन दर्शन का अपरिग्रह उनके व्यक्तित्व में दूध और पानी की तरह एकाकार हो गया था।

एक मुसलमान किस प्रकार अपने मजहब व रहन-सहन के प्रति एकनिष्ठ रहते हुए भारत और भारतीयता के प्रति एकनिष्ठ रह सकता है, वे इस सत्य की जीतो-जगती मूर्त थे। हमारे देश की विविधता में एकता वांछी सच्चाई को उन्होंने मूर्तरूप दिया।

अंग्रेजी वेशभूषा को उन्होंने आपत्तिकात्मीन स्थिति की तरह जीवन में केवल दो बार ही स्वीकार किया था। एक बार तो राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में पुलिस को चकमा देने के लिये और दूसरी बार मंत्री पद पर असीन होने के बाद जब उन्हें अपने आपको छिपाकर वस्तुस्थिति का ज्ञान करने की आवश्यकता पड़ी तब। नंगे सिर रहना भी उन्हें कत्ई पसंद नहीं था। उन्हें अपनी पारम्परिक वेशभूषा, सादगी और शालीनता से कितावा मोड़ था वह उनके वेश विन्यास में प्रकट हो जाता था।

परम्पराओं को कहीं महत्व दिया जाना चाहिए और कहीं नहीं इस मामले में वे पुरे विवेकशील थे। विचारों से वे पुरे क्रांतिकारी थे। किसी भी बात को चाहे वह कितने ही बड़े व्यक्ति ने क्यों न कहा हो वे स्व-विवेक की कंसीटी पर कसे बिना नहीं मानते थे। जिसे वे अपने आन्तरिक विवेक से सही मान लेते थे तो उसे किसी के आग्रह पर त्यागना सीखा ही नहीं था। वे मंत्री पद पर रहे, वर्षों तक रहे पर जहाँ मानवता और मन्त्रित्व के बीच संघर्ष की स्थिति आ जाती वहाँ वे मानवता के पक्षधर बन जाते थे। वह उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी जो किसी भी लोकतंत्र के मंत्री का अनिवार्य गुण होना चाहिए। उन्होंने अपना स्वार्थ कभी देखा नहीं। देश और देशवासियों के हित में ही वे अपना हित देखते थे।

स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण उन्हें कई बार जेल जाना पड़ा। उन्होंने दस वर्ष से भी अधिक समय देश को स्वतन्त्र कराने के लिये जेल में गुजारा। बत्तीस वर्ष की आयु में वे लोकसभा के सदस्य बने तत्पश्चात् स्वराज्य दल के मुख्य सचेतक रहे। नमक सत्याग्रह में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। रायबरेली क्षेत्र में विदेशी सरकार को कर नहीं देने के लिये आन्दोलन चलाया।

व्यक्तित्व, लगन और कर्मठता के धनी रफी सल्लू की काँग्रेस के बड़े नेताओं में से एक बनने में कोई अधिक देर नहीं लगी। १९३१ में वे उत्तर प्रदेश (तब संयुक्त प्रान्त) काँग्रेस कमेटी के महासचिव और १९३५ में उसके अध्यक्ष बनाये गये। १९३७ में प्रदेश में काँग्रेस को जिताने में उनका बड़ा हाथ रहा पर मने की बात यह रही कि काँग्रेस के अन्य सदस्यों की चुनाव जिताने के कर्ष में वे इतने व्यस्त रहे कि अपने क्षेत्र में प्रचार ही नहीं कर पाये। परिणाम यह हुआ कि वे हार गये। कुछ समय

पश्चात् वे उपचुनाव में खड़े हुए और विजयी होकर राज्य मंत्री बने।

वे राजनेता होते हुए भी राजनीति को व्यक्तिगत स्वार्थ साधन का हेतु बनाने को निन्दनीय मानते थे धार्मिक विश्वास के सम्बन्ध में भी उनके विचार उसी प्रकार विवेकयुक्त थे। इस्लाम में आस्था रखते हुए भी वे उसकी हर बात को आँख मीचकर मान लेने वाले नहीं थे। उनका विवाह इक्कीस वर्ष की आयु में ही हो गया था। उनकी एकमात्र सन्तान, एक पुत्र सात वर्ष की आयु में चल बसा। उसके बाद पत्नी से कोई संतान नहीं हुई। इस पर लोगों ने उन्हें दूसरा विवाह करने की राय दी पर वे इसे गलत मानकर अस्वीकार करते रहे। लोगों ने शरियत का उल्लेख करते हुए उन्हें राय भी दी कि हमारे मजहब में चार भिकाह जायज हैं पर वे मजहब से अधिक महत्व स्त्री पुरुष के समानता के अधिकार को देते थे। एक स्त्री, दो पुरुषों से विवाह नहीं करती तो पुरुष को इसका क्या अधिकार। अतः वे अन्त तक मजहब के नाम पर अन्याय से सहमत नहीं हुए, उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया।

अपनी अन्तरात्मा की आवाज को विरुद्ध कोई काम करना उन्हें स्वीकार नहीं होता था। १९३९ में जब नेताजी सुभाषचन्द्र बोस गाँधीजी के न चाहते हुये भी काँग्रेस अध्यक्ष पद के लिये खड़े हुए तो उन्होंने अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर उनका समर्थन किया। स्मरण रखने की बात है कि उन दिनों वे प्रदेश के मन्त्रिमण्डल में थे। उनका वह कदम उनके मंत्री पद के लिये घातक हो सकता था पर उन्होंने कभी ऐसी बातों की चिन्ता नहीं की। मंत्री पद उनकी मानवता का मुहताज रहा पर वे कभी उसके मुहताज नहीं रहे।

व्यक्ति में योग्यता हो, वह कर्मठ हो, व्यवहार कुशल हो, नीतिज्ञ हो पर इतना ही पर्याप्त नहीं है यदि उसमें नैतिक और चरित्रिक बल न हो। देश के वर्तमान नेताओं में इन दोनों गुणों का अभाव हो गया है। इस कारण वे देश की समस्याओं को सुलझाने के बजाय अपने स्वार्थ साधन में ही योग्यता, कर्मठता व अन्य गुणों का दुरुपयोग कर रहे हैं नहीं तो वे भी किदवाई साहब की तरह जैसे चमत्कार दिखा सकते थे जो उन्होंने केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में रहते हुए दिखाये थे। वे दो बार केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित हुए। पहली बार वे परिवहन और संचार मंत्री बने और दूसरी बार खाद्य व कृषि मंत्री। इन दोनों अवसरों पर उन्होंने जो साहसपूर्ण कदम उठाये वे मिसाल बनकर रह गये हैं।

परिवहन व संचारमन्त्री के रूप में उन्होंने समस्त डाक तार कर्मचारियों को सप्ताहिक अवकाश देने की व्यवस्था की जो प्रायः असम्भव लग रही थी। ठीक उसी प्रकार नागपुर होते हुए दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई व पद्मास को जोड़ने वाली रात्रिकात्मीन डाकसेवा प्रारम्भ की जिसके सम्बन्ध में भी लोगों के ऐसे ही विचार थे।

४.५४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

कृषि व खाद्यमन्त्री के रूप में उन्होंने जो सेवा की उसे आज तक लोग याद करते हैं। उन्होंने अपने समय की खाद्यान्न समस्या को जिस प्रकार सुलझाया, जिस प्रकार सब कन्ट्रोल तोड़ दिये वैसा स्वतन्त्र भारत के इतिहास में आज तक नहीं हुआ। लोग उनके इस कार्य को चमत्कार की संज्ञा देते हैं।

सब पूछा जाय तो यह उनकी ईमानदारी, निष्ठा, कार्यकुशलता व सूझबूझ का फल था। उनकी कार्यप्रणाली में आरामतलबी और गैर जिम्मेदारी को कोई स्थान नहीं था। वे अपने को जनता का सेवक मानते थे। जनता ने उनके कंधों पर जिस दायित्व का भार रखा था उसे भी वे बखूबी जानते थे और स्वीकारते थे। उन्हें देश की समस्याओं को सुलझाने के लिये हेलीकॉप्टर और विदेशी कारों में सँवर करने की और पुलिस और गुप्तचरों की पौंच अपने साथ लिये फिरने की कभी आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई। जैसा कि आजकल के अधिकार मन्त्री करते हैं। जनता के प्रतिनिधि को जनता के बीच जाने से भय क्यों? और यदि वे भय अनुभव करते हैं तो निश्चय ही वे उनके प्रतिनिधि हैं उनके विश्वास की रक्षा करने में असमर्थ रहे हैं। किदवाई साहब की यही मान्यता थी। उन्होंने खाद्य समस्या को सुलझाने के लिये कई बार देशव्यापी दौरा किया पर उनका यह दौरा दूसरे ही ढंग का था। स्थान-स्थान पर वे जनता से, व्यापारियों से मंत्रियों तथा जनप्रतिनिधियों से प्रकट रूप से भी मिले तो वस्तुस्थिति की जानने के लिये छप रूप में भी निकले।

वे मोटर कार की बजाय रेलगाड़ी के तीसरे दर्जे में साधारण बैराग्रा में बिना किसी पूर्व सूचना के सफर करते। उनके साथ चलने वालों को पता ही नहीं चलता था कि उनके साथ जो साधारण-सा आदमी सफर कर रहा है वह भारत का खाद्य मंत्री है। इससे उन्हें वास्तविक स्थिति जानने में भरपूर सहायता मिलती थी। वे कई नगरों में वेश बदल कर घूमे थे। उन्होंने कई व्यापारियों से अनाज के भाव पूछे थे, उनसे सीन्ट किया था तब उन्हें पता ही न था कि वे केन्द्रीय खाद्य मंत्री से भाव-ताव कर रहे थे। अपनी इस विलक्षण सूझबूझ व कार्यपद्धति के कारण वे खाद्यमन्त्रियों के कृत्रिम संकट को समाप्त करने में आश्चर्यजनक रूप से सफल हुए थे।

बम्बई की बात है। वे फटी कमीज और पैन्त-सा नेकर पहनकर एक भरेलू कर्मचारी के रूप में एक कारखाने में पहुँचे और भिन्न-भिन्न कतारों में खड़े होकर वहाँ की कार्य-पद्धति का निरीक्षण किया। इस निरीक्षण में दोषी पाये गये पाँच कर्मचारियों को उन्होंने बाद में काम ठीक न करने के कारण सजा दी। यह था उनका मन्त्री पद के निर्वाह का तरीका। उनकी यह निष्ठा राजनेताओं के लिये आदर्श उपस्थित करती है।

वे वर्षों तक उत्तर प्रदेश के मन्त्रिमण्डल में रहे। दो बार केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में रहे। इस बीच उनके घर का द्वार हर मिलने वाले के लिये खुला रहता था। सुरक्षा में

निबुद्ध किये गये पुलिस कर्मचारियों को उन्होंने स्पष्ट निर्देश दे रखे थे कि कोई भी आदमी किसी भी समय उनसे मिल सकता है। वे इसके लिये किसी को रोकें नहीं। उनका स्वभाव बड़ा सरल था। छोटे-बड़े का भेद करना उन्होंने कभी सीखा नहीं। उनसे मिलने वाला हर व्यक्ति उनके बारे में एक ही राय लेकर लौटता था कि वे देवता पुरुष थे। आत्मीयता भरी मुस्कान उनके चेहरे पर सदा खेलती रहती थी जो हर आगन्तुक का सहज भय से स्वागत करती थी।

उनकी सादगी और निरभिमानी ने उन्हें राजनेता के रूप में जो लोकप्रियता दिलायी थी वह प्रचार से सम्भव नहीं थी। राजनेता के रूप में देश और देशवासियों के प्रति उनको जो इकान्तिक निष्ठा थी वह किसी भी व्यक्ति के दबाव की परवाह नहीं करती थी। जो लोग यह कहते हैं कि राजनीति के क्षेत्र में अलस की आवाज का अनुसरण करने वाला व्यक्ति सफल नहीं होता। किदवाई साहब का जीवन उनकी इस मिथ्या धारणा का उत्तर देने के लिये पर्याप्त है।

उन्होंने अकेले ने जिस असम्भव कार्यों को सम्भव किया वे एक व्यक्ति के नहीं एक संस्था के कार्य थे पर उनके अपराज्य साहस, नीति-निष्ठा और विलक्षण सूझबूझ ने वे सब कार्य अकेले ही सम्पादित करवा दिये।

२४ अक्टूबर, १९५४ को उनका देहावसान हो गया। दिल्ली में एक सभा में भाषण करते ही उनकी तबीयत खराब हुई और घर लौटते ही वे सदा के लिये चल बसे। अपनी अमर यादगार छोड़कर कि ऐसे भी राजनेता होते हैं।

आपकी बेटी मेरी बेटी है

रफी अहमद किदवाई साहब के एक मित्र की पुत्री का विवाह था। उनसे किदवाई साहब का राजनैतिक विरोध था। बोल-चाल तक न थी। यहाँ तक कि उन्होंने किदवाई साहब को विवाह में आमन्त्रित तक न किया। किन्तु वे स्वयं ही वहाँ पहुँचे और कन्या को अक्षीकंद दिया।

उन सज्जन ने जब रफी साहब को वहाँ देखा, तो परकटाप, अक्षतमलानि तथा स्नेह का ऐसा झोल डमड़ा कि वे रफी साहब के गले से लिपट गये और क्षमा-याचना की। रफी साहब विनम्र स्वर में इतना ही बोले "हमारा आपका राजनैतिक मतभेद हो सकता है। किन्तु यह तो घर का मामला है। आपकी बेटी, मेरी बेटी है।" इस घटना से आपस का वह मनमुटाव भी समाप्त हो गया।

नेता नहीं खिदमतगार

स्वर्गीय रफी अहमद किदवाई के पास कुछ सज्जन अपने किसी कार्यवश पहुँचे। सामान्य शिष्टाचार के पक्षक उन्होंने पूछा—“कहिए मैं क्या सेवा कर सकता हूँ आपकी?”

आगन्तुक बोले "देखिये हमारा सम्मेलन निकट ही है और हमें अभी तक टेलीफोन नहीं मिला है, इससे बड़ी असुविधा है और आने वालों की संख्या बहुत है। तो यदि आप ट्रेन में एक विशेष बोगी और लगा दें तो बहुत सुविधा हो जायेगी और आप भी सम्मेलन में जाने की अवश्य कृपा करेंगे। टेलीफोन लग गया। निम्न समय पर ट्रेन में विशेष बोगी की सुविधा भी मिल गई। किन्तु तीसरी बात के उत्तर में उन्होंने कहा "सम्मेलन वगैरह से तो मैं दूर ही रहता हूँ। मैं नेता नहीं हूँ। खिदमतवार हूँ। मुझे तो इसी काम के लिए रहने दीजिए।"

मानव रत्न—

लाल बहादुर शास्त्री

सन् १९२१। असहयोग आन्दोलन का ज्वलन बन उठा। भावनाशील लोग समय की पुकार सुनकर लाखों की संख्या में रणक्षेत्र में जा कूदे। विद्यार्थियों ने विद्यालय छोड़ दिये, कर्मचारियों ने काम करना छोड़ दिया, व्यापार्य बन्द पड़ गये, किसानों ने लगान देना बन्द कर दिया, रेल, तार, डाक सेवा का उपक्रम बन्द हो गया। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया।

सोलह वर्ष के एक किशोर की आत्मा भी युग की पुकार सुनकर अधीर हो उठी। वह जानता था कि विद्यालय छोड़ने से वह का ही नहीं उसकी शिक्षा का भविष्य भी अन्धकारमय हो जायेगा। पिता जिसे मन्त्रधाम में छोड़ गये थे अब बेटा भी आन्दोलन करने लगा वह जानकर वह कितनी दुःखी होगी। रिश्तेदार तो पहले ही उसकी देशभक्ति को खतरनाक कहते रहे हैं। वे विवशताई उसके मार्ग में बाधा बनकर खड़ी थीं फिर भी जीत अन्तःकरण की आवाज की हुई वह अध्यापक के सम्मुख जा खड़ा हुआ। "गुरुजी अब अड़्डा दीजिये।" अध्यापक इस किशोर की भावनाओं को सम्झते थे और घर की स्थिति भी जानते थे। उन्होंने समझवा "बेटा हाईस्कूल परीक्षा में कुछ महीने रहे हैं। परिश्रम करके तुम अच्छी दिवीजन से पास हो आओगे तो माँ को सहारा हो जाएगा।" किशोर ने गुरुजी की बात सुनी पर वह रुक न सका। अपने तथा अपनी बेसहारा माँ के हितों को देशहितों पर बलिदान करके असहयोग आन्दोलन में भाग लेने वाला यही किशोर एक दिन भारत का प्रधानमंत्री बना। अन्य राष्ट्रों के नेताओं ने आश्चर्य से सुना कि भारत के प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री के पास अपना घर का मकान भी नहीं, जिन्होंने प्रधानमंत्री बनकर किरतों पर कार खरीदी। महामन्त्री चाणक्य जैसा ही यह एक अनुपम उदाहरण था।

शास्त्रीजी न तो बड़े बाप के बेटे थे, न किसी के सहयोग ने ही उन्हें इस पद तक पहुँचने में सहायता की थी। उनके मानवीय सद्गुणों व कर्मठता ने ही उन्हें इस महान पद पर पहुँचाया था।

शास्त्रीजी का जन्म २ अक्टूबर, १९०४ में मुगल सराय में हुआ। इनके पिता श्री शारदा प्रसाद एक शिक्षक थे। अल्पयु में ही पिता का देहावसान हो गया। बचपन से ही इनकी अग्नि परीक्षा आरम्भ हो चुकी थी, घर की आर्थिक स्थिति बहुत ही कमजोर थी तथा सहारे के नाप पर केवल माता रामदुलारी का सहारा था। पितृहीन बालक ने अपने आप एक सहारा खोज लिया। वह सहारा था पुण्य-सलिल गंगा का। गंगा ने उन्हें तैरना सिखाया, जीवन के उग्र-चढ़ावों में साहसी बने रहने का पाठ पढ़ाया और अपनी ही तरह निर्मल, निष्कलुष बने रहने की सामर्थ्य प्रदान की।

बारह वर्ष की आयु में वे अपने साथियों के साथ गंगा पर भेसा देखने गये। वापस लौटने के लिये उनके पास नव बाले को देने के पैसे नहीं थे। आधा मील गंगा का छत्र उन्होंने तैरकर पार किया जिसे अच्छी छासे पहलवान भी नहीं कर पाते थे। परिस्थितियों से जूझना वे बचपन से ही सीखने लगे थे। साधन का अभाव प्रगति में बाधक नहीं होता वह प्रेरणा उन्हें बचपन से ही मिल चुकी थी।

पढ़ने के लिये वे जना के घर रहे, फिर मौसा के घर रहे किन्तु परावलम्बन को उन्होंने कभी नहीं अपनाया, उन्होंने अपनी स्थिति को स्वीकार तो किया कि उनके पिता नहीं हैं पर वह स्वीकारोक्ति उन्हें सदाचारी, परिश्रमशील तथा ईमानदार बनावे रही।

शास्त्रीजी तोड़ बुद्धि नहीं थे वे कक्षा में पढ़ा-कढ़ा ही प्रथम आये। इसके पीछे उनका परिश्रम ही था। वे मन लगकर पढ़ते थे-परिश्रम करते थे। इसी का शुभ परिणाम था कि वे हिन्दी विद्यापीठ से 'शास्त्री' परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर सके। उनका प्रमुख विषय दर्शन था।

पारिवारिक स्थिति साधारण होते हुए भी लालबहादुर शास्त्री ने अपना लक्ष्य साधारण नहीं रखा। ऐसी परिस्थितियों में कोई अन्य साधारण साहस वाला आदमी होता तो हाईस्कूल पास करके कहीं नौकरी खोज लेता, कहीं कर्क या अध्यापक बन जाता, शास्त्रीजी ने एक सच्चे देशभक्त की भूमिका निभाने में इस स्थिति को कभी बाधा के रूप में नहीं माना।

पढ़ाई समाप्त करने के बाद यदि वे स्वयं को अकिंचन मानते तो कोई नौकरी खोजते पर उन्हें अपने देशवासियों की सेवा करनी थी। रोटी का सवाल अवश्य सामने था। उसे पूरा करने की तैयारी वे बचपन से ही कर चुके थे। अपने आवश्यकता से कम से कम रखते थे। अपना सारा काम हाथ से कर लेते थे। उन्होंने लोकसेवा संघ में अपने मित्र जलगुप्त चौधरी के साथ अछूतोद्धार का काम आरम्भ किया। इनकी लगन, श्रम तथा तत्परता से लाला लाजपत राय बड़े प्रभावित हुए, वे इस संघ के आजीवन सदस्य बना दिये गये। उन्हें साल रुपये धन मिलता वह बाद में सौ रुपये हो गया, जिसे वे घर वालों को दे देते थे।

सन् १९२७ में उनका विवाह ललिता देवी के साथ हुआ। शास्त्री जी ने अपने जीवन का ध्येय उनको

बताया। अपने पति के इस ध्येय को ललित देवी ने अपना ध्येय मान लिया। शास्त्रीजी की देश-कति के लिये जो उपयोगिता थी उसे श्रीमती ललित देवी ने स्वीकार किया तथा उनके उद्देश्य में सहायक बनीं। पत्नी का सहयोग पाकर जहाँ वे पारिवारिक उत्तरदायित्वों से निश्चिन्त हो गये वहाँ ललित देवी अपने पति की महान्ता के आगे ब्रह्माभूत हो उठी।

शास्त्री जी को जो भी काम दिया जाता उसे वे पूरे मनोयोग से ईश्वर की उपासना की तरह करते। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी महत्ता स्वीकार की जाने लगी। बड़े-बड़े नेता इन पर विश्वास करने और कांग्रेस के माने हुए नेताओं में गिने जाने लगे। इनकी प्रगति का आधार परिश्रमशीलता, कार्य के प्रति निष्ठा और मनोयोग था।

आदर्शों के प्रति इनका आग्रह निरन्तर बृद्ध होता गया। जब वे मैचो जेल में थे उनकी पुत्री सख्त जीपर हो गई। पैरोल पर छूटने के लिए वह लिखित आवकामन देना पड़ता था कि वे इस अवधि में किसी आन्दोलन में भाग नहीं लेंगे। यद्यपि वे किसी आन्दोलन में भाग नहीं लेने वाले थे फिर भी लिखकर देना अनुचित मानते थे। इस कारण वे अपनी पुत्री को देखने का विचार स्वीकृत कर चुके थे। जेलर को उन्हें बिना शर्त लिखाए ही छुट्टी देनी पड़ी।

अपनी आवश्यकताओं के प्रति उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। जेल के जीवन में जहाँ अन्य लोग छोटी-छोटी चीजों के लिए जेल अधिकारियों से प्रार्थना करते थे, वहाँ शास्त्रीजी स्वयं के हिस्से की वस्तु भी दूसरे को देकर प्रसन्न होते थे। अपना सौम्य एक सखी को देकर उन्होंने कटुमे तेल के दिवे के सामने टालस्टाय का 'अन्ना कैरेनिना' पढ़ डाला था। जेल जीवन उन्होंने एक तपस्या समझकर बिताया। उन्हें देखकर जेल के अधिकारी तथा सहपात्री आश्चर्य करते थे कि जेल में भी इनका जीवन एक व्यवस्थित क्रम से चलता रहता है। इस काल में उन्होंने कितने ही ग्रन्थ पढ़े। जेल में ही उन्होंने 'मेडम क्यूरी' की जीवनी लिखी।

आजादी के आन्दोलन में शास्त्रीजी की भूमिका महत्वपूर्ण रही थी। वर्षों जेल में रहे। रात-दिन श्रम करते रहे। जेल में रहे या खुले में उनका यह श्रम चलता ही रहा। आन्दोलन के नेतृत्व में, जन-जागरण के प्रयासों में, संगठन में जहाँ भी उनका हाथ लगता वहाँ वहाँ काम बना, बिगड़ा नहीं। उसका कारण यह था कि उन्होंने अपने काम की चिन्ता की, नाम की चिन्ता नहीं की। अन्य नेताओं से आगे बढ़ने का एकमात्र कारण यही था कि उन्होंने अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा कोई रखी ही नहीं।

दुबला, पतला, ठिगना साधारण सा दीखने वाला यह लौहपुरुष अपने कठोर परिश्रम, निष्ठा, विश्वास के कारण उत्तरप्रदेश मन्त्रिमण्डल में संसदीय सचिव बनाया गया।

उत्तरप्रदेश मन्त्रिमण्डल में जब वे गृहमन्त्री पद पर थे तब कांग्रेस के महापन्त्री बनाये गये। इनका एक ऐसा व्यक्तित्व बन गया था कि उन्हें आपत्तिकालीन स्थिति में कोई काम सौंपा जा सकता था। सौंपे काम की क्षमता निश्चित थी।

केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में रेल मन्त्री के रूप में उन्होंने बड़ा अच्छा काम किया। दो रेल दुर्घटनाओं के कारण उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया। इसके विरोध में हजारों तार आये पर उन्होंने फिर इस पद को स्वीकार नहीं किया। इस त्याग ने उनकी महत्ता को और बढ़ा दिया।

एक साधारण नागरिक के दायित्व को वहन करने में ईमानदारी बरतने का सुध परिणाम यह हुआ कि भारत को एक ईमानदार नेता, एक ईमानदारी प्रधानमन्त्री मिल सका। पद का कभी थोड़ा शास्त्रीजी को नहीं रहा। वे अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ईमानदार रहे। उन्होंने राष्ट्र के पैसे को अपने उपयोग में लेने को सोचा तक नहीं। सदा वे अपने को एक साधारण अमदमी जनता का सेवक मानते रहे। उनकी ईमानदारी ने ही उन्हें रेलमन्त्री पद से स्नोफा देने को मजबूर किया। उनको ईमानदारी ही थी जिसने कामराज योजना के अन्तर्गत सबसे पहले अपना पद छोड़ा।

श्री नेहरू के मरने के बाद भारतीय तथा विदेशी शास्त्रीजी को अभ्यर्थ में उस रूप में स्वीकार नहीं कर पाये, जिस रूप में नेहरू को किया जाता था किन्तु अपने अठारह महीनों के अल्प समय में उस भारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया।

भारत पाकिस्तान युद्ध के समय भारत का जो स्वरूप दुनिया के लोगों ने देखा और शास्त्रीजी की ललकार सुनी वे जानते हैं कि इस गन्दे से कलेवर में कितनी सशक्त अत्मा बैठी हुई है।

इनका जीवन कर्मपरव्रत रहा। कभी-कभी तो वे काम में इतने खोब रहते थे कि भोजन करना तक भूल जाते थे। कर्मक्षेत्र में लिखित होते उन्हें कभी नहीं देखा गया। असम्भव दीखने वाला कार्य जब शास्त्रीजी को दिया गया तो उनके परिश्रम ने उसे सहज सम्पन्न बना दिया, शास्त्री जी ने अपने एक-एक क्षण को कार्य करने में बिताया।

शास्त्रीजी जब प्रधानमंत्री बने तो उनका कुछ ऐसा व्यवहार रहा कि विरोधी भी उनकी प्रशंसा करते थे। लोकप्रियता का यह मुक्त उन्होंने अपने प्रारम्भिक जीवन से ही विकसित करना आरम्भ कर दिया था। कांग्रेस में आपसी मतभेद दूर करने में इनके सानी का कोई दूसरा न था। राजनीति सरोवर के पंकज, शास्त्रीजी सदा राजनैतिक छल-छद्मों से दूर रहे।

सन् १९६५ में हुई ताराकन्द वार्ता की समाप्ति पर यह सूचना सुनकर विश्व का प्रत्येक नागरिक रो पड़ा कि एक महान व्यक्ति अब हमारे बीच नहीं रहा।

मरने पर अपने उत्तराधिकारियों के लिये कोई तो मकान, जमीन-जबदाद, धन-दौलत छोड़ जाते हैं पर शास्त्री जी ने कभी स्वयं को अपने परिवार तक सीमित

नहीं रखा। वे सारे देश के थे। अपने परिवार व परिवारों के लिये आदर्श जीवन जीने की महान पूँजी छोड़ गये।

अपने आप बढ़ो, विकसो, बढ़े बनो

सालबहादुर शास्त्री ने अपने १८ माह के प्रधानमन्त्रित्व काल में यह यश व श्रेष्ठ प्राप्त कर लिया जो संसार का कोई भी नेता नहीं पा सका। शास्त्रीजी एक साधारण परिवार के थे। वह स्वयं बढ़े, विकसे और बढ़े बने। आत्मवलम्बन की शक्ति ही उनके जीवन में दृढ़ता बनकर विकसित हुई थी।

यही गुरुमन्त्र उन्होंने अपने सन्तान को भी दिया। एक बार उनसे किसी मित्र ने प्रश्न किया “आप अपने बच्चों को मोड़ा सहारा देते तो वे भी आज अच्छे स्वानों पर होते?” शास्त्रीजी ने हँसकर बोले—“अवश्य होते, पर उनमें योग्यता न होती। जो स्वावलम्बन और आत्म-विश्वास के साथ बढ़ता है, उसकी योग्यता, दृढ़ता, कर्मठता, साहस और कर्तव्य भावना अवश्य होती है।”

उन्होंने कहा—“फूल कहीं भी हो वह खिलेगा ही। बगीचे में हो, जंगल में हो या कमरे में, बिना खिले उसे मुक्ति नहीं। बगीचे का फूल चालू फूल है, उसकी चिन्ता स्वयं उसे नहीं रहती। जंगल का फूल इतना चिन्ता मुक्त नहीं, उसे अपना पोषण आप खुटाना पड़ता है, अपना निखार आप करना पड़ता है। कहते हैं कि इसीलिए खिलता भी वह मन्दगति से है। सौरभ भी धीरे-धीरे बिखेरता है। किन्तु सुगन्ध उसकी बड़ी तीखी होती है। काफी दूर तक वह अपनी मंजिल तय करती है। जंगल का फूल यद्यपि अपने आकार में छोटा होता है और कई बार वह पूरा खिल भी नहीं पाता है तो भी अपनी सुगन्ध में वह दूसरे फूलों से हल्का नहीं पड़ता बल्कि ही होता है।”

यह सिद्धान्त मनुष्य के विकास में भी लागू है। दूसरों का सहारा लेकर बहुत ऊँचे पहुँचे हुए लोगो में न तो साहस, दृढ़ता होती है और न वे ‘गद्स’ होते हैं, जो अपने आप विकसित हुये व्यक्ति में स्वायत्त रूप से होते हैं। सफलता की मंजिल भले ही दूर से मिले पर अपने पैरों की गई यात्रा, विकास यात्रा अधिक विश्वस्त होती है। मोटर, रेल का सहारा लेकर बढ़ने में जहाँ शीघ्र पहुँचने सम्भव है वहाँ अनिश्चित होना, रास्ते में टूट-फूट, लेट होना और बिगड़ जाना भी सम्भव है। पद यात्रा से अधिक विश्वस्तता सहारे की यात्राओं में नहीं, भले उसमें कुछ अधिक सुविधा हो।

संसार में कार्य करने के लिए स्वयं का विकासवाचक बनना आवश्यक है। आत्मशक्तियों पर जो कितना अधिक विश्वास करता है, वह उतना ही सफल और बड़ा आदमी बनता है। वाशिंगटन एक मामूली सिपाही से अमेरिका की स्वतन्त्रता का प्रतिस्थापक बना। अमेरिका के प्रथम सभी राष्ट्रपति अत्यन्त छोटी अवस्था से स्वयं विकसित

हुये। नैपोलियन फ्रान्स का एक छोटा-सा सिपाही था, वह स्वयं बढ़कर सेनापति बना। एक अस्पताल में साधारण प्यून से बढ़ते-बढ़ते राष्ट्रपति बनने वाले सनयात सेन को कोई नहीं बूल सकता। इन महापुरुषों ने ‘मन्त्र खल्विन्व विश्वस्तस्व सिद्धिन्व तावती।’ जिसने अपने आप पर विश्वास किया उसने सिद्धि सफलता पाई कहावत को चरित्रार्थ किया है।

कार्टिन्स लिखते हैं—“हर व्यक्ति के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जिनका बुद्धिमानी से उपयोग करके मनुष्य बिना भाग्य की प्रतीक्षा किये बड़ी सफलताएँ प्राप्त कर सकता है।”

नेल्सन की कहानियाँ अंग्रेज बड़े प्रेस से पढ़ते हैं और आत्मविश्वास की शक्ति की व्याख्या करते समय उसके उदाहरण देते हैं। नेल्सन कहा करता था—“अविश्वास के लिये मेरे जीवन में कोई स्थान नहीं है। मैं जहाँ खुट जाता हूँ, वहाँ सफलता निश्चित रहती है। जिसके पास दृढ़ और अटूट आत्मविश्वास और साहस है, वह निश्चय ही अपना भाग्य निर्माण करता है।”

श्रीकृष्ण नाना भाई घोषड़े, व्यापार के क्षेत्र में बम्बई के अब्दुल भाई करीम, शिक्षा के क्षेत्र में सुबोध चन्द्र राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, व्यावसायिक प्रगति के लिए सेमुअल एण्टन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, इन्होंने कठिनाइयों और अगर-मगर की परवाह किये बिना आत्मशक्तियों को जीवन क्षेत्र में उतारा और मनुष्य-शक्ति को सार्वक सिद्ध कर दिखाया।

बहुत से लोग कहा करते हैं—‘यदि मैं स्वतन्त्र होता और मेरे पीछे बाल-बच्चों का झगड़ा न होता, मेरी शिक्षा इतनी होती, धुंध इतनी पूँजी मिल गई होती तो मैं बहुत काम कर सकता था। परन्तु वह उनकी निर्बलता है। बड़ा काम करने के लिए न बाल-बच्चे रुकावट हैं और न धनभाव। परिस्थितियों संसार के न्यूनधिक एक जैसी ही हैं। जिन्हें रुकावट समझा जाता है, वे समस्याएँ ही सफल व्यक्तियों की डेरक बनती हैं। कई महामानवों ने तो जेल में भी बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं। सोच-समझ के साथ जीवन के प्रत्येक दिन को अमूल्य मानकर अपने मन को ऊँची अवस्था में ले जाने को अपने आप प्रयत्न करते हैं। उनकी छोड़ी-सी सफलता भी चिरस्वाँ, सन्तोषदायक और व्यापकरीक होती है।

अपने आप बढ़ने में सच्चाई और ईमानदारी रहती है, मनुष्य की वह बड़ी शक्ति है, इससे उसका हृदय खुला रहता है, वह किसी भी समय अपने आपको व्यक्त कर सकता है। वह चबराता नहीं, परेशान भी नहीं होता। वह कष्ट तो परावर्त्तित्वों को ही होते हैं। जो दूसरों के सहारे उठता है उसे बात-बात पर गिर जाने का भी भय बना रहता है। सच्चे लोग अपने गुण, अपनी प्रतिभा और अपने

४.५८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन वृत्त—२

सौन्दर्य के बारे में नहीं सोचते। अपनी इस सरल अनोखता के कारण वे लोगों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं, उनके हृदय में विश्वास, प्रेम और प्रतिष्ठा का स्थान पाते हैं, यह सफलता ही किसी बड़ी से बड़ी सम्पन्नता जैसी सुखदायक होती है।

अपने भाग्य को स्वयं बन जाने की राह देखना भूल ही नहीं, मूर्खता भी है। यह संसार इतना व्यस्त है कि लोगों को अपनी परवाह से ही फुरसत नहीं। यदि कोई थोड़ा सा सहारा देकर आगे बढ़ा भी दे और उतनी योग्यता न हो तो फिर परचासाप, अपमान और अविरति का ही मुख देखना पड़ता है। स्वयं ही मौलिक सूझ-बूझ और परिश्रम से बनाये हुए भाग्य में इस तरह की कोई आशंका नहीं रहती, क्योंकि वैसी स्थिति में अयोग्य सिद्ध होने का कोई कारण ही नहीं होता। बितनी योग्यता बढ़ती चले सफलता की मंजिल उतनी ही प्राप्त करता चले, रास्ता सबके लिए खुला है, वस पर चलकर कितना पार कर सकता है, यह व्यक्ति की अपनी लगन, साहस और विश्वास पर निर्भर है।

शास्त्रकारों ने पुरुषार्थियों की स्थान-स्थान पर वन्दना की है। कोई महापुरुष लिखते हैं—

धीमन्तो यन्त्र चरितं दन्वन्ते धीरवन् यदत् ।

असक्ता धीरवन् कन्तुं ज्ञानीक देवपुण्यस्यते ॥

अर्थात्— बुद्धिमान व्यक्तियों ने सदैव व्यक्ति के उत्थान के लिए पुरुषार्थ को प्रधान माना है। भाग्य और देखें से उत्थान के मार्ग खोजने वाले नपुंसक पुरुषार्थविहीन व्यक्तियों की विद्वज्जन निन्दा करते हैं।

हर मनुष्य को परमात्मा ने अपार तारीरिक शक्तियाँ दी हैं। बुद्धि भी सब में कुछ न कुछ होती है, संसार इतना बड़ा है कि दूँदने से इच्छित परिस्थितियों का अन्धार भिल सकता है। यहाँ अभाव किसी वस्तु का नहीं, कुछ सच्ची बात है तो यह है कि सब कुछ दूँदने वाले को भिलता है। जो स्वयं कुछ करता है, वह फलता है। जो चलता है, वहीं लक्ष्य तक पहुँचता है। सोना-शेन चिल्लाने से फस रखा हुआ सोना भी हाथों में नहीं आ जाता। उसे उठाने के लिए भी प्रयत्न करना पड़ता है। सफलता के हर क्षेत्र में यह सिद्धान्त अटल है। दूसरा बड़ा नहीं बनता, मनुष्य अपने प्रयत्नों के अनुरूप ही परिणाम उपलब्ध करता है। यह सृष्टि का अकाट्य नियम है।

उल्लास के बिना उत्सर्ग क्या ?

महात्मा गाँधी का नमक कानून तोड़ने वाला सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ तब की बात है—राष्ट्रीय नेता जेलों में तैसे जा रहे थे। श्री सातबहादुर शास्त्री के भी पकड़े जाने की पूरी सम्भावना थी।

एक दिन उन्होंने एक जेल-यात्री कार्यकर्ता के स्त्री, बच्चों को रोते हुये देखा तो उन्हें ऐसा लगा कि इससे त्याग

और बलिदान का सर्वस्व घटता है कहीं हम भी जेल गये तो ? निश्चित है कि अम्माजी, धर्मपत्नी ललिता और हमारे अन्य सब लोग भी ऐसे ही रोवेंगे। शास्त्रीजी को वह कल्पना भी अच्छी नहीं लगी। उन्होंने जितना विचार किया उतना ही लगा कि रोने-धोने से तो भेषा और त्याग की गरिमा ही कम होती है। उन्होंने निश्चय किया वे अपने घर में ऐसा नहीं होने देंगे।

सर्वकाय भोजन के लिए बैठे शास्त्रीजी ने अम्मा को बुलवाया, सातबहादुर शास्त्री पहले से ही वहाँ उपस्थित थीं। उत्सुकतावश बच्चे भी आ गये। उपपुत्र समय देखकर शास्त्रीजी ने अपनी माताजी से प्रश्न किया—अम्मा बताओ यदि कोई युवक किसी महिला की रक्षा करते हुए मारा जावे, कोई युवक हिम्मत कर डकैतों से धिड़ जाये और उसमें बछरी हो जावे, समाज के उत्थान के लिये किसी गृहस्थ से निवृत्त व्यक्ति को धानप्रस्थ लेना पड़ जावे, किसी सामग्रिक बुराई के प्रतिरोध में किसी युवक को बहिष्कृत कर दिया जावे, इन दिनों सारे देश में स्वातन्त्रता आन्दोलन चल रहा है उसमें किसी सत्याग्रही को जेल जाना पड़ जाये तो क्या उसके घर वालों को यह उचित है कि वे रोयें—धोयें और त्याग, बलिदान एवं स्वयं सामाजिक परम्पराओं की स्थापना का मूल्य बतायें ?

माताजी शास्त्रीजी के भाव ताड़ गई बोली—बेटे। त्याग और बलिदान के आदर्शों से ही धर्म संस्कृतियों, समाज और राष्ट्र निन्दा रहते हैं कौन अभाग होगा जो इन्हें बुरा कहेगा पर मोह-ममता का भी तो अपना स्थान है यदि पिच्छस्पद को कहें, इस कल्पना से कोई स्वजन, सम्बन्धी से पड़े तो उसका बुरा नहीं मानना चाहिए।

शास्त्रीजी चुकने वाले नहीं थे, उन्होंने कहा—बसो यह ॥॥ लें कि अन्तर्भाव का प्रदर्शन बुरा नहीं पर उन रीने-धोने कालों के बीच में घर के वह सुकुमार बच्चे भी तो होते हैं जिन्हें आगे चलकर समाज और राष्ट्र के नेतृत्व की बागदोर सम्पन्नतनी होती है जो उस समय आदर्श की महत्ता नहीं समझ पाते। वे यदि माता-पिता और बड़ों को रोते-बिलखते देखेंगे तो क्या उनमें भय पैदा नहीं होगा। इस मोह बन्धनों से नवागत पीढ़ी में आशंका की भावना नहीं पैदा होती ? यदि हाँ तो क्यों न ऐसे अवसरों पर—त्याग और बलिदान का आदर्श प्रस्तुत करने वाले का स्वागत हँस-हँस कर किया जाये, प्रसन्नता अनुभव की जाये और उनका अभिनन्दन गीत गाकर किया जाये ताकि ऐसे कर्मियों के प्रति बच्चों में स्वाभिमान और अनुकरण का भाव जाग्रत हो।

तुम ठीक कहते हो बेटा ! मैं ने स्वीकार कर लिया तब शास्त्रीजी ने खाना खाया और आवश्यक काम से बाहर निकले। जैसी कि आशंका थी वे बकड़ लिये गये। घर के लोगों ने सुना तो सबकी छाती स्वाभिमान से ऊँची ठठ गई, घर में न हो कोई रोया और न किसी ने दिल जोया किया। ललिता शास्त्री उनसे मिलने जेल गई, उनसे शास्त्रीजी की बात भी नहीं हो पाई तो भी जो सुख, जो

सन्तोष और स्वाभिमान उन्होंने उस समय अनुभव किया वह शायद उन्होंने श्री शास्त्री जी के प्रधानमन्त्रित्व काल में भी न पाया होगा ।

शास्त्रीजी की सिद्धान्तनिष्ठा

जब स्वराज्य आन्दोलन का संछ कच्चा तो सामान्य ही नहीं विपन्न परिस्थितियों से जूझकर समृद्धि की ओर बढ़ रहे शास्त्रीजी ने भी अपनी जीवन दिशा बदली और महात्मा गाँधी के सम्पर्क में आये । गाँधीजी शास्त्रीजी की सिद्धान्तनिष्ठा और आदर्शवादिता, लोकसेवा की भावना से बड़े प्रभावित हुए । एक दिन उन्होंने शास्त्रीजी को बुलाकर कहा—“देखो लालबाहादुर, तुममें लोकसेवा की उद्दाम भावना है । परन्तु इस मार्ग पर भ्रम सम्पन्न एक ऐसी बाधा है जिसको चपक से चौंधिवाकर आदमी लोकसेवा की बात भूल जाता है और उसे परिग्रह हो परिग्रह सृजता है । इसलिए लोकसेवकों को अपरिग्रह का द्रव्य लेना चाहिए ।”

शास्त्रीजी ने तत्काल यह प्रतिज्ञा की कि—“मैं गृह और सम्पत्ति अर्जित नहीं करूँगा तथा ईश्वर पर दृढ़ आस्था रखते हुए जीवन बीया भी नहीं करारूँगा ।”

प्रतिज्ञा लेकर तोड़ने वाले तो अनेकों हैं परन्तु शास्त्रीजी ने यह प्रतिज्ञा जीवन भर निबाही । यहाँ तक कि जब वे प्रधानमन्त्री बने तब भी उनके पास अपना कोई निजी मकान नहीं था ।

जीवन में कई अवसर आये जब परिग्रह उन्हें पच-विचलित करने के लिए खड़ा हो गया । यद्यपि वे अवसर दूसरे लोगों द्वारा ही खड़े किये गये थे, परन्तु शास्त्रीजी बड़ी होशियारी से उन अवसरों के चंगुल में फँसने से बच निकलते । ऐसा ही एक अवसर सन् १९३६ ई० में आया । तब वे इलाहाबाद म्युनिसिपल बोर्ड के सदस्य चुने गये थे । इस बोर्ड के सदस्य होने के नाते वे इम्पूवमेण्ट ट्रस्ट के सदस्य भी बने । यह ट्रस्ट जमीनों के प्लॉट बनाता तथा उन्हें बेचा करता था । एक बार ट्रस्ट ने टैगोर टाउन मोहल्ले में निर्माण कार्य के लिए आधा-आधा एकड़ के प्लॉट बनाये और कम मूल्य पर बेचने का सिद्धान्त तय किया ।

शास्त्रीजी ने उस समय कुछ दिनों के लिए इलाहाबाद से बाहर थे । उनके एक मित्र ने इन प्लॉटों में से एक प्लॉट शास्त्रीजी के लिए तथा एक अपने लिए खरीदना चाहा, परन्तु बोर्ड के नियमों के अनुसार ट्रस्ट का कोई भी सदस्य ऐसा नहीं कर सकता था । उक्त सदस्य ने कमिश्नर साहब से सम्पर्क साधकर शास्त्रीजी के लिए विशेष छूट माँग ली साथ ही उनके लिए भी छूट मिल गयी । उन्होंने एक-एक प्लॉट दोनों के लिए खरीद लिये ।

कुछ दिनों बाद शास्त्रीजी प्रवास से वापस लौटे । लौटते ही मित्र महोदय ने यह सम्वाद इस आश के साथ

सुनाया कि शास्त्रीजी प्रसन्न होंगे । परन्तु शास्त्रीजी तो प्रसन्न होने के स्थान पर आहत हो उठे और बोले तुमने यह ठीक नहीं किया ।

शास्त्रीजी को इस प्रकार दुःखी होते देख कर उक्त सदस्य उन्हें सान्त्वित करने का प्रयत्न करने लगे और बताने लगे कि कमिश्नर साहब से इजाजत मिल जाने के बाद प्लॉट खरीदने में कोई आपत्ति नहीं है । परन्तु शास्त्रीजी को यह कब सहन होने वाला था आपत्ति हो या न हो । परन्तु तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए । नियमों और सिद्धान्तों को जोड़ना सर्वथा अनुचित है और इसका प्रायश्चित्त यही है कि तुम मेरे प्लॉट सहित अपना प्लॉट भी ट्रस्ट को वापस कर दो ।

इन्होंने प्लॉट वापस कराकर हो चैन लिया । उन्होंने दिनों ट्रस्ट को घोरित हुई । ट्रस्टियों को दोनों प्लॉट वापस होने की बात ज्ञात थी । इसे सराहनीय आदर्शवादिता की संज्ञा देकर सभी ट्रस्टियों ने शास्त्रीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की । शास्त्रीजी ने बात को प्रजाक में टालते हुए कहा—“धाई आप प्लॉट वापस करने में कौन-सा आदर्शवाद मानते हैं । मैंने तो आपू को जो वचन दिया था उसे ही पूरा किया है और ट्रस्टों की हैसियत से ट्रस्ट द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं को खरीदना भी कौन-सा अच्छा काम है ।”

शास्त्रीजी की दूरदर्शिता

सन् १९४९ । उन दिनों लालबाहादुर शास्त्री उत्तर प्रदेश सरकार के गृहमन्त्री थे, एक दिन लोक निर्माण विभाग के कुछ कर्मचारी उनके निवास स्थान पर कूलर लगाने आये । बच्चों को बड़ी प्रसन्नता हुई कि अब की बार गर्मियाँ अच्छे तरह गुजर जायेंगी ।

जब शाम को शास्त्री जी घर आये तो उन्हें पता चला कि कूलर लगवा जा रहा है उन्होंने तुरन्त विभागीय कर्मचारियों को टेलीफोन पर मना कर दिया । पत्नी ने कहा—“जो सुविधा बिना माँग मिल रही है उसके लिए मना करने की क्या आवश्यकता है ?”

यह आवश्यक नहीं कि मैं मन्त्री पद पर सदा रहूँगा, फिर इससे अद्भुत बिगड़ जायेगी । कल लड़कियों की शादी करने है मान लो विवाहोपरान्त इस तरह की सुविधाएँ न मिलें तो उन्हें कह ही होगा । जाने किस स्थिति में उन्हें रहना पड़े । शास्त्री जी ने कहा ।

शास्त्रीजी ने उस समय कुछ दिनों के लिए इलाहाबाद से बाहर थे । उनके एक मित्र ने इन प्लॉटों में से एक प्लॉट शास्त्रीजी के लिए तथा एक अपने लिए खरीदना चाहा, परन्तु बोर्ड के नियमों के अनुसार ट्रस्ट का कोई भी सदस्य ऐसा नहीं कर सकता था । उक्त सदस्य ने कमिश्नर साहब से सम्पर्क साधकर शास्त्रीजी के लिए विशेष छूट माँग ली साथ ही उनके लिए भी छूट मिल गयी । उन्होंने एक-एक प्लॉट दोनों के लिए खरीद लिये ।

कुछ दिनों बाद शास्त्रीजी प्रवास से वापस लौटे । लौटते ही मित्र महोदय ने यह सम्वाद इस आश के साथ

सुनाया कि शास्त्रीजी प्रसन्न होंगे । परन्तु शास्त्रीजी तो प्रसन्न होने के स्थान पर आहत हो उठे और बोले तुमने यह ठीक नहीं किया ।

शास्त्रीजी को इस प्रकार दुःखी होते देखकर उनके सदस्य उन्हें शान्त कराने का प्रयत्न करने लगे और कहने लगे कि कमिश्नर साहब से इजाजत मिल जाने के बाद प्लॉट खरीदने में कोई आपत्ति नहीं है । परन्तु शास्त्रीजी को यह सब सहन होने वाला था—“अपत्ति हो या न हो । परन्तु तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था । नियमों और सिद्धान्तों को तोड़ना सर्वथा अनुचित है और इसका प्रायश्चित्त यही है कि तुम भेरे प्लॉट सहित अपना प्लॉट भी ट्रस्ट को वापस कर दो ।”

उन्होंने प्लॉट वापस कराकर ही चैन लिया । उन्होंने दिनों ट्रस्ट की मीटिंग हुई । ट्रस्टियों को दोनों प्लॉट वापस होने की बात ज्ञात थी । इसे सराहनीय आदर्शवादित्व की संज्ञा देकर सभी ट्रस्टियों ने शास्त्रीजी की धीरे-धीरे प्रशंसा की । शास्त्रीजी ने बात को यज्ञाक में टासते हुए कहा—“भाई आप प्लॉट वापस करने में कौन-सा आदर्शवाद मानते हैं । मैंने तो बापू को जो वचन दिया था उसे ही पूरा किया है और ट्रस्टी की हैसियत से ट्रस्ट द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं को खरीदना भी कौन-सा अच्छा काम है ।”

शास्त्रीजी की दूरदर्शिता

सन् १९४९ । उन दिनों लालबहादुर शास्त्री उत्तर प्रदेश सरकार के गृहमंत्री थे , एक दिन लोकनिर्माण विभाग के कुछ कर्मचारी उनके निवास स्थान पर कूत्तर लगाने आये । बच्चों को बड़ी प्रसन्नता हुई कि अब की बार गर्मियों अच्छी तरह गुजर जायेंगी ।

जब शाम को शास्त्रीजी घर आये तो उन्हें पता चला कि कूत्तर लगाया जा रहा है उन्होंने तुरन्त विभागीय कर्मचारियों को टेलीफोन पर मना कर दिया । पत्नी ने कहा—“जो सुविधा बिना भोगे मिल रही है उसके लिए मना करने की क्या आवश्यकता है ?”

“यह आवश्यक नहीं कि मैं मंत्री पद पर स्थिर रहूँगा, फिर इससे आदत बिगड़ जायेगी । कल लड़कियों की शादी करनी है मान लो विवाहोपरांत इस तरह की सुविधाएँ न मिलीं तो उन्हें कह ही होगा । जाने किस स्थिति में उन्हें रहना पड़े । शास्त्रीजी ने कहा ।

जो हो वही दिखलायें—

प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्रीजी की पत्नी श्रीमती शास्त्री ने अपने जीवन के रोचक प्रसंग सुनाते हुये कहा—

जब मैं पहली बार अपने पति के साथ रुस कात्र के लिए तैयार हुई तो मुझे बड़ा डर लग रहा था । मैं सोच रही थी कि मैं सीधी-साधी भारतीय गृहणी हूँ । राजनीति का मुझे ज्ञान नहीं, विदेशी तौर-तरीकों का पता नहीं । कहीं मुझसे कोई ऐसे प्रश्न न किए जायें किन्तु उत्तर में

ठीक से न दे पाऊँ और तब घरे पति अथवा देश का गौरव कुछ घटे अथवा उनकी हँसी हो ।

किन्तु फिर मैंने यह निश्चय करके अपना डर दूर कर लिया कि मैं एक महान देश के प्रधानमंत्री की पत्नी के रूप में अपने को पोष ही नहीं करूँगी । मैं तो सबके सम्मने अपने को एक साधारण भारतीय गृहणी के रूप में रखूँगी ।

मैंने वहाँ जाकर अपने को एक गृहणी के रूप में ही पेश किया । वहाँ के अच्छे लोगों ने मुझसे घर-गृहस्थी के विषय में ही बातचीत की । जिसका उत्तर देकर मैंने सबको सन्तुष्ट कर दिया । इस प्रकार मैंने एक बहुमूल्य अनुभव यह पाया कि मनुष्य वास्तव में जो कुछ है यदि उसी रूप में दूसरों के सम्मने अपने को पेश करे तो उसे कोई असुविधा नहीं होती और उसकी सच्ची सरलता उपहास का विषय न बनकर स्नेह एवं श्रद्धा का विषय बनती है ।

सादगी की मिसाल-शास्त्रीजी

लालबहादुर शास्त्री के मन्त्रीत्व काल में देशी-विदेशी अतिथियों का सौता लगा ही रहता था । कितने ही व्यक्ति राजनीतिक परामर्श हेतु आते । तो कोई अपनी कठिनाइयों के इल हेतु उपस्थित होते । सदा के दिन थे । लोकनिर्माण विभाग के कर्मचारियों ने शास्त्री जी के कमरे में एक कीमती कालीन लाकर बिछा दिया ।

शास्त्रीजी ने यह कालीन देखा तो विरोध करते हुए कहा—“जिस वस्तु के बिना कार्य चल रहा है उसे खरीदने की क्या आवश्यकता ?” उस कालीन को अपने कमरे से निकलवा दिया ।

शास्त्रीजी का जीवन बड़ा सादगीपूर्ण था । धन संभय करना तो उन्होंने कभी सीखा ही न था । अपने चेतन का बहुत बड़ा भाग अभावग्रस्त लोगों में सहायता हेतु विवरित कर देते थे । यही कारण है कि वर्षों तक मन्त्री पद पर रहने तथा १८ बार प्रधानमंत्री जैसे उच्च पद पर रहते हुए भी निजी विकास की कोई व्यवस्था न कर सके । शास्त्रीजी की इससे बड़ी महानता और क्या हो सकती है ।

मितव्ययी शास्त्रीजी

राष्ट्रपण्डलीय प्रधानमन्त्रियों के सम्मेलन में भाग लेने के लिए प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री को लन्दन जाना था । उनके पास कोट दो ही थे । उनमें से एक में काफी बड़ा छेद हो गया था ।

शास्त्रीजी के निजी सचिव श्री वेंकटरमण ने नया कोट सिला लेने का आग्रह किया पर शास्त्रीजी ने इन्कार कर दिया । फिर भी वेंकटरमण खरीद लाये और दर्जी को बुलवा लिया जब कोट का नाप मिया जाने लगा तो शास्त्रीजी हँसकर बोले—“इस समय तो इसी पुराने कोट को पहनना लो । नहीं ठीक जमा तो दूसरा सिलवा लूँगा ।” जब कोट दर्जी के यहाँ से आया तो कोट की

परम्परा का पता तक नहीं चलता । तब शास्त्रीजी ने कहा : "जब कोट की परम्परा का पता हमें नहीं चल पा रहा है, तो सम्मेलन में भाग लेने वाले क्या पहचानेंगे ?"

और वे उसी काट को पारकर राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन में भाग लेने के लिये गये । ऐसी ही शास्त्रीजी की सधने ।

समय के पाबन्द

समय के पाबन्द और पड़ी की सूई के साथ चलने वाले स्वर्गीय लालबहादुर तिलक रेलमन्त्री थे । वे सदाशिव नगर में हो रहे एक सम्मेलन में जा रहे थे । वहाँ में एक गाँव पड़ता था । उस गाँव से जब वे गुजर रहे थे तो कुछ ग्रामीणों ने उनकी कार रोक ली ।

पूछा गया कि "क्या बात है ?" तो ग्रामीणों ने कहा "एक गरीब किसान की औरत की प्रगति का समय निकल है । कोई बाढ़न मिल नहीं रहा है और उसे बस के त्तर भिजवाना है यदि आप इस जगह में इसे ले जाने दें तो अच्छा है ।"

"नहीं यह गाड़ी एक सरकारी काम से सरदार नगर जा रही है-शास्त्रीजी के ही किसी मन्त्रालय के लिये ठहरा दिया" तो ग्रामीणों ने अनुरोध करते हुए कहा "तो उसे भी सरदार नगर ही ले जाना है ।"

बात की अपसूनी करते हुए सड़वाली अधिकारियों ने गाड़ी चलाने की आज्ञा लेकिन शास्त्रीजी मुख्य ही नहीं थे । वे ठहर पड़े और बोले-ले अपनी एक खिन्ना को अपने गाड़ी से मैं इसे समीपस्थ शहर पहुँचा दूँ ।

इस पर उनके साथी ने कहा श्रीमान देर होती जा रही है और आप अभी यहाँ खड़े हैं तो लोग चले भा ले सकते नहीं आधे ।

य आने दो पर सम्मेलन से ज्यादा महत्वपूर्ण है यह बहिन । हम एक जनसेवक कहलाते हुए भी ऐसे अनुकूल मौकों पर गुजर जायें तो इससे बड़ी भाग्य सम्पत्ति और क्या होगी-शास्त्रीजी ने कहा और उस स्त्री की सहायता पहुँचाकर ही गये ।

सहनशीलता की परीक्षा ही सही

शास्त्री जी के शाश्वत काम और वहाँ से फिर जीवित न लौटने के कुछ दिन पहले की बात है । शास्त्री जी भोजन करने बैठे । उनका मनपसन्द भोजन बना था-खिचड़ी और आलू का भर्ता । पर स्वयं कहीं से आने भोजन ही जो नहीं था इनमें ।

शास्त्रीजी बड़े घेब से उस अस्वच्छ भोजन को खाते रहे । बेहरे पर कोई अतिरिक्त देख तक नहीं उठती । जब ललिता जी ने भोजन करते समय खिचड़ी और भर्ता पकाने तो उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई । उन्होंने शास्त्रीजी से अपनी भूली की क्षमा माँगी तो वे हँसते हुए बोले-"भूल में ही सही हमारी सहनशीलता की परीक्षा तो हो गयी ।"

मैं जीव का पत्थर बनना चाहता हूँ

श्री लालबहादुर शास्त्री से एक बार उनके मित्र ने पूछा-"आप हमेशा प्रशंसा से दूर रह कर करते हैं, स्वागत-सत्कार के कार्यक्रमों को टाला करते हैं । आखिर क्यों ?"

शास्त्रीजी ने हँसकर बोले-"भाई, इसका कारण यह है कि एक बार लालबहादुर जी ने मुझसे कहा था-लालबहादुर, लालबहादुर बनने में दो प्रकार के पत्थरों का उपयोग हुआ है । एक तो बहुमूल्य संगमरमर जिसका उपयोग गुम्बज के लिए और वह-तब किया गया है । दूसरा एक साधारण पत्थर जिसका लालबहादुर की जीव में उपयोग किया गया है और जिसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता । हमें जीवन में इन दूसरे प्रकार के पत्थर का ही अनुकरण करना चाहिए । अपनी इच्छा इरादा और अहंकार-कायरता से हमेशा दूर रहना चाहिए । बस ! अपनी यह सीख मेरे मन में बैठ गयी है और मैं इस जीव के पत्थर का ही अपने जीवन में अनुकरण करता रहता हूँ ।"

व्यवहार कुशलता

लालबहादुर शास्त्री जब कैदी बन गये तो तब उनकी कोठी ऐसी थी जिसके दो दरवाजे थे एक जनपथ रोड की ओर जो दूसरा अजयन रोड की ओर ।

एक दिन सिर पर सड़क की बोझ रहे कुछ मजदूर सिर्फ़ इस अवधि और कमर से बचने के लिये शास्त्रीजी के कोठे से गुजर गये ।

उन्हें देखा तो चौकीदार विगड़ खड़ा हुआ । वह उन्हें धापते लौटाने लगा तो शास्त्रीजी रुक गये । स्थिति समझते देर न लगी । चौकीदार को मान्य करते हुए उन्होंने कहा-"देखो इनके सिर पर कितना बोझ है यदि उन्हें यहाँ से निकल जाने में कोई सहता होती है तो हम उन्हें क्यों रोकते हो ?"

भारतीय जीवन दर्शन के साधक-

डॉ० सम्पूर्णानन्द

डॉ० सम्पूर्णानन्द उन दिनों मुख्यमन्त्री थे । एक दिन प्रांतीय विधान सभा के विधायक सब एक ठपकड़ी उनके पास पहुँचे और अपने क्षेत्र की स्थानीय समस्याओं के सम्बन्ध में चर्चा करने लगे । डॉ० साहब ने दोनों की बातें विस्तारपूर्वक सुनीं और जान लिया कि वे लोग जो कुछ कह रहे हैं वह संकुचित स्वार्थ की भावना के प्रेरित होकर ही कह रहे हैं । उन्होंने दूरदर्श निर्माण लिखा और आपस में सम्मेलनों को उससे अवगत करा दिया । परन्तु विधायक और यही पक्षोद्देश को इतने मात्र से संतोष नहीं हुआ उन्होंने अपनी बात को फिर से दोहराया ।

डॉ० साहब हँ-हँ करते रहे । इतने पर भी वे लोग उनका इतरा नहीं समझे तो बात में यही हुई पुस्तक

४.६२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

ठठाकर पढ़ने लगे। पास में ही बैठे एक सज्जन ने उन दोनों व्यक्तियों को सम्झना कि डॉ० साहब ने अपना निर्णय दे दिया है। फिर भी वे अपनी बात करते रहे। डॉ० साहब ने खींचते हुए कहा—आप चार-चार कह रहे हैं परन्तु मैं इससे अपनी राय में परिवर्तन छोड़े ही कर लूँगा।”

क्षेत्रीय और संकीर्ण हितों को पूरा करवाने के लिए डॉ० साहब के सम्बन्धों का उपयोग करने पर उन्हें जितनी चिड़ होती थी उतनी तात्पद ही अन्य प्रकार के व्यक्तियों से होती होगी। डॉ० साहब ऐसी ही चरित्रिक विशेषताओं के स्वामी थे। राजनीति, साहित्य और धर्मदर्शन के क्षेत्र में अपनी योग्यता, निष्ठा और तप के बल पर उन्होंने आश्चर्यजनक प्रगति की, उन्हें सफल ने पर्वत सम्मान और प्रतिष्ठा भी प्रदान की परन्तु इन सब उपलब्धियों के बीच भी वे जल में कमल के समान निर्मित ही रहे। उन्होंने अपने पद और सम्मान का उपयोग कभी भी व्यक्तिगत सुखों के लिए नहीं किया।

किसी भी प्रतिष्ठित पद पर पहुँचने के बाद सामान्य व्यक्ति प्रायः अपने सुख-साधनों की अभिवृद्धि में ही लग जाते हैं परन्तु डॉ० साहब इस अवस्था से सर्वथा परे थे। उन्होंने कभी कुछ नहीं लिखा और न ही सम्पत्ति संचयन की और ध्यान दिया। मुख्यमंत्री पद से त्याग पत्र देने के समय उनके पास अपना निजी मकान तक नहीं था। इतने अलिप्त और अपरिग्रही महामानव बिरले ही मिलते हैं।

डॉक्टर साहब का जन्म काशी के एक सम्पन्न परिवार में हुआ। उनका परिवार अच्छी स्थिति में था इसलिए उनकी शिक्षा के प्रति आरम्भ से ही ध्यान दिया गया और उससे भी अधिक ध्यान दिया गया उनके चरित्र निर्माण की ओर। मातृवीय संस्कारों के धारण और अभिवर्द्धन के प्रति उन्हें आरम्भ से ही प्रेरित किया जाता रहा है। इसी कारण उन्होंने सैद्धांतिक धरातल पर अपने व्यक्तित्व का इस प्रकार गठन किया कि लोगों ने उन्हें कर्मयोग संयासी कहकर पुकारना शुरू कर दिया। वास्तव में वे इस सम्बोधन के सर्वथा योग्य थे भी।

प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० और एल० टी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं।

उच्च प्रतिष्ठित घराने से सम्बन्धित होने के कारण उन्हें अच्छी संस्थाओं में सेवा का निमन्त्रण मिला। परन्तु उन्होंने शिक्षा जगत को ही अपना कर्मक्षेत्र चुना। महाराजा महेन्द्र प्रताप द्वारा संस्थापित प्रेम महाविद्यालय में वे शिक्षक के पद पर नियुक्त हुए और अध्यापक के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया।

अध्यापन कार्य का चयन करते समय उनकी बड़ी चारण थी कि वे ऐसी नयी पीढ़ी का निर्माण करने के लिए प्रयत्न करें जो विशुद्ध रूप से भारतीय हो। उस समय देश गुलाब का, वहाँ के युवक भी दासता और पारस्व्य

सम्बन्ध से प्रभावित होकर भारतीय परम्परा और संस्कृति को भूलते जा रहे थे। ऐसे समय संस्कृति पर छाये संकट के बादलों को दूर करने के लिए उनका भाव प्रेरित निश्चय, संकल्प उनके भारतीय संस्कृति के अनन्व अनुराग का परिचायक ही है। भारतीय जीवन के प्रति अटूट विश्वास ही उनके जीवन का प्रधान बिन्दु है। शिक्षा के माध्यम से ही नहीं साहित्य के माध्यम से भी उन्होंने भारतीय संस्कृति की पुनर्प्रतिष्ठा का कार्य किया।

अपनी आस्था को व्यक्त करते हुए डॉ० साहब ने एक स्तब्ध पर लिखा है—“सम्बन्ध और संस्कृति का उदय सबसे पहले आर्यों में ही हुआ और प्राचीनकाल में तपस्वियों, ऋषियों और मुनियों ने ही सर्वप्रथम मानव जाति को आर्यजन का मार्ग दिखाया।”

अध्यापन का व्यवसाय चुनकर के युवा पीढ़ी में भारतीय परम्पराओं और मान्यताओं के प्रति जिज्ञा पैदा करना चाहते थे। बाद में भी उनके जीवन की समस्त गतिविधियाँ इसी बिन्दु के हृद-गिर्द घूमती रहीं और वे उदार मानवीय सम्बन्ध का प्रचार करते रहे।

प्रेम महाविद्यालय के बाद उन्होंने १९१५ से १९१८ तक इन्दौर के राजकुमार कॉलेज में तथा उसके बाद हुँगर कॉलेज, बीकानेर में अध्यापन किया। बाद में वे स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े और कई बार जेल यात्राएँ भी कीं। जेलों में ही उनका साहित्यकार जाग्र और उन्होंने कलम उठाई। इसके पूर्व वे कविताएँ भी लिख करते थे परन्तु साहित्य में उन्होंने पूर्णतया प्रवेश तो राजनीतिक जीवन आरम्भ करने के बाद ही किया। अध्यापनशील स्वभाव ने उन्हें विशेष साहित्यिक प्रतिभा प्रदान की और इस प्रतिभा का उपयोग भी उन्होंने भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान में किया। “दर्शन और जीवन” चिन्तन, आर्यों का आदि देश, गणेश, हिन्दू विवाह में कन्यादान—आदि कई ग्रन्थ उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की अनुपम कृतिर्पा हैं।

पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उन्होंने बड़ी सफलताएँ प्राप्त कीं। लगभग सदैव तक वे ‘आज’ दैनिक और ‘जागरण’ तथा ‘मर्कट’ मासिक के सम्पादक रहे। प्यों-प्यों उनकी प्रतिभा विकसित होती गयी त्यों-त्यों वे एक एकाकी बनते चले गये। अग्ररम्भ में उनकी पत्नी स्वर्गवासी हुई बाद में उनकी एक पुत्री तथा पुत्र भी चल बसे। परन्तु डॉक्टर साहब ने इन अधिदैविक विपत्तियों को धैर्यपूर्वक सहन किया। यह जानकर कि परमात्मा इन्हें भी किसी न किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए भेज रहा है और वे इस विश्वास के बल पर निरुत्तर बने रहे। सब है ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास व्यक्त को कठिनाइयों तथा विपत्तियों की घड़ियों में भी वह धैर्य प्रदान करता है, जिसके बल पर वह प्रतिकूल परिस्थितियों को भी आसानी से सह लेता है।

अपने व्यक्तित्व की इसी विशेषता के बल पर उन्होंने भारतीय संस्कृति के महासागर में से मणिमुक्ता चुन चुन कर निकाले। कोई भी सक्षम निर्धारित करने वाले मनुष्य को अनिवार्य रूप से परिश्रमशील तथा सादगी पसन्द होना

पड़ता है चूँकि डा० साहब के सामने भी एक लक्ष्य था भारत का सांस्कृतिक पुनरुत्थान इसलिए उन्होंने भी इन शर्तों को निष्ठा और उत्साहपूर्वक पूरा किया। वे प्रातः चार बजे उठ जाया करते और रात्रि के बारह बजे तक व्यस्त रहते। समय की पाबन्दी और अशिथिल व्यस्तता उनकी दिनचर्या की अपरिहार्य विशेषतायें रही हैं।

दूसरी अनिवार्य शर्त के अनुरूप उन्होंने सद्गुणी का भी चरण किया। समय पर जो मिल गया था लिया और साधारण से साधारण कपड़ा भी पहन लिया। यद्यपि उन्हें किन्हीं भी वस्तुओं का अभाव नहीं था फिर भी उन्होंने सादा और सरल जीवन जिया क्योंकि बाहरी रखरखाव, फैशन, भुंगार में हो समय व्यतीत कर देने वाला व्यक्ति अपने निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल कहीं हो पाते हैं।

राजनीति में भी उन्होंने इस लक्ष्य की प्रति के लिए प्रवेश किया और प्रशासन के कई महत्वपूर्ण पदों पर रहते हुए देश की सेवा की। सन् १९३८ में वे उत्तरप्रदेश मंत्रिमंडल के शिक्षामंत्री बने। बाद में स्वतन्त्र भारत की उत्तर प्रदेश सरकार के मुख्यमंत्री भी रहे। इन उत्तरदायित्व पूर्ण पदों पर रहते हुए भी अपने दल के ही लोगों से भारतीय संस्कृति को आघात पहुँचाने वाली नीतियों से कभी समझौता नहीं किया। पिछले दिनों हिन्दी के प्रश्न पर उनके मतभेद ने ही उन्हें सर्वाधिक विवादस्पद व्यक्ति बना दिया था।

भारतीय संस्कृति के अन्य खेपक होते हुए भी उन्होंने उन परम्पराओं का कभी समर्थन नहीं किया जिन्होंने देश और समाज को अपार हानि पहुँचाई थी तथा जिनका आधार केवल अन्धविश्वास मात्र था। ब्राह्मण और जातिवाद के खिलाफ उन्होंने कलम उठाई और जो तर्कपूर्ण विचार दिये उससे ब्राह्मण संपाद में खलबली पैदा हो गयी। ब्राह्मणत्व का अन्धक जन्म और वर्ण नहीं कर्म और स्वभाव मानते हुए उन्होंने 'ब्राह्मण सावधान' पुस्तक में लिखा-जन्म अयोग्य ब्राह्मण ही मुँह ब्राह्मणत्व के आह्वान को गलत ढंग से आत्मनिन्दा समझने की नूर्खता करता है। यह कट्टरबन्धी ब्राह्मणों का ही प्रसाद था कि तुलसी को काशी के बाहर रहना पड़ा। दयानन्द को दम्भी पण्डितों और कठमुल्लाओं की यह नगरी छोड़नी पड़ी।" इस कथन की बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई परन्तु उन्होंने बड़ी निडरता के साथ अपना मत प्रतिपादित किया। उनकी दृष्टि में संस्कृति और वर्ण के क्षेत्र में स्वार्थी तथा संकुचित मनोवृत्ति के लोगों द्वारा हस्तक्षेप के कारण उत्पन्न हुई इन प्रवृत्तियों को दूर करना आवश्यक हो गया था।

अन्धविश्वास के विरोध और स्वस्थ परम्पराओं का समर्थन उन्होंने अपनी स्वयं की विवेक बुद्धि के आधार पर ही किया। यही कारण है कि उन्हें राजन्यायक, साहित्यकार, सामाजिक कार्यकर्ता और शिक्षा शस्त्री की अपेक्षा एक दार्शनिक के आधार पर अधिक प्रतिष्ठा मिली

है। तार्किकता की प्रधानता उनके दर्शन को सर्वथा एक नया रंग दे गयी है। उन्होंने संसार की विभिन्न विचार धाराओं का अध्ययन किया और न्याय तथा व्यवस्था की स्थापना के लिए समाजवाद को सर्वाधिक समर्थ पाया। परन्तु समाजवाद की आत्मा में भी उन्होंने भारतीय अभ्यास के दर्शन हुए और उसकी उद्भवस्थली भारतभूमि ही दिखाई दी। समाजवाद की जो व्याख्या उन्होंने की है वह कोई विदेशी आयातित सिद्धान्त नहीं वरन् विशुद्ध भारतीय चिंतनधारा है। इसी कारण एक बार महात्मा गाँधी ने स्वयं उनसे कहा था "ऐसा लगता है कि समाजवादी होते हुए भी तुम वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते हो।"

डॉक्टर साहब ने स्वीकार करते हुए भारतीय समाजवाद को ही यहाँ की भूमि और समाज के अनुकूल

उनके जीवन की और भी सबसे बड़ी विशेषता है स्वानुभूतियों पर विश्वास। भारतीय संस्कृति के प्रति उन्होंने केवल विश्वास ही नहीं किया वरन् उनकी सत्यता को परख भी सही। योग और तन्त्र जैसी साधना पद्धतियों में वे बहुत गहराई तक उतरे और उसके बाद प्राप्त निष्कर्षों को उन्होंने सर्वसाधारण के सामने रखा। स्वयं उन्होंने यह स्वीकार करते हुए लिखा है-"मैंने योग और ज्ञान पर स्वानुभूति के प्रकाश में ही लिखा है इसलिए वह सब मेरे दृढ़ विश्वास की अभिव्यक्ति ही है।" उनके परिवार में कई खेपी महत्वा आया करते थे, वे स्वयं भी अनेकों बार संत पुरुषों के पास गये और इस विषय में उनका परामर्श प्राप्त किया।

भारतीय जीवन के समग्र साधक होने के नाते ही वे स्वतन्त्रता-सैनिक, मुख्यमंत्री, राज्यपाल, अध्यापक, वेदशास्त्र, यज्ञज्ञ, योगाभ्यासी, समाज-सुधारक, साहित्यकार, हिन्दी के प्रबल प्रचारक आदि अनेक रूपों में सामने आये। उनका जीवन बौद्धिक अनुशासन के अर्गणित संघर्षों की कहानी है। जिस बात को अच्छी और चरणीय समझ लिया उसे अंत तक पूरी करने का प्रयास उन्होंने आजोवन किया। हिन्दी का प्रश्न हो या समाजवाद का, विश्वास और अंधविश्वास, परम्परायें और अन्ध-परम्परायें सभी के निर्धारण में उन्होंने विवेक और नीर-सीर विषयक बुद्धि के जल पर अनुशासित और नियमबद्ध ढंग से अपना पक्ष सामने रखा तथा स्खल विरोध सहने के बावजूद भी मौनित्व के समर्थन से पीछे नहीं हटा।

सम्राज के हर क्षेत्र में सक्रिय होने के बावजूद भी वे आत्म-प्रसंगा से कोसों दूर रहे। अपने आरम्भिक कर्म-क्षेत्र के प्रति उनकी अनुरक्ति किंचित भी कम नहीं हुई। काशी विद्यापीठ से उनका शुरू से ही सम्बन्ध रहा। वह सम्बन्ध उनके शिक्षा प्रेम का ही प्रमाण है। सरस्वती के इस वरद पुत्र का देहान्त ९ जनवरी, १९६९ को हुआ।

कर्मयोग के उपदेष्टा—

लोकमान्य तिलक

इनीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में भारत वर्ष में प्लेग की संक्रामक वृद्धि का प्रकोप बढ़ी तीव्रता से दिखाई दिया था। यह बीमारी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को इस प्रकार उड़कर लगती थी कि बड़े-बड़े साहसी इसके नाश से काँपते थे। कलकत्ता जैसे सबसे बड़ा नगर इसके आतंक से कुछ समय के लिए रुकड़ हो गया था और उसकी रक्षा के लिए सैन्य की सहायता लेनी पड़ी थी। इसी व्याधि का आक्रमण जब पूना शहर पर हुआ तो वहाँ की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। इसकी व्यवस्था के लिए जो गौरे अफसर और सिपाही वहाँ नियुक्त किये गये थे उनका व्यवहार जनता के साथ कठोर और अपमानपूर्ण था, जिससे प्लेग के साथ-थे सरकारी कर्मचारी जनता को और भी बड़ी बीमारी की तरह जान पड़ने लगे। यह असन्तोष का भाव इतना अधिक फैल गया कि दो युवकों ने 'रेण्ड' नामक अंग्रेज अफसर को पिस्तौल से मार दिया।

इस घटना से अंग्रेज अधिकारी क्रुद्ध हो उठे और चारों ओर दमन की धूम मचा दी। जिससे जनता चबरा उठी। सरकार की इस नीति का विरोध किया तिलक ने साथ ही दमन करने वाले अधिकारियों को दोषी ठहराया। उस पर सरकार ने तिलक को मानहानि का दोषी बतलाकर गिरफ्तार कर लिया और मनचाही कार्यवाही करके १८ महीनों की कड़ी कैद की सजा सुना दी। जेल में उन्हें अनेक प्रकार की यातनायें दी गयीं, उनसे सब प्रकार का कार्य कराया गया और खाने को खराब भोजन दिया गया। जिससे उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर हुआ परिणामतः वे बीमार हो गये। यह समाचार जब प्रकाशित हुआ तो भारत ही नहीं इंग्लैण्ड में भी उसका विरोध किया गया और मैक्समूलर, सर विलियम हंटर, विलियम केन, दादा भाई नौरोजी जैसे प्रसिद्ध व्यक्तियों ने इंग्लैण्ड की सरकार से कहा कि तिलक के सम्मान विद्वान व्यक्ति के साथ इस प्रकार का दुर्व्यवहार किया जाना कलंक की बात होगी। इन सब प्रभावशाली सज्जनों के प्रयास से अन्त में तिलक को एक वर्ष बाद छोड़ दिया गया।

श्री बालगंगाधर तिलक (सन् १८५६-१९२०) ने प्रारम्भ से ही जनता की सेवा का व्रत ले रखा था। सन् १८७९ में बी० ए० तथा एल०-एल० बी० की परीक्षा पास कर लेने पर घर वाले तथा इष्ट मित्र यह आशा सँजोए बैठे थे कि वे अब कालात्त में खूब पैसा कमाएँगे और वंश के गौरव तथा वैभव की वृद्धि करेंगे। किन्तु तिलक कुछ और ही करना चाहते थे। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सेवायें एक शिक्षा संस्थान के निर्माण के लिए अर्पित कर दीं। इसके परिणामस्वरूप सन् १८८० में 'न्यू इंग्लिश स्कूल' और

उसके चार पाँच वर्ष बाद 'फार्वुसन कॉलेज' की स्थापना की गई। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि महाराष्ट्र में जो उल्लेखनीय जन-जाग्रति और सामाजिक उत्थान की योजनाएँ हुईं उनका श्रेय मुख्यतः इन दो शिक्षा संस्थाओं से पड़कर निकलने वाले विद्यार्थियों को ही है।

लोकमान्य तिलक ने जन-जाग्रति का कार्यक्रम पूरा करने के उद्देश्य से महाराष्ट्र में दो राष्ट्रीय त्यौहारों का प्रचलन किया। इनमें से एक था 'गणपति उत्सव' और दूसरा था 'शिवाजी जयन्ती' गणपति की मान्यता महाराष्ट्र में प्राचीनकाल से है और उस त्यौहार को पुराने ढंग से बराबर मनाया जाता था। तिलक जी ने बंगाल की दुर्गपूजा की तरह उसे एक सप्ताह तक पूजने और साथ में तरह-तरह के राष्ट्रीय तथा सामाजिक महत्त्व के कार्यक्रम सम्मिलित कर उसे लोकशिक्षण का माध्यम बना दिया। तिलकजी महाराष्ट्र का उदाहरण तो राष्ट्रीयता की दृष्टि से अनुपम हैं ही। उन्होंने विदेशियों के आक्रमण से स्वधर्म और स्वदेश की रक्षा के लिए ही आजीवन कार्य किया। इन उत्सवों के कारण दो-तीन वर्षों में ही ऐसी जन-जाग्रति हुई कि सरकार उससे डरने लग गई और उसने ऐसी चाल चली कि पूना और बम्बई में धरंकर हिन्दू-मुस्लिम दंगे प्रारम्भ हो गए। सरकार ने इसका दोषारोपण 'शिवाजी जयन्ती' पर किया कि उसी के कारण मुसलमान रुह हो गए और हिन्दुओं से लड़ बैठे। पर तिलक जी उनकी इस प्रकार की चाल से विचलित नहीं हुए। बल्कि निर्भीक होकर उन्होंने अपने पत्र 'केसरी' साप्ताहिक में लिखा—

“मैं समझता हूँ कि इन झगड़ों का कारण सरकार ही है। उसकी पक्षपातपूर्ण नीति के कारण दंगों की शुरुआत होती है। देश में इस समय हिन्दू-मुस्लिम द्वेष के बीज बोये जा रहे हैं। लार्ड डफरिन की भेद नीति ही इन दंगों का मूल है।”

ये राष्ट्रीयता का महत्त्व समझते थे और ऐसी सामयिक घटनाओं तथा दस-बीस व्यक्तियों के मारे जाने से चबरा कर पीछे कटम रखने वालों में से नहीं थे। यद्यपि बम्बई में मुस्लिम-गुण्डों द्वारा हिन्दुओं की अधिक हानि हुई थी तो भी तिलक जी ने अपने अनुयायियों को ऐसी बातों से आतंकित न होने का उपदेश दिया, उन्हें डॉकिस बाँधाया—“यदि मुसलमान पशुता एवं अपमानजनिक कृत्यों पर तुल्य पड़े हैं तो तुम्हें भी तत्काल रक्तपात और अनुचित उपायों का आश्रय नही करना चाहिए। संगठन में शक्ति निहित होती है। संगठन द्वारा अपने को अधिकाधिक सद्बुद्ध बनाने का प्रयास करो। जब तुम शक्तिशाली हो जाओगे तो दंगे होने ही नहीं।”

लोकमान्य तिलक का यह कथन समय आने पर सत्य सिद्ध हुआ। सरकार की भेदनीति ने जब मुस्लिम लोगों को महत्त्व देकर हिन्दू-मुसलमानों के पृथक् प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त स्वीकार किया तो सन् १९२० के बाद देश में साम्प्रदायिक दंगे धरंकर रूप से बढ़क उठे थे। उनमें प्रारम्भ में तो हिन्दुओं की हानि उभरनी पड़ी, पर एक दो

बार में जब वे ऐसी घटनाओं के लिए संगठित होकर गुण्डों का मुकाबला करने लगे तो उपद्रवियों का उत्साह टूट गया और फिर दंगे स्वयमेव ही कम होते चले गये।

इस प्रकार सरकार से तिलक जी का संघर्ष बढ़ता ही गया। वे सामाजिक तथा राष्ट्रीय प्रगति के लिए जनता को तरह-तरह से प्रेरणा देते थे और विदेशी सरकार को इसमें अपनी चढ़ कटती जान पड़ती थी। इसलिए सन् १९०७-०८ में तिलक जी ने कांग्रेस को सरकार के मुकाबले में क्रान्तिकारी कार्यक्रम अपनाने की प्रेरणा दी तो सरकार चौखला गई और उसने उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाकर छह वर्ष के देश निकाले का दण्ड दे दिया। इसका स्पष्ट आशय यही था कि जब तक वे भारतीय जनता के निकट रहेंगे तब तक उनका व्यक्तित्व सर्वसाधारण को प्रभावित करता ही रहेगा। इसलिए उनको बर्मा की मौड़ले जेल में रखा गया, जहाँ वे कोई उनकी भाषा समझने वाला था और न उनसे किसी प्रकार परिचित। सरकार के उद्देश्य को समझकर लोकमान्य ने भी अपना ध्यान सब तरफ से हटाकर 'गीता' का अध्ययन आरम्भ कर दिया और छ वर्ष में उसका एक प्रेरणाप्रद भाष्य तैयार किया और जिससे भारतीय जनता स्वयं ही कर्तव्य पालन की प्रेरणा प्राप्त करती रह सकती थी।

'श्री भागवद्गीता' सत् सिद्धान्तों की कैसी अपूर्व खान है, इसको विद्वान लोग भली प्रकार जानते हैं। कहने को तो वह सात सौ श्लोकों की एक छोटी-सी धार्मिक पुस्तक है, जिसका लाखों व्यक्ति हर रोज पाठ भी कर लेते हैं पर उनमें मानव कर्तव्यों का इस सूची से निरूपण किया गया है कि प्रत्येक देश, काल, परिस्थिति में लोगों का सही मार्ग दर्शन कर सकती है। यही कारण था कि सन् १९०५ से आरम्भ होने वाले स्वाधीनता आन्दोलन में भी विद्वानों ने उसका सहारा लिया और अरविन्द, तिलक, गाँधी, विनोबा आदि जैसे महान विचारकों ने उसके सिद्धान्तों की समयानुकूल व्याख्या करके भारतीय जनता को अपने न्यायपूर्ण अधिकारों के संघर्ष में निर्भय बना दिया। लोकमान्य का गीता रहस्य उनके जेल से छुटकारे के बाद जब प्रकाशित हुआ तो उसका प्रचार आँधी तूफान की तरह बढ़ा और आज कई वर्ष हो जाने पर भी उसके महत्व में कमी नहीं हुई है।

लोकमान्य तिलक यद्यपि कट्टर धार्मिक हिन्दू थे और राजनीति की तरह धर्म की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहते थे, पर वे हानिकारक रुढ़ियों के समर्थक न थे। लोकमान्य के जीवन में धार्मिकता, सामाजिकता और राजनीति का इस प्रकार समन्वय हुआ था कि वर्तमान युग में वह भारतीय जनता के लिए सबसे बड़ा आदर्श थे।

महान उद्देश्य के लिए पत्नियाँ भी आत्मोत्सर्ग करें

“मैं आ गया हूँ।”

“आप आ गये”—विस्तर पर रुग्णावस्था में पड़ी सत्यभामा ने आँखों को खोलने का असफल प्रयास करते हुए कहा।

हाँ सत्यभामा! तुमसे मिलने के लिए सरकार ने मुझे बिना शर्त रिहा कर दिया। आँख खोलकर जरा इधर तो देखो—सत्यभामा के प्रति पति ने कहा।

“ठीक ही हुआ कि आप आ गये। मन में आपके दर्शन की बड़ी इच्छा थी। भगवान बहुत दयालु हैं उसने मेरी पुकार सुन ली।”

“अच्छा! सत्यभामा तुमने मुझे पहचान लिया है।”

“हाँ पहचानूँगी क्यों नहीं”—अचेतावस्था में भी अपने पति की आवाज को पहचान लेने की स्वीकारोक्ति में कहा—“मैंने आपकी आवाज़ पहचान ली है। मेरे माँ पर आपने यह जो अपना हाथ रखा है वह भी पहचाना, सब कुछ पहचाना है। कितने कमजोर हो गये आप। वाज़ के कारण आपके पाँव थक गये होंगे, उन्हें मेरी ओर इधर कर दीजिए ताकि मैं आपको चरण सेवा कर सकूँ।”

“नहीं सत्यभामा नहीं”—सत्यभामा के पति ने कहा—“इसकी कोई जरूरत नहीं। मैं बिल्कुल ठीक हूँ अब तुम भी जल्दी ठीक हो जाओ।”

“क्यों नहीं अब आप आ गये हैं तो मैं अवश्य ठीक हो जाऊँगी”—सत्यभामा ने कहा और अपने पुत्रियों को पुकारने लगी।

“क्यों क्या चाहिए तुम्हें? मुझे बताओ।”

“मुझे क्या चाहिए। मुझे अब और कुछ नहीं चाहिए। आपसे छोटकर और क्या चाहूँगी। आपको हम सबसे अधिक आज़ादी प्रिय है यह और अधिक सुखद स्थिति चाहिए।”

यह सब करते सत्यभामा बाई स्वयं में कर रही थी। राग शैल्य पर पड़ी हुई अपनी अन्तिम धड़ियों में देश निर्वासित पति लोकमान्य तिलक को अपने सन्निकट देखकर।

सन् १९०८ में लोकमान्य तिलक को छह वर्ष के लिये देश निर्वासन की सजा दी गयी थी। उन दिनों उनकी घर्मवन्ती मधुमेह की बीमारी से चिन्ताजनक स्थिति में थी दूसरी ओर लोकमान्य पाण्डले की जेल में देश निर्वासन की भयानक सजा काट रहे थे। यह उनकी तीसरी जेल यात्रा थी। पत्नी अश्वस्थ-दाम्पत्य जीवन में दोनों की अगाध निष्ठा और प्रगाढ़ प्रेम फिर भी प्रेम अपने लक्ष्य पूर्ति के कार्य में बाधक नहीं बनता।

पुरुष का मनोबल ऊँचा उठा रहे इसका अधिकांश श्रेय पत्नियों को ही दिया जाना चाहिए और वस्तुतः वे अपने आत्मिक एवं दत्तक प्रेम के माध्यम से अपने पति में प्रेरणा, उत्साह और साहस भरती रहती हैं। दम्पत्य की सार्थकता यही है।

तिलक ने स्वातन्त्र्य संघर्ष में जो अपराधव्य साहस और दृढ़ता बनाये रखी उसकी प्रेरणा उनकी धर्मपत्नी सत्यभामा से ही मिली। जिन्होंने अस्वस्थ होते हुए भी तिलक से सदैव यही कहा कि-आध लोकात्म्य है। जनता आपको अपना नेता मानती है इसलिए आपकी अणुपात्र निर्मलता भी सर्वसाधारण पर पहाड़ बनकर गिरेगी जिससे राष्ट्र का आत्मसम्मान कुचल जायगा।

तिलक की गिरफ्तारी से देश का वातावरण बहुत प्रक्षुब्ध हो उठा था। यह अपने ढंग का एक ऐसा राजनीतिक अभियोग था जिसमें पहली बार किसी जनप्रिय, देशभक्त और सामान्य नेता को गिरफ्तार किया गया हो। जब उनकी देश निर्वासन की सजा सुनायी गयी तो उनके अनुयायियों तथा मित्रों के साथ ही उनकी पत्नी सत्यभामा बाई को भी बड़ा दुःख हुआ। परन्तु सत्यभामा ने जो उद्गार व्यक्त किये वे इस बात का द्योतक हैं कि अपने पति के लक्ष्य के प्रति ईमानदारी से वे किसनी संतुष्ट थीं। उन्होंने कहा-“धुरी के निर्जय से क्या होता है। ईश्वर की सत्ता न्यायालय से भी ऊँची शक्ति है। उसकी इच्छा है कि जिस लक्ष्य के लिए वे प्रयत्नशील हैं। उनकी पूर्ति में उनकी स्वतन्त्र रहने की अपेक्षा उनका बड़ सहज व्यापक सहायक है।”

श्रीमती सत्यभामा ५१ वर्ष जीवित रहीं और तिलक की जीवनसंगिनी के रूप में ४१ वर्ष तक उनका साथ रहा। जिसमें तिलक अधिकांशतः स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान बाहर जेल में रहे। प्रत्यक्षतः दम्पति साथ भले ही न रहे ही परन्तु जिस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तिलक आतुर थे उनकी पत्नी भी प्राणपण से उनकी सभी-सहयोगी बनी रही।

सत्यभामा का विवाह दस वर्ष की अल्पावु में ही सोलह वर्षीय बाल गंगाधर के साथ हो गया। तत्कालीन दहेज प्रथा के अनुसार तिलक से जब पूछा गया कि-दहेज में तुम्हें क्या चाहिए।?

तिलक ने तब रुपये और बस्त्राभूषणों के स्थान पर पढ़ने योग्य पुस्तकें माँगीं। अबोध बालिका के मन पर इसका परोक्ष प्रभाव पड़ा और वे सोचती रहीं कि पति के रूप में उन्हें एक देव पुरुष मिला है। आगे चलकर उनके जीवन में इसी घटना का परिणाम परिलक्षित होता है। वे जब सत्रह अठारह वर्ष की रही होंगी। तभी तिलक ने बी० ए० पास करने के बाद एल-एल० बी० की परीक्षा पास कर ली थी। इस सफलता पर उनके चाचा प्रसन्न ही

नहीं हुए अपने भतीजे के भावी सुखमय पारिवारिक जीवन के बारे में भी बहुत कुछ सोचने लगे।

वे सोचते कम मेरा भतीजा बाल गंगाधर वकील या उच्च अधिकारी बनकर पर्याप्त धन और मान अर्जित करेगा। परन्तु तिलक तो बहुत पहले ही अपना जीवन राष्ट्रीय आन्दोलन को समर्पित करने का संकल्प ले चुके थे। इस संकल्प के अनुरूप तिलक के साथ-साथ सत्यभामा ने भी अपने व्यक्तित्व को दाल लिया था। उसी समय की एक घटना है। जिस दिन बाल गंगाधर को एल-एल० बी० परीक्षा का परिणाम घोषित हुआ उनके चाचा का आनन्द बहुगुणित विस्तार पा उठा। उन्होंने अपने भतीजे को पत्नी को एक कीमती साड़ी खरीद कर दी। सत्यभामा ने कहा ‘इतनी कीमती साड़ी पहनना इस दरिद्र देश की स्त्री को, कम से कम मुझे तो शोभा नहीं देता।’ इस पर तिलक के चाचा और बधाई देने के लिए आई महिलाओं ने कहा-अब तो तुम्हारे पति बहुत बड़े वकील होंगे। सरकार में उनकी बड़ी इज्जत होगी तब फिर उनके साथ-साथ तुम भी सम्मान प्राप्त करोगी। उसी सम्मान के लिये यह साड़ी लायी गयी है।

तिलक भी वहीं उपस्थित थे। तत्काल उन्होंने वो दृढ़ जवाब दिया-“सरकारी नौकर बनकर गुलामों और ‘जी हुजूरों’ को संख्या बढ़ाने के लिये मैंने ऊँची शिक्षा नहीं ली है। बल्कि मैं अपनी शिक्षा द्वारा देशवासियों में स्वातन्त्र्य भावना और राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न कर स्वराज्य साही के लिए उन्हें प्रेरित करूँगा। इस निश्चय की पूर्ति के लिए समाज को शिक्षित करना पड़ेगा और इसी कारण मैंने शिक्षक बनने का फैसला किया है। ऐसी स्थिति में धन, मान तथा सम्मान की अभिलाषा करना व्यर्थ है। सत्यभामा को अभी से ही ऐसी कीमती साड़ी पहनने का मोह ढालना मेरे विचार से उचित ही है।”

लोकमान्य तिलक ने जैसा कहा वैसा ही किया और वे अत्यल्प बतन पर विपलूणकर द्वारा संस्थापित ‘न्यू इंग्लिश स्कूल’ में शिक्षक बन गए। १८८१ में साझेदारी से ‘केसरी’ का सम्पादन और प्रकाशन आरम्भ किया। आगे चलकर इस पत्र की सभी जिम्मेदारियाँ उन्होंने अपने ऊपर ले लीं। केसरी के सम्पादन और प्रकाशन के साथ-साथ उनका सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन व्यापक होता गया और ज्यों-ज्यों वे अपने इस अभियान में अधिक जुटते गये त्यों-त्यों पारिवारिक जीवन से दूर हटते गये। ऐसी स्थिति में सत्यभामा बाई ने स्वीड़ने और ऊब उठने की अपेक्षा बड़े धैर्य का परिचय दिया। उन्होंने अपना कर्तव्य समझकर उसे बड़ी दक्षता के साथ पूरा किया। वस्तुतः जनजागरण के लिए काम करने में निरन्तर लगे रहने का अवसर देने का अधिकांश श्रेय सत्यभामा बाई को ही है, घर की जिम्मेदारी से मुक्त

रहकर राष्ट्रकार्य करने की सुविधा श्रीमती सत्यभामा निरन्तर देती रहीं।

महान उद्देश्यों के प्रति संकल्पनिष्ठ और उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील महामानवों का दाम्पत्य भी महान और विलक्षण होता है तथा उनकी पत्नियाँ परोक्ष में रहते हुए भी महान होती हैं।

गौरी व्रत

एक बार किसी ने लोकमान्य तिलक से पूछा—“भारत में स्त्रियाँ अच्छा वर पाने के लिए गौरी व्रत करती हैं, लेकिन पुरुषों के लिए ऐसी व्यवस्था क्यों नहीं है?” उत्तर मिला—“भारत की स्त्रियाँ सही अच्छी हैं—कठिनार्द्ध केवल अच्छे पुरुष ढूँढ़ने की है। इसीलिए स्त्रियों को गौरी व्रत की सहायता लेनी पड़ती है। उपवास आदि विश्व भर में भारत की स्त्रियाँ ही सबसे ज्यादा करती हैं।

दृढ़ निश्चयी बालक

अध्यापक ने देखा कम गन्दा पड़ा था। छात्रों ने कुछ चीजें छाकर छिलके वहाँ फेंक दिये थे। उन्होंने सबको अपनी-अपनी सीटों की सफाई करने को कहा। सब लड़कों ने सफाई की पर एक लड़का यों ही बैठा रहा। अध्यापक ने उसे डाँटा—“तुम सफाई क्यों नहीं करते।”

“जब मैंने सौट गन्दी की ही नहीं तो साफ क्यों करूँ।” छात्र ने निर्भीकता से उत्तर दिया। अध्यापक ने उसे दोबारा कहा, सफाई करने के लिये। किन्तु वह अपनी बात पर अटल रहा। बात आगे बढ़ी। रित्त से शिकायत की गयी। अन्त में अध्यापक को पता चला कि यह छात्र अन्य छात्रों से भिन्न है। गलत काम और जोर-जबरदस्ती उसके साथ नहीं चल सकती। वह छात्र थे लोकमान्य तिलक।

दूसरों को अधिक अपनों को कम

“बेटा ले ये दो टुकड़े मिठाई के हैं। इनमें से वह बड़ा टुकड़ा तू स्वयं खा लेना और छोटा टुकड़ा अपने साथी को दे देना।” “अच्छा भाँ” और वह बालक दोनों टुकड़े लेकर बाहर आ गया अपने साथी के पास। साथी को मिठाई का बड़ा टुकड़ा देकर छोटा स्वयं खाने लगा। भाँ यह सब जंगले में से देखा रही थी, उसने आवाज देकर बालक को बुलाया। “क्यों रे। मैंने तुझसे बड़ा टुकड़ा खुद खाने और छोटा उस बच्चे को देने के लिए कहा था, किन्तु तूने छोटा स्वयं खाकर बड़ा उसे क्यों दिया?” वह बालक सहज बोली में बोला माताजी। दूसरों को अधिक देने और अपने लिए कम से कम लेने में मुझे अधिक आनन्द आता है।” यह बालक था बाल गंगाधर तिलक। माताजी सम्भीर हो गईं। वह

बहुत देर विचार करती रहीं बालक की इन उदार भावनाओं के सम्बन्ध में।

परिणाम से बेखबर

लोकमान्य तिलक को वह वर्ष के कारावास की सजा देने के लिए ले जाया जा रहा था। दूसरी ग्रेणी में एक वर्ष पर तिलक और उनके साथने साथ वाले दोनों सैनिक अधिकारी बैठे थे।

रात के नौ बजे। तिलक का सोने का समय हो गया। पगड़ी, अँगरखा और दुपट्टा उतार करके सोने की तैयारी करने लगे। पाँच मिनट में ही उन्हें गहरी नींद आ गयी।

सुबह पाँच बजे वे सोकर उठे। उतनी गहरी नींद लेते देखकर अधिकारियों को आश्चर्य हुआ। पूछा—“आप जानते हैं कि आपकी कहीं ले जाया जा रहा है और वहाँ क्या सजा दी जायगी। फिर भी इतनी निश्चिन्ततापूर्वक कैसे सो सके।”

तिलक ने कहा—“यह जानने की मुझे क्या आवश्यकता है। परिणाम को जानकर ही मैं इस क्षेत्र में आया हूँ। चिन्ता होती तो इस क्षेत्र में प्रविष्ट ही क्यों होता?”

सबसे बढ़कर पूजा

लोकमान्य तिलक काँग्रेस अधिवेशन में भाग लेने के लिये लखनऊ आये। लखनऊ काँग्रेस में कार्यक्रम अत्यन्त व्यस्त था, क्योंकि इसके दौरान विभिन्न पलों और गुटों में एकता स्थापित करने के लिये बातचीत हुई थी। अधिवेशन में एक दिन लोकमान्य बहुत लड़के से व्यस्त रहे और दोपहर तक एक बच्चे के लिये भी अवकाश न पा सके। बड़ी कठिनार्द्ध से उन्हें भोजन के लिए उठाया जा सका। भोजन के समय परोसने वाले स्वयंसेवक ने कहा—“महाराज। आज तो आपको बिना पूजा किये ही भोजन करना पड़ा।” लोकमान्य सम्भीर हो गये। बोले—“अभी तक जो हम कर रहे थे, क्या वह पूजा नहीं थी? क्या घन्टी-शंख बजाना और भन्दन घिसना ही पूजा है? समाज-सेवा से बढ़कर और कीन-सी पूजा हो सकती है?”

कर्तव्य-निष्ठा

पूजा में उन दिनों धर्यकर प्लेग फैला था। लोकमान्य तिलक का बड़ा पुत्र प्लेग से पीड़ित हो गया। पुत्र की दशा चिन्तनक होने के बावजूद तिलक ‘केसरी’ के अंक का अधूरा काम पूरा करने के लिए कार्यालय जाने की तैयार हो गये। किसी ने उन्हें टोका, “लड़का मौत से चूँ रहा है, अगर आज बाप कार्यालय न जाये तो क्या काम न चलेगा?”

४.६८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

गम्भीर एवं संयत स्वर में तिलक ने उत्तर दिया, “सारा महाराष्ट्र ‘केसरी’ की प्रतीक्षा में बैठा है, जब न जाकर क्या कैसे काम चलेगा ?”

रिश्त देने की अपेक्षा जातिच्युत होना भला

लोकमान्य तिलक विदेश जाना चाहते थे । उन दिनों समुद्र-यात्रा का पण्डिताऊ विषेध था । जो जाता जातिच्युत कर दिया जाता । बचाव का एक ही रास्ता था—काशी के पंडितों द्वारा किसी कारण से गैर छूट व्यवस्था ।

तिलक ने अच्छा समझा कि जातिच्युत के इंडस्ट में पढ़ने की अपेक्षा पंडितों से व्यवस्था लिखवा ली जाये । वे इसके लिए काशी गये भी ।

वहाँ उनसे इसके लिए पाँच हजार माँगे गये । तिलक यह कहते हुए लौट आये—“रिश्त देने की अपेक्षा तो जातिच्युत होना भला”

वे बिना व्यवस्था के ही विदेश चले गये ।

बाद की चिन्ता

लोकमान्य तिलक अपने भविष्य के विषय में कभी विचार नहीं करते थे । उन्होंने अपनी भरी जेबानी में पुनर् में न्यू इंग्लिश स्कूल नामक एक विद्यालय की स्थापना की थी । उसमें कार्य करते हुए वे बेलन के रूप में अपने निर्वाह के लिये केवल तीस रुपये लेते थे । एक दिन उनके एक मित्र ने कहा—“इतनी छोटी-सी राशि में से तो आप अपने देहावसान के बाद शरीर के दाढ़ संस्कार के लिये भी कुछ नहीं बचा सकेंगे ।” तिलक जी ने धीरे-गम्भीर स्वर में कहा—“इसकी चिन्ता समाज को होनी चाहिए । यदि लोगों को ठीक प्रतीत होगा तो वे देह की अग्नि संस्कार कर देंगे ।”

निष्ठरता की भूर्ति

सन् १९१६ की २३ जुलाई को लोकमान्य तिलक की ६० वीं वर्षगांठ थी । पुनर् में हीरक ज्यन्ती मन्ने की तैयारियाँ धूमधाम से की गई । लोग अपने प्रिय नेता का जन्म दिन मनाते के लिये हजारों की संख्या में एकत्र हुये ।

बड़े ही मधुर वातावरण में गीत, नाच, फणफण आदि चल रहे थे तभी स्टेज पर पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट दिखाई दिये । ब्रिटिश हुकूमत में एक पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट आज के एक आई० जी० से बढ़कर ताकत रखता था । उसे रंगमंच पर चढ़ते देखकर लोगों के होस नुन हो गये ।

किन्तु तिलक निरछल, शान्त और प्रसन्न मुद्रा में ही बैठे रहे । पुलिस कप्तान ने उनके हाथ में एक कागज दिया जिसमें सरकार के खिलाफ जादण देने पर उनसे चालीस

हजार के जमानत व मुचलके माँगे गये थे । न देने पर जेल भेजने की धमकी भी थी । कोई और होता तो घबड़ा आत्म पर कर्मयोगी तिलक ने कागज हाथ में लिया और जेल के हवाले कर दिया । थोड़ी ही देर में कार्यक्रम फिर यथावत् चलने लगा । ऐसा लग्न मानो उनके साथ कोई घटना ही न घटी हो ।

देश को महाशक्ति बनाने वाले—

माओ-त्से-तुंग

अब से पचास-साठ वर्ष पूर्व विश्व के नक्शे पर चीन का नाम जरा भी नहीं था । कहीं कभी चर्चा भी चलती इस देश की तो लोग यह कहकर तुरन्त चर्चा रोक देते कि वह तो अफीमबिचों और आलसियों का देश है । एक बार चीन में एक भयंकर अकाल पड़ा । लोग भूख के मारे मरने लगे । विश्व के उदार और धनी देशों ने चीनी जनता की भूख की पीठ से बचाने के लिए अनाज से भरा हुआ एक जहाज भेजने का निश्चय किया ।

जहाज जब खाना हुआ और इसकी खबर चीनी जनता को मिली तो यहाँ के लोगों ने निश्चय किया कि हम मर जायेंगे, पर विदेशी सहायता स्वीकार नहीं करेंगे । सहायता भेजने वाले राष्ट्रों के नेताओं ने चीनी जनता की यह स्वाभिमान भरी घोषणा सुनी तो हतप्रभ रह गये । एक समय के अफीमबी, नरोबाज, कादिल और सुस्त कहीं जाने वाली जनता में ऐसा मनोबल कहीं से जाग्रत हो गया ? इसका श्रेय दिया जाता है आधुनिक चीन के निर्वात माओ-त्से-तुंग को । माओ-त्से-तुंग अपने जीवन काल में विश्व के सर्वाधिक विवादास्पद व्यक्ति रहे । जितना यह सही है उतना ही यह सही है कि उन्होंने अपना सारा जीवन विश्व की सर्वाधिक आवादी वाले देश चीन का नवीन कायाकल्प करने में लगा दिया और एक बड़ी सोझ तक वांछित लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल भी हुए ।

चीनी जनता द्वारा चलाये गये मुक्ति संघर्ष के दौरान माओ को लगातार बीहड़, भयानक और विशाल जंगलों में रहना पड़ा, खाइयों, खन्दकों तथा ऊँचे पर्वतों और गुफाओं में अपने परिवार को बसाना पड़ा । कड़ कड़ाती ठण्ड और झुलसा देने वाली गर्मी तथा जनघोर बारिश में सूफानी थपेड़ों को सहते हुए उन्होंने अपने नेतृत्व को सार्थक किया और मुक्ति सेना को आगे बढ़ाया । सामने नदियाँ बहती थीं, पन और पर्वत थे तथा पीछे रहती थीं बुर्जुआवादी, ज्ञानमूर्त की सफेद सेना । इस अभियान के दौरान वर्ष भर में माओ को चारह प्रदेशों की पैदल यात्रा करनी पड़ी । लगभग सत्त हजार मील जमीन उन्होंने नापी और चौबीस

नदियों को पार किया। वही नहीं इस अभियान में उन्होंने अपने दो प्राणप्रिय बच्चों का मोह भी छोड़ा और यूनान पहाड़ी के छोटे से गाँव में एक अपरिचित महिला के पास अपने बच्चों को छोड़ा। यूनाई गैव को उस स्त्री से माओ तथा उनकी पत्नी का इतना ही परिचय था कि वह उनके बीमार बच्चों के हाथ पूछने आयी थी और सारी स्थिति से अवगत होकर बच्चों को अपने पास छोड़ जाने का प्रस्ताव कर बैठी थी।

संसार में सबसे ज्यादा आबादी वाले देश में क्रांति का इतना सफल संचालक और फिर देश का नया निर्माण करने वाले माओ-त्से-तुंग का जन्म १९ नवम्बर सन् १८९३ को हुआ था। उनके पिता मध्यवर्गीय किसान थे पर और अन्य लोगों से उनकी बाली हालत अच्छी थी। पर परिवार पर कर्ज काफी बढ़ा हुआ था। उस कर्ज को चुकाने के लिए माओ के पिता शून-सेन को काफी समय तक सिपाही की नौकरी करनी पड़ी थी। सिपाही की नौकरी करते हुए जो वेतन मिलता उसी वेतन में से गुमरा करना पड़ता। उसी में से कर्ज को किसमें भी चुकाना पड़ता। फलस्वरूप परिवार को काफी समय तक अर्थिक तंगियों का सामना करना पड़ा। शून-सेन ने जहाँ तक सम्भव था माओ को पढ़ाया और फिर परिवार की निर्वाह व्यवस्था जुटाने के लिए माओ को खेतों में काम करने पर लगा दिया। माओ का पढ़ने-लिखने में खूब मन लगता था इसलिए स्वेच्छा से उन्होंने तब भी पढ़ना जारी रखा। लेकिन गाँव में छोटी कक्षाओं तक ही पढ़ने की व्यवस्था थी इसलिए १३ वर्ष की आयु में ही माओ की स्कूली शिक्षा समाप्त हो गयी। माओ फिर भी अबाहिम लिंकन की तरह अपने पड़ोसियों और पढ़े-लिखे लोगों के पास से माँग-माँग कर किताबें पढ़ते रहे।

स्कूल छोड़ने के साल भर बाद ही शून-सेन ने माओ का विवाह कर दिया। माओ की पत्नी उनसे आयु में छह वर्ष बड़ी थी और माओ ने जीवन भर कभी उसे देखा तक नहीं। शादी के बाद खेत में काम करते हुए भी माओ ने अपना अध्ययन जारी रखा। उन्हें कहानियाँ खूब अच्छी लगती। खासकर ऐसी कहानियाँ जिनमें किसानों पर बड़े जुल्म डाले जाते और किसान उनका प्रतिकार करते थे। उनके स्वाध्याय से ही माओ के मन में यह विचार उठा कि बाहर की दुनिया भी देखनी चाहिए और वे खेती की तरफ से ध्यान हटाकर अक्सर आस-पास के गाँवों में तथा शहरों में निकल जाते और वहाँ के जीवन का निरुद्ध से अध्ययन करते। शून-सेन ने जब देखा कि माओ का मन खेती में कम लगता है और वह सहरी जीवन की ओर आकृष्ट हो रहा है, उन्होंने अपने लड़के को चावल के एक व्यापारी के यहाँ काम पर रख दिया।

माओ ने समझा कि इस प्रकार उन्हें जीवन के नये अनुभव प्राप्त करने के लिए विशेष सुविधा रहेगी पर

चावल के उस व्यापारी के यहाँ उन्हें अपनी उम्मीद पूरी होती न दिखाई दी। अतः उन्होंने वहाँ की नौकरी छोड़ दी। और छुटपुट मजदूरी करते हुए एक अच्छे स्कूल में भर्ती होने की बात सोचने लगे। उन्होंने दिनों माओ के मामा अपनी बहन से मिलने के लिए आये हुए थे। वे स्वयं एक स्कूल चलाते थे। वहाँ अच्छी शिक्षा का प्रबन्ध था। माओ ने अपनी माँ के द्वारा मामा से यह बात कहा मामा अपने स्कूल में रखने के लिए राजी हो गये और माओ अपने मामा के गाँव तुंगे तैयान हो वहाँ से कुछ सोलाह मील दूर था, चले गये। तुंगे तैयान आकर माओ ने चचे सिर से अपनी पढ़ाई आरम्भ की। उन्होंने विश्व के महान नेताओं की जीवनिओं का अध्ययन किया तथा स्कूली किताबों के अलावा दूसरे विषयों की पुस्तकें भी खोजकर पढ़ डालीं।

स्कूल में उनके अधिकांश सहपाठी जमींदारों के लड़के थे। माओ अपना रहन-सहन अपनी आमदनी के अनुसार ही रखते थे। उनकी मादगी जमींदार पुराँ की गिराह में फटेहाल थी और जमींदार पुत्र इस फटेहाली का बड़ा मजाक उड़ाते थे। माओ को इस बात से बुरा तो लगता था। पर वे यह जानकर सन्तोष कर लेते थे कि उनके कई साथी तथा पास-पड़ोस के लड़के तो इससे भी गल-गुलर जीवन बिताते हैं। एक ओर वे देखते थे कि गरीबों के लड़के व अधिक बस पहन पाते थे और न ठीक रंग का खाना ही खा पाते थे वहाँ जमींदार के पुत्र बड़े ऐत आराम और ठाठ-बाट से रहते थे। उन्होंने यह भी देखा कि मजदूर किसान बड़ी मेहनत से खेती करते और जमींदारों के आदमी निर्दयतापूर्वक उनकी जून पसीने से प्राप्त धन को लूट लेते थे। वे अपने पालिकों के लिए मौज-मजे के साधन जुटाते थे। माओ के विचार से यह व्यवस्था अन्धाय और अत्याचारपूर्ण थी। उन्होंने निश्चय किया कि जीवन में आगे चलकर वे इस व्यवस्था में आमूल-मूल परिवर्तन के लिए प्रयास करेंगे।

सन् १९११ में माओ-त्से-तुंग यूनिवर्सिटी कॉलेज में भर्ती हुए। उसी वर्ष सनकात सेन ने चीन में गणराज्य की स्थापना की थी। माओ उन दिनों सनायात सेन से बड़े प्रभावित थे। माओ ही क्या देश की समूची गरीब जनता ने सनकात सेन को अपनी आकांक्षाओं का प्रतीक बनाया था। माओ उस वर्ष कुमिंगत्तान सेन में भर्ती हो गये। यद्यपि उन्होंनेैनिक जीवन आरम्भ करते हुए कोई लड़ाई नहीं लड़ी पर इसके बाद का समय उनके लिए काफी महत्वपूर्ण रहा, यों कई कि माओ के अगले जीवन की आधारशिला रखने वाले साबित हुए। उन दिनों वे रात दिन पढ़ने-लिखने में गुजारते थे। वहाँ तक कि खाना खाते समय भी उनके हाथ में किताब छूटती नहीं थी। इन्हीं दिनों वे नीतिशास्त्र के प्रोफेसर सर चंग-ची के सम्पर्क में

५.७० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

आये । माओ पर उनके सम्पर्क का अच्छा प्रभाव पड़ा और इसका लाभ भी उन्होंने उठाया ।

शिक्षा पूरी कर लेने के बाद उनके सामने यह प्रश्न था कि कौन-सा क्षेत्र अपनावे ? उन्होंने बिना आगा-पीछा सोचे पीकिंग की दिशा एकड़ी और पीकिंग विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी में एक साधारण-सी नौकरी कर ली । यदि वे चाहते तो दूसरी नौकरी भी कर सकते थे । पर उन्होंने वही नौकरी इसलिए पसन्द कि वहीं रहकर वे अपनी ज्ञान बुधा को और अच्छे रूप में पूरी कर सकते थे । उस समय पीकिंग विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष थे लि-ता-चू जिन्होंने चीनी साम्यवादी दल की स्थापना की थी । लि-ता-चू के सम्पर्क में आकर ही माओ ने साम्यवादी विचारधारा की दीक्षा प्राप्त की थी । इन्हीं दिनों उनकी मान्यताओं में मैजाव और दृष्टिकोण में विस्तर आया तथा नेतृत्व की क्षमता आयी ।

रूस में जब अक्टूबर-क्रान्ति हुई तो उसका प्रभाव सारे विश्व पर पड़ा । चीन भी इससे अछूता नहीं रहा । उन्हीं दिनों चीन में पहली बार छात्र आन्दोलन हुआ । प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद चीन के निरन्तर अपमान और उसके प्रदेशों की छीना छपटी से चीनी जनता में क्रोध की लहर व्याप गयी । ४ मई १९१९ को चीन में बड़े उग्र प्रदर्शन हुए । जुलाई १९२१ में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की पहली गुप्त कॉन्फ्रेंस शंघाई में हुयी जिसमें माओ सहित १२ अन्य प्रतिनिधियों ने भाग लिया । चीनी साम्यवादी आन्दोलन की नींव यहीं पर रखी गयी ।

एक वर्ष में माओ की पार्टी में कुल ४०० सदस्य बन सके । जनवरी १९२४ में उन्होंने सम्भावित सेन की पार्टी कुमितांग की पहली कॉन्फ्रेंस में भाग लिया तथा पार्टी की केन्द्रीय, कार्यसमिति के सदस्य बन गये । कार्यसमिति के सदस्य बनते ही माओ ने चीन के श्रुतकर्त्तों, कुटिल हथके से काम कर रही विदेशी शक्तियों तथा जमींदारों के विरुद्ध जोर-शोर से संगठनात्मक मोर्चाबंदी आरम्भ कर दी । लेकिन कुछ ही दिनों बाद परिस्थितिकता माओ ने पीकिंग छोड़ दी और अपने प्रदेश चले गये । उन्होंने गाँवों में जा कर किसानों को संगठित करने का अभियान चलाया । इस दौरान माओ पाँच वर्ष तक शहरी जीवन से लगभग कटे हुये रहे । पाँच वर्ष के भीतर उन्होंने किसानों और क्रान्तिकारियों को बली-भाँति संगठित कर लिया ।

चीन में क्रान्तिकारियों का संगठन कर लेने के बाद माओ ने १९३५ में लांग-मार्च का आह्वान किया । जिसका उद्देश्य चीन में मजदूरों और किसानों का शासन स्थापित करना तथा जमींदारों और सामन्तों का उन्मूलन करना था । इस लांग-मार्च में लगभग एक लाख व्यक्ति सम्मिलित हुए थे । लेकिन लांग-मार्च के कार्यकर्त्तव्यों और मोड़कों को अपने आन्दोलन और क्रान्तिकारी प्रयासों में इतनी

कठिनाइयों और विपत्तियों का सामना करना पड़ा कि अन्त तक केवल ७०० व्यक्ति ही रह गये थे । १९४५ तक माओ की दोहरे मोर्चे पर लड़ना पड़ा । एक तो देश में ही विद्यमान प्रतिक्रियावादियों से तथा बाहर जापानी साम्राज्यवादियों से । द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद माओ को अपना स्वयं साकार करने में सफलता मिली जब जून १९४९ में माओ के नेतृत्व में चीनी सर्वहारा ने सत्ता ग्रहण की ।

लेकिन यह तो मंजिल का पड़ाव भर था । अभी राष्ट्र के पुनर्निर्माण का कार्य बाकी पड़ा था । उन्होंने देश को युक्त शक्ति का आह्वान किया । तथा राष्ट्रीय-पुनर्निर्माण का एक कार्यक्रम बनाया जिसके मुख्य आधार इस प्रकार हैं-विदेशी सहायता को कम कर राष्ट्रीय स्वाभिमान की रक्षा, सहज तकनीकी ज्ञान का विकास और गरीब को समान वितरण द्वारा खुशहाली के लक्ष्य की ओर बढ़ाना-विदेशी सहायता के आश्रित न रहना भर ही नहीं उसे नकार भी देना सुदृढ़ राष्ट्रनैति का परिचायक है । सहज टेक्नोलॉजी के विकास का अर्थ यह है कि एकदम सभी को विशेषज्ञ बनाना इतना अनिवार्य न समझा जाय कि प्रत्येक विशेषज्ञ के लिए ढेरों रुपया और समय खर्चा करना पड़े । इस प्रणाली की मिसाल यह है कि चीन में डॉक्टर बनने के लिए छह मास की ट्रेनिंग ही दी जाती है । सामान्यतः मामूली से रोग हैं जिनके कारण लोग बीमार पड़ते हैं और सामान्य रोग से गृहस्थ व्यक्तियों का इलाज करने के लिए जटिल शिक्षा की क्या आवश्यकता है । खास रोगों के इलाज में वहाँ कुछ व्यक्तियों को ट्रेण्ड किया जाता है । बाकी को सामान्य उपचार का प्रशिक्षण ही दिया जाता है ।

इस प्रकार माओ जब तक जीवित रहे चीन को विकसित और शक्तिसाली देशों की शक्ति में छोड़ा करने के लिए प्रयत्न करते रहे । उनके मार्गदर्शन और चीनी जनता की कर्मठता का ही यह सत्परिणाम है कि चीन आज दुनिया की छठवीं महामर्किक बल हुआ है सन् १९७६ में माओ का देहान्त हो गया पर वहाँ की जनता ने अपने प्रिय राष्ट्रनेता के मार्गदर्शन में चलते रहने का ही निश्चय किया ।

आत्मबल सम्पन्न पुरुषार्थियों के प्रेरणाप्रद प्रसंग

ब्रिटिश सेनापति नेल्सन अपनी सेना के साथ नील नदी के इस पार छोड़ा रणनीति का निर्धारण कर रहा था । ब्रिटिश जंगी बेड़े के अनेकों सैन्याधिकारियों की आँखों में आसंका व निराशा छापी थी, लेकिन नेल्सन की आँखें अद्भुत अल्पविश्वास और साहस से चमक रही थीं । कप्तान ने सहसा मीन घंटा किया व बोल उठा-"अगर हमारी जीत हो गयी तो दुनिया दंग रह जायेगी ।"

नेल्सन ने तीखी नजर से कप्तान को देखा और कहा-
"अगर से तुम्हारा क्या तात्पर्य है," सकफकावे अधिकारी
ने जवाब दिया-"मेरा मतलब है कि दुश्मन हमसे कहीं
थोड़ा ताकतवर है। उसके पास अधिक सेना है। हथियार
भी आधुनिकतम है। ऐसे में हमारी जीत शक्य पर निर्भर
है।" नेल्सन ने गम्भीर और दृढ़ स्वर में कहा कप्तान।
हमारी जीत का भाग्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। हम जीतेंगे
और अवश्य जीतेंगे। हम भाग्य के सहारे नहीं बल्कि
अपनी बहादुरी, साहस व निष्ठा के बल पर जीतेंगे।

सेनापति के इन आत्मविश्वास भरे शब्दों ने प्रत्येक
सैनिक के अन्दर प्राण भर दिया। एक नवीन स्फूर्ति लेकर
वे आगे बढ़े, विश्वास और साहस के साथ लड़े और
अल्पबल वाले पराक्रमियों की उस विजय को देखकर
सारा संसार चौंकित रह गया।

आत्मविश्वास वह अयोध अस्त्र है जो मनुष्य से
असम्भव काम करा लेता है। यदि शरीरबल है, स्वधन है
एवं सहयोग भी है, परन्तु आत्मविश्वास नहीं तो ऐसे प्रयत्न
अंधे-लंगड़े, काने, कुबड़े ही होते हैं-ऐसे व्यक्तियों को
कभी सफलता नहीं मिलती। अपनी सत्ता पर-अपनी
क्षमता पर विश्वास रखने वाला बहुरी सहायता की कभी
अपेक्षा नहीं करता और न ही दुर्भाग्य का रोग रोता है।

कोलम्बस नई दुनिया का पता लगाकर अमेरिका से
स्पेन वापस पहुँचा। स्पेन के राजा ने उसकी इस
असाधारण सफलता पर उसके सम्मान में एक भोज का
आयोजन किया। जिसमें सभी उच्च सभासद-सायन्त
आदि आमंत्रित थे। दूसरी ओर उपस्थित समुदाय में
सामंतों के एक बहुसंख्य गुट को कोलम्बस से ईर्ष्या भी थी,
इसी कारण वे बीच-बीच में व्यंग्य बात भी छोड़ रहे थे।
कोलम्बस से जब उसकी सफलता का कारण पूछा गया
एवं उद्बोधन हेतु आमंत्रित किया गया, तब उसने एक
कौतुक से अपने भाषण को आरम्भ किया। उसने
कहा-"भाइयों! आपके कौतुहल का सम्बन्धान देने से
पूर्व मैं आपके समक्ष एक तमाशा दिखाता हूँ। मेरे हाथ में
यह अण्डा है। आप में से जो भी इसे मेज पर सौधा खड़ा
कर देगा, वह सबसे अधिक बुद्धिमान माना जायेगा।"

एक-एक करके सबने प्रयास किया, पर अण्डा खड़ा
ही न हुआ। सबकी खूब हँसी हुई। अन्त में एक सामन्त
ने कहा-"तो फिर आप ही इसे खड़ा करके दिखा
दीजिए।" कोलम्बस ने अण्डे का एक सिरा झटके से
तोड़ा व अण्डा सीधा खड़ा हो गया। सभी सामन्त चिल्ला
उठे इसमें कौन-सी बड़ी बात है। यह तो हम भी कर
सकते थे। कोलम्बस ने कहा कर सकते थे तो क्या क्यों
नहीं? जो लोग कहा करते हैं वे किया नहीं करते एवं जो
करते हैं वे गाल व बजाकर कर ही दिखाते हैं।

सामन्तों ने शर्मिन्दा हो कोलम्बस के वर्चस्व एवं पुरुषार्थ
को माना तथा उसकी अमेरिका की खोज की प्रशंसा की।

आत्मबल सम्पन्न व्यक्ति अपनी प्रसूत शक्तियों को
पहचानते, जगाते हैं व आगे बढ़ते चले जाते हैं। शेष
बहिर्मुखी मात्र तमाशा देखते रहते हैं।

नेपोलियन एक ऐसा ही आत्मविश्वास मनोबल का
धनी युवक था, जिसने पाँच वर्ष की आयु में माता से शत्रु
के अन्तर्क व अपने राज्य कर्सिका की गुलामी की कहानी
सुनकर संकल्प किया था कि मैं अपनी मातृभूमि को
स्वतन्त्र कराके रूँगा। किशोरवस्था से ही उसने अपने
संकल्प को साकार रूप देना आरम्भ किया, लगन तथा
परिश्रम पर केवल यह सेना की टुकड़ी का नामक और
फिर फ्रांस का सर्वेस्वर्ग और अन्त में विश्व विजेता बन
गया। अल्पस की गगनचुम्बी बर्फ ढकी चोटियों की
तलहटी में खड़े सैनिकों के समक्ष उसने ही आत्मविश्वास
से भरे शब्दों में कहा था-"तुँद हो इन बिफोली चोटियों
को। वे कभी भी पुरुषार्थियों के मार्ग में बाधक नहीं बन
सकती।" उसके इन शब्दों ने सैनिकों पर जादू कर दिया
व वे असम्भव को भी सम्भव बनाकर आल्पस पर्वत की
चुनौती देते रास्ता बनाते निकल गये।

चोर हाकू तक जब चुरे कार्यों के लिये स्वयं को जान
की बाजी पर लगाकर जुझ जाते हैं तो असमंजस यह होता
है कि सच्चाई के लिए संघर्ष करने वालों का सत्साहस
क्यों चुप बैठ रह जाता है।

एक बार राजा फ्रेडरिक द्वितीय अपने महल में रात्रि
के अन्तिम प्रहर में तयन कक्ष में लेटे थे तो सहसा उनकी
दृष्टि खिड़की से बाहर गयी। उन्होंने देखा-एक व्यक्ति
सीढ़ी खड़ा करने का प्रयास कर रहा है पर धपटाघर पर
लगी घड़ी तक पहुँच नहीं पाता व सीढ़ी फिसलने लगती
है। कोही देर तक वे उसके प्रयासों को देखते रहे। फिर
बाहर आकर पूछा-"तुम कौन हो-इस समय क्या कर रहे
हो।" चोर ने जो राजा के महल की घड़ी चुराने आया
था, बिना चबरावे आत्मविश्वास भरे शब्दों में कहा-"मैं
शाही घड़ीसाज हूँ। घड़ी की मरम्मत व सफाई के लिये
निकलता हूँ। रात्रि को तो निकालना आसान है। दिन में
यहाँ आवागमन अधिक रहता है। इसलिए आवा था-पर
सहायक साथ नहीं ला पाया। राजा ने कहा मैं सीढ़ी
फकड़ता हूँ, तुम बढ़ो व घड़ी उतारो। कुछ ही मिनटों
में वह घड़ी उतारकर राजा को धन्यवाद देते प्रणाम करते
हुए चिड़ा हो गया।

अगले दिन फता चल्ता राजा के महल से घड़ी चोरी
कमो गयी। राजा को रात की सारी बात याद हो आयी।
उसने सुरक्षा दल द्वारा चौवार की गयी रिपोर्ट पर लिखा-
"चोर अपने आत्मविश्वास, साहस, प्रायुत्पन्नमति व राजा
की सहायता के कारण इस कार्य में सफल हुआ।"

अपने आप पर विश्वास कर आशा का संचार व
विश्वास छोड़कर निराश हो जाना उसी प्रकार है जैसे

दीपक को जलाना एवं फूँक मारकर बुझा देना । महाभारत युद्ध में कर्ण की बराबर मात्र इसी कारण हुई कि उसके आत्मविश्वास को गिराने वाला उसका सारथी शल्य अर्जुन से हुए युद्ध में उसके साथ था । वह पाण्डवों से बचनबद्ध होने के होते मात्र वही कहता रहा कि "कर्ण ! तुम अर्जुन से नहीं जीत सकते । उसके गाण्डीव के समक्ष तुम्हारी धनुर्विद्या का कौशल व्यर्थ है । नरान्वर कहे गये इन वचनों ने कर्ण का मनोबल इस प्रकार गिराया कि वह अपने कौशल का उपयोग करने के पूर्व ही मारा गया ।"

दूसरी ओर आशा का संचार व प्रोत्साहन किस प्रकार विजय में सहायक होता है इसका प्रमाण इस घटना से मिलता है । एक सेनापति ने अपने सैनिकों को निराश स्थिति में देखते ही सोचा कि इनमें मनोबल का संचार न किया तो संख्या में अधिक होने पर भी हार का मुँह देखना पड़ेगा । उसने सेना को रास्ते में एक मन्दिर के सामने रोका व कहा-"आओ । इस देवता का आशीर्वाद लेते हैं व सिक्का फेंककर देखते हैं कि हम हारेंगे या जीतेंगे । यदि चित्त होगा तो हमारी जीत सुनिश्चित है पट होगी तो हार ।" सबने मूर्ति को प्रणाम किया । सेनापति ने सिक्का फेंका । सबने उत्सुकता से देखा-चित्त था । चारों ओर हर्ष ध्वनि होने लगी -"अब देवता का आशीर्वाद मिला गया है, हम जीतेंगे-जरूर जीतेंगे ।" सेना युद्धस्थल पर पहुँची व शत्रुओं को परास्त कर लौटी । लौटते में मन्दिर फिर पड़ा । सेनानायकों ने कहा-देवता को फिर प्रणाम करलें-इन्हीं के आशीर्ष से हम जीते हैं । सेनापति ने हँसते हुए कहा- हम आत्म देवता के आशीर्वाद से विजयी हुए हैं, इतना कहकर उसने सिक्का उन्हें दिखाया जो दोनों ओर से एक समान था ।

वस्तुतः जीवन में सफलता-असफलता का रहस्य यही है । मनोबल, आत्मविश्वास मनुष्य से असम्भव पुरुषार्थ करा लेता है । जबकि सब कुछ होते हुए भी इस क्षमता के न जाग पाने से जीवन संप्रग्राम में पराजय का मुँह देखना पड़ता है । इसीलिए कहा गया है-"मन के द्वारे द्वार है मन के जीते जीत ।"

महान योद्धा-नेल्सन

२९ दिसम्बर १७५८ । इंग्लैण्ड के नरकोफ जिले में बनहैम थार्प ग्राम के रेक्टर एडमंड नेल्सन के घर आठवाँ बालक जन्मा तो उन्हें कोई विशेष प्रसन्नता नहीं हुई वरन् दुःख हुआ कि वह थोड़ी-सी मात्रा में इतने बालकों का गुजर बसर कैसे करेगा ?

बालक इतना दुबला था कि हाथ में लेते हुए भी डर लगता था । उसके सिर में दर्द और शरीर में रोग कम ही रहता था । ऐसे में बचपन में ही मौँ चले बसी । पिता पर

आठ बच्चों का भार पड़ा तो वह खिन्न रहने लगा । उसका जीवन एक बेगार हो गया । वह तो भला हो उसके मामा का कि उसने इस बालक के पालन-पोषण का भार अपने ऊपर ले लिया जिससे पिता का भार कुछ हल्का हो गया । मामा को भी इस क्षीण शरीर, रोगी बालक से कुछ विशेष आशा न थी ।

बालक दुबला-पतला होने के कारण सबकी उपेक्षा का पात्र बनता चला रहा था । उसे अपनी यह उपेक्षा अच्छी न लगी । उसने प्रारम्भिक शिक्षा के साथ-साथ अपने मानवीय गुणों का विकास करना आरम्भ कर दिया । उसके साहसपूर्ण कार्यों से परिवार में इसकी प्रतिष्ठा बढ़ने लगी । जोखिम के काम में वह आगा-पीछा नहीं करता था । एक बार यह घूमता-घूमता प्रकृति की गोद में दूर निकल गया । नानी देर हीती देख इसे ढूँढ़ने आई तो देखा कि एक नदी के पास अकेला बैठा है । उसने पूछा-"तुम्हें यहाँ डर नहीं लगता ?" बालक बोला-"मैंने डर को कभी नहीं देखा वह कैसा होता है ?" अपने इसी गुण के कारण यह बालक होरेरियो नेल्सन आगे जाकर एक महान योद्धा तथा अपने देश के गौरव को अक्षुण्ण रखने वाला सेनावी बन्य ।

मामा की आर्थिक स्थिति भी कुछ विरोध अच्छी नहीं थी । बारह वर्ष की आयु में ही नेल्सन को जहाज पर नौकरी करनी पड़ी । इसे अपने जहाज पर पहुँचने के लिये बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । बारह वर्ष के बालक की वहाँ कौन सुनता ? उन दिनों जहाज की नौकरी में न तो अधिक अर्ध लाभ ही होता था न मान-सम्मान ही मिलता था । नेल्सन को जहाज के कप्तान ने यही राय दी कि वह काम छोड़ दे किन्तु उसे अपने आप पर विश्वास था । वह एक ही जगह रहना उचित समझता था भटकना नहीं चाहता था ।

नेल्सन ने अपने प्रारम्भिक काल से ही समुद्री यात्राओं के दौरान तट तथा गहराई का सूक्ष्म अध्ययन किया जो आगे जाकर उसके लिए बड़ा सहायक हुआ । उसका आत्मबली दृष्टिकोण ही उसकी प्रगति में सहायक बना ।

सन् १७७३ में एक दल उत्तरी ध्रुव की खोज में जाने वाला था । उसके लिये जहाज की आवश्यकता थी तथा कुशल मस्तिष्क भी चाहिए थे । नेल्सन को समुद्र व स्थल की जानकारी करने व जोखिम के काम करने में बड़ी दिसवस्ती थी । उसने उस जहाज पर नियुक्त होने के लिये निवेदन किया जो स्वीकार हो गया । इस यात्रा में नेल्सन का सहस्र सबके लिये वरदान सिद्ध हुआ ।

नेल्सन के अपने गुणों के कारण इंग्लैण्ड के नौ सैनिक अधिकारी इससे बहुत प्रभावित थे । २१ वर्ष की आयु में ही वह उच्च नौसैनिक अफसर के पद पर पहुँच गया था । उसे सेंटजुआन किले पर आक्रमण करने के लिये भेजा गया । वह किला बड़ी अस्वास्थ्यकर स्थिति में था ।

इसने विजय तो प्राप्त करली पर वहाँ की सड़ती लाशें व अस्वास्थ्यकर जलवायु से इसके बहुत से सैनिक मर गये। नेल्सन ने इसे अपने जीवन का पाठ मानकर उससे शिक्षा ली।

जिस बालक से उसके परिवार वालों को कोई आशा नहीं थी वही बालक जब युवा हुआ तो अपने साहस, लगन व आत्मविश्वास के बल पर वह सारे इंग्लैण्ड का विश्वासपात्र बना। जहाँ भी कार्य में असफलता की आशंका होती वहाँ नेल्सन को भेजा जाता और वह सफल होकर ही लौटता। वह एक दिन साधारण नाविक के रूप में ब्रिटिश नौसेना में प्रविष्ट हुआ था और एक दिन इंग्लैण्ड के जहाजी बेड़े का कप्तान नियुक्त किया गया।

नेल्सन की इस द्रुत प्रगति का कारण उसके मानवीय गुणों के विकास का प्रयास था। साहस तो उसमें कूट-कूट कर भरा था। वह जो काम करता था कितनी दृढ़ निश्ठा से करता था वह उसके इस पत्र से स्पष्ट हो जाता है जो उसने अपने कमांडर-इन-चीफ को लिखा था—“हम सेंटक्रूज पर अधिकार क्यों न कर सकें। इसकी बात मैं न चलाऊँगा। जो कुछ सम्भव था मैंने किया पर फल कुछ न हुआ। आज मैं सारी सेना का नायक हूँ। कल मेरे गले में जयमाला होगी अथवा मैं संसार में न हूँगा।” यह पत्र लिखकर उसने अपने पुत्र तथा पत्नी को भी सन्देश भेज दिये कि वह विजयश्री परम न कर सकें, मृत्यु ही उसे बरले, तो वे क्या करें? ऐसी दृढ़-निश्ठा ही सफलता दिलाती है।

फ्रांसीसी जहाजी बेड़े पर आक्रमण करने सम्बन्धी मन्त्रणा हो रही थी। कप्तान बेरी ने नेल्सन से पूछा—“यदि हम जीत गये तो संसार क्या कहेगा? नेल्सन ने इसके उत्तर में कहा—“इस विषय में ‘यदि’ है ही नहीं। हम जीतेगे यह निश्चित है, कहानी सुनाने को कौन जीवित रहेगा यह दूसरा प्रश्न है।” कर्म के प्रति यह निश्ठा ही नेल्सन की विजय का कारण थी। नेल्सन की मान्यता थी कि जो व्यक्ति सफलता का दृढ़ निश्चय कर लेता है और पूरे मनोयोग से उसमें जुट जाता है तो असफल हो ही नहीं सकता।

फ्रांसीसी जहाज ‘ओरियंट’ में आग लग गई। मस्तूल उड़ गया। सैनिक समुद्र में कूद पड़े। शत्रु के सैनिक होते हुये भी उन ७० सैनिकों को नेल्सन ने बचाया। नेल्सन में शत्रु सैनिकों के जीवन के प्रति भी ममता थी। बन्दी सैनिकों के प्रति भी उसका व्यवहार मानवीय ही रहा।

अपने अधीन काम करने वाले सैनिकों तथा अफसरों के साथ उसका व्यवहार परिष्कार जैसा था। उनकी कठिनाइयों की ओर उसका ध्यान रहता था। उनकी प्रगति के लिये वह कमांडर-इन-चीफ को लिख करता था। अपने उच्च अधिकारियों का वह सम्मान किया करता था।

इस व्यवहार के कारण वह सबका ‘अपना आदमी’ हो गया था। उसको कई बार बचाने के लिये उसके सैनिकों ने अपनी मृत्यु को स्वीकार किया था। वथायोग्य व्यवहार का यह गुण उसे एक महान् बोट्या तथा सफल सेनानायक बनाने में सहायक हुआ था। उसके उच्चाधिकारी उससे प्रसन्न रहे तथा उसके सैनिक उसके लिये प्राणोत्सर्ग तक करने को तत्पर रहे। सैनिक जीवन की रुखाई को नेल्सन के स्वभाव ने मिटा दिया था।

‘ओरियंट’ के मस्तूल के लट्ठों से कप्तान टैलोबेल ने सवपेटी बनाकर नेल्सन को भेंट की तथा आग्रह किया कि नेल्सन के लिये इसे प्रयुक्त किया जाय। नेल्सन ने अपने परिवार के बना करने पर भी स्वीकार किया व बहुत प्रसन्न हुआ। परिवार के लोग इस अशुभ वस्तु को नहीं रखना चाहते थे पर नेल्सन अपने सहयोगी की भेंट का सम्मान करता था। मुद्ध-कर्म में जीवन व्यतीत करते हुए भी हृदय एवं कोष्ठ सजीव रखने के गुण के कारण ही नेल्सन अपने सैनिकों का ‘अपना’ बन सका था।

सेंटक्रूज के मुद्ध में उसका दाहिना हाथ कट चुका था, अंग-भंग हो जाना एक सेनानायक के लिये बहुत बड़ा दुर्भाग्य था। वह उसी का साहस था कि इस अंग-भंग को सहज रूप में स्वीकार कर ले तथा यह कहे “अभी तो मेरा बाँया हाथ व टाँगें शेष हैं।” राजा को भी उसने लिख दिया कि उसके स्थान पर किसी अन्य समर्थ व्यक्ति को नियुक्त करें ताकि राष्ट्र की सेवा ठीक प्रकार से हो सके।

नेल्सन की योग्यता देखते हुए उसे उसी पद पर रखा गया तथा एक हाथ से नेल्सन ने नेपोलियन जैसे विश्व प्रसिद्ध बोट्या से टक्कर ली तथा वीरता के क्षेत्र में एक उदाहरण प्रस्तुत किया कि मनुष्य के एक अंग कट जाने पर वा अपंग होने पर भी यदि वह अपने आप पर विश्वास रखे तो अपने ध्येय में सफल हो सकता है।

नेल्सन का सारा जीवन सागर की लहरों पर ही व्यतीत हुआ। जहाज पर रहने वालों का स्वास्थ्य क्षीण होता जाता है यह नेल्सन के साथ भी हुआ। वह कुछ समय के लिये स्वास्थ्य सुधार के लिये अपने देश लौटता पर कुछ ही महीनों के बाद फिर उसके लिये कहीं न कहीं मुद्ध छिड़ ही जाता और उसे फिर अपने देश व जाति के गौरव की रक्षार्थ अपने स्वास्थ्य सुधार को बीच में ही रोक लेना पड़ता था।

हाथ और आँख देकर भी हिम्मत न हारने वाला नेल्सन

नेल्सन ने अपनी सेवा और शौर्य के कारण छोटी व्यवस्था में उच्च अधिकारियों का ध्यान आकर्षित किया और एक साधारण सैनिक से महत्वपूर्ण आफीसर बना दिया गया।

अभी उसकी आयु कुल २० वर्ष की ही थी एक सैनिक कमाण्डर ने आकर उसकी पीठ बफमपाते हुए कहा-नेल्सन । तुम्हारे शौर्य और कठिनाइयों में भी दृढ़ रहने की भावना से प्रभावित होकर सरकार ने तुम्हारी योग्यता का ध्यान किये बिना ही महत्वपूर्ण कार्य दिया है । तुम्हारे गुण ही सर्वोच्च योग्यता हैं हमारा विश्वास है तुम यह कार्य कुशलतापूर्वक पूरा कर सकोगे ।

इसके बाद उसे समुद्री-हाकुओं से ब्रिटिश सम्पत्ति की रक्षा करने भेजा गया । वह जहाज का सेनापति बनकर गया और सफलता पाकर लौटा । अभी वह लौट भी न पाया था कि उसे फ्रांसीसी द्वीप कोर्सिका पर आक्रमण करने की आज्ञा दी गई । एक दिन भी विश्राम किये बिना वह युद्ध के लिए तैयार हो गया । अन्य पदाधिकारियों ने कहा-“तुम्हें विश्राम भी नहीं दिया गया और फिर युद्ध की आज्ञा दे दी गई क्या तुम इसका विरोध नहीं करोगे ?” तो नेल्सन ने हँसकर कहा-मेरे लिये काम ही विश्राम है जिस दिन मेरे शरीर का रक्त ठण्डा पड़ जायेगा उस दिन मैं मृत्यु पसन्द करूँगा पर मक्खी मारना कदापि स्वीकार न करूँगा ।

नेल्सन ने कोर्सिका पर चढ़ाई कर दी और विजयी बनकर लौटा, सचमुच जिनके शरीरों की चमक यह नहीं होती जीवन में वही नेल्सन की तरह सफलता पाते हैं ।

इस युद्ध में विजय तो मिली पर नेल्सन को दाहिनी आँख लेकर । इसी समय कान्ताक्रूज पर स्पेन ने आक्रमण कर दिया उससे निबटने के लिये ब्रिटिश सैन्यधिकारियों से पूछा गया-कौन है जो इस युद्ध में स्वेच्छा से जाना चाहता है । जब सब सैनिक धिक्कार-मंथन में ग्रस्त थे तब नेल्सन आगे बढ़कर आया और उसने फिर युद्ध किया इस बार उसका दाहिना हाथ बेकार हो गया पर विजय-श्री उसके गले यह कहकर लगी-“सैनिक जब तक तुम्हारा मनोबल स्थिर है तब तक मैं तुम्हारा ही बराम करूँगी-भले ही तुम्हारा धड़ भी शरीर से अलग हो जाये ?”

इसके बाद हुआ विश्वविख्यात ट्रेफलगर का युद्ध । इस युद्ध में नेल्सन को जहाज के एक पुल पर सबसे खतरनाक स्थान पर तैनात किया गया । फ्रांस और स्पेन दोनों ने मिलकर चढ़ाई कर दी और ब्रिटिश बेड़े के पैर उखाड़ दिये । ट्रेफलगर में घमासान युद्ध हुआ ।

युद्ध चल रहा था तब उसे आज्ञा दी गई कि उस स्थान पर दुश्मन का आक्रमण होने वाला है, वह स्थान छोड़कर पीछे हट जाओ । लेकिन नेल्सन ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया ।

नेल्सन ह्यूटी पर खड़ा था तभी एक गोली उसको लगी । सिपाही उसे उठाकर पीछे से जाना चाहते थे पर उसने सोचा यदि अन्य सिपाहियों को मेरे मर जाने की

सूचना मिली तो उनका उत्साह ठण्डा पड़ जायेगा और हार हो जायेगी । उसने कड़ककर कहा जब तक विजय की सूचना नहीं मिलती मैं मुर्दा हो बाऊँ तो भी मुझे ऐसे ही खड़ा रहने दिया जाय ।

और सचमुच एक बार फिर विजय आई और जब उसकी सूचना उसे मिल गई तभी उसका प्राणान्त हुआ ।

जिन्होंने निःशस्त्र उपनिवेशवाद से संघर्ष किया-

डॉ० जगन

दक्षिण अमेरीका स्थित एकमात्र ब्रिटिश उपनिवेश ब्रिटिश गायना । अंग्रेज सरकार किसी न किसी तरह वहाँ बने रहने के लिए तरह-तरह के नाटक रचती रहती थी । इन्हीं नाटक स्वीगों की मूखला में सन् १९५३ में आम चुनाव सम्पन्न कराये गये । सायद वे लोग इस मुलाके में थे कि ब्रिटिश गायना की जनता उन्हें अब भी चाहती होगी इसलिए वे अपनी विजय के प्रति बड़े आशान्वित थे । परन्तु गायना द्वीप के लोगों में पीपुल्स प्रोग्रेसिव पार्टी दिनों-दिन लोकप्रिय होती जा रही थी । शक्ति भर काम करने के बाद जिन्हें पेट भर भोजन नहीं मिलता हो उनके लिए न्याय का आश्वासन भी प्रारम्भ हो तो पर्याप्त रहता है ।

सन् १९५३ के अप्रैल मास में उपनिवेश गायना की २४ सीटों पर चुनाव लड़ा गया । इस चुनाव में जनमत ने पीपुल्स प्रोग्रेसिव पार्टी का साथ दिया । इस दल को २४ में से १८ सीटें मिलीं । ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के लिए तो एकदम यह अप्रत्याशित था इसलिए उसने जनमत को अपने खिलाफ जाने से रोकने के लिए ओछे हथकण्डे अपनाना आरम्भ कर दिया । इस दल के ही ३३ वर्षीय डॉ० छेदी जगन ब्रिटिश गायना के महामंत्री चुने गये । वे इस पद का उत्तरदायित्व सम्भालते इसके पूर्व ही संविधान, संसद और चुनाव सब निस्त कर दिये गये ।

प्रोग्रेसिव पार्टी ने जनभाषनाओं को दमन करने के विरोध में आन्दोलन छेड़ा । आरम्भ में तो उसे दबाने के लिए प्रयास किये गये । पुलिस और वहीं की सेवा की मदद से दमन जारी रहा । परन्तु सरकार इस प्रकार अपने प्रयासों में सफल न हो सकी । ब्रिटिश गायना में चल रही राजनीतिक गतिविधियों के समाचार इंग्लैण्ड पहुँचे तो वहाँ से सहायता के लिए १६०० सैनिक और चार जंगी जहाज भेजे गये । दुनिया भर के स्वतन्त्रता प्रेमी देशों ने इस कृत्य की निन्दा की परन्तु उपनिवेश सचिव भी आलिबर लिटल्टन ने घोषणा की कि-हम राष्ट्रमण्डल में एक और जनवादी राज्य की स्थापना नहीं होने देंगे ।

पीपुल्स पार्टी की महामन्त्री डॉ० जेनेट जगन ने आह्वान किया कि-“हमारे देश पर विदेशियों ने आक्रमण किया । जनता मुकाबले के लिए तैयार हो इसके पूर्व ही

तो स्थिति बदल चुकी थी।" ब्रिटिश गायना की विचारधारा और शासननीति से ब्रिटिश शासकों को उत्तरा खतरा नहीं था जितना कि डॉ० जेडी जगन से। उस समय वे अपनी पत्नी सहित गायना के नागरिकों को उनका न्यायिक अधिकार दिलवाने का प्रयत्न कर रहे थे।

डॉ० जगन अमेरिका में शिक्षा प्राप्त कर गायना में प्रैक्टिस करने वाले दौतों के एक डॉक्टर थे। जब से उन्होंने इस ब्रिटिश उपनिवेश को अपना कार्य क्षेत्र चुना तभी से यहाँ के जन-जीवन और ग्रामजीवी वर्ग को बड़ी बुरी तरह सुटते देखा। उस समय गायना के औद्योगिक क्षेत्र में तीन बड़ी कम्पनियों का एकाधिकार था। जो निरापद अपना शोषण चला रही थीं। उन दिनों एक बटन ऐसी पटी जिसने डॉ० जगन को एकदम परिवर्तित कर दिया। एक बार शाम के समय वे अपनी दुकान बन्द कर घर आ रहे थे। इसी वक्त ग्रामिकों की भी झुट्टी हुई। रास्ते चलते कई मजदूर मिल मालिकों को गालियाँ देते आ रहे थे। डॉ० जगन ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया परन्तु एक मजदूर जिसका भूख के कारण बड़ा बुरा हाल था, बेहोश होकर गिर पड़ा। अन्य ग्रामिक भी उनके आस-पास आकर खड़े हो गये। बेचारे वे भी क्या कर सकते थे। सारी स्थिति जान कर डॉ० जगन ने आवश्यक मदद की।

इस घटना ने उनके मन में धन सोसुप पूँजीपतियों के प्रति घृणा का भाव भर दिया। ब्रिटिश गायना का प्रमुख उद्योग चीनी और चावल की खेती है और कृषि पर मुख्यतः बन्द पूँजीपतियों का नियंत्रण है। पूँजीपतियों ने देश की सारी अर्थव्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था पर अपना नियंत्रण कर रखा है। वे लोग अपने ही लाभ और स्वार्थ की बात सोचते हैं। इस कारण देश में घोर निर्धनता है। कारखानों के मजदूर कम्पनियों के मालिकों की दया पर निर्भर हैं। किसानों के पास तो अपनी भूमि की जमीन भी नहीं है। वे कैबुली भारकर बैठे भन्त सेतों के दास हैं। देश में अधिकांशतया बेकारी और गरीबी है। डॉ० जगन ने अपने देश के जन-जीवन की इस दशा का निकट से अध्ययन किया और पाया कि ग्रामिक यदि अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने के लिये तैयार हो जायें तो इन सब दुःस्थितियों का निवारण हो सकता है।

उस समय गायना का शिक्षा तंत्र पादरियों के हाथ में था। सरकार से उन्हें वित्तीय सहायता मिलती थी और चर्च स्कूल चलाते थे ऐसी स्थिति में जबकि शासन को पूँजीपतियों और जनता का शोषण करने वालों से लाभ निश्चित है तो वह क्यों उनके खिलाफ कोई भी खतरे की सम्भावना पैदा करेगी। निसन्देह धर्म का भी यहाँ वही स्वरूप सम्भलवा गया जो दानदाताओं के हित में रहा हो।

डॉ० जगन ने अपने चुनाव घोषणा पत्र में इन सब अव्यवस्थाओं को दूर करने का वचन दिया था और जब

जनता ने उनका साथ दिया तो उन बातों को क्रियान्वित करने के लिए कदम भी उठाये। परन्तु वे कुछ कर सके इसके पूर्व ही उन्हें अपदस्थ कर दिया।

परन्तु इससे गायना घर के प्रजावादी लोग, पीपुल्स वर्कर्स तथा जगन दम्पति किंचित भी निराश नहीं हुए। तमसा था इस स्थिति के लिए वे पहले से ही तैयार थे। सच भी है संसार में कोई सुधार निर्विरोध सम्पन्न नहीं होते। डॉ० जगन ने अपने प्रयासों द्वारा अनुयायियों से अहिंसात्मक विरोध करने के लिए कहा। यद्यपि कई युवक और उत्साही कार्यकर्ता उग्र विरोध के लिए भी तैयार हो रहे थे परन्तु डॉ० जगन ने उन्हें शान्त रहने के लिए समझना और कहा कि इससे तो अपने ही देश का जन-जन नष्ट होगा।

शान्ति और अहिंसा के इस उपासक की तस्वीर दुनिया के सापने खतरनाक और खूनी कम्युनिस्ट के रूप में रखी गयी। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने यह प्रचार किया कि डॉ० जगन अपनी पत्नी के बहकावे में आकर कम्युनिस्ट सत्ता की स्थापना का स्वप्न देख रहे हैं। उनके पूर्व जीवन के सम्बन्ध में मनगढ़न्त बातों का प्रचार किया गया।

पति-पत्नी डॉ० जेडी जगन तथा श्रीमती जेनेट जगन पर आरोप लगाया गया कि १९४७ में उन्होंने विधान मण्डल का सदस्य बनने पर चीनी की मिलों में हड़ताल करवाई और इसके परिणामस्वरूप जो उपद्रव मचा उसमें ५ ग्रामिक मारे गये। वही नहीं थे १९५१ में कहीं साम्यवादीयों से मिलने भी गये। वे सब बातें उन्हें कम्युनिस्ट सिद्ध करने के लिये कही गयी थीं।

इतना सब होने पर भी ब्रिटिश सरकार ने उन्हें गिरफ्तार क्यों नहीं किया इस बात से संसार के कई देशों के राजनीतिज्ञों ने इस प्रचार पर विश्वास नहीं किया। उनके देश में तो उपनिवेशवादी सरकार के दमन चक्र ने वहाँ की जनता में सर्वाधिक लोकप्रिय जगनेत्र बना दिया। वहाँ की जनता ने उनसे अग्रगण्य प्रेम और अटूट विश्वास किया। गाँधीजी के बाद अपने देश में इतना समन लोक विश्वास प्राप्त करने वाले नेता डॉ० जेडी जगन ही कहे जा सकते हैं। अग्रिम सरकार ने लोकमानस में बनी हुई उनकी तस्वीर को तोड़ने का कितनी ही बार प्रयत्न किया किन्तु सफलता कभी न मिली क्योंकि वह उनकी स्वयं उपार्जित लोकप्रति रही है।

दमन और शक्ति के बल पर कुछ समय के लिए सरकार राष्ट्र की आकाश को दबाये रखने में थोड़े ही सफल हो गयी हो परन्तु अधिक समय तक यह स्थिति बनी न रह सकी। ब्रिटिश सरकार ने एक बार फिर चुनाव कराये। इस बार पीपुल्स पार्टी का विघटन हो गया था। इसी कारण सरकार को यह विश्वास हुआ था कि डॉ० जगन अबकी बार तो पराजित हो ही जायेंगे। सरकार से उनके एक पुराने साथी लिडन फोरेनेस बर्नहम पार्टी से अलग हो गये थे।

पिछले चुनावों को भी चार वर्ष हो गये थे वरन् पार्टी विघटन का डॉ० जगन पर कोई असर नहीं हुआ और अन्ततः जनता ने उन्हें ही अपना एकमात्र विश्वासपात्र नेता चुना ।

किसान पुत्र से राष्ट्रपति पद तक— ज्यांग-काई-शेक

अर्धरात्रि का समय था । बाहर बटाटोप अंधेरा और अन्दर दीपक का टिमटिमाता प्रकाश । सारी दुनिया निद्रा देवी की गोद में विश्राम कर रही थी और जापान के एक छोटे से कस्बे में दो चीनी युवक क्रांति की योजना बना रहे थे । उस समय प्रथम विश्वयुद्ध चल रहा था । इन दो युवकों में से एक तो था सैनिक जो जापान के लिए लड़ रहा था और दूसरा था क्रांतिकारी जो चीन में गणतन्त्रात्मक राहुवादी सरकार की स्थापना का स्वप्न सँजोये उत्साही देशपक्ष युवकों को टटोलता फिर रहा था । सैनिक उक्त क्रांतिकारी से प्रेरणा प्राप्त कर अपने देश की जनता को लोकतन्त्र और राष्ट्रीय शासन देने के लिए युद्ध के मोर्चे पर से बीच में ही लौट आया था । उस समय पलायन करने वाले सैनिकों की खैर नहीं थी । फिर भी अपने प्रेरणा स्रोत और मार्गदर्शक के निर्देश अनुसार युवक ने यह खतरे से भरा कदम उठाया था । इन दोनों युवकों में सैनिक थे—ज्यांग-काई-शेक और उनके प्रेरणा स्रोत थे डॉ० सनयात सेन । जिन्होंने सर्वप्रथम चीनी-क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार की और जीते जी उसे सफल बनाया । अपने जीवन काल में ही क्रांति का सफल आयोजन करने वाले ज्यांग-काई-शेक कई संघर्षों का सामना कर निर्धारित लक्ष्य की ओर बढ़े थे ।

मध्य चीन के भीक्यांग नामक स्थान पर बसने वाले एक निर्धन किसान परिवार में सन् १८८७ में ज्यांग-काई-शेक का जन्म हुआ । उनके पिता के पास बहुत थोड़ी जमीन थी । जिससे गुजारा भुरिकला से ही चलता था । आर्थिक अभाव और पारिवारिक कठिनाइयों ने भी ज्यांग-काई-शेक के विकास में कोई बाधा नहीं डाली और वे स्वाभाविक रूप से पलने-बढ़ने लगे । बरीबी के कारण ज्यांग-काई-शेक की शिक्षा-दीक्षा भी कोई खास नहीं हुई । उन्हें किशोरावस्था में ही रोजगार की तलाश के लिए भटकना पड़ा । चीन में उस समय बेकारी और गरीबी का राज्य था । चारों ओर बकन युवक, वृद्ध, पुरुष अपनी दोन दुर्दशा लेकर फलतः घूमते रहते । काम की तलाश में बच्चों को भी भागना पड़ता । ज्यांग को भी अपने अन्य समस्तरीय परिवारों के सदस्यों की तरह रोजगार की तलाश में भाग-दौड़ करनी पड़ी ।

तभी प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ और वे जापानी सेना में भर्ती हो गये । स्वदेश छोड़ना पड़ा किन्तु आर्थिक

बिन्दवों इतनी नहीं रहीं । सैनिक प्रशिक्षण के दौरान उन्होंने कई अस्त्र-शस्त्रों का संचालन तथा युद्ध विद्या के पैतरे सीख लिए । घर पर माता-पिता खेती-बारी सम्हालते थे और युद्ध पर मोर्चा ज्वांग । सेना में भर्ती होने का एक मात्र कारण आर्थिक परेशानियाँ ही थीं फिर भी सैनिक जीवन का अभ्यास उनके भविष्य में बड़ा काम आया । दृढ़ विश्वास, अनुशासन और संगठन शक्ति का उदय तथा विकास उनके सैन्य जीवन की ही देन है ।

चार साढ़े चार वर्ष तक सेना में रहे होंगे कि उन्हें पता चला चीन का एक युवक सनयात-सेन वहाँ की दुःस्थिति सुधारने और उसके लिए पूर्णरूप से जिम्मेदार विदेशी शासन को बदलने के लिए प्रयास कर रहे थे । चूँकि उनका स्वयं का जीवन भी चीन की व्यवस्था के कटु-अनुभवों का भुक्त भोगी था । इस व्यवस्था के प्रति उनमें तीव्र आक्रोश भी था इसलिए डॉ० सनयात सेन के समाचार और प्रयासों के सम्बन्ध में सुनकर ज्यांग ने एक नयी प्रेरणा प्राप्त की ।

अपने लिए तो सभी जीते हैं । स्वयं की परिस्थितियों, अपावों और कष्ट-कठिनाइयों को दूर करने के लिए हर कोई प्रयास करता है । मैं भी इसी प्रकार की अन्धी दीड़ में भाग लूँ तो क्या खास बात हुई । ज्यांग के अन्तःकरण में मानवीय विघ्नपान भावनाओं ने बल पकड़ा और वे सोचने लगे—सेना में भर्ती होकर तो मैंने अपने ही परिवार की कठिनाइयों को दूर किया है । पारिवारिक अभावों को दूर कर देना ही पर्याप्त नहीं है वरन् विदेशी शासन के शोषण चक्र को बन्दकर सर्वसाधारण को जीवनयापन की सुविधाएँ तथा स्वातन्त्र्य सुख की परिस्थितियाँ लाना आवश्यक है । ज्यांग स्वयं को इस विचार के क्रियान्वित करने हेतु तैयार करने में लग गये ।

तभी डॉ० सनयात सेन का आगमन जापान में हुआ और ज्यांग ने उनसे सम्पर्क साध । डॉ० सनयात सेन उत्साही और देशपक्ष युवक के विचारों, भावनाओं तथा निद्रा से बड़े प्रभावित हुए । उन्होंने ज्यांग को अपना सहयोगी बना लिया और चीन में क्रांति द्वारा स्वाधीनता लाने के प्रयासों में जुट गये । डॉ० सनयात तो विदेशों में घूम-घूमकर क्रांति की पृष्ठभूमि तैयार कर रहे थे । ज्यांग को वहीं रहकर जन-जागरण का कार्य सौंपा । फलस्वरूप उनकी प्रतिष्ठा ख्याति बढ़ने लगी । स्वाधीनतापरक कार्यक्रमों के सूत्रधार होने के कारण वे सरकार की दृष्टि में भी आये और पुलिस तथा विदेशी शासन के विरुद्ध उनके पीछे पड़ गये । ज्यांग इधर-उधर कुपते फिरते और स्वयं को पकड़ से बचाये रहे । कई अवसरों पर जब वे जूरी तरह फँस गये थे कहीं से बचने का कोई रास्ता नहीं था । ऐसे समय पर उन्होंने धैर्य और सूझबूझ से काम लिया तथा बड़ी कुशलतापूर्वक आततायी तन्त्र से

अपने को बचा ले गये । स्वयं को सरकार की पकड़ में आने से बचाने के साथ-साथ वे अपना काम भी बढ़ी तत्परता से पूरा कर रहे थे ।

निष्ठा और साहस के धनी ज्वांग पर डॉ० सनयात सेन का विश्वास बढ़ता ही गया । उनकी गफना क्रान्तिकारियों तथा सनयात सेन के प्रमुख सहयोगियों में होने लगी थी । चीन की चीपुल्स पार्टी में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान बन चुका था । सनयात सेन के जीवन काल में ही वे चीपुल्स पार्टी के केन्द्रीय कार्यसमिति के सदस्य भी चुने जा चुके थे । एक के बाद एक बड़े महत्व के उत्तरदायित्व उन्हें सौंपे गये और उन सभी को सफलतापूर्वक निभाया ।

ज्यों-ज्यों उनकी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि फैलती रही त्यों-त्यों विदेशी शासन भी उनसे डर खाने लगा । प्रलोभन देकर अपनी ओर मिलाने से लेकर उन्हें गिरफ्तार करने और मरवा देने तक अनेकों प्रयास किये गये । प्रलोभनों को ठुकराकर और बहानों से बचकर ज्वांग ने अपने लक्ष्य और कार्य के प्रति अटूट निष्ठा का परिचय दिया । ज्वांग की इसी निष्ठा और लगन ने उन्हें डॉ० सनयात सेन का उत्तराधिकारी बनाया । अक्टूबर, १९१९ में ज्वांग की क्रान्ति के सफल हो जाने पर वे चीन की जनता के सपने खुलकर आये और स्वाधीनता का रांछ फूंकने लगे ।

ज्वांग की क्रान्ति से विदेशी शासकों का भरोसा बुरी तरह टूट चुका था । ज्वांग तथा सनयात सेन का स्वतन्त्र अभियान इस कारण और भी सफलतापूर्वक चलने लगा परन्तु सरकार ने अपनी दमन नीति को रूढ़मंत्र भी डीला नहीं किया । इसके बावजूद भी ज्वांग तथा उनके सहयोगी निर्भयतापूर्वक कार्य में लगे रहे । ज्वांग की क्रान्ति सफलता ने उनका मनोबल और आत्मविश्वास साधारण रूप से ऊँचा उठा दिया था । निष्ठा और ईश्वर के साथ परिस्थितियों और प्रतिकूलताओं के प्रति निर्भयता भी जन्म ले लेती है तो व्यक्ति हो या समाज दुर्गति से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने लगता है । ऐसी स्थिति में वह प्राप्त परिस्थितियों से बिना घबराये और डार माने उटकर मुकाबला करता है, उन पर विजय प्राप्त करता है ।

ज्वांग की क्रान्ति से विदेशी शासकों का भरोसा तो टूटा ही था वे बीखला भी गये । परिणामस्वरूप अन्धधुन्ध कार्यवाहियाँ चलने लगीं । पकड़-पकड़ और सख्ती फूसो से कहीं ज्यादा और कस दी गयी थी परन्तु दमन कभी भी जनता की आकांक्षाओं को कुचल नहीं सकता है । कुछ काल के लिए जन आक्रोश ठण्डा भले ही पड़ जाय पर अन्दर ही अन्दर सुलगता रहता है और अवसर पाकर भड़क उठता है ।

एक दूसरी स्थिति भी होती है । जिसमें दमन का परिणाम प्रतिक्रिया उठने ही सेग से उठती है । वह स्थिति जागरूक और उत्साही जन समाज में ही उत्पन्न होती है ।

चीन का तत्कालीन समाज भी ज्वांग-काई-शेक, डा० सनयात सेन और उनके क्रान्तिकारी संगठन के प्रयासों से पूरी तरह जाग उठा था । विश्व में होने वाली घटनाओं ने उनमें सहस्र और आत्मविश्वास भी पैदा कर दिया था फलस्वरूप स्वाधीनता आन्दोलन अपनी धुरी पर और गतिमान हुआ । क्रान्ति का पहिवा तैयारी से भूमने लगा ।

तभी चीनी स्वाधीनता संग्राम को एक अपूरणीय क्षति हुई । सन् १९२५ में डा० सनयात सेन का देहान्त हो गया । पार्टी ने अपना नेता तथा क्रान्तिकारियों ने अपना अगुआ खो दिया । कुछ समय तक पार्टी के कार्यकर्ता इसी उषेदबुन में रहे कि नेतृत्व के अभाव में किस प्रकार आन्दोलन आगे बढ़ाया जाये । नेता की तलाश में सभी की आँखें ज्वांग-काई-शेक पर जा टिकीं और ज्वांग सनयात सेन के योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हुए । उन्होंने स्वतः स्वयं अपना नेता मानने और हर क्षेत्र में आगे बढ़ने, विदेशी शासन को परास्त करने का आह्वान किया । ज्वांग अपने गुणों और कार्यों के कारण युवकों के प्रिय पात्र तो थे ही । लोगों ने उनके आह्वान को सुना और ज्वांग के व्यक्तिगत जीवन से प्रभावित होकर आगे भी आये । किसी भी क्रान्तिकारी का जनसेवा के विचार मात्र ही आदर्श नहीं बनते । कार्यक्रम, योजनाएँ और सुझाव देने वाले तो सैकड़ों नहीं हजारों हैं परन्तु उनकी प्रेरणाएँ उनके स्वयं की जीवन में दिखाई न देने से बलहीन ही रही हैं । ज्वांग ने आरम्भ से ही देश और समाज के लिए व्यक्तिगत तथा पारिवारिक हितों का बलिदान किया था । परिणामस्वरूप उनकी पुकार में भी वह शक्ति पैदा हुई जिसने लाखों-करोड़ों निम्नज शरीरों को झिझोड़ कर खड़ा कर दिया ।

अन्ततः स्वाधीनता संग्राम सफल हुआ और १९२८ में चीन एकता हो गया । ज्वांग-काई-शेक चीन की राष्ट्रवादी सरकार के राष्ट्रपति बने । अब उनके सामने एक और बड़ा काम था वह था विभाजित चीन के एकीकरण का । जिसरी हुई चीनी जनमति आपस की ही बातों में डलझकर गड़ हो जाती थी फलस्वरूप उसे हर कोई दबा देता और शासक बन बैठता था । इतिहास के इस महत्वपूर्ण सूत्र को पकड़ कर उन्होंने चीन के एकीकरण की योजना बनायी और उसे भी उत्साह तथा सहस्रपूर्वक क्रियान्वित किया ।

सन् १९३८ तक ज्वांग ने चीन के एकीकरण का चरस्वस्त काम किया । इसके लिए उन्हें दुनिया की कई शक्तियों से मतभेद तथा शत्रुता मोल लेनी पड़ी । तभी कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिनके कारण वे चारों ओर निराशा से भिर गये । जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी निराश न होने वाले ज्वांग अपने कुछ साथियों से मतभेद हो जाने के कारण राष्ट्रपति पद से त्याग पत्र देकर टोकियो-जापान चले गये । अभी उनके सामने

काफी काम पड़ा कि जिसे पूरा करने के लिए चीन की जनता, उसके प्रतिनिधियों और विरोधियों तक का सहयोग वांछनीय था। कुछ लोगों द्वारा उन्हें बिल्कुल भी सहा नहीं गया परिणामस्वरूप विरोधियों को सन्तुष्ट करने के लिए वे अज्ञातवास में चले गये। टोकियो जाने की किसी को खबर ही नहीं हुई।

१९३१ से ३९ के दौरान जापानी सेनाओं ने चीन पर कई बार आक्रमण किया। प्रारम्भ में ही जब उन्होंने जापानी हमलों के समाचार सुने तो वे चुप ही नहीं बैठ सके और दुनिया के सामने खुलकर आ गये। इस संकट काल से निबटने के लिए विरोधियों ने भी जतनपूर्वक मुलाकात च्यांग को राष्ट्रीय नेता के रूप में स्वीकार कर लिया। वे चीनी सेनाओं के जनरल बने और इस बहादुरी तथा चीरता से जापानी हमलों का मुकाबला किया कि प्रतिपक्षी सत्रु को डारकर चुप बैठ जाना पड़ा। इस विजय ने उन्हें चीनी जनता का सर्वाधिक लोकप्रिय जननेता बना दिया। सन् १९४३ में उन्हें चीन का राष्ट्रपति चुना गया।

इससे पूर्व वे कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में इस उत्तरदायित्व को सम्हाल रहे थे। ज्वांक-काई-शेक को अपने देश की जनता से असीम प्यार रहा है। उसके सुख के लिए उन्होंने बिना धके, विक्रम किये बारह-तेरह घण्टे तक परिश्रम किया। उनके राष्ट्रपतित्व काल में ही देश में कम्युनिस्टों का दबाव बढ़ता गया। माओ-त्से-तुंग आदि के नेतृत्व में एक जबरदस्त आंधी आयी और चीन की राष्ट्रवादी सरकार का पतन हो गया।

च्यांग-काई-शेक २१ जनवरी, १९४९ को अपनी मातृभूमि छोड़कर फारमोसा चले गये। वह चीन का ही एक भाग है जहाँ आज भी उनके नेतृत्व में संस्थापित लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था चल रही है। वे विश्वभूट के समय से ही महानता को प्राप्त करने वाले बार व्यक्तियों में से एक माने जाते हैं।

च्यांग-काई-शेक ने अपने जीवन के भाग्यमय से विरथ के उन व्यक्तियों के सामने एक अनुकरणीय अमूर्त रत्न जो स्वयं अपनी तथा अपने परिवार की चिन्ताओं में ही व्यस्त रहते हैं और उन्हें पूरा करने के लिए हो मरते खपते रहते हैं।

पुरुषार्थी गारफील्ड

डॉट सुनकर वह सहम गया। फटी फटी आँखों से कुछ देर उसकी ओर देखता रहा, जिसकी आँगुलियों में थमी कलम उसका भाग्य लिख रही थी। तो क्या इन्सान का भाग्य किसी की मुट्ठी में कैद रहता है? पर वह तो दिन भर हड्डी तोड़ परिश्रम करता है, तब कहीं एक दो

नहीं पूरे तीस दिन के बाद उसे मजदूरी मिलती है। तब उसके भाग्य की सूनेता उसकी मजबूत बाँहें हैं, उसकी श्रम शक्ति है अथवा कोई और? जबकि विचारों के जाल में उलझ कर रह गया। हाथ में आधा बरखास्तगी का हुक्मनामा, जिसे लेकर वह चल पड़ा जिन्दगी की अनबानी राहों की ओर।

रह रह कर उसके मन में सवाल उभरता “भाग्य बड़ा है या पुरुषार्थ” कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अपने ही अन्दर से सवाल फूटते हैं फिर अपने ही मन के अनेकों कोनों से जबाब झाँकने लगते हैं, निकलते हैं, एक दूसरे पर झपटते हैं। बड़ी गहमा-गहमी के बाद किसी को जीत मिलती है। उसको भी हालत कुछ ऐसी ही थी। उधेड़-बुन में पड़ा वह सोच रहा था क्या किया जाय? कहाँ जाना चाहिए।

छैर जैसे-तैसे एक नाटक कम्पनी में काम करने लगा वह। दो-तीन हफ्ते में सफल भी हुआ। कम्पनी के इन्ड्रेक्टर ने उसे प्रमुख एक्टर की भूमिका सौंपी। उस दिन काफी खुरा हुआ सोचा जलो इस बार पुरुषार्थ जीता। किन्तु कुछ ही दिनों बाद किसी बात पर नाटक कम्पनी वाले ने भी निकाल दिया। यह घटना उसे अन्दर तक हिंसा गई। सोचने पर विवश हुआ अरे नहीं भाग्य ही सब कुछ है पुरुषार्थ की कहाँ चल पाती है? पर वह जो पुरुषार्थ का पुजारी रहा है अपने इष्ट की पूजा करना छोड़ दे।

‘वहीं’ इस दुष्ट निश्चय के साथ वह फिर चल पड़ा। इस बार उसने मल्लाह का काम हाथ में सँभाला। नया-नया था, नाव चलाना भली प्रकार कैसे जानता? कई बार डूबते-डूबते बचा। कहीं साधियों को ही ले डूबता तो अदालत और जेल की हवा खानी पड़ती, इसलिए पहले ही सम्पत्तेशरी का काम किया। नाव छूट गई। नाव बेचकर चौकीदारी कर ली। मित्र मिलते और उपहास करते हुए इस चौकीदार से हँसकर पूछते-कहो भाई यह चौकीदारी कितने दिन चलेगी। भुवक उनसे कहता अब तक कोई पदोन्नति न हो। इस बेचारे की पदोन्नति तो तब से होती जब कोई करता और हों। एक दिन जाँच करने वाले सिपाही ने उसे अयोग्य ठहराकर चौकीदारी से भी निकाल दिया। अभाव उसकी सम्पत्ति थी, विपत्ति उसकी सहचरी। इस सबके बाद पुरुषार्थ के प्रति उसकी निष्ठा बरकरार थी। मित्र-परिचितों के ताने-उलाहने के साथ वह और मजबूत हो जाती। निरन्तर की असफलताओं के बाद उसने एक ही ध्येय बनाया था पुरुषार्थ जीवन के सौभाग्य की सृष्टि करता है इसे स्वयं जीवनव्यापी प्रयोग से सिद्ध करना है।

इस बार काफी मटकना पड़ा। आखिर में एक छोटे स्कूल में सामान्य शिक्षक की बगह मिल गई। पढ़ाता भी था

पढ़ता भी था। अपने समय के प्रत्येक अंश को सदुपयोग करने की अनूठी कला भी सीखता। अपने मित्रों में बैठकर पुरुषार्थ से सौभाग्यों की सृष्टि वाली बात कहता तो सभी हँस पड़ते। हरेक कहता यहाँ से निकाले न जाओ यही बहुत।

इस बार वह निकाला नहीं गया स्वयं निकलना, सेना में नौकरी करने के लिए विद्यालय से चौच रिपोर्ट भोगी गई तो वहाँ के हैडमास्टर ने लिख भेजा नेक, परिश्रमशील परिस्थितियों से न घबराने वाला युवक। सेना में कमान बना। वहाँ से उसने अपने मित्र को पत्र लिखा “पुरुषार्थ तो बरगद का बीज है। दिखने में छोटा लगता है तब तक गहरे पड़ता है और देर से अंकुरित होता है। मेरे पुरुषार्थ ने अंकुर देने आरम्भ कर दिये हैं, विकसित होने पर वो पूरे अमेरिका को छाया देगा।”

सचमुच वह पुरुषार्थ का अंकुरण था। सेना से वह लोकसेवा के क्षेत्र में उतरा। राजनीतिक अभिरुचियों, जन सम्पर्क, व्यवहार कौशल सभी ने एकमत होकर उसे अमेरिका का प्रेसीडेण्ट बनाया। जबदूर से राष्ट्राध्यक्ष तक की यात्रा करने वाला यह व्यक्ति था गारफील्ड। यदि पुरुषार्थ का बीज जन-जन के जीवन में अंकुरित हो सके तो सब न केवल सौभाग्यों की सृष्टि कर सकेंगे, बल्कि अनेकों को छाया देकर कृतार्थ भी।

जिन्हें देशभक्ति के पुरस्कार में मृत्युदण्ड मिला—

कैप्टन तनामा

टोकियो स्थित रूसी दूतावास में वहाँ के एक रूसी सैनिक सलाहकार ने सेंट पीटर्सबर्ग एक लिफाफा भेजा। घटना २०वीं शताब्दी के आरम्भिक दशक की है। पैकेट में जो कागज रखे हुए थे वे बड़े सामरिक महत्व के थे। उसमें जापानियों द्वारा की गयी सुरक्षात्मक तैयारियों का पूरा तरीका तथा व्यौरा था और उस समय रूस जापान पर अपना प्रभुत्व जमाने की योजना और व्यवस्था बना रहा था। सैनिक सलाहकार ने उस पैकेट के साथ ओ पत्र भेजा था उसमें लिखा गया था कि ये सारे विवरण कैप्टन तनामा से प्राप्त हुए हैं। वही तनामा जिसने बदनामी के भय से रूस छोड़ दिया था तथा यही नहीं रूस के लिए जापान में नासूसी करने का वचन दिया था। यद्यपि तनामा जापान की ओर से रूस में नियुक्त राजदूत के सैनिक सलाहकार थे। परन्तु परिस्थितियों तथा घटनाओं ने कुछ ऐसा मोड़ लिया कि उन्हें रूस छोड़ने तथा अपने देश की ही गुप्त तैयारियों का विवरण रूस भेजने का कार्य करना पड़ा।

कैप्टन तनामा एक प्रभावशाली व्यक्तित्व के स्वामी थे। उनका कद सामान्य जापानियों की तरह ठिगना नहीं

वरन् छह फुट ऊँचा था। उनकी चाल-ढाल, रहन सहन, व्यवहार और वार्तालाप किसी सभ्रान्त कुल का सदस्य होने की घोषणा करते थे और सचमुच वे भी वे सभ्रान्त पिता की संतान। उनके पिता जापान के तत्कालीन सम्राट मिकाडो के निजी सचिव थे। एक राजपरिवार से सम्बन्धित होने के कारण तनामा के व्यक्तित्व से मोहक शासीनता और चुम्बकीय आकर्षण टपक पड़ता था।

अपनी निर्धारित फौजी वेशभूषा पहनने के बाद तो उनके व्यक्तित्व की प्रभावोत्पादक क्षमता और भी कई गुना बढ़ जाती थी। रूस के अधिकारीगण जब उनके सम्पर्क में आये तो उन्हें सन्देह होने लग्न कि हो न हो तनामा कोई जापानी गुप्तचर है। उनकी आलचीत जितनी सौम्य और शक्तीन होती थी उतनी ही नमी-तुली और सतर्क सावधान भी हुआ करती। फिर भी उनके व्यक्तित्व में तो ऐसा आकर्षण था जिससे साधारण कर्मचारी से लेकर उच्च अधिकारी और राज्य परिवार के सदस्यों तक ने उनसे मैत्री सम्पर्क बनाये। अच्छे-अच्छे अधिकारियों में उनका ठठना बैठना देखकर तो रूसी अधिकारियों का माथा और भी उनका। क्योंकि इससे कभी भी कोई भी गुप्त कार्य और योजनाओं की सूचना तनामा के माध्यम से जापान पहुँचने की सम्भावना रहती थी। इसीलिए रूस के शासन तन्त्र को तनामा के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक सोचने के लिए विवश कर दिया।

इस उद्देश्य से प्रयास किये गये। परन्तु उनमें सफलता मिलना तो दूर उल्टा सिरदर्द पैदा होने लगता। तनामा को भगाने के उद्देश्य से भेजा गया व्यक्ति उल्टा उनका प्रशंसक बनकर लौटता था और इस तथ्य को दुःखपूर्वक स्वीकार करता एवं स्वीकार करने का आग्रह भी करता कि तनामा जैसे व्यक्ति को रूस में स्थायी रूप से रहने का प्रयत्न करना चाहिए। किसी भी देश में किसी भी व्यक्ति ने इतना व्यपक और इतना सघन आच्छादन नहीं किया अपने व्यक्तित्व का जितना कि तनामा ने।

उन दिनों रूसी सेना के गुप्तचर विभाग में प्रमुख पद पर थे जनरल यक्लोस्को। जापान से युद्ध की सम्भावनायें दिनोंदिन नजदीक आती जा रही थीं। सभी अधिकारियों तथा सेनाध्यक्षों के लिए यह बड़ी चिन्ता की बात थी और वे सभी स्नेह विश्वास करते थे कि यक्लोन्सको जो अपने फन के दस्तावे हैं, साम-दाम, दण्ड, भेद कोई भी तरीका आजमाकर वे अपना मन्तव्य पूरा कराने में सक्षम हैं। इसलिए सुनियोजित ढंग से तनामा को रूस के बाहर करने का कार्यभार उन्हें ही सौंप गया। यक्लोन्सको ने सभी साधरण उपाय आजमा लेने के बाद कूटनीतिक कौशल का सहारा लिया। राजनीति में सुरा और सुंदरी का प्रयोग सदा से होता रहा है। अन्य साधारण उपायों की अपेक्षा ये दोनों उपाय अधिक क्रूर हैं। यक्लोन्सको ने एक सुन्दर

अभिनेत्री इल्लिन्सकाया को अपना मन्तव्य पूरा करने के लिए नियुक्त किया। उन्होंने इस अभिनेत्री को भारी पारिश्रमिक देकर इस बात के लिए राखी कर लिया कि वह उनके संकेत पर काम करेगी।

इल्लिन्सकाया ने बड़े सहज ढंग से तन्नामा से परिचय किया और उन पर अपने कब्र का बाढ़ चला दिया। तन्नामा इस अद्वितीय सुन्दरी के रूपबाल में फँस गये। परिचय सम्पर्क में बदला और सम्पर्क के बाद मुलाक़ातों का नित्य क्रम चला। क़सी अधिकारी जब इसके लिए पूर्णतया आरक्षित हो गये कि तन्नामा इल्लिन्सकाया की मुद्दी में आ गये हैं तो उन्होंने पैतरे बदले।

एक शाम मास्को के एक समुद्र होटल में तन्नामा अपनी प्रेयसी की प्रतीक्षा में बैठे थे। इसी होटल में डाब: ने प्रतिदिन भिला करते थे और प्रायः थोड़ी बहुत आगे-पीछे दोनों आ जाते थे। साथ बैठ कर खाते, साथ बैठकर मनोरंजन करते और चर्चाये चलाती रहतीं। इस दिन जब तन्नामा की प्रेयसी निर्धारित स्थान पर आकर बैठी तो उसका चेहरा चिंतित-सा था। लगता था कोई गम्भीर समस्या आ खड़ी हुई है जिससे इल्लिन्सकाया का चेहरा पीला पड़ गया है। तन्नामा ने चिंता का कारण पूछते हुए कहा-क्या बात है। आज तुम कुछ परेशान-सी दीख रही हो।

"नहीं तो कोई बात नहीं है," बात को टालते हुए से इल्लिन्सकाया बोली।

तन्नामा ने जोर दिया तो उसने कहा-"और कोई कारण नहीं है। मेरा सिर्फ इतना कहना है कि जितना शीघ्र हो सके हम लोगों को विवाह कर लेना चाहिए।"

"परन्तु मैंने तो कभी यहाँ तक सोचा नहीं है। मैं तुम्हें एक मित्र की भाँति ही मानता रहा हूँ। आज एकाएक तुम यह प्रस्ताव क्यों रख रही हो।"

"तुम्हें मेरे प्रस्ताव को मान ही लेना चाहिए क्योंकि मैं अब भी बनने वाली हूँ"- इल्लिन्सकाया ने रहस्योद्घाटन किया।

"लेकिन मैं तो कभी उसे स्तर तक नहीं गिरा। बच्चा मेरा कैसे हो सकता है-" तन्नामा इस रहस्योद्घाटन से विस्मित हुए। स्पष्ट था कि जिसे वे अपनी प्रेयसी समझ कर पवित्र इदम से प्रेम करते रहे वह इतनी पतिता निकली।

थले ही तुम्हारी बात सच हो। परन्तु मैं जो कह रही हूँ वह भी सच है और उससे बड़ा सच है क्योंकि लोग इसका पिता तुम्हें ही उहारायेंगे। सब जानते हैं कि हम और तुम एक साथ बैठ कर बैठे हैं, मनोरंजन किया करते हैं, साथ-साथ खाते पीते हैं।

"मैं विवाह नहीं कर सकूँगा इल्लिन्सकाया"- "तो मैं तुम्हें बदनाम कर दूँगी"-इल्लिन्सकाया ने धमकी दी और यह धमकी काम कर गयी। तन्नामा विवाह के लिए तो

तैयार नहीं हुए परन्तु उनके चेहरे पर चिंता और परेशानी के पथ्य झलकने लगे थे और वह अभिनेत्री जो अभी तक प्रेम का नाटक कर रही थी वहाँ से उठकर चली गयी।

तन्नामा एक छलावे में आ गये थे। उस समय जनरल यन्तोन्सको भी जो उनमें घनिष्ठ मित्र बन चुके थे और बेचारे तन्नामा उन्हें अपना शुभचिंतक मित्र समझ बैठे थे जबकि यन्तोन्सको के ही बुने जाल में वो फँस चुके थे। उस समय होटल से निकलकर उन्होंने अपने इसी मित्र को फोन किया और यवारीय मिलन चाहा। तन्नामा का फोन सुनते ही यन्तोन्सको सब कुछ समझ चुके थे। जैसी कि उन्होंने आप्त की थी सब कुछ उसी प्रकार चटित हुआ था और तन्नामा इस सम्बन्ध में उनकी अविलम्ब सहभ्रता चाहते थे।

जैसा चाहा तो वैसा ही रास्ता मिल गया हो तो फिर देरी किस बात की? यन्तोन्सको ने तन्नामा को उसी स्थिति में आने के लिए कह दिया और उनके आने का इंतज़ार करने लगे। तन्नामा से पूरी घटना सुनने के बाद उन्होंने पूछा-अब तुम क्या सोचते हो। क्या किया जाना चाहिए?

जनरल में डरपोक नहीं। मैं कलंक से भी नहीं पचराता। लेकिन परिवार की प्रतिष्ठा का मुझे ध्यान आता है तो उसके लिए मैं बड़ी से बड़ी कीमत चुकाने को भी तैयार हूँ। यदि मैं आत्महत्या भी करना चाहूँ तो बिना किसी हिचकिचाहट के कर सकता हूँ परन्तु इसके समाचार यदि जापान तक पहुँचे और मेरे माता-पिता को पता चला तो वे इस धक्के को बर्दाश्त नहीं कर सकेंगे। जनरल मैं आपसे उपयुक्त सलाह और मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए आया हूँ।

"ठीक है एक रास्ता तुम्हारे लिए पहले से ही तैयार है चाहो तो उस पर चलकर तुम अपनी समस्या का समाधान कर सकते हो। परन्तु उसके लिए कुछ कुर्बानी करनी पड़ेगी।"

"कुर्बानी, मैं सब कुछ कुर्बान कर सकता हूँ"-तन्नामा ने समझ कि समस्या के समाधान हेतु कुछ रुपये की आवश्यकता होगी शायद इसलिए उन्होंने पूछा-"कितने रुबल चाहिए?"

रुबल नहीं-यन्तोन्सको ने कहा-कुछ शर्तें हैं जिनको तुम्हें पूरा करना पड़ेगा।

शर्तें-तन्नामा को थोड़ा अप्रत्याशित सा लगा फिर भी उन्होंने पूछा-"क्या शर्तें?"

"तुम पहले तो रुस छोड़ दो। बदनामी से बचने के लिए वह तो तुम भी जरूरी महसूस करते ही होगे।"

"हाँ हाँ! क्यों नहीं? यह तो बहुत जरूरी है और, दूसरे यह कि तुम्हें जापान में रहकर वहाँ के सैनिक रहस्यों का पता लगाना होगा। टोकियो में रहकर तुम्हें रुस के लिए गुप्तचरों का काम करना पड़ेगा।"

अंतिम बात ने तनामा की आँखें खोल दी थीं। उन्होंने जान लिया कि जो कुछ भी हुआ है वह सब एक सुनियोजित षडयन्त्र के अनुसार हुआ है। उन्हें इस स्थिति की कल्पना भी नहीं थी और इस समय जब दो में से एक का चुनाव करना था—बदनामी से भय मुक्ति या देश की सुरक्षा तो पलड़ा देश का ही भारी लग रहा था। काफ़ी सोच विचार करने के बाद उन्होंने जनरल की शर्तें मंजूर कर लीं। उन्होंने कहा—“जनरल मुझे ये शर्तें मंजूर हैं।”

बस तो फिर अपने आपको बदनामी के भय से भी मुक्त समझो। अगले दिन ही तनामा ने सेंट पीटर्सबर्ग छोड़ दिया। रूस के अधिकारी अब जापान विजय को निरापद समझकर तैयारियाँ करने लगे। उन्हें तनामा से भी कुछ महत्वपूर्ण सुराग हाथ लगने की आशा थी और वे प्रतीक्षा करते रहे वे सप्ते दिनों तक कि अब तनामा का भेजा हुआ कोई सूत्र उन तक पहुँचे।

बहुत दिनों तक इंतजार करने के बाद भी जब कोई सूचना या संदेश नहीं मिला तो उन्होंने आशा ही छोड़ दी। सोचने लगे कि हो सकता है टोकियो पहुँचकर तनामा ने जासूसी करना पसंद न किया हो। लेकिन अभी वह पैकेट मिला जिसकी आरम्भ में चर्चा की जा चुकी है। उस पैकेट में सामरिक महत्त्व के कारण वे और इसके साथ ही वह सूचना भी कि वे कानजात तनामा द्वारा प्राप्त हुए हैं। यह और भी साब की प्रायोगिक बात थी। क्योंकि तनामा की जापान के राजपरिवार में गहरी पहुँच थी और किसी भी रहस्य सूत्र से वे अनभिज्ञ नहीं थे।

आरम्भ में तो किसी अधिकारियों को कई कार्यों से यकीन नहीं आया कि तनामा ने सही जानकारी भेजी है लेकिन बाद में समाचार आया था के कैप्टन तनामा को जापानी सरकार के युद्ध कार्यालय से युद्ध सम्बन्धी कगल चुराते समय पकड़ लिया है और उस पर यह अभियोग लगाया गया कि वह दुश्मन के लिए जासूसी कर रहा है तथा इस अपराध के दण्डस्वरूप उसे तुरन्त ही मार डाला गया। बाद में तनामा के पिता ने भी आत्महत्या कर ली।

इस समाचार ने किसी अधिकारियों को पूरी तरह आश्चर्य कर दिया उन सूचनाओं के प्रति जो तनामा द्वारा भेजी गयी थी। सन् १९०४ में यलु नदी के तट पर जापानी और रूसी सेनाओं में भयानक युद्ध छिड़ा। रूसियों को पूरी आशा थी विजय उनकी ही होगी। लेकिन इस आश से विपरीत रूसियों का पीछे हटना पड़ा। रूस बड़ी बुरी तरह हारा। तो क्या तनामा ने गलत सूचनाएँ दी थीं—परन्तु उसे तो मृत्युदण्ड दिया गया था।

जनरल येक्लोन्सको के सामने बड़ी अजीब गुटियाँ और वे सब सुलझायी एक युद्ध बंदी सैनिक अधिकारी ने। उसने बताया कि—जनरल तनामा को सम्राट ने विशेष रूप से सम्मानित किया है। देश की प्रतिष्ठा बचाने के लिए, मरणोपरान्त—मृत्युदण्ड देने के बाद और मृत्यु दण्ड इसलिए दिया गया था ताकि रूसियों को इस बात का विश्वास हो

जाने कि जो सूचनाएँ भेजी गयी हैं वे यद्यपि गलत और भटकने वाली थीं परन्तु वे सही हैं।

येक्लोन्सको को लग्न कि तनामा आखिर उसे अँधेरे में रखने में सफल हो गये हैं। उन्होंने अपनी देशभक्ति के पुरस्कार में स्वेच्छा से मृत्युदण्ड का वरण कर लिया और उन्हीं के कारण जापान की विजय हुई। जबकि जापान के पास रूसियों की अपेक्षा अधिक शक्ति और सामर्थ्य नहीं थी फिर भी स्वदेश प्रेम की अशेष-भावना—जिसके आगे बड़ी-बड़ी शक्तियाँ घुटने टेक देती हैं—जापानियों के पास थी और उसी कारण पास उनकी ओर ही ठलटा।

वास्तवः दो राष्ट्रों के युद्ध में सैन्यशक्ति, उनकी संहार क्षमता नहीं जीतती बल्कि जीतती है उस राष्ट्र के नागरिकों की देशभक्ति, स्वातन्त्र्य प्रेम और मातृभूमि पर बलिदान होने की सहस्रिकता। इसी प्रकार कोई देश इसलिए ऊँचा नहीं उठता कि उसके पास कल-कारखानों का अम्बार और प्राकृतिक साधनों का भण्डार है बल्कि इसलिए उन्नत होता है कि उसके नागरिकों में राष्ट्र देवता के प्रति अगाध निष्ठा है, अटूट प्रेम है और अक्षय कर्म-शक्ति। निहायान नागरिक ही किसी राष्ट्र की सम्पत्ति हैं। कैप्टन तनामा ने अपने राष्ट्रीयहित के लिए स्वर्ग के प्राणों की बाजी लगा देने का साहस किया और उसने अपने देश का मस्तक गर्वोन्नत किया। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि तनामा को फाँटे में रखना पड़ा हो, उसे मृत्यु के बदले मिला अगर जीवन और देशवासियों को ब्रह्म-पूजा। बाद में गद्य कुर्बानी का यह प्रकरण सामने आया तो देशवासियों के हृदय तनामा के प्रति कृतज्ञता और बड़ा भाव से भर गये

ब्रिटेन के प्रधानमंत्री—

एडवर्ड हीथ

ब्रिटेन में १८ जून को चुनाव परिणाम की घोषणा हुई। ५४ वर्ष पूर्व समुद्र तटवर्ती कट में जन्मे एडवर्ड रिचर्ड जार्ज हीथ को प्रधानमंत्री बनने का अवसर मिला गया। ८९ वर्षीय बृद्ध पिता को अपने पुत्र के प्रधानमंत्री बनने का जैसे ही समाचार मिला जैसे ही प्रसन्नता के साथ उन्होंने असफल खड़े लोगों से कहा ‘सबसे अच्छा आज मेरा स्वप्न पूरा हो गया। जब हीथ १६ वर्ष का था तब किसी ने कहा था कि वह एक न एक दिन प्रधानमंत्री अवसर बनेगा।’

ब्रिटिश सम्प्रदाय में जहाँ वर्ग-भेद की भावनाएँ अपनी पराकाष्ठा पर हों वहाँ बड़ई के लड़के को अपनी प्रगति के लिए कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। हीथ किशोरावस्था से ही सस्ती लोकप्रियता से दूर रहने लगे थे। इन्हें अपने साथियों और परिचितों से जो सम्मान मिला वह इसलिए नहीं कि वह सम्पन्न परिवार में जन्मे थे बल्कि इसलिए कि उनमें विचारों की दृढ़ता तथा परिश्रमशीलता जैसे अद्भुत गुण थे।

पब्लिक स्कूलों में पढ़ने का अवसर उन्हें कहीं मिला था ? घर में इतना पैसा कहीं से आया ? अतः ऑक्सफोर्ड के बैलियोल कॉलेज में छात्रवृत्ति के बत पर प्रवेश मिला । नाम था छात्रवृत्ति का, पर इसका रूप मकदूरी जैसा था । हीथ प्रार्थना के समय गिरिजाधरों में जाया बजाता और उसके पारिश्रमिक रूप से प्राप्त धनराशि से फर्द-सिखाई तथा खाने-पीने का खर्च चलाता था ।

संगीत को उन स्वर सहारियों के बीच ध्वनि की अनेक योजनाएँ बनती बिगड़ती थीं । अनेक महत्वाकांक्षी ठठतीं और फिर विलीन हो जातीं । हीथ अवसर का उपयोग करके अच्छी तरह जानते थे । नाजीवाद और फासीवाद की चुनौतियों के कारण महायुद्ध की विकराल लपटें दूर देशों तक को प्रभावित कर रही थीं । इस युद्ध से ब्रिटेन को भी खतरा था । अखिर कतूभूमि पर आये संकट को हीथ चुपचाप बैठकर कैसे देख सकते थे ? उन्होंने देश सेवा हेतु सैन्य विभाग को अपनी सेवाएँ समर्पित कर दीं । सैन्य संघर्ष में उन्होंने विषम से विषम परिस्थितियों का प्रसन्नता तथा ठल्लासपूर्वक सामना करना सीखा । आने वाली किसी भी कठिनाई से वह बिचलित नहीं हुए और एक दिन इम्ल सेन के लेफ्टिनेन्ट कर्नल पद पर पहुँच गये ।

युद्ध समाप्त हो गया, हीथ का सैनिक जीवन भी उसके साथ समाप्त हुआ पर उससे प्राप्त अनुभव उन्हें राजनीतिक जीवन में आज भी काम दे रहे हैं । वह जानते हैं कि शक्तियों को केन्द्रित करके बड़े से बड़े कार्यों में किस प्रकार सफलता प्राप्त की जा सकती है । महायुद्ध समाप्त हो जाने के पाँच वर्ष बाद हीथ का राजनीतिक जीवन प्रारम्भ हुआ । इस बीच वे पत्रकार तथा बैंक कर्मचारी भी रहे । आने वाली कठिनाई का दृढ़ता से सामना करना उनके जीवन का प्रमुख अंग बन चुका था अतः अनेक व्यवसायों का अनुभव इन पाँच वर्षों में उन्हें प्राप्त हो गया ।

सन् १९५० । ब्रिटेन में आम चुनाव की तैयारियाँ । स्थान-स्थान पर राजनीतिक चर्चाएँ । हीथ ने सोचा कि आक्सफोर्ड में जो बुँधली और अस्पष्ट योजनाएँ बनाई थीं उन पर गहरा रंग भरने का समय अब आया है । यदि आज थोड़ी असावधानी की गई तो वर्षों के बाद आया हुआ अवसर हाथ से निकल जायेगा और एक बार गया अवसर फिर जल्दी कहीं लौटता है । वह दक्षिण लंदन चुनाव-क्षेत्र से अनुदार दल के प्रत्यासी के रूप में चुनाव लड़े और सफल हुये ।

हीथ जिस रूप में भी सामने आये, ऐसे कार्य करके दिखाये कि लोग उनकी प्रतिभा से प्रभावित हुये बिना न रह सके । उन्होंने अपने दल के बड़े से बड़े नेता का विश्वास प्राप्त कर लिया था इसीलिए वे एक के बाद दूसरे महत्वपूर्ण पदों पर बढ़ते चले गये । उन्हें क्रमशः बन्नाम गया और बाद में व्यापार मंत्रालय का अध्यक्ष । व्यापार मंत्री बनने पर उन्होंने यूरोप की साक्षमंछी में ब्रिटेन की

सदस्यता के प्रश्न को उठाया । इस प्रश्न को उठाने वाले हीथ ही प्रथम व्यक्तर-मंत्री थे । फ्रांस के राष्ट्रपति ने यद्यपि पूरी शक्ति के साथ इस प्रश्न का विरोध किया पर उन्हें यह कहना पड़ा 'अब नहीं तो फिर, हीथ के नेतृत्व में ब्रिटेन साक्षमंछी में आकर रहेगा ।'

हीथ संसद में अपने विरोधियों के प्रश्नों का उत्तर भी बड़ी शिष्टता तथा कुशलता के साथ देते थे । सन् १९६४ के आम चुनाव के बाद जबकि अधिक दल की विजय हो चुकी थी अनुदार दल के सम्मुख नेतृत्व के लिए दो व्यक्ति थे । एक रेजिनाल्ड माडलिंग और दूसरे एडवर्ड हीथ । राजनीतिज्ञों की धारणानुसार माडलिंग के नेतृत्व से दल को अधिक लाभ था । क्योंकि यह अनुभवी और लोकप्रिय व्यक्ति थे । पाबेल के अश्वेत विरोधी अभियान के कारण अनुदार दल विघटित होता जा रहा था । हीथ के विरोध में पाबेल की शक्ति बढ़ती जा रही थी । इसके साथ ही विल्सन का व्यक्तित्व हीथ के लिए चुनौती था । इन विषम परिस्थितियों में अनुदार दल का नेतृत्व करने का अवसर हीथ को मिला, पर उन्होंने अपनी सूझबूझ, परिश्रमशीलता, दृढ़ता और ~~।।।।~~ से काम लेकर लोगों पर अपने व्यक्तित्व की छाप डाली ।

हीथ जब विल्सन को अपदस्व करने की तैयारियाँ कर रहे थे उस समय अनेक टोरियों का ही यह विश्वास था कि अपने नेता की अपेक्षा विल्सन अच्छे प्रधानमंत्री हैं । विल्सन के व्यक्तित्व में ऐसा जादू है कि वे जन सम्पर्क के द्वार मिलने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपना बना लेते हैं । इसके विपरीत हीथ मिलने-जुलने में कतराते हैं । हीथ को ललित कलाओं से प्रेम है । धर्म में आस्था है । उन्होंने कुछ पहीनों के प्रयत्न के बाद ही यह दिखा दिया कि व्यक्ति भले ही किसी जाति में जन्म ले, साधन-सुविधाओं की भले ही कमी हो पर अपनी परिश्रमशीलता, ईमानदारी, सूझबूझ और अवसर का सदुपयोग, ऐसे मानवीय गुण हैं, जिनको विकसित करके एक बड़ई का साधनहीन पुत्र ब्रिटेन जैसे देश का प्रधानमंत्री बन सकता है ।

गिनी बिसाऊ का स्वातंत्र्य सृष्टा-

एमिलकार कब्राल

पुर्तगाल के भूतपूर्व सालाबार के रिश्तेदार जनरल एंटोनियो स्मिनोस्त-गिनी बिसाऊ राज्य के अन्तिम उपनिवेशवादी प्रशासक ने गिनी बिसाऊ के राष्ट्रवादियों का दमन करने के लिये दोहरी चाल चली । एक ओर तो उसने राष्ट्रवादियों के विरुद्ध सरगर्भियों सेज की दूसरी ओर सुधारों का डकोसला रखा । किन्तु उसे कोई विशेष सफलता नहीं मिली । तब उसने दूसरी ही चाल चली गिनीबिसाऊ के स्वतंत्रता सेनानी, सिद्धान्तशास्त्री व मार्गदर्शक एमिलकार कब्राल की हत्या कराने की । वह

समझता था कि कबाल की हत्या के बाद स्वतन्त्रता पाने के लिये गठित की गयी सेना, जो अब पुर्तगाली साम्राज्यवादियों के लिये सिरदर्द बन चुकी थी, की गतिविधियाँ कमजोर पड़ जाएँगी और पुर्तगाली शासन सुदृढ़ हो जाएगा। अधिक न सही तो कम से कम दस बीस वर्ष तक तो वे गिनी बिसाऊ में बने रह सकेंगे।

जनरल स्पिनोला एमिलकार कबाल की हत्या करने में तो सफल हो गया पर जिस प्रयोजन से उसने कबाल की हत्या करवायी थी वह पूरा न हो सका। क्रान्ति के सेना नायक के मरने से क्रान्ति रुकी नहीं। २० जनवरी, १९७३ को कबाल की हत्या हुई और उसके ठीक आठ महीने बाद ही राष्ट्रवादियों ने गिनी बिसाऊ से पुर्तगालियों को भगा दिया। सितम्बर, १९७३ के अन्तिम सप्ताह में पाँच सौ वर्ष पुराने पुर्तगाली उपनिवेश की सम्पत्ति हुई और एक स्वतंत्र राष्ट्र का उदय हुआ। कबाल का स्वप्न साकार होकर रहा।

देश की इस आबादी के इक्कीस वर्ष पूर्व एमिलकार कबाल लिस्बन विश्वविद्यालय से कृषिशस्त्र का स्नातक बनकर स्वदेश लौटा था तब वह राष्ट्रवादी आन्दोलन का सेनानी नहीं बल्कि उपनिवेशी शासन का एक साधारण कर्मचारी था। उसे कार्य सीखा गया था जनगणना करने का।

मध्यम वर्ग के एक अफ्रीकी परिवार में जन्मे एमिलकार कबाल को छात्रवृत्ति के सहारे पुर्तगाल जाकर लिस्बन विश्वविद्यालय में पढ़ने का अवसर मिला था। एक सामान्य मध्यमवर्गीय परिवार के युवक को योरोपीय विश्वविद्यालय की डिग्री और तत्पश्चात् अच्छी सरकारी नौकरी के बाद और क्या चाहिए था। वह स्थिति किसी सामान्य युवक के लिये संतोषजनक सिद्ध हो सकती थी। पर कबाल कुछ दूसरे ही ढंग से सोचने वाला युवक था। उसे अपनी ही सुख-सुविधाओं और उन्नति की कामना नहीं थी। वह इतना स्वार्थी और संकीर्ण चरित्र कैसे बन सकता था।

जनगणना का कार्य करते हुए उसे अपने देशवासियों की दयनीय दशा देखने को मिली तो फिर उसके लिये सरकारी नौकरी करते रहना सम्भव न हो सका। उसने अपने बारे में लिखा है—“अब मैंने अपनी आँखों से जनता का शोषण देखा। मैंने देखा कि मेरे देश के ग्रामवासियों को विवाह-मृत्यु आदि पर ही नहीं पारम्परिक उत्सवों पर भी सरकार को कर देना पड़ता है, लेकिन देश के प्रशासन, राजनीति और अर्थव्यवस्था में उनके लिये छोट से छोट स्थान भी नहीं है।”

अपने देशवासियों की इस दशा पर उसे बड़ा दुःख हुआ। चौदह हजार वर्ग मील क्षेत्रफल वाले गिनी बिसाऊ में न तो कोई रेलमार्ग था और न ही कोई बड़ा कला कारखाना केवल राजधानी बिसाऊ में एक कारखाना था जिसमें केवल ३०० श्रमिक काम करते थे। भूगर्भीय और उसके तेल के निर्यात व्यापार पर ४,०००

पुर्तगाली अधिकार किये हुए थे। वे मुदती भर पुर्तगाली गोरे सात लाख अफ्रीकियों का शोषण कर रहे थे। इन लोगों के लिये खेत और मजदूरी के अतिरिक्त और कोई काम नहीं था।

सर्वत्र निरक्षरता का साम्राज्य छाया हुआ था। ९० प्रतिशत लोग निरक्षर थे। पूरे राज्य में केवल एक हाईस्कूल तथा चार पाँच प्राइमरी स्कूल थे। पुर्तगाली सरकार नाममात्र को सुधार और कल्याण का ढकोसला रख दिया करती थी वाक्य तो उनका जो शोषण क्रम चलता था वह चल ही रहा था।

कबाल ने सोचा उसकी पढ़ाई, उसकी जवानी और उसका यह जीवन यदि अपने देश के लिये नहीं लग सका तो उसकी शायकदा क्या होगी? लाखों लोग पुर्तगाली शोषण में चक्की पीसते रहें और वह भी उन्हें शोषकों को गुलामी करके कुत्ते की तरह उनके सामने दम हिलाता रहे यह तो पशु से भी बदतर जीवन होगा। नहीं वह अपने देशवासी भाइयों में जागरण का शंख फूँकेगा। चाहे उसे सारा जीवन ही क्यों न बलिदान करना पड़े वह अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये काम करेगा।

१९५६ में कबाल ने थोड़े से उत्साही नवयुवकों का एक राष्ट्रवादी दल गठित किया। उसका नाम रखा गया गिनी और कैपवर्ड की स्वाधीनता के लिये अफ्रीकी दल जिसका संक्षिप्त नाम है पी० ए० आई० जी० सी०। आरम्भ में इसका कार्य छुटपुट श्रमिक आन्दोलनों व हड़तालों के माध्यम से जन-जागरण करना था। आगे चलकर यही दल गिनी बिसाऊ का समर्थ राष्ट्रवादी दल बना और उसने पुर्तगालियों को गिनी बिसाऊ से बाहर खदेड़ने में सफलता पायी।

दल के गठित हुए कुछ ही वर्ष हुए थे कि गोदी कर्पचारियों की हड़ताल के सिलसिले में गोरी सरकार ने ५० अफ्रीकियों को गोलियों से भूनकर रख दिया। इस घटना से कबाल ने शिक्षा ली। नगरों से नहीं गाँवों से, जहाँ पुर्तगाली सरकार की पहुँच कम है। निर्जन जंगलों में जहाँ आत्मरक्षा सम्भव है अपनी क्रान्ति के गढ़ बनाए लेंगे।

यह काम कोई हँसी खेल नहीं था। किसानों को क्रान्ति में साझीदार बनाना सहज कार्य नहीं था और फिर ऐसी स्थिति में तो यह और भी कठिन था जब पुर्तगाली दमन चक्र तेजी से चल रहा हो। कबाल और उसके साथियों को बड़े दुःख सहने पड़े। कई वर्षों तक वह पड़ोसी देश गिनी की राजधानी कोनाक्री में राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के लिये स्कूल चलाता रहा। स्कूल क्या था नगर के बाहर दो कमरों की एक छोटी सी कुटिया जहाँ बैठकर कबाल ने गिनी बिसाऊ को स्वतन्त्र कराने की सारी योजना गठी, कार्यकर्त्ता तैयार किये थे। ये कार्यकर्त्ता गिनी बिसाऊ के ग्रामीण अंचलों में जाकर स्वतन्त्रता की ज्योति ज्वाला करते थे।

उसको बुद्ध पद्धति जापाना पद्धति थी। शठे साध्यम समाचरेत् की रीति-नीति अपनाने वाले कबाल ने

पुर्तगालियों की राज्य लिप्ता को पूरी तरह समझा था। वे खुले आन्दोलनों और असहयोग आन्दोलन की भाषा नहीं समझते थे। उन्हें तो शस्त्रों की भाषा में ही समझना पड़ता था। इसलिए कबाल ने विदेशी सरकारों से सन्त्रस्त्रों की सहायता भी ली। साम्यवादियों से भी उसे हथियार मिले थे। इसी कारण पुर्तगाली उसे साम्यवादियों का दसास भी कहा करते पर वह था वस्तुतः राष्ट्रवादी-विशुद्ध राष्ट्रवादी।

पुर्तगालियों के विरुद्ध लड़ते हुए भी उसे पुर्तगालियों से कोई घृणा नहीं थी। छापाकार संगठन का सेनानी होते हुए भी वह लुकाछिपी के इस खेल को सामयिक आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं देता था। उसने अपने इस को निर्देश दे रखे थे-अपने देश की जनता से कुछ भी मत छिपाओ, उससे झूठ मत बोलो, अपनी असफलताओं पर पर्दा मत डालो और यह दावा भी मत करो कि चुटकी बजाते ही विजयी हो जाओगे।

एक बीर राष्ट्रवादी में जो गुण और जो सुझ-बुझ होनी चाहिए, कबाल उसका धनी था। पुर्तगाली सैनिक ने जनता में यह मादश तो उत्पन्न कर ही रखा था कि कोई सेनानी आगे आये तो वे उसके पीछे चलकर स्वतंत्र हो जायें। फिर भी एक सरास उपनिवेशवादी सरकार से टक्कर लेना कोई हँसी-खेल नहीं था। सत्ता अपने आप में एक सामर्थ्य होती है और फिर गिनी बिसाऊ वाली अशिक्षा और गरीबी से घिरे हुए जो थे।

गिनी की राजधानी के बाहर कुटिया बनाकर चार वर्ष तक राष्ट्र-देवता की साधना करते हुए तपस्वी कबाल ने पुर्तगाली सरकार के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति करने की शक्ति संगठन कर ली। १९६२ में यह दल छापाकार युद्ध के लिये तैयार हो गया। १९६७-६८ में इस संगठन ने गिनी बिसाऊ और कोमोरोस द्वीप समूह के आधे से भी अधिक भाग पर कब्जा कर लिया। पुर्तगाली सरकार को इसकी आशंका ही नहीं थी। वे तो अफ्रीकियों को निरे भिट्टी के माथे समझते थे। अब उसे पता चला कि कबाल ने उनमें प्राण-प्रतिष्ठा कर दी है।

पी० ए० आई० जी० सी० के पास अब सात सौ से भी अधिक राष्ट्रभक्त नवयुवक सैनिक तैयार हो गये थे। कबाल के नेतृत्व में इस संगठन ने सरकार के सम्मानान्वर शिक्षा प्रसार का कार्य अपने हाथ में लिया। गाँव-गाँव में स्कूल खोले गये जहाँ अक्षर ज्ञान के साथ गुरिल्ला युद्ध का प्रशिक्षण भी दिया जाता था। छापाकार सेना की वृद्धि में ये स्कूल बड़े उपयोगी भिड़ हुए।

स्कूलों के साथ ही नयी न्याय व्यवस्था भी स्थाप की गयी ताकि क्रान्ति के पश्चात् अराजकता न उत्पन्न हो जाय। एमिलकार कबाल गिनी बिसाऊ के इस स्वतंत्रता आंदोलन का सेनानी ही नहीं सिद्धान्तशास्त्री व मार्गदर्शक भी था। वह उसके त्याग-बलिदान से परिपूर्ण जीवन और कुशल नेतृत्व का ही सुपरिणाम था कि उसकी हत्या के बाद भी दल में कोई फूट न पड़ी, न कार्य में किसी प्रकार शिथिलता आने पायी और वह अपने उद्देश्य में सफल हो गया।

उपनिवेशवादी पुर्तगाली सरकार कबाल के संगठन की बढ़ती हुई छापाकार गतिविधियों को चुपचाप देखती नहीं रही। उसने भी कम जोर नहीं लगाया। सात हजार छापाकारों को कुचलने के लिये उसने तीस हजार सैनिक गिनी बिसाऊ भेजे। जल, जल और वायु सेना तीनों का उपयोग किया गया। अमेरिका से मिले एफ-८४ और बी-२६ बमबर्कर्स से ज़पाम बम गिराकर पुर्तगाली वायुसेना ने गाँव के गाँव धुनकर रख दिये। कबाल और उसके सहयोगी इस भयंकर गोलाबारी के बीच विमान भेदी तोपों वाले ईंट का बक्काव पत्थर से देते रहे।

जो घूभाग छापाकार राष्ट्रवादियों के हाथ आ गया था वहाँ प्रशासन और नागरिक व्यवस्था जमाने की ओर भी कबाल ने पूरा ध्यान दिया। गिनी बिसाऊ के निवासियों के लिये वह सुख सूर्य के उदय जैसा सुहाना अनुभव था जब लम्बे से पुर्तगाली व्यापारियों द्वारा लूटे जाते रहे थे। अब उन्हें अपने खेतों में उपजाये फसल का पूरा मूल्य मिलने लगा था।

प्राचीन क्षेत्रों को छापाकार राष्ट्रवादियों के कब्जे से मुक्त कराने के लिये भवे प्रशासक जनरल स्पिनोला की नियुक्ति हुई। उसने ही कबाल की हत्या करवायी। कबाल की हत्या के लिये कुछ भाड़े के टट्टू स्वातंत्र्य सेना में भर्ती कराए गये। उन्होंने मौका देखकर २० जनवरी, १९७३ को उसकी हत्या कर दी। हत्यारे पी० ए० आई० जी० सी० द्वारा पकड़े लिये गये उन्हें बाद में मृत्युदण्ड दिया गया।

कबाल देश हित में बलिदान हो गया पर उसका अपना स्वप्न भी साकार होकर रहा। देश की स्वाधीनता के लिये समर्पित यह जीवन विश्व इतिहास की एक अमूल्य निधि है। उनका जीवन हर देश में हर नवयुवक के लिये एक आदर्श प्रस्तुत करता है।

एडमण्ड जी० रास का अनूठा साहस

राजनीति के क्षेत्र में "काजल की कोठरी में कैसे दू सपाने जाय" की कहावत चरित्रार्थ होते हुए यत्र-तत्र देखी जा रही है। कुर्सी और पद पाने के लिये नैतिक सिद्धान्तों को बला ह् तक रखकर अन्तःकरण की सद्प्रेरणाओं की उपदेष्टा करने की अनेकानेक कहानियों के निपट भवस्थलों के बीच कुछ ऐसे भी महाघान से प्रसंग सुखद आश्चर्य बनकर सामने आते हैं, तब अपने अन्तःकरण की प्रेरणाओं, नीति व न्याय की रक्षा के लिये कोई साहस का घनी अपना वर्षास्य दीव पर लगाकर यह सिद्ध कर जाता है कि यह 'काजल की कोठरी' हर किसी को कर्लकित नहीं कर सकती। मानवीय उच्चादर्शों व न्याय पक्ष की रक्षा करते हुए पद और राजनीतिक जीवन को धुएँ तिनके की तरह जेठ सकता है।

अमेरिका के इतिहास में एक ऐसी ही घटना हो चुकी है । इसके नायक थे, एडमण्ड सी० रास, कन्सास के सिनेटर । कन्सास के सिनेटर जिम सेन के आत्महत्या कर लेने पर उसके रिक्त हुए स्थान पर रास को चुना गया था । वह जिमसेन की उस लिंकन समर्थक नीति के पक्के विरोधी थे जिसके अनुसार दक्षिणी स्टेट्स के गृहयुद्ध में पराजित हो जाने पर उनके साथ उदारता बरतना आवश्यक था । सिनेटर रास आरम्भ से ही डेमोक्रेटिक दल के विरोधी थे । वह कन्सास की 'स्वतन्त्र राज्य सेवा' में भी रह चुके थे जो दास प्रथा के समर्थकों से लड़ने के लिये गठित की गयी थी ।

रास का जिमसेन के स्थान पर चुना जाना तत्कालीन राष्ट्रपति एन्ड्रु जानसन के विरोधी सिनेटरों, जिन्का कि उस समय सीनेट में बहुमत था और वे अपने इस बहुमत के बल पर लिंकन की मानवीय सद्भावनाओं से युक्त नीतियों पर चलने वाले तत्कालीन राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने की तैयारियाँ कर रहे थे, के लिये प्रसन्नता का विषय था । अब सीनेट में जानसन के एक समर्थक के स्थान पर विरोधी आ रहा था ।

उन दिनों राष्ट्रपति और रिपब्लिकनों के बीच बड़ी ही खींचतान चल रही थी । इस खींचतान का आरम्भ गृहयुद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद ही हो गया था । गृहयुद्ध की इस आपसी कड़वाहट को मिटाने के लिये राष्ट्रपति लिंकन ने गृहयुद्ध में परास्त दक्षिणी स्टेट्स के साथ उदार-नीति बरतने का निर्णय लिया था ; उनके समय में ही उनकी इस नीति का विरोध रिपब्लिकन उग्रवादी कर चुके थे । वे चाहते थे कि दक्षिणी राज्यों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जो एक जीता हुआ देश हारे हुए देश के साथ करता है । किन्तु मानवतावादी लिंकन ने गृहयुद्ध को भी दास प्रथा जैसे अहम् मानवीय इशम को लेकर दुश्मता से स्वीकार किया था । अब वे उसी दुश्मता से दक्षिणी स्टेट्स के साथ भी सद्भावनापूर्ण व्यवहार करते हुए उन्हें संघ में वही समान स्थान दिलाने की तैयार थे ।

दुर्भाग्य से उनकी इच्छा ही गई और उनका स्वप्न पूरा नहीं हो सका । उसके पश्चात् राष्ट्रपति को एन्ड्रु जानसन जो लिंकन की उदारनीतियों के पक्के समर्थक थे । उन्होंने स्वयं दक्षिणी स्टेट टेनेसी के सिनेटर होते हुए, दक्षिणी नीति का विरोध करते हुए संघ से सम्बन्ध भिच्छेद कर लेने पर भी संघ में ही रहकर अपनी निष्ठा का परिचय दिया था । किन्तु उग्रवादी सिनेटरों ने उनकी यह निष्ठा बाली साहसिकता धुलाकर उनका विरोध करना आरम्भ कर दिया । लिंकन की प्रसिद्धि व दर्बनपन से जो विरोध दबा हुआ था वे उनके समय में विकट होकर उभर आया । उन्होंने अपने हठ पर अड़कर अमेरिकी राज्य प्रणाली में भी राष्ट्रपति की महत्ता को कम किया जाना अभीष्ट था ।

उन लोगों ने एक एक करके ऐसे विवेक परित्यक्त किये जो संविधान विरोधी थे । दक्षिणी राज्यों के साथ

कठोरता का व्यवहार करने व वहाँ पर सैनिक शासन जैसी स्थिति बनाने रखने के उद्देश्य से पारित किये गये इन विधेयकों को राष्ट्रपति एन्ड्रु जानसन ने कार्यपालिका के काम में बेमतलब का दखल देने वाला बताकर उन्हें वापस कर दिया, अनुमोदन नहीं किया । इस पर उन सिनेटरों ने बहुमत के बल पर उन्हें बिना राष्ट्रपति के अनुमोदन के ही कानून बना देना चाहा । किन्तु नियमानुसार वे बिना राष्ट्रपति के अनुमोदन किये उन्हें कानून नहीं बना सकते थे । राष्ट्रपति के निषेध को उन्हें स्वीकार करना ही पड़ता था । अतः उग्र रिपब्लिकन सदस्य राष्ट्रपति पर इतने क्रुशित हुए कि विवेक व नीति का सब छोड़ वे उन पर महाभियोग चलाने की तैयारी करने लगे । किन्तु उनके साथ एक बहुत बड़ी समस्या यह थी कि सदन में उनका दो तिहाई बहुमत नहीं था, जिसके बल पर वे महाभियोग चलाकर राष्ट्रपति को अपदस्व कर अपने क्रोध को दिखा सकते ।

अब सीनेट में बक्का दो तिहाई बहुमत पाने के लिये राजनीतिक छल-छपों का वही दौर चला जो आमतौर पर आज सभी जगह देखने को मिलता है और जिसने उसे 'कामल की कोठरी' बना दिया है । वहाँ देश की प्रगति, समृद्धि या देशवासियों की हिम्मत की बात तो कुछ भी नहीं मात्र अपने चे-सिर पैर के बल को दक्षिणी स्टेट्स पर थोपने व अपनी बात मनवाकर रहने का मूढ़ हठ मात्र था । इसके लिये रिपब्लिकन दल ने सब तरफ के जोड़-तोड़ भिठाने । राष्ट्रपति एन्ड्रु जानसन के समर्थक एक सेनेटर को अत्यन्त सन्देहास्पद ठपकों द्वारा अपदस्व कर दिया गया । फिर राष्ट्रपति के निषेध की परवाह न करते हुए नेक्सास्का की अमरीकी संघ में सम्मिलित करके दो विरोधी सदस्य बढ़ा लिये । कोलोरेड को भी इसी प्रकार सदस्य बनाने का प्रयास किया किन्तु वहाँ की जनता का समर्थन नहीं मिलने से वहाँ पर उन्हें असफलता ही हाथ लगी ।

इसी समय एक दैवी सहायता की तरह कन्सास के रिपब्लिकन किन्तु एन्ड्रु जानसन समर्थक सिनेटर जिमसेन के आत्महत्या कर लेने और उसके स्थान पर रास के चुने जाने की घटना घटी । उन्होंने समझा कि अब हम महाभियोग चलाने की स्थिति में आ गये हैं । अतः १८६७ के आरम्भ में ही उन्होंने राष्ट्रपति को भुठपेड़ के लिये लालकारना आरम्भ कर दिया । उन्होंने राष्ट्रपति द्वारा अनुमोदन न करने की परवाह नहीं करते हुए ऐसा कानून बना दिया जिसके अनुसार प्रत्येक नये कर्मचारी की नियुक्ति सीनेट की पुष्टि के बिना नहीं हो सकती थी और किसी पुराने कर्मचारी को हटाने के लिये राष्ट्रपति को सीनेट की स्वीकृति लेना आवश्यक था ।

५ अगस्त, १८६७ को भुठपेड़ का अवसर भी आ गया । राष्ट्रपति ने अपने बुद्ध मन्त्री एडविन एम० स्टेटन से त्यागपत्र की माँग की तो उसने अकड़कर सीनेट के पूर्व त्यागपत्र न देने की बात कही । इस पर राष्ट्रपति ने उसे

४.८६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

निलम्बित करके उसके स्थान पर जनरल ग्रैंट की नियुक्ति कर दी। इस नियुक्ति का सीनेट ने १३ जनवरी, १८६८ की बैठक में विरोध किया। उसे संविधान के अनुसार निर्णय मान राष्ट्रपति ने स्टेट्स को पदच्युत कर दिया।

इसी घटना को आधार बनाकर २४ फरवरी, १९६८ को प्रतिनिधि सभा में राष्ट्रपति पर महाभियोग का प्रस्ताव रखा जो भारी बहुमत से पारित हुआ। उस दिन सदन का वातावरण बहुत ही अशोभनीय था। रिपब्लिकन राष्ट्रपति के लिये अपशब्दों तक का प्रयोग कर रहे थे। बाद में ५ मार्च के दिन संयुक्त राज्य अमेरिका के इतिहास में पहली बार राष्ट्रपति पर चलाये गये महाभियोग की सुनवाई सीनेट में आरम्भ हुई। अमेरिका के मुख्य न्यायाधीश उसके अध्यक्ष थे। राष्ट्रपति एक भी दिन उपस्थित नहीं रहे। १६ मई तक यह महाभियोग चलता रहा।

ज्यों-ज्यों महाभियोग की सुनवाई का कार्य चलत चला-त्यों रिपब्लिकन सिनेटरों को कसई बुराई मिली। उनकी दिलचस्पी निष्पक्ष न्याय में नहीं बरन् राष्ट्रपति को नीचा दिखाना भर था। कई सिनेटरों ने तो अपनी इस दो टूक बात को खुल्लम-खुला कह भी दिया। रिपब्लिकनों को पूरा विश्वास था कि ५४ सदस्यों की उस समय की सीनेट के ४२ रिपब्लिकन सदस्यों में से ३६ तो राष्ट्रपति के विरुद्ध निर्णय दे ही देंगे। उनके महाभियोग सफल हो जायगा।

रिपब्लिकनों का यह विश्वास सही भी ठहर जाता यदि कन्सास के सिनेटर एडमण्ड जी० रास दलगत दुराग्रह के आधार पर निर्णय देने की अपेक्षा न्याय और अपने अन्तःकरण से प्रेरित होकर निर्णय नहीं देते तो। आरम्भ में यह उग्र रिपब्लिकनों के समर्थक थे। किन्तु ज्यों-ज्यों महाभियोग की सुनवाई होती गयी और उन लोगों का दुराग्रह स्पष्ट होता गया उन्होंने अपना निर्णय बदल दिया। एन्ड्रू जानसन से उनका कोई सैद्धान्तिक मतभेद तो था नहीं आरम्भ में यह सिंकन की दासत्व विरोधी नीति का समर्थक भी रहा था, साथ ही उनकी अमेरिका की संवैधानिक शासन प्रणाली में अत्यधिक आस्था थी, जब कि उग्र रिपब्लिकन तो उसकी ही धजियाँ उड़ाने पर तुले हुए हैं। अतः उन्होंने राष्ट्रपति एन्ड्रू जानसन का पक्ष लेने का निश्चय कर लिया।

यह जानते थे कि उनके इस प्रकार अपनी पार्टी के विरोध में निर्णय देने का उनके राजनीतिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। उन्हें तो अपने क्षेत्र के लोगों द्वारा अपमानित होने व परेशान किये जाने की भी पूरी आशा थी। किन्तु इन सब हानियों की अपेक्षा न्याय और विवेक के विपरीत निर्णय देने पर राष्ट्र की जो हानि होगी वह उससे कई गुना होगी। इस प्रकार के हठधर्मियों का साथ देने का अर्थ तो सिद्धान्तों व लोकतन्त्र की हत्या ही होगी।

उग्र रिपब्लिकन तक यह खबर उड़ती-उड़ती पहुँच ही गयी कि रास भी अपने अन्तःकरण के अनुसार ही निर्णय देगा तो उन्हें हर तरह से दबाया गया। उन्हें राजनीतिक जीवन समाप्त हो जाने का पता दिखाया गया,

उन का स्नेह दिया गया, क्षेत्र के लोगों की इच्छा को आदर करने की दुहाई दी गयी। किन्तु रास अपने निश्चय पर अटल रहे। उन्होंने उन सबको एक ही उत्तर दिया—“मैंने सपथ ली है कि संविधान और कानून के अनुसार निष्पक्ष न्याय करूँगा और मुझे विश्वास है कि अपने विवेक के अनुसार तथा देशहित की दृष्टि से वोट देने का साहस मुझ में होगा।”

महाभियोग की सुनवाई होने के पहले संविधान और कानून की रक्षा करने की सपथ तो सब सदस्यों ने ली थी। किन्तु रास ने उसे पूरी करने में जिस साहस का परिचय दिया वह अनूद्य था। उन्होंने लाख दबाव पड़ने पर भी अपने निर्णय को बदला नहीं। यहाँ तक कि उस पर रिश्तत खकर निर्णय बदल देने का आरोप भी लगाया गया। उसके लिये प्रतिनिधि सदन के सम्मुख पेशेवर गवाह कहा गया जिसने जोश में उसके रिश्तत खाने की बात कही। किन्तु रास अविचलित रहे और उन्होंने राष्ट्रपति को निर्दोष घोषित किया। उस के इस साहस ने महाभियोग को असफल कर दिया। राष्ट्रपति भी बच गये और अमरीकी संवैधानिक शासन भी।

इस महाभियोग की विफलता पर उग्र रिपब्लिकनों का सारा क्रोध रास पर उठठा। १८७१ में जब वे कन्सास लौटे तो उनका राजनीतिक जीवन ही समाप्त नहीं हुआ बरन् उनकी धन-सम्पदा भी लोगों ने छीन ली, परिवार को मारपीट कर समाज से बहिष्कृत कर दिया। उनका शेष जीवन खोर गरीबी में गुज़रा फिर भी उन्हें इसका कोई दुःख नहीं हुआ। न्याय और संविधान की रक्षा करते हुए रास स्वेच्छा से चलाये गये कठों को सहते हुए उनके चेहरे पर आत्मसन्तोष की मुस्कान खिलती रही। ८० वर्ष बाद उनके इस न्याय व साहस का मूल्य आँकते हुए जान एफ० केनेडी ने उन्हें ‘भगवी सन्तति के लिए अमेरिका के संवैधानिक शासन को बचाने वाले’ साहसी अमृत पुत्र कहा।

एडमण्ड जी० रास का यह अनूठा साहस राजनीतिज्ञों की निंदा की सच्ची कसौटी कहा जा सकता है। यह कसौटी आज के राजनीतिज्ञों के लिये आत्म निरीक्षण और अन्तःकरण के लिये उनके चरित्र को आँकने की दृष्टि से अतीव उपयोगी है।

महान जन-नेता—

अलबर्ट लुथिली

दक्षिण आफ्रीका का शार्पवील स्थान। सन् १५५२। एक विस्मृत जनसमुदाय पर सरकार ने कुत्तों को छोड़ा। कुत्तों ने स्त्री, पुरुषों तथा बालकों को भीर डाला। पर वे विचलित न हुए। इस पर निहत्थी बीड़ पर पुलिस से मोसियों की वर्षा कराई गई। कितने ही व्यक्ति मर गए कितने ही घायल हो गए पर भागे नहीं। वे चट्टान की तरह अड़े रहे।

इन निरपराध सत्याग्रहियों का एक ही दोष था कि वे काले थे। इस काले रंग के कारण वे हर दृष्टि से हीन माने जाते थे। उन्हें पशुओं की तरह खरीदा बेचा जाता था। उन्हें पशुओं जैसा जीवन जीना पड़ता था। उनको मनुष्य नहीं 'दास' कहा जाता था। उन्हें गोरे शासकों के विरुद्ध एक शब्द भी कहने का अधिकार न था।

इस सत्याग्रह का एक ही उद्देश्य था कि उनके नेता अलबर्ट लुथिली को छोड़ दिया जाय। अलबर्ट लुथिली को इन दिनों राजद्रोह का अपराधी घोषित कर गोरी सरकार उन पर मनमाने अत्याचार कर रही थी।

लुथिली का जन्म रोडेसिया में सन् १८९८ में हुआ था। इनके पिता ईसाई मिशनरी के थे तथा चाचा जुलू जाति के सरदार थे। इन्होंने जुलू साहित्य तथा इतिहास का अध्ययन किया। तदनन्तर १५ वर्ष तक जुलू साहित्य तथा इतिहास के अध्यापक के रूप में कार्य करते रहे।

जब से इन्होंने अपना होरा सम्बन्ध, अफ्रीकावासी काले लोगों की दुर्दशा से वे पीड़ित रहने लगे। गोरे शासकों द्वारा रंग-भेद के कारण इन पर जो अत्याचार हो रहे थे उनका वे व्यापक प्रतिरोध करना चाहते थे। पढ़ते, पढ़ते समय भी वे निरन्तर इसी चिन्तन में लगे रहते थे कि इस स्थिति से किस प्रकार मुक्ति पाई जाय। इसके लिये उन्हें कोई कारगर माध्यम नहीं मिला था।

इसी समय जुलू जाति के सरदार का पद रिक्त हो गया। अलबर्ट लुथिली को जुलू सरदार बनाया गया। अब तो यह समस्या उनके सामने और भी भयंकर हो उठी। इनकी जाति के लोगों को इस समय दक्षिणी अफ्रीका की सरकार वहाँ के काले मूल निवासियों का दमन करने का साधन बना रही थी। आदर्श और स्वार्थ का, मन और अन्तरात्मा का भयानक संघर्ष उठ खड़ा हुआ। यदि दक्षिणी अफ्रीका की सरकार का समर्थन करते हैं तो मान, सम्मान, सुख, सुविधा मिलती है पर अत्याचार इनका होता है और समर्थन नहीं करते तो दुःख, कष्ट तथा यातना मिलती है। इन्होंने दुःख-कष्टों का जीवन स्वीकार करने का निश्चय किया।

इसी वर्ष सन् १९३८ में वे अन्तर्राष्ट्रीय ईसाई परिषद में भाग लेने भारत आये। यहाँ वे गाँधी जी से भी मिले। रंग-भेद के सम्बन्ध में उनसे बातचीत की। अब उन्हें इस अनाचार का व्यापक प्रतिरोध करने का सङ्घन मिल गया। यह था अहिंसात्मक आन्दोलन।

स्वदेश लौटकर वे इसे कार्यरूप में परिमित करने लगे। वे अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस में सम्मिलित हो गए। उन्होंने जुलू जाति के सरदार बनने समय सरकार के प्रति वफादार रहने की शपथ लेते हुए भी अमानवीय व्यवहारों के प्रति संघर्ष करते रहने की घोषणा की थी।

जनजागरण का जो कार्य इन्होंने अपने हाथ में लिया वह बड़ा कठिन कार्य था। एक तो समर्थ गोरी सरकार

जिसका समर्थन एक तिहाई विश्व करता है। उनसे अधिकारों की माँग वह भी अहिंसात्मक आन्दोलन से स्वीकार कराना तो बड़ा ही कठिन लगता था। उन्हें अपने आप पर विश्वास था और वे आत्मा की शक्ति पर विश्वास करते थे। सोच-विचार में पड़े रहना छोड़कर उन्होंने कर्म पथ अपनाया।

काले लोगों में सदियों से चली आई हीन भावना को मिटाकर उन पुरानी जड़ताओं को दूर करने का भागीरथ प्रयास इन्होंने आरम्भ किया। उनके साधियों की संख्या बढ़ने लगी। लोगों का अहिंसा के प्रति विश्वास बढ़ने लगा। जो नई गुजरी स्थिति को स्वीकार बैठे थे उन्होंने इस गुलाबी के चुने को उतार फेंकने की कसम खाई। देखते ही देखते एक सेना खड़ी हो गई।

१९४६ में वे खुलकर मैदान में आए, एक विशाल आन्दोलन का सुश्रूषित किया। कांग्रेस के नेता अहिंसात्मक आन्दोलन करने के लिये तैयार हो गये। इसी का परिणाम था कि दासत्व जिन की रन-रन में रक्त के साथ घुल गया था उस नसे से यह वर्ण मुक्ति पा गया, संघर्षरूप से अपने अधिकारों की माँग करने लगा।

लुथिली को बन्दी बना लिया गया। क्रूर यातनाएँ दी गईं, बड़े-बड़े प्रलोभन दिये गए पर वे अपने निश्चय से हिले नहीं। इन्होंने कहा कि अहिंसात्मक आन्दोलन केवल राजनैतिक साधन नहीं बल्कि आध्यात्मिक पवित्रता तथा आत्म-बल पाने का साधन है। आत्मबल को किसी बल से नहीं जीता जा सकता।

इस प्रकार का ज्ञान पाकर वहाँ की जनता अपने इस जननेत्र को छुड़ाने के लिये व्यापक सत्याग्रह करने लगी।

सासव को अहिंसा के इस आन्दोलन के आगे झुकना पड़ा। उन्हें छोड़ दिया गया पर नेटाल में उनके छेत में नजरबन्द करके रखा गया। वे इस हत्याकांड से दुःखी तो हुए पर अहिंसा पर उनकी आस्था और दृढ़ हो गई। उन्होंने घोषणा की "मैं फिर दोहराता हूँ कि राष्ट्रीय कांग्रेस की नीति अहिंसा की नीति है और हम भरोसा के साथ इस नीति का अनुसरण करेंगे।"

इस आन्दोलन के जन्म देने के कारण सन् १९५२ में उन्हें नोबेल-शान्ति पुरस्कार प्रदान करने की घोषणा की गई। यह अस्त्व की सत्त्व पर विजय का बहुत बड़ा प्रतीक था। दक्षिण अफ्रीका की सरकार यह सहन न कर सकी इस पर उसने उनके साधियों पर घोर अत्याचार करना आरम्भ कर दिया। उन्हें पुरस्कार लेने के लिये ओस्लो जाने की अनुमति तो दे दी पर वापस आने पर उन पर कड़ा निन्दा रख जाने लगा।

अन्याय का प्रतिकार करना हर मनुष्य का परम कर्तव्य है। लुथिली का सारा जीवन इसी प्रतिकार में

४.८८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

लगा । नोबल पुरस्कार लेते समय भी उनके मन में वही व्यथा थी । अफ्रीका में हो रहे इस अत्याचार के कारण वहाँ भी वे व्यथित थे ।

अफ्रीका के लोग इनमें गाँधीजी की तरह प्रज्ञा रखते हैं । यह स्वाभाविक ही है । जिस व्यक्ति ने अपने आपको तिल-तिल करके एक उद्देश्य को पाने के लिये जलवा उसके प्रतिदान में यह फिर भी बहुत कम है ।

इस जननेता ने गोरी सरकार के जो अत्याचार सहे और रात-दिन अपने भाइयों को बचाने के लिये, उन्हें एक संगठन की माला में पिरोने के लिए अधिक परिश्रम करते रहे । जीवन का एक-एक क्षण इसी में नियोजित करते रहे । इस प्रयास में उनका शरीर इतना जर्जर हो गया कि वे लम्बे समय तक अस्वस्थ रहे । उनकी आँखें जलती रहीं । वे कानों से बहरे हो गए ।

सन् १९६७ में वे डरबन के निकट रेल की पटरों पर करते हुए सामने से आती हुई मालगाड़ी से टकराकर गम्भीर रूप से घायल हो गए । इनको बचाया नहीं जा सका, काफी चिकित्सा के बाद वे सदा के लिए मानवता का दर्द हृदय में छिपाए चले गए ।

साधनों की परवाह न करते हुए सच्चाई के लिए तिल-तिल कर जलने वाले दीपक की तरह इनका जीवन हमें प्रकाश व प्रेरणा देता रहेगा ।

**जो विश्व शान्ति के लिये जिये,
विश्व शान्ति के लिये मरे—**

डाग हेमर शोल्ड

१७ सितम्बर, १९६१ को अफ्रीका के लियोसोल्ड हवाई अड्डे से दीपहर बाद एक विमान नडोला के लिये रवाना हुआ । इस विमान में अठारह व्यक्ति सवार थे । उड़ान का रास्ता और समय सब बिल्कुल अज्ञात रखे गये थे । क्योंकि उसके माद गिराये जाने की पूरी अज्ञात थी अतः इस ओर पूरी सावधानी बरती गयी थी फिर भी यह विमान अपने गन्तव्य से साढ़े नौ मील पहले ही रात्रि के प्रथम पहर के अंधकार में ऊँची-ऊँची लपटों के साथ ही दुर्घटनाग्रस्त हो गया । विमान में सवार सत्रह सत्री दूसरे दिन सबीरे सहायता पहुँचने तक दम तोड़ चुके थे । एक सत्री जो गम्भीर रूप से घायल था वह भी कुछ दिन अस्पताल की शरण रहा पर उसे बचाया नहीं जा सका ।

दो दो जाँच आयोग बिठाये गये पर दुर्घटना के कारणों का पता नहीं चल सका । यह दुर्घटना वस्तुतः विश्व के महान शान्तिवादी व्यक्ति का विश्वशान्ति के लिये दिया गया अमर बलिदान था । काँगो के सीव बुद्ध

को सम्मम करने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव डाग हेमर शोल्ड अफ्रीका आये थे । इसी विमान से वे कटांग के नवोदित तानाशाह शोम्बे से वार्तालाप करने के लिये जा रहे थे । उनकी विमान दुर्घटना के बारे में कई अटकलें लगायी जाती हैं । उस समय काँगो की स्थिति बड़ी विषम हो चली थी । ब्रिटेन और फ्रांस जैसे शक्तिशाली देश काँगो में संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा शान्ति स्थापना के लिये बेजी गयी सेनाओं का विरोध कर रहे थे । संयुक्त राष्ट्रों की सेनाओं के पास हवाई आक्रमण से बचने के कोई साधन नहीं थे । जबकि फ्रांस के जेट विमान इस क्षेत्र पर बमबारी करने की स्थिति में थे । इस स्थिति में क्या हो सकता है इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है । डाग हेमर शोल्ड ने विश्व शान्ति के प्रयासों में निरत रहकर बहुत बड़े खतरे को मोल लिया और अन्त में स्वयं भी बलिदान हो गये । बड़े-बड़े राष्ट्र जो कि मुँह से तो विश्व शान्ति का राग अलापते रहते हैं और भीतर ही भीतर श्रेष्ठ बुद्ध भड़काते रहते हैं । डाग हेमर शोल्ड ने उन्हीं द्वारा उगले विष को पीने के लिये नीलकण्ठ की भूमिका निभायी थी ।

हेमर शोल्ड १९५३ से संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव पद पर कार्य कर रहे थे । उनका समय विश्व की राजनीति की दृष्टि से बड़ा ही विषम समय था । ऐसे समय में उनका पाँच वर्ष बाद दोबारा महासचिव चुना जाना उनकी शान्ति मित्रता, योग्यता, कर्मठता व व्यवहार कुशलता का परिचायक है ।

साढ़े आठ वर्ष के अपने संयुक्त राष्ट्र संघ के महा-सचिव कार्यकाल में उन्होंने उसके उद्देश्यों को पूरा करने के लिये जो प्रयास किये संयुक्त राष्ट्र संघ के इतिहास में विशिष्ट महत्व रखता है । इस काल में उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ को वास्तव में शक्तिशाली और समर्थ संघ बनाने का भरसक प्रयास किया था ।

२९ जुलाई, १९०५ में स्वीडन के एक विशिष्ट घराने में उनका जन्म हुआ । उनके पिता प्रथम विश्वयुद्ध के समय स्वीडन के प्रधानमंत्री रहे, उनकी माता ईश्वर भक्त और दक्षिण महिला थीं । मनुष्य और उसकी मानवता के प्रति उनके मन में बड़ी निहा थी । वे केवल जीओ और जीने दो के सिद्धान्त में विश्वास ही नहीं रखती थीं स्वयं जीओ उससे पूर्व दूसरे के जीवन की चिन्ता करो इस सिद्धान्त को मानती थीं ।

हेमर शोल्ड पर उनकी माता का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा था । उनके विचारों और भागदर्शन ने हेमर शोल्ड को महान मानवतावादी राजनीतिज्ञ बना दिया । उनके पिता पर देश व सम्राट के इतने उत्तरदायित्व थे कि वे परिवार के लिये बहुत कम समय दे पाते थे । परिवार का सारा दायित्व उनकी माता पर ही था । अपनी माता से उन्होंने बहुत कुछ सीखा ।

एक ठूँठ घराने में जन्मे व्यक्ति के पढ़ने-लिखने के लिये जो साधन-सुविधाएँ मिल सकती थीं । वे उन्हें भी उपलब्ध हुईं ऐसे घराने के बच्चे शायद उच्छ्वस हो जाय करते हैं क्योंकि उन्हें मनमाना सुख-सुविधाएँ अनायास ही मिल जाती हैं । किन्तु हेमर शोल्ड के साथ ऐसा नहीं हुआ । उनके पिता-पिता का उदाहरण उनके सामने था । उनके पिता प्रधानमंत्री इसलिये बनावे गये थे कि वे इसके योग्य थे और प्रधानमंत्री बनने के कारण उन्हें सामान्य व्यक्ति से कई अधिक जिम्मेदारियाँ उत्पन्न पड़ती थीं । उन्हें एकाग्र, मान्यता अतिरिक्त सुविधाएँ इसी दायित्व निर्वाह के लिये मिली थीं । मौज करने के लिये नहीं । सम्मान, सम्मान ही अपने कर्तव्य को महसूस भी किया देता, सम्मान व विश्व के प्रति ।

जब वे उपराल विस्वविद्यालय में पढ़ते थे तो उन्होंने अपने शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक विकास के अपने प्रारम्भिक दायित्व को पूरी तरह निभया । वे पढ़ाई में तो तेज थे ही साथ ही धियनेशिवन, पर्यटनरोहण व स्वीडिंग में भी वे अपने साथियों से सदा आगे रहते थे । जनसम्पर्क के स्वेच्छिक कार्यों में उन्हें बड़ी दिलचस्पी थी । वे अपने आस-पास के लोगों में सहज ही मूल-मिल जाते थे । इसके साथ ही अपने देशवासियों के मिलनसार स्वभाव का उनके मानस में भी प्रतिरोपण हुआ ।

पच्चीस वर्ष की आयु में उनका परिवार राजधानी स्टोकहोम चला गया । वे वहीं शासकीय सेवा में नियुक्त हो गये । यहाँ के कुछ जाने-माने अर्थशास्त्री १९२० की मंटी के सम्बन्ध में अध्ययन कर रहे थे । डाग हेमर शोल्ड भी उनके दल के सदस्य थे । आगे चलकर उन्होंने अपने देश में बेरोजगारी मिटाने के कार्य में अपनी महत्वपूर्ण सेवाएँ दीं । आज स्वीडन ही एक ऐसा देश है जहाँ बेकारी पूरी तरह समाप्त हो चुकी है । बेकारी की इस समाप्ति में उनका भी महत्वपूर्ण योगदान रहा था ।

व्यक्ति आयु से नहीं अपने ज्ञान और कर्मनिष्ठा से बढ़ा होता है । डाग हेमर शोल्ड ने इस तथ्य को अपने जीवन में स्पष्ट कर दिखाया था । तीस वर्ष की आयु में ही वे स्वीडन के सम्मान कल्याण मंत्री अर्नेस्ट विंगफोर्स के सहायक नियुक्त हुए । उन्होंने स्वीडन को आदर्श लोक कल्याणकारी राज्य बनाने की नीति निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान दिया । अर्नेस्ट विंगफोर्स ने उनके विषय में कहा है—“उनकी प्रखर व्यक्तित्व, न्याय सामर्थ्य और चिंतनजनक स्थिति में भी कोई व कोई राह खोज लेने की क्षमता ही वे आर्वाताएँ थीं जो उन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव पद तक ले गयीं और वे उस पद को सदैव आठ वर्षों तक सफलतापूर्वक निभाने सह सके ।”

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुई । इसके पूर्व भी लीग ऑफ नेशन्स नामक एक राष्ट्र संघ की स्थापना हुई थी पर वह अधिक समय तक चल नहीं

सकता था । लीग ऑफ नेशन्स प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बना था और संयुक्त राष्ट्र संघ द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद । दोनों के जन्म के कारण विश्वयुद्ध ही है । विश्व को भावी महायुद्धों से बचाना और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के लिये विश्व के कई राष्ट्रों ने इसकी सदस्यता स्वीकार की ।

जहाँ तक उद्देश्यों का प्रश्न है, यह संघ बहुत ही महत्वपूर्ण है पर इसकी अपनी कोई प्रथम शक्ति व सत्ता न होने के कारण कुछ बड़े-बड़े राष्ट्र इसकी आड़ में अपना हित साधन करते रहे । डाग हेमर शोल्ड जब इसके महासचिव बने तो उन्होंने इसे मात्र लोकद्विआळ संगठन न रखकर इसके उद्देश्यों को पूरा करने की ओर पूरा ध्यान दिया । वे इसे मात्र प्रस्ताव और बहस तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे । यदि वह राष्ट्र संघ वहीं तक सीमित रहे तो फिर उसका लाभ ही क्या ? यह सोचकर उन्होंने बड़े देशों की नाराजगी से भय न खाते हुए अपने कर्तव्य को निभया ।

जब अप्रैल, १९५३ में उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव का पद भार द्दिनेश ली से सम्हाला तो उन्हें यह सीधा-सादा, श्रम और एकान्तप्रिय-सा लगने वाला अदृशालीय बर्षीय स्वीडनवासी इस राजनीतिक दायित्वों और रूसी अमेरिकी गुटों की खींचतान से भरे संयुक्त राष्ट्र संघ को समझाने में सर्वथा अनुपयुक्त लगा था, किन्तु थोड़े दिनों में उनकी यह संका गिराधार रही । डाग हेमरशोल्ड ने अपने अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालय के ३५०० कर्मचारियों को किसी भी राष्ट्र के प्रभाव से मुक्त रखने की धीबणा कर दी । संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राज्य विभाग या एफ० बी० आई० के किसी भी एजेण्ट को उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ के आह्वानों में आने की इजाजत नहीं दी । उनकी यह दृढ़ता अमेरिका व रूस को बड़ी नागवार गुजरी पर वे नहीं चाहते थे कि संयुक्त राष्ट्र संघ किन्हीं बड़े देशों के सहारे चले या उनके दबाव को सहने को विवश हो । रूस व अमेरिका को उनसे सहमत होना पड़ा ।

उनके व्यक्तित्व व व्यवहार कीशाल का प्रमाण १९५४ में देखने को मिला जब संयुक्त राष्ट्र में कोरिया के युद्ध में जनकदी चीन द्वारा बाँटी बनाए गये एयरमैनो को मुक्त करने का प्रस्ताव पारित कर लिया गया । समस्या यह थी कि जनकदी चीन तो संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य ही नहीं था । उसे इसके लिये सहमत कैसे किया जा सकता था । संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बनावे जाने के कारण वह पहले ही खीझ हुआ बैठक था । इस कठिन काम को पूरा करने के लिये डाग हेमर शोल्ड ने स्वयं चीन जाकर वहाँ के नेताओं से बातचीत करने का निश्चय किया । परिस्थितियाँ विपरीत थीं । पिछले कुछ महीनों पूर्व ही जनवादी चीन ने जॉंग-काई शोक के राष्ट्रवादी चीन के दो द्वीपों पर कब्जा करी थी ।

४.१० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

यह डाग हेमर शोल्ट का ही नीति कौशल था कि वे चीन से आमंत्रण पाकर पेकिंग गये। चीन के विदेश मंत्री चाउ-एन-साई से वार्तालाप हुआ। चीन ने इसे अपना निजी मामला बताते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ की मंजूरी की तृप्ति दी। पर वह डाग हेमर शोल्ट के आग्रह की तृप्ति न सका। उनकी खातिर कुछ महीने बाद चीन ने तब तक बन्दी एयरमैन को छोड़ दिया जो कोरिया के युद्ध में बन्दे गये थे। यह हेमर शोल्ट के व्यक्तित्व की विजय थी।

राष्ट्रीय पुनर्स्थापन व विश्व-शान्ति के कार्यों में उनकी इतनी दिलचस्पी थी कि वे अपने पूरे समय का नियोजन इसी में करना चाहते थे। अतः वे आजीवन अविवाहित ही रहे। १९५६ में हजरात के प्रधानमंत्री बेन मुरिन ने उनसे एक अनौपचारिक वार्तालाप के दौरान पूछ लिया था-“आप विवाह क्यों नहीं कर लेते?” तो डाग हेमर-शोल्ट ने यह उत्तर दिया था-मुझे अभी बहुत से दायित्व होने हैं विश्व-शान्ति व जन-कल्याण के। मैं अपना प्रथम परिवार बनाकर क्या करूँ मुझे तो यह सारा संसार ही अपना परिवार लगता है” ऐसी दृष्टि बिरसे ही पाते हैं।

पहले ही बताया जा चुका है कि उनके कार्यकाल में संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने सबसे अधिक समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं। १९५६ में मिस्र के सर्वोच्च कर्नल नसिर ने

स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी। इसके साथ ही अरब इजराइल युद्ध भी भयंकर हो उठा। फ्रांस और इंग्लैंड की सेनाओं ने पोर्ट ऑफ सईद पर आक्रमण कर दिया था। इस घिनात को रोकने और मामले को शान्ति-पूर्ण रूप से निपटाने का बहुत कुछ श्रेय हेमर शोल्ट को है। उनके लिये अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति आइसन हावर ने लिखा है-“उनकी शारीरिक कार्यशीलता अनूठी थी।”

एक रात के बाद दूसरी रात यों करके कई रातें सिर्फ दो-दो घण्टे नींद लेकर पूरी कर लिया करते थे और रात-दिन काम किया करते थे। १९५६ में ही इंगरी में हुए विद्रोह को सोवियत संघ ने बड़ी निर्दयतापूर्वक दबाया उस प्रश्न की लेकर भी हेमर शोल्ट को बहुत व्यस्त रहना पड़ा था। अन्य देशों के वैतनिक दबावों के आगे रूस को लज्जित होना पड़ा था।

डाग हेमर शोल्ट ने संयुक्त राष्ट्र संघ को महज बड़े राष्ट्रों के हितों की रक्षा का कामजी घोड़ा बनने न देकर उसे उद्देश्य युक्त संस्था का सही स्वरूप प्रदान करने के लिये बड़ा संघर्ष किया। उन्हीं के कार्यकाल में पूँजीवादी और साम्यवादी गुट के बीच अखरोप तटस्थ शक्ति के रूप में अफ्रीकी एशियाई देशों का एक संगठन खड़ा हुआ था। उन्होंने अफ्रीका के छोटे-छोटे राष्ट्रों को भी संयुक्त राष्ट्र के सदस्य बनाने में बड़ी सहायता की।



विश्व प्रसिद्ध असफल जन नायकों के जीवन प्रसंग

‘हीरो ऑफ दि सोवियत यूनियन’—

मार्शल जुकोव

प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की करारी हार के बाद वह लगने लगा था कि वह हमेशा-हमेशा युद्ध लड़ने का दुस्साहस नहीं करेगा। सभी राष्ट्र जिन्होंने जर्मनी और उसके समर्थक एक्सिस पक्षर कहलाने वाले देशों से लोहा लिया था वह मानने लगे थे कि हमने जर्मनी को करारी शिकस्त दी है और वह अब युद्ध की सम्मर्थ्य खो बैठा है। अब मान्यता का वह तकाजा था कि सर्वनाशी दावानल में जल चुके जर्मनी को पुनः विकास पथ पर अग्रसर करने में सहयोग दें। युद्ध के लिए जहाँ की जनता तो घोषी नहीं थी और इसी अन्धकार पर उसे दीर्घकाल तक क्यों विभिन्न समस्याओं और कष्ट-कठिनाइयों से जूझने के लिए छोड़ दिया जाय।

हिटलर भी कुछ ऐसा ही प्रचार कर रहा था कि वह अब एक शांतिवादी राष्ट्र के रूप में अपने अस्तित्व को बनाये रहना चाहता है और इस बहाने उसके शत्रु रहे मित्र-राष्ट्र अब उसके भी मित्र बन चुके थे। इस मैत्री को निभाने में सर्वाधिक तत्परता दिखाई रूस ने। इन दोनों देशों में अनाक्रमण सन्धि हुई और वह भी विरिक्त हुआ कि वे अब एक दूसरे के विकास में सम्मानपूर्ण योगदान देंगे। रूस ने इसीलिए जर्मनी की भारी सहायता की थी, पर राजनीति तो ऐसा खेल है, जिसमें कहना मुश्किल होता है कि सामने वाले के मन में क्या है? और वह भी हिटलर जैसे तानाशाह के लिए जो सारे विश्व पर अपने साम्राज्य का स्वप्न देख रहा था और उसके ताने-बाने बुन रहा था। इन्हीं तो हिटलर अपने नये मित्रों से जर्मनी के कायाकल्प में काफी योगदान ले रहा था और उधर अन्दर ही अन्दर प्रथम महायुद्ध में अधूरे रह गये सपनों को पूरा करने की तैयारी कर रहा था। इतनी होशियारी के साथ कि किसी को खबर भी नहीं लग पायी।

अप्रैल, १९४१ में सहायता के नाम पर रूस के प्रधान-मंत्री स्टालिन ने अपने देश से जर्मनी को २ लाख ८ हजार टन अनाज, ९० हजार टन तेल, बार हजार टन रबर और लगभग साढ़े आठ हजार टन अन्य वस्तुएँ दिलवायी थीं। यदि इस बात का जरा भी सन्देह होता कि हिटलर पुनः युद्ध छेड़ेगा तो इस सहायता की क्या सम्मानना थी। लेकिन एक साधारण-सी घटना से हिटलर को लड़ाई लड़ने का बहाना मिल गया और युद्ध छिड़ा। सभी देश तो इस युद्ध की

कल्पना भी नहीं किये हुए थे अतः अचानक सामना कैसे होता? इसके लिए कोई तैयारी भी तो नहीं थी। अप्रैल में स्टालिन ने जर्मनी को विभिन्न सहायताएँ दी थीं और इसके लगभग दो महीने बाद जर्मनी ने रूस में तीन ओर से घुसना आरम्भ कर दिया। २२ जून, १९४१ को पता चला कि जर्मनी सेनाएँ रूस में घुस आयी हैं।

वह घटना सर्वथा अप्रत्याशित थी। रूस के सभी नेता इद्दबद्दा गये जिसमें स्टालिन की दशा तो सबसे ज्यादा ही बुरी थी। हालाँकि इसी माह स्टालिन को कुछ दिन पहले यह सूचना दी गयी थी कि जर्मनी आक्रमण करने वाला है तो स्टालिन ने सूचना देने वाले का खूब मजाक बनाया और उसे झिड़का भी सही था। वस्तुतः यह आक्रमण इतना अप्रत्याशित था कि रूस और जर्मनी के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की उस समय जो स्थिति थी और स्टालिन की जगह पर कोई और नेता भी रहा होता तो वह भी यही कहता। लेकिन २२ जून को जब सचमुच हिटलर की सेनाएँ रूस की सीमा में तीन ओर से घुसने लगीं तो स्टालिन किङ्कर्तव्यविमूढ़ हो गया। उस समय स्टालिन की मनोदत्त का वर्णन करते हुए रूस के भू-पू० प्रधानमंत्री खुरचोव ने कहा है—“स्टालिन ने कहा कि लेनिन ने जो कुछ निर्माण किया है वह सब हम जो ही चुके समझो” उसी दिन से स्टालिन ने सब कामों से हाथ खींच लिया और काफी समय तो उसने सेना को कोई मार्गदर्शन ही नहीं दिया। पोलिट ब्यूरो ने उसे धीरे-धीरे बांधाया तब कहीं जाकर स्टालिन पुनः कार्यशील हुए।

स्थिति भी भी इसी प्रकार की। एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के प्रति इस प्रकार विश्वासघात का उदाहरण विश्व के इतिहास में शायद ही कहीं देखने को मिले पर रूस की सेनाएँ तत्काल कुछ न कर सकीं। तीन महीने के भीतर मार्ग के सभी मोर्चे छूटछटाती हुई जर्मन सेनाएँ लेनिनग्राड तक पहुँच गयीं और उसके चारों ओर घेराबंदी करने लगीं। आस-पास के सभी सैनिक अहंते प्यस्त होने लगे। रसद सहित जीवनोपयोगी अन्य वस्तुओं की सप्लाई भी बन्द गयी। आधुनिक राष्ट्रबलों से लैस और पहले से ही तैयार प्रशिक्षित जर्मनी सेनाओं का मुकाबला करने की सामर्थ्य किसी सेना में नहीं थी। रसद की सप्लाई बन्द हो जाने से लेनिनग्राड निवासियों को अन्न उपलब्ध नहीं हो पा रहा था। रूस की राजधानी मास्को तक जाने वाले मार्ग पर भी नाकेबन्दी कर दी गयी थी। कहने का अर्थ यह है कि हर ओर से वही भय लग रहा था कि लेनिनग्राड का पतन सन्निकट ही है, अभी हुआ।

५.२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

ऐसी विषय परिस्थितियों में ज़ुबो से लोहा लेने के लिए सेना की कमान मार्शल जुकोव को सौंपी गयी। कुछ लोगों ने यह बात व्यक्त किया कि पुलमुले शरीर का वह अग्रिम विज्ञापक मार्शल, हिटलर की सेनाओं से क्या मुकामला करेगा? अधिकारशाली नागरिक यह सोचने लगे कि चार दिन में यदि रुस हारता तो अब दो ही दिन में हार जायगा पर यह आदेश सुप्रोम-कमान्ड को ओर से आया था, जिन्हें जुकोव की रणनीतिज्ञता, धीरता, पराक्रम, शौर्य और साहस का प्लैथोरिफ़ पता था और इस समय कमान्ड की दृष्टि में केवल जुकोव से ही आशा की जा सकती थी कि वे रुस को हिटलर के शिकंसे में फँसने से बचा लेंगे और सबमुक्त उन्होंने इस आश को पूरा कर दिखाया।

जुकोव के द्वारा रुसी सेना की कमान सम्हालने से पूर्व लेनिनग्राड की सुरक्षा का भार मार्शल बोरोसिलोव पर था। पर अपनी अनुभवहीनता, रणनीति में अकुशल दूरदर्शिता के कारण वे जर्मनी सेनाओं को आगे बढ़ने से रोक नहीं पा रहे थे। दुरमन उसी गति से आगे बढ़ा आ रहा था, यहाँ तक कि मॉस्को और लेनिनग्राड को जोड़ने वाली एकमात्र सड़क भी काट देने के प्रयत्न किये जाने लगे थे। बोरोसिलोव की सफल न होते देखा सुप्रोम-कमान्ड ने युद्ध के बहुत पुराने अनुभवी नायक जुकोव को बोरोसिलोव के स्थान पर नियुक्त किया और उन्हें रुस को इस विकट परिस्थिति से उबारने का दायित्व सौंपा।

जुकोव जार के समय से ही सेना में काम कर रहे थे। उस समय उन्होंने अपनी धीरता और बहादुरी के कल पर साधारण सैनिक से उच्च अधिकारी बनने में सफलता प्राप्त की। रुस में जब साम्यवादी क्रान्ति हुई और जार का तख्त उलटा तो भी जुकोव अपनी सेवायें रुस को देते रहे। साम्यवादी-क्रान्ति के सफल होने पर कई बार राजपूजक अधिकारियों को भीत के घाट उतार दिया पर जुकोव इसलिए बच गये कि वे व्यक्तिपूजक नहीं राष्ट्रपूजक थे। उनकी निष्ठायें किसी व्यक्ति के लिए नहीं समग्र राष्ट्र की एकता, अखण्डता और सुरक्षा के लिए थीं। साम्यवादियों ने जब ऐसे व्यक्तियों को भीत के घाट उतारना आरम्भ किया तो जुकोव जैसे देशपूजक और राष्ट्रपूजक शूरवीर की हत्या कर एक भारी सति उठाना स्वीकार नहीं किया। फिर भी सन्देह तो था ही और आवा स्टालिन का बयाना जिसने जरा भी सन्देह होने पर व्यक्ति को परलोक की राह दिखाने में कण भर भी विलम्ब नहीं किया। लेकिन स्टालिन के काम में कभी ऐसी घनक नहीं पड़ी कि जुकोव किसी भी प्रकार पुरानी व्यवस्था के प्रति सहानुभूति रखते हैं वा उस समय भी जार के प्रति चापलूसी पूरी निष्ठायें रखते थे।

अपने काम से काम और कर्तव्य से मतलब रखने वाले जुकोव के लिए दूसरे किसी भी बखेड़े में पड़ने का समय ही नहीं मिलता था। जो भी काम या अधिकांश उन्हें सौंपा जाता उसे पूरा करने के लिए वे सम्पूर्ण तत्परता से काम में जुट पड़ते थे। कर्तव्यपालन में दृढ़तापूर्वक उठे रहना उनके मौलादी संकल्प और प्रत्युत्पन्नमति अद्भुत

निश्चयों के कारण ही सफल होता रहा। जिस प्रकार वे कर्तव्य पालन कर अपना सारा ध्यान केन्द्रित रखते थे उसी तरह वह भी चाहते थे कि मेरे सहयोगी और अधीनस्थ व्यक्ति भी कर्तव्य-निष्ठा पर अविकल दृढ़ रहें। बोरोसिलोव के हत्य से कमान लेते ही उन्होंने सुप्रोम-कमान्ड को तुरन्त सूचित किया कि मैं आज ही से अधिक अच्छी कारणर कार्यवाही शुरू कर रहा हूँ।

उधर जर्मनी विपक्ष रुस की सुरक्षात्मक कार्यवाहियों को असफल बनाने के लिए एक्सि टैंकों पर दगादन बमबारी कर रहे थे और दण्डन उन्हें नष्ट किये जा रहे थे। जुकोव ने कर्नल बीचेव्स्की को इन्जीनियर कोर का अध्यक्ष बनाया और उनसे नकली टैंक तैयार करने के लिए कहा। इससे पूर्व उन्होंने देखा था ये नकली टैंक रुस के युद्ध मैदान में तैनात थे। ये टैंक सामरिक दृष्टि से तो आक्रामक नहीं होते थे पर दुरमन को डराने में इनका अच्छा उपयोग हो सकता था। कर्नल ने दो टोलियाँ इसलिए बनाकर छोड़ी थी कि जर्मन बमबार थोका छा जाय और अपने बम उन पर नष्ट कर डाले। जुकोव ने इन टैंकों की संख्या सी कर देने का आदेश दिया। इस सख्ती के साथ कि आदेश का पालन एक रात में ही हो जाना चाहिए।

कर्नल को जब यह आदेश दिया गया तो वे बड़ी दुविधा में पड़ गये। उन्होंने अपनी दुविधा व्यक्त करते हुए कहा-‘सर! एक ही रात में तो वह व्यवस्था कर पाना मुश्किल है।’

‘कुछ नहीं’-मार्शल ने एक भी न सुनते हुए कहा-‘चाहे जो हो यह व्यवस्था आज रात में ही हो जानी चाहिए और यदि तुमने जरा भी लापरवाही की तो कल तुम्हारा कोर्टमार्शल किया जायगा।’

कोर्टमार्शल चांकि कि बिना सफाई का मौका दिये फूफुदण्ड की सम्भावना।

बीचेव्स्की ने अपने मातहत अधिकारियों तक कोर्ट -मार्शल की सम्भावना बताते हुए रात भर में ही नकली टैंकों की व्यवस्था करने का आदेश दिया। सारा काम रातोंरात किया गया और दूसरे दिन भी ही टैंक बाहर यहाँ वहाँ खड़े कर दिये गये। इसने जर्मनी बमबारी को खूब छकाया।

जुकोव को जिन्दगी भर लड़ाई के अनुभव थे। उन्होंने एक सुदृढ़ रक्षा-पंक्ति तैयार की और साम्यवादी पार्टी के सदस्यों को भी हथियार देकर मोर्चे पर तैनात कर दिया। शहर में जितनी भी सेना थी उसे लड़ने के लिए बाहर भेज दिया और लेनिनग्राड के लाखों नागरिकों को काम में जुटकर छोड़े ही समय में पिल बॉक्सों की एक भजवृत दीवार खड़ी कर दी। जर्मन सेनायें उस समय लेनिनग्राड से दूर ही थी। इन सब तैयारियों के बाद मार्शल ने प्रत्यक्रमण शुरू किये। रुसी सेनायें इतने प्रचण्ड वेग से शत्रु सेनाओं पर आक्रमण करतीं कि उन्हें पीछे हटना ही पड़ता। जुकोव की सख्त आज्ञा थी-‘‘इमला करो, दुरमन को पीछे हटावो और हतना नहीं हो सके तो पर पिटो पर पीछे लौटकर अपना कृष्ण मुख वापस मत दिखाओ।’’

इस वेगपूर्ण अभियान में उन्होंने कुछ ऐसे सैनिक अधिकारियों की भी छुट्टी कर दी जो सामरिक दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण कार्य कर दिखाने में अक्षम थे और उनके स्थान पर नये खून को मौका दिया जिसमें कुछ करने का ठकाल भी था और जो शत्रु की लोहे के चने चबाने का साहस । जर्मन सेनाओं फान्तीय के निर्देशन में आक्रमण कर रही थीं पर उसे बार-बार प्रत्याक्रमण की सीखी मार सहकर पीछे हटने पड़ता और बितनी वह आगे बढ़ती उतनी ही वापस लौट कर पीछे आ जाती । ठहर हिटलर ने पैतरा बदला और लेनिनग्राद से हटकर मास्को पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित किया । फान्तीय ने वहाँ से फुमक हटाकर मास्को की ओर बढ़ा दी ।

मार्शल जुकोव भी वहाँ पीछा छोड़ने वाले थे वे मास्को भी पहुँचे । इस समय सर्दियों आ गयी थीं और लादेगा झील का पानी जम गया, जो रूसी सेनाओं के पक्ष में सहायक सिद्ध हुआ । मास्को स्तालिनग्राद और अन्य मोर्चों से रूसी सेनाओं ने मार्शल जुकोव के नेतृत्व में शत्रु सेनाओं को खदेड़ दिया और जर्मनी-सेनाओं जो रूस की खमीन पर छा रही थीं १९४४ में पूरी तरह पीछे हट गयीं । यही नहीं मार्शल ने पोलैण्ड को भी जर्मनी से मुक्त करा लिया । जिस पर जर्मनों ने सबसे पहला कब्जा किया । इस विजय का आधार एक ही सूत्र था और वह यह कि- अभियान में तनिक भी शिथिलता उसकी सफलता के आसारों को कम कर देती है ।

इस विजयश्री के कारण रूस सरकार ने उन्हें 'हीरो ऑफ दि सोवियत यूनियन' के सर्वोच्च पदक से तीन बार सम्मानित किया । उन्हें मित्र राष्ट्रों ने भी कई उपाधियों से सम्मानित किया । १८ जून, १९७४ को उनका देहान्त हो गया ।

जमता के स्वामी, जापान के उन्नायक—

मुत्सु हीटो

जिन दिनों भारत में राजतंत्र-देशी प्रियमर्तें थीं तब वहाँ के राजपरानों में बालकों को शिक्षा देने के लिए बड़ी विचित्र-विचित्र बातें सुनने में आती हैं । कहा जाता है कि राजकुमारों की शिक्षा देने के लिए जो अध्यापक नियुक्त किये जाते थे वे वे गुरु कम आकर ही प्यादा होते थे । राजकुमारों का जब भग होता तब पढ़ते और जब भग चाहता कि खेला जाय या मनोविनोद किया जाय तब अध्यापकों को उन्हें छुट्टी देनी पड़ती । यहाँ तक कि कोई पाठ याद नहीं होता या राजकुमार ठीक से पढ़ नहीं पाते तो दण्ड देने के लिए दूसरों के लड़के रखे जाते । गर्स्ती करते राजकुमार और पिटाई होती उन नौकरों के लड़कों की । राजकुमार साहब को दया आ जाती तो ठीक अन्यथा वे तालियाँ पीट-पीट कर हँसते-कूदते ।

भारतीय रियासतों में ही नहीं उन अन्य देशों में भी वहाँ राजतंत्र शासन प्रणाली प्रचलित थी प्रायः राजकुमारों को

शिक्षा देने का यही ढंग था । शिक्षा क्या इसे शिक्षण का नज़क ही कहना चाहिए और अन्य देशों की तरह जापान में भी यही पद्धति थी । वहाँ भी राजकुमारों को इसी ढंग से शिक्षा दी जाती थी । संयोग से, सौभाग्य से कोई राजकुमार बौद्धिक विकास कर गया तो ठीक अन्यथा राजपरिवार के बहुजन और दौलत भी दातावरण में वह भी कुछ कुटिल चालें सीख-सिखाकर बुद्धिमत्ता की दृष्टि से कोरा ही रह जाय । राजकुमारों की इस शिक्षण-प्रणाली की दृष्टि पर गौर किया जापान के एक ही बीसवें सम्राट ने, जिन्हें पदेन टैनों कहा जाता था । टैनों औसत हीटो ने अनुभव किया कि इस प्रकार राजकुमार शिक्षित होने की अपेक्षा बौद्धिक दृष्टि से कोरे के कोरे ही रह जाते हैं और ऐसे कृमयण्डूक मुखराज जिन्हें आगे चलकर सम्राट बनना है जनता के हितों का ध्यान रखने की अपेक्षा अपने कर्मचारियों और अधिकारियों की कठपुतली ही रह जाते हैं ।

अतः औसत हीटो ने अपने पुत्र मुखराज मुत्सु हीटो को आम बालकों की तरह शिक्षा दिलवाने का निश्चय किया । उन्हें इस प्रकार की शिक्षा दी जाने लगी जिससे वे आम राजकुमारों की तरह गरम गर्दों और स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों के दास बनने के स्थान पर कह-सहिष्णु और अनुरागजन परावण बनें । उनके साथ शिक्षकों की यही व्यवहार करने के लिए कहा गया जो वे आम छात्रों से करते थे । जब उनसे गलतियाँ होतीं तो उन्हें भी सामान्य विद्यार्थियों की तरह दण्डित किया जाता और इसका परिणाम यह हुआ कि उनका विकास कर्तव्यनिष्ठ, अनुग्रहित, संयमी और कह-सहिष्णु परिक्षमी व्यक्तित्व के रूप में होने लगा । उन्होंने खुदसवारी से लेकर जापानी व्यवसाय जूजुत्सु तथा अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में भी दक्षता प्राप्त की । साथ ही बौद्धिक विकास भी इतनी तीव्रता के साथ हुआ कि वे बचपन से ही कवितायें करने लगे ।

इन अर्जित योग्यताओं के बल पर ही मुत्सु हीटो ने जापान को एक सन्दिशाली, सम्पन्न और समृद्ध राष्ट्र के रूप में विकसित किया तब जापानियों के संस्कारों में कुछ ऐसी विशेषतायें छलीं जिनसे कि दो-दो बार विश्वयुद्ध में तबाह होकर अपना सब कुछ स्वाहा होने के बाद भी जापान ने इस तेज़ी के साथ प्रगति की कि आज उसकी गवना संसार के सर्वाधिक सम्पन्न राष्ट्रों में की जाती है और लगभग सभी देशों के वाली जापानी नागरिकों को राष्ट्रभक्ति का आदर्श समझते हैं ।

मुत्सु हीटो का जन्म जापान के अति प्राचीन राजवंश में १८५२ ई० में हुआ था । इस राजवंश की स्थापना दिम्बू टैनों ने सन् १६६७ ई० में की थी अतः इस दृष्टि से जापान का यह राजवंश विश्व के बहुत पुराने राजवंशों में से समझा जाता है । वहाँ के राजाओं को टैनों अवका टैनेशी कहा जाता था, उनके सम्मान हेतु मिकाडो शब्द भी लगाया जाता, जिस प्रकार कि हमारे देश में श्रीमन् ! और इसी राज्यवंश के १२१वें उत्तराधिकारी मुत्सु हीटो के शासनकाल में जापान संसार के उन्नत देशों की श्रेणी में आ गया ।

बौद्धिक विकास और राजनीति कला सिखाने के साथ मुत्सु को शारीरिक दृष्टि से भी बलशाली बनाया गया। उन्होंने पूरे मन से स्वयं को इस दिशा में उन्मुख, प्रवृत्त व तन्मय रखा। प्रायः देखा जाता है कि सम्पन्न घरानों के लड़के इधर-उधर रंगारंग और मौजमजों में ही अपना समय बर्बाद करते हैं। यही स्थिति राजघरानों के लिए भी है लेकिन मुत्सु ने समय के सदुपयोग की कला सीखी और उनका अधिकतम उपयोग अपनी योग्यताओं को अर्जित करने में किया।

१८६७ में जब उनके पिता का देहान्त हुआ तो मुत्सु हीटो जापान के सम्राट बने। उन दिनों जापान की स्थिति बड़ी शोचनीय थी। सम्राट की शासन शक्ति में न तो कोई विशिष्ट भूमिका होती थी और न ही प्रजा से कोई सम्बन्ध। उन्हें देवता और भगवान के रूप में समझा जाता था, अतः जनता को किन्हीं विशेष अवसरों पर ही उनके दर्शन सुलभ हो सकते थे अन्यथा नहीं। राज-काज यों ही सम्राट के नाम से ही चलता था पर इसकी व्यवस्था, नीति निर्धारण एक विशेष वर्ग करता था। यह वर्ग कुछ ठोस अधिकारियों का था जिन्हें शोगन कहा जाता था।

शोगन लोगों से मनमाना व्यवहार करते, मनमानी नीतियाँ और कानून बनाते तथा उन्हें तोड़ दिया करते। लोगों को उनके व्यवहार से जो परेशानी होती उसकी हवा भी राजा को नहीं लग पाती। परम्परागत रूप से युवराज मुत्सु जब भिक्षाओं के पद पर आसीन हुए तो उन्हें यह मर्मांश बड़ी खली कि जनता से उनका कोई सम्पर्क ही नहीं रहे। उन्होंने इस नियम को तोड़ने का फैसला किया, जिससे स्वाभाविक ही शोगन विनित्त हुए—क्योंकि इससे एक तो उनकी मनमानी नहीं बसती और दूसरे इनकी पिछली करतूतों के पर्दाफास होने का भी भय समने लगा। अतः उन्होंने मुत्सु को परम्परा और सम्राट पद की मर्यादा का इवाला देकर बना दिया। लेकिन मुत्सु ने एक न सुनी। इस पर शोगन विरोध करने लगे और विद्रोह पर उतर आये, तो मुत्सु ने शोगन का पद ही समाप्त कर दिया और शासन व्यवस्था को अपने हाथ में संभाला। शोगनों ने कुछ उत्पात मजामे पर जनता उनसे पहले ही चिढ़ी थी अतः उनकी एक न चल सकी और जनता ने भी उनका साथ नहीं दिया। इस प्रकार शोगन का पद समाप्त हो गया और शासन शक्ति को बदनाम करने वाले ठच्छल स्वार्थी वर्ग का पदोच्छेद भी।

जनता से सीधे सम्बन्ध और शासन तंत्र पर प्रत्यक्ष नियंत्रण से मुत्सु ने कई ऐसी बातें जानी जो शोगनों द्वारा उत्पन्न की गयी थी और उनसे जन-जन के साथ-साथ राष्ट्रीय हितों को भी शक्ति पहुँचती थी। उन दिनों कुछ विदेशी व्यापारी जापान में व्यापार करना चाहते थे, बार-बार उनकी ओर से निवेदन भी आता रहा कि पर शोगनों की स्वेच्छाचारिता के कारण विदेशी व्यापारियों को निराश ही रह जाना पड़ता था।

मुत्सु हीटो ने सर्वप्रथम विदेशी व्यापार प्रतिनिधियों तथा राजदूतों से घेंट की और उनसे जापान में व्यापार

सम्बन्धों की शर्तें तय की। जापानियों में से कुछ सम्राट के इस निर्णय से नाराज हो उठे। कई गुण्डे सत्त्वों ने तो बाजार में निकलने वाले विदेशियों पर हमले भी किये तथा उन्हें शक्ति भी पहुँचाई। मुत्सु हीटो ने ऐसे तत्त्वों का कड़ाई से दमन किया और दोषी-तत्त्वों को दण्डित करने के साथ विदेशी व्यापारियों की शक्तिपूर्ति भी की। इस प्रकार जापान ने विदेशों से सम्भवनापूर्ण सम्बन्ध कायम करने का पहला कदम उठाया। अधिकांश जापानी नागरिक सम्राट के इसलिए भी भक्त बन गये थे कि सम्राट अब उनके निकट आ गये थे।

मुत्सु हीटो का समूचा ध्यान अपने राष्ट्र की जनता के उत्थान पर केन्द्रित था। अतः उन्होंने देश के गणमान्य और प्रतिष्ठित व्यक्तियों को बुलाकर एक सभा का संगठन किया, जिसका उद्देश्य था लोक-कल्याण के कार्यक्रम बनाना और उनके क्रियान्वहन की व्यवस्था करना। इस प्रतिनिधि सभा के अधिकांश सदस्य जमींदार थे और विश्व के इतिहास में पहली बार जमींदारों ने जन-हित के लिए आत्मोत्सर्ग की भावना का परिचय दिया और जमींदारी प्रथा को ही समाप्त कर डाला। सब जमींदारों ने मिलकर अपने अधिकारों के समर्पण की प्रतिज्ञा करते हुए लिखा—“हम और हमारे पूर्वजों ने चिरकाल तक जमींदारी की आमदनी से सुख भोगे हैं परन्तु देश और जाति की उन्नति के लिए हमारी जाति संसार की उन्नत जातियों में गिनी जाने लगे, इस उद्देश्य से इस जमींदारी से जिस पर आज तक हमें स्वाह और सफेद करने का अधिकार था, जिनकी आमदनी से हम धीज-मजे लूटते थे और जिसके निवासियों को हम गुलामी की रस्सियों से बाँधे हुए थे अब अपने सब सत्त्वों का त्याग करते हैं। वह सब राष्ट्र के चरणों में समर्पित है, उसे राष्ट्रहित में जिस प्रकार भी प्रयोग किया जा सके करें।”

कहना नहीं होगा कि इस आत्मोत्सर्ग से एक ओर जहाँ सम्राट की शक्ति बढ़ी वहीं जमींदारों के अधीन उनकी भूमि पर काम करने वाले गरीब मजदूरों भी लाभ हुआ और सबसे बड़ी बात तो यह हुई है कि सम्राट को विश्वासपात्र सहयोगी मिले। अब जापान में एक नये परिवर्तन के युग का सूत्रपात हुआ। जापानी नियमों का पुनः निर्माण किया गया और अमानुषी अत्याचारपूर्ण दण्डों को सर्वथा बन्द कर दिया गया। राजधानी को क्वेटों से बदलकर इडो ले आया गया जो आज भी टोकियो के नाम से जापान की राजधानी बनी हुई है। युवकों के लिए अब तक किसी प्रकार की उन्नतशैली शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी, उनके लिए समुचित शिक्षण व्यवस्था की गयी और विशेषज्ञों द्वारा इस प्रकार का पाठ्यक्रम तैयार किया गया, जिससे जापानी युवक विद्यासम्पन्न होने के साथ स्वावलम्बी भी बन सकें। राज-काज को चलाने के लिए कैलेंडर का प्रयोग किया जाने लगा। प्रतिभाशाली युवकों को राजकीय स्तर पर अमेरिका और इंग्लैण्ड शिक्षा प्राप्त करने भेजा गया। सम्पन्न व्यक्ति और समृद्ध व्यापारी भी

पीछे न रहे-लोककल्याण के इतने सारे कार्य होते देख उन्होंने भी अपना योगदान देना अग्रगण्य किया और १८७२ में यातायात के लिए पहली रेलगाड़ी चली।

सुधारों की यह प्रक्रिया लगभग दस वर्षों तक चली। सैन्यशक्ति की दृष्टि से भी जापान में मुत्सु हीटो के नेतृत्व में काफी प्रगति की। उनके शासन काल में स्वतंत्र सेना और नौ सेना का अच्छा विकास हुआ। सन् १८७० में पहली पार्लियामेण्ट गठित हुई ताकि शासन व्यवस्था को जनता अपना काम समझे और अपने दायित्व को भली प्रकार निभा सकें। इस प्रकार जापान का एकदम नया कायाकल्प हो गया और वहाँ बहुत कुछ बदल गया।

परन्तु वे परिवर्तन न तो अन्त्यस्त ही हुए और न ही निर्विघ्न। जिस समय वे सुधार कार्यक्रम चले उस समय निश्चित ही कुछ स्वायत्त लोगों के स्वार्थ पर आपत हुआ और इससे वे व्यग्र भी हो उठे। अतः स्वान-स्वान पर विप्लव होने लगे और अन्तरा दत्पन्न हुआ कि तीन शताब्दियों से चले आ रहे राजवंश की कहीं नींव ही न उछल जाय। इधर यह आंतरिक कलह उधर फरमोसा द्वीप के आस-पास जलदस्त्रु भी जापानी पोतों को लूटने लगे। नौ सेना को उधर लगाना पड़ा तथा गुडमुड की स्थिति से निबटने के लिए स्वयं मुत्सु हीटो ने कमर कस ली। देशभक्त और विश्वासपात्र सैनिकों तथा सेनाधिकारियों को लेकर उन्होंने विप्लव को दबाने का अभियान छेड़ा। इस अभियान में वे स्वयं भी शस्त्र ग्रहण कर बलवाइयों का दमन करने निकल पड़े, इससे सैनिकों के हौसले बड़े और सफलतापूर्वक विप्लवकारी अवाञ्छनीय तत्वों पर काबू पा लिया गया।

शासन व्यवस्था में सुधार तथा जन-कल्याण की अन्य कई नई परम्पराएँ विनिर्मित कर उन्होंने अपने देश को प्रगति के पथ पर खड़ा कर दिया-यही नहीं उसमें गति भी लाये। कई स्वतंत्र और उन्नत राष्ट्रों ने जापान से सम्मानपूर्ण समानतासूचक सन्धियाँ कीं पर मुत्सु हीटो की परीक्षा के दौर से और गुजरना पड़ा। १८७४ में चीन ने और १९०४ में रूस ने जापान पर आक्रमण किया। जिसका सामना उन्होंने तथा उनके देशवासियों ने भी जान से किया। अन्ततः विजयव्रती ने उन्हीं का वरण किया।

२९ जुलाई, १९१२ को जापान के उन्नायक इस महान सम्राट का देहान्त हो गया। जिस समय वे मृत्युशय्या पर अन्तिम साँसें ले रहे थे-राजभवन के चतुर्दिक हजारों नागरिक ईश्वर से अपने बदले में अपने सम्राट का जीवन माँग रहे थे। राजसिंहासन पर ही नहीं लोगों के हृदय पर भी आसीन होने का इससे बड़ा प्रयत्न क्या होगा? सेवा और कठोर कर्तव्य-निष्ठा के बल पर सर्वसाधारण में अपनी इतनी प्रतिष्ठा बढ़ा लेना पूजनीय मूर्ति बन लेना ही वह कारण है कि जापानवासी चिरकाल तक मुत्सु हीटो को नहीं भूल सकेंगे।

राष्ट्र धर्म का प्रचारक-

मेजिनी

धर्म के अनेक स्वरूप होते हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि सत्य, न्याय, दया, परोपकार, श्रमिता आदि धर्म के अभिष्ट सिद्धान्त हैं और इनका व्यक्तिगत रूप से पालन किने बिना कोई व्यक्ति धर्मत्मा कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। पर इनके सिक्का और भी ऐसी बहुत-सी बातें हैं जो सामुदायिक दृष्टि से मनुष्य का कर्तव्य मानी जाती हैं और उनसे विमुख रहने पर मनुष्य अपने कर्तव्य से पतित माना जाता है। देश-भक्ति भी एक ऐसा ही पवित्र कर्तव्य है। जिस देश में मनुष्य ने जन्म लिया है और जिसके अन्न-जल से उसकी देह पुष्ट हुई है उसकी रक्षा और भलाई का ध्यान रखना भी मनुष्य के बहुत बड़े धर्मों में से एक है। विशेषतया जब किसी राष्ट्र का आक्रमण हो, या किसी लालची विदेशी शक्ति ने अपने देश पर अधिकार कर लिया हो, तो वहाँ के प्रत्येक निवासी का यह धर्म हो जाता है कि वह राष्ट्रभूमि को आत्माचारियों के पंजे से छुड़ाने का प्रयत्न करे। यदि वह अपने निर्दोष देशवासियों पर आत्माचार होती देखता रहता है और केवल एकान्त में बैठकर पूजापाठ करके ही अपने धार्मिक कर्तव्य की पूर्ति समझ लेता है तो वह वास्तव में धर्म में है।

इटली का जोसेफ मेजिनी ऐसे ही 'धर्म' का पुष्ट अनुयायी था। उसके समय में आस्ट्रिया और फ्रांस ने इटली के विभिन्न भागों पर अधिकार कर रखा था। आस्ट्रिया वाले वार्स के निवासियों के साथ दामों का-सा व्यवहार करते थे। उन्होंने अनेक विषयों में उनकी स्वाधीनता अपहरण कर रखी थी और जो कोई उनके विरुद्ध बरा भी बगान खोलता था या उनके आदेशों की अवहेलना करता था, उसी को जेलखाने में डाल दिया जाता था या फाँसी पर चढ़ा दिया जाता था। ऐसे समय में कुछ बड़ा होते ही मेजिनी इस अन्धाधुनिक अनुभव करने लगा और १६-१७ वर्ष की आयु में ही उसने देशसेवकों की विपत्ति की बातें सुनकर शोकसूचक काला वस्त्र धारण करने का निश्चय लिया और अजन्म इस प्रतिज्ञा का पालन करता रहा। बीस-बाईस वर्ष की आयु होते-होते वह 'कारमोनेरी' नाम की राज विद्रोही गुप्त संस्था का सदस्य बन गया और २५ वर्ष की आयु में सरकार ने उसे गिरफ्तार करके काल कोठरी में डाल दिया।

जब मेजिनी ने देखा कि इटली में रहकर विदेशी शासन के विरुद्ध एक शब्द भी उच्चारण करना कठिन है तो वह फ्रांस चला गया और फिर इसका समस्त जीवन इधर-उधर घूमकर भिन्न-भिन्न देशों में गुप्त या प्रकट रूप से रहते ही व्यतीत हुआ।

देश को पराधीनता के अधिशास्य से मुक्त करने के लिये मेजिनी ने 'युवा इटली' नाम की संस्था की स्थापना की। उसने अपने संगठन को केवल एक राजनैतिक दल का रूप

५.६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

न देकर 'राष्ट्रीय धर्म' का रूप दिया, जिसका उद्देश्य बतसाते हुये उसने लिखा कि "प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक राष्ट्र को ईश्वर ने एक महान उद्देश्य सौंपा है। ईश्वरीय प्रेरणा से हम उसका अनुसरण करना अपना कर्तव्य समझते हैं और ईश्वरीय प्रेरणा से ही उन उद्देश्यों की पूर्ति करके हम उन्नति का मार्ग ग्रहण करते हैं। इनही सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने, उत्थ और न्याय में विश्वास रखने और त्याग की पञ्चम पर चलने से हम विजय प्राप्त कर सकते हैं।"

पुराने आप्पोलनों की असफलता पर विचार करके मेजिनी ने 'युवा इटली' के उद्देश्यों में एक बात यह भी रखी कि कैसे आदर्शों और कर्तव्य का प्रभाव तो शिक्षित और सम्पन्न श्रेणी के व्यक्तियों पर ही पड़ सकता है। परन्तु देश के अशिक्षित और गरीबों के व्यक्तियों की समझ में ये बातें नहीं आ सकती, इसलिये हमको अपने कार्यक्रम में लोगों के स्थूल लाभ तथा सामाजिक और आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने की बात भी शामिल करनी चाहिए। यह तो स्पष्ट ही है कि जब तक साधारण जनता में जाग्रति न हो जाय और यह स्वतंत्रता आप्पोलन में भाग न लेने लगे तब तक सफलता की आशा न करनी चाहिए। इसलिये हमको अपने प्रचार में विशेष ध्यान गरीबों, बुढ़ियों और समाज के दौरे वाले रैंदे वाले वाले लोगों की तरफ देना चाहिए और उनको क्रान्ति में सहायक बनाना चाहिए। हम जिस प्रचारात्मक शासन का स्वप्न देख रहे हैं उसमें सब व्यक्ति समान भाव से एक दूसरे के हित का ध्यान रखकर ही व्यवहार करेंगे और दूसरों के हितों के लिये अपने सुख और विलास को त्याग करने की भावना रखेंगे। ऐसा होने से ही जर्जर शरीर वाले, फटे-पुराने बिबड़े पहने, अन्धे भेरे और आधा पेट भोजन करने वाले हतभाग्य लोग सुखी हो सकते हैं और समाज के सब अंगों के सुखी होने पर ही सम्पूर्ण मानव-समाज यथार्थ सुख-भोग सकता है।

'युवा इटली' की गुप्त संस्था का काम किस प्रकार चलाया जाता था, इसका वर्णन करते हुये एक क्रान्तिकारी ने लिखा है कि हम लोगों के पास न तो कोई दफ्तर था और न कोई सहायक। सारे दिन और रात को भी बड़ी देर तक हम लोग काम में जुटे रहते थे। हम ही लेख और पत्र लिखते रहते, पत्रिकाओं से चूँकर इटली के समाचार संग्रह करते, मस्त्राहों को अपने दल में भरती करते ताकि उनके द्वारा गुप्त साहित्य को इटली में भेजा जा सके, कागज मोड़ते, लिफाफे धिपकाते। एक व्यक्ति अपने के लिये टाइप कम्पोज करता तो दूसरा अपने वाले मजदूर को शुद्ध करता था। हम में से ही कोई व्यक्ति कुत्ता का काम करता ताकि मजदूरों का खर्च न पड़े। हम सब एक समान भाई की तरह रहते। हम सबका एक विचार, एक आशा, एक आदर्श था जिस पर हम दृढ़ रहते थे। हम लोग मास्त्रा में बड़ी दरिद्र हासत में थे, किन्तु सब कोई निश्चिन्त, ईसमुख बने रहते थे क्योंकि अपने कार्य

की श्रेष्ठता और भविष्य की सफलता में हमको पूरा विश्वास था।"

मेजिनी के आन्दोलन से उत्साहित होकर इटली के पीडित राष्ट्र राज्य की सेवा के कुछ अधिकारियों ने विद्रोह करने का निश्चय किया। विचार यह था कि विद्रोही जनता और सेना मिलकर अकस्मात् लाम्बाई प्रान्त पर हमला करके उसे आस्ट्रिया के पंजे से मुक्त कर लें। इस चढ़ावन का एक खास नेता बीको रो इफिनी था जो मेजिनी का सबसे बलिष्ठ और अन्तर्गत मित्र था। पर इस चढ़ावन का मंदतफेड़ समय से पड़ते ही हो गया। कितने ही फौजी अकसर मारे गये और इफिनी कैद कर लिया गया। उसके सामने दो बातें रखी गई कि या तो वह इस चढ़ावन में भाग लेने वरन् के नाम बतला दे, अन्यथा उसको बड़े कष्ट के साथ मरा जायगा। इफिनी को सन्देह हुआ कि कहीं कहीं को सहन न कर सकने के कारण किसी का नाम उसके मुँह से न निकल जाय। इसलिये किसी उपाय से उसने जेलखाने में ही आत्महत्या कर ली। मेजिनी को इस घटना का अत्यधिक शोक हुआ और वह आजीवन अपने इस मित्र की स्मरण करता रहा।

अपने निर्वासन का बहुत-सा समय मेजिनी को इंग्लैण्ड में बिताना पड़ा और गरीबी के कारण ऐसे-ऐसे कष्ट सहन करने पड़े जिन पर सहज में विश्वास भी नहीं होता, इसकी माता इसके खर्च की बराबर कुछ रुपया भेजती रहती थी, जिसमें इसका निर्वाह साधारणतः हो सकता था। पर उस रुपये को भी वह अपने ही काम में नहीं लाता था, बरन् अन्य साधियों का निर्वाह भी उसी से होता था। इससे उसकी आर्थिक दशा गिरते-गिरते इतनी खराब हो गई कि उसे अपने मित्रों और सम्मानियों से भेंट स्वरूप मिली हुई चीजें गिरवी रखनी पड़ीं। एक दिन ऐसा आ गया कि उसे अपना पुराना जूता और कोट भी गिरवी रखना पड़ा। इसके बाद अब कोई भी चीज रोब न रही तो उसे इन समितियों से कर्ज लेना पड़ा जो चालीस-पचास रु० सैकड़ा सूद लेती हैं और मनुष्य का खून तक चूस लेती हैं। सूद न मिलने पर बदन का कपड़ा उतरका लेती हैं और एक धिपड़ा तक नहीं छोड़तीं। इन समितियों का दफ्तर अक्सर सरायखानों में होता है और शराब के बंगल में फैले हुये लोग ही इनसे प्रायः कर्ज लेते हैं। मेजिनी जैसे प्रसिद्ध विद्वान और राजनैतिक नेता को घोर दरिद्रता के कारण बहुत समय तक इन समितियों के जाल में फँसा रहना पड़ा और शराबियों की पीछे में खड़े होकर अपनी जरूरतें पूरी करनी पड़ीं। इन विपत्तियों का जिक्र करते हुये मेजिनी ने लिखा है -

"मैं नहीं चाहता कि इन विपत्तियों का वर्णन करूँ, परन्तु उनका उल्लेख इसलिये करता हूँ कि यदि भविष्य में कोई चाहे इन विपत्तियों में मेरी ही तरह फँस जाय तो इस लेख से उसे सावधान मिले। मेरा चिन्त तो यह चाहता है कि मैं कोरोप की यातनाओं से विनम्र निवेदन करूँ कि मेरी विपत्तियों को सम्मुख रखकर वे निश्चय कर लें कि

वर्तमान अवस्था में हमारे यहाँ कोई भी मनुष्य स्वयं अपना स्वामी नहीं है । कोई भी नहीं कह सकता कि उस पर अधवा उसके अत्यन्त निकट सम्बन्धी पर कस कैसी बीतेगी । ऐसी दशा में ठचित वही है कि वे अपनी संतान को लाड़ धार में न पालें, उनको भोज विसास का अभ्यस्त न बनावें । उन्हें चाहिए कि वे आरम्भ से ही उन्हें कठिनाइयों का अभ्यस्त बनावें जिससे उन्हें भविष्य में कह पढ़ने पर असह्य न हो ।”

इस प्रकार मेजिनी आजीवन देशभक्ति के धर्म का प्रचार करता रहा और उसके उपदेशों से इटली ही नहीं समस्त पराधीन देशों के जन-सेवकों को बड़ी प्रेरणा मिली ।

कनाडा का जनक—

मेकडोनाल्ड

कनाडा आज विश्व के शक्तिशाली व सम्पन्न राष्ट्रों में गिना जाता है । आकार की दृष्टि से भी यह अन्य देशों की तुलना में बड़ा है । इस समृद्ध और विशाल राष्ट्र को अस्तित्व में लाने के लिये एक व्यक्ति ने कितनी कठिनाइयों का सामना किया, किस प्रकार उसने आपस में झगड़ने वाले छोटे-छोटे राष्ट्रों को अपनी राजनैतिक प्रतिभा व बुद्धि बल के सहारे संगठित किया, इस संगठन के लिये उसे कितनी भयंकर जोखिम उठानी पड़ी, यह एक लम्बी और दिलचस्प कहानी है । इस कहानी का जन्मक है जॉन अलेक्जेंडर मेकडोनाल्ड, जिसे कनाडा का जनक भी कहा जा सकता है ।

मेकडोनाल्ड का कनाडा के इतिहास में बही स्थान है जो सं. रा. अमेरिका के इतिहास में अब्राहम लिंकन का था । अब्राहम लिंकन ने दास प्रथा के उन्मूलन को लेकर जिस प्रकार गृह युद्ध की भयंकर जोखिम उठायी थी उसी प्रकार अलेक्जेंडर मेकडोनाल्ड ने ब्रिटिश कोलोम्बिया को कनाडा में मिलाने के लिये कनाडियन पैसिफिक रेलवे लाइन निर्माण की जोखिम उठायी थी ।

इतना बड़ा काम करने वाले मेकडोनाल्ड की योग्यताओं की ओर दृष्टिपात करें तो यह हमें सामान्य-सा आदमी ही लगता है, फिर वह कैसे यह कार्य कर सका ? इस प्रश्न का उत्तर उसके धैर्य व साहस रूपी सद्गुण ही दे सकते हैं । अलेक्जेंडर मेकडोनाल्ड का जन्म इंग्लैण्ड के ग्लासगो नगर में एक सामान्य परिवार में सन् १८१५ में हुआ था । जब वह पाँच वर्ष का था तब उसके भ्राता-पिता रोजगार के लिये कनाडा आ गये । वह केवल पाँच वर्ष तक ही नियमित रूप से स्कूल में पढ़ने जा सका था । उसके बाद पारिवारिक परिस्थितियों ने उसे कुछ न कुछ काम-धन्धा करने को विवश किया, परिणामस्वरूप पढ़ाई छोड़नी पड़ी । यही पाँच वर्ष तक ही स्कूल में पढ़ने जा सकने वाला मेकडोनाल्ड द्वादसीस वर्ष की आयु में कनाडा

की विधानसभा का सदस्य नियुक्त हुआ, अनुदार दल की ओर से ।

नियमित पढ़ाई नहीं कर सकना उसके व्यक्तित्व के निर्माण में विशेष बाधक नहीं बना । पढ़ने की उसकी बड़ी इच्छा थी पर उसके लिये वह स्कूल जा सके ऐसी परिस्थितियाँ नहीं थीं । किन्तु ‘जहाँ चाह वहाँ राह’ के प्राकृतिक नियम में विश्वास रखने वाला मेकडोनाल्ड निराश नहीं हुआ । उसने दुनिया में इधर-उधर बिखरे ज्ञान को जलपूर्वक समेटकर अपने मस्तिष्क में सँजोना आरम्भ कर दिया । स्वाध्याय के द्वारा अपना बौद्धिक विकास करना उसने अपनी नित्य की दिनचर्या में सम्मिलित कर लिया ।

मेकडोनाल्ड का यह ज़म व सूझ-बूझ काम आयी । उसे एक वकील ने अपना क्लर्क बना लिया । कुछ वर्षों तक उक्त वकील के ऑफिस में काम करके अनुभव प्राप्त कर लेने के पश्चात् उसने स्वतंत्र रूप से वकालत करना आरम्भ कर दिया । उन दिनों वकालत करने के लिये अवकल की तरह एल० एल० बी० नहीं करना पड़ता था । सन्दर्भ देने के लिये एक सामान्य-सी परीक्षा दे देना ही पर्याप्त होता था ।

वकील बन जाने के बाद भी उसकी महत्वाकांक्षाएँ समझ नहीं हुई थीं । वह राजनैतिक नेता बनकर कनाडा को एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में परिवर्तित करना चाहता था । विश्व राजनीतिक भटनाक्रम का गहराई से अध्ययन करने वाला मेकडोनाल्ड यह आवश्यक समझता था कि कनाडा भी सं० रा० अमेरिका की तरह संगठित हो जाय । इसके लिये अनुभव और योग्यता की आवश्यकता थी, जिसे उसने तत्सम्बन्धी पुस्तकें पढ़कर व अपने निकट सम्बन्धों में आने वाले वकील जन्मुओं से प्राप्त किया ।

साहसी तो वह पहले दर्जे का था ही । जिस वर्ष वह विधान सभा के लिये चुनाव लड़ा था उसी वर्ष उसने एक ऐसा मुकदमा लड़ा था जिससे महारानी विक्टोरिया नाराज हो सकती थी और उनकी नाराजगी किसी भी कनाडा वासी के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती थी, क्योंकि कनाडा उन दिनों एक ब्रिटिश उपनिवेश था । उसने सेंट लॉरेंस पार करके कनाडा में आ बसे कुछ अमरीकियों के पक्ष में मुकदमा लड़ा था । उसके इस साहस ने मतदाताओं का हृदय जीत लिया और वह विधान सभा का सदस्य बन गया ।

कनाडा उन दिनों एक छोटा-सा ब्रिटिश उपनिवेश भर था, जिसमें घोंड़े से कीचड़ सने-कस्ने और आवे-साफ हुए खेतों के अतिरिक्त जंगल ही जंगल था । यह सेंट स्टेवेन्स के आस-पास ही फैले हुए थे । उस वही छोटा-सा भू-भाग कनाडा कहलाता था । बड़ी मुश्किल से १८४१ में वर्तमान ओन्टेरियो और क्वीबेक प्रदेशों को संगठित करके कनाडा को थोड़ा बड़ा आकार दिया जा सका । इस एकीकरण में नये-नये पार्षद मेकडोनाल्ड का बड़ा सहयोग रहा ।

५.८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

इन तीन प्रदेशों के संयुक्त कनाडा के अतिरिक्त अन्य महासागर से लगे हुए नोवा स्कॉटिया, न्यू ब्रुंसविक, प्रिंस एडवर्ड, आइलैण्ड और न्यू फाउन्डलैण्ड आदि ऐसे राज्य थे जो आपस में झगड़ा करते थे और कनाडा उनके लिये एक चौराह विदेशी राज्य जैसा था। इसके बीच इन प्रदेशों के रहने वालों की ब्रिटिश प्रोटेस्टेण्ट व फ्रेंच कैथोलिक सम्प्रदायवादी आस्थाएँ भी दीवारों का काम कर रही थीं। ऐसी विषम स्थिति में कनाडा के एकीकरण का स्वप्न मेकडोनाल्ड जैसा दुस्साहसी व्यक्ति ही देख सकता था।

कनाडा को एकीकृत करके एक बड़ा राष्ट्र बनाने का मेकडोनाल्ड का सपना चंद वर्षों में पूरा नहीं हो गया। इसकी प्रगति कसुए की चाल से हुई। अल्पभिक मंदगति में बीच में उसे राजनीतिक क्षेत्र में असफलताएँ भी मिलीं। पर वह इससे निराश होने वाला नहीं था। उसके प्रयास चलते ही रहे। कनाडा में ही अभी एकता नहीं थी। फ्रेंच कैथोलिक और ब्रिटिश प्रोटेस्टेण्ट आपस में खींचतान किया करते थे। मेकडोनाल्ड की पहली सफलता यह थी कि वह इनका एक संयुक्त संगठन बनाने में सफल हुआ।

कनाडा का एकीकरण उसे एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने का उसका यह सपना उसकी कोई व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा नहीं थी बल्कि वह इसके पीछे सम्पूर्ण कनाडावासियों का हित देखता था, क्योंकि बिना छोटे-छोटे राज्यों के एक हुए इस प्रदेश का कुछ भी भविष्य नहीं था। किन्तु उसकी इस दूरदर्शिता को उसके देश के राजनीतिज्ञ भी समझ नहीं पा रहे थे। उसकी अपनी 'लिबरल फ़ेडरलिस्ट पार्टी' भी दो प्रकार के मतवादियों का गठबंधन थी, जो मात्र राष्ट्र में अपना प्रभुत्व रखना चाहती थी।

अपने विचारों से पार्टी के सदस्यों व देशवासियों को सहमत कराने के उसके प्रयास चलते ही रहे। उनका प्रभाव मंदगति से ही होता रहा। १८५७ में वह अपने उपनिवेश का प्रधानमंत्री बना। उसका विचार भी तब तक लोगों के दिमाग में घुँसे चुका था। प्रधानमंत्री बनने पर वह अपनी बात और अच्छे ढंग से समझा सका था।

इन्हीं दिनों अमेरिका में गृहयुद्ध की आग भड़क उठी थी। इंग्लैण्ड ने दक्षिणी राज्यों का समर्थन किया था। कनाडा ब्रिटिश उपनिवेश होने के नाते उत्तरी राज्यों के कोप का शिकार हो सकता था। इस आशंका ने उसके इस विचार की पुष्टि की। उसके विरोधी भी उससे सहमत हुए। जार्ज ब्राउन नामक उसका घोर विरोधी राजनीतिक नेता भी उसके साथ मिलकर काम करने के लिये तैयार हो गया।

यहाँ मेकडोनाल्ड ने बड़ी तेजी से काम किया। वह अक्सर था जब कनाडा के एकीकरण के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ बन रही थीं। इनसे लाभ उठाने में वह चूका नहीं। तभी उसे ब्रिटिश गवर्नर जनरल का आदेश मिला संविधान सभा संग करने के सम्बन्ध में। साइस और पैर्य के धनी मेकडोनाल्ड ने उक्त आदेश को अपनी असमारी

की दराज में हास दिया और वह तुरन्त जार्ज ब्राउन के पास पहुँचा। एक घण्टे की बातचीत के बाद उन्होंने अपनी संयुक्त सरकार बनाकर ब्रिटिश उपनिवेशों को एकीकृत करके बृहद कनाडा राज्य की स्थापना करने के लिए जोरदार प्रयत्न करने का निश्चय कर लिया।

इन दोनों ने मिलकर ब्रिटिश उपनिवेशों के एकीकरण के लिए प्रयास करने आरम्भ कर दिये। महीनों के भाषणों, राजनीतिक समझौतों और प्रचार के बाद १८६४ में यह निश्चित हुआ कि सब उपनिवेश मिल जायें। इसी उद्देश्य से क्विबेक में प्रतिनिधि बुलाये गये संविधान की रचना करने के लिये। समूचे प्रयास और राजनीतिक गठजोड़ के बाद एक बड़ा देश-कनाडा कागजों पर अस्तित्व में आया।

इसके लिए जान अलेक्जेंडर मेकडोनाल्ड को क्या-क्या नहीं करना पड़ा। वह दिन को संविधान सभा के सामने आयी धिन्न-धिन्न गुंथियों को सुलझाने के लिए सिर छपाता। रात्रि में उसे दूसरे उपनिवेशों से आये हुए प्रतिनिधियों के मनोरंजन और संयुक्ति के लिए हर सम्भव प्रयत्न करने पड़े। किन्तु यह सब उसने अपने लिए नहीं सभी उपनिवेशों के हित के लिए किया था। अपने इस आचरण द्वारा मेकडोनाल्ड ने यह आदर्श प्रस्तुत किया है कि राजनीतिक दावपेंच भी किसी सद्देश्य के लिए काम में लाये जाने चाहिए, न कि अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ साधना के लिए।

जब सभी उपनिवेशों के प्रतिनिधि नये विशाल राष्ट्र कनाडा की नयी राजधानी ओटावा में एकत्रित हुए और जब मेकडोनाल्ड भाषण देने खड़ा हुआ तो वह कतई राजनीतिज्ञ नहीं लग रहा था। उसका चुरियों भरा सम्बोतर चेहरा और डीली-डीली वेशभूषा उसके व्यक्तित्व को कोई आकर्षण प्रदान नहीं कर रही थी। किन्तु जब उसने भाषण देना शुरू किया तो श्रोता मंत्रमुग्ध हो सुनते ही रह गये।

१ जुलाई, १८६७ को ओटावा में नये संघ राज्य कनाडा की स्थापना हुई। इस दिन सारे देश में उत्सव मनाये गये। अभी तक इसमें चार राज्य आन्टेरियो, क्विबेक, नोवा स्कॉटिया और न्यू ब्रुंसविक ही सम्मिलित हुए थे। मेकडोनाल्ड इस देश का प्रधानमंत्री बना।

अभी ब्रिटिश कोलम्बिया नामक समृद्ध उपनिवेश को इसमें और मिलना बाकी था। इसके लिए जान अलेक्जेंडर मेकडोनाल्ड ने अटलांटिक से प्रशान्त महासागर तक रेलवे लाइन बनाने की शर्त पर समझौता किया जो बहुत भारी पड़ता था। चालीस लाख से भी कम जनसंख्या वाला कनाडा सेंट लारेन्स से प्रशान्त महासागर तक रेलवे लाइन बना सकता था? मार्ग में बड़ी-बड़ी झीलें, दसदस और रॉकी पर्वत जैसी बाधाएँ छड़ी थीं, पर मेकडोनाल्ड अपने स्वप्न को सत्य करके रहा। इसके लिए उसे अपना प्रधानमंत्री पद भी दीर्घ पर लगाना पड़ा। किन्तु कनाडियन पैसिफिक रेलवे निर्मित हुई। यों कहना चाहिए कि मेकडोनाल्ड ने अपना बलिदान दे दिया इसके लिए। इस रेलवे लाइन के निर्माण को लेकर उसे जितनी

दिवक्ते व विरोध सहने पड़े, जितना अधिक काम करना पड़ा उसे उसकी दुर्बल काया सह नहीं सकी। १८८५ में इस रेलवे लाइन के बन जाने के कुछ ही दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गई।

कनाडा का निर्माता अपने उस स्वप्न को स्मर कर गया जो नितांत असम्भव लगता था। मेकडोनाल्ड के जीवन की यह कहानी मानवीय कर्तृत्व की अनूठी मिसाल है।

निष्काम कर्मयोगी-

थिरास

३९ वर्षीय अलबर्टो थिरास ने सन् १९४५ में लिबरल पार्टी के उम्मीदवार की हैसियत से कोलम्बिया के राष्ट्रपति पद के लिये चुनाव लड़ा और सफल हुए। दुर्योग से एक वर्ष बाद ही उनका दल विघटित हो गया और उन्हें राष्ट्रपति पद से स्तीफा देना पड़ा। वे इतने लोकप्रिय थे कि उनके दल के ही नहीं अन्य दलों के सदस्यों ने भी उन्हें राष्ट्रपति पद पर आरुढ़ रहने की बात कही तथा चुनाव नहीं कराके राष्ट्रपति शासन लागू कर देने की राय दी। थिरास नैतिकता रहित राजनीति को परले सिरे धोखाधड़ी मानते थे। वे अपने आदर्शों और तद्दर्शों के प्रति पूरे ईमानदार थे। अतः उनके मन में पद का तनिक भी मोह नहीं व्याप्त और राजनीतिज्ञों को इस सम्पत्ति का उत्तर उन्होंने 'ना' में ही दिया। उन्होंने 'सेमन्स' नामक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। ऐसे निस्पृह राजनेतृत्वों की आज विश्व में बड़ी कमी है। किन्तु सच पूछा जाय तो राजनेतृत्व की कमी ही यही है। ऐसे ही निस्पृह राजनीतिज्ञ देश का भी भला कर सकते हैं और स्वयं भी बहादुरी बन सकते हैं।

उनके एक मित्र ने उनसे इस पद त्याग का कारण पूछा तो उन्होंने कहा था-“मैं चाहता तो राजनीतिज्ञ जोड़-तोड़ करके राष्ट्रपति पद पर बना रह सकता था। किन्तु किसी व्यक्ति के जीवन में पद का जितना महत्त्व नहीं होता उससे लाख गुना महत्त्व होता है उसके सिद्धान्तों का। जिस मनुष्य के जीवन में कोई उच्च सिद्धान्त नहीं उसे मनुष्य कहना मान्यता का अपमान करना है और मैं राष्ट्रपति पद से सच्चे मान्य का पद ठेका मानता हूँ।” आज जब हरेक व्यक्ति के मुँह से सुना और समाज में देखा जाता है कि नैतिक मानदण्ड ही बदलते जा रहे हैं। व्यक्ति जमाने की दोष देता हुआ व्यावहारिकता के नाम पर सिद्धान्तों का हनन करने में कोई संकोच नहीं करता, अलबर्टो थिरास जैसे उदाहरण सौख्य मान्यता को जगाने के लिए उत्प्रेरक का काम करते हैं।

कोलम्बिया के एक अति निर्धन परिवार में जन्मे और गरीबी के समस्त अनुभवों को सिद्ध करने और अपनी राह स्वयं बनाते हुए राष्ट्रपति पद तक पहुँचने और फिर उसे

तिनके की तरह त्याग देने वाले विरास के जीवन में ऐसे कितने ही प्रेरक आदर्श भरे पड़े हैं जो कितने ही व्यक्तियों को आदर्शपुरुष जीवन जीने की प्रेरणा देने को अपर्याप्त नहीं हैं।

वे सात वर्ष तक 'अमेरिकन ऑर्गनाइजेशन ऑफ स्टेट्स' के निर्देशक रहे। इस काल में उन्हें प्रतिवर्ष ९३,००० रुपये के कर मुक्त वेतन के अतिरिक्त निःशुल्क निवास, कार, काम चालक व भृत्यादि की सुविधाएँ प्राप्त थीं। किन्तु इस पद को भी उन्होंने अपने देश के एडेन्स विश्वविद्यालय के अवैतनिक अध्यक्ष बनकर जाने के लिए इसलिये त्याग दिया कि वे अपने देश में स्थापित हो चली सान्नाहाही को दूर करने का जोखिमपूर्ण कार्य हाथ में लेना चाहते थे। जिस व्यक्ति ने गरीबी को निकट से देखा हो, भोग्य हो गयी स्वेच्छा से उसे पुनः धरण करे ऐसे उदाहरण कम ही देखने को मिलते हैं। देश के, देशवासियों के हित के लिए इतने सुख-सुविधापूर्ण पद को त्यागने वाले थिरास का जीवन इस बात का साक्ष्य है कि आनन्द आराम भोगने में ही नहीं मिलता कठिनतम कर्तव्य निभाने के लिये महान्तम त्याग करने में भी मिलता है और पूर्वापेक्षा सहस्यार्थ अधिक मिलता है।

थिरास उन व्यक्तियों में से हैं जिनके लिये अंग्रेजी भाषा का 'सेल्फमेड' विशेषण प्रयुक्त होता है। अपने बचपन की कहानी को वे भूल नहीं हैं और कई लोगों की तरह भूल जाना चाहते भी नहीं हैं, क्योंकि भूल जाने पर पक्ष विचलित हो जाने का भय रहता है। बचपन और निर्धनता में व्यतीत हुआ। दस वर्ष के थे और पिता साध खेद गये। माँ ने दूसरे व्यक्ति से विवाह कर लिया। रिचार्ड के सैनिक विद्यालय में अठारह वर्ष की आयु तक किसी तरह उनकी पढ़ाई चली। उसके बाद बोगोटा में एक समाचार पत्र के कर्मचालय में अल्प वेतन पर नौकरी करती हुए वे सम्प्राप्तता बने।

मनुष्य की गिड़हा, ब्रम, लगन और संकल्प वे साथी-सहयोगी हैं जो उसे निरन्तर आगे बढ़ते ही रहते हैं। इस बात को उन्होंने अल्पवय में ही जान लिया था। वे तो अपनी गरीबी और विपरीत परिस्थितियों को धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने इन साथी-सहयोगियों से शीघ्र ही परिचय करवा दिया नहीं तो किसी समृद्ध घर में उत्पन्न हुए होते तो शायद वे तो भीड़ में खो गये होते, उन्हें आज कोई जानता न होता। थिरास को लिखने-पढ़ने के लिए भले ही अधिक समय तक स्कूल का सहाय न मिला हो, कॉलेज की तो बात ही भूषक है, पर विश्व में इस विशालतम विश्वविद्यालय में उन्होंने जो कुछ सीखा वह अनूठा है। ज्ञान किसी शिक्षण संस्थान की बपीती नहीं, जो मात्र-तत्र बिखरे ज्ञान को बटोरने की क्षमता उपजाता है वह बिना इन चहारदीवारियों में सत्र गुजारी किये ही बहुत कुछ पा लेता है। व्यवहार से, भाषणों से, पुस्तकों से, समाज से, पशु-पक्षियों से और अपनी अन्तःप्रेरण से प्रांगण में बिखरे ज्ञान के एक-एक कण-कण को बटोरते हुए, उसे अपने

जीवन में उतारते हुए, व्यवहार में लड़ते हुए एक अनाथ बालक से कोलम्बिया के राष्ट्रपति पद तक पहुँचे थे, एक दम नहीं एक एक सोपान चढ़ते गए।

अठारह वर्ष की आयु में उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया। अपने लगन, सूझ-बूझ, परिश्रमशीलता और योग्यता के बल पर ही वे बोगोटा के प्रमुख पत्र 'टोइम्पो' के प्रधान सम्पादक बन गये। वे अपनी सरल और स्पष्ट टिप्पणियों और झुलझे हुए ग्रीक सम्पादकीय लेखों के माध्यम से जनता में बहुत लोकप्रिय हुए। उनके प्रशंसकों में कोलम्बिया के तत्कालीन राष्ट्रपति 'अलफांसो लोपेज' भी थे। उन्होंने विरास को अपना भावज लेखक बना लिया।

"मनुष्य अपने धर्म का निर्माता स्वयं है।" इस उक्ति को विरास ने अपने जीवन में सार्थक किया है। छब्बीस वर्ष की आयु में चेम्बर ऑफ डिप्टीज के अध्यक्ष, सत्तरह वर्ष की आयु में राज्य मंत्री, सैंतीस वर्ष की आयु में सं० रा० अमेरिका में लैटिन कोलम्बिया के राजदूत और उन्तालीस वर्ष की आयु में चर्चा के राष्ट्रपति बनकर दिखाने वाले विरास से अच्छा उदाहरण और क्या होगा? इस सच्चाई को आधार देने के लिये और सबसे बड़ी बात तो यह कि मात्र योग्यता और निष्ठा के बल पर हास किया गया, छल-छन्दों व सिकारियों की अनैतिक बैस्त्रस्त्रियों के सहारे नहीं। उनकी वे उपलब्धियाँ जिसकी आश्चर्यजनक हैं उतनी ही प्रेरक भी हैं।

राष्ट्रपति पद को अलबर्टो विरास ने आदर्श के लिए त्याग दिया। उनके लिए पदों की कपी नहीं थी जिस व्यक्ति ने पाइस अर्जित कर ली है पद तो उसे मिलते ही हैं। उन्हें भी संयुक्त राज्य अमेरिका के 'ऑरगनाइजेशन ऑफ अमेरिकन स्टेट्स' के निर्देशक का पद मिल गया। सात वर्ष तक इस पद का योग्यतापूर्वक निर्वहण करते हुए जब उन्होंने कोलम्बिया को राजनैतिक गृह युद्ध की विनाशकारी लपटों में घिरा देखा तो वे बोगोटा लौट आये। व्यक्ति समाज से कितना बंधा होता है इसका उदाहरण उनका यह आचरण था। उन्हें कौन-सी कमी थी जो इतने ठोस पद को त्यागते, पर वह देश प्रेम और मानवता की भावना ही थी जो उन्हें खींच लायी थी।

तत्कालीन राष्ट्रपति 'लाडरिनो गोमेज' अपने प्रतिपक्षी लिबरल सदस्यों से बहुत जलता था। उसकी इस जलन ने पृणित प्रतिहिंसा का रूप ले लिया था। परिणामस्वरूप राजनैतिक हत्याओं की एक लम्बी मंथल उन दिनों चल पड़ी थी। अराजकता व कानून विरोधी हरकतों की कड़-सी आ गयी थी। नृशंस हत्या, लूटफट व महिलाओं की हज्जत से खेलना एक सामान्य बात हो गई थी। प्रतिवर्ष बीस लाख कोलम्बियावासी इस हिंसा की चपेट में आकर समाप्त हो रहे थे।

इन समाचारों ने उनके दिल को दहसा दिया और वे 'ऑरगनाइजेशन ऑफ अमेरिकन स्टेट्स' के वॉशिंगटन स्थिति कार्यालय को छोड़कर कोलम्बिया लौट आये। वह

बड़ा जोखिम भरा पग था। उनकी भी हत्या होने की पूरी-पूरी आशंका थी पर वे किसी भी मूल्य पर इस अराजकता को समाप्त करना चाहते थे। फिर यह मूल्य उनका जीवन ही क्यों न हो उन्हें चिन्ता नहीं थी। वह उनकी आत्मा की पुकार ही थी, जो यहाँ खींच खायी थी। वे बर्हा गये तो कोलम्बिया के मसौदा के रूप में पूजे भी गये।

कोलम्बिया आकर उन्होंने जनता में गृह-युद्ध से परिचय देने का साहस व शक्ति जगायी। तीन वर्षों में ही गोमेज का उल्टा उलट दिया गया और जनरल गस्ताव रोबस चर्चा का सम्बन्ध बन बैठा। वह तो उससे भी बुरा सिद्ध हुआ। उसने बवालीस प्रतिशत कृषकों को धूमि से बेदखल कर दिया। वे सड़कों में रोबोतार के लिए मारे-मारे फिरने लगे। विद्यार्थियों ने आन्दोलन किये तो उन्हें गोलियों से भूँट दिया। अलबर्टो विरास जनता को पूरी तरह क्रान्ति के लिए तैयार कर रहे थे। छूटपुट आन्दोलन करके वे अपनी शक्ति की क्षीन नहीं करना चाहते थे।

१९५५ के प्रीम्स काल में एक ऐसी बर्बरतापूर्ण घटना घटित हुई कि विरास को क्रान्ति का संख्खाव करना ही पड़ा। वह रविवार कोलम्बिया के इतिहास में कलंक कड़िया बनकर रोबस की निर्दयता की गवाही देता रहेगा और इस अनर सत्य का उद्घाटन करता रहेगा कि पाप का बड़ा देर-सबेर फूटे बिना नहीं रहता। इस दिन तानाशाह रोबस की पुत्री नगर में सौह-युद्ध देखने आयी थी। पिता द्वारा बेदखल किसानों ने पुत्री से अपने पिता को समझाने का निवेदन किया। सत्ता के गर्व से गर्वित उस तानाशाह की पुत्री ने कृषकों को दुत्कार दिया, इस पर किसी उग्र स्वभाव के व्यक्ति ने कोई ऐसी बात कह दी जो उसे अभिन्न लगी। उसने पिता से उनकी शिकायत की। फिर क्या था वह बिपन्न उठा। उसने भीड़ पर गोली वर्षा करने का क्रूर आदेश दे दिया। पीत खुलकर खोली। देखने वालों का कहना है कि उस दिन बोगोटा की सड़कों पर तारों की इस प्रकार सर्दियाँ लग गयीं जैसे जलाऊ लकड़ी के छेर लगते हैं।

इस भीषण हत्याकाण्ड के बाद विरास चुप नहीं बैठ सके वे खुलकर सामने आये। उसी रात उन्होंने बोगोटा नगर में विप्लव शार्वजनिक सभा करके उन्होंने रोबस की तीव्र भर्त्सना की। उसी दिन उन्होंने एडेन्स विश्व-विद्यालय के अध्यक्ष पद से स्तीफा दे दिया और कर्मक्षेत्र में कूद पड़े।

क्रूर तानाशाह रोबस के पास सत्ता थी, सैन्य बल था इस कारण जनता खुलकर सामने आने से डरती थी। पर विरास उन व्यक्तियों में से नहीं थे जो पृत्यु के भय से अन्याय को सह लें। उनके पास नैतिकता और सत्य की शक्ति थी। उसी को लेकर वे तानाशाही अतंक को तोड़कर सामने आये। वे जब खुलकर सामने आये तो अंजुदार दल के प्रसिद्ध नेता गिक्सेरओ लिन वास्त्रन्सिया भी उनका साथ देने के लिये मैदान में आ कूदे। पुलिस द्वारा पकड़े जाने का भय, गुण्डों द्वारा हत्या करा दिये जाने की आशंका आदि के बीच निर्भय

होकर उन्होंने अत्याचारपूर्ण तानाशाही से कोलम्बिया को मुक्त कराने के लिए प्रबल जन आन्दोलन उठाया। तानाशाही सरकार के समयान्तर इन दोनों दलों ने संयुक्त सरकार व संयुक्त मन्त्रि-मण्डल का गठन किया।

जनता में आक्रोश व छटपटाहट तो पहले थी ही अब तक कोई नेता सामने न होने के कारण इसे प्रकट करने का कोई मार्ग नजर नहीं आ रहा था। अब उन्हें नेता मिला गया था। फिर ६ मई, १९५० का वह स्मरणीय दिन आया जब जनता ने एकमत होकर अपने नेता के आग्रह पर 'बोगोटा बंद' का आयोजन किया। इस दिन सारा नगर निद्रामग्न-सा हो गया। सभी घरों में बन्द हो गये। कोई मजदूर कारखाने में नहीं गया, किसी व्यापारी ने दुकान नहीं खोली, सड़क पर कोई अदमी चलता-फिरता नजर नहीं आया। न कोई बस न कोई वाहन चलता। सर्वत्र मरघट की-सी नीरवता फैल गयी। कुछ रोजस ने हथियारों से लैस सैनिकों को विद्रोहियों को पकड़ने भेजा। नगर में गश्ती टैंक घूमने लगे। तीस हजार सैनिकों ने नगर में गस्त लगायी पर सड़क पर उन्हें एक बच्चा तक नजर नहीं आया। जनता जाग चुकी थी अब तानाशाही कैसे टिकती। वह अपने सेनापक्षों के हाथ में शासन सूत्र बसाकर भाग छड़ा हुआ। विरास ने सैनिक सशस्त्र समाप्त करके चुनाव कराये। चुनाव होने तक अस्थायी सरकार बनी। वे स्वयं चुनाव में खड़े हुए और राष्ट्रपति बने। अपने राष्ट्रपति काल में उन्होंने देश की दशा सुधारने के लिए सराहनीय प्रयास किये।

मॉरीशस के मसीहा-

डॉ० शिवसागर रामगुलाम

मॉरीशस में जन्मे, भारतीय मूल के एक ९४ वर्षीय महात्माकांक्षी व्यक्ति ने इंग्लैण्ड में जब डॉक्टर की सम्मानित डिग्री हासिल की तो उसके मित्र ने अच्छाई देते हुए पूछा ही लिया-"अब क्या इरादे हैं श्रीमान् के।"

"इरादे क्या होंगे अपने देश लौटना है।"

"कैसी बातें करते हो मित्र! इंग्लैण्ड जैसे सम्पन्न समृद्ध और विकसित देश में रहकर जिन्दगी का सुख भोगने की अपेक्षा तुम उसी पिछड़े हुए द्वीप में लौट जाना चाहते हो। यहाँ तुम्हें अच्छा वेतन मिला सकता है, कछो तो सभ्य, सुसंस्कृत जीवन संगिनी भी। तुम्हारे लिये उन्नति के द्वार भी खुले हैं। यहाँ तुम्हें कौन-सा सुख मिला जाएगा। बोलो 'हाँ' करते हो तो किसी अच्छे अस्पताल में चिकित्सा अधिकारी के पद पर सगुन दूँ।"

"नहीं मित्र! तुम्हारी इस मलाह और कृपा के लिए धन्यवाद। लेकिन एक व्यक्ति के लिए जो जीवन का सुख है वह सबके लिये सुख नहीं हो सकता, सुख तो व्यक्ति के दृष्टिकोण की उपज है। जिसे तुम सुख कहते हो वही मेरे लिये शूष्क हो सकता है और जिसे तुम पंगसफन मानते

हो वही मेरे लिये चिवेकरीलता की बात हो सकती है। सब पूछा जब तो मैं इंग्लैण्ड में रहने के लिये नहीं आया। मैं तो वह योग्यता हासिल करने आया था जिससे अपनी मातृभूमि की कुछ सेवा कर सकूँ।"

इंग्लैण्ड का सुख, समृद्धि भरा जीवन जिसे चौदह वर्ष तक वहाँ रहते-रहते भी अनुरक्त नहीं कर पाया था वह व्यक्ति थे डॉ० शिवसागर रामगुलाम। १८ सितम्बर, सन् १९०० के दिन पूर्वी मॉरीशस के एक छोटे से गाँव बैलरिव के साधारण ग्रामिक परिवार में जन्मे श्री शिवसागर का डॉक्टर बनना उनके दृढ़ संकल्प, महत्वाकांक्षा, लगन और निष्ठा और त्रय साधन का ही परिणाम था। उनके पूर्वज बिहार के थे। १८३४ में वे कमाने के लिये मॉरीशस पहुँचे थे।

उनके गाँव में कोई पाठशाला नहीं थी अतः वे रोज कई मील पैदल चलकर दूसरे गाँव की पाठशाला में पढ़ने जाया करते थे। एक दिन उनके अध्यापक ने उनसे पूछा-"सिन्धू! तुम रोय इतने पैदल चलकर पढ़ने आते हो क्या तुम्हें इसमें कष्ट नहीं होता?" कष्ट क्यों होगा मैं पढ़ लिखकर गवर्नर बनना चाहता हूँ और कुछ बनने के लिये कष्ट तो सहना ही पड़ता है।" उनकी यह बात सुनकर उनके सहपाठी खिल-खिलाकर हँस पड़े, रहते हैं झोंपड़े में और छात्र देखते हैं महलों के। अध्यापक कालक के इस उत्तर से बहुत प्रभावित हुए थे। वे गवर्नर तो नहीं पर उसी के संपर्क प्रधानमंत्री अवसर बन गये।

उनके परिवार की दशा देखते हुए तो उन पर उनके सहपाठियों का वह हंसना स्वाभाविक ही था। उन्हीं की बात नहीं वहाँ के अधिकांश भारतीयों की स्थिति सामान्य मजदूर से कुछ अच्छी नहीं थी। संख्या में अधिक होते हुए भी वे घुटती धर क्रेच लोगों के गुलाम थे। शिक्षा और जागरूकता का सर्वथा अभाव ही था।

मॉरीशस से प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करके वे १९२० में इंग्लैण्ड पहुँचे। घर की स्थिति तो ऐसी थी कि यहाँ भी उन्हें कमाते हुए ही पढ़ना पड़ता था। इंग्लैण्ड जाकर उच्च शिक्षा पाने की स्थिति उनकी कल्पना नहीं थी। किन्तु जिनके मन में लगन होती है उनके लिये असम्भव कुछ भी नहीं होता। इंग्लैण्ड जाने तक के किराये के पैसे जुटते ही वे चल पड़े। यहाँ वे बहुत कम खर्च में अपना गुजर चलाते। दैनिक व साप्ताहिक पत्रों में लेख लिखकर और जेय-मेटा अलकर्मिक काम करके वे अपनी पढ़ाई और निर्वाह के लिये खर्चा चुटाते।

अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा पर उन्होंने अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया। उनके विद्वतापूर्ण लेखों ने उन्हें वहाँ के राजनेतृत्व और सम्प्रदायसेवियों में पर्याप्त लोकप्रिय बना दिया था। चौदह वर्ष तक वे इंग्लैण्ड में रहे। यहाँ से डॉक्टरी की डिग्री हासिल करके वे स्वदेश लौटे।

वहाँ की चकाचीय उनके मातृभूमि के प्रति प्रेम को किंचित मात्र भी घुँथला न सकी थी।

एक कृष्णक ग्रामिक परिवार का व्यक्ति चौदह वर्ष की कठिन तपस्या के बाद इंग्लैण्ड से डॉक्टर बनकर स्वदेश

लौट रहा है यह जानकर मॉरीशस के भारतीय प्रवासियों का मन प्रसन्नता से झूम उठा। उनका वहाँ भव्य स्वागत हुआ।

तत्कालीन मॉरीशसवासी भारतीयों में राजनैतिक चेतना का तो अभाव ही था किन्तु धर्म चेतना जी रही थी। मुद्दो भर फ्रेंच लोग बहुसंख्यक भारतीयों की राजनैतिक अचेतनता का साध उठाकर ऐश्वर्य भरा जीवन बिता रहे थे जबकि अधिकांश भारतीय प्रवासी न डंग का खाना जुटा पाते थे, न मकान, न कपड़े। बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करने का तो सवाल ही कहाँ पैदा होता था। खेतों में काम करते थे हिन्दुस्तानी मजदूर और उनका लाभ उठाते थे फ्रेंच मालिक। इस असमानता को मिटाने के लिये भारतवासियों में राजनैतिक चेतना जगाना आवश्यक था। डॉक्टर साहब ने अपनी चिकित्सा सेवार्थ अपने बन्धुओं को समर्पित करने के साथ ही उनमें इस चेतना को जगाने का काम भी किया। धार्मिक संस्थाओं के नेताओं को उन्होंने इस दिशा में उनका सहयोग देने की बात कही, कुछ भारतीय धनपतियों से भी इस पुण्य कार्य में सहयोग देने की बात कही। शिक्षा प्रसार की सामाजिक स्तर पर व्यवस्था बनायी।

धार्मिक उत्सवों, त्यौहारों तथा सभा-सम्मेलनों के अवसर पर वे वहाँ जाते और लोगों को बताते कि किस तरह बहुसंख्यक और मॉरीशस को समृद्ध बनाने वाले हम भारतवासी थोड़े से लोगों के अधिकार में रहकर प्रस्त और शोषित का-सा जीवनयापन कर रहे हैं। दिन-रात श्रम करके भी हम भूखे पेट और खाली हाथ हैं और जो काम नहीं करते वे ऐशो आराम का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सुख और संपृष्टि हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है पर वह हमें प्राप्त नहीं। उसे पाने के लिये हमें संघर्ष करना पड़ेगा। संघर्ष करने के लिये हमें अपने अज्ञान को दूर करना होगा, उनकी इन बातों से लोग बहुत प्रभावित होते और उनके बताये अनुसार जागरूकता उत्पन्न करते।

सपनियर को उनका दवाखाना एक प्रकार का सार्वजनिक चिकित्सालय कहा जा सकता था। वे गरीबों की चिकित्सा की कोई फीस नहीं लेते थे। यदि उनके पास दवा के पैसे नहीं होते तो वे दवाई भी अपनी ओर से दे देते थे। चिकित्सा उनके लिये पैसा कमाने का साधन नहीं बरन् सेवा करने का साधन थी। आपकी इस उदार हृदयता और परोपकार ने उन्हें शीघ्र ही सारे मॉरीशस में लोकप्रिय बना दिया। तत्कालीन गवर्नर डी० बी० स्लीफोर्ड ने उन्हें वहाँ की चारा सभा का सदस्य मनोनीत किया।

इंग्लैण्ड से लौटने के बाद दूसरे ही वर्ष उन्होंने 'डेल्फी एडवॉन्स' नामक दैनिक समाचार पत्र का प्रकाशन किया। यह फ्रेंच व अँग्रेजी दोनों भाषाओं में छपता था। उनके अपने पास तो पत्र प्रकाशन के लिये पर्याप्त धन नहीं था। परोपकार से अधिक कभी उन्होंने अर्थ संचय को महत्व

ही नहीं दिया था। पत्रों के लिये उनके सम्पन्न भारतवंशी मित्रों ने आर्थिक सहयोग दिया था। पत्र प्रकाशन के पीछे उनका उद्देश्य जनता में जाग्रति लाना ही था। उनकी लेखनी का चमत्कार इंग्लैण्डवासी पहले ही देख चुके थे। मॉरीशस में भी वही चमत्कार देखने को मिला, वे पत्र शीघ्र ही लोकप्रिय हो गये। अब वे वहाँ मुख्य चर्चों में गिने जाते हैं।

चिकित्सा, पत्रकारिता और राजनीति इन तीन भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में सम्पन्न रूप से दखल रखने के उदाहरण कम ही मिलते हैं। यह उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की विशेषता है और इससे भी बड़ी विशेषता उन्हें निस्पृह रूप से चलाने में निहित है। इन तीनों साधनों को उन्होंने परमार्थ दृष्टि से ही प्रयोग में लिया।

१९३७ में उन्होंने श्री सुखदेव बालगोविन्द और श्री रामजी आदि मित्रों के सहयोग से श्रमिक संगठन बनाया। अधिक बड़ी भारी संख्या में इसके सदस्य बने। वस्तुतः यह उनके द्वारा चलाये गये मॉरीशस के स्वाधीनता संग्राम का प्रथम चरण था। उसी वर्ष अपनी उचित माँगों को मनवाने के लिये मजदूरों ने उनको प्रेरणा से जबरदस्त संघर्ष किया। फ्रेंच मालिकों ने कारखाने बन्द कर दिये। पर संगठित जनशक्ति के आगे उन्हें झुकना पड़ा। भारतवंशी मॉरीशसवासियों की यह बहुत बड़ी विजय थी, जनशक्ति जनशक्ति को पकड़ सकती है इस सच्चाई ने उन्हें बहुत बल दिया।

फ्रेंच उद्योगपतियों ने धन के बल पर ही मॉरीशस का औपनिवेशिक शासनतन्त्र अपने कब्जे में कर रखा था। १९४२ में डॉक्टर साहब ने उस काले कानून के विरोध में संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया। जिसमें यह नियम था कि तीन हजार से अधिक की जायदाद का मालिक ही वोट देने का अधिकारी होता है। इससे अस्सी प्रतिशत गरीब जनता वोट देने के अधिकार से वंचित रह जाती थी। उनके इस संशोधन को स्वीकार कर लिया गया। अब हर शिक्षित व्यक्ति को मतदान का अधिकार प्राप्त हो गया था।

इंग्लैण्ड से लौटने के पश्चात् उन्होंने अपने मित्रों, सहयोगियों और धार्मिक संस्थाओं जिनमें आर्यसमाज प्रमुख थी, के सहयोग से शिक्षा प्रसार का क्रम तेज करा दिया था। संशोधन विधेयक पारित हो जाने पर शिक्षित व्यक्तियों की मतदाता सूची बनी तो लोगों को यह जान कर आश्चर्य हुआ कि सबसे अधिक संख्या भारतीय प्रवासियों की है।

१९४८ के चुनाव में दो एक स्थानों को छोड़कर शेष सभी सीटों से भारतीय मूल के प्रत्याशी ही चुने गये। डॉ० सिक्समर रामगुलाम त्रिओले क्षेत्र से चुने गये थे। चुनाव के पश्चात् उन्हें प्रधानमंत्री बनने का अवसर मिला। अपने इस प्रधानमंत्री काल में उन्होंने मॉरीशस की जनता की बहुमुखी प्रवृत्ति के लिये क्रान्तिकारी कदम उठाये। श्रमिकों को उचित वेतन, पर्याप्त रोजगार देने की व्यवस्था की।

शिक्षा, चिकित्सा, न्याय आदि सुविधायें जनसङ्घारण के लिए सुलभ करने का भरपूर प्रयास किया। उसमें वे सफल भी हुए। उनके और उनके साथियों के प्रयासों से १२ मार्च, १९६८ में मॉरीशस सामान्यवादी क्रूर पंजों से मुक्त हो गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् मॉरीशस ने जो दृढ़ प्रगति की है उसका बहुत कुछ श्रेय डॉक्टर साहब को है।

धर्म में उनको अपार निष्ठा है। बचपन से ही भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रति वे एकान्तिक निष्ठा रखते थे जो कभी टूटी नहीं, उनका अपना अनुभव था कि भारतीय जनमानस किसी भी बात को धर्म के माध्यम से जितना शीघ्र स्वीकार कर लेता है उतना अन्य किसी माध्यम से नहीं। मॉरीशस को छोटा भारत भी कहा जाता है। उसका बहुत कुछ श्रेय उनके समर्पित व्यक्तित्व को है।

प्रधानमंत्री होते हुए भी वे स्वयं को एक सामान्य व्यक्ति ही मानते थे। प्रधान मन्त्रित्व उनके लिये जनसेवा का एक साधन भर था। जब उन्हें यह सूचना मिलती कि अमुक गरीब आदमी बीमार है तो वे अपना डॉक्टरों उपकरणों का बैग ठाकर स्वयं उसके घर पहुँच जाते और उसका निदान, उपचार करते। फलों से लदे वृक्ष की तरह सम्मान, पुरस्कार और पद ने उन्होंने अपने महम् की राखाओं को झुकाये ही रखा।

विद्वानों का आतिथ्य करने की भारतीय परम्परा को वे किस तत्परता और उत्साह से निभाते यह तो उनको घर आतिथ्य ग्रहण करने वाले ही जान सकते हैं। कई भारतीय विद्वान, राजनेता और धर्म गुरु उनका आतिथ्य ग्रहण कर चुके हैं।

अपनी प्रगति तो सभी करते हैं पर उसके साथ समाज की, अपने देशवासी भाइयों की प्रगति को जोड़ने और अपनी योग्यता, प्रतिभा का लाभ सभी को बँटाने वाला ही विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में 'सहज मनुष्य' कहलाता है। डॉ० शिवसागर रामगुप्तम ऐसे ही सहज मनुष्य थे। यह स्थिति माना हर व्यक्ति का कर्तव्य है इसे निभाये बिना मनुष्य जन्म को सार्थक नहीं कहा जा सकता है।

प्रजातन्त्र के आता-

सिसरो

ईसा के सौ वर्ष पूर्व रोमन प्रजातन्त्र के इतिहास का एक ऐसा पहलू भी है जो वस्तुस्थिति पर पड़ा हुआ चर्चा उठता है और ऐसे सध्य प्रस्तुत करता है जिससे व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को पोषक ज्ञानशाही और सभ्यतावादी शासन व्यवस्था तत्कालीन रोमन राष्ट्र की स्थिति के सामने फीकी पड़ जाय। यह है रोमन राष्ट्र के तत्कालीन साहित्यकार मार्कस तुलियस सिसरो का जीवन इतिहास।

यद्यपि रोम उस समय ज्ञान और शिक्षा का केन्द्र था। संसार के अधिकांश देशों द्वारा अपनायी गयी शासन

व्यवस्था-प्रजातन्त्र का उदय भी वहीं से हुआ बताते हैं। इसके पूर्व रोमन राष्ट्र अभिजात कुल के महत्वाकांक्षी लोगों की रंगस्वस्ती बना हुआ था। इस अभिजाततन्त्र के कीचड़ में ही प्रजातन्त्र का कमल उगा और इसका अधिकांश श्रेय किसी एक व्यक्ति को दिया जाय तो उसके लिए सिसरो से अधिक योग्य व्यक्ति कोई नहीं मिलेगा।

सिसरो एक ऐसे व्यक्ति के रूप में सदैव स्मरण किये जायेंगे, जिन्होंने निःशस्त्र अभिजात तन्त्र का विरोध किया और उसके पराभव का कारण बना। उनका जन्म १०६ ई० पू० एक साधारण परिवार में हुआ। उस समय इटली की जमीन पर खून की नदियाँ बह रही थीं। स्पेन से ग्रीस, सीथीनिया और सीरिया तक युद्ध की आग प्रचण्डरूप से प्रज्वलित हो रही थी। लोगों का घर से बाहर निकलना मुश्किल था। सुकते-सुपते देशवासी बाजार से अपनी जम्हरीयों का सम्मान लाते। जिनके पास पैसा था वे तो किसी न किसी प्रकार अपनी व्यवस्था कर लेते। परन्तु रोज कुँआ छोड़कर रोज पानी लाने वालों की क्या दशा हुई होगी यह सोचकर ही कतेजा काँप उठता है। ऐसे ही एक साधारण मध्यवर्गीय परिवार में जन्मा सिसरो।

बचपन से ही उन्हें बड़ी दैन्य दुरिस्थिति का सामना करना पड़ा। कोमल बालमन पर इस रक्तपात के विप्लवदार अभिजात वर्ग की कुत्सित लीलाओं के कारण विद्रोही संस्कार जन्मे और वे संस्कार ही समय पाकर संकल्प में परिणत हुए। उस समय-जब अभिजात वर्ग विजय के मद में चूर हो रहा था, साधारण और मध्यवर्गीय लोग अपनी विवशताओं और जज्बूरियों की निरुपाय सहन कर रहे थे। तब सिसरो अपने व्यक्तित्व निर्माण की साधना में जुटे हुए थे ताकि उस समाज और शासन व्यवस्था पर चोट की जा सके। तत्कालीन परिस्थितियों और व्यवस्थाओं के प्रति आक्रोश ने सिसरो को अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र रूप से विकसित करने के लिए प्रेरित किया और वे सागर की राह ऐसे ही चले।

वहीं पर उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर दर्शन और राजनीति का उच्चतम अध्ययन किया। घर छोड़ देने के कारण कई नयी परेशानियाँ सामने आयीं परन्तु अपने साधारण और गरीब परिवार में अभावग्रस्त जीवन का अध्यस्त होने के कारण सिसरो को अधिक चिन्तित नहीं होना पड़ा। वे अपने निर्वाह के लिए आवश्यकता भर उपार्जन इधर-उधर काम तलाश कर लेते थे। प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद सिसरो ने एथेंस की अकादमी में दर्शन का वर्षों तक अध्ययन किया।

इस अध्ययन का प्रयोजन मात्र ज्ञानार्जन ही नहीं था, बल्कि वे तो किसी न किसी प्रकार समाज में सुख शान्ति पूर्ण व्यवस्था लाने के लिए कृत संकल्प थे। इसलिए आवश्यक था कि ज्ञान ज्ञान और विकसित प्रतिभा से अधिकाधिक लोगों को सामान्वित होने का अवसर मिले। इस लक्ष्य को समझकर सिसरो ने विचार किया तो इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सशस्त्र-क्रान्ति की अपेक्षा जनक्रान्ति

५.१४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

का मार्ग अधिक सुगम और स्थायी परिणाम देने वाला होगा। इसके लिए आवश्यक है कि जनसाधारण में उपयुक्त चेतना भरी जाय। जनजागरण के लिए सिसरो ने वाग्मिता का अभ्यास आरम्भ किया। निरन्तर प्रवास और लगन निहा ने उन्हें सफलता प्रदान की। उनकी व्यक्तिक लोगों को चमत्कृत करने लगी।

सिसरो जानते थे कि उन्होंने सीधे ही जनजागरण के क्षेत्र में प्रयास किया तो सत्ताधिकारी उन्हें कुचलने के लिए हर सम्भव प्रयास करेंगे। शक्ति और स्थिति इस योग्य भी नहीं है कि उनका मुकाबला किया जा सके। उन्होंने बड़ी सोच-समझ से काम लिया और मार्ग ढूँढ़ निकाला। कुशल वाग्मिता उन्हें अभिजात वर्ग में निरन्तर लोकप्रिय बनाती आ रही थी। कईयों ने उनकी प्रतिभा का अपने लिए उपयोग करने की बात भी सोची। इसके लिए अनेकों अभिजात्य-कुल के व्यक्तियों ने उनकी ओर मैत्री का हाथ बढ़ाया। सिसरो ने इसे दुर्लभ सौभाग्य माना क्योंकि इस प्रकार वे शासन तन्त्र में आसानी से प्रवेश कर सकते थे। अन्य माध्यमों से वह जैसे मध्यवर्गीय व्यक्ति का नाटकीय प्रजातन्त्र में भाग लेना असम्भव-सा हो था। सिसरो ने कुलों और धनाढ्य लोगों की मैत्री को स्वीकार कर लिया।

धीरे-धीरे सम्पन्न मित्रों की संख्या बढ़ने लगी। वे सभी उनका उपयोग अपने हाथों को मट करने के लिए करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने सिसरो को सिनेट सदस्य चुनवा दिया। यद्यपि उस समय भी सिनेटर के पद अभिजात्यों लिए ही सुरक्षित थे। इस प्रकार उनकी मन-चाहित आकांक्षा-सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने व लक्ष्य पूर्ति का द्वार खुल गया।

सिसरो ने अपनी व्यवहार कुशलता और प्रतिभा के बल पर अपना अच्छा स्थान बना लिया। व्यक्ति चाहे अकिंचन स्थिति में हो परन्तु उसके पास व्यवहार कुशलता और व्यावहारिक सूझ-बूझ के दो रत्न हों तो वह स्वयं को अच्छे पद और प्रतिष्ठा पर आसीन कर सकता है। सिसरो इन दो विशेषताओं के कारण अच्छे से अच्छे पदों पर नियुक्त किये गये। जिस-जिस पद पर भी वे रहे उस पर निर्धारित आयु की अल्पतम अवस्था में पहुँचे। अभिजात वर्ग के लोग तो किसी न किसी प्रकार उन्हें अपना समर्थक और प्रशंसक बनाने के चक्कर में थे। इधर सिसरो भी किसी प्रकार अपना स्थान बनाकर अनीह लक्ष्य प्राप्त करना चाहते थे।

ई० पू० ६३ में वह कौंसलर के रूप में चुने गये। तत्कालीन संसद का यह एक महत्वपूर्ण पद था इस पर रहते हुए उन्होंने जो व्याख्यान दिये, उनको संसार के सर्वोच्च साहित्य में स्थान मिला है। आज भी दुनिया के उच्च शिक्षा प्राप्त विद्वान तथा विद्यार्थी उन भाषणों के अंश रटते हैं और उद्धरित करते हैं। इन व्याख्यानो ने सिसरो के यश को रोम की सीमाओं के पर्य तक विस्तारित कर दिया। उन्होंने ये व्याख्यान एक महत्वाकांक्षी अनाधारी

अधिकारी कातिलाइन के विरोध में दिये थे। कातिलाइन किसी भी प्रकार प्रजातन्त्र का वर्तमान स्वरूप नष्ट-भ्रष्ट कर खुद खानासाह बन जाना चाहता था। सिसरो ने उसके बहुवन्त्रों और कुटिल नीतियों का पर्दाफाश कर दिया। परिणामस्वरूप लोगों ने उसका अस्तित्व ही मिटा दिया। कातिलाइन ने उन्हें कई प्रकार से धमकाया और दबाव भी डाला, प्रलोभन भी दिये परन्तु वे अपने माध्यम से अभिव्यक्त होने वाले सत्य में किसी भी प्रकार का गतिरोध नहीं मान चाहते थे।

उसी समय जूलियस सीजर पूर्व से विजयी होकर लौटा था। उसकी विजय ने काफी लोकप्रियता प्रदान की। इस लोकप्रियता का लाभ उठाकर वह रोमन साम्राज्य का निरंकुश सर्वेसर्वा बन जाना चाहता था। सिसरो ने सीजर के इरादों को धीप लिया और रोमन राष्ट्र को सम्भावित खतरे से सावधान किया। सीजर के विरोध में कई धमक दिये। फलस्वरूप उसे अपनी महत्वाकांक्षाएँ दबा देनी पड़ी।

अपना विरोध करते देखकर सीजर सिसरो का जानी दुश्मन बन गया। पहले तो उसने भी प्रलोभन दिखाकर अपनी ओर फुसलाने का प्रयत्न किया परन्तु प्रजातन्त्र के प्राता और रोमन राष्ट्र के उन्नायक के रूप में प्रतिष्ठित सिसरो अपने लोक की गरिमा को अच्छी प्रकार समझते थे और ऐसा कोई भी काम न करने के लिए कुतसंकल्प थे जिसके कारण उनके गौरव को आघात पहुँचे। किसी भी प्रकार कात न बनते देख सीजर ने उन्हें रास्ते से हटा देने की योजना बनायी। उसके एक मित्र और अधीनस्थ कर्मचारी मार्क अंतोनी ने सिसरो की हत्या कर दी। वह जगह जो रोम की तीस वर्षों से सचेत करती आ रही थी अचानक बन्द हो गयी परन्तु मरी नहीं। बल्कि में जब इस बहुवन्त्र का भेद खुला तो सिसरो के समर्थकों ने जूलियस सीजर को रोमन सीनेट हॉल में ही पार डाला।

सहकारी समाज व्यवस्था के जनक—

रॉबर्ट आवेन

यूरोप की मध्ययुगीन आर्थिक क्रान्ति ने वहाँ की समाज व्यवस्था को बड़ा प्रभावित किया। यशनीकरण और वाणिज्यीय संसाधनों से वहाँ के महत्वाकांक्षी और सम्पन्न लोग दुरन्त अमीर बनने की बात सोचने लगे। इसके लिए जो कुछ भी उचित-अनुचित दिखाई पड़ा उसे करने में कोई कोर कसर नहीं रखी। सम्पन्न लोगों की इस नयी नीति से कुछ ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न पैदा किये जिनके समाधान खोजना जरूरी हो गया। साम्यवाद, समाजवाद, सफ्टिवाद और सर्वोदय जैसी विचारधाराएँ इन प्रश्नों के समाधानस्वरूप में ही बन्यीं। इन विचारधाराओं में एक तत्व सभी में समान रूप से पाया जाता है और वह है सहकारिता तथा सामंजस्य का

विचार । यह जानकर आश्चर्य होगा कि सहकारिता के विचार का जनक एक ऐसा व्यक्ति जो अपने समय का एक बड़ा धनाढ्य उद्योगपति और शासन सम्पन्न व्यक्ति रहा था उस व्यक्ति का नाम था रॉबर्ट आवेन ।

आवेन अपने समय के विख्यात उद्योगपति होने के साथ-साथ नयी समाज व्यवस्था के स्वप्नदृष्टा, अर्थशास्त्री और विचारक भी थे । उनका जन्म १७७९ में हुआ । पिता देश के धनाढ्य व्यवसायी थे । पुत्र भी इसी व्यवसाय में लगा और २९ वर्ष की आयु में ही ब्रिटेन की न्यू सान्जर्क काउंटन मिल खरीद ली ।

इस काउंटन मिल के श्रमिकों की स्थिति बड़ी दयनीय थी । उन्हें बहुत कम वेतन पाकर गंदी बस्ती में अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करना पड़ता था । मजदूर निर्धनता, दुर्दशा, हरिद्वार के जगजग में कैसे थे । उन्हें देखकर रॉबर्ट आवेन का मानस हदय रो उठा । उन्होंने मिल की प्रबन्ध व्यवस्था सम्हालते ही कई महत्वपूर्ण निर्णय लिए । उचित पारिश्रमिक, चिकित्सा, निवास आदि के विषयों में सुधार करते हुए मजदूरों के बच्चों के लिए शिक्षा की भी व्यवस्था की । उनके इन निर्णयों से मिल के कई सहोदर विरोधी बन गये । आवेन के हान्य से सारे अधिकार छीनने के प्रयत्न भी रहे जाने लगे । परन्तु सूझबूझ और प्रगतिशील सहायकों के बल पर आवेन ने विरोधियों को तबाह कर दिया । अपने अधिकार क्षेत्र में सुधार के बाद वे सामाजिक क्षेत्र में जाये और देखें कि श्रम की दुरावस्था के लिए दो तत्व जिम्मेदार हैं । पहले तो वे विचारक जो श्रमिकों को पूँजी उत्पन्न करने का एक जड़ साधन मात्र समझते थे । जबकि पूँजी स्वयं संचित श्रमिक के अतिरिक्त कुछ नहीं है । श्रम को उत्पन्न करने का जड़ साधनों में से ही एक मानने वाले लोग श्रम का मूलपाँकन अन्य वस्तुओं की तरह माँग और पूर्ति के नियमानुसार करते थे, अर्थात् उपलब्ध मात्रा से श्रम की माँग कम है तो मूल्य घट जायेगा और अधिक है तो बढ़ जायेगा । इस सिद्धान्त में श्रम के मन्वीय पक्ष को एकदम अजहेलना कर दी गयी ।

रॉबर्ट आवेन ने इस सिद्धान्त को अनुपयोगी और अनुचित ठहराया । शोषण का मूल कारण बड़े सिद्धान्त था इसलिए उन्होंने कहा कि उद्योग व्यवस्था का मूल उद्देश्य श्री समृद्धि है । जो मजदूरों का शोषण किये बिना भी प्राप्त की जा सकती है । उनके स्वयं के मिल में श्रमिकों की स्थिति सुधर जाने के बाद उत्पन्न काफी बड़ा था इसका कारण था कि सन्तुष्ट और सम्मानित स्थिति को प्राप्त कर लेने से मजदूरों का उत्साह स्वाभाविक ही बढ़ता है और वे दूने मनोयोग से काम करने लगते हैं । अपनी नीतियों का प्रायोगिक निष्कर्ष सामने रखकर उन्होंने उद्योगपतियों-श्रमिकों के प्रति न्यायपूर्ण रवैया अपनाने का आग्रह किया । परन्तु बात किसी को बँची नहीं । आवेन ने अब दूसरा तरीका अपनाया । कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की स्थिति में सुधार के लिए उन्होंने

आन्दोलन छेड़ जो कई दिनों तक चला । इस आन्दोलन में सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा और सन् १८१९ में एक फैक्ट्री अधिनियम पास हुआ । जिसके अनुसार श्रमिकों की स्थिति में सुधार की व्यवस्था की गयी ।

उनके मन में मजदूरों की दुरावस्था के लिए जिम्मेदार दूसरा तत्व यह था जो वह मानता था कि दीद्वार के लिए वे स्वयं जिम्मेदार हैं । यदि वह कोशिश करता तो निश्चित ही अपने प्रयास, सूझबूझ और साहस के बल पर धनाढ्य बन सकता था । इस धारणा को बल देने वाला पहला वर्ग था 'धर्मचार्य' और पादरियों का यह लोग अप्रत्यक्ष रूप से शोषण और अनाचार को बढ़ावा देते थे । इसका कारण पूँजीपतियों से लाभान्वित होने का लोभ था । धर्म और पादरियों को काफी पैसा इस वर्ग से प्राप्त होता था और उन्हें बहाना भी अच्छा मिल गया था । धर्म और अध्यात्म का एक सामान्य सिद्धान्त है कर्मफल । इस सिद्धान्त को आधार बनाकर धर्मपुरोहित यह प्रचार करते थे कि श्रमिक अपने पाप फल के कारण दीन-हीन हैं तथा पूँजीपतियों को उनके पुण्य फल से ईश्वर ने अन्य लोगों से लाभ उठाने का अधिकारी बनाया है । रॉबर्ट ने कर्मफल के सिद्धान्त की आड़ में चलाये जाने वाले शोषण को कुचक्र का कड़ा विरोध किया और धर्माचार्यों को सुझाया कि कोई भी धार्मिक मान्यता मानवता की उपेक्षा नहीं करती । लोग अपने कर्मों से गरीब बनते हैं यह ठीक है परन्तु कर्मफल के कारण दूसरों को उन्हें लूटने का क्या अधिकार ? परन्तु धर्माचार्यों ने उनका विरोध ही किया ।

आवेन भी धर्माचिन्तन की मानवीयता और विवेक से सम्बद्ध करने पर तुले हुए थे । इधर धर्म भी संगठित होकर उन्हें तबाह करने पर तुले हुए थे । परन्तु इसका कोई बड़ा प्रभाव नहीं हुआ । प्रबुद्ध और विचारशील लोगों ने उनकी बात को ध्यान से सुना और समर्थन दिया । सामाजिक अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में उनकी मान्यता थी कि मजदूरों को काम प्राप्त करने का अधिकार है और वे पूँजीपतियों के सपान ही उद्योग कारखानों के प्रबन्ध में भाग लेने को भी अधिकारी हैं । वे पूँजीपतियों को उस सीमा तक रोकना चाहते थे जिससे आगे बढ़ने पर श्रमिक हितों को खतरा न हो । उनका मन्तव्य वर्ग संघर्ष और पूँजीपतियों को समाप्त करना नहीं था । वे समन्वयवादी थे । पूँजीवादी और साम्यवाद के प्रमुख तत्त्वों का समन्वय कर उन्होंने सहकारी समाजवाद को जन्म दिया । वे इस विचारधारा के पितृ माने जाते हैं । उन्होंने स्पर्धा और दीड़ के स्थान पर सहकारिता और सामंजस्य की अर्थ प्रणाली का प्रतिपादन किया ।

उनका विश्वास था कि पूँजीपतियों के अन्तःकरण को जगृया जाये तो उनके मन में अधिक न्याय की भावना उत्पन्न हो सकती है और वे श्रमिकों को उद्योगों में बराबर का सहोदर बनाने के लिए तैयार हो जायेंगे । किन्तु आगे चलकर उनकी मान्यता टूट गयी । पूँजीपतियों के हृदय

परिवर्तन की आशा टूट गयी। ब्रिटेन के कई उद्योगपतियों के सामने उन्होंने अपने विचार रखे। उन विचारों का समर्थन करना तो दूर रहा लोगों ने आवेन की भर्त्सना आरम्भ कर दी। उनकी आशा निराश्वर सिद्ध हुई। परन्तु फिर भी वे हताश नहीं हुए। किन्हीं भी परिस्थितियों में निराश नहीं होने वाले पर-केहरि तो विश्व और समाज के सामने अनुकरणीय आदर्श स्थापित कर जाते हैं। उसके प्रकाश में मानवता कई पीढ़ियों तक सुख-सन्धि के आलोकित पथ पर बढ़ती रहती है।

१८१७ में यूरोप के दूर पर निकले। कई स्थानों पर उन्होंने अपना नया विचार रखना आरम्भ किया। आरम्भ में तो लोग उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते परन्तु उनकी योजना के सम्बन्ध में अच्छी तरह समझते ही लोग तुरन्त उनकी ओर खिंचते चले जाते। १८२१ में उन्होंने एक रिपोर्ट प्रकाशित की जिसमें मूल्य के उस न्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसे मार्क्स ने भी अपनी विचारधारा का मुख्य आधार बनाया।

इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन का अधिकांश भाग श्रमिकों को मजदूरी के रूप में ही जानी चाहिए। श्रमिकों की आर्थिक स्थिति अच्छी होगी तो वस्तुओं की खपत बढ़ेगी, इससे उत्पादन में आशातीत वृद्धि होगी। जिससे नये उद्योग खुलेंगे, रोजगार की सम्भावना बढ़ेगी और समाज के अधिकांश लोग सुखी और सम्पन्न होंगे। जब ज्यादा लोगों ने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया तब उन्होंने श्रमिकों की स्थिति में सुधार के लिए अब ऐसे प्रयास चलाने का विचार किया जिसके अनुसार मजदूर स्वयं ही अपनी समस्याएँ सुलझा सकें और वे १८२४ में अमेरिका आ गये। वहाँ उन्होंने ईडियान के न्यू हार्मनी गाँव में एक प्रयोग करना आरम्भ किया। सहकारी जीवन का एक ऐसा प्रयोग जिससे सारे संसार का मार्गदर्शन किया जा सके। न्यू हार्मनी के निवासियों को शीघ्र ही बहका दिया गया और रॉबर्ट आवेन अमेरिका छोड़कर ब्रिटेन आ गये। न्यू हार्मनी का प्रयोग अबूरा ही रह गया।

रॉबर्ट आवेन के विदेश प्रवास के समय ब्रिटेन के कई विचारकों ने उनके दर्शन का अध्ययन किया और उस आधार पर शोषण का विरोध किया। श्रमिकों ने ट्रेड यूनियन बनाये परन्तु सरकार ने इन संगठनों पर पाबन्दी लगा दी। मिल मालिकों ने यूनियन के सदस्य श्रमिकों को कारखानों से निकालने का सिलसिला शुरू किया। फलस्वरूप मजदूर आन्दोलन करने लगे और कारखानों में तालेबंदियाँ चलने लगीं। अब ट्रेड यूनियन आन्दोलन ने नया रूप ग्रहण किया।

आवेन के समर्थक विलियम टाम्सन ने श्रमिकों को सुझाया कि वे सहकारी समितियाँ बनाकर स्वतन्त्र उत्पादन करना आरम्भ कर दें। टाम्सन की मान्यता थी कि आवेन के प्रतिपादित सहकारिता सिद्धान्त पर अमल करने से एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा जबकि समूची आर्थिक सत्ता पर पूँजीपतियों का एकाधिकार समाप्त हो जायगा। तभी रॉबर्ट

आवेन भी ब्रिटेन लौटे। श्रमिक संगठन उन्हें अपना नेता मार्गदर्शक चुनना चाहते थे उन्हें लगा कि अब स्थिति कुछ अनुकूल है और इसमें उनके स्वप्न साकार होने की सम्भावनाएँ अधिक प्रबल हैं। नये ग्राम सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप देने के लिये उन्होंने श्रमिक बैंक की स्थापना लन्दन में की। आगे चलकर जिसकी कई शाखाएँ खुलीं।

इधर सहकारी समितियों का व्यवसाय भी बढ़ने लगा। अनेक सहकारी स्टोर और उद्योग धंधे खुलने लगे, जहाँ श्रमिकों को उचित और सस्ते दामों पर चीजें मिलने लगीं। ये समितियाँ बड़ी जल्दी लोकप्रिय हुई। सहकारिता के सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए अनेकों पत्रिकाएँ भी निकाली जाने लगीं।

तभी आवेन के मार्गदर्शन में सन् १८३४ में ग्रान्ड कम्युनिस्टिक यूनियन बनी जो श्रमिकों का एक मुख्य संगठन था। परन्तु आगे चलकर इसी संस्था के प्रमुख सहयोगियों की नीति से आवेन को बड़ी ठेस पहुँची। आवेन सहयोगिता और समझौते के आधार पर एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जो पूर्णतः नैतिक हो और उसमें पूँजीपति तथा श्रमिक दोनों ही तत्त्व अपनी योग्यताओं का लाभ समाज को पहुँचा सकें। इसके विपरीत आवेन के कुछ सहयोगी ग्राम संगठन को सामूहिक शक्ति का प्रयोग करके पूँजीपतियों को मिटाने के पक्ष में थे। आवेन ने इन विषय परिस्थितियों में भी अपने आदर्श को स्मर कराने का प्रयास जारी रखा। १८३९ में उन्होंने ब्रिटेन के ईम्प्यर में हार्मनी हाल की स्थापना की। यह उनकी कल्पना के सहकारी ग्राम का प्रयोग था।

१८४६ में रोशटेल पथोमिथर्स सोसायटी की स्थापना हुई। सहकारी आन्दोलन की विचारधारा का विकास इसी संस्थान से हुआ। इस प्रकार एक लम्बे संघर्ष के बाद आवेन ने शोषण और अनाचार के विरुद्ध पूँजीवाद के विरुद्ध स्वायत्तिक जीवन की महानता को स्वीकार किया इसी कारण उन्हें समाजवादी जीवन दर्शन का आदि पिता माना जाता है। वे राज्य और शक्ति बल के नहीं मनुष्य की स्वायत्तिक सच्चनता के प्रति आस्थावान बने रहकर एक नैतिक क्रान्ति लाना चाहते थे। यदि उन्हें गाँधीवादी चिन्तन धारा का आदि स्रोत भी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

सन् १८५७ में आवेन का देहान्त हो गया किन्तु आगे चलकर कई समाजवादी आन्दोलनों का पोषण संसार के कई देश सहकरिता का सिद्धान्त अपनाकर आज उन्नति की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यद्यपि वे एक सम्पन्न उद्योगपति थे चाहते तो प्रचलित पद्धति को ही जारी रख कर अच्छा सुखी जीवन बिता सकते थे। परन्तु उनके हृदय की जाग्रत मानवता को वह सब स्वीकार नहीं हुआ और वे कठिन संघर्षों को झेलकर विश्व को एक ऐसा विकल्प दे गये जिसमें अधिकाधिक लोगों के हित की व्यवस्था थी।

हँसमुख रूजवेल्ट

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के वर्तमान राष्ट्रपति श्री फ्रैंकलिन रूजवेल्ट किसी समय पक्षाघात रोग से पीड़ित थे। यदि भारत में कोई व्यक्ति पक्षाघात रोग से पीड़ित होता तो समझ लेता कि मृत्यु का पूर्वाभास उत्तरम्भ हो गया है। पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट दूसरे ही मसाले से बने हैं। उन्होंने खूब मन लगा कर व्यायाम किया और भोजन आदि के सम्बन्ध में सतर्कता से काम लिया। अब उनका स्वास्थ्य-पक्षाघात के दौर के पहले से भी अच्छा है।

अब से बीस वर्ष पहिले की बात है। वास्तवों में पक्षाघात का रोग बुरी तरह फैल निकला। कहीं-कहीं उसने बयस्क स्त्री-पुरुषों पर भी हाथ स्पर्श किया। इन्हीं में एक रूजवेल्ट थे। कई दिनों तक वह जीवन और मृत्यु के बीच में लटकते रहे। इसके बाद यकाम्पक उन का रोग शान्त हुआ पर अब वह बिल्कुल ही दूसरे चणुष्य हो गये थे न हाथ हिला सकते थे न पैर। उनके मित्रों ने सपझ लिया कि बस अब बाकी उच्च परिचादर कुर्सी पर काटेंगे।

यदि उनके मित्रों का ऐसा विचार या तो राष्ट्रपति रूजवेल्ट उनसे सहमत न थे। वह जाद्विज्य गये और वहाँ गर्म सोतो में स्नान किया। धीरे-धीरे उनके हाथ-पाँव खुलने लगे, उन्होंने हाथ-पाँव निकम्मे होने पर भी पानी में तैरने की एक ऐसी नई विधि निकाली जिसके द्वारा वह केवल छाती की सहायता से तैर सकते थे। अब बाहर निकलने पर वह अपनी सारी शारीरिक और मानसिक शक्ति अपने हाथों पर अधिकार रखने में लग्न देते। धीरे-धीरे उनके पाँव हिलने लगे।

इस तरह स्वास्थ्य की कान्ति उन के शरीर से फूट पड़ती है। उनकी बोंहें किसी पहलकन की बोंह की भाँति स्वस्थ हैं। हाँ, उनकी टाँग अभी तक प्रचः निकम्मी है। काम करते समय वह अपनी टाँगों को लोहे के फीतों से जकड़े रहते हैं। उनमें कार्यकारिणी शक्ति की इतनी प्रचुरता है कि वह सुबह के चार बजे से रात के बारह बजे तक लगातार काम करते रहते हैं।

उनका कलेषा बड़ा सादा है। संतरे का रस और एक गिलास दूध। पर सप्ताह में वह चार चार रोटी और भक्खन भी खाते हैं। उनका दोपहर का भोजन उनकी काम करने की मेज पर ही लगा दिया जाता है। उन्हें इतनी फुरसत नहीं कि अपने परिवार के साथ भोजन कर सकें। पर जब वह परिवार के साथ भोजन करते हैं तो एक दो नहीं बीसों आदमी आमन्त्रित होते हैं। वे सब स्वादिष्ट पदार्थों पर हाथ साफ करते हैं। पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट हलके भोजन से ही अपना सन्तोष कर लेते हैं। वह कभी कुछ और कभी कुछ उठाते जाते हैं और उस समय उपस्थिति डॉक्टरों को उनकी विवेचन बुद्धि की सराहना करनी पड़ती है।

पर यदि यह कहा जाय कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट के स्वास्थ्य में काष्ठाफलत व्यायाम या भोजन ने किया, तो भूल होगी उनके काष्ठाकल्ब का रहस्य है उनका जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण। वह बड़े ही आशावादी हैं और हमेशा हँसते रहते हैं। उनको मुस्कराहट अब इतनी प्रसिद्ध हो गई है कि वह संसार भर में 'मुस्कराने वाले राष्ट्रपति' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यही कारण है कि संयुक्त राष्ट्र के प्रधान शासन पद पर काम करते हुये भी उनका स्वास्थ्य बना हुआ है। यह पद इतना उत्तरदायित्व पूर्ण है कि हार्डिज और विसासन अपनी अवधि समाप्त होने के बाद अधिक दिनों तक जीवित न रह सके। एक रूजवेल्ट हैं जिनके चारे में एक चिकित्सक ने कहा है कि वह छः वर्ष तक राष्ट्रपति के पद पर काम करने के बाद अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ दिखाई पड़ते हैं।

दिन भर में कम-से-कम तीस बार थेंद मुलाकात करनी पड़ती है। इन सारे अवसरों पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट मुलाकातियों के साथ बात करते हैं और बीच-बीच में खिलखिला कर हँस पड़ते हैं। वह किसी का उपहास करते हों, सो बात नहीं है। वास्तव में वह संसार की क्रीड़ा स्थल समझते हैं और उन्होंने निरवचन कर लिया है कि कहीं तक उनसे सम्भव होगा, वह चिन्ता और उदासी को फस न फटकने देंगे। वैसे राज्य की चिन्ता ने उनके चेहरे पर झुर्रियाँ डाल दी हैं, पर उन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता है माने वह चिन्ताओं से दिन-रात कभी न समाप्त होने वाला संघर्ष करते रहते हैं।

राष्ट्रपति रूजवेल्ट संख्या के ६-३० बजे अपने लिये खासतौर से तैयार किये गये तालाब में जाते हैं। तालाब में कूदने से पहले एक सादा-सा बनियान पहन लेते हैं। इसके बाद खूब तैरते हैं। साथ ही उनकी धर्मपाली भी रहती है। इसके बाद वह निकल कर वाप्य स्नान करते हैं और फिर शरीर पर मालिश करवाते हैं। कभी-कभी वह केवल वाप्य स्नान और मालिश ही काफी समझते हैं।

जब उन्होंने पहली बार राष्ट्रपति का पद ग्रहण किया था तो उनकी आयु ५१ वर्ष की थी। उनके चेहरे पर गम्भीरता की एक हलकी धुआँ तथा प्रसन्नता सदैव उनके व्यक्तित्व की ऊँचाई का दिग्दर्शन कराती रहती थी। उनका निजी सचिव पत्र टाइप करने में कितनी भी सावधानी क्यों न करते, राष्ट्रपति हस्ताक्षर करते समय कुछ संशोधन अवश्य कर देते या कुछ शब्द जोड़ देते थे। एक बार उसने एक पत्र दोबारा टाइप कर दिया और उसमें वह वाक्य भी बढ़ा दिया, जो राष्ट्रपति ने अपने हाथ से लिखा था।

हस्ताक्षर के लिए पत्र जब राष्ट्रपति के पास भेजा गया तो उन्होंने सचिव को बुलाकर समझाया। "धैरे मित्र मैं प्रत्येक पत्र में कुछ शब्द अपने हाथ से इसीलिए लिखा करता हूँ ताकि पत्र सीधाईपूर्ण बन जाये।"

जो सच्चे अर्थों में राष्ट्रपति बने—

रेस्ट्रेपो लिरास

लेटिन कोलम्बिया के इतिहास में केरलस लिरास रेस्ट्रेपो राष्ट्र उद्धारक की तरह अमरित होने वाले लीह पुरुष हैं। १९०८ में विश्वविख्यात जीवशास्त्री केरलस लिरास के घर जन्मे अपने छह भाइयों में सबसे छोटे रेस्ट्रेपो उसकी दीवार फाँदकर अपने सब भाइयों से आगे निकल गये। १९६७ में वे लेटिन कोलम्बिया के राष्ट्रपति चुने गये।

जून, १९६७ के वे दिन बड़े ही विचित्र हो चले थे। एक दिन बोगोटा की नेशनल यूनिवर्सिटी के विद्रोही छात्रों ने छात्र-आन्दोलन के नाम पर समाज व नीति-विरोधी प्रवृत्ति अपना ली। उन्होंने कई बसों व कारों में आग लगा दी और कई घर पथराव किया। जिन वाहन चालकों ने उनकी अनुचित भाँगी को पूरा न किया, उनसे अभद्र व्यवहार किया तथा बुरी तरह मारपीट की। इन वाहनों में दो बय वर्षक गाड़ियाँ भी थीं। उन पर जब पथराव किया गया तो उनसे भयंकर विस्फोट हुआ। इस विस्फोट को सुनकर यूनिवर्सिटी के अधिकांश छात्र घटनास्थल पर एकत्रित हो गये तथा लोगों को डराने-धमकाने लगे। वे कह रहे थे—“अब विद्यार्थी विद्रोह को कोई रोक नहीं सकता, यह सारे देश में फैलकर रहेगा।”

विद्यार्थियों की उन उच्छृंखल हरकतों का आधार लेटिन कोलम्बिया की तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं। इन परिस्थितियों से परित्राण पाने की जो राह इन विद्यार्थियों ने अपनायी थी, वह निराला अनुचित थी।

रेस्ट्रेपो अभी नये-नये राष्ट्रपति निर्वाचित हुए ही थे। वे कोलम्बिया को इन परिस्थितियों से मुक्त करने के लाने-बाने चुन ही रहे थे कि यह नेशनल यूनिवर्सिटी काण्ड सामने आ उपस्थित हुआ। छात्रों की इस उच्छृंखलता की राष्ट्रव्यापी प्रतिक्रिया हुई। यह प्रवृत्ति विद्यार्थी वर्ग के लिये भी घातक थी।

श्री रेस्ट्रेपो ने एक सप्ताह तक तो छात्रों से शान्तिपूर्ण तरीके से बातचीत की ताकि वे उन्हें समस्याओं से निपटने दें। विद्रोह करके स्थिति को और चटिल न बनायें। किन्तु विद्यार्थियों ने उनके इस आग्रह पर ध्यान ही नहीं दिया। वे यह समझते थे कि विश्वविद्यालय कानून, पुलिस तथा राजनीतिक बन्दिशों से मुक्त थे। अतः उनका विद्रोह बढ़ता ही गया।

राष्ट्रपति रेस्ट्रेपो लिरास कोई कठोर कदम उठाना नहीं चाहते थे किन्तु विवशता थी। वे लेटिन कोलम्बिया की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं को मिटाने के लिये कृत सकल्प थे। समय की नाजुक हासठ को देखते हुए वे

विश्वविद्यालयों के अधिकारों का अतिक्रमण करने में हिचकिचाये भी नहीं।

उन्होंने आठवें दिन शिक्षामन्त्री तथा मुख्य सेनाध्यक्ष को बुलाकर यह आदेश दिया कि एक घण्टे के भीतर यूनिवर्सिटी केम्पस को पुलिस की शस्त्रवाही गाड़ियों तथा हल्के टैंकों से घेर लिया जाय। रेडियो, टेलीविजन तथा अन्य प्रचार साधनों के माध्यम से छात्रों तक यह सूचना पहुँचा दी जाय कि किसी भी प्रकार की कानून विरोधी हरकत करने पर किसी भी विद्यार्थी को बन्दी बनाया जा सकता है। यदि सामूहिक रूप से ऐसे कानून विरोध क्रिया-कलाप चलते रहे, तो सरकार को विवश होकर विश्वविद्यालय तथा छात्रावास चरदस्ती खाली कराने पड़ेंगे।

अपने दैतव्यसिद्धि की समृद्धि और पुनर्हाथान के लिये श्री रेस्ट्रेपो ने यह बहुत बड़ी राजनीतिक जोखिम उठाना ही उचित समझा। एक नये-नये राजनीतिक के लिये यह बहुत साहस का काम था। इसकी प्रतिक्रिया उलटी भी हो सकती थी, उन्हें अपने राष्ट्रपति पद से हाथ भी धोना पड़ सकता था। किन्तु उनके लिये राष्ट्रपति पद एक साधन नहीं था। अतः वे हिचकिचाये नहीं।

बढ़ते ख़ून को ठीक करने के लिये की गयी शल्य-चिकित्सा का परिणाम शुभ ही होता है। छात्रों के विद्रोह को रोकने के लिये राष्ट्रपति का यह कदम वैसा ही शुभ सिद्ध हुआ। एक महीने में ही छात्र-विद्रोह पूरी तरह शांत हो गया। उच्छृंखल छात्रों को सही रास्ते पर आना पड़ा। विद्रोह की रीढ़ टूट गयी और सभी कालेज नियमित रूप से चलने लगे।

रेस्ट्रेपो जानते थे कि इस प्रकार के उपद्रवों में थोड़े से उच्छृंखल छात्रों का हाथ होता है, वे अपनी दादागिरी के बल पर अन्य छात्रों को गुमराह करके अपने पीछे चलाने में सफल होते हैं। ऐसे उच्छृंखल छात्रों के काबू में आते ही सब कुछ सामान्य हो गया। रेस्ट्रेपो लिरास के इस कदम को तान्त्रशाही नहीं कहा जा सकता, यह एक अग्रिम कर्तव्य था जो उन्हें निभाना पड़ा था।

बंस धरम्परा से मिली अपनी मेधा को उन्होंने समुचित विकास दिया था। बोगटा हाईस्कूल के मेधावी छात्र तथा बॉक्सिंग चैम्पियन के रूप में उभरते हुए, उन्होंने अपने सहपाठियों का नेतृत्व करना सीखा। नेशनल यूनिवर्सिटी में वे छात्र नेता के रूप में उभरकर सामने आये। अपने छात्र जीवन के अनुभवों के आधार पर उन्हें राष्ट्रपति के रूप में छात्र विद्रोह को ख़त करने में सफलता पायी थी। नेशनल यूनिवर्सिटी से ही उन्होंने एम० ए० तथा कानून की परीक्षाएँ अच्छे अंकों से उत्तीर्ण कीं और अपने चहेते क्षेत्र राजनीति में उतर आये।

राजनीति की धूप-झाँव ने इस नवोदित राजनीतिज्ञ की अगवाही की। १९५२ के हिंसक-विद्रोह के समय दंगाइयों की भीड़ ने उनके घर को वज्रदू दिया और उसमें आग लगा दी। उन्हें अपने परिवार सहित १९५४ में निर्वासन का

दण्ड भी सहन पड़ा। सामूहिक श्रम मिलने पर ही वे अपने देश लौट सके थे।

अपने राजनीतिक जीवन के बोड़े ही समय में अपनी सूझबूझ, ज्ञान तथा देशवासियों के सच्चे समर्थन व प्यार के कारण वे कंजरवेटिव पार्टी के चोटी के नेता बन गये। उन्होंने कोलम्बिया के उत्साही तथा सुशिक्षित युवकों का एक संगठन बनाया जिसका उद्देश्य कोलम्बिया में प्रजातन्त्र की स्थापना व उसकी समृद्धि थी।

कई उतार-चढ़ाव देखने के बाद वे १९६७ में कोलम्बिया के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। इस पद के लिये उन्हें शिक्षित जनसमुदाय का समर्थन प्राप्त था। उन्हें अज्ञात भी कि वे ही समस्याओं के अम्बर में दबे उनके देश का उद्धार कर सकते हैं।

रेस्ट्रेपो ने उनकी इस आशा को फलवती बनाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। उनके नेतृत्व में कोलम्बिया ने आश्चर्यजनक प्रगति की है। यह प्रगति उनकी राजनीतिक कुशलता, परिश्रमशीलता व लोकप्रियता के कारण सम्भव हुई।

दिन भर के चौबीस में से रेस्ट्रेपो बीस घण्टे अपने देश को समर्पित करते हैं। प्रातःकाल ५ बजे से सैरा त्साग से लेकर अर्धरात्रि तक उनका व्यस्त कार्यक्रम चलता ही रहता है। पहले वे सिगरेट पीते थे पर राष्ट्रपति बनने पर उन्होंने उसका सर्वथा परित्याग कर दिया। यदिराजन तो वे कभी करते ही नहीं। परराष्ट्र देशों में इसे बुरा नहीं माना जाता वरन् इसे सामाजिक आचार व्यवहार का एक अनिवार्य अंग माना जाता है पर रेस्ट्रेपो के विवेक ने इस प्रचलित सभ्य को कभी स्वीकार नहीं किया। कोई अप्रह्न करता भी तो वे बड़ी चतुरता से टाल देते थे कहा करते मुझे कभी इस ओर सोचने की कुसूर ही नहीं मिलती।

राष्ट्रपति पद पर आसीन होते ही उन्होंने राष्ट्रीय समस्याओं से जूझना आरम्भ कर दिया। वे कम के राष्ट्रपति नहीं बने वरन् राष्ट्र के एक जिम्मेदार व्यक्तित्व की तरह उन्होंने अपना दायित्व निरूपा।

कोलम्बिया में उन दिनों मुद्रास्फीति इतनी बढ़ गयी थी कि हर वस्तु के भाव असमान हो रहे थे। देशवासियों की भौतिक सुख-सुविधाएँ जुटाने के मार्ग में यह सबसे बड़ी बाधा थी। देश पर काफ़ी विदेशी ऋण पड़ा हुआ था। लेटिन कोलम्बिया की अर्थ-व्यवस्था का मुख्य आधार कॉफी का निर्यात था, जिसके दाम काफ़ी घट चुके थे। जनसंख्या की वृद्धि भी साढ़े तीन प्रतिशत थी। यही नहीं अन्य कई आर्थिक समस्याएँ उन्हें चुनौती दे रही थीं।

इन समस्याओं से निपटना तथा देश की दशा सुधारना एक उजड़ते घर को आबाद करने जैसा कठिन काम था। इस कठिन कार्य को करके दिखाने के लिये ही रेस्ट्रेपो का जन्म हुआ था। इस ठिगने से व्यक्ति ने असम्भव को सम्भव बनाया। कोलम्बियावसी अपने इस जननेता को प्यार व श्रद्धा से 'कोलम्बिया का सबसे ठिगना आदमी' कहते हैं।

अपनी असाधारण शक्ति व कर्मठता के एक एक क्षण का उपयोग उन्होंने राष्ट्र के हित में दिया। उनका मस्तिष्क देश-विदेश की जनकारियों का एक जटिल कम्प्यूटर कहा जा सकता है। वह उनकी स्वाध्यायशीलता का ही परिणाम है। अपने ज्ञान व अनुभव पर आधारित जो भी बात वे अपने देशवासियों के सामने रखते, वह इतनी प्रभावपूर्ण तथा विश्वस्त होती कि हर कोई उसका पालन करने लगता। उनका आग्रह जनता के मन मस्तिष्क में जमकर बैठ जाता। जन-सहयोग और अपने नेतृत्व की शक्त के बल पर उन्होंने कोलम्बिया की जनता के अनेकानेक प्रश्नों को सुलझाया है।

राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी रेस्ट्रेपो के निर्णय बड़े जोखिम भरे और चौंका देने वाले होते। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने कोलम्बिया की मुद्रा 'पैसे' के अवमूल्यन का प्रस्ताव रखा। उस प्रस्ताव का उत्तर उन्होंने नकारात्मक दिया। इतने बड़े मुद्राकोष की प्रतिष्ठा को इस प्रकार नकारने का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हाथ धो बैठना या किन्तु कोलम्बिया के जनसामान्य के हित की ध्यान में रखते हुये यह जोखिम भी उठाया और उनका यह जोखिम उठाना हितकारी ही सिद्ध हुआ।

जनता पर लगने वाले नवीन टैक्सों का भार उन्होंने नहीं स्वीकार वरन् पुराने टैक्सों में भी कमी कर दी। जीवनदायी वस्तुओं तथा भोजन, मकान आदि का मूल्य निर्धारित कर दिया और उसका कड़ाई से पालन किया गया।

जब तक लेटिन कोलम्बिया की जो अर्थ व्यवस्था काफ़ी उत्पादन पर टिकी हुई थी। रेस्ट्रेपो सिरास से उस पर भार कम करके सूती वस्त्र, रुई, लकड़ी, शक्कर आदि वस्तुओं का निर्यात आरम्भ कराया।

भूमि के प्रबन्ध विषयक सुधार करके रेस्ट्रेपो ने यह प्रयास किया कि राष्ट्र की भूमि का अधिकाधिक उपयोग सम्भव हो सके। भूमि खर्ब न बढ़ी रहे। दस वर्ष से अधिक परती रहने पर भूमि के स्वामित्व की समाप्ति का नियम बनाकर तथा अतिरिक्त भूमि विक्रय करने के नियम बनाकर उन्होंने भूमि के असमान वितरण को मिटाने का प्रयास किया, जिससे स्थिति में सुधार हुआ।

दो करोड़ की जनसंख्या वाले कोलम्बिया में स्वास्थ्य शिक्षा तथा समाज कल्याण की सुविधाओं का प्रसार भी आवश्यक था। राष्ट्र स्तर पर इन्हें बढ़ाने का व्यापक प्रयास भी रेस्ट्रेपो ने अपने समय में आरम्भ किया।

उनके राष्ट्रपति बनने के पहले लिबरल तथा कंजरवेटिव पार्टियों में हिंसात्मक संघर्ष हुआ करते थे। १९४८ में हुए बोगटा संघर्ष में तो मृतकों की संख्या दो लाख तक पहुँच चुकी थी। इस संघर्ष को समाप्त करने तथा देश को स्वस्थ राजनैतिक संगठन देने का प्रयास भी उन्होंने किया।

दोनों दलों में सद्भाव उत्पन्न करने के लिए उन्होंने अपने दल की ओर से पहल की। संविधान में कतिपय ऐसे

नियम बनाये जिससे दोनों दलों के मध्य स्वयं राजनैतिक स्पर्धा तो रहे पर वह हिंसा का सहारा न हो सके। उन्होंने अपनी उदार नीति के कारण दोनों दलों का विश्वास जीता तथा सामान्य बहुमत के आधार पर भी नियमों में परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त किया।

समस्याएँ तो प्रत्येक राष्ट्र के साम्युक्त आती ही रहती हैं। पर उनका सटीक समाधान खोजना तथा उसे हल करना प्रत्येक राजनीतिज्ञ के कलबुत्ते का नहीं होता। कई तो अपने पद की चिन्ता में ही सगे रहते हैं। कई जोखिम उठा नहीं सकते। पद का मोह छोड़कर राष्ट्र की अहर्निश सेवा का दायित्व निभाने और समस्याओं की जड़ तक पहुँचकर उन्हें जंग से सुलझाने वाले गिने-चुने राजनेताओं में रेस्ट्रेपो लिरास की गणना की जाती है। ऐसे लोगों के लिये राजनीति व्यक्तिगत हित साधना या निजी महत्वाकांक्षा की पूर्ति का साधन नहीं बल्कि समग्र जनता की सेवा का माध्यम होती है। ऐसे राजनेता जिस राष्ट्र को मिलते हैं वह राष्ट्र अपनी जटिल से जटिल समस्याएँ सुलझाता हुआ प्रगति पथ पर अग्रसर हो सकता है।

रेस्ट्रेपो लिरास को अपने देशवासियों पर विश्वास था कि ये देश के हित में जो कदम उठावेंगे, जनता उसका समर्थन करेगी। जनता को भी विश्वास था कि ये जो भी काम करेंगे, उनके हित में ही होंगे। ये विश्वास के धारे में ही दृढ़ नहीं हुए हैं।

रेडियो पर या टेलीविजन पर या अपने भाषण आदि कार्यक्रमों के माध्यम से वे जनता के कानों तक प्रतिदिन पहुँचाते रहते थे उनकी बातों को सुनते-छमकते। उन्होंने जनता व राष्ट्रपति के बीच की दूरी को फटकर स्वयं को कोलम्बियावासी प्रत्येक परिवार का एक सदस्य—'अपना ही आदमी' बनाया, वे कहीं भी यात्रा करते हैं, किसी भी गाँव में जाते हैं तो उनके साथ कोई अंगरक्षक नहीं होता। वे कहा करते—“जनता के प्रतिनिधि को जनता के बीच पुलिस और अंगरक्षकों को साथ ले जाने की आवश्यकता ही क्या है?”

रेस्ट्रेपो लिरास के इस अकृत्रिम व्यवहार ने कोलम्बियावासियों के दिलों को जीता। प्रत्येक कोलम्बियावासी के हृदय में वे यह बात भर देना चाहते कि तुम तब तक उत्तम शासन नहीं पा सकते जब तक कि तुम उसके लिये प्रयास नहीं करते। जन-जन में वह चेतना जगाने का काम उन्होंने बखूबी किया। वही उनकी सफलता का रहस्य भी था।

उनका यह निर्भीक व्यवहार राजनेताओं के लिये एक आदर्श प्रस्तुत करता है कि उन्हें जनता का विश्वास पाने के लिये किस निष्ठा से, किस ईमानदारी से काम करना चाहिए। देश-सेवा और स्वार्थ साधन दोनों एक साथ नहीं साथ सकते। रेस्ट्रेपो जैसे ही राजनेताओं ने राजनीति को गरिमा प्रदान की है।

विगत वर्षों में लेटिन कोलम्बिया ने जो प्रगति की है उसका बहुत कुछ श्रेय श्री रेस्ट्रेपो को है। उनका जीवन

इस तथ्य की साक्षी देता है कि राजनीति भी सेवा का बहुत बड़ा माध्यम सिद्ध हो सकती है यदि उसे उसी भावना के साथ स्वीकार किया जाय।

जिनकी साधना शहादत से सफल हुई—

डॉ० लिबिंग्स्टन

डॉ० लिबिंग्स्टन एक रात अपने तन्दू में सो रहे थे। दिन भर और रात भर तक परिश्रम करते रहने के कारण बिस्तर पर लेटते ही वे जगमग निद्रा में पहुँचे गये। न कोई स्वप्न और न कोई कल्पना—गहरी नींद। अचानक एकदम वे चौंक कर बिस्तर से उठ बैठे। इस तरह एकदम नींद टूट जाने का कारण था एक चीख जो उन्होंने अभी-अभी सुनी थी। जोड़ी देर तक उन्होंने वस्तुस्थिति को समझने का प्रयास किया। दिन भर मरीजों की चीख-पुकार सुनते गुजरता है और एक से एक कलम चोत्कार उनके कानों में उतरती है। तबवद उन्होंने चीखों में से किसी की स्मृति राह गयी होगी। यह सोचकर वे पुनः लेटने लगे।

तभी पुनः चीख सुनाई दी। इस बार उन्हें अपनी जाग्रत स्थिति पर पूरा विश्वास था। पहले तो समझा था कि किसी स्वप्न के कारण मेरी नींद टूट गयी होगी, परन्तु दुबारा पूर्ण जागती हुई स्थिति में जब पुनः चीख सुनाई दी तो उन्हें अपना विचार गलत लगने लगा। फिर उस चीख के बाद तो लगातार चीखें सुनाई देने लगीं। डॉक्टर अब स्पष्ट सुन रहे थे और समझ भी रहे थे कि ये किसी बारी कण्ठ की चीखें हैं। लगाता था कोई असह्य दुःस्थिति में कैसी हुई स्त्री अपनी आत्मारक्षा के लिए पुकार रही थी। ऐसी स्थिति में डॉक्टर को सोना तो दूर चढ़ी रुकना भी मुश्किल था और वे उसी अवस्था में अपने मकान से बाहर आ गये।

घटना दक्षिण अफ्रीका के एक ऐसे स्थान की है जहाँ के निवासी आधुनिक सभ्यता से हजारों साल पिछड़े हुए थे। इन आदिवासियों को सभ्य और सुसंस्कृत बनाने के लिए डॉ० लिबिंग्स्टन को कैथोलिक चर्च मिशन की ओर से ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए भेजा गया था। सेवा के मंत्र से वे इसी उद्देश्य की प्राप्ति में लगे हुए थे कि अधिक से अधिक लोगों को ईसा का अनुयायी बनाया जावे। अभी-अभी उन्होंने जो चीख सुनी थी यद्यपि उसका उनके कर्ण से कोई सम्बन्ध नहीं था, परन्तु उनके शरीर कन्वेज में स्थिति मानवीय अंतःकरण से तो इसका गहरा सम्बन्ध था और उसी अंतःकरण की पुकार पर वे स्त्री को बचाने के लिए चल दिये। बाहर आकर उन्होंने उस दिशा में कदम बढ़ाये बिचर से कि वे चीखें आ रही थीं।

जोड़ी दूर चलने पर उन्होंने कुछ आदिवासी कबीले वालों को देखा जो एक पन्द्रह सौलड़ वर्ष की लड़की के अंग-पास खड़े हुए थे और उसे एक घुड़ सा व्यक्ति बड़ी बुरी तरह पीट रहा था। डॉक्टर के वहाँ पहुँचते ही कबीले वाले उनके सम्मान में झुक गये।

उन्होंने पूछा क्या बात है ? क्यों इस तरह लड़की को पीट रहे हो ? ”

कबीले वालों ने तो कोई जवाब नहीं दिया । डॉक्टर की आवाज सुनते ही लड़की उनके पाँवों से लिपटी और बोली—‘फादर मेरे कुनवे वालों ने मुझे गाँव के मुखिया के हाथों बेच दिया है । जबकि ये उम्र में मेरे पिता समान हैं । आप ही सोचिये डॉक्टर मैं ऐसे व्यक्ति की भरोसाली कैसे बन सकती हूँ जिनकी अपनी जिन्दगी का कोई भरोसा नहीं है ।’

‘अच्छा—अच्छा ठीक है तुम मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें अपने पास बेटी बनाकर रखूँगा और किसी योग्य लड़के से तुम्हारी शादी करवा दूँगा’—डॉक्टर ने कहा और पाँवों में पड़ी हुई लड़की को बौंह पकड़ कर उठाया । वहाँ से पीठ करने के साथ ही उन्होंने उपस्थित कबीले वालों की ओर देखा । जो सिर अभी तक सम्मान से झुके हुए थे वे तन गये और आदिवासियों ने अपने शस्त्र सम्हाल लिए थे । उनकी आँखों से आग बरस रही थी और हाथ मुखिया के आदेश का इन्तजार कर रहे थे ।

डॉक्टर ने उन लोगों के इरादों को भाँपा और मुखिया से पूछा—‘क्या बात है भाई आप लोग नाराज हैं क्या ? ’ ‘‘होगे नहीं, इस लड़की के लिए नकद पाँच सौ सिक्के दिये हैं ’’—मुखिया गुराँघ ।

‘तो ठीक है तुम पाँच सौ सिक्के मुझ से ले लेना ।’ डॉक्टर लिंबिगस्टन ने उसी रात मुखिया को पाँच सौ सिक्के दे दिये । लड़की उनके प्रति कृतज्ञता से भर उठी, और अपनी चिन्तार्थ समाप्त हुई जानकर चैन की नींद सोने लगी । परन्तु डॉक्टर की आँखों से नींद छी गयी । वे सारी रात सो न सके ।

इस घटना ने उनके जीवन में एक नया आवाम दिया । वे सोचने लगे—कितनी दुर्भाग्य की बात है कि वहाँ की नारी अपनी भाग्य का आप निर्णय भी नहीं कर सकती । समाज ने उसे यह अधिकार ही नहीं दिया । दे भी कैसे ? वह तो उसे सम्पत्ति के रूप में मानता है, जो बेची जा सके बदली जा सके ? और बेचारी अफ्रीकी नारी इतनी बेबस है कि वह उस समाज व्यवस्था के खिलाफ आवाज भी नहीं उठा सकती । अफ्रीका के नारी सम्प्रदाय को इस दुर्दशा पर उन्होंने जितना विचार किया उतनी ही कठिनाई उभरने लगी और वे एक निश्चय, एक संकल्प से बँध गये कि चाहे जो हो नारी समाज की इस भयानक दुर्दशा को बदल कर रहेंगे ।

बाद में डॉक्टर लिंबिगस्टन ने उस युवती का विवाह उसके प्रेमी मनपसंद युवक से करवाया । उक्त घटना ने उन्हें जिन दायित्वों का बोध कराया वह—विवाह के बाद ही वह पूरा नहीं हो पाया वरन् यह तो उसकी शुरुआत थी । उस दिन से लिंबिगस्टन के लिए चिकित्सा-व्यवसाय और ईसाई धर्म के प्रचार का कार्य गौण बन गया तथा समाज सुधारक और महिला उत्थान की साधना ने प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया ।

लिंबिगस्टन ने जब अपने निश्चय के सम्बन्ध में अपने साथियों को बताया तो साथियों ने इस मार्ग में आने वाली बाधाओं से अवगत कराया । यह परामर्श उन्हें मैत्री या स्नेह के कारण नहीं दिया गया था । इसका उद्देश्य तो था कि लिंबिगस्टन अपने इस मार्ग को छोड़ दे और अन्य साथियों की तरह आदिवासियों को ईसाई धर्म में ही दीक्षित करें । जब इस तरह के परामर्श आते रहे तो लिंबिगस्टन ने कहा—‘मैं सब जानता हूँ कि इस कार्य में कौन-कौन सी समस्याएँ बाधा बनकर खड़ी होंगी । उन सब से निपटने के लिए मैं तैयार हूँ और उनके सम्बन्ध में जानकर ही मैंने यह निश्चय किया है । अब इस मार्ग से हटने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।’

उनके एक साथी ने कहा—‘आपको याद है जब आप इंग्लैण्ड में भ्रमण देने के लिए सड़े हुए थे तो आप एक वाक्य से दूसरा वाक्य नहीं बोल पाये थे और वाक्य यह—‘‘मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ वह भूल गया ।’’ इसके बाद आप अपने स्मृति पर आ कर बैठ गये थे । सामाजिक स्थिति में कोई भी सुधार या परिवर्तन लाना बड़े दिल और बड़ी हिम्मत वालों का काम है । इसके लिये तो ऐसा साहस चाहिए जिसमें अपने प्राणों का भी मोह न रहे । आपके पास है ऐसी योग्यता ।’

‘मेरे प्यारे मित्र । इस सुहृदय परामर्श के लिए धन्यवाद । मुझे यह तो पता नहीं है कि मुझमें क्या-क्या योग्यताएँ हैं । परन्तु मेरे हृदय में अनुभूति के प्रति जो धर्म पैदा हुआ है उसके सहारे ही मैं यह काम शुरू कर रहा हूँ । सफल हो जाऊँ या न होऊँ इसकी मुझे चिन्ता नहीं है । मुझे तो केवल अपने कर्तव्य की पुकार सुनना है । सपाब ठठे यह इससे भी बदतर स्थिति में जाय—लिंबिगस्टन ने बड़ी ही नम्रतापूर्वक कहा और उनके मित्र को बिरास होकर लौट जाना पड़ा । वह समझ गया था कि संकल्प और साहस के धनी इस व्यक्ति को भी कर्तव्य के मार्ग से हटा पाना असंभव नहीं है । एक-एक कर उनके सभी स्वामी चले गये ।

लिंबिगस्टन ने अपनी सेवा साधना की जो पद्धति चुनी उसकी बहुत गहराई से सम्बन्ध था अफ्रीका समाज को ऊँचा उठाने से । वे इस स्थिति का बाहरी उपचार कर के ही सन्तुष्ट हो आने वाले नहीं थे वरन् उन्होंने समस्याओं का गहन अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि दुनिया में किसी भी जाति या समाज की जीवन धारा में आयी विकृतियों का एकमात्र कारण है—अज्ञान । उन्होंने इस बहु भर प्रहार करने की योजना बनायी और सद्विज्ञान तथा शिक्षा प्रचार के माध्यम से जन जागरण का शंख फूँका । अफ्रीकन लोगों की आस्था और ब्रह्मा के केन्द्र तो वे थे ही, बाद में भी बने रहे । लेकिन जब उन्होंने अफ्रीका समाज में प्रचलित अन्धविश्वासों, कुरीतियों और रूढ़ियों को तोड़ने का प्रयत्न आरम्भ किया तो कुछ लोग जिनका कि इन परम्पराओं से स्वार्थपूर्ण सम्बन्ध था, उनसे रूठ हुए । एक ओर तो लिंबिगस्टन इन सामाजिक कुरीतियों

से लड़ रहे थे दूसरी ओर उन्होंने दास प्रथा के लिए ब्रिटिश सरकार का भी विरोध करना आरम्भ किया। सरकार से इस घृणित प्रथा को बन्द करने के लिए उन्होंने कई बार शान्तिपूर्ण प्रयत्न किये परन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। फलस्वरूप वे और भी खिन्न हुए साथ ही साथ सक्रिय भी।

इसका परिणाम यह हुआ कि दो ओर से उनके लक्ष्य तैयार होने लगे। एक तो अफ्रीकन के स्वामी मुखिया और दूसरी ओर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट। एक बार तो उन्हें किसी कबीले के सामंतों ने बन्दी बना लिया और वैसे स्थान पर ले गये जहाँ मनुष्य तो क्या किसी पशु की जगह भी नहीं दिखाई देती। वहाँ उन्हें बड़ी कतनवें दी गयीं। परन्तु लिंबिंगस्टन जानते थे कि वे लोग बहकावे गये हैं। अशिक्षित, अल्पज्ञ और अज्ञानों लोगों को बहकाकर अपना ठगलू सौधा करने वाली ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने एक तीर से दो शिकार करने का इरादा किया। एक तो लिंबिंगस्टन जो उस सरकार के प्रधान शक्तिशाली विरोधी बनते जा रहे थे, दूसरा करबट बदल रहा अफ्रीकी जन समाज, जो कभी भी उस व्यवस्था को छोड़ सकता था।

कबीले के मुखिया ने कहा-यदि तुमने एक सप्ताह में पानी नहीं बरसाया तो हम तुम्हें ज़िन्दा जला देंगे। अगुआ बनने के लिए सुलतानी (ईश्वरीय) ताकत भी चाहिए। तुम्हें कोई चमत्कार दिखाना पड़ेगा नहीं तो तुम बड़ी दुरी तरह जान से हाथ धी बँडोगे।

चमत्कार के प्रति आस्था मनुष्य का विश्वास अपने निज के पुरुषार्थ पर से उठा देती है। इसी से बंधित होकर लोग कह और पीड़ाएँ भोगते हैं। लोग अपने पुरुषार्थ पर विश्वास कर सकें। इसका सबसे बढ़िया अवसर है यह। उन्होंने कुछ सोच-विचार कर कहा-अच्छा हम पानी बरसायेंगे। इतना पानी बरसायेंगे कि वहाँ के लोगों को साल भर तक पानी की कोई कमी न रहे, पर पहले मुझे पच्चीस मेहनती युवक चाहिए। सामन्त ने यह व्यवस्था कर दी और एक रात वे अपने निकट की उस पहाड़ी पर पहुँचे जहाँ पानी का एक चश्मा था। इन युवकों की सहायता से उन्होंने एक नाला खुदवाया और चरने का सम्बन्ध उस नाले से जोड़ दिया। अगली सुबह जब वहाँ के आदिवासियों ने यह सुखद आश्चर्य देखा तो हर्ष से फूल उठे। लिंबिंगस्टन को फूल चढ़ाने लगे और लिंबिंगस्टन ने उन लोगों से एक ही अनुरोध किया-पढ़ो। इस घटना ने कबीले वालों पर बड़ा प्रभाव डाला। फलतः शिक्षा प्रचार में उन लोगों से अच्छी मदद मिलने लगी।

सतत साधना, श्रम और पुरुषार्थ द्वारा उन्होंने अपना मिशन पूरा करने के लिए बड़ी बड़ी क्लिप्तियाँ झेलीं। यहाँ तक कि उन्हें शरीर का एक हिस्सा भी गँवाना पड़ा परन्तु संकल्प और श्रम में इससे कहीं भी कमी नहीं आयी। जब पूरी होने पर जब उनका देहान्त हुआ तो आजीवन उनका विरोध करने वाले अंग्रेजों ने अन्त्येष्टि क्रिया के समय भी विरोध किया। लिंबिंगस्टन की अन्तिम

आकांक्षा थी कि उनका शव अफ्रीकन लोग ही अपने रस्म के अनुसार समाप्त करें और अंग्रेज चाहते थे कि उनका शव हमें सौंप जाय। इस प्रश्न पर दोनों वर्गों में तना तनी हो गयी परन्तु विजय अफ्रीकन की हुई।

डॉ० लिंबिंगस्टन ने एक साधारण-सी घटना से प्रभावित होकर जिस प्रकार अपने उद्देश्य का विस्तार किया वह हर किसी के लिए अनुकरणीय है। जीवन में छोटी छोटी घटनाओं के सम्बन्ध में हम भी जागें तो सम्भव सेवा के कई बंध खुल सकते हैं।

बूट पॉलिश करने वाला बालक एक दिन उप राष्ट्रपति बना—

लिंडन बी० जानसन

यदि आप किसी नगर की मुख्य सड़क पर गुजर रहे हों तो आपको दोनों ओर कुछ बूट पॉलिश करने वाले सड़के दिखाई देंगे। यदि आप जूते पर पॉलिश न कराना चाहें तो तबयद आपको दृष्टि भी उस ओर न जावेगी और यदि पॉलिश कराई भी तो पैसे देकर आगे बढ़ जायेंगे। साधारणतः लोग इनके प्रति उदासीन रहते हैं। किसी स्टेशन या बस स्टैण्ड पर कोई किशोर जबरन पॉलिश करने की विव करता है तो आपके मन में उसके प्रति थोड़ी देर के लिए सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है पर यह तो आपकी कल्पना में भी न आता होगा कि इन में से कोई बालक किसी दिन महान भी बन सकता है।

९ वर्ष की आयु खेलने और खाने की होती है। पर इस आयु में लिंडन जानसन अपने जन्म स्थान टेक्सास में जूतों पर पॉलिश कर अनौपार्जन किया करते थे। अमेरिका के प्रत्येक व्यक्ति को बचपन से ही सिखाया जाता है “किसी कार्य को छोटा और अपमानजनक मत समझो।”

जानसन के मन में तो स्वतन्त्रता की भावना समाई हुई थी फिर वह इस कार्य को छोटा कैसे समझ सकते थे। एक ओर पॉलिश का कार्य और दूसरी ओर पढ़ाई का कार्य निरन्तर चलता रहा। उसका परिणाम यह निकला कि १५ वर्ष की आयु में हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। रोजगार के चक्कर में पढ़कर उन्होंने अपना अध्ययन क्रम बन्द न किया और न लक्ष्य की पूर्ति मानकर पढ़ाई ही बन्द की। इसके बाद उन्होंने कार की घुलाई, एलिवेटर संचालन तथा सड़क निर्माण के कार्य अपने हाथों में लिये। जानसन प्रत्येक कार्य को ईश्वर का कार्य मानकर बड़ी तन्मयता से पूर्ण करते थे।

मनुष्य जीवन की प्रगति में उसकी आर्थिक दशा का भी पूरा-पूरा योगदान रहता है। आज कितने ही लड़के उच्च शिक्षा ग्रहण करने से इसलिये बंचित रह जाते हैं कि उनके परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होती। अब अगली शिक्षा के लिए वह सेण्ट मार्कोस नगर आ

गये । वहाँ साउथ वेस्ट स्टेट टॉचर्स कॉलेज में प्रवेश ले लिया । खर्च की समस्या सामने आई तो वे विचलित न हुये, क्योंकि वह तो बचपन से ही स्वायत्तमान का पट क्रियात्मक रूप से पढ़ चुके थे । अतः उसी विद्यालय में द्वारपाल का कार्य करने लगे ।

साढ़े तीन वर्ष बाद २२ वर्षीय जानसन ने बी० ए० सी० की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली और एक हाईस्कूल में अध्यापक हो गये । उनकी ज्ञान पिपासा अभी शांत न हुई थी । अध्यापक का कार्य उन्हें एकांगी लग्न अतः छोड़कर कंसिगटन आ गये । यहाँ रिचेड क्लेबर्ग के सचिव बन गये । दिन में सचिव का कार्य करते थे और रात्रि को जार्जटाउन विश्वविद्यालय में कानून की शिक्षा ग्रहण करते थे ।

लिन्डन जानसन का सम्पूर्ण जीवन उन साधनाहीन छात्रों के लिए प्रकाश स्तम्भ है जो गरीबी और अभावग्रस्तता का रौना रोकर पड़ाई बन्द कर देते हैं और जीविका के लिए किसी मामूली से कार्य में लगकर जीवन की प्रगति पर विराम लगा देते हैं । जो व्यक्ति महत्वाकांक्षी होते हैं, उन्हें जीवन को अनेक कठोर सीढ़ियों से नुसराना होता है और जब अपने उद्देश्य की पूर्ति देख लेते हैं तभी संतोष का अनुभव करते हैं ।

यहाँ सचिव बनने पर वह भर्त्सना कर सकते थे और बकालत की परीक्षा पास कर किसी शहर में बैठकर बकालत करने लगते पर वह प्रगति की दौड़ में पीछे नहीं रहना चाहते थे । उनका मन सचिव बनकर ही सन्तुष्ट हुआ । १९२५ में राष्ट्रपति कजवेल्स द्वारा टेक्सास नेशनल यूथ एडमिनिस्ट्रेशन के निर्देशक पद पर नियुक्त हुये । यहाँ कार्य करते दो ही वर्ष हुये थे कि १९३० में प्रतिनिधि सभा का निर्वाचन होने लगा । महत्वाकांक्षी व्यक्ति अवसर का लाभ उठाना बहुत ही जानते हैं क्योंकि अवसर एक ऐसा अजीब प्राणी है जिसके सिर पर सामने की ओर बाल तो होते हैं पर पीछे की ओर की खोंपड़ी खल्लाट ही होती है अतः जो सामने से उसे पकड़ लेते हैं अक्सर उनके अधीन तो हो जाता है पर जो पीछी भी डील-डाल डाल देते हैं उन्हें वह पकड़ाई देने वाला नहीं है ।

जानसन ने अपनी प्रतिभा के निखार के लिये निर्वाचन का समय उपयुक्त ही समझा । वह ९ प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित कर टेक्सास राज्य के प्रतिनिधि निर्वाचित हुये । जानसन ने राजनैतिक जीवन में पहला ही कदम रखा था जहाँ उन्हें सफलता प्राप्त हुई । वह अच्छी तरह जानते थे कि इस क्षेत्र में अधिक बुद्धिमत्ता और सूझबूझ की आवश्यकता पड़ती है । ज्ञान उनमें कम न था फिर भी अपने में गुणों की वृद्धि कर वह उत्कर्ष की ओर निरन्तर बढ़ते जा रहे थे ।

सन् १९४८ और १९५४ में सीनेट के सदस्य निर्वाचित होकर जनता पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप ठाली । वह निर्धनता की राह से गुजर कर आये थे अतः उनमें पीड़ित मानवता के प्रति दर्द था और उसे दूर करने के लिये सहानुभूति का भरहम भी ।

सन् १९५३ में उनकी कार्य क्षमता और नेतृत्व शक्ति ने ही उन्हें सीनेट में अल्पसंख्यक दल का नेता बना दिया । उनकी आयु इस समय केवल ४४ वर्ष थी । अब तक बिटने नेता चुने गये थे उनमें सबसे कम आयु के जानसन ही थे । आयु बढ़ने के साथ उनकी योग्यता, बुद्धिमत्ता और अनुभव निरन्तर बढ़ते जा रहे थे । सन् १९५४ में तो वे बहुमत दल के नेता निर्वाचित हो गये । १९६२ में राष्ट्रपति कनेडी की हत्या के बाद वे राष्ट्रपति काल की शेष अवधि तक अमेरिका के राष्ट्रपति भी रहे ।

कौन जानता था कि जूतों पर पॉलिश करने वाला ९ नवम्बर, १९६० को अमेरिका जैसे महान देश का उपराष्ट्रपति बन जायेगा । परिस्थितिवश कोई व्यक्ति छोटे कार्य करता रहे अथवा अभावग्रस्तता का जीवन व्यतीत करता रहे तो उसके कार्यों में वह परिस्थितियों में किसी की आँखें मझाने को मूढ़ने का प्रयत्न नहीं करती ।

नेता के रूप में उन्होंने जिस योग्यता का परिचय दिया था वह बहुत कम व्यक्तियों में देखने को मिलती है । सेवा काल में अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य हुये हैं जो देखने में सर्वथा असम्भव प्रतीत होते हैं ।

उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को 'टेक्सास क्वाटर्ली' में बहुत छोड़े शब्दों में प्रकट किया था "मैं कम से एक स्वतंत्र मानव, एक अमेरिकी नागरिक, एक अमेरिकी सेनेटर और एक डेमोक्रेट हूँ ।"

जिसकी चेरी बर्नी प्रतिभाएँ—

लियोनार्दो दा विंची

उसे माँ का प्यार नहीं मिला । वह दो वर्ष का ही था कि उसकी माता ने उसके पिता से तलाक लेकर दूसरे व्यक्ति से विवाह कर लिया । उसके यह बहुत अखरा पर क्या करता उसके बस की बात तो नहीं थी । जिन बालकों को बचपन में माँ का प्यार नहीं मिलता वे ही जान सकते हैं कि यह अभाव कितना खलने वाला होता है ? जब किसी बालक को उसकी माता द्वारा दुलार पाते देखता तो वह उदास हो जाता । एक दिन उसने अपने पिता से पूछ ही लिया—"पिताजी अगर नहीं माँ को क्यों नहीं ले आते ?"

"जब तुम्हें बन्ध देने वाली माँ ही प्रेम न दे सकी तो वह आवश्यक नहीं की नयी माँ तुम्हें प्यार दे ही । वह उपेक्षा भी तो कर सकती है तुम्हारी और देखो बेटे तुम मुझे तो प्यार करते हो ना ?" हाँ बहुत, "लेकिन तुम्हारी माँ मुझे भी छोड़कर चली गयी । कभी कुछ मुझमें ही रही होगी कि मैं उसका प्यार जीत नहीं सका । प्यार पाने का रास्ता किसी से प्यार की पीछ माँगना नहीं है बरन उसे जीतना है । तुम चाहो तो अपने जीवन में एक व्यक्ति का ही नहीं हजारों व्यक्तियों का प्यार पा सकते हो ।"

"तो कैसे पिताजी ?"

“अपनी प्रतिभाओं को विकसित करके । तुम अभी बच्चे हो, नहीं जानते कि किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियों ने हजारों लाखों लोगों का प्यार जीता है अपनी प्रतिभाओं के बल पर । किसी के स्नेह, ब्रह्मा को पाने का एक ही मार्ग है और वह यह है कि अपने को उतना अच्छा, योग्य और प्रतिभाओं का आगार बनाओ कि हर कोई तुम्हारे प्रखर व्यक्तित्व के आगे अभिभूत हो ठठे तुम्हें प्यार करने लगे ।”

अपने अनुभवी और विद्वान पिता की बात इस बालक ने गोंठ बाँधकर रख ली और संकल्प कर लिया कि वह प्यार के लिये किसी के आगे रोयेगा, गिड़गिड़ायेगा नहीं करेगा वह अपने को ऐसा बनाएगा कि हर कोई उसे चाहने लगे । बचपन में मातृ-स्नेह से वंचित पती बालक अपने जीवन में हजारों हृदय जीतने में सफल हुआ । सब ही वह इतिहास का आश्चर्य भी बन गया । इस व्यक्ति का नाम था लियोनार्दो दा विन्ची-सर्व विद्या-विशारद ।

सुन्दर, सुगठित, बलिष्ठ और आकर्षक शरीर का स्वामी महान् मूर्तिकार, चित्रकार, कवि, साहित्यकार, विचारक, गणितज्ञ, संगीतज्ञ, वैज्ञानिक, तकनीशियन, भूगोल-वेत्ता, आबिष्कर्ता, बुद्ध विद्या विवेचक, विद्वान, धार्मिक, सभ्य, शिष्ट, सुसंस्कृत तथा सच्चरित्र व्यक्ति कोई इतिहास के पृष्ठों पर दीखता है तो वह मात्र लियोनार्दो दा विन्ची ही है, जिसने अपने जीवन में किसी भी कार्य को असम्भव नहीं माना । उसे सीखा ही नहीं उसके शिखर पर पहुँचा । माँ के स्नेह के अभाव में जो बालक एक दिन उदास बैठा रहता था अपने जीवन में हजारों के हृदय जीत गया था अपनी प्रतिभाओं के बल पर ।

ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी में लियोनार्दो ने इटली के फ्लोरेंस नगर में जन्म लिया, जिसे कलाकारों की जन्मभूमि भी कहा जाता है । पिता अच्छे वकील थे । उन्होंने ने पुत्र का पालन-पोषण ही नहीं निर्माण भी किया । बचपन से ही यह बात उसके मस्तिष्क में बैठ गयी थी कि प्रतिभा और पौरुषता वह शक्ति है जिसको पाकर व्यक्ति महत्त्वपूर्ण हो जाता है जो जितनी अधिक प्रतिभा विकसित करेगा वह उतना ही सम्मान का पत्र बनेगा । अतः उसने भी प्रतिभाओं के अर्जन और विकास पर अपना पूरा मनोयोग, आत्मविश्वास व श्रम जुटाया । उसने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा में ही यह जान लिया कि उसके पिता की बात कितनी सच है । वह पढ़ने में सबसे तेज था अतः उसके सब अध्यापक उसे बहुत प्यार करते थे । इससे उसका उत्साह और भी बढ़ गया । वह गणित और चित्रकला में उस समय भी इतना तेज हो गया था कि अध्यापक उसके प्रश्न सुनकर चकरा अते थे और उसका काम देखकर विस्मित हो उठते थे ।

लोग कहा करते हैं ‘पूत के लक्षण पालने में ही दीख जाते हैं’ इस उक्ति में काफी सच्चाई है । बालक बीज रूप में पूरा वृक्ष होता है । यदि उसके अधिभावक उसकी सम्भावित प्रतिभाओं को समझकर तदनुकूल साधन

सुविधाएँ और विकास के अवसर जुटाएँ तो वह बहुत कुछ बन जाता है । किन्तु अधिकांश माता पिता बच्चों के अपने लघु संस्करण समझकर उन्हें अपने ढंग से अपनी इच्छानुसार बनाने का प्रयास करते हैं । इसका परिणाम यह होता है कि उसकी सहज प्रतिभा का विकास नहीं होता । माता-पिता द्वारा आरोपित प्रतिभा को उसे विकसित करना पड़ता है अतः वह बात नहीं बन पाती जो बननी चाहिए और उसकी गति भी मन्द होती है । लियोनार्दो के पिता ने उसमें अंकुरित होती प्रतिभाओं को समझा और उन्हें विकास के पूरे अवसर दिये तो वह बचपन में ही गणित, संगीत, कविता और चित्रकला में आयु के अनुपात में बहुत आगे निकल गया । जो माता-पिता यह मान लेते हैं कि मेरा बच्चा तो निकम्मा है उसे जो सिखाते हैं वह सीखता ही नहीं है । वे यह देखने का प्रयास नहीं करते कि वह जो सिखाते हैं वह नहीं सीखता तो इसके पीछे कारण क्या है ? कहीं हम उसकी क्षमता व रुचि को परखने में भूल तो नहीं कर रहे हैं तो बहुत सम्भव है उन्हें अपने पुत्र में प्रतिभा के वे अंकुर दीखने लग जाएँ ।

चित्रकला और मूर्तिकला में लियोनार्दो की रुचि देखकर उसके पिता ने उसे फ्लोरेंस के एक दक्ष कलाकार बैरोचियो का शिष्य बना दिया । अपने शिक्षक के मार्गदर्शन में वह दो वर्ष में ही चित्रकला व स्थापत्य कला में इतना प्रवीण हो गया कि वह स्वतन्त्र रूप से कार्य करने लगा । दूसरी कलाओं साहित्य, गणित, विज्ञान आदि विषयों में भी वह इसी गति से प्रवीणता प्राप्त करता चला गया ।

बीस वर्ष की आयु में जब वह मिलान के शासक लुडोविको स्फोर्जा के पास अपनी मूल्यवान् सेवाएँ समर्पित करने के लिये उपस्थित हुआ तो उसने बताया “मैं युद्ध कला, सर्वजनिक और व्यक्तिगत ध्वन निर्माण, नहरें और सरोवर निर्माण आदि में भी किसी भी जानकार व्यक्ति से बराबरी कर सकता हूँ और मूर्तिकला, चित्रकला में किसी भी कलाकार से पीछे नहीं हूँ साथ ही संगीत और साहित्य में भी अधिकार रखता हूँ ।” स्फोर्जा उसके इस अनुठे व्यक्तित्व पर मुग्ध हो उठा और उसने लियोनार्दो की सेवाएँ सहर्ष स्वीकार कर लीं ।

बचपन में माता के स्नेह-दुलार, जीवन में पत्नी का प्रेम-समर्पण और जीवन में दूसरे लोगों का सम्मान पाने की लालसा मनुष्य की सहज, स्वाभाविक कामना होती है । इसके पीछे अपनी जीवन और व्यक्तित्व की सार्थकता, उपयोगिता का भाव रहता है । सभी लोग उपरोक्त व्यवहार की अग्रा तो करते हैं किन्तु उसके लिये अपना पात्रत्व विकसित करने की बात अधिकांश व्यक्ति भूल जाते हैं । लियोनार्दो को बचपन में ही उसके पिता ने ऐसी भूल नहीं करने के लिये सचेत कर दिया था । अतः उसने यह चिन्ता नहीं की कि लोग उसे स्नेह, ब्रह्मा, सम्मान देते हैं या नहीं, वह तो इसी में लग्न रहा कि कैसे वह क्षमता उत्पन्न की जाव कि वह सभी का चहेता बन जाए । उसका यह

सोचना बिल्कुल ठीक था। सम्मान के पीछे-पीछे फिरने पर वह नहीं मिलता उसकी ओर ध्यान दिये बिना प्रतिभाओं के विकास की बात सोची जाय, उसे कियान्वित किया जाय तो सम्मान पीछे-पीछे चलने लगता है।

बयालीस वर्ष की आयु में उसने अपना प्रसिद्ध चित्र 'अन्तिम सायंकाल का भोजन' बनाया। उस चित्र को कई वर्षों बाद फ्रांस के राजा लुई बारहवें ने उसे देखा तो वह उस कलाकृति से इतना प्रभावित हुआ कि अपने दरबारियों से पूछने लगा—''क्या वह सम्भव नहीं है कि इस दीवारों को ही, जिस पर यह चित्र बना है, उठाकर फ्रांस ले जाया जा सके।'' जबकि आश्चर्य तो इस बात का भी था कि उस समय तक उस चित्र का पताला कहीं-कहीं से उड़ गया था।

चित्रकला के क्षेत्र में लियोनार्दो दा विंची ने कई मौलिक उपलब्धियाँ हस्तगत की थीं। वह पहला चित्रकार था जिसने छाया और प्रकाश का महत्व पहचाना था। रंगीन चित्रों में प्रकृति के चकार्य रंगों को भरने की पद्धति को बसाने वाला भी वह पहला व्यक्ति था। युक्तस्थिति में वह चौंसूरी चादन में बहुत रुचि लेता था। उसने अपने हाथों से एक चाँदी की सुन्दर चौंसूरी बनायी थी। जिसके बारे में कहा जाता है, उस समय इतना अच्छा और कोई चाण्ड पन्थ यूरोप भर में नहीं था।

उसका अपना व्यक्तित्व भी प्रकृति की सौन्दर्य सुबधा सा मनमोहक रंगों से भरा पूरा था। उसके व्यवहार, शालीनता, शिष्टता, उदारता, आत्मीयता, विवेकप्रियता और आकर्षक व्यक्तित्व के कारण जो भी उसके सम्पर्क में आता वही उसे चाहने लगता। राजा से लेकर रंक तक उसके प्रशंसक थे।

लियोनार्दो शरीर विज्ञान और वनस्पति शास्त्र का जनक कहलाता है। इसके पूर्व किसी ने इन विद्याओं को अध्ययन का विषय नहीं माना था। विज्ञान के क्षेत्र में उसने तरंगों की गति के नियमों का अध्ययन करके कई उपयोगी सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। प्लेन फैलने के समय मिलान-वासियों के लिये नये नगर का नक्शा उसी ने बनाया था। कुष्म सागर और कैस्पियन सागर के पारभाटों का अध्ययन उसको उतना ही प्रिय था जितना चित्रांकन। उसने इटली के छह सुन्दर नक़्शे भी बनाये थे जो आज भी इंग्लैण्ड में सुरक्षित हैं। इन्हें मानचित्र कला की श्रेष्ठ कृतियों में माना जाता है। उसने अपनी श्रमशरी में वायुयान और वाष्पचालित यन्त्र की विषय योजनाएँ लिख रखी थीं। वायुयान का उसका प्लान इतना वैज्ञानिक था कि यदि उस समय उसे ऑयल इंजिन उपलब्ध होता तो निश्चय ही वायुयान निर्माण का सैद्धा राइट बन्धुओं के सिर नहीं उसके सिर बँधता। इतालवी भाषा के गद्य को परिमार्जित रूप देने का श्रेय भी उसे मिलता है।

एक ही व्यक्ति द्वारा ज्ञान, विज्ञान, कला, तकनीक के क्षेत्र में इतना अधिकार रखना सम्भव एक आश्चर्य की बात है। कहीं हृदय की गहराइयों से निस्सृत होने वाली,

आत्मा की सच्चाइयों को अभिव्यक्त करने वाली कला और कहीं गति, प्रकाश, किरणों व पदार्थों का शुष्क नीरस गणितीय व्यवहार-विज्ञान। इन दो ध्रुवों को मिलाने का काम लियोनार्दो के इस धारित्री जैसे विशाल व्यक्तित्व ने किया।

कला और विज्ञान की एक ही शाखा में शिखरस्थ होना भी बहुत बड़ी बात मानी जाती है तो फिर सर्व विद्याओं को 'हस्तामूलक-करतलगत' करने की बात आश्चर्य ही मानी जाएगी। किन्तु सही बात तो यह है कि मनुष्य को सामर्थ्य मिली हुई है वह उसका सौवाँ, हजारवाँ अंश ही काम में ले रहा है और शेष का तो प्रसृत पड़ा है या गलत कार्यों में लागकर नष्ट हो रहा है। लियोनार्दो के इस आश्चर्यजनक व्यक्तित्व के निर्माण में इसकी एक प्रवृत्ति बहुत सहजिक हुई थी। वह प्रवृत्ति थी हर बात को गहराई से सेना। वह किसी भी नई बात की गहराई तक पैठने के लिये सचेत, सचेष्ट रहा करता था। 'जिन छोटा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ' की उक्ति से सोख लेकर उसने ज्ञानोदधि में ऊपर-ऊपर से ही जानकारी ऊपी मछलियाँ नहीं पकड़ीं बल्कि गहरा गोता लगाकर प्रतिभा, दक्षता के पानीदार झोले खोजे, जिनकी भ्रमा आन भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। गहराई में जाने पर उसे सब विद्यार्थ एक दूसरे की पूरक लगीं। चित्रों में छाया व प्रकाश का कलात्मक अभिव्यक्ति देने के साथ-साथ उसने उनकी गति का, शक्ति का, वैज्ञानिक अध्ययन भी किया। उसी प्रकार चित्रकला और मूर्तिकला में प्रवीणता पाने के लिये उसने शरीर विज्ञान और वनस्पति विज्ञान का भी अध्ययन किया। कला और विज्ञान बस्तुतः आदर्श और व्यवहार की तरह समान रूप से उपयोगी हैं। इसे उसने ठीकी स्वीकार कर लिया था।

पाँच सौ वर्ष बाद भी लियोनार्दो दा विंची अपनी चित्रकला और ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों के रूप में जीवित है। उसका प्रसिद्ध चित्र 'मोनालिसा' नारी की चरित्रा, उच्चता और महानता के सजीव अंकन के कारण कला जगत में अपना शीर्ष स्थान बनाये हुए है। दूसरों द्वारा की गयी उपेक्षा को भी व्यक्ति यदि सही ढंग से ले तो वह सन्त तुलसीदास, सुरदास व लियोनार्दो दा विंची बन सकता है। दुनिया में शिकायत से किया करते हैं जिन्हें अपने पर विश्वास नहीं है, जिन्हें अपने पर विश्वास है और जो निराशा, मनोयोग, ज्ञान और सूझ-बूझ जुटा सकते हैं वे लियोनार्दो की तरह दुनिया का प्रेम, स्नेह, श्रद्धा व सम्मान जीत लेते हैं।

सच्चे नेतृत्व के प्रतीक—

लियोनिद ब्रेझनेव

जर्मन में हिटलर और उसके सहयोगी नाजीवादियों के विश्व विजय का स्वप्न उन्मत्तता की तरह छाने लगा तो आस-पास के पड़ोसी राज्य उनकी बर्बरता के शिकार होने लगे। ऐसी ही उन्मत्त स्थिति में जर्मनी सेनाओं ने सोवियत संघ पर आक्रमण बोल दिया। तब रुस की जनता

साम्यवादी क्रांति के बाद राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्य में तन्मय होकर लगी थी। अनपेक्षित इस आक्रमण ने राष्ट्र निर्माण के प्रयासों को आघात तो पहुँचाया ही, लोगों का मनोबल भी तोड़ना आरम्भ किया। सोवियत जनता घबड़ाने-झी लगी। आधुनिक सस्त्रास्त्रों से लैस और साम्राज्यवादी मद से प्रेरित बाजी सैन्यें लगातार आगे बढ़ती जा रही थीं। इनसे आत्मरक्षा का कोई समर्थ उपाय ही नहीं सूझ पड़ता था।

तब सोवियत नेताओं का ध्यान इस ओर अकृष्ट हुआ कि राष्ट्र निर्माण के लिए जनता का मनोबल स्थिर रखना आवश्यक है। नेतृत्व का बड़ी अर्थ यहाँ है कि जनता को केवल भाषणों द्वारा ही मनोबल बनाये रखने के लिए कहा जाता रहे और स्वयं नेतृत्व के दायित्व से सम्पन्न व्यक्ति उनके पीछे भयभीत से अपनी कोठियों और बँगलों में चुपचाप बैठे रहें। नेतृत्व का दायित्व तो, कम्य राष्ट्र निर्माण और क्या आत्मरक्षा हर क्षेत्र में आगे रहने की पुकार करता है। रूस के नेता जो अब तक सामान्य जनता के साथ कंधे से कंधा मिलाकर देश के पुनर्निर्माण में रत थे—राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या ठठ खड़ी होने पर भी आगे आये

संकटपूर्ण इस घड़ी में कम्युनिस्ट पार्टी की प्रादेशिक समिति के सचिव लियोनार्दो ब्रेझ्नेव भी कंधे पर बन्दूक रखकर सुरक्षा अभियान में आगे आये। उनके साथ वे उनके ही पीढ़ी के लाखों लोग जो अब तक अपने नेतृत्व की ओर आशा भरी दृष्टि से देख रहे थे कि कम्य उस पद पर आसीन अगुआ का आगापी संकेत हो और कम्य वे राष्ट्रीय कर्तव्य के पालन हेतु कदम बढ़ायें। परन्तु संकेत नहीं हुआ कोई, दिखने में आये क्रियाशीलता। वस्तुतः ऐसे समय में आचरण ही सर्वाधिक प्रभावशाली संकेत होता है। लोग तो सोचते हैं कि नेता शायद कोई मार्गदर्शन देगा। परन्तु नेतृत्व जब क्रियाशील होता दिखाई देता है तो अनुगामियों का उत्साह कई गुना बढ़ जाता है, संकट की उस बेला में।

ब्रेझ्नेव उस युद्ध में आदि से अंत तक रुढ़े। पूरे युद्ध काल में वे सक्रिय रूप से डटे रहे। अठारहवीं सेना के साथ काम करते हुए उन्होंने अनेक सैनिक अभियानों का नेतृत्व किया। अपने अधीनस्थ सैनिकों को वात्सल्यपूर्ण व्यवहार से देश के लिए भर मिटने हेतु तैयार करने में प्रत्येक बार सफल रहे। कृष्ण सागर के तट पर ब्रेझ्नेव को स्वयं भी सैनिक अभियान के दौरान अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कई बार तो अकेले फहरा देते हुए वे शत्रुओं से भी घिर गये परन्तु प्रत्येक बार वीरतापूर्ण त्याग बलिदान की भावना से ओतप्रोत होकर संघर्ष करते रहे। अन्ततः विजय उनकी सूझबूझ और बुद्धिमत्ता की ही रहती। एक सामान्य व्यक्ति के लिए वह अवधि तो शक्यद बड़ी पीड़ाजनक और कहकारक ही सिद्ध होती। लेकिन ब्रेझ्नेव को उस एकाकी और आपदपूर्ण जीवन का अभ्यास पहले से ही था इसलिए उन्हें कोई विशेष

असुविधा नहीं हुई। उन्होंने अपना जीवन एक मजदूर-श्रमजीवी सर्वहारा परिवार में जन्म लेकर ही तो आरम्भ किया था। रूस के मजदूरों की तत्कालीन अवस्था देखकर तो यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि सैनिक अभियान के दौरान आने वाली कठिनाइयों उस जीवन की अपेक्षा कहीं सहज रही होंगी।

लियोनिद ब्रेझ्नेव का जन्म उक्रेन प्रान्त के एक मजदूर परिवार में सन् १९०७ ई० में हुआ था। उस समय रूस का श्रमजीवी बहुसंख्यक वर्ग सपाज व्यवस्था पर हावी कुछेक धनपतियों के अमानवीय शोषण से मुक्त होने के लिए छटपटा रहा था। ब्रेझ्नेव के पिता कामेन्स कोये नामक शहर की एक इस्पात मिल में आजीवन मजदूरी करते रहे। उन दिनों उस परिवार की बड़ी मारिफत आर्थिक तंगियों और अभावग्रस्त परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था। सदियों से उस क्षेत्र के किसान कंगाली और मोहताबी का सामना करते थे। आरम्भ में ब्रेझ्नेव को भी अपने छोटे भाई-बहनों के साथ कठोर मेहनत कर जीवन निर्वाह की व्यवस्था करनी पड़ी। परिवार का खर्च तब भी मुश्किल से चलता था।

लेनिन के नेतृत्व में उन्होंने दिनों सन् १९१७ में रूस की जनता ने जारशाही का अन्त किया और समाजवादी गणराज्य की स्थापना की। अब देश के सामने एक नयी चुनौती थी। जार का रूस जिसका अर्धतंत्र पिदेसी हस्तक्षेपों के कारण अस्त-व्यस्त हो गया था। उसका जीर्णोद्धार करना था। उन दिनों ब्रेझ्नेव ने अपना अध्ययन भी जारी रखा। रूस की सरकार और जनता दोनों खण्डहर से हुए रूस को नया व उन्नत रूप देने के लिए श्रमशील थे। वहाँ आधुनिक फैक्ट्रियाँ, बिजलीघर, कारखाने, स्कूल, भवन आदि कार्यों का निर्माण चल रहा था।

किशोर वय के श्री ब्रेझ्नेव ने ऐसे समय में अपना दायित्व निरिक्त किया और वे विद्याभ्ययन जारी रखते हुए मेहनत कर देश के पुनर्निर्माण में योगदान देते रहे। यद्यपि इसके पूर्व भी मेहनत-मजदूरी कर रहे थे परन्तु तब की और अबकी स्थिति में अन्तर था। तब उनके हृदय में अवसाद, बेसिलता, अनुत्साह और निराशा की कालिमा छाई रहती थी और अब सोवियत समाज के पुनर्रचना काल में उनके हृदय में उत्साह, निरिचन्तता, उत्साह और आशा का आलोक व्याप्त था। उनकी पारिवारिक और आर्थिक स्थिति में भी शक्यद ही कोई अन्तर आया हो। परन्तु देश में तब जो हवा बनी हुई थी और वातावरण तैयार था वह सुखद भविष्य की सुस्पष्ट झलकी प्रस्तुत करता था। समाज के उत्कर्ष में अपना व्यक्तिगत विकास भी होता स्पष्ट दिखाई दे रहा था। जब कोई ऐसा अभियान चलता है जिसमें सभी वर्ग का कल्याण होना हो तो समझदार व्यक्ति अभावग्रस्त होते हुए भी आश्वस्त-स रहता है।

ब्रेझ्नेव वयः संधि की उम्र में राष्ट्र निर्माण के यज्ञ में और भी अधिक धनित सहयोग देने के लिए सन् १९२४ ई०

में कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार हो गये । तत्कालीन नेताओं ने इस अल्पवय के किन्तु उत्साही किरदार को पार्टी में प्राथमिकता दी एवं हर्ष व्यक्त किया । जेझनेव कार्यकारी जीवन में तो श्रम और निहापूर्वक व्यस्त रहे ही कम्युनिस्ट पार्टी की गतिविधियों में भी उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे ।

एक अवसर पर पार्टी की मीटिंग में उन्हें युवकों की ओर से बोलने के लिए कहा गया । तब तक जेझनेव ने कभी भी किसी भी अवसर पर अपने विचारों और भावनाओं को अभिव्यक्त नहीं किया था । इस अवसर पर उन्होंने बोड़ी हिचक महसूस की । फिर भी स्वयं को बाध देते हुए वे बोलने के लिए आये और गम्भीर किन्तु ओजस्वी वाणी में अपने विचार व्यक्त करने लगे । इस प्रथम भाषण में उन्होंने समाजवादी समाज रचना के प्रति दृढ़तापूर्वक विश्वास व्यक्त किया । उस भाषण के श्रोताओं को यह राय रही है कि सचमुच वह जीवन और नवानी का ही प्रतिनिधित्व था ।

पार्टी ने ग्रामीणी जनता के प्रति उन्हें संवेदनशील और सहानुभूति से पूर्ण पाया । मजदूर जीवन के वे भुक्त-भोगी तो रहे ही थे, इससे श्रमिकों की समस्याओं और कठिनाइयों की उन्हें बड़ी अच्छी जानकारी थी । इसलिए पार्टी ने सन् १९४७ ई० में उन्हें कुर्क गुर्वेनिका और यूराल प्रान्त के मेहनतकश किसानों की स्थिति जानने के लिए सर्वेक्षक नियुक्त किया । जेझनेव ने उस समय प्रचलित भूमि-पट्टा प्रणाली का परीक्षण इतनी गहराई से किया कि वहाँ के सभी कृषक और मजदूर उन्हें देवता के रूप में मानने लगे । यह सर्वेक्षण जेझनेव स्वयं अपने लिए शिक्षाप्रद और जानकारी को बढ़ाने वाला मानते हैं । उस क्षेत्र के किसान मजदूर तो उनसे प्रभावित थे ही-उसी प्रभाव और लोकप्रियता के कारण उन्हें जिला सोवियत का युवा सर्वेक्षक नियुक्त किया । यह कार्य सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में उनका अगला कदम था ।

उस समय सारे देश में औद्योगिक प्रतिष्ठान स्थापित किये जा रहे थे । जेझनेव ने भी तब इंजीनियरी का प्रशिक्षण प्राप्त ही किया । उस समय जगह-जगह पर स्थापित किये जा रहे औद्योगिक केन्द्रों के लिए तकनीकी विशेषज्ञों की आवश्यकता थी । उच्च सोवियत के समर्थक और आधार होने के नाते जेझनेव ने स्वयं इस प्रकार की योग्यता हासिल करना आवश्यक समझा । इसे उनके स्वभाव की विशेषता ही कहना चाहिए, कि जब भी कहीं, जहाँ भी और जैसी भी सेवा की आवश्यकता हुई-जेझनेव किसी को कहने-सुनने की अपेक्षा स्वयं ही उस प्रकार की सेवा योग्यता अर्जित करने के लिए आगे आये । लियोनिद जेझनेव औद्योगिक प्रतिष्ठानों की तकनीकी आवश्यकता को समझते हुए एक धातु कर्म संस्थान में भर्ती हुए । पूरी तन्मयता और मनोयोग के साथ उन्होंने इंजीनियरिंग का पाठ्यक्रम पूरा किया । प्रबल पुस्कार्प और अनभक्त परिश्रम करते हुए सन् १९३५ में स्नातक की डिग्री

ली । स्नातक बन जाने के बाद वे अपनी जन्मस्थली में ही एक इस्पात मिल में इंजीनियर के रूप में कार्य करने लगे । पार्टी में कई उच्च पदों पर कार्य करते हुए सम्मान और प्रतिष्ठा से भरा-पूरा जीवन व्यतीत करने के बाद भी उन्हें इस्पात मिल में काम करते हुए किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ । सन् १९३८ में कम्युनिस्ट पार्टी ने उनको प्रादेशिक समिति का सचिव चुना ।

इस पद पर रहते हुए ही उन्हें जर्मन की गाजी सेनाओं का मुकाबला करने के लिए युद्ध क्षेत्र में जाना पड़ा था । जब युद्ध समाप्त हुआ तो उन्हें प्रांतीय संगठन का नेता चुना गया । जेझनेव एकनिष्ठा से सँपे गये उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए कार्य करते रहे । उद्योग और कृषि के क्षेत्र में वे अपनी सेवा-प्रतिभा का परिचय तो दे ही चुके थे । युद्ध के मोर्चे पर भी उन्होंने स्वयं को अद्वितीय अगुआ सिद्ध किया । राष्ट्र की जनता उनके व्यक्तित्व की क्षमता और प्रतिभा से धीरे-धीरे परिचित होती गयी और जैसे-जैसे उनकी प्रतिभा मुखरित होती गयी, एक से एक बड़े दायित्व जनता उन्हें सौंपती गयी ।

छठे दशक में विरगल क्षेत्रफल वाले दुनिया के सबसे बड़े राज्य की बंजर पड़ी भरती पर खेती का कार्यक्रम हाथ में लिया गया । कजाखिस्तान-जिसकी लाखों एकड़ जमीन वीं ही पड़ी हुई थी के एक कार्याधिकारी बनकर जेझनेव को कृषि उत्पादन का योर्षा सम्हालना पड़ा । यहाँ भी उन्होंने निर्देश देने और मार्ग-दर्शन भर करने में अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं मानी । जेझनेव अपने साथियों के साथ उन्नाड़ पड़े जमीन के टुकड़ों पर फंसल उगाने के लिए मेहनत करते रहे । उनसे प्रेरणा लेकर प्रोत्साहन पाकर लाखों नवयुवकों ने कजाखिस्तान की भरती पर पसोना बहाया । अन्ततः पसीने के फूल खिले जिनकी सुरभि देश में ही नहीं विदेशों में भी फैली । कजाखिस्तान आज सोवियत संघ का प्रधान अनाज उत्पादक केन्द्र है ।

बाद के वर्षों में जेझनेव मास्को में पार्टी के एक शीर्षस्थ पद पर कार्य करते रहे । प्रतिरक्षा क्षमता के विकास सम्बन्धी कार्यों, वैज्ञानिक प्रगति तथा औद्योगिक उन्नति में उन्होंने जो योगदान दिया वह ऐतिहासिक बन पड़ा है । यह तो नहीं कहा जा सकता है कि विरग के मन्त्रचित्र में रूस का आज जो विशिष्ट स्थान है उसका समूचा श्रेय जेझनेव को ही दिया जाना चाहिए । क्योंकि देश के विकास की नींव लाखों करोड़ों लोगों ने मजबूत की है । फिर भी जेझनेव ने अपने माध्यम से एक सच्चे राष्ट्र भक्त और जन नेता का आदर्श प्रस्तुत किया वह सभी नेता कहलाए जाने वालों के लिए अनुकरणीय है । जब भी अवसर आया हो जेझनेव ने स्वयं को उसके अनुरूप ढाला और उस क्षेत्र में आगे कदम बढ़ाया, देशवासियों को विकास के पथ पर अग्रसर किया ।

१९५२ ई० में आयोजित सोवियत संघ की ७०वीं वर्षगांठ के अवसर पर जेझनेव पार्टी की केन्द्रीय समिति में निर्वाचित

हुए । सन् १९६४ में वे केन्द्रीय सचिपति के प्रथम सचिव और दो वर्ष बाद महासचिव बने । एक मन्दूर से अपना जीवन आरम्भ कर सोवियत संघ जैसे महान के सर्वोच्च पद तक पहुँचने में उन्हें जो सम्मत् यात्रापथ तय करना पड़ा है वह उनकी धैर्य भरी अनवरत भाधना का ही प्रतीक है ।

युद्धोत्तर फ्रान्स के राष्ट्र निर्माता—

लुई अर्माद

सन् १९६४-६५ में फ्रान्स में 'दगाल के चार कौन' विषय पर जनमत संग्रह किया गया था । इस जनमत संग्रह का उद्देश्य यह था कि तत्कालीन राष्ट्रपति दगाल के बाद लोग किस व्यक्ति को अपने लोकतंत्र का अधिपति बनाना पसंद करेंगे । जब इसके परिणाम सामने आये तो सारा संसार आश्चर्यचकित रह गया । फ्रान्स की जनता ने एक ऐसे व्यक्ति का नाम लिया था जिसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था । हालांकि वह व्यक्ति फ्रान्स की जनता में इतना अधिक लोकप्रिय रहा है कि राष्ट्र ही किसी और देश में ऐसा साधारण व्यक्ति रहा हो । अपनी लोकप्रियता से परिचित होते हुए भी उस व्यक्ति को राजनीति में भाग लेने की कतई दिलचस्पी नहीं रही है ।

लोकप्रियता के उच्च शिखर पर आसीन इस असाधारण व्यक्तित्व का नाम है—लुई अर्माद । अर्माद का राजनीति से दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी उनकी लोकप्रियता का अन्दाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि फ्रान्स के लोग उन्हें अपने देश और समाज के सर्वोच्च पद पर देखने के लिए कितने उत्सुक थे । अर्माद की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण है उनकी निस्वार्थ सेवा भवना । युद्धोत्तर फ्रान्स के नव निर्माण में उनके द्वारा दिया गया योगदान महान ही कहा जा सकता है । घरेलू और व्यवसाय से वे एक इंजीनियर रहे हैं परन्तु उन्हें लोकप्रियता किसी भी राजनेता से कम नहीं बनू कई गुना ज्यादा ही मिली है ।

फ्रान्स में—सेवा के एक छोटे से गाँव में उनका जन्म हुआ । माता-पिता दोनों ही अध्यापक थे । न इतने अधिक धनवान कि अपने पुत्र के लिए सभी प्रकार की सुख-सुविधायें जुटा सकें और न इतने गरीब की प्राथमिक आवश्यकताएँ भी पूरी न हों । कुल मिलाकर मध्यवर्गीय स्तर का परिवार । माता-पिता दोनों ही सुरक्षित थे इसलिए अपने बालक के विकास पर उन्होंने पूरी तरह ध्यान दिया । भले ही वे उत्तराधिकार में कोई धन-सम्पत्ति देने में समर्थ नहीं रहे हों परन्तु अपनी सूझ-बूझ, उच्च गुणों की छाप और विकासमान बौद्धिक क्षमता के रूप में उन्होंने जो कुछ दिया वह किसी भी धन सम्पन्न से लाख गुना बेहतर था । धनवान और अदूरदर्शी लोग ही अपनी

संजान को उत्तराधिकार में धन सम्पदा देने की बात सोचते हैं । यदि ऐसा नहीं हो सका तो वे मरते हुए भी यही सोचते हैं कि हम अपनी औलाद के भविष्य के लिए कुछ नहीं कर सके ।

लुई अर्माद के माता-पिता ने उन्हें बचपन में स्कूल पढ़ने भेज दिया । श्रमशौचता, अध्ययन और धैर्य जैसे मानवोचित गुणों के विकास पर पूरा ध्यान देते हुए उन्होंने अपने पुत्र को राष्ट्र के लिए उपयोगी सिद्ध होने में किंचित भी लापरवाही नहीं की । उचित देखभाल और सावधानी के कारण अर्माद की अन्तर्निहित प्रतिभा निखरने लगी वैज्ञानिक प्रयोगों तथा गणित के सवालों में उनकी आरम्भ से ही रुचि रही । माता-पिता ने भी अर्माद को इसी दिशा में प्रेरित किया ।

चारह-तेरह वर्ष की आयु में उनका परिचय एक मेडीकल स्टोर के मालिक से हुआ । निःसन्तान होने के कारण वह अर्माद को बहुत प्यार भी करता था । इस मेडीकल स्टोर के मालिक ने उन्हें फोटोग्राफी का प्रशिक्षण दिया । अर्माद की वैज्ञानिक प्रयोगों में रुचि तो आरम्भ से ही रही थी । फोटोग्राफी सीखने के बाद अपने मुहल्ले के कलाई के यहाँ से हड्डियाँ लाकर उबाली तथा उनमें से जिसेटिन निकाला जो फोटोग्राफी की प्लेटें तैयार करने में काम आता है ।

विज्ञान की दिशा में प्रेरित करने के लिए माता-पिता ने अर्माद को शुरू से प्रकृति के रहस्यों से परिचित कराना आरम्भ कर दिया था । इसका परिणाम यह हुआ कि अर्माद प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करना सीख गये । चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु में सूक्ष्म निरीक्षण के स्वभाव के परिणामस्वरूप अर्माद कई पेड़-पौधों तथा वनस्पतियों के बारे में इतना जानने लगे थे, जितना कि सामान्य घुघक या प्रौढ़ व्यक्ति भी नहीं जानता है । फफूँद की सी से भी अधिक जरातियों तथा कुकुरमुत्ते की सैकड़ों किस्मों के बारे में वे अच्छी तरह जानते थे । वह भी इनमें से कौन-सी खाने योग्य है और कौन सी नहीं । इस जानकारीयों ने उन्हें आगे बढ़कर बड़ा स्तम्भ दिया । उन्होंने जंगली फलों के रस से एक एसिड तैयार किया जो फोटो प्लेटें डेवलप करने के काम आता है ।

प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर उन्होंने एनेसी और लियोन के विद्यालयों में आगे की पढ़ाई जारी रखी और उसके बाद एकोले पोस्तेकिनक कॉलेज में प्रवेश किया । यहाँ की परीक्षाएँ पास कर वे खनिज इंजीनियरी के महाविद्यालय में भर्ती हुए । यहाँ उनके अध्ययन का विषय था भूमि की स्तर रचना । इसकी स्नातक परीक्षा में वे सर्वोत्तम आये । इस प्रकार अर्माद की लगातार सफलता मिलती गई । निस्सन्देह इन सफलताओं का कारण उनका बुद्धि कौशल था । इसके अभाव में कोई और साधन चाहे कितने ही प्रभावशाली

और सशक्त क्यों न हों—व्यक्ति रईसों के पुत्र भी मन्दबुद्धि होने के कारण स्कूली परीक्षाओं व जीवन के क्षेत्र में असफल होते देखे गये हैं।

शिक्षा समाप्त कर अर्माद के सामने व्यवसाय के चुनाव का प्रश्न खड़ा हुआ। वे नहीं चाहते थे कि उनकी उपार्जित योग्यता और प्रतिभा पैसे कमाने अथवा अपने ही लिए सुख सुविधायें जुटाने के काम आये। वे अपने ज्ञान का लाभ अन्य औरों को भी देना चाहते थे इसीलिए उन्होंने निश्चय किया कि वे इसी कॉलेज में प्राध्यापकी करें। परन्तु उस समय वहाँ कोई पद रिक्त नहीं था।

अर्माद इससे निराश नहीं हुए। सेवाधर्मी व्यक्तियों के लिए कई क्षेत्र खुले पड़े हैं जहाँ वे अपनी प्रतिभा का उपयोग कर समाज को लाभान्वित कर सकते हैं। ऐसे लोगों के सामने कभी 'जो बेकेवरी' की समस्या नहीं रहती। वन्हीं दिनों क्लेरमोते फेरार्द में वैज्ञानिक शोधकर्ताओं की आवश्यकता हुई। अर्माद को पता चला और मालूम हुआ कि इन शोधकर्ताओं को फेरार्द के चरमों का अध्ययन करना पड़ेगा क्योंकि चरमों के पानों में कई रासायनिक तत्व मिले हुए हैं जो स्वास्थ्य सुधार के लिए आवश्यकतम रूप से लाभकारी सिद्ध हुए हैं। अर्माद ने अपने प्राथमिक सम्बन्धित अधिकारियों को दे दिया। अधिकारियों ने भी उनकी योग्यता, प्रतिभा और लगन देखकर उन्हें नियुक्त कर लिया।

अर्माद यद्यपि एक रसायनशास्त्री थे फिर भी उन्होंने इस पानी का प्रयोग रोग-रस्त चूहों पर किया। इन प्रयोगों के निष्कर्ष इतने महत्वपूर्ण थे कि फ्रान्स की 'पेडीकल एकेडमी' ने उन्हें अपना सदस्य चुन लिया। चरमों के पानी का अध्ययन समाप्त हो जाने के बाद उन्होंने वहाँ की नीकरी छोड़ दी और रेलवे में नीकरी कर ली।

रेलवे विभाग में एक जटिल समस्या उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। उस समय रेल के इंजनों में ज्वलन लवण जम जाने के कारण जल्दी जलता ही जाया करते थे। जमे हुए लवणों को खुरचना भी बड़ा मुश्किल का काम था। अर्माद ने एक ऐसी चीज खोज निकाली जिसे पानी में मिला देने पर वाहनों में लवण जमती ही नहीं। इससे वायलर पहले से दुगुने समय तक काम देने लगे।

१९३८ में, फ्रान्स की रेलों का राष्ट्रीकरण हुआ। अर्माद की तेजी से पदोन्नति होने लगी। किन्तु सभी विषयबुद्धि छिड़ गया। जर्मनी ने फ्रान्स को विजित भी कर लिया। फ्रान्स ने तब तक काफ़ी प्रगति कर ली थी। उसके विकसित साधनों का उपयोग कर जर्मनी पूरी यूरोप को जीतने के लिए प्रयत्न करने लगा। अर्माद ने तब देशभक्ति का जो परिचय दिया वह कई फ्रान्सीसी युवकों के लिए प्रेरणा स्रोत बन गया। अर्माद और उनके साथी जर्मन सेनाओं की कार्यवाही में बाधा डालने के लिए छोड़-फोड़ करने लगे। जर्मन की खुफिया पुलिस परेशान हो गयी। पूरे चार साल तक तोड़-फोड़ मूलक गतिविधियों के आयोजक रुई अर्माद पर हाब भी नहीं डाल गये। अपने बुद्धि कौशल के बल पर वे वहाँ भी सफल होते रहे।

परन्तु जून, १९४४ में वे अखिर जर्मन की खुफिया पुलिस के हाथों पड़ ही गये और उनका कोर्ट माराल हुआ। सैनिक न्यायालय ने उन्हें मृत्यु दण्ड का फैसला सुनवा और उनको कारावास की काल कोठरी में डाल दिया। अर्माद के जीवन यह कारावास बड़ा महत्व रखता है उन्होंने मानसिक संतुलन को कभी डिगने नहीं दिया और लगातार यह सोचते रहे कि कभी ईश्वर की कृपा से मुक्त जीवन जीने का अवसर मिले तो वे फिर ठीक विहा के साथ राष्ट्र के नव निर्माण तथा मानव जाति के कल्याण के लिए प्रयत्न करेंगे। यहाँ तक कि उन्होंने कारावास में ही फ्रान्स की राष्ट्रीयकृत रेलों के विद्युतीकरण की योजना भी बना डली।

अखिर फ्रान्स विमुक्त हुआ। उस समय वहाँ की अस्सी प्रतिशत रेलवे सम्पदा नष्ट-धष्ट हो चुकी थी। इन्जिन, चाबी डिब्बे, माल के डिब्बे और अधिकांश कारखाने बर्बाद हो गये थे। प्रधान इंजीनियर के पद पर नियुक्त कर फ्रान्स की सरकार ने उन्हें इन सब को पुनर्व्यवस्थित करने का गुह्य भार भीषा था। अर्माद को तो जैसे इन उत्तरदायित्वों से ही प्रेम था। अधिकांश लोग अपने अधिकारों की चिन्ता करते हैं परन्तु जो उनकी और ध्यान न देकर अपने कर्तव्य चालन का ही ध्यान रखते हैं उन्हें अधिकार के साथ-साथ अन्य अमूल्य उपहार भी स्वयमेव ही मिल जाते हैं।

अर्माद ने रेलों को पुनर्व्यवस्थित करने के साथ-साथ ही उनके विद्युतीकरण की योजना भी सरकार के सामने रखी। उस समय विद्युत इन्जनों में इल्के मोटर का करेण्ट ही काम में लाया जाता था। अर्माद ने ऐसी विधि खोज निकाली जिससे इन्जनों में औद्योगिक करेण्ट का उपयोग किया जाने लगा और भी कई सुधारों के कारण विद्युतीकरण का खर्च बहुत घट गया। आज सारा संसार उस विधि का लाभ उठा रहा है।

कुछ समय बाद उन्हें रेलवे बोर्ड का डायरेक्टर बनरल और बाद में अध्यक्ष बनना पड़ा। इन पदों पर रहकर उन्होंने महत्वपूर्ण कदम डठाये। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यूरोपीय देशों की वातावरण के प्रयत्न में एकीकरण के लिए तैयार कर लिया। पहले होता यह कि दूसरे देश में माल भेजने के लिए सीमा पर माल को उस देश की रैगनों में भर जाता था। इससे समय और जम का अनावश्यक अक्षय्य होता था। अर्माद ने यूरोपीय देशों में यह परम्परा बनायी कि वही रैगनें दूसरे देशों में भी आने-जाने लगी। इससे रैगनों का पूर्ण उपयोग भी होने के साथ-साथ पश्चिमी यूरोप का वातावरण एकीकरण हो गया।

मस्तीनों के सम्बन्ध में अहर्निश सोचते रहने के बावजूद भी उनकी एक मूल मान्यता मशीनों के मूल्यांकन और महत्वबोध को स्पष्ट कर देती है। वे मानते हैं कि आधुनिक युग में मशीनों का अपना महत्व है परन्तु उनका विचार है कि वे मात्र तो मानव जाति को सुखी बनाने के साधन मात्र हैं जहाँ उसके अस्तित्व शक्ति और मूल स्वरूप

को कोई हानि पहुँचाने सगती है अर्थात् वहाँ यांत्रिक सभ्यता के सबसे बड़े विरोधी हैं। वस्तुतः मात्र तक युद्ध जीतने या धन कमाने की आकांक्षा ने ही आविष्कारकों की प्रेरणा दी है। इसी मूल आकांक्षा का परिणाम एक से एक बढ़-चढ़ कर संहारक अस्त्र, विनाशकारी अणु परमाणु बम आदि वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हैं। परन्तु अर्थात् विज्ञान के इस स्वरूप के घोर विरोधी हैं। वे मानते हैं कि मानव मात्र का हित साधन विज्ञान का आधार होना चाहिए।

अपने साथी इंजीनियरों को भी वे आर्थिक लाभ को गौण मानकर काम करने के लिए प्रेरित करते हैं और कहते हैं कि इमें तकनीकी दृष्टि से सम्भव और आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद योजना पर भी इस कसौटी पर कसने के बाद विचार करना चाहिए कि वे औसत आदमी को कितना लाभ पहुँचाती हैं।

इसलिए उन्होंने १९५८ में यूरोपस योजना बनायी जिसके अनुसार औद्योगिक क्षेत्र में अणुशक्ति का उपयोग करने के लिए पश्चिम यूरोप के कई देशों ने मिलकर प्रयास आरम्भ किये। मानवमात्र के हित साधक, विचारों से उदार और आदर्शवादी लुई अर्नाद को फ्रान्सीसी जनता इतना अधिक प्यार करती है उसे मात्र संयोग नहीं कहा जाना चाहिए। वास्तव में इस प्यार की कोमल उन्होंने स्वयं को ही समर्पित कर चुकाई है।

राजनीति के क्षेत्र में भले ही उसकी कोई दिलचस्पी न रही हो परन्तु वे किसी भी राजनेता से अधिक समय तक घाद किये जाते रहेंगे।

जिन्होंने सामन्तशाही के विरुद्ध आयाज उठायी-

लू-शुन

लू-शुन की मृत्यु के बाद उन्हें श्रद्धांजलि-देते हुए चीन के राष्ट्राध्यक्ष माओत्से तुंग ने कहा था वे भौतिकवादी क्रांति के महान सेनापति और वीर सेनानी थे। वे केवल लेखक ही नहीं बल्कि एक महान विचारक और क्रांतिकारी भी थे, एक ऐसे तथे हुए असाधारण राष्ट्रीय वीर जो प्रतिभाशाली तत्वों से संघर्षों को अपना कर्तव्य मानकर जुड़ते रहे।

ये शब्द उस समय कहे गये जब माओ स्वयं भी एक क्रांतिकारी सैनिक के रूप में काम कर रहे थे। सन् १९३६ में चीन में परिवर्तनों का दौर-दौरा चल रहा था। जनरल और अस्त व्यस्त समाज व्यवस्था तथा शासनतन्त्र को तीव्र कर नये समाज की रचना के प्रयत्न चल रहे थे। तो ऐसे समय में अर्पित किये गये ये श्रद्धासुम्न इस बात के प्रतीक नहीं हो सकते थे कि लू शुन चीन के वर्तमान शासकों के अन्धधत्त या अन्ध समर्थक रहे हों। उस समय जब सामान्य जनता और बुद्धिजीवी हर कोई शिक्षण तथा उत्पीड़न का शिकार हो रहा था। यद्यपि स्वदेशी शासन

व्यवस्था थी परन्तु सामन्तों तथा जागीरदारों का समाज में इतना प्रभुत्व था कि उसका कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं था।

उस समय में इन तत्वों के खिलाफ आवाज उठाने का एक ही अर्थ था घुट घुट कर मर जाने के लिए मृत्यु को निमन्त्रण। इसलिए ऐसा दुस्साहस शायद ही किसी का होता हो और जो यह दुस्साहस करता भी उसे बड़ी नारकीय स्थिति में जीना पड़ता। कुछेक आदर्शवादी और सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति ऐसा साहस करते भी तो भूख, बेकारी और पत्नी-बच्चों की कराह उन्हें जल्दी ही तोड़ देती। इन सब सम्भावनाओं के बावजूद भी लू शुन ने चीन के नागरिकों को नये जीवन का संदेश दिया तथा नये समाज के सूत्रन का आह्वान किया।

उपरोक्त परिस्थितियों का चित्रण करते हुए उन्होंने एक धार्मिक कहानी लिखी है-"भूतकाल का परम्परा"। जिसमें उनका यह आक्रोश बड़ी तीव्रता से व्यक्त हो उठा है। इस कहानी का नायक शिक्षित है और लेखक भी। बदलती परिस्थितियों में वह भित्तव्ययिता से अपना गुजारा चलाने का प्रयत्न करता है परन्तु परिस्थितियों से तालमेल नहीं बैठता। नायक की मनःस्थिति का बड़ा धार्मिक चित्रण किया गया है इस कहानी में, उसे कोई काम नहीं मिलता। वह सोचता है कि जब घरे पास आजीविका का कोई साधन नहीं है तो मैं अपनी पत्नी से प्रेम भी कैसे कर सकता हूँ और वह अपनी पत्नी को कहीं और भेज देता है-जहाँ वह मर जाती है। पत्नी के देहान्त का समाचार पाकर नायक अवाक रह जाता है। इस स्थिति में एक सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति की क्या मनोदशा होगी, वह तो उसी स्तर का व्यक्ति अनुभव कर सकता है। लू-शुन सोचता है, उसके विचार बदलते हैं और वह विचार बदलने के साथ-साथ अपनी जीवन-दशा भी बदल देता है। उन निर्णायक क्षणों में यह कहता है कि निस्सन्देह इन परिस्थितियों से समझौता करने के लिए मुझे अपने हृदय को घायल करना पड़ेगा परन्तु जीने के लिए मुझे अपने घायल हृदय में स्तब्ध को छिपाना ही पड़ेगा। जीने का एक यही रास्ता है कि अपने जीवन-दर्शन को धुलाकर असत्य को ही अपना मार्गदर्शक बना लें। इस कहानी के शिल्प और भाषा में इतना कराण और तीव्र व्यंग्य किया गया था कि जो लोग उसका निस्तान बने थे तिलमिला उठे। लू शुन जानते थे कि नौकरशाही को नाराज कर उसके क्या कुपरिणाम भोगना पड़ेंगे। जानबूझ कर खतरा मोल लेना तो वस्तुतः एक बड़े साहस की बात है। मनजाने आ गये खतरों से साधारणतः बचाव ही करना पड़ता है, उससे व्यक्तित्व का उतना उत्कर्ष नहीं होता जितना कि जानबूझ कर खतरों को निमन्त्रण देने और उनसे बूझने में।

ऐसे संघर्षशील उपरवी साहित्यकार लू-शुन का जन्म सन् १८८९ में चीन से बेकियांग प्रांत के शाओशिंग नगर में एक सामन्ती परिवार में हुआ था। उनके माता पिता

सम्पन्न और समृद्ध होने के साथ-साथ विद्वान और उदार व्यक्तित्व के भी थे। लू-शुन का बचपन का नाम चाओ शेरेन था। उनके व्यक्तित्व पर माता का अधिक प्रभाव रहा था। जिसका नाम लू था। पिता कठोर अनुशासनप्रिय व्यक्ति थे। नियमों और मर्यादाओं में तन्त्रिक-सा ढीसापन भी उन्हें बर्दाश्त नहीं होता। इसी विशेषता के कारण वे कभी-कभी तो अपनी पत्नी के प्रति भी कठोर रूप हो जाया करते थे। माँ के सहृदय निकट सान्निध्य में रहने से चाओ स्वयं को पिता के स्वभाव से सुरक्षित अनुभव करते और वे प्रभावित भी अपनी माँ से ही अधिक रहे। इसी कारण उन्होंने आगे चलकर लू-शेन के नाम से लेखन कार्य आरम्भ किया।

छायावर्ष की अवस्था में उन्हें स्कूल में पढ़ाई करवाया गया। उन्हें जो अध्यापक मिले थे वह बहुत अच्छे ढंग से कहानियाँ कहना जानता था। अध्यापक की सुनाई हुई कहानियों ने लू-शुन का रुझान कहानी विद्या की ओर मोड़ा। कथा-कहानी सुनने और सुनाने में उन्हें बड़ा मजा आता। कालांतर में उनकी रुचि चित्रकला में भी हुई लेकिन कहानी की ओर उनकी रुचि ज्यों की त्यों ही बनी रही। १२ वर्षों में लू-शुन ने इस स्कूल की पढ़ाई पूरी करली और नार्थकिंग के एकेडमी स्कूल में प्रविष्ट हुए।

यहाँ उन्होंने चार वर्ष तक पाठ्य-पुस्तकों के साथ पाठ्यक्रमेतर साहित्य भी पढ़ा। विदेशी लेखकों और साहित्यकारों द्वारा लिखी गयी पुस्तकें उन्हें विशेष रूप से अच्छी लगती थीं। विदेशी साहित्य का अध्ययन करते समय वे यह भी सोचते कि चीनी भाषा में ऐसे साहित्य का वस्तुतः अभाव था। विदेशी साहित्यकारों की इन कृतियों को देखकर ही उन्होंने चीनी भाषा में सृजनात्मक साहित्य लिखने की प्रेरणा पायी। उस समय के संस्मरण लिखते उन्होंने एक स्थान पर कहा-जब कभी मैं कोई चीनी पुस्तक पढ़ता तो मुझे लगता था कि जैसे मैं मानवीय अस्तित्व का अंश नहीं हूँ। परन्तु विदेशी पुस्तकें पढ़ते समय मुझे बड़ी तीव्रता से यह अनुभूति होती है कि मैं मानवीय अस्तित्व के सम्पर्क में आ गया हूँ और मेरे शरीर में विद्युत-सी दौड़ने लगती। निस्सन्देह यह चीनी साहित्य की दीनता थी और इस दीनता को दूर करने के लिए मेरे अन्तःकरण में निरन्तर प्रेरणायें उठती रहती थीं।

लू-शुन ने सन् १९०१ में बी० ए० पास किया और सरकारी छात्रवृत्ति पर भाषातत्त्व ज्ञान-विज्ञान तथा दर्शन और साहित्य का अध्ययन करने के लिए जापान चले गये। इन विषयों के अध्ययन के साथ-साथ उन्होंने अपनी जन-जीवन का अध्ययन भी किया जो प्रखर रूप से राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत था। वहाँ के नागरिकों की तुलना जब वे चीनी नागरिकों से करते तो दुःख और वेदना के कारण उनकी आँखें नम हो जातीं और वे सोचते कि चीनी जनता की यह उदासीनता न जाने कब दूर होगी। आठ वर्ष तक जापान में चिकित्साशास्त्र का अध्ययन कर

जब वे चीन लौटे तो उनकी वेदना और अधिक बढ़ गयी तथा उन्होंने संकल्प लिया कि वे लोगों की शारीरिक चिकित्सा के स्थान पर भस्तिष्कीय, भावनात्मक-चिकित्सा, चेतना की चिकित्सा के लिए प्रयत्न करेंगे। शरीर के स्वास्थ्य की अपेक्षा मनुष्य का मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य अधिक महत्वपूर्ण है और इसी की प्राप्ति के लिए साहित्य ही सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम सिद्ध हो सकता है। लू-शुन ने ऐसी स्थिति में डॉ० बनने की अपेक्षा हाओशिंग स्कूल में अध्यापक हो गये।

सन् १९१९ में क्रांतिकारी लहरें उठने लगीं। इस क्रान्ति से राजवंतों का खात्मा तो हुआ लेकिन साम्राज्य-वाद और सामन्तवाद का उन्मूलन नहीं हो सका। सामन्ती सम्मान का प्रभाव और प्रभुता ज्यों की त्यों बनी रही। इस स्थिति को उलटने के लिए लू-शुन ने अपनी कलम ठठायी और ऐसे तत्वों से लोहा सेने लगे। वे हाओशिंग से चेकिंग आ गये। चेकिंग उन दिनों साहित्यिक और सांस्कृतिक हस्तक्षेपों का केन्द्र बना हुआ था। लू-शुन को सरकारी शिक्षा विभाग में एक अच्छा पद मिल गया तथा आगे चलकर १९१९ में वे जब चेकिंग विश्वविद्यालय में अध्यापक बने तो 'नवयुवक' पत्र का सम्पादन भी करने लगे।

यह पत्र लू-शुन की साहित्यिक गतिविधियों का प्रमुख माध्यम बना। इसी के माध्यम से पुरानी जर्जर व्यवस्था को नष्ट करने तथा नवसृजन के लिए युवकों और विद्यार्थियों को प्रेरणा दी वे उनका मार्गदर्शन किया। जब लगा कि वह आन्दोलन कुछ समय में पुरानी व्यवस्था के लिए चिंतनोप समस्म बन जायेगा तो सन् १९२६ ई० में इसका तीव्र दमन किया गया। इसी दमन के परिणामस्वरूप लू-शुन को पीकिंग विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग से पृथक् भी होना पड़ा।

बचपन की अभिरुचि से विकसित कथा-शिल्प की प्रतिभा को उन्होंने और मौज कर निखारा तथा वे कहानियाँ लिखने लगे, वे कहानियाँ तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों को दृष्टिगत राखकर लिखी गयीं। अपनी लेखनी द्वारा उन्होंने सामन्ती व्यवस्था पर करारे प्रहार किये। उन्होंने दोनों पक्षों का ध्यान रखा। पहला पक्ष तो था वह व्यवस्था से पीड़ित लोगों का जो शोषण के इस चक्र में बुरी तरह पिस चुके थे और पिसते जा रहे थे उनका करुणार्थ चित्रण तथा दूसरा इसका विकल्प प्रतिपादन। वर्तमान व्यवस्था को तोड़ा जाय तो इसके स्थान पर क्या क्या जाय?

पहले पक्ष में उन्होंने शोषित और उत्पीड़ित वर्ग का बड़ा ही करुण तथा मार्मिक चित्रण किया। जो आज भी इतना सजीव है कि पढ़कर नेत्र सजल हो उठें। सन् १९२८ में शंघाई आकर रहने लगे। उन्होंने यहाँ रहकर सम्प्राज्यवाद के सिद्धान्तों का अध्ययन किया। इस पक्ष को जन साधारण के सामने रखने के लिए उन्होंने आलोचनात्मक निबन्ध तथा ऐतिहासिक कहानियाँ

लिखीं । अन्य देशों की रचनाओं का साहित्यानुवाद प्रकाशित किया । उनकी कहानियाँ पढ़कर तिलमिला उठ्य हृदय समाधान पाकर तृप्त हो जाता । मात्र सूत ही नहीं वरन् एक दिशा भी प्राप्त कर लेता था ।

इस प्रकार उन्होंने सत्याजवादी क्रांति की सम्भावनाओं को योजनृत बनाया । यह सच है कि कोई भी परिवर्तन चाहे बड़ा हो या छोटा विचारों के रूप में ही जन्म लेता है । मनुष्यों और समाज की विचारणा सदा भारत में अब तक परिवर्तन नहीं आता तब तक सामाजिक परिवर्तन भी असम्भव ही है और कहना पही होगा विचारों के बीच साहित्य के हल से ही बोधे जा सकते हैं । लू-तुन ने चीनी जनता को समृद्ध व सुखी बनाने के लिए इसी कृषि उपकरण का सफल प्रयोग किया ।

सितम्बर, १९४६ में लू-तुन का देहान्त हो गया । परन्तु उन्होंने चीनी भाषा के साहित्य को जो समृद्धि और सम्पन्नता दी वह अविस्मरणीय है ।

व्यवस्थित जीवन की कुञ्जी-समय की पाबन्दी-

जार्ज वाशिंगटन

नियमपूर्वक तथा समय पर काम करने से सब काम भली प्रकार हो जाते हैं । जो लोग समय के पाबन्द नहीं होते उनके काम आधे-अधूरे और इपेशा क्षमा-चीकड़ी मची रहती है । काम अच्छी तरह समाप्त हो जाता है तो उत्साह भी मिलता है और प्रसन्नता भी होती है । काम पूरा न होने से असन्तोष और अप्रसन्नता होती है, इसलिये विचारवान व्यक्ति सदैव समय का पालन करते हैं । इस तरह दूसरी व्यवस्थाओं और प्रबन्ध के लिये भी समय बनाये रखते हैं ।

अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन के जीवन की एक घटना से समय की पाबन्दी की उपयोगिता का प्रकाश मिलता है । एक बार उन्होंने कुछ मेहमानों को तीन बजे भोजन के लिये आमन्त्रित किया । साढ़े तीन बजे सैनिक कमाण्डरों की एक आवश्यक बैठक में भाग लेना था ।

नौकर जानता था कि जार्ज साइब समय की नियमितता को कितनी दृढ़ता से निभाते हैं । ३ बजे ठीक मेज तैयार हो गई । सूचना दी गई भोजन की मेज तैयार है । तीन बजे गये, अभी तक मेहमान नहीं आये ।

एक बार ही वाशिंगटन के मस्तिष्क में एक चित्र उभरा-“मेहमानों की प्रतीक्षा न की गई तो वे अप्रसन्न हो जायेंगे । तो फिर क्या बैठक स्थगित करें । यह समय सारे राष्ट्र के जीवन से सम्बन्धित है । क्या अपनी सुविधा के लिये राष्ट्र का अहित हो सकता है ? क्या राष्ट्र हित को दो तीन व्यक्तियों की अप्रसन्नता के लिये उत्सर्ग करना बुद्धिमानी होगी ।”

हृदय ने दृढ़तापूर्वक कहा-“नहीं नहीं, जब परमात्मा अपने नियम से एक सेकण्ड आगे-पीछे नहीं होता, जिस दिन जितने बजे सूरज को निकलना होता है, बिना किसी की परवाह किये वह उतने ही समय उग आता है तो मुझे ही इस ईश्वरीय आदेश का पालन करने में संकोच या भय क्यों होना चाहिए ?”

और है-नौकर को सम्बोधित कर उन्होंने कहा-“रोब प्लेटें उठा लो हम अकेले ही भोजन करेंगे । मेहमानों की प्रतीक्षा नहीं की गई ।”

अध्या भोजन समाप्त हो गया तब मेहमान पहुँचे । उन्हें बहुत दुःख हुआ देर से आने का, कुछ अप्रसन्नता भी हुई । वे भोजन में बैठ गये तब तक वाशिंगटन ने अपना भोजन समाप्त किया और निश्चित समय बिदा लेकर वस बैठक में भाग लिया ।

मेहमान इसी बात पर रह गये कि उनकी १५ मिनट प्रतीक्षा नहीं की गई, अब उन्हें और भी कह हुआ क्योंकि मेजकान भोजन समाप्त कर वहाँ से चले भी गये । किसी तरह भोजन करके वे लोग भी अपने घर लौट गये ।

सैनिक कमाण्डरों की बैठक में पहुँचने पर उन्हें पता चला कि यदि वे नियत समय पर नहीं पहुँचते तो अमेरिका के एक भाग में भयंकर विद्रोह हो जाता । समय पर पहुँच जाने के कारण स्थिति सम्हाल ली गई और एक बहुत बड़ी जन-धन की हानि को बचा लिया गया ।

इस बात का पता कुछ समय बाद उन मेहमानों को भी चला तो उन्हें समय की नियमितता का महत्त्व मालूम पड़ा । उन्होंने अनुभव किया प्रत्येक काम निश्चित समय पर करने, उसमें आलस्य-प्रमाद या ढील न देने से भयंकर हानियों को रोकना जा सकता है और जीवन को सुचारु ढंग से चला जा सकता है ।

वे फिर से राष्ट्रपति के घर गये और उनसे उस दिन हुई भूल की क्षमा माँगी । राष्ट्रपति ने कहा-“इसमें क्षमा जैसी तो कोई बात नहीं है पर हाँ जिन्हें अपने भोजन की व्यवस्था, परिवार, समाज और देश की उन्नति का ध्यान हो उन्हें समय का कड़ाई से पालन करना ही चाहिए ।”

परिश्रम करना गौरव की बात है हीनता की नहीं-

अमेरिका में स्वतन्त्रता संग्राम चल रहा था । सुरक्षा को दृष्टि से एक किले की मरम्मत हो रही थी । मरम्मत के काम में संलग्न एक सैनिक टुकड़ी अपने नायक की देख-रेख में एक बड़ा लट्ठा दीवार पर चढ़ाने की कोशिश कर रही थी । लट्ठा ज्यादा भारी था इसलिये वह चढ़ नहीं रहा था । टुकड़ी का नायक सैनिकों पर झुल्लाता, उन्हें डाँटता और कभी-कभी उत्साहित भी करता । किन्तु कोई फल न निकलता था । तभी एक बुढ़सवार उधर से निकला

यह दृश्य देखकर उसने नायक से कहा—“महोदय ! यदि आप भी इसमें हाथ लगा दें तो यह लट्ठा शीघ्र ही दीवार पर चढ़ जाये ।”

नायक ने धीरे तानकर कहा—“वह आप क्या कहते हैं जानते नहीं मैं इस टुकड़ी का नायक हूँ ।” मुहुसवार अपने शस्त्र वापस लेकर घोड़े से उतर पड़ा और अपना कोट उतार कर सैनिकों के साथ काम में जुट गया । लट्ठा बात की बात में दीवार पर चढ़ गया ।

सवार ने आकर अपना कोट पहना, हैट लगाया और घोड़े पर सवार हो लिया तभी नायक ने उसे धन्यवाद दिया ! सवार ने नायक से कहा कि धन्यवाद की आवश्यकता नहीं है । किन्तु यदि आपको कभी इस प्रकार परिश्रम के कामों में अड़चन हो तो मुझे इस पते से पद कर लिया करें ।

“वाशिंगटन—प्रधान सेनापति अमेरिका ।” इसके पूर्व ही कि हक्का-बक्का हुए नायक के मुँह से कोई शब्द निकले वाशिंगटन यह कहकर आगे बढ़ गये—“परिश्रम करना गौरव की बात है हीनता की नहीं ।”

सभ्यता का स्तर

अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन अपने कुछ मित्रों के साथ कहीं जा रहे थे । मार्ग में एक इज्जी ने अपनी टोपी उतार, अदब से झुककर उनका अभिवादन किया । प्रत्युत्तर में जार्ज वाशिंगटन ने भी उसी ढंग से अभिवादन किया । उनके मित्रों को यह दुरा लगा बरद में अबसर मिलाने पर कहा—“आपको ऐसा करना कोई आवश्यक नहीं है ।” इन पर वे बोले—“राष्ट्रपति होने का मतलब यह तो नहीं कि कोई सभ्यतापूर्वक अभिवादन करे उसका उत्तर भी न दिया जाय ।” एक अनपढ़ इज्जी झुककर नमस्कार करता है तो वह उसकी सभ्यता है पर एक पढ़ा-लिखा सभ्य जो अमेरिका का राष्ट्रपति है वह उनका वैसा ही प्रत्युत्तर न देता तो वह असभ्यता ही होती ।”

शान्ति, स्वतन्त्रता का अमर उपासक—

विलियम पेन

विश्व-मानव को समृद्ध, आरवस्त और सुखी बनाने के लिए नूतन आदर्श व सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वालों को काल की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता । भविष्य के वे दृष्टा अपने गहन चिन्तन के परिणाम स्वरूप ऐसे सिद्धान्त प्रतिपादित कर जाते हैं जो उनके समय में सर्वथा काल्पनिक व अव्यावहारिक लगते हैं, किन्तु आगे जाकर वे ही व्यवस्था में आते हैं—उन्हें कार्यान्वित किया जाता है । ऐसे ही एक व्यक्ति थे विलियम पेन जिन्होंने आज से २५० वर्ष पहले व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये

ब्रिटिश शासन से संघर्ष किया था । उन्होंने प्रजातन्त्र व स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि तैयार की थी । इस प्रतिपादन के साथ-साथ उन्होंने राष्ट्रसंघ की योजना भी बनाई थी ।

विलियम पेन का जन्म लन्दन में सन् १६४४ में हुआ था । उन दिनों व्यक्ति की आत्मा पर भी राजा का पहरा होता था । इंग्लैण्डवासियों को वही धर्म मानना होता था जो उनके राजा को पसन्द होता था । व्यक्ति की श्रद्धा व विश्वास पर पहरे बिठाये हुये थे । विलियम ज्यों-ज्यों बचस्क होते गये त्यों-त्यों उन्हें यह बन्धन अखरने लगे । घर में कभी कुछ भी नहीं थी, उनके पिता ब्रिटिश नौ सेना में एडमिरल थे । भविष्य में उनके लिए भी उच्च पद मिलना सुनिश्चित था किन्तु सोने के पिंजरे में रहकर भी पक्षी उस आनन्द से वंचित ही रहता है जो उसे स्वतन्त्र रहकर प्रकृति की गोद में उन्मुक्त विचरण से मिल सकता है ।

धीरे-धीरे वर्ष की आयु में ही उन्हें ‘लन्दन टावर’ नामक कारावास की सीर करनी पड़ी । उसका कारण उनका स्वेकर (शान्ति संगठन) नामक सम्प्रदाय का अनुयायी बनना था, जो राजाका के अनुसार प्रतिबन्धित था । स्वेकर सम्प्रदाय के सदस्यों को राजा के विधान द्वारा क्रूर सजाएँ दी जाती थी ।

पिता ने अपने पुत्र से बड़ी-बड़ी लौकिक कामनाएँ लगा रखी थीं । उनका सपना उनके पुत्र को ब्रिटिश शासन तन्त्र के उच्चधिकारी के रूप में देखने का था । किन्तु विलियम के कार्य-कलापों से उनका यह स्वप्न धूर-धूर हो गया । उन्होंने उसे बुरी तरह तिरस्कृत किया, मारा-घोटा भी पर वह अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ थे । इसी कारण उन्हें ओक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से भी निष्कासित कर दिया गया ।

जो महीने के सत्रम कारावास ने उनके संकल्पों को दुड़ ही किया था दिगाया नहीं । क्योंकि यह उनके अकेले को समस्या नहीं थी लाखों व्यक्ति इस अन्याययुक्त कानून से अपने धर्म, विश्वास तथा निहा को बनाए नहीं रख सकते थे । जन-जन की इस पीड़ा को अपने हृदय में स्थान देने के कारण ही वे इतने दृढ़ बन सके थे ।

जेल से मुक्त होते ही उन्होंने ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि देशों की यात्रा की । उन्होंने स्थान-स्थान पर जनसभाएँ आयोजित करके लोगों को अपनी अंतःप्रेरणा को अभिव्यक्त करने के माध्यम धर्म को राज्य के कारागृह से मुक्त कराने का उद्बोधन दिया । इन जन सभाओं में अधिकांश स्वेकर सतावलम्बी आते थे या वे लोग आते थे जो अपने खोबे हुए अधिकारों को पाना चाहते थे । इनकी संख्या हजारों में होती थी ।

लन्दन में अपने हजारों अनुयायियों की एक सभा में भाषण देते समय ब्रिटिश सरकार के सिपाहियों ने सभागृह के ताले छाल दिये । विलियम पेन को पकड़ लिया गया ।

५.३४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

उन्हें न्यायालय के सामने प्रस्तुत किया गया। इस तथ्य-कथित न्यायालय में इस प्रकरण के समय जो कुछ हुआ वह न्याय के नाम पर अन्याय ही था।

न्यायाधीश सर सेमुअल स्टर्लिंग लार्ड मेयर ऑफ़ लन्दन ने उनसे कहा—“तुम्हें राजाज्जा उल्लंघन का अपराधी पाया गया है।”

विलियम पेन ने न्यायालय को चुनौती देते हुए कहा—“प्रश्न यह नहीं है कि मैं अपराधी हूँ या नहीं। प्रश्न यह है कि मुझे किस प्रकार पकड़कर यहाँ अपराधी के कटघरे में खड़ा कर दिया है क्या यह वैधानिक है?”

विलियम पेन के इस उत्तर को सुनकर न्यायाधीश क्रोध से जल उठा। उसने पेन को अम्बर खचन कहते हुए सिपाहियों से उसे जानवरों के कटघरे में बन्द करवा दिया। पेन का उद्देश्य इंग्लैण्डवासियों में स्वातन्त्रता की भावना जगाना था। कटघरे में बन्द करके भी उनकी आवाज को तो बन्द नहीं किया जा सकता था। उन्होंने जूरी से अपरोध करते हुए कहा—“देखिये आप लोग ब्रिटेन-वासी हैं। किस प्रकार एक भद्र व्यक्ति को जानवरों के कटघरे में बन्द किया गया है। क्या यह न्याय है? आप अपने अधिकारों को छोड़ियेगा नहीं। यह मेरी ही बात नहीं एक सम्मानित देश के सामान्य नागरिक की बात है।”

जूरी ने पेन को निर्दोष घोषित किया। कुछ न्यायाधीश ने उन्हें साम, दाम, दण्ड और भेद सभी नीतियों से अपने निरन्ध्र से डिगान्त बाहर कर वे अदल रहे। उन्हें मारा गया तथा उन्हें न्यायालय का अपमान करने का अपराधी मानकर जेल में डाल दिया। बाद में उन्होंने न्यायाधीश पर मुकदमा दायर किया और वे जीते।

विलियम पेन को पाँच बार जेल जाना पड़ा। जेल में भी उनकी चिन्तन-मनन चलता रहा। इस समय में उन्होंने अपने सिद्धान्तों को व्यवस्थित स्वरूप दिया। नवी-नवी योजनाएँ बनायीं। जेल की दीवारों पर अपने सिद्धान्तों की लिखा। वह एक सम्प्रदाय के नेता से ऊपर उठकर स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के जनक बन गये। उनको ख्याति देश-विदेश में फैल गयी। यह उनकी उस धीरता का परिणाम था कि जेल भी उनके लिए बरदान बन गयी।

वे जेल से बाहर निकले तो यूरोप के एक सशक्त लोकप्रिय व्यक्तित्व के बनीं थे। उन्हें पीटर के समान महान माना गया। चार्ल्स द्वितीय, जेम्स द्वितीय, विलियम ऑफ़ ओरेंज तथा रानी एनी जैसे राज परिवार के लोग भी उनके प्रशंसक बन चुके थे। अपने इस प्रभाव से उन्होंने कितने ही लोगों को अन्याय के दमनचक्र से बचाया।

कुछ लोगों के कहने पर उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में भी जमाने का प्रयास किया। उनका यह विश्वास था कि सुशासन लाने के लिए राजनीति में दखल रखना भी आवश्यक है। किन्तु दो चुनावों के परिणाम देखकर वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि दो नाकों पर भँव रखकर चलने पर धोखा भी खाना पड़ता है। उनके उम्मीदवार दो बार

उपिता-अनुचित दोनों तरीके काय में लाने के कारण हार गये। सच तो यह है कि बिना नैतिकता व आदर्शों की पुनर्प्राप्ति के समाज की समग्र प्रगति नहीं हो सकती। अतः उन्होंने ‘एक साथ सब सधे’ की उक्ति के अनुसार ही कार्य करना आरम्भ किया।

अपने ‘विविध प्रयोग’ के लिए उन्होंने इंग्लैण्ड छोड़कर अमेरिका को चुना। चार्ल्स द्वितीय से उन्होंने ५०,००० पौण्ड में अमेरिका के एक विस्तृत भूभाग को खरीदा। व्यक्ति, समाज, देश और विश्व को सुनियोजित कहियों में जोड़ने और अपने उस चिन्तन को एक व्यावहारिक रूप देने का कार्य किया, जिसे उन्होंने जेल की काल कोठरी में बैठकर किया था। यह प्रदेश डेलवियर नदी के पास था तथा क्षेत्रफल में इंग्लैण्ड जितना ही बड़ा था। यहाँ के निवासी रेड इण्डियन, डच, स्वीडिश तथा ब्रिटिश थे। यहाँ कोई व्यवस्थित सरकार नहीं थी। यहीं उसने अपने सिद्धान्तों का बीज रूप में रोपन किया जो कालान्तर में फले फूले।

१६८२ में अक्टूबर माह में विलियम पेन का डेलवियर नदी के तटवर्ती प्रदेश में पदार्पण हुआ। इस प्रदेश के निवासियों ने उनका बड़े जोर-शोर से स्वागत किया। उनके विचार, सिद्धान्त तथा ख्याति उनके आने के पहले ही वहाँ फैल चुकी थी। उन लोगों ने उस प्रदेश का नापकरवा संस्कार उन्हीं के नाम पर पेन्सिलवेनिया कर दिया। आज यह प्रदेश संयुक्त राज्य अमेरिका की समृद्धतम स्टेट है किन्तु उस समय यहाँ विलास जंगल था।

यहाँ उन्होंने अपने उन महत्त्वपूर्ण स्वप्नों को साकार करना आरम्भ किया। १०,००० एकड़ में फिल्डेल्फिया नगर की योजना बनाई। यह एक बालक के उत्साह जैसा ही कार्य था। इतने बड़े नगर में रहने वाले कहीं से आयेगे अतः अनुभवी लोगों ने उन्हें १,२०० एकड़ में ही नगर बसाने की सलाह दी। किन्तु आज वह नगर उनके अनुमान से अधिक फैल चुका है। प्रत्येक मकान का अपना बगीचा और प्रत्येक सड़क वृक्षों से ढकी हुई बनायी गयी थी।

उनके सुशासन में सभी प्रकार से सुख-शान्ति थी। अदिवासी रेड इण्डियन तथा अन्य योरोपीय देशों से आकर बसने वाले लोग भाईचारे से रहते थे। पेन ने इस कोलोनी का अपना एक संविधान बनाया था। इसमें प्रत्येक नागरिक को अपने वैयक्तिक अधिकार मिले हुए थे। चुनाव द्वारा पार्षद चुने जाते थे तथा वे स्टेट का प्रबन्ध करते थे। प्रत्येक व्यवस्था को मताधिकार था। सभी को समान रूप से न्याय मिलने की व्यवस्था थी। धर्म व संस्कृति के मामले में सरकार कोई दखल नहीं देती थी।

पेन ने न्यायपालिका को राज्यपालिका के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रखा। यहाँ के न्यायालय में रेड इण्डियनों को भी जूरी में स्थान दिया था।

प्रत्येक नागरिक को स्वतन्त्रता ही नहीं आत्मनिर्भर तथा समृद्ध बनने की सुविधाएँ थीं उसने पेन्सिलवेनिया के

नागरिकों को प्रदान की। पेंसिलवेनिया में कलाकारों, कारीगरों तथा योग्य कृषकों को बसाने की पूरी-पूरी सुविधाएँ जुटाई गयीं। महान निर्माण, खनिज खोज तथा फल के व्यापार को प्रोत्साहन दिया गया।

कालोनी में शिक्षा व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध था। गरीबों के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। यह शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञान को परिधि में ही नहीं सिमटी हुई थी बल्कि जीवन के समग्र विकास की कसौटी पर भी खरी उतरती थी। स्वविवाद तथा निर्विक परम्पराओं से जनता को मुक्त रखा गया।

पेन का अपना परिवार सुखी तथा सम्पन्न था। उन्होंने पेंसिलवेनिया में अपना सुन्दर मकान बनाया तथा अपने परिवार के साथ आनन्दपूर्वक वहीं रहे। १७०१ में उन्हें अपनी कालोनी की प्रगति के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड आना पड़ा। उसके बाद वे पुनः अमेरिका नहीं लौट सके।

अपने 'एन ऐसे ऑन दी प्रजेण्ट एण्ड फ्यूचर पीस ऑफ यूरोप' (यूरोप की वर्तमान तथा भविष्य सम्बन्धी शान्ति पर एक लेख) नामक दस्तावेज में उन्होंने अपने गहन चिन्तन के आधार पर विश्व-शान्ति के सम्भाव्य हल तथा युद्ध की विभीषिका से मुक्ति का मार्ग सुझाया। यह दस्तावेज आज भी विश्व-शान्ति के लिये पथ प्रदर्शन कर सकता है। उनमें से बहुत-सी बातें अब अपनायी जा रही हैं।

उस काल में राज्य-तन्त्र तथा युद्ध मनुष्य की असहियों थीं। आज भीतिक-समृद्धि को ही चरम सत्य मान बैठने की भूल मनुष्य कर रहा है। विलियम पेन की तरह आज कोई व्यक्ति अपने सिद्धान्तों द्वारा भावी सुख-शान्ति का विधान रच रहा हो तो यह कोई असम्भव बात नहीं। आज वह मगण्य लगे पर कल उसका महत्त्व स्वीकार करना ही होगा।

आत्मविश्वास के धनी—

विंस्टन चर्चिल

सन् १९३९ की बात है। तब ब्रिटेन के प्रधानमंत्री थे बैनार्ड लैम्बर्ट। स्वभाव से शान्तिप्रिय और युद्ध से घबड़ाते धाले। विश्व राजनीति के घटनाक्रम में जर्मनी एक बार फिर सिर उठा रहा था। लैम्बर्ट ने हिटलर को सन्तुष्ट करने और शांति रखने का हर सम्भव प्रयत्न किया परन्तु सब निष्फल गया। हिटलर ने आखिर पोलैण्ड पर आक्रमण कर ही दिया।

उन्नत वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों के सामने पोलैण्ड की सेनाओं के पैर नहीं जम सके और यह देश तीन सप्ताह में ही हार गया। जर्मनी, बेल्जियम, हालैण्ड और फ्रान्स को रेंदता हुआ इंग्लैण्ड की ओर बढ़ने लगा। उस समय ब्रिटेन विश्व की सबसे बड़ी महाशक्ति थी। इसलिए वहाँ चिन्ता व्याप माना स्वाभाविक ही था। लैम्बर्ट के सामने अजीब किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति पैदा हो गयी थी।

उन्हें कुछ सुझ नहीं रहा था। बाहर से शत्रु सेनाओं का बढ़ता दबाव और अन्दर जनता की तथा जनता के प्रतिनिधियों की चबाव देना मुश्किल। लोग भाँग करने लगे 'लैम्बर्ट को हटाओ'— युद्ध काल में देश की इमेज को बचाने में असमर्थ नेत्र भले ही कितना लोकप्रिय क्यों न रह चुका हो, स्थिति पर कानून पाने के कारण जनता का विश्वास खो ही देता है।

अब समस्या खड़ी हुई कि स्थिति का सामना करने के लिए किसे नियमित किया जाय और कौन नेता काँटों का तान अपने सिर पर रखने के लिए आसानी से तैयार होगा। इस समस्या का समाधान भी सुझाव स्वयं ही जनता ने। 'लैम्बर्ट को हटाओ'—नारा लगाने के साथ-साथ एक पाँग और रखी 'चर्चिल को बुलाओ।' लोगों का विश्वास था कि एकमात्र यही व्यक्ति ऐसा है जो देश को संकट के दौर में से उबारकर आगे खींच ले जा सकता है।

इसके पूर्व भी चर्चिल कई महत्वपूर्ण पदों पर रहकर देश की सेवा कर चुके थे। जनता उनकी प्रतिभा, सूझबूझ, योग्यता और नेतृत्व पर अगाध विश्वास रखती थी। इतना अधिक विश्वास कि संकटकाल में अपने नेतृत्व की क्षमता उन्हें एकमात्र चर्चिल में ही देख पड़ी और चर्चिल ने सिद्ध कर दिखाया कि स्थिति में जनता का विश्वास सही है।

लैम्बर्ट ने इस्तीफा दे दिया और अगले ही दिन १० मई, १९४० को ६६ वर्ष के युद्ध विन्सटन चर्चिल ब्रिटेन के प्रधानमंत्री बन गये। उस समय उनके चेहरे पर युद्धता के धाव थे। जब लग रहा था कि इंग्लैण्ड का पतन अब निकट ही है। इस बात की पूरी सम्भावना लग रही थी शीघ्र ही जर्मन की सेनाएँ इंग्लैण्ड की धरती पर उतर जायेंगी। तब चर्चिल ने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा—“हम अन्तिम दम तक लड़ेंगे। हम समुद्र तट और हवाई अड्डों पर लड़ेंगे, खेतों और खलिहानों में हम अपना बलिदान देंगे। भले हमें इंग्लैण्ड छोड़कर बला जाना पड़े वो भी हम दुनिया के किसी भी कोने में रहकर उस क्षण तक लड़ाई लड़ते रहेंगे जब तक कि हमें पूरी विजय प्राप्त न हो जाय।”

विश्व के कई राजनेतों ने इसे कोरी डींग कहा परन्तु वह चर्चिल का आत्मविश्वास बोल रहा था। जनता में भी उसी विश्वास की प्रतिध्वनि सुनाई देने लगी और इंग्लैण्डवासियों के हौसले बढ़ गये। चारों ओर से चर्चिल के सन्देश का स्वागत हुआ। लोग घर-परिवार छोड़कर सड़कों पर निकल पड़े। सैनिक कार्यालयों के सामने भीड़ इकट्ठी हो गयी। इधर हिटलर अपनी सेनाएँ ब्रिटेन की धरती पर उतारने की तैयारी कर ही रहा था कि देश पर में फैले हुए जालूसों के जाल से पता चला। इंग्लैण्ड की जनता में अमृतपूर्व मनोबल जाग गया। कोई भी कदम खेच सफल नहीं उठाया जाना चाहिए। अन्यथा व्यर्थ ही हानि उठानी पड़ सकती है।

अपनी आत्मा से जादू फूँककर सोये हुए राष्ट्र को जगाकर चर्चिल ने खड़ा कर दिया। इस प्रभाव का मूल

५.३६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

कारण उनका अपना व्यक्तित्व और मनोबल था, जिसे उन्होंने तनिक भी असन्तुलित नहीं होने दिया। उन क्षणों का स्मरण करते हुए जब चर्चिल ने प्रधानमंत्री का पद भार ग्रहण ही किया था लिखा है- १० मई की रात को मैंने महायुद्ध के समय राष्ट्रीय शासन और सत्ता का मुख्य सूत्र हाथ में लिया। पिछली राजनीतिक हलचलों को सनसनी पैदा कर देने वाली घटनाओं के बावजूद भी मेरी नब्ब की रफ्तार बिल्कुल भी तेज नहीं हुई। मैंने सभी घटनाओं को सहज भाव से स्वीकारा।

लेकिन मैं यह नहीं छिपारूँगा कि उस रात करीब तीन बजे बिस्तर पर लेटा तो मुझे ऐसा लगा कि मेरे मन से एक बड़ा बोझ उतर गया है और वह धुन अब गया है जब मैं समग्र राष्ट्रीय मंच पर घटनाओं का निर्देशन और संचालन कर सकता हूँ। मुझे लगा कि मैं स्वयं नियति के साथ कदम मिलाकर चल रहा हूँ और मेरा सम्पूर्ण विगत जीवन, इसी जीवन की हैसियत में बीता है। इन सन्दर्भों में बिंस्टन चर्चिल का आत्मविश्वास अभिन्न रह चुका है जब ही इतनी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सन्तुलन बनाये रखने का उपाय भी बतल दिया है और वह है- घटनाक्रम को सहजता से स्वीकार कर लेना।

प्रायः लोग सरल और महत्वहीन घटनाओं के बारे में भी इतना ऊल-जलूल सोचने लगते हैं कि वे सचमुच ही बड़ी परेशानियों का कारण बन जाती हैं। जबकि बड़ी से बड़ी विन्तावनक परिस्थितियों को भी सहजता से स्वीकार करना उन्हें सहज और आसानी से बदल देने के योग्य बना देती है। सर चर्चिल ने अपने देश को घोर संकट से इसी मन्त्र द्वारा उबार लिया।

ऐसे मनस्वी और शीर्ष बल के धनी चर्चिल का जन्म ३० नवम्बर, १८७४ को इयूक ऑफ मर्लबरी के कुलीन परिवार में हुआ। उनके पिता, लार्ड रेन्डोल्फ ब्रिटिश सरकार में वित्तमन्त्री थे। सम्पन्न और उच्च प्रतिष्ठित परिवार का सदस्य होने के कारण उन्हें अच्छी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला। परन्तु उन्होंने अपने आसपास-बिखरे पड़े साधनों का कभी उपयोग नहीं किया। बचपन में चर्चिल बड़े शरारती थे। इसलिए स्कूल में सदैव ही पिछड़े रहे। पिता चाहते थे कि उनका बेटा पढ़ लिखकर बैरिस्टर बने परन्तु बेटे को तो खेलकूद और शरारतों से अवकाश नहीं था।

बैरिस्टर बनाने का विचार छोड़कर पिता ने सेना में भर्ती करवाने के लिए सैण्टहार्ट के विख्यात ट्रेनिंग स्कूल में भर्ती करवा दिया। इन परीक्षाओं में भी वे दो बार फेल हुए तब कहीं आगे बढ़ पाये। खेलकूद और शरारतों में मन लगाने के कारण इस शिक्षा में उन्होंने तेजी से प्रगति की और सैण्टहार्ट के प्रशिक्षणार्थियों की अग्रिम पंक्ति में उन्होंने अपना स्थान बना लिया।

सन् १८९६ से ९९ तक उन्होंने सैनिक जीवन व्यतीत किया। सदा से उन्मुक्त और स्वतन्त्र जीवन बिताते वाते चर्चिल को सेना का कठोर अनुशासन रास नहीं आया

और उन्होंने सीधे ही अपना कार्यक्षेत्र बदल दिया। अब वे राजनीति की ओर आकृष्ट हुए तथा इस दिशा में प्रगति करने के लिए सेना से नज़ा तोड़ लिया।

१८९९ में उन्होंने पार्लियामेण्ट का चुनाव लड़ा परन्तु किस्मत ने साथ नहीं दिया और वे हार गये। चर्चिल इससे निराश नहीं हुए। अभी क्यूब में लड़ाई छिड़ी और चर्चिल ने कुछ समय के लिए अपना ध्यान राजनीति से हटा लिया। अब वे युद्ध सम्पादकता के रूप में सामने आये। क्यूबा और बाद में भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर फिर सूडान और अफ्रीका के जोरर युद्ध के मोर्चे से उन्होंने युद्ध का सजीव वर्णन लिखकर भेजा। उनकी भाषा की तरह लेखनी भी मनमोहक थी। इनके प्रेषित युद्ध सम्पादक अखबारों में छपे तो पाठकों ने उन्हें बड़ा पसन्द किया। चर्चिल की इससे अच्छी आमदनी हुई और उन्हें प्रसिद्धि भी खूब मिली।

उनकी लेखनी और वक्तुता शैली में मनमोहकता का गुण उनके व्यक्तित्व से ही निःसृत हुआ था। वस्तुतः कला के व्यक्तित्व की इन कार्य की शैली पर किसी न किसी रूप में अवश्य ही पड़ती है इसलिए कोई भी काम प्रायेण व्यक्ति एक ही ढंग से नहीं कर सकता। चर्चिल की लेखनी ने जादू का काम किया और वह जादू उनके व्यक्तित्व से बहकर हो कागजों पर उतरा।

जोरर युद्ध में उन्हें गिरफ्तार भी कर लिया गया। कैद में उन्हें बड़ा कष्टपूर्ण जीवन बिताना पड़ा। चर्चिल को जब लग्न कि उनके प्राण छतरे में हैं तो उन्होंने बड़ा दुःस्वस्ति किया और वे भाग निकले। इन सब घटनाओं ने उन्हें विखरात और लोकप्रिय बना दिया।

इस सप्रति का उपयोग उन्होंने अपनी महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिए किया। सन् १९०० में पार्लियामेण्ट का चुनाव लड़ा और विजयी हुए। उस समय वे ब्रिटेन की संसद के सबसे छोटे सदस्य थे। पार्लियामेण्ट में उनके अनुभव और विचारों ने संसद सदस्यों में विशिष्ट बना दिया। उनकी कर्माति लगातार बढ़ती रही। वे ब्रिटिश सरकार के गृहमन्त्री नियुक्त हो गये।

सन् १९१४ में पहला विश्वयुद्ध छिड़ गया था। ऐसे समय में गृह मन्त्रालय का कार्य बड़ा ही उत्तरदायित्वपूर्ण बन गया था। चर्चिल ने अपने उत्तरदायित्व को इतनी कुशलता के साथ निभाया कि लोग दंग रह गये। प्रथम महायुद्ध की परिसमाप्ति के बाद उन्हें एक और उत्तरदायित्वपूर्ण विभाग सौंपा गया, बाद में उन्हें वित्तमन्त्री भी बनाया गया। लगभग तीस वर्ष तक ब्रिटेन की राजनीति के आकाश में छाये रहने के बाद उन्होंने अचानक राजनीतिक जीवन से संन्यास ले लिया। यह संन्यास उन्होंने प्रत्यक्षतः ही लिखा था, राष्ट्र के उत्थान की विन्ता और प्रयत्न तो वे अथिराम करते रहते थे।

राजनीति से दूर रहकर चर्चिल ने साहित्य साधना की और अंग्रेजी साहित्य को कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ देकर समृद्ध बनाया। राजनीतिक गतिविधियों में भी वे कुछ ही काल

बाद खुलकर भाग लेने लगे । अब की बार वे सीधे युद्ध क्षेत्र में कूदे थे । रणक्षेत्र के मोर्चे पर शत्रु से दटकर मुकाबला करते हुए उन्होंने अद्भुत शौर्य और पराक्रम का परिचय दिया ।

राजनीति और साहित्य के कुशल खिलाड़ी होने के साथ-साथ वे एक अच्छे चित्रकार भी थे । चित्रकारिता का अभ्यास वे खाली समय में किया करते थे । उनका एक और शौक था राजगोरी का । कुरस्त के समय वे इस प्रकार का अभ्यास किया करते थे । उनके कई चित्र और कलाकृतियाँ तो काफी लोकप्रिय भी हुए हैं । सबेरे अर्ध रात में वे अपने देश के नेता थे ।

दूसरे महायुद्ध में समय, देश जब विषम परिस्थितियों और कठिनाइयों के दौर से गुजर रहा था चर्चिल ने अपूर्ण कार्य-शक्ति और प्रभावशीलता का परिचय दिया । अन्ततः महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय हुई । उसका अधिकार श्रेय चर्चिल को ही दिया जाता है । उन्होंने अपने काल में कई महत्वपूर्ण सुधार किये, जिससे बर्मा का प्रशासन चुस्त और कड़ा हो गया ।

इन सब सफलताओं का कारण था चर्चिल का अत्यन्त विश्वास । कई पुस्तकों में उन्होंने अनेक स्थलों पर आत्मविश्वास में अपनी आत्मक चर्च की है । उन जैसा अनुकरणीय व्यक्तित्व शायद ही कोई दूसरा दिखने में आया हो ।

चर्चिल की चरित्रव्यंगिछा

यद्यपि इंग्लैण्ड को पौतिकतः प्रधान देश कहा जाता है, तो भी उसके प्रधानमंत्री श्री चर्चिल की ईप्सन्गरी और देश-प्रेम निम्न उदाहरण से स्पष्ट होता है । मि० डब्लू० एच० टामसन ने अपनी पुस्तक 'मै मि० चर्चिल का प्राइवेट सेक्रेटरी था' में लिखा है-

"मि० चर्चिल को प्रधानमंत्री की हैसियत से जो सुविधाएँ उपलब्ध थीं उनका कभी निजी कार्यों में प्रयोग नहीं करते थे । अगर वह अपनी सरकारी कार को निजी काम के लिए प्रयोग करते थे तब चाहे वह बहुत ही कमूली दूरी तय करें, मुझे यह आदेश था कि मैं चलने से पहले गाड़ी के मोटर में जितने भी ल अंकित हैं लिख लूँ और फिर वापिसी पर लिख लूँ । फिर उन मील के सरकारी गैरक के अफसर के पास भेज दिया जाता था और वह उनके (मि० चर्चिल के) निजी हिसाब में दर्ज करके उनकी कीमत वसूल कर लेता था । कौन-सा काम सरकारी है और कौन सा गैर सरकारी इसका निर्णय करने में मि० चर्चिल ने कभी सन्देह का लाभ नहीं उठाया..... मैंने तो कहीं एक देखा है कि जब वह सरकारी कार पर सरकारी काम से जा रहे हों तो उन्होंने अपने रिस्तेदारों और अपने दोस्तों को भी बिठाने से इस कारण इन्कार कर दिया कि कार को जरा-सा भी चक्कर न लगाया बड़े ।"

विश्व शान्ति के लिए समर्पित जीवन— विली ब्राण्ट

१ दिसम्बर, १९१३ को जर्मनी के वाल्टिक सागर स्थिति ल्यूबेक नगर की एक दुकान पर काम करती एक युवती हर्बर्ट ने प्रसव-काल में मालिक से छुट्टी के लिये आवेदन किया और उसकी सदा के लिए छुट्टी हो गयी । दुकानदार ने उसे सेवा मुक्त कर दिया । पति रहे नहीं थे । असमय के वैधव्य और फिर मातृत्व तथा विषम आर्थिक परिस्थितियों से हर्बर्ट को अपने पित्त के आश्रय में जाना पड़ा ।

उसी युवती के गर्भ से विली ब्राण्ट का जन्म हुआ जो आगे चलकर पश्चिम जर्मनी के चांसलर पद पर निर्वाचित हुए । तीन दशकियों पूर्व जिस देश के एक अगुआ ने विश्व शान्ति की धजियाँ उड़ा दी थीं और समूचे संसार को महायुद्ध की आग में झोंक दिया था, कैसे संयोग की बात है कि उसी देश का एक अगुआ अपने शान्ति प्रयासों के लिये नोबल पुरस्कार से अधिनन्दित किया गया । भीषण मर संहार करने वाला हिटलर यदि राजनीतिज्ञ और अपने देश के सर्वोच्च पद पर आसीन था तो उसी देश के विली ब्राण्ट भी राजनीति के पुराने खिलाड़ी हैं और जर्मन संघ राज्य के प्रधानमंत्री हैं ।

विली ब्राण्ट के बचपन का नाम हर्बर्ट एवैस्ट कार्ल फ्राइड था । जन्म के पूर्व ही पिता का साया कूर काल ने छीन लिया था । विषम परिस्थितियों में कमजोर आर्थिक दशा वाले जना की चरचरित में वे पले । वे एक कारखाने में एक्स्ट्रा-अधिक थे । कभी काम लगता और कभी नहीं । जब उन्हें अवसर छुट्टियों पर रहना पड़ता या कारखाने में हड़ताल हो जाती तो भूखों मरने की स्थिति आ जाती । ऐसे ही एक समय की बात है । कारखाने में हड़ताल थी । बालक हर्बर्ट भूख से बिलबिला रहा था । नाना बाजार गये हुए थे, ज्यादा देर हो जाने के कारण माँ ने हर्बर्ट को उन्हें पूँवने भेजा । नाना को खोजने निकले हर्बर्ट की अर्ति बोल रही थी । बाल सुलभ वृत्ति से वह बाजार की दुकानों पर छक-छाँक करने लगा । एक नानवाई की दुकान पर सजी हुई डबल रोटियाँ देखकर बालक का मन भयूर अटक गया और वह दुकान के आस-पास चक्कर काटने लगा । मालिक ने देखा तो नेहरे पर खिंच आयी भूख की वेदना से उसने स्थिति का अनुमान लगाया और हर्बर्ट को कुछ रोटियाँ दीं । खुश होता हुआ, नाना को खोजने की बात बूतकर हर्बर्ट घर दीड़ आया ।

देखा तो नाना दरवाजे पर ही खड़े मिले । हाथ में डबल रोटियों का पैकेट देखकर नाना ने पूछा । सारी बात सुनकर उनका चेहरा क्रोध से तमतमा उठा और उन्हें हर्बर्ट को उनकी डाँट-फटकार सुननी पड़ी-हमें दान भीख

५.३८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

नहीं चाहिए। इन रोटियों को तुरन्त वहीं से ज़ाबर वापिस करो जहाँ से कि ये आयी हैं ?

ऐसे संस्कारवान परिवार और लोगों के बीच पाला-पोसा हर्बर्ट यदि आगे चलकर समाजवादी दल का कार्यकर्ता बन बैठा तो कौन से आश्चर्य की बात है ? सत्रह वर्ष की आयु में ही हर्बर्ट जर्मनी सोशलिस्ट पार्टी का सदस्य बन गया। यद्यपि दल की संविदा के अनुसार अठारह वर्ष से कम आयु के सदस्यों को क्रान्ति दल में सम्मिलित नहीं किया जाता था। फिर भी हर्बर्ट को उसकी कुशाग्र बुद्धि, तीक्ष्ण विचारशीलता और उत्साह के कारण पार्टी के संयोजकों ने उनकी प्रतिभा को तत्काल उपयोग का सुझाव मिला।

हर्बर्ट फ्रांज़ के नाना की आर्थिक स्थिति यद्यपि अच्छी नहीं थी फिर भी उन्होंने अपने नाने को शिक्षा-दीक्षा की उपेक्षा नहीं की। हर्बर्ट भी पढ़ने में मेधावी तथा होशियार था फलस्वरूप ल्यूबेक के अच्छे से अच्छे स्कूल में जहाँ वह पढ़ा उसे उसकी प्रतिभा के कारण सदैव छात्रवृत्ति मिलती रही। उसकी गणना सफल परिक्रमों छात्रों में होती रही। अपने छात्र जीवन में ही वह पत्रों के लिये कभी-कभी लेख लिखने लगा था। १९३२ में मैट्रिक कर लेने के बाद तो उसने ल्यूबेक के ही एक समाजवादी पत्र 'वाक्सबोट' में काम भी कर लिया।

उसके उत्साह और समाजवादी विचारधारा के प्रति आगाध निष्ठा के कारण शीघ्र ही दल के सक्रिय कार्यकर्ताओं में उसकी गणना होने लगी। मार्च, १९३३ में बर्लिन में समाजवादियों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित हुआ। जिसमें हर्बर्ट भी भाग लेने पहुँचा। दुनिया कहाँ तक आगे बढ़ चुकी है ? अपनी पहली विदेश यात्रा में हर्बर्ट को यह देखने का मौका मिला। जर्मनी की तत्कालीन स्थितियों से वह खिन्न भी हुआ।

हर्बर्ट ने अपने देश के लिये कुछ कर सकने योग्य स्थिति निर्माण हेतु जर्मनी छोड़ लेने का निश्चय किया और विली ब्राण्ट नाम बताकर भत्तेरों की एक नाव में छुप कर नावें जा पहुँचा। उसकी गतिविधियाँ यहाँ पर प्रसर हुई। पत्रकारिता को पेशे के रूप में अपनाकर विली ब्राण्ट ने जर्मनी से भागकर आये हुए लोगों से सम्पर्क स्थापित करने का काम आरम्भ किया। समाजवादी आन्दोलन को सफल बनाने के लिये विली ने अपनी योजनाओं को मूर्त रूप यहीं देना शुरू किया।

वे कई यूरोपीय देशों में घूमे। उनकी गतिविधियों के समाचार जर्मन नाज़ियों तक पहुँचे और उन्होंने विली को देशद्रोही घोषित कर उनका नाम अपनी कासी सूची में लिख लिया। आन्दोलन को गति देने के उद्देश्य से वे १९३६ में चोरी छुपे बर्लिन भी गये और वहाँ कई महीनों तक भूमिगत रहकर उन्होंने सक्रिय सहयोगी बनाये।

जैसे-जैसे वे राजनीति के क्षेत्र में उतरते गये पत्रकारिता से उनका सम्पर्क टूटता रहा। सन् १९४७ में एक प्रकार से उनका पत्रकार व्यक्तित्व लोप हो गया और राजनीति में ही उनका सारा समय लगने लगा।

युद्ध समाप्त होने के बाद वे बर्लिन में ही स्थायी रूप से आकर रहने लगे। यद्यपि घृणा और तमर की सम्भावनाएँ सम्पन्न हो गयी थीं। नाज़ी हिटलर का भी अन्त हो गया था फिर भी बर्लिन शहर को दुनिया घृणा, संदिग्ध और उपेक्षित दृष्टि से देखती रही। वर्षों तक यही स्थिति रही। अनिश्चितता और गिरी हुई जन-भावना के कोहरे से आवृत इस नगर की व्यवस्था १९५७ में विली ब्राण्ट ने अपने हाथ में ली, जबकि वे नगर आयुक्त चुने गये और नौ वर्षों तक उन्होंने इस उत्तरदायित्व को बड़ी दक्षता से निभाया।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में जर्मनी यूरोप के दो विश्व युद्ध में झोंकने का कारण बन चुका था। दूसरे महायुद्ध में जब इस देश का पतन हुआ तो चारों विजयी राष्ट्र रूस, अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस ने इस देश की इसलिए आपस में बन्दर बाँट कर ली कि कहीं जर्मनी फिर शक्ति सँजोकर उन्हें आँख न दिखाने लगे। इस कारण जर्मनी का ही नहीं वहाँ की राजधानी-बर्लिन का भी बँटवारा हो गया। कुछ समय बाद रूस के हिस्से की जर्मन पर अरभन जनवादी गणराज्य (पूर्व जर्मनी) का उदय हुआ और अन्य तीन राष्ट्रों के आधीन भू-भाग जर्मन संघ गणराज्य (पश्चिम जर्मनी) कहलाया। विली ब्राण्ट वहाँ के प्रधानमंत्री हैं।

पूर्व जर्मनी की राजधानी पश्चिम जर्मनी बनी। विश्वयुद्ध के बाद चारों मित्र राष्ट्रों द्वारा किये गये समझौते में कालान्तर बाद भत्तेभेद आ गये। बर्लिन नगर के बीचों-बीच एक दीवार धिनकाकर शहर को आत्मा के दो भाग कर दिये गये। इससे स्थिति इतनी विस्फोटक हो उठी कि लगा तीसरे विश्व युद्ध का सूत्रपात फिर बर्लिन से ही होगा।

क्षेत्रीय राजनीति से ऊपर उठकर विली ब्राण्ट जब पश्चिम जर्मन के विदेशामन्त्री बने तो उन्होंने अपना ध्यान सर्वप्रथम इसी बिन्दु पर केन्द्रित किया और पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट देशों के प्रति सौहार्द एवं सहयोग की नीति अमलना शुरू की। सोवियत संघ, पोलैण्ड आदि देशों से मैत्री संधि कर इस दिशा में प्रभावी पग उठाये। यथार्थ स्थिति से अवगत रहते हुये भी उन्होंने पूर्व जर्मनी से मैत्री का हाथ बढ़ाया।

उनके प्रयासों से अठारह माह की लाग्नी पेशकश के बाद दूसरे विश्वयुद्ध के चार मित्र राष्ट्रों-अमेरिका, रूस, फ्रांस और ब्रिटेन के राजदूतों ने एक संधि पर हस्ताक्षर किये। जिससे बर्लिन से सम्भावित तीसरे विश्वयुद्ध का निश्चित अनुमान खत्म हो गया। पूर्वी व पश्चिमी जर्मनी दो

ध्रुवों में सहयोगी वातावरण के सूत्रपात के सिवा नोबेल शान्ति पुरस्कार के लिये इससे अधिक क्या पावता होगी ?

औचित्य और न्याय के प्रबल समर्थक— विलियम वेडर वर्न

सन् १८६० में बम्बई बन्दरगाह पर एक चाईस वर्ष का नवयुवक उतरा और उसने भारतभूमि को प्रणाम किया । यह युवक बम्बई प्रान्त की सिविल सर्विस में एक अच्छी अधिकारी बनकर इंग्लैण्ड से आया था । उसके साथी ने युवक को इस प्रकार प्रणाम करते हुए देखकर बड़ा आश्चर्य व्यक्त किया । युवक ने फिर आसपास देखा और भारतभूमि की निराली छटा को देखकर उसका मन मगूर नाच उठा । वह कहने लगा—“कितना सुन्दर है यह देश और कितने सौभाग्यशाली होंगे इस देश के निवासी ।”

युवक के साथी से अब तो रहा नहीं गया । वह जोल ही उठा—“बेवकूफ हो क्या ? आसपास कोई सुन लेगा तो क्या करेगा ।”

‘क्या करेगा—विदोष भाष से युवक ने पूछा—’ मैंने तो पृथ्वी माता की प्रशंसा की है । उस देश और भू-भाग की बन्दना की है, जिसका अन्न जल खा कर मुझे जीना है । तरुण साथी का आश्चर्य अभी भी सम्पन्न नहीं हुआ था । वह कहने लगा—फाले यह इनारा गुलाम देश है । हम यहाँ के शासक हैं और इस देश के निवासी हमारे सेवक

मनुष्य-मनुष्य में भेद की दीवार युवक को असह्य लगी और उसने पूछा—‘नहीं भाई । इस दुनिया में कोई किसी का गुलाम नहीं है । सभी लोग भगवान की संतान हैं ।’ लगता है तुम सिविल सर्विस में किसी की सिफारिश से आये हो । अन्यथा ऐसा कभी नहीं कहते । एक पढ़ा-लिखा व्यक्ति इस बात से अनभिज्ञ नहीं होता कि शासक जाति की शासित जाति और देश के प्रति किस प्रकार सोचना चाहिए ।

“मैं यह सब जानता हूँ । परन्तु इसे ठीक नहीं समझता । किसी के प्रति दुर्व्यवहार और दुर्भावना बरतना मनुष्य की तो शोभा नहीं देता” युवक ने कहा ।

दोनों साथियों में इस विषय पर देर तक कद-कित्ता चलता रहा और अंत में उस युवक का साथी अपने दोस्त से माराज होकर चला गया । अपने तर्कों और प्रश्नों द्वारा इस अवांछनीय व्यवहार नीति का विरोध करने वाला वह युवक और कोई नहीं विलियम वेडर वर्न ही था जिन्होंने इंग्लैण्ड का नागरिक होते हुए भी सत्य, न्याय और औचित्य के आधार पर भारत के राष्ट्रीय हितों का समर्पण किया ।

२५ मार्च, १८३८ को उनका जन्म एडिनबर्ग में मरजान वेडरवर्न के घर हुआ । जान वेडरवर्न भी भारतीय सिविल सर्विस में थे । परन्तु विलियम की शिक्षा-दीक्षा और पालन पोषण इंग्लैण्ड में ही हुआ । उनके पिता जब

भी भारत से कभी घर आते तो वहाँ की घटनायें सुनाते रहते । अंग्रेज सैन्य भारतीयों से किस प्रकार व्यवहार करते हैं, उनकी उद्दण्डता को कैसी विषमता से यहाँ के देखनेवासी सह लेते हैं । ये सब बातें वे चटखारे ले लेकर सुनाना करते थे ।

विलियम को इन बातों में कोई रस तो नहीं आता उल्टे ये बड़ी बुरी तरह झुल्ला उठते । एक बार जान वेडर वर्न सुन रहे थे कि उन्होंने किस प्रकार एक भारतीय की बेंतों से बुरी तरह पिटायी की और वह चुपचाप पिटाया रहा । सभी परिजन जोर-जोर से हँस रहे थे और विलियम उदास ।

पिता ने पूछा—क्यों बेटा । क्यों तुम्हें ये बातें अच्छी नहीं लगती ।

‘मैं इन्हें सुनता तो हूँ परन्तु यह भी सोचता हूँ कि एक आदमी कितना गिर सकता है और एक कितना महान हो सकता है ।’

अधिकारपूर्वक पीटने के कारण शायद मेरा बेटा मुझे महान समझने लगा हो । यह सोचकर अपने विश्वास की पुष्टि के लिए जान वेडर वर्न ने पूछा—महान कौन है ? बेटा ।

वह भारतीय आदमी, जो चुपचाप पिटाया रहा और गिरा हुआ वह जो अधिकार मद में मनुष्यता को भी भुला बैठा ।

‘नॉन सेन्स’—सुनकर पिता एकदम क्रोध से उबल पड़े तुम क्या जानते कि ये हिन्दुस्तानी कितने जंगली और फूहड़ होते हैं ।”

हिन्दुस्तानी जंगली है या फूहड़ यह तो मैं नहीं जानता परन्तु वह मेरी मान्यता है कि इन्सानियत को ताक में रख कर व्यवहार करने वाला व्यक्ति सभ्य और सुशिक्षित तो नहीं हो सकता । इस प्रत्युत्तर ने पिता की क्रोधाग्नि में आग का काम किया । मैं ने यदि बीच में बचाव न किया होता तो पता नहीं विलियम की पीठ पर कितने नीले निशान ठपर अकते ।

इतनी निष्पक्षता के साथ मानवीय आदर्श को समझने वाले विलियम में वह सूझबूझ कहाँ से आयी ? यह मानवीय प्रश्न है । स्कूली पाठ्यक्रम पढ़ने के बाद विलियम अपना समय व्यर्थ की बातों में न गँवाकर उपयोगी तथा उत्कृष्ट-साहित्य का अध्ययन करने में लगाते थे । उपलब्ध समग्र धर्म-साहित्य और ईसा के उपदेशों का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा था । स्वाध्याय-साधना के माध्यम से प्राप्त प्रेरणाओं ने उनका प्रकाशदीप बनकर मार्गदर्शन किया । मानवता सत्य और न्याय के सिद्धान्तों पर उनकी आस्था बँढ़ गई । अच्छे साहित्य का प्रभाव पाठक की मनोभूमि पर निश्चित रूप से पड़ता है । जासूसी उपन्यास, अपराध फिल्म और अस्लील साहित्य पढ़कर कोई व्यक्ति चोर, छद्म और लुटेरा बन सकता है, तो यह क्यों सम्भव नहीं कि सत्साहित्य का अध्ययन मनुष्य के व्यक्तित्व और विचार का उत्कर्ष न करे ।

स्वाध्याय और अध्ययन के निष्कर्षों पर चिंतन मनन करने से ही विलियम वेहर वर्न में अन्वैश्विकता की फर्तना का साहस जाग पड़ा। बाद में तो उन्होंने इस दिशा में सक्रिय कदम भी उठाये।

भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार की बातें सुन-सुनकर विलियम यह सोचने के लिए विवश हो गये कि हिन्दुस्तान का आदमी आखिर किस मिट्टी का बना हुआ है जो इतने अत्याचारों को भी चुपचाप सहन कर लेता है, उफ़ तक नहीं करता। यहाँ के जन-जीवन को निकट से देखने की इच्छा उनमें दिनोंदिन बलवती होने लगी। इसके पूर्व भारत के जनमानस को समझने के लिए इस देश से सम्बन्धित साहित्य पढ़ना आरम्भ किया।

एडिनबर्ग में इस विषय में जो भी पुस्तकें मिल सकती थीं बूढ़-बूढ़कर पढ़ डालीं। तत्कालीन भारतीय जनमानस के प्रति उनका यह दृष्टिकोण बना-इस देश की जनता में राष्ट्रीय चेतना का अभाव है। अन्यथा वहाँ की संस्कृति तो इतनी महान है कि नये विश्व का कया-कल्प कर सकती है।

भारत के लोग आवश्यकता से अधिक भाग्यवादी और परिस्थितियों से समझौता कर उसे स्वीकार करने वाले हैं। जब इस युग में कर्मवाद और संघर्ष में विश्वास करने वाले व्यक्ति और जातियाँ ही अपने अहं और अस्वित्त को सुरक्षित रख सकती हैं।

विलियम ने इस निष्कर्ष पर पहुँचकर ही संतोष नहीं कर लिया। भारतीय समाज की इस दशा को बदलने का प्रयास भी उन्हें आनुषंगिक कर्तव्य लगा। पहले जिस प्रकार हो भारत पहुँच कर वहाँ के लोगों में राष्ट्रीय चेतना का जागरण करना चाहिए-यह निश्चय कर के इसे पूरा करने का मार्ग ढूँढ़ने लगे। मनुष्यत्व की गरिमा और वैभवं को समझने वाले तथा उसमें निहा रखने वाले व्यक्ति अपने लक्ष्य को कभी साक में नहीं रखते। एक काम पूरा कर लेने के बाद अगला कार्य वे पहले से ही भिन्न कर लेते हैं। वस्तुतः उनका लक्ष्य वह रहता भी नहीं है। वह तो जीवन ध्येय की प्राप्ति के मार्ग का एक दूरी सूचक पथर मात्र है।

विलियम ने महसूस किया कि भारत प्रवास का मूल कारण बताया गया तो शायद पिताजी न जाने दें। इसलिए उन्होंने भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षाओं में बैठने की अनुमति माँगी। अपने बचपन में पढ़ा रहे पुत्र के व्यवहारों से पिता शीघ्र ही तैयार हो गये। विलियम वेहरवर्न ने परीक्षाएँ दीं और उत्तीर्ण भी हुए। तुरन्त उन्हें नियुक्ति भी मिल गयी और बाईस वर्ष की आयु में ही वे निर्धारित कार्यक्षेत्र में आ पहुँचे।

भारत की सिविल सर्विस में वे सात वर्ष तक रहे परन्तु उनके अधीनस्थ कर्मचारियों में कभी यह अनुमन नहीं किया कि हमारा अफसर अंग्रेज है। सम्भव, नष्ट और शिष्ट अनोचित व्यवहार, दुःख-दर्द की घड़ियों में जिन लोगों की भी खबर मिली विलियम भाग उठते। पते ही

वह परित्यक्त हो या अपरिचित। इस मानवीय व्यवहार ने उन्हें अधिनस्थों का श्रेष्ठ बन दिया। अभी तक इतना सम्मान अंग्रेज कोई देखने में नहीं आया था। शासकीय सेवा में होते हुए भी वे आस-पास के लोगों में स्वाभिमान पैदा करने का प्रयत्न करते हैं।

परन्तु उनके सद्बिचारों का विपरीत परिणाम सामने आया। वे भारतीय कर्मचारी जो पहले समय-असमय पर अंग्रेज अधिकारियों को बुरा-भला कहा करते थे अब विलियम की प्रशंसा करने लगे। विलियम को यह समझते देर न लगी कि इस प्रकार भारतीयों में राष्ट्रीय चिंतन तो नहीं बरन् अंग्रेजी शासन के प्रति निष्ठा भक्ति अवश्य जाग रही है। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने विलियम की इस मनवाही उपलब्धि पर उन्हें सम्मानित भी किया और 'सर' की उपाधि से विभूषित किया।

अपने प्रवासों का यह परिणाम देखकर विलियम को बड़ी बिरासा हुई। उन्होंने गलती को पहचाना। जितनी सफलता के साथ वे स्वतंत्र रहकर चेतना जगाने का कार्य कर सकते हैं उतनी सफलता अंग्रेज सरकार का एक पुर्जा बनकर प्राप्त नहीं की जा सकती।

उन्होंने तुरन्त सिविल सर्विस से त्याग पत्र दे दिया और स्वतन्त्र रूप से काम करने लगे। १८८७ में उनका नाम सर एलेन ह्यूम के साथ उभरा। वे स्वयं तो काँग्रेस के गठन और उसकी गतिविधियों का संचालन करने के कारण ही विख्यात हुए, विलियम भारतीय राष्ट्रवादी के रूप में राजनीति के क्षितिज पर चमके। यद्यपि राष्ट्रीय काँग्रेस के विकास में उन्होंने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। १८९० में वे बम्बई काँग्रेस अधिवेशन के सभापति भी चुने गये। इससे उनके सजातीय बंधु बड़े नाराज हुए। सभापति के पद से उन्होंने जोरदार भाषण दिया और भारत राष्ट्र के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की।

इस भाषण को लेकर सभी क्षेत्रों में खलबली मच गयी। एक उच्च पदस्थ भू० पू० अंग्रेज अधिकारी भारतीय हितों के पक्ष में इतनी दृढ़ता और स्पष्टता से बोल सकता है। वह सभी के लिए आश्चर्य की बात थी। परन्तु विलियम को स्वयं को तो बड़ा संतोष हुआ। औचित्य और अत्यन्तार के विरुद्ध उन्होंने पहली बार अपना आक्रोश सार्वजनिक रूप से व्यक्त किया था। उनके मित्रों ने कहा अंग्रेज होकर तुम अंग्रेज राज्य के हितों पर घोट कर अच्छा नहीं कर रहे हो।

"महाशय ! मैं अंग्रेज होने से पहले इन्सान हूँ और इन्सान होने के नाते मुझसे यह कभी सहन नहीं होता कि किसी के अधिकृत हितों पर स्वार्थ के बशीभूत होकर किसी भी प्रकार आक्षेप किया जाये।"

मित्रों ने उन्हें यह भी समझाया कि यह उन जैसे देशभक्त को श्रेष्ठा नहीं देता तो विलियम बोले-"यदि किसी देश और समाज की कमजोरियों का अनुचित लाभ उठाना ही देशभक्ति है तो मुझे स्वप्न में भी उसकी चाह नहीं।"

एक बार उन्होंने कहा था—“मैं अपने शेष जीवन को भारत के लिए ही अर्पित करता हूँ। स्वयं को भारत का नागरिक मानकर मेरा सिर गर्व से ऊँचा हो उठा है। सचमुच स्वयं को इस देश और वहाँ की जनता के लिए अर्पित कर दिया। इंग्लैण्ड में वे ब्रिटिश कॉंग्रेस कमेटी के सदस्य बनकर और पार्लियामेंट के मेम्बर के रूप में भारतीय हितों की वकालत करते रहे।

१९१० में उन्हें फिर कॉंग्रेस अध्यक्ष चुना गया। इस पद पर रहकर उन्होंने कॉंग्रेस के अंदरूनी विवादों को जिस सूझबूझ के साथ सुलझाया वह उनकी भारत-प्रेम का ही परिचायक है। उन्होंने भारत में एक ऐसा वर्ग तैयार किया जिसने आगे चलकर स्वराज्य आंदोलन का नेतृत्व किया। गोपाल कृष्ण गोखले, महामना बालगोविंद और लोकमान्य तिलक जैसे अनेकों विभूतियों को बुढ़ने और आगे बढ़ाने का अविनाश श्रेय भाई विलियम बेटर वर्न को ही है।

सन् १९१८ में उनका देहान्त हो गया। उनकी मृत्यु के समय महादेव गोविंद रानाडे ने कहा था “इस समय जब स्वराज्य का प्रश्न पहली भूमिका में है। विदेश में भारतीय हितों की आवाज उठाने वाला व्यक्ति कोई भी यदि रहते हैं तो वे वे। भारतीय हितों के लिए ही नहीं समूचे मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए जीवन भर संघर्ष करते रहे।” अपने जन्म समाज का बैर विरोध और चुनौती भी उन्हें अपने पक्ष से नहीं डिग्न सकी। आज भी संसार को ऐसे ही साहसी शूरवीरों की आवश्यकता है।

विल्सन की विपत्ति पाठशाला

अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन से बार्ता करते हुए एक बार एक पत्रकार ने पूछा—“आपने किस विद्यालय में शिक्षा पाई?”

विपत्ति की पाठशाला में विल्सन ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया। एीजिये उस पाठशाला का विवरण नीचे बहिये।

विल्सन की आयु तब तक दस वर्ष की थी। इस आयु के बच्चे कक्षा ४ उत्तीर्ण कर लेते हैं। सम्पन्न परिवारों के बच्चे अपनी योग्यताओं और बढ़ा लेते हैं और मनुष्य जीवन का बहुत-सा हास-उत्साह भी जा लेते हैं, पर अभागे विल्सन के लिये घरघरे भोजन मिलना भी कठिन था, कक्षार्थ बेचारा क्या उत्तीर्ण करता?

एक दिन बालक ने विचार किया यों परिस्थितियों से हार नहीं माननी चाहिए। बच्चा हूँ तो क्या? बाहर निकल कर भाग्य से दो बातें करनी चाहिए और यह विचार आते ही विल्सन घर से निकल पड़ा। वह उसके पाठशाला की पहली कक्षा थी, जिसमें उसने सीखा आत्मोन्नति के लिये भाग्य और मोह-मया में बैठे न रहकर परिस्थितियों से संघर्ष करना।

लोग संघर्ष से घबरते हैं, पर विपत्ति का कस मीठा होता है। उसी से अपनी शक्तियों का पता चलता है।

उत्साह का विकास, चरित्र में दृढ़ता और जीवन में ऐश्वर्य एवं तेजस्विता आती है। शिशु-चरण से दूसरी कक्षा में प्रवेश करने पर वह अनुभव विल्सन ने पाये।

बीस वर्ष की आयु तक विल्सन ने बेल हकि, बोझा ढोया, लकड़ी काटी, होटलों में बर्तन साफ किये, जंगलों में भ्रम। प्रतःकाल से लेकर सायंकाल तक उसे परिश्रम ही परिश्रम का पत्र पढ़ना पड़ता था। १० वर्ष की इस कठिन श्रम-साधना के परिणामस्वरूप उसे ८४ डालर मिले। यह धन इतना था कि कोई पूरी खुराक का व्यक्ति उससे १ माह भी पार न पाता।

विल्सन ने इस रूपों का उपयोग आत्म-शक्तियों के विकास में किया। जिज्ञा के स्वाद और सिनेमा या थियेटर देखने में नहीं। विल्सन कहते थे—“तब मुझे एक डालर ऐसा लगा था जैसे वह चन्द्रमा जैसा अत्यन्त धारा और मृगतु मस्तु है।”

ऐसे बचान विचार-संकीर्णता था कंजूसी न थी। बालक उस धन को आत्म-कल्याण में लगाना चाहता था। उसने अनुभव किया कि-शिक्षा और बौद्धिक क्षमता के अभाव में लोग नहीं बढ़ पाते हैं। इसलिए पढ़ना अनिवार्य है-पर पढ़ा कैसे जाय? यह समस्या थी। विल्सन ने देखा कि निराश्रित लोग खदब पढ़ने में लगते हैं, शेष समय व्यर्थ गँवाया करते हैं यदि वत्सीनता और परिश्रम से पढ़ा जाय तो उसकी पढ़ाई एक माह में ही पूरी हो सकती है।

फिर क्या था, उसने वर्ष के श्वारस महीने काम और एक महीने पढ़ाई। इस तरह ११ वर्ष तक उसने कमाई भी की और पढ़ाई भी। आजीविका भी जुटाई और ज्ञान भी बढ़ाया। अध्यवसायी जीवन सच्चाई और चरित्र ने उसे दृढ़ता और शारीरिक शक्ति दी। इस तरह उसने अभावों, आसक्तियों और अज्ञान के तीनों दरवाजे बन्द किये और उन्नति का पुण्य प्रमाण-पत्र उपलब्ध कर लिया।

विल्सन की यह संघर्ष शक्ति और परिश्रमशीलता काम आई, वह जिस क्षेत्र में बड़े लोगों ने सम्मान दिया। अनुभवी व्यक्ति और चरित्रवान व्यक्ति ही लोक-नेतृत्व में सफल होते हैं वही विल्सन के साथ भी हुआ। विल्सन अन्त में अमेरिका के लोकप्रिय नेता हुए। देश ने उन्हें राष्ट्रपति के अति सम्माननीय पद पर प्रतिष्ठित किया। दरअसल यह प्रतिष्ठा विल्सन के शरीर की नहीं पुणों की थी, जिनका विकास उन्होंने विपत्ति की पाठशाला में किया।

संस्कृत जनजायक-

हिटलर

ऑस्ट्रेलियान जर्मिक दस का एक युवा सदस्य राजनीति के क्षेत्र में आगे आना चाहता था। उसका प्रभावशाली व्यक्तित्व, अन्तर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय राजनीति में गहरी पैठ, उत्तम वक्तृत्व शैली, सिद्धान्त निष्ठा सभी कुछ उसमें थे जो उसे सफल राजनीतिज्ञ बना सकने में समर्थ थे

किन्तु इसकी प्रगति कबहुँ की-सी मंदगति से हो रही थी। अपनी इस मंदगति से वह बहुत ही दुःख रहता था।

१९५२ में बड़ा जोर लगाने पर वह संसद सदस्य बन पाया किन्तु फिर उसकी प्रगति पर लगभग विराम-सा लग गया। "मैं सफल क्यों नहीं हो पा रहा हूँ?" इस पर उसने गहन चिन्तन किया। अन्तर्निरीक्षण के दौर में उसे पता चला कि उसके व्यक्तित्व में एक भारी कमी है। उसमें सहनशीलता का अभाव है। इस सहनशीलता के अभाव के कारण वह लोकप्रिय नहीं हो पाता। उसके साथी उसका साथ छोड़ जाते हैं। उसे सब कर्तव्य भी स्मरण हो आतीं जो उसके व्यवहार में झलकी थीं और जिन्हें शालीन नहीं कहा जा सकता।

असहनशीलता व शीघ्र ही क्रोधित हो जाने के कारण उसने प्रधानमंत्री, गवर्नर जनरल तथा चीफ जस्टिस को भी अपराध कह दिये थे। यह अमर्यादित व्यवहार उसकी प्रगति में बाधक था। एक बार तो उसने गवर्नर जनरल पर पानी का गिलास ही फेंक दिया था।

आत्म निरीक्षण करने के फलस्वरूप उसने अपने स्वभाव को सुधारने का दृढ़ निश्चय कर लिया। अधिक दल में उन दिनों साम्यवादियों का वर्चस्व था। उनसे सैद्धांतिक मतभेद होते हुए भी उसने आत्मीय व शालीन व्यवहार रखना आरम्भ कर दिया। उसके मित्र जो पहले उससे रह हो गये थे वे भी उससे प्रसन्न रहने लगे। साम्यवादी वर्ग भी उसके व्यक्तित्व का लोहा मानने लगा।

अपनी इस भूल सुधार के द्वारा उसने ऑस्ट्रेलिया की राजनीति में एक नया मोड़ ला दिया। दिसम्बर, १९७२ में ऑस्ट्रेलिया में पूरे २३ वर्षों के बाद अधिक दल का नेता अपनी सरकार बनाने में सफल हुआ था। वह और कोई नहीं बड़ी राजनेता था जो अपने क्रोधी स्वभाव के कारण अन्य सब योग्यताओं के रहते हुए भी अलोकप्रिय बना हुआ था। वह व्यक्ति है ऑस्ट्रेलिया के प्रधानमंत्री श्री एडवर्ड गैर डिटलाम।

उनका यह आक्रोश जो समय-समय पर प्रधानमंत्री, गवर्नर जनरल अथवा अपने किसी दलीय साथी के ऊपर प्रकट हो जाता था अपमानजनक शब्दों के रूप में। वह यों ही नहीं था। वह उनकी गलत नीतियों के कारण था। किन्तु उस समय वह व्यर्थ रहा था। जब तक कि स्पर्धालोकप्रियता अभिन्त कर अपनी श्रेष्ठ नीतियों से जनसाधारण व विश्व को लाभान्वित न कर दें।

शासन सूत्र हाथ में आते ही उन्होंने अपनी उन विश्व द्विदकारी नीतियों तथा राष्ट्र द्विदकारी कार्यक्रमों को पूरा करना आरम्भ कर दिया। चुनाव के समय उनकी पार्टी ने जनता को जो आश्वासन दिए उन्हें पूरा करने में उन्होंने कुछ भी देर नहीं की। अपने वचनों के फलस्वरूप कठोर देश जनता के मन में उनके प्रति विश्वास तो अग्न हुआ ही, विश्वास भी उनके इस कार्य को देख आश्चर्यचकित रह गया।

श्री डिटलाम का जन्म ऑस्ट्रेलिया के एक मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। उनके पिता किसी समय

कामन वेल्थ क्राउन में सॉलीसीटर रह चुके थे। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा प्राइमेट स्कूलों में पूरी करते हुए वे सिडनी विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। यहाँ से उन्होंने बकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की और बकालत आरम्भ कर दी। वे सफल वकील व सफल राजनीतिज्ञ दोनों हैं।

उन्होंने प्रधानमंत्री बनते ही विश्व में फैली हुई गुटबन्दी को समाप्त करने के प्रयास आरम्भ कर दिये। उन्होंने सत्ता हाथ में आते ही ताईवान से सम्बन्ध तोड़ लिए तथा साम्यवाद व पूँजीवाद की रस्साकस्सी को रोकने के लिए साम्यवादी चीन से आतपीत आरम्भ कर दी। सिडनी स्थित रोटेसिमाई केन्द्र को बन्द कर दिया। यही नहीं उन्होंने अमेरिका के राष्ट्रपति निक्सन को वियतनाम युद्ध बन्द करने के लिए उनकी नीतियों के विरुद्ध पत्र लिखा। यह निश्चय ही विश्व में फैली हुई गुटबन्दी को समाप्त करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम थे। अब तब ऑस्ट्रेलिया इंग्लैण्ड व अमेरिका की हॉ में हॉ मिलाया करता था। अब उसकी आवाज एक शान्तिप्रिय राष्ट्र की बन चुकी है। इसका श्रेष्ठ द्विदलाम को ही जाता है।

उन्होंने भारत के प्रति बहुत विवेकपूर्ण दृष्टि रखी। वे एक सुलझे विचारों के राजनीतिज्ञ के रूप में उभरे। ५० जर्मनी के चांसलर विली ब्राण्ट की तरह डिटलाम भी विश्व सम्पुट में विरकाए रखते। अपने भारत प्रवास के दौरान उन्होंने नई दिल्ली में हुए एक संवाददाता सम्मेलन में कहा था-"मैं आशा करता हूँ कि बंगला देश की वस्तुस्थिति को पाकिस्तान तथा चीन स्वीकार करेंगे। यदि इस बात को लेकर युद्ध हुआ तो भुझे बड़ा आश्चर्य होगा।" उनके इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि कोई सिरफिया राष्ट्रमयक ही युद्ध को बढ़ावा दे सकता है।

अपनी भारत यात्रा के दौरान उन्होंने भारत तथा ऑस्ट्रेलिया के सम्बन्धों को और भी दृढ़ किया है। पाकिस्तानी युद्ध बन्धियों के सम्बन्ध में भारत ने जो प्रस्ताव रखे हैं उसको उन्होंने बड़ी सराहना की।

व्यक्ति जब अपने आप पर नियन्त्रण रखने में सफल हो जाता है तो दूसरे अपने आप नियन्त्रण में आ जाते हैं। उन्होंने अपने स्वभाव पर नियन्त्रण रखकर अपने दल के सदस्यों का विश्वास प्राप्त किया था। अपनी असाधारण योग्यता व वक्तृता के बल पर वे सामान्य सदस्य से प्रगति करते हुए १९६० में अधिक दल के उपनेता चुने गये। अब तक उनकी पार्टी कई गुटों में बँटी थी उसे उन्होंने कम किया। १९६७ में वे दल के नेता चुने गये तथा १९७२ के चुनाव में उनके दल को विजय मिली और वे प्रधानमंत्री बनाए गये।

प्रधानमंत्री बनने के बाद उन्होंने राष्ट्रीय मोर्चे पर भी बहुत काम किया। उन्होंने अनिवार्य सैनिक भर्ती समाप्त कर दी। आदिवासियों की प्रगति के लिए उन्होंने अधिगृहीत भूमि का अग्रद्वन्द्वन उनमें कर दिया ताकि वे कृषि व वन्यपशुपन करके आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हो सकें। महिलाओं को वहाँ पर पुरुषों से कम वेतन मिलता था।

उस अधिनियम पर पुनर्विचार करके उन्होंने महिलाओं के लिए समान वेतन पाने का अधिनियम बनाया। इन महत्वपूर्ण निर्णयों को लेने के कारण वे ऑस्ट्रेलिया के न्यायप्रिय, निर्णय कुशल, योग्य, प्रतिभाशाली तथा लोकप्रिय प्रधानमंत्री बन गये।

श्री हिल्लिय की नीतियों को देखते हुए वह आज की जा सकती है कि सभी देशों में ऐसे ही विश्व-कल्याण के समर्थक राष्ट्रनायक हों तो युद्ध की सम्भावनाएँ बहुत कम हो जायें। एक सामान्य व्यक्ति से ऊपर उठकर प्रधानमंत्री पद तक पहुँचना भी उनकी कर्मनिष्ठा व आत्मविश्वास का बहुत बड़ा प्रमाण है। इनसे प्रत्येक महत्वाकांक्षी व्यक्ति यह प्रेरणा लेता रहेगा कि प्रयत्न करने पर सफलता सुनिश्चित है, साथ ही साथ आत्म-निरीक्षण व आत्म-विकास के प्रयास भी अनिवार्य हैं। अस्तुतः नेतृत्व की क्षमता इन्हीं व्यक्तियों में उत्पन्न हो पानी है जो सच्चे नागरिक को-भ्रमण के एक जागरूक और नैतिक सदस्य की योग्यता भी अर्जित कर सके। कहना नहीं होगा हिल्लिय ने इन मूलभूत आधारों को गम्भीरतापूर्वक समझते और स्वीकार करते हुए ही यह पात्र निश्चित की थी।

पुर्तगाल के चाणक्य—

सालाजार

पुर्तगाल का एक छोटा-सा गँव सन्त कोम्बा। एक १५ वर्षीय प्रतिभा और लगन का बनी युवक अपनी बीमार माँ की सेवा में संलग्न है। कहने को तो यह युवक कोम्बारा यूनिवर्सिटी का अर्थशास्त्र का प्रोफेसर है पर उसकी यह सेवा भावना देखने से लगता था कि वह मानवता के प्रति अदृढ़ ब्रह्मा वाली कोई सन्त आत्मा है। तभी तो पुर्तगाल के अच्छे-अच्छे सामन्त समाज के हित-चिन्तक और राजनीतिक आज शहरों के महल छोड़कर उस गँव में पहुँचे थे एक आग्रह लेकर। वहाँ पहुँच कर इन लोगों ने प्रार्थना की आज देश को भ्रष्टाचार, दमिदय, अनाचार आदि से बचाने के लिये आपको आवश्यकता है, आपने हमारा मार्गदर्शन और नेतृत्व न किया तो पुर्तगाल कहीं का नहीं रहेगा।

उत्तर मिला—“अभी तो मेरे सामने मेरी माँ की सेवा की बात है इसलिये कोई निश्चित उत्तर पीछे मिलेगा जब लोग जा सकते हैं।”

प्रजा के हित की तब तक उपेक्षा हुई जब तक राज्य सत्ता वैभव विलास और महत्वाकांक्षाओं से ग्रस्त हुई चले वह प्रजातन्त्र शासन पद्धति रही हो अथवा राजतन्त्र। वह कहना गलत है कि राजतन्त्र में भ्रष्टाचार की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं प्रजातन्त्र में कम। सच तो यह है कि सत्ताधिकारियों का त्याग, सेवा भाव और उसकी प्रजा के हित में सुदृढ़ निष्ठा ही राज्यों और राष्ट्रों में सुख-समृद्धि का विकास करती रही है। छोटा-सा देश पुर्तगाल उसका एक

व्यक्त उदाहरण है। इस देश के प्रजातन्त्र में राजतन्त्र के दर्शन का समन्वय यह अनुभव देता है कि प्रजातन्त्र जिसे चुनकर आये प्रतिनिधि नहीं त्यागी-तपस्वी, सेवाभावी प्रशासक चलाते हैं भले ही उनकी संख्या सात हो या कुल एक।

इन पंक्तिओं में जिस व्यक्ति की चर्चा की जा रही है वह ऐसा ही एक व्यक्ति है। चन्द्रगुप्त के महामन्त्री चाणक्य की तरह पुर्तगाल के प्रधानमंत्री डॉ॰ आन्टोनियो डी, ओलिवेरा सालाजार। उस समय तो उन्होंने आग्रह-कर्त्ताओं को लौटा दिया पीछे माँ अच्छी हो गई तो खासाभर अपने कर्त्तव्य पर विचार करने लगे। आज तक कभी भी कोई काम अच्छी तरह विचार किये बिना नहीं किया था। बहुत दूर तक की सोचकर निर्णय लेने के इस गुण ने ही उसका जीवन सशक्त, संयत तथा प्रतिभासम्पन्न बनाया था। प्रोफेसर होने पर भी देश के बरिष्ठ, लोग उसे जानते और पूरी तरह उससे प्रभावित थे।

जब उन दिनों की है जब पुर्तगाल में जबरदस्त प्रशासनिक अस्थिरता चल रही थी। वहाँ के सम्राट कारलोस ने सत्ता के पद में प्रजा को जितना पिचोड़ना सम्भव था पिचोड़ा। भोग-विलास और अमोद-प्रमोद में जनता का खिन्न धन खर्च किया जा सकता था किया, तो खाने खाती होने ही से फलतः कठों का बोझ बढ़ा, यईगई, भुखमरी ने अब दबोचा यह तो अच्छा हुआ कि प्रजा जागरूक भी उसने विद्रोह कर दिया और निरंकुश राज्य सत्ता का अन्त कर दिया अन्यथा न जाने क्या से क्या हो जाता।

प्रजातन्त्र की स्थापना कर दी गई पर उससे जो आशा की थी गई थी वह कुछ ही दिन पीछे बालू के ढेर की तरह धूसरित हो गई। राजनीति में नये चेहरे आये पर उन सबकी महत्वाकांक्षाएँ, लियसार्थ कारलोस से बढ़-बढ़कर थीं। वे प्रजा के धन पर ही पूरी हो सकती थीं सो उनमें भी लोभ, क्रूर, कपट का बही बाज धारण कर लिया जो सभाद से अभी-अभी उतरवाया गया था। राजनीति की अस्थिरता प्रजा की अस्थिरता के रूप में प्रतिबिम्बित हुई साम्प्रदायिक दंगे, भ्रष्टाचार और प्रशासनिक कर्मचारियों में रिश्ता आदि के झगड़े बढ़ गये। सन् १९०८ से १९२४ तक के १९ वर्षीय पुर्तगाली प्रजातन्त्र में ४६ मन्त्रिमण्डल बदले, २० साम्प्रदायिक दंगे हुये, आठ राष्ट्रपति चुने गये जिनमें से ३ ने त्यागपत्र दे दिया एक निकाल दिया गया, एक की हत्या कर दी गई।

पुर्तगाल के शुभचिन्तक एक बार फिर सालाजार के पास गये। सलाजार ने अब तक निश्चित कर लिया था कि देश में अनुशासन स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि शासनतन्त्र की सारी शक्तियाँ किसी विश्वसनीय देशभक्त के हाथ में सौंपी जायें। उन्हें अपने आप पर पूरी तरह आत्मविश्वास था। वे राज्यसत्ता में आकर भी कायिरी-कंचन से अपने आपको मुक्त रख लूँगा सो अब दुकरा वही लोग आये तो उन्होंने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

५.४४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

नेतृत्व सम्हालने से पूर्व सालाजार ने स्पष्ट कर दिया कि उनकी योजनाओं में कार्यपद्धति में कोई दखल नहीं देगा। लोगों को उन पर पूरा और पक्का विश्वास था इसलिए उनके इस कठोर रुख को भी सहर्ष अपनाया गया। इस तरह सालाजार ने अपना उदाहरण देकर सिद्ध कर दिया कि यदि व्यक्ति अपने आप में निष्काम और निष्पाप है। यदि उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार का छल-कपट, दम्भ और पाखण्ड नहीं तो वह मन्त्र और पिता की तरह कठोर होकर भी शासन कर सकता है।

सालाजार को उपनिवेशित देश अपना शत्रु मानते हैं। गोआ के मामले में सालाजार इस देश के भी शत्रु रह चुके हैं पर जहाँ तक उनकी प्रजा की सेवा और देशभक्ति की बात है उनकी सराहना न करना मानवीय सम्भ्यता का गलत मूल्यांकन ही हो सकता है।

राजनीति का प्रारम्भ सालाजार ने एक वित्तमन्त्री की हैसियत से १९२८ में प्रारम्भ किया था। उन्होंने शासन में आने पर भी अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाई नहीं। वित्तमन्त्री के तब उनका वेतन ४००० इस्कुडस या कुल ४६ डालर था और ४ वर्ष बाद जब वे प्रधानमन्त्री बन गये तो बहुत दबाव के बाद कुल १७८ डालर लेना स्वीकार किया बिना वे अपने घर खर्च से अधिक खर्च करते रहे और जहाँ हुआ धन देश के दूसरे आवश्यक कार्यों में खर्च करते रहे। उनका कहना था—धन प्रजा का है प्रशासक उसमें से अपनी सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति भर के लिये ले सकता है, शेष धन प्रजा के हित में लगाना चाहिए।

सालाजार ने सत्ता में आते ही अपना सारा ध्यान व्यवस्था, आर्थिक साधनों के विकास, सामाजिक बुराइयों के वन्मूलन और बेरोजगारी को जड़ से समाप्त करने में लगा दिया। प्रशासन के प्रति उनकी दृढ़ता और कठोरता के कारण कुछ ही दिन में उखड़ी व्यवस्थाएँ अपने लगीं और छोटा-सा देश होने पर भी पुर्तगाल दुनिया के पर्दे पर शीशे की भाँति चमकने लगा।

इस बीच किसी ने वह भी नहीं जाना सालाजार रहते कहाँ हैं, खाते और पहनते क्या हैं, उनके घर में मेज, कुर्सीयाँ और आलीशान सोफासेटों के साथ राजवैभव प्रदर्शित करने वाले ऐसी अशरत हैं भी या नहीं, विदेशी शराब, महँगे कलाकारों के चित्र और गगनचुम्बी राजप्रासाद भी हैं अथवा नहीं? एक दिन पत्रकारों का दल फल लगता हुआ मुश्किल से प्रधानमन्त्री सालाजार के निवास पर पहुँच पाया वहाँ पहुँचकर उन सबने जो कुछ देखा उसे देखकर सबने दाँतों तले अँगुली दबा ली। क्या वह उसी सालाजार का महल है जो प्रशासन के मामले में पहाड़ की तरह मजबूत और ज्वालामुखी की तरह उड़पन वाला है। यह लोग कठिनाई से निश्चित कर सके।

सालाजार का घर एक साधारण घर, कपड़े ठीक शिक्षकों जैसे, प्रातःकाल नियमित रूप से जग्यान की उपासना, घंटों एकांत में बैठकर अध्ययन, न कोई चमक-दमक और न कोई ज्ञान शौकत, ठीक चाणक्य जैसे

सालाजार को देखकर देशवासियों के मस्तिष्क प्रबुद्ध से झुक गये। उन्हें यही कहते बने यदि सालाजार इतने त्यागी न होते तो सम्यद पुर्तगाल की उखड़ी व्यवस्था को सम्हाल भी न पाते।

आज इस देश की राजनैतिक अस्थिरता पर नियन्त्रण पाने के लिये सालाजार जैसे ही विप्लवी और विद्रोही देशभक्तों की आवश्यकता है जो देश को अपने त्याग, तप, सेवा और परिश्रम से सँघेकर हरा-भरा बना सकें। प्रजा को अपने मोट का सदुपयोग अब ऐसे ही निस्पृह प्रशासकों की खोज में करना चाहिए ऐसा व्यक्ति एक भी मिल सके तो काफी है वह चाणक्य और सालाजार की तरह अकेला ही प्रजावन्द को चलावे तो भी कुछ बुरा नहीं।

कैलिफोर्निया के गान्धी—

सेसार कावेज

अमेरिका का डेलानो नगर। सन् १९४१ की बात है वहाँ के एक थियेटर में बैठे एक किशोर से मैनेजर वार्ता रहा था। बात यह थी कि थियेटर में व्यवस्था के अनुसार गोरी चमड़ी वाले अमरीकनों को बैठने का अलग से स्थान था। वह किशोर मैक्सिकन (चिकानी) नस्ल का अमरीकी ही था जो दृष्टापूर्वक गोरी की सीट पर बैठ गया था। कुछ और दर्शकों ने इसे उठाना चाहा तो वह नहीं उठा। इस बात पर मैनेजर भी आ गया और उसे उठाने के लिए जोर देकर कहने लगा। किशोर जिसका नाम 'सेसार कावेज' था, का कहना था कि हम भी तो इन्सानों में से ही, अमरीकन नागरिक हैं। एक ही प्रगतिशील देश के नागरिकों के अधिकारों में यह असमानता क्यों?

सत्ता का पद किसी भी व्यक्ति, जाति या समाज को पकड़ कर सकता है। गोरी नस्ल के लोगों का शासन था इसलिए वे अपने विशिष्ट स्थान पर किन्हीं नीच जाति के लोगों को बैठाना कैसे सहन करते। कावेज ने कहा—अगर आपको मुझे उठाना ही है तो मैं जिना हाथ-पैर तुड़वाये नहीं उठूँगा। आखिर पुलिस को बुलाया गया। वे कावेज को पुलिस स्टेशन ले गये।

कावेज चलता तो गया परन्तु पुलिस अधिकारियों के सामने भी उसने हार न मानी। अधिकारी चाहते थे कि वह आगे से ऐसी गलती न करने का पक्का दे और कावेज का कहना था कि मैंने कोई गलती की ही नहीं है तो जबरन कैसे स्वीकार कर लूँ। आगे ऐसा न करने का वचन दिए वगैर ही पुलिस ने उसे अनोध और हठी सड़का समझकर छोड़ दिया।

बचपन से ही अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहने वाला यही कावेज आगे चलकर अपनी सिद्धान्तनिष्ठा और मानवीय अधिकारों की रक्षा में अपना सारा जीवन अर्पित कर देने के कारण कैलिफोर्निया के गाँधी के नाम से प्रख्यात हुआ।

महात्मा गान्धी की अहिंसक रणनीति और साधन तथा साधन की सयावता वाला जीवन दर्शन विश्वविख्यात हो चुका था। देश में ही नहीं विदेशों तथा दूर देशान्तरों में भी उनके सिद्धान्त लोकप्रिय होने लगे थे। भारत के असंख्य स्त्री-पुरुषों ने गान्धी के नेतृत्व में मानवतावादी आन्दोलनों में भाग लिया। विदेशों लोग भी उससे प्रभावित हुए थे। कावेज तब सोलह वर्षीय अल्पवय का किशोर छात्र था।

उसका बचपन बहुत गरीबी में बीता। सन् १९२५ में पूना गाँव के निकट एक फठारी फार्म में काम करती हुई गरीब महिला के गर्भ से वह जन्मा था। उस फार्म में उसके माता-पिता मजदूरी करते थे और दो बूँ का खाना बड़ी मुश्किल से जुटा पाते थे। अपने आरम्भिक जीवन में कावेज वहीं रहा और महसूस किया कि गरीब अमरीकी लोग उसकी जसल के लोगों को बूना और उपेक्षा के पात्र से देखते हैं।

उसे जब स्कूल में भरती किया गया तो छात्रों का व्यवहार अपने अधिभावकों की तरह उपेक्षा और बूना पूर्ण था। गरीब लड़के कावेज तथा उसके साथियों को अवसर आते ही पीटते और अध्यापक भी इनमें बीच-बचाव करने की अपेक्षा गरीब लड़कों को प्रोत्साहित ही करते।

ऐसे पददलित वक्ता में पड़े हुए लोगों का जीवन कितना दुःखपूर्ण रहता है। अल्पवय में ही कावेज के परिवार पर एक घोर संकट आया। सन् १९३५ के लगभग अमरीका में जबरदस्त मन्दी आयी। जिस फार्म में कावेज का परिवार मजदूरी कर रहा था वह बन्द हो गया। उनकी जीविका का मुख्य आधार ही टूट गया। कावेज का पिता परिवार को लेकर कोलोरेडो नदी के किनारे भाग गया। वहीं मटर छीलने का मौसमी काम मिला। कुछ दिनों बाद यह काम भी समाप्त हो गया। कावेज परिवार को रोजी-रोटी की तलाश में खानाबदोशी की तरह इधर-उधर भटकना पड़ा।

जाड़े के मौसम में आक्सनहर्ड शहर की एक उदार महिला ने अपनी खाली पड़ी जमीन का एक टुकड़ा दिया। वहीं इसके परिवार ने एक तम्बू बना लिया। स्थान की कमी के कारण समूचा परिवार सिमटकर इस तम्बू में पड़ा रहता। सटी से बचने के लिए फस-फस सोने से और कोई अच्छा साधन नहीं जुट पाया। कभी-कभी जब बारिश होती तो उनके परिवारों को गीली सड़ जमीन पर ही पड़े रहना पड़ता। उन दिनों के संस्मरण कितने ही कठोर हृदय को आर्द्र कर सकते हैं।

सन् १९४० तक 'सेसार' को अपने परिवार के साथ बन्जारों की तरह घूमना पड़ा। परिस्थितियों तथा मानवता का मुखौटा पहने गरीब लोगों के अत्याचारों ने कावेज को विद्रोही बना दिया।

१९४३ में गरीब लोगों ने चिकानो पर खूब अत्याचार किए। गुलामों से भी गयी गुजरी स्थिति बन गई। कावेज

के विवश अन्तर्मन से क्रान्ति का स्रोत फूट पड़ा और वह विद्रोही संगठन 'पचूको' का सदस्य बन गया। पुलिस और सेना के अत्याचारों को दूर करने में सारा जीवन लगा देने का संकल्प कर सेसार अठारह वर्ष की आयु में ही सामाजिक अन्यायों से जूझ उठा।

कावेज ने देखा कि चिकानो लोग गरीब ही नहीं अशिक्षित भी हैं। स्कूल में जब वे अपनी मातृभाषा स्पेनी में बोलते हैं तो दण्डित किया जाता है। उपेक्षित सामाजिक स्थिति के कारण रोजगार और शिक्षा की सुविधाएँ भी नहीं मिल पाती। इस कारण वह स्वयं भी सातवीं कक्षा से आगे नहीं बढ़ पाया। परन्तु प्रकृति और समाज की घाटशास्त्रा में उसने जो पढ़ा वही शिक्षा उसको महामानव बनाने में सहयोगी सिद्ध हुई। सोल एंलिस्की में मजदूरी करते बचक उसका चिन्तनशील मस्तिष्क इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मजदूर हितों की रक्षा तथा अधिकारों की प्राप्ति केवल संगठन शक्ति के माध्यम से ही सम्भव है।

चुरी परिस्थिति और कष्ट-कठिनाइयाँ मनुष्य की यशस्वता को अनावृत्त कर देती हैं। इस माधने में समझदार लोग आपत्तियों को ईश्वरीय वरदान समझकर सहन कर लेते हैं और तपार हुए कुन्दन की तरह अपना भी व्यक्तित्व निखार लेते हैं। अहिंसा और प्रेम मानवता के दो आधार स्तम्भ हैं। बचपन से ही अत्याचार और अन्याय सहते हुए भी कावेज का मनुष्यत्व निखर उठा। अमानवीय दैत्य को परास्त करने के लिए वह उत्साही तो था परन्तु उसके लिए कावेज ने मानवीय सिद्धान्तों को ही अपनाया।

उसने घाटियों के अंगूर फार्म में काम करने वाले चिकानो मजदूरों को संगठित किया। बिलबिलाती धूप और कड़कड़ती ठण्ड में भूल और विषले कोढ़ों के खतरों में वे अहिंसित काम करते। गुलामों की तरह मालिकों का व्यवहार और काम लेने की पद्धति में उन्हें अपने खून का पसीना बहाना पड़ता, फिर भी भरपेट भोजन उन्हें उपलब्ध नहीं हो पाता। अधिकारशून्य उन्हें भूखे रहना पड़ता और कई मजदूर तो इस असह्य धूख के कारण मर भी जाते। उसकी तंग झोपटियों में रोशनी की व्यवस्था भी नहीं होती तथा न ही पानी की। मजदूरों की इसी व्यथा वेदना से इन्दीभूत होकर सेसार कावेज ने 'नेशनल फार्म वर्कर्स एसोसिएशन' की स्थापना की और लगभग ५० हजार मजदूरों को अपने विचारों से प्रभावित कर अन्याय और शोचन से मोर्चा लेने के लिए संगठित किया।

सन् १९६४ में उन्होंने अन्याय के विरुद्ध पहली आवाज उठाई। फार्म के एक मालिक के विरुद्ध नियत राष्ट्रीय न्यूनतम वेतन दर से कम मजदूरी देने के कारण मुकदमा चलाना। जीत संगठन शक्ति और न्याय की हुई। मनुष्यों की बनसी हुई न्याय व्यवस्था का पलड़ा भी शक्ति की ओर ही झुकता है। संगठन शक्ति की महत्ता को समझ लेने के कारण एक समय का मजदूर और मोहताज किशोर अपने जीवन के बहुत बड़े समय में श्रमिक हितों

का रक्षक बन गया। मई ६५ में कावेज ने गुलान की खेती करने वाले मजदूरों को संगठित किया तथा उचित पारिश्रमिक के लिए असहयोग का अस्त्र सम्हाला। चार दिन की हड़ताल से ही मालिकों ने मजदूरों की माँग स्वीकार कर ली।

अंगूर श्रमिकों की न्यायोचित माँगों के लिए कावेज को और कड़ा रुख अपनाना पड़ा। १९६७ में मजदूरी बढ़वाने के लिए उसे बहिष्कार का सहारा लेना पड़ा। उसके आन्दोलन से प्रभावित होकर गृहनिर्वासियों ने अंगूर खरीदना बन्द कर दिया, होटलों में अंगूर परोसने से बंदी ने इन्कार कर दिया। मजदूरों ने अंगूर की पेड़ियाँ टुकों पर लादने तथा उतारने से लेकर जहाजों पर चढ़ाना तक बन्द कर दिया। सेसार कावेज का यह आन्दोलन यद्यपि पूर्णतया अस्वाभाविक था परन्तु अन्त्य और पीड़ा सहने के कारण व्यक्ति में प्राणविक भावनाओं का भइक उठना भी स्वाभाविक है। कहीं-कहीं हिंसक कृत्य भी हुए। कावेज को इन कृत्यों से बहुत परचात्तप हुआ।

किसी और को दोष देने की अपेक्षा उसने इन अमानवीय कृत्यों के लिए स्वयं प्रायश्चित्त रूप उपवास किए। यों ही उसने उपवास की घोषणा निजी तौर पर की थी परन्तु धीरे-धीरे यह प्रायश्चित्त कार्य सार्वजनिक उपवास के रूप में परिणित हो गया। भारी संख्या में उसके अनुयायियों ने उपवास में भाग लिया। श्रमिकों के झुण्ड के झुण्ड आने लगे और कावेज से क्षमा माँगने लगे। फिर हिंसा का सहारा न लेने का आश्वासन लेकर कावेज ने उपवास तोड़ा। मालिकों का हृदय भी इस प्रायश्चित्त रूप तप से पसीजा और उचित श्रमिक माँगों को अविलम्ब स्वीकार कर लिया।

इसी उपवास के दौरान कावेज को एक बार न्यायक्षेत्र में बयान देने के लिए अदालत में भी जाना पड़ा था। जिस समय वह न्यायालय में बयान दे रहे थे इन्करीं अधिक बाहर सीड़ियों पर घुटने टेके ईश्वर से प्रार्थना कर रहे थे। राबर्ट कैनेडी की उपस्थिति में अहिंसा की अपेक्षा के बीच उन्होंने उपवास तोड़ा।

वे सच्चे गाँधीवादी जननेता हैं। विदेशी होते हुए भी उन्होंने शराब की बात तो दूर सिगरेट तक को नहीं छुआ। श्रमिक संगठन कार्यालय में वे सोल्हा घण्टे क्रम करते हैं तथा सप्ताह में निर्बाह के लिए मात्र दस ठालर का पारिश्रमिक जो अमेरिका के जीवन स्तर को देखते हुए बहुत कम है ही लेंते हैं। वे समिति के प्रधान कार्यालय में ही सभी कर्मचारियों के साथ सामूहिक भोजन करते हैं। अपनी पत्नी और बच्चों सहित तीन कमरों वाले सञ्चरण किन्तु सुव्यवस्थित तथा स्वच्छ मकान में रहकर सोने के समय को छोड़कर शेष पूरे समय में वे कठोर क्रम करते हैं। अपने यौवन काल में ही अधिक से अधिक लोनों के लिए परिश्रमरत रहने के कारण उनका स्वास्थ्य लड़खड़ाने लगा। सन् ६८ में उनके पाँव बिल्कुल बेकार हो गए। सामान्य से रोग में ही जहाँ लोग क्लिप्त करने लगते हैं वहाँ

सेसार कावेज के चेहरे पर एक मृदुल मुस्कान खेलने लगी। वे यही कहते रहे कि ईश्वर जिन पर प्रसन्न होता है वह-कठिनप्रयत्नों द्वारा उसे सबसे पहले मजबूत बनाता है।

पूँव वर्ष पूर्व चलाए गये उनके श्रमिक आन्दोलनों ने मालिकों तथा मजदूरों को इतना समीप कर दिया कि श्रमिकों का पारिश्रमिक आन्दोलन के पूर्व की तुलना में दुगुना हो गया।

वे यथार्थ में गान्धी के अनुयायी हैं। बिनोबा भारत के वर्तमान गान्धी हैं तो सेसार कावेज एक विदेशी कैलिफोर्नियाई गान्धी।

लौह पुरुष-स्टालिन

पिता चूते गाँठने का काम करते थे और माता लोगों के कपड़े धोय करती थी। अपने पुत्र के लिए उन्होंने अपने अनुरूप ही भावी जीवन की कल्पनाएँ की थीं। पिता चाहते थे कि उसका पुत्र बड़ा होकर उसी की तरह जूते गाँठने का कार्य करे। माँ कुछ अधिक ऊँचे और सामाजिक धरातल पर सोचा करती थी कि उसका बेटा पादरी बन जाय, जिससे उसका जीवन भी धार्मिक बन जाय और वह लोगों को सच्ची राह दिखाने का काम भी करे। सामान्यतया महिलाएँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक सामाजिक डँग से सोचती हैं तब उन्हें क्या पता था कि उनका पुत्र एक दिन रूस के जार से भी महत्वपूर्ण पद पा लेगा। यह बालक- इवोसिफ विसारियोनोविच अपने भावी जीवन में सोवियत संघ का प्रधानमंत्री बना और अपने स्वभाव और दृढ़ता के कारण उसके साधियों द्वारा स्टालिन-इस्मरत पुरुष कहा गया।

स्टालिन का जन्म जार्जिया के स्पीयन सागर व कुष्ण सागर के मध्य स्थित प्रान्त के एक छोटे से गाँव में १८७९ में हुआ था। रूस की सामाजिक दशा उन दिनों बहुत बिगड़ी हुई थी। वहाँ दो वर्ग थे एक धनी सामन्त वर्ग जो भूमि का स्वामी था साथ ही खूब सम्पन्न, सुखी और अत्याचारी भी। दूसरा वर्ग सामान्य कृषक गुलामों का जो भूमि पर खेती करते थे। मालिक खेती के साथ उन्हें भी बेच दिया करते थे। यह वर्ग अत्यन्त निर्धन और दीन-हीन पराधीन था था। आर्थिक असमानता किस प्रकार के विद्रोह और सामाजिक विस्फोट-क्रान्ति को जन्म देती है। यह रूस के इतिहास में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। कृषक श्रमिक कुछ कर नहीं सकते थे पर मन ही मन सामन्त वर्ग से घृणा करते थे। यह घृणा जब विस्फोट बनकर उठी तो सामन्त वर्ग को ही दड़ा गयी। आज रूस में सामन्त (बुर्जुआ) शब्द गाली का पर्याय बन गया है। वह एक सुनिश्चित तथ्य है कि यदि धनिक लोगों ने निर्धनों की उपेक्षा की, अपने स्वार्थ में ही लित रहकर वे सामाजिक हितों से विमुख हुए तो यह स्थिति कहीं भी दोहरायी जा सकती है।

स्टालिन का जन्म इसी दूसरे पराधीन कृषक वर्ग के परिवार में हुआ। उसके जन्म के कुछ समय पहले रुस में दास प्रथा का कानून समाप्त कर दिया गया था पर आर्थिक दामता का जुआ तो अभी भी उनके कंधे पर रखा ही हुआ था। जमीनें तो सामन्तों के पास ही रहीं। वे बेचारे विधवा होकर पुनः इनके वहाँ मजदूरी करने लगे। स्टालिन के पिता ने जूते गाँठने और माता ने कपड़े धोने का काम आरम्भ किया।

माता की इच्छानुसार उसे लिफ्टसिस् के ईसाई धार्मिक विद्यालय में प्रविष्ट कराया गया। उसकी गरीबी को देखकर स्कूल के अधिकारियों ने उसके लिये छात्रवृत्ति का प्रबन्ध भी कर दिया। पर स्टालिन को पादरी नहीं बनना पड़ा। संयोग से एक दिन उसके हाथ में मार्क्स की पुस्तक 'पूर्वोक्त-राजनैतिक-अर्थव्यवस्था' की एक समीक्षा लग गयी। साम्यवाद लाने का श्रेय इस पुस्तक में प्रकट किये गये कार्ल मार्क्स के सत्य पर आधारित प्रखर विचारों को कम नहीं जाता। मार्क्स के विचार ही साम्यवाद के जनक थे। विचार मनुष्य को कण से क्या बना देते हैं। विचार व्यक्ति व समाज का कल्याणकरूप करके रख देते हैं। इस कथन की सत्यता को अग्न के सोवियत संघ के रूप में देखा जा सकता है।

मार्क्स की इस पुस्तक का प्रतिफलन ही कुछ इस ढंग का है और तथ्य इतने सत्य पर आधारित हैं कि समाज के विषमता व्यक्ति के सामने उजागर हो नहीं होती बल्कि उसे मिटाने के लिये कृत संकल्प भी हो जाता है। फिर उसे इस वैद्यक्य को मिटाने के लिये जो रास्ता मार्क्स ने बताया था वही अच्छा लगता है। इस पुस्तक ने स्टालिन को पादरी बनने से दबा लिया और क्रान्तिकारी बना दिया। उसकी गतिविधियाँ देखकर शिक्षण संस्थान के अधिकारियों ने उसे बाहर निकाल दिया। इसको उसे परवाह भी कहाँ थी। वह तो साम्यिक क्रान्ति के लिये प्राण विसर्जन जैसे बलिदान के लिये भी तैयार हो चुका था। वह क्रान्ति में भाग लेने लगा। मूल रूप से भर-भर जाकर क्रान्ति सम्बन्धी पर्वों बाँटना, किसानों को उसके लिये तैयार करना उसका काम हो गया। पुलिस उसके पीछे लग गयी। पुलिस को बकवास देने के लिये उसे आज वहाँ तो कल वहाँ भटकना पड़ा। किन्तु पुलिस का तो बाल बिल्ला था। वह कब तक बचता। वह पाँच बार पकड़ा गया और दण्ड भुगतने के लिए साइबेरिया भेजा गया। पाँचों बार वह वहाँ से भाग जाता।

मनुष्य अपने सुखद भविष्य के लिये किस प्रकार दुःख पूर्ण वर्तमान को सह लेता है और फिर उसके साथ देश हित या समाज हित की भावनाएँ जुड़ी हुई हैं तो उसका कहना ही क्या? स्टालिन को गालियाँ, जानुक, मार, चोटणाएँ कम नहीं सहनी पड़ी इस दौरान, क्रान्ति के मार्ग में तो यही सब उपहार मिलते हैं। इन सन्ने उसके संकल्प को दृढ़ ही बनाया, कमजोर नहीं।

छटी बार जब वह पकड़ा गया तो ऐसे स्थान पर भेज दिया गया जहाँ से वापिस आना सम्भव नहीं था। उत्तरी घुब प्रदेश से लगी रुस की सीमा के एक गाँव में उसे रखा गया जिसमें केवल चार ही मकान थे जिनमें बन्दी रहते थे। यहाँ न कोई प्रहरी था न कोई चहारदीवारी और न बेलर फिर भी वहाँ जेल थी। वहाँ से कोई आदमी भाग नहीं सकता था क्योंकि उस गाँव के निकट दो सौ मील तक कोई बस्ती ही नहीं थी। बारहों महीने वहाँ कड़ाके की शीत पड़ती थी। इस शीत से बचने का, अपने को गर्म रखने का एक ही साधन था खून शय करना। ऐसी पर्यंकर जेल में स्टालिन ने चार वर्ष बिताये और अन्त में १९१७ में क्रान्ति के सफल होने पर मुक्त हुआ।

बीस से भी अधिक वर्षों तक वह क्रान्ति के लिये जी-जान से जुटा रहा था। इस दौरान लेनिन से उसका घनिष्ठ परिचय हो गया था और वह लेनिन का दाहिना हाथ बन चुका था। १९०५ में क्रान्ति का प्रयास असफल हो जाने पर लेनिन व ट्राट्स्की तो प्राण बचाने के लिये स्विट्जरलैण्ड भाग गये थे पर स्टालिन रुस में ही रहा। पुलिस की मूर्खों में भूल झोंकता हुआ वह देशवासियों को प्रबल क्रान्ति के लिये तैयार करता रहा। यह निश्चित था कि यदि इन दिनों वह पकड़ा जाता तो उसे भूतपु दण्ड अन्वेष मिलता। जान की जोखिम उठाकर भी वह रुस में ही रहा। सब है कि जो अपने धृष्ट व्यक्तित्व को किसी लोकोपयोगी महान लक्ष्य से जोड़ लेते हैं तो उनमें स्टालिन जैसी सम्पूर्ण स्वतः उत्पन्न हो जाती है।

लेनिन विदेशों से गुप्त रूप से जो योजनाएँ बनाकर भेजते उसे वह कार्यान्वित करता, उनके गुप्त रूप से भेजे लेखों को क्रान्तिकारियों के भूमिगत पुद्गालय में छापकर वितरित करता। स्टालिन इस प्रकार सोवियत जनता का हृदय समझ बनता जा रहा था और फिर एक दिन वह भी आवाज जब मानवीय संकल्पों ने सपनों को साकार कर दिखाया। स्वतःक्रान्ति की सफलता के साथ ही रुस की अन्धकार और स्वेच्छाधारिता के पाप-पंक में लिपटी जारवादी की संपत्ति हो गयी। वर्षों से धनी सामन्त वर्ग की दास्य व अत्याचार सहने वाले कृषक और ग्रामिक अब सोवियत संघ के भाग्य विधाता बन गये। सामन्तों को अपने उगावे काँटों को ही रोते-कलपते काटना पड़ा। क्रान्ति के बाद उनकी बड़ी दुर्गति हुई।

क्रान्ति का नेता लेनिन सोवियत रुस का सर्वेसर्वा बना। फिर भी अभी रुस को बहुत कुछ सहना था। नये-नये साम्यवादी संघ पर कई संकट आये। लेनिन की मृत्यु के पश्चात् स्टालिन व ट्राट्स्की में नेता पद के लिये संघर्ष हुआ जिसमें विजय स्टालिन की हुई। ट्राट्स्की मेक्सिको चला गया। शासन हाथ में आते ही वह सचमुच हस्यात पुरुष सिद्ध हुआ। उस समय इस नवोदित राष्ट्र को ऐसे ही मिथ्या धातुकता रहित व कठोर अनुशासन रखने वाले राष्ट्र नेता की आवश्यकता थी। क्योंकि दूसरे देश अभी भी साम्यवादी रुस को अच्छी नजरों से नहीं देखते थे।

यह पूरी तरह फौजी आदमी था—अनुशासन का पक्का । उसने श्रम करना सबके लिये अनिवार्य कर दिया । कोई श्रम करने से बच नहीं सकता था । उसकी दृष्टि में व्यक्ति का राष्ट्र के सन्दर्भ में कोई मूल्य नहीं था । चाहे वह उसका मित्र हो क्यों न हो यदि उसे लगता कि वह देश के साथ गहरी कर रहा है तो उसे वह गोली मरवा देता था । यह उसके व्यक्तित्व का हलका पहलू है । फिर भी यह उस समय सोवियत संघ के लिये उपयोगी सिद्ध हुआ ।

घरों से दासत्व व दीनता में चकड़े रहे व्यक्तियों में कुछ स्वाभाविक कमजोरियाँ भी आ जाती हैं । उन्हें कठोर अनुशासन में रखकर दूर करने का यह प्रयास राष्ट्र के हित में ही था । उस अनुशासन का ही परिणाम था कि १९४० में फ्रांस जैसे शक्तिशाली देश को पाँच सप्ताह में धरती दिखा देने वाले जर्मनों को इस नवोदित राष्ट्र ने पराजित कर दिया । इंग्लैण्ड व अमेरिका से सहायता लेने का उसका कदम भी काम सहायनीय नहीं था ।

अपने कठोर अनुशासन और प्रभुत्व के पीछे स्टालिन के मन में कोई व्यक्तिगत एषणा रही हो, ऐसा नहीं लगता । बीस वर्ष तक सोवियत संघ का एकछत्र शासक रहने वाला यह व्यक्ति जार के शानदार महल में रहने की बजाय सचिवालय में काम करने वाले सामान्य कर्मचारी को मिलने वाले क्वार्टर में ही रहा करता था । उन्हीं जैसा खाना खाता था, उन्हीं जैसे कपड़े पहनता था । जार के निरंकुश शासन से मुक्ति दिलाने के लिये अपने जीवन के स्वर्णिम बीस वर्ष समर्पित कर पग-पग पर मृत्यु की संभावना और कष्ट-कठिनाइयों से जूझने के तप, त्याग और बलिदान का मुआवजा स्टालिन ने सुख, वैभव और आरामतलबी के रूप में नहीं लिया । जार के नीकरो के रहने के क्वार्टर में रहने वाले इस रूस के प्रधानमंत्री का यह उदाहरण कितना प्रेरक है, मार्गदर्शक है जननेताओं के लिये ।

स्टालिन की पहली पत्नी को क्षय हो गया था । उस क्षय ने ही उसके प्राण ले लिये पर क्रान्ति में जुटा स्टालिन समाज के हित पर अपने व्यक्तिगत हित को बलिदान करके क्रान्ति के कामों में बाधा नहीं आने दी । दूसरा विवाह उसने चालीस वर्ष की आयु में किया । दूसरी पत्नी से एक पुत्र व पुत्री उत्पन्न हुई । स्टालिन और उसकी पत्नी के विचार नहीं मिलने के कारण वैवाहिक जीवन सुखी नहीं रह सका । फौलाह के स्टालिन को ईश्वर ने जीवन की इस मधुरता से वंचित रखकर उसे सच्चा दी व सोवियत संघ पर अनुकम्प्य की यह सोचने का विषय है ।

आत्म-प्रशंसा व आत्म विज्ञापन से वह कोसों दूर रहता था । मास्को में रहने वाले विदेशी राजदूत उसे कम ही देख पाते थे । वह बोलता कम था, काम अधिक करता था ।

स्टालिन बहुत कठोर था और कहते हैं वह निर्मम भी था । मरणोपरान्त उसके विरोधियों ने उसके विरुद्ध इतना

प्रचार किया कि उसके नाम पर बसाये नगर स्टालिन ग्राड नाम भी बदल दिया गया । उसके शव को लेनिन की समाधि से हटा दिया गया । फिर भी सोवियत संघ की जो सेवार्ह स्टालिन ने की वे भुलाई नहीं जा सकती थीं । उसकी कठोरता और निर्ममता भी राष्ट्र के हित में होने के कारण उपयोगी सिद्ध हुई । 'मनुष्य में अच्छाईयाँ भी होती हैं और बुराईयाँ भी होती हैं, व कोई पूर्णरूपेण अच्छा होता है व कोई बिल्कुल बुरा । गुण, कर्म, स्वभाव में हर मनुष्य एक दूसरे से भिन्न होता है । किन्तु यदि सामाजिक हित पर व्यक्तिगत एषणाओं को धारें जाने का दृष्टिकोण अपनाने पर उसका यह भिन्नित स्वरूप भी उपयोगी और विर-स्मरणीय बन सकता है ।' स्टालिन इसका सटीक उदाहरण है ।

गरीबों के साथ गरीब बनकर रहो

सतीषा अबूबक के उपरान्त उस स्थान पर हजरत उमर नियुक्त हुए । उनकी शासकीय कुशलता, बहादुरी और दूरदृष्टि में कोई कमी न थी । पर वे निज की सुविधाओं में कटौती ही करते रहते । रुखा-सूखा खाते और थोटा-झोटा पहनते ।

दरबारियों ने उन्हें सुख-सुविधापूर्वक रहने और अच्छी पोशाक पहनने के लिए प्रेरित किया । उन्होंने स्पष्ट इन्कार करते हुए कहा—“राजकोष प्रजा की अमानत है । मैं उसका सर्वोत्तम उपयोग करने के लिए संरक्षक मात्र हूँ । उसकी दीक्षा का भक्षक नहीं बन सकता ।”

वे जी की रोटी खाते थे । किसी ने कहा देश में गेहूँ उपजता है फिर आप उसका उपयोग क्यों नहीं करते ? उन्होंने कहा—“कि क्या इतना गेहूँ उपजता है कि हर एक के हिस्से में पर्धान पात्र में आ सके ? यदि नहीं तो किन्हीं को तो थोड़े अनाज पर गुजर करनी ही पड़ेगी । यदि वह कार्य मैं करने लागू तो यह अच्छा ही रहेगा । इससे विषमता न बनयेगी और ईर्ष्या फैलने की गुंजाइश न रहेगी ।”

वे थोटा कपड़ा ही नहीं पहनते वे धरन् फट जाने पर उसमें पैचन्द लग्न लेते थे । उनकी निजी पोशाक में बारह पैचन्द थे । कपड़े की कमी से उसे बाहर न धुलाते । स्वयं ही धोते और एक ही होने के कारण तब तक बाहर न निकलते जब तक कि वह सूख न जाता । सीरिया की विदेश यात्रा पर भी उन्होंने शाही पोशाक बनवाने की जरूरत नहीं समझी । यहाँ के लोग इस सम्झी पर मुग्ध होकर रह गये ।

हजरत गरीब-अमीर सभी को अपने साथ बिठाकर खाने की प्रार्थना कराते । भोजन इतना सादा होता था कि न खाने वालों को संकोच होता और न राजकोष पर कोई नडा पार पड़ता । बाबर्षी भी खीजता नहीं था । वे स्वयं

किसी के यहाँ भोजन करने जाते तो कीमती पकवानों को हाथ न लगाते । कहते-“इस प्रचलन से देश में फिजूलखर्ची, विलासिता और गरीबी बढ़ेगी ।” राजदूतों को भी वे वैसा ही खाना खिलाते ताकि वे अपने यहाँ ऐसी ही सादगी की आवश्यकता पर जोर दें ।

एक बार अकाल पड़ा । उन दिनों साधन जुटाने के प्रयत्नों के साथ उन्होंने जनता को इस बात के लिए प्रशिक्षित किया कि सभी मिलबाँट कर खर्चें और अपने हिस्से में कमी करें ।

एक बार निजी खर्च में तंगी पड़ी । मित्र से उधार ले लिया । उसने दे तो दिया पर साथ ही यह भी कहा-“आप तो शासनाध्यक्ष हैं । इतनी छोटी रकम तो राजकोष से भी उठा सकते हैं ।” उन्होंने कहा-“वह चरमरा डालने पर अन्य कार्यचारियों से ऐस करके कैसे रोक पाऊँगा ?”

राजकर्मचारियों की नियुक्ति करते समय वे हिदायत देते-“यहाँ कपड़े न पहन्ना । पैदा प्रयोग न करना । दरवाजे पर द्वारपाल न बिठाना । ताकि बिना रोक-टोक के प्रजाजन तुम तक अपनी बात कहने आ सकें ।” नौकर नियुक्त करते समय उसकी निजी सम्पदा का हिसाब लिया जाता और बीच-बीच में उसे जाँचा जाता कि वह बढ़ तो नहीं रही है ।

मिल के इलाके की ओर नियुक्त किया गया एक अफसर महीन कपड़े पहनने व ठाढ़-काट बनाने लग्न था । शिकायत सही पाई गई तो उन्होंने उस अफसर को बुलवाकर कपड़े उतरवा लिए और एक कम्बल लपेटकर रहने तथा ककरिचाँ चराने का काम दे दिया । अफसर अचकचाया तो उन्होंने कहा-“तेरा बाप भी तो ककरिचाँ चराता था । किसी काम की छोटा सम्झना और बड़ी पदवी के लिए आग्रह करना बुरी बात है ।”

उस जमाने में शासकों के सामने हाथ बाँधकर खड़े होने और सिर पैरों पर रखने का रिवाज था । हजरत उमर ने उस रिवाज को बिल्कुल बन्द करा दिया और घोषित किया कि सभी इमान खुदा के बन्दे और समान हैं ।

वे विचारशील लोगों से कहा करते थे कि ऊँट की तरह न रहो जो भकेल ठीलै करते ही बेकरब हो जाता है और लगाम खींचते ही गरदन मरोड़कर पीछे रख लेता है । दबाव का इन्तजार न करो । उसे स्वेच्छापूर्वक अपनाओ जो विवेकपूर्ण व न्यायोचित है ।

अमेरिका के ३१ वें राष्ट्रपति-

महान हर्बर्ट हूवर

महान हर्बर्ट हूवर जब केवल नौ साल के थे इनके माँ-बाप का देहान्त हो गया और वे संसार में अनाथ होकर अकेले रह गये । घर पर कोई ऐसी पैतृक सम्पत्ति भी न थी जो इनका सहारा बनती । इनके पिता लोहारी का काम करते थे और बहुत गरीब थे ।

गरीबी के कारण हूवर के माता-पिता इन्हें शिक्षा न दिला पाये थे, फिर इतनी कम आयु में वह पढ़ भी क्या पढ़ते ? किन्तु घर पर माता-पिता के काम में हाथ बँटाते बैठते थे परिश्रमी स्वभाव के हो गये थे । हूवर अपने इस अनाथ-जीवन से घबराये नहीं । माता पिता का शोक मनाने के बाद उन्होंने श्रम को अपना जीवन-सहचर बनवा और घर से चल निकले ।

सबसे पहले उन्होंने आधोबा में अपने एक चाचा के फार्म में कार्य करना शुरू किया । यद्यपि उनका चाचा उन्हें अधिक श्रम के काम में नहीं लगाना चाहता था और कुछ कृपा करना चाहता था । किन्तु कर्मठ पिता का पुत्र किसी की कृपा पर उस कच्चे आवु में भी निर्भर रहना नहीं चाहता था । बालक हूवर ने अपने चाचा के फार्म पर एक असम्बन्धित मजदूर की भाँति श्रम किया और अपने को लगन के साथ फार्म के विविध कामों को करने योग्य बनवा ।

इसके बाद औरगीन में अपने दूसरे चाचा के भूमि और खान सम्बन्धी कार्यों में चले गये । अन्य कार्यों के साथ-साथ वे उसके कार्यालय में कुछ दूर छोटे-मोटे काम करते, जिससे उन्हें कुछ पढ़ना-लिखना आ गया ।

अपने जीवन-संघर्ष में बहुत कम आयु से पढ़ जाने के कारण उन्हें शिक्षा का कोई अवसर न मिला । किन्तु उनकी पढ़ने की जिज्ञासा दिनों-दिन प्रबल होती गई । अपने काम के बाद जो भी अवकाश मिलता, वह सारा समय पढ़ाई और पढ़े-लिखे के बीच बिताते ।

‘बड़ी इच्छा है यहाँ मार्ग भी है’ के सिद्धान्तानुसार लगभग ११-१७ साल की आयु में वे कैलीफोर्निया के कबीन स्थापित विश्वविद्यालय में किसी प्रकार पहुँच गये । यों वे विश्वविद्यालय में भरती तो हो गये, किन्तु वहाँ उनके खर्च की समस्या सामने आई । स्वाभिमानी हूवर इस समय भी किसी की सहायता लेना नहीं चाहते थे । अन्तु, उन्होंने इस बार फिर अपने श्रम का सहारा लिया । विश्वविद्यालय के समय के बाद जो भी काम उन्हें मिल जाता, उसे पूरे परिश्रम से करते और उससे जो कुछ आय होती उससे अपना तथा शिक्षा का खर्च चलाते । इस प्रकार अपने अध्ययन और परिश्रम से उन्होंने छह वर्ष में इंजीनियरिंग की परीक्षा उत्तम श्रेणी से उत्तीर्ण की ।

किन्तु उस समय अमेरिका में इंजीनियरों की जरूरत न होने से विश्वविद्यालय से निकलते ही उन्हें कहीं कोई पद न मिल सका, पर इससे वे न तो निराश हुए और न हिम्मत हारे । उन्होंने पुनः अपने श्रम का सहारा लिया और एक सक्त तक एक स्टोने की खान में मजदूर का काम करते रहे । उन्होंने कभी यह नहीं सोचा कि मैं इंजीनियर की उपाधि रखने वाला किसी खान में मजदूर कैसे करूँ, न कभी उन्होंने अपने साथी मजदूरों पर इसका रीज दिखाया और न अपनी इस योग्यता के लिये खान के मालिक से कोई रिक्शत चाही । वे वास्तव में एक मजदूर की भाँति काम करते और अपनी मजदूरी के पैसे लेते । इस मजदूरी

५.५० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

काल में वे केवल काम और दाम तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि अपने कुसमय को मजदूरों की गतिविधि और उनकी समस्याओं को समझने के रूप में सुअवसर बना लिया।

एक वर्ष के घोर परिश्रम और ऐसे अनुभवों के बाद उन्होंने एक खान-इंजीनियर के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया। प्रारम्भ से अब तक अभ्यासों और कष्टों के बीच दिन-रात पसीना बहने के बाद आव, प्रतिष्ठा और सुविधाओं से पूर्ण इंजीनियर का पद पाकर किसी भी युवक के लिये काफी था कि वह अपने को चारों ओर से समेट कर भूतकाल की कठिनाइयों को बाद करता हुआ वर्तमान की सुख-सुविधाओं का आनन्द बढ़ा-बढ़ा कर लेता और एक विविध जीवन-यापन करता।

किन्तु हूवर के विगत कठिन जीवन में उनमें एक ऐसी कर्मठता का जादू कर दिया था कि आराम से बैठकर खाना-पीना और भोज उढ़ाना वे जानते ही न थे। संयोग-वश जो खान-इंजीनियर का पद उन्हें मिला था, उसमें बराबर दौरा करते रहना पड़ता था। महान हूवर ने इस अस्थिरता का खूब उपयोग किया। सात वर्षों में उन्होंने सात बार सारे विश्व का भ्रमण किया। अपने भ्रमणकाल में उन्होंने विश्व की संपन्न गतिविधियों, समस्याओं और राजनैतिक वातावरण का बड़ा गहन अध्ययन किया। अपने अनुभवों में उन्हें मानवता के प्रति जो कसक मिली वह आजीवन उनके जीवन को सनन-कल्याण की ओर अग्रसर करती रही।

विविध छोटी-मोटी सार्वजनिक सेवा-कार्यों के अतिरिक्त जो उन्होंने बड़ा और ठोस कार्य किया, वह था-प्रथम विश्वयुद्ध से प्रभावित बेल्जियम और फ्रांस के लिए सहायता कार्यक्रम को कार्यान्वित करना। उनका यह कार्य ही विश्व में अपने ढंग का अनोखा और ठपादेय कार्य था। विश्व ने इसके लिए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और वे इसके लिए काफी प्रसिद्ध हो गये। अपनी इस महान निःस्वार्थ सेवा के लिए हूवर को २४ यूरोपीय देशों से सम्मानित नागरिकता प्राप्त हुई।

हर्बर्ट हूवर जिस समय राष्ट्रपति चुने गये, वह समय अमेरिका के अर्थतन्त्र के लिए बड़ा ही संकाम्मक काल था। उस समय अमेरिका में इतनी मंदी आई हुई थी कि अमेरिका के अर्थतन्त्र के असफल हो जाने का भय था। किन्तु हूवर ने अपनी दक्षता, योग्यता और परिश्रम के बल पर वह परिस्थिति सम्भाल ली। इस कार्य से वे इतने लोकप्रिय हो गये कि हाइट-हाउस से संन्यास लेने के बाद आजीवन उनका मान राष्ट्रपति के समान ही होता रहा।

राष्ट्रपति का कार्यकाल पूर्ण होने पर वे पुनः राजनीति की गतिविधियों से हटकर सार्वजनिक सेवाओं में लग गये। वह अपना अधिकांश समय धरोपकार और शिक्षा प्रसार में बिताने लगे। उन्होंने अनेक शिक्षा-संस्थानों की स्थापना की, अनेक शिक्षा-सम्बन्धी योजनाएँ सरकार को दीं और अपना बहुत-सा धन पुरस्कारों और उन्नयनों के रूप में व्यय किया।

किन्तु प्रेसिडेण्ट टू मेन के समय में उन्हें पुनः साधारण सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र से हटकर विश्वव्यापक और उत्तरदायित्व पूर्ण सेवा-कार्य में संलग्न होना पड़ा।

राष्ट्रपति टू मेन ने उन्हें द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पड़े अकाल के निवारणार्थ संसार की छाद्य-स्थिति का अध्ययन करने का उत्तरदायित्व सौंपा, जिसके लिये उन्होंने यूरोप और एशिया के लगभग ३७ देशों का दौरा किया, जिसमें उन्हें सनभन बन्दास ह्वार भीत की माना करनी पड़ी। उन्होंने उच्च दुर्भिक्ष के अध्ययन का जो विवरण अमरीकी सरकार को दिया उसके अनुसार ही दुर्भिक्ष से लड़ने का कार्यक्रम बनाया गया और सहायता, पुनःस्थापना व सन्मोचन आदि की योजनाएँ बनीं तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत बाल कोष की स्थापना हुई।

नी साल की आयु से ९० साल की आयु तक हूवर ने एक क्षण को भी आराम से बैठकर जीवन नहीं बिताया। वे सरकार और गैर सरकारी प्रत्येक रूप में मानवता की सेवा करते रहे। वे राजनीति को इस-नीति से बदलने के पक्षपाती न थे। उनका कहना था कि आवश्यकतानुसार राजनीति में जाना पड़ता है किन्तु जो आनन्द और आजादी उनसे अलग जन-सेवा में प्राप्त होती है, उसका राजनीति में अभाव है। सच्चे जन-सेवी राजनीति की मृच्छला में बँधने की अपेक्षा स्वतन्त्र रहना अधिक पसन्द करते हैं।

अपने इन्हीं महान विचारों और कार्यों के कारण श्री हर्बर्ट हूवर जीवन के अन्तिम क्षण तक अमरीकी जनता के ब्रह्मा और संसार के सम्मान के पात्र बने रहे। जनता ने उन्हें सदैव सच्चे जन-सेवी के रूप में याद किया और बढ़ा-बढ़ा उनकी क्षमताओं का लाभ उठाती रही।

समाप्त घोर परिश्रम करने से जीवन के अन्तिम दिनों में वे अस्वस्थ हो गये, फिर यों कुछ न कुछ लिखते ही रहते और राजनीति, अर्थशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे।

श्री हर्बर्ट हूवर वद्यपि आज संसार में नहीं हैं, किन्तु उनकी सनन-सेवाएँ मनुष्य जाति के हृदय में आज भी जन्मी हैं और अमेरिकी जनता इस धरोपकारी नेता, राजनीतिज्ञ और सेवक को बड़ी ब्रह्म से याद करती है।

सयिनय-असहयोग आन्दोलन के प्रवर्तक-

हेनरी थोरो

“ब्रह्मा ! मुझे इतनी शक्ति दे दो कि मैं अपने को अपनी करने से कभी निराश न करूँ। मेरे हस्त मेरी दुष्टता, ब्रह्म का कभी अनादर न करें। मेरा प्रेम मेरी मित्रों के प्रेम से घटिया न रहे। मेरी चाणी जितना कहे-जीवन उससे ज्वादा करता चले। मेरी मंगलमय सृष्टि का हर अमंगल पथा सदैव इतनी शक्ति पुष्ट में बनी रहे।”

रोम्बो रोला ने इस प्रार्थना को पढ़कर कहा कि नीतकार की छाणी में उपनिषदों का प्रभाव है। गाँधीजी

को रचना इतनी भाई कि उन्होंने इसे 'प्रार्थनाओं की प्रार्थना' कहकर पुकारा ।

इस गीत का गायक लगता है कोई नवनीत हृदय संत रहा होगा पर आप को यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि यह गायक एक ऐसा सशक्त विचारक, सुदृढ़ व्यक्तित्व का था, जिसने अमरीका सरकार की नैतिक और आर्थिक ज्यादतियों के विद्रोह में एक ऐसे तत्वदर्शन को जन्म दिया जो एक साधारण व्यक्ति को भी चट्टान की तरह मजबूत और स्थिर बना सकता है ।

उस तत्वदर्शन की शक्ति को वह सभी जानते होंगे जिन्होंने महात्मा गाँधी का जीवनचरित पढ़ा होगा । 'सविनय असहयोग आन्दोलन' जिसके बस पर किसी दिन भारतवर्ष का एकछत्र संगठन स्थापित हुआ और जिसके सामने ब्रिटिश-सामन्तशाही को झुकना पड़ा, गाँधी जी ने यह मंत्र इसी व्यक्ति के जीवन से पाया था-उसका नाम था हेनरी डेविड थोरो ।

थोरो का जन्म लगभग सन् १८१५ में अमरीका में हुआ था । लोकतन्त्र का काफी विकास हो चुका था तथापि घोटों से जीते हुये राजनेताओं में आर्थिक लोभण, लाल फीताराही और ज्यादतियों की वही स्थिति थी जो आज भारतवर्ष में दिखाई देती है । थोरो ने कहा-लोकतन्त्र पर मेरी आस्था है, पर घोटों से चुने गये व्यक्ति स्वेच्छाचार करें मैं यह कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता । राज-संचालन उन व्यक्तियों के हाथ में होना चाहिए जिनमें मनुष्य मात्र के कल्याण की भावना और कर्तव्य-परायणता विद्यमान हो और जो उसकी पूर्ति के लिये त्याग भी कर सकते हों ।

किसी ने कहा-"यदि ऐसा न हुआ तो ?" तो उस राज्य सत्ता के साथ हम कभी भी सहयोग नहीं करेंगे चाहे उसमें हमें कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े ।" इसके लिये उसने जो कदम उठाया वह विध्वंसकारक नहीं लोकतांत्रिक ही था ।

उसका सत्याग्रह लोगों को इतना भाया कि थोड़े ही दिनों में अमेरिका में उसके समर्थकों की भीड़ लग गई । इसी समय दास प्रथा को कायम रखने में मदद करने वाला 'मोल-टैक्स' लगाया गया । थोरो को उसके विरोध में पकड़ा गया और जेल भेज दिया गया । जेल में उसे अनेक तरह की बातनायें दी गई पर उसने मानवीय स्वतन्त्राधिकार के विरुद्ध कभी भी झुकना स्वीकार न किया । जेल जाते समय अपने अनुयायियों से उसने कहा-"भाइयो ! मनुष्य जीवन का कोई मूल्य नहीं यदि वह अपने पीड़ित भाइयों के काम नहीं आता । अन्याय चाहे अपने घर में होता हो या बाहर उसका विरोध करने से नहीं डरना चाहिए और कुछ न कर सके तो भी बुराई के साथ सहयोग तो करना ही नहीं चाहिए ।"

अमरीकनों के दिलों में बात घर कर गई । सरकार प्रबल जन प्रतिरोध देखकर घबड़ा गई और अन्त में उसे झुकना पड़ा । दास-प्रथा का अन्त कराने के साथ-साथ

राजनीतिकों में व्यक्त बुराईयों को दूर करने में भी इस आन्दोलन को प्रमुख स्थान दिया जाता है । थोरो जीवन भर ऐसी ही विचारधारा का प्रसार करते रहे ।

बुराईयाँ चाहे राजनैतिक हों अथवा सामाजिक, नैतिक या धार्मिक जिस देश के नागरिक उनके विरुद्ध उठ खड़े हो जाते हैं, सविनय असहयोग से उसकी शक्ति कमजोर कर देते हैं वहाँ अमेरिका की तरह ही सामाजिक जीवन में परिवर्तन भी अवश्य होते हैं । आज हमारे देश में भी एक ऐसी ही लोकतांत्रिक क्रांति की आवश्यकता है ।

कर्मयोगी सन्त-

सम्राट हिरोहितो

बर्फ ऋतु आई, एक किसान अपने खेत की ओर चल पड़ा, दूसरे किसान खड़े देख रहे थे उसकी हिम्मत वह खेत तक कैसे जाता है, किस प्रकार उसकी जोताई करता है, कैसे उसमें धान रोपता है और फसल काटकर किस प्रकार अपने पोषण के लिये बँदिया चावल तैयार कर अपने अन्न गोदाघ में जमा कर लेता है ।

कृषि को किसान का सहज स्वाभाविक धर्म है, इसमें आश्चर्य की क्या बात ? दरअसल आश्चर्य यह है कि यह किसान कोई सर्व साधारण किसान नहीं जापान के सम्राट हिरोहितो हैं-कर्मयोगी हिरोहितो-महाराज जनक की तरह वह अपनी जानीबिका आप कमाते हैं । सत्ताधीश होने का अर्थ उसकी हुकूमत, वैभव, विलासिता और दंभ नहीं प्रज्व की सेवा माना है । सत्ताधिकारी का अहंश क्या हो ? वे इसके मूर्तिमान प्रतीक कहे जा सकते हैं । प्रतिबर्ष बसन्त और बर्फ ऋतु में अपने खेतों पर अपने हाथ से काम करके उन्होंने यह दिखाया कि परिश्रम मनुष्य जीवन का सौन्दर्य है, स्वास्थ्य की रक्षा करता है और सबसे बड़ी बात है कि मनुष्य का मूल्य भी उसका परिश्रमी होना ही बढ़ाता है ।

कुछ लोग पदधिकार और शासन-सत्ता या जाने पर यह भ्रम लेते हैं कि उनके जीवन का उद्देश्य मात्र सुखोपभोग और आदेश चलाना रह गया पर सम्राट हिरोहितो की भ्रान्तिता उस अन्यविश्वास से भिन्न थी । उनका कहना था कि शासन की सामाजिक और राष्ट्रीय जिम्मेदारी का पालन करते हुए भी व्यक्ति को यह नहीं भूलना चाहिए कि वह अन्ततः एक मनुष्य ही है पगवान नहीं, सो मानवीय प्रतिभा के विकास का मार्ग किसी भी स्थिति में नहीं रुकना चाहिए । हिरोहितो इस बात के जीते जागते उदाहरण थे ।

वनस्पतिशास्त्र के विद्यार्थी होने के कारण उनकी बाल्यावस्था से ही इस विषय में गहन अभिरुचि थी । विद्यार्थी जीवन से निकलने के बाद भी हिरोहितो ने अपनी इस अभिरुचि को बनाये ही नहीं रखा वरन् वनस्पतिशास्त्र

तथा जीवशास्त्र को अपनी जानकारीयों को शोध का रूप प्रदान किया। मनुष्य के पास बुद्धि बाँधी है पर वह कोई निराशाजनक बात नहीं है, दुःखद बात यह होती है कि मनुष्य अपनी बुद्धि का विवेकजन्य उपयोग नहीं करता इसीलिये वह जहाँ की तहाँ स्थिति में पड़ा रहता है हिरोहितो ने अपनी प्रारम्भिक जानकारीयों के आधार पर मनस्मय और जीवशास्त्र का गम्भीर अध्ययन कर आठ पुस्तकें लिखने को उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की, इसके बाद भी उनके जीवन का यह क्रम बन्द न हुआ। उनका कहना था सौ पुस्तकें लिखने और अपनी पाँचों पीढ़ी को पका पकाया ज्ञान और अनुभव दे जाने की सात्त्विकता में अपनी मृत्यु तक अवश्य पूरी कर लूँगा। इसके लिये अपने समय के हर क्षण का उपयोग वे प्रयोगशाला और खुले आकाश में जाकर अध्ययन किया करते थे।

'इम्पीरियल हाउस होल्ड' नामक संस्था शाही परिवार का खर्च उसकी व्यवस्था जुटाती थी। इस संस्था के मत में 'हिरोहितो सम्राट कम संत अधिक हैं'—सचमुच ही उन्होंने अपने जीवन में संत के गुणों को धारण करने का सदैव प्रयास किया। मानवीय दुर्बलताओं को ध्यान में रखते हुए कुछ अहंकार उन्होंने कभी भी प्रदर्शित नहीं किया। अमेरिका के साथ युद्ध में राजप्रासन्न्य भ्रष्ट हो गया था। 'इम्पीरियल हाउस होल्ड' ने बाद में एक विशाल भव्य और आधुनिकतम राजमहल बनाने की योजना तैयार की। पाँच एकड़ भूमि में लगभग ५० करोड़ की लागत से पुख्त कंक्रीट का महल बनाने जाने का प्रस्ताव था—सम्राट के सामने यह योजना आई तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उसे अस्वीकार करते हुये अपनी वेदना इन शब्दों में व्यक्त की—अमेरिका की बम्बारी से मेरी बहुत-सी प्रजा के घर नष्ट हो चुके हैं, देश अभी गरीब है, जिन लोगों के पास खाने को नहीं, जिनके अपने मकान नहीं, उनकी के पैसों से मेरे लिये भव्य महल बने वह मानवता और देशभक्ति के नाम पर अपमान है, जब तक जापान का हर नागरिक उद्योग में नहीं लग जाता, जब तक सब के अपने घर नहीं हो जाते मैं अपने लिये नया राजप्रासाद कदापि स्वीकार नहीं कर सकता।

मंत्रिमंडल को यह बात पसंद नहीं थी कि शाही परिवार एक साधारण मकान में रहे। 'इम्पीरियल हाउस होल्ड' की मान्यता भी ऐसी ही थी इसलिये इन पर फिर से जोर डाला गया। उन्होंने पहले तो योजना को अन्ध किया फिर यह बचन लिया कि जब इम्वरत बन जायेगी तो उसमें उनका स्टाफ और सब कर्मचारियों के कार्यालय काम करेंगे। उनका भी एक ऑफिस उसी में रहेगा। अपना निवास स्थान वे अपने पुराने महल में ही रखेंगे। आदर्शों के आगे किसी की एक न चली और अन्ततः यह योजना ही अन्तिम रूप से क्रियान्वित हुई।

सम्राट हिरोहितो प्रजा के स्वास्थ्य के प्रति बहुत जागरूक थे। सामान्य प्रजनन में खेल कूद के प्रति अभिरुचि बनाये रखने के लिये वे स्वयं भी प्रतिदिन

नियमित रूप से खेलते थे। यहाँ तक कि उन्होंने कुस्ती का अभ्यास करने के लिये भी अपने लिये क्रीड़ा निर्देशक सुभोचरा को नियुक्त कर रखा था। प्रजाजन को इस बात का पता चल कि उनका राजा एक सामान्य व्यक्ति के साथ मल्लविद्या का अभ्यास करता है तो लोगों को अच्छा नहीं लगा, विरोध उन तक भी पहुँचा तब उन्होंने अपनी इच्छा के विरुद्ध प्रजा की इच्छा का आदर अवश्य किया किन्तु अपनी खेलों के प्रति अभिरुचि को उन्होंने छोड़ा नहीं। इसी का परिणाम है कि आज जापान समस्त एशिया का प्रथम श्रेणी का खिलौना देश है। किसी ने सच ही कहा है 'जैसा राजा वैसी प्रजा' आज हमारे देश में प्रजातंत्र है पर प्रजा और सत्ताधिकारियों के बीच समीप-आसमान का अन्तर है। अमर्त सिद्धान्त की बातें भाषणों में तो बहुत की जाती हैं पर व्यवहारिक दृष्टि से प्रजा जब अपने पारंपरिकों को खोखला पाती है तो वह भी फिसल जाती है वही कारण है कि इनके वर्ष की स्वाधीनता के बाद देश अपनी आन्तरिक समस्याएँ, स्थिरता, अनुशासन और व्यवस्थाएँ जमा नहीं पाया। राष्ट्रीय जीवन भ्रष्ट और खोखला है तो उसका दोष उन राजनेताओं पर है जो बातें तो हिरोहितो से भी ऊँची करते हैं पर करनी में सिवाय गन्दगी के और कुछ परिलक्षित नहीं होता। देश हिरोहितो की तरह से कर्मवादी होकर ही अपनी समर्थता चरितार्थ कर पाता है भाषणों और लेखनी से नहीं।

हिरोहितो को पश्चिमी सभ्यता के रंग में लाने की कोशिश की गई। होटलों में उन्हें पश्चिमी जीवन की आकर्षक रंगीनियों की ओर आकर्षित किया गया। सुग-सुन्दरी के दिवास्वप्न उन्हें आतिथ्य में प्रदान किये गये पर वे विचरारक्षित थे। सात्त्विक हिन्दु सुन्नों के प्रलोभन में यथार्थ से अंध भूदस उन्हें मानवीय बुद्धि और विवेक का अध्ययन लगा। उन्होंने पश्चिमी जीवन दर्शन का गहराई से अध्ययन किया तो मिला कि पीपल और सीन्दर्य के उन्नाद का एक और रस है वहाँ का सामाजिक पारिवारिक जीवन बहुत विषाक्त है। ऐसी रंगीनी को उन्होंने ठुकरा दिया और इस अध्ययन से उन्हें मानव जीवन के बचार्थ की ओर झुकने का अवसर मिला। फलतः हिरोहितो का मन अस्वात्मवाद की ओर मुड़ता गया उन्होंने संत साधने जी को अपना आध्यात्मिक मार्गदर्शक चुना और उनके आदेशानुसार अपने आप को पारमार्थिक लक्ष्य की ओर गतिशील बनाये रहे।

इतना सब होते हुये भी वे धरम्परावादी नहीं थे। नियमानुसार राजपरिवार कुछ सीमित कुलीन वर्गों में से साम्राज्ञी चुनते जा रहे थे। वही बात जब हिरोहितो के सम्मुख आई तो उन्होंने कहा सारा मनुष्य परिवार एक है—संस्कार और विरोधताएँ किन्हीं वर्गों तक ही सीमित नहीं छोटे से छोटे व्यक्ति में भी महानता के संस्कार हो सकते हैं। इस धारणा के अनुसार ही उन्होंने अब तक चली आ रही परिपटी तोड़ दी और एक गरीब घर की सुशील कन्या को ही अपनी बर्मस्त्री चुना।

सम्राट होकर हिरोहितो ने एक सामान्य किन्तु असाधारण जीवन जीकर यह बतल दिया कि मनुष्य जीवन का मूल उद्देश्य सुखोपभोग नहीं है, समाज और स्वदेश की सच्ची सेवा करते हुये आत्म कल्याण करना है । उनका यह आदर्श चिरकाल तक हर वर्ग के व्यक्ति को मार्गदर्शक प्रकाश देता रहेगा ।

अफसोस कि मेरे पास एक ही जीवन है--

हैलनैथन

संयुक्त राज्य अमेरिका का स्वतंत्रता संग्राम ६ वर्षों तक चला था । एक ओर वे स्वाधीनता प्रेमी क्रान्तिकारी, जो जार्ज वॉशिंगटन के नेतृत्व में अपने भाग्य को बनाने का अधिकार स्वयं प्राप्त करने के लिये लड़ रहे थे तो दूसरी ओर भी अधिकार और स्वधन सम्पन्न ब्रिटिश सेनाएँ । इस स्वतन्त्रता युद्ध में कई उत्तर-चढ़ाव आये । कभी क्रान्तिकारियों का पलड़ा भारी होता तो कभी सत्ताशुभ विदेशी सरकार की दमनकारी सेनाओं का । सन् १७७६ ई० में ब्रिटिश सेनाओं का पक्ष कमजोर था । वैसे भी ब्रिटिश सेनाओं का सुचारुत्व करना कोई हँसी खेल नहीं था पर स्वतन्त्रता प्रेमी अमेरिकी नागरिक जीवन सहस और हीसले के बल पर इस गम्भीर चुनौती का सामना कर रहे थे । शस्त्रास्त्र और मखमलों के अभाव में उस वर्ष कुछ ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित हुई कि जार्ज वॉशिंगटन को पीछे हटना पड़ा और कच्चे में आया आपलैण्ड का मोर्चा एक बार फिर शत्रुओं के हाथ में चला गया । इससे क्रान्तिकारियों के लोभ में एक बारगी निराशा दीढ़ गयी । कुछ लोग यह सोचने लगे कि ब्रिटिश राज्य में कभी सूर्य अस्त न होने की बात एक दम सही है और उसे सुठलाया आसान नहीं है ।

इस प्रकार निराशा होने वाले क्रान्तिकारियों में कई ऐसे बुलन्द हीसले के व्यक्ति भी थे जो अपनी धिक्क को सुनिश्चित मानकर चल रहे थे और अगली रणनीति क्या हो इस पर विचार-विनिमय कर रहे थे । इस विचार-विनिमय के दौरान इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सका कि किसी प्रकार ब्रिटिश सेना की गतिविधियों का रहस्य पता लगाया जाय और उसी के अनुरूप अपनी रणनीति तब की जाय ताकि धिक्क असंदिग्ध रहे । निष्कर्ष तो निकाल लिया गया परन्तु प्रश्न उत्पन्न कि इस प्रकार प्रत्यक्ष यौत के मुँह में घुसने का साहस कौन करे ? अधिकारियों का विश्वास प्राप्त करना आवश्यक था । स्वाभाविक ही इस कार्य में जोखिम उठाने का साहस और परिस्थितियों को देखकर तत्काल निर्णय लेने की सूझ-बूझ का एक साथ होना आवश्यक था । जब इस प्रश्न पर विचार किया जा रहा था कि इस मुहिम पर कौन जाये तो वहीं उपस्थित एक सैनिक अधिकारी ने कहा--"मैं जाऊँगा ।" किसी को इस कार्य के लिए नियुक्त किया जाता तो सम्भव था कि

वह अपेक्षित साहस और उत्साह न जुटा पाता । किन्तु उक्त सैनिक अधिकारी ने इस कार्य के लिए स्वयं को प्रस्तुत किया और कहा--"मैं जानता हूँ कि युद्ध के मोर्चे की अपेक्षा शत्रु सेनाओं के कैम्प में जाना अधिक जोखिम का काम है । किन्तु हम लोग अपने परिवार वालों से अन्तिम विदा लेकर आते हैं और यह मानकर चले हैं कि यौत कभी भी छा सकती है तो उसे टालने के लिए क्यों बगलें झूँझ जाय ।"

हैलनैथन का यह उत्साह देखकर न केवल उपस्थित दूसरे सैनिकों में विजय की आशा जगी बल्कि उसमें भी वैसा ही उत्साह उमगने लगा । वे भी इस बात के लिए कृतसंकल्प दिखाई दिखे कि ग्रेली छावनी तो सीने में । जीते जा पीछे न हटेंगे और न पीठ दिखायेंगे । हैलनैथन ने इस खतरनाक और जोखिम भरे कार्य में स्वयं को झोंककर आत्मप्राप्ति दे दी परन्तु उधकी आत्मप्राप्ति भी एक इतिहास बन गयी और अमेरिकावासी हैलनैथन का नाम भी ब्रह्मा व अक्षर के साथ लेते हैं ।

राष्ट्रहित के लिए, सम्प्राप्ति के लिए स्वयं को झोंक देने की उत्साह भवना के बीज हैलनैथन में बचपन से ही पड़ गये थे । बचपि उनका जन्म एक कृषक परिवार में हुआ था किन्तु सेवा और कष्ट-पीड़ितों की सहायता के लिए जोखिम उठाने के संस्कार उन्हें अपने परिवार से विरासत के रूप में मिले थे । जब भी कभी ऐसी घटना होती जिसमें हैलनैथन दूसरों के लिए कुछ करते तो उन्हें अपने माता-पिता से प्रोत्साहन मिलता था । एक बार की घटना है, वे अपने साथियों के साथ गाँव के पास ही एक झील के किनारे खेल रहे थे । उसी झील में कुछ बड़ी उम्र के लड़के मछलियाँ पकड़ रहे थे । उनमें से एक लड़के को न जाने क्या मूझी कि वह गहरे पानी में जाकर मछलियाँ पकड़ने लगा । साथियों ने घना किया तो भी वह नहीं माना और गहरे पानी में आगे बढ़ता ही चला गया ।

झील में एक गड़हा था, वह वहीं तक पहुँच गया और बकायक ही उसका पैर फिसल गया । हड़बड़ाहट में उसने हाथ-पैर मारे किन्तु कुछ बन न सका । किनारे पर मछलियाँ पकड़ रहे लड़के सौर बचाने लगे किन्तु किसी में इतना साहस नहीं हुआ कि वे डूबते हुए साथी तक तैर कर आगे और उसे बचाने की कोशिश करते । किनारे पर खेल रहे हैल ने जब यह चीख-पुकार सुनी तो वह भागता हुआ आया, चिल्ला रहे लड़कों से पूछने लगा कि क्या बात है ? खारी स्थिति को तुरन्त समझकर वह झील में कूदा और आपु तब्य शरीर में अपने से दुगने लड़के की आत्मन-पवनन में निकाल कर ले आया और कोई माता-पिता होते हो इस जोखिम भरे साहस के लिए सम्झाते-बुझाते और आगे से वैसा न करने के लिए कहते किन्तु हैलनैथन के माता-पिता ने न केवल उसकी सराहना की बल्कि उसे एक सुन्दर पुरस्कार साकर भी दिया । उस समय हैल के पिता ने अपने बेटे को प्रोत्साहित करते हुए कहा कि--"बेटे जोखिम तो सभी कार्यों के लिए उठाना पड़ता है

परन्तु दूसरों की भलाई के लिए उठावी जूझने वाली जेखिम सबसे अधिक श्रेष्ठ है।

स्वतंत्रता संग्राम के मोर्चे पर ब्रिटिश सेनाओं के भेद लाने को जेखिम उठाकर हैलनैन ने अपने पिता की सीख को सर्वाधिक श्रेष्ठ ढंग से जीवन में उतार लिया था। क्योंकि तब किसी दूसरे व्यक्ति या वर्ग विशेष का नहीं, समूचे राष्ट्र का हित सामने था। इससे पूर्व भी हैलनैन ने पढ़-लिखकर कोई लाभदायक व्यवसाय करने की अपेक्षा अपने लिए अध्यापन का पेशा चुना था। वह जानते थे कि शिक्षा ही किसी देश के चरित्र को ऊँचा उठाती है और किसी के चरित्र की सुदृढ़ आधारशिला रख देना उसका सबसे बड़ा लाभ कर देता है। वे अपने विद्यार्थियों को केवल स्कूल में ही नहीं घर पर भी पढ़ाया करते, यही नहीं अन्य निरक्षर व्यक्तियों को भी शिक्षा का महत्व समझा कर उन्हें पढ़ने-लिखने के लिए प्रेरित करते रहते थे।

हैलनैन ने अपने छात्रों के लिए शिक्षण को अनूठे ही शैली अपनायी थी। तथ्यों को जानकारों के अलावा वे अपने व्यक्तित्व से ही छात्रों का शिक्षण करते थे। उज्ज्वल चरित्र, आदर्श कर्तव्य, देशभक्ति, समाज सेवा और राष्ट्रप्रेम के भावों का विकास उनके सम्पर्क में रहने वाले छात्रों में अपने आप ही होने लगता। मित्रा और लगनपूर्वक वे अध्यापन कार्य में लगे हुए ही थे कि स्वतन्त्रता-युद्ध का उदयोप हुआ। जार्ज वाशिंगटन के नेतृत्व में देश उठ खड़ा हुआ और उत्साही व्यक्ति इस समय कूद पड़े। सेवा परायणता और देशहित की प्रेरणायें बचपन से ही प्रबल करते रहने वाले हैलनैन कैसे पीछे रहते? वे भी समाज में कूद पड़े। उनके साहस, हीर्य और उत्साह ने उन्हें जार्ज वाशिंगटन के साथ लड़ने वाली अग्रपंक्ति में पहुँचा दिया।

और जब आईलैण्ड के मोर्चे पर पराजय की स्थिति आयी तो भी हैल ने सबसे बड़ा-बड़ा उत्साह दर्शाया, वे एक उच्च अध्यापक का वेश बनाकर ब्रिटिश सैनिकों में पहुँचे और अपना उत्तरदायित्व इतनी कुशलता के साथ निभाया कि किसी को भी संदेह न हुआ। वे कभी सपरा तक अपना काम बखूबी करते रहे। इस प्रकार सैनिक रहस्य स्वतन्त्रता सेनानियों के पास पहुँचते रहे और उन्हें विजय भी मिलती रही। ब्रिटिश सैनिकों का हर दौंव असफल जाता। बार-बार मिलने वाली पराजय और उसके कारणों को जानने के लिए सैनिक अधिकारियों की पैनी दृष्टि ने हैलनैन का रहस्य खोल दिया और निरन्तर कर लिये गये। युद्ध नियमों के अनुसार उन्हें मृत्यु दण्ड दिया गया। उस समय हैलनैन ने जो सन्द् कहे वे असंख्यों देशभक्तों और समाजसेवियों के लिए प्रेरणा बन गये। उन्होंने कहा—“मुझे अफसोस है तो सिर्फ़ एक बात का कि मैं पास अपने देश के लिये, अपने समाज के लिए न्योछावर करने हेतु एक ही जीवन है।”

नाजी दुरभिसन्धि से जूझने वाला—

होराल्ड

संयुक्त राज्य अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति डिल्विट डी आइजन्हायर ने अपनी पुस्तक ‘कूसेड इन यूरोप’ में लिखा है “यदि जर्मन अपने नवीन अस्त्रों को जिस समय काम में ला सके उसके छह महीने पहले यदि उन्हें काम में ला सके होते तो यूरोप पर मित्र राष्ट्रों का आधिपत्य रह जाना कठिन ही नहीं असम्भव भी हो जाता।”

जर्मन चाहते थे कि उनके नवीनतम अस्त्र यो-१ बम का प्रयोग वे इंग्लैण्ड को पूर्णतया नष्ट करने के लिए १९४३ के अन्तिम महीनों में ही हो जाय। हिटलर ने अकेले लन्दन नगर पर ५० हजार यो-१ बम गिराने का लक्ष्य रखा था। वह अपने इस अभिप्राय को पूरा नहीं कर सका। ५० हजार के बजाय जर्मन बमबर्क केवल २ हजार बम ही गिरा सके। उनसे ही लन्दन की दुर्गति हो गई थी। जबकि वे बम १९४४ के मध्य में गिरे थे तब तक मित्र राष्ट्र पूरी तरह संभल चुके थे तथा सं० रा० अमेरिका की सहायता उन्हें मिल गई थी।

यह देरी जर्मनी की तरफ से नहीं हुई थी, न वे असावधान थे। किन्तु उनके इन छह इरादों को मिट्टी में पिला देने के लिए एक व्यक्ति अपनी जान पर खेला था। तथा उसकी सूचनाओं के कारण ब्रिटिश वायु सेना उन बम-बर्क अड्डों को भूमिस्तव कर सकी थी जहाँ से लन्दन समूचे इंग्लैण्ड पर यो-१ नामक बमों की वर्षा की जाने वाली थी। वह साहसी व्यक्ति था फ्रांस का एक साधारण औद्योगिक डिजाइनर पाइकल होराल्ड।

वह पेरिस के एक अनुसन्धान केन्द्र का अल्प वेतन भोगी कर्मचारी था। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय पेरिस पर जब जर्मन सेना का अधिकार हो गया तो उसके मालिक को भी जर्मनों के लिये काम करना पड़ा।

पाइकल साधारण कर्मचारी तो था फिर भी उसमें अपने देश तथा विश्व-मानव के प्रति ब्रद्धा भक्ति थी। वह जानता था कि हिटलर सारे विश्व का अकेला भिरकुरा शासक बनना चाहता है तथा सब देशों को जर्मनी के अधिकार में ले आने का कुचक्र रच रहा है, तो उसके सहयोग के लिये कार्य करना उस जैसे स्वतन्त्रताप्रिय मनुष्य के लिए सम्भव नहीं हो सका। उसने अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया।

उसने केवल अपनी नौकरी से ही त्यागपत्र नहीं दिया वरन् स्वयं भी हिटलर तथा उसके धुणित नाजी समर्थकों के विरुद्ध संपर्क करने की ठान उठा।

वह मित्र राष्ट्रों विशेषकर ब्रिटेन के लिये अपनी जामूसी सेवाएँ देना चाहता था। उसने उसी के उपयुक्त काम भी चुन लिया। उसने ऐसे निर्माता के यहाँ काम शुरू कर दिया जो सकड़ों के कोयलों से चलने वाले गैस जनेटोर्कों का निर्माण करता था।

उसे अपने इस सेवाकाल में कई बार जंगलों में जाना तथा कोयला उत्पादन का काम देखना पड़ता था। वह लकड़ी का कोयला बनाने वाले क्षेत्र फ्रांस तथा स्विट्जरलैण्ड की सीमा पर थे। वह उसके लिये उपयुक्त कार्य क्षेत्र था।

माइकल होराल्ड ने यह निश्चय किसी भावुकता अथवा आवेश में नहीं किया था। इसके पीछे उसकी अन्तःप्रेरणा थी जो उसे प्रेरित कर रही थी कि विश्व शान्ति को संकट उपस्थित करने वालों की प्रेषित कामनाओं के विरुद्ध उसे जमकर संघर्ष करना है, चाहे इसमें प्राणों की आहुति ही क्यों न देनी पड़े।

मनुष्य के अन्तःकरण में ईश्वर के संस्कारों के लिये साहस कर गुजरने की अद्भुत सामर्थ्य प्रदान की है। यह सामर्थ्य प्रत्येक दिशा में फूट पड़ती है। वही सामर्थ्य उसे कुछ कर गुजरने के लिये विवश कर रही थी।

उसने विश्वयुद्ध के दौरान ४९ बार फ्रांस तथा स्विट्जरलैण्ड की सीमाओं को पार किया था। फ्रांस में जर्मनी का अधिकार था तथा स्विट्जरलैण्ड तटस्थ राष्ट्र था। यहाँ उसे ब्रिटिश सरकार के गुप्तचर मिल जाते थे जिन्हें वह जर्मन सेना की गतिविधियाँ तथा बमवर्षक अड्डों के पते व नक्शे दिखाने के लिए कहता था।

उसने पूरे एक अभियान का सूत्र संचालन किया था। जर्मनों की गतिविधियों का पता वह अकेला नहीं लगा सकता था। उसने अपने मित्रों, परिचितों तथा ऐसे देशभक्तों का एक संगठन बनाया जो अपने देश को जर्मनों के पंजों से छुड़ाना चाहते थे तथा विश्व संकट को दूर करना चाहते थे।

बुरे काम के लिये चोर-डाकुओं को भी साथी सहयोगी मिल जाते हैं तो एक महत्वपूर्ण उद्देश्य को लेकर चलने वाले को साथी क्यों न मिलते? पहले वह अकेला इस काम में जुटा फिर उसके साथियों की संख्या बढ़ती गई। यह संख्या तीस वर्षों में १२० तक पहुँच गई। इनमें से बीस जर्मन सेना द्वारा पकड़ लिये गये तथा मृत्यु के भाग उतार दिये गये।

होराल्ड तथा उसके साथियों ने सबसे बड़ा काम जो किया गया वह बी-१ बमवर्षक अड्डों की सूचना एकत्रित करके ब्रिटिश सरकार तक पहुँचाना था।

ये अस्त्र बिना चालक के वायुयानों द्वारा गिराये जाते थे। इस प्रकार के भयानक अस्त्र अन्य किसी देश के पास नहीं थे। फ्रांस में इनके चार अड्डे बन रहे थे।

होराल्ड के कान में इस प्रकार के अस्त्रों की भनक पड़ी तथा यह ज्ञात हुआ कि ये अड्डे जहाँ फ्रांस में भी बन रहे हैं तथा इनमें जो मजदूर काम में लगाये गये हैं वे स्विस हैं जिससे कि उनका भेद कोई जान न पाये। यह बड़ी सावधानी तथा गुप्त रीति से चलाये जा रहे थे।

यह यह खबर सुनकर काँप उठा। उसने तीन वर्ष तक अपनी बीबी बच्चों का मुँह नहीं देखा। दिन रात

ऐसे गुप्त अड्डों की खोज में भटकना ही उसका काम था। उसके साथी तथा वह साइकिलों पर पूरे देश का चप्पा चप्पा छानने लगे। उनके न कोई छाने का समय था, न सोने का। जो मिल जाता था लेते तथा जहाँ जगह मिल जाती वहाँ पड़े रहते। पूरे तीन वर्षों तक उसकी यह तपस्या चलती रही।

जहाँ भी नई इमारत बन रही होती वहाँ मजदूर के वेतन में, भिखारी के वेतन में वह पहुँच जाता तथा पता लगता कि यहाँ कोई बमवर्षक अड्डा तो नहीं बन रहा है।

उन्हें इस कार्य में पर्याप्त सफलता भी मिल रही थी। तीन सालों में ही उन्हें साठ ऐसे अड्डों का पता लग गया था। चौथे साल में चालीस कर और पता चला। यह सब दो सौ मील के घेरे में बन रहे थे।

अड्डों का पता लगना सेना ही काफी नहीं था। उनको पूर्ण स्थिति के नक्शे बनाना तथा बनने वाले अड्डों के दृष्ट लेना और उन्हें ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों के हाथ में पहुँचाने का जोखिम भरा काम भी वही करते थे। होराल्ड इस प्रयास में कई बार कूर नावियों के जंगुल में कैद-फँसते बचता था।

सीमा पार करना बड़ा ही साहस का काम था। फ्रांस की सीमा पर जर्मन सैनिक तथा उनकी खूँखार कुत्ते मनुष्य की गन्ध पते ही उस ओर लपकते थे। ऐसे कई पहरे को पार करके स्विट्जरलैण्ड की सीमा में पहुँचना तथा वहाँ से पुनः फ्रांस की सीमा में घुस आना पूरी तरह जान पर चलना था।

एक बार सीमा की कैंटीली बाड़ फाँदते समय होराल्ड की पिन्डली जर्मन सैनिकों के कुत्ते ने पकड़ ली। उस समय वह एक घसियारे के वेतन में था। उसके पास आलुओं से भरी एक टोकरी थी जिसमें वे गुप्त कागजात रखे हुए थे जिनमें अड्डों के नक्शे थे।

होराल्ड के पास कोई हस्त्र भी नहीं था। उसने ऐसी विकट परिस्थिति में साहस नहीं छोड़ा। उसके हाथ में एक लकड़ी मात्र थी। उसका एक भरपूर चार कुत्ते की नाक पर किया वह चारों छाने चित हो गया तथा होराल्ड ने तुरन्त अपनी राह ली।

तीन वर्षों में वह थक कर चूर हो चुका था। दिन-रात की दौड़ तथा सिर पर भँडराती पकड़े जाने की अवज्ञा के बीच वह अपना काम करता रहा था। जर्मनों को आश्चर्य होता था कि उनके बनते हुए अड्डे किस प्रकार नष्ट हो जाते हैं। इंग्लैण्ड में बैठे चर्चिल को कैसे इन गुप्त घेदों का पता चल जाता है।

वे अपने इरादों को धूमिल होते देखकर बीखला उठते। नाजी गुप्तचर गली-गली में इस प्रकार की सूचना घेजने वालों को टोह लेते घूमते फिरते थे। इन सब के बीच माइकल होराल्ड विश्व को अपनी पराधीनता के दमन चक्र से बचाने के लिये प्राणपण से जुझता रहा। वह जानता था कि इंग्लैण्ड का पतन हो जाने पर जर्मनी की

शक्ति से लोहा सेना किसी के बस का नहीं रहेगा। वह अपने उद्देश्य को पूरा करने में सफल रहा। यद्यपि वह युद्ध के अन्तिम समय में जर्मन सेना द्वारा पकड़ लिया गया था तथा फ्रांस में अपनी हार होती देखकर उसे अन्य बन्दिनों के साथ एक अँधेरे जहाज में बैठाकर उस जहाज को समुद्र में उतार दिया था। किन्तु मारने वाले से बचने वाला बड़ा होता है। एक रेडक्रासशिप की सहायता से वे सब मनुष्य बच गये।

अपने इस साहसिक कृत्य के लिये माइकल होराल्ड को ब्रिटिश सेना का सर्वोच्च पदक प्रदान किया गया। उसके ले जाने के लिये राजकीय ज्वरु सेना का वायुयान आया तथा पूरे सम्मान से वह पदक भेंट किया गया। वह इस सर्वोच्च सैनिक पदक को पाने वाला प्रथम विदेशी नागरिक था।

इतिहास के पृष्ठों में माइकल होराल्ड का नाम जब तक रहेगा विश्व-मानवता के लिए अपनी जान जोखिम में डालने वालों का प्रेरणा स्रोत बना रहेगा।

वियतनाम के राष्ट्रपिता-

हो ची मिन्ह

सन् १९१०-११ के लगभग की बात है। तब दक्षिण पूर्व एशिया के एक छोटे से देश वियतनाम पर फ्रान्सीसियों का कब्जा था। कहना नहीं होगा कि उपनिवेशवादियों का उद्देश्य अपने अधीन देशों का शोषण करना ही होता था। वियतनाम में कच्चा माल प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होता-वहाँ के शासक जाति उस माल को अपने देश में ले जाती और उस माल से चाँदी काटती। चूँकि प्रचुर मात्रा में होता था कच्चा माल, इसलिए वियतनाम के प्रमुख बन्दरगाह सैगोन पर फ्रान्सीसी जहाजों का तीरा लगा रहता था।

ऐसे ही जहाज के आस-पास घूमकर काट रहा था एक इन्कौस वर्षीय शिक्षित नवयुवक। इरादा था कि जहाज में कोई छोटा-मोटा काम मिला जाये और विदेशों में घूमने का अवसर प्राप्त हो। उस युवक ने जहाज के मजदूरों से पूछताछ की कि कोई काम मिला सकेगा क्या, पर वे सब उपेक्षा भरी निगाहों से उसकी ओर देख भर लेते, जो यह कहती कि तुम क्या काम करने लायक हो या किसी काम के योग्य नहीं हो।

जिन मजदूरों से भी उसने पूछा उन्होंने यही रुखा-सा जवाब दिया। आखिर एक कर्मचारी के हृदय में न जाने क्यों युवक के प्रति सहानुभूति उमड़ आयी और वह उसे कप्तान के पास ले गया। कप्तान ने वियतनामी युवक को देखकर तभी अन्दाज में पूछा-‘तुम क्या काम कर सकते हो?’

‘जो भी आप बताना दें’-युवक ने कहा।

‘ठीक है’-कप्तान बोला और उसने जहाज के रसोइये का सहायक बनाकर इस प्रकार उनकी ओर देखा कि उसने किसी भिखारी की धैली में अशफियाँ उड़ेल दी हों

पर युवक इसी में सन्तुष्ट था और वह जो लगाकर मेहनत से रसोइए के सहायक का काम करने लगा। इस जहाज के कर्मचारियों सहित सवार यात्रियों की कुल संख्या लगभग एक हजार थी और इन सबके लिए एकमात्र किचन में सहायक था वह युवक। जो सुबह चार बजे उठकर रसोई साफ करता, अँगीठियाँ जलाता, निचली मॉबिल से सफ़ाई और अनाज ढोकर लाता, उन्हें काटता, बरतन मॉबिल और बक बाने के बाद रात के नौ बजे के करीब बिस्तर पर पहुँचता वहाँ कुछ चण्टों तक किचन में पड़ता रहता।

जहाज पर रसोइए का सहायक बनकर विदेश यात्रा के उद्देश्य से निकलने वाला वह नवयुवक और कोई नहीं वर्तमान विमतनाम का राष्ट्रपिता ही थी मिन्ह ही था। जो एक स्कूल में अध्यापकी की अच्छी नौकरी छोड़कर जहाज पर यह साधारण-सा कठोर मेहनत का काम स्वीकार करने के लिए निकल पड़ा था और वह सब इसलिए कि किसी प्रकार वियतनाम को फ्रान्सीसी शिकंजे से मुक्त किया जा सके। वे एक उच्च अधिकारी के बेटे थे परन्तु फिर भी उन्हें देशभक्ति अपने पिता से विरासत के रूप में मिली थी।

यद्यपि उनके पिता का बचपन बड़ी गरीबी में बीता। वे एक चरवाहे का काम किया करते परन्तु पढ़ने-लिखने और शिक्षा प्राप्त करने में उनकी रुचि बचपन से ही रही थी। अतः वे शिक्षा प्राप्त करने के बाद एक अध्यापक बन गये। उनकी के परिवार में सन् १८९० ई० में उनका जन्म हुआ। एक शिक्षक के रूप में अपना जीवन आरम्भ कर आगे वे जिलाधीन बने। इस कारण ही तथा उनके भाई-बहनों को आज वियतनामी जनता द्वारा भोगी जा रही यंत्रणाओं से मुक्ति तो मिली परन्तु हो का हृदय अपने ही स्वदेश बंधुओं पर फ्रान्सीसी अफसरों द्वारा डोये जा रहे जुल्मों को देखकर विदग्ध हो उठता। अक्सर वियतनाम की सत्थर जनता को बेगार में लगा दिया जाता। नाम मात्र को मजदूरी और पशुओं की तरह दिन-रात काम में जुटे रहना जैसा उन मजदूरों की भिद्यति ही बन गया था। कैसा भी भीषण हो और कैसा भी स्वास्थ्य, क्या मजाल है कि इस बुरे से थोड़ी गर्दन भी हिला सके। जरा भी किसी कारण से काम में ढिलाई आती तो उन्हें बेंतों और हण्टरों से बड़ी बुरी तरह धोया जाता। कई लोग जो अपुष्ट खाद्य और कड़ी भक्षकत्व के कारण अपना सारा मौस गलाकर इहडिर्ब हो बचाये रह सके थे, इस पिटाई के कारण इहडिर्बों का वह पिंजरा भी छोड़कर अपने प्राण पखेरू ले उड़ते। इन अत्याचारों को हो ने स्वयं अपनी आँखों से देखा था और करुणा तथा आक्रोश का समन्वित भाव उदय हो उठता था।

हो के पिता भी एक देशभक्त और क्रान्तिकारी विचारधारा के व्यक्ति थे। थले ही वे उच्च पदाधिकारी रहे हों पर अनचेतना जगाने का उनका अपना अलग ढंग था और ठीकी हिसाब से वे इस दिशा में काम भी करते रहे।

काफी समय तो फ्रान्स के उच्च अधिकारियों को इस बात का पता नहीं चला, लेकिन जब उन्हें खुराक मिल गयी तो उन्हें नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया।

पुनः उनका परिवार पूर्व की स्थिति में आ गया। लेकिन न पिता मिरास हुए न पुत्र ने हिम्मत हारी। जिस कार्य को वे शासकीय सेवा में रहते हुए छोटी-छुपी करते थे वह काम अब वे खुल्लम-खुल्ला करने लगे और देश के निर्धन बजटों में जन-चेतना जगाने का कार्य शुरू कर दिया। परन्तु परिवार की प्राथमिक आवश्यकताएँ पूरी करना भी तो जरूरी था। अतः हो भी गिन्ह ने एक गैर सरकारी स्कूल में शिक्षक का पेशा अपनाया। गैर सरकारी स्कूल में इसीलिए कि वहाँ के विद्यार्थी बच्चों में देश-प्रेम के बीज बोये जा सकें।

इफरान के उस स्कूल में हो ने लगभग एक वर्ष तक नौकरी की और एक दिन नौकरी छोड़कर सीनेन पहुँच गये। अपने अध्यापक काल में हो ने वे अनुभव कर लिए थे कि विद्यतनामी जनता को शासक और होषण से मुक्त करने में इस प्रकार के छुट-पुट प्रवास ही काफ़ी नहीं होंगे-बल्कि इसके लिए दीर्घकालिक अभियान संघर्ष की आवश्यकता है। उस आवश्यकता को पूरा करने के लिए एक बन्ध बन्ध का सके, इसके लिए उन्होंने विदेश जाकर आवश्यक अध्ययन और समुचित शिक्षण प्राप्त करने का निश्चय किया। और इसकीस वर्ष की आयु में ही एक जहाज के किचन-सहायक बनकर उन्होंने यह अवसर भी प्राप्त कर लिया।

जहाज-जिसमें कि हो रसोइए के सहायक बनकर यात्रा कर रहे थे मार्सेल्स (फ्रान्स) पहुँचा। वहाँ सभी कर्मचारियों को वेतन दिया गया और साथ में टिप भी। लेकिन हो को जो वेतन मिला वह अन्य कर्मचारियों की तुलना में बहुत कम था। जबकि उनका काम था सबसे कठोर परिश्रमपूर्ण। हो से न्यूनतम अधिक जिस कर्मचारी को वेतन और टिप मिला था उसका दसवाँ हिस्सा हो को दिया गया था। परन्तु उन्होंने मिरासदभाष से इतना मात्र ही स्वीकार कर लिया क्योंकि वेतन के उद्देश्य से तो उन्होंने जहाज में नौकरी नहीं की थी-नौकरी तो की थी विदेशों की यात्रा के उद्देश्य से तर्क पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर वे अपने देश के स्वतन्त्रता सेनिकों को मार्गदर्शन करा सकें, जहाज जितने दिन मार्सेल्स में रुका उतने दिन तक हो फ्रान्स घूमते रहे और वहाँ के जन-जीवन का निरूपण से अध्ययन करते रहे। मार्सेल्स से उवाना होकर जहाज स्पेन, पुर्तगाल और द्यूनेशिया होता हुआ अफ्रीकी महाद्वीप में पहुँचा। इन सभी स्थानों पर हो ने बड़ी गम्भीरता से वहाँ के जन-जीवन को देखा और पाया कि सभी स्थानों पर गरीबी है परन्तु वहाँ के शासन तंत्र का अपनी जनता से व्यवहार इतना गिरा हुआ नहीं है जितना कि विद्यतनामी में। उन देशों में गुलाम देश के नागरिक को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा जाता है-यह भी हो ने अनुभव किया। उपनिवेशवादी देश के नागरिक जिस दृष्टि से गुलाम देश के नागरिकों को देखते थे वह उन्हें सहन न हुआ।

एक बार किसी बन्दरगाह पर-शायद अफ्रीकी देश के ही-समुद्र में तूफान मचा। उस समय जहाज बन्दरगाह के बाहर था और तूफान इतना तेज था कि जहाज का बन्दरगाह में प्रवेश कर पाना लगभग असम्भव सा हो गया। ऐसी परिस्थिति में नौबें भी नहीं उतारी जा सकती थीं। अतः छट पर छड़े फ्रान्सीसी अधिकारियों ने जहाज से सम्पर्क साधने के लिए अफ्रीकी तैराकों को समुद्र में उतारा। पहले एक तैराक उतरा-कुछ देर तक तो वह समुद्री तूफान से संघर्ष करता रहा परन्तु बाद में लहरों में खो गया। होना तो यह चाहिए था कि ऐसी स्थिति में अधिकारीगण खौद व्यक्त करते और पुनः बौसी गलती न दोहराते परन्तु हुआ इसके विपरीत ही-समुद्री लहरों में अफ्रीकी तैराक को खो गया देखकर वे खिलखिला उठे और उन्होंने दूसरे तैराक को उतारा। दूसरे अफ्रीकन को अपनी मौत सामने खड़ी देखकर भी समुद्र में उतरना पड़ा उसका भी वही परिणाम हुआ-परिणाम की प्रतिक्रिया भी वही। अन्य चण्डियों और कर्मचारियों के साथ हो भी यह दृश्य देख रहे थे और इसमें फ्रान्सीसी अधिकारी अपना मनोरंजन करते तो अन्य गैर फ्रान्सीसी भूक हुआ बने रहे जिनसे नहीं देखा गया वे डेक पर से चले आये। लेकिन हो को यह दृश्य देखकर रोना आ गया।

अफ्रीका के बाद अमेरिका और यूरोप के कई देशों में जहाज के साथ घूमते हुए १९१६ में इंग्लैण्ड आ गये और वहाँ उन्होंने जहाज छोड़ दिया। उनकी दृष्टि में ब्रिटेन में जन-जीवन का अध्ययन महत्वपूर्ण रूप से सहायक सिद्ध हो सकता था इसलिए उन्होंने वहीं रहने का निश्चय किया और 'एक स्कूल' में सकार्ज कर्मचारी का पद प्राप्त कर लिया। यह काम भी बड़ी मेहनत का था और वहाँ उन्होंने अनुभव किया कि इस प्रकार कठोर परिश्रम करते हुए वे अपने स्वास्थ्य को नहीं बचा पायेंगे। अतः शीघ्र ही एक और काम खोज लिया-लेकिन वह भी अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ तो उन्होंने लंदन के एक होटल में बेयर की नौकरी कर ली।

इन्हीं दिनों पहला विश्वयुद्ध भी छिड़ चुका था अतः हो ने इंग्लैण्ड में ही रहने का विचार किया। होटल की इयूटी देने के बाद जो समय बचता उसे वह अंग्रेजी सीखने में लगाने लगे। इन दिनों मित्रराष्ट्रों ने अपने गुलाम देशों से इस बचन पर भदद ली थी कि विश्वयुद्ध समाप्त हो जाने के बाद वे उन्हें आजाद कर देंगे, पर जैसे ही विश्वयुद्ध समाप्त हुआ युद्ध के विजेता राष्ट्र अपने वायदे से भुकर गये। इसी युद्ध के दौरान रूस में सेनिन की साम्यवादी सरकार का गठन हुआ था। रूस की क्रांति ने हो को एक नये दिशा दी और वह अपने देश के संदर्भ में इस निर्णय पर पहुँचे कि यदि उपनिवेशों की गुलामी के बंगुल से मुक्त होना है तो वहाँ की जनता को स्वयं ही इसके लिए लड़ाई लड़नी होगी।

अब वहाँ से उनके सक्रिय जीवन का आरम्भ होता है। उक्त अवसर का एक पैम्फलेट छपवाकर विद्यतनामी

५.५८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

मजदूरों और फ्रान्सीसी सेना के विप्लववादी सिपाहियों में बैठबाया। जिसका बड़ा प्रभाव हुआ।

इंग्लैण्ड छोड़कर वे फ्रान्स आ गये क्योंकि वहाँ वे अपना कार्य अधिक सुविधापूर्वक चला सकते थे। अतः उन्होंने लगातार लेख और पत्र लिखकर जनता में बैठबाया आरम्भ कर दिया। वहाँ रहकर उन्होंने साम्यवादी विचारधारा का अध्ययन किया और फ्रान्सीसी सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य भी बने। इस समय तक उनका प्रभाव क्षेत्र भी काफी बढ़ गया था और राजनैतिक गतिविधियों में व्यस्तता थी। जीविकोपार्जन के लिए अधिक समय लगाना सम्भव नहीं रहा अतः उन्होंने फोटोग्राफी का बच्चा सीखा और उससे कायचलाक उपार्जन करके अपनी जीविका चलाने लगे। किसी भी भ्रम विशेष के लिए समर्पित महापुरुषों को अपनी दैनिक आवश्यकताओं पर जरा कद ही समय लगाना सम्भव रहता है। हो के लिए भी बड़ी सिद्धान्त लागू होना था अतः वे बहुत छोड़ा समय अपने निर्वाहोपयोगी साधन चुन चुकने में लगाते और अधिकांश समय पुस्तकालयों अथवा राजनैतिक कार्यक्रमों में। रहने के लिए भी उन्होंने पेरिस की मजदूर बस्ती में एक छोटे से कमरे की व्यवस्था की थी।

१९२३ में मास्को में कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। क्रिच कम्युनिस्ट पार्टी ने उन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा। वहाँ पर साम्यवादी नेताओं ने विप्लवनाम में क्रान्तिकारी आंदोलन का संगठन करने का काम सींचा। विप्लवनाम में भी इंग्लैंड के कम्युनिस्ट पार्टी का गठन हो चुका था, पर उनमें एकता नहीं थी। पार्टी तीन गुटों में बँटी हुई थी और प्रत्येक गुट जनता पर अपना-अपना प्रभाव जमाने की कोशिश में एक दूसरे की दौंग खींच रहे थे। फलस्वरूप जनसंस्कारण पर कम्युनिस्ट आंदोलन का कोई प्रभाव नहीं होता था, ठस्टे बिखरी हुई शक्तियाँ सन्नजवाह की स्थापना में बाधक हो बनती थीं।

इन्हीं दिनों वे चीनी क्रान्ति में हिस्सा लेने के लिए चीन भी गये और वहाँ से ही तीन गुटों के कर्णधारों से सम्पर्क साधा व उन्हें एकजुट होकर एक ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने हेतु एकता के सूत्र में बाँध। हो भी मित्र के प्रयत्न सफल रहे और अप्रैल, १९३० में विप्लवनाम की जनता ने क्रान्ति का उद्घोष सुना व जनक्रान्ति का आरम्भ भी हो गया। फ्रान्सीसी सरकार के लिए यह एक अप्रत्याशित घटना थी अतः पहले तो वह बीखला उठी और फिर उसने जनता की आवाज को कुचलने के लिए उपनिवेशवादी का प्रमुख शस्त्र सम्प्रदाय, दमन-चक्र। जनक्रान्ति का त्रीगणेश तैकिन से हुआ था अतः सरकार ने उन्हें बड़ी बुरी तरह रौंद डालने का प्रयास किया लेकिन इसका परिणाम उल्टा हो हुआ। क्रान्तिकारियों के पक्ष में सारे देश की जनता उठ खड़ी हुई और एक स्थान पर दबायी गयी जनता की आवाज स्वन-स्थान से मुखर और बुलन्द होने लगी। देश में कई जगहों के मजदूरों और श्रमजीवियों ने हड़तल्लों की और सरकार

ने अपना दमन चक्र और तेज कर दिया। यहाँ तक कि हवाई जहाज द्वारा बमबारी करके भी उन्होंने मजदूरों को परत हिम्मत और परास्त करने का कदम उठाया परन्तु दमन चक्र के टूटने किये गये सभी प्रयास क्रान्ति की आग में भी का काम करने लगे। वहाँ तक कि कुछ प्रान्तों में तो जनक्रांती सरकारें भी बन गयीं।

फ्रान्सीसी सरकार ने सेना के बल पर, अपने साथी देशों के बल पर इस आन्दोलन को तेजी से दबा दिया। जब तक हो भी मित्र बाहर रहकर ही क्रान्ति का नेतृत्व कर रहे थे। समस्त विप्लवियों के सुत्रधार वे हैं, यह पता चलते ही उन्हें हांगकांग में गिरफ्तार किया गया। लेकिन जल्दी ही छोड़ भी दिया क्योंकि उनकी गिरफ्तारी से तो और भी अनर्थ होने की सम्भावना थी।

जब दूसरा विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ तो फ्रान्स का सारा प्यान महामुद्र की ओर लग गया तथा उसका दमन चक्र भी डीला पड़ा। इस अवसर का फायदा उठाने के लिए हो भी १९४१ की शुरुआत में विप्लवनाम लौट आये। अपनी भूतभूमि पर उन्होंने तीस साल बाद कदम रखे और रखा तो ही क्रान्ति को मुक्ति संघर्ष का आयोजन दिया। चीनी सीमा के नजदीक एक पहाड़ी स्थान पर उन्होंने गुरिल्ला कैम्प लगाने आरम्भ किये और उन्हें संगठित कर मुक्ति संघर्ष में जुटा देने का कार्य आरम्भ किया।

गुरिल्ला कैम्प के संचालन-ठन्के संगठन और उनके निर्देशन में हो भी मित्र दिन रात लगे रहते, फलस्वरूप वे बीमार पड़ गये। बीमारी की अवस्था में भी उन्होंने काम करना नहीं छोड़ा, विप्लव स्वाभाविक इतना गिर गया कि उन्हें सन्नपत के टीर पड़ने लगे। बड़ी मुश्किल से चिकित्सा का प्रबन्ध किया गया और वे स्वस्थ हो गये। स्वस्थ होते ही पुनः काम में भूत की तरह डट गये।

और मुक्ति संघर्ष में, मुक्ति मोर्चे को प्रतिदिन सफलताएँ मिलती गयीं और मोर्चे ने २ सितम्बर, १९४५ को अपनी सरकार बना ही ली। इन्हीं पर तो विजय प्राप्त कर ली परन्तु अभी संघर्ष खेब था- जो सन् १९५४ तक चला। जनवादी सरकार का राष्ट्रपति हो को ही बनाया गया। हालाँकि सितम्बर, १९४५ में ही मुक्ति मोर्चे ने फ्रान्सीसी सेनाओं को परास्त कर डाला परन्तु प्रत्यक्ष की सेनाओं ने अपने बर्बर आक्रमण जारी रखे और मुक्ति मोर्चे ने लम्बे संघर्ष के बाद उनकी भी कम्मर तोड़ कर रख दी।

इस रक्तपात का अन्त १९५५ में हुआ। उस समय विप्लवनाम को दक्षिणी और उत्तरी विप्लवनाम दो भागों में बाँट दिया। हो को यह कदापि स्वीकार नहीं हुआ फिर भी एक भाग में शांति की स्थापना के लिए उन्होंने विप्लवता से इसे स्वीकार किया और दूसरे क्षेत्र में मुक्ति संघर्ष जारी रखा। जिसका अभी बोदे समय पूर्व ही अन्त हुआ है और खण्डित विप्लवनाम पुनः एक हुआ है। पर यह देखने के लिए तो हो भी जीवित नहीं रहे। १९६७ में ही उनका देहान्त हो गया। अपने देश को अखाण्ड देखने की उनकी यह अकाला इतनी बलवती थी कि इसके बिना उन्हें

अपना ध्येय अधूरा मिला लग रहा था। १९६७ में रूस सरकार ने जब उन्हें लेनिन पुरस्कार देना चाहा तो इसी कारण उन्होंने अस्वीकार करते हुए कहा—“यदि हम अमेरिका के विरुद्ध युद्ध में अन्तिम विजय प्राप्त कर लें, तभी मेरे लिए कोई पुरस्कार लेना उचित होगा।”

सैद्धान्तिक क्रान्ति के स्वरूप—

टॉमस जैफर्सन

ब्रिटिश शासन काल में औपनिवेशिक विधान सभा—हाउस ऑफ बर्जसिस के सदस्य का चुनवा सककर टॉमस जैफर्सन ने अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत की। यों पेशे से वह एक न्यायाधीश थे परन्तु कुछ कारणों से उन्होंने राजनीति में प्रवेश किया। इन कारणों का उल्लेख करते हुए उन्होंने जनता के सामने शपथ ली—“मैं मनुष्य के मन पर किये जाने वाले हर प्रकार के अत्याचार का अन्त काल तक विरोध करूँगा।”

उन्होंने अपने देश में मानवता पर भयानक अत्याचार होते देखा। परमात्मा के पुत्रों का मनुष्य द्वारा सम्पत्ति के व्यवसाय की तरह लेन-देन, व्यापार, दास प्रथा का युजित तम रूप, निरोह और पद दलित नीच स्तरों पर अमानवीय अत्याचार उस समय चरम सीमा पर था। टॉमस जैफर्सन के मन में शुरु से ही नीचो गुलामों के प्रति सहानुभूति थी और जब वे कुछ कर सकने की स्थिति में आये तो सहानुभूति कर्तव्य में बदल गयी।

जैफर्सन को विरासत में अच्छी धारदाद मिली थी। बचपन से ही गुलामों ने जैफर्सन को अपने प्रति सुहृदय पाया तो काले नीचो भी उन्होंने भरपूर इतब से प्यार करने लगे। उनकी सम्पत्ति को अपनी सम्पत्ति की तरह समझकर और अच्छी देखभाल करने लगे। परन्तु जैफर्सन इन गुलामों की स्थिति को मानवता पर कलंक समझते थे। इसलिए वे यही सोचा करते कि जब भी मुझे अवसर मिलेगा मैं इस कलंक को मिटाकर रहूँगा।

वह अवसर भी शीघ्र ही आया। जैफर्सन अपने पिता की धारदाद के उत्तराधिकारी बने और उन्होंने सभी गुलामों को स्वतन्त्र कर देने की घोषणा का विचार किया। परन्तु उस समय का कानून मार्ग में बाधा बनकर खड़ा हुआ। तब गुलामों का मालिक भी स्वेच्छा से अपने गुलामों को मुक्त नहीं कर सकता था। इस बाधा को दूर करने के लिए उन्हें राजनीति में प्रवेश करने की बात सोचनी पड़ी। क्योंकि काफी समय तक प्रयत्न करने के बाद भी उनके विचार से कोई सहमत होता नहीं दिखाई देता था। वे वर्जिनिया के हाउस ऑफ बर्जसिस के सदस्य चुन भी लिये गये।

टॉमस जैफर्सन का जन्म एक सम्पन्न परिवार में १३ अप्रैल, १७४३ ई० को हुआ। मात्र पिता ने उनकी योग्यता

विकास के साथ साथ चरित्र और मानवीय गुणों के अभिवर्द्धन की ओर भी समुचित ध्यान दिया था। इसी कारण वे आगे चलकर न्याय और प्रेम के प्रबल पोषक बने। मानवीय गुणों और तत्त्वों की अवहेलना कर किया गया सम्पत्ति का उपभोग अनर्थकारी ही होता है। विपुल सम्पदा में तो और भी अधिक उपेक्षा की सम्भावना रहती है परन्तु उसका यदि विवेक सम्मत उपयोग किया जाय तो मनुष्य महान भी बन सकता है।

टॉमस जैफर्सन ने अपना जीवन काल एक वकील के रूप में आरम्भ किया। वे समझते थे कि इस पेशे को अपनाकर न्याय की अधिक सेवा कर सकेंगे। परन्तु शीघ्र ही उनकी यह भावना टूट गयी। इस क्षेत्र में आते ही उन्होंने अनुभव किया कि वकील एक ऐसा व्यक्ति है जिस का काम हर तरह के सवाल करना, स्वयं कुछ भी न करना और पण्यों बाँटें करते रहना है। स्वार्थ और पैसे के लोभ में वकील अपनी प्रतिभा के बल पर हर अनुचित को उचित भी ठहरा सकता है और उचित को अनुचित भी। इस प्रकार न्याय संस्था नहीं दुर्बल और खर्चीला बन जाता है। यही नहीं तर्क-वितर्कों के जंगल में पड़ जाने से कभी-कभी तो न्याय के स्थान पर अन्याय ही मिलता है। सैद्धान्तिक रूप से उन्हें अपना पेशा ठीक नहीं जँचा और उन्होंने बकायत छोड़ दी।

कुछ वर्षों बाद वे न्यायाधीश के पद पर नियुक्त हुए। कालान्तर में इस पर कार्य करते हुए जैफर्सन ने देश के स्तरों स्तरों के लिये जो न्याय बाने के लिए किसी भी अदालत का दरवाजा नहीं खटखटा सकते थे, न्यायाधीश का पद भी छोड़ दिया और औपनिवेशिक सभा के सदस्य चुने गये।

सदस्य बनते ही उन्हें प्रतिज्ञा को पूरा करने का अवसर मिला और संसद में उन्होंने एक ऐसा कानून पेश किया जिसके अनुसार किसी भी गौर स्वामी को यह आदेश दिया जा सकता था कि वह अपने अधीनस्थ गुलामों को मुक्त कर सके। इस प्रथा पर यह उनकी पहली चोट थी। वे जानते थे कि इससे बड़ी चोट करना अपने स्थिति और पहुँच के बाहर था। इस विधेयक का भी बहुत विरोध हुआ परन्तु अन्ततः पारित हो गया और उन्होंने अपने सभी दासों को मुक्त कर दिया।

अब उन्होंने राजनीति को ही जनसेवा का उपयुक्त माध्यम बना लिया था। सभी कौन्टिनेण्टल काँग्रेस का गठन हुआ। यह काँग्रेस अमेरिका की स्वतन्त्रता घोषणा के लिए गठित की गयी थी। जैफर्सन को भी इसका सदस्य बनाया गया। उस समय उनकी आयु केवल ३३ वर्ष की थी। इस घोषणा का मसविदा तैयार करते हुए उन्होंने लिखा कि—“सब मनुष्य सभान उत्पन्न हुए हैं। उनके स्वभाव में उन्हें कुछ अनपहरणीय अधिकार दिये हैं जिनसे जीवन, स्वतन्त्रता और सुख-प्राप्ति के प्रयत्न भी हैं।”

इस घोषणा की सर्वत्र सराहना की गयी। उनके समकालीन विद्वानों ने उन्हें ‘क्रान्ति की कलम’ कहकर

५.६० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

सम्पन्नित किया। किन्तु जैफर्सन इससे भी अधिक थे। उनकी गतिविधियाँ और क्रियाशीलता मात्र यहीं तक सीमित नहीं थीं। वे इस घोषणा को कार्यरूप में परिणत हुआ देखना भी चाहते थे।

जॉर्ज वाशिंगटन के नेतृत्व में गठित सरकार ने उनकी प्रतिभा का उपयोग अमेरिकी संविधान के निर्माण और अधिकार पत्र जोड़ने में किया। अमेरिकी संविधान में पहले दस संशोधनों को अधिकार पत्र कहा जाता है। यह राज्य के शासनाधिकारों को परिमित कर नागरिकों की मान्यता और आस्थाओं की सुरक्षा के लिए जोड़ा गया था। इन अधिकारों में पूजा-उपसना, समाचार पत्रों और विचारों के प्रकाशन के अधिकार भी सम्मिलित हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जैफर्सन को जॉर्ज वाशिंगटन ने अपना प्रमुख सहयोगी बनाया और एक बरिह मंत्रालय सौंपा। परन्तु वाशिंगटन की कुछ नीतियों से असहमत होने के कारण उन्होंने थोड़े ही समय बाद मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया।

उन्होंने एक नये राजनीतिक दल का गठन किया जो आगे चलकर सत्तारूढ़ दल के समकक्ष हो लोकप्रिय बना। यह दल था डेमोक्रेटिक पार्टी। इस पार्टी का विश्वास था कि विकेंद्रित शासन प्रणाली द्वारा ही व्यक्ति को सर्वोत्तम संरक्षण प्राप्त हो सकता है। यह दल संघवाद के विरुद्ध राष्ट्रों के अधिकारों का प्रबल समर्थक रहा है।

सन् १८०० में वह अपने देश के तीसरे राष्ट्रपति चुने गये। वाशिंगटन के बाद उस समय जैफर्सन से योग्य उनका उत्तराधिकारी कोई दूसरा नहीं था। अपने चरों और व्याप्त विपुल सम्पदा तथा उसके उपयोग का अधिकारी होने के बावजूद भी वे किसी भी प्रकार की शान-शैकत के खिलाफ थे। देश के अधिकांश लोग जिस स्तर का जीवन जीते हैं उनकी दृष्टि में उसी स्तर का जीवन एक राष्ट्राध्यक्ष को भी जीना चाहिए। लाखों-करोड़ों आम नागरिकों को जो सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं उतनी सुविधाओं के उपयोग का नैतिक अधिकार ही एक राष्ट्रपति को है। उनकी इस महानता ने कई विरोधियों को भी अपनी प्रशंसक बना लिया। भरने के बाद भी किसी भी प्रकार का दिखावा या धन का अपव्यय न हो इस प्रकार की कड़ी हिदायतें दी थीं। उनकी कब्र पर केवल चार पंक्तियाँ अंकित हैं जिनमें लिखा है—“यहाँ अमेरिकी स्वातन्त्र्य घोषणा और वर्जिनिया के धार्मिक स्वाधीनता कानून का लेखक एवं वर्जिनिया विश्वविद्यालय का जनक टॉमस जैफर्सन दफनाया गया है।” लोग उनके जीवन और विचारों से प्रेरणा प्राप्त करें—इसी तथ्य का ध्यान यहाँ रखा गया है न कि उनके राष्ट्राध्यक्ष होने की सफलता से प्रभावित हों।

१४ जुलाई, १८२० को ८३ वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हो गया। उनका जीवन सिद्धान्त के प्रति निष्ठावान एक जाग्रत अन्तःकरण की कहानी है। उन्होंने असंख्य लोगों के मानवीय अधिकारों के लिए संकल्प का सूत्रपात

किया जो आगे चलकर कुछ ही दशकियों में सफल होकर रहा।

जैफर्सन की समदसता

भू० पू० अमरीकी राष्ट्रपति टॉमस जैफर्सन, एक भव्य होटल में गये और ठहरने के लिए स्थान माँगा। वे कृषक की-सी मामूली पोशाक में थे। होटल के मालिक ने उन्हें मामूली व्यक्ति समझकर स्थान देने से इन्कार कर दिया। जैफर्सन चुपचाप चले गये।

थोड़ी देर बाद वह पता चलने पर कि अभी जो आये थे—वे राष्ट्रपति जैफर्सन थे, होटल मालिक ने उन्हें ससम्मान वापस बुलाने के लिए अपने आदमी दौड़ाये, किन्तु जैफर्सन ने उन्हें यह कहकर लौटा दिया कि “अपने मालिक से कहना कि अगर तुम्हारे होटल में एक कृषक के लिए स्थान नहीं है तो अमरीका का राष्ट्रपति ही वहाँ कैसे ठहर सकता है।”

राष्ट्रपति जैफर्सन ने आजीवन अपने देशवासियों के समकक्ष रहकर महान उत्तरदायित्वों का पालन किया।

मृत्यु को निमन्त्रण देने वाले टेरेन्स—

मैकस्विनी

कार्ड-आयरलैण्ड के लॉर्ड मेयर पद पर २६ वर्षीय तरुण नेता टेरेन्स मैकस्विनी निर्वाचित हुए तो सिनफिनी दल की बैठक में भाषण करते हुए उन्होंने कहा—“मैं बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकता, या तो मारा जाऊँगा या कैद में पड़ा सड़ा रहा होऊँगा और वहाँ मैं अपना कब्रदान कर दूँगा।” इन उद्गारों को सुनकर दल के अन्य सदस्यों में उत्साह और देशभक्त मैकस्विनी के प्रति अपार करुणा और सद्भावना जाग्रत हुई थी। उस समय आयरलैण्ड अंग्रेजों का गुलाम था और वहाँ की जनता दासता के निर्यम वधन चक्र में पिस रही थी।

मैकस्विनी—जैसे विचारशील और देशभक्त नागरिकों ने स्वाधीनता के जन्मसिद्ध अधिकार को पुनर्जीवित करने का नारा बुलन्द तो किया था परन्तु वह अभी जनता की आवाज नहीं बन सकता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर उसके लिए कार्य करने वाले नेताओं ने सिनफिनी पार्टी नामक एक संगठन बनाया था और वे उसके माध्यम से अपने ढंग से काम भी कर रहे थे। मैकस्विनी इसी दल से सम्बन्धित थे। मेयर चुने जाने के बाद उन्होंने जो भाषण दिया था वह स्पष्ट मृत्यु के आगमन की घोषणा और उसकी प्रतीक्षा करने का संकल्प था। यह १९२० की बात है। मैकस्विनी को गली भीति मालूम था कि सरकारी अधिकारी उन पर निगाह रखे हुए हैं और उन्हें किसी भी कण गिरफ्तार किया जा सकता है। अब तक के अनुभव तो मृत्यु के निश्चित आगमन की ही सूचना देते थे।

कुछ महीने बाद ही उनके उद्गार सत्य सिद्ध हुए। १२ अगस्त, १९२० को अचानक उनके घर पर छापा पड़ा और

वे गिरफ्तार कर लिए गये । उनके पास कुछ क्रान्तिकारी साहित्य बरामद हुआ था । सरकार को उन्हें अपराधी प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त था । उन पर अभियोग लगाया गया कि मैकस्विनी अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध विद्रोह फैलाने का षड्यन्त्र रच रहे हैं । उन पर साधारण अदालत में नहीं सैनिक अदालत में मुकदमा चला । मुकदमा तो क्या चलना था पूरा नाटक करना था तर्क कहा जा सके कि मैकस्विनी ने कानूनन अपराध किया है और उन्हें वैधानिक ढंग से दण्डित किया गया है ।

कोर्टमार्शल में नियुक्त न्यायाधीशों ने उनसे पूछा- "आपको अपने बचाव की ओर से कुछ कहना हो तो कह सकते हैं ।"

तब मैकस्विनी ने कहा- "मेरे कहने का आप पर क्या असर होगा । क्योंकि जब भी किसी अनैति और अन्याय को सैद्धान्तिक रूप देना होता है तो बचाव पक्ष को सभी दलों में भी कोई काम नहीं आती है । स्पष्ट है आप की कार्यवाही गैरकानूनी है क्योंकि आप लोगों ने मेरे विरुद्ध जिस प्रकार षड्यन्त्र रचा था वह मुझे ही नहीं मेरे देश की आत्मा को, उसकी आवाज को जिसका प्रतिनिधित्व मैं और मेरा दल कर रहा था, कुचल देने का ही प्रयास था । आपके कहने पर केवल मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि आप जो कुछ भी कर रहे हैं वह अमानवीय तथा अवैधानिक भी है ।"

मैकस्विनी की इस स्पष्टता को न्याय का अपमान समझा गया और उन्हें कठोर कारावास की सजा दी गयी । अदालत से जेल में ले जाते समय जब उनके साथी उनसे मिलने के लिए आये तो पूछा- "यह तो सचमुच बहुत बुरा हुआ है । आपके न रहने से तो हमारा कार्यक्रम ही असफल हो जायगा ।"

"आप लोग गलत सोचते हो मित्रों"-मैकस्विनी बोले- "मेरे रहने या न रहने से स्वाधीनता की प्राप्ति के मार्ग में कोई लाभ या हानि नहीं होनी है । हमारा कार्य और भी हृत्प्राप्ति से बढ़ेगा ।"

साथियों ने फिर भी समतावश पूछा-क्या हम न्याय के हित में कुछ करें । आपका मार्ग-दर्शन हमारे लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है ।

"न्याय के हित में, मैं व्यक्तिगत रूप से अपना कार्यक्रम निर्धारित कर चुका हूँ और आपसे कई बार उसके विषय में भी कह चुका हूँ । मैं वही करने आ रहा हूँ ।"

मैकस्विनी के यह कहने पर उनके साथी समझ गये कि उसका आशय क्या है ? जेल में वे सत्याग्रह करने के लिए कटिबद्ध थे । कई बार वे अपने साथियों से कह चुके थे कि यदि मैं पकड़ा गया तो जेल में अन्नग्रह करने लगेगा और सरकार को अपनी बात का औचित्य-मनवाने के लिए उस पर दबाव डालूँगा । लेकिन मैकस्विनी के साथियों को बिल्कुल भी आशा नहीं थी इस बात की कि उनके सत्याग्रह का सरकार पर कोई प्रभाव भी पड़ेगा । विपरीत इसके मैकस्विनी की जेल पर खतरा ही पैदा

होना । शासन तो उनकी बातों पर कोई ध्यान नहीं देगा । उन्होंने यह आशंका भी व्यक्त कर दी, तब मैकस्विनी ने कहा- "मुझे मृत्यु का जरा भी भय नहीं है और आप लोगों को भी मेरे मरने की चिन्ता नहीं करनी चाहिए । क्योंकि उससे तो लाभ ही होगा । मेरा बलिदान राष्ट्र की आत्मा में नया प्राण फूँकेगा, मित्रों ।" कहते-कहते वे जोश से भर उठे । आखिर उनके साथियों को निरुपाय हो लौट जाना पड़ा । और कारागृह में मैकस्विनी अपने ढंग से न्यायिक पक्ष की ओर से संघर्ष करने लगे । उन्होंने अन्नग्रह आरम्भ कर दिया । मैकस्विनी के मित्र उन्हें छुड़ाने के लिए वैधानिक उपाय भी करते रहे परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला । न तो किसी मंत्री ने उनके मामले में हस्तक्षेप किया और न ही सम्राट ने । क्योंकि इस प्रकार उपाकथित न्याय की व्यवस्था में गड़बड़ी हो जाती थी । एक दिन-दो दिन, इस प्रकार डेढ़ माह गुजर गया परन्तु किसी के कान पर जूँ तक नहीं रेंगी । ७४ दिन की लम्बी उपरचर्या के बाद उनकी आत्मा देह से मुक्त हो गयी और सचमुच उनकी आशा के अनुरूप उनका बलिदान रंग लाया । उनके बलिदान से देश भर में ऐसी जाग्रति की लहर आयी कि आयरलैण्ड वासियों को अपना अपेक्षित लक्ष्य प्राप्त होकर ही रहा ।

स्वाधीनता और स्वाभिमानपूर्ण जीवन के लिए संघर्ष करते हुए प्राणोत्सर्ग कर जाने वाले देश और संस्कृति से प्रेम करने वाले देशभक्त टेरेंस मैकस्विनी का जन्म आयरलैण्ड के ही एक गाँव में १८९४ ई० में हुआ था । परिवार की स्थिति कोई खास अच्छी नहीं थी । उस समय तो शायद ही कोई ऐसो आयरिश परिवार रहा हो जिसे आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न कहा जा सके । क्योंकि उस समय तो प्रत्येक आर्थिक शोषण का शिकार बना हुआ था ।

माता-पिता ने परिश्रमपूर्वक जैसे-तैसे प्रयत्न कर जीविका चलाकर मैकस्विनी को बी० ए० तक पढ़ाया ताकि सरकार के ही किसी विभाग में कर्मचारी बन जाये और सम्पन्न जीवन जिये । मैकस्विनी के संवेदनशील हृदय पर सत्कालीन शासनव्यवस्था का ऐसा कुछ प्रभाव हुआ कि उनका मन व्यवस्था के प्रति घृणा से भर उठा । थोड़ी समझ विकसित होने पर उन्हें पता चला कि इस समय आयरलैण्ड पर विदेशियों का राज्य है और यही कारण है कि कठोर श्रम के बावजूद भी आयरिश लोगों को भूखों मरना पड़ता है । अपावग्रस्त परिस्थितियों में रहना पड़ता है । सभी गतिविधियाँ देख-देख कर उनका हृदय आक्रोश और विद्रोह से भर उठा तथा वह विद्रोह व्यक्त हुआ गलतियों और काण्ड-कृतियों के माध्यम से । उनकी रचनायें प्रखर अनुभूतियों से भरी होने के कारण युवकों के लिए प्रेरणा का स्रोत बनीं ।

वही था उनका पहला अपराध जिसके कारण उन्हें अधिकारियों का कोपभाजन बनना पड़ा और १९२६ में वे गिरफ्तार कर लिए गये । बिना कोई अभियोग या मुकदमा

चलाये उन्हें इंग्लैण्ड की एक जेल में रखा गया और कुछ दिनों बाद बड़े नाटकीय ढंग से मुक्त कर दिया गया। इस घटना ने उनकी ख्याति बढ़ा दी और उनके अक्रोश को भी एक नयी दिशा दी। कभी कभी अनचाही और अनपेक्षित परिस्थितियाँ मनुष्य को अद्भुत और असाधारण लाभ दे जाती हैं। उनकी ख्याति के साथ-साथ उनके विचार भी फैलते गये और सरकार ने फिर १९२७ में गिरफ्तार कर लिया। चार माह जेल में रहकर वे फिर मुक्त हो गये लेकिन कुछ ही महीनों के बाद उन्हें फिर गिरफ्तार किया गया। उन्होंने चौबीस घण्टे में अनशन किया और राष्ट्रीय-पत्र में आत्महत्या दे दी।

जनहित के लिए संघर्षरत सेनानी-

डेविड मोर्स

कोलम्बिया स्टेट की एक एस्बेस्टस फैक्ट्री में दुर्घटना घटित हो गयी। जिससे तीन श्रमिकों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। श्रमिक दिन भर लोहे के दैत्य जैसी मशीनों के साथ जी झोंककर काम करता है तब कहीं परिवार की गाड़ी खिंचती है। उसकी परिवार रुपी मोटर में उसके श्रम का ईंधन जलता है तो वह चलती है।

उन अकाल कवलित हुए श्रमिकों की पत्नियाँ उनके काम से लौटने की प्रतीक्षा कर रही थी। जब अपने आपको आश्चर्य कर रहे थे कि उनके पापा आने ही वाले हैं फिर सब मिलकर खाना खाएँगे। उनके कान अपने पिता के जर्जर जूतों की धिर-धिरचित घरमराहट सुनने को आतुर थे। किन्तु उन्हें अपने पिता के स्थान पर उनकी मृत्यु के हृदय बेध देने वाली सूचना मिली। कुर काल के एक झोंक ने उनकी दुनिया में अँधेरे की कात्ती चादर तानकर रख दी।

एक सोलह वर्ष का किशोर जो उसी कारखाने के बेकिंग रूप में काम करता था मृतक श्रमिक के स्ट्रेचर को धामते समय फूट-फूट कर रो पड़ा। उसके बहते आँसू उसके मन में घनपते संकल्प को बानी दे रहे थे। उसने संकल्प किया कि वह अपना जीवन श्रमिकों के जीवन की सुरक्षा व उनके परिवार के भविष्य को संघर्ष में निमज्जित होने से बचायेगा।

उन दिनों दुर्घटनाग्रस्त श्रमिकों को मालिकों की ओर से कोई क्षतिपूर्ति की राशि देना मालिक की स्वेच्छा का विषय था। ऐसे सुदृढ़ कानूनों का अभाव ही था जिससे घोट लगने पर श्रमिकों को तथा मृत्यु हो जाने पर उसके परिवार वालों की क्षतिपूर्ति की पर्याप्त राशि मिल सके। युवक ने वकील बनकर श्रमिक वर्ग की सेवा करने-श्रमिक हितकारी कानून बनवाने तथा उनका पालन करवाने का परमार्थ-युक्त संकल्प लिया।

वह दिन को कारखाने में काम करता था तथा सुबह शाम पढ़ने जाता था। वह साधनहीन युवक अपने दू-

निश्चय, पुरुषार्थ एवं परिश्रम के बल पर अमेरिका का प्रसिद्ध श्रमिक विधि-दश वकील बना तथा उसकी योग्यता को देखते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा संचालित अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का महानिदेशक बनाया गया। इस पद पर रहते हुए उसने विश्व के श्रमिकों का जो कल्याण किया वह मुल्य नहीं बा सकता। यह युवक था डेविड मोर्स।

जिस घटना ने मोर्स के अन्तःकरण में अपने आपको समर्थ बनाकर दूसरों की सेवा-सहायता करने की प्रबल प्रेरणा उत्पन्न की वही घटनायें प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में उसके आस-पास के सामाजिक परिवेश में घटती रहती हैं जो मानवीय चेतना पर दबी राख को झाड़कर उसे प्रखर तेजोमय बर्हि रूप प्रदान करने का प्रयास करती हैं, हृदय में ध्वनात्मक आवेग उत्पन्न करती हैं। उस आवेग को यदि स्थायित्व दे दिया-उस समय उठे हुए संकल्पों को साकार करने में बूट जाया जाय तो फिर क्या कहने? किन्तु अधिकांश मनुष्य उसे विस्मृत कर देते हैं तथा अपने पुरुषार्थ को सल पर नहीं धरते।

डेविड मोर्स इस तथ्य से अभिभूत न थे कि दृढ़ता से उठाया हुआ एक-एक चरण उलुंग गिरि शिखरों पर मनुष्य की विजय पताका फहरा देता है, बूँद-बूँद जल संभित करके सरिताएँ महासागर का विशाल उदर भर देती हैं, उसी प्रकार सफलता की दिशा में बढ़ाया हुआ एक-एक पग लक्ष्यपूर्ति का सोपान बनता है। इस धैर्य और विश्वास का सम्बल जिसे मिल जाता है फिर उसे कोई रोक नहीं सकता।

एस्बेस्टस फैक्ट्री में काम करने वाला यह श्रमिक युवक विश्वविद्यालय के वाद-विवाद दल का शीर्षस्थ बक्ता तथा फुटबाल टीम का ग्रेड खिलाड़ी इसी विश्वास के आधार पर बना था।

वकालत की सम्मानित डिग्री पाने के बाद वह जय कर अपने क्षेत्र में कार्य करने लगा। तब तक मजदूरों के हित को ध्यान में रखते हुए अमेरिकी सरकार ने श्रमिक कानून बना दिये थे। वह श्रमिकों के मुकद्दमे बिना फीस अथवा नाममात्र की फीस लेकर पूरे धनोद्योग व तैयारी से लड़ता था। वकालत का यह प्रश्न भी उसके अपने लोक हितकारी दृष्टिकोण के कारण परमार्थ साधन का हेतु बन गया। न्यूजर्सी की हाई क्लोनिंग इन्डस्ट्री व न्यूमार्क के दुग्ध उद्योग के श्रमिकों को अपने अधिकार दिलाने के लिए उसने धुआँधार पैरवी की जिससे उसकी ख्याति विश्वस्तर पर फैल गयी।

अफ्रीका, इटली तथा जर्मनी की सरकारों ने अपने देश में श्रमिक हितकारी अधिनियम बनाने के लिये उन्हें आमंत्रित किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना पर उसके समक्ष उसका महानिदेशक बनने का प्रस्ताव रखा गया, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। १९४८ में उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण पद को स्वीकार कर लिया।

प्रायः देखा जाता है कि जो व्यक्ति साधारण श्रमिक के रूप में श्रमिकों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर आंदोलन किया करते हैं उन्हें संगठित करते हैं, किन्तु जब वह उस संचित श्रम शक्ति के धक्के के साथ उच्च पद पर पदासीन हो जाते हैं तो उसको धन से-पद से एक प्रकार का मोह-सा हो जाता है तथा वह बड़ा बन जाने पर खजूर के वृक्ष की भाँति छाया व फल की दृष्टि से जनसामान्य की पहुँच से बाहर हो जाते हैं। किन्तु मोर्स के साथ यह नहीं हुआ। वे जिनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के निर्देशक की कुर्सी पर बैठकर भी कोलम्बिया की फैक्ट्री में खून पसीना एक करने वाले मजदूर ही बने रहे।

इस पद का निर्वाह तथा अपने लक्ष्य की पूर्ति इन दोनों का निर्वाह करना सही माने में देदों खोर थी। सन् १९०५ के बीच करोड़ वार्षिक बजट में विश्व स्तर पर श्रम कल्याण योजनाएँ कार्यान्वित करना तथा ७९ देशों को प्रतिनिधियों को संतुष्ट करना मोर्स जैसे कुशल व्यक्ति का ही काम था। इतने कम, बजट में भी उन्होंने जो बड़े-बड़े काम किये उनसे उनकी श्रमिक सर्वहारा वर्ग के प्रति जो पीड़ा सदभावना है। वह स्पष्ट झलकती है।

स्वयं मोर्स इस सिद्धान्त के मानने वाले हैं अपनी सहायता करने के लिये जब कोई व्यक्ति तैयार है तो उसे पीड़ा-सा प्रोत्साहन, थोड़ी-सी सहायता भी पर्याप्त हो जाती है। यही स्वयं की शक्तियों को जगाने की प्रक्रिया उन्होंने प्रत्येक राष्ट्र के जनमानस के मन में जाग्रत की। जिस प्रकार उपासना के दौरान साधक अपने इष्ट को प्रतीक रूप में स्वीकार करके वैसे ही तेजस्विता, प्रखरता अपने आप में उत्पन्न करता है वैसे ही प्रखरता उन्होंने प्रत्येक राष्ट्र में जगाई।

अविकसित तथा पिछड़े हुए देशों की औद्योगिक प्रगति की दिशा में उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित कराये। विगत दस वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने देशों में परस्पर सहयोग के आधार पर १००० तकनीकी सहायता विशेषज्ञ स्तर से अधिक देशों में भिजवाये हैं।

खानों में तथा कारखानों में होने वाली दुर्घटनाओं पर मजदूरों तथा उनके परिवारों को मिलने वाली सुरक्षा तथा शक्ति पूर्ति की राशि, काम के घण्टे, कार्य मुक्त होने पर मिलने वाला निर्वाह वेतन, महिला श्रमिकों को मिलने वाला प्रसवकालीन अवकाश, रुग्णावस्था में मिलने वाली चिकित्सा सुविधाएँ, बोनस, बाल श्रमिकों से श्रम लेने पर पाबन्दी आदि विषयक विधान प्रत्येक देश में बनवाने का पूरा पूरा प्रयास उन्होंने किया।

श्रमिक अपना श्रम बेचता है। श्रम तथा पूँजी में यही अन्तर होता है कि श्रम पूँजी का विनियोग नहीं किया जाय तो वह नष्ट नहीं होती। किन्तु श्रम का श्रमिक से प्रथक

कोई मूल्य नहीं होता अतः श्रमिक बेकार बैठा रहता है तो उसका श्रम नष्ट ही होता है। श्रमिक अपना श्रम बेचने में यहाँ कमजोर पड़ता है। उसकी इसी कमजोरी से लाभ उठाकर पूँजीपतियों ने उसको खूब निचोड़ा और आज भी निचोड़ने से बाज नहीं आते हैं उनका बस चले तो समूचे श्रमिक समूह को निचोड़ कर रख दें। इस शोषण से श्रमिकों को बचाने तथा इस संघर्ष को विस्फोटक बना जाने से पहले ही अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने स्थिति पर नियंत्रण कर लिया। इस नियंत्रण में मोर्स का योगदान भूलना नहीं जा सकता।

मोर्स की योग्यता व व्यवहारकुशलता से श्रमिक वर्ग ही लाभान्वित हुआ हो ऐसी बात नहीं, उत्पादकों को भी काफी लाभ मिला है। उनकी यह मान्यता कि एक व्यक्ति भी पूरे उद्योग को लाभ पहुँच सकता है, उत्पादन वृद्धि में बहुत योगदान कर श्रम बचाने तथा उत्पादन बढ़ाने के लिए देशों में भेजे गये अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन में एक-एक विशेषज्ञों ने उत्पादन क्षमता में २० से लगाकर ४० प्रतिशत तक वृद्धि की है। इससे एक ओर श्रमिकों का वेतन बढ़ा है वहीं दूसरी ओर उत्पादन लागत में भी कमी आयी है।

इस प्रकार के विशेषज्ञों को खोज लेना तथा उनकी सेवाएँ प्राप्त कर लेने में दक्ष होने के कारण १९४० में इस श्रम संगठन के महानिर्देशक बनने के पश्चात् उनके कार्य काल में निरन्तर वृद्धि होती गयी।

उच्च लक्ष्य को सामने रखकर चलने वाले व्यक्ति को किस प्रकार वैयक्तिक लाभ अनायास ही प्राप्त होते जाते हैं इसका अनुभव उदाहरण मोर्स के जीवन में देखने को मिलता है। वे कहा करते हैं कि जिस प्रकार एक कसाई की दुकान पर काम करने वाले व्यक्ति को अपने उपार्जन के साथ-साथ निरन्तर पुष्प, गुग्गुप्ता तथा हत्था के घुणित व्यापार की नारकीय वेदना भोगनी पड़ती है वैसे ही ओछे लक्ष्य को अपनाकर व्यक्ति को भी कह क्लेश भोगने पड़ते हैं। गुत्तब को खेती करने वाला किसान अपने उपार्जन के साथ मनभावना और ध भी पाता है तथा चित्त में आकाश व प्रसन्नता भरता है—आम के उपवन का रखवाला जिस प्रकार बके आम युक्त में ही खा लेता है वैसे ही मैं भी श्रमिक वर्ग की, जनसमाज की सेवा का लक्ष्य चुनकर इस महत्त्वपूर्ण पद पर पहुँच सका हूँ नहीं तो मैं भी कोलम्बिया की उस एम्बेस्टस फैक्ट्री में काम करते करते तन मन से जर्जर हो गया होता।

डेविड मोर्स के इस कथन में राई रती छूट नहीं है सन् १९०३ में एक साधारण श्रमिक परिवार में जन्म लेने वाला वह साधारण बालक अपने अन्तःकरण से उठने वाली सद्प्रेरणाओं का अनुगमन करता हुआ विश्वविख्यात हुआ तथा क्रेडिट-जनसमुदाय की सेवा का पुण्य लाभ प्राप्त कर

सका । उनकी यह सफलता पता किसे उनका अनुगमन करने को लास्यित न करेगी ।

प्रारब्ध बड़ा या पुरुषार्थ ? सदेह उत्तर—

डॉ० तहाहुसेन

मिस्र का एक छोटा-सा गाँव । समाप्त बच्चे खेलने के लिये हैंमते, किलकारी मारते दौड़ रहे हैं । एक छोटा बच्चा दौड़ता है, मैं भी खेलने जाऊँगा । दो कदम भी न चल पाया था कि एक पत्थर से जा टकराया । माथा फूट गया । रक्त बहने लगा । लोग दौड़े, घर वाले आये । डॉट पड़ी अभ्ने से चुप नहीं बैठा आता । परमात्मा ने आँखें छोप ली तो इतनी बुद्धि भी नहीं कि चुपचाप एक स्थान पर बैठा रहे ।

बच्चा बैठ गया । प्रतिदिन उसी स्थिति में बैठा रहता । एक दिन पड़ोस की स्त्री उधर से गुजरी और करुणार्द्र होकर कह ही तो बैठी—“भगवान ऐसी, जिन्दगी से मोत अच्छी थी ।”

चोट खाये हुए बालक का भर्म फुरेद गया । उसने निश्चय कर लिया अब मरना ही श्रेयस्कर है, बेचारा आहट लैता हुए कुँये की ओर बढ़ चला ।

पड़ोस में एक मौलवी साहब रहते थे । वह बच्चे का इरादा समझ गये । बच्चा कुँरे में छलाँग लगाने की युक्ति बना ही रहा था कि वह दौड़े और हाथ पकड़ कर उसे बचा लिया ।

छातों से लगाते हुए उन्होंने कहा—बच्चे । मानता हूँ, तुम्हारी आँखें छिनी गई हैं पर अभी तुम्हारे फस मन है । तुम नहीं जानते मन में एक संकल्प शक्ति रहती है, उसे जगाओ तो तुम वह काम कर सकते हो जो आँखों वाले न कर सकें ? ”

“यह संकल्प शक्ति क्या होती है बाबा ।” बच्चे ने सरल भाव से पूछा । “इच्छाशक्ति की दृढ़ता और लक्ष्य पूर्ति तक प्रयत्न का नाम है संकल्प । तुम एक बार यह निश्चय कर लो कि मुझे यह होना है, यह करना है, अमुक सफलता पानी है । अमुक प्रकार का जीवन जीना है और फिर उसकी पूर्ति के लिये अपनी सम्पूर्ण चेष्टाओं के साथ लग जाओ तो तुम देखोगे कि वह मन ही आँखें दे देगा, मन ही संसार के हर सुख-साधन सुलभ कर देगा । इतनी प्रचंड शक्ति पास रखकर भी तुम फकड़ते हो । यह तो मानवीय शक्ति का अपमान है मेरे बच्चे ।”

बच्चे ने मौलवी साहब के पाँव छुए “बाबा, यह बात मुझे अभी तक किसी ने नहीं बताई थी । अब आपके दिखाए हुए रास्ते पर चलूँगा, मेरी कायरता दूर हो गई, निराशा भाग गई ।

मिस्र में आज इसी बालक का उदाहरण देकर लोग हारे हुए, परिस्थितियों से घबड़ाये हुए असफल व्यक्तियों को हिम्मत बँधाया करते हैं । कहते हैं तहा को देखो तीन बरस की आयु में ही अन्धा हो गया था । कोई

रास्ता दिखाने वाला न था । कोई साधन न थे पर उसने अपने जीवन की पलपात किस दृढ़ता और हिम्मत के साथ पकड़ी और उसे किस शान से पार से गया । असहाय और अपंग व्यक्ति जब अपनी क्रिया शक्ति, संकल्प-शक्ति को जगाकर बड़े मनोरथ पूर्ण कर लेते हैं तो स्कूली शिक्षा, आर्थिक उद्योग, खोये हुए स्वास्थ्य को पुनः प्राप्त करने या और कोई सफलता पाने के लिए शारीरिक दृष्टि से समर्थ व्यक्तियों को क्यों निराश होना चाहिए ।”

यह बालक जिसका पूरा नाम तहाहुसेन था, अब दूसरों से भुनकर कुतब शरीफ पढ़ने लगा । कुछ ही दिनों में उसने कुतब कंठस्थ कर ली । इसके बाद वह ‘अलजहर’ में शिक्षा पाने लगा । आंशिक सफलताओं से उसका उत्साह बढ़ता गया । १९१४ में उसने काहिरा विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० और कई विश्व-विद्यालयों से डाक्टरेट पाई ।

बौद्धिक शक्तियों के विकास के साथ ही उसने साहित्यिक सेवा भी प्रारम्भ कर दी और १९४६ में मिस्र का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार घोषित हुआ । १९५० में यह मिस्र के मंत्री बनाये गये । यूनेस्को के ‘डायरेक्टर जनरल’ पद के लिये कई बार चुनाया गया पर मिस्र ने अपने इस ‘हीरो’ को छोड़ने में असमर्थता प्रकट की ।

डॉ० तहाहुसेन ने मन की सामर्थ्य को जगाकर केवल अपनी प्रगति का पथ प्रस्ता नहीं किया वरन् यह भी सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य का प्रारब्ध बड़ा नहीं । हिम्मत ही तो पुरुषार्थ के द्वारा प्रारब्ध को भी सरल और सद्य बनाया जा सकता है ।

जर्मनी में पुनर्प्राण प्रतिष्ठा करने वाले—

वान थेडन

१९६१ की जुलाई का एक दिन पश्चिमी बर्लिन के उस विशाल ओलम्पिक स्टेडियम में जहाँ कभी नाजीवाद के झण्डे लहराते थे, उस दिन एक लाख से अधिक श्रोता उपस्थित थे । एक ऊँची मीनार पर पवित्र क्रॉस को स्थापित किया हुआ था । एक निश्चित समय पर सारी जर्मनी के गिरजाघरों के घंटे एक साथ निरादित हो उठे तीन हजार जोड़ी हाथ ऊपर उठे तथा उपस्थित जन संप्रदाय ने पुराने धर्म स्त्रोत्र का सस्वर पाठ किया ।

उस छोटे से मंच पर जहाँ कभी हिटलर खड़ा होकर परेड की सत्समी लिखा करता था अथवा सार्वजनिक सभाओं उत्सवों में भाषण दिया करता था उसी स्थान पर एक ६९ वर्षीय व्यक्ति भाषण देने के लिये खड़ा था । उसका सम्बा तन हुआ छरहरा शरीर, उसके लहराते हुए भयल केश तथा उसकी बर्मभेदी नीली आँखों पर श्रोताओं की नजरेँ जैसे आकर रुक सी गई थीं । यह व्यक्ति रेनोल्ड वान थेडन ट्रीगस्तफ था जिसे सारा यूरोप जर्मनी राष्ट्र में पुनः प्राण प्रतिष्ठा करने वाला मनुष्य मानता है ।

यह जनसमुदाय यहाँ उसी के द्वारा चलाये गये धार्मिक आन्दोलन 'किस्वेन्टाग (उपासना का दिन) के अन्तर्गत यहाँ उपस्थित हुए थे। इस आन्दोलन के माध्यम से उन्होंने प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध की भयंकर मार खाकर आँधे मुँह बड़े हुए जर्मनीवासियों के मन अन्तःकरण में एक नवीन प्रेरणा तथा नये उरसाह का सृजन किया है। इसके प्रणेता को यूरोपवासी जर्मनी की खोबी आस्था का दाता कहते हैं तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

इस अभियान के अंतर्गत विशाल पैली का आयोजन किया जाता था। जिसमें हजारों-लाखों व्यक्ति भाग लेते थे। इन भाग लेने वालों में अधिकांश सामान्य व्यक्ति थे। कृषक, मजदूर, क्लर्क तथा अन्य सभी वर्ग के व्यक्ति इन पैलियों में भाग लेते थे।

इस अभियान का उद्देश्य लोगों में धर्म के प्रति निष्ठा उत्पन्न करना था। ईसाई दुनिया में जो कुछ अविश्वकारी घटनाएँ सामने आयी थीं उनमें प्रमुख नाजीवाद का उदय तथा साम्यवाद का प्रसार था। इन दोनों ने जर्मनी को तहस-नहस करके रख दिया था। जनसामान्य को विषटन के प्रति अपना दायित्व अनुभव कराने का ही उद्देश्य इस अभियान के प्रणेता का था। वह कहता था "ईसाई समाज में जो कुछ पड़ा है उसके जिम्मेदार ईसाई ही हैं।"

इस अभियान के मूलभूत सिद्धान्त को स्पष्ट विशेष तथा समुदाय, धर्म विशेष से दृष्ट करके देखा जाय तो यह सत्य समझ आये बिना नहीं रहता कि क्या भी जन जीवन धर्म से दूर हुआ है समाज में विकृति आयी है-बुद्ध हुए हैं-विषटन हुए हैं। वस्तुतः धर्म का शास्त्र सत्य ही जन-जीवन की धुरी है जिसके चारों ओर अन्य समृद्धियाँ परिलवित-पुष्पित होती हैं। इमारा भारतीय संस्कृति में भी धर्म की अर्थ, काम तथा मोक्ष से प्रथम स्थान मिलता है। जान ब्रेडन ने इसे सामान्य जर्मनवासी समझ सके वैसे शब्दावली में उनके सम्मुख रखा। वैसे वह सत्य सभी देश व जातियों के ऊपर लागू होता है।

जान ब्रेडन का व्यक्तित्व इस अभियान के प्रणयन की योग्यता से भरा पूरा था। उसका जन्म प्रशिया के एक सम्प्रान्त कुल में हुआ था। उसके पिता एक बड़े बादरी थे। धर्म के प्रति निष्ठा उसे अपने पैतृक गुणों के रूप में मिली थी।

प्रिफ्सवाल्ल नगर के कॉलेज में प्रवेश पाने के बाद उसकी इस आस्था को क्रियात्मक रूप मिला। उसने विद्यार्थी धार्मिक आन्दोलन में भाग लेना आरम्भ कर दिया। १९२८ में जबकि जर्मनी में हिटलर का सम्प्रजवाह अपना शिर उठा रहा था उसे जर्मनी के विद्यार्थी आन्दोलन का प्रधान बनाया गया। हिटलर के प्रति उसके मन में अच्छे भाव थे। वह हिटलर के उदय से प्रसन्न था। किन्तु जब हिटलर ने सभी प्रोटेस्टेण्ट चर्चों को नाजी धार्मिक मंत्री के अधीन कर दिया तो हिटलर के प्रति उसके विचार बदल गये तथा उसने धर्म पर इस प्रकार प्रतिबंध लगाने के

विरोध में 'कन्फेसिंग चर्च' नामक गुप्त आन्दोलन में पूरा-पूरा सहयोग दिया। इस आन्दोलन में उसका नाम पास्टर निमोसर तथा विरुध डिबिलियर जैसे धर्माध्यक्षों के सम्मुख गिना गया।

यद्यपि यह आन्दोलन नितान्त गोपनीय रीति से संचालित किया जाता था फिर भी नाजी गुप्तचर विभाग गेस्टोपो की नजरों से जान ब्रेडन बच नहीं सका तथा वह नाजियों द्वारा बंदी बना लिया गया। बंदी बना लेने पर भी वे उसका कोई अपराध सिद्ध नहीं कर पाते थे तथा उसे छोड़ देते थे। इस प्रकार वह कई बार पकड़ा व छोड़ा गया। उसे अपना बंदी बनाकर तरह-तरह से क्रूर यन्त्रणाएँ दी जिससे कि वह आन्दोलन की पूरी-पूरी जानकारी उन्हें दे किन्तु उन यातनाओं को सहते हुए उसने 'उफ' तक नहीं किया। यह साहस तथा सहनशीलता उसे उसकी धर्मनिष्ठा ने ही दी थी।

उसकी इस चुप्पी के कारण नाजीदल ने उस पर विश्वास कर लिया तथा द्वितीय विश्व युद्ध के समय उसे सेना में उच्च पद देकर बेल्जियम के नगर लुवीयन का प्रशासक बनाया। प्रायः आक्रान्त जर्मनों के प्रति विजित प्रदेश के नागरिकों के हृदयों में असीम घृणा थी किन्तु लुवीयन नगर के नागरिक आज भी उसके सुशासन की प्रशंसा करते नहीं बकते हैं।

किसी विवाद को लेकर जर्मन पुलिस ने लुवीयन निवासी तीस बेल्जियमियों को गिरफ्तार करके जर्मनी भेजने का आदेश दिया, जिसे अस्वीकार करते हुए उन्होंने कहा किसी भी देश के नागरिकों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करना पानवान के विरुद्ध है अतः उन्हें बिना किसी अपराध के बंदी नहीं बना सकते।

हिटलर तथा उसकी पुलिस सेना को यह दो दृक उत्तर देने का साहस मिला था। कोई और होता तो इस तरह इन्कार नहीं कर सकता था किन्तु जान ब्रेडन जानते थे कि मनुष्य 'अभय' से दूर नहीं है। कह-कठिनाइयाँ तथा संघ उसका शरीर भीमता है। आत्मा तो सदा निर्भय रहती है वह दुःख कष्टों से परे है।

द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी की हार हो जाने पर उन्हें सोवियत रुस द्वारा बंदी बना लिया गया। उन्हें रशियन सिविलियनों ने बुरी तरह पीटा तथा सोवियत सरकार ने उन्हें उत्तरी म्हासागर के तटवर्ती भयंकर शीत के प्रदेश में बंदी बनाकर रखा।

बंदीगृह में भी वे निष्क्रिय नहीं बैठे रहे। शरीर पर तो इस समय कठोर पाबन्दियाँ थीं कि मन तथा मस्तिष्क पर उस समय कोई बोज़ नहीं था। इस काल में उन्होंने जर्मनी के पतन तथा साम्यवाद के उदय के कारणों पर गहन चिन्तन किया। इस चिन्तन का निष्कर्ष यह था कि मनुष्यों की धर्म के प्रति आस्था समाप्त प्राय हो जाने तथा उसके शास्त्र सत्तों को भूल जाने के कारण ही जर्मनी में जाति तथा वर्ग की उच्चता को लेकर हिटलर तथा उसकी नाजी पार्टी ने समूचे विश्व पर जर्मन प्रभुत्व का अमानवीय स्वप्न

देखा। यहाँ भी ईसाई मत ही प्रचलित था। फिनकापरस्ती तथा नये नये चर्चों के उदय ने जनमानस को धर्म से दूर कर दिया था। रूस में भी यही हुआ था। उन्होंने अपने भावी कार्यक्रम का निर्धारण भी इस कारावास में ही कर लिया था। यह कार्यक्रम था ईसाई भतावलम्बियों को निकटतम लाना तथा उनमें धार्मिक जाग्रति उत्पन्न करना ही था।

जौ महीने के कारावास में उनका शरीर सूखकर अस्थि कंकाल मात्र रह गया था। किन्तु इस अस्थि चिंकर में आत्म ज्योति को प्रखर किरणें प्रस्फुटित हो रही थीं। जौ महीने के एकांत चिंतन तथा तितिक्षामय जीवन ने उनके आत्मबल में अनुपम वृद्धि जो की थी। उनका शरीर रोग तथा भूख का शिकार हुआ था। किन्तु आत्मा नहीं।

यहाँ भी उन्होंने अपने नित्य क्रम में कोई व्यवधान नहीं आने दिया था। वे प्रसन्नचित्त रहते तथा उपवासना, स्नान, पूजा, चिंतन, स्वाध्याय आदि में प्रवृत्त रहते। बंदियों के कैम्प में ही उन्होंने धर्म प्रचार करना आरम्भ कर दिया। उनके साथ प्रार्थना में सम्मिलित होने वालों की काफी संख्या हो चली थी यहाँ तक कि कसी गाई भी उनसे अप्रभावित नहीं रहे थे।

पुद्ग समाप्त होने पर वे अपने देश जर्मनी आये। जर्मनी की दशा उस समय भूमिसत खंडहर-सी थी। उनका परिवार भी इस विनाश से बचा न था। उनके पाँच में से तीन बच्चे पुद्ग की भेंट बड़ गये थे। उन्होंने अपने परिवार को पुनः व्यवस्थित किया परन्तु अपने धितन में जुट पड़े।

उनके पहले वाले कन्फेसिंग चर्च की व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो चली थी। सरकार द्वारा नियंत्रित लूथेरियन, रिफोर्मड तथा यूनाइटेड चर्च चल रहे थे। कन्फेसिंग चर्च की एक शाखा इवांगेसिकल चर्च के नाम से चल रही थी। वान ग्रेडन इन भिन्न-भिन्न चर्चों में समन्वय स्थापित कर ईसाइयत के शाश्वत सिद्धान्तों को जन-सामान्य तक पहुँचाने वाला आन्दोलन चलाने के कार्य में जुट पड़े।

प्रथम तो उन्होंने सब चर्चों के प्रमुखों को अपनी योजना से अवगत कराया। उन्होंने बताया कि जर्मनी को इन दो महापुद्गों में जो चोटें सहनी पड़ी हैं कि जनता का मनोबल समाप्त प्रायः हो गया है। उस खोये मनोबल को पुनः वापस दिलाने का एक ही रास्ता है और वह है धार्मिक क्रान्ति। वान ग्रेडन से पहले ही सब चर्चों के प्रधान प्रभावित थे अतः उनकी इस योजना से असहमत तो कोई नहीं हुआ किन्तु उन्हें सफलता में संदेह ही दिखाई दे रहा था अतः उन्होंने उसका दायित्व सब उन पर ही छोड़ा।

नवम्बर, १९४८ में उनका यह अभियान व्यापक रूप से जर्मन जनता के सामने आया। विशाल रैलियों का आयोजन किया जाता। इनमें भाग लेने वाले व्यक्तियों से एक ही आग्रह किया जाता था कि वे उस दिन पूरी तरह धावन जायें। इन रैलियों में प्रारम्भ में उपस्थिति हजारों की

संख्या में हुई तथा बाद में यह बढ़ती हुई लाखों तक पहुँच गयी।

इन रैलियों के माध्यम से एक व्यक्ति दूसरे के सम्पर्क में आया। उनमें आत्मीयता की भावना उत्पन्न हुई। एक ने दूसरे के दुःख दर्द को समझा तथा उसे दूर करने का परसक प्रयास किया। कुछ ही वर्षों में इस अभियान की सफलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी।

१९५० में पश्चिमी जर्मन के इसेन नगर में एक रैली का आयोजन किया गया। इसमें दो लाख व्यक्तियों ने भाग लिया। इस रैली में भाग लेने के कारण मिल मालिकों तथा ट्रेड यूनियन में सद्भाव बढ़ा तथा उनके बीच जो झगड़े चल रहे थे वे निपट गये तथा भावी हड़ताल तथा तालेबंदी की सम्भावनाएँ समाप्त हो हो गयीं।

यूनिस में हुई रैली में साढ़े तीन लाख, लिपजिंग में छह लाख तक व्यक्ति उपस्थित हुए। इस प्रकार की रैलियों ने भिन्न-भिन्न चर्च के अनुयायियों को निकट आने में सहायता की तथा वे समझ गये कि धर्म में कोई विभेद नहीं है।

जर्मनी ने महापुद्ग के बाद जिस गति से प्रगति की है उसे देखकर आश्चर्य होता है। उस प्रगति में वान ग्रेडन के इस अभियान का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। ऐसे व्यक्तियों की विश्व को सदा सर्वदा आवश्यकता रहती है।

विश्व शांति और विश्व बंधुत्व के स्वप्न दृष्टा—

निकोलाई रोरेख—

“सुन्दरता में ही हम संगठित हैं, सुन्दरता के ही माध्यम से हम प्रार्थना करते हैं और सुन्दरता से ही हम विजयी होंगे—इन कुछ सन्तों को अपने जीवन का मूल मन्त्र मानकर निकोलाई रोरेख ने कला साधना आरम्भ की और इसी मन्त्र की उत्कट साधना ने उन्हें विश्व में सिरमौर चित्रकार के उच्च शिखर पर जा पहुँचाया। चित्रकारों की कमी नहीं है दुनिया में और न ही कवियों तथा गीतकारों की। परन्तु उन सब चित्रकारों और कलाकारों में रोरेख चन्द्रमा की भाँति अलग ही दैदीप्यमान होते दिखाई देंगे। क्यों? इसलिए कि सब चित्रकार एक जैसे चित्रकार नहीं होते। तुलिका और रंग सभी के हाथों में होते हैं, प्रत्येक कलाकार इन उपकरणों के माध्यम से अपनी कृति को ग्रेह रूप प्रदान करने की आकांक्षा रखता है। परन्तु वह आकांक्षा जिस भावभूमि से उद्भूत होती है, जिस प्रेरणा से प्रेरित होकर कलाकार अपनी तुलिका उठाता है वह भिन्न और विशिष्ट हो सकती है। यही भिन्नता तथा विशिष्टता उसे भी भिन्न, अद्वितीय और विशिष्ट स्थान प्रदान कर जाती है।

रोरेख ऐसे ही कलाकार थे। जिन्होंने केवल चित्र के लिए चित्र नहीं बनाये, कविताओं के लिए कवितायें नहीं लिखीं, गीतों के लिए गीत नहीं गाये और यहाँ तक कि

राजनीति के लिए राजनीति में भग नहीं लिया। वह सब एक विशिष्ट उद्देश्य से अन्तःप्रेरणा से अभिभूत होकर किया गया था और इसी कारण वे कला के आकाश में नक्षत्रों के अधिपति चन्द्रमा बनकर कला सम्राट के रूप में चमके। वे जो कुछ भी करते थे सब इस प्रतिबद्धता के लिए कि वर्ग, जाति, सम्प्रदाय और राष्ट्रीयता के खेपों में बँटा समूचा मानव समाज स्वयं की एकता को अनुभव और स्थापित कर सके। इस उद्देश्य की दिशा में उन्हें अपनी साधना को सकलतः भी इसी जीवन में मिलती दिखाई भी दी।

समस्त मानव जाति में एकता के दर्शन करने वाले रोरिख में इस दिश में बढ़ने के लिए पहले तो स्वयं को समस्त दलों और बाढ़ों से ऊपर उठाना था। ज्ञान देखा गया है कि एक दल का व्यक्ति दूसरे दल के व्यक्ति को अपने साधने शत्रु के स्थान पर खड़ा मानता है। लेकिन वहीं यह भी सत्य है कि दल और बाध से ऊपर उठ चुकी विभूति को सभी दलों से और बाध के व्यक्तियों से आदर, सम्मान तथा अपेक्षा मिलती है। रोरिख भी इसी श्रेणी के व्यक्ति थे। अपने निर्दलीय और बाध निरपेक्ष व्यक्तित्व के कारण उन्हें हर वर्ग का व्यक्ति चाहने लगा था। इसका प्रमाण है जिन निकोलाई को १९०४ में रूस के सम्राट ने शाही परिवार का सदस्य होने के लिए आमन्त्रित किया था, उन्होंने निकोलाई को १९३७ में रूस की साम्यवादी सरकार ने कलामन्त्री का पद सौंपा। हालाँकि उस समय सरकार में कलामन्त्री का कोई पद नहीं था परन्तु निकोलाई के अवेक्षित सहयोग और मार्गदर्शन ने सरकार को यह पद निकालने के लिए विवश किया।

ऐसी महान विभूति का जन्म १८७४ में पीटर्सबर्ग (बाद में लेनिनग्राद) के एक अभिजात्य कुल में हुआ था। उनके पिता कॉन्स्टेंटिन रोरिख अपने समय के प्रख्यात और सफल वैरिस्टर थे। रोरिख का घराना रूस के महान पीटर का वंशज था। अभिजात कुल के स्तरीय और ऐश्वर्यसम्पन्न वातावरण में निकोलाई का पालन पोषण हुआ।

किशोरावस्था में ही उनका रुझान कवित्व में लिखने की ओर हुआ। इसी समय से वे चित्रकारी भी करने लगे थे। उनकी प्रथम कविता सन् १८८९ ई० में प्रकाशित हुई जबकि उनकी आयु मात्र १५ वर्ष की थी और २४ वर्ष की आयु में प्रथम चित्र प्रदर्शित हुआ—सन्देश कहक। जिसने उन्हें चित्रकार के रूप में प्रतिष्ठित किया। चित्रकार और काव्यकला को उन्होंने शौकिक तौर पर ही अपनाया था। अन्यथा उन्होंने तो अपना जीवन एक शिक्षक के रूप में आरम्भ किया था।

सन् १८९८ में वे पुरातत्व के अध्यापक नियुक्त हुए। यद्यपि वे मूलरूप में चित्रकार कवि थे फिर भी पुरातत्व के साथ उन्होंने विज्ञान का ही गम्भीर अध्ययन और अध्यापन किया था। इन क्षेत्रों में उनकी अग्रर रूचि रही। रूस के अध्यापकी जीवन अमेरिका के प्रवासकाल तथा भारत की

निवास अवधि में उन्होंने पुरातत्व और विज्ञान में गहन रुचि ली। अपने जीवन में वे भारत से सर्वाधिक प्रभावित रहे और अधिकांश विख्यात कृतियाँ वहीं की पृष्ठभूमि पर चित्रित की गयी हैं। भारतीय पृष्ठभूमि पर बनाये गये चित्रों में भी उनके वे चित्र सर्वाधिक विख्यात रहे हैं जो हिमालय की प्रेरणाओं से निसृत होकर निकोलाई के अन्तःकरण से हावों और वृत्तिकाओं में होते हुए कैनवास पर उतरे हैं। इन चित्रों को देखकर पण्डित जवाहरलाल नेहरू भी कह उठे थे—जब हम इन चित्रों की ओर देखते हैं जिनमें से अधिकांश हिमालय से सम्बद्ध हैं तो ऐसा लगता है कि हमने उन पर्वतों की आत्मा को पकड़ लिया है जो भारत के मैदानों पर चीन्मरों की तरह छाई हुई है और चुग चुगान्तर से हमारी ग्रहणी है। हमारा इतिहास, हमारा चिन्तन, हमारी संस्कृति और हमारी आध्यात्मिक विरासत का ये इस कदर स्मरण कराते हैं कि उसका सम्बन्ध न केवल हमारे कर्तव्य के साथ ही रहता है बल्कि भारत में जो शास्त्र और विषय हैं उससे भी जुड़ जाता है। तभी हमें लगता है कि हम रोरिख के कितने ऋणी हैं जिन्होंने इन चित्रों में अपनी आत्मा को उद्घेल दिया है।

अपनी कृति में अपनी आत्मा को अधिष्ठात कर पाना उच्च कला और उसकी गहन गहराइयों में बैठने की क्षमता से ही सम्भव है। इसकी उपलब्धि का श्रेय रोरिख ने हिमालय को दिया है और इसी कारण वे भारत भूमि को अपनी मातृभूमि की तरह प्यार करते रहे। निकोलाई रोरिख जो वस्तुतः विश्व शान्ति और विश्व बन्धुत्व के उपासक हो गये अपनी कला साधना के बल पर, उसका श्रेय और प्रेरणा जोत भी हिमालय को ही माना जाता है। सन् १९७४ में जब उनकी जन्म शताब्दी मनायी जा रही थी तो एक विख्यात पत्रकार ने लिखा था—'हिमालय में कितना जबरदस्त आकर्षण है, उसे कोई पुच्छभेनी ही जानता है। भारत में ऐसे बहुत कम लोग होंगे जिन्हें हिमालय ने कभी अपनी ओर आकर्षित न किया हो। हिमालय केवल भारत के भूगोल और इतिहास का ही निर्माण नहीं करता बल्कि स्मरणातीत काल से वह भारत की अन्तरात्मा को भी जोड़ता है। हिमालय की इसी ओहिनी ने रूस में जन्मे, चले, यूरोप और अमरीका में प्रौढत्व को प्राप्त हुए आधुनिक बुद्धिजीवी और प्राचीन ऋषि को अपने व्यक्तित्व में समाहित करने वाले निकोलाई रोरिख को अपनी ओर आकर्षित किया। यह आकर्षण इतना जबरदस्त सिद्ध हुआ कि विश्व-शान्ति और विश्व भ्रातृत्व का यह उपासक अन्ततः हिमालय का ही होकर रह गया।

विश्व-बन्धुत्व का स्वप्न देखने वाले रोरिख अपने सपनों को यकार के धरातल पर साकार करने में भी सफल हुए थे। जीवन भर उन्होंने अपना यह स्वप्न साकार करने के लिए अनवरत प्रयत्न किये और वहाँ के प्रयासों से ६० से भी अधिक देश इस बात के लिए तैयार हो गये कि संसार की सांस्कृतिक धरोहरों की सुरक्षा के लिए वे सभी

५.४८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

परस्पर सहयोग और सद्भावपूर्वक प्रयत्न करने तथा एक दूसरे की संस्कृति, जीवन मूल्यों को समझदर देने । यह समझौता एक सन्धि के रूप में किया गया था जिसे रोरिख-पैक्ट नाम दिया गया । एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के रूप में मान्य इस सन्धि की प्रथम परिकल्पना १९१४ में की गयी थी । १९३५ में अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने २१ देशों के प्रतिनिधियों से इस पर वक्तव्य की और बाद में ३६ देशों ने इस पर हस्ताक्षर किये । सत्रहवें दशक के आते-आते तो साठ से भी अधिक देश रोरिख-पैक्ट को मान चुके थे ।

निकोलाई रोरिख की धर्मपत्नी हेलेना भी उनके कार्यों में रुचि लेती थी । हेलेना के पिता एक सिद्धिहस्त शिल्पकार थे और दर्शन तथा धर्म स्वयं हेलेना के प्रिय विषय थे । इन विषयों पर उन्होंने स्वयं भी लिखा तथा अपने पति को भी लिखने की प्रेरणा दी व सहयोग किया । धर्म और दर्शन तथा विविध विषयों पर रोरिख ने काफी लिखा । अब तक उनके आठ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं । उनका पूरा साहित्य ३० बड़े खण्डों में प्रकाशित करने की योजना है ।

बहुमुखी और बहुआयामी प्रतिभा के धनी निकोलास रोरिख ने विभिन्न क्षेत्रों में जो प्रगति की वह सामान्य व्यक्ति के लिए दुर्लभ है । दुर्लभ इसलिए नहीं कि उन्हें कोई पा नहीं सकता बरन् इसलिए कही गयी है कि उसे पाने के लिए उस स्तर के प्रखर प्रयत्न करने का सहस्र बहुत कम लोग ही करते हैं । यदि उनकी ही निष्ठा और लगन से कोई व्यक्ति इन साधन समर में उतरे तो ऐसी सिद्धि प्राप्त करना कोई मुश्किल बात नहीं है । रोरिख जिस कार्य को भी हाथ में लेते उसे पूरी सम्मीरता और निष्ठा से पूरा करते थे । काम कितना ही बड़ा हो या कैसा ही छोटा उसे पूरा करने में वे इतने तन्मय हो जाया करते थे कि उन्हें अपने आसपास का कोई ध्यान नहीं रहता था । बड़े से बड़े फैसला और छोटे से छोटे चित्र में भी उन्हें उसी प्रकार तन्मय और तल्लीन हुआ देख गया । इसी का परिणाम है कि वे अपनी कला और अपने सुन के माध्यम से विश्व को बहुत कुछ मजबूत कर सके-ऐसी अनूठी देन जो शब्द ही किसी और ने दी हो ।

चित्रकला के विकास एवं प्रशिक्षण हेतु उन्होंने देश विदेशों में कई संस्थाओं को जन्म दिया । अमरीका में कला समन्वय की दारा के विकास हेतु उन्होंने 'यूनाइटेड आर्ट्स प्रोजेक्ट' के नाम से विभिन्न कला संस्थाओं का इन्स्टीट्यूट, शिकागो इन्टरनेशनल सोसायटी ऑफ आर्टिस्ट्स, इन्टरनेशनल आर्ट सेंटर, भारत में हिमालय रिसर्च इन्स्टीट्यूट तथा वरुणती आदि विभिन्न संस्थाओं को जन्म दिया । इन सभी संस्थाओं का एक ही लक्ष्य था-विश्व शान्ति और सांस्कृतिक एकता ।

प्रस्तुत लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने विभिन्न कोणों से विभिन्न कदम उठाये और औरों को भी प्रेरित किया । विश्व बन्धुत्व को सक्षम बनाकर चित्रकारिता के मार्ग से

आत्माभिव्यक्ति में निष्णात निकोलाई रोरिख ने चित्रकला को अनूद्य योगदान दिया । उन्होंने अपने पूरे जीवनकाल में ७,००० से भी अधिक चित्र बनाये । जो विश्व की प्रत्येक वीचिका में गौरवपूर्ण स्थान पर स्थापित हैं । उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं से लेकर, प्राकृतिक दृश्यों और रहस्यवादी कल्पनाओं तक सभी पृष्ठभूमियों पर जो रेखाएँ खींची और आकृतियाँ उभायी हैं वे संगीत की भाँति हृदय तक पहुँचती, फूल की भाँति मन को सुभाती और प्राण की भाँति जीवन को स्पन्दित करती हैं ।

भारत प्रवास के दौरान उन्होंने हिमालय की भी विविधता, समग्रता और विशालता के साथ चित्रित किया । हिम पर्वत पर सूर्यास्त, सौभाग्य अथवा सद्भाव, हिमालय की महान आत्मा-उनकी महानतम कलाकृतियाँ हैं । एक समीक्षक ने उनकी कृतियों का अवलोकन कर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था-"उनके चित्रों में आनन्द की भारतीय परिकल्पना साकार हुई है । लोकोत्तर भी और अलौकिक भी । रंगों की बहुलता के बीच भी एक अद्भुत रहस्य की सृष्टि उनके चित्रों में है । जैसा कि रोखेन होघर ने कहा था हर कला संगीत संगीत की दिशा में प्रेरित होती है, उनके चित्रों में भी ऐसी लयबद्धता दिखाई देती है । हिमालय की महान आत्मा उनका एक ऐसा चित्र है जिसमें एक ओर से सारे मुख हैं साथ ही स्थापत्य का वैशिष्ट्य भी ।"

उनका देहान्त सन् १९४५ में हुआ । पूरे विश्व में उन्होंने विश्व शान्ति और विश्व बन्धुत्व के लिए जो प्रयास किये वे वस्तुतः किसी राजनेता की तुलना में कम नहीं अधिक ही थे । निकोलाई ने यह सिद्ध कर दिया कि कोई भी व्यक्ति किसी एक ही क्षेत्र को पकड़े और उसी में आगे बढ़ सके वह कोई बकूरी नहीं है बरन् वह अपनी गतिविधियों और क्रियाकलापों को बहुमुखी बनाकर उन सभी क्षेत्रों में असम्भारण प्रगति कर दिखा सकता है । वे प्रभावशाली वक्ता थे और उनकी वक्तृता लोग मंत्र मुग्ध होकर सुनते थे वह सच है । परन्तु यह भी सच है कि उन्होंने यह तथ्य चाणी या लेखनी से नहीं अपने जीवन और व्यक्तित्व से प्रतिपादित किया । जिसे अपनाकर कई जन प्रगति पथ पर बढ़े हैं, बढ़ रहे हैं और बढ़ते रहेंगे । फास । हम भी इस तथ्य को सुन-समझ और अंगीकार कर सकें ।

दैकोस्लोवाकिया के गान्धी-

मैसरिक

उन दिनों ऑस्ट्रिया और इटली में युद्ध चल रहा था । दोनों ओर की सेनाएँ मार्गवती गाँवों में लूटमार मचाती हुई अग्रे बढ़ रही थीं । गाँववासी लोग अपने घर छोड़कर भाग रहे थे । जहाँ मलूम हो जाता कि सेना पास आ गयी है तो वे भाग जाते परन्तु जिस गाँव में समाचार पहुँचने के पहले ही सैनिक पहुँच जाते उन लोगों के सामने चुपचाप

अत्याचार सहने के अलावा क्या चारा था । ऐसे ही एक गाँव में सुन्न गया कि सेना मुखकल से मील दो मील दूर है । सब लोग चबरा गये । गाँव की चौपाल पर एकत्रित होकर इस उत्पीड़न से बचने के लिए सलाह मतविमोच होने लगा । किसी ने कोई मार्ग सुझाया किसी ने कोई ।

एक लड़के ने ठठकर कहा मैं गाँव वालों को बचा सकता हूँ । लोगों ने पूछा—'कैसे' गाँव में प्रवेश के सबसे पहले खाले मकान पर लिख दिया गया कि इस गाँव में हैजा फैल रहा है । बात सबको सम्झ में आयी । परन्तु फिर भी जो लोग भाग सकते थे वे गाँव छोड़कर चले गये ।

सेनाएँ जब इस गाँव के पास पहुँचीं तो प्रवेश द्वार के पहले मकान पर लिखा देखा—इस गाँव में भीषण हैजा फैल रहा है और यह चुपचाप गाँव को छोड़ती हुई चली गई । बाद में इस नवयुवक की बड़ी प्रशंसा हुई और सेना के मुख बन जाने पर खूब हँसे भी सही ।

आस्ट्रिया में उन दिनों दास प्रथा का बोलबाला था वह नवयुवक एक ऐसे ही दास दम्पति का बेटा था जो आगे चलकर स्वतन्त्र चैकोस्लोवाकिया का राष्ट्रपति और प्रथम राष्ट्रपति मैसरिक बनकर विख्यात हुआ । माता-पिता गरीबान थे । दरिद्रता के कटु अनुभवों को सहते हुए बालक असाधारण रूप से जिज्ञासु वृत्ति का था । पिता ने अपने इस बालक को पढ़ाने के लिए बड़ी कोशिशें कीं । अपने स्वामियों की लालच [] कर इसे स्कूल में भर्ती करवाया । घर में गरीबी इतनी कि सड़ों के दिनों में भी माँ-बाप और बेटे को पर्याप्त कपड़े नहीं मिल पाते । पिता की फटी पुरानी पोशाक को काट-छाँटकर माँ-बेटे के लिए कपड़े तैयार करती । धनी पुरुषों की पुरानी गरम पोशाक भी कोई दया दृष्टि से दे देता तो ठीक अन्यथा इसी दैन्य-स्थिति में जीवन की [] लड़कती रहती ।

पिता ने अपने मालिक से वाचना कर उसे स्कूल में भर्ती करवाया परन्तु शिक्षा ज्यादा देर तक नहीं चल सकी । गाँव के ही लोहार कारखाने में मैसरिक ने लोहा पीटने की नीकरी कर ली और कुछ दिनों बाद फिर पढ़ने लगा । शिक्षा पूरी कर लेने के बाद उसी गाँव के एक स्कूल में मास्टर का काम मिल गया और वहाँ उसे अपनी ज्ञान पिपासा शक्त करने का अच्छा सुयोग मिला । दर्शन, इतिहास और साहित्य मैसरिक के प्रिय विषय थे । इस प्रकार के अध्ययन में स्वाधीन देशों की जीवन प्रणाली, रीति रिवाज और शासन तन्त्र का ज्ञान हुआ । इसके लिए उन्होंने अरबी भाषा भी सीखी और विदेशों के प्रति उनमें गहन जिज्ञासा बनी । मैसरिक ने विदेश में राजदूत बनने का सपना देखा । परन्तु उन जैसे साधनहीन व्यक्ति के लिए यह सपना निरा सपना ही लगता था । वे अपनी स्थिति और सामर्थ्य से अन्तर्भिन्न नहीं थे इसलिए उन्हें निराश ही रहना पड़ा । अध्ययन और मुक्त आकाश के तले दूर तक फैली हुई हरियरली को निहारते रहकर चिन्तन करते रहना ही उनकी जीवनचर्या बन गयी थी ।

इसी चिन्तन प्रक्रिया के दौर में वे साहित्य सृजन की ओर झुके और लिखने लगे । मृत्यु के विषय पर उनकी एक महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई और वे अपना ध्याय आनमाने के लिए विषेना से लिपजिग चले आये थे । मैसरिक ने सोचा था कि उनकी विद्वता के कारण लिपजिग विश्वविद्यालय में अध्यापक का पद मिल जायगा परन्तु उन्हें निराश ही रह जाना पड़ा और वे फिर दर्शन शास्त्र के अध्ययन में जुट गये ।

वही उनका परिचय एक अमेरिकन किशोरी से हुआ जो प्रेम में परिणत होकर दाम्पत्य भूतों में बँध गया । दोनों सच्चे साथी सिद्ध हुए । मैसरिक ने अपनी पत्नी के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है कि—मेरी जीवन विकास में मेरी पत्नी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । अन्धकारपूर्ण निराशा से भरे क्षणों में उसके मधुर सम्पर्क और उत्साहवर्धक प्रेरणाओं से मुझे बड़ा चल मिलता है । मैसरिक लिपजिग से प्राग विश्वविद्यालय में प्राध्यापक बनकर आये । प्राग उन दिनों सांस्कृतिक और राजनैतिक गतिविधियों का मुख्य केन्द्र था । चेक जाति की स्वातन्त्रता और संस्कृति के रक्षण की आवश्यकता महसूस की । उन्होंने चेक जाति को मुक्त बनाने के लिए क्रांतिकारी गतिविधियों चलाने का निश्चय किया और प्राग से ही एक समाचार पत्र प्रकाशित करने लगे ।

सठ वर्ष की उम्र तक पहुँचने पर उन्होंने अपने अभिमान को अधिक ठीक बनाना शुरू किया । १९०८ में आस्ट्रिया ने बलग्ररिया को जीत लिया था और वहाँ के मूर्धन्य नेताओं को राजदोह के आरोप में गिरफ्तार कर लिया था । इसी घटना से मैसरिक के हृदय में विद्रोह की चिंगारी भड़क उठी । सन् १९१४ में यूरोप का प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ उस समय मैसरिक की आयु ६५ वर्ष हो चुकी थी । यद्यपि इस आयु में सभी लोग शान्त जीवन की कामना करते हैं परन्तु उन्होंने अपने शरीर और मन को पहले से ही अधिक सशक्त मानकर मुक्ति संग्राम की वाहि लिखा अस्त्र दी । आस्ट्रिया के उद्धत साम्राज्य का अन्त करने के लिए उन्होंने विप्लवी मार्ग को ही उचित माना और उन्होंने अपने साथियों को एकत्र कर एक गुप्त ओबन्ध भी बना ली । इस योजना के बारे में उन्होंने अपनी पत्नी को भी कुछ नहीं बताया ।

नवम्बर, १९१४ में मैसरिक इटली जाने वाली ट्रेन पर सवार हो गए । सीमा पार करने के लिए पासपोर्ट था नहीं । वे अपना क्रांति-चक्र चलाने के लिए इटली जा रहे थे । कानून की आँखों में किसी प्रकार धूल झाँककर वे इटली पहुँच गए । रोम पहुँचकर उनका सम्बन्ध कई विप्लववादियों से हुआ और आस्ट्रिया के अत्याचारी राजतन्त्र का अन्त करने के लिए उन्होंने बड़बन्त का ताना-बाना बुन दिया ।

विप्लव के लिए सैन्य दल का गठन आवश्यक था । मैसरिक सम्प्र-नीति से अनभिज्ञ थे फिर भी उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता का परिचय दिया । आस्ट्रिया से कस भागकर आये

५.७० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

चेक-नागरिकों को उन्होंने एक स्वयंसेवक दल बनावा और उन्हें सैन्य प्रशिक्षण दिया गया। इन्हीं दिनों रूस में जाराशाही का पतन हो गया था। इससे यह काम और भी सुलभ हो गया। दर्शनशास्त्र के अध्यापक का सैन्य दल के अधिनायक बनने की कहानी कम आश्चर्यजनक नहीं है। परन्तु पैंसठ साल की वृद्धावस्था में भी मैसरिक ने अदम्य उत्साह और साहस के बल पर दार्शनिक से कुशल सेनापति बनकर दिखा दिया।

सन् १९१८ में वे साइबेरिया होते हुए अमेरिका गये और राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन से भेंट की। विल्सन को जब उनकी गतिविधियों और सैनिक संगठन का पता चला था तो आस्ट्रिया के विभाजन से वे सहमत हो गए। मैसरिक का ध्वज साकार हुआ। तीन सौ वर्षों की दुःसह पराधीनता के बाद चेक जनता ने राहत को साँस ली। स्वाधीन प्रजातन्त्र राष्ट्र के प्रथम राष्ट्रपति उन्हें ही घोषित किया गया।

परन्तु अभी संघर्ष की शुरुआत ही हुई थी। मैसरिक यद्यपि राष्ट्रपति घोषित कर दिये गये थे फिर भी आस्ट्रिया साम्राज्यवाद से संघर्ष को बड़ी तो अब आयी थी। आस्ट्रिया के शासकों ने उनकी पत्नी को गिरफ्तार कर लिया, जेल में ही तड़प-तड़प कर एक पुत्र मर गया और एक को बाध्य होकर आस्ट्रियन सैनिक बन जाना पड़ा।

अन्ततः साम्राज्यशाही को प्रजातन्त्र के आगे घुटने टेकने पड़े और प्राग के जिस दुर्ग में सम्राट का सिंहासन था, वही पर राष्ट्रपति मैसरिक का अभिषेक किया गया। राष्ट्रपति निर्वाचित होकर भी वे निष्क्रिय नहीं बैठे तथा सत्तर वर्ष की आयु तक बैसा ही कठिन श्रम करते रहे। राष्ट्रपति होते हुए भी उन्होंने सामान्य स्तर का सादा जीवन जिया। एक साधारण से मकान में निवास, सामान्य सा निर्वाह व्यय। उन्होंने राष्ट्राध्यक्ष की निर्वाह परम्परा डाली जो सभी देशों के आदर्श के लिए अनुकरणीय है। इसी कारण वे अमर हैं। चैकोस्लोवाकिया के गान्धी कहे जाते हैं।

हजारों की प्राण रक्षा करने वाले-

डॉ० आटमर कोहलर

जर्मन सेना की साठवीं मोटराइज्ड डिवीजन का कप्तान आटमर कोहलर १ जनवरी, १८५४ को रशियन कैद से मुक्त हो स्वदेश लौट आया। इस प्रकार ग्यारह वर्ष की यन्त्रणा, अभाव, निरासक्ति और मानवीय कुशाग्र बुद्धि की मिली-जुली कहानी का अन्त हुआ। यह कहानी चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में अनूठी मानी गई है।

रूस के भयावह बन्दी शिविरों में डॉक्टर कोहलर ने बिना किसी बेहोशी की दवा के और शून्य चिकित्सा के उपकरणों के पुराने रेजर, ब्लेडों से हाथ-पैर व शरीर के अन्य अंगों के छोटे बड़े हजारों ऑपरेशन किये। घावों व

चीरों को सीनें के लिए उपयुक्त धागे के अभाव में उन्होंने मोची के धागे से काम लिया। इस प्रकार उन्होंने इस ग्यारह वर्ष के बन्दी काल में २०,००० से भी अधिक लोगों को रोग मुक्त किया तथा हजारों लोगों के ऑपरेशन किये। दवा, चिकित्सा, उपकरण, बेहोशी की दवा तथा पट्टियों आदि की जो स्थानापन्न वस्तुएँ उनके पास थीं वे भी मानवीय सम्येदना, तीव्र बुद्धि और ईश्वर में अगाध विश्वास।

डॉक्टर कोहलर सन् १९०८ में जर्मन के कोलोन नगर में जन्मे। उनके पैदा होने के कुछ ही महीने पहले उनके पिता जो व्यवसाय से डॉक्टर थे, उनके सहित चार अन्य व्यस्क बच्चों का घर उनकी माँ के कमजोर कंधों पर छोड़कर परलोकवासी हो गये। इस प्रकार डॉक्टरी और अभाव उन्हें पैतृक सम्पदा के रूप में मिले थे। साधन-सुविधाओं और सम्पन्नता के नन्दनवन में तो हर कोई अपने व्यक्तित्व के पुष्प को सहज ही खिला सकता है किन्तु जो गरीबी और अभावों के कीहड़ वन प्रान्तर में अपने व्यक्तित्व के पादप को पल्लवित-पुष्पित करता है-अपनी सूरभ से उस प्रदेश को भरता है जहाँ उसकी आवश्यकता है, वह प्रशंसनीय होता है।

बालक कोहलर अपने स्वयं के परिश्रम तथा पुरुषार्थ के सहारे डॉक्टर बने। वह विश्वविद्यालय में नौकरी भी करते और पढ़ते भी। उन्होंने रीस्तोक, वियेना तथा कोल्लेन में अपनी शिक्षा पूरी की। सन् १९१४ में उन्होंने अपना निजी चिकित्सालय खोला। पाँच वर्ष बाद उन्हें जर्मन सेना में आठ सप्ताह के सैनिक सर्जन का पाठ्यक्रम पूरा करने के लिए बुलाया गया ताकि जब कभी अवसर आ जाये तो वे युद्ध पीड़ितों की सेवा कर सकें। यह आठ सप्ताह का प्रशिक्षण पन्द्रह वर्ष तक लगा खिंच गया।

१९४२ में वे रशियन सीमा से सिर के भारी घाव को ठीक करने के लिए कुट्टी पर घर लौटे। स्वास्थ्य लाभ होते ही पुनः अपने काम पर जाने लगे। मित्रों-परिजनों ने उन्हें छुट्टियाँ बढ़ाने का आग्रह किया। किन्तु वे रुके नहीं वे जानते थे कि सीमा पर डॉक्टरों की बड़ी आवश्यकता है। अपनी छह वर्ष की बेच्ची उष और पत्नी एरीना को छोड़कर वे सीमा पर लड़ने वाले घायल सिपाहियों की सेवा करने के लिए चल पड़े। इस जुदाई के बाद वे वापस लौटते तब उनको पुरी सत्रह वर्ष की हो चुकी थी।

डॉ० कोहलर गम्भीर प्रकृति के धर्म प्राण व्यक्ति थे। युद्ध से उन्हें बड़ी घृणा थी। युद्ध को रोक सकना उनके बस को बल नहीं थी। युद्ध भले ही नहीं रोका जा सके युद्ध से होने वाली जन-हानि को बहुत कुछ अंशों में वे रोक सकते थे। इसी मानवीय प्रयोजन की सिद्धि के लिए वे सीमा पर आये। उन्हें रशिया और जर्मनी की संकीर्णता से मतलब नहीं था। बमबारी से ध्वस्त एक मकान में वे अपना अस्पताल चलाते थे। एक दिन रूसी सैनिकों को उनके अस्पताल का पता चल गया। उन्होंने डॉक्टर कोहलर को बन्दी बना लिया और अपने साथ ले गये।

शून्य से भी कम तापमान वाले प्रदेश में दो दिन तक वे रशियन सैनिकों तथा अन्य बुद्ध बन्दियों के साथ भूखे प्यासे चलते रहे। तदनन्तर उन्हें दुबोवको के अस्थायी बन्दीगृह में रखा गया। यह बन्दी गृह बिना छत का एक गिरजाघर था। जिसमें कोई छिड़की नहीं थी। इसमें बकरी की तरह २५०० आर्द्रीयों को दूँस रखा था। टाइफाइड, अतिसार, पैर के फोड़े तथा ठण्ड से पीड़ित सौ से भी अधिक व्यक्ति प्रतिदिन मर जाते थे। किन्तु उतने ही बंदी फिर उनका खाली स्थान भरने के लिए आ जाते थे।

अनिश्चित भविष्य, अस्वास्थ्यकर खातावरण तथा अपर्याप्त भोजन ने लोगों के चैर्य को सम्पन्न कर दिया था। वे निराश हो चुके थे। उनके पास ऐसा कोई सम्पत्ति नहीं था जिसके सहारे वे जी सकें। डा० कोहलर जानते थे कि धर्म और ईश्वर वे दो शक्तियाँ ही मनुष्य के खोये हुए विश्वास को लौटाती हैं। इनको धारण करने वाला मनुष्य हर परिस्थिति में प्रसन्न रह सकता है। उन्होंने इन निराश लोगों में मनुष्य के प्रति, ईश्वर के प्रति पुनः विश्वास उत्पन्न किया। वे सब मिलकर ईश्वर से प्रार्थना करते। इस प्रार्थना से उन्हें अपूर्व शक्ति मिलती। वे बाइबिल को सदा अपने पास रखते थे। बारी-बारी से सब लोग उसका पाठ करते।

इस बन्दीगृह में उन्होंने चिकित्सा अधिगान आरम्भ किया। राल्फ चिकित्सा के उपकरणों के रूप में उन्हें दो तीन पुराने रेजर, ब्लेड तथा एक टूटी-फूटी कैची मिली जिसे पत्थर पर घिसकर तैयार किया गया। दवाइयों के नाम पर 'फर्स्ट एड किट' ही उनके पास था। मृतकों के शरीर से उतारे हुए कपड़ों को उबालकर, फाड़कर उनकी पट्टियाँ बनायी गईं। बेहोशी की दवा के अभाव में पुरानी लकड़ी के शिकंजे की पट्टि अपनावी गई। औजारों को उबालने के लिये भोजनालय का एक टिन काम में लिया गया।

इतने ही उपकरणों व औषधियों से उनका अस्पताल चल पड़ा। इनसे उन्होंने छोटे से छोटे व बड़े से बड़े ऑपरेशन किये। एक व्यक्ति की रीढ़ की हड्डी का जटिल ऑपरेशन इन्हीं साधनों से सम्पन्न किया गया जो सफल हुआ। एक व्यक्ति की टाँग का ऑपरेशन किया गया तो उसे २० डिग्री फारनहाइट के ठण्डे तापमान में भी पसीना आ गया। क्योंकि बेहोशी की दवा भी नहीं और उसे टेबल से बांधकर ऑपरेशन किया गया था।

छह महीने के बाद उन्हें वह बन्दी शिविर छोड़कर दूसरे शिविर में ले जाया गया। इस शिविर में ५००० जर्मन ऑफीसर बन्दी थे। इन बन्दियों को जंगल में जाकर लकड़ी काटने का कठोर श्रम करना पड़ता था। वे जंगल से लौटते थे तो बड़ी बुरी तरह थके व भूखे होते थे। डा० कोहलर ने बहुत कमजोर व्यक्तियों के पैरों की मालिश करने के लिए एक स्वयं सेष्क दल का गठन किया।

रोग से वह शिविर भी मुक्त नहीं था। वे अपने पुराने उपकरण वहीं भूल आये थे। वहाँ उनके सामने फिर वही समस्या आयी। यहाँ फिर उन्हें नये उपकरण बनाने पड़े। अन्य बन्दियों के सहयोग से उन्होंने आध्यात्मिकोप बन्ना। सीमेंट से वे प्लास्टर का काम लेते थे।

इस प्रकार उन्हें एक एक करके तरह कैम्प बदलने पड़े सब में यही हाल था। चिकित्सा की कोई सुविधाएँ इन बन्दियों को उपलब्ध नहीं थीं। हर स्थान पर उन्हें नये उपकरण बनाने पड़े। इस ग्यारह वर्ष के बन्दी जीवन में एक भी दिन उन्हें हताश, उदास व मासूम बने किसी ने नहीं देखा। दूसरों की सेवा के बाद उन्हें समय ही नहीं बचता कि वे अन्य बात सोचते। वह बन्दी जीवन उनके लिए एक अभिनव प्रयोग व आत्मतुष्टि का पाथेय बन गया था।

एक कैम्प में मलेरिया बड़ी तेजी से फैल रहा था। हजार में से पन्द्रह व्यक्तियों को ही रशियन अफसर बीमारों की सूची में लेते थे। रोग को बिना किसी चिकित्सा सुविधा के प्यर का प्रकोप सहना पड़ता था। औषधियों के अभाव में वह पुरानी पद्धति की सुलभ औषधियों से मलेरिया की चिकित्सा करते रहे। जर्मन व रूसी का भेदभाव किये वे रूसी नाट्यों की भी चिकित्सा करते थे। बाद में उन्होंने भी सहयोग देना आरम्भ कर दिया, जिससे उनका काम कभी आसान हो गया।

सबसे कठिन ऑपरेशन उन्होंने स्लोनी में एक बन्दी का किया। जिसका सिर व हाथ एक पेड़ के गिर जाने से बुरी तरह कुचल गये थे। रूसी सैनिकों ने उसे मरने के लिए अकेला छोड़ देने का आदेश दिया किन्तु कोहलर माने नहीं उन्होंने अपने हाथ के बने चाकू से उसकी खोपड़ी को उधेड़ा तथा सुधारी के काम में आने वाली रुखानों से उसकी खोपड़ी में छेद करके उसमें घुसे हड्डियों के टुकड़ों को निकालकर दर्जी के काम आने वाले धागे से पुनः चमड़ी के टुकड़े लगाये। हाथों का भी ऑपरेशन किया। पन्द्रह दिन तक वह अचेत रहा। उसके बाद उसका स्वास्थ्य धीरे-धीरे सुधरने लगा और कुछ ही महीनों में वह पूरी तरह ठीक हो गया।

सन् १९४८ में बड़े दिनों के आस-पास एक रूसी सैनिक उसके पास आया। उसकी पत्नी चार दिन से प्रसव वेदना सह रही थी। यदि वह बोड़ी देर बाद आता तो प्रसूता तथा बालक दोनों की मृत्यु निश्चित थी। स्थिति बहुत गम्भीर थी। डाक्टर कोहलर के प्रयास से प्रसव ठीक प्रकार हो गया तथा दोनों की जान बच गयी। उस रूसी सैनिक ने डॉ० कोहलर से पूछा-“हम तुम्हें बन्दी बनाए हुए हैं। तुम्हारे साथ शत्रु का सा व्यवहार करते हैं फिर तुमने मेरी पत्नी के प्राण क्यों बचाये?”

“क्योंकि तुम्हारी पत्नी भी मनुष्य है। मनुष्य ही मनुष्य की सहायता नहीं करेगा तो और कौन करेगा?” सच है जीवन की इस सच्चाई को जिसने आत्मसात कर लिया हो उसके लिए वह भरा स्वर्ण बन जाती है और हर मनुष्य उसका परिचय।

५.७२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

यह समाचार सुनकर कई रुसों भी उनके पास चिकित्सा कराने आने लगे। अपने बन्दी जीवन में उन्होंने ३००० से भी अधिक रुसियों की चिकित्सा की थी।

औषधियों की कमी को उन्होंने आदिम औषधियों का प्रयोग करके पूरा किया। अतिसार की औषधि के रूप में उन्होंने जानवरों की हड्डियों के कोयले का चूर्ण काम में लिया। एक अन्य रोग में ओक की पत्तियों का कड़ा काम में लिया गया। इस प्रकार कई जड़ी-बूटियों का प्रयोग भी वे करते रहे।

१९४९ में १,३०० बन्दियों को छोड़ दिया गया। उन्हें जर्मनी भेज दिया गया। किन्तु कोहलर को नहीं छोड़ा गया। उन पर अभियोग चलाया गया। न्यायालय ने उन्हें इस वर्ष का सश्रम कारावास दिया। इस काल में भी उन्होंने कसी अस्पतालों में चिकित्सा सेवाएँ दी। स्टालिन-प्राड के एक अस्पताल में वे मानवता की सेवा करते रहे।

दिसम्बर, १९५३ में कसी सरकार ने उन्हें जर्मनी सरकार से किए समझौते के अनुसार अपने देश भेज दिया। मानवता की अनुपम सेवा करने तथा युद्ध बन्दियों का आत्मविश्वास बनाए रखने के कारण उनका परिचय जर्मनी में भव्य स्वागत किया गया। उन्हें ग्रेट क्रस प्रदान किया गया। तीन दिन में ही उनके पास दो हजार से अधिक अभिनन्दन पत्र आये जिनके भेजने वाले व्यक्ति उनके युद्ध बन्दी काल के मरीज थे। सभी ने एक ही कहानी दोहरायी थी "आपने हमारी प्राण रक्षा की है।"

पश्चिमी जर्मनी सरकार ने उन्हें कोलोन-मरियम म्युनिसिपल मेडीकल सेन्टर में मुख्य सर्जन का पद दिया। दूसरों की पीड़ा को अपनी पीड़ा से भी अधिक समझने का जीवन दर्शन अपनाकर उन्हें जो ब्रह्मा व सम्मान मिला है वह लोभ-मोह की संकीर्णता अपनाने वालों को भला कहाँ नसीब होता है ?

काँग्रेस के जन्मदाता—

सर ऐलेन ह्यूम

आज के युवकों को यदि यह बताया जाय कि भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के जन्मदाता एक अंग्रेज आई० सी० एस० अधिकारी थे, तो वे सहसा इस पर विश्वास नहीं करेंगे। वह बात उनके गले नहीं उतर पाती कि एक अंग्रेज अधिकारी भारत में अंग्रेजी राज्य की समाप्ति की प्रेरणा लोगों को दे सकता है। पर सत्य है, उतना ही यह सत्य है, जितनी कि हमारी आज की स्वतन्त्रता। यह अंग्रेज व्यक्ति ऐलेन आटेवियम ह्यूम थे जो ब्रिटिश सरकार के उच्चाधिकारी रह चुके थे। वे निर्भीक भद्र पुरुष थे और उस महान व्यक्तित्व परम देशभक्त व समाज-सुधारक जोसेफ ह्यूम के सुपुत्र थे। भारत के साथ सहानुभूति और प्रजातंत्र में दृढ़ विश्वास उन्हें अपने पिता से विरासत में मिला था।

आज ८५ वर्ष पूर्व जब अंग्रेजी शासन हमारे देश में दृढ़तापूर्वक जमा हुआ था, वे कौन-सी परिस्थितियाँ थीं, जिनसे प्रेरित होकर इस अंग्रेज अधिकारी ने भारतीयों को स्वतन्त्रता के लिए प्रेरित किया, उन्हें उत्साहित किया, तैयार किया, सहयोग दिया और सर्वस्व न्यौछावर किया ? सर ह्यूम ने एक नये आन्दोलन का सूत्रपात किया। उन्होंने भारतीय काँग्रेस की स्थापना की और भारत को अंग्रेजों से मुक्ति दिलाने का बीड़ा उठाया। आज देश के उलझे हुए कलहावरण और काँग्रेस पार्टी की आन्तरिक फूट को देखते हुए इस बात का खास महत्व है।

ऐलेन ह्यूम का जन्म सन् १८२९ में हुआ। वे अपनी युवावस्था में अपने समकालीन अंग्रेज समाज सुधारकों से बहुत प्रभावित हुए थे। इन नेताओं के आन्दोलन का मुख्य भूय जनता के लिए आजादी की, रोटी की पुकार, अपने अधिकार की माँग थी। इस आन्दोलन का ह्यूम के युवा-हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा था।

२० वर्ष की अवस्था में उन्होंने भारत में ब्रिटिश सरकार की सेवा में अपना पसंद किया। अपने इस निश्चय में वे अपने पिता से विशेष रूप से प्रभावित हुए थे, जिन्होंने भारत में रहकर ईस्ट इंडिया कम्पनी और भारतीय रियासतों के राजे-महाराजों, नबावों के बीच अनेक महत्वपूर्ण समझौते कराने में असाधारण योग्यता, विवेक और अद्भुत दूरदर्शिता एवं प्रतिभा का परिचय दिया था।

भारत में ह्यूम की प्रथम नियुक्ति सन् १८४९ में बंगाल के उच्च अधिकारी के रूप में हुई थी। आरम्भ से ही उन्होंने भारतवासियों की भावनाओं को समझने और उनकी समस्याओं को सुलझाने में गहरी रुचि प्रदर्शित की थी। इसके पश्चात् उत्तर प्रदेश के इटावा जिले में डिप्टी कलेक्टर की नियुक्ति के दौरान भी देश में शिक्षा प्रसार के लिए उन्होंने कई सराहनीय कार्य किये। इन्हीं के प्रयत्नों से जनवरी १८५७ तक इटावा जिलों में लगभग १८९ निशुल्क प्राथमिक पाठशालाओं की स्थापना हो चुकी थी। इन्हीं के अथक परिश्रम और लगन से इटावा में प्रथम मेडीकल कॉलेज खोला गया।

सन् १८५९ में ह्यूम ने एक भारतीय मित्र के सहयोग से एक सम्पन्न पत्र 'दि पिपुल्स फ्रेंड' आरम्भ किया, जो बड़ा लोकप्रिय हुआ और देश के कोने-कोने में इसका प्रचार हुआ।

सर ह्यूम एक कुशल प्रशासक थे। अपनी सरकार के प्रति पूरी कर्तव्यनिष्ठा के साथ साथ भारतीयों के प्रति उनका व्यवहार बड़ा स्नेहपूर्ण और उदारता का रहा। अपने कार्यकाल के दौरान कुछ वर्षों तक वे कस्टम कमिश्नर भी रहे और सन् १८७० में भारत सरकार के सचिव के रूप में उनकी नियुक्ति हुई। भारत के ग्रामीण जीवन और कृषि की अवस्था की उन्हें विशेष जानकारी थी। अतः वाइसराय लार्ड मेयो ने भारत के ग्रामीण सुधार का सारा भार उन्हें सौंपा। ह्यूम इस कार्य में जी जान से जुटे थे और चाहते थे कि भारत के कृषि सुधार के कार्य

के लिए एक रचनात्मक योजना तैयार की जाए परन्तु अंग्रेज उच्चाधिकारियों ने एक ऐसा बहाना इनके विरुद्ध रचा कि इन्हें नौकरी छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा।

उन्होंने इस घोर अन्याय को चुपचाप सहन कर लिया पर इससे उनके हृदय को बड़ी ठेस लगी। इस विपत्ति में एक प्रकार का आत्मदर्शन हुआ। उन्हें यह सफू महसूस हुआ कि ब्रिटिश शासन जनता के हित में नहीं। उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो चला कि भारत के लोगों की जो निरन्तर दुर्दशा हो रही है, इसकी रोकथाम के लिए कोई ठोस कदम उठाने होंगे।

विदेशी राज्य के उस काल में अंग्रेजों शासकों और भारतीय जनता के बीच ऐसी कोई कड़ी नहीं थी और न कोई ऐसे संवैधानिक उपाय थे, जिनके द्वारा भारत की निरीह जनता के दुःखों, कष्टों, भावनाओं आदि का सरकार को पता चल सकता। स्पूम इस विचारधारा के थे कि भारत में अंग्रेजी शासन चलाने तथा सरकार द्वारा अपने हितों की रक्षा के लिए भारतीयों का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है।

पर कोई काम आरम्भ करने से पूर्व स्पूम ने उचित समझा कि क्यों न पहले तत्कालीन बाइसराय लाई डफरिन से परामर्श कर लिया जाए क्योंकि स्वयं बाइसराय भी लोगों की वास्तविक भावनाओं को समझने में कठिनाई अनुभव कर रहे थे। वे भी इस मत के थे कि कोई ऐसी जिम्मेदार संस्था भारत में होनी चाहिए, जिसके द्वारा ब्रिटिश सरकार को हिन्दुस्तानियों की सही भावनाओं का पता चलता रहे।

उन दिनों कोई भारतीय राजनैतिक संस्था विद्यमान न थी, ऐसा नहीं था। बंगाल में सन् १८७६ में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इन्डियन एसोसियेशन की स्थापना कर चुके थे तथा मद्रास में महाजन सभा का भी जन्म हो चुका था। दोनों संस्थाएँ देश में राष्ट्रीयता का बीज बोने का सफल कार्य कर रही थी पर स्पूम एक ऐसे केन्द्रीय संगठित आन्दोलन का सूत्रपात करना चाहते थे, जो राष्ट्रीय इकाइयों को एक सूत्र में पिरो दे।

इस लक्ष्यपूर्ति के लिए वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के कार्य में जुट गये। स्पूम को इस संकल्पित संस्था का उद्देश्य था—“भारत का एक राष्ट्र के रूप में आध्यात्मिक, चारित्रिक, सामाजिक और राजनैतिक पुनरुत्थान और पुनरुद्धार।”

इस आन्दोलन की प्रतिक्रिया बड़ी सन्तुष्ट हुई। देश भर में इसका स्वागत हुआ। भारत के प्रत्येक भाग से राष्ट्रीयता से ओत प्रोत व्यक्ति इस आन्दोलन को सहयोग देने आगे आए। स्पूम ने इनके सहयोग से प्रथम भारतीय राष्ट्रीय यूनियन की स्थापना की। बाद में यह यूनियन केन्द्रीय आन्दोलन की प्रेरणा स्रोत बनी। इसके साथ ही कराँची, अहमदाबाद, सूरत, बम्बई, पूना, मद्रास, कलकत्ता, बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ, आगरा और लाहौर में स्थापित की गई। इनकी गतिविधियों को केन्द्रित करने के

लिए पूना में इस यूनियन को एक परिषद का आयोजन भी किया गया। वे सब कार्य बड़ी तेजी से सम्पन्न हुए।

देश की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए यह जानना बड़ा दिलचस्प प्रतीत होता है कि इस यूनियन का सदस्य होने के लिए जो पाँच योग्यताएँ अनिवार्य रखी गई थीं। वे इस प्रकार हैं:-

(१) सार्वजनिक रूप से निष्कलंक चरित्र।

(२) भारत के लोगों के आर्थिक, शारीरिक, चारित्रिक, मानसिक तथा राजनीतिक स्तर के उत्थान की प्रवृत्ति इच्छा और सच्ची भावना से ओत-प्रोत होना।

(३) बौद्धिक शक्ति और विस्तृत दृष्टिकोण, तर्क-वितर्क की क्षमता प्रतिभा व शिक्षा ग्रहण द्वारा मानसिक संतुलन बनाए रखने की क्षमता।

(४) जनता के हित में स्वयं के हित को बलिदान करने को तत्पर होना।

(५) स्वाधीन एवं स्वतन्त्र विचार तथा अपने निर्णय में निष्पक्ष होना।

अपने इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए स्पूम इंग्लैण्ड भी गए और वहाँ वे अनेक प्रमुख नेताओं, समाचार-पत्रों के सम्पादकों आदि से मिले और उन्हें अपने मिशन का उद्देश्य समझाया। उन्हें इन सबसे पर्याप्त सहानुभूति मिली। इस सफलता से प्रसन्न हो, इंग्लैण्ड से अब वे लौटे पूना में दिसम्बर, १८८५ में यूनियन के प्रथम अधिवेशन की तैयारियाँ हो चुकी थीं। इस बीच यह निर्णय किया गया कि यूनियन को ‘भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस’ नाम दिया जाए, क्योंकि यह संस्था अब राष्ट्रीय महत्व का रूप धारण कर चुकी है और देश के कोने-कोने से इसे समर्थन मिलने लगा है।

पर यूनियन का यह अधिवेशन पूना में न हो सका क्योंकि पूना में उन्हीं दिनों अकस्मात प्लेग की बीमारी फूट पड़ी। इसलिए अधिवेशन का स्थान पूना से बदलकर बम्बई में रखा गया। इस प्रकार २७ दिसम्बर, १८८५ को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का सर्वप्रथम अधिवेशन का श्रेय बम्बई को मिला। कांग्रेस के आरम्भिक दिनों में ब्रिटिश अधिकारी इस संस्था की उपेक्षा करते रहे पर जब यह आन्दोलन जोर पकड़ने लगा तो उनके कान खड़े हुए और इसके प्रति उनके व्यवहार में कठोरता आने लगी। अनेक अंग्रेज अधिकारियों ने यहाँ तक राय प्रकट की कि कांग्रेस पर प्रतिबंध लगा दिया जाए और स्पूम को भारत से निर्वासित कर दिया जाए। फलतः उन्हें भारत छोड़ने को विवश होना पड़ा।

भारत में ब्रिटिश सरकार के प्रतिरोध को खत्म करने के लिए स्पूम ने इंग्लैण्ड में भारतीयों के अधिकारों के बारे में प्रचार का एक सशक्त कार्यक्रम तैयार किया। १८८६ में इंग्लैण्ड में एक संस्था की स्थापना की गई, जो भारतीयों को पत्रकारों को इंग्लैण्ड के लोगों तक पहुँचा सके। दादा भाई नौरोजी जो उन दिनों इंग्लैण्ड में थे, ब्रिटिश पार्लियामेंट के प्रथम भारतीय प्रतिनिधि नियुक्त

५.७४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

हुए। बाद में सर विलियम वेडरबर्न और ब्राडला ने भी सहयोग दिया।

सन् १८९२ में इंग्लैण्ड लौटे। वहाँ वे कुछ वर्ष रहे। वृद्धावस्था और निरन्तर गिरते स्वास्थ्य के बावजूद भारत के हितों के लिए वे अन्त तक ब्रिटिश सरकार से जुड़ा रहे। अनेक कठिनाइयों का उन्हें सामना करना पड़ा फिर भी वे कांग्रेस को सुदृढ़ बनाने और इस देश में राष्ट्रीयता जगाने के लिए महर्निश लगन से काम करते रहे। इंग्लैण्ड से वे भारत लौटना चाहते थे। पर वे अकस्मात् बीमार पड़ गये और ८४ वर्ष की आयु में ३१ जुलाई, १९१२ को उनका देहान्त हो गया।

मानवीय समता का प्रतिष्ठापक—

कार्ल मार्क्स

सन् १८४८ का वर्ष योरोप के निरंकुश शासकों के लिये बड़ा अमंगलकारी था। जन क्रांति की ज्वाला एक बड़े देश से दूसरे में फैलती जाती थी और एकप्रभिकार के बड़े-बड़े दुर्ग धराशायी होते जाते थे। फ्रांस में पुराने शासन को लौट दिया गया और उसकी जगह सामान्य जनता का अस्थायी शासन कायम हो गया। उधर बेल्जियम में भी साम्यवादी विचारवालों ने मजदूरकणीय नेताओं पर आक्रमण करके उनको अपमानित किया। इस झगड़े में मार्क्स की भी, जो उन दिनों अपने देश जर्मनी को त्यागकर बेल्जियम की राजधानी ब्रुसेल्स रहता था, हानि उठानी पड़ी। अब तक वहाँ के अधिकारियों ने जर्मन सरकार के आपत्ति करने पर भी उसको अपने यहाँ रहने दिया था। पर इस घटना के बाद वे भी उससे डरने लगे और उसे गिरफ्तार करके देश निकाले का दण्ड दे दिया। उसी समय उसके पास फ्रांस की अस्थायी सरकार के एक सदस्य 'कर्ट्नेण्ड फ्लोकेन' का पत्र आया, जिसमें लिखा था—

“वीर और विजयस्त मार्क्स। अत्याचारियों ने तुम को देश निकाले की आज्ञा दी है। पर स्वाधीन-फ्रांस तुम्हारे लिये अपना दरवाना खोलता है—तुम्हारे लिये और उन सब लोगों के लिये जो मनुष्य-मात्र के उद्धार के पवित्र उद्देश्य के लिये लड़ रहे हैं। इस सम्बन्ध में फ्रांसीसी सरकार का प्रत्येक कर्मचारी अपना कर्तव्य पत्नी-भौति समझता है। प्रातः भाव पूर्वक नमस्कार।”

मार्क्स पेरिस पहुँच गये और वहाँ की क्रांति में भी यथाशक्ति भाग लिया। पर उधर उसके घर जर्मनी में भी क्रांति की चिंगारियाँ अपना काम कर रही थीं। मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट लीग' के जर्मन सदस्यों को प्रेरणा दी कि वे जर्मनी पहुँचकर क्रांति में भाग लें। फिर जब अग्न भड़कने का अवसर आया वह भी अपने सहयोगी रॉजिल्स को लेकर राइनलैण्ड में चला आया और 'न्यू राइनिश बीटुंग' नाम का एक दैनिक पत्र निकालने लगा। वह उस समय

सबसे प्रभावशाली पत्र था, जिससे सरकार भी डरती थी। इसके सम्बन्ध में रॉजिल्स ने, जो उसका सहकर्मी सम्पादक था, एक स्थान पर लिखा है—

उस समय वही एक ऐसा पत्र था जो श्रमजीवियों का पूर्ण रूप से समर्थन करता था। कुछ अन्य पत्रों ने उसके विरुद्ध बड़ा आन्दोलन किया, क्योंकि वह उन सभी बातों का विरोध करता था जिन्हें वे 'पवित्र' मानते थे। वह निरंकुश शासन-सत्ता का घोर विरोधी था चाहे वह सत्ता बादशाह की हो और चाहे पुलिस के एक सिपाही की। इन बातों को जहाँ रहकर लिखता था जहाँ छावनी में जाठ हजार सिपाही सदा तैयार रहते थे। जर्मनी का केन्द्रीय न्याय विभाग उसके लेखों को बराबर गैर कानूनी करार देता रहता था और सरकारी वकील पर मुकदमा चलाने का जोर डालता रहता था। दो बार उस पर मुकदमा चलाया भी गया, पर जूरियों ने निर्दोष कहकर छोड़ दिया। अन्त में जब केन्द्रीय सरकार भी बहुत बड़ी सेवा राइनलैण्ड में आ गयी और क्रांति पूरी तरह से दबा दी गयी तब सरकार इस पत्र को बन्द करने का साहस कर सकी। इसकी अंतिम संख्या १८ मई १८४९ के 'रक्त-अंक' के नाम से प्रकाशित हुई जो लाल रंग के कागज पर छपी थी।

“न्यू राइनिश बीटुंग” को जीवित रखने के उद्देश्य में मार्क्स को अपना सर्वस्व स्वाहा कर देना पड़ा। यद्यपि यह बड़ा लोकप्रिय पत्र था और साल भर के भीतर ही इसकी ग्राहक संख्या काफ़ी बढ़ गई थी; पर सरकार की दमन नीति का मुकाबला करने के कारण पत्र पर बहुत सा कर्ज हो गया। मार्क्स ने अपना सब कुछ बेचकर कर्जदारों का १५ हजार रु० चुकाया। इसके बाद वह पेरिस पहुँचा, पर वहाँ देखा कि 'लाल प्रजातन्त्र' के बजाय शासन में क्रांति विरोधी दल का बोलबाला हो गया है। तब वह लन्दन चला आया और अपना शेष जीवन वहीं व्यतीत किया।

लन्दन में मार्क्स लगभग इकतीस वर्ष की आयु में पहुँचा और चौतीस वर्ष तक वहाँ निवास करता रहा। इस बीच में जिस प्रकार आर्थिक कष्ट सहन करते हुए उसने जनसेवा का कार्य जारी रखा, उसी से यह आज तक संसार के श्रमजीवियों का आराध्य बना हुआ है। उस समय वह कितना दरिद्र हो गया था इसका पता एक इसी बात से लग सकता है कि जब उसे अपने जर्मनी स्थित छात्रियों का समर्थन करने के लिये एक ट्रैक्ट निकालने की आवश्यकता हुई तो उसको अपना अन्तिम कोट गिरवी रखकर कुछ रुपया प्राप्त करना पड़ा। सन् १८५१ से १८६० तक मार्क्स की आमदनी का खास ज़रिया अमरीका से प्रकाशित होने वाले 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' के लिये लेख भेजना ही था उसे प्रति लेख १५ रु० मिलते थे। सन् १८६२ में उसका आर्थिक कष्ट इतना बढ़ गया कि उसने रेलवे ऑफिस में क्लर्क की नौकरी के लिए दरखास्त दी। पर कितने ही बड़े लेखकों की तरह उसकी हस्तलिपि इतनी अस्पष्ट थी कि उसे नौकरी न मिल सकी, जिस

महापुरुष के सम्मुख इस समय आधी दुनिया ब्रह्म से मस्तक झुकाती है, उसे पेट भरने के लिये कर्तक की नौकरी भी न मिल सकी इससे बड़ी विधि-विहम्बना और क्या हो सकती है ?

पर इस कठिन परिस्थितियों में भी वह अपने सिद्धान्तों पर कितनी अधिक निष्ठा रखता था, इसका पता एक अन्य घटना से लगता है। कुछ समय पश्चात् जर्मनी के शासकों ने मार्क्स के एक मित्र द्वारा उससे जर्मनी के सरकारी पत्र का आर्थिक-सम्पादकता बन जाने को कहलाया। इस काम में काफी आमदनी थी और उसका भयंकर अर्थकष्ट और दरिद्रता पूर्ण रूप से दूर हो सकती थी। पर साथ ही इसका अर्थ यह भी था कि वह अपने प्राणों से ध्येय सिद्धान्तों को तिलांजलि देकर सरकार का पक्ष समर्थन करने वाली बातें लिखे। मार्क्स ने जर्मन सरकार के प्रस्ताव को तुकरा दिया और वह सांसारिक सुखों के लिए अपनी आत्मा का त्याग करने को तैयार न हुआ। यही एक घटना मार्क्स को त्यागी और अपरिग्रही श्रेणियों की कोटि में पहुँचाने को पर्याप्त है।

इस आपत्तिकाल में उनकी पत्नी ने जिस वैय और आत्मत्याग का परिचय दिया उससे प्रकट होता है वह सच्चे अर्थों में एक पतिव्रता थी। वह एक रईस घराने की पुत्री थी और उनका एक भाई उस समय भी जर्मनी के मेडिचनल का सदस्य था। अबु में भी वह मार्क्स से कुछ बड़ी थी पर घोर दरिद्रता का अर्थकष्ट से घबड़ाकर उसने कभी मार्क्स की शिकायत न की, न अपने भाग्य को उसके साथ बिबाह होने के कारण कोसा। वह स्वयं और घर के अन्य सब लोग, मार्क्स का हार्दिक सम्मान करते थे और कभी किसी ने वह झुका प्रकट न की कि वह अपना प्रचार कार्य त्याग कर धन-कमाने के लिये कोई दूसरा काम करे। वह सच्चे अर्थों में अपने पति की सहधर्मिणी थी। वह सदा प्रसन्नचित्त रहती थी और ऐसी व्यवहार पुराण थी कि मार्क्स के समस्त इष्ट-मित्र और अनुयायी उसे बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे।

मार्क्स के छ सन्तानें हुई। जिनमें से तीन कन्धर्व जीवित रहीं और दो सड़कों तथा एक सड़की का दैहान्त बचपन में ही हो गया। इनकी मृत्यु का एक बड़ा कारण मार्क्स की कंगाली भी था। अगर इनकी सेवा-सुश्रूषा का ठीक प्रबन्ध होता और डाक्टरों के कहने के मुताबिक उचित इलाज किया जाता, तो सम्भवतः उनकी जीवन-लीला इस प्रकार अकाल में समाप्त न हो जाती।

यद्यपि मार्क्स एक भयंकर क्रान्तिकारी समझा जाता था, जिसके नाम से योरोप की शक्ति-शाली सरकारें भी डरती थीं, पर व्यक्तिगत जीवन में वह बड़ी कोमल प्रकृति का और विनोदप्रिय था, खुट्टी के दिन शाम को जब वह अपने कुटुम्बियों और मित्रों के साथ सैर करने को निकलता था तब वह बहसवाच को गपगप करता तो उसकी चुटकियों और मजाक पर लोग खूब हँसा करते थे। उस समय किसी को यह ख्याल भी नहीं आता कि वह एक

भयंकर क्रान्तिकारी है। लन्दन की गलियों में खेलने वाले गरीबों के बच्चे उसे 'दादा मार्क्स' कहते थे और वह राह चलते हुये सदा उनके साथ खेलने को तैयार रहता था। प्रसिद्ध कवि हेन ने जो पेरिस में मार्क्स के परिवार का सबसे अधिक घनिष्ठ मित्र था और जिसने एक बार घोर परिश्रम और सेवा करके मार्क्स के एक बच्चे की प्राण रक्षा की थी, लिखा है—“मैं जितने मनुष्यों को जानता हूँ, मार्क्स उन सब में कोमल और मीठी प्रकृति का व्यक्ति है।”

पर इतनी कठिनाइयों और अभावग्रस्त हालत में रहते हुये भी मार्क्स अर्थशास्त्र और साम्यवाद के अध्ययन में जितना अधिक परिश्रम करता था उसे जानकर आश्चर्य होता है। लन्दन पहुँचने पर दिन के समय तो उसे अक्सर अनेक सभा संस्थाओं में भाग लेना पड़ता था और कई घंटे वहाँ पर निकल जाते थे। इसलिये वह पढ़ने-लिखने का काम रात में करने लगा। धीरे-धीरे वह आदत बहूँ तक बढ़ गई कि वह सारी रात काम करता रहता और सुबह होने पर थोड़ी देर सो लेता। उसकी पत्नी ने इसका विरोध किया, पर उसने उसकी बातें हँसो में उड़ा दी और समझा दिया कि उसे इसी प्रकार काम करने की आदत है। पर प्रकृति के विरुद्ध चलने का फल उसे भोगना पड़ा। यद्यपि उसका शरीरिक बदन जन्म से बहुत मजबूत था, पर इस असाधारण परिश्रम के कारण आठ-दस साल में ही उसके शरीर में अनेकों रोग पैदा हो गये। डॉक्टरों से सलाह लेने पर उन्होंने रात का पढ़ना-लिखना कताई बन्द कर देने और निच-प्रति कुछ व्यायाम करने तथा दूर तक घूमने की कहा। इसके अनुसार चलने से उसका स्वास्थ्य सुधरने लगा। पर जैसे ही शक्ति कुछ बढ़ गई वह फिर रात को काम करने और अर्थशास्त्र के अध्ययन में आत्यधिक परिश्रम करने लगा, कटीबध यह हुआ कि वह फिर बीमार हो गया और डॉक्टरों की सलाह में जाना पड़ा। इसी प्रकार अधिक परिश्रम करने के कारण उसे बार-बार बीमार पड़ना पड़ता। जिस डॉक्टर ने अन्तिम बीमारी में उसका इलाज किया उसने कहा था कि अगर मार्क्स इस प्रकार शक्ति से बाहर काम न करता तो वह बहुत दिनों तक बिन्ध रह सकता था।

पर मार्क्स का यह असाधारण परिश्रम व्यर्थ न गया। उसका अमर ग्रंथ 'कैपिटल' इसी परिश्रम का परिणाम है। अर्थशास्त्र और साम्यवाद के अध्ययन में उसने लन्दन के अग्रेष्ठ विख्यात पुस्तकालय 'ब्रिटिश म्यूजियम लायब्रेरी' में खेतह-खेतह घन्टे बैठकर इस सम्बन्ध में साहित्य को भय डाला था। उस युग में अर्थशास्त्र के साहित्य पर उससे अधिक जानकारी रखने वाला विद्वान दूसरा न था। इसी ज्ञान के आधार पर उसने 'कम्यूनियम' के सिद्धान्तों को ऐसे सुदृढ़ आधार पर स्थापित किया कि वे आज तक दुनिया को हिल रहे हैं। उसका यह 'कैपिटल' ग्रंथ अभी तक 'कम्यूनियम की माइजिल' के नाम से प्रसिद्ध है और ग्राम जीवनियों के विकास तथा अधिकारों का प्रतिपादन करने वाली सर्वोपरि रचना मानी जाती है। इस कई हजार पृष्ठों

५.७३ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

के महा ग्रन्थ की प्रशंसा करते हुये १४ मार्च, १८८३ को मार्क्स की मृत्यु हो जाने पर उसके परम मित्र एंजिल्स ने कहा था-

"आज मनुष्य जाति एक बड़े महत्वपूर्ण मस्तिष्क से रहित हो गई । जिस प्रकार डार्विन ने जीव जगत के सिद्धान्त का पता लगाया था ठीक उसी प्रकार मार्क्स ने मानव इतिहास के विकास सम्बन्धी नियम की खोज की । यह नियम बिल्कुल सहज और स्वाभाविक है, पर तब तक यह आदर्शवाद के घटाटोप में छिपा हुआ था । मार्क्स ने 'समाज-प्रजातन्त्रवाद' को एकमत या सिद्धान्त के बजाय एक जीवित सत्य बना दिया जो आज बिना डार जाने बुढ़ कर रहा है और अन्त में अवश्य दिखयी होगी । मार्क्स ने अपनी समस्त योग्यता और शक्ति को मानव जाति के हितार्थ लगा दिया । वह स्वयं जन्य धर गरीबी और अभावग्रस्त दशा में रहा, पर उसने करोड़ों दीन-हीन लोगों के लिये उद्धार का रास्ता खोल दिया ।"

वास्तव में ऐसे ही परमार्थ में जीवन अर्पण करने वाले ऋषि और मुनि कहलाने के अधिकारी होते हैं । 'कैपिटल' के लिखने में ऋषि मार्क्स ने अमनुरीय परिश्रम किया था और प्राणों की बाजी लगा दी थी, पर फिर भी साधनों के अभाव से जब वह अपने जीवन के अन्तिम समय तक उसे पूरा प्रकाशित न करा सका तो वह बहुत दुःखी हुआ । जिस समय मार्क्स की मृत्यु हुई उन दिनों उसका प्रभाव इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी में बराबर बढ़ता जा रहा था और अनेक प्रसिद्ध साम्यवादी नेता उसके सिद्धान्तों का प्रचार जोरों से करने लगे थे । मार्क्स के सिद्धान्तों के पक्ष या विपक्ष में अनेक संस्थाओं की स्थापना की जा रही थी पर जिस महापुरुष के नाम पर ये सब कार्य किये जा रहे थे वह स्वयं बर्बाद हो चुका था । परिश्रम का दुनिया ने उसे कुछ भी पुरस्कार नहीं दिया ।

साम्यवाद के जन्मदाता

अन्य आदर्शवादियों की तरह साम्यवाद के जन्यता कार्ल मार्क्स को भी गरीबी और कठिनाई के बीच दिन गुजारने पड़े । उनकी पुत्री दवा के लिए पैसा न होने के कारण बेमौत भर गई ।

जब कर्ज भी न मिला तो उनकी फनी ने पुराने कपड़े खरीदकर उनमें से छोटे कपड़े निकालने और गली-गली घूमकर बेचने का धन्धा किया और पति को अपने महान कार्य में संलग्न रहने में कुछ व्यवधान न पहुँचे दिया ।

दृढ़ सिद्धान्तवादी

कार्ल मार्क्स लन्दन में निर्वासित जीवन भी रहे थे । फ्रान्स और जर्मनी की सरकारों ने उन्हें क्रान्तिकारी घोषित कर देश निकाला दे दिया था । यहीं पर रहकर उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दास कैपिटल' की रचना की थी । लन्दन प्रवास के दौरान मार्क्स को घोर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । इस बीच उन्हें गरीबी और भूख के कारण दो बच्चों से भी हाथ खेना पड़ा था ।

समय पर किराया न चुकाने के कारण कई बार मकान मालिकों ने घरों से भी निकाल दिया था । रोटी के लिए बिस्तर भी बेचने पड़े । किन्तु श्रमिकों के उद्धार का संकल्प उन्होंने उठाया था । उसे भूखों रहकर आजीवन निष्ठावा । उसमें राई-रती भर शिथिलता नहीं आने दी ।

उन्हीं दिनों जर्मनी में बिस्मार्क का प्रभुत्व था । वे जर्मनी के प्रधानमंत्री भी थे । पूँजीवादी राष्ट्रों में जर्मनी अग्रणी था । बिस्मार्क को डर था कि यदि मार्क्स के विचार समाज में फैल गये तो मजदूरों को काबू में रख पाना सम्भव न होगा । पूँजीवाद की नींव जर्मनी से सदा के लिए उखड़ जायगी । बिस्मार्क को एक ठक्ति सूझी । क्यों न मार्क्स को प्रलोभन देकर खरीद लिया जाय और उसके बढ़ते प्रभाव को समाप्त कर दिया जाय । मार्क्स के पुराने साथी बुचर को लातव देकर अपने पक्ष में कर लिया । उसके हाथों गुप्त पत्र भिजवाया । जिसमें कार्ल मार्क्स को सरकारी समाचार पत्र का सम्पादक बनने की बात कही थी इस पत्र में पारिवर्गिक की मोटी रकम अदा करने की बात कही गई थी तथा सुरक्षा का पूरा आश्वासन भी दिया गया था । पत्र के अन्त में कहा गया था कि सरकार के समर्थन से राष्ट्र की सेवा और अच्छी तरह हो सकती है ।

किन्तु मार्क्स खरीदे नहीं जा सके । बिस्मार्क अपने कुटिल इरादों में असफल रहा । मार्क्स ब्रह्म सिद्धान्त और पवित्र-सत्य तथा जन-कल्याण की भावना लेकर कार्य के प्रति समर्पित थे । इसलिए अभाव भरे जीवन से भी उन्हें कोई रिझाया नहीं थी । कार्ल न हुके न बिगरे । यह प्रलोभनों पर आदर्शों की महान विजय थी, जो मार्क्स को सदा के लिए महान बना गई ।

कम परिश्रम में अधिक कमाई

एक बुधक सिर झुकावे अपने काम पर तेजी से जा रहा था । रास्ते में एक मजदूर को दीवार पर पेन्ट करते देखा । बुधक कुछ समय रुका और मजदूर के पास जाकर बोला-"दोस्त ! इससे भी कम समय और कम रंग में इससे अच्छी रंगाई हो सकती है । क्या तुम उस तरकीब को सीखना चाहोगे ।" मजदूर भीचक्का रह गया । पास ही मालिक भी खड़ा था । दोनों ने कहा-"भाई ऐसी तरकीब हो सकती है तो कर दिखाओ न ।"

बुधक आखीन केची करके मजदूर का बूरा और रंग छिन्ना हाथ में लेकर काम पर चुट गया । शाम होने से पहले ही उसने अपनी बात सही सिद्ध करके दिखा दी । चलते समय मालिक ने इस बुधक के हाथ में पारिवर्गिक और इनाम बमाना तो उसने उसे काम पर लगे मजदूर को दे दिया । कहा-करना तो इन्हीं को है-मैंने तो ऐसे ही छोटी अच्छा लग दी ।

वह बुधक था-कार्ल मार्क्स । जिसकी कमल ने दुनिया को अधिक अच्छी कप समय और कम परिश्रम में बना देने की तरकीब बताई और वह साम्यवाद के रूप में सबके सामने आई ।

जाम्बिया के गाँधी—

राष्ट्रपति कैनेथ कोण्डा

आठ वर्ष के निर्धन और काले नींगे बालक कोण्डा को देखकर कोई यह अनुमान भी नहीं लगा सकता था कि यह आगे चलकर एक नवोदित राष्ट्र का अध्यक्ष ही नहीं राष्ट्रपिता का गौरव और सम्मान प्राप्त करेगा। परन्तु सफलता किसी के चेहरे पर नहीं लिखी होती वह मनुष्य के पुरुषार्थ, पराक्रम और अद्विग्न निष्ठा के बल पर स्वयं लिखनी होती है। एक तो ऐसे परिवार में जन्म, जिसे न तो मनुष्य की तरह जीने दिया जा रहा था और न ही वह पशुओं का कुनबा था। मनुष्य का मनुष्य के प्रति यह दुर्व्यवहार आज की नहीं सदा की पैश्विक वृत्ति रही है। शक्तिशाली और समर्थ लोगों में आसुरी क्रव्य घुसकर उन्हें मानवता के पद से कितना नीचा गिरा देते हैं वह जानना ही तो कोई उस समय का इतिहास पढ़े।

ज्यादा पुरानी नहीं कुछेक दशक पूर्व की ही बात है तब जाम्बिया में यूनिवर्सल बैंक फहराता था और वहाँ की बहुसंख्यक नींगे जनता चन्द गरीबी चमड़ी कालों की बिना मूल्य गुलामी कर रही थी। इन स्त्रियों के साथ अंग्रेजों ने जिस स्तर का व्यवहार किया उसे सुनकर आने वाले नये युग का इन्सान शायद परिलोक की कहानियाँ ही समझेगा। जगह-जगह उस समय अफ्रीकियों को नफरत की निगाह से देखा जाता था। गृहस्थी में जबरन पड़ने वाली चीजें भी वे बाजार जाकर दुकान के सामने खड़े हो कर खरीद नहीं सकते थे। उनके लिए दुकान की बगल में एक छेद होता था। जिसमें से बेचारे अफ्रीकी अपना काला मुँह बिना दिखाये सामान खरीदते थे। दुकानदार-मुँह-माँगा दाम बसूल करता और अफ्रीकी ग्राहक बोड़ी भी आनाकानी करता तो वस्तु तो नहीं मिलती कोढ़ों की मार भी खानी पड़ती।

होटलों के यूरोपियन मालिकों के कुत्तों को भी अदब बजाता और कोई अफ्रीकी गेट के आसपास भी नजर आता तो कुत्तों की तरह दुत्कार दिया जाता। अपने अतोय भाईयों के साथ इस प्रकार का व्यवहार होते देख कैनेथ कोण्डा का कोमल मन इस कदर व्यथित और इतना आक्रोश युक्त हो उठता कि वह सोचता काश उसका बस चलता तो वह इन नरपिशाचों का मुँह नोच लेता।

उसका बस तो चल नहीं दुर्दैव से सिर से पिता का साया भी उठ गया। अब जीवन निर्वाह की समस्या भी खड़ी हो गयी। परन्तु माता-पिता ने अपने इकलौते पुत्र को इस प्रकार प्रशिक्षित किया था कि उसने हिम्मत नहीं हारी। उस समय कैनेथ कोण्डा स्कूल में पढ़ रहे थे। कुछ अफ्रीकी समझदार लोगों ने कम से कम इतना तो कर रखा था। गरीबी सरकार ने भी अपनी दयालुता का प्रदर्शन करने के लिए इस प्रकार की छूट दे रखी थी। कैनेथ के

माता-पिता ने इसी आश के साथ अपने बेटे को स्कूल में भर्ती करवाया था कि शायद उसके जीवन में कभी ऐसा समय आये जब वह अपनी शिक्षा और योग्यता के बल पर सम्मानित जीवन जी सके।

पिता का देहान्त हो जाने के बाद फीस जमा करवाने के लिये भी पैसे नहीं रहते। स्कूल के प्रधानाचार्य ने कैनेथ कोण्डा को बगीचे में निराई-गुड़ाई का काम दे दिया जिसे उन्होंने वरदान समझा। फीस तथा पुस्तकों की व्यवस्था के साथ निर्वाह में भी सहायक सिद्ध होने वाला एक साधन मिल गया। वे उसी तरह तन्मयतापूर्वक अध्ययन में जुटे रहे जिस प्रकार अपने पिता के जीवन काल में थे। कैनेथ कोण्डा ने दुर्भाग्यपूर्ण बहियों से भी स्वावलम्बन का पाठ पढ़ कर उन्हें सुखद बना लिया। सब ई कोई भी परिस्थितियाँ और विपत्तियाँ ईश्वर का भेजा हुआ एक ऐसा वरदान हैं जो व्यक्ति के उन गुणों और विशेषताओं को उद्घाटित करती हैं जिनके बल पर भविष्य को सुखद बनाना जा सकता है।

१७ वर्ष की आयु में कैनेथ कोण्डा ने स्कूल शिक्षा समाप्त कर ली और अध्ययनक बन गये। उन्हें प्रशिक्षण लेने के लिए फस के कस्बे में भेजा गया था। यह बाहर की दुनिया देखने का पहला अवसर था। आज तक वे अपने गाँव से कभी बाहर नहीं निकले थे। इसी दौरान उन्हें अफ्रीकी समाज पर गंभीर लोगों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का व्यापक अनुभव हुआ और उन्होंने संकल्प लिया कि जब कभी अवसर मिले तो इस व्यवस्था पर कठोर प्रहार करेंगे।

प्रशिक्षण समाप्त कर लेने के बाद वे अपने ही गाँव में अध्यापक बनकर आये। अध्यापक जीवन से ही उन्होंने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया और एक बेलफेयर एसोसियेशन का गठन किया। जिसका उद्देश्य था अफ्रीकी लोगों में अकम्प-विश्वास तथा सहस की भावना का संचार। आगे चलकर वे प्रबुद्ध अफ्रीकी नेताओं के आन्दोलनमयक संगठन-अफ्रीकी नेशनल काँग्रेस के भी सदस्य बने। इस संगठन में भाग लेने के कारण उन्हें अपनी नीकरी भी झेड़नी पड़ी।

फरवरी, १९५२ में अफ्रीकी नेताओं का एक महत्वपूर्ण सम्मेलन हुआ। इसमें रोडेशिया, दक्षिणी रोडेशिया तथा न्यासालैण्ड के कई नेताओं ने भाग लिया। सम्मेलन का उद्देश्य था ब्रिटिश सरकार द्वारा इन देशों का एक संघ बनाने की योजना का विरोध। संघ बनाने से अंग्रेज जो बोझ बहुत ध्यान स्थानीय समस्याओं पर देते थे वह भी नहीं देते। ब्रिटिश सरकार को इस योजना का सभी अफ्रीकी नेताओं ने विरोध किया। इस सम्मेलन में एन्कुम्बुला जैसे नेता भी सम्मिलित हुए थे। कैनेथ कोण्डा सम्मेलन में भाग लेने के बाद और अधिक सक्रिय हो गये।

उत्तरी प्रान्त में संगठन की स्थान-स्थान पर शाखाएँ खोलने का भार उन्होंने अपने कपर लिया। इस समय उन्हें स्वयं की और परिवार की भी चिन्ता नहीं रहती। उनके स्वभाव में अनुकूल पत्नी मिलने से अपने कार्य में और भी

निश्चिन्तता पूर्वक लगे रहते। घर पर पत्नी सेकण्ड हैण्ड कपड़े बेचकर गुजारा करती और खेती-बाड़ी सम्हालती तथा कोण्डा गाँव गाँव घूमकर स्वाधीनता का असल जगाते, साइकिल पर दिन भर में मीलों सफर तय करते और गाँववासियों में पुकार करते।

काँग्रेस के काम में मनोयोग के साथ जुट जाने के कारण उन्हें सफलता भी मिली। उनके प्रयत्नों से पूरे प्रांत की जनता जाग उठी और स्वतन्त्रता के लिए घर भिटने को ठठ खड़ी हुई। जन-जागरण अभियान को सफल बनाने में प्रचार से अधिक उनके व्यक्तित्व का योगदान था। यह जानकर कि कोण्डा परिवार तंगियाँ और कठिनाइयाँ उठा रहा है फिर भी कैनेथ स्टेकड्रिफ्ट के लिए पारिवारिक सुख-सुविधाओं का बलिदान देकर जनता को जगाने के लिए निकले हैं, लोग बड़े प्रभावित होते। किसी भी प्रचारक को सफलता उसके छिपा-कलापों में नहीं उसके आत्पोत्सर्ग की भावना पर आधारित है। कैनेथ कोण्डा की सफलता का यही रहस्य था।

अपने क्षेत्र में सर्वाधिक कार्य करता देखकर पार्टी के नेताओं में इस छोटे से कार्यकर्ता की योग्यता और प्रतिभा का मान हुआ और देशव्यापक में उनका साधन उपयोग करने के लिए एक बड़ा उत्तरदायित्व सौंपा। अगस्त, १९५३ में उन्हें अफ्रीकी नेशनल काँग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। अब सारा देश उनका कार्यक्षेत्र बन गया था। वे उसी प्रकार इसी निष्ठा से लगे। श्रम और सपन की तो एक सीमा होती है परन्तु उत्तरदायित्व को समझने के बाद बड़ी हुई निष्ठा उतने ही श्रम और समय में कई गुना परिणाम प्रस्तुत कर देती है।

जाम्बिया की जनता पर कोण्डा छाते गये। जैसे-जैसे उनकी लोकप्रियता बढ़ती गयी, सरकार को चिन्ता होने लगी। अन्ततः सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करना ही उचित समझा और सन् १९५५ में उन्हें जेल में डाल दिया। जेल का यातनाओं से भरा जीवन और घर कइ सहते पत्नी बच्चे तथा परिवार। उस समय कोण्डा को स्वयं का ही नहीं उनसे सम्बन्धित सभी स्वजनों का जीवन कष्टपूर्ण हो गया। सरकार ने दबाव डाला परन्तु वे न तो क्षमा याचना के लिए झुके और न राष्ट्र सेवा के अपने निश्चय से हटे। सरकार उन्हें अधिक समय तक कारावास में नहीं रख सकी और वे जल्द ही स्वतन्त्र हो गये।

जेल से लौटने के बाद उनकी लोकप्रियता उगते सूरज के प्रकाश की तरह फैलने लगी। सरकार अब तो और भी चिन्तित हुई। उसे डर लगा कि कहीं यह आदमी भी जाम्बिया का गाँधी न बन जाये। अभी साठ-अठार्व वर्ष पूर्व ही तो एक ऐसे ही निहत्थे आदमी के कारण एक बड़ा राष्ट्र उनके हाथ से निकला था। कैनेथ कोण्डा भी निहत्थे थे। वे चाहते तो सरासरी क्रान्ति की योजना भी बना सकते थे और वह बड़ी सफल भी होती। लेकिन गाँधी की ही तरह उनका भी विश्वास जनशक्ति की अपरजयेय क्षमता में था, बिना शस्त्र उठाये ही एक देश की सम्भव जनता के

हाथों मानवीय सिद्धान्तों के आधार पर लड़ी गयी लड़ाई में सस्त्र बल और सैन्य बल से सुसज्जित राष्ट्र की सरकार को पराजित होते हुए देखा था। विश्व इतिहास की इस अद्वितीय घटना ने मानवता की शक्ति-साधार्थ्य पर कई गुना विश्वास जमा दिया था। कैनेथ कोण्डा ने भी साधन और साधन की समानता का सिद्धान्त स्वीकार किया और ३१ जनवरी, १९५८ के दिन अफ्रीकी नेशनल काँग्रेस के सदस्यों के साथ एक परिपत्र जारी किया। जिसमें स्वतन्त्रता के लक्ष्य प्राप्ति हेतु कौन-सा मार्ग अपनाया जाय इस विषय में उन्होंने विचार ध्वस्त किये थे। उन्होंने लिखा था—

“यै यह महत्वपूर्ण पत्र आपको उस दिन लिखा रहा है जबकि मैं केवल भारत, बल्कि संसार उस महापुरुष की याद कर रहा है, जिसने अहिंसक के शक्तिशाली अस्त्र का सफल प्रयोग किया था। उन्होंने इस इधियार से संसार की एक बड़ी ताकत और सबसे बड़े साम्राज्य ब्रिटेन से टक्कर ली थी।” इस पत्र में गाँधीजी के प्रति सच्ची श्रद्धाभांति अर्पित की गयी थी और इसे एक ईश्वरीय संयोग माना गया था कि पिछले सात वर्षों से अफ्रीकी जनता का आन्दोलन अहिंसक हो रहा है।

सरकार को जितना खतरा पहले अनुभव नहीं हो रहा था उतना अब होने लगा था। आसुरी-शक्तियों के विरुद्ध मानवीय-शक्तियों के ठठ खड़े होने पर वे भयभीत हो जाती हैं। पवित्र साधनों से एक अच्छे और सच्चे लक्ष्य के लिए जो संपर्क डेढ़ा जाता है उसमें बाधक तत्व बड़ी जल्दी खरा उठते हैं। भारत में सत्य और अहिंसा के हाथों अन्याय और अनाचार की भीषण पराजय अभी ही हुई थी। उसी देश के उन्हीं आततायियों को पुनः इसी शक्ति का सामना करने की हिम्मत जुटाना मुश्किल पड़ रहा था। सो सरकार ने कैनेथ कोण्डा को जो इस संग्राम के अग्रणी नेता थे पुनः गिरफ्तार कर लिया। १९५९ में उन्हें देश के दुर्गम क्षेत्र में नजरबन्द कर दिया गया। वहाँ उन्हें दूसरे राजनैतिक कैदियों से अलग रखा गया तथा किसी से मिलने-जुलने की सुविधाएँ भी नहीं दी गयी थीं। उन्हें कसकर काम लिया जाता।

सरकार ने स्वाधीनता आन्दोलन को कुचलने के लिए अफ्रीकी नेशनल पार्टी पर प्रतिबन्ध लगा दिया। कुछ ही महीनों बाद कैनेथ कोण्डा भी रिहा कर दिये गये। जैसे ही वे जेल से बाहर निकले पार्टी के कार्यकर्ताओं में जोश आ गया। कोण्डा और अन्य नेताओं ने मिलकर एक नया संगठन बनाना जिसका नाम रखा गया—“यूनाइटेड नेशनल इन्डिपेण्डेण्ट पार्टी।” कैनेथ कोण्डा इसके अध्यक्ष चुने गये और पार्टी की तरफ से आयोजित पहली ही जनसभा में अपनी नीतियों को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा—“यदि किसी व्यक्ति को इवा से उछालकर जमीन पर फेंका जाय तो भी उसे यही कहना चाहिए कि मुझे मार डालो पर मैं स्वतन्त्र हो कर रहूँगा।”

अहिंसक आन्दोलन का प्रभाव बस्ती नहीं हुआ फलस्वरूप जनता अधीर होने लगी। कई लोगों ने कोण्डा

को क्रांति का रास्ता अपनाने के लिए कहा जिन्हें उनके स्वयं के साथी भी थे परन्तु वे तैयार नहीं हुए। मुक्ति का संघर्ष चलते चलते १२ वर्ष हो गये। परन्तु सफल न होते देखकर निराश हुए लोगों को धैर्य बँधाते, भारत ने तो वर्षों तक यह लड़ाई लड़ी है। मुक्ति संग्राम का परिणाम धीरे-धीरे सामने आया। १९६३ में उत्तरी रोडेशिया, दक्षिणी रोडेशिया तथा न्यायालैण्ड का संघ टूट गया। इस सफलता ने वहाँ की जनता का उत्साहवर्धन किया और लोग धैर्य तथा साहस के साथ आजादी की लड़ाई लड़ने लगे।

यह अहिंसक संग्राम शीघ्र ही निर्णायक बिन्दु पर पहुँचा और १३ अक्टूबर, १९६४ को कार्मिक सत्तियों की दासता से मुक्त हुआ। रात के बारह बजते ही आम्बिया की राजधानी में वहाँ का नया ध्वज फहराने लगा। सत्साधारियों ने शासन तंत्र कैनेथ कोण्डा को सौंपा।

जिस देश की आजादी के लिए उन्होंने दिन रात एक कर दिया अब उसी तरह वे अपने देश के पुनर्निर्माण में जुटे। महामानव एक लक्ष्य प्राप्त कर लेने के बाद अगला लक्ष्य पहले से ही चुन लेते हैं। विश्राम नहीं करते हैं।

कर्मयोगी ऐसे ही होते हैं—

डा० चार्ल्स

“तुम्हारा ऑपरेशन अभी करना पड़ेगा। तुम तैयार हो जाओ।” डॉक्टर के यह बचन सुनकर रोगी एकधक धमका उठा। वह अपने साथ किसी परिवार के सदस्य को नहीं लाया था। उसने सकुचाते हुए डॉक्टर से अपनी दुविधा बताई—“मैं अकेला हूँ, मेरे साथ कोई नहीं।”

डॉक्टर ने उसकी पीठ पर आस्थोयता पूर्वक हाथ फेरते हुए कहा—“इसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। हम जो हैं तुम्हारे साथ।” रोगी ने इस श्वेत केरी वृद्ध डॉक्टर को देखा जिसके चेहरे पर विश्वास की मन्द मुस्कान चिरक रही थी।

रोगी आश्चर्यचकित हो गया। उसे पता था कि उसे सम्हालने का दायित्व अब डाक्टर ने अपने ऊपर लिया है तो उसे चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है।

यह डाक्टर वे विश्वविख्यात मेयो अस्पताल के जाने माने शल्य चिकित्सक डा० चार्ल्स मेयो। जिन्हें उनके हजारों रोगी प्यार से डॉ० चुक कहा करते हैं।

उनका यह आत्मीयतापूर्ण व्यवहार उस मान्यता से सर्वथा भिन्न है जिसे लोगों ने अधिकांश डॉक्टरों के व्यवहार में देखकर बना ली है कि वे लोग बहुत अनात्मीय तथा व्यवहार में रुझा होते हैं। प्रतिदिन पच्चीस से भी अधिक जटिल ऑपरेशन करते हुए भी वे न तो थके ही हैं न उनके चेहरे पर खेलने वाली मुस्कान बन्द हुई है।

डा० चार्ल्स मेयो के पिता, चाचा तथा दादा सभी डाक्टर थे तथा उन्होंने इसी मेयो अस्पताल में रोगियों की सेवा करते-करते सारा जीवन व्यतीत कर दिया था।

इन्हीं लोगों के पुण्य प्रयासों तथा सेवा भावना के परिणामस्वरूप उनके दादा विलियम वारेल मेयो द्वारा स्थापित यह निजी चिकित्सालय एक छोटे से औषधालय से विकसित होते-होते विश्व का सबसे बड़ा निजी अस्पताल बन चुका है जिसमें ९०० डॉक्टर कार्यरत हैं।

डा० चार्ल्स मेयो के पिता चार्ली मेयो एक प्रसिद्ध सर्जन थे तथा उनकी माँ रोचेस्टर की प्रथम प्रशिक्षण ग्राह वर्स तथा एनेस्थेटिक (बेहोशी की दवा सुँघने वाली) थी।

‘सर्जरी’ की प्रतिभा उन्हें अपने माता-पिता से पैतृक गुण के रूप में ही मिली थी। उसका विकास उन्होंने मेयो फाउण्डेशन से एम० डी० की उपाधि पाकर किया। वे आगे चलकर विश्वविख्यात ‘सर्जन’ बने।

जिस प्रकार उन्हें ‘सर्जरी’ की प्रतिभा अपने माता-पिता से मिली थी। उसी प्रकार सेवा की भावना भी उसके साथ ही साथ मिली थी। वे प्रसिद्धि तथा धन से दूर रहकर मेयो चिकित्सालय के अन्य डॉक्टरों की तरह एक डॉक्टर ही रहे। उन्होंने ‘चीफ सर्जन’ तथा मुख्य चिकित्सक बनना अस्वीकार कर दिया।

वे बेसिलवेनियस मेडीकल कॉलेज में पढ़ते हुए उनका सम्पर्क एक सुन्दर, सभ्य सुवर्ती एलिस प्लेंक से हुआ। यह सम्पर्क धनिकता में परिवर्तित हो गया। एक दिन एलिस ने उनके सामने विवाह का प्रस्ताव रखा। इस पर उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य उसके समक्ष रख दिया। “मैं तुम्हें यह स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि मेरे जीवन में पहला स्थान अपने चिकित्सालय का है। दूसरा स्थान तुम्हें मिल सकता है। ठीक उसी प्रकार तुम्हें भी पहला स्थान हमारे अस्पताल को तथा दूसरा अपने पति को देना होगा।”

डा० चार्ल्स ने परमार्थ का लक्ष्य प्रथम रखा तथा और परिवार तथा स्वार्थ का द्वितीय। उनकी मान्यता है कि मनुष्य को अपने गौरव के अनुरूप ही कार्य करना चाहिए। समाज में रहकर वह जितनी सुख-सुविधाएँ पाता है उसके बदले में उसे समाज को कुछ न कुछ देने का भरसक प्रयास भी तो करना चाहिए।

वे कहा करते हैं—“काम का महत्व उसके साथ जुड़ी हुई भावना से होता है। बेग़ार या भजदूरी समझकर किसी काम को किया जाए तो कार्य कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो भावना निम्नकोटि की होने से महत्वहीन हो जायगा। छोटे काम को भी यदि पूरी निष्ठा से ईश्वरोपासना समझकर किया जाए तो वह महत्वपूर्ण हो जाता है।”

वे आगे कहते हैं—“मुझे स्मरण है जब मैं मेयो अस्पताल में नया-नवा ‘सर्जन’ बनकर आया था तो कई रोगी यह समझते थे कि यह लड़का अपने दादा तथा पिता की सी लगन से थरीजों की सेवा नहीं कर सकेगा। एक सत्र वर्ष के वृद्ध सञ्जन ने तो मुझे मुँह पर ही कह दिया

५.८० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-९

था "मैंने कई वाचाल पिताओं के भूक पुत्र देखे हैं।"
"लेकिन मेरी निष्ठा तथा भावना कमजोर नहीं थी।"

उनके सम्पर्क में आने वाले रोगी जानते हैं कि उनमें युवावस्था का वह उत्साह क्यों का क्यों हुआ है।

सन् १९३९ में जब वह प्रथम बार डॉ० ई० स्टार चुड के सहायक के रूप में मेयो अस्पताल में आये थे प्रथम दिन ही उन्हें तेरह ऑपरेशन केस दिये गये थे। कोई और होता तो उसके हाथ-पाँव फूल जाते। लेकिन डॉ० चुड (चार्ल्स) ने उन्हें सफलतापूर्वक पूरा किया।

उनके दिन भर का कार्यक्रम पूर्व निश्चित रहता है। उसमें वे एक मिनट की देर नहीं करते। अपने इस कार्य विभाजन के कारण वह व्यस्त दिनचर्या में भी अपने मित्रों तथा परिवार के अन्य सदस्यों से वार्तालाप तथा मनो-विनोद करने का समय निकाल लेते हैं।

नित्य कर्म से निवृत्त हो अपने निवास से रवाना हो कार द्वारा सवा छः बजे अपने अस्पताल पहुँच जाना उनका नित्य का क्रम है। वहाँ पहुँचकर वे अपने बाई का 'राउण्ड' लेते हैं। उनका यह 'राउण्ड' चिकित्सा तथा शल्य क्रिया से भी महत्वपूर्ण जादू है। रोगी को खड़े हो क्षणों में आशा-उत्साह तथा आत्मीयता की चर्चा से सराबोर कर देते हैं।

सात बजे तक अपना राउण्ड पूरा करके वे अपने सहायकों को आवश्यक निर्देश दे देते हैं। तदनन्तर साढ़े सात बजे अपना श्वेत चोगा पहनकर ऑपरेशन के लिये तैयार हो जाते हैं। मुख्य ऑपरेशन वे करते हैं तथा प्रारम्भिक तैयारी तथा टॉकि लगाने आदि का कार्य उनके कुशल सहायक करते हैं।

अपनी इस क्रिया-पद्धति को अपनाकर वे दिन के दो बजे तक अपने सभी ऑपरेशन केस निबटा लेते हैं। मेयो चिकित्सालय के प्रत्येक 'सर्जन' को छः से लगाकर बारह ऑपरेशन नित्य करने पड़ते हैं। डॉ० चार्ल्स मेयो प्रतिदिन बारह से अधिक ही ऑपरेशन करते हैं। ऑपरेशन क्रम के बीच ही वे भोजन तथा अल्पाहार भी ले लेते हैं।

बासठ वर्ष की आयु में भी वे बचने का नाम नहीं लेते। उनके साथ चार सहायक होते हैं। इन सहायकों से वे पूरी-पूरी सहायता लेते हैं फिर भी विम्वेदारी का काम वे स्वयं करते हैं। वे कहा करते हैं कि "मैं अपने सहायक को रोगी की वही शल्य क्रिया सौंपता हूँ जो वे मेरे शरीर पर कर सकते हैं।" उनके कहने का तात्पर्य यह है कि वे प्रत्येक रोगी के दर्द को अपना दर्द समझते हैं। दूसरे की पीड़ा को इस प्रकार अपनी पीड़ा मानने के कारण उनके लगभग सभी ऑपरेशन सफल होते हैं।

अपने घर पर रहते हुए भी वे उन रोगियों के विषय में चिन्तन करते हैं जिनकी महत्वपूर्ण शल्य क्रिया का भार वे अपने किसी सहायक को सौंप चुके होते हैं। यदि उन्हें उसके सम्बन्ध में किंचित भी शंका होती है तो वे अपनी

कार में बैठकर वहाँ जाते हैं तथा आश्वस्त होकर ही लौटते हैं।

अपने सहायकों को वे कभी ऐसा भार नहीं सौंपते जो उनके बूते का नहीं होता। जो लोगों की भावनाओं को समझने की सामर्थ्य नहीं रखते उन्हें वे अपने सहायक चुनते भी नहीं हैं।

उनका अपना निवास 'मेयो हाउस' १६०० एकड़ का एक डेरी तथा कृषि फार्म है। यहाँ जुम्बको नदी के तट पर छोटे से पहाड़ी टीले पर उनका मकान है। वे अपने मित्रों को भोजन के समय वार्तालाप हेतु आमन्त्रित करते हैं। प्रायः चार-पाँच व्यक्ति उनके सायंकालीन भोजन में उनका साथ देते हैं। इस प्रकार वे समय की ख़ास भी करते हैं तथा अपनी मैत्री का क्षेत्र भी बढ़ाते हैं।

साढ़े नौ बजे के बाद वे अपनी मित्रगोष्ठी समाप्त करके आधा घण्टे तक अपने परिवार के साथ टेलीविजन का आनन्द लेते हैं तदनन्तर सो जाते हैं ताकि वे दूसरे दिन अपना सेवा धर्म पूरी निष्ठा से निभा सकें।

वे कहा करते हैं "मैं केवल एक सर्जन या डॉक्टर नहीं रहना चाहता। मैं नहीं चाहता कि कोई व्यक्ति मेरे अस्पताल में आये और चिकित्सा कराकर अपने घर चला जाय और मुझे भूल जाय। मैं अपनी एक स्थायी स्मृति उनके हृदय पटल पर अंकित कर देना चाहता हूँ। उनके इस कर्न को उन्होंने सदा निबाहने का पूरा-पूरा प्रयास किया है। वे हजारों लोगों के प्रिय डॉक्टर बन चुके हैं।

मेयो अस्पताल विशुद्ध सेवा दृष्टिकोण से चलाया जाता है। कोई लाभ का दृष्टिकोण इसके पीछे नहीं है। यह एक संस्थान द्वारा चलाया जाता है। डॉ० चार्ल्स मेयो इस संस्थान के अध्यक्ष तथा बोर्ड ऑफ गवर्नर्स के सदस्य हैं।

डॉ० चार्ल्स का यह चिकित्सालय "मरीजों का उच्चतम न्यायालय" कहलाता है। सभी जगहों से निराश रोगी इसकी शरण लेते हैं। उनमें से अधिकांश स्वास्थ्य लाभ पाते हैं। इस चिकित्सालय को ऐसी प्रतिष्ठा दिलाने में डॉ० चार्ल्स का पूरा-पूरा योगदान रहा है।

वे चिकित्सा क्षेत्र की प्रमुख पत्रिका 'पोस्ट ग्रेजुएट मेडिसिन' का सम्पादन भी करते हैं। बड़ी आँत सम्बन्धी ऑपरेशन में विश्व में उनको श्रेणी के कुछ ही सर्जन हैं। उन्होंने इस क्षेत्र में दो बार ऑपरेशन किये जाने वाले केस एक ही ऑपरेशन में कर दिखाये। यह अपने ढंग का प्रथम प्रयास है।

वस्तुतः डॉक्टर को उपार्जन के साथ-साथ सेवा का अलभ्य अवसर भी प्राप्त होता है। डॉ० चार्ल्स ने अपने डॉक्टरी जीवन में यह सिद्ध कर दिखाया कि लोभ-मोह के प्रपंचों में न फँसकर पूरे मनोयोग से इस पेशे को

किया जब तो प्रकृति की महान सेवा की जा सकती है। उनका यह जीवन सबों को प्रेरणा देने के लिये प्रयास है।

धर्म एक और सनातन है

गौंधीजी दक्षिण अफ्रीका में थे। अफ्रीकियों के स्वतन्त्राधिकार के लिये उनका सम्बन्धन प्रकृत्यानुवर्तक चल रहा था, ब्रिटिश सरकार के इससे पर एक दिन भी आत्म-सम्मान का पक्ष नहीं ले गौंधीजी पर दबाव कर दिया। गौंधी जी कभी-कभी इससे पर एक दिन भी आत्म-सम्मान का पक्ष नहीं ले गौंधीजी पर दबाव कर दिया। गौंधी जी कभी-कभी इससे पर एक दिन भी आत्म-सम्मान का पक्ष नहीं ले गौंधीजी पर दबाव कर दिया।

पर इससे क्या, इसका अन्तर्भाव कभी करने पर ये विचारित हो जाती हैं क्या? कुराई की रीति अन्तर्भाव करने नहीं करती तो फिर भलाई की रीति तो खीनुनी अधिक है वह इस कर्म करने लगे। गौंधीजी को स्वतन्त्र होटने का आग्रह किया गया पर वे न लगे। फलतः गौंधीजी फादरी कोसेक डोक के मेडसन बने और कुछ ही दिनों में वह सम्पूर्ण अफ्रीका में परिवर्तित हो गया।

फादरी कोसेक डोक बर्बरिक डेपटिस्ट क्लब के अनुयायी और धर्म गुरु थे तथापि गौंधीजी के सम्पर्क से वे भारतीय धर्म और संस्कृति से आकर्षित प्रभावित हुए। वे भी-भी भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का भी सम्पर्क करने लगे।

फादरी डोक के एक अधिपति मित्र ने इनसे आग्रह किया कि वे भारतीयों के प्रति इसका स्नेह और आदर कम प्रदर्शित न करें अन्यथा भारतीय कोष का भक्षण करना पड़ सकता है इस पर डोक ने उत्तर दिया-मित्र, क्या अल्प धर्म बहिर्देशों और दुःखियों की सेवा का सम्पर्क नहीं करता? क्या गिरे हुएों की ऊँचा उठाने में मदद देना धर्म-सम्मत नहीं? यदि ऐसा है तो मैं अपने धर्म का ही पालन कर रहा हूँ। भगवान् ईश भी तो ऐसा ही करते हुए दुःखी पर चढ़े थे फिर मुझे चढ़ाने की क्या आवश्यकता?

मित्र की असीम सेवा निकलती कुछ ही दिनों में मोरे उनके प्रतिरोधी बन गये और उन्हें तरह-तरह से कलने लगे। ब्रिटिश सरकार उनकी सार्वजनिक निन्दा और अपमान करने से भी नहीं रुकती वे लेकिन इससे फादरी डोक की भिन्नता-निष्ठा में कोई मरग नहीं पड़ा। कहत सकते हैं जब भी वे भारतीयों का सम्पर्क प्रकृत्यानुवर्तक करते रहे।

गौंधीजी यहाँ उनके इस त्याग से प्रभावित थे वहाँ उन्हें इस बात का दुःख भी बहुत अधिक था, वे फादरी डोक की उपरिष्ठित नहीं देखना चाहते थे इसलिए निराशा भी उनके पास गयी और बोले-आपको इन दिनों अपने अन्तिम माइनों से जो कह उठाने पड़ रहे हैं उसका अन्त हम भारतीय हैं, मैं भारतीयों की ओर से आपका

आभार प्रकट हूँ पर आपके कह हमसे नहीं देखे जाते। आप हमका अपमान करना बन्द कर दें। परन्तु हमारे साथ है-वह सड़क थी हम लोप निकट लगे।

इस पर फादरी डोक ने कहा-मित्र गौंधी! आपने ही तो कहा था कि धर्म एक और सनातन है। पवित्र धर्मवत् भी सेवा। फिर यदि साम्प्रदायिक भिन्नताओं को अन्वेषण करने में खले धर्म का फलन करे तो इसमें दुःख करने की क्या बात और वह तो वे स्वतन्त्राधिकार करता हूँ। मनुष्य धर्म की सेवा करते अन्तर्भाव की जो मुक्ति और उत्तमता होती पक्षीय वह बसाव मुझे मिल रहा है इसलिए बाह्य अन्तर्भाव, दुःखों और इच्छाओं को मुझे किन्ति की परवाह नहीं।

फादरी डोक अन्त तक भारतीयों का सम्पर्क करते रहे, इन जैसे व्यक्तियों के आशीर्वाद का फल है कि इस भारतीय भाव अपना धर्म अन्तर्भाव और भिन्नताओं पर निष्कण्टक चलने के लिए स्वतन्त्र है।

जिन्होंने फ्रांस को मयी सामर्थ्य दी-

जार्ज पाम्पीद

फ्रांस के इमीग्रेशन लहरों का जार्ज पाम्पीद का २ अक्टूबर १९७४ को का ९ वर्षे वेदमन्त्रण हो गया। जार्ज पाम्पीद शिरकात वर्ष के थे। फ्रांस वर्ष के उनके कार्यभार में अपनी दो वर्ष और बाकी थे। पिछले कई दिनों से वे बीमारियों से ग्रस्त करने हुए भी वह की जानकी सम्हाले हुए थे।

जार्ज पाम्पीद का शिरकात वर्ष का जीवन विविधताओं से धरा धरा है। हर क्षेत्र में सक्रिय होने वाले पाम्पीद का जीवन परम्परागतधर्मों के लिये एक कथ प्रदर्शक बन सकता है। किसी कोई व्यक्ति प्राप्ति करता हुआ राष्ट्र के सर्वोच्च पर का प्रतिष्ठित हो सकता है। वह देखने के लिए उनके जीवन को गहराई से देखना होगा।

जार्ज पाम्पीद का जन्म १९१९ में हुआ था। उनके जन्म-दिन दोनों अन्वेषक थे। पाम्पीद ने भी शिक्षा सम्पन्न करने के बाद अध्यापक बनना पसन्द किया। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा सन्त फ्रांस के कैटराल जिले में हुई। १९३५ में अपनी शिक्षा प्रत्यक्ष करके लियेसेन्ट कार्ल में सैनिक के अध्यापक हो गये।

जार्ज पाम्पीद की जीवन अनिवा कई प्रकार के रोग-विरादे मुक्त से सुरक्षा-सुसज्जित रही है। वे एक सफल अध्यापक, सफल साहित्यकार, अन्वेषक तथा सफल राजनेता रहे हैं। इन क्षेत्रों में उन्होंने जो प्रकृत्यानुवर्तक अर्जित की वे जादुई हैं। निरन्तर रूप से इन सफलताओं का श्रेय उनके ज्ञान, सहस्र, संकल्प व अध्यवसाय की है।

अध्यवसाय के साथ-साथ वे साहित्य सृजन की किया करते थे। किन्तु उनके इस सृजन के बीच में ही उन्हें हृदय रोककर संघर्ष के घबरा चलना पड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध के बादल पूरे योरोप पर मँडराये लगे थे। युद्ध जार्ज

५.८२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

पाम्पीदू अपनी स्वर्गादधि गरीबसों मातृ भूमि फ्रांस की रक्षा के लिए सेना में भर्ती हो गये । अपने अदम्य साहस और विवेक के सहारे उन्होंने शत्रुओं की कई गुप्त चालों का पता लगाया था । इससे उनके व्यक्तित्व को परखने वाले लोगों से उनका सम्पर्क बढ़ा । इन्हीं लोगों में से जनरल दगाल भी एक थे ।

युद्ध समाप्ति के अनन्तर १९४५-४६ में जनरल दगाल की शिक्षा नीति के सलाहकार बनये गये । वहीं से दगाल और पाम्पीदू ने एक दूसरे को समझ परखा । दगाल को पाम्पीदू के रूप में एक सुयोग्य सहायक प्राप्त हो गया और पाम्पीदू को दगाल जैसा समर्थ मार्गदर्शक । पाम्पीदू की तीक्ष्ण बुद्धि के दगाल काफ़ल हो चुके थे ।

१९४५ में कुछ ऐसी घटनाएँ घटी कि दगाल के न चाहते हुए भी पाम्पीदू को शिक्षा सलाहकार का पद छोड़ देना पड़ा । वे बैंक में चोकर हो गये । प्रायः लोगों को अपने पद की जितनी चिंता होती है अपने व्यक्तित्व की नहीं होती । वे किसी भी प्रकार कोई पद हाथ लग जाय तो उससे येन केन प्रकारेण चिपके हुए रहना चाहते हैं । वह वस्तुतः उनकी मानसिक गरीबी का परिचायक होता है । किन्तु जिन्हें अपने व्यक्तित्व पर भरोसा होता है, उन्होंने यत्नपूर्वक उसे समर्थ बनाया होता है, उनके लिए कोई भी नया 'कैरियर' चुनने की जोखिम उठाना एक प्रकार का 'एडवेंचर' ही होता है । सच पूछा जाय तो बड़ी जीवन की सच्ची सहानुभूति भी करता है ।

जार्ज पाम्पीदू शिक्षा सलाहकार का पद त्याग कर बैंक की सर्विस में आये और थोड़े ही समय में अपनी कर्तव्यपरायणता, लगन व निष्ठा के कारण उस बैंकिंग संस्थान के महाभियोगक पद पर जा पहुँचे । अध्यापक, कवि, साहित्यकार व सैनिक पाम्पीदू अर्धवेत्ता के रूप में भी सफल रहे । वह सफलता किसी के लिए बड़ा कम सुखकारक होगी ?

योग्य व्यक्ति की हर जगह पूछ होती है । १९५८ में जब जनरल दगाल फ्रांस की सत्ता में आये तो उन्होंने पाम्पीदू को राजनीति में खींच लिया । फ्रांस की निरन्तर अस्थिर राजनीति के कारण जनरल दगाल को ही सत्ता की बागडोर सम्हालने का अनुरोध किया गया । वे वृद्ध हो चले थे, अतः उन्हें एक युवा सहयोगी चाहिए था । यह युवा सहयोगी और कोई नहीं उनके विश्वस्त सलाहकार जार्ज पाम्पीदू ही हो सकते थे ।

१९५९ में वे जनरल दगाल के प्रधानमंत्री बनाए गये । १९६३ में दगाल ने एक संवैधानिक संशोधन प्रस्तुत किया जिसे लेकर प्रतिपक्ष से उनकी ठन गयी और उसमें उनकी सरकार को पराजय का मुँह देखना पड़ा । फलतः पाम्पीदू को प्रधानमंत्री पद छोड़ना पड़ा । उन्हें इस पद को पाकर न तो किसी प्रकार की विशेष प्रसन्नता हुई और न उसे छोकर किसी प्रकार की खिन्नता ही ।

दगाल ने अपने अधिकारों का प्रयोग करके राष्ट्रीय एसेम्बली को भंग कर दिया । कुछ समय बाद एसेम्बली के

अधिकांश सदस्यों ने जनरल दगाल की नीतियों का पूर्ण समर्थन करने का आस्थासन दिया तो पाम्पीदू पुनः प्रधानमंत्री बनाये गये ।

१९६५ में दगाल के पुनः राष्ट्रपति निर्वाचित होने पर वे भी पुनः प्रधानमंत्री बनाये गये । मई जून १९६८ में फ्रांस फिर एक क्रान्ति के दौर से गुजरा । सामाजिक व आर्थिक घटनाएँ बड़ी तेजी से घटित हुईं । छात्रों और श्रमिकों ने हड़ताल कर दी । ऐसे समय में जार्ज पाम्पीदू ने महत्वपूर्ण भूमिका सम्पादित की । इससे वे राष्ट्रपति दगाल के प्रिय हो नहीं हुए वरन् जनमत में भी उन्हें अच्छी-खासी प्रतिष्ठा मिली । लोग उन्हें दगाल का उत्तराधिकारी समझने लगे ।

दगाल से सैद्धान्तिक ऐक्य होते हुए भी कार्यपद्धति को लेकर पाम्पीदू उनसे सहमत नहीं थे । कुछ स्थितियाँ ऐसी पैदा हुईं कि उनके बीच मतभेद पैदा होने लगे । वे जनरल दगाल की कार्यकारी नीतियों के प्रति असहमति जताने लगे, वहीं उनके व्यक्तित्व का खराब प्रकट होता है । 'समझौता परस्ती' उनके स्वभाव में नहीं थी । वे समझौता करते भी क्यों ? उन्हें कोई स्वार्थ तो था नहीं । वे अपनी बात में देश का हित समझते थे सो अपनी बात पर दृढ़ रहे । फलस्वरूप उन्हें प्रधानमंत्री पद से हटना पड़ा ।

पाम्पीदू एक सफल राजनीतिज्ञ थे । पर उनकी सफलता दाँव पेचों पर आधारित न होकर आदर्शों पर आधारित थी । वे यह मानते थे कि किसी भी राजनैतिक व्यक्ति के जीवन में उसके पदों का उठना महत्व नहीं होता जितना अपने आदर्शों का होता है । अतः कई बार उन्हें प्रधानमंत्री पद को त्याग देने में ही अपना हित दिखाई पड़ा था ।

१९६९ के चुनाव में वे राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हुए । वे सैद्धान्तिक दृष्टि से दगाल की नीतियों के समर्थक थे । उन्हें दगालवादी ही कहा जाता है । उन्होंने अपने देश के हित को सर्वोपरि स्थान दिया था । वह कहा करते थे कि उनकी अपनी नीतियाँ हैं, वह उन्हीं नीतियों का अनुसरण करेंगे जो उनके देश के लिए हितकर होंगी । उन्होंने ऐसी ही नीति योरोपीय साझा मण्डी के स्वरूप भी अपनायी । भूतल के एक दिन पूर्व ही उन्होंने कहा था कि योरोपीय साझा मण्डी अपनी पूर्व निबंधाधिकार नीतियों में परिवर्तन करने का प्रयास करेगी तो फ्रांस निबंधाधिकार का प्रयोग करेगा ।

जार्ज पाम्पीदू दगाल की परम्परा के प्रतिनिधि थे । ऐसे काल में जब फ्रांस आपस की राजनीतिक दलबन्दी से बीमार हो गया था और उसकी प्रतिष्ठा क्षीण हो चुकी थी, तब दगाल ने राजनीतिक मंच पर आकर फ्रांस को नयी शक्ति से समन्वित किया । अमेरिका के आर्थिक और राजनैतिक प्रभाव से फ्रांस को मुक्त किया और अटलांटिक सैनिक सन्धि का जुआ फ्रांस के कंधों से उतार फेंका । अल्जीरिया को आजादी दी । ब्रिटेन से स्वतन्त्र रहकर पश्चिमी योरोपीय देशों का साझा मण्डी का व्यापार क्षेत्र बनाया । राजनैतिक क्षेत्र में महायुद्ध के बाद फ्रांस ने ही यूरोप के स्वायत्तता के लिए सिर कैंचा किया जिसका अनुकरण आज यूरोप के सब देश कर रहे हैं ।

जॉर्ज पाम्पीदू के नेतृत्व में फ्रांस और जर्मनी के मनोमालिन्य दूर होकर उनमें एकता का बीज बपन हुआ और पश्चिमी जर्मनी के सम्बन्ध रूस और पूर्वी योरोप के देशों के साथ पुनः स्थापित हुए । दो जर्मन देशों की प्रथम सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था में पुनः मित्रता और बराबरी के सम्बन्ध बने । पूर्वी जर्मनी की साम्यवादी सरकार को विश्व के अन्य देशों द्वारा मान्यता दिलाने और पूर्व पश्चिम की धुरियों को एक शांति षट्र पर घुमाने के महत्वपूर्ण कार्यों में जॉर्ज पाम्पीदू ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी ।

उन्होंने ये सब कार्य इस राजनैतिक दक्षता से किये थे कि इनमें अमेरिकी कुटिल नीति की दाल नहीं गलने पायी थी । जो शांति-सन्तोष योरोप को इन दिनों मिल रहा है बीसवीं सदी में उसे कभी नसीब नहीं हुआ था । इसमें फ्रांस के प्रधानमंत्री व राष्ट्रपति के रूप में जॉर्ज पाम्पीदू ने जो भूमिकाएँ निभायी थीं वे राजनीति के इतिहास में अविस्मरणीय रहेंगी । वे अपने इन कार्यों के कारण सर्वत्र सराहे गये । अपने युग के राष्ट्र-नेताओं में उनकी गणना होती है ।

उन्होंने भारत जैसे तटस्थ और शांतिप्रिय देश से मित्रता के सम्बन्ध प्रगाढ़ किये । यों भारत की कोरी आदर्शवादी दम्बू नीति के अंध समर्थक वे कभी नहीं रहे । कई बार उन्होंने भारत की अप्रसन्नता मोल लेकर भी फ्रांस को पाँच बड़ी ताकतों में से एक बनाया । साथ ही भारत

से सम्बन्ध सुधारने के लिए सैनिक सहयोग किया और सैनिक गुटबन्दी से अलग होकर अपनी निष्पक्षता का परिचय भी दिया । अरब देशों से सम्बन्ध सुधारने की पहल भी उनकी तरफ से ही की गयी । संयुक्त राष्ट्र संघ व सुरक्षा परिषद में फ्रांस ने अपने आपको किसी गुट में न रखते हुए तटस्थता की नीति अपनायी, जो जॉर्ज पाम्पीदू की विश्व शांति के लिए निष्ठा का प्रदर्शन करती है ।

राजनीति किस प्रकार देशसेवा का, राष्ट्र के उत्थान का एक हेतु हो सकती है यह जॉर्ज पाम्पीदू के जीवन में स्पष्ट देखा जा सकता है । वही नहीं अपने देश को समर्थ और शक्तिमान बनाने के प्रयास करते हुए विश्वमैत्री के लिए भी भरसक प्रयास किये जाते हैं । भारतीय नेतागण जो घर में तो राजनीति के खेल खेलते हैं और बाहर आदर्शों की दुहाई देते हैं, उनके इस व्यक्तित्व से बहुत कुछ सीख सकते हैं । काम से देश को सही पायने में अपनी राजनीति से कुछ दे पाते जिस प्रकार जॉर्ज पाम्पीदू ने फ्रांस को नया जीवन दिया है ।

पिछले एक वर्ष से जॉर्ज पाम्पीदू अपनी अस्वस्थता से संघर्ष कर रहे थे । यों राजनीतिज्ञ का जीवन संघर्षों का जीवन ही होता है । उसे कई स्तरों में संघर्ष करना होता है । अपनी अस्वस्थता के दौरान भी उन्होंने राष्ट्र की आगहोर को जिस तरह सम्हाला यह उनकी आन्तरिक शक्ति की परिचायक है । जॉर्ज पाम्पीदू का निधन फ्रांस की ही नहीं विश्व-राजनीति को बहुत बड़ी क्षति है, जिसे उन्हीं जैसा कोई व्यक्तित्व पूरा कर सकता है ।



परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँच स्थापनाएँ

राष्ट्र के स्तर की अवनती सत्ता के रूप में परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अस्सी वर्ष के जीवनकाल में किया, उसकी मिसाल कहीं देखने को नहीं मिलती। करोड़ों व्यक्तियों के मनो का निर्माण उनके तर्कों में बदलाव एवं युग निर्माण की पृष्ठभूमि बनाकर रख देने का कार्य इन्हीं के स्तर की सत्ता कर सकती थी, जो लाखों वर्षों में कभी कभी धरती पर आती है। उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं का जब प्रसंग बन रहा है तो गार-धुने-सीमेंट से बने भवनों से पहने उनकी स्नेह संवेदना से सित्त हुए ममत्व में स्नानकर अपने हो गये लाखों व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जिनने उनके एक इशारे पर अपना सब कुछ उनको अर्पित कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में कभी ऐसा ही वातावरण भारत के कोने-कोने में दिखाई देता था, जब हर घर से सत्याग्रही निकलकर आ रहे थे। भावनाओं का आवेग थिरस्थायी नहीं रहता। वे ही लोग जो कभी राष्ट्र निर्माण के लिए अपना सब कुछ छोड़, पढ़ना-लिखना छोड़ देश को आजाद बनाने के लिए कूद पड़े थे, कभी गुरुदेव ने न पाएँ उसी के लिए बापू ने आजादों के बाद कांग्रेस भंग कर देने व सभी को एक आदर्श स्वयं-सेवक की तरह ईश्वर नारायण का उन्धान कर राष्ट्र निर्माण में लग जाने की सलाह दी थी।

सभी इस तथ्य को जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ, राष्ट्र का कीर्ति-स्तम्भ रूपी वह महापुरुष भी एक वर्ष के अंदर ही महादल को प्राप्त हो चला गया। गिने-धुने उनके आदर्शों पर चलने वाले रह गये, अवसरवादियों को गुरुदेव के भोले भाने लगा एवं राष्ट्र आजाद होकर भी उनके हाथ में आ गया जो ब्रिटिश तो नहीं थे किन्तु, उसी में भी गंगा के उन्पाद में काप करने वाले शासक थे- गुजेना नहीं। जिदा रहा तो मात्र बापू का दर्शन ही आधार पर टिका- मानव को बनाने का तंत्र आश्रम तंत्र जो सेवाश्रम साधरमती आश्रम के रूप में चल रहा और वह भी शीघ्र-पुरुष के न रहने, चिनोराजी के चले जाने के बाद अस्तित्व व महत्त्व की दृष्टि से गौण हो गया। परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी दिव्य-दृष्टि में यह सब पूर्व में ही देख लिया था कि कोई भी भव्य निर्माण आश्रम या तंत्र बनाने से पूर्व राष्ट्र को सांस्कृतिक, भौतिक, आध्यात्मिक आजादी दिलाने वाले ३ परिणत व्यक्ति तैयार करने पड़ेंगे। १९११ में आज से ८४ वर्ष पूर्व वि संवत् २०८६ में जन्मे राष्ट्र की आजादी में उन तीन शीरोममत कहलाने वाले आचार्यजी ने पहले स्वयं को तपाया, वैचारिक क्रान्ति के निर्माण का आधार तंत्र स्वयं व परमवदनीया माताजी के रूप में छड़ा किया, 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका अपनी लेखनी से लिखी, तब भारी चिंदियों व छोटी छोटी एक आने को किताबों से जन जन के मन को छुआ, तब जाकर अपने एक तब के २४ गायत्री महापुरुषचरणों की गुणाहुति पर उन्होंने गायत्री तपोभूमि, मथुरा की स्थापना की बात १९५२-५३ में सोन्दी। सबसे पहली मंत्र दीक्षा वहीं पर १९५३ में दी व यह मानते हुए कि बिना आध्यात्मिक आधार बनाये मनोभूमि में भावनाओं के स्तर पर बदलाव लाये कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती, धीमी धुराफ डेते हुए हर व्यक्ति को गायत्री व यज्ञ के तत्त्वदर्शन से जोड़ते हुए चल गये। गायत्री परिवार रूपी विराट वृक्ष का मूल आधार वह स्थापना है जो जन-जन के मनो में पहले हुई उनकी भाव संवेदनाओं के उदानीकरण के रूप में सम्पन्न हुई व उनके अंदर अपनी गुरुसत्ता को त्याग करने की, यज्ञोपजीवन अपनाने की प्रेरणा प्रचलने होने लगी। उन्होंने सवमय के रूप में अपना सर्वस्व बलिदान एवं वरप्रेम के रूप में अपने आप का समाज के हित-चौछावर करने की भावना से दो यज्ञ किये। अपनी जमींदारी के बाण्ड बेचकर एवं परमवदनीया माताजी के कौमती सोने के जेवर (ढाई सौ तोले) बेचकर जो स्वेच्छा से सम्पन्न हुआ एक स्थापना भवन के रूप में जो हुई वह थी गायत्री तपोभूमि, मथुरा जो वृन्दावन रोड पर ऋषि दुर्वासा की जन्मस्थली पर बनी आज से ४२ वर्ष पूर्व १९५३ में। प्रारंभिक स्थापना यों अखण्ड ज्योति सस्थान को माना जा सकता है जहाँ अखण्ड दोषक अपनी जन्मभूमि आँवलखेडा से जो वहाँ से मात्र ४० मील दूर थी स्थापित किया गया था एवं प्रारंभिक तप तितिक्षा वहीं पर १९४१ से, तपोभूमि की स्थापना से भी १२ वर्ष पूर्व आरम्भ हो गयी थी इस प्रकार जन जन के मनो का निर्माण उनके अंतःस्थल में प्रवेश कर उनके अंदर देवत्व के जागरण की ललक पैदा करने वाली पृष्ठभूमि पर स्थापनाओं का क्रम बना। किराये की ऐसी हवेली जिसे भुतहा हवेली कहा

जाता था, में अखण्ड दीपक की स्थापना, उसके समक्ष तप, अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा के रूप में विकसित हुआ एवं एक और दूसरा निर्माण मथुरा में ही गायत्री तपोभूमि के रूप में हुआ जो कि ३ मील दूर वृन्दावन रोड पर १९५३ में बनाई गई। १९५३ में क्रमशः सुसंगठित गायत्री परिवार के बनने की प्रक्रिया चल पड़ी।

इस प्रारंभिक भूमिका को समझने के बाद ही परमपूज्य गुरुदेव की पाँच मूल स्थापनाओं एवं बाद में देश के कोने-कोने में बनी भव्य इमारतों के रूप में शक्तिपीठों, प्रज्ञा संस्थानों, भारत व विश्वभर में घर-घर में स्थापित स्वाध्याय मण्डलों व गायत्री परिवार की शाखाओं, प्रज्ञापीठों, चरणपीठों का महत्त्व समझा जा सकता है। नहीं तो जैसे अन्यान्य आश्रम-संस्थान बनते हैं, ऐसे इनका भी वर्णन किया जा सकता था व यह कहा जा सकता था कि यह वैभवपूर्ण स्थापनाएँ पूज्यवर ने कीं। उनमें यदि प्राण फूँके गये हों, प्राणवान व्यक्ति वहाँ रहते हों व उस शक्ति के महा-अवसान के बाद भी वे सतत उसी दिशा में चल रहे हों तो माना जाना चाहिए कि प्रारंभिक पुरुषार्थ जो किया गया, वह औचित्यपूर्ण था।

परमपूज्य गुरुदेव की महत्त्वपूर्ण पाँच स्थापनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) युगतीर्थ आँवलखेड़ा (२) अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा (३) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (४) शान्तिकुंज, गायत्री तीर्थ, सप्तसरोवर, हरिद्वार तथा (५) ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान, सप्तसरोवर, हरिद्वार।

युगतीर्थ आँवलखेड़ा का नाम सबसे पहले इसलिए लिखा कि यहीं पर वह युगपुरुष संवत् १९६८ की आश्विन कृष्ण त्रयोदशी तिथि के दिन, ब्राह्ममुहूर्त में, जो अंग्रेजी तारीख से २० सितम्बर, १९११ के दिन आती थी, में जन्मा। एक श्रीमंत ब्राह्मण परिवार में, जहाँ धन की कोई कमी नहीं थी, पूरा परिवार संस्कारों से अनुप्राणित, पिता भागवत के प्रकाण्ड पंडित, बहुत बड़ी जागीर के मालिक। आज जहाँ पूज्यवर की स्मृति में एक विराट स्तंभ की, एक चबूतरे की तथा उनके कर्तृत्व रूपी शिलालेखों की स्थापना हुई है— वहाँ पूज्यवर ने शरीर से जन्म लिया था। समीप बनी दो कोठरियाँ जो काल प्रवाह के क्रम में गिर सी गयी थीं, जोनोंद्वार कर वैसी ही निर्मित कर दी गयी हैं— जैसी उनके समय में थीं। जन्मभूमि का कण-कण उस दैवीसत्ता की चेतना से अनुप्राणित है। उनके हाथ से छोटा कुँआ जिसे पूरे गाँव का एकमात्र मोठे जल वाला कुँआ माना गया— वह अभी भी है, उनके हाथ से रोपा नीम का पेड़ एवं वह बैठक जहाँ स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सब बैठकर चर्चा करते थे, आज भी उन दिनों की याद दिलाते हैं। पास में ही दो कोठरियाँ हैं जिनमें से एक कक्ष में वह स्थान है जहाँ दीपक के प्रकाश में से सूक्ष्म शरीरधारी गुरुसत्ता प्रकट हुई थी तथा जिसने उनके जीवन की दिशाधारा का १९२६ के बाद के क्रम का निर्धारण कर दिया था। यह सब देखकर मस्तिष्क-पटल पर वह दृश्य उभर आता था, जिसे गुरुसत्ता ने कभी देखा था व जो गायत्री परिवार की स्थापना का मूल आधार बना। आँवलखेड़ा में ही उनकी माताजी की स्मृति में स्थापित माता दानकुँवरि इण्टर कालेज है जो उनके द्वारा दान दी गयी जमीन में प्रदत्त धनराशि द्वारा विनिर्मित है। १९६३ से चल रहे इस इंटर कालेज से आई मेधावी छात्रा निकल कर आत्म-निर्भर बने हैं व उच्च पदों पर पहुँचे हैं।

१९७९-८० में गायत्री शक्तिपीठ एवं कन्या इंटर कॉलेज की स्थापना का गंगा-भीमा तट पर एक विशाल शक्तिपीठ तथा आसपास के दो सौ ग्रामों की बालिकाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था के लिए उन्हें सुशिक्षित, संस्कारवान, आत्मावलम्बी बनाने वाले कन्या महाविद्यालय का अन्वेषण हो चुका है। पूर्णाहुति हेतु इसी भूमि को जो शक्तिपीठ-जन्मभूमि-ग्रामीण क्षेत्र के चारों ओर है, इसीलिए चुना गया है। वहाँ से उद्भूत प्राण ऊर्जा से यहाँ आने वाला हर संकल्पित साधक अनुप्राणित होकर सारा संसार को आत्मिक व सांस्कृतिक व भावनात्मक क्रान्ति की पृष्ठभूमि रख सके। यहाँ पूज्यवर १९३९-४० तथा ४१-४२ आगरा रहकर १९४०-४१ में मथुरा चले गये, जहाँ दो-तीन मकान बदलने के बाद वर्तमान मकान में स्थित किया जिसे आज अखण्ड-ज्योति संस्थान कहते हैं।

अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा में स्थित है। परमपूज्य गुरुदेव भीमरतन जी के अखण्ड दीपक के साथ यहीं रहने लगे एवं यहीं से क्रमशः आत्मोद्यता विस्तार की जन-जन तक आती क्रान्तिकारी चिंतन के विस्तार की प्रक्रिया 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका, जो आगरा से ही आरम्भ कर दी गयी थी, की 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ व अन्यान्य लेखों की पंक्तियों के माध्यम से सम्पन्न होने लगी। व्यक्तिगत धरो द्वारा उनके अंतःस्थल को स्पर्श कर एक महान स्थापना का बीजारोपण होने लगा। वहाँ पर अगणित दुःखी, तत्त्वग्रसित

व्यक्तियों ने आकर उनके स्पर्श से नये प्राण पाये तथा उनके व परमवंदनीया माताजी के हाथों से भोजन-प्रसाद पाकर उनके अपने होते चले गये। हाथ से बने कागज पर छोटी ट्रेडिल मशीनों द्वारा यहीं पर अखण्ड ज्योति पत्रिका छपी जाती थी व छोटी-छोटी किताबों द्वारा लागत मूल्य पर उसे निकालने योग्य खर्च निकलता था। बगल की एक छोटी-सी कोठरी में जहाँ अखण्ड दीपक जलता था, आज पूजाघर विनिर्मित है। पूरी बिल्डिंग को खरीद कर उनके सुपुत्र ने एक नया आकार व मजबूत आधार दे दिया है किन्तु यह कोठरी अंदर से वैसी ही रखी गयी है जैसी पूज्यवर के समय में १९४२-४३ में रही होगी। तब से लेकर आगामी ३० वर्ष का साधनाकाल-लेखनकाल पूज्यवर का इसी घीयामण्डी के भवन में छोटी-छोटी दो कोठरियों में गहन तपश्चर्या के साथ बीता। तपोभूमि निर्माण की पृष्ठभूमि यहीं बनी, १९५८ में सहस्र कुण्डी यज्ञ की आधारशिला यहीं रखी गयी, यहीं सारी योजना बनी एवं विधिवत-गायत्री परिवार बनता चला गया। रोज आने वाले पत्रों को स्वयं परमवंदनीया माताजी पढ़ती जातीं एवं पूज्यवर इतनी ही देर में जवाब लिखते जाते, यही सूत्र संबंधों के सुदृढ़ बनने का आधार बना। हर परिजन को तीन दिन में जवाब मिल जाता, शंका-समाधान होता चला जाता एवं देखते-देखते एक विराट गायत्री परिवार बनता चला गया। गायत्री महाविज्ञान के तीनों खण्ड, युग निर्माण परक साहित्य, आर्ष-ग्रन्थों के भाष्य को अंतिम आकार देने का कार्य यहीं सम्पन्न हुआ। जनसम्मेलनों, छोटे-बड़े यज्ञों एवं १००८ कुण्डी पाँच विराट यज्ञों में पूज्यवर यहीं से गये एवं विदाई सम्मेलन की रूपरेखा बनाकर स्थायी रूप से इस घर से १९७१ की २० जून को विदा लेकर चले गये। इस संस्थान के कण-कण में जहाँ आज १० लाख से अधिक संख्या में हिन्दी सहित सभी भाषाओं में अखण्ड ज्योति पत्रिका के प्रकाशन, विस्तार, डिस्पैच आदि का एक विराट तंत्र स्थापित है, परमपूज्य गुरुदेव की चेतना संव्यास अनुभव की जा सकती है। भले ही बहिरंग का कलेवर बदल गया हो, अंदर प्रवेश करते ही परमपूज्य गुरुदेव व परमवंदनीया माताजी की सतत विद्यमान प्राणचेतना के स्पन्दन वहाँ विद्यमान हैं, यह प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा को परमपूज्य गुरुदेव की चौबीस महापुरुषारणों की पूर्णाहुति पर की गयी स्थापना माना जा सकता है, जिसे विनिर्मित ही गायत्री परिवार रूपी संगठन के विस्तार के लिए किया गया था। इसकी स्थापना से पूर्व चौबीस सौ तीर्थों के जल व रज को संग्रहीत करके यहाँ उनका पूजन किया गया, एक छोटी किन्तु भव्य यज्ञशाला में अखण्ड अग्नि स्थापित की गयी तथा एक गायत्री महाशक्ति का मन्दिर विनिर्मित किया गया। चौबीस सौ करोड़ गायत्री मंत्रों का लेखन जो ऋद्धापूर्वक नैष्ठिक साधकों द्वारा किया गया था, यहाँ पर संरक्षित कर रखा गया है। पू. गुरुदेव की साधनास्थली व प्रातःकाल की लेखनी की साधना की कोठरी यदि अखण्ड ज्योति संस्थान में थी तो उनकी जन-जन से मिलने, साधनाओं द्वारा मार्गदर्शन देने की कर्म-भूमि गायत्री तपोभूमि थी। यहीं पर १०८ कुण्डी गायत्री महायज्ञ में १९५३ में महली बार पूज्यवर ने साधकों को मंत्र दीक्षा दी। यहीं पर १९५६ में नरमेध यज्ञ तथा १९५८ में विराट सहस्रकुण्डी यज्ञांशुयोजन सम्पन्न हुए। श्रेष्ठ नररत्नों का चयन कर गायत्री परिवार को विनिर्मित करने का कार्य यहीं व्यक्तिगत मार्गदर्शन द्वारा सम्पन्न हुआ। हिमालय प्रवास से लौटकर पूज्य आचार्यश्री ने युग निर्माण योजना के शत-सूत्री कार्यक्रम एवं सत्संकल्प की तथा युग निर्माण विद्यालय के एक स्वावलम्बन प्रधान शिक्षा देने वाले तंत्र के आरम्भ होने की घोषणा की। यह विधिगत १९६४ से आरम्भ किया गया एवं अभी भी सफलतापूर्वक चल रहा है। जिस कक्ष में परमपूज्य गुरुदेव सभी से मिला करते थे, अभी भी यहाँ देखा जा सकता है। भव्य निर्माण परमपूज्य गुरुदेव की १९७१ की विदाई के बाद यहाँ हो गया है किन्तु, कण-कण में उनकी प्राणचेतना का दर्शन किया जा सकता है। विराट प्रज्ञानगर, युग निर्माण विद्यालय, साहित्य की छपाई हेतु बड़ी-बड़ी ऑफसेट मशीनें तथा युग निर्माण साहित्य जो पूज्यवर ने जीवन भर लिखा, उसका वितरण-विस्तार तंत्र यहाँ पर देखा जा सकता है।

शान्तिकुंज, हरिद्वार ऋषि परम्परा के बीजारोपण केन्द्र के रूप में १९७१ में स्थापित किया गया था, जब परमपूज्य गुरुदेव मथुरा स्थायी रूप से छोड़कर परमवंदनीया माताजी को अखण्ड ज्योति दीपक की रखवाली हेतु यहाँ छोड़कर हिमालय में चले गये। गुरुसत्ता के निर्देश पर वे पुनः एक वर्ष बाद लौटे व तब शान्तिकुंज को उनसे एक बड़ा विराट रूप देने, सभी ऋषिगणों की भूलभूत स्थापनाओं को यहाँ साकार बनाने का निश्चय किया। इससे पूर्व परमवंदनीया माताजी ने २४ कुमारी कन्याओं के साथ अखण्ड दीपक के समक्ष २४० करोड़

गायत्री मंत्र का अखण्ड अनुष्ठान आरंभ कर दिया था। पूज्यवर ने प्राण प्रत्यावर्तन सत्र, जीवन साधना सत्र, वानप्रस्थ सत्र आदि के माध्यम से विभिन्न क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने वाले कार्यकर्ता यहीं गढ़े। यह सत्र शृंखला कल्प साधना, संजीवनी साधना सत्रों के रूप में तब से ही ९ दिवसीय सत्रों व एक माह के युग शिल्पी प्रशिक्षण सत्रों के रूप में चल रही है, अभी भी अनवरत उसमें आने वालों का ताँता लगा रहता है। पहले से ही सब अपनी बुकिंग इसमें कर लेते हैं।

शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ का रूप देकर सत्तत्त्वियों की मूर्तियों की स्थापना १९७८-७९ में की गयी, एक देवात्मा हिमालय विनिर्मित किया गया एवं वहाँ सभी संस्कारों को सम्पन्न करते रहने का क्रम बन गया जो सतत चल रहा है। नित्य यहाँ दीक्षा, पुंसवन, नामकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, विवाह, श्राद्ध-तर्पण आदि संस्कार सम्पन्न होते हैं। इस बीच परमवन्दनीया माताजी ने जागरण सत्र शृंखलाएँ सम्पन्न करना आरम्भ रखा। देव कन्याओं को प्रशिक्षित कर पूरे भारत में जीप टोलियों में भेजा गया। इनके माध्यम से तीन वर्ष तक भारत के कोने-कोने में तुमुलनाद होता रहा।

शांतिकुंज का गायत्री नगर जो आज एक विराट् स्थापना के रूप में, एक एकेडमी के रूप में नजर आता है व जिसमें एक बार में एक साथ दस हजार व्यक्ति एक साथ ठहर सकते हैं, १९८१-८२ में बनना आरम्भ हुआ। विलक्षण, दुर्लभ जड़ों-बूटियों के पौधे वहाँ लगाये गये तथा प्रखर प्रज्ञा-सजल श्रद्धा रूपी तीर्थस्थली का पूज्यवर ने अपने सामने निर्माण कराया। यहाँ उनके निर्देशानुसार उनके शरीर छोड़ने पर दोनों सत्ताओं को अग्नि समर्पित की जानी थी। स्वावलम्बन विद्यालय से लेकर एक विशाल चौके का निर्माण एवं गायत्री विद्यापीठ से लेकर भारत के सभी सरकारी विभागों के प्रशिक्षण के तंत्र की स्थापना यहाँ पर की गयी है एवं यह एक जीता-जागता तीर्थ अब बन गया है, जहाँ पर ठण्डाल भविष्य की पूर्व झलक देखी जा सकती है। कम्प्यूटरों से सज्जित विशाल कार्यालय से लेकर पत्राचार विद्यालय जहाँ नित्य हजारों पत्रों के द्वारा पूरे तंत्र का मार्गदर्शन किया जाता है, यहाँ की विशेषता है।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँचवीं स्थापना है, जहाँ पर विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का अभिनव शोध कार्य चल रहा है। इसे १९७१ की गायत्री जयंती पर आरम्भ किया गया था। वर्तमान शांतिकुंज- गायत्री तीर्थ से आधा किलोमीटर दूरी पर गंगातट पर स्थित यह संस्थान अपनी आकर्षक बनावट के कारण सहज ही सबके मनो को मोहकर आमंत्रित करता रहता है। इसमें तीन मंजिलों में प्रथम तल पर एक विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित यज्ञशाला विनिर्मित है तथा चौबीस कक्षों में गायत्री महाशक्ति की चौबीस मूर्तियाँ बीजमंत्रों व उनकी फलश्रुतियों सहित स्थापित हैं। द्वितीय तल पर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला है, जहाँ ऐसे उपकरण स्थापित हैं जो यह जाँच-पड़ताल करते हैं कि साधना से पूर्व व पश्चात्, यज्ञादि मंत्रोच्चारण के पूर्व व पश्चात् क्या-क्या परिवर्तन शरीर-मन की गतिविधियों व रक्त आदि संघटकों में देखने में आये। इनके आधार पर साधकों को साधना संबंधी परामर्श दिया जाता है। यहाँ पर वनौषधियों का विश्लेषण भी किया जाता है तथा यज्ञ ऊर्जा-मंत्र शक्ति का क्या प्रभाव साधक की भस्तिष्कीय तरंगों, जैव विद्युत आदि पर पड़ा, यह देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षण भी यहाँ किये जाते हैं। तृतीय तल पर एक विशाल ग्रंथागार स्थापित है, जहाँ विश्वभर के शोध प्रबंध वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर एकत्रित किये गये हैं। यहाँ प्रायः ४५००० से अधिक ग्रंथ हैं, जिनमें कई पुरातन पाण्डुलिपियाँ हैं। यह अपने आप में एक अनूठा संकलन है जो और कहीं एक साथ देखने में नहीं मिलता।

परमपूज्य गुरुदेव की उपरोक्त पाँच स्थापनाएँ किसी को भी यह परिचय दे सकती हैं कि किस विलक्षण दृष्टांतर की वह महासत्ता थी जो हम सबके बीच अपना लीली संदोह रचकर चली गयी। प्रत्यक्ष तो यह केन्द्रीय पाँच स्थापनाएँ नजर आती हैं किन्तु ४८०० से अधिक अपने भवनों वाले प्रज्ञा संस्थान ४०००० से अधिक प्रज्ञामण्डल व स्वाध्याय मण्डल तथा अगणित गायत्री परिवार की शाखाएँ यदि इनमें मिलाई जाएँ तो इनका मूल्य राशि में आँका नहीं जा सकता। यही वह सब है जो उस महापुरुष को एक अवतारी स्तर की सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करता है व जिसके कर्तृत्व पर श्रद्धावनत होने का मन करता है।

□□□

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनसे अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है। जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. युगप्रज्ञा का जीवन-दर्शन

- समग्र वाङ्मय का परिचय
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जाग्रति की ओर
८. ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्त्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष उपपत्तक
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारों विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अभ्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२ (सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भगवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण

३७. शीघ्र सेवन : क्यों और कैसे ?

३८. उपनिषद्
 ३९. नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र
 ४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
 ४१. जीवेम सरदः शतम्
 ४२. चिरजीवन एवं सार्वक सौन्दर्य
 ४३. हमारे संस्कृति : इतिहास के कोर्त सत्य
 ४४. मरकर भी अमर हो गये जो
 ४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
 ४६. भव्य सम्मान का अभिनव निर्माण
 ४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
 ४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
 ४९. शिक्षा एवं विद्या
 ५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
 ५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
 ५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा श्रणी रहेगी
 ५३. धर्मतत्त्व का दर्शन व धर्म
 ५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
 ५५. दुर्घट जगत् को अदृश्य पहेलियाँ
 ५६. ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
 ५७. मन्त्रस्मृता प्रखरता और तेजस्विता
 ५८. आत्मोत्कर्ष का आधार ज्ञान
 ५९. प्रतिगांधि का कुचक्र ऐसे टूटेगा
 ६०. विक्रान्तोन्माद : समस्या और समाधान
 ६१. गृहस्थ : एक तपोवन
 ६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
 ६३. हमारे भावी पीढ़ी और उसका भवनिर्माण
 ६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
 ६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
 ६६. युग निर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
 ६७. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
 ६८. पूज्यवर की अमृतवाणी (भाग एक)
 ६९. विचारसार एवं सूक्तियाँ (प्रथम खण्ड)
 ७०. विचारसार एवं सूक्तियाँ (द्वितीय खण्ड)
- वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे—
७१. मनोविकारों को मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
 ७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय

७३. चिन्तन का विधेयात्मक-

- निधेयात्मक स्वरूप
७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बल-विकास के विविध स्रोत
७७. बल-मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता में सुसंस्कारों का योगदान
७९. पारिवारिक पंचसौल और परिवार निर्माण
८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१. विचार-विज्ञान का महत्त्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन में सहगुणों की भूमिका
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७. पारिवारिक जीवन : एक तप-साधना
८८. क्षम्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. हृदयस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अधियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७. मिशन की लोक-व्यवहार संहिता
१०८. गुरुदेव को अपने आत्मीय जनो से अपनी बातें